

वीर सेवा मन्दिर  
दिल्ली



क्रम संख्या

4855

काल न०

~~928009~~ वीर 229

खण्ड



बीरराज जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ २१

ग्रन्थमाला-संपादक

प्रो० आ० ने० उपाध्ये व प्रो० हरीरालाल जैन

★

श्री-वीरनन्दि-विरचितं

## चन्द्रप्रभचरितम्

( मुनिचन्द्रविरचित-विद्वन्मनोवल्लभाख्य-व्याख्यानेन गुणनन्विकृत-पञ्जिकया च सहितम् )

हिन्दी अनुवाद, आलोचनात्मक प्रस्तावना व परिशिष्ट आदि सहित

सम्पादक

पं० अमृतलाल शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, साहित्याचार्य,

प्रो० जैनदर्शन विभाग, वा० संस्कृत विश्वविद्यालय,

वाराणसी

प्रकाशक

लालचन्द हिराचन्द दोशी

जैन संस्कृति संरक्षक संघ

सोलापूर

बीर जि० सं० २४९७ ]

सन् १९७१

[ वि० सं० २०२८

मूल्य १६ रु० मात्र

प्रकाशक ,  
काकचन्द हिराचन्द दोशी  
जैन संस्कृति संरक्षक सच,  
खोसापूर

— सर्वाधिकार सुरक्षित —

मुद्रक  
सम्पत्ति सुप्रकाशक  
दुर्गाकुण्ड मार्ग,  
वाराणसी-५



JĪVARĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ, No 21

General Editors :

Dr. A. N. Upadhye & Dr. H. L. Jān

\*

VĪRANANDIŚ

# Candraprabha-Carita

( along with the Sanskrit-Commentary Vidvanmanovallabhā  
of Muncandra and Pañjikā of Guṇanandi )

Critically Edited with Introduction, Appendices, etc.

by

**Pt. Amritlal Shastri**

Varanaseya Sanskrit Visva-Vidyālaya  
Varanasi

*Published by*

**Lalchand Hirachand Doshi**

Jaina Saṃskṛti Saṃrakṣaka Saṅgha  
Sholapur

1971

ALL RIGHTS RESEVERD

Price Rs. 16 only

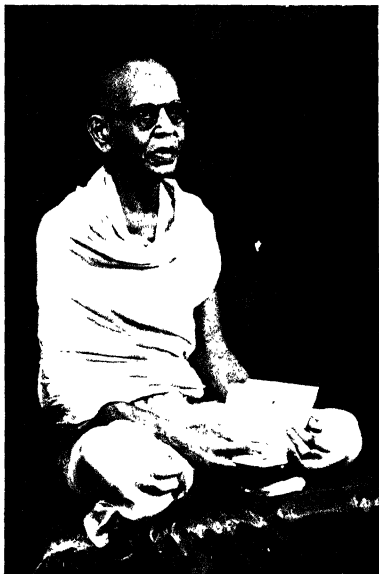
First Edition; 1000 Copies

Copies of this book can be had direct from Jaina  
Samskriti Samrakṣaka Saṅgha, Santosa Bhavana,  
Phaltan Galli, Sholapur ( India )

Price Rs. 16/- per copy, exclusive of postage

### जीवराज जैन ग्रन्थमालाका परिचय

सोलापूर-निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्दजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी यह प्रवृत्ति हल्का हो उठी कि अपनी न्यायोपाजित संपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और कलित सम्मतिपूर्वक इस बातकी संग्रह की कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाये। स्फुट मत संचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपन्था ( नासिक ) के सीतल वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्र की और उद्घापोहपूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' की स्थापना की और उसके लिए ३०००० तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गयी, और सन् १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,०००, दो लाखकी अपनी संपूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दिनांक १९-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिभरणकी आराधना की। इसी संघके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी ग्रन्थमालाका हकीसर्वां पुष्प है।



ब्र० जीवराज गीतमचन्दजी

## अनुक्रम

•

## प्रधान-सम्पादकीय

उपदेश चाहे छोटा हो या बड़ा, धार्मिक हो या नैतिक, सामाजिक व अन्य किसी विषयक, वह सामान्य जनोके हृदयमें अन्वेषा स्मृति-पटलपर तबतक स्पष्टतः स्थिरतासे अंकित होकर नहीं बैठता जबतक कि अनुभवमें आनेवाली जीवन-धारासे मेल मिलाकर न समझाया जाये। इसीलिए धर्मके प्रणेतार्थों तथा आचार्योंने आख्यानों तथा कथानकोंका बहुत उपयोग किया है। किसी भी धार्मिक साहित्यको देखिए, उसका अधिकांश भाग मूलतः कथा-प्रधान हो पाया जावेगा। हिन्दू धर्मके वेद, उपनिषद् व पुराण, बौद्ध धर्मका त्रिपिटक, ईसाई धर्मका बाइबिल आदि सभी ग्रन्थ आख्यानोंसे परिपूर्ण हैं और उनके प्रचारक प्रायः उन्हीं कथानकोंके द्वारा श्रोताओंके हृदयपर अपने धार्मिक तत्त्वों व नियमोंका प्रभाव जमानेका प्रयत्न करते हैं।

जैनधर्ममें यह कथा-प्रवृत्ति विशेष रूपसे मौलिक, प्राचीन तथा परिपुष्ट रही है। इसका कारण यह है कि यहाँ मनुष्यको क्रियाशील बनाने तथा अपने कृत्योंके लिए पूर्ण उत्तरदायी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। मानव-जीवनमें जो उत्कर्ष और अपकर्ष आते हैं, जो सुख और दुःखका घटना-चक्र चलता दिखाई देता है, उसमें विचारशील व्यक्तियोंको कार्य-कारण की श्रृंखला भी दृष्टिगोचर हो जाती है। परन्तु बहुजन समाजके लिए प्रकृतिकी नियामकता समझना-समझाना कठिन हो जाता है। फिर अनेक विषयमाएँ तो ऐसी भी सामने आती हैं जिनके किसी नियमित कारणका पता लगाना प्रायः असम्भव हो जाता है। एकने राजाके महल तथा दूसरेने रंककी कुटियामें जन्म क्यों लिया? कोई सुन्दर व धनी तथा कोई कुम्प और दरिद्र क्यों? कोई नियमसे चलनेवाला भी व्याधि-पीडित तथा दूसरा खान-पानमें असंयमी रहता हुआ भी स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट क्यों? ईमानदारी करनेवाला व्यापारी उन्नति नहीं कर पाता, जबकि धन्यमें सदैव धोखेबाजी करनेवाला नित्य उन्नति करता क्यों दिखाई देता है? इत्यादि, इत्यादि।

यो तो जो भी पौराणिक, ऐतिहासिक तथा लोक-प्रचलित व जनश्रुतिकी परम्परासे चले आये सभी प्रकारके कथानकों व आख्यानोंको ग्रहणकर जैनाचार्योंने उन्हें सुवर्णपूर्ण तथा अपने धार्मिक सिद्धान्तोंके अनुकूल बनाकर उन्हें अपने साहित्यमें स्थान देनेका प्रयत्न किया है। किन्तु उन्होंने कुछ ऐसे महापुरुषोंका भी चयन किया है जिनके जीवनकी घटनाएँ मनुष्यके मनको पाप-प्रवृत्तियोंसे विरक्त करके धर्म और पुण्यकी साधनाओंकी ओर विशेष रूपसे आकृषित करनेमें प्रभावशाली हो सकती हैं। इन महापुरुषोंकी संस्था परम्परासे तिरसठ मानी गयी है और उन महापुरुषोंको शलाका पुरुषकी संज्ञा दी गयी है। शलाकाका अर्थ है सीक या सलाई। अर्थात्—जिनका स्मरण रखनेके लिए उनके नामकी सीक रखी जाय व शलाका पुरुष। इनमें प्रायः वे सभी अवतारी, पूज्य एवं प्रतापी पुरुष आ जाते हैं जिन्हें वैदिक परम्परामें भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। वे हैं चक्रवर्ती, वसुदेव, नारायण व इनके महाबलशाली शत्रु भी। किन्तु जिन्हें जैन धर्म व साहित्यमें विशेष रूपसे धर्मकी व्यवस्थाओंकी स्थापनाके लिए उच्च स्थान दिया गया है, वे हैं ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकर। सभी व अनेक तीर्थंकरों व अन्य तिरसठ शलाका पुरुषोंके वंशों व जीवन वृत्तोंका वर्णन करनेवाले ग्रन्थोंको महापुराण माना गया है, और जिन ग्रन्थोंमें केवल एक-एक मात्र महापुरुषोंका वृत्तान्त हो उन्हें पुराण या चरितकी संज्ञा दी गयी है। चरितोंमें प्रायः उन छन्द, रस, भाव अलंकार आदि गुणोंका समावेश करनेका भी प्रयत्न किया गया है जिन्हें साहित्य-शास्त्रियोंने काव्यगुण कहा है। इस कारण इन चरित ग्रन्थोंने काव्य या महाकाव्यकी संज्ञा भी प्राप्त की है। ये रचनाएँ साहित्यकी उत्कृष्ट उपलब्धियाँ मानी जाती हैं।

जबहुम प्राचीनसे लेकर अर्वाचीन जैन साहित्यको कालक्रमके अनुसार देखते हैं तब हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि इन काव्यमय महान् व विशाल पुराणों व चरितोंका विकास किस प्रकार हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि धर्मके व्याख्यानों व उपदेशोंको विशेष स्पष्ट, रोचक व हृदयग्राही बनानेके लिए कथाओंका उपयोग आदिसे ही किया जाता रहा है। सामान्य मनुष्योंकी दृष्टिको धर्मकी ओर मोड़ने, अर्थात् मिथ्यादृष्टिको सम्यग्दृष्टि बनाने हेतु इन कथाओंका सर्व प्रथम योगदान था। इसी कारण इस कथानक-वर्णन-

को जैन आगममें प्रथमानुयोग अर्थात् धार्मिक शिक्षणका प्रथम चरण कहा गया है। आदिमें इन महापुरुषोंके चरितोंको पूर्णतः लिपिबद्ध किया गया प्रतीत नहीं होता। कथानकोंके नायकोंके नाम, उनके माता-पिताके नाम, जन्म-नगरी, जन्मादि निर्वाण पर्यन्त विशेष अवसरोंकी तिथियाँ आदि ही लिख ली जाती थीं, या याद कर ली जाती थी, तथा इनका विस्तारसे वर्णन गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा मौखिक रूपसे चलता था। लेखन-सामग्रीकी कठिनाई व अपरिग्रही सुविधों द्वारा साहित्य-सामग्री को लेकर निरन्तर विहार करनेमें असुविधा आदि इसके कारण हो सकते हैं। इन मुख्य-मुख्य बातोंकी सूचियोंको नामावलि कहते थे। स्वयं जैन पौराणिक परम्परा अनुसार प्राचीन पुराणकारों व चरित-रचयिताओंने इस बातका उल्लेख किया है कि उन्हें अपनी रचनाओंकी आधारभूत सामग्री 'नामावलि निबद्ध' ही प्राप्त हुई थी। स्थानांग व समवायांग आदि जैन आगमोंमें ऐसी ही नामावलियाँ प्राप्त होती हैं। तिलोय-पण्णत्तिमें समस्त तीर्थंकरोंका विवरण ऐसी ही नामावलियोंमें पाया जाता है। यह शैली जैन साहित्यमें निरन्तर प्रचलित रही और 'दस ठाणा' 'बीस ठाणा' आदि समय-समय पर संकलित की गयी सूचियाँ आज तक भी प्रचलित हैं। इन्हें कितने ही जैन मुनि कण्ठस्थ भी कर लेते हैं। इन नामावलियोंके आधारसे कथानायकोंके जीवन-चरित्रका उपदेश देनेमें यह तो एक वृत्ति अवश्यम्भावी है कि उसमें समस्त घटनाओंके वर्णनमें एकसूत्रता नहीं हो सकती। किन्तु दूसरी दृष्टिसे ये ही वृत्तियाँ और दोष उन कथाओं और आख्यानोंके विकासमें सहायक सिद्ध हुए हैं। प्रत्येक गुप्त उनके मौलिक ढाँचेको सुरक्षित रखकर उसका विस्तार अपनी प्रतिभानुसार करनेसे लिए स्वतन्त्र था। इसी स्वतन्त्रताके फलस्वरूप धीरे-धीरे न केवल कथाओंको उत्तरोत्तर अधिक विस्तृत, रोचक, रोमाञ्चकारी व नाना शैलियोंमें वर्णित किया गया, किन्तु उनमें अलंकार युग्मे नाना काव्य गुणोंका तथा प्रसंगानुसार अवांतर कथाओंका समावेश भी होने लगा। पुराणों व चरितोंको इस विकासशीलताके उदाहरण देनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है; जैन साहित्यिक इतिहासका अवलोकन करनेसे वह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत चन्द्रप्रभ-चरितकी रचना ग्यारहवीं शतीमें हुई है। यह युग भारतीय साहित्यमें छन्द, अलंकार व रस-भावादि काव्यगुणोंके विकासमें चरम सोमापर पहुँच चुका था। अतएव इस चरितकी रचनामें युगकी इस विशेषताका पूरा प्रतिबिम्ब पाया जाता है। धार्मिक दृष्टिसे यह युग बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इसमें एक ओर दार्शनिक व सैद्धान्तिक चिन्तनका, और दूसरी ओर न्याय शैली तथा उसकी खण्डन-मण्डन वृत्तियोंका बहुत उत्कर्ष हुआ। वैदिक परम्परामें पञ्च दर्शनोंका सुव्यवस्थित रूप सामने आ चुका था तथा शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मण्डन मिश्र आदि महान् दार्शनिक व तार्किक भी हो चुके थे। चार्वाक दर्शन भी परिपुष्ट हो चुका था। तत्त्वोपप्लवसिंह जैसी रचनाएँ भी प्रसिद्ध हो चुकी थी। जैन समाजमें समन्त-भद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्वानन्दि आदिके द्वारा जैन दर्शन और न्यायने उक्त सभी सैद्धान्तिक चाराओंसे लोहा लिया। इस सबका यथोचित प्रतिबिम्बन भी प्रस्तुत रचनानामें पाया जाता है। कथाके नायक एक जैन तीर्थंकर थे, तथा मुनियोंकी रचनाओंका उद्देश्य सदैव धार्मिक प्रतिपादन और प्रचार रहा है। अतएव इस रचनानामें पद-पदपर प्रसंगानुसार जैन तत्त्वोंका विवरण उपस्थित किया गया है। जैन मान्यताका यह एक सुदृढ़ आधार-स्तम्भ है कि आत्मा अनादि-निघन है, अमर और शाश्वत है, एवं व्यक्ति अब जैसा है वह बहुत अंशमें उसके पूर्व जन्म-जन्मान्तरोंमें किये गये पाप-पुण्यात्मक कर्मोंका परिणाम है। इसी बातको मूललावण्य बताने हेतु प्रायः कथानकके अनेक, पूर्व जन्मोंका भी वर्णन किया जाता है। और वह वर्णन केवल इहलौकिक मात्र नहीं रहता, किन्तु इस लोकमें किये गये अच्छे-बुरे कर्मोंका परिणाम स्वर्गके सुख भोग एवं नरककी यातनाओंके सहन द्वारा दर्शाया जाता है। इसका जैन साहित्यमें कितना महत्त्व है यह इससे भी प्रकट होगा कि प्रस्तुत चरितमें कथानक चन्द्रप्रभ तीर्थंकरके छह पूर्व भवोंका वर्णन किया गया है और वह संक्षेपमें नहीं, किन्तु इतने विस्तारसे कि ग्रन्थके प्रथम पन्ध्रह सर्ग उसीमें घिर गये हैं, जबकि उनके तीर्थंकर जन्मका चरित मात्र अगले तीन सर्गोंमें वर्णित है। तीर्थंकर चरितका ढाँचा बहुत कुछ बंधा

हुआ है, क्योंकि उसमें वैयक्तिक घटनाएँ बहुत कम हुआ करती हैं, मुख्यतासे उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पाँच कल्याणकीय वर्णनकी प्रधानता रहती है। फिर भी ऐसा नहीं है कि यह वर्णन कहीं-से जैसाका तैसा रख दिया गया हो। उसमें कविकी अपनी मौलिकता स्पष्ट दिखाई देती है, जिससे वह समस्त विवरण नीरस नहीं किन्तु बहुत सरस पाया जाता है। कविने अपनेसे पूर्वकालीन रचनाओं, जैसे पद्मपुराण, हरिवंश पुराण तथा आदि और उत्तर पुराणमें वर्णित चन्द्रप्रभके जीवनवृत्तको अपना आधार बनाया है। फिर भी रचना-शैली व काव्यकी दृष्टिसे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उनकी नकल की है। यथार्थतः उनकी रचनामें उक्त पूर्व रचनाओंकी शाब्दिक छाया प्रायः बिल्कुल ही नहीं पायी जाती।

इस चरित या काव्यके रचयिता वीरनन्दिका जैन मुनि-परम्परामें बहुत ऊँचा स्थान है। यह इसी बातसे सिद्ध है कि गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपनेको-उनका 'वत्स' कहा है तथा पार्वनाथ चरितके कर्ता वादिराज सूरिने उनकी भारतीको कुमुदतीके समान 'चन्द्रप्रभाभिसम्बद्ध', 'रसपुष्ट' और 'मन प्रिय' कहकर स्मरण किया है। इसपर टीका और पंजिका भी लिखी गयी, तथा उसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उत्तरसे दक्षिण भारत तक शास्त्रभण्डारोंमें पायी जाती हैं। ये इस रचनाके लोक-प्रियता व प्रचार के प्रमाण हैं।

यह ग्रन्थ पहले भी एक बार मुद्रित हो चुका था, और उसका एक अनुवाद भी छप चुका था। किन्तु वे प्रकाशन न तो इस युगके विद्वत्समाजकी आलोचनात्मक रुचिके अनुकूल थे और न अब उनकी प्रतियाँ ही उपलब्ध थी। ऐसी अवस्थामें यह आवश्यक समझा गया कि इस प्राचीन रचनाका एक अच्छा संस्करण तैयार कराकर प्रकाशमें लाया जाये। बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि इसका यथेष्ट रीतिसे सम्पादन और अनुवाद पं० अमृतलालजी शास्त्रीने बड़े प्रयासपूर्वक सम्पन्न किया। उन्होंने पूर्वमुद्रित पाठको भी अपने सम्मुख रखा तथा विविध स्थानोंसे प्राप्त भिन्न-भिन्न कालीन सात हस्तलिखित प्रतियोंका मिलान करते हुए पाठ-शोधन किया एवं उन प्रतियोंके पाठान्तर भी संकलित कर पाठ-टिप्पण रूपसे दे दिये। उनका अनुवाद भी भावानुवाद होते हुए भी मूल रचनाके साथ पूर्ण न्याय करता है। और भाषाकी दृष्टिसे भी परिभाषित एवं धारावाही है जिससे मूल आख्यान व वर्णन ही नहीं, किन्तु उसकी काव्य-कलाका भी पाठकको पर्याप्त मात्रामें रसास्वादन मिल सकता है। उन्होंने ग्रन्थकी प्राचीन टीका एवं पंजिकाका भी उनकी अनेक उपलब्ध प्राचीन प्रतियोंपरसे उद्धारकर प्रस्तुत संस्करणमें समावेश कर दिया है। उन्होंने अपनी ३३ पृष्ठकी प्रस्तावनामें सम्पादन-सामग्री, ग्रन्थकार और रचना तथा टीका व पंजिकाके विषयमें सभी ज्ञातव्य बातोंका विवेचन कर दिया है, तथा परिशिष्टोंमें 'मूल रचनाके पद्यों, व्याख्या व पंजिकामें उद्धृत अवतरणों एवं उनके विशिष्ट शब्दोंकी अनुक्रमणिकाएँ भी संलग्न कर दी हैं। इस प्रकार इस महाकाव्यका प्रस्तुत संस्करण सर्वांग परिपूर्ण कहा जा सकता है जिसके लिए प्रधान सम्पादक पं० अमृतलाल शास्त्रीके अनुगृहीत हैं।

हमें बारम्बार कहना पड़ता है और कहे बिना रहा भी नहीं जाता कि जिस जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ द्वारा संचालित जीवराज ग्रन्थमालामें इस ग्रन्थका प्रकाशन हो रहा है उसके संस्थापक स्वर्गीय जीवराज गौतमचन्दजी बोधीकी धार्मिक भावना उनके द्वारा संगठित ट्रस्टके सदस्यों व अधिकारियोंकी निरन्तर प्रेरित करती रहती है जिसके फलस्वरूप प्राचीन जैन साहित्यके ऐसे अनुपम रत्नोंकी खोजकर उत्तम रीतिसे प्रकाशमें लाया जा रहा है। उक्त ट्रस्टके अध्यक्ष श्रीमान् लालचन्द हीराचन्द व मन्त्री श्री बालचन्द देवचन्द शाहके हम विशेष रूपसे कृतज्ञ हैं कि वे इस ग्रन्थमालाकी उन्नति और विकासके लिए सदैव प्रस्तुत व जागरूक रहते हैं।

मैसूर  
मालाघाट

आ० ने० उपाध्ये  
हीरालाल जैन

## सम्पादकीय

‘चन्द्रप्रभचरितम्’ की रचना महाकवि वीरनन्दीने विक्रमकी ग्यारहवीं शतीके पूर्व भागमें की थी । इसकी संस्कृतव्याख्या-‘विश्वनमोवल्लभा’ मुनिचन्द्रने वि० सं० १५६० में और संस्कृत पञ्जिका गुणनन्दीने वि० सं० १५९७ लिखी जो अभी तक अप्रकाशित रही ।

१६९१ पद्यों में परिसमाप्त प्रस्तुत चरित महाकाव्यमें अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभका शिलाप्रद जीवनवृत्त प्राञ्जल संस्कृत भाषामें वर्णित है ।

चन्द्रप्रभका जन्म वाराणसीके निकट चन्द्रपुरीमें, जो सम्प्रति ‘चन्द्रवटी’, ‘चंदरोटी’ या ‘चन्द्रोटी’ नामसे प्रसिद्ध है, राजा महासेन और रानी लक्ष्मणाके यहाँ हुआ था ।

प्रस्तुत महाकाव्य केवल मूल रूपमें सबसे पहले सन् १८९२ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद और पं० वासुदेव शर्माके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था ।

पं० रूपनारायण पाण्डेय कृत इसका हिन्दीरूपान्तर हिन्दी साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बईसे सन् १९१६ में मुद्रित हुआ था । इसमें मूलग्रन्थको स्थान नहीं दिया गया था ।

आरा, कारंजा, जयपुर, दिल्ली, सोलापुर और ब्यावरसे प्राप्त बारह हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंके आधारपर मूल, व्याख्या और पञ्जिकाका सम्पादन करके प्रस्तुत महाकाव्य हिन्दी भावानुवादके साथ अब इस नये परिवेशमें पाठकोके समक्ष प्रस्तुत है ।

इस संस्करणकी विशेषताएँ:—१. शुद्ध पाठ; २. संस्कृत व्याख्या; ३. संस्कृत पञ्जिका; ४. मूलानुगामी हिन्दी भावानुवाद, ५. प्रस्तावना; ६. पाठान्तर, टिप्पण तथा परिशिष्ट

आभार :—पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने जीवराज ग्रन्थमालासे इसके सम्पादन व अनुवादका कार्य दिलवाया और संस्कृत व्याख्याकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ भी भेजी । डॉ० नेमिचन्द्रजी आरा, पन्नालालजी अग्रवाल देहली, डॉ० कन्नूरचन्द्रजी जयपुर, पं० माणिकचन्द्रजी चवरे कारंजा और पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री ब्यावरने हस्तलिखित प्रतियाँ भेजी । पं० मिलापचन्द्रजी-रतनलालजी कटारियाने विबुध श्रीधरके ‘पासनाथचरित’ के कतिपय पद्योकी चं० च० के पद्योसे तुलना करके भेजी । पं० कमलाकान्तजी शुबल वाराणसीने व्याख्याकारके काल निर्धारणमें साहाय्य प्रदान किया । पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरने समवसरणसे सम्बद्ध नौ पद्योके अनुवादमें सहयोग दिया । पं० दलमुखजी मालवणिया अहमदाबाद, डॉ० मोहनलालजी मेहता वाराणसी, अगरचन्द्रजी नाहटा बीकानेर, पं० परमानन्दजी शास्त्री देहली, डॉ० गुलाबचन्द्रजी चौधरी, नवलालन्दा और पं० के० भुजबलीजी शास्त्री धारवाड़ने पत्रोके उत्तर दिये । स्थानीय जैन विद्वानोंने उत्साह बढ़ाया । डॉ० गोकुलचन्द्रजीने कलापूर्ण मुद्रणकी ओर ध्यान दिया । पं० महादेवजी चतुर्वेदी, पं० हरगोविन्दजी द्विवेदी, पं० शिवदत्तजी मिश्र और पं० रामाभिलाषजी त्रिपाठी आदि भारतीय ज्ञानपीठके विद्वानोंने पहला प्रूफ देखा और कम्पोजीटर महावीरजी आदिने कम्पोज करनेमें सावधानी बरती । अतएव इन सभी महानुभावोंका हृदयसे आभारी हैं ।

मेरे ऊपर सबसे अधिक आभार डॉ० ए० एन० उपाध्येका है, जिन्होंने सम्पादन सम्बन्धी अनेक सूचनाएँ भेजी, प्रारम्भके पाँच फार्मोंके प्रूफ स्वयं देखे, पूरी प्रस्तावना पढ़कर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये और बीच-बीचमें न जाने कितने पत्र भेजकर उत्साहकी मात्राको बढ़ाया । अतएव मैं आपका कृतज्ञ हूँ ।



प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन श्रीजीवराजग्रन्थमाला, सोलापुरकी ओरसे हुआ है, अतः उसके संस्थापक विद्यानुरागी स्व० ब्र० जीवराजजी के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा मुख्य कर्तव्य है। दोनों ग्रन्थमालाके मुख्य सम्पादकोंका भी आभारी हूँ।

क्षमा प्रार्थनाः—सावधानी बरतनेपर भी मूल ग्रन्थके दो स्थलोंमें दो अशुद्धियाँ हो गयी हैं—  
१. नाभिसरोवरम् ( २. ) ( १३, ७ ) और २. काञ्चनमेदिनीषु जनयति घिषणाम् ( १४, २८ )। इनके स्थानमें शुद्ध पाठ ऐसे होने चाहिए थे—१. नाभिसरो वरम् ( १३, ७ )। यहाँ नाभिसरो विशेष्य है और वरम् उसका विशेषण। २. काञ्चनमेदिनीषु सततं जनयति घिषणाम्। इनके अतिरिक्त कुछ प्रूफ या प्रेस सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी रह गयी हैं, पर उनकी संख्या बहुत कम है। ये अशुद्धियाँ ऐसी नहीं जो भ्रामक हो।

प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन सन् १९५९ में प्रारम्भ किया था, पर मेरी दीर्घसूत्रताके कारण इसके प्रकाशनमें इतना अधिक विलम्ब हो गया है। यदि उपाध्येजी बार-बार क्षीघ्रताके लिए पत्र न लिखते तो और भी विलम्ब हो सकता था। अतएव अन्तमें ज्ञात-अज्ञात अशुद्धियों और विलम्बके लिए मैं पाठकों एवं उपाध्येजीसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

—अमृतलाल शास्त्री

## प्रस्तावना

### [१] आदर्श प्रतियों का परिचय

चन्द्रप्रभचरितम्के प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन निम्नांकित हस्तलिखित बारह—मूल (७), संस्कृत-व्याख्या (३) और पञ्चिका (२) की प्राचीन प्रतियोंके आधार पर किया गया है—

मू० १. अ—यह प्रति कारंजाकी है। यह ११६ × ५ इंच लम्बे-चौड़े १३० पत्रों (२६० पृष्ठों) में समाप्त हुई है। दोनों ओर डेढ़-डेढ़ इंच का हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या ८-८ है, पर अन्तके दो पृष्ठों पर ९-९। प्रति पंक्ति लगभग ३५-३६ अक्षर हैं। लिपि सुन्दर एवं सुवाच्य है। इसमें पडिमात्रा या पृष्ठमात्राका उपयोग किया गया है। 'सर्गः'के स्थानमें 'सर्भः' एवं 'च्छ'के स्थान में 'छ' लिखा हुआ है। यत्र-तत्र हासियोंमें टिप्पण भी दिये गये हैं। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसमें कलासनायस्य... इत्यादि (१.५९), ज्ञानमागमनिरोधि... इत्यादि (७.५२) तथा कविप्रशस्तिका यः श्रीवर्म नृपो बभूव... इत्यादि (६) पद्य नहीं है। आदिभाग—ॐ नमः सिद्धेभ्यः। श्रियं क्रियाद्यस्य... इत्यादि। पुष्पिका—इति श्रीवीरनन्दिकृता-वुदयांके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥१॥छ॥ अन्तिम भाग—स्वस्ति श्री संवत् १५९१ वर्षे आषाढमासे। कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ सोमवासरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगळे। बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दा-चार्यान्वये भट्टारक श्रीपद्मनन्दिदेवा तत्पट्टे भ० श्रीसकलकोतिदेवाः तत्पट्टे भ० भुवनकोतिदेवाः तत्पट्टे भ० ज्ञानभूषणदेवाः तत्पट्टे श्री विजयकोतिदेवाः तच्छिष्य श्री ब्र० श्री हंसारूपः तच्छिष्यब्रह्मराजपालपठनायं चंद्रप्रभकाव्यं चिरं तिष्ठतु भूतले। गुह्यशिष्ययोः शुभं भूयात्। श्लोक संख्या २३४० ॥ चंद्रप्रभकाव्यम्।

मू० २. आ—यह प्रति कारंजाकी है। १२ × ५ १/२ इञ्च लम्बे-चौड़े ४८ पत्रों (९६ पृष्ठों) में इसकी समाप्ति हुई है। दोनों ओर एक-एक इञ्चका हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ १६-१६ पंक्तियाँ हैं, और प्रति पंक्ति ५१-५२ अक्षर हैं। इसमें भी अङ्गों और मात्राओंकी आकृति 'अ' प्रतिके समान है। ऊपर और नीचेके रिक्त भागोंमें छोटे-छोटे सधन अक्षरोंमें टिप्पण भी दिये गये हैं। इसमें ग्रन्थकारकी प्रशस्तिके पद्य नहीं हैं। इसका लेखन काल १६४३ है। आदि भाग—ॐ नमो वीतरागाय ॥ ॥ श्रियं क्रियाद्यस्य... इत्यादि। पुष्पिका—इति श्री वीरनन्दिकृतावुदयाके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥छ॥१॥ अन्तिम भाग—इति श्री सिद्धान्तवेदी श्रीवीरगणचार्यांकृतौ चंद्रप्रभस्वामीमहाकाव्यं समाप्तमिति। संवत् १६४३ वर्षे एकादशी तिथौ भीमवासरे तुलवदेशे बंगवाटिपत्तने जैनराज्यसुराज्ये शान्तीश्वरचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगळे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये महामुनीश्वरश्रीमहेन्द्रकोतिदेवश्रीचिष्कमहेन्द्रकोतिदेवगुरुकुणां पादपद्माराधकभट्टारकश्रीभुवनकोतितल्लीस्थ ब्रह्मज्ञानसागरस्वहस्तेन लिखितं स्वपठनायं कर्मशायार्थं। शुभं भवतु कल्याणमस्तु। मंगल महा श्री श्री श्री ॥श्री॥ ॥श्री॥ ॥श्री॥

मू० ३. इ—यह प्रति भी कारंजाकी है। यह ११३ × ५ इञ्च लम्बे-चौड़े ७९ पत्रों (१५८ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ९ (पृ० १४ तक), १० (पृ० १५-३८), ११ (पृ० ३९-७४), १० (पृ० ७५-७९) और प्रति पंक्ति अक्षरसंख्या प्रारम्भमें ३७-३८ है पर आगे चलकर ४५-४६। दोनों ओर एक-एक इञ्चका हासिया छूटा है। इसमें भी प्रशस्ति-पद्य नहीं हैं, और न टिप्पण भी। अङ्गों और मात्राओं-को आकृति कहीं-कहीं 'अ'-'आ' प्रतियोंके समान भी है। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसका भी लेखन-काल १६४३ है। आदि भाग—श्रीवीतरागाय नमः। अथ चन्द्रप्रभस्वामिमहाकाव्य लिख्यते। श्रियं क्रिया-द्यस्य... इत्यादि। पुष्पिका—इति विनन्दिकृतावुदयाके चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥१॥ अन्तिम-भाग—॥ गद्य ॥ इति श्रीवीरगणदिकृतावुदयाक चन्द्रप्रभचरित महाकाव्ये निर्वाणगमनो नाम अष्टादशः सर्गाः ॥ ॐ ॥ १८॥ इति श्रीसिद्धान्तवेदी श्रीवीरगणचार्यांकृतौ चन्द्रप्रभस्वामीमहाकाव्यं संपूर्णं समाप्त-



चं० ५० की संस्कृत व्याख्या—'विद्वन्मनोवल्लभा'का सम्पादन निम्नाङ्कित हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर किया गया है—

व्या० १. आ—यह जैन सिद्धान्तभवन, आराकी प्रति है, जो १३ × ८<sup>१</sup>/<sub>२</sub> इञ्च लम्बे-चौड़े ३०६ पन्नों ( ६१२ पृष्ठों ) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ २० पंक्तियाँ हैं, और प्रतिपंक्ति प्रायः २३ अक्षर हैं। बाईं ओर एक इञ्ची और दाईं ओर आधा इञ्ची हासिया छूटा है। कागज पुष्ट, सफेद रंगका है। इसे दो लेखकोंने पूरा किया है। एकके अक्षर अत्यन्त सुन्दर हैं, और दूसरेके अत्यन्त भद्दे। एकने गाढ़ी चटकीली काली स्याहीसे लिखा, और दूसरेने फीकी नीली स्याहीसे। आदि भाग—श्री सरस्वत्यै नमः। श्री चन्द्र-प्रभाय नमः। श्री चारुकीर्तिमुनये नमः। श्री कामयक्षज्वालामालिन्यै नमः। शुभमस्तु। चन्द्रप्रभसंस्कृत-व्याख्यानम्। निर्विघ्नमस्तु। पुष्पिका—इति श्री वीरनन्दिकृता उदयाके चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ अन्तिम भाग—शकवर्ष १७६१ नेयवि-कारिसंवत्सरदमाष शुद्ध १ इयदत्तश्रीमच्छारुकीर्तिपंडिताचार्यवर्यस्वामियवरपादकमलभूंगोपमानियादवेल-गुलदयि वर्गदवशिष्टगोत्रदविजयणैयनुपीचंद्रप्रभकाव्यदव्याख्यानपुस्तकबरदु संपूर्णवायि तु आचन्द्राकर्पयंत भद्रं शुभं मंगलं ॥ यह प्रति डॉ० नेमिचन्द्रजी, आराके सौजन्यसे प्राप्त हुई।

व्या० २. श—यह प्रति श्राविकाश्रम, सोलापुरकी है। यह १२<sup>३</sup>/<sub>४</sub> × ७ इञ्च लम्बे-चौड़े १७८ पन्नों ( ३५६ पृष्ठों ) में समाप्त हुई है। दोनों ओर २-२ इञ्चका हासिया छूटा है। पंक्तिसंख्या प्रथम पृष्ठपर १५, अन्तिमपर १० और मेषपर १६-१६ है। प्रति पंक्ति अधारसंख्या कही ३८ कही ४० और कही ५६ भी है। अक्षर सर्वत्र एक-से नहीं हैं, यद्यपि लेखक एक ही है। कही गाढ़ी तो कही फीकी काली स्याहीका उपयोग किया गया है। पत्रोपर अङ्क डालनेमें सावधानी नहीं बरती गयी। कागज पुष्ट, पीले रंगका है, पर बाईं ओरका कोना गल गया है। आदिभाग—श्रीचन्द्रप्रभाय नमः। शुभमस्तु। निर्विघ्नमस्तु ॥ वंदेहं सहजानन्द-कंदलीकंदबंधुरं चंद्राकं चंद्रसंकाशं चंद्रनाथं स्मराहरं ॥ पुष्पिका—इतिवीरनन्दिकृता उदयाके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ अन्तिमभाग—स्वर्गिणो देवाः। पंचमं परि-निर्वाणार्थं ॥ कल्याणं मंगलकार्यं। प्रविधाय। स्वं स्वं स्वकीयं स्वकीयं ॥ पदं स्थानं। अगुः युगुः। लुङ् ॥ १५४ ॥ इति वीरनन्दिकृताउदयाके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये अष्टादशः सर्गः ॥ १९ ॥

व्या० ३. स—यह अपूर्ण प्रति भी श्राविकाश्रम, सोलापुरकी है। इसमें १३<sup>३</sup>/<sub>४</sub> × ८ इञ्च लम्बे-चौड़े १५९ पन्नों ( ३१८ पृष्ठ ) हैं। दोनों ओर १-१ इञ्च का हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ पंक्तिसंख्या १५-१५ और प्रतिपंक्ति अक्षरसंख्या प्रायः ३२-३३ है। उक्त दो व्या० प्रतियोंकी भाँति इसमें भी अक्षरोकी बनावट सर्वत्र एक-सी नहीं है। हासियों, और पूर्ण विरामोमें गाढ़ी लाल स्याही तथा व्या० लेखनमें चटकीली गाढ़ी काली स्याही प्रयुक्त हुई है। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसमें आदिके बारह सर्गोंकी व्याख्या है। इसमें भी उपान्य ११०वें पद्यकी व्याख्या अधूरी है और अन्तिम १११वें की व्याख्या है ही नहीं। इसमें भी लेखनकाल अङ्कित नहीं है। आदिभाग—श्रीचन्द्रप्रभाय नमः। शुभमस्तु। निर्विघ्नमस्तु ॥ वंदेहं सहजानन्दकंदलीकंद-बंधुरं। चंद्राकं चंद्रसंकाशं चंद्रनाथं स्मराहरं ॥ पुष्पिका—इति वीरनन्दिकृता उदयाके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥ अन्तिमभाग—समरं संग्रामं वा। प्रदिशामि। इत्येवं। द्वेषाश्रयैः द्वयमवलंबनं आश्रयो येषां तैः। वचनैः वचोभिः। रिपुदूतः रिपोः शत्रोर्दू ( इस प्रतिकी समाप्ति यही हो जाती है। ) ।

'श' तथा 'स' प्रतियोंकी प्रतिलिपि किसी एक ही आदर्श प्रतिसे की गयी है। यदि कहीं थोड़ा-बहुत पाठभेद है भी, तो उसका कारण लिपिककी अनवधानता है। ये दोनों प्रतियाँ पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुईं।

प्रस्तुत महाकाव्यकी संस्कृतपञ्जिकाका सम्पादन निम्नलिखित हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर किया गया है—

पं० १. ब—यह प्रति ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवन, व्यावरकी है। यह १२ × ५ इञ्च लम्बे-चौड़े ५३ पत्रों ( १०४ पृष्ठों ) में समाप्त हुई है। प्रारम्भके १८ पत्रोंपर दोनों ओर १-१ इञ्चका हासिया छूटा है। प्रथम और अन्तिम पत्र एक ही ओर लिखे गये हैं। प्रतिपृष्ठ पंक्तिसंख्या ११-११ ( १२व पृ० तक ) तथा शेष पृष्ठोंपर १३-१३ है। प्रति पंक्ति अक्षर संख्या प्रायः ४०-४० है। लिपि सुवाच्य है, पर सुन्दर नहीं। कागज पतला, पीले रंगका है। अवस्था जीर्ण-शीर्ण है। इसमें लेखनकाल नहीं दिया गया। आदिभाग—स्वस्ति श्री सरस्वत्यै। श्री धृतमुनिमुनये नमः ॥ प्रणम्य वीरं नृमुरासुरस्तुतं प्रकृष्टबोधं विबुधेष्ट-सम्मतं। करिष्यते शंसयधामभजिका मायाय चंद्रप्रभकाव्यपंजिका ॥ अन्तिमभाग—इति चंद्रप्रभकाव्यपंजिकायां अष्टादशः सर्गः समाप्तः ॥१८॥ देशीयगणेशप्रणम्यः प्रधानः। गुणनन्दी इत्यर्थः ॥ ॥छ॥॥छ॥॥

पं० २. ज—यह प्रति श्री महावीर दि० जैन शोधसंस्थान, जयपुरकी है। यह १० × ४ ३/४ इञ्च लम्बे-चौड़े ८६ पत्रों ( १७० पृष्ठों ) में समाप्त हुई है। दोनों ओर १-१ इञ्चका काली स्याहीका हासिया छूटा है। प्रथम और अन्तिम पत्र केवल एक ही ओर लिखे गये हैं। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या १० और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या प्रायः ३५ है। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। 'ब' प्रतिकी भाँति इसमें भी गाढी काली स्याहीका उपयोग किया गया है। अक्षर सुवाच्य एवं सुन्दर है। 'ब' प्रतिकी भाँति इसमें अशुद्धियोंकी बहुलता नहीं है। इसमें भी लेखनकालका उल्लेख नहीं है। प्रतियोंकी स्थिति व मात्राओंकी आकृतिसे इतना स्पष्ट है कि 'ज' प्रतिसे 'ब' प्रति प्राचीन है। आदिभाग—॥ स्वस्ति श्री सरस्वत्यै ॥ श्री धृतमुनिमुनये नमः ॥ प्रणम्य वीरं नृमुरासुरस्तुतं प्रकृष्टबोधं विबुधेष्टसन्मतम्। करिष्यते शंसयधामभजिका मायाय चंद्रप्रभकाव्यपंजिका ॥१॥ अन्तिमभाग—इति चंद्रप्रभकाव्यपंजिकायां अष्टादशः सर्गः ॥१८॥ देशीयगणेशप्रणम्यः प्रधानः। गुणनन्दी इत्यर्थः ॥ ॥छ॥॥श्री॥श्री॥॥ब॥ ॥

## सम्पादन पद्धति

### [ क ] शुद्ध पाठ

१. उक्त सारों ह० लि० मूल प्रतियोंके पाठोंमें जो शुद्धतम प्रतीत हुआ, उसे मूलमें रखकर अन्य सभी प्रतियोंके, जिनमें एक मुद्रित प्रति भी सम्मिलित है, पाठोंकी पृषक्-पृषक् संकेत चिह्नोंके साथ नीचे स्थान दिया गया है। जहाँ उनके पाठोंसे व्याख्यानतर्गत मूल पाठ और भी अधिक शुद्ध जान पड़ा, वहाँ उसीको मूलमें मिलाकर सभी प्रतियोंके पाठोंको पाठान्तरोंमें स्थान दिया गया है, और इसकी सूचना भी वही दे दी गयी है। व्याख्याका स्वरूप जैसा भी हो, पर उसकी सबसे बड़ी विशेषता है लगभग पचासी प्रतिशत मूलपाठोंकी शुद्धि। व्याख्यामें पहले मूलको स्थान देकर बादमें उसका अर्थ खोला है।

२. व्याख्याकी तीन प्रतियोंमें 'आ' और 'श' अपेक्षाकृत प्राचीन हैं, और 'स' अर्वाचीन। 'स' प्रति अपूर्ण है और अशुद्ध भी। अन्य दो प्रतियोंमें अशुद्धियाँ कम हैं। इन्हीं तीन प्रतियोंके आधार पर व्याख्याको शुद्ध बनानेका प्रयास किया गया है। तीनोंमें जिसका पाठ शुद्ध ज्ञात हुआ उसे यथास्थान रखकर शेषके पाठोंको तत्तत् सङ्कतोके साथ नीचे पाठान्तरोंके रूपमें स्थान दिया गया है।

कही-कही अत्यावश्यकता पड़नेपर ( ) इस कोष्ठकमें सम्पादक ने अपनी ओरसे भी लिखा है, और कही-कही पाठान्तरोंके साथ नीचे भी, जिसे = इस चिह्न से पहचाना जा सकता है।

३. पञ्जिकाकी दो प्रतियोंमें 'ज' अधिक शुद्ध है। 'ज' की तुलनामें 'ब' में अधिक पाठ छूटे हुए हैं। दोनों में जिसका पाठ शुद्ध ज्ञात हुआ, उसे यथास्थान रखकर अन्य प्रतिके पाठोंको संकेत चिह्नोंके साथ नीचे पाठान्तरोंमें स्थान दिया गया है। जहाँ दोनोंके ही पाठ अशुद्ध प्रतीत हुए वहाँ ( ) ऐसे कोष्ठकमें सम्पादककी ओरसे नया पाठ प्रस्तुत किया गया है।

## [ ख ] अवतरणोंके चिह्न और मूल स्थलोंके निर्देश

प्रस्तुत ग्रन्थकी व्याख्यामें ३२९ तथा पञ्जिकामें ६३ अवतरण ग्रन्थान्तरोंके हैं। उन्हें ' ' इस चिह्नसे पहचाना जा सकता है। अधिकांश अवतरणोंके मूल स्थलोंके निर्देश [ ] ऐसे कोष्ठकोंमें किया गया है, और अशुद्ध अवतरणोंको मूल ग्रन्थोंके आधारपर शुद्ध भी किया गया है।

उद्धृत कोषवाक्योंके मूल स्थलोंका निर्देश अनेकार्थध्वनिमञ्जरी, अनेकार्थ नाममाला, अनेकार्थसंग्रह, अभिधानचिन्तामणि, अमरकोष, घनञ्जयनाममाला, विश्वप्रकाश, विश्वलोचन और वैयन्ती—इन ९ संस्कृत कोषोंके आधारपर कर दिया है, पर 'विश्व' कोषके न मिलनेसे उसके स्थलोंका निर्देश नहीं किया जा सका। इस कोषके अवतरण जैन व जैनैतर काव्योंकी टीकाओंमें पाये जाते हैं, पर यह ज्ञात नहीं हो सका कि यह प्रकाशित है या अप्रकाशित।

अप्रकाशित कोष—प्राचीन संस्कृत कोष पद्य शैलीमें निबद्ध मिलते हैं, पर चं० च० की व्याख्यामें नानार्थकोषके नामसे लगभग पन्द्रह अवतरण गद्यसूत्रोंके रूपमें हैं। अर्हद्दासकृत मुनिव्रतकाव्यम् और पार्श्वभुदयम्की सं० टी० में भी इसी कोषके अनेक अवतरण हैं, पर मुनिसु० की सं० टी० में पृ० १४३ पर जिस अवतरणके आगे 'नानार्थकोषे' लिखा है, उसीके आगे पृ० १८१ पर 'नानार्थरत्नकोषे'। संभवतः इस कोषके दो नाम प्रसिद्ध रहे हों। जो कुछ भी हो, यह कोष अभी तक कहींसे प्रकाशित नहीं हुआ। जैन साहित्यका बृहद् इतिहास भाग ५ ( पृ० ९३ ) से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता असग थे।

## [ ग ] टिप्पण

प्रस्तुत ग्रन्थमें व्याख्याकारके अभिप्रायको स्पष्ट या पुष्ट करनेके लिए यत्र-तत्र टिप्पण भी दिये गये हैं, जिनमें कुछ तुलनात्मक भी हैं। टिप्पणोंमें कुछ अन्य ग्रन्थोंके, विशेषतः कोषोंके अनेक वाक्य उद्धृत किये गये हैं। प्रायः प्रत्येक पृष्ठके नीचे मूल ग्रन्थ और उसकी व्याख्याके पाठान्तरोंके साथ ही टिप्पण दिये गये हैं। तीनोंके लिए हिन्दी अङ्कोंका उपयोग किया गया है। मूल श्लोकों और व्याख्याके पदोंपर डाले गये अङ्कोंके आधारपर नीचे डाले गये अङ्कोंको देखकर यह स्पष्टतया समझा जा सकता है कि मूलके या व्याख्याके पाठान्तर कौनसे हैं। टिप्पण, पाठान्तरोंमें रले-मिले हैं, पर वे '=' इस चिह्नसे पृथक् ही समझे जा सकते हैं।

## [ घ ] परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तमें निम्नलिखित परिशिष्ट जोड़े गये हैं—१. संस्कृत पञ्जिका, २. मूलग्रन्थकी पद्यानुक्रमणिका, ३. व्याख्याके अवतरणोंकी अनुक्रमणिका, ४. पञ्जिकाके अवतरणोंकी अनुक्रमणिका, ५. मूलग्रन्थकी सूक्तियाँ, ६. मूल ग्रन्थ गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ७. व्याख्यानन्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ८. पञ्जिकान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ९. चं० च० में प्रयुक्त छन्दोंका विवरण और १०. संकेत विवरण।

## [ २ ] ग्रन्थ-परिचय

नाम—अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभके जीवन वृत्तको लेकर लिखे गये प्रस्तुत महाकाव्यका नाम 'चन्द्रप्रभचरितम्' है, जैसा कि प्रतिज्ञावाक्य ( १, ९ ), पुलिका वाक्यों तथा 'श्रीजिनेन्दुप्रभस्वेदं चरितं' इत्यादि पद्य ( पृ० ४६० ) से स्पष्ट है।

१. 'नानार्थ कोष' के रचयिता असग नामक कवि थे, ऐसा मात्र उल्लेख प्राप्त होता है। वे शायद विगम्बर जैन गृहस्थ थे। वे कब हुए और ग्रन्थकी रचनाशैली कैसी है, यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं होनेसे कहा नहीं जा सकता।—जैन साहित्यका बृ० इ० भाग ५ पृ० ९३

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओंमें निबद्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्योंके परिशीलनसे ज्ञात होता है कि उनके चरितान्त नाम रखनेकी परम्परा प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। उपलब्ध काव्योंमें बिल्लसूरिका 'पठमचरित' प्राकृत चरित काव्योंमें, अथर्वशेषका 'बुद्धचरितम्' संस्कृत काव्योंमें तथा स्वयम्भू कविका 'पठमचरित' अपभ्रंश काव्योंमें सर्वाधिक प्राचीन है। इन तीनोंमें प्रारम्भके दो काव्य ई० की प्रथम शतीके तथा तीसरा ई० की सातवीं शतीका है। प्रस्तुत महाकाव्यका नाम इसी परम्पराके अनुकूल है।

**विषय**—प्रस्तुत ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त है, जो इसके अठारह सर्गोंमें समाप्त हुआ है। प्रारम्भके पन्द्रह सर्गोंमें चरितनायकके छह अतीत भवोंका और अन्तके तीन सर्गोंमें वर्तमान भवका वर्णन किया गया है। सोलहवें सर्गमें गर्भकल्पाणक, सत्रहवेंमें जन्म, तप और ज्ञान तथा अठारहवेंमें मोक्ष कल्पाणक वर्णित है। महाकाव्योचित प्रासङ्गिक वर्णन और अवान्तर कथाएँ भी यत्र-तत्र गुम्फित हैं। सभी सर्गोंके अन्तिम पद्योंमें 'उदय' शब्दका सन्निवेश होनेसे यह 'उदयाङ्क' कहलाता है।

### [ ३ ] चं० च० की कथावस्तुका संक्षिप्तसार

चं० च० में चरितनायकके राजा श्रीवर्मा, श्रीधरदेव, सम्राट् अजितसेन, अच्युतेन्द्र, राजा पद्मानभ, अहमिन्द्र और चन्द्रप्रभ—इन सात भवोंका विस्तृत वर्णन है, जिसका संक्षिप्तसार इस प्रकार है—

१. राजा श्रीवर्मा—पुष्करार्थ द्वीपवर्ती सुगन्धि देशमें धोपुर नामक पुर था। वहाँ राजा श्रीधेय निवास करते थे। उनकी पत्नी श्रीकाता<sup>२</sup> पुत्र न होनेसे सदा चिन्तित<sup>३</sup> रहा करती थी। किसी दिन गेंद खेलते बच्चोंको देखते ही उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उसकी सखीसे इस बातको सुनकर राजा श्रीधेय उसे समझाते हुए कहते हैं—देवि, चिन्ता न करो। मैं शीघ्र ही विधिष्ठ ज्ञानी मुनियोंके दर्शन करूँगा, और उन्हींसे पुत्र न होनेका कारण पूछूँगा। कुछ ही दिनोंके पश्चात् वे अपने उद्यानमें अचानक आकाशसे उतरते हुए चारणक्रुद्धिके धारक मुनिराज अन्तर्गत दर्शन करते हैं। तत्पश्चात् प्रसङ्ग पाकर वे उससे पूछते हैं—'भगवन् ! मुझे वैराग्य क्यों नहीं हो रहा है ?' उन्होंने उत्तर दिया—'राजन् ! पुत्र प्राप्ति की इच्छा रहनेसे आपको वैराग्य नहीं हो रहा है। अब शीघ्र ही पुत्र होगा। अभी तक पुत्र न होनेका कारण आपकी पत्नीका पिछले जन्मका अशुभ निदान है।' घर जाकर वह अपनी पत्नीको पुत्र होनेकी उक्त बातको सुनाता है। वह प्रसन्न हो जाती है। दोनों धार्मिक कार्योंमें संलग्न रहने लगते हैं। इतनेमें आष्टाङ्गिक पर्व आ जाता है। दोनोंने आठ-आठ उपवास किये, आष्टाङ्गिक पूजा की और अभिषेक भी। कुछ ही दिनोंके बाद रानी गर्भधारण करती है<sup>४</sup>। धीरे-धीरे गर्भके चिह्न प्रकट होने लगे। नौ मास बीतनेपर पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है। उसका नाम श्रीवर्मा रखा गया। बचस्क होनेपर राजा उसका विवाह करके युवराज बना देता है। उल्कापात देखकर राजाको वैराग्य हो जाता है। फलतः वह श्रीवर्माको अपना राज्य सौंपकर श्रीप्रभ<sup>५</sup> मुनिसे जिनदोषा लेकर धीरे तप करता है और फिर मुक्ति कल्याण वरण करता है। पिताके वियोगसे वह कुछ दिनों तक शोकमग्न रहता है। शोकके कम होनेपर वह दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। उसमें वह पूर्ण सफल होकर घर लौटता है। शरत्कालीन मेघको शीघ्र ही विलीन होते देखकर उसे वैराग्य हो जाता है। फलतः वह अपने पुत्र श्रीकाता<sup>६</sup> को अपना उत्तराधिकार देकर श्रीप्रभ मुनिके निकट जाकर दीक्षा ग्रहण करता है और धीरे तपस्वरण करने लगता है।

१. पुराणसार संग्रह (७६,२) में देशका नाम गन्धिल लिखा है। २. पुराणसा० (७६,३) में श्रीमती नाम दिया है। ३. उ० पु० (५४,४४) में राजाका चिन्तित होता लिखा है। ४. उ० पु० (५४, ५१) में गर्भधारण करनेसे पहले चार स्वप्न देखनेका उल्लेख है, और पुराणसा० (७६,५) में पाँच स्वप्न देखनेका। ५. पुराणसा० में गर्भचिह्नोंकी चर्चा नहीं है। ६. उ० पु० (५४,७३) में मुनिका नाम श्रीपद्म और पुराणसा० (७८,१९) में श्रीधर लिखा है। जिस वनमें दीक्षा ली थी, उसका नाम उ० पु० में शिष्यकर और पुराणसा० में प्रियंकर दिया है। ७. पुराणसा० (७८,१९) में श्रीकान्तके स्थानमें श्रीधर लिखा है।

२. श्रीधरदेव—घोर तपश्चरणके प्रभावसे श्रीवर्मा पहले स्वर्गमें श्रीधरदेव होता है। वहाँ उसे दो सागरोपम आमु प्राप्त होती है। उसका अभ्युदय अन्य देवोंसे कहीं अच्छा है। देवियोंकी दृष्टि उसे स्थायी उत्सव समझती है।

३. सम्राट् अजितसेन—घातकी खण्ड द्वीपके अलका नामक देशमें कोशला नगरी है। वहाँ राजा अजितजय और रानी अजितसेना<sup>१</sup> निवास करते हैं। श्रीधर देव इन्होका पुत्र—अजितसेन<sup>२</sup> होता है, जो बयस्क होते ही युवराज बना दिया जाता है। अजितजयके देखते-देखते उसके सभाभवनसे अजितसेनको कुल्यात चण्डरुचि नामक असुर पिछले जन्मके वैरके कारण उठा ले जाता है। राजा व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाता है। इसी बीच तपोभूषण मुनि पधारते हैं और यह कहकर वापिस चले जाते हैं कि युवराज कुछ दिनोंके बाद सकुशल घर आ जायगा।<sup>३</sup> उधर वह असुर उसे बहुत ऊँचाईसे एक तालाबमें गिरा देता है। मगर-मच्छोंसे जूझता हुआ वह किसी तरह किनारेपर पहुँच जाता है। वहाँ से वह ज्यों ही पद्मा नामकी अटवीमें प्रवेश करता है त्यों ही एक भयङ्कर आदमीसे द्रुम्ह छिड़ जाता है। पराजित होनेपर वह अपने असली रूपको प्रकट कर कहता है—'युवराज, मैं मनुष्य नहीं देव हूँ। मेरा नाम हिरण्य है। मैं आपका मित्र हूँ, पर आपके पीछके परीक्षणके लिए मैंने ऐसा व्यवहार किया है, धमा कीजिए। पिछले तीसरे भवमें आप सुगन्धि देशके नरेश थे। आपकी राजधानीमें एक दिन शशोने सँध लगाकर सूर्यके सारे धनको चुरा लिया था। पता लगनेपर आपने शशोको कड़ा दण्ड दिया, जिससे वह मर गया और फिर वह चण्डरुचि असुर हुआ। इसी वैरके कारण उसने आपका अपहरण किया। बरामद धन उसके स्वामीको वापिस दिलवा दिया। युवराज, वही शशो मरनेके बाद हिरण्य नामकदेव हुआ, जो इस समय आपसे बात कर रहा है।'<sup>४</sup>

तपश्चात् युवराज विपुलपुरकी ओर प्रस्थान करता है। वहाँके राजाका नाम जयवर्मा, रानीका जयश्री और उनकी कन्याका शशिप्रभा था। महेन्द्र नामक एक राजा जयवर्मासे उसकी कन्याकी मंगिनी करता है, पर किसी निमित्तज्ञानीसे उसे अत्यायुक्त जानकर वह स्वीकृति न दे सका। इससे क्रुद्ध होकर महेन्द्र जयवर्माको युद्धके लिए ललकारता है। युवराज जयवर्मा का साथ देता है और युद्धमें महेन्द्रको मार डालता है। इसमें प्रभावित होकर जयवर्मा युवराजके साथ अपनी कन्या शशिप्रभाका विवाह करना चाहता है। इतनेमें विजयार्थ भी दक्षिण श्रेणीके आदित्यपुरका राजा धरणीध्वज जयवर्माको सन्देश भेजता है कि वह अपनी कन्याका विवाह मेरे ( धरणीध्वज ) के साथ करे। इसके लिए जयवर्मा तैयार नहीं होता। फलतः भयङ्कर युद्ध छिड़ जाता है। पूर्ववर्चित हिरण्यदेवके सहयोगसे युवराज अजितसेन धरणीध्वजको भी युद्धभूमिमें स्वर्गवासी बना देता है। इसके उपरान्त जयवर्मा शुभमुहूर्तमें युवराज अजितसेनके साथ अपनी कन्याका विवाहकर देता है। फिर उसके साथ अपने नगरकी शोभा बढ़ाता है। वहाँ अजितजय उसे अपना उत्तराधिकार सौंप देते हैं। चक्रवर्ती होनेसे वह चौदह रत्नों एवं नौ निधियोंका स्वामित्व प्राप्त करता है। तीर्थङ्कर स्वयंप्रभके निकट अजितजय जिन दोषा ले लेता है और सम्राट्के हृदयमें सच्ची धृष्टा ( सम्यग्दर्शन ) जाग उठती है। दिग्विजयमें पूर्ण सफलता प्राप्त करके सम्राट् अजितसेन राज्यका संचालन करने लगता है। किसी दिन एक उन्मत्त हाथीने एक मनुष्यकी हत्या कर डाली, इस दुःखद घटना<sup>५</sup> को देखकर सम्राट्को वैराग्य हो जाता है, फलतः वह अपने पुत्र जितशत्रुको उत्तराधिकार सौंपकर शिवंकर<sup>६</sup> उद्यानमें गुणप्रभ मुनिके निकट जिनदोषा गहन कर लेता है और घोर तपश्चरण करता है।

१. उ० पु० ( ५४, ८७ ) में और पुराणसा० ( ८०, २२ ) में नगरीका नाम अयोध्या लिखा है।  
२. पुराणसा० ( ८०, २३ ) में रानीका नाम श्रीवत्ता लिखा है। ३. उ० पु० ( ५४, ८९ ) में श्रीधर देवके गर्भमें आनेसे पहले रानीके आठ शुभस्वप्न देखनेका भी उल्लेख है। ४. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० और पुराणसा० में नहीं है। ५. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० तथा पुराणसा० में नहीं है। ६. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० और पुराणसा० में नहीं है। इन दोनोंमें सम्राट्के द्वारा अरिंदम मुनिको आहार दिये जानेका उल्लेख है, जो चं० चं० में नहीं है। ७. उ० पु० ( ५४-१२२ ) में उद्यानका नाम 'मनोहर' लिखा है।



४. अच्युतेन्द्र—घोर तपश्चरण करनेसे वह अच्युतेन्द्र हो जाता है। वहाँ वह बार्डिस सागरोपम आयुकी अन्तिम अवधि तक दिव्यसुखका अनुभव करता है।

५. राजा पद्मनाभ—आयु समाप्त होनेपर अच्युतेन्द्र अच्युत स्वर्गसे च्यकर घातकीलण्डवर्ती मङ्गलावती देशके रत्नसंघपुरमें राजा कनकप्रभ के यहाँ उनकी पट्टरानी सुवर्णमाला की कुन्डिलसे पद्मनाभ नामक पुत्र होता है। किसी दिन एक बूढ़े बैलको दलदलमें घँसकर मरते देखकर कनकप्रभकी वैराग्य हो जाता है। फलतः वह अपने पुत्र पद्मनाभको राज्य दे देता है और श्रीधर मुनिसे जिनदीक्षा लेकर दुर्घर तप करता है। पिताके विरहसे वह कुछ दिन दुःखी रहता है। फिर मन्त्रियोंके प्रयत्नसे वह अपने राज्यका संचालन करने लगता है। कुछ काल बाद अपने पुत्रको युवराज बनाकर वह अपनी रानी सोमप्रभा के साथ आनन्दमय जीवन बिताने लगता है। किसी दिन मालीके द्वारा श्रीधर मुनिके पधारनेके शुभ समाचार सुनकर पद्मनाभ उनके दर्शनोके लिए मनोहर उद्यानमें जाता है। दर्शन करनेके पश्चात् वह उनके आगे अपनी तत्त्वज्ञासा प्रकट करता है। वे तत्त्वोपप्लव आदि दर्शनोके मन्तव्योकी विस्तृत मीमांसा करते हुए तत्त्वोके स्वरूपका निरूपण करते हैं। उसे सुनकर पद्मनाभका संशय दूर हो जाता है। इसके पश्चात् पद्मनाभके पृष्ठनेपर वे उसके पिछले चार भवोका विस्तृत वृत्तान्त सुनाते हैं। इस वृत्तान्तकी सत्यतापर कैसे विश्वास हो ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए मुनिराजने कहा—‘राजन् ! आजसे दसवें दिन एक मदान्ध हाथी अपने झुण्डसे बिछुड़कर आपके नगरमें प्रवेश करेगा। उसे देखकर मेरे कथनपर विश्वास हो जायगा।’ इसके उपरान्त मुनिराजसे त्रत ग्रहणकर वह अपनी राजधानीमें लौट आता है। ठीक दसवें दिन एक मदान्ध हाथी सहसा राजधानीमें घुसकर उपद्रव करने लगता है। पद्मनाभ उसे अपने वशमें कर लेता है, और उसपर सवार होकर वनक्रीड़ाके लिए चल देता है। इसी निमित्तसे उस हाथीका ‘वनकेलि’ नाम पड़ जाता है। क्रीड़ाके पश्चात् पद्मनाभ उसे अपनी गजशालामें बँधवा देता है। राजा पृथिवीपाल इस हाथीको अपना बतलाकर वापिस करवाना चाहता है। पद्मनाभके इनकार करनेपर दोनोंमें युद्ध छिड़ जाता है। युद्धमें पृथिवीपाल मारा जाता है। इसके कटे सिरको देखकर पद्मनाभको वैराग्य हो जाता है, फलतः वह श्रीधर मुनिसे जिनदीक्षा लेकर सहजनिष्क्रीडित आदि त्रतो व तेरह प्रकारके चारित्र्यका परिपालन करता हुआ घोर तप करता है। कुछ ही समयमें वह द्वादशाङ्ग श्रुतका ज्ञान प्राप्त करता है और सोलह कारण भावनाओंके प्रभावसे तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध कर लेता है।

६. वैजयन्तेश्वर—आयुके अन्तमें संन्यासपूर्वक भौतिक शरीरको छोड़कर पद्मनाभ वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र होते हैं, और तेतोससागरोपम आयुकी अन्तिम अवधि तक वहाँ वे दिव्यसुखका अनुभव करते हैं।

७. तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ—इनका जन्मस्थान पूर्वदेश की चन्द्रपुरी है।

१. पुराणसा० (८२-३३) में कनकाम नाम दिया है। २. पुराणसा० (८२-३२) के अनुसार रानीका नाम कनकमाला है। ३. इस घटनाकी चर्चा उ० पु० और पुराणसा० दोनोंमें नहीं है। ४. उ० पु० (५४-१८१) में पद्मनाभकी अनेक रानियाँ होनेका संकेत है। ५. उ० पु० और पुराणसा० में इस घटनाका तथा इसके बाद होनेवाले युद्धका उल्लेख नहीं है। ६. वाराणसीसे आसामतकका पूर्वी भारत ‘पूर्वदेश’ के नामसे प्रख्यात रहा। उ० पु०, पुराणसा०, त्रिषष्टिशलाकापुरुष० और त्रिषष्टिसूक्ति० में इस देशका उल्लेख नहीं है। ७. त्रिषष्टिशलाकापुरुष० (२९६, १३) में इस नगरीका नाम ‘चन्द्रानना’, उ० पु० (५४, १६३) में ‘चन्द्रपुर’, पुराणसा० (८२, ३९) में ‘चन्द्रपुर’, तिलोपण्णसी (४, ५३३) में ‘चन्द्रपुर’ और हरिवंश (६०, १८९) में ‘चन्द्रपुरी’ लिखा है। सम्प्रति इसका नाम ‘चन्द्रवटी’ ‘चन्द्रोटी’ या ‘चंदरोटी’ प्रसिद्ध है। यह वाराणसीसे १८ मील दूर गङ्गाके बायें तटपर है। यहाँ दि० व श्वे० सम्प्रदायके दो अलग-अलग जैनमन्दिर हैं।

**माता-पिता**—इनकी माताका नाम लक्ष्मणा<sup>१</sup> और पिताका नाम महासेन है। यह पट्टरानी थी। इक्ष्वाकुवंशी महासेन अनेकानेक गुणोंकी दृष्टिसे अनुपम रहे। दिग्विजयके समय इन्होंने अङ्ग, आन्ध्र, ओड, कर्णाटक, कलिङ्ग, कश्मीर, कीर, चेदी, टक्क, द्रविल, पाञ्चाल, पारसीक, मलय, लाट और सिन्धु आदि अनेक देशोंके नरेशोंको अपने अधीन किया था।

**रत्नवृष्टि**—दिग्विजयके पश्चात् चन्द्रपुरीमें राजा महासेनके राजमहलमें चन्द्रप्रभके गर्भावतरणके छः मास पहलेसे जन्म दिनतक प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वृष्टि होती रही।

**गर्भशोधन आदि**—रत्नवृष्टिको देखकर महासेनको आश्चर्य होता है, पर कुछ ही समयके पश्चात् इन्द्रकी आज्ञासे आठ दिक्कुमारियाँ उनके यहाँ रानी लक्ष्मणाकी सेवाके लिए उपस्थित होती हैं। उनके साथ हुए वार्तालापसे उनका आश्चर्य दूर हो जाता है। महासेनसे अनुमति लेकर वे उनके अन्तःपुरमें प्रवेश करती हैं और लक्ष्मणाके गर्भशोधन आदि कार्योंमें संलग्न हो जाती हैं।

**शुभ स्वप्न**—महारानी सुखपूर्वक सोयी हुई थी, इतनेमें उन्हें रात्रिके अन्तिम प्रहरमें सोलह<sup>२</sup> शुभ स्वप्न हुए। प्रभात होते ही वे अपने पतिके पास पहुँचती हैं।

**स्वप्नफल**—पत्नीके मुखसे क्रमशः सभी स्वप्नोंको सुनकर महासेनने उनका शुभफल बतलाया, जिसे सुनकर उसे अपार हर्ष हुआ।

**गर्भावतरण**—आयुके समाप्त होते ही पूर्वर्चित अहमिन्द्र वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानसे चयकर प्रयास्त [चैत्र कृष्णा पञ्चमीके<sup>३</sup>] दिन महारानी लक्ष्मणाके गर्भमें प्रवेश करता है।

**गर्भकल्याणक महोत्सव**—इसके पश्चात् इन्द्र महासेनके राजमहलमें पहुँचकर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। माताके चरणोंकी अर्चना करके वे बहसि वापिस चले जाते हैं, पर श्री, ह्री और धृति देवियाँ वही रहकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करती हैं।

**जन्म**—पौष कृष्णा एकादशी<sup>४</sup>के दिन लक्ष्मणा सुन्दर पुत्र—चन्द्रप्रभको जन्म देती हैं। इस शुभ वेलामें दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं; आकाश निर्मल हो जाता है; सुगन्धित वायुका गंधार होता है; दिव्य-पुष्पोंकी वृष्टि होती है; कल्पवासी देवोंके यहाँ मणिघण्टिकाएँ, ज्योतिष्कोंके यहाँ सिंहाद, भवनवासियोंके यहाँ शङ्ख और व्यन्तरोके यहाँ दुन्दुभि बाजे स्वयमेव बजने लगते हैं—इन हेतुओं तथा आसनके कम्पनसे इन्द्र चन्द्रप्रभके जन्मको जानकर देवोंके साथ चन्द्रपुरीकी ओर प्रस्थान करते हैं।

**अभिषेक**—इन्द्राणी माताके निकट मायामयी शिशुको मुलाकर वास्तविक शिशुको राजमहलसे बाहर ले आती है। सोधमन्द्र शिशुको दोनों हाथोंमें लेकर ऐरावतपर सवार होता है और सभी देवोंके साथ सुमेध पर्वतकी ओर प्रस्थान करता है। वहाँ पाण्डुक शिलापर शिशुको बैठाकर देवों द्वारा लाये गये क्षीर-सागरके जलसे अभिषेक करता है, और विविध अलंकारोंसे अलङ्कृत करके उनका चन्द्रप्रभ नाम रख देता

१. तिलोप० ( ४, ५३३ ) में माताका नाम 'लक्ष्मीमती' लिखा है। २. उ० पु०, पुराणसा० और त्रिपट्टिशलाकापु० में केवल स्वप्नोंकी संख्याका ही उल्लेख है। गुणभद्र और दामनन्दीने स्वप्नोंकी संख्या १६ और हेमचन्द्रने १४ दी है। हेमचन्द्रकी दृष्टिसे १४ स्वप्न ये हैं—गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी-अभिषेक, माला, चन्द्र, सूर्य, कुम्भ, ध्वज, सागर, सरोवर, विमान, रत्नराशि और अग्नि। सिंहासन और नाग-विमान ये दो स्वप्न विगम्बर साहित्यमें अधिक हैं। ३. यह मिति उ० पु० ( ५४, १६६ ) के आधारपर दी है, क्योंकि तिलोप०, हरिवंश और पुराणसा० की भाँति प्रस्तुत चं० च० में इसका उल्लेख नहीं है। उ० पु० में जो मिति दी गयी है वही त्रिपट्टिशलाका पु० ( २९६, २९ ) में भी दृष्टिगोचर होती है। ४. यही मिति उ० पु०, हरिवंश तथा तिलोप० में अङ्कित है, त्रिपट्टिशलाकापु० ( २९७, ३२ ) में पौष कृष्णा द्वादशी लिखी है, पर पुराणसा० ( ८४, ४४ ) में केवल अनुराधायोगका ही उल्लेख मिलता है।

है। इसके उपरान्त सीधमें अन्व इन्द्रोंके साथ चन्द्रप्रभकी स्तुति करता है और फिर उन्हें माताके पास पहुँचाकर महासेनसे अनुमति लेकर वापिस चला जाता है।

**बाल्यकाल**—शिशु अमृतलस अपनी अंगुलियोंको चूसकर ही तृप्त रहता है, उसे माँके दूधकी विशेष लिप्सा नहीं होती। चन्द्रकलाओंकी भाँति उसका विकास होने लगता है। धीरे-धीरे वह देव कुमारोंके साथ गेंद आदि लेकर क्रीडा करने योग्य हो जाता है। इसके पश्चात् वह तैरना, हाथों-घोड़े पर सवारी करना आदि विविध कलाओंमें प्रवीण हो जाता है।

**विवाह संस्कार**—वयस्क होते ही महासेन उनका विवाह संस्कार करते हैं, जिसमें सभी राजे-महाराजे सम्मिलित होते हैं।

**राज्य संचालन**—पिताके आग्रह पर चन्द्रप्रभ राज्य संचालन स्वीकार करते हैं। इनके राज्यकाल में प्रजा सुखी रही, किसीका अकाल भरण नहीं हुआ, प्राकृतिक प्रकोप नहीं हुआ तथा स्वचक्र या परचक्र से कभी कोई बाधा नहीं हुई। दिन-रातके समयको आठ भागोंमें विभक्त करके वे दिनचर्याके अनुसार चलकर समस्त प्रजाको नयमार्ग पर चलनेकी शिक्षा देते रहे। विरोधी राजे-महाराजे भी उपहार ले-लेकर उनके पास आते और उन्हें नम्रता पूर्वक प्रणाम करते रहे। इन्द्रके आदेश पर अनेक देवाङ्गनाएँ प्रतिदिन उनके निकट गीत-नृत्य करती रही। अपनी कमला आदि अनेक पत्नियोंके साथ वे चिरकाल तक आनन्द-पूर्वक रहे।

**वैराग्य**—किसी दिन एक वृद्ध लाठी टेकता हुआ उनकी सभामें जाकर दर्दनाक शब्दोंमें कहता है—‘भगवन् ! एक निमित्तज्ञानीने मुझे मृत्यु की सूचना दी है। मेरी रक्षा कीजिए, आप मृत्युञ्जय हैं, अतः इस कार्यमें सक्षम हैं।’ इसके बाद वह अक्षय हो जाता है। चन्द्रप्रभ समझ जाते हैं कि यह वृद्धके वेषमें देव आया था, जिसका नाम था धर्मशिव। इसी निमित्तसे वे भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं<sup>१</sup> और दीक्षा लेनेका निश्चय करते हैं। इतनेमें ही वहाँ लौकान्तिक देव आ जाते हैं, और ‘साधु’ ‘साधु’ कहकर उनके वैराग्य की सराहना करते हैं। इसके उपरान्त ही वे अपने पुत्र वरचन्द्र को राज्य सौंप देते हैं।

**तप**—तत्पश्चात् इन्द्र और देव चन्द्रप्रभको ‘विमला’ नामकी शिविकामें बैठाकर सकलतुल्य वनमें ले जाते हैं, जहाँ वे [ पीप कृष्ण एकादशीके दिन ] दो उपवासोंका नियम लेकर सिद्धोंको नमन करते हुए एक हजार राजाओंके साथ दीक्षा लेकर तप करते हैं। इसी अवसर पर वे पाँच दृढ़ मुष्टियोंसे केश

१. उ० पु० ( ५४, १७४ ) में स्तुतिका उल्लेख नहीं है, ‘आनन्द’ नाटकका उल्लेख है। त्रिपष्टिशलाकापु० में नाटकका नहीं, स्तुतिका उल्लेख है। २. उ० पु० ( ५४, २१४ ) में और पुराणसा० ( ८६, ५७ ) में क्रमशः, निष्क्रमणके अवसर पर अपने पुत्र वरचन्द्र, व रवितेजको चन्द्रप्रभके उत्तराधिकार सौंपनेका उल्लेख है पर दोनोंमें उनके विवाहके स्पष्ट उल्लेख करनेवाले पद्य नहीं हैं। त्रिपष्टिशलाका पु० ( २९८, ५५ ) में चन्द्रप्रभकी अनेक पत्नियोंका उल्लेख है, जो चन्द्रप्रभचरितम् ( १७, ६० ) में भी पाया जाता है। ३. चन्द्रप्रभ के वैराग्यका कारण तिलोयप० ( ४, ६१० ) में अद्भुत वस्तुका और उ० पु० ( ५४, २०३ ) तथा त्रिपष्टिस्मृति ( २८, ९ ) में दर्पण में मुखकी विकृतिका अवलोकन लिखा है। त्रिपष्टिशलाकापु० और पुराणसा० में वैराग्यके कारणका उल्लेख नहीं है। ४. हरिवंश० ( ७२२, २२२ ) में शिविकाका नाम ‘मनोहरा’, त्रिपष्टिशलाकापु० ( २९८, ६१ ) में ‘मनोरमा. पुराण सा० ( ८६, ५८ ) में ‘सुविशाला’ लिखा है। ५. तिलोयप० ( ४, ६५१ ) में वनका नाम ‘सर्वार्थ’ उ० पु० ( ५४, २१६ ) में ‘सर्वर्तुक’, त्रिपष्टिशलाका पु० ( २९८, ६२ ) में एवं पुराणसा० ( ८६, ५८ ) ‘सहस्रात्र’ लिखा है। ६. चन्द्रप्रभचरितम्में मिति नहीं दी, अतः हरिवंश० ( ७२३, २३३ ) के आधार पर यह मिति दी है। उ० पु० ( ५४, २१६ ) में भी यही मिति है, पर कृष्ण पक्षाका उल्लेख नहीं है। पुराण सा० ( ८६, ६० ) में केवल अनुवाधा नक्षत्रका ही उल्लेख है और त्रिपष्टिशलापु० ( २९८, ६४ ) में पीप कृष्ण त्रयोदशी मिति दी गयी है।

लुप्यन्त करते हैं। देवेन्द्र और देव मिलकर तप कल्याणका उत्सव मनाते हैं, और उन केशोंकी मणिमय पात्रमें रखकर क्षीरसागरमें प्रवाहित करते हैं।

**पारणा**—नलिनपुर<sup>१</sup> में राजा सोमदेव<sup>२</sup> के यहाँ वे पारणा करते हैं। इसी अवसर पर वहाँ पाँच आश्चर्य प्रकट होते हैं।

**कैवल्य प्राप्ति**—धोर तप करके वे शुक्लध्यानका अवलम्बन लेकर [ फाल्गुन कृष्णा सप्तमी<sup>३</sup> के दिन ] कैवल्य—पूर्णज्ञानकी प्राप्ति करते हैं।

**समवसरण**—कैवल्य प्राप्तिके पश्चात् इन्द्रका आदेश पाकर कुबेर साढ़े आठ योजनके विस्तारमें वर्तुलाकार समवसरणका निर्माण करता है। इसके मध्य गन्ध कुटीमें एक सिंहासन पर भ० चन्द्रप्रभ विराज मान हुए और चारो ओर वर्तुलाकार बारह प्रकोष्ठोंमें क्रमशः गणधर आदि।

**दिव्य देशना**—इसके अनन्तर गणधर (मुख्य शिष्य) के प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् चन्द्रप्रभ ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वोंके स्वरूपका विस्तृत निरूपण ऐसी भाषामें किया, जिसे सभी श्रोता आसानीसे समझते रहे।

**गणधरादिकों की संख्या**—दस सहज, दस केवल ज्ञान कृत और चौदह देवचरित अतिशयों तथा आठ प्रातिहारमें विभूषित भ० चन्द्रप्रभके समवसरणमें तेरानव गणधर, दो हजार<sup>४</sup> कुशाग्रबुद्धि पूर्वधारी, दो लाख चारसौ<sup>५</sup> उपाध्याय, आठ हजार<sup>६</sup> अवधिज्ञानी, दस हजार<sup>७</sup> केवली, चौदह हजार<sup>८</sup> विक्रिया वृद्धिधारी साधु, आठ हजार मनःपर्ययज्ञानी साधु, सात हजार<sup>९</sup> छ सौ वादी, एक लाख अस्सी हजार<sup>१०</sup> आयिकाएँ, तीन लाख सम्यग्दृष्टि श्रावक और पाँच लाख<sup>११</sup> व्रतवती श्राविकाएँ रही।

यत्र-तत्र आर्यश्रेष्ठमें धर्माभितकी वर्षा करते हुए भ० चन्द्रप्रभ सम्मेदाबल (शिखर जी) के शिखर पर पहुँचे हैं। भाद्रपद शुक्ला<sup>१२</sup> सप्तमोके दिन अवशिष्ट चार अधातिया कर्मोंको नष्ट करके दस लाख पूर्व प्रमाण आयुके समाप्त होते ही वे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

१. हरिवंश० (७२४,२४०) में और त्रिषष्टिशलापु० (२९८,६६) में पुरका नाम 'पद्मखण्ड' दिया है, एवं पुराणसा० (८६,६२) में 'नलिनखण्ड'। २. हरिवंश० (७२४,२४६) में और पुराणसा० (८६,६२) में राजाका नाम 'सोमदेव' दिया है। ३. चन्द्रप्रभचरितम्में मिति नहीं दी, अतः उ० पु० (५४,२२४) के आधार पर दी है। चन्द्रप्रभचरितम्में चन्द्रप्रभ भगवान्के जन्म और मोक्ष कल्याणकोकी मितियाँ दी हैं, शेष तीन कल्याणकोकी नहीं। ४. त्रिषष्टिशलाका पु० (२९८,७५) में समवसरणका विस्तार एक योजन लिखा है। ५. तिलोयप० (४,११२०) में पूर्वधारियोंकी संख्या चार हजार दी है। ६. तिलोयप० (४,११२०) में उपाध्यायोंकी संख्या दो लाख दस हजार चारसौ दी है। ७. तिलोयप० (४,११२१) में अवधिज्ञानियोंकी संख्या दो हजार लिखी मिलती है। ८. तिलोयप० (४,११२१) में केवलियोंकी संख्या अठारह हजार दी है। ९. तिलोयप० (४,११२१) में विक्रिया वृद्धिधारियोंकी संख्या छः सौ दी है; और हरिवंश० (७२६,३८६) में दस हजार चारसौ। १०. तिलोयप० (४,११२१) में वादियोंकी संख्या सात हजार दी है। ११. तिलोयप० (४,११६९) में आयिकाओंकी संख्या तीन लाख अस्सी हजार दी है और पुराणसा० (८८,७५) में भी यही संख्या दृष्टिभोचर होती है। १२. पुराणसा० (८८,७७) में श्राविकाओंकी संख्या चार लाख एकानव हजार दी है। त्रिषष्टिशलाकापु० में दी गयी संख्याएँ इनसे प्रायः भिन्न हैं। १३. उ० पु० (५४,२७१) में चन्द्रप्रभके मोक्षकल्याणककी मिति फाल्गुन शुक्ला सप्तमी दी गयी है, पुराणसा० (९०,७९) में मिति नहीं दी गयी केवल ज्येष्ठा नक्षत्रका उल्लेख किया है।

## [ ४ ] चं० च० की कथावस्तुका आधार

‘चन्द्रप्रमचरितम्’ की कथावस्तुके आधारके विषयमें इसके रचयिताने स्वयं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। प्रस्तुत कृतिके प्रारम्भ ( १, ६ ) में जहाँ आचार्य समन्तभद्रका स्मरण किया है, वहाँ किसी एक भी पुराणकारका नहीं। हाँ, इसके प्रथम सर्ग ( १, ९-१० ) में गुरुपरम्परासे प्राप्त दुष्प्रवेश पुराणसागरमें स्वयं प्रवेशार्थ उद्यत होनेकी चर्चा वीरनन्दीने अवश्य की है। वह इस बातको ध्वनित करती है कि प्रस्तुत कृतिकी सामग्रीके संकलनके लिए वीरनन्दीने अनेक विशालकाय पुराणोंका परिशीलन किया था।

अब देखना यह है कि वे विशालकाय पुराण कौनसे हैं, जो विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें वीरनन्दीके सामने रहे। सम्प्रति जो पुराण उपलब्ध है, उनमें तीन विशालकाय हैं—पद्मपुराण, हरिवंशपुराण और महापुराण। यदि लेखकोकी भिन्नताके आधारपर महापुराणकी आदिपुराण और उत्तर-पुराणके रूपमें विभक्त कर लें तो पुराणोंकी संख्या तीन से चार हो जाती है। चं० च०के परिशीलनसे ज्ञात होता है कि वीरनन्दीके समक्ष इन चारोंके अतिरिक्त अन्य पुराण भी रहे, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

वीरनन्दीका अन्वेष्य विषय चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त था, जो उन्हें उ० पु०से पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध हुआ। यों यह पद्मपुराणमें भी स्वल्पतम मात्रामें विद्यमान है, पर हरिवंशकी तुलनामें सर्वथा नगण्य है। हरिवंशमें इसका जो थोड़ा-बहुत अंश सूत्ररूपमें उपलब्ध है, वह उत्तरपुराणकी तुलनामें अपर्याप्त है। उत्तरपुराणके बार्हस ( ४४-६५ ) पृष्ठोंपर चन्द्रप्रभका साङ्गोपाङ्ग जीवनवृत्त दो सौ छिहत्तर सुन्दर पद्योंमें अङ्कित है। हरिवंशपुराणमें चन्द्रप्रभके जन्मादि स्थानों, पारिवारिक व्यक्तियों, विभूतियों, अतिशयो, पञ्च-कल्याणमितियों और गणधरादिकोंकी संख्या आदिका ही मुख्यतया उल्लेख है। लगभग इसी ढङ्गका अत्यन्त ही स्वल्प उल्लेख पद्मपुराणमें है। जिनरत्नकोष ( पृ० ११९ ) आदि ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि आचार्य गुणभद्रके अतिरिक्त अन्य कवियोंके भी भिन्न-भिन्न भाषाओंमें निबद्ध चन्द्रप्रमचरितके संदर्भ मिलते हैं। निष्कर्ष यह कि वीरनन्दीके ‘पुराणसागर’ पदसे उन्हें जो विपुल पुराणवाङ्मय विवक्षित है, उनमें सम्प्रति उत्तरपुराण ही ऐसा है, जिसे उनकी कृति चं० च० की कथावस्तुका आधार माना जा सकता है। उ० पु० और चं० च० के प्रतिपाद्य विषयमें जहाँ-कहाँ थोड़ा-बहुत वैषम्य है, वहाँ हरिवंशपुराण आधार है, और जहाँ उक्त दोनोंसे भी वैषम्य है, संभव है वहाँ कवि परमेश्वरका ‘वागर्थसंग्रह’ नामक पुराण आधार रहा हो, जिसके अनेक पद्य वीरनन्दीके समकालीन चामुण्डरायने अपने पुराणमें उद्धृत किये हैं।

आदिपुराणके आधारपर निर्मित पुरुदेवचम्पूमें यज्ञ-तज्ञ आदिपुराणके अनेक श्लोकोको थोड़े-बहुत परिवर्तनके साथ अपनाया गया है। ऐसा चं० च० में नहीं किया गया। उ० पु० की कथावस्तुका आधार बनाकर वीरनन्दीने अपनी कृतिमें अपने इति तक सर्वत्र अपनी मौलिक प्रतिभाका उपयोग किया है। चं० च० के केवल एक स्थलमें उ० पु० के दो पदोका थोड़ा-सा साम्य है, जो अकस्मात् हुआ जान पड़ता है।

चं० च० के ‘गुरुसेतुवाहिते’ ( १, १० ) में ‘गुरु’का अर्थ टीकाकारने ‘गणधर’ और पञ्जिकाकारने ‘श्रीजिनसेनादि’ किया है। यदि पञ्जिकाकारका अर्थ साधारण हो तो उ० पु० की चं० च० के आधार माननेकी बात और पुष्ट हो जाती है; क्योंकि उ० पु० जिनसेनकी कृतिका ही अङ्ग है। अथवा ‘श्रीजिनसेनादि’ में दिये गये ‘आदि’से गुणभद्रको भी लिया जा सकता है। जो कुछ भी हो, यह सुनिश्चित है कि वीरनन्दीने उ० पु० से पर्याप्त लाभ उठाया है। इसके लिए उ० पु० और चं० च० का साम्य ही साधक है, जो इस प्रकार है—

१. प्रामाः कुक्कुटसंपाया. सारा बहुकृषीबला. पशुधान्यघनापूर्णा नित्यारम्भा निराकुलाः ॥

—उ० पु०, पृ० ४५, श्लो० १५

प्रामैः कुक्कुटसंपायाँ. सरोभिर्विकचाम्बुजै. सीमभिः सस्यसंपन्नैः समन्ताद्विराजते ॥

—चं० च०, सर्ग २, श्लो० ११८

साम्य—१. कथानक—दोनोंका एक-सा कथानक ।

२. सातभव—दोनोंमें १. श्रीवर्मा, २. श्रीधरदेव, ३. अजितसेन, ४. अच्युतेन्द्र, ५. पद्मनाभ,  
६. वैजयन्तेश्वर और ७. चन्द्रप्रभ—इन सात भवोंका एक जैसा उल्लेख ।

३. आयु—दोनोंमें श्रीधरदेव, अच्युतेन्द्र और वैजयन्तेश्वरकी आयु आदिकी समानता ।

४. नाम—दोनोंमें श्रीवर्मा, अजितसेन, पद्मनाभ और चन्द्रप्रभके जन्मादिस्थानों एवं पारि-  
वारिक व्यक्तियोंके प्रायः समान नाम ।

५. मुनिदर्शन—दोनोंमें चिन्ता मिटानेके लिए राजाओंके मुनिदर्शनका प्रायः समान वर्णन ।

६. मुनिदीक्षा—दोनोंमें पुत्रके वयस्क होनेपर पिताके दीक्षित होनेका एक-सा वर्णन ।

७. संस्था—दोनोंमें चन्द्रप्रभके गणधरों, पूर्ववारियों, अच्यायो, अवधिज्ञानियो, विक्रियद्विक  
महवियो, मनःपर्ययज्ञानियो, वादियों, आधिकाओं, श्रावको, और श्राविकाओंकी  
समान संस्था ।

८. छन्द—दोनोंमें चरितकी समाप्तिमें शार्दूलविक्रीडित छन्दमें निबद्ध दो-दो श्लोकों को  
रचना ।

९. भवोंका उल्लेख—दोनोंमें एक-एक पद्यमें सातो भवोंका एक-सा उल्लेख ।

वैषम्य—चं० च० तथा उ० पु० में भ० चन्द्रप्रभके सातो भवोंके वर्णनमें जो वैषम्य है, उसका विवरण  
इस प्रकार है—

विषय	चं० च०	उ० पु०
१. पुत्र न होनेपर चिन्तित	श्रीपेणकी पत्नी श्रीकान्ता	श्रीपेण
२. चिन्तित होनेपर	चारणमुनि अनन्तके दर्शन	पुरोहितसे भेंट
३. पुत्र न होनेका कारण	श्रीकान्ताका पिछले जन्मका निदान	×
४. गर्भाधानसे पहले	×	श्रीकान्ताको चार स्वप्न
५. श्रीपेणके दीक्षागुरु	श्रीप्रभ मुनि	श्रीपद्मजिन
६. श्रीपेणका दीक्षोद्यान	×	शिवंकर
७. अजितजयकी राजधानी	कोशला	अयोध्या
८. गर्भधारणसे पूर्व	×	अजितसेनाको आठ स्वप्न
९. अजितसेनका अपहर्ता	चण्डर्षच असुर	×
१०. पक्षपातकी निकट अजितसेनकी भेंट	हिरण्यदेवसे	×
११. अजितसेनके वैराग्यका कारण	मृतपुरुषका अवलोकन	×
१२. अजितसेनके द्वारा आहार	×	मासोपवासी अरिदम मुनिको
१३. कनकप्रभकी प्रधान रानी	सुवर्णमाला	कनकमाला
१४. पद्मनाभकी रानी	एक	अनेक
१५. पद्मनाभकी राजधानीमें	वन्यगजका प्रवेश	×
१६. पद्मनाभका युद्ध	पृथिवीपालसे	×
१७. चन्द्रप्रभका जन्मस्थान	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुर

१ श्रीवर्मा श्रीधरो देवोऽजितसेनोऽच्युताधिपः । पद्मनाभोऽहमिन्द्रोऽस्मान् पातु चन्द्रप्रभः प्रभुः ॥  
उ० पु०, पृ० ६५, श्लो० २७६ । यः श्रीवर्मनूपो बभूव विदुषः सौधर्मस्ते ततस्तस्माच्च अजितसेनचक्रभृदभूव-  
श्चाच्युतेन्द्रस्ततः । यश्चाजायत पद्मनाभनृपतिर्यो वैजयन्तेश्वरो यः स्यात्सौर्यकरः स सप्तमप्रवे चन्द्रप्रभः पातु  
नः ॥ चं० च०, पृ० ४६१, प्रशस्ति श्लो० ६ ।

विषय	चं० च०	उ० पु०
१८. कल्याणकोंकी तिथियाँ	केवल दो (जन्म और मोक्ष) की	पाँचोंकी
१९. चन्द्रप्रभके जन्माभिषेकके समय	X	आनन्द नाटक
२०. चन्द्रप्रभके विवाह विषयक श्लोक	स्पष्ट	अस्पष्ट
२१. चन्द्रप्रभकी पत्नियाँ	अनेक	"
२२. चन्द्रप्रभके वैराग्यका कारण	वेव	दर्पणमें मुखकी विकृति
२३. चन्द्रप्रभका दीसावन	सकलतुं	सर्वतुं
२४. समवसरणमें चन्द्रप्रभकी स्तुति	X	ऐशानेन्द्रके द्वारा
२५. चन्द्रप्रभके गणधरादिकोंकी संख्यामें पहले उपाध्याय फिर अवधिज्ञानी पहले अवधिज्ञानी फिर उपाध्याय		

इस वैषम्यपर विचार—( १ ) पुत्रके न होनेपर राजा श्रौषेणका चिन्तित होना उ० पु० में वर्णित है। ठीक ऐसे ही प्रसंगमें रघुवंश ( १, ३३-३४ ) में विलीपका, रघुवंश ( १०, २-४ ) में दशरथका और धर्मशर्मामुद्घ ( २, ६९-७४ ) में महासेनका चिन्तातुर होना लिखा है। किन्तु चं० च० ( ३, ३०-३५ ) में श्रीकान्ताका चिन्तामन्म होना चर्चित है। इसका आधार उ० पु० के स्थानमें गुणभद्रकी दूसरी कृति 'जिनदत्तचरितम्' है, जिसमें पुत्रके न होनेसे जीवजसाकी चिन्ताका वर्णन है। अतएव प्रथम वैषम्यके आधारपर यह सिद्ध नहीं होता कि उ० पु० चं० च० की कथावस्तुका आधार नहीं है।

( २ ) उ० पु० में श्रौषेण पुरोहितसे पुत्र प्राप्तिका उपाय पूछते हैं, पर चं० च० में वे चारण मुनि अनन्तके दर्शन करते हैं, जिससे वे चिन्तासे मुक्त हो जाते हैं। सूक्ष्म विचार करनेपर ज्ञात होता है वीरनन्दो-ने जैनसंस्कृतिकी अनुकूलताको ध्यानमें रखकर यह परिवर्तन किया।

( ७ ) उ० पु० के अनुसार अजितजयकी राजधानीका नाम अयोध्या और चं० च० के अनुसार कोशला है। कोषोके अनुसार दोनोंका अर्थ एक ही है, अतः कोई विरोध नहीं है।

( ९-१० ) चं० च० में अजितसेनका अपहरण चण्डहचि अमुर करता है, और बादमें पशुपाटवीके निकट हिरण्य देवसे भेंट होती है—यह उ० पु० में चर्चित नहीं है। इन घटनाओंका स्रोत अन्यत्र न मिले तो यह मानना होगा कि वीरनन्दीने गुणभद्रके जिनदत्तचरितम्से सहायता ली है। वह इस प्रकार—

दधिपुरके उद्यानमें जिनदत्तका उसके स्वामी सेठ समुद्रदत्तसे परिचय हो जाता है। जिनदत्तके वृधा-युवकेके ज्ञानका अपने उद्यानमें चमत्कार देखकर समुद्रदत्त उससे प्रसन्न हो जाता है। फलतः वह वसन्तोत्सव-में जिनदत्तका खूब सम्मान करता है और फिर उसे अपने साथ व्यापारके निमित्तसे सिंहलद्वीपमें लिवा ले जाता है। सिंहलद्वीपके राजा मेघवाहनकी पुत्री श्रीमतीके शयनागारकी रक्षाके लिए जो पहरेदार नियुक्त होता रहा वह रात्रिमें मारा जाता था। इससे मेघवाहन हैरान था। जिनदत्तने प्रयत्न करके उस भयंकर सर्पका पता लगा कर पिटारीमें बन्द कर दिया, जो प्रतिदिन पहरेदारके प्राणोंका अपहरण करता रहा। इससे प्रसन्न होकर मेघवाहनने अपनी कन्या श्रीमतीका जिनदत्तके साथ विवाह कर दिया। सिंहलद्वीपसे लौटते समय जिनदत्तकी पत्नीको देखकर सेठ समुद्रदत्तकी दुष्टि दूषित हो जाती है, फलतः वह जिनदत्तकी समुद्रमें गिराकर अपने जलयानको द्रुतगतिसे आगे बढ़ा ले जाता है। जिनदत्त एक लकड़ीका सहारा लेकर

१. अद्योक्तबन्धनेव यौवनेन ममामुवा । रागिणा केवलं किन्तु न यत्र फलसंभवः ॥ वारिधेरिव लावर्ण्यं विरसं मम सर्वथा । न यत्रापत्यपधानि तेन कान्तजलेन किम् ॥ नाममात्रेण सा स्त्रीति गुणशून्येन कीर्त्यते । पुत्रोत्पत्त्या न या पूता यथा शक्रवधूटिका ॥ प्रसादोऽपि न मे भर्तुः दोषमायै सूनुना विना । शब्दानु-शासनेनैव विद्वत्ताया विजृम्भितम् ॥ साहं मोहतमदृष्टाना निशेवोद्वेगदायिनी । दीयते यदि नो पुत्रप्रदीपः कुल-वेदमनि ॥ चिन्तयन्तीति सा बाला कपोलन्यस्तहस्तका । पातयामास सम्माना नेत्रभृङ्गान् मुखाभ्युज्जे ॥ —जिनदत्तचं० १, ६१-६६ । २. 'साकेतं कोशलायोध्या' अभिधानचि० ४, ४१ ।

तटकी ओर बढ़नेका यत्न करता है। इतनेमें दो व्यक्ति आकाशमार्गसे वहाँ पहुँचकर उसे धमकाने लगते हैं, पर उस (जिनदत्त) के वीरतापूर्ण वचनोंको सुनकर वे पानी-पानी हो जाते हैं, और उसे अशोकश्री नामक विद्याधारनरेशके पास लिवा ले जाते हैं। वह अपनी कन्या शृङ्गारमतीका उसके साथ ब्याह कर देता है।

चं० च० में बर्णित हिरण्यदेव पहले अजितसेनको धमकाता है, पर बादमें उसकी वीरतासे प्रसन्न होकर उसकी सहायता करता है। राजा जयवर्मन् प्रतिद्वन्द्वी घरणीस्वन्नको मारनेमें अजितसेनको यही देव सहयोग देता है। अन्तसोगत्वा राजा जयवर्मन् प्रसन्न होकर अपनी कन्या शशिप्रभाका अजितसेनके साथ विवाह कर देता है।

सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर जिनदत्तच० और चं० च० की उक्त घटनाओंमें पर्याप्त समानता है, अतः यह स्पष्ट है कि वीरनन्दीने जिनदत्तच० से भी सहायता ली। गुणभद्रने जिन घटनाओंसे जिनदत्तका उत्कर्ष सिद्ध किया है, उन्हीं जैसी घटनाओंसे वीरनन्दीने अजितसेनका।

(१३, १७, २३) सुवर्णमाला, कनकमाला; चन्द्रपुरी, चन्द्रपुर; सकलर्तु, सर्वर्तु—ये नाम कुछ भिन्न-से प्रतीत होते हैं, पर इनका अभिप्राय भिन्न नहीं है। सुवर्ण कनकका, पुरी पुरका और सकल सर्वका पर्यायावाचक है। इनमें छन्दके अनुरोधसे थोड़ा-सा अन्तर आया है।

(१५) पद्मनाभकी राजधानीमें एक जंगली हाथीके प्रवेशकी घटना जो चं० च० में वर्णित है, उसका आधार उ० पु० के स्थानमें जिनदत्तच० (६, ८१-९१) प्रतीत होता है। इन दोनों कृतियोंमें वर्णित घटनाओंमें अत्यधिक साम्य है। उक्त घटनाओंके अतिरिक्त दोनोंमें न्यगत साम्य भी यत्र-तत्र है। चन्द्रप्रभ-चरितम् और जिनदत्तचरितम्के कतिपय पद्योंकी क्रमशः तुलना कीजिए—चं० च० १, १७; २, १२४; २, ११६; ३, ३१, ३, ३२, ३, ६७, ३, ७४; ६, १७, ६, १९; ६, २१; ११, ७६-९० क्रमशः जि० च० १, १३; २, ७; ३, ७४; १, ६१; १, ६३; १, ७२, १, ७५-७६; ६, ७; ६, ९; ६, १३; ६, ७७-९१।

अतएव यह स्पष्ट है कि चं० च० का कथानक गुणभद्रके उ० पु० से तथा कतिपय घटनाओंके स्रोत उन्हीके जिनदत्तच० से लिये गये हैं।

(१८) चं० च० में उ० पु० की भाँति पाँच कल्याणकोंकी पाँचों मितियाँ न देकर 'नेमिनिर्वाणम्'की भाँति केवल दो ही मितियाँ दी गयी हैं। इसका कारण कौन-सी परम्परा रही है, यह ज्ञात नहीं हो सका। शेष विषयमताओंके विषयमें सम्भव है वीरनन्दीके सामने कोई अन्य आधार रहा हो। जो कुछ भी हो, तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययनसे यह ज्ञात होता है कि चं० च० की कथावस्तुका मुख्य आधार उपलब्ध पुराणोंमें उ० पु० ही है।

[ ५ ] चं० च० की प्रासङ्गिक कथाएँ

(१) सुनन्दाका निन्दान—सुगन्धि देशके श्रीपुर नगरमें देवाङ्गद बणिक् रहता था, जिसको पत्नीका नाम श्री और पुत्रीका नाम सुनन्दा था। किसी दिन वह एक गर्भवती नवयुवतीके श्रीहीन शरीरको देखकर जन्मान्तरमें भी युवावस्थाके प्रारम्भमें उम्र जैती न होनेका निदान बाँव लेती है, और आजीवन गृहस्थधर्मका परिपालन करती है। मृत्युके पश्चात् वह सौधर्म स्वर्गमें देवी होती है। वहाँसे चयकर राजा दुर्योधनकी पुत्री तथा श्रीवेषकी पत्नी श्रीकान्ता होती है। पिछले जन्मके अशुभ निदानके कारण उसे प्रारम्भिक नवयौवनमें सन्तानकी प्राप्ति नहीं होती। [ चं० च० ३, ५३-५५ ]

(२) दो किसान—सुगन्धि नामका एक देश था। उसमें किसी समय राजा श्रीवेषका शासन रहा। उनके शासनकालमें उन्हीकी राजधानी—श्रीपुरमें दो किसान गृहस्थ रहते थे। उनमेंसे एकका नाम शशी था और दूसरेका सूर्य। शशीने किसी दिन सेंध लगाकर सूर्यका सारा धन चुरा लिया। पता लगनेपर राजाने बरामद हुआ धन सूर्यको दिलवाया और शशीको प्राणदण्ड। चोरी करनेसे शशी नाना कुयोनियोंके दुःख भोगकर षण्डरुचि नामक असुर होता है और सूर्य सत्कर्म करनेसे सुयोगियोंके सुख भोगकर हिरण्य नामक देव। [ चं० च० ६, ३३-३५ ] इन कथाओंका स्रोत उ० पु० में नहीं है।

प्रस्ता०-३



## [ ६ ] चं० च० में सैद्धान्तिक विवेचन

वीरनन्दीने चं० च० के अन्तिम सर्गमें भ० चन्द्रप्रभकी दिव्य देशनाका प्रसङ्ग पाकर जिन सैद्धान्तिक विषयोंका विवेचन किया है, उनमें मुख्य है—सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छः द्रव्य, चार गतियाँ, आठ कर्म, बारह तप, चार ध्यान, रत्नत्रय और चौतीस अतिशय । इस विवेचनसे अभिव्यक्त होता है कि वीरनन्दी सिद्धान्त-विद् भी रहे । इस विवेचन का आधार कुन्दकुन्द साहित्य, तत्त्वार्थसूत्र और उसके व्याख्याग्रन्थ आदि हैं, न कि उ० पु० ।

## [ ७ ] चं० च० में तत्त्वोपप्लव आदि इतर दर्शनोंकी आलोचना

चं० च० (२, ४२-११०) में तत्त्वोपप्लव दर्शनकी विस्तृत आलोचनाकी गयी है, और इसीके प्रसङ्ग-से चार्वाक, साह्य, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध और मीमांसा दर्शनोंकी भी । तत्त्वोपप्लव दर्शनकी मान्यता है कि विचार करनेपर लोक प्रसिद्ध पृथिवी आदि तत्त्व भी जब सिद्ध नहीं किये जा सकते तब ( जैन दर्शन मान्य ) अन्य तत्त्वोंकी तो बात ही क्या है; ( क्योंकि वे सभी बाधित हैं )—‘पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि, तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते कि पुनरन्यानि ?—तत्त्वोपप्लवसिद्धि पृ० १ । चार्वाक दर्शन देखो की हो आत्मा मानता है, जो उसीके साथ उत्पन्न होता है और उसीके साथ समाप्त भी हो जाता है—जन्मान्तर ग्रहण नहीं करता । सांख्यदर्शन आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करता है, पर वह उसे कूटस्थनित्य और अकर्ता बतलाता है । न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्माको जड़ मानता है—आत्मा स्वयं ज्ञानवान् नहीं है, ज्ञानके समवायसे ज्ञानवान् है । मीमांसा दर्शनको मोक्षके विषयमें विप्रतिपत्ति है ( चं० च० २, ९० ) । चं० च० की सं० टी० से इसके दो अर्थ प्रतिफलित होते हैं—१. मीमांसा दर्शनके आचार्योंको मोक्षके विषयमें विवाद है और २. मोक्ष नहीं है । दोनों अर्थ सङ्गत हैं । १ महर्षि जैमिनीयने अपने सूत्रोंमें मोक्षकी चर्चा नहीं की । इनके उत्तरवर्ती भट्ट और प्रभाकरके मोक्षके मन्तव्योंमें वैषम्य है । २. नित्यकर्मोंका अनुष्ठान ही मोक्ष है—नियोग-सिद्धिरेव मोक्ष.—प्रकरणपञ्जका पृ० १८८-१९० । जैमिनीय सम्मत मोक्षका लक्षण लिखते हुए सोमदेव सूरिने कहा है—कोयला और कज्जलकी भाँति स्वभावतः मलिन चित्तवृत्ति कभी शुद्ध नहीं हो सकती—यशस्ति० उ० पु० २६९ । बौद्धदर्शन ज्ञानकी धाराको ही आत्मा मानता है । इस तरह उक्त दर्शनोंकी मान्यताओंकी वीरनन्दीने समालोचना की है । इसकी विशेष जानकारीके लिए पाठक प्रस्तुत ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद और ‘तत्त्वसंसिद्धि’ देख ले । इस प्रसङ्गको आद्योपान्त पढ़कर वीरनन्दीके दार्शनिक वैदुष्यका अनुमान लगाया जा सकता है ।

## [ ८ ] चं० च० की जैन व जैनैतर ग्रन्थोंसे तुलना

## ( अ ) जैन ग्रन्थ

[ १ ] आचार्य कुन्दकुन्द ( ई० की पहली शती ) और वीरनन्दी

चं० च०—१८, ६९, १८, ६८, १८, ६;  
१८, ७८-७९.

पञ्चास्तिकाय—८५

नियमसार—३४, १६, २०-२४.

[ २ ] आचार्य उमास्वामी ( वि० १-३ शती ) और वीरनन्दी

चं० च०—१८, २; १८, ७-८

तत्त्वार्थसूत्र—१, ४; ३, १

१. इसी तरहसे चं० च० के अन्तिम सर्गका लगभग आधा भाग उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रके आधार-पर बनाया गया है ।

[ ३ ] पुण्यपादस्वामी ( वि० ५वीं शती ) और वीरनन्दी

चं० च०—१८, ४; १८, २-३<sup>१-२</sup>; सर्वाधिसिद्धि—१, ४, १, ४  
१८, १२५-१२७ पु० ३ ( ज्ञानपीठ संस्करण )

[ ४ ] अकलङ्कदेव ( वि० ७वीं शती ) और वीरनन्दी

चं० च०—१८, ४३; १८, २१-२६; तत्त्वार्थवार्तिक—अ० ३ पु० २०१ ( ज्ञा० सं० )  
१७, ७५ अ० ३ पु० २०८ ( ज्ञा० सं० )  
अ० ५ पु० ४८२ ( ज्ञा० सं० )

[ ५ ] भगवज्जिनसेन ( ई० ८वीं शती ) और वीरनन्दी

चं० च०—१, ८, १८, ७६-७७ आदिपुराण—पर्व १, ३१-३२;  
पर्व ३, ७; पर्व २४, १४७

[ ६ ] नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ( वि० ११वीं शतीका प्रारम्भ ) और वीरनन्दी

चं० च०—१८, २०-२१ गोम्मतसार जीवकाण्ड—गा० ८५

[ ७ ] महाकवि असग ( वि० ११वीं शतीका प्रारम्भ ) और वीरनन्दी

चं० च०—२, १४२, २, १३८-१४०, वर्धमानचरित—५, १२, ५, १४, ५, १८,  
१, ३६, ४, ४८ ७, ६४

[ ८ ] महाकवि हरिचन्द्र ( वि० १२वीं शती ) और वीरनन्दी

चं० च०—१८, २; १८, ३; १८, ७५; धर्मशर्माम्युदय—२१, ८; २१, ९;  
१८, १३२ २१, ८९; २१, १६६-६७

[ ९ ] विबुध सीधर ( वि० १२-१३वीं शती ) और वीरनन्दी

चं० च०—१५, २७-३०; १५, ३२-३४ पासणाहचरित—संधि ३ कड़० १६-१७;  
संधि ४ कड़० ६

( आ ) जैनैतर ग्रन्थ

[ १ ] महाकवि कालिदास ( ई० ४-५ शती ) और वीरनन्दी

चं० च०—३, ४, ३, १४; ३, ७३; रघुवंश—१, २४, ३, ८; ३, १६;  
८, ८८ ७, ८

[ २ ] महाकवि भारवि ( ई० ७वीं शती ) और वीरनन्दी

चं० च०—३, ४८; ५, ८५, १२, १५; किरातार्जुनीय—३, ७, ३, १२,  
१२, ८९ २, ४१, १, ४२

१. 'पुण्यपापयोर्बन्धेऽन्तर्भावात् भेदेनाभिधानम्'। इति हरिभद्रकृतायां वृत्तौ पु० २७ (सूरत संस्करण)।  
२. 'पुण्यपापपदार्थोपसंख्यानमिति चेत्, न; आसवे बन्धे वान्तर्भावात्'। इति तत्त्वार्थवा० अ० १ पु० २७ ( ज्ञा० सं० )। ३. महाकवि हरिचन्द्रका 'धर्मशर्माम्युदयम्' अथ से इति तक चं० च० से प्रभावित है। इसके अन्तिम सर्गका लगभग आधा भाग चं० च० का ऋणी है। ऊपर केवल नमूनेके लिए ४-५ पद्योंकी ही तुलना की गयी है। सरकमोका शब्द साम्प्र हरिचन्द्रको हेमचन्द्रका उत्तरवर्ती सिद्ध करता है। ४. यह सूचना पं० रत्नलालजी कटारिया, केकड़ी ( अजमेर ) के दिनाङ्क २२/४/६८ के पत्रसे प्राप्त हुई।

[ ३ ] महाकवि माघ ( ई० ७वीं शतीका अन्तिम चरण ) और वीरनन्दी

चं० च०—१२, ६०, ५, ७६-७७;

शिशुपाल वध—५, ४४; १, १४-१५;

६, २२; ८, ५८;

२, १३; ८, ६६;

१४, ४७,

५, २७,

जैन व जैनतर ग्रन्थोंके साथ की गयी चं० च० की इस संक्षिप्त तुलनासे वीरनन्दीके व्यापक अध्ययनका पता चलता है ।

[ ९ ] चं० च० की साहित्यिक सुषमा

चं० च० एक महाकाव्य—निर्दोष, सगुण, सालङ्कार और कही ( जहाँ रस आदिकी स्पष्ट प्रतीति हो ) निरलङ्कार भी शब्द और अर्थ दोनोंका जहाँ सुन्दर सन्निवेश हो उसे काव्य कहते हैं<sup>१</sup> । दृश्यकी भाँति श्रव्यकाव्यकी भी अनेक विधाएँ हैं । महाकाव्य उन्हीमेंसे एक है । आठ सर्गोंसे अधिक सर्गबद्ध रचनाको महाकाव्य कहते हैं । इसमें देव या धीरोदात्तत्व आदि गुणोंसे विभूषित कुलीन सन्निध एक नायक होता है । कही एक वंशके कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं । इसमें शृङ्गार, वीर और शान्त—इन तीनों-मेंसे कोई एक रस अङ्गी ( प्रधान ) होता है और शेष अङ्ग ( अप्रधान ) । नाटकोकी भाँति इसमें भी मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण—ये पाँच सन्धियाँ होती हैं । इसकी कथा ऐतिहासिक या लोक-विख्यात सज्जनसे सम्बद्ध होती है । इसमें धर्म आदि चारों पुरुषार्थोंकी चर्चा रहती है, पर फलका सम्बन्ध एकसे ही रहता है । इसका आरम्भ आशोर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तुके निर्देशसे होता है । इसमें दुर्जनोंकी निन्दा और सज्जनोंकी प्रशंसा रहती है । प्रत्येक सर्गमें एक ही छन्दका प्रयोग रहता है, पर उसके अन्तमें अन्य छन्दोंका भी । किसी एक सर्गमें अनेक छन्द भी प्रयुक्त होते हैं । सर्गके अन्तमें अगले सर्गकी कथाकी सूचना रहती है<sup>२</sup> । इसके वर्ण्य विषय<sup>३</sup> हैं—राजा<sup>४</sup>, रानी<sup>५</sup>, पुरोहित<sup>६</sup>, कुमार<sup>७</sup>, अमात्य, सेनापति, देव<sup>८</sup>, ग्राम<sup>९</sup>, पुर<sup>१०</sup>, सरोवर<sup>११</sup>, समुद्र<sup>१२</sup>, सति<sup>१३</sup>, उद्यान<sup>१४</sup>, पर्वत<sup>१५</sup>, अटवी<sup>१६</sup>, मन्त्रणा<sup>१७</sup>, वृत्<sup>१८</sup>, प्रयाण<sup>१९</sup>, मृगया-प्रद<sup>२०</sup>, गज<sup>२१</sup>, ऋतु<sup>२२</sup>, सूर्य<sup>२३</sup>, चन्द्र<sup>२४</sup>, आश्रम<sup>२५</sup>, युद्ध<sup>२६</sup>, विवाह, वियोग<sup>२७</sup>, मुरत<sup>२८</sup>, स्वयंवर, पुष्प वचय<sup>२९</sup>, और जलक्रीड़ा<sup>३०</sup> । आलङ्कारिकोंके अभिप्रेत महाकाव्यके लक्षणकी कसौटीपर चं० च० का महाकाव्यत्व खरा उतरता है, जो सर्वमान्य है ।

१. काव्यप्र० १, १ । २. साहित्यद० ६, ३१५-३२१ । ३. अलङ्कारचि० १, २४ । चं० च० के वर्ण्य विषय—४. राजा—कनकप्रभ १, ३९-५४; श्रीपेण ३, १-१३; अजितजय ५, २३-२५, महासेन १६, ११-१५, चन्द्रप्रभ १७, ५२-६० । ५. रानी—सुवर्णमाला १, ५५-४७; श्रीकान्ता ३, १४-१८; अजितसेना ५, ३६-३९; लक्ष्मणा १६, १६-१९; कमलप्रभा १७, ६० । ६. पुरोहित ७, १४ । ७. कुमार—पद्मनाभ १, ५८-६३; श्रीवर्मा ४, १-१४; अजितसेन ५, ४०-४४; चन्द्रप्रभ १७ ५० । ८. वंश मञ्जुलावती १, १२-२०; सुगन्धिदेश २, ११४-२२४; अलका ५, २-११; अरिजय ६, ४१; पूर्वदेज १६, १-५ । ९. ग्राम १, २०; २, ११८ । १०. पुर—रत्नसंचय १, २१-३८; श्रीपुर २, १२५-१३२; कोशला ५, १२-२२; विपुलपुर ६, ४२, आदित्यपुर ६, ७५; चन्द्रपुरी १६, ६-९ । ११. सरोवर—मनोरम ६, १ । १२. समुद्र ४, ६५; १६, २९-३० । १३. सति—जलवाहिनी १३, ५३-६२ । १४. उद्यान—मनोहर २, १२-२३ । १५. पर्वत ६, १२; मणिकूट १४, १-४० । १६. अटवी—पद्मना ६, ५-१० । १७. मन्त्रणा १२, ५७-१११ । १८. वृत् १२, १-२४ । १९. प्रयाण ४, ५७-५१; ७, ५९-८०; १३, १-५२; १६, २४-५३ । २०. अश्व १४, ५१-५४ । २१. गज १४, ५५-६२ । २२. ऋतु ८, १-५१ । २३. सूर्योदय १०, ७६-७९; सूर्यास्त १०, १-३ । २४. चन्द्रोदय १०, १७-४१; चन्द्रास्त १०, ६३ । २५. आश्रम ११, ३४ । २६. युद्ध १५, १-१३२ ।

**नामकरण**—साहित्यदर्पण ( ६, ३२४ ) के अनुसार महाकाव्यका नाम कविके नामपर, जैसे माघ; वर्षाविषयके नामपर, जैसे कुमारसम्भव; नायकके नामपर, जैसे विक्रमाङ्कदेव चरित; अथवा रघुवंश आदिकी भाँति वंश आदिके नामपर भी रखा जाता है। प्रस्तुत चं० च० का नामकरण इसके नायक चन्द्रप्रभके नामके आधारपर हुआ है, जो सट्ठस अधिय २६।

**मञ्जलाचरण**—काव्यादर्श ( १, १४ ) के अनुसार महाकाव्यका प्रारम्भ आशीर्वादात्मक किंवा नमस्कारात्मक मञ्जलाचरणसे या सीधे वस्तुनिर्देशसे भी होता है। चं० च० का प्रारम्भ आशीर्वादात्मक ( तीन पद्य ) और नमस्कारात्मक ( चतुर्थ पद्य ) मञ्जलाचरणसे हुआ है।

चं० च० का तुलनात्मक अध्ययन—रघुवंश, किराताजुनीयम्, माघ और नैषधीयचरित—इन चार महाकाव्योंकी विद्वत्संसारमे विशेष रूपाति है। यहाँ इन्हीके साथ चं० च० के कुछ अंशोंका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है।

१. मञ्जलाचरण—किरात, माघ और नैषधका प्रारम्भ वस्तुनिर्देशसे हुआ है। इसीमे मञ्जलाचरणकी कल्पना की गयी है, जैसा कि उनकी टीकाओंसे ज्ञात होता है। रघुवंशमें कालिदासने नमस्कारात्मक मञ्जलाचरण किया है। इसमे उन्होंने अपने आराध्य पार्वती और परमेश्वर ( शिवजी ) को अभिवादन किया है। इसका मुख्य उद्देश्य शब्द अर्थका ज्ञान प्राप्त करना है। वीरनन्दीने जगत्प्राणके उद्देश्यसे चं० च० के प्रथम पद्यमें ऋषभदेवकी, लोकशान्तिके उद्देश्यसे द्वितीय पद्यमे रुद्रप्रभकी, आत्मशान्तिके उद्देश्यसे तीसरे पद्यमे शान्तिनायकी और विशिष्ट गुणोंकी प्राप्तिसे उद्देश्यसे चौथे पद्यमे महावीरको नमस्कार किया है। मञ्जलाचरणके इन पद्योंसे अभिव्यक्त उदात्तभावनाकी दृष्टिसे वीरनन्दी कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष—इन चारो कवियोंसे आगे हैं।

२. सज्जन-दुर्जनोका वर्णन—रघुवंश आदि चारों महाकाव्योंमें सज्जन-दुर्जनोका वर्णन नहीं है, पर चं० च० ( १, ७-८ ) में है। इस प्रसङ्गमें एक मामिक बात यह भी द्रष्टव्य है कि वीरनन्दीने दुर्जनोको भी गुह मानकर नमन किया है<sup>१</sup>।

२७. वियोग १०, ७०-७३। २८ सुरत १०, ४२-६१। २९. पुष्पावचय ९, २२-२६। ३०. जलक्रीड़ा ९, २७-५८।

मन्त्रणाके प्रसङ्गमे अमात्यों और प्रमाणके प्रसङ्गमे सेनापतियोंकी चर्चा की गयी है, पर स्वयंवर तथा विवाहकी भाँति इनका भी स्वतन्त्र रूपसे कोई वर्णन चं० च० मे नहीं किया गया। मृगयाके स्थानमे पुष्पावचय वर्णित है, जो अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे ठीक है।

१. चं० च० के मञ्जलाचरणके क्रममें विशेषता है। इस युगके आदिमे प्रथमतः धर्मतीर्थका प्रवर्तन करनेसे ऋषभदेवकी, प्रस्तुत कृतिके नायक होनेमे चन्द्रप्रभकी, कृतिकी निषिद्ध सम्राटिके लिए शान्तिनायकी और वर्तमान धर्मतीर्थके नायक होनेसे महावीरकी नमस्कार किया गया है, जो युक्तिसङ्गत है। वीरनन्दीके इस क्रमने इनके उत्तरवर्ती हरिचन्द्र एवं अर्हदास आदि अनेक कवियोंको प्रभावित किया है। चं० च० का प्रारम्भ 'श्री' शब्दसे हुआ है। जहातक में जानता है यह परम्परा भारविसे प्रारम्भ हुई है। २. आचार्य गुणभद्रने आत्मानुशासन ( श्लो० १४१ ) में लिखा है—कोई गुह शिष्टतावस अपने शिष्यके दोषोंका, जो औरोंको ज्ञात हैं, यह सोचकर उद्घाटन न करे—छिपाये रहे कि सम्मार्गमें प्रवर्तन करानेसे कभी यह स्वयं ही उन्हें छोड़ देगा, और इसी बीच यदि वह दिवंगत हो जाता है तो उसका वह शिष्य सदोष ही बना रहेगा। फिर कभी कोई भुंहुफट खल, जो दूसरोंके अणुप्रमाण भी दोषोंको पर्वताकारमें देखता है, उसके दोषोंको प्रकट कर दे तो उसके मनमे यह बात घर किये बिना नहीं रहेगी कि उसके गुह तो कोरे गुह ही रहे, सच्चा गुह तो यह खल है जिसके निपुण समीक्षणसे उसकी आँखें खुलीं—दोषोंका भान हुआ।

काव्येतर ग्रन्थ अपने नियत विषयोका ही प्रतिपादन करते हैं, पर काव्यको यह विशेषता है कि वह प्रसङ्गतः अन्याय्य विषयोंपर भी प्रकाश डालता है। नीरस विषय भी काव्यके सम्पर्कसे सरस बन जाते हैं। इसी दृष्टिसे वीरनन्दोने सज्जन-दुर्जनोंका भी आकर्षक वर्णन किया है।

३. द्वीप वर्णन—चं० चं० में कनकप्रभ आदि सभी राजाओंके अन्य वर्णनके साथ उनके द्वीपोंकी भी चर्चा की गयी है, पर रघुवंश आदि चारों महाकाव्योंमें राजाओंके द्वीपोंकी, जिनके वे निवासी रहें, चर्चा नहीं है। चं० चं० की भाँति उनकी भी कथावस्तु पौराणिक है, अतः पुराणोंके आधारपर उनमें भी यह चर्चा दी जा सकती थी।

४. देश-पुर-वर्णन—चं० चं० में मङ्गलावली आदि अनेक देशों एवं रत्नसञ्चय आदि पुरोंका सजीव वर्णन द्रष्टव्य है। इनके वर्णनके प्रायः अन्तिम पद्योंमें परिसंख्यालङ्कारमें वहाँकी सामाजिक स्थितिपर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। जैसे २, १२२; २, १२८-३९ आदि। यह बात रघुवंश आदि चारोंमें नहीं है।

५. नायकवर्णन—महाकाव्योंमें उसके नायकका उत्कर्ष दिखलाना कविका मुख्य लक्ष्य होता है। चं० चं० में इसकी जितनी पूर्ति की गयी है, रघुवंश आदि चारोंमें दृष्टिगोचर नहीं होती। चं० चं० में नायकका क्रमिक उत्कर्ष पिछले सातवें जन्मसे शुरू होता है जो चन्द्रप्रभके भवमें चरम सीमातक पहुँचता है। बाग्मट, असग, वादिराज, हरिचन्द्र और अर्हदास आदि जैन महाकवियोंने अपने महाकाव्योंमें इसी ढंगसे नायकोका उत्कर्ष सिद्ध किया है। कादम्बरिमें इसकी आंशिक झलक मिलती है, पर वह महाकाव्य नहीं है। रघुवंशमें दिलीपसे लेकर अग्निवर्ण पर्यन्त रामकी अनेक पौढ़ियोंका वर्णन है, न कि उनकी भवावली का। माघ ( १, ४२-६८ ) में शिशुपालके दो पिछले भवोंका वर्णन है, पर वह नायक नहीं, प्रतिनायक है। कुमारसम्भव ( १, २१ ) में पार्वतीके पिछले भवका उल्लेख है, किन्तु वह भी नायक नहीं है। निष्कर्ष यह कि नायकका उत्कर्ष दिखलानेवाली भवावली जिस तरह चं० चं० में वर्णित है, उस तरह रघुवंश आदि चारोंमें नहीं है। भवावलीके वर्णनसे महाकाव्योंमें पुराणत्व जा आयेगा, यह बात सर्वमान्य नहीं हो सकती। किसी भी व्यक्तिके वर्तमान जीवनके उत्कर्षमें उसके पिछले जन्मोंकी साधनाका प्रभाव रहता है। वर्तमान जीवनकी भी पिछली साधना उसके भावी उत्कर्षका हेतु होती है—यह स्वाभाविक है। अतएव उ० पु० के आधारपर चं० चं० में नायकके पिछले छः भवोंका जो वर्णन किया गया है, वह उस ( चं० चं० ) के वैशिष्ट्यका परिचायक है।

६. नायिका वर्णन—चं० चं० में चन्द्रप्रभ की पत्नी के अतिरिक्त उनके पिछले जन्मों से सम्बद्ध सुवर्णमाला, श्रीकान्ता, अजितसेना आदिका भी वर्णन है। इसकी विशेषता यह है कि किसीका भी नख-शिख वर्णन नहीं किया गया, सभीके शील आदि गुणोंपर प्रकाश डाला गया है। इसके लिए चं० चं० के १, ५५; ३, १६ आदि पद्य द्रष्टव्य हैं। रघुवंश, माघ और किरात में मुख्य नायिकाओंका नाम मात्रका ही वर्णन है। नैपथ्यमें दमयन्तीका नख-शिख वर्णन है, न कि शील आदिका। अतः चं० चं० का नायिका वर्णन प्रस्तुत चारों महाकाव्योंसे विलक्षण है।

७. नायिकाओं की चेष्टाओंका वर्णन—किसी विशिष्ट व्यक्तिके आनेपर उसे देखनेके लिए स्वाभाविक कौतूहल ( वह इच्छा, जिसे रोका न जा सके ) वश नायिकाओं में अनेक चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं। इनका सजीव चित्रण चं० चं० ( ७, ८२-९० ), रघुवंश ( ७, ६-१२ ), माघ ( १३, ३१-४८ ) और नैपथ्य ( १६, १२६-१२७ ) में द्रष्टव्य है। किरातमें इस प्रसङ्गके पद्य दृष्टिगोचर नहीं हुए। इस प्रसङ्गका चं० चं० ( ७, ८७ ) का पद्य अत्यन्त सुन्दर है, जिसका भाव है—कोई अन्य नायिका अंगुलियोंमें अंगुलियाँ मिठाकर दोनों बाहुओंकी अपने सिरपर रखकर जमुहाई लेने लगी, जिससे वह ऐसी जान पड़ी मानो सम्राट् अजितसेनको देखकर हृदयमें प्रवेश करनेवाले कामदेवके निमित्तसे माङ्गलिक शीर्षण

तैयार कर रही हो। ऐसी अनूठी कल्पना रघुवंश आविर्भूत खोजनेपर भी नहीं मिली। चं० च० के इस प्रसङ्ग-के अन्य पद्य भी अभिनव कल्पनाओंसे अनुस्यूत हैं, अतः चं० च० का यह प्रसङ्ग रघुवंश आदि चारों काव्योंके समीक्ष्य सन्दर्भसे कहीं अधिक स्तुत्य है।

प्रस्तुत प्रसङ्गके नैषध (१६, १२७), माघ (१३, ३५), रघुवंश (७, ११) तथा चं० च० (७, ८७) के पद्योंमें क्रमशः चमत्कृति अधिक है। नैषधका यह पद्य अनेक दृष्टियोंसे दोषपूर्ण भी है। यों नैषध श्रेष्ठ महाकाव्योंमेंसे एक है, पर उक्त पद्य उसके रूपके अनुरूप नहीं है।

८. ऋतुवर्णन—ऋतुओंका वर्णन प्रायः सभी महाकाव्योंमें रहता है। रघुवंश (१, २४-४७) में वसन्त, किरात (१०, १९-३६) में वर्षा, हेमन्त, वसन्त और श्रौष्ठ्य एवं (४, १-३६) में शरद्, माघ (६, १-७९) में सभी तथा चं० च० (८, १-५१) में वसन्त वर्णित है। नैषध (१, ७५-१०६) में नलके क्रीडावन-में एक ही साथ अनेक ऋतुओंके फूल, फल और पक्षी वर्णित हैं, इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र ऋतु वर्णन नहीं किया गया। इस प्रसंगके पद्योंमें भारवि और श्रीहर्षको छोड़कर शेष (कालिदास, माघ और वीरनन्दी) ने यमकका प्रयोग किया है। रघुवंशके प्रसंगके पद्योंके केवल उत्तरार्धमें, माघके उत्तरार्धके साथ किसी-किसी पद्यके पूर्वार्धमें भी यमक प्रयुक्त है, पर चं० च० के सभी पद्योंके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनोंमें ही। चं० च० के द्वितीय सर्ग (११-२३) में राजा पद्मानाभके उद्यानमें युगपद् सभी ऋतुओंके फल-फूल और पक्षी वर्णित है। इस सन्दर्भमें चमत्कारपूर्ण अर्थालङ्कारोंका प्रयोग हुआ है। इसकी एक झलक नैषध (१, ७५-१०६) में दृष्टिगोचर होती है, जो किरातमें नहीके बराबर है। अतः इस प्रसंगकी रचनामें चं० च० का अपना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य है।

९. पर्वत वर्णन—अलंकारशास्त्रके निर्देशानुसार महाकाव्योंके वर्ण्य विषयोंमें पर्वत भी है, पर रघुवंश और नैषधमें इसके वर्णनके लिए स्वतन्त्र सर्ग दृष्टिगोचर नहीं होते। किरात, माघ और चं० च० में क्रमशः हिमालय, रैवतक (गिरनार) और मणिकूट पर्वतके वर्णनके लिए पाँचवें, चौथे तथा चौदहवें सर्गका स्वतन्त्र उपयोग किया गया है। इस सन्दर्भमें भारविने चौदह और माघने उन्नीस छन्दोंका प्रयोग किया है तो वीरनन्दीने बीस का। जलोद्धृतगति, द्रुतविलम्बित, पूर्णताशा, प्रहृषिणी, प्रमिताक्षरा, मालिनी, वसन्ततिलका, शालिनी और मालिनी, इन तीनों छन्दोंका उक्त तीनों महाकवियोंने पर्वत वर्णनके प्रसंगमें समानरूपसे उपयोग किया है। प्रस्तुत सन्दर्भमें भारविने कान्तोत्पीडा और प्रभाका, माघने आर्यागीति, कुसरीस्ता, पथ्या, मत्तमयूर, वंगस्थ, सुमंगला एवं सखिणीका तथा वीरनन्दीने अतिरुचिरा, इन्द्रवज्रा, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता और रघोदत्ता छन्दोंका एक-दूसरेसे भिन्न प्रयोग किया है। इन तीनों महाकाव्योंके प्रस्तुत प्रसंग के प्रायः सभी पद्य चमत्कारपूर्ण हैं, पर स्वाभाविकताकी दृष्टिसे वीरनन्दी कहीं-कहीं दोनोंसे आगे चले जाते हैं।

१०. सूर्यास्त आदिका वर्णन—कालिदासने रघुवंशमें यत्र-तत्र प्रभात आदिका संक्षिप्त वर्णन किया है, पर इसके लिए किसी पुरे सर्गका उपयोग नहीं किया। श्रीहर्षने नैषधके उन्नीसवें सर्गमें प्रभातका वर्णन किया है, जो माघकी तुलनामें फीका है। भारविने किरातके नवमसर्गमें और माघने माघके तीन (९-११) सर्गोंमें सूर्यास्तसे प्रभात तकका, जिसमें गोष्ठी, मधुपान, प्रणयालाप तथा संभोग शृंगार भी सम्मिलित हैं, आकर्षक वर्णन किया है। वीरनन्दीने चं० च० के दसम सर्गमें मधुपानको छोड़कर शेष सभीका चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है, जो किरात और माघसे भी अच्छा है। इस प्रसङ्गके पद्योंका पाठक वीरनन्दीकी श्लाघा किये बिना नहीं रह सकता। सूर्यास्तके प्रसंगमें किरात (९, १), माघ (९, १) और चं० च० (१०, १) को ध्यानसे पढ़नेपर तीनोंकी चमत्कृतिका उत्तरोत्तर प्रकर्ष जात होने लगता है। केवल एक ही पद्य नहीं दसवाँ सर्ग पूरा-का-पूरा चमत्कार से भरा हुआ है, चमत्कारका मूलकारण उक्ति वैचित्र्य है। इस दृष्टिसे वीरनन्दी प्रस्तुत अन्य कवियोंसे कहीं अधिक सफल हुए है।

११. युद्ध वर्णन—महाकाव्योंमें युद्ध जैसे भयावह विषयका भी सरस वर्णन किया जाता है। रघुवंशके तीन (३, ७, १२) सर्गोंमें कुछ पद्योंमें युद्धका संक्षिप्त किन्तु सारगम्य वर्णन है। किरातके पूरे पन्द्रहवें तथा माघके उन्नीस-बीसवें सर्गोंमें युद्धका वर्णन किया गया है। चं० च० के पूरे पन्द्रहवें सर्गमें युद्धका विस्तृत वर्णन है। रघुवंशकी भाँति अन्य सर्गोंमें भी इसका जो संक्षिप्त वर्णन है, वह इससे भिन्न है। किरात और माघ की भाँति चं० च० का युद्ध वर्णन अनुष्टुप् छन्दमें किया गया है। नैषधमें युद्धका वर्णन दृष्टिगोचर नहीं हुआ। चं० च० में वर्णित युद्धमें अर्धचन्द्र, असि, कुन्त, कवच, गदा, चक्र, चाप, परशु, प्रास, बाण, मुद्गर, यष्टि, वज्रमुष्टि, शङ्ख और शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोगका उल्लेख है। कालिदासने युद्ध वर्णनके पद्योंमें अर्थचित्रको और भारवि तथा माघने शब्दचित्रको मुख्यता दी है, पर वीरनन्दीने इस सन्दर्भमें मध्यमार्गका आश्रय लिया है इसीलिए इन्होंने एक पद्यमें एकाक्षर चित्र, एक पद्यमें द्व्यक्षरचित्र तथा कुछ पद्योंमें यमकका प्रयोग किया और शेषमें अर्थचित्रका। शब्दचित्रके प्रदर्शनमें भारवि और माघ दोनों पटु हैं, पर इसमें माघ अधिक सफल हुए हैं। रघुवंशकी भाँति चं० च० के युद्धवर्णनमें वीर रसका जो आस्वाद प्राप्त होता है, किरात और माघमें नहीं। चं० च० का वर्ण्यविषय किरात और माघ जैसा है, पर भाषा और शैली रघुवंश जैसी। यही कारण है कि युद्ध जैसे विषयमें भी वीरनन्दीको कालिदासकी ही भाँति सफलता प्राप्त हुई है। चं० च० के प्रस्तुत प्रसंगमें एक विशेष बात यह भी है कि रणाङ्गणमें विजय पानेवाले राजा पद्मनाभको जब उसके एक सैनिकने प्रतिद्वन्द्वी राजा पृथिवीपालका कटा हुआ सिर दिखलाया तो उसे उसी समय वैराग्य हो गया। इस अवसर पर उसके मुखसे जो उद्गार निकले वे स्तुत्य हैं। अन्तमें वह पृथिवीपालका राज्य उसके पुत्रको और अपना राज्य अपने पुत्रको देकर श्रीघर मुनिके निकट जिन दीक्षा ले लेता है। माघके अन्तिम सर्गमें भ० कृष्णके द्वारा युद्धमें शिशुपालके सिर काटने का उल्लेख है, पर उसके बाद चं० च० जैसे विचारोंका वर्णन नहीं है। इस ढंगका वर्णन रघुवंश, किरात या अन्य किसी महाकाव्यमें अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किसी भी अच्छे या बुरे कामके बाद उसके करनेवाले व्यक्ति के हृदयमें कुछ-न-कुछ विचार अवश्य उत्पन्न होते हैं। सत्कृति के द्वारा उनकी चर्चा अवश्य की जानी चाहिए। निष्कर्ष यह कि चं० च० का युद्धवर्णन भी अपने ढंगका एक है।

१२. चतुर्थ पुरुषार्थका वर्णन—भामहने (काव्या० १, २) में काव्य-प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—सत्काव्यकी रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कला प्रवीणता, आनन्द एवं कीर्ति प्रदान करती है। विश्वनाथने (सा० द० १, २) में लिखा है कि अल्पमति व्यक्तियोंको भी विशेष परिश्रम किये बिना धर्म आदि पुरुषार्थोंके फलकी प्राप्ति काव्यसे ही हो सकती है, अतः.... इस प्रयोजनकी दृष्टिसे वीरनन्दी अपने काव्य निर्माणमें पूर्ण सफल हुए हैं। काव्योचित अन्याय विषयोंके साथ चं० च० में चारों पुरुषार्थों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। चं० च० के अन्तिम सर्गमें केवल चतुर्थ पुरुषार्थका ही वर्णन है। इसमें सात तत्त्व, मोक्षका स्वरूप और उसके प्राप्त करनेके उपाय—इन विषयोंका विस्तृत वर्णन है। इसका सीधा सम्बन्ध चन्द्रप्रमकी दिव्य देशनासे है। नायककी मुक्ति प्राप्ति पर प्रस्तुत महाकाव्यकी समाप्ति हुई है। सत्काव्योंके अध्ययनसे चतुर्वर्ग रूप फलकी प्राप्ति अलङ्कार ग्रन्थोंमें बतलायी गयी है तो धर्मसे लेकर मोक्ष पर्यन्त चारों वर्गों या पुरुषार्थोंका वर्णन भी सत्काव्योंमें होना चाहिए, जैसा कि चं० च० में है। रघुवंश आदि चारों जैनैतर काव्योंमें यह दृष्टिगोचर नहीं होता। किसी एकाध पद्यसे इसका सम्बन्ध जोड़ दिया जाये तो वह अलग बात होगी। चं० च० का अङ्गी रस शान्त है, जिसका फल मोक्ष है, अतः इसमें मोक्ष पुरुषार्थका वर्णन आवश्यक था, जिसे वीरनन्दीने पूरा किया।

इस तुलनात्मक संक्षिप्त अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि वीरनन्दी अपने महाकाव्यके निर्माणमें कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि महाकवियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सफल हुए हैं। वीरनन्दी यदि जैन न होते तो इनका महाकाव्य भी रघुवंश आदि की भाँति रुशति प्राप्त करता और प्रचारमें भी आ जाता।

## [१०] चं० च० में रस योजना

‘स कथिर्यस्य वचो न नीरसम्’ (चं० च० १२, १०८) — इस उक्तिसे स्पष्ट है कि नीरसन्दी की दृष्टि में श्रेष्ठ कवि वह है, जिसका काव्य सरस हो। यही कारण है कि चं० च० में आदिसे अन्त तक रसकी अभिव्यक्ति धारा प्रवाहित है। यहाँ इसके मुख्य रसोंका उल्लेख प्रस्तुत है।

शान्तरस—चं० च० का अङ्गो (प्रधान) रस शान्त है, जो इसके प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम, एकादश, पंचदश (१३३-१६१), सप्तदश और अन्तिम अष्टादश सर्गमें प्रवाहित है। इन सर्गोंमें चिरंजीव के कारणोंके मिलने पर संसार, शरीर, जीवन, जीवन और विषयोंकी अनित्यता, मुनिदर्शन, दोषा, तपस्या, दिव्य देशना और मुक्ति की प्राप्ति वर्णित है। उदाहरण के लिए १, ७८, ४, २५; ११, १७, १५, १३५; १७, ६९ इत्यादि पद्य द्रष्टव्य हैं।

शृङ्गाररस—चं० च० के सप्तम सर्गके बयासीवें पद्यसे लेकर दशम सर्गके अन्त तक शृङ्गार रस प्रवाहित है। सप्तम सर्गके उक्त अंशमें दिम्बिजयके उपरान्त सम्राट् अजितसेन अपनी राजधानीमें प्रवेश करते हैं। इन्हें देखने वाली नायिकाओंकी विविध चेष्टाएँ शृङ्गार रस (पूर्वराग) को अभिव्यक्त करती हैं। अष्टम सर्गमें वसन्त ऋतु, नवममें उपवन यात्रा, उपवन विहार एवं जलक्रीडा तथा दशममें सार्यकाल, अन्धकार, चन्द्रोदय और रात्रिक्रीडा (सुरत) वर्णित हैं, जिनमें संभोग और विप्रलम्भ दोनोंका आस्वाद मिलेता है। अन्य सर्गोंमें भी न्यूनाधिक मात्रामें शृङ्गार रस विद्यमान है। ७, ८३; ८, ३९; ९, २४; १०, ६० इत्यादि पद्य शृङ्गार रसके उदाहरणके रूपमें द्रष्टव्य हैं।

पति-पत्नीके हृदयमें विद्यमान रति (स्थायीभाव) यदि एक-दूसरेके प्रति हो तो वह विभाव, अनुभाव और संचारी भावके संयोगसे शृङ्गार रसके रूपमें परिणत हो जाती है। यदि यही रति देव, मुनि या राजा आदिके विषयमें हो तो वह ‘भाव’ रूपमें परिणत होती है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं। देव विषया रति—१७, ३२; मुनिविषया रति ११, ४२, राजविषया रति—१२-६८।

वीररस—ग्यारहवें सर्ग (८५-९२) में तथा पन्द्रहवें (१-१३१) में वीररस है। ग्यारहवें सर्गके अन्तमें राजा पद्मनाभके द्वारा अश्वमेध उत्साह पूर्वक, राजधानीमें प्रलय मचाने वाले एक जंगली हाथीको वशमें लानेका वर्णन है और पन्द्रहवें सर्गके इसी हाथीको अपना बतलाकर अपमानजनक व्यवहार करनेवाले राजा पृथिवीपालके साथ पद्मनाभके युद्धका वर्णन है, जो वीररससे आलम्बित है। १५, ३६; १५, ४८, १५, ५८; १५, ९९ इत्यादि पद्य इसके उदाहरणके लिए अवलोकनीय हैं।

रौद्ररस—चं० च० के छठे सर्गमें कुम्भात चण्डहचि नामक असुर पिछले वीरके कारण राजकुमार अजितसेनका अपहरण करके उसकी हत्याका दुष्प्रयास करता है। राजा महेन्द्र राजा जयवर्माकी अनुपम सुन्दरी कन्या शशिप्रभाको बलात् छीननेके लिए युद्ध छेड़ देता है, और इसके पराजित होने पर धरणीध्वज भी शशिप्रभाको पानेके उद्देश्यसे युद्धके मैदानमें उतर आता है, पर जयवर्मा महेन्द्रकी भाँति इसके भी छक्के छुड़ा देता है। इन तीनों प्रसंगोंमें रौद्ररसका परिपोष हुआ है।

बीभत्सरस—चं० च० के (१४, ५३) आदि कतिपय पद्योंमें बीभत्स रस अभिव्यक्त है, जिनमें मांस और रक्तसर्वके सेवनसे उन्मत्त डाकनियोंका घडोंके साथ नाचना वर्णित है।

करुणरस—चं० च० (५, ५५-७१) में करुण रस प्रवाहित है, जहाँ अपहृत पुत्रके शोकमें उस-के पिता अजितसेनका विलाप वर्णित है। इसके उदाहरणके लिए ५, ५८; ५, ६२ आदि पद्य द्रष्टव्य हैं।

१. मृत्युके उपरान्त करुण रसकी अभिव्यक्ति होती है। यहाँ अजितसेनकी मृत्यु नहीं हुई, अनिष्टकी प्राप्ति हुई—इसी दृष्टिसे करुणरस अभिव्यक्त हुआ है। ‘इष्टनाशादनिष्टासे: करुणास्थो रसो भवेत्’ (सां० ३, २२२)। काव्यानु० (२, पृ० ९१) और अलङ्कारचिं० (५, १०१) से भी इसका समर्थन होता है, अतः चं० च० के उक्त सन्दर्भमें करुणरस मान्य है।



अद्भुतरस—चं० च० ( ५, ७२-७३ ) में अद्भुत रसका आस्वाद होता है, जहाँ आकाश मार्गसे उतरते हुए दीप्ति सम्पन्न एक चारण मुनिको अकस्मात् देखते ही अजितंजय और उसकी सभाका विस्मित होना वर्णित है ।

वात्सल्यरस—चं० च० ( १७, ४३-४८ ) में वात्सल्य रसका भी परिपोष हुआ है, जहाँ शिष्य अष्टाध्यायी बाललीलाको देख कर उनके माता-पिता आनन्दका अनुभव करते हैं । भरत मुनिकी भाँति विष्वक्नाथ कविराज ( सा. द. ३, २५१ ) ने इसे स्वतन्त्र रस माना है । यदि यह रस वीरनन्दीको मान्य न रहा हो, तो उक्त सन्दर्भमें पुत्र विषयक रतिभाव स्वीकार्य होना चाहिए । भक्तिरस, लौल्यरस और स्नेहरस आदि सर्वमान्य नहीं हैं, अतः चं० च० में इन्हें खोज निकालना निष्फल होगा ।

इस तरह चं० च० में अज्ञा-ज्ञीभावसे प्रायः सभी रस प्रवाहित हुए हैं ।

[ ११ ] चं० च० में अलङ्कार योजना

चं० च० में जिन अलङ्कारोंका सन्निवेश है, उनका एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है ।

( क ) शब्दालङ्कार

छेकानुप्रास—दिव्यान् दिव्याकारकान्तासहायो भोगान् भोगी निर्विशन्निर्विशङ्कः ।

राज्यं राज्यप्रशिताकारलोकचक्रे चक्री पूर्वपुण्योदयेन ॥७,९४

यहाँ व्यञ्जनोँकी एक-एक बार आवृत्ति होनेसे छेकानुप्रास है । इसमें स्वरसाम्य नहीं देखा जाता ।

वृत्त्यनुप्रास—इत्थं तारी. क्षणरुचिरुचः क्षोभयन्तीतिरक्षः

क्षीणक्षोभः क्षपितनिखिलारातिपक्षोऽम्बुजाक्षः ।

क्षोणीनाथो विनिहितमहामङ्गलद्रव्यशोभं

प्रापत्तेजोविजिततपनो मन्दिरद्वारदेशम् ॥७,९१

यहाँ व्यञ्जनोँकी अनेक बार आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास, और आनुनासिक वर्णोंकी आवृत्तिके कारण श्रुत्यनुप्रास भी है । इनके अतिरिक्त लुप्तोपमा ( अर्धालङ्कार ) भी विद्यमान है ।

श्रुत्यनुप्रास—नयेन नृणां विभवेन नाकिनां गतस्पृहाणां विनयेन योगिनाम् ।

महीभुजामेव निजेन तेजसा तनोति चित्ते सततं चमत्कृतिम् ॥११,५२

आनुनासिक वर्णोंकी आवृत्ति होनेसे यहाँ श्रुत्यनुप्रास है, और उत्तरार्धमें 'त' की अनेक बार आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास भी । इनके अतिरिक्त दीपक ( अर्धालङ्कार ) भी है ।

अन्त्यानुप्रास—मानोमादध्यपनयचतुरारचैवारम्भे विदधति मधुराः ।

यूनामस्मिन् घटितयुवतयो दूतीकृत्यं परभूतस्तयः ॥१४,३०

पूर्वार्धके चरणोंके अन्तमें 'रा.' और उत्तरार्धके दोनो चरणोंके अन्तमें 'तयः' की आवृत्ति होनेसे यहाँ अन्त्यानुप्रास है ।

अथवा

सहस्रैव समुद्भिद्य सुमुखे करिणा कटैः ।

भेजे कोऽपि महोत्साहो रोमाञ्चकचर्चरैः ॥१५,२९

पूर्वार्ध और उत्तरार्धके अन्तमें 'टैः' की आवृत्ति होनेसे यहाँ अन्त्यानुप्रास है ।

पादयमक—भूरिभैरवधीराया कष्टैः प्रतिगजश्रुतेः ।

भूरिभैरवधीरायाः समदानैः स्वपाणिना ॥१५,१०

यहाँ प्रथम और तृतीय चरणोंमें अयुतावृत्तिमूलक पादयमक है । यहाँ विसर्गकृत दोष नहीं है, जैसा कि बाग्मटा० ( १, २० ) में बतलाया गया है ।

पादयमक—शस्त्रप्रहारैर्गुणैः समुदा येन योजितः ।

तेनामर्षात् पुनः सोऽस्त्रसमुदायेन योजितः ॥१५, ४५

यहाँ द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में अयुतावृत्तिमूलक पादयमक है ।

पद्ययमक—सेना सेना यतो बद्धराजिराजिसमुत्सुका ।

चक्रे चक्रेषुलङ्गास्त्रसारा सारातिसाध्वसम् ॥१५, २०

यहाँ संयुतावृत्तिमूलक प्रतिपादादि पद्ययमक है ।

पद्ययमक—वणिक्पयस्तुपितरत्नसंचयं समस्ति तस्मिन्नथ रत्नसंचयम् ।

पुरं यदालानितमत्तवारणैर्विभाति हर्म्यैश्च समत्तवारणैः ॥१, २१

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक प्रत्यर्थभागभिन्न पादान्त्य पद्ययमक है ।

पद्ययमक—यथा पलाशास्तत्रेश शोभन्ते नवकिंशुकैः ।

तथैव जम्भूतरवो विराजन्ते न किंशुकैः ॥२, १७

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक पद्यार्थान्त्य पद्ययमक है ।

पद्ययमक—भयात् पलायमानस्य कामस्य गलितः करात् ।

बाणावलिर्बिभाति बाणावलिर्बिस्ततः ॥२, २०

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक तृतीय-चतुर्थ पादादिगत पद्ययमक है ।

पद्ययमक—तत्र शासति मही जनतायास्त्रातरि क्रमसरोजजनतायाः ।

मोदयन्मयूरभून्मधुपानां संततिं कृतगल्मधुपानाम् ॥८, १

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थपादान्तगत पद्ययमक है । चं० च० के आठवें, चौदहवें तथा पन्द्रहवें सर्गमें ऐसे ही उदाहरण और भी हैं ।

वर्णयमक—सपौरः ससुहृदगः सकलत्रः सबान्धवः ।

सतनूजः ससामन्तः स च्चाल ससैनिकः ॥२, ३०

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक आद्यन्त वर्णयमक है ।

एकाक्षरचित्र—रैरोरा रैरैरैरी रोरो रोहरैररि—

रुरुुरुरुरुरोरारारारैरुओररम् ॥१५, ३९

आदिसे अन्त तक केवल 'र' व्यञ्जनके होनेसे यहाँ एक व्यञ्जनचित्र या एकाक्षरचित्र है ।

द्व्यक्षरचित्र—धीरधीरारिहिरैरुधाराधरैररम् ।

धरा धराधराधारा रुधेऽधोऽधराधरा ॥१५, ४९

आदिसे अन्त तक 'ध' और 'र'—इन दो व्यञ्जनोंके रहनेसे यहाँ द्विव्यञ्जनचित्र या द्व्यक्षर चित्र है ।

काकुवक्रोक्ति—विशदामसमुज्जितान्वया नयसारामविहीनसौष्ठवाम् ।

गिरमेष कदाचिदीदृशीमभिवक्ष्याद्यथा बृहस्पतिः ॥१२, १००

'मथवा बृहस्पति भी कभी ऐसे वचन कह सकते हैं ?'—इस तरह कण्ठध्वनिके परिवर्तनके साथ अर्थ करनेपर यहाँ 'काकुवक्रोक्ति' अलङ्कार घटित होता है ।

## (ख) अर्थालङ्कार

चं० च० में जिन अर्थालङ्कारोंका प्रचुरमात्रामें सन्निवेश है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

पूर्णोपमा ( १, ३१ ), मालोपमा ( १६, १७ ), लुप्तोपमा ( ११, १५ ), उपमेयोपमा ( १०, २७ ), प्रतीप ( ३, ३ ) रूपक ( १५, ५३ ), परम्परितरूपक ( १, १० ), परिणाम ( ५, ६० ), भ्रान्तिमान् ( १, २६; १, २७, ६, ९; ९, ६, ९, ३०; १५, ५; १४, ३२, १४, ३८ आदि ), अपह्नुति ( ५, ४३ ), कैतवापह्नुति ( १४, ६४ ), उत्प्रेक्षा ( १, १३ ), अतिशय ( १६, ३६ ), अन्तर्दीपक ( १, ४५ ), तुल्ययोगिता ( १५, १३५ ), प्रतिवस्तूपमा ( १, ६३ ), दृष्टान्त ( ११, २१ ), निदर्शना ( ४, २४ ), व्यतिरेक ( १, ४४ ), सहोक्ति ( ३, ६६ ), समासोक्ति ( १, १६ ), परिकर ( १७, ६२ ), श्लेष ( २, १४२ ), अप्रस्तुतप्रशंसा ( १५, १३४ ), पर्यायोक्त ( १६, २६ ), अन्य प्रकारका पर्यायोक्त ( ९, २४ ), विरोधाभास ( १, ३७ ), विभावना ( १, ५९ ), अन्य प्रकारकी विभावना ( ६, ६६ ), विशेषोक्ति ( ४, ६ ), नियम ( १५, १३० ), अधिक ( २, २४ ), अन्योन्य ( १४, १४ ), कारणमाला ( ४, ३७; ४, ३८ ), एकावली ( १, ३५ ) परिवृत्ति ( ९, ४३ ), परिसंख्या ( २, १३८ ), समुच्चय ( ३, ४९ ), अर्थापत्ति ( १, ७३ ), काव्यलिङ्ग ( ८, १९ ), अर्थान्तरगम्यास ( ४, ११ ), तद्गुण ( १४, २९ ), लोकोक्ति ( २, २६ ), स्वभावोक्ति ( १४, ६३ ), उदात्त ( २, १२८ ), अनुमान ( ९, १३ ), रसवत् ( १५, ८ ), प्रेय ( १५, १४४ ), ऊर्जस्विन् ( ८, २० ), समाहित ( ८, ४५ ), भावोदय ( ८, २१ ), संसृष्टि ( १, १० ) और सङ्कर ( ८, ४३ ) ।

## [ १२ ] चं० च० में छन्द योजना

चं० च० में एक मात्रिक ( औपचन्दसिक ) और तीस वर्णिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

( १ ) अतिघञ्चिन्ता, ( २ ) अनुष्टुप्, ( ३ ) इन्द्रवज्रा, ( ४ ) उद्गता, ( ५ ) उपजाति, ( ६ ) जपेन्द्रवज्रा, ( ७ ) औपचन्दसिक, ( ८ ) क्षमा, ( ९ ) जलधरमाला, ( १० ) जलोद्धतगति, ( ११ ) द्रुतविलम्बित, ( १२ ) नकुटक, ( १३ ) पुष्पिताया, ( १४ ) पृथ्वी, ( १५ ) प्रमिताक्षरा, ( १६ ) प्रहपिणी, ( १७ ) भ्रमरविलसित, ( १८ ) मन्दाक्रान्ता, ( १९ ) मालिनी, ( २० ) रघोद्धना, ( २१ ) वंशस्थ, ( २२ ) वनपत्रपतित, ( २३ ) वसन्ततिलका, ( २४ ) वसन्तमालिका, ( २५ ) शार्दूलविक्रीडित, ( २६ ) शालिनी, ( २७ ) शिलरिणी, ( २८ ) मुन्दरी, ( २९ ) स्रग्धरा, ( ३० ) स्वागता, ( ३१ ) हरिणी ।

## [ १३ ] चं० च० की समीक्षा

वीरनन्दीकी चन्द्रप्रभका जो संक्षिप्त जीवनवृत्त प्राचीन स्रोतोसे समुपलब्ध हुआ, उसे उन्होंने अपने चं० च० में सूत्र ही पल्लवित किया है । चन्द्रप्रभके जीवन वृत्तको लेकर बनायी गयी जितनी भी दि०-९६० कृतियाँ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनमें वीरनन्दीकी प्रस्तुत कृति ही सर्वाङ्गपूर्ण है । इसकी तुलनामें उ० पु० गत चं० च० भी संक्षिप्त-सा प्रतीत होता है, जो उपलब्ध अन्य सभी चन्द्रप्रभचरितोसे, जिनमें हेमचन्द्रका चं० च० भी शामिल है, विस्तृत है । अतः केवल कथानकके आधार पर ही विचार किया जाये तो भी यह मानना पड़ेगा कि वीरनन्दीकी सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है । सरसताकी दृष्टिसे तो इनकी कृतिका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है ।

१ सभी अलङ्कारोंके लक्षण घटानेमें प्रायः कुवलयानन्दका उपयोग किया गया है । २. सभी छन्दोंके लक्षण वृत्तरत्नाकरके अनुसार घटाये गये हैं ।

वीरनन्दी का चं० च० अपनी विशेषताओंके कारण संस्कृत महाकाव्योंमें विशिष्ट स्थान रखता है। कोमल पदावली, अर्थ सौष्ठव, विस्मयजनक कल्पनाएँ, अद्भुत घटनाएँ, विशिष्ट संवाद, वैदभीं रोति, ओज, प्रसाद तथा माधुर्य गुण, विविध छन्दों और अलङ्कारोंकी योजना, रसका अविच्छिन्न प्रवाह, प्राञ्जल संस्कृत, महाकाव्योचित प्रासंगिक वर्णन और मानवोचित शिक्षा आदिकी दृष्टिसे प्रस्तुत कृति अत्यन्त श्लाघ्य है।

प्रस्तुत कृतिमें वीरनन्दीकी साहित्यिक, दार्शनिक और सैद्धान्तिक विद्वत्ताकी त्रिवेणी प्रवाहित है। साहित्यिक वेणी (धारा) अथसे इति तक अविच्छिन्न गतिसे बही है। दार्शनिक धाराका सङ्गम दूसरे सर्गमें हुआ है, और सैद्धान्तिक धारा सरस्वतीकी भाँति कहीं दृश्य तो कहीं अदृश्य होकर भी अन्तिम सर्गमें विशिष्ट रूप धारण करती है। पर कविकी अप्रतिम प्रतिभाने साहित्यिक धाराको कहीं पर भी क्षीण नहीं होने दिया। फलतः दार्शनिक और सैद्धान्तिक धाराओंमें भी पूर्ण सरसता अनुस्यूत है।

अवधोष और कालिदासकी भाँति वीरनन्दीको अर्थ चित्रसे अनुरक्ति है। यों इन तीनों महाकवियोंकी कृतियोंमें शब्दचित्रके भी दर्शन होते हैं, पर भारवि और माघकी कृतियोंकी भाँति नहीं, जिनमें शब्द चित्र आवश्यकताकी सीमासे बाहर चले गये हैं।

बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, रघुवंश और चन्द्रप्रभचरित इन चारोंकी रचना शैलीमें पर्याप्त साम्य है, फिर भी इतना अवश्य है कि वीरनन्दीको कालिदासकी अपेक्षा अवधोषने अधिक मात्रामें प्रभावित किया है। जान पड़ता है कि चं० च० का नामकरण बु० च० से और सर्ग संख्या सौ० न० की सर्ग संख्यासे प्रभावित है। बु० च० में वर्णित भ० बुद्धके जन्मसे निर्वाण तकके जीवन वृत्तकी भाँति चं० च० में चन्द्रप्रभका जीवन वृत्त वर्णित है। हाँ, चन्द्रप्रभचरितमें वर्णित चन्द्रप्रभके पिछले जन्मोंका वृत्त उसकी अपनी विशेषता है, जो जैनतर काव्योंमें नहीं है। अवधोषकी कृतियोंमें बौद्ध धर्मके अनुसार जिस तरह मानव जन्म के लाभ, सांसारिक सुखकी असरता बतलायी गयी है, दार्शनिक चर्चा की गयी है और पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग किया गया है, उसी तरह वीरनन्दीकी कृति चं० च० में जैन धर्मके अनुसार। अथ च अवधोषकी भाँति वीरनन्दीको भी शान्तरस अभिप्रेत है। इसी आधारपर जान पड़ता है कि वीरनन्दी अवधोषसे से अधिक प्रभावित रहे।

चं० च० में वर्णित चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त अतीत और वर्तमानकी दृष्टिसे दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रारम्भके पन्द्रह सर्गोंमें अतीतका और अन्तिम तीन सर्गोंमें वर्तमानका वर्णन है। इस लिए अतीतके वर्णनसे वर्तमानका वर्णन कुछ दब-सा गया है। चन्द्रप्रभकी प्रधान पत्नीका नाम कमलप्रभा है। नायिका होनेके नाते इनका विस्तृत वर्णन होना चाहिए था, पर केवल एक ( १७, ६० ) पद्यमें इनके नाम-मात्रका ही उल्लेख किया गया है। इसी तरह इनके पुत्र वरचन्द्रकी भी केवल एक (१७, ७४) पद्यमें ही नाममात्रकी चर्चा की गयी है। दानोंके प्रति बरती गयी यह उपेक्षा खटकने वाली है। दूसरे सर्गमें की गयी दार्शनिक चर्चा अधिक लम्बी है। इसके कारण कथाका प्रवाह कुछ अवरोध-सा हो गया है। इतना होते हुए भी कवित्वकी दृष्टिसे प्रस्तुत महाकाव्य प्रशंसनीय है। क्लिष्टता और दूरान्वयके न होनेसे इसके पद्य पढ़ते ही समझमें आ जाते हैं। इसकी सरलता रघुवंश और बुद्धचरितसे भी कहीं अधिक है।

### [१४] ग्रन्थकार-परिचय

चं० च० के अन्तमें मुद्रित ग्रन्थकारकी प्रशस्ति ( श्लो० १-४ ) से उनका निम्नलिखित परिचय प्राप्त होता है—

(क) संघ और गण—ग्रन्थकार वीरनन्दी 'नन्दी' संघके 'देशीय' गणमें हुए हैं। मूल संघ अर्थात् द्वि० सम्प्रदायकी चार शाखाएँ हैं—(१) नन्दी, (२) सिद्ध, (३) सेन और (४) देव। इन शाखाओंकी प्रतिशाखाएँ गण, गच्छ आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। नन्दी संघमें जो कई गण, गच्छ आदि हैं, देशीय गण उन्हीं में से एक है।

(ख) गुरुपरम्परा—वीरनन्दीके गुरुका नाम अमयनन्दी, दादा गुरुका नाम 'विबुध' गुणनन्दी और परदादा गुरुका नाम गुणनन्दी था।

वीरनन्दी असाधारण विद्वान् थे, जैसा कि उनकी कृतिके अध्ययन एवं अन्य ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है।

### विद्वत्ता तथा प्रभाव

(क) विद्वत्ता—चं० च० के क्रियापदोंके देखनेसे स्पष्ट है कि वीरनन्दीका व्याकरणशास्त्रपर पूर्ण अधिकार रहा। द्वितीय सर्ग (श्लो० ४४-११०) यह सिद्ध करता है कि वीरनन्दी जैन व जैनैतरदर्शनोंके अधिकारी विद्वान् थे। तत्त्वोपप्लव दर्शनको समीक्षाके सन्दर्भमें उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं, वे अष्टसहस्री आदि विशिष्ट दार्शनिक ग्रन्थोंमें भी दृष्टिगोचर नहीं होती। अन्तिम सर्ग वीरनन्दीकी सिद्धान्त मर्मज्ञताको व्यक्त करता है। चं० च० के तत्त्वप्रसङ्गोंमें चर्चित राजनीति, गजवशीकरण और शकुन-अपशकुन आदि विषय उनकी बहुज्ञताको प्रमाणित करनेमें सक्षम हैं।

(ख) प्रभाव—अमयनन्दीके शिष्य होनेके नाते वीरनन्दी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके सतीर्थ रहे, जिन्होंने शीरोरनी प्राकृतमें गोम्मतसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड), त्रिलोकसार, लम्बिसार और अपणा-सार आदि विशिष्ट ग्रन्थोंकी रचना की थी, फिर भी उन्होंने कर्मकाण्डमें अपनेको वीरनन्दीका 'वच्छो' (वत्स) लिखा है, और एकाधिक बार उनका नामोल्लेख किया है। वीरनन्दीके नामके आगे 'गाह' (नाथ) और चन्द (चन्द्र) का प्रयोग और मङ्गलाचरणके प्रसङ्गमें उनका बार-बार स्मरण किया जाता उनके प्रभावका द्योतक है। वादिराज सूरिने अपने पाश्चान्नाथचरितमें नामोल्लेखपूर्वक उनको कृति—चं० च०की सराहना की है। कविवर दामोदरने अपने चन्द्रप्रमचरितमें उन्हें 'कवीश' बतलाया है और बन्दर्न भी किया है। पण्डित गोविन्दने अपने पुरुषार्थानुशासनमें उनका उल्लेख धनञ्जय, असग और हरिचन्द्रसे भी पहले किया है और उनके काव्यकी प्रशंसा भी। पण्डित प्रवर आशाधरने उनके चं० च० के एक (४, ३८) पद्यको उद्धृत करके अपने सागरधर्माभूतके न्यायोपात्त—इत्यादि (१, ११) श्लोकमें चर्चित कृतज्ञता गुणका समर्थन किया है, और इष्टोपदेशकी अपनी टीकामें भी चं० च० का एक पद्य उद्धृत किया है।

जीव० च० तथा धर्मश०के कर्ता महाकवि हरिचन्द्रने धर्मशर्मास्युदयकी रूपरेखा चं० च० को सामने रखकर बनायी। चं० च० और धर्मश० की मङ्गलाचरणपद्धति, पुराणोंके आध्ययकी सूचना, दार्शनिक चर्चा और धर्मदेशना प्रायः एक-सी है। धर्मदेशनाके कतिपय पद्योंके चरण-के-चरण मिलते हैं। यदि अनुक्रम और भावकी समानतापर ध्यान दिया जाये तो लगभग आधी धर्मदेशना दोनोंकी एक जैसी ही सिद्ध होगी। अतएव यह स्पष्ट है कि समकालीन और उत्तरकालीन अनेक विद्वानोंपर वीरनन्दीकी विद्वत्ताका महान् प्रभाव रहा है।

१. जस्स पायपसायेण णंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो । वीरिंदणदिचच्छो णमामि तं अमयणदिगुं ॥गा० ४३६॥ २. णमिज्ज अभयणदि सुवसागरपारगिदणदिगुं । वरवीरणदिणाहं पयडोणं पच्चयं कोच्छं ॥गा० ७८५॥ ३. णमहं गुणरयणभूतणसिद्धतामियमहद्धिभवभावं । वरवीरणदिचंदिं णिम्मलगुणमिदणदिगुं ॥गा० ८९६॥ ४. चन्द्रप्रभाभिर्संबद्धा रसपुष्ठा मनः प्रियम् । कुमुदतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः ॥१. ३०॥ ५. श्रीवीर-नन्दिदेवो धनञ्जयासगौ हरिश्चन्द्रः । ग्यधुरित्याद्याः कवयः काव्यानि सद्भुक्तियुक्तीनि ॥—'जैनग्रन्थप्रशस्ति-संग्रह' पृ० १२७ से उद्धृत। ६. तुलना कीजिए—चं० च० १८, २ तथा धर्मश० २१, ८; चं० च० १८, ७८ तथा धर्मश० २१, ९०; चं० च० १८, ८८ तथा धर्मश० २१, ९९ इत्यादि।

### प्रशस्त विचारधारा

वीरनन्दी साधु थे, अतः उनका मन विरागतासे प्रभावित रहा। इसका आभास उनके चं० में ही यत्र-तत्र उपलब्ध है। लगभग आठ स्थलोंपर उन्होंने विरक्तिके विचारों एवं नरेशोंके शोषित होनेका वर्णन किया है। प्रायः ऐसे ही प्रसङ्गोंमें उनकी प्रशस्त विचारधाराकी झलक मिलती है, जो इस प्रकार है—

प्रत्येक जन्तुका जीवन मरणसे और जीवन बुढ़ापेसे आक्रान्त है—इसे देखता हुआ भी जड़ मनुष्य अपने हितकी ओर ध्यान नहीं देता, यह खेद और आश्चर्यकी बात है ॥१, ६९॥ यह मनुष्य जन्म अशुभ-कर्मोदयकी मन्दतासे किसी तरह काकतालीय न्यायसे प्राप्त हुआ है। अतः इसे पाकर चतुर्गतिपरिभ्रमणके वृत्तान्तकी समझनेवाले व्यक्तिको आत्महितके विषयमें प्रमाद करना उचित नहीं है ॥४, २६॥ अनिष्ट संयोग और इष्टवियोग समानरूपसे सभीके साथ लगे हुए हैं—इस बातकी सोचकर बुद्धिमान् मानव विवाद करके अपने मनको खिन्न नहीं करता ॥५, ८७॥ बुद्धिमान् मानव खूब आगा-पीछा सोचकर कार्य करता है या फिर उसका आरम्भ ही नहीं करता; क्योंकि सहसा कार्य करना पशुओंका धर्म है, वह मानवमें कैसे हो सकता है? ॥१२, १०२॥ पुत्र वह है, जो अपने कुलका विस्तार करे; मित्र वह है, जो विपत्तिमें साथ दे; राजा वह है, जो प्रजाकी रक्षा करे और कवि वह है, जिसके वचन मोरस न हों ॥१२, १०८॥ प्रेमसे बढ़कर कोई बन्धन नहीं है; विषयसे बढ़कर कोई विष नहीं है; क्रोधसे बढ़कर कोई शत्रु नहीं है और जन्मसे बढ़कर कोई दुःख नहीं है ॥१५, १४३॥ ऐसे विचार चं० च० में यत्र-तत्र विखरे पड़े हैं। विस्तारका भय न होता तो उन सभीका संकलन यहाँ प्रस्तुत किया जाता।

अन्य वीरनन्दी—प्रस्तुत वीरनन्दीके अतिरिक्त अन्य वीरनन्दी भी हुए हैं। ( १ ) आचारसारेके प्रणेता, जो मेघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य थे, ( २ ) महेन्द्रकोटिके शिष्य एवं कलघोतनन्दीके प्रशिष्य। ( ३ ) 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' उपाधिले विभूषित और ( ४ ) पण्डित महेन्द्रके शिष्य।

### वीरनन्दीका समय

चं० च० के रचयिता—वीरनन्दीने अपनी इस कृतिमें कहीं पर भी अपने समयका उल्लेख नहीं किया, पर अन्य आचार्योंके, जिन्होंने अपनी कृतियोंमें उनके नामका उल्लेख किया है, समयके आधारपर उनका समय सुनिश्चित है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने अपने कर्मकाण्डमें उनके नामका तीन बार उल्लेख किया है जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे नेमिचन्द्र सि० च० के सम-कालीन हैं। प्रेमजीने नेमिचन्द्र सि० च० का समय विक्रमकी ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध सिद्ध किया है, अतः चं० च० के कर्ताका भी यही समय सिद्ध होता है<sup>१</sup>। बलदेव उपाध्यायने चं० च० के कर्ता वीरनन्दीका समय १३०० ई० लिखा है<sup>२</sup>, और डॉ० बहादुरचन्दने भी लगभग यही समय बतलाया है<sup>३</sup>, जो भ्रम-मूलक है।

बादिराज सुरिने अपने पार्ष्वनाथचरितमें वीरनन्दी और उनके चं० च० की प्रशंसा<sup>४</sup> की है, जिसकी समाप्ति शक सं० ९४७ ( वि० सं० १०८२ ) में समाप्त हुई थी। अतः वीरनन्दी इनसे पूर्ववर्ती ही ठहरते हैं। ऐसी स्थितिमें वीरनन्दीका सुनिश्चित समय विक्रमकी ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्ध ही सिद्ध होता है।

१. इससे उक्त दोनों ग्रन्थोंके कर्ता नेमिचन्द्र सि० च० और उनके सहयोगियों—वीरनन्दी, इन्द्रनन्दी, कनकनन्दी—का समय भी विक्रमकी ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्ध ठहरता है।—जैन साहित्य और इतिहास पृ० २७४। २. वीरनन्दी ( १३०० ई० )—चन्द्रप्रभचरित।—संस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० २७३। ३. संस्कृत साहित्यका इतिहास ( १३वीं शताब्दीके महाकाव्य ) पृ० ८६८। ४. 'चन्द्रप्रभासिंबद्धा रसपुष्टा मनः प्रियम्। कुमुदतीव नो घटे भारती वीरनन्दिनः॥ पार्ष्वनाथच० १, ३०॥ ५. 'शाकाब्दे नगवाधिरभ्र-गणने संवत्सरे क्रोधने, मासे कार्तिकनामि बुद्धिमहिसे शुद्धे तृतीयादिने। सिंहे पाति जयादिके बहुमती जैनी कथेयं मया, निष्पत्तिं गमिता सती भवतु यः कल्याणनिष्पत्तये॥ पार्ष्वनाथच० प्र० पृ० ५॥

## [ १५ ] संस्कृत व्याख्या

नाम—प्रस्तुत ग्रन्थके साथ मुद्रित संस्कृत व्याख्याका सम्पादन जिन आदर्श ह० लि० प्रतियोंके आधारपर किया गया है, उनके पुष्पिकावाक्योंके अनुसार यह 'व्याख्या' नहीं 'व्याख्यान' है और इसका नाम 'विद्वन्मनोवल्लभ' है, पर 'श' प्रति ( सर्ग ११ ) के पुष्पिकावाक्यको ध्यानमें रखकर सौन्दर्यकी दृष्टिसे चं० च० के ऊपर व्याख्याका नाम 'विद्वन्मनोवल्लभा' प्रकाशित किया गया है, और अन्दर 'विद्वन्मनोवल्लभ', यद्यपि समस्यन्त पदके कारण इतना सूक्ष्म अन्तर बादमें ज्ञात हो पाता है।

विशेषता—प्रस्तुत व्याख्या साधारण-सी ही है। विज्ञ पाठकोंको इसमें स्वयं व्याख्याकारकी कुछ अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर होंगी। अलङ्कारोंके निर्देश भी यत्र-तत्र भ्रान्तिपूर्ण है। पर इसकी सबसे बड़ी विशेषता शुद्धपाठोंकी बहुलता है, जिसके कारण मूल ग्रन्थके सम्पादनमें बड़ी सहायता मिली है। मूल ग्रन्थके पदोंको अन्वयके अनुसार रखकर उनको व्याख्या की गयी है। इसके साहाय्यसे दार्शनिक अंशको छोड़कर प्रायः पूरे मूलग्रन्थका अर्थ खुल जाता है। व्याकरण और कोष आदि ग्रन्थोंके इसमें जो उद्धरण दिये गये हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। इसकी तुलना अर्हदासके मुनिसुव्रताव्यकी संस्कृत टीका-‘सुखबोधिनी’से की जा सकती है।

व्याख्याकारका परिचय—इस व्याख्याके रचयिताका नाम 'मुनिचन्द्र' है। इन्होंने अपनेको 'विद्यार्थी' लिखा है। 'कन्नडप्रान्तीय-ताडपत्र-ग्रन्थ सूची' ( पृ० १२३ ) के अनुसार ये अलगंचपुरीके निवासी द्विजोत्तम देवचन्द्रके पुत्र थे।

## व्याख्याकारका समय

प्रस्तुत व्याख्यामें अनेकार्थध्वनिमंजरी, अनेकार्थसंग्रह, अभिधानचिन्तामणि, अमरकोष, नाममाला, नानार्थकोष ( गद्यात्मक ), नीतिवाक्यामृत, वाग्भटालङ्कार, विद्वत्प्रकाश, विश्वलोचन, वैजयन्ती, शाकटायन और समवसरण स्तोत्र—इत्यादि ग्रन्थोंके अवतरण है। इनमें अनेकार्थ संग्रह और अभिधानचिन्तामणिके रचयिता आ० हेमचन्द्र ( वि० १२ वी शती ) है, अतः व्याख्याकार इनके उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। चं० च० ( १८, १; पृ० ४२९ ) की व्याख्यामें 'गंभीरं मधुरं...' इत्यादि पद्य उद्धृत हैं, जो अज्ञातसमय विष्णु-सेनके समवसरण-स्तोत्र ( पृ० २९ ) और वि० १३ वी शतीके आचारसार ( ४, ९५ ) में पाया जाता है। यदि यह पद्य आचारसारका ही सिद्ध हो जाये तो व्याख्याकार इनके बादके सिद्ध होते हैं। भा० ज्ञानपीठसे प्रकाशित 'कन्नड प्रान्तीय-ताडपत्र-ग्रन्थसूची' ( पृ० १२३ ) के अनुसार व्याख्याकारका समय 'प्रमोदूत' ( प्रमोद ) संवत्सर माघ शु० प्रतिपद् रोहिणी नक्षत्र है, जिसे पं० कमलाकान्तजी शुक्ल, प्रा० ज्योतिष विभाग, बा० सं० वि० वि०, वाराणसीने वि० सं० १५६० ( शक सं० १४२५ ) माघ शुक्ला प्रतिपद् शनिवार प्रमाणित किया है।

१. प्रस्तुत 'प्रमोदूत' ( प्रमोद ) संवत्सर वि० सं० १५६० ( शक सं० १४२५ ) माघ शुक्ला प्रतिपद् शनिवार घटी ५१।४८ अथवा नक्षत्रमें सिद्ध होता है। जिसका नियामक ग्रहलाघवीय ऋणाहर्गण १८९० तथा मध्यम सूर्य ९।१८।४२।४७ त्रिकल चन्द्रमा ९।१९।४६ है।

विशेष—माघ शुक्ला प्रतिपद्को रोहिणी नक्षत्रका होना संभव नहीं है, जैसा कि मूर्यसिद्धान्त मान अध्याय श्लोक १६ से ज्ञात होता है—

‘कार्तिकादिषु संयोगे कृत्तिकादिद्वयं द्वयम्।

अर.भोपान्त्यौ पञ्चमश्च त्रिधा मासत्रयं स्मृतम् ॥’

इस आधारपर माघ शुक्ला पूर्णिमाको श्लेषा या मघाका होना संभव है। इससे पूर्व पन्द्रहवें दिन प्रतिपद्को अथवा घनिष्ठा-नक्षत्र हो सकता है, न कि रोहिणी।

## [१६] संस्कृत पञ्जिका

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम परिशिष्टमें संस्कृत पञ्जिका भी मुद्रित की गयी है। संस्कृत व्याख्याकी भाँति यह भी अभी तक अप्रकाशित रहा। जिसमें ग्रन्थके क्लिष्ट पदोंका अर्थ खोला जाये, उसे पञ्जिका कहते हैं—'विषमपदमञ्जिका पञ्जिका'—यह परिभाषा प्रस्तुत पञ्जिकामे अक्षरशः घटित होती है। द्वितीय सर्गके दार्शनिक पद्यों पर इसमें अच्छा प्रकाश डाला गया है, जिससे पञ्जिकाकारका दार्शनिक वैदुष्य व्यक्त होता है। प्रारम्भिक दो सर्गोंकी पञ्जिका व्याख्याका काम करती है। इसकी रचना अपेक्षाकृत प्रौढ़ है।

पञ्जिकाकारका नाम—जिन आदर्श प्रतियोंके आधारपर इसका सम्पादन किया गया है, उनमें इसके रचयिताका नाम अङ्कित नहीं है, पर डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल, जयपुरने अपने यहाँकी हस्त-लिखित प्रतियाँ देख कर इनका नाम गुणनन्दी बतलाया है, जो 'जिनरत्नकोष' ( भाग १, पृ० १२० ) में भी दिया गया है।

पञ्जिकाकारका समय—'जिनरत्नकोष' ( भा० १, पृ० १२० ) में पञ्जिकाकारका समय वि० सं० १५९७ दिया गया है। पञ्जिकामे अनगारधर्मामृत, अनेकार्थध्वनिमञ्जरी, अमरकोष, आत्मानुशासन, आत्ममीमांसा, कामन्दकीय नीतिसार<sup>१</sup>, काव्यादर्श, तत्त्वार्थसूत्र, पञ्चसंग्रह, पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, माधव-निदान, रघुवंश, और वाग्मटालङ्कार आदि ग्रन्थोंके उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं। इनमेंसे अनगारधर्मामृतकी रचना वि० सं० १३०० में समाप्त हुई। इसमें पञ्जिकाकार आशाधरके उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। पञ्जिकाकारने प्रथमको छोड़ कर शेष सभी सर्गोंकी पञ्जिकाके प्रारम्भमें श्रुतमुनिका जयघोष किया है और उनके वैदुष्यकी श्लाघा भी। वि० सं० १६९८ में समाप्त परमागमसारके रचयिताका नाम भी श्रुतमुनि है। यदि छन्दोका जयघोष पञ्जिकाकारने किया हो तो वे इनसे परवर्ती ही ठहरते हैं। ऐसी स्थितिमें जिनरत्नकोष ( भा० १, पृ० १२० ) में दिया गया इनका समय ( वि० सं० १५९७ ) सही-सा प्रतीत होता है। विशेष निर्णयके लिए अन्य सामग्रीकी अपेक्षा है।

इस तरह प्राप्त सामग्रीके आधारपर ग्रन्थ, ग्रन्थकार, व्याख्याकार और पञ्जिकाकारके विषयमें संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

—अमृतलाल शास्त्री

१. 'जैन साहित्यका बृहद् इतिहास' ( भाग ५, पृष्ठ २४१ ) के अनुसार 'कामन्दकीयनीतिसार' का संकलन उपाध्याय भानुचन्द्रके शिष्य सिद्धिचन्द्र ( अकबर बादशाहके समकालीन ) ने किया था। यदि यह प्रमाणित हो जाये तो पञ्जिकाकार के समय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।



## विषयानुक्रमः

### १. प्रथमः सर्गः

१-५ मङ्गलाचरणम् । ६ समन्तभद्रप्रशंसा । ७-८ सज्जनदुर्जनवर्णनम् । ९ आत्मनो लघुता-  
प्रदर्शनम् । १० पुराणसागरप्रवेशनिवेदनम् । ११ पूर्वमन्दरवर्णनम् । १२-२० मङ्गलावतीनाम्नो देशस्य  
वर्णनम् । २१-३८ रत्नसंचयपुरवर्णनम् । ३९-५३ राज्ञः कनकप्रभस्य वर्णनम् । ५४-५७ तन्महिष्या सुवर्ण-  
मालाया वर्णनम् । ५८-६३ तत्पुत्रस्य पद्मनाभस्य वर्णनम् । ६४-८० सौधशिखराकूटस्य राज्ञ आसद्यतमैक-  
पल्लवे धनपङ्कनिगमनमक्षमं म्रियमाणमेकं जरद्गवमुदोष्य निर्वेदप्राप्तेर्वर्णनम् । ८१ पद्मनाभाय राज्यं वितोर्यं  
राज्ञः कनकप्रभस्य जिनदीक्षाया वर्णनम् । ८२ पितृविरहतः पद्मनाभस्य शोकानुभूतेर्वर्णनम् । ८३ अमात्यैः  
पद्मनाभप्रतिबोधनवर्णनम् । ८४ पिशासनासीनं पद्मनाभं प्रति सामन्तानां व्यवहृतेर्वर्णनम् । ८५ स्वमुनाय  
सुवर्णनाभाय योवराज्यं दत्त्वा पद्मनाभस्य भोगानुभवनस्य वर्णनम् ।

### २. द्वितीयः सर्गः

१-२ राज्ञः पद्मनाभस्य वनपालमुखाच्छ्रीषराभिषेकस्य मुनेरागमनश्रवणम् । ३-१० मुनेर्वैशिष्ट्यवर्णनम् ।  
११-२३ मुनिप्रभावतः संजाताया उद्यानविभूतेर्वर्णनम् । २४ मुनिवृत्तान्तं निशम्य राज्ञो हृषीकेशः । २५  
वनपालाय पारितोषिकप्रदानम् । २६-२७ मुनिचरणयो राज्ञः परोक्षतमस्फुटितः । २८ मुनिवन्दनयात्रायाः कृते  
सर्वेऽपि पौरजनाः सज्जीभवन्तिवति राज्ञ आदेशः । २९ राजगोपुरे राज्ञा समागमनम् । ३० सगरिकरस्य  
राज्ञो मुनिदर्शनार्थं गमनवर्णनम् । ३१ गमनवेलायामिलापतेः शोभाया वर्णनम् । ३२ वनं प्राप्य राज्ञ  
प्रसन्नता । ३३ वायुवर्णनम् । ३४ सेनामावासयेति सेनापतिं प्रति राज्ञ आदेशो वनप्रवेशश्च । ३५ राज्ञो  
मुनिदर्शनम् । ३६ नीलशिलातले स्थितस्य मुने शोभा । ३७ सविनय, मुनिं प्रणम्य राजस्तनुरस्तादुपवेशनम् ।  
३८ राज्ञः कमलमुकुलाकारयोः करयोर्वर्णनम् । ३९ संगतयोर्मनीन्द्रनरेन्द्रयो शोभा । ४०-५१ जीवादिसप्त-  
तत्त्वविषयको राज्ञ प्रश्नः । ५२-५३ मुनिद्वारा राज्ञः प्रश्नस्य प्रशंसा तदुत्तरदानस्य स्वीकृतिश्च । ५४  
तत्त्वोपलब्धवादिना 'जीवो नास्तीति' पक्षस्य प्रतिक्षेपः । ५५ प्रतिजन्तु जीवस्य स्वसंवेदनगोचरत्वम् । ५६-६१  
ज्ञानस्याम्बुसंवेदित्वं निराकृत्य स्वसंवेदित्वस्य संसिद्धिः पूर्वपक्षिणा पक्षस्य प्रत्यक्षवाद्या च । ६२ गर्भकालतो  
मरण यावज्जीवस्य स्वसंवेदनप्रवृत्तः सिद्धिः । ६३ सदकारणवत्त्वं जीवस्यानादिताया अनन्ततायाश्च  
सिद्धिः । ६४-६९ हेतोरसिद्धत्वदोषस्य वारण, भूतानां हेतुत्वस्य खण्डन, पक्षस्यानुमानवाधित्वं, तत्त्वोपलब्ध-  
वादिना आत्मनोऽभावसाधनार्थं प्रयुक्तस्य 'अनुपलम्भात्' इति हेतोरसिद्धत्वसाधनं च । ७३ आत्मभूतयोरेक्य-  
निरासः । ७४-७५ आत्मनो नित्यताया निराकरणम् । ७६ आत्मनः सुखदुःखादिपर्यायैः सहाभेदत्वोपपादनम् ।  
७७ समवायसंबन्धमीमासा । ७८-७९ समवायकृत उपकारस्तद्भिन्नोऽभिन्नो वेति विचारः । ८० आत्मनो  
जडताया निवारणम् । ८१ आत्मनोऽकर्तृतायाः खण्डनम् । ८२ आत्मनः कर्तृत्वोपपादनम् । ८३ आत्मनोऽकर्तृता  
पापीयसीति प्रतिपादनम् । ८४-८६ आत्मनश्चित्तसंततिमात्रत्वस्य खण्डनम् । ८७ आत्मनो व्यापकत्वस्य  
निरसनम् । ८८ जीवोऽनादिनिधनो देहप्रमाणकः कर्ता भोक्ता चिदाकारश्चेत्यभिप्रायगर्भं उपसंहारः । ८९  
जोषे सिद्धेऽजीवादयोऽपि व्यवस्थिता अतस्तत्त्वमुपप्लुतमित्यभिप्रायगर्भं स्वत्वोपलब्धवादिनां खण्डनस्योपसंहारः ।  
९०-११० भोक्षे विप्रतिपक्षमानानां सर्वज्ञभाववादिनां मीमांसापक्षपातिना मीमांसकानां खण्डनं सर्वज्ञसिद्धि-

पुरःसरं मोक्षतत्त्वस्य प्रसाधनं च । १११ पुनरपि मुनिं प्रति राज्ञः स्वपूर्वजन्मविषयकः प्रश्नः । ११२ राजानं प्रति मुनेरुत्तरदानस्योपक्रमः । ११३ पुष्करार्धवर्तिनः पूर्वमन्दरस्य वर्णनम् । ११४-१२४ तत्पूर्वविदेहवर्तिनः सुगन्धिनाम्नो देशस्य वर्णनम् । १२५-१४३ श्रीपुराणस्य पुरस्य वर्णनम् ।

### ३. तृतीयः सर्गः

१-१३ राज्ञः श्रियेणस्य वर्णनम् । १४-१८ तन्महिष्याः श्रीकान्ताया वर्णनम् । १९ राजस्त्रिवर्ग-  
सेवनवर्णनम् । २० अनपत्यतया श्रीकान्तायाः शोकवर्णनम् । २१-२६ राज्ञः तत्कारणजिज्ञासाया वर्णनम् ।  
२७-३५ श्रीकान्ताया बालसूया तच्छोककारणप्रकाशनम् । ३६-४१ राजा तत्प्रतिबोधनम् । ४२-४३ राज्ञः  
क्रीडावनिविहारः । ४४ तत्र तारापयादवतीर्णनान्तसंज्ञकेन चारणमुनिना सह राज्ञः समागमवर्णनम् । ४५-४९  
मुनिचरणबन्धना स्तुतिश्च । ५० 'अद्यापि मे मानसं विरतिं किं नोपयाति'—इति मुनिं प्रति राज्ञः प्रश्नः ।  
५१-५८ राजानं प्रति मुनेरुत्तरदानम् । ५९ राज्ञो धर्मप्रवृत्तिः । ६०-६१ आष्टाङ्गिकपर्वणि समीहितनिमित्तं  
पत्न्या सह राजस्वद्वयनसेवनवर्णनम् । ६२ श्रीकान्ताया गर्भधारणवर्णनम् । ६३-६७ गर्भचिह्नवर्णनम् । ६८  
दोहदवर्णनम् । ६९ पुत्रजन्मवर्णनम् । ७० पुत्रजन्मनि नभःप्रभृतीनां शुभ्रतादिवर्णनम् । ७०-७४ राजभवने  
पोरसदनेषु च तज्जन्मात्सववर्णनम् । ७५ पुत्रस्य 'श्रीवर्मा' इति नामकरणवर्णनम् । ७६ मुने जाते राज्ञोऽभ्यु-  
दयावासेर्वर्णनम् ।

### ४. चतुर्थः सर्गः

१-२ शिशोः श्रीवर्मणो वृद्धिवर्णनम् । ३ श्रीवर्मणो विद्योपविद्याध्ययनम् । ४ श्रीवर्मणः कलाम्यासस्य  
प्रकर्षः । ५ श्रीवर्मणः शम्भ्वास्त्रप्रयोगपटुत्वमन्त्रगजारोहणप्रवीणत्वं च । ६ श्रीवर्मणः सौन्दर्यवर्णनम् । ७  
श्रीवर्मणः ओदार्यम् । ८ श्रीवर्मणः शौर्यम् । ९ श्रीवर्मणः स्वागादिगुणानां विकासः । १० श्रीवर्मणः आश्रयिजनानां  
पतित्वं गुरुत्वं च । ११ श्रीवर्मणा स्वपञ्चवद्विषयोऽपि प्रहर्षितः । १२ श्रीवर्मणोऽनुपमा रूपसप्तः । १३  
श्रीवर्मणो गर्वराहित्यम् । १४ श्रीवर्मणः पङ्कजैर्नृत्वं दोषस्पर्शशून्यत्वं च । १५ श्रीवर्मणः प्रभावत्या सह  
परिणयः । १६-१७ श्रीवर्मणो यौवराज्यं वितोर्यं तत्पितुः श्रियेणस्य निश्चिन्ततया राज्यसौख्यानुभूतिः । १८  
अम्बरतः पतन्तीमुत्का विलोक्य श्रीयेणस्य वैराग्यम् । १९-२७ श्रीयेणस्य विषयगर्हणम् । २८-३३ श्रीवर्मणः  
पुरस्तात्तत्पितुः श्रियेणस्य जिनदीक्षाग्रहणाभिलाषप्रकाशनम् । ३४-४४ श्रीवर्मणिं प्रति श्रीयेणस्य सनुपदेशः,  
तस्मै राज्यसमर्पणं च । ४५ श्रीप्रभमुनेः पादमूले जिनदीक्षाग्रहणं विधाय तपस्तप्त्वा च श्रीयेणस्य निर्वाण-  
गमनम् । ४६ श्रीवर्मणो दिग्जैत्रयात्रा । ४७ मौलं बलमात्ममूले विधाय श्रीवर्मणः प्रयाणम् । ४८ सेनारजोवर्ण-  
नम् । ४९ सैन्यध्वजवर्णनम् । ५० मातङ्गमदप्रवाहवर्णनम् । ५१ पटहप्रणादवर्णनम् । ५२ पौरप्रतिमहत्तरैश्च  
श्रीवर्मणोऽभिनन्दनम् । ५३-५५ द्विषां चेष्टितानि । ५६-६७ दिग्विजयवर्णनम् । ६८ श्रीवर्मणः श्रीपुरं प्रत्याग-  
मनवर्णनम् । ६९ प्रत्यागतं तं प्रणतुं सत्कर्तुं चार्धहस्ताया जनताया बहिरवस्थानम् । ७० मनोहरान्  
कच्छवाटान् ( 'कच्छवारे'—इति बुन्देलखण्डभाषया व्यवहृतान् ) विलोकयन् स श्रीवर्मा गोपुराभमुखो बभूवेति  
वर्णनम् । ७१ तत्समूलबद्धानां शिरोधीन् धृतानां कृतप्रणामानामिव गजानामवलोकनम् । ७२ परिखातटीषु  
हंसावलीनां दर्शनम् । ७३ स्नातिकायाः पयसो विनिर्गच्छतः पाठोनकुलस्य निरीक्षणम् । ७४ श्रीवर्मदर्शनार्थं  
पौराङ्गनानामौत्सुक्यं चेष्टितं च । ७५ पुरप्रवेशवर्णनम् । ७६ श्रीवर्मणो राज्यसंचालनं विषयानुभवश्च । ७७  
शरन्मेषावलोकनेन श्रीवर्मणो वैराग्यम् । ७८ स्वसुताया श्रीकान्ताया राज्यं समर्प्य श्रीप्रभापदमूले प्रव्रज्य च  
दुःखं तपस्तप्त्वा श्रीवर्मा सौधमस्वर्गं श्रीधराभिधो देवो बभूव इति वर्णनम् ।

## ५. पञ्चमः सर्गः

१ धातकोल्लण्डद्वीपस्य दक्षिणदिग्बतिन इषुकारगिरेर्वर्णनम् । २-११ तत्पूर्वभरतवर्तिनोऽलकाभिषय्य देशस्य वर्णनम् । १२-२२ तत्र कोशलाख्यनगरीवर्णनम् । २३-३५ तदधिपते राज्ञोऽजितजेयस्य वर्णनम् । ३६-३९ तमहिष्वा अजितसेनाया वर्णनम् । ४० स श्रीधराभिधो देवस्तयोरजितसेनसंज्ञः सुतः समजनीति वर्णनम् । ४१-४५ अजितसेनस्य कलाना पशसो रूपसंपदो विनयस्य तत्पितुः प्रसन्नतायाश्च वर्णनम् । ४६-४८ अजितसेनविषये तत्पितुर्विचारः । ४९ अजितसेनाय तस्मिन् योवराज्यपदवी प्रायच्छदिति वर्णनम् । ५०-५१ योवराज्यपदवीप्राप्त्यनन्तरमजितसेनं प्रति राज्ञां प्रजाजनानां च विनयः पवहारवर्णनम् । ५२ उपहारप्रदानार्थं समुपागतैः सामन्तैः सह राज्ञो युवराजस्य च सभाभवनेऽवस्थानम् । ५३ चण्डरुचिनामासुरः सभाभवनतो युवराजमपजहारिति वर्णनम् । ५४-७१ युवराजविकलां सकला सभामवलोक्येलाधिरतेविलापो मूच्छविष्या च । ७२ अपनीतमूच्छो राज्ञा तपोभूषणनामानं मुनिं ददर्श । ७३ मुनिमीक्षमाणा सभा विस्मयमाजगाम । ७४ मुनिस्तमामनवर्णनम् । ७५ तद्दर्शनाद्वाजः शोकोपशमः । ७६-८० मुनिराजस्य सत्कृतमर्चनां च विधाय राज्ञोऽभूत्पूर्वः तोष आशीर्वादावाप्तिश्च । ८१-८३ मुनिश्लाघा । ८४-८९ 'कतिपयैर्होमिस्त्व समायातं स्वसुतं द्रक्ष्यसि' इति राजानं प्रति मुनेराश्वासनम् । ९०-९१ मुनोन्द्रे गतवति सति तद्वचनविद्वत्साक्षात् । सुखावस्थितिः ।

## ६. षष्ठः सर्गः

१ तेनासुरेण परिभ्रम्य नभस्तो मुक्तस्य युवराजस्य मनोरमाख्ये सरसि निपतनम् । २ तन्निपतना-ज्जातायाः सरसोऽवस्थया वर्णनम् । ३ तत् उत्तरणवर्णनम् । ४-११ परुषाभिघाटवीवर्णनं ततो युवराजस्य प्रस्थानं च । १२ पर्वतवर्णनम् । १३ वनसोमास्तबुभुत्सया तदुपरि युवराजावरोहणम् । १४-२६ तत्र सहसा समायातेन केनचित्करालवक्त्रेण पुरुषेण सह युवराजस्य वाक्कलहो निमुद युद्धं विजयावाप्तिश्चेति वर्णनम् । २७-३७ युवराजेन पराजितः स पुरुषो दिव्यरूपमास्थाय 'अहं हिरण्यनामा देवस्तव मित्रमस्मि चण्डरुचिश्च शत्रुयोर्भवन्त सभामवनतो जहार नभस्त पातयामास च' इति जगादेति वर्णनम् । युवराजो हिरण्यप्रभावेणात्मानं वनसीमिन् व्यलोकयदिति वर्णनम् । ततो युवराजस्य राष्ट्रप्रवेशस्तत्र च पलायमानां जनानां निरीक्ष्य तत्कारणजिज्ञासेति वर्णनम् । ३८-४८ ततो 'अरिजयारूपे देशे विपुलाभिषपुरे राजो जयवर्मणः शशिप्रभानामधेया कन्यामपहर्तुं महेन्द्राहो भूपतिरागतो युद्धे जयवर्मबलं च निहत्य पुरमावृत्य वितिष्ठते । तद्भयाज्जनाः पलायन्ते' इति ज्ञात्वा युवराजस्य विपुलपुरं प्रति प्रस्थानमिति वर्णनम् । ४९-५६ तत्र महेन्द्रं निहत्य जयवर्मणा सह युवराजस्य तत्पुरप्रवेशः । ५७ पुरनारोगीणामन्दान्दानुभूतिः । ५८ जयवर्मणा युवराजस्य द्रुपदा पौरुषेण च तज्ज्वाति-कुलोत्तरेनुमानम् । ५९ कृतसत्कृत्युवराजो जयवर्मणो धरित्री वश्या चकारेति वर्णनम् । ६०-६९ युवराजे शशिप्रभाया अनुरागवर्णनम् । ७० तदाकर्ण्य जयवर्मणः प्रसन्नता । ७१ निमित्तिनामापुच्छजयवर्मणो विवाह-निश्चयः । ७२ ततो युवराजस्य श्रोत्रकवचम् । ७३-७४ विजयार्धगिरेर्वर्णनम् । ७५ तद्विषयतो रम्यस्यादित्या-ख्यस्य पुरस्य वर्णनम् । ७६ तदधिपतेः खेचरेन्द्रस्य धरणीध्वजस्य वर्णनम् । ७७ स प्रियधर्मनामधेयं क्षुल्लकं ददर्शति वर्णनम् । ७८ तत्सत्कृतेर्वर्णनम् । ७९-८७ तन्मुक्ताञ्जलिप्रभापरिणेतुः सकाशादात्मनो वधमश्रीसीदिति वर्णनम् । ८८ स खेचरेन्द्रो जयवर्मपुरं हरोधेति वर्णनम् । ८९ जयवर्मणं प्रति खेचरेन्द्रेण दूतप्रेषणम् । ९०-९४ दूतीकवर्णनम् । ९५-९७ दूतविसर्जनम् । ९८ जयवर्मसमीपेऽजितसेनस्य खेचरेन्द्रवधप्रतिज्ञावर्णनम् । ९९ अजितसेनो हृदि हिरण्यदेवं सस्मार, स च स्मृत एव दिव्यं रथं गृहीत्वा तत्पुरोऽभवदिति वर्णनम् । १००-१०६ अजितसेनधरणीध्वजयोर्मुद्धे धरणीध्वजस्य वधः । १०७ विजयानन्तरमजितसेनस्य विपुलपुरप्रवेशः । १०८ अजितसेनस्य शशिप्रभाया सह विवाहः । १०९-११० वध्वा सह तस्य स्वपुरं प्रति प्रस्थानम् । १११ स्वपुर-प्रवेशवर्णनम् ।

### ७. सप्तमः सर्गः

१-१७ अजितसेनस्य चतुर्दशरत्नानां वर्णनम् । १८-२७ तस्य नवनिघोनां वर्णनम् । २८ तादृशीं श्रियं समवाप्यापि स नोदक्षिक्त-इति वर्णनम् । २९ निधिरत्नपूजनम् । ३०-३९ राज्याभिषेकमहोत्सवस्य वर्णनम् । ४० स्वयंप्रभामिष्य जिनपतेरागमनवर्णनम् । ४१ तं वन्दितुमजितसेनाजितंजययोगमनवर्णनम् । ४२-४३ प्रणामानन्तरं स्वयंप्रभं प्रति राज्ञोऽजितंजयस्य 'जन्तुः कर्मभिः कथं बध्यते कथं च मुच्यते' इति प्रश्नः । ४४-५३ तदुत्तरदानम् । ५४ तच्छ्रुत्वाजितसेनस्य विरक्तेर्वर्णनम् । ५५ ततो जिनदीक्षाग्रहणम् । ५६ जितं प्रणम्य चक्रवर्तिनः स्वपुरप्रवेशवर्णनम् । ५७-६९ अजितसेनस्य दिग्विजयवर्णनम् । ७०-७९ तत्समृद्धिवर्णनम् । ८० स्वपुरप्रवेशवर्णनम् । ८१-९० पुरस्वीचेष्टावर्णनम् । ९१-९२ राजभवनप्रवेशवर्णनम् । ९३ कृतचरणनमस्क्रियाणां नृपाणां विद्याधराणां च विसर्जनम् । ९४ राज्योपभोगवर्णनम् ।

### ८. अष्टमः सर्गः

१-५० वसन्तवर्णनम् । ५१-६० शशिप्रभाख्याया महिष्याः पुरुषो राजमुखेन पुरोपवनशोभाया वर्णनम् । ६१ राजोऽजितमेनस्य वनविह्वरणयात्राघोषा । ६२ प्रस्थानवांसी ध्वनिर्व्योम व्याप-इति वर्णनम् ।

### ९. नवमः सर्गः

१ वनश्रियं वीक्षितुं चक्रिणोऽजितसेनस्य प्रस्थानम् । २ तामेव श्रियं विक्षितुं रमणीनां प्रस्थानम् । ३-१७ उपवनयात्रावर्णनम् । १८ उपवनप्रवेशवर्णनम् । १९-२६ उपवनविहारस्य पुष्पावचायस्य च वर्णनम् । २७-५७ जलकेलिवर्णनम् । ५८ वस्त्रपरिवर्तनम् । ५९ रवी पश्चिमाचलस्य प्रस्थं समनुसरति सति चक्री परिजनैः सह्राप्रनादिकृत्यं चक्रे-इति वर्णनम् ।

### १०. दशमः सर्गः

१ सूर्यस्यास्तावलसंश्रयः । २ सूर्यस्याप्यम् । ३-६ सायंकालवर्णनम् । ७-१६ अन्धकारवर्णनम् । १७-४० चन्द्रोदयवर्णनम् । ४१-७४ रात्रिक्रीडाया ( मुरतस्य ) वर्णनम् । ७५-७६ वैतालिकमुखेन निशावसानवर्णनम् । ७७-७९ राज्ञः प्रबोधः शय्यात्यागः शयनागारतो निर्गमनं च ।

### ११. एकादशः सर्गः

१-२ राज्ञोऽजितसेनस्य सभाभवनप्रवेशवर्णनम् । ३-६ राज्ञो गजक्रीडावलोकनवर्णनम् । ७-९ गजेन निहतं कंचनमानवमनलोक्य राज्ञो वैगम्यम् । १०-३० विषयगर्हणम् । ३१-३३ तदैव वनपालदुःखाद् गुण-प्रभाभिष्य मुनीन्द्रस्यागमनध्वजं सपरिकरस्य राज्ञो तद्दर्शनार्थं गमनवर्णनं च । ३४-३८ आश्रमावलोकनं नानामुनीनां दर्शनं च । ३९ ४९ राजमुखेन मुनीन्द्रस्तुतिः । ५०-६६ मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः परिचर्चावर्णनम् । ६७ जितशत्रुसंज्ञकाय पुत्राय राज्यं वितोर्य राज्ञो जिनदीक्षाग्रहणम् । ६८-७२ तत्पश्चरणवर्णनम् । ७३ राजोऽङ्गुलेन्द्रपदावातिः । ७४ ततश्च्युत्वात्र रत्नसंचयपुरे सुवर्णमालाकनकप्रभयोः पुत्रः पद्मनाभो जातोऽसि-इति प्रतिपादनम् । ७५-७६ स्वजन्मान्तराणि समाकर्ण्य तत्र सविहानं पद्मनाभस्तत्प्रत्ययार्थं श्रीधरमुनिं पुनः पप्रच्छेति वर्णनम् । ७७-७८ इतो 'दशमेऽहनि तव नगरे मूर्धं परित्यज्य कश्चिदेको मदान्धगज आयमिष्यति तत्प्रस्थयात् त्वमखिलं मनुकं वचनं निश्चेष्यसि' इति राजानं प्रति मुनेर्हक्तिवर्णनम् । ७९ पद्मनाभस्य निजपुरं प्रति प्रस्थावर्तनम् । ८० तत्पुरे महान् कलकलः । ८१ तत्परिज्ञानाय मृत्युप्रेषणम् । ८२-८४ ततो गजप्रवेशस्य तत्कृतायाः संहारलीलायाश्च वृत्तं परिज्ञाय राजा विषादं भजे मुनिवचनस्य प्रामाण्यं च निश्चित्य

जहर्ष—इति वर्णनम् । ८५-९१ तद्वशीकरणवर्णनम् । ९२ तमारुह्य वने क्रीडाकरणं, ततस्तस्य 'वनकेलिः' इति नामकरणं तत्पदवाच्यं पुरप्रवेशकरणम्—इति कथनम् ।

### १२. द्वादशः सर्गः

१-२४ गजायं राजानं पद्यानाभं प्रति प्रेषितस्य पृथिवीपालदूतस्योक्तिवर्णनम् । २५-४१ दूतं प्रति युवराजोक्तिवर्णनम् । ४२-५४ युवराजं प्रति पृथिवीपालदूतस्य प्रत्युक्तिवर्णनम् । ५५ दूतभाषितैः क्षुभितानि सर्वा राजावारयदिति प्रतिपादनम् । ५६ दूतसत्कृतेरादेशः । ५७-१११ मन्त्रगृहे राज्ञः पुरतो मन्त्रिणां मन्त्रणा ।

### १३. त्रयोदशः सर्गः

१ पृथिवीपालजिगीषया राज्ञः पद्यानाभस्य प्रयाणोपक्रमः । २ राज्ञः सितच्छत्रस्य सुपमा । ३-७ राज्ञो हार-कुण्डल-मुकुट-अङ्गद-रत्नानामरणानां वर्णनम् । ८ तमन्येऽपि भूभुजोऽनुजग्मुरिति वर्णनम् । ९-२३ सेनाज्ञानामश्वदीनां वर्णनम् । २४ गजबधूपु कृताननानामवरोधपुरन्धीणां वर्णना । २५ दर्शनाविनामागमनम् । २६ पुरयोपिता कौतुकम् । २७ तरलवेगसरदवरोधिकापतनम् । २८ करिभयात्पलायत उड्डस्य वर्णना । २९ शकटवृषभाणां करिसूकृतिभिः सन्मार्गाश्रयणाद् वज्रिजां घृतघटानां विघटनम् । ३० वारणभयभयपतन-भग्नदधिपात्राया बलवयोपितो राजमार्गात्प्रत्यावर्तनम् । ३१ वैवाधिकानामाशुगमनवर्णनम् । ३२ नृपबधूजन-यानवर्णनम् । ३३ पुरवीथीपु सेनाया सुपमा । ३४ अद्वमेनावर्णनम् । ३५ प्रस्थानपटहध्वनिवर्णनम् । ३६ रथाकूटस्य पद्यानाभस्य पुरशोभावलोकनम् । ३७ पुरगोपुरतः सैन्यनिर्गमनवर्णनम् । ३७-५२ मार्गे नानामनोरम-पदार्थानामवलोकनवर्णनम् । ५३-६१ मार्गे प्राप्ताया 'जलवाहिनी' इति ख्यातायाः सरितो वर्णनम् । ६२ राजस्तदुत्तरणवर्णनम् ।

### १४. चतुर्दशः सर्गः

१-१८ राज्ञः पद्यानाभस्य मणिकूटाभिषेकवर्तस्यावलोकनम् । १९-४० राज्ञः पुरतः सेनापतिमुखेन तच्छोभावर्णनम् । ४१ तदाकर्ण्य राजा तत्र रन्तुमिषेय । ४२ तत्रानुत्तं पर्यटन् राजा मध्यंदिनवेलायां सेनानिवेशप्रदेशं प्राप्तः । ४३ प्रियाणां कपोलस्थलोपु घर्भोदविन्दूनवलोकयतो राज्ञो वाचाकरोऽपि मध्यंदिन-दिवाकरोऽगमतो अभूव । ४४ वाणिष्विपणिवर्णनम् । ४५ आश्रयस्थानं प्रति यान्तोना सामन्तसन्ततोना वर्णनम् । ४६ पद्यानाभमति विलोक्य पद्मादागतानां जनानां स्वावासभूमेरवगमः । ४७ वेद्यावर्णना । ४८ विलम्बतः समायानां स्थानान्वेषणप्रयासवर्णनम् । ४९ कान्दविक ( हलवाई ) घाम कटकभिर्व्याप्तमिति वर्णनम् । ५० सैलानिलवर्णना । ५१-५३ सेनाया अश्वानां वर्णना । ५४-६२ गजवर्णनम् । ६३-६४ वृषभवर्णनम् । ६५-६६ उड्डवर्णनम् । ६७ रुक्म्यावारवर्णनम् । ( इत्थं ४४-६७ सेनारानिवेशवर्णनम् ) । ६८ तत्र ससैन्यस्य प्रतिद्वन्द्विनः पृथिवीपालनरपतेरभिगमनम् । ६९ रात्रिवर्णनम् । ७० पद्यानाभस्य निजभटैः सह भाविसङ्ग्रामचर्चा । ७१ रात्रिसमाप्तिवर्णनम् ।

### १५. पञ्चदशः सर्गः

१ संनाहपटहध्वनिः । २-५ भटानां संनाहोपक्रमः । ६-१४ कवचादिधारणवर्णनम् । १५-१८ दोनानाथकृतोत्सर्गं पद्यानाभो मणिकङ्कणादिभिः स्वाभरणैः सहयोगिनः सामन्तान् सच्चकार—इतिवर्णनम् । १९-२५ युगुत्सूना राज्ञां सैनिकानां च शस्त्रास्त्रग्रहणस्य रथाद्यारोहणस्य च वर्णनम् । २६ युद्धोद्यतसेना व्यक्तियुक्ता न-इति कथनम् । २७-३० शुभशकुनवर्णनम् । ३१ स राज्ञः पृथिवीपालोऽपि संनह्यामर्षादिभिर्निययो । ३२-३४ अपशकुनवर्णनम् । ३५-६० युद्धवर्णनम् । ६१-६५ पृथिवीपालस्य सेनापतिचन्द्रशेखरो रणपराङ्मुख-

मातृमर्त्यं संघोरयन् सोत्साहं चकार इति वर्णनम् । ६६-७४ चन्द्रशेखरस्य पद्मनाभसेनापतिना भीमेन सह युद्धम् । ७५-९६ सामन्तानां प्रतिद्वन्द्विभिः सामन्तैः सह युद्धम् । ९७-१०५ सुवर्णनाभधर्मपालयोः (पद्मनाभ-पृथिवीपालपुत्रयोः) वायुयुद्धवर्णनम् । १०६-१११ द्वन्द्वयुद्धं सुवर्णनाभो धर्मपालं बन्धोक्त्यै पितुरन्तिकं निनायेति वर्णनम् । ११२-११३ पद्मनाभसामन्तैः पृथिवीपालसामन्ता भग्नमनोरथाः कृताः—इति वर्णनम् । ११४-१२९ पद्मनाभपृथिवीपालयोर्युद्धम् । १३० पद्मनाभस्तत्र पृथिवीपालस्य शिरश्चिच्छेदः—इति वर्णनम् । १३१ शत्रूणां पलायनं रणभूमिसंशोधनं च । १३२ युद्धमूढिन मृतानां दाहसंस्कारः । १३३ शत्रोर्विच्छिन्नं शिरो निरीक्ष्य पद्मनाभस्य वैराग्यम् । १३४-१४४ वैराग्यविचाराः । १४५-१४७ निजतनूजाय सुवर्णनाभाय राज्यभारं वित्तियं पृथिवीपालनन्दनाय च तत्पितुः पदं, पद्मनाभः श्रोत्ररमुनेः सकाशाद्दोषाभादाय श्रमणो बभूव । १४८-१५० पद्मनाभस्य ज्ञानद्विप्रासेस्तपस्वरणस्य च वर्णनम् । १५१-१६० षोडश भावना भावयन् पद्मनाभस्तोयकृष्णामकर्म बबन्ध—इति वर्णनम् । १६१-१६२ स्वतन्त्रं त्यक्त्वा सोऽनुत्तरवैजयन्तं भेजे, तत्र दिव्यं सुखं च लेभे ।

#### १६. षोडशः सर्गः

१-५ पूर्वदेशवर्णनम् । ६-९ चन्द्रपुरीवर्णनम् । १० राजवेदमवर्णनम् । ११-१५ तदधिपतेर्महासेन-नृपतेर्वर्णनम् । १६-२० तन्महिष्या लक्ष्मण्याया वर्णनम् । २१ ता लक्ष्मण्यामवाप्य राजा महायेन आत्मानं नार्वभौमं कल्पयितुम्—इति वर्णनम् । २२ ता प्रति राजोऽनुरक्तेर्वर्णनम् । २३ तदनुकटे प्रभातानु सामन्तानां स्वाच्छन्द्यम् । २४ सचिवमूढात्तच्छ्रुत्वा राजस्तद्विजयस्य विचारः । २५-५२ राजो दिग्विजयवर्णनम् । ५३ राज्ञः स्वपुरीं प्रति प्रत्यागमनम् । ५४ सत्कृत्यनन्तरं राजा विसर्जनम् । ५५ रत्नपट्टिवर्णनम् । ५६ दिक्कुमार्यो लक्ष्मण्याया गर्भशोपनादि कर्मस्य व्यधिपतः—इति वर्णनम् । ५७-६२ देवी षोडशा स्वप्नात् ददर्श—इति वर्णनम् । ६३-६६ राजमूलेन स्वल्पफलवर्णनम् । ६७ तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणा देवी प्रमोद भेजे—इति वर्णनम् । ६८ चन्द्रप्रसव्य गर्भावतरणम् । ६९ गर्भकल्याणमहोत्सवस्य वर्णनम् । ७० श्रोत्रोष्ण्यादिभिर्देवीभिः सेव्यमाना लक्ष्मणा देवी नवमासानु मुखेनैव निन्ये—इति वर्णनम् ।

#### १७. सप्तदशः सर्गः

१ जिनजन्मवर्णनम् । २-३ जिनजन्मसमये ककुभः प्रसेदुः, नभस्तलममलं जातं, सुरभिर्वीर्यवौ, वियतो दिव्यकुसुमवृष्टिर्जाता—इति वर्णनम् । ४-५ कलावासिप्रभृतिदेवानामावासस्थानेषु मणिघण्टिकाश्च स्वयमेव रेणुः—इति वर्णनम् । ६ ज्ञातचन्द्रप्रभजिनजन्मना देवानां चन्द्रपुरीं प्रति प्रस्थानम् । ७ सुरामुराभरणकिरणैः ककुभा शोभाया वर्णनम् । ८ नभसि देवविमानानां मुपमा । ९ अमरालयादानृपतिगैह विस्तृताया देवपङ्क्तेः सौन्दर्यम् । १० सवासवः सुरगणा नृपस्य प्रापः—इति वर्णनम् । ११ जयौ मायाशिशु मातुर्हरति विनिवेश्य सौन्दर्यम् । १२ तमुदोद्य हरेर्हर्षप्रकर्षं समजनि—इति वर्णनम् । १३ सोधमंन्द्रस्तमर्भक-मात्मगजमरोपयन्—इति वर्णनम् । १४ अन्येषाममरपतीनामानमनवर्णनम् । १५ मङ्गलगानपूर्वकं देवीना-प्रसतोऽभिषेकं प्रस्थानम् । १६ देवानां प्रस्थानवेलाया दुन्दुभिनादः । १७ तदवसरे नभस्तले देवनृत्यमजनि—इति वर्णनम् । १८ सुमेरुप्राप्तिवर्णनम् । १९ सुमेरुशिखरस्य पाण्डुकशिलाया सिंहासने जिनार्मकस्य स्थापनम् । २० तदभिषेकवर्णनम् । २१ सोत्सवं तत्कर्णच्छेदनसंस्कारं सुरेश्वरादचक्रुः—इति वर्णनम् । २२ सुरास्वं जिनार्मकं मणिकुण्डलादिभिराभरणैरभूययन्—इति वर्णनम् । २३ तन्नामकरणसंस्कारः । २४ तत्सुतेत्यक्रमः । २५-४० इन्द्रमूलेन जिनार्मकस्तुतिः । ४१ सुमेरुतश्चन्द्रपुरीं प्रति प्रस्थानम् । ४२ जिनार्मकं समर्प्य सुराः सुरेन्द्रादच तत्र महोत्सवं चक्रुः—इति वर्णनम् । ४३-४८ जिनार्मकस्य बालक्रीडाया वर्णनम् । ४९ घनदप्रतिपत्तना तदाभरणानां वर्णनम् । ५० तत्कलावगमनवैशिष्ट्यम् । ५१ तद्विवाहसंस्कारः । ५२ राज्यलाभः तत्प्रशासनं च । ५३-५६ तच्छासने प्रजायाः सुखावस्थितिः । ५७ सामन्तानामानुकूल्यम् । ५८ रजनीमहश्चाष्टधा विभज्य विहितः

कार्यक्रमः । ५९ समये समये सुरबनितानामागमनं ललितपीतनर्तनादिविधानं च । ६० चन्द्रप्रभस्य भोगसुखानुभवणम् । ६१-६४ चन्द्रप्रभस्य पुरतो धर्मवर्धनाम्नो धृतवृद्धविग्रहस्य सुरस्य पूत्कृतिः । ६५ अन्तर्हिते तस्मिन् स क इति सम्पजनानां जिने प्रति जिज्ञासा । ६६ तदुत्तरम् । ६७-७० संसारासारातायाविषन्तणम् । ७१ कृत्स्न-कर्मक्षयस्य निश्चयः । ७२ लौकान्तिकदेवानामागमनम् । ७३ विमलाभिषां शिबिकामाहृत्य चन्द्रप्रभः सकलवर्णनं प्रापत्—इति वर्णनम् । ७४ वरचन्द्राभिषानाय स्वपुत्राय राज्यं वितोर्य स तपोऽग्रहीत्—इति वर्णनम् । ७५ अपाकृतांस्तरकचानमराधिपः क्षीरसमुद्रे निदधे—इति वर्णनम् । ७६ दीक्षाकल्याणमहोत्सवः । ७७ नलिन-पुरपालिनः सोमदत्तस्य गृहे चन्द्रप्रभस्य पारणा । ७८ चतुर्णां कथायाणां नाशनम् । ७९ परीषद्ब्रह्मवर्णनम् । ८० चन्द्रप्रभस्य पार्श्वे संशयनिरासाय नानामुनीनामनुदिनागमनम् । ८१ पुनरपि दीक्षाधनं प्रति गमनम् । ८२ तत्र नागशास्त्रिनस्तत्तलभुवि कैवल्यलाभः । ८३-९१ समवसरणवर्णनम् ।

### १८. अष्टादशः सर्गः

१ गणधरप्रदनाज्जनेश्वरश्चन्द्रप्रभस्तत्त्वं जगद—इति कथनम् । २ सततत्त्वानां नामानि । ३ पुण्य-पापयोर्व्येज्यन्तभावोऽनन्तभावे च सवपदार्थाः—इति प्रतिपादनम् । ४. जीवस्वरूपनिरूपणम् । ५ विवक्षावधा-ज्जीवस्य द्वैविध्यं चातुर्विध्यं च । ६ पृथिवीभेदान्नारकः सप्तधा प्रभियते । ७-८ अधोलोकस्थितानां सप्त-पृथिवीनां नामानि । ९-१० नारकाणामुत्सेधः । ११-१२ नारकाणामायुः । १३-१४ नारकबिलानां संख्या । १५ पापा नरकं प्रयान्ति तत्र दुःखं चानुभवन्ति । १६ नरकगतिवर्णनस्योपसंहारस्तिर्यग्यगतिवर्णनस्योपक्रमश्च । १७ तिर्यग्योनिजानां जीवानां भेदाः । १८-१९ स्यावरजीवानां भेदाः । २०-२१ इन्द्रियापेक्षया जीवाना-मुत्कृष्टावगाहना । २२ इन्द्रियाणां नामानि द्वीन्द्रियादिजीवेषु तद्वृद्धिकमश्च । २३-२४ स्यावरजीवानामायुष-प्रमाणम् । २५-२६ जलजीवानामायुषः प्रमाणम् । २७ तिर्यग्यगतिवर्णनस्योपसंहारो मनुष्यगतिवर्णनस्योप-क्रमश्च । २८ मनुष्याणां भेदा भोगभूमीनां संख्या च । २९ उत्तमादिभेदेन भोगभूमीनां त्रैविध्यमुत्तमायु च भोगभूमिषु नृणामुत्सेधः । ३० भोगभूमिजानामायुः । ३१ भोगभूमिजाः कल्पद्रुमोद्भव फलं भुञ्जते—इति कथनम् । ३२ कर्मभूमिजानां मानवानां भेदाः कर्मभूमीनां संख्या च । ३३ कर्मभूमिजानां मानवा-नामुत्कृष्ट उत्सेधः । ३४ कर्मभूमिजानामायुः, विदेहे वृद्धिह्रासी न—इति कथनम् । ३५ भरतैरावतयो कालकृती वृद्धिह्रासी, कालश्च द्विविधः—इति प्रतिपादनम् । ३६ उत्सर्पिण्या अवसर्पिण्याश्च कालस्य प्रमाणम् । ३७-३८ तयो मुषमामुषमादयो भेदाः । ३९-४१ मुषमामुषमादीनां कालस्य प्रमाणम् । ४२ म्लेच्छानां भेदाः । ४३ आर्याणां भेदाः । ४४-४६ गुणस्थानानां नामानि । ४७ मनुष्यगतिवर्णनस्योप-संहारो देवगतिवर्णनस्योपक्रमश्च । ४८ निकायापेक्षया देवानां चातुर्विध्यं तत्र च भवनवासिना दशविधस्त्वम् । ४९ व्यन्तरा अष्टधा । ५० वैमानिकदेवानां भेदाः । ५१ कल्पातीतदेवानां वर्णनम् । ५२ भवनवासिना देवा-नामवगाहना । ५३ व्यन्तरज्योतिषसौमर्षानदेवानामुत्सेधः । ५४-५८ अन्येषां सुमनसा ( वैमानिकानां ) कायोच्छ्वायः । ५९-६५ देवानामायुःप्रमाणम् । ६६ जीवनिरूपणया उपसंहारोऽजीववर्णनाया उपक्रमश्च । ६७ अजीवद्रव्यस्य पञ्चविधत्वम् । ६८ षष्ठस्य जीवद्रव्यस्य पञ्चास्तिकायना च प्रतिपादनम् । ६९-७० धर्म-द्रव्यस्य स्वरूपनिरूपणम् । ७१ अधर्मद्रव्यस्य स्वरूपम् । ७२ आकाशद्रव्यस्य निरूपणम् । ७३ धर्मादिद्रव्याणां प्रदेशसंख्या । ७४ कालद्रव्यस्य लक्षणमुपकारश्च । ७५-७७ दिनकरादीनां क्रियां विहायापरः कालो नास्तीति पूर्वशस्तदुत्तरपक्षश्च । ७८ पुद्गलस्य स्वरूपनिरूपणमनुसूक्त्यविवक्षया द्वैविध्यं च । ७९ स्थूल-सूक्ष्मादिभेदतः पुद्गलानां बहुविधत्वम् । ८० पुद्गलद्रव्यस्योपकारः । ८१ पुद्गलवर्णनस्योपसंहार आश्रयतत्त्व-स्योपक्रमश्च । ८२ आश्रयस्य स्वरूपम् । ८३ आश्रयस्य भेदो तत्त्वामिनी च । ८४ ज्ञानदर्शनावरणयोराश्रय-हेतवः । ८५ असातवेदनीयस्याश्रयहेतवः । ८६ सातवेदराश्रयहेतवः । ८७ दर्शनमोहनीयस्याश्रयहेतवः । ८८ चारित्रमोहनीयस्याश्रयहेतवः । ८९ नाराकामुपस्तिर्यगायुषश्चाश्रयहेतवः । ९० मनुष्यायुषो देवायुषश्चा-

स्वहेतवः । ९१ शुभस्याशुभस्य च नामकर्मण आलवहेतवः । ९२ तीर्थकुन्नामकर्मणो नीचगोत्रस्य चालव-  
हेतवः । ९३ अन्तरायकर्मण आलवहेतवः । ९४ आलवस्योपसंहारो बन्धस्योपक्रमश्च । ९५ बन्धहेतवः ।  
९६ बन्धस्वरूपम् । ९७ बन्धस्य भेदाः । ९८ मूलप्रकृतयः । ९९ मूलप्रकृतीनां भेदाः । १०० ज्ञान-दर्शना-  
वरण-वेदनीयान्तरायाणां परा स्थितिः । १०१ मोहनीयनामोत्राद्यु-कर्मणा परा स्थितिः । १०२ अष्टकर्म-  
णामपरा स्थितिः । १०३ अनुभावबन्धस्य स्वरूपम् । १०४ प्रदेशबन्धस्य स्वरूपम् । १०५ बन्धस्योपसंहारः  
संवरस्योपक्रमश्च । १०६ संवरस्य स्वरूपं व्युत्पत्तिश्च । १०७ संवरहेतवः । १०८ संवरस्योपसंहारो निर्ज-  
राया उपक्रमश्च । १०९-११० निर्जरायाः स्वरूपं भेदौ तत्स्वरूपं च । १११ निर्जराया कारणं तपो बाह्या-  
भ्यन्तरविवक्षया द्विविधं तदुत्तरभेदापेक्षया च द्वादशविधम् । ११२ बाह्यतपसः षड्भेदाः । ११३ आभ्यन्तर-  
तपसः षड्भेदाः । ११४ स्वाध्यायादीना व्यक्तत्वात् केवलं ध्यानवर्णनस्योपक्रमः । ११५ ध्यानस्य चत्वारो  
भेदाः । ११६-११७ आर्त्तध्यानस्य चत्वारो भेदाः । ११८ रौद्रध्यानस्य चतुर्विधत्वम् । ११९ धर्म्यध्यानस्य  
चत्वारो भेदाः । १२०-१२१ शुक्लध्यानस्य चत्वारो भेदाः । १२२ निर्जरावर्णनस्योपसंहारो मोक्षतत्त्ववर्णनस्यो-  
पक्रमश्च । १२३ मोक्षस्य स्वरूपमुपायः स्वामी च । १२४ रत्नत्रयस्य स्वरूपम् । १२५-१२७ एकाङ्गविकल  
रत्नत्रय भेदजमिव कार्यकारि न । १२८-१२९ मुक्तिं प्रति रत्नत्रयस्य हेतुत्वोपपादनम् । १३० क्षीणकर्मा  
जीवोऽग्निज्वालाकलापवत् स्वभावत ऊर्ध्वं प्रयाति । १३१ मुक्तजीवस्य लोकाप्रावस्थाने हेतुः । १३२ भगवत-  
ऽचन्द्रप्रभस्य विहारः । १३३-१४४ भगवतऽचन्द्रप्रभस्यातिशयानां वर्णनम् । १४५ प्रातिहार्याणां निरूपणम् ।  
१४६ भगवतः समवसरणे गणधराणां पूर्वधारिणा च संख्या । १४७ उपाध्यायानामवधिशानिना च संख्या ।  
१४८ केवलज्ञानिना विक्रियद्विमुपेयुषा च संख्या । १४९ मनःपर्ययज्ञानिना वादिना च संख्या । १५० आधि-  
काणा संख्या । १५१ श्रावकाणां श्राविकाणां च संख्या । १५२ भगवान् समेदगौलशालरं समाससाद—इति  
वर्णनम् । १५३ भगवतो मुक्तिः । १५४ अन्तिममस्कारो मोक्षकल्याणकमहोत्सवश्च ।

### ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः

१ आचार्यश्रीगुणनन्दिनः परिचयः । २ विबुधगुणनन्दिनः परिचयः । ३ अभयनन्दिनः परिचयः ।  
४ वीरनन्दिनः ( ग्रन्थकर्तुः ) परिचयः । ५ तद्वचितस्य चन्द्रप्रभचरितस्य समुल्लेखः । ६ भगवतश्चन्द्रप्रभस्य  
भवावलि ।





यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबुधः मौधर्मकल्पे तत-  
स्तस्माच्चाजितसेनचक्रभृदभृद्यश्चाव्युतेन्द्रस्ततः ।  
यश्चाजायत पद्मनाभनृपतियो वैजयन्तेश्वरो  
यः स्यात्तीर्थकरः स मत्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः ॥

ॐ

## श्री चोरनन्दि-प्रणीतं चन्द्रप्रभचरितम्

[ १. प्रथमः सर्गः ]

श्रियं क्रियाद्यस्य सुरागमे नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता ।  
सभा बभौ रत्नमयी महोत्पलैः कृतोपहारेव स वोऽग्रजो जिनः ॥१॥  
स पातु यस्य स्फटिकोपलप्रभे प्रभाविनाने विनिमग्नमूर्तिभिः ।  
विदियुने दुग्धपयोधिमध्यगोन्धिमरैर्वः शशिलाञ्छनो जिनः ॥२॥

### चिद्वन्मनोवल्लभा

वन्देऽहं महजानन्दकन्दलीकन्दबन्धुरम् । चन्द्रार्कं चन्द्रसंकाशं चन्द्रनार्थं स्मराहरम् ॥ १ ॥

चन्द्रप्रभाहर्द्दशस्य<sup>१</sup> काव्यं व्याख्यायने मया । विश्वमन्त्रयरूपेण स्पष्टमंस्कृतभाषया ॥ २ ॥

श्रियमित्यादि । यस्य स्वामिन । सुरागमे सुराणामागमस्तस्मिन् । नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता नटता नृत्यता सुरेन्द्राणा देवेन्द्राणा नेत्राणा प्रतिबिम्बैर्लाञ्छिता चिह्निता तथोक्ता । रत्नमयी रत्नस्य [ रत्नाना ]<sup>२</sup> विकारस्तथोक्ता मणिनिर्मिता । सभा समवसरणम् । महोत्पलैः महान्ति च च तान्युत्पलानि च<sup>३</sup> तैर्नीलोत्पलैः । कृतोपहारेव कृता उपहारा यस्याः सा<sup>४</sup> विरचितपुष्पाञ्जलियुक्तेवेत्यर्थः । बभौ रेजे । स<sup>५</sup> अग्रज अये जायत इत्यग्रजः प्रथमकाले जात । जिन दुर्जयकमंटकमारातीन् जयति निर्मलयतीति जिन पुरुषपरमेश्वर । व युष्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना युष्मद षष्ठीबहुवचनस्य वमादेशः । श्रियम् अन्तरङ्गबहिरङ्गसंपत्तिम् । क्रियान् विधेयात्<sup>६</sup> हुकुञ्करणे लिङ् । उपप्रेक्षा ॥ १ ॥ स इत्यादि । यस्य स्वामिन । स्फटिकोपलप्रभे स्फटिकस्यापलस्येव प्रभा यस्य तस्मिन् । उपमा । प्रभाविनाने प्रभाणा काम्नीना विनाने समूहे । विनिमग्नमूर्तिभि विनिमग्जगति स्म विनिमग्नास्ता मूर्तयो येषां तं तथोक्तान्यैः । अमरं

### भावानुवाद

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तुम सबको कल्याण सम्पत्ति प्रदान करें । डम युगमे सबसे पहले अवतरित होनेसे वे अग्रज अर्थात् आदिपुरुष कहे जाते हैं । उन्होने जब केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी तब समस्त इन्द्रोंने उत्सव मनाया था । उन्होने देवोंकी उपस्थितिमे उक्त ऋषभदेवके सामने सभा ( समवसरण ) में नृत्य किया था । सभाकी भूमि चूँकि रत्नजटित थी, अतः वहाँ इन्द्रोंके नेत्रोंकी छाया पड़नेसे ऐसा प्रतीत होता था मानो वह उन ( ऋषभदेव ) के लिए स्वयं नील कमलोंका उपहार भेंट कर रही हो ॥१॥ चन्द्र-चिह्नसे विभूषित अष्टम तीर्थंकर भगवान् चन्द्रप्रभ ( चरितनायक ) तुम सबकी रक्षा करें । उनके देहकी कान्ति स्फटिक

१. आ<sup>०</sup> हंघोरस्य । २. आ स विकारास्त<sup>०</sup> । ३. आ च तथोक्तानि तैर्नी<sup>०</sup> । ४. = कृत उपहारः पूजाविशेषो यस्या सा । ५. = सचराचरे जगति प्रसिद्धः । ६. श स विधीयात् । ७. आ हुकुञ् श स हुकुञ् ।

अनन्तविज्ञानमनन्तवीर्यतामनन्तसौख्यत्वमनन्तदर्शनम् ।

त्रिभक्तिं योऽनन्तचतुष्टयं विभुः स नोऽस्तु शान्तिर्भवदुःखशान्तये ॥३॥

जगज्जन्यास्मरणीयमीश्वरं स्वयंवरीभूतमनश्वरश्रियः ।

निरामयं वीतभयं भवच्छिदं नमामि वीरं नृसुगसुरैः स्तुतम् ॥४॥

देवे । नृगवर्षाधिपध्वनैः नृगस्य पयोधिरुगधपोधि क्षीरसमुद्र तस्य मध्यं गच्छन्ति स्म तथोक्तास्तेऽपि । विदियुते । वृत्ति रीत्यो भावे लिट् । स शशिलाच्छन्नः शश्वेव लाच्छन्न यस्य सः, वण्डलाच्छन्न इत्यर्थः । त्रिनः अष्टमतीर्थकरः । व युगमान् । 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना युगमच्छन्नस्य द्वितीयावहुवचने वमादेशः । पानु रक्षानु । पा रक्षणं लोट् । उपेक्षा ॥ २ ॥ अनन्तविज्ञानमित्यादि । य स्वामी । अनन्तविज्ञान न विद्यतेऽतोऽवमाना(न) यस्य तत् अनन्त च तद्विज्ञानं तथोक्तम् । अनन्तवीर्यताम् अनन्त च तद्वीर्यं चानन्त-वीर्यम् तस्य भावस्त्वाम् । अनन्तसौख्यत्वं सुखमेव सौख्यम् । 'भेषजादि-' इत्यादिना स्वाधिकमष्टधणं अनन्त च तस्योक्त्यं चानन्तसौख्यं तस्य भावस्त्वान् । अनन्तदर्शनम् अनन्त च तद्दर्शनं च तथोक्तम् । इति अनन्तचतुष्टयम् अनन्तानां चतुष्टयं तथोक्तम् । विभक्तिं धरति<sup>१</sup> । उभूजं<sup>२</sup> धारण-गोपणयोर्लट् । स<sup>३</sup> । शान्तिं शान्तिं त्रिनः । त्रिभ स्वामी । न अस्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना युगमदस्मत्पष्ठोबहुवचनस्य नमादेशः । भवदुःखशान्तये भवस्य नश्वरस्य दुःखस्य शान्तये शमननिमित्तम् । अस्तु भूयात् ।<sup>४</sup> ॥ ३ ॥ जगज्जन्यादि । जगज्जन्या जग्रेव जगती<sup>५</sup> तया । अस्मरणीयं ध्यातुमयोग्यम् । ईश्वर स्वामिनम् । अनश्वरश्रियं निर्याश्रियः । स्वयंवरीभूत प्रागवर इदानीं वरो भवति स्म तथोक्तमन्तम् 'कर्मकर्मण्याम्' इत्यादिना विभ । 'क्वो चास्यानवयस्य' इतीकारादेशः । निरामयम् आमयाप्रसंगतो निरामय न व्याधिर्ग्रहितम् । वीतभयम् वीत भय यस्य तत् भयर्हितम् । भवच्छिदम् भव छिनत्तीति भवच्छिदं तं संगमनाशकम् । नृ-सुगसुस्तुतम् नरामरगसुरैः स्तुतम् । वीरम् विशिष्टम् ई लक्ष्मीं रानिं<sup>६</sup> ददानीति वीरं तं वर्धमानस्वामिनम् । नमामि

मणिकी प्रभा जमी धवल थी । अतः चारों ओर बैठे हुए देव उम ( कान्ति ) ने निमग्न होकर ऐसे मुग्धोन्मत्त होते थे मानो वे क्षीरसागरमे डुबकी लगा रहे हों ॥२॥ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस अनन्तचतुष्टयके धारण करनेवाले सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ हम सबके सासारिक दुःखोंका उपशमन करें ॥३॥ मैं ( वीरनन्दी ) चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीरको नमन करता हूँ । वे सर्वथा नीरोग व निर्भय थे । उन्होंने भवपरम्पराको नाश कर दिया था, तथा क्या नर, क्या सुर और क्या अमुर सभी उनके पवित्र गणोंकी प्रशंसा करते थे । उनमें वे सब गुण विद्यमान थे जो मुक्तिके योग्य वरमे आवश्यक होते हैं । इमीलिए अनन्तचतुष्टयादिस्वरूप अविनश्वर लक्ष्मीसे सम्पन्न मुक्ति-श्रीने, स्वयं ही उनका वरण किया था । बेचारी जरा ( वृद्धावस्था ) उनके साथ अपने सम्बन्धके विषयमे उनका स्मरण भी नहीं कर सकती थी । कारण कि उसका तात्पर्य ढल चुका था -

१ टोकाधिनोऽर्थं पाठं प्रतिपुनः न्याः स्मरणीयं इत्येवंविध एव पाठ उपलब्धते । २. आ लेट् । ३. आ इत्यादिना शास्त्राधिक-वत् । ४. आ धरति स्म । ५. आ भूज् । ६. श स लेट् । ७. आ जगति । ८. श स विगृह्य इष्टं गति ।

हितं विसंवाद्बिबर्जितस्थितिं परैरभेद्यं प्रवितीर्णनिवृत्तिम् ।

शरण्यभूतं शरणं जिनागमं गतोऽस्म्यहं भव्यजनैकबान्धवम् ॥१॥

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।

न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥६॥

नोमि । नमः प्रह्वस्ये शब्दे लट् । रूपकम् ॥ ४ ॥ हितमिव्यादि । हितम् उपकारकम् । विगवादिबिबर्जित-  
स्थितिं विसंवादेन विरोधवचनेन विवर्जिता रहिता स्थितिरस्य तम् । 'मर्यादा धारणा स्थिति' इत्यमर ।  
परैः अन्यथादिभिः । अभेद्यं कुहेतुदृष्टान्तरभेद्यम् । प्रवितीर्णनिवृत्तिं प्रवितीर्णां प्रदत्ता निवृत्तिर्भोशो येन तम् ।  
शरण्यभूतं शरण्यमपायमरक्षणोपायो भवति स्म, तथोक्तस्तम् । भव्यजनैकबान्धव रत्नत्रयाविभवेनयोग्या  
भव्या ते च ते जना तेषामेको मुख्यो बान्धवः तम् । जिनागमं जिनेन प्रणीत आगमः तम् । अहं वीरनन्दी ।  
शरण रक्षकम् । 'शरणं गृह्ररक्षत्रो' इत्यमरः । गतः यातः । अस्मि भवामि । अम भुवि लट् ॥ ५ ॥ गुणान्वि-  
तेत्यादि । [ गुणान्विता ] गुणैः तन्तुभिः पक्षे प्रसादमाधुर्यादिभिरन्विता । 'मोक्षप्रदा[या]नपारदन्द्रिय-  
सूक्ष्मत्वादिसध्यादिविद्यादिहरितादिपु गुण' इति नानार्थकोशे । निर्मल-वृत्तमौक्तिका निर्मलान्दोष त्रासादि-  
दोषरहितं वृत्तं पक्षे वस्तुलं येषां ते तथोक्ता मौक्तिका मुक्तिः प्रयोजनं येषां ते मौक्तिका भव्या, पक्षे  
मुक्तामणयः निर्मला वृत्ता मौक्तिका यस्याः सा तथोक्ता । ( निर्मलानि त्रामादिदापरिहृतिनि वृत्तानि वस्तुनानि  
मौक्तिकानि मुक्ताफलानि, पक्षे निर्मलानि यातिभङ्गप्रभृतिदोषशून्यानि वृत्तमौक्तिकानि श्रेष्ठस्व-दानि यस्या  
सा ) हारयष्टिर्वि[र]जं हारयतेव[र्तव्य] । परम् अत्यन्तम् । नरोत्तमैः नरपुत्रैः श्रेष्ठैः । कण्ठ-  
विभूषणीकृता प्रागकण्ठाविभूषणमिदानीं कण्ठाविभूषणं क्रियते स्म तथोक्ता । [ न ] नामीत, संकेतं न धृते-  
त्यर्थः । एनः कर्पाति चेत् । दुर्लभा दुर्लभेन महता कण्ठेन लभ्यते इति दुर्लभा । समन्तभद्रादिभवा समन्ता-  
द्भद्रं कल्याण यस्यासौ समन्तभद्रः, स आदिव्येवा ते समन्तभद्रादयः, तेषु भवा तथोक्ता । भारती च आपा

वह बुद्धिया हो चुकी थी ॥४॥ मेरे लिए जिनागम ही शरण ( रक्षक ) है । मैं उसीकी शरण  
आया हूँ । वह सबको हितकारी है । उसकी स्थिति पूर्वापर विरोधमे रहित है । उसके  
सिद्धान्त दूसरोंके लिए अकाट्य है । वह शान्ति और मुक्ति प्रदान करनेवाला है तथा भव्य-  
जीवोका तो एक मात्र बन्धु है ॥५॥ इस युगमे केवल हार ही नहीं, बल्कि समन्तभद्र आदि  
आचार्योंकी वाणी भी अत्यन्त दुर्लभ है । हार और समन्तभद्र आदि आचार्योंकी वाणीमे  
अद्भुत साम्य है - जिस प्रकार निर्मल गोल मोतियोकी धागेमे पिरोकर हार बनाया जाता है  
और उत्तम पुरुष उसे अपने गलेमे आभूषणके रूपमे पहनते है इसी प्रकार समन्तभद्र आदि  
आचार्योंकी वाणी ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणोसे गुम्फित है, निर्दोष सुन्दर छन्दोमे निबद्ध

१ = ननु च चत्वार एव तीर्थकरा कथमभिष्टुता न सर्वेऽपि, इति चेत्, उच्यतेऽत्र कवेरभि-  
प्रायः - बृहत्कथाप्रवरस्यास्य काव्यस्य विस्तरभयात् । अथबोत्सर्पिणीसमपादितोर्थप्रयत्ननादादिजनम्याभिष्टव्यं,  
प्राग्बृहत्कथानापकत्वादष्टमस्य, निविज्जतः शास्त्रपरिममाप्ते कारणत्वात् शान्ते, वतमानतोर्थत्वाभिवादन्य-  
स्येति । तदापि बोधना नमनाकरणेऽपरोक्षकत्वमिति चेत् सर्वेऽपि नृता भगवताचायेन - वीर विशिष्टा  
ई समवसरणादिलक्षणा लक्ष्मीम् ईरते इति वीरः तीर्थकरसमुदायं न नमामि, यत सर्वेषामपि श्री  
पञ्चकल्याणाभिधा प्रातिहार्यतिशयादिलक्षणा समानैव श्रूयते श्रुते ।

गुणान्गृह्णन् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदक्ष दुर्जनः ।

चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः ॥७॥

गुणान्मथैवोपदिशन्प्रशंसया गुरुत्वबुद्ध्या सुजनो नमस्यते ।

तथैव दोषान्दिशतः प्रणिन्द्या कृतः खलस्यापि मयायमञ्जलिः ॥८॥

सुदुष्करं यन्मनुते गणाधिपोऽप्यवैति वाग्देव्यपि भारमात्मनः ।

विधित्सुरहश्चरितं तदल्पधीध्रुवं न यास्यामि न हास्यतां सताम् ॥९॥

च, नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृतैत्यर्थः । इत्येव ॥ ६ ॥ गुणानित्यादि । सुजनः शोभनो जनः । गुणान् अगृह्णन् गृह्णामीति गृह्णन्, न गृह्णन् [ अगृह्णन् ] तथोक्तं, अस्वीकुर्वन् । निर्वृति संतोषम् । 'निर्वृतिस्तु मनस्तोषे मोक्षे समयवाक्यो' इति विश्वः । न प्रयाति । दुर्जनः निन्दितो जनो दुर्जनः । दोषान् अवदन् वदतीति वदन् न वदन् अवदन् तथोक्तोऽबुधन् निर्वृतिम् । न प्रयाति । चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता चिरं भवविचरन्तनः । 'सायं चिरं प्राङ्मे प्रवेष्टव्यान्' इति तन्त्रः । चिरन्तनश्चासावभ्यासश्च स एव निबन्धनं तेनेरिता प्रेरिता । मतिः बुद्धिः । गुणेषु सम्प्रज्ञानादिसहभाविपरिणामेव । दोषेषु च तद्विपरीतेषु च । च-शब्दः समुच्चयार्थः । जायते उत्पद्यते । जर्ज्व प्रादुर्भावे लट् ॥ ७ ॥ गुणानित्यादि । गुणान् उपदिशन् उपदिशन्नुपदिशन् । 'सल्लङ्' इत्यादिना शानुप्रत्ययः । उपदेशः कुर्वन् । सुजनः मत्स्वरूपः । प्रशंसया स्तुत्या । गुरुत्वबुद्ध्या गुरुत्वस्य महत्त्वस्य बुद्ध्या । यथैव नमस्यते नमस्क्रियते । 'नमो वरिवस्तपमः व्यञ्च' । तथैव दोषान् दिशतः वदतः । खलस्य दुर्जनस्यापि प्रणिन्द्या प्रगर्हया । मया कविना । अयम् एव अञ्जलिं मुकुलितहस्तः । 'नो युनावञ्जलिं पुमान्' इत्यमरः । कृतं क्रियते स्म कृतो विहितः ॥ ८ ॥ सुदुष्करमित्यादि । यन् चरितम् । गणाधिपोऽपि गणानां द्वादशानामधिपोऽपि गणाधिपोऽपि । सुदुष्करं सु मुलु दु ध्वेन महता कष्टेन क्रियत इति तथोक्तम् । मनुते जानाति । वाग्देव्यपि मरस्वत्यपि । आत्मनः स्वस्य । भारम् । अवैति बुध्यते । तत् अहंश्चरितम् अहंश्चरितम् । विधिन्मु विधानुमिच्छ । 'मन्मिन्ना-' इत्यादिना ३-प्रत्ययः । अल्पधीः अन्पाधं यम्य सः, स्तोकबुद्धिरित्यर्थः । ध्रुव निश्चयम् । सता मत्स्वरूपः । 'वा नाकस्य' इत्यादिना कर्णे पठो । हास्यता हास्यस्य भावम् । न यास्यामि न गमिष्यामि । न इति न, अपि तु यास्याम्येव । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत

है और उसे श्रेष्ठ पुरुष कण्ठस्थ करते है ॥६॥ दूसरोसे गुण ग्रहण किये बिना मज्जनको और उनके दोषोका व्याख्यान किये बिना दुर्जनको चेत नही पडती । इसका एक मात्र कारण है अपना-अपना चिरन्तन अभ्यास, जिसमे प्रेरित होकर मानव ( सज्जन और दुर्जन ) की मति गुणों या दोषोको ओर झुकती है ॥७॥ सज्जन दूसरोके सदगुणोकी—उनकी कृतिकी—प्रशंसा करता है और उनके ग्रहण करनेका उपदेश भी देता है, अतः लोग उसे अपना गुरु मानकर नमस्कार करते है । इसी प्रकार दुर्जन दूसरोके दोषोकी—उनकी कृतिकी—निन्दा करता हुआ उनको प्रशंसा करता है, अतः मे उसे भी हाथ जोड़ता हूँ ॥८॥ अरहत भगवान्के जिस चरितको चार ज्ञानके धारी, स्वयं गणधर भगवान् भी कठिन मानते है और जिसे भगवती सरस्वती देवी ( तीर्थंकरकी वाणी ) भी अपना बोझा समझती है, अर्थात् अपरिमित होनेसे जिसका वर्ण, पद व वाक्योंके द्वारा पूर्णतया वर्णन नही किया जा सकता है, उसीको लिखनेके लिए मे मन्द बुद्धि होकर भी प्रवृत्त हुआ हूँ । अतः सत्पुरुषोके सामने परिहास योग्य नही बर्नूंगा, यह कभी नही हो सकता—निश्चित ही उनकी हँसीका भाजन बर्नूंगा ॥ ९ ॥

१. श स 'विहित' नास्ति । २. श स सुदुष्करमिति । ३. श स सन्निपेत्त्यादिना ।

तथापि तस्मिन् गुरुसेतुबाह्विते सुदुष्प्रवेशेऽपि पुराणसागरे ।  
 यथात्मशक्तिं प्रयतोऽस्मि पोतकः पथीव यूथाधिपतिप्रवर्तिते ॥१०॥  
 अथास्ति<sup>१</sup> शृङ्गोल्लिखितामरालयो द्विपूरणद्वीपगतो गभस्तिभिः ।  
 रुज्ज्वलमेघां कलमाप्रपिङ्गलैस्तडिच्छिद्यं व्योमनि पूर्वमन्दरः ॥११॥  
 विभूष्य तत्पूर्वविदेहमात्मन श्रिया स्थितो नाकिनिवाससन्निभः ।  
 समस्ति देशो भुवि मङ्गलावतीत्यभिख्याया यः प्रथितोऽर्थयुक्तया ॥ १२ ॥

॥ १० ॥ तथैत्यादि । तथापि हास्यगमनप्रकारेणापि [ प्रकारेऽपि ] । सुदुष्प्रवेशेऽपि<sup>२</sup> सुदृढं तेन महता कष्टेन प्रवेशनीयेऽपि । गुरुसेतुबाह्विते गुरवो गणधरादयः त एव सेतुस्तेन बाह्विते प्राप्तिने । तस्मिन्<sup>३</sup> पुराणसागरे पुराणमेव सागरं तस्मिन् । यथात्मशक्तिं आत्मनः शक्तिस्तथोक्ता, आत्मशक्तिमन्तन्त्रस्य यथात्मशक्तिः । यूथाधिपतिप्रवर्तिते यूपानामधिपतिगंजाधिप तेन प्रवर्तितं शोधितं<sup>४</sup> तस्मिन् । पथि मार्गे । पोतक इव करिशावक इव । प्रयतः उद्यतः । अस्मि भवामि । उपमा ॥ १० ॥

अथेत्यादि । अथ पुराणप्रवेशानन्तरम् । शृङ्गोल्लिखितामरालयः शृङ्गोल्लिखितं मरुपट्टः मुरालयः स्वर्गो यस्यासीत् तथोक्तः, अत्युन्नतत्वादित्यर्थः । द्विपूरणद्वीपगतः द्वयोः पूरणद्वीपं गच्छति स्म तथोक्तः, द्वितीयद्वीपस्य धातकीखण्डस्य मध्यगत इत्यर्थः । कलमाप्रपिङ्गलैः कलमानां शालीनामशाधि मञ्जर्वः । तानीव पिङ्गलाः सुवर्णवर्णाः ते । गभस्तिभिः किरणैः । अमेघा जलधररहिताम् । व्याप्तान् आकाशे । तटिच्छिद्यं तटितो विद्युतः श्रिया संपत्तिम् । मृजन् मृजतीति मृजन् निर्मोपयन् । पृथमन्दरं पूर्वमन्दरा मेरुः । अस्ति वनतः । असं भुवि लट् ॥११॥ विभूष्येत्यादि । यः विपयः । आत्मनः स्वस्य । श्रिया पृथक्त्वं पुरुषान् श्रयतीति श्रीः, तया सपदा । तत्पूर्वविदेहः तस्य पूर्वमन्दरस्य पूर्व पौरस्य विदेह जनपदम् । विभूष्य विभूषणं पूर्वं पश्चात् किञ्चिदिति, अलङ्कृत्य । स्थितः नाकिनिवासमन्निभः नाकिना देवानां निवासस्य स्वर्गस्य सान्निभः समानः । अर्थयुक्तया अर्थन युक्ता तया, सार्थकया । मङ्गलावतीत्यभिख्याया 'मङ्गलावती' इति अभिख्याया अभिधानेन । भुवि भूमौ । प्रथितः प्रतीतः । देशः विषयः । समस्ति सम्पद्यते । असं भुवि लट् ॥१२॥

यद्यपि मुझे अपने परिहासका पहलेसे ही भान हो गया है, किन्तु फिर भी जैसे सेतु ( पुल ) की सहायतासे समुद्रमें प्रवेश करना सरल हो जाता है, इसी तरह गुरु-परम्पराको कृपासे मुझे पुराण ( उत्तरपुराण, जिसके आधारमें चन्द्रप्रभञ्जरित लिखा गया है ) में प्रवेश करना सरल हो गया है । यह पुराण भी समुद्रमें किसी अशमें कम नहीं है, तो भी गुरुओंकी कृपासे अपनी प्रतिभा शक्तिके अनुसार इसमें प्रवेश करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ । जैसे गजराजके द्वारा बनाये गये मार्गमें उसका बच्चा ( पोतक ) प्रवेश करनेके लिए उद्यत होता है ॥१०॥

अब यहाँसे कथाका प्रारम्भ होता है—दुसरे द्वीपका नाम धातकी खण्ड है । वहाँ पूर्व दिशामें जो मेरु पर्वत अवस्थित है, उसका शिखर स्वर्गको छूनेवाला—बहुत ऊँचा—है । उसका ऊपरी भाग सुनहरे रंगका है, अतः वह पकी धानकी बालों ( मञ्जरी ) के समान पीली किरणोंके द्वारा आकाशमें मेघोंके न रहनेपर भी बिजलीकी छटा दिखलाता है ॥११॥ उसके उस क्षेत्रमें—जिसका नाम पूर्व विदेह है—एक मङ्गलावती नामका देश है । सदा मङ्गलमय रहनेसे वह सार्थक नामवाला है । वह उस विदेहका भूषण है । वह अपनी श्री—विभूति और उत्कृष्ट शोभा—की दृष्टिसे स्वर्गके समान है । इसीलिए वह सारे भूमण्डलमें विख्यात है ॥१२॥

१ अ अथोस्ति । २ स प्रवेशनीयेऽपि । ३ स अस्मिन् । ४ आ लोभितः । ५ आ श स प्रवेशानन्तरे ।

निरन्तरैर्यत्र शुकाङ्गकोमलैः समानसस्याङ्कुरसंचयैश्चिताः ।

जनस्य चेतांसि हरन्ति भूमयो हरिर्मणिज्वातविनिर्मिता इव ॥१३॥

निशाकरांशुप्रकराच्छवारिभिर्विनिद्रनीलोत्पलरश्मिर्गञ्जितैः ।

च्युतैर्निरालम्बतया विहायसो विभाति खण्डैरिव यः सरोवरैः ॥१४॥

निशासु शीतांशुमणिस्थलच्युतैः पयःप्रवाहैः परिपूरितान्तराः ।

बहन्ति यस्मिञ्जलराशियोषितो निदाघकालेष्वपि कूलमुद्रजाः ॥१५॥

निरन्तरैरित्यादि । यत्र यस्या मङ्गलावत्याम् । निरन्तरं अन्तराभिर्गतं, निरवकाशैरित्यर्थः । शुकाङ्गकोमलैः शुकानामङ्गानीषु कोमलैर्मृदुलैः । समानमस्याङ्कुरसंचये समानानां सस्यानाम् अङ्कुराणां संचयैः समूहैः । चिता चीयन्ते स्म चिता, व्याप्ता । भूमय भुव । हरिर्मणिज्वातविनिर्मिता इव हरिता मणीनां मरकत-रत्नाणां प्राप्तेन समूहेन विनिर्मिता । मृष्टा इव । जनस्य लोकस्य । चेतांसि चित्तानि । हरन्ति अपहरन्ति । हृज् हरणे लट् । उपप्रेक्षा ॥१३॥ निशाकरेण्यदि । य देश । निशाकरांशुप्रकराच्छवारिभिः निशाकरस्य चन्द्रस्य अशूना प्रकर समूह इव अच्छाणि निर्मलानि वारीणि जलानि येषां तैः । विनिद्रनीलोत्पलरश्मिर्गञ्जितैः त्रिनिद्राणां विकसितानां नीलोत्पलानाम् उन्दोवराणां रश्मिभिः कान्तिभ्यो रञ्जितैर्विम्बितैः ( नीलवर्णोक्तैः ) । सरोवरं महासरोभिः । निरालम्बतया आलम्बवान् [ आलम्बात् ] निर्गतं निरालम्ब तस्य भावः तया, आधाररहितत्वेनेत्यर्थः । च्युते च्यवन्ते स्म च्युता न, पतित । विहायस गगनस्य । खण्डैरिव शकलैरिव । विभाति विराजते । भा दीप्ति लट् । उपप्रेक्षा ॥१४॥ निशास्वित्यादि । यस्मिन् देशे । निशासु रात्रिषु । शीतांशुमणिस्थलच्युतः शीतांशुमणैः चन्द्रकान्तमणैः स्थलान् प्रदेशान् च्युते पतितः । पयःप्रवाहैः पयसा सलिलानां प्रवाहैः । परिपूरितान्तरा परिपूर्यन्ते स्म परिपूरितम् अन्तरं मध्यप्रदेशो यासां ता । जलराशि-योषित जलराशेः समुद्रस्य योषित स्त्रियो नद्य इत्यर्थः । निदाघकालेष्वपि निदाघाश्च तं कालाश्च निदाघ-काला तेष्वपि, उष्णकालेष्वपि । कूलमुद्रजा कूलम् उद्भूततांति कूलमुद्रजाः । 'कूलादुद्भूतवह' इति श्व, 'खित्यरु -' इत्यादिना अम् [ मम् ] । तटविदारका मरय । बहन्ति बहन्ति । बहं प्रापण

वहाँ धान्यकी खेती प्रचुर मात्रामे होती है । वहाँकी भूमि उपजाऊ है । जब उसमें चारों ओर समान ऊँचाईवाले कोमल, इतने कोमल जितना कि तोतेका शरीर कोमल होता है, धान्यके अंकुर दृष्टिगोचर होते हैं, तब वह ऐसी जान पड़ती है मानो उसमें हरे मणि जड़ दिये गये हो । इसीलिए वह देखनेवालोंके मनको बरबस हर लेती है—देखनेवाले वहाँसे भले ही चले जाँय, किन्तु उनका मन वही रमा रह जाता है ॥१३॥ वहाँ जो बड़े-बड़े सरोवर हैं उनमें चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल जल भरा हुआ है और उसमें नील कमल खिले हुए हैं । उन कमलोंकी नीली प्रभासे सरोवरोंका जल नीला दिख रहा है । अतः वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो आधार न रहनेसे टूटकर गिरे हुए, आकाशके टुकड़े हो ॥१४॥ वहाँ जहाँ-तहाँ जो चन्द्रकान्त मणिमय भवन हैं उनसे रात्रिके समय चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श होते ही जो जलका पूर बहने लगता है उसके प्रभावसे वहाँकी नदियोंके प्रवाह ग्रीष्मकालमें भी अपने दोनो

१. वा स निरालम्बन । २. आ येषा । ३. श ष निदाघकालेष्वपि । ४. वा स मट् । ५. आ बहिः प्रापणे ।

सदायमस्मत्प्रतिपक्षभूतया कृताधिवासो धनधान्यसंपदा ।  
 इतीव यस्मिन् विहिताम्यस्यया न जातु लोको विपदा विलोक्यते ॥१६॥  
 विकासवद्भिः शरदभ्रपाण्डुरैः सितातपत्रैरिव यः प्रसारितैः ।  
 समस्तदेशाधिपनिवृत्तमात्मनो व्यनक्ति लोके स्थलनीरजाकरैः ॥१७॥  
 समुज्ज्वलाभिः कनकादियोनिभिर्विकासिनीभिः खनिभिः समन्ततः ।  
 कृतास्पदा यत्र जनहिहेतुभिर्यथार्थानामा वसुमत्यजायत ॥१८॥  
 शिखावलीलीढघनाघनाध्वमिर्बाहः स्थितैर्नूतनधान्यराशिभिः ।  
 विभान्ति यस्मिन्निगमाः कुतूहलाद्यिषोपयातैः कुलमेदिनीधरैः ॥१९॥

लट् ॥१५॥ सदेत्यादि । यस्मिन् विदेहे<sup>१</sup> । अयम् एव मङ्गलावतीदेश । अस्मत्प्रतिपक्षभूतया अस्माकं प्रतिपक्ष-  
 भूतया विशदभूतया । धनधान्यमपदा धनानां धान्यानां सपदा सपस्या । सदा सर्वस्मिन् काले । कृताधिवासः  
 कृतो विहितो अधिवासः स्थानं यस्यासौ<sup>२</sup> इति एव प्रकारेण । विहिताम्यस्यया विहितया कृतया अभ्यसूयया  
 ईर्ष्येव यद्वा विहिता अभ्यसूयया यथा मा तथोक्ता नया । विपदा विपस्या । लोक जनः । जातु कदाचिदपि ।  
 न विलोक्यते न बीक्ष्यते । लोका<sup>३</sup> दर्शनं कर्मणि लट् ॥१६॥ विकासवद्भिः रश्मिभिर्यथादि । य देश । विकासवद्भिः  
 विकासोऽस्त्येषामिति विकासवन्तः ते विकसनयुक्ता । 'अस्त्यस्मिन्वेति मत्तु' इति मत्तु, 'मान्तोपात्त -'  
 इत्यादिना मस्य व । शरदभ्रपाण्डुरैः शरदि शरत्काले प्रवर्तमानानां नीरजानाम् आकरैः खनिभिः<sup>४</sup> सितातपत्रैरिव  
 मितैः आनपत्रैरिव इवेतच्छत्रैरिव । लोके जगति । आत्मानं स्वस्य । समस्तदेशाधिपतित्वं समस्तानां देशानाम्  
 अधिपतित्वं प्रभुत्वम् । व्यनक्ति व्यक्तीकरोति । अञ्जु गतिक्यवितप्रक्षेप लट् ॥१७॥ समुज्ज्वलाभिरित्यादि ।  
 यत्र देशो । जनहिहेतुभिः जनानाम् ऋद्धीनाम् ऐश्वर्याणां हेतुभिः कारणभूतैः । समुज्ज्वलाभिः प्रकाश-  
 मानाभिः । कनकादियोनिभिः कनकादीनां योनिभिः उत्पत्तिस्थानैः । विकासिनीभिः विकसनशीलाभिः ।  
 खनिभिः आकरैः । समन्ततः परितः कृतास्पदा कृतो विहित आस्पद<sup>५</sup> आश्रयो यस्या सा तथोक्ता । वसुमती  
 वसु द्रव्यम् अस्या अस्तीति वसुमती । यथार्थानामा यथार्थं नाम यस्याः सा यथार्थानामा यथार्थाभिधाना । अजायत  
 जनैश्च प्रादुर्भवैश्च लट् ॥१८॥ शिखेत्यादि । यस्मिन् देशे । शिखावलीलीढघनाघनाध्वमिः शिखानाम् अग्रानाम्  
 आवल्या लोढः सखिलघ्नो घनाघनस्य मेघस्याध्वा मार्गो येषां तं, अन्यदपि इत्यर्थः । 'घनाघनो घनो मेघः'

किनारोंसे टकराते हुए बहा करते हैं ॥१५॥ यहाँके लोगोंके पास सदा मेरी विरोधिनी ( सौत )  
 धन-धान्य-सम्पत्ति निवास करती है । अतः यहाँ मेरी दाल गलना कठिन है । मानो इसी  
 सौतियाडाहके कारण विपत्ति वहाँके किसी मनुष्यकी ओर देखती तक न थी ॥१६॥ वहाँ जो  
 शरत्कालीन मेघके समान धवल स्थलकमल खिले हुए हैं वे खुले हुए, सुभ्रवर्ण छातोके समान  
 दिखते हैं । अतः लगता है कि वह देश उनसे यह व्यक्त कर रहा है कि 'मे सभी देशोंका  
 राजा हूँ' ॥१७॥ वहाँ चारों ओर जो निर्मल, स्वर्ण आदि धातुओंकी उत्पादक एवं लोगोंकी  
 समृद्धिकी कारणभूत खानें फैली हुई थी उनसे वहाँकी वसुमती—भूमि—का वसुमती—धन-  
 वाली—नाम सार्थक हो गया है ॥१८॥ उम देशके निकटवर्ती गाँवोंमें अन्न बहुतायतसे उत्पन्न  
 होता है । उन गाँवोंके बाहर खलिहानोंमें मेघ मार्गको छूनेवाली—अनिशय ऊँची—जो नवीन

१. अ विकासिनीभिः, आ इ विकासिनीभिः । २. [ मङ्गलावतीविषये ] । ३. [ यस्मिन्नसौ ] ।

४. स लोहम् । ५. [ समूहः ] । ६. [ आस्पदम् ] ।



गतैः समान्यसिम्भितैरतरश्रियामनन्यत्र भुवां विदुस्तथा ।  
 निरन्तरोद्यानवितानराजितैर्महागृहैर्ग्रामपुरैर्विभाति यः ॥२०॥  
 वणिक्पथस्तृपितरत्नसंचयं समस्ति तस्मिन्नथ रत्नसंचयम् ।  
 पुरं यद्वालानितमत्तवारणैर्विभाति हर्म्यैश्च समत्तवारणैः ॥२१॥  
 गभीरनादैः प्रतिमानिपातिभिः पयोधरैर्मन्दसमीरणैरितैः ।  
 जलेभ्युद्यैरिष्य संकुलान्तरा विराजते यत्परिखा प्रथीयसी ॥२२॥

इति घनत्रय । बहि रितने बाह्यस्थिते । नूतनवाग्यराशिभिः नूतनाना नवीनाना धान्याना राशिभिः पुञ्जं । कुतूहलात् कौतुकात् । उपयानैः उपगमने । कुलमेदिनोदरे कुलभूषरैरिष्य । निगमा भक्तग्रामा । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उपप्रेक्षा ॥१९॥ गतैरित्यादि । य. देशः । अनन्यत्रभुवाम् अन्यत्र भवन्तीत्यन्यत्रभुवा नाम्न्यत्रभुवोऽनन्यत्रभुव तासाम् अन्यत्र [ 'त्रा ] संभूतानाम् । इतरैरश्रियाम् इतरैतरस्य श्रिय तासाम् अयोग्यमप्यसाम् । दिदृक्षया द्रष्टुं वाञ्छया । 'सन्निधौ—' इत्यादिना उ-प्रत्ययः । समामनि सामीप्यम् । गतै यतोऽग्रे । निरन्तरोद्यानवितानराजितै निरन्तराणा निविडानाम् उद्यानानाम् आरामाणा वितानेन निवहेन राजिते । 'विम्बाराश्वमारकनुवृत्तभेदनुच्छमन्दसमाजेषु वितानम्' इति नानार्थकोशे । महागृहैः [ महान्ति विशालानि गृहाणि भवनानि येषु तैस्तथोक्तैः ] । ग्रामाश्च पुराणि च तैः ग्रामे पत्तनैश्च । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उपप्रेक्षा ॥ २० ॥ वणिक्पथेत्यादि । अथ देशवर्णनानन्तरम् । तस्मिन् देशे । यन् यस्मात्<sup>१</sup> आलायनमत्तवारणैः बन्धसम्भावितान्<sup>२</sup> मत्तवारणा मत्तगजा येषां तैः<sup>३</sup> । समत्तवारणं मत्तवारणं मह वर्तन्त इति समत्तवारणा , तैः, उपधानकलकविशेषयुतैः । 'मत्तवारण-मिच्छन्ति दानविलम्बकटिपे । महाप्रासादवीथीना वरणे चान्युपाश्रये' इति विद्व. । हर्म्यै धनिनिवासैः । विभाति विराजते । वणिक्पथस्तृपितरत्नसंचयं वणिजा पथिषु वणिक्पथेषु । 'नृक्षपू पथ्योऽनृ' इति अत, स्तृपितो रागोऽकृतो रत्नाना मंचयो यस्मिन् तत्तथोक्तम् । रत्नसंचयं नाम [ रत्नसंचयनामकम् ] । पुर पत्तनम् । ममन्ति प्रवर्तते । अस भुवि लट् । पादान्त्ययमकम् ॥२१॥ गभीरनादैरित्यादि । प्रथीयसी प्रकृष्टा पृथ्वी प्रथीयसी, अन्यस्य महती । 'गुणाङ्गादेर्येयमु' इति ईयमु । यत्परिखा यस्य पुरस्य परिखा स्वातिखा । गभीरनादैः गभीरानां नादो येषां तैर्गभीरध्वनिसहितैः । प्रतिमानिपातिभिः प्रतिमा निपातयन्तीत्येवं अश्वकी ढेरियां लगी हुई है वे ऐसी प्रतीत होती है मानो उन गाँवोंकी घोभाके देखनेकी इच्छामे कौतूहलवश कुलाचल ही चले आये हो ॥१९॥ वहाँके निकटवर्ती ग्रामो और नगरोंमे अट्ट सम्पत्ति है, ऐसी सम्पत्ति और कहीं सम्भव नहीं है । वे ग्राम-नगरादि मानो एक दूसरेकी इस सम्पत्तिके देखनेकी इच्छामे ही समीपताको प्राप्त हुए हैं । थोड़े-थोड़े अन्तरसे लगे हुए बाग-बगीचोंके समूहों और बड़े-बड़े महलोंसे उन ग्रामो और नगरोंकी शोभा देखते ही बनती है ॥२०॥ अब यहाँसे नगरका वर्णन प्रारम्भ होता है—उस देशमे एक रत्न संचय नामका नगर है । उस नगरके बाजारोंमे रत्नोंकी ढेरियां लगायी जाती है । इससे उसका 'रत्नसंचय' यह सार्थक नाम ही समझना चाहिए । वह पुर खम्भेसे बंधे हुए मत्तवारणो—हाथियों—और मत्तवारण सहित—छउजेवाले—बड़े-बड़े भवनोसे मुशोभित है ॥२१॥ मेघो और हाथियोंमें बड़ी समानता पाई जाती है । दोनोंका गर्जन एक-जैसा गम्भीर होता है । दोनोंकी विशाल छाया दृष्टिगोचर होती है । दोनों ही मन्दवायुसे प्रभावित होते हैं — मेघ उसी दिशाकी ओर जाते हैं, जिधर

१ श स याते । २ रॉपसर । ३ [ यत् पुर ] । ४ आ बन्धासम्भावितान् । ५. [ बन्धसम्भावितान् ] तै मत्तवारणा मत्तगजा, तैः । ६ श स राशितो । ७. [ अतिशयेन पृथ्वी पृथीयसी ] । ८. आ श स ईयम् ।

परीतशृङ्गः स्फुरदंशुजालकैर्निशासु नक्षत्रगणैः समन्ततः ।  
 विभाति यस्मिन् परिधिः स्थिरप्रभैरिष्य प्रदीपप्रकरैः प्रबोधितैः ॥२३॥  
 मलीमसं भृङ्गनिभेन लक्ष्मणा विलोक्यते यत्र घनाध्वमध्वगम् ।  
 गृहैरिवाभ्रंलिहृष्टशृङ्गकोटिभिर्निघृष्टदेहच्छ्रवि चन्द्रमण्डलम् ॥२४॥  
 मदाभमम्भो विस्मृजद्भिरुल्लसत्तडिल्लतालंकरणैरधोगतैः ।  
 शरीरिणां गोपुरशृङ्गवर्तिनां चितन्यते यत्र गजभ्रमो घनैः ॥२५॥

शीलाः तैः प्रतिबिम्बप्रदानशीलैः । मन्दसमीरणैरितैः मन्देन समीरणेन वायुना ईरितैः प्रेरितैः । पयोधरैः मेघैः । श्योमगतैरिति शेषः । जलेभ्युपैः जलगजानां समूहे । संकुलान्तरेव संकुलं संघटितमन्तरं मध्यं यस्याः सेवः । विराजते विभाति । राज्ञ् दीप्तो लट् ॥ २२ ॥ परीतशृङ्गः इत्यादि । यस्मिन् पुरे । निशासु रात्रिषु । प्रबोधितैः प्रदीपितैः । स्थिरप्रभैः स्थिरा निश्चलाः प्रभाः कान्तयो येषां तैः । प्रदीपप्रकरैः प्रदीपानां प्रकरैः समूहैरिव । समन्ततः समन्तात् ममन्ततः सर्वतः । स्फुरदंशुजालकैः स्फुरत्प्रज्वलदंशूनां किरणानां जालं समूहो येषां तैः । नक्षत्रगणैः नक्षत्राणां गणैर्निबहैः । परीतशृङ्गः परीतानि परिवेष्टितानि शृङ्गाणि शिखराणि यस्य स । परिधिः प्राकारः । विभाति विराजते । उत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥ मलीमसमिथ्यादि<sup>१</sup> । यत्र पुरे । भृङ्गनिभेन भृङ्गस्य भ्रमरस्य निभेन समानेन । उग्रमा । लक्ष्मणा चित्तेन । मलीमसम् मलम्<sup>२</sup> स्यात्सीति मलीमसम् । 'मलादीमसद्व' इति ईमसः प्रत्ययः । 'मलीमनं तु मलिनम्' इत्यमरः । घनाध्वमध्वगम् घनाध्वन आकाशस्य मध्यं गच्छतीति मध्यगम् । 'गम' खल्लुङ्गाः<sup>३</sup> इति ड-प्रत्ययः । चन्द्रमण्डलं चन्द्रस्य<sup>४</sup> मण्डलं बिम्बम् । अभ्रंलिहृष्टशृङ्गकोटिभिः अभ्रं लिहन्तीत्यभ्रंलिहानि तानि च तानि शृङ्गाणि च तथोक्तानि तेषां कोटयोऽग्रभागा येषां तैः । 'बृहाभ्रान्लिहः' इति श्वः । 'खित्यश्च' इत्यादिना ममागमः । गृहैः मन्दिरैः । निघृष्टदेहच्छ्रवि निघृष्टा घृष्टा देहस्य छवि कान्तिर्यस्य तत्, तदिव । विलोक्यते लक्ष्यते । लोहृज् दर्शने लट् । उत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥ मदाभममिथ्यादि । यत्र पुरे । मदाभं मदजलाम् । अम्भ सलिलम् । विस्मृजद्भिः विस्मृजद्भिः । उल्लसत्तडिल्लतालङ्कणैः उल्लसन्त्यो विभान्त्य तडिता लता एवालङ्कणं येषां तैः । अधोगतैः अधोयातैः । घनैः वारिवाहैः । गोपुरशृङ्गवर्तिनां गोपुरस्य पुरद्वारस्य शृङ्गे शिखरे वर्तिनां

उसका रख हो और हाथी उसीकी चाल ( मन्दगति ) से चलते है । अतएव मेघोंकी छाया पड़नेसे उस नगरकी विशाल परिखा ( खाई ) ऐसी जान पड़ती है मानो उसके बीचमें जल-गजोंका झुण्ड इकट्ठा हो गया हो ॥२२॥ उस नगरके चारों ओर विशाल परकोटा है । उसके उन्नत शिखरोंपर रात्रिके समय जब चारो ओरसे चमचमाते हुए नक्षत्र दृष्टिगोचर होते है तब ऐसा मालूम पड़ता है मानो वहाँ ( शिखरोंपर ) स्थिर प्रभाकी धारण करनेवाले दीपक जलाकर रख दिये गये हो । इस अवसरपर उस ( परकोटे ) की छवि देखते ही बनती है ॥२३॥ उस नगरमें रात्रिके समय आकाशके बीचसे जाते हुए चन्द्रमण्डलके भ्रमरके समान काले चित्-को देखकर ऐसा भान होता था कि मानो वहाँके गगनचुम्बी शिखरोंके अग्रभागवाले भवनोसे उसके शरीरकी कान्ति घिस गई है ॥२४॥ मेघों और हाथियोंमें अनेक दृष्टियोंसे बड़ी समानता है । मेघ मदजलके समान सुगन्धित जल बरसाते हैं व कौघती हुई बिजलीके आभूषणसे भूषित रहते हैं और हाथी भी सुगन्धित मदजल बरसाते हैं एवं बिजली सरीखे चमचमाते हुए सोनेके

१. म परीतशृङ्गः । २. अ 'युग्मं' इत्युपलभ्यते । ३. श स मलीमस इत्यादि । ४ [मलोऽस्या०] । ५. श स 'गमः -' इत्यादि नास्ति । ६. आ 'चन्द्रस्य' नास्ति । ७. आ विस्पृष्टा । ८. आ लोहृ दर्शने । ९. श स विसृजद्भिः ।

सुगन्धिनिःश्वासमरुन्मनोहरं मनोभुवापाण्डुनि कामिनीमुखे ।

समापतन् राहुरिवेन्दुशङ्कया विलोक्यते यत्र मधुघ्नतम्रजः ॥२६॥

निपातयन्ती तरले विलोचने सजीवचित्रासु निवासमिच्छिपु ।

नवा धूर्यत्र जनाभिश्ङ्कया न गाढमालिङ्गति जीवितेश्वरम् ॥२७॥

शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभूमिकान् पतत्पयः सौधचयाद् विधूद्गमै ।

शिखण्डिनां यत्र पयोदशङ्किनां तनोत्यकाण्डेऽपि विकसितारण्डवम् ॥२८॥

वर्तनशालानाम् । शरीरिणा शरीरमस्वेवामिनि शरीरिणस्तेषां प्राणिनाम् । गजभ्रमः गजा इति भ्रमः ।  
वित्तयते विस्तारयते । तनु विस्तारं कर्मणि लट् । आन्तिमान् ॥ २५ ॥ सुगन्धीत्यादि । यत्र पुरे । सुगन्धि-  
निश्वासमरुन्मनोहरं सु शोभनो गन्धो यस्य [ स ] सुगन्धिः, 'सूतपूतिमुरमेगन्धादिद् गुणै' इति इत्, स  
चासौ निश्वासश्च तस्य ससद् वायु तेन मनोहर तस्मिन् । मनोभूवा पाण्डुनि<sup>३</sup> मनोभवेन मन्मथेन मन्मथ-  
क्रीडयेत्यर्थं आपाण्डुनि ईषच्छब्दे । कामिनीमुखे कामिनीनां वनितायां मुखे । मधुघ्नतम्रजः मधुघ्नताना  
भ्रमराणां तम्रजः समूहः । इन्दुशङ्कया इन्दुरिति चन्द्र इति शङ्कया सदेहेन । समापतन् समागच्छन् । राहुरिव  
राहुग्रह इव । विलोक्यते वीक्ष्यते । लोक्तुं दर्शने कर्मणि लट् । आन्तिमरप्रेक्षा च<sup>४</sup> ॥ २६ ॥ निपात-  
यन्तीत्यादि । यत्र पुरे । सजीवचित्रासु जीवचित्रैः सह वर्तन्त इति तयोक्ताः ताम् भावचित्रमहितासु ।  
निवासमिति प् निवासस्य गृहस्य भित्तिं कुड्येषु । तरले चञ्चले । विलोचने नयने । निपातयन्ती व्यापार-  
यन्ती । नवा नवोढा । नधू नारो । जनाभिश्ङ्कया जना वर्तन्त इत्यभिश्ङ्कया सदेहेन । जीवितेश्वरं  
प्राणकान्तम्<sup>५</sup> । गाढम् दृढम् । न आलिङ्गति आलिङ्गनं न करोति । लिङ्गु मनो लट् ॥ २७ ॥  
शशाङ्केत्यादि । यत्र पुरे । विधूद्गमै विधोश्चन्द्रस्योद्गम उदय तस्मिन् । शशाङ्ककान्ताश्ममयो-  
र्ध्वभूमिकात् शशाङ्ककान्तश्चासावदमा च शशाङ्ककान्ताश्मा चन्द्रकान्तशिखा नस्य विकारा  
शशाङ्ककान्ताश्ममया<sup>६</sup>, ऊर्ध्वं चासौ भूमिश्च तयोक्ता शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभूमिर्यथा तस्मात् । सौधचयान्  
सौधानां चय तस्मात् । पतत्पयः खवदुरकम् । अकाण्डेऽपि अकालेऽपि । 'काण्डोऽत्रो दण्डाणां बलवर्गावमर-  
वारिण्यु' इत्यमरः । पयोदशङ्किना पयोदो मेघ इति शङ्किना शिखण्डिना शिखण्डो-  
ऽस्येषामिति शिखण्डिनः तेषां मयुगणाम् । विकसितारण्डवम्, विकसित मनोहरं<sup>७</sup> तारण्डव तर्जनम् । तनोति

आभूषणं पहनते है । फलन उस नगरके प्रमुख द्वारके शिखरपर जो भी मनुष्य पहुँचने हे,  
उन्हें नीचे घुमडने हुए मेघोंमें हाथियोंका भ्रम हो जाता है ॥२५॥ वहाँ अत्यन्त सुन्दर स्त्रियाँ  
निवास करती है । उनके गोरे मुखमण्डलको कामदेवने और भी अधिक गोरा कर दिया है ।  
उनके श्वासवायुमें मनको हरनेवाली सुगन्धि निकलती है । फलत उनके मुखमण्डलपर जो  
भीरोंका झुण्ड गिरता है, उसे देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो वह उनके उस मुखमण्डलको  
पूर्णमासीका चन्द्रमण्डल समझकर ही उसपर गिर रहा है ॥२६॥ वहाँकी चित्रकला और महलों-  
की सजावट दर्शनीय है । उन महलोंकी दीवालोंपर जो मनुष्य आदि प्राणियोंके अनेक चित्र  
बने हुए है वे सब-के-सब सजीव जान पड़ते है । ऐसी अवस्थामे पहली बार आई हुई बहू  
उन्हें अपनी चंचल दृष्टिसे देखकर वहाँ अन्य लोगोंकी उपस्थितिके भ्रममें पड़ जाती है अत एव  
वह अपने पतिके साथ गाढ आलिंगन नहीं करती ॥ २७ ॥ वहाँके महल बहुत ऊँचे हैं । उनकी  
छतों पर चन्द्रकान्तमणि जड़े हुए है । अतः चन्द्रोदय होते ही उनसे पानी धरने लगता है ।

१. अ आ इ विकसि । २. = अत्र मुख-चन्द्रयोः कास्तिमत्तया समानत्वेऽपि सुगन्धित्वेन कामिनीमुखे  
विशेष इति भावः । ३. वा स मनोभूवापाण्डुर । ४. आ 'च' नास्ति । ५. प्राणनाथम् । ६. अ श्ममयी ।  
७. [ विकसि प्राक्कुलवर्ह ] ।

निशागमे सौधशिरोधरोहिणो वधूजनस्यामलगण्डमण्डलात् ।  
 अभिन्नदेशो विधुराननाम्बुजाद् विभज्यते यत्र कलङ्कुरेखया ॥२६॥  
 समुल्लसद्भिः शरदध्रपाण्डुभिर्ध्वजांशुकैर्यद्विनिवारितातपैः ।  
 गृहाग्रभागोल्लिखितस्य निर्मलैर्विभाति निर्मोकलवैरिवोष्णगोः ॥३०॥  
 विशालशालोपवनोपशोभिनः शिरःसमुत्तम्भितमेघपङ्क्तयः ।  
 जिनालयाः सिंहसनाधमूर्तयो विभ्रान्ति यस्मिन् धरणीधरा इव ॥३१॥

विस्तारयति । उपप्रेक्षा ॥ २८ ॥ निशागम इत्यादि । यत्र पुरे । निशागमे निशाया रात्र्या आगमः तस्मिन् । सौधशिरोधरोहिण सौधाना हस्त्याणा शिरोऽग्रभागमधिरोहिण आरोहणशोलस्य । वधूजनस्य वनितालोकस्य अमलगण्डमण्डलात् अमलं गण्डयोर्मण्डल यस्य तस्माद् विशुद्धकपोलतलमुतात् । आननाम्बुजात् वदनकमलात् । रूपकम् । अभिन्नदेशः अभिन्नो देशो यस्य सोऽविभक्तप्रदेशमुक्तः । विधुः चन्द्र । कलङ्कुरेखया कलङ्कस्य लाञ्छनस्य रेखया लेखया । विभज्यते विभिक्षते । भज सेवायां कर्णणि लट् ॥ २९ ॥ समुल्लसद्भिर्विभ्रान्तिरित्यादि । यत् पुरम् । समुल्लसद्भिः समुल्लयन्तीति समुल्लसन्तः । तैर्विराजमानैः । शतुप्रत्ययः । शरदध्रपाण्डुभिः शरदः शरत्कालस्याध्रकमेघवत्पाण्डुभिः शुभ्रैः । विनिवारितातपैः निरुद्धातपैः<sup>१</sup> । ध्वजांशुकैः ध्वजानां पताकानामशुकैर्वस्त्रैः । गृहाग्रभागोल्लिखितस्य गृहाणा सदनानामग्रभागैरुल्लिखितस्य विदारितस्य । उष्णगोः उष्णा तोदणा गावः किरणा यस्य सः, सूर्यस्य । 'स्वर्गेऽप्यनुवाग्वात्रिद्विनेत्रधृणिभूजले । लक्षदृष्टया स्त्रिया पुंसि गौ' इत्यमरः । निर्मलैः शुभ्रैः । निर्मोकलवैरिव कञ्बुकलेजैरिव । विभाति विराजते । भा दोप्ती लट् । उपप्रेक्षा ॥ ३० ॥ विशालेत्यादि । यस्मिन् पुरे । विशालशालोपवनोपशोभिन विशालाभ्यां<sup>२</sup> शालोपवनाभ्यां प्राकाराद्यानाभ्यामुपशोभिनः शोभनशालाः पक्षे शालाश्च तं शालाश्च शालशाला । विशिष्टा शालशाला विशालशाला विशालशालाश्चोपवनानि च विशालशालोपवनानि तैः शोभिनी विशिष्टसज्जवृक्षैः समोपगतवनेश्च विराजमानाः । 'शालो हलौ नृपे मत्स्यप्रभेदे सर्जगादपे । शाल पादपमात्रे स्थाप्राकारे विशुकद्रुमे' । इत्युभयत्रापि विश्वः । शिरःसमुत्तम्भितमेघपङ्क्तयः शिरोभिः शिखरैः समुत्तम्भिता संख्या मेघानां जलधराणां पङ्क्तिर्वैद्या तं तथोक्ताः । सिंहसनाधमूर्तयः सिंह मृगेन्द्रः सनाथा सहिता मूर्तयः प्रतिमाः,

फलतः मयूरीको मेघका भ्रम हो जाता है । इसीलिये वे असमयमे ही—वर्षाका समय न रहने पर भी—अपने पिच्छको फैलाकर नृत्य प्रारम्भ कर देते हैं ॥ २८ ॥ वहाँ को स्त्रियाँ चाँदनीका आनन्द लेनेके लिए रात्रिके समय महलोकी छतपर चली जाती है । वहाँ उनके निर्मल कपोल-मण्डलवाले मुखकमल और चन्द्रमण्डल एक ही प्रदेशमे पहुँच कर—ऊपर आकाशमे स्थित होकर—समान दिखते हैं । तब उस अवस्थामे चन्द्रको पहचान केवल उसके कलककी रेखासे ही हो पाती है ॥ २९ ॥ वहाँके महलोपर शरत्कालीन मेघके समान श्वेत ध्वजाओंके वस्त्र लहरा रहे हैं : वे धूपको रोकते हैं : वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो वहाँके महलोके उन्नत शिखरोंसे घिसकर गिरे हुए सूर्यके स्वच्छ वस्त्रके टुकड़े ही हों ॥ ३० ॥ वहाँके जैन मन्दिर पर्वतोंके समान हैं—मन्दिरोंके चारों ओर विशाल चहार दीवारी खिंची हुई है । उनके आस-पासमे अनेक उपवन हैं । उनमें अनेक प्रकारके वृक्ष लगे हुए हैं । उन ( मन्दिरों ) के शिखरोंपर मेघ विश्राम करते हैं । उनके अन्दर वेदियोंपर ऐसी मूर्तियाँ विराजमान हैं, जिनका चिह्न सिंह है और उनके प्रवेश द्वारके ऊपर भी सिंहोंकी मूर्तियाँ बनी हुई हैं ।

१. [ खदात्तो भ्रान्तिमाश्च ] । २ श स विरुद्धातपैः । आ अक्षदृष्टो । श स लयदृष्टो । ३. श स 'विशालाभ्यां' इत्यतः प्रारम्भ 'तैः शोभिनी' पर्यन्तः संदर्भो नोपलभ्यते । ४. श स शंखकद्रुमे ।

मदेन योगो द्विरक्षेपु केवलं विलोक्यते धातुषु सोपसर्गता ।  
भवन्ति शब्देषु निपातनक्रियाः कुक्षेपु यस्मिन् करपोडनानि च ॥३२॥  
द्विजिह्वा यत्र परं फणाभूतां कुलेषु चिन्तापरता च योगिषु ।  
नितम्बिनीनामुदरेषु केवलं दरिद्रतौष्ठेष्वधरत्वसंभवः ॥३३॥

पक्षे मूर्तिः स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः । 'मूर्तिः काठिन्यापयो' इत्यमरः । जिनालयाः चैत्यालयाः । धरणी-  
धरा इव पर्वता इव । विभान्ति विराजन्ते । इलेपोपमालङ्कारः ॥ ३१ ॥ मदेनेत्यादि । यस्मिन् पुरे ।  
मदेन गर्वेण । 'मदो रेतसि कस्तूरी गर्वे हर्षभदानयो । मयेऽपि मद आख्यातो मुदि कुतकवस्तुनि ।'  
इति विश्वः । योगः संबन्धः । केवलं परम् । द्विरक्षेपु गजेषु विलोक्यते दृश्यते, नाप्यन्तेत्यर्थः । सोपसर्गता  
उपसर्गसहितत्वं, पक्षे प्राद्युपसर्गयुतत्वं क्रियावचनस्यादि (?) 'उपसर्गं स्मृतो रोगे विष्णोपप्लवयोरपि'  
इति विश्वः । धातुषु धातुपाठेषु विलोक्यते । निपातनक्रिया निपातनस्य नान्यनस्य क्रिया कार्यणि, पक्षे  
'लोकप्रसिद्धशब्दस्वरूपोच्चारणं निपातनम्' इति वचनात् तेषां व्यापारः । शब्देषु शब्दशास्त्रेषु भवन्ति ।  
करपोडनानि च करत्वं सिद्धावस्य, पक्षे करयोर्हस्तयोः पोडनानि बाधनानि च । 'बलिहस्तांशत्रः करा'  
इत्यमरः । कुक्षेपु स्तनेषु भवन्ति, नान्यत्र । परिमर्यालङ्कारः ॥ ३२ ॥ द्विजिह्वेनेत्यादि । यत्र पुरे ।  
द्विजिह्वा द्विजिह्वस्य भावः सूचकत्वं, पक्षे मर्गत्यम् । 'द्विजिह्वो सर्पसूचको' इत्यमरः । परं केवलम् ।  
फणाभूता सपिणाम् । कुलेषु समूहेषु, नान्यत्र । चिन्तापरता उद्वेगपरत्वं, पक्षे ध्यानतत्परत्वम् । योगिषु  
मुनोवचरेषु । दरिद्रता दरिद्रत्व, पक्षे अमासलम्बम् । केवलं परम् । नितम्बिनीनाम् वनितानाम् । उदरेषु  
गर्भेषु । अधरत्वसंभवः अधरत्वस्य हीनत्वस्य, पक्षे रदनच्छदत्वस्य गभकोऽस्तित्वम् । 'अधरो दन्तवसन-  
ऽनुध्वं हाने धरोऽप्यवत् ।' इति विश्वः । ओष्ठेषु रदनच्छदेषु सनर्तत, नान्यत्रेति । इवमपि परिमर्या<sup>१</sup>

इसी तरह पर्वत भी बड़े-बड़े सर्ज वृक्षोंके उपवनोस विभूषित है । उनके गिखर मेघोंको विश्राम  
देते है । उनकी गुफाओंमे सिंह निवास करते है । वहाँके जिनालयो और वहाँके पर्वतोंकी शोभा  
एक सी है ॥ ३१ ॥ वहाँ मद-मदजलका सम्बन्ध केवल जवान हाथियोमे ही दृष्टि-गोचर  
होता है; वहाँके निवासियोमे मद—धमण्डका सम्बन्ध नहीं है—वे अहंकारो नहीं है । केवल 'भू'  
आदि धातुओंमे ही 'प्र' आदि बाईम उपसर्गोंका सम्बन्ध देखा जाता है; वहाँके निवासियोके  
ऊपर किसी प्रकारका उपद्रव नहीं होता । केवल शब्द—शब्दशास्त्र व्याकरणमे ही निपातनसे  
सिद्धि होती है; वहाँके निवासियोमे एक दूसरेको गिरानेकी चेष्टा नहीं देखी जाती । केवल स्त्रियो-  
के स्तनोमे ही उनके पतियोंके द्वारा करमर्दन होता है; वहाँके निवासियोको टंकसी बाधा नहीं  
है—इतना टंक नहीं देना पडता, जिससे उन्हे पीड़ा हो ॥ ३२ ॥ केवल सपोंके कुलमे ही दो  
जीमे पाई जाती है; वहाँके निवासियोमे दो जीमे नहीं है—प्रत्यक्षमे एक ओर परोक्षमे दूसरी—  
वे चुगलखोर नहीं है । केवल योगियोमे ही ध्यानकी तत्परता दृष्टिगोचर होती है, वहाँके  
निवासियोंको किसी बातकी चिन्ता नहीं है । केवल स्त्रियोके उदरमे ही कृशता देखी जाती  
है; वहाँके निवासियोमे दरिद्रता—गरीबी नहीं है । केवल स्त्रियोंके नीचेके होठमे ही 'अधर'  
शब्दका प्रयोग होता है; वहाँके निवासियोंमे कोई अधर—नीच नहीं है ॥ ३३ ॥

१. [ द्विरक्षेपमे मदजलेन ] । २. श स अमासत्वम् । ३ [ जठरेषु ] । ४. श स नाप्यन्तेति  
परितर्या ।

विभान्ति यस्मिन् बहुधोज्ज्वलोपलप्रणद्धमितीनि गृहाणि सर्वतः ।  
 निजेषु लीनानि दधत्सु वीप्रतां पतङ्गसंतापमिवेव धामसु ॥३४॥  
 स न प्रदेशोऽस्ति न यो जनाकुलो जनोऽप्यसौ नास्ति न यो धनेश्वरः ।  
 धनं न तद् भोगसमन्वितं न यच्च यच्च भोगोऽपि स यो न संततः ॥३५॥  
 विलुप्तशोभानि विलोचनोत्पलैः सितेतराण्यम्बुहृहाणि योषिताम् ।  
 मरुचलद्वीचिनि यच्च शीतले लुठन्ति तापादिव दीर्घिकाजले ॥३६॥  
 महागुणैरप्यगुणैर्मदोज्ज्वलैरपि प्रवृत्तप्रमदैर्महाजनैः ।  
 अधिष्ठितं यत्प्रविभाति निर्भयैरपि प्रकामं परलोकमीरुभिः ॥३७॥

॥ ३३ ॥ विभान्तोत्यादि । यस्मिन् पुरे । विविधोज्ज्वलोपलप्रणद्धमितीनि विविधैर्नानाप्रकारैरुज्ज्वलै-  
 दिव्यैरुपलै रत्नशिलाभिः । प्रणद्धा निबद्धा भित्तयो येषा तानि । गृहाणि सदनानि । सर्वतः समन्ततः ।  
 दीप्रताम् प्रकाशनशोलताम् । 'नस्कम्प्यजस्कम्पस्मिहिसदीपो र.' इति र-प्रत्ययः । दधत्सु धरत्सु ।  
 निजेषु स्वकीयेषु । धामसु कान्तिषु । 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । पतङ्गसंतापमिवा पतङ्गस्य  
 सूर्यस्य संतापाज्जातया<sup>२</sup> भिया भोत्या<sup>३</sup> । 'पञ्चमो भयादिभिः' इति पञ्चमो । 'पतङ्गो पक्षिसूर्यो च'  
 इत्यमरः । लीनानि स्थगितानोव<sup>४</sup> । विभान्ति विराजन्ते । उत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥ स इत्यादि । यत्र पुरे । यः  
 प्रदेशः । जनाकुलः लोकसंकीर्णः । न-न भवति । स प्रदेशः । न अस्ति न विद्यते । यः जनोऽपि लोको-  
 ऽपि । धनेश्वर इव्यपति । न-न भवति । असौ जनोऽपि । नास्ति न विद्यते । यत् धनम् । भोगसमन्वितं  
 भोगसंयुतम् । न-न संभवति । तत् धनम् । न-न संभवति<sup>५</sup> । यः भोगोऽपि । संततः शाश्वतः ।  
 न-न भवति । स भोगः । न-न विद्यते । एकावत्यलंकारः ॥ ३५ ॥ विलुप्तशोभानीत्यादि । यत्र  
 पुरे । योषिता बनितानाम् । विलोचनोत्पलैः विलोचनानि एव उत्पलानि तैः । विलुप्तशोभानि विलुप्ता  
 अपहृता शोभा येषा तानि तथोक्तानि । सितेतराणि सितस्य<sup>६</sup> इतराणि सितेतराणि । अम्बुहृहाणि अम्बुनि  
 रुहन्तीत्यम्बुहृहाणि, नोलोत्पलानि इत्यर्थः । मरुचलद्वीचिनि मरुता चलन्त्यो वीचयो यस्मिन् तस्मिन् ।  
 शीतले दीर्घिकाजले दीर्घिकाया सरोवरस्य जले । तापादिव सतापादिव । लुठन्ति<sup>७</sup> । लुठि प्रतिघाते  
 लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥ महागुणैरित्यादि । यत् पुग्म् । महागुणैरपि महागुणो गुणा येषा तैः सम्ब-  
 द्धादिगुणयुतैरपि । अगुणैः गुणहीनैः, पक्षे न गुणा अगुणाः तैर्मूर्खैः [मूर्खैः] । 'रूपादौ तन्तुषु  
 ज्यायामप्रधाने नये गुणः' इत्यभिधानात् । मदोज्ज्वलैरपि गर्वरहितैरपि । प्रवृत्तप्रमदैः प्रकृष्टो मद प्रमदो  
 महाहकारः, पक्षे प्रमदः संतोषः, प्रवृत्तो निष्पन्नः प्रमदो येषा तैः । निर्भयैरपि सप्तभयरहितैरपि ।

वहाँके भवनोंकी भित्तियाँ बहुत प्रकारके उज्ज्वल—चमकीले—पाषाणोंसे निर्मित थी । इसलिये वे  
 दिनमें खूब चमकते हैं । उनका तेज इतना अधिक है कि उसमें वे स्वयं दृष्टिगोचर नहीं होते । अतः  
 एव ऐसा जान पड़ता है मानो वे सूर्यकी तेज धूपके भयसे अपने धाम—तेज—में छिप रहे हैं  
 ॥३४॥ वहाँ ऐसा कोई प्रदेश ( मुहल्ला ) नहीं जो मनुष्योंसे व्याप्त न हो; ऐसा कोई मनुष्य भी  
 नहीं, जो धनकुबेर न हो; ऐसा धन भी नहीं, जो भोगमें न आता हो; और ऐसा कोई भोग भी  
 नहीं, जो निरन्तर उपलब्ध न हो ॥३५॥ वहाँकी स्त्रियोंके नेत्र-कमलोंने नील कमलोंकी शोभाको  
 लुप्त कर दिया है—जोत लिया है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस पराजयजनित सन्तापके  
 कारण ही मानो वे दीर्घिकाओं ( जलाशयों ) के भीतर वायुके वेगसे लहराते हुए शीतल जलमें  
 इधर-उधर लोट रहे हैं ॥ ३६ ॥ उस नगरकी शोभा जिन महान् पुरुषोंसे है, वे सम्मगदशन

१. श स प्रकाशशोलता । २. श स 'सन्तापाज्जातया' नास्ति । ३. आ 'भिया' नास्ति । ४. [तिरो-  
 हितानोव] । ५. आ भोगैः समुतं । ६. श न विद्यते । ७. [सितेभ्यः] । ८. = लुठन्ति प्रकम्पन्ते ।

स यत्र दोषः परमेव वेदिकाशिरःशिक्षाशायिनि मातमञ्जने ।  
 पतत्कुले कूजति यत्र ज्ञानने रसं स्वकान्तानुनयस्य कामिनः ॥३८॥  
 अथाभवद् भूमिगुणैरलंकृतो नरेश्वरस्तस्य पुरस्य शसिता ।  
 न केनचिद्यस्तुलितद्युतिस्तथाप्युवाह रुढया कनकप्रभाभिधाम् ॥३९॥  
 यशोभिरेणाङ्गकलासमुज्ज्वलैः पुरः प्रयातैरिव पुरिगान्तरे ।  
 विधूपितारातिकुलानि भूतले न यस्य तेजसि ममुर्महौजसः ॥४०॥

परलोकभोभिः परलोकेभ्यः शत्रुलोकेभ्यः, पक्षे परलोकेभ्यो जगन्मन्त्रेभ्यो भास्विभ्यश्चाकिते महाजनैः सत्पुरुषैः । प्रकाम यवेष्टम् । अधिष्ठितम् आश्रितम् । प्रतिभाति प्रविगच्छते । भा दोषो लट् । विरोधः । ॥ ३७ ॥ स इत्यादि । यत्र पुरे । वेदिकाशिरः शिखाशायिने वेदिकाया शिरसः । पुरोभागस्य शिक्षाया-मन्त्रभागे शायिनि स्वायिनि । मानमञ्जने मानं सर्वं मनवतीति मानमञ्जने तस्मिन् गवां वपदेन । पतत्कुले पतता पक्षिणा कुले समूहे । कूजति छ्वनति सति । कामिनः कामुका । स्वकान्तानुनयस्य स्वेषा कान्ताना प्राणनाथिकानाम् । अनुनयस्य प्रार्थनाया । रसः स्वादम् । यत् यसमाहेतो । न जानते न बुध्यन्ते । ज्ञा अवबोधने लट् । यत्तदन्तिरयसंबन्धादिति गतो हेतुः । स श्रमज्ञातलक्षणो गुणः । परमेव केवलमेव । दोषः स्थाप्यापरो भवेत् । तद्भवतिः तन्नोऽप्याधक ( ? ) इति भावः ॥ ३८ ॥

अथेत्यादि । अथ पुरवर्णनानन्तरम् । यः राजा । केनचित् चेतनाचेतनद्रव्येण । नुनिर्तयति तुल्यता उपमिता श्रुतिः कान्तियस्य सः । न — न भवति । तथापि कनकप्रभाभिषा कनकप्रभ इत्यभिधाम् अभिधानम् । रुढया प्रतीत्या । उवाह दधौ । वह प्रापणे लिटि । भूमिगुणे भूमिर्निबहुलैर्गुणैर्नय-प्रतापार्थम् । अलंकृतं भूषितं । स नरेश्वरः नराणामाधरो नरपतिः । तस्य पुरस्य रत्नमन्त्रचयपुरस्य । शसिता रक्षकः । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लट् ॥ ३९ ॥ यशोभिरेत्यादि । एणाङ्गकलामप्युज्ज्वलैः पण्डुरस्य चन्द्रस्य कला इव समुज्ज्वलैः प्रकाशमानैः । पुरः प्रयातैरिव अग्नेः धावद्भिर्गवः । यशोभिः कामिभिः । पुरिगान्तरे पुरित परिपूर्णम् अन्तरे मध्यं यत्र तस्मिन् । भूतले भूमिप्रदेशे । महौजसः महारागक्रमस्य । यस्य राज्ञः । विधूपि-तारातिकुलानि विधूपितानि सत्पितृनि अगतीना शत्रूणां कुलानि य तानि । तेजसि पराक्रमाः । न ममुः आदि उत्तम गुणोऽसि विभूषितः हे; मुख्यः हे, अरहत या विष्णुके समान गुणो हे; मद रहितः हे; सदा हर्षं मनति हे, निर्भयः हे और कभी किसीसे शत्रुता नहीं रखना चाहते ॥ ३७ ॥ वहाँ यदि कोई दोष है तो केवल यही कि वेदिकाके ऊपरी भागमें सोनेवाले पक्षी, जो अव्यक्त मधुर ध्वनि—कलकल शब्द—करते है उसे सुनते ही मानवती नाथिकोका मान गलित हो जाता है । फलतः उनके साथ अनुनय करनेसे जो रस मिल सकता है, उससे उनके कामक्रोडांके इच्छुक पतिदेव सर्वथा वंचित रह जाते है—उसके अनुभवका उन्हें अवसर प्राप्त हो नहीं होता ॥ ३८ ॥

अब आगे उस पुरके राजाका वर्णन प्रारम्भ होता है । उस नगरका धामक—राजा अनेक गुणोसे विभूषित था । उसके शरीरकी आसाधारण कान्तिके लिए यद्यपि किसी सुवर्णादिकी उपमा नहीं दी जा सकती थी, फिर भी वह रुढिवश कनकप्रभ—सुवर्ण—जैसी कान्तिवाला इस नामकी धारण करता था—उसका नाम कनकप्रभ था ॥ ३९ ॥ वह दृढा बलवान था । उसका यश चन्द्रमाकी कलाओके समान निर्मल था—जो पहलेसे हो पृथ्वीको व्याप्त कर चुका था—उसका पराक्रम प्रसिद्ध हो चुका था । मानो इसीलिए शत्रुओकी सन्तप देनेवाला उसका

१ [ प्रणयिनीनाम् ] । २. आ तद्दर्शनान्तरे । ३. आ वहि प्रापणे लिटि । ४ [ कलाभिः ] । ५. आ प्रभूषितानि स स प्रधापितानि ।

प्रयासमुच्चैःकटकेषु भूभृतां गणेषु संचारवशाद्वाप या ।

बभूव भीतेव ततः पुनश्चिरं स्थिरा जयश्रीरधिगम्य यद्भुजम् ॥४१॥

अचिन्त्यमाहात्म्यगुणो जनाश्रयः स्वविक्रमाक्रान्तसमस्तविष्टपः ।

श्रिया सनाथः पुरुषोत्तमोऽप्यभून्न यो वृषोच्छेदविधायिचेष्टितः ॥४२॥

गरीयसा यस्य परार्थसंपदो निसर्गजत्यागगुणेन निर्जितैः ।

शुचेव कलोपपदैर्महीरुहैर्दधे नितान्तं विमनस्कवृत्तिता ॥४३॥

न प्रमान्ति स्म । मा माने लिट् ॥ ४० ॥ प्रयासमित्यादि । या जयलक्ष्मीः उच्चैःकटकेषु उच्चैर्महत् कटकं सेना, पक्षे सानु येथा तेषु । 'कटकं वलये सानो राजधानीनितम्बयो' इति विश्वः । भूभृता भूपतीनाम्, पक्षे पर्वतानाम् । 'भूभृद् भूमिधरे नृपे' इत्यमरः । गणेषु समवायेषु । श्लेषः । संचारवशात् पर्वतनवशात् । प्रयासं परिश्रमम् । अवाप प्राप । पुनः भूयः । ततः संचारवशतः । भीतेव तस्तेव । जयश्री जयलक्ष्मीः । यद्-भुजम्, यस्य कनकप्रभस्य भुज बाहुम् । अधिगम्य प्राप्य । चिरं दीर्घकालम् । स्थिरा निश्चला । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥ ४१ ॥ अचिन्त्येत्यादि । य भूप । अचिन्त्यमाहात्म्यगुणः अचिन्त्यम् अगण्य<sup>१</sup> माहात्म्यं महिमा, पक्षे व्यपगता(?) तदेव गुणः सहभावपरिणामो यस्य स । जनाश्रयः जनानाम् आश्रयः शरण्य-भूतः, पक्षे जनार्दनत्वात् जगत्सुखहेतुरित्यर्थः । स्वविक्रमाक्रान्तसमस्तविष्टपः स्वस्य विक्रमेण पराक्रमेण, पक्षे विशिष्ट क्रमो विक्रमो विक्रियद्विप्राप्तद्वरण, तेन आक्रान्तं व्याप्त समस्तं विष्टपं लोको यस्य सः । श्रिया मपदा, पक्षे लक्ष्म्या । सनाथ युक्तः । पुरुषोत्तमोऽपि पुरुषेषु उत्तमोऽपि श्रेष्ठोऽपि, विष्णुरपि । वृषोच्छेद-विधायिचेष्टित वृषस्य धर्मस्य, पक्षे वृष इति अष्टिामुस्य [ म्यो ] उच्छेदविधायि नाशकारि चेष्टितं व्यापारो यस्य स । 'श्रेष्ठतामकमोरभेयधर्मराशिभेदपुरुषेषु वृषः' इति नानार्थकोशे । नाभूत् नाभवत् । भू सत्ताया लुट् ॥४२॥ गरीयसेत्यादि । परार्थसंपदः परार्थं परनिमित्तं संपद् यस्य तस्य । यस्य कनकप्रभस्य । गरीयसा प्रहृष्टो गुहर्गरीयान् तेन । 'गुणाद्भावेष्टेयसू' इति ईयमु । 'श्रियस्विर'— इत्यादिना गुह्यशब्दस्य गरा-

प्रताप पृथ्वीतल पर समा नहीं रहा था—ऊपर और नीचे भी चला गया ॥ ४० ॥ बड़ी-बड़ी सेनारै खनेवाले अनेक राजा महाराजाओंके पास बारी-बारीसे जानेके कारण विजयलक्ष्मी बहुत थक चुकी थी । मानो इसीलिए वह कनकप्रभकी भुजाका आश्रय पाकर वही स्थिर होकर बस गई । भूभृत् शब्दका अर्थ राजा और पर्वत तथा कटक शब्दका अर्थ शिखर ( छावनी ) और नितम्ब भाग भी होता है । इससे यहाँ यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि वह विजय लक्ष्मी मानो पर्वतोंके नितम्ब भागमें भटकते रहनेसे चूँकि अत्यन्त थक चुकी थी, इसीलिये वह उस राजाकी प्रबल भुजाको पाकर वही स्थिर हो गई थी ॥ ४१ ॥ विष्णुकी महिमा अचिन्त्य थी । वे मानवमात्रके आश्रयदाता थे । उन्होंने वामनावतारमें तीन कदममें सारी भूमि माप ली थी । वे श्री—लक्ष्मीके पति थे और वे पुरुषोत्तम कहलाते थे । इसी तरह महाराज कनकप्रभकी भी महिमा अचिन्त्य थी । वह शरणागतका रक्षक था । उसका पराक्रम सारे संसार में फैला हुआ था । वह श्री—सम्पत्तिका स्वामी था और पुरुषोंमें उत्तम ( विष्णु ) था । यों वह और विष्णु दोनों समान थे । किन्तु विष्णुने वृष—वृषासुर ( धर्म या बैल ) का उच्छेद—विनाश या वध कर डाला था, जब कि कनकप्रभने वृष—असुर ( धर्म या बैल ) के उच्छेद—विनाश या वधके लिए कभी कोई चेष्टा नहीं की ॥ ४२ ॥ वह बड़ा उदार था । उसकी सारी सम्पत्ति

१. अ परार्थसंपदा । २. आ श्लिष्टः । ३. [ मनोज्ञाचरम् ] । ४. [ महत्त्वगुणः — सर्वव्यापकता ] ।

५. [ येन ] । ६. आ 'विष्णुरपि' नास्ति । ७. [ अतिशयेन ] ।



कलासमग्रोऽपि जनाभिनन्द्यपि श्रियं दधानोऽयमिभूतविष्टपाम् ।  
 प्रदोषसंसर्गितया यमुज्ज्वलं शशाक जेतुं न कुरङ्गलाञ्छनः ॥४४॥  
 कुलं चरित्रेण विशुद्धवृत्तिना यशोमिराशाः शरदभ्रविभ्रमैः ।  
 वपुर्गुरौर्यः श्रवणेन शेमुषीं विशेषयामास जगद्विशेषकः ॥४४॥

देशः । निसर्गजत्यागुणेन निसर्गजेन स्वभावजनितेन त्यागगुणेन वितरणगुणेन । निजितै पराजितै ।  
 कलशोपपदैः कल्प एवोपपद येया ते । महीवहैः वृक्षैः, कल्पवृक्षैरित्यर्थः । शुचेव शोकेनेव । नितान्तम्  
 अत्यन्तम् । विमनस्कवृत्तिता वितृष्टं मनो यस्या सा विमनस्का सा वृत्तिर्येया ते विमनस्कवृत्तयः तेषा  
 भावः तथोक्ता मनोविहीनवर्तनत्वम् । दधे दध्ने । दुधाञ् चरणे च कर्मणि लिट् ॥४३॥ कला-  
 समग्रोऽपीत्यादि । कुरङ्गलाञ्छन, मृगाङ्क, चन्द्रः । कलासमग्रोऽपि कलाभि योदशभागे समग्रोऽपि संपूर्णोऽपि,  
 पक्षे कलाभिः शिल्पादिकोशलैः संपूर्णोऽपि । 'कला स्यान्मूलरैवृद्धौ' शिल्पादाववसात्रके । योदशांशे  
 च चन्द्रस्य कलनाकालयोः कलाः ॥ इति विश्वः । जनाभिनन्द्यपि लोकपोषणशीलोऽपि, पक्षे जगदा-  
 ह्लाद्यपि । अभिभूतविष्टपाम् अभिभूतं तिरस्कृतं विष्टपं यया ताम् । श्रिय शोभाम्, पक्षे संपत्तिम् ।  
 दधानोऽपि क्षत इति दधानः । 'सल्लङ्—' इत्यादिना आनश-प्रत्ययः । प्रदोषमसर्गितया प्रदोषस्य  
 रजनोमुखस्य, पक्षे प्रकृष्टो दोषः । प्रदोष इति ध्वनिः । तस्य संसर्गितया संश्लिष्टत्वेन । उज्ज्वलम् उत्तेजसम् ।  
 यं कनकप्रभम् । जेतुं जयनाय । न शशाक समर्थो न बभूव । शकनू शक्नोति लिट् ॥४४॥ कुलमिम्बादि ।  
 जगद्विशेषकं जगता विशेषको जगत्तिलक इत्यर्थः । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमरः । य. कनक-  
 प्रभः । विशुद्धवृत्तिना विशुद्धया निर्मलरूपया वृत्त्या युक्तेन । चरित्रेण चारित्र्येण । कुलं गोत्रम् । विशेषयामास  
 अलंकारः । शिल्पं विशेषणे निजन्ताल्लिट् तद्योगे 'दयायास्क—' इत्यादिना असंभुजोति धातोर्योगः । शरदभ्र-  
 विभ्रमैः शरदः शरत्कालस्याभ्रस्येव विभ्रमो येया तैः, धुर्नै यशोभिः कीर्तिभिः । आशा दिशाः । विशेषया-  
 मास । गुणैः शक्तिप्रयादिभिः । वपु शरीरम् । विशेषयामास । श्रवणेन शास्त्रेण । 'श्रवणं श्रुतिकर्णयो' इति

दूसरीके लिए थी । उसने अपने सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक दानगुणसे कल्पवृक्षोंको जीत लिया था ।  
 इसी शोकसे मानो उन सबने अतिशय अचेतनाको—पृथिवीकायिकरूपताको—ग्रहण किया था  
 ॥ ४३ ॥ वह समस्त ( ७२ ) कलाओंमें प्रवीण था, प्रजाको आनन्द देता था और उसके  
 पास अपार सम्पत्ति थी यों चन्द्रमा भी समस्त ( १६ ) कलाओंका स्वामी है, लोगोको आह्लाद  
 प्रदान करता है और उत्कृष्ट शोभा व लक्ष्मीको धारण करता है । फिर भी वह चूँकि प्रदोष  
 संसर्गितासे—रात्रिके समागम रूप दोषसे—दूषित है अतः वह कुरङ्गलाञ्छन—मृगले चिह्नसे  
 उपलक्षित ( कलंको ) चन्द्रमा—उस उक्त प्रदोषसंसर्गिता दोषसे—अनेक निष्कृष्ट दोषोंके  
 सम्बन्धरूप कलंक्से रहित उस कनकप्रभको जीतनेके लिए समर्थ नहीं हो सका ॥ ४४ ॥ वह  
 समस्त जगत्का तिलक था । उसने पवित्र चरित्रसे अपने कुलको, धवल यशसे दिशाओंको,

१. अ क ल ग घ शशाकजेतुर्न आ इ शशाक जेतुं न । २. विगत मनो यस्यानो विमनस्कोऽचेतन-  
 स्तस्य वृत्तिव्यापारस्तस्या भावस्ताम्, अचेतनत्वमित्यर्थः । ३. आ मूलरैवृद्धा श स मूलरै वृद्धौ । ४. आ  
 श स कलानां । ५. आ प्रकृष्टदोषः ।

न भूरिदानोऽपि मदेन संगतिं जगाम यः साधितशत्रुघड्गुणः<sup>१</sup> ।  
 'अहीनसंसर्गसमन्वितोऽपि वा द्विजिह्वसंसर्गतया न दूषितः' ॥४६॥  
 निजैः समस्तानामभूय धामभिः समुद्धतान् मण्डलिनोऽतिदुःसहैः<sup>२</sup> ।  
 चकार यो गामपि सर्वविष्टप्रतीतकीर्तिः करिणीं वसुंधराम् ॥४७॥  
 नितान्तवृद्धेन कठोरवृत्तिना सनीतिना कञ्चुकिनेव तेजसा ।  
 निरन्तरं यस्य विभोर्वधूरिव व्यधीयत श्रोत्रपलापि निश्चला ॥४८॥

विश्वः । शेषोऽपि बुद्धि च । विशेषयामास ॥४५॥ नेत्यादि । साधितशत्रुघड्गुणः<sup>१</sup> साधिताः शत्रवः वज्रगुणाश्च येन स 'संचिर्वा विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । वज्रगुणाः' इत्यमरः । यः कनकप्रभः । भूरिदानोऽपि भूरि बहुलं दानं वितरणं यस्य, बहुवितरणोऽपि, पक्षे बहुगर्वयुक्तोऽपि । 'त्यागव्रजमेदशुद्धिपालनच्छेदनेषु दानम्' इति नाना-  
 र्थकोषे । मदेन अहंकारेण । संगति संसर्गम् । न जगाम न गयो । गम्ल् गतौ लिट् । अहीनसंसर्गसमन्वितोऽपि न हीना अहीना, तेषा महतां संसर्गेण संवर्केण समन्वितोऽपि युक्तोऽपि, पक्षे अहीनाम् इतोऽहीन तस्य संपराजस्य-  
 संसर्गमहितोऽपि । द्विजिह्वसंसर्गतया द्विजिह्वस्य दुर्जनेस्य, पक्षे, सर्पस्य संसर्गतया<sup>३</sup> संपर्कयुक्तया [ युक्त-  
 तया ] दूषितः निम्नः । न-न बभूव ॥४६॥ निजैरित्यादि । सर्वविष्टप्रतीतकीर्तिः सर्वेषु विष्टेषु प्रतीता प्रथिता कीर्तिर्यस्य सः । यः कनकप्रभः । अन्यदुःसहैः अन्यैः इतरैः सोढुमशक्यैः । निजैः स्वकीयैः । धामभिः तेजोभिः । 'गृहदेहस्वित्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । समुद्धतान् गर्वितान् । समस्तान् सकलान् । मण्डलिनः मण्डलम् अस्त्येषाम् इति मण्डलिनः भूपालान् । 'स्यान्मण्डलं द्वादशराजके च देशे च बिम्बे च कदम्बके च । कृष्टप्रभेदेज्युपमूर्त्येकं भुजङ्गमेदे शुनि मण्डलं स्यात् ॥' इति विश्वः । अभिमूय तिरस्कृत्य । वसुंधरां वसु-  
 द्रव्यं धरतीं वसुंधरां ता द्रव्यधारिणीं<sup>४</sup> भूमिम् । गाम् अपि गोसंज्ञाम् अपि । करिणीं हस्तिनीं करवती च । चकार विदधौ । हुक्कृ कर्णे लिट् ॥४७॥ नितान्तेत्यादि । विभोः प्रभोः । यस्य कनकप्रभस्य । नितान्त-  
 वृद्धेन नितान्तम् अत्यन्त वृद्धेन वर्षीयसा प्रवृद्धेन च । कठोरवृत्तिना निष्ठुरवर्तनयुक्तेन । सनीतिना नीति-  
 युक्तेन । कञ्चुकिनेव अन्तःपुराधिकारिणैव । तेजसा पराक्रमेण । श्रोः लक्ष्मीः । चपला चञ्चलापि । वधूरिव सोमन्तिनीव । निरन्तरं सदैव । निश्चला स्थिरीभूता । व्यधीयत अक्रियत । हुधाञ् धारणे च कर्मणि लट्

गुणोसे शरीरको और शास्त्र-श्रवणसे बुद्धिको विभूषित किया था ॥ ४५ ॥ वह बड़ा दानी ( हाथी ) था किन्तु उसे तनिक भी मद-धमण्ड ( मदजल ) नहीं था, हो भी कैसे सकता था; क्योंकि उसने काम, क्रोध, हर्ष, मान, लोभ और मद इन छ अन्तरङ्ग शत्रुओंपर पूर्ण विजय पा ली थी । वह उत्तम पुरुषो ( शेषनाग ) से सम्बन्ध रखता था, किन्तु उसे चुगलखोरों व दुर्जनों ( सर्पों ) का संसर्ग दूषित नहीं कर सका था—वह कानका कच्चा नहीं था ॥ ४६ ॥ उसकी कीर्ति सारे संसारमें फैली हुई थी । उसने अपने असह्य तेज व प्रभावेसे उदण्ड मण्ड-  
 लेश्वरोंको जोतकर अपने अधीन कर लिया था । इस प्रकारसे उसने गोको-गायको-भी करिणी-  
 ह्यिनी-बना दिया था, ( विरोधाभास है; उसका परिहार है—) गोको-पृथिवीको-करिणी-  
 करवाली ( राजशासन ग्राह्य भागसे संयुक्त )—बना दिया ॥ ४७ ॥ उसका प्रताप उन्नतिकी चरम सीमापर था, कठोर व्यवहार करनेवाला था तथा कानून उसका साथ दे रहा था । उस ( प्रताप ) ने उस ( कनकप्रभ ) की चञ्चल लक्ष्मीको हमेशाके लिए स्थिर कर दिया था ।

१. टीकानुसृतोऽर्थं पाठः, प्रतिपु वड्गुणः । २. आ इ अदीन । ३. अ आ ( टीकाकृतस्तु समं<sup>१</sup> नोऽप्यदुःसहै' पाठ आसिदिति प्रतीयते ) इ<sup>२</sup> 'नोरिदुःसहैः' । ४. = साधितो वसं नीत शत्रूणा वड्गुणो येन सः । तदुक्तम् — काम, क्रोधवच्च हर्षवच्च मानो लोभस्तथा मदः । अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः शितीशानां भवत्ययम् । ५. वा स त्यागमद गजमद । ६. आ वा स संसर्गितया । ७. आ वा स ता भूमिं द्रव्यधारिणीं ।

धराश्रयः संततभूतिसंगमः शशाङ्ककान्तो धृतनागनायकः ।

अधोभवद्गोपतिरीश्वरोऽपि सन् बभूव यो नासमदृष्टिदूषितः ॥४६॥

यदीयगाम्भोर्यगुणेन निर्मलप्रसिद्धिना लुप्तयशोमहाधनः ।

करोति फूटकारमिवाधुनाप्यसाधुदस्तकल्लोलभुजः पयोनिधिः ॥५०॥

नरेन्द्रविद्याधिगमाद्विशुद्धया विमृश्य कार्याणि विधित्सतो धिया ।

न यस्य निःशेषितशत्रुसंततेरजायताष्टापदवृत्तिर्चोष्टितम् ॥५१॥

॥४८॥ धराश्रय इत्यादि । य कनकप्रभः । धराश्रय. धराया. भूमे आश्रय, पक्षे पर्वत आश्रय स्थानं यस्य सः । संततभूतिसंगम संततम् अनवरतं भूत्या सपदा, पक्षे भस्मना संगमो यस्य स । 'भूतिर्भस्मनि संपदि' इत्यमरः । शशाङ्ककान्त. शशाङ्क इव कान्तो मनोहर, पक्षे शशाङ्केन चन्द्रेण कान्तो मनोहर, चन्द्रोत्वरत्नात् । धृतनागनायकः धृतो नागाना राजाना नायको येन स, पक्षे धृतो नागाना सर्पाणा नायको येन स, सर्पाभरण इत्यर्थः । अधोभवद्गोपतिः अधोभवतो गुवा भूमौना पतयो यस्य स. पक्षे अधोभवन् गोपतिर्वैभो यम्य स । ईश्वर. सन् अपि शकर. सन्नपि भवत्सपि । असमदृष्टिदूषित असमाभि. विषमाभिर्दृष्टिभिर्नैर्दूषितो निर्दिष्ट पक्षघातेन निमित्तः, पक्षे विषमदृष्टिभिस्त्रिनयने निर्दिष्टो न बभूव न भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥४९॥ यदीयेत्यादि । निर्मलप्रसिद्धिना निर्मलेन विमलेन प्रसिद्धिना प्रतीतिना । यदीयगाम्भोर्यगुणेन यदीयेन यन्मबन्धिना गाम्भोर्य-गुणेन । लुप्तयशोमहाधनः लुप्तम् अपहृतं यश एव महाधन यस्य स. । अयो पयोनिधि. समृद्ध । अधुनापि इदानी-मपि । उदस्तकल्लोलभुजः उदस्ता उद्धताः कल्लोला तरङ्गा त एव भुजा बाहवो यस्य स, एवंभूत मन् । फूटकारमिव फूटकारश्चानिमिव । करोति विदधाति । लुकृञ् करणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥ नरेन्द्रेत्यादि । नरेन्द्रविद्याधिगमात् नरेन्द्रस्य रातः विद्यानाम् आन्वीक्षिकीत्रयावात्सर्गदण्डनोत्तानाम् अधिगमात् परजानात् । विशुद्धया निर्मलया । धिया बुद्धया । कार्याणि कृत्यानि । विमृश्य विचार्य । विधित्सत विधातुमिच्छत ।

जैसे एक वृद्ध, कठोर और नीतिकुशल कञ्चुकी अन्त-पुरमे आनेवाली नववधूको उसकी चञ्चलताको दूर कर गम्भीर बना देता है ॥ ४८ ॥ वह सारी पृथ्वीका रक्षक था । उसके यहाँ सदा सम्पत्ति आती रहती थी । वह चन्द्रमाके समान सुन्दर था । उसके पास बड़े-बड़े गजराज थे । उसने समस्त राजों-महाराजोंको अपने अधीन कर लिया था तथा वह सब कुछ करनेके लिए समर्थ था । अतः वह साक्षान् ईश्वर-शङ्कर था; क्योंकि यही विशेषता शङ्करमें भी है—वे कैलास पर्वतका आश्रय लेते हैं—वहीपर निवास करते हैं, भस्म रमाते हैं, मस्तक-पर चन्द्रकला धारण करनेसे बड़े ही सुन्दर लगते हैं—उनके मस्तकपर चन्द्रकला फवती है, सर्पोंके विभूषणसे विभूषित है और वेल-नन्दीपर सवारी करते हैं । इस तरह दोनोंमें इतनी समानता होनेपर भी एक अन्तर था—शङ्कर असम दृष्टि—तीन नेत्रों ( पक्षपात ) से दूषित और विरूप थे, किन्तु वह राजा समदृष्टि-दो नेत्रों ( निष्पक्षता ) से भूषित तथा सुरूप था । अतः वह शङ्करसे कहीं अच्छा था ॥ ४९ ॥ गम्भीरता भी एक गुण है । यह गम्भीरता गुण ( गह-राई ) समुद्रमें सदा हो रहा है और इसीसे उसने बड़ा यश कमाया जो उसका धन है । किन्तु ज्यों-ज्यों राजा कनकप्रभकी गम्भीरताका निर्मल यश पृथिवीके कोने-कोनेमें फैला त्यों-त्यों समुद्रका यश कम होता गया—यहाँ तक कि वह उस राजाके सामने सर्वथा ही लुप्त हो गया । फलतः वह यह सोचकर कि उसके यशोधनका अपहरण कनकप्रभके गम्भीरता गुणने किया

१. अ बभूव भूयो न स दृष्टि । २. [ निर्मला विमला प्रसिद्धिः कृपातिर्यस्य स तेन ] । ३ श श 'उद्धृताः' नास्ति । ४. टीकाकारस्य पुरतः 'फूटकार' पाठ आसीत् ।

रतिप्रदानप्रवणेन कुर्वता विचित्रवर्णक्रमवृत्तिमुज्ज्वलाम् ।

गुणानुरागोपनता कृतायतिः प्रसाधिता येन बधूरिष प्रजा ॥५२॥

अतीतसंख्यः<sup>१</sup> परिरब्धकीर्तिभिः शरत्प्रशानाथमरीचिनिर्मलैः ।

रुक्मसुभिर्दोषचमूमिषाखिलैरकारि यस्मिन् समुदायिता गुणैः ॥५३॥

निःशेषितशत्रुसंततेः निःशेषिता निराकृता शत्रूणां अरीणां संततियेन तस्य । यस्य कनकप्रभस्य । पौरुष सामर्थ्यम् । अष्टापदवृत्ति अष्टापदस्येव वृत्तिर्यस्य तदविचारितवर्तनम् । नाजायत नामवत् । जनैर् प्रादुर्भावे लङ् ॥ ५१ ॥ रतिप्रदानेत्यादि । रतिप्रदानप्रवणेन रत्याः सुरतस्य संतोषस्य च प्रदाने करणे प्रवणेन समर्थेन । उज्ज्वलाम् प्रज्वलाम् । विचित्रवर्णक्रमवृत्तिम्, विचित्रा विविधा वर्णानां जातोना, पक्षेऽद्भुतमकरिका-पञ्चमास्वानुलेपनादोना वा क्रमस्य परिपाट्या वृत्तिं वर्तनं जीवनं वा । 'स्तुतिरूपयशोक्षरखिलेपनद्विजाति-शुक्लादिषु वर्णः' इति नानार्थकोशे । कुर्वता विदधता । येन कनकप्रभेण । गुणानुरागोपनता गुणानाम् अनुगमेण प्रोत्थोपनता वशागता । कृतायतिः कृता आयतिः प्रभुत्वं, पक्षे उन्नतियस्याः सा । 'आयति-दीर्घताया स्यात् प्रभुताऽऽनामिकाशयोः' इत्यभिधानात् । प्रजा जनः । बधूरिष नारीषु प्रसाधिता संतोषिता पक्षेऽलंकृता ॥ ५२ ॥ अतीतेत्यादि । अतीतसंख्यः अतीता अतिक्रान्ता संख्या येषां तैः । परिरब्धकीर्तिभिः<sup>२</sup> परिरब्धा कीर्तियेषा [यै] तैः<sup>३</sup> । शरत्प्रशानाथमरीचिनिर्मलैः शरदः शरत्कालस्य निशानाथस्य चन्द्रस्य मरीचयः कान्तय इव निर्मलैर्विमलैः । अखिलैः सकलैः । गुणैः । दोषचमूं दोषसेनाम् । रुक्मसुभिः । रोद्धुमिच्छुभिः । यस्मिन् कनकप्रभे । समुदायिता समुदाययुक्ता । अकारि व्यधायि । दुःकृज् करणे कर्मणि लुङ् ॥ ५३ ॥ पराक्रमेत्यादि

है, बड़ा दुःखी रहने लगा । आज भी जब उसमें उत्ताल तरंगें उठती हैं और भयानक शब्द होता है तब लगता है मानो वह आज भी अपने कल्लोल-बाहुओंको ऊपर उठाकर करुण क्रन्दन कर रहा है ॥ ५० ॥

उसने राजनीतिके ज्ञानसे तथा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इन चार विद्याओं-के अभ्याससे अपनी बुद्धिको निर्मल बना लिया था । वह जो भी काम करना चाहता था, उसके बारेमें पहले खूब सोच लेता था । फलतः उसके शत्रुओंकी परम्परा सर्वथा निर्मूल हो चुकी थी । इसीलिये उसे कभी अष्टापद ( एक हिंसक पशु-देखिये द्विसंधान २, २० ) के समान प्रवृत्ति-युद्ध-जन्य घोर हिंसा-नहीं करनी पड़ी ॥ ५१ ॥ वह सभीके साथ ऐसा व्यवहार करनेमें कुशल था, जिससे उनकी प्रेमकी भूख मिटती थी और सन्तोष होता था । उसने ब्राह्मण आदि चारों वर्णों-की निर्दोष व्यवस्था की थी । इसीलिए सारी उन्नतिशील प्रजा उसके गुणोंसे उसके पास खिंची चली आती थी । इस तरह उसने अपनी प्रजाको वशमें कर लिया था । जैसे सम्भोगकी कला-में कुशल पति अपनी नववधूको उसके ललाट, कपोल और स्तन आदि अङ्गोंमें रंग-विरंगे नाना प्रकारके चित्र बनाकर अपने सौन्दर्य आदि गुणोंसे आकृष्ट कर उसे अपने वशमे कर लेता है ॥ ५२ ॥ जैसे एक सेना अपनी विरोधिनी सेनाको जीतनेके लिए आपसमें संगठन करती है व योग्य स्थानमें स्थित होकर डटकर प्रतीकार करती है । इसी तरह शरत्कालीन चन्द्रमाके निर्मल और कीर्ति उत्पन्न करनेवाले अगणित गुण मानो दोषोंकी सेनाको रोकनेके लिए उस राजाके भीतर संगठित हुए थे ॥ ५३ ॥

१. अ रतिप्रदाने प्र<sup>०</sup> । २. अ क्रम-वृद्धिम्<sup>०</sup> । ३. आ परिलब्ध<sup>०</sup> । ४. श स 'प्रज्वला' नास्ति । ५. श स अतिक्रान्ताः । ६. श स परिलब्ध<sup>०</sup> । ७. श स परिलब्धा । ८. = परिलब्धा कीर्तियैस्ते तैः ।

पराक्रमाक्रान्तमहोभुजो जगल्लालमलक्ष्मीनिलयीकृतोरसः ।

नृपस्य तस्याथ निशास्तनायिका सुवर्णमालेति बभूव भामिनी ॥३४॥

यदीयमेणाङ्कमरीचिहारिणा विसरिणा कान्तिमयेन वारिणा ।

नितान्तनिर्धौतमिवाविनिन्दितं न जातुचिच्छीलमभून्मलीमरम् ॥३५॥

वहन् स्मरापाण्डुकपोलमण्डले शशाङ्कशङ्कामिव वक्त्रपङ्कजे ।

सद्वासफेनो विचकास यत्तनावनूनलावण्यमयः पयोनिधिः ॥३६॥

भुवः समुद्धर्तुरधिष्ठितात्मनो बलेन सत्यानुरतैकचेतसः ।

बभूव लक्ष्मीः पुरुषोत्तमस्य सा मृगोत्तमा तस्य नृपस्य मन्दिरे ॥३७॥

अथ नरपतिवर्णनानन्तरम् । पराक्रमाक्रान्तमहोभुजः पराक्रमेण विक्रमेण आक्रान्ता निराकृता महोभुजो राजानो यस्य, तस्य । जगल्लालमलक्ष्मीनिलयीकृतोरस जगतो लोकस्य ललाटना श्रेष्ठया लक्ष्म्या रमया निलयीकृतम् आवासीकृतम् उरो वक्षो यस्य तस्य । नृपस्य कनकप्रभस्य । सुवर्णमालेति सुवर्णमालेय-मिक्षा निशास्तनायिका अन्तःपुरप्रधाना । भामिनी कामिनी । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लुट् ॥ ५४ ॥ बदीयमित्यादि । यस्याः सुवर्णमालाया इव यदीयम् । 'दोषच्छ' इति छ-प्रत्ययः । अविनिन्दितम् अकुरिसितम् । शीलं स्वभावः । 'शीलं स्वभावे सदृशे' इत्यमरः । एणाङ्कमरीचिहारिणा एणाङ्कस्य चन्द्रस्य मरीचिहारिणा अपहारशीलेन । विसारिणा प्रसारिणा । कान्तिमयेन कान्तिस्वरूपेण । वारिणा सलिलेन । नितान्तनिर्धौतमिव नितान्तम् अत्यन्तं निर्धौतमिव प्रक्षालितमिव । जातुचित् सकृदपि । मनोमय मलयुक्तम् । ताम्बू नाभवत् । भू सत्ताया लुट् ॥ ५५ ॥ वहन्निःत्यादि । यतनो यस्याः सुवर्णमालाया तनो शरारः । महामफेन हान एव फेनः तेन सहितः । अनूनलावण्यमयः अनूनं संपूर्णं लावण्यमयं देहकान्तिमयं लवणमयं वा यस्य म (?) । पयोनिधिः समुद्रः । स्मरापाण्डुकपोलमण्डले स्मरेण मन्मथेन आपाण्डु ईपल्लव्य कपोलयोगेण्डुयो मण्डलं प्रदेशा यस्य तस्मिन् । वक्त्रपङ्कजे मुखकमले । शशाङ्कशङ्का चन्द्र इति शङ्का संज्ञकम् । वहन्निव प्ररन्निव । विचकास बबूधे । कस गतो लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ५६ ॥ भुव इत्यादि । भुवः भूमेः । समुद्धर्तु रक्षकस्य । 'कृत्वात्मा-कस्य' इत्यादिना कर्मणि षष्ठे । षष्ठे समुद्धर्तुः धारकस्य । बलेन नामधेयं, बल्यदेवन । अधिष्ठितात्मने अधिष्ठितो युक्त आत्मा वृद्धि, षष्ठे देहो यस्य । 'आत्मा यत्नो घृतिर्वृद्धि स्वभावे ब्रह्मा वर्धमे च' इत्यमरः । सत्यानुरतैकचेतसः सत्येऽनुरतः नन्तरम् एक मुख्यं चेतः । चित्तं यस्य तस्य, षष्ठे मन्मथायाः सत्यमामायाय अनुरतम् ।

अब यहाँसे रानीका वर्णन प्रारम्भ होता है । उसके पराक्रमसे सभी राजा-महाराज प्रभावित थे । जगत्के पदार्थोंमें सबसे श्रेष्ठ जो लक्ष्मी है उसने कनकप्रभके वक्षस्थलको अपना निवासगृह बना लिया था । उसके अन्तःपुरमें रानी सुवर्णमाला मुख्य थी । वही उसको पटरानी थी ॥ ५४ ॥ सुवर्णमालाका शील कभी मलिन नहीं हुआ, उसको सभी प्रशंसा करते थे । वह मानो चन्द्रकिरणोंके समान मनोहर व चारों ओर फैलनेवाले उसके कान्ति-जलसे खूब धा दिया गया था ॥ ५५ ॥ उसका कपोल मण्डल गोरा था । कामदेवने उसे और भी गोरा कर दिया । अतएव वह चन्द्र सदृश दिखता था । लावण्यके समुद्रने उसे साक्षात् चन्द्रमा समझ लिया । फलतः वह उसके शरीरमें वृद्धिको प्राप्त हुआ था । उसका मन्दहास उससे फेनका स्थान ले रहा था ॥ ५६ ॥ कनक प्रभने कृष्णके समान पृथ्वीका उद्धार किया था । कृष्ण जहाँ बलरामसे युक्त थे वहाँ कनकप्रभ आत्मबलसे सयुक्त था । कृष्णका मन यदि सत्यभामा

१ अ भोगिनी । २ अ 'मिवाविनिन्दितं म' मिवारिनिन्दितं । ३ [ एणाङ्क चन्द्रः, तस्य मरीचयः किरणाः, तद्वत् हारिणा मनोहरेण ] । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा भवन्ति प्रापो विरूपासु भवन्ति दोषा' इति सूचितम् । ४ वा स 'भू सत्ताया लुट्' नास्ति ।

परस्परस्नेहनिबद्धचेतसोस्तयोरभूत्तामनिधिस्तनंधयः ।

स येन दग्धे नरकद्विधा परं न संख्यायै न च पद्मनाभता ॥५८॥

कलासनायस्य हिमद्युतेरिव हिमेतरांशोरिव तीव्रतेजसः ।

न यस्य निःशेषजनानुकम्पिनो बभूव बाल्येऽपि विवेकरिकता ॥५९॥

समाचरन् यः शिशुभावं दुर्लभाः क्रियाः कृतवो नयमार्गशालिनीः ।

समस्तविद्याधिगमं प्रबुद्धधीर्बभूव बुद्धः पल्लिताकुरैर्विना ॥६०॥

एकं चेतो यस्य तस्य । 'श्लुत्वा' इति समासविधादु [ बु ] त्रपदस्य लोपः । पुरुषोत्तमस्य पुरुषेष्टमस्य श्रेष्ठ-  
स्य, नारायणस्य । तस्य नृपस्य कनकप्रभस्य । मन्दिरे राजमदने । मृगैक्षणा मृगस्यैव ईक्षणे लोचने यस्याः सा,  
मृगसदृशनयनेत्यर्थः । सा सुवर्णमाला । लक्ष्मीः श्री । बभूव भवति स्म । लिट् । इलेष । ॥ ५७ ॥

परस्परेत्यादि । नरकद्विधा नरकगतेद्विधा वैरिणाऽऽनन्यप्रवृत्त्याद् इत्यर्थः, पक्षे नरकामुरवैरिणा । येन  
पर केवलम् । सज्जया नाम्ना । पद्मनाभता नाभौ पद्मं यस्यासौ पद्मनाभः तस्य भावः । 'नाभेर्नाम्नि' इत्यप-  
प्रत्ययः । न दग्धे न दग्धे । दग्धं धारणे कर्मणि लिट् । किंतु अर्थेन च अभिधेयेन च । च-शब्दोऽपि शब्दार्थः ।  
दग्धे दग्धे । परस्परस्नेहनिबद्धचेतसोः परस्परस्य अन्योन्यस्य स्नेहेन प्रेम्णा निबद्धम् आसक्तं चेतः चित्तं  
ययोः, तयोः कनकप्रभस्वर्णमालयोः । धामनिधिः धाम्न तेजसो निधिनिधामम् । तैः स्तनधयः पुत्रः ।  
अभूत् अभवत् । लुङ् । ॥ ५८ ॥ कलासनायस्येत्यादि । हिमद्युतेरिव हिमरूपा द्युतिः किरणं यस्य तस्यैव ।  
कलासनायस्य कलाभि चतुःपष्टिकलाभि पाण्डुरागैर्वा मनायस्य युक्तस्य । हिमेतराशोरिव  
हिमादितरे तीक्ष्णा अंशवो यस्य तस्यैव, सूर्यस्यैवेत्यर्थः । तीव्रतेजसः तीव्रं तीक्ष्णं तेजो धाम यस्य, तस्य । निः-  
शेषजनानुकम्पिन निःशेषेषु सर्वेषु जनेषु लोकेषु अनुकम्पिन कृपावतः । यस्य पद्मनाभस्य । बाल्येऽपि  
बाल्यावस्थायामपि । विवेकरिकता हेतुपादेयविज्ञानशून्यत्वम् । न बभूव न भवति स्म ॥ ५९ ॥ समा-  
चरन्त्यादि । शिशुभावंदुर्लभा शिशुभावं बाल्यावस्थायां दुर्लभा दुर्लभाः । नयमार्गशालिनी नयस्य नाते-

में आसक्त था तो कनकप्रभका मन सत्य बोलनेमें आसक्त था । कृष्ण नामसे पुरुषोत्तम कहे  
जाते थे तो कनक प्रभ पुरुषोत्तम उत्तम समझा जाता था । कृष्णके महलमें जहाँ साक्षात् लक्ष्मी  
निवास करती थी वहाँ स्वर्णमाला कनकप्रभके महलको लक्ष्मी थी । इस तरह राजा कृष्णके  
समान और रानी लक्ष्मीके समान थी ॥ ५७ ॥

कनकप्रभ और स्वर्णमालाका हृदय एक दूसरेके स्नेह रूप बन्धनमें बँधा हुआ था । उन  
दोनोंके एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह बड़ा तेजस्वी था । उसका नाम पद्मनाभ था । पद्मनाभ-  
कृष्ण-ने, यदि नरक-नरकामुर-का बध किया था तो राजकुमार पद्मनाभने सद्दिचारोंके बलसे  
नरकके कारणोंका निरोध किया था । इस प्रकार नरकद्वेषी दोनों ही थे । अतएव उसका 'पद्म-  
नाभ' नाम सर्वथा सार्थक था ॥ ५८ ॥ वह चन्द्रमाके समान कलाओंका स्वामी  
-शोतल और सूर्यके समान तेजस्वी होकर भी मनुष्यमात्रके प्रति दयालु था । बचपनमें जो  
स्वभावतः विवेक शून्यता होती है वह उसमें नहीं थी, यह उसको एक विशेषता थी ॥ ५९ ॥  
उसे दूसरोंके द्वारा कृत उपकारका सदा स्मरण रहता था । जो काम बचपनमें कठिन समझे

१. अ एतत् पद्यमत्र नोपलभ्यते । २. टीकानुगतोऽयं पाठः । मूल प्रतिषु तु 'प्रबुद्धधीः' पाठोऽस्ति ।

३. [ पद्म नाम्ना ] । ४. [ परस्परम् अन्योन्यम् ] । ५. श स 'स' नास्ति । ६. श स किरणौ । ७. [ हिमा  
शोतला द्युतिः कान्तिर्यस्य सः, तस्यैव ] । ८. आ यस्य युक्तस्य पद्मनाभस्य ।

गलन्मदस्योन्नतवंशशालिनो गृहीतसम्भविनयस्य सोन्नतेः ।  
 गजाधिपस्येव गरीयसौजसा युतस्य यस्याभवद्भङ्कुशो गुहः ॥६१॥  
 विभूषितं यौवनरूपसंपदा विकारवत्या वधनोऽपि विप्रहम् ।  
 प्रमाधिभिर्यस्य जिताम्नरद्विषो मनो न जह्ने व्यसनैर्मनस्विनः ॥६२॥  
 स बहुपत्योऽपि विशामचीश्वरः सुतेन तेनैव रराज जिष्णुना ।  
 विराजतेऽनेकशकुन्तसंकुलो न राजहंसेन विना जलाशयः ॥६३॥

मयिण शालिनो शोभमाना । क्रिया, जिनपूजादिव्यापारान् । समाचरन् प्रवर्तयन् । कुतजः कुत जानातीति कुतज, उपकारस्मरणवान् । समस्तविद्याधिगमात् समस्तविद्यायाः परिजानात् । प्रबुद्धो प्रबुद्धा धीर्यस्य तयोक्त, समुद्रबुद्धिरित्यर्थ । स पद्मनाभः । पलिताङ्कुरैर्विना सितकेषोविना । वृद्ध, स्वधिर । बभूव भवति स्म । लिट् ॥६०॥ गलन्मदस्य गलन् खवन् मदो गर्भो मदजलं वा यस्य तस्य । उन्नतवंशशालिन, उन्नतेन महता वंशेन गोत्रेण, पक्षे महता भद्रजात्या अथवा पृष्ठास्थिना शालिन शोभमानस्य । वंशो वंशो कुले वंशे पृष्ठस्थावयवेऽपि च । इति विश्वः । गृहीतसम्भविनयस्य गृहीत सम्पत् समोचीनो विनय सरका-रो येन तस्य । सोन्नतेः उन्नत्या गाम्भीर्येण दैर्घ्येण च सहितस्य । गजाधिपस्येव हस्तिन इव । यस्य पद्मनाभस्य । गुहः पिता । अङ्कुशः सुगिरिव । अभवत् बभूव । लट् । श्लेषोपमा ॥ ६१ ॥ विभूषित-मित्यादि विकारवत्या विकारयुक्तया । यौवनरूपसंपदा यौवनस्वरूपसंपत्त्या । विभूषितम् अलङ्कृतम् । विप्रह शरीरम् । दधताऽपि धरतोऽपि । जिताम्नरद्विष जिता निराकृता अन्तरद्विष, कामक्रोधलोभमानमदरूपा अरिषड्वर्गा येन तस्य । मनस्विनः सुमनोयुक्तस्य । यस्य पद्मनाभस्य । प्रमादिभिः तिरस्करणशीले । व्यसने स्वाभाविकादिभिः । न जह्ने नापह्नयते स्म । हृक् हरणं कर्मणि लिट् ॥ ६२ ॥ स इत्यादि । विशा मनुजानाम् । 'द्वौ विशो वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । अधीश्वरः प्रभुः । म कनकप्रभ । बहुपत्योऽपि बहु-पुत्रयुक्तोऽपि । जिष्णुना जयशोलेन । 'भूजेस्सनुक्' इति शोलायै स्तुक् । तेनैव पद्मनाभेनैव । सुतेन पुत्रेण ।

जाते है उन्हे भो वह आसानीसे कर दिखलाता था, तथा वे सब न्याय मार्गके अनुकूल होनेसे सुन्दर दृष्टिगोचर होते थे । समस्त विद्याओंका अभ्यासकर लेनेसे उसकी बुद्धि विकसित हो गई थी । यद्यपि उसके बाल श्वेत नहीं हुए थे, फिर भी वह बुद्धिसे वृद्ध हो गया था ॥ ६० ॥ जैसे गजराजके गण्डस्थलसे मदजल झरता है, उसको पीठकी हड्डी उभरी रहती है; वह अच्छी शिक्षा प्राप्त करता है; वह ऊँचा होता है; बहुत अधिक बलवान् होता है और उसका दबाने-वाला केवल अङ्कुश ही होता है । इसी तरह पद्मनाभको ज्ञान आदिका मद-अहङ्कार नहीं था; उसने उन्नत वंशमें जन्म लिया था, उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी; वह निरन्तर उन्नति-शील था, वह बलवान् था और वह अपने पिताजीको ही अपना अङ्कुश मानता था—केवल पिताजीसे ही दबता था, और किसी भी नहीं दबता था ॥ ६१ ॥ यौवन रूप सम्पत्ति काम-क्रोधादि विकारोंको उत्पन्न करनेवाली होती है ! किन्तु पद्मनाभके शरीरको विभूषित करके भी वह उस विकारयुक्त नहीं बना सकी । वह बड़ा मनस्वी था । उसने काम आदि आभ्यन्तर शत्रुओंपर उसने विजय पाली थी । अतः घोर दुःख देनेवाले व्यसन उसके मनको नहीं हर सके ॥ ६२ ॥ कनकप्रभके और भी अनेक पुत्र थे, किन्तु उसको शोभा केवल विजयशाल पद्मनाभसे ही थी, सो

१. स 'समाचरन् प्रवर्तयन्' नास्ति । २ = प्रबुद्धा धीर्यस्य स । ३ श स सागहम्तिन । ४ श स वर्गो । ५. = मनस्विनः पण्डितस्य । ६. मूलप्रतिषु 'प्रमाधिभि' पाठोऽस्ति । = प्रमाधिभिः प्रपातिभिः । ७. आ भाविकादिभिः ।

अथ जातु स मेदिनीपतिर्निजलक्ष्मीपरिभूषितं पुरम् ।  
 परिहृष्टमतिर्विलोक्य ब्रह्मसंस्थे गुरुसौधमूर्धनि ॥६४॥  
 विनिपातयता यदृच्छया दृशमासन्नतमैकपल्लवे ।  
 परिपीयं पयः समुत्तरन् दृशे तेन तदा गर्वा गणः ॥६५॥  
 घनपङ्कनिमग्नमक्षमं किल तत्रैकमसौ जरद्गवम् ।  
 क्षिप्रमाणमवेक्ष्य तत्क्षणमिति निर्वेदमगाद्विचक्षणः ॥६६॥  
 क्षणभङ्गगुरवृत्तिं जीवितं भवभाजामिति नात्र विस्मयः ।  
 तदिहाद्भुतमेतदीदृशं यदवश्यं हि रपि प्रमुह्यते ॥६७॥

रराज बभौ । राज्ञः, दोषो लिट् । अनेकशकुन्तसंकुलः अनेकं शकुन्ताना संकुल यस्य स जलाशयः सरोवरः । राजहंसेन बिना राजहंसपक्षिणा बिना । न विराजते न भाति । लट् ॥ ६३ ॥

अथेत्यादि । अथ अनन्तरम् । स मेदिनीपतिः कनकप्रभः । निजलक्ष्मीपरिभूषितम्, निजस्य स्वस्य लक्ष्म्या संपदा परिभूषितम् अलङ्कृतम् । पुरम् रत्नसंघयम् । परिहृष्टमतिः परिहृष्टा संतुष्टा मतिर्यस्य सः, संतुष्टबुद्धिः सन् । विलोकयन् गुरुसौधमूर्धनि गुरो महति सौधस्य हर्म्यस्य मूर्धनि उपरि । अवतस्थे अवतिष्ठति स्म । स्या गतिनिवृत्ती लिट् ॥६४॥ विनिपातयतेत्यादि । यदृच्छया स्वेच्छया । दृशं नेत्रम् । विनिपातयता व्यापारयता । तेन कनकप्रभेण । तदा तत्समये । आसन्नतमे अत्यन्तसमीपे । एकस्मिन् पल्लवे सरसि । पयः सलिलम् । परिपीयं परिपानं पूर्वं पीत्वा । समुत्तरन् निर्गच्छन् । गवा पशूनाम् । दृशे दृश्यते स्म । दृशं प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥६५॥ घनपङ्केत्यादि । विचक्षणः प्रोढः । असौ कनकप्रभः । तत्र सरसि । घनपङ्कनिमग्नं घने सान्धे पङ्के कर्दमे निमग्नं पतितम् । क्षिप्रमाणम्, क्षिप्र इति क्षिप्रमाणः तं जीवितं त्यजन्तम् । एकं जरद्गवम् जरद्वक्ष्यो गौश्च जरद्गवः तं 'गोस्तत्पुरुषात्' इत्यट्, बृद्धवृषभम् । अवेक्ष्य अवेक्षणं पूर्वं दृष्ट्वा । तत्क्षणात् तस्मात्क्षणात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । अगात् अगमत् । इण गतो लुङ् । 'गैत्योः' इति गादेशः ॥६६॥ क्षणभङ्गुरेत्यादि । भवभाजा भवं भजन्ति स्म भवभाजः तेषाम्, संसारिणामित्यर्थः । जीवितं जीवनम् । [ क्षणभङ्गुरवृत्तिं क्षणभङ्गुरा विनष्टवरा वृत्तिर्यस्य तत् ] । इति एवं प्रकारेण । अत्र लोके । विस्मयः आश्चर्यम् । न—न भवति । किन्तु यत् एतत् इदम् । ईदृशम् एतत्प्रकारम् 'त्यदाद्य' इत्यादिना दूषे-र्घातो कट् प्रत्ययः । अवश्यं हि रपि जानन्नपि । प्रमुह्यते मुग्धीभूयते । मुह वैभित्ये लट् । [ एष विस्मयः ]

ठीक भी है—जलाशयमें कितने ही अन्य पक्षी क्यों न रहें, किन्तु राजहंसके बिना वह शोभा नहीं पाता ॥ ६३ ॥

एक दिन राजा कनकप्रभ विशाल राजमहलकी छतपर बैठे हुए अपनी विभूतिसे विभूषित राजधानीकी शोभाको देखकर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हो रहे थे ॥ ६४ ॥ इतनेमें उनकी दृष्टि पासके एक जलाशयपर पड़ी जहाँ पानी पीकर एक बैलौका झुण्ड वापिस लौट रहा था ॥ ६५ ॥ जिधरसे वह झुण्ड लौट रहा था वहाँ सधन कीचड़ जमा हुआ था । उसमें एक बूढ़ा बैल फँस गया था । उसे मरते हुए देखकर बुद्धिमान् राजाको वैराग्य उत्पन्न हो गया, वह मनमें इस प्रकार विचार करने लगा ॥ ६६ ॥

संसारो जीवोंका जीवन यदि क्षणभङ्गुर विजलीके समान देखते-देखते नष्ट होनेवाला है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, आश्चर्य तो केवल यही है कि जीवनकी क्षणभङ्गुरताको

१. अ परिपाय । २. क ख ग घ यदवश्यं हि रपि । ३. [ अनेके नाना शकुन्ताः पक्षिणः तैः संकुलो व्याप्तः ] । ४. [ भजन्तीति ] । ५. आ मुहो भूयते ।



क्षणदृष्टतिरोहितैर्जनो विषयैः स्वप्न इव प्रतीयते ।  
 रतिमेति तथापि तेष्वयं जडबुद्धिधिगनात्मवेदिताम् ॥६८॥  
 प्रहृतं मरणेन जीवितं जरसा यौवनमैव पश्यति ।  
 प्रतिजन्तु जनस्तदप्यहो स्वहितं मन्दमतिर्न पश्यति ॥६९॥  
 यदतीतमतीतमेव तत्सुखमागामिनि को विनिश्चयः ।  
 समुपैति वृथा बत ध्रमं पुरुषस्तत्क्षणसौख्यमोहितः ॥७०॥  
 परिणामहिते समोहते पथि सद्यः सुखलिप्तया न यः ।  
 स शिवावतिविप्रकृष्यते ज्वररोगीव विरुद्धसेवया ॥७१॥

॥६७॥ क्षणदृष्ट्यादि । स्वप्न इव स्वप्ने यथा । क्षणदृष्टतिरोहिते क्षणे स्वल्पकाले दृष्टे । पश्चात् तिरोहिते अदृष्टे । विषयैः पञ्चबेन्द्रियविषयैः । जनः लोकः । प्रतीयते वञ्चयते । नृ प्लवन तरणयोः । निजस्तात्कर्मणि लट् । तथापि तेन प्रकारेणापि । मन्दबुद्धिः मन्दमतिः । अयं जनः । तेषु विषयेषु । रति प्रीतिम् । एति गच्छति । इण गतो लट् । अनात्मवेदिताम् आत्मज्ञानरहिताम् । धिक् कण्ठम् । 'हा धिक् समया—' इत्यादिना द्वितीया ॥६८॥ प्रहृतमित्यादि । एव अयम् । जनः लोकः । प्रतिजन्तु जन्तुं जन्तुं प्रतिजन्तु तेषु सकल-जीवेषु । जीवितं जीवनम् । मरणेन मृत्युना । प्रहृत विनष्टम् । यौवन जग्मा अग्या । 'जग्मायाडमिन्द्रियस्याचि' इति जमादेशः । प्रहृतम् इति पश्यति स्वयमोक्षते । तदपि तथापि । मन्दबुद्धि मन्दमतिः स्वहितं स्वस्मै हितम् आत्मनेहितम् । न पश्यति । दृश प्रेक्षणे लट् । 'वाग्राप्ता—' घेट् दृशः घा 'इत्यादिनाति (?) इति पदयादेशः । अहो आश्चर्यम् ॥६९॥ यदित्यादि । यत्सुखम् अतीतं भूतम् । तदतीतमेव अनिगतमेव । आगामिनि भविष्यति । मृत्ये विनिश्चयः अवसथायः कः, न कोऽपीत्यर्थः । तत्क्षणमौख्यमोहित । तत्क्षणे तत्काले जातसौख्येन सुखेन मोहितो मूढः । पुरुषः । वृथा वृथा । ध्रमं प्रयासम् । समुपैति संप्रयाति । बत हन्त ॥७०॥ परिणामहित इत्यादि । यः सद्यः शीघ्रम् । सुखलिप्तया सुखं लब्धुमिच्छया । परिणामहिते परिणामेऽन्ते हिते । पथि रत्नत्रयात्मके । न समोहते न चोष्टते । सः जनः शिवात् मोक्षात् । 'सुखपरिउलमोक्षमङ्गलकीलकवालाकाभयाम-

जाननेवाले भी मोहजालमें फँसे हुए है ॥ ६७ ॥ स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंके विषय स्वप्नमें देखे गये राज्यादिके समान क्षणभर दिखलायो देते हैं, बादमें वे दृष्टिसे ओझल हो जाते हैं । वे विषय प्राणीको धोखा देकर चले जाते हैं । फिर भी उनकी मूर्खता देखिए, जो वे उन्हीं विषयोंमें आनन्द मानते हैं वे अपनी आत्माकी ओर जरा भी ध्यान नहीं देते इस अनात्मज्ञताको धिक्कार है ॥ ६८ ॥ प्रत्येक जीवका जीवन मृत्युके द्वारा और यौवन वृद्धापेके द्वारा नष्ट किया जाता है । परन्तु इसे देखते हुए भी मूर्ख जीव अपने हितकी ओर ध्यान नहीं देता, यह कितने आश्चर्यकी बात है ॥ ६९ ॥ भूतकालमें जो भोगनेमें आया, वह तो बीत ही गया—अब वह लौटकर नहीं आयेगा । रहा भावी सुख, सो उसका निश्चय ही क्या है—कदाचित् वह न भी प्राप्त हो सके ? फिर भी बड़ा खेद और आश्चर्य है कि मनुष्य उस क्षणिक तात्कालिक सुखके मोहमें मग्न होकर व्यर्थ ही परिश्रम करता रहता है ॥ ७० ॥ जो मनुष्य आगे सुख देनेवाले मार्ग ( रत्नत्रय ) इच्छासे तात्कालिक सुखकी अभिलाषासे शीघ्र ही नहीं लगता, वह मोक्षसे

१ क ख ग घ 'वेदितम् । २ अ समोहिते । ३. [ क्षण स्वल्पकाल ] । ४. आ दृष्टेः पाश्चात् दृष्टेः अदृष्टेः श स दृष्टे तिरोहिते पाश्चात् दृष्टे अदृष्टे । ५ [ जन्तुं जन्तुं प्रति इति प्रतिजन्तु ] । ६. आ घेट् वेत्यादिना शिघ्रे पदयादेशः । ७. [ गतम् ] । ८. श स अनिगतमिव । ९. [ सुखस्य लब्धुम् इच्छा लिप्ता, तथा ] । १०. स आत्मत्रयात्मके ।

दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृण्येबुद्धिर्नदीशतैः ।

न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मणः ॥७२॥

वपुर्गप्यतिमात्रमाप्तरं त्यजति प्राणिनमायुषः क्षये ।

विरहे खलु कोऽत्र विस्मयो बहिरङ्गैर्धनमित्रबान्धवैः ॥७३॥

सुखमिष्टसमागमे यथा विरहे तस्य तथैव चासुखम् ।

अत एव सजन्ति निर्वृतौ सुधियः संगसुखैकनिःस्पृहाः ॥७४॥

हितमेव न वेत्ति कश्चन भजतेऽन्यः खलु तत्र संशयम् ।

विपरीतरुचिः परो जगत्त्रिभिरज्ञानतमोभिराहतम् ॥७५॥

लक्ष्यत्रिजाक्रोष्टुशङ्करेण शिवम्<sup>१</sup> इति तानार्थकोशे । अतिविप्रकृष्यते दूरोक्रियते । विरुद्धसेवया विरोध- [ धि ] वस्तुसेवनेन । उच्चरोगीव उच्चरोगवानिव । उपमा ॥७१॥ दहन इत्यादि । अपि यदि । तृणकाष्ठसंचयैः तृणानां काष्ठानां संचयैः समूहैः । दहनः अग्निः । तृण्येत् प्रोणयेत् नदीशतैः नदीनाम् अनेकैः<sup>२</sup> । उदधिः समुद्रः । पुमान् तु पुरुषस्तु । काममुखैः कामस्य मुखैः । न तृप्येत् । कर्मणः दुरितस्य । कापि काचित् । बलवत्ता खलु बलयुक्तता हि । अहो अद्भुतम् ॥७२॥ वपुर्गप्यतिमात्रमाप्तरं । अत्र संसारे । वपुर्गप्यति शरीरमपि । आयुषः आयुषस्य । क्षये नाशे । आन्तरम् अन्तःस्थितम् । प्राणिनः जीवम् । अतिनार्थं भृशम् । त्यजति विमुञ्चति । बहिरङ्गैः बाह्यैः । धनमित्रबान्धवैः धनैः, द्रव्यैः मित्रैः सखिभिः बान्धवैः बन्धुभिः । सह । विरहे विगमे । विस्मयः आश्चर्यम् । कः खलु न कोऽप्येव ॥७३॥ सुखमिष्टादि । यथा येन प्रकारेण । इष्टसमागमे इष्टस्य वनितादेः समागमे सप्राप्तौ । सुखम् । तथैव च । तस्य इष्टस्य । विरहे विगमे । अमुक्ं दुःखम् । स्थावित्यप्युपाहारः । अतएव एतस्मात्कारणादेव ।<sup>३</sup> संगमुखैकनिःस्पृहाः संगेन<sup>४</sup> परिग्रहेण जाते सुखे एकं केवलं निःस्पृहा बाष्पछारहिताः । सुधियः कल्याणबुद्धयो जनाः । निर्वृतौ मोक्षकारणे<sup>५</sup> । सजन्ति सप्रज्ञानि, सप्रज्ञा भवन्तीत्यर्थः । पञ्च संगे लब्धः । 'दशसंगश्चक्षुः' इति न लुक् ॥७४॥ हितमिष्टादि । कश्चन पुरुषः । हितमेव न वेत्ति न जानाति । अन्यः अपरः । तत्र हिते । मर्त्यं सदेहम् । भजते<sup>६</sup> सेवते । खलु स्फुटम् । परः अन्यः । विपरीतरुचिः विपरीता रूचिः, श्रद्धान् यस्य सः । जगत्त्रिभिः जगता<sup>७</sup> त्रिभिर्मूढमंशयविपरीतरुचिर्न त्रिभिः । अज्ञानतमोभिः

बहुत दूर पहुँच जाता है । जैसे उच्चरका रोगी कुपथ्यका मेवन करनेसे उच्चरके मोक्षसे-आरोग्य लाभसे-दूर जा पहुँचता है ॥ ७१ ॥ सम्भव है कभी भी अग्नि घास व लकड़ी आदिके ढेरसे और समुद्र सैकड़ों नदियोंसे तृप्त हो जाय । किन्तु मनुष्य विषय-सुखसे कभी भी तृप्त नहीं हो सकता । कर्मोंकी प्रबलता आश्चर्य जनक है ॥ ७२ ॥ आयुके नष्ट होते ही जब शरीर भी सदा अपने अन्तरवर्ती-शरीरसे कभी पृथक् न दिखनेवाले-जीवको छोड़ देता है, तो प्रत्यक्षमें पृथक् दृष्टिगाँचर होनेवाले सम्पत्ति, मित्र और भाइयोंसे विरह होनेमें आश्चर्य ही क्या है ॥७३॥ परन्तु व धन आदि इष्ट वस्तुओंके संयोगमें जैसे सुख होता है, वैसे ही उनके वियोगमें दुःख भी होता है । इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य उस संयोगजनित सुखकी चाहको ठुकराकर मुक्तिमुखकी प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं-मोक्षमार्गमें लग जाते हैं ॥७४॥ इस जगत्में तीन प्रकारके अज्ञानी हैं-पहले वे जो अपने हितको जानते ही नहीं, दूसरे वे जो हितको जानकर भी उसके विषयमें सन्देह करते हैं, और तीसरे वे जो हितको अहित या अहितको ही हित समझते हैं । इस प्रकार सभी संसारी प्राणी इन तीन प्रकारके अज्ञानोंसे नष्ट हो रहे हैं-सदा दुःखका अनुभव कर रहे हैं । जिस

१. [ तृप्तिमवाप्नुयान् ] । २ [ नदीनां शतानि तैः शतसंख्यापरिमिताभिर्नदीभिरित्यर्थः ] । ३. वा स संगमसु । ४ वा स संगमेन । ५. आ मोक्षकारणं । ६. वा स भजति । ७ [ जगत् लोकः त्रिभिः ] ।

परिणामसुखं शरीरिणां जिनवाक्यं न विहाय विद्यते ।  
 सरुजामिव पथ्यमौषधं तदनात्मकतया<sup>१</sup> न रोचते ॥७६॥  
 अधिगम्य यथाविधि श्रुतं प्रतिपद्योत्तमसाधुसंगमम् ।  
 अवयन् भवफलमुत्तमिमामपरः कोऽहमिव प्रमाद्यति ॥७७॥  
 सुखमायतिदुःस्वमत्तजं भजते मन्दमतिर्न बुद्धिमान् ।  
 मधुदिग्धमुखाममन्दधीरसिधारां खलु को लिलिप्तति ॥७८॥

स्वरूपज्ञानरहितः<sup>२</sup> । आहतं विनष्टम् ॥७५॥ परिणामेभ्यः<sup>३</sup> । सन्ना रोगसहितानाम् । औषधम् । पथ्यं  
 हितमिव । शरीरिणां देहिनाम् । जिनवाक्यं जिनस्य जिनेश्वरस्य वाक्यम् आगमम् । विहाय त्यक्त्वा । परि-  
 णाममुत्तमं परिणामेऽन्ते सुखं मौषधम्<sup>४</sup> । न विद्यते नास्ति । तत् जिनवाक्यम् । अनारमज्ञतया स्वरूपज्ञानरहित-  
 तया । न रोचते न प्रीणाति<sup>५</sup> । रजिब अभिप्रेत्याह्वन । लट् ॥७६॥ अधिगम्येभ्यः<sup>६</sup> । यथाविधि विधिमन-  
 तिक्रम्य । श्रुतं श्रुतानाङ्गरूपम् । अधिगम्य ज्ञात्वा निदिश्य वा । उत्तमसाधुसंगमम् उत्तमानां वरेण्यानां-  
 साधूनां मनोश्चराणां संगमं नसंगम् । प्रतिपद्य प्रतिपदनं पूर्व<sup>७</sup> पश्चान् किञ्चित्, लब्ध्वा । इमाम् एताम् ।  
 भवफलमुत्तमम् निःसारताम् । अवयन् जानन् । अहमिव क पर<sup>८</sup> अन्यः । प्रमाद्यति प्रमादोभवति । मदि  
 हर्षश्लेषनयो ॥७७॥ सुखमिभ्यः<sup>९</sup> । आयतिदुःखम् आयतो उत्तरकाले दुःखं कष्टकरम् । 'उत्तर'काल आयति'  
 इत्यमरः । अधोऽन्धं अधोऽन्धेभ्यः जायत इति तथोक्तं पृथेन्द्रियजनितं सुखम् । मन्दमतिं मन्द-  
 बुद्धियुतं । भजते सेवते । भज सेवाया लट् । बुद्धिमान् मतिमान् । न भजते । तथा हि मधुदिग्धमुखा मधुना  
 दिग्धं लिप्तं मूषं यस्यां ताम् । अनिधाराम् अन्धं खल्वस्य धाराम्<sup>१०</sup> । अमन्दवी अमन्दा मन्दतो धीरस्य । क  
 को वा । खलु म्लुक्पठ् । लिलिप्तति लोट्मिच्छति । लिट् आश्वादाने मत्तमनाल्लट् । न कोऽपीत्यर्थः ॥७८॥

प्रकार अन्धकारमे आच्छादितमार्गमें चलनेवालोंमें-से किसीको तो अपना मार्ग ही नहीं सूझता,  
 किसीको कुछ सूझता भी है तो उसमें सन्देह होता है, और किसीको वह ठीक विपरीत प्रतीत  
 होता है, इसी प्रकार मिथ्याज्ञानके वशोभूत होनेपर कोई तां हितमार्गको समझ ही नहीं पाता,  
 कोई समझकर भी उसमें सन्देह करता है, और कोई उसे अहितका ही मार्ग समझ बैठता है ॥७५॥  
 प्राणियोंको भविष्यमे सुख देनेवाली केवल जिन-वाणी (जैनागम) ही है—उसे छोड़कर अन्य  
 कोई भी वस्तु भविष्यमे सुख नहीं दे सकती । किन्तु जिन्हें आत्मज्ञान नहीं है उन्हें वह रूचती  
 नहीं है । जैसे रोगीको केवल औषधि ही हितकर होती है—उसे छोड़कर उसके लिए अन्य  
 कोई वस्तु हितकर नहीं हो सकती । किन्तु जिस रोगीको स्वयं अपने हितका विवेक नहीं है,  
 उसे वह रूचती नहीं है ॥७६॥ विधिपूर्वक शास्त्रको पढ़कर, उत्तम साधुओंकी सङ्गतको पाकर  
 और संसारकी असुरताको जानकर भी मेरे समान आत्महितमे प्रमाद करनेवाला दूसरा कौन  
 होगा ॥७७॥ इन्द्रियजन्मसुख परिणाममे दुःखप्रद होता है । अतएव उसका सेवन केवल मूर्ख ही  
 किया करते हैं, न कि बुद्धिमान् । ठीक है, कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो शहदल-

१. अ नदिज्ञाननया । २ [ मिथ्याज्ञाननिमित्तं ] । ३ [ सुखकम् ] । ४ [ न क्वचित् प्रतिभाति ] ।

५. श स 'पूय' नास्ति । ६ [ अपर. क. ] । ७. श स 'धारा' नास्ति ।

असुखैकफलं प्रभज्य यो रसति<sup>१</sup> प्रेममयं न पल्लवम् ।  
प्रचिरक्तमतिः प्रवर्तते पुरुषः श्रेयसि हा स वञ्चितः ॥५८॥

इति विषयविरक्तश्लक्ष्णया कर्णजाहं  
स्वयमिव स समेत्य व्याहृतो मुक्तिदूत्या ।  
न्यविशत मुनिमार्गे चेतसा चारुचेता  
भवति हि मतिभाजां काललब्धिर्न चन्ध्या ॥५९॥  
प्रपृच्छथ सुतमात्मनस्तमपरेद्युरुद्यच्छिथं  
प्रमृज्य च तदक्षिणी विगलदध्रुणी पाणिना ।

असुखैकफलमित्यादि । प्रविरक्तमतिः प्रविरक्तता बुद्धिर्ध्वं स, प्रकृष्टाविरक्तबुद्धिः सन् । य. पुरुषः ; अमुखैकफलम् अमुखं दुःखमेवैक मुख्य फलं यस्य तम् । प्रेममयं रागरूपम् । पल्लवः किसलयम् । रसति रसतीत्यनुकरणम्<sup>३</sup> । न प्रभज्य प्रभज्जानं पूर्व नावमर्थं । प्रवर्तते । स पुरुषः । श्रेयसि मुख्यनिमित्तम् ! वञ्चितः प्रतारितः । हा कष्टम् । 'हा दुःखहेता उद्दिष्टो विस्मयविपारयो.' इति विश्व ॥७९॥ हृमीत्यादि । छद्रया गूढया । मुक्तिदूत्या मुक्त्या मोक्षलक्ष्म्या दूत्या सख्या । कर्णजाहम् कर्णमूलम् । 'कर्णादि पञ्चाज्जाह्रात मूले' इति जाह प्रत्यय । समेत्य सप्राप्य । स्वयम् आत्मनैव । व्याहृत आहूत इव । इति उक्तप्रकारेण । विषयविरक्तः विषयेषु पञ्चेन्द्रियावयवेषु विरक्तः । चारुचेताः चारु शोभन चेत चित्त यस्य स तथोक्तः । स. कनकप्रभः । चेतसा चित्तेन । मुनिमार्गे मुनीना यतीना मार्गं न्याविशत प्रविशति स्म । तथा हि—मतिभाजा मति भजन्ति<sup>४</sup> स्म मतिभाज तेषां बुद्धिमताम् । काललब्धिः कालस्य लब्धिः प्राप्तिः । चन्ध्या निष्कृष्टा । न भवति ॥ ८० ॥ प्रपृच्छथेत्यादि । स कनकप्रभः<sup>५</sup> । अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिने । 'पूर्वा-पर—' इत्यादिना एद्युम् प्रत्ययः । उद्युरुद्युः उद्यन्ती श्रौंयस्य तमुद्योन्मुखमपदम् । आत्मन स्वस्य । तं मुनम्—पञ्चनाभमुनम् । प्रपृच्छथ प्रार्थय । विगलदध्रुणी विगलन् स्पन्दनैशोदकः<sup>६</sup> ययोः<sup>७</sup> ते तरक्षिणां तस्य

पटो तलवारकी धारको चाटना चाह्या ॥७८॥ जो विरक्त मनुष्य एकमात्र दुःखरूप फलके देनेवाले रागरूप नवीन कोमल पत्तेको ताड़कर जोघ्न ही कल्याणके मार्गमें नहीं लगता, खेद है कि वह ठगा जाता है—उस कल्याणसे वञ्चित ही रह जाता है ॥७९॥

इस प्रकारका विचार करते हुए निर्मलबुद्धि महाराज कनकप्रभको विषयमुखसे अतिशय वैराग्य उत्पन्न हुआ । फलतः वह हृदयमे मुनिमार्गमे प्रविष्ट हुआ । मानो मुक्ति-दूतोंने गुप्तरूपमे स्वयं पहुँचकर इसके लिये उसके कानमें कहा हो । मच है, बुद्धिमानोंको काललब्धि कभी व्यर्थ नहीं जाती ॥८०॥ जिस दिन उसे वैराग्य हुआ, उसके दूसरे ही दिन कनकप्रभने अपने उत्तराधिकारी पुत्र पञ्चनाभसे दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति माँगी । यह सुनते ही उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये । इसपर कनकप्रभने अपने हाथसे उसके आँसू पोंछकर उसे ससारको स्थिति समझायी ! तत्पश्चात् वह

१. अ य स्पृशति आ इ य पृगति । ( मुद्रितप्रती 'जटिति' पाठान्तरमुपलभ्यते ) ।  
२ = रसति जटिति प्रभज्य आमर्शं न प्रवर्तते स पुरुष श्रेयसि मुख्यध्वं वञ्चितः विप्रलब्धः ।  
३ हि विस्मये । निविण्णेन जटित्युद्यमो विधेय इति भावः । ३ आ सति — सतितीत्यनुकरणम् । ४ आ हि दुःखहेता उद्दिष्टो हि वि० । ५. [ भजन्तीति ] । ६. आ हा स न भवति हि । ७ आ 'कलकप्रभ' नास्ति । ८. [ पृष्ट्वा ] । ९. हा स स्पन्ददात्मनैशोदकम् । १०. [ याम्याम् ] ।

मुनीन्द्रमविनिन्दितं समभिवन्द्य स श्रीधरं  
तपः समधिशिथिष्ये नृपतिभिः समं भूरिभिः ॥८१॥

गुरुविरहभवेन पद्मनाभो भृशमसुखेन हतस्तदा ततम् ।  
नरपतिपदमास्थितोऽपि लक्ष्मोर्भवति मुदे नहि बान्धवैर्वियुक्ता ॥८२॥

विपुलमतिमिषुं द्रामात्यैः कृतप्रतिबोधनः  
पितृविरहजं हित्वा शोकं कियद्भिरसौ दिनेः ।  
नयनविगलद्वाष्पापूरां सुधीः समभावयत्  
प्रकृतिमुभयीं स्वामिस्नेहाकुलीकृतचेतसम् ॥८३॥

पद्मनाभस्य अखिणो नयने । पाणिना हस्तेन । प्रमुख्य प्रमाजंन पूर्वं समाख्यं । अविनिन्दितम् अकुस्मितं संपूर्ण-  
चारित्र्यम् इत्यर्थं । श्रीधर श्रीधरनामधेयम् । मुनीन्द्रं मुनीनाम् इन्द्रं तं मुनिपतिम् । समभिवन्द्य संस्तुयं ।  
भूरिभिः अनेकैः । नृपतिभिः नृणां नराणां पतिभिः । समं साकम् । तपः बाह्याभ्यन्तरभेदम् । समधीनाधिपे  
स्वीकरोति स्म । शिञ्ज सेवायां लिट् ॥ ८१ ॥ गुरुविरहेत्यादि । गुरुविरहभवेन पितृवियोगजनितेन । अमुखेन  
दुःखेन । हतः पीडित । पद्मनाभः पद्मनाभनरेश्वरः । नरपतिपदम् अधिराजपदम् । आस्थितोऽपि आकृष्टोऽपि ।  
'वीडस्थासोऽधेराधारः' इत्याधारे द्वितीया । तदा तस्मिन् अवसरे । भृशम् अत्यन्तम् । ततम् मन्त्रिल्लब्धवान् ।  
तम् स्थानो लिट् । बान्धवैः जातिभिः । वियुक्ता रक्षिता । लक्ष्मोः संपत्तिः । मुदे प्रीत्ये । न भवति । अर्वाग्न-  
ख्यासः ॥ ८२ ॥ विपुलमतिमिरित्यादि । विपुलमतिभिः विपुलया महत्या मत्या बुद्ध्या मर्तिनः । बुद्ध्या-  
मात्यै बुद्धेः परंपरागतैः अमात्यै मन्त्रिभिः । कृतप्रतिबोधनः कृता प्रतिबोधना यस्य स । सुधीः शोभन-  
धिषणः । असौ पद्मनाभः । कियद्भिः किं मानम् अस्त्येषाम् इति कियन्ति तं कनिचिद्भिः । दिने दिवने ।  
पितृविरहजं पितुः विरहेण जातम् । शोकं दुःखम् । हित्वा त्यक्त्वा । नयनविगलद्वाष्पापूरां नयने विगलन्  
बाष्पस्य क्षापूरः प्रवाहो यस्यां ताम् । स्वामिस्नेहाकुलीकृतचेतसम् स्वामिनः स्नेहेन प्रेम्णा प्रागनाकुलमनानो-  
माकुल कियते, आकुलीकृत स्वामिस्नेहेन आकुलीकृत चेतो यस्य तम् । उभयाम् उभयस्याः प्रजापरिवारभेद-  
भिन्नाम् आप्तबलमूलबलविकल्पा वा । प्रकृतिम् अमर्यादिनहतिम् । 'प्रकृति पञ्चभूतेषु स्वभावे मूल-  
कारणे । छन्दः कारणगुह्येषु जम्बमात्यादिमातृषु ।' इति वैजयन्ती । समभावयन् आश्वासयन् । भू कुपाव-

श्रीधर मुनिके पास पहुँचे । निर्मल चारित्र्यके धारक होनेसे उनकी प्रशंसा सभी करते थे । उनको  
नमस्कारकर कनकप्रभने अनेक राजाओंके साथ जिनदीक्षा ले ली और तपस्या प्रारम्भ कर  
दी ॥८१॥ राजगद्दीपर बैठकर भी पद्मनाभको, पिताके चले जानेसे बड़ा दुःख हुआ, उससे  
उसके हृदयको बड़ी चोट पहुँची । ठीक है—बन्धुओंके बिना राज्यलक्ष्मी भी सुख नहीं दे  
सकती ॥८२॥ कनकप्रभके चले जानेसे पद्मनाभके समान प्रजाको भी बहुत सन्ताप हुआ ।  
उसकी आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी और उसका हृदय भी व्याकुल हो उठा  
था । स्वामीके प्रति उसे स्नेह जो था । इस स्थितिको देखकर बुद्धिमान् वृद्ध मन्त्रियोंने  
पद्मनाभको सान्त्वना दी । फलतः कुछ दिनोंमें उसका वह शोक दूर हो सका । इस प्रकार  
स्वयं शोकको छोड़कर उसने दोनों प्रकारकी प्रकृतिको अपने स्वभाव ( स्वास्थ्य ) और प्रजा

१. आ श स न भवति हि । २ श प आ 'विपुल्या मस्या मत्या बुद्ध्या सहितैः' नास्ति ।  
३. [ नयनेष्वा ] ४. [ यस्या. ताम् ] । ५. = संसृजतवान् ।

एतस्यानृजुरयमष्टमीमृगाङ्को व्याक्षिप्तो विकटललाटपट्टकेन ।  
 संजातानतिभिर्नितीव तत्र भेजे भूपालैर्न कुटिलता नृपासनस्थे ॥८३॥  
 तेजोनिधाबुधयधाम्नि सुवर्णनाभ-  
 नाम्नि प्रवर्त्य तनये युवराजशब्दम् ।  
 भोगानवास्थित सदानुभवन् स भूपः  
 सोमप्रभादशनजातकिणाङ्कितौष्ठः ॥८४॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

कल्पने लङ् ॥ ८३ ॥ एतस्येत्यादि । एतस्य पद्मनाभस्य । विकटललाटपट्टकेन विकटस्य विशालस्य ललाटस्य पट्टकेन प्रदेशेन 'सुन्दरविशालविकरालेषु विकट' इति नानार्थकोशे । अनृजु वक्रः । अयम् एषः । अष्टमी-मृगाङ्कः अष्टम्या चन्द्रः । व्याक्षिप्तः<sup>१</sup> निराकृतः । इतोव संजातानतिभिः संजाता निष्पन्ना आनतिर्नमस्कारो येषां तैः । भूपालैः भूपतिभिः । नृपासनस्थे सिंहासनस्थिते तत्र तस्मिन् पद्मनाभे । कुटिलता वक्रता । न भेजे न सिपेवे<sup>२</sup> । भज सेवायां कर्मणि लिट् ॥ ८४ ॥ नैज इत्यादि । सोमप्रभादशनजातकिणाङ्कितौष्ठः<sup>३</sup> सोम-प्रभादेव्या दशनैर्दन्तैर्जातेन किण्ठेन कलङ्केन<sup>४</sup> अङ्कितः चिह्नितः<sup>५</sup> ओष्ठो यस्य सः । स. भूप पद्मनाभः । तेजोनिधौ पराक्रमनिधाने । उदयधाम्नि उदयस्य भाग्यस्य धाम्नि मिलये । सुवर्णनाभनाम्नि सुवर्णनाभनाम-धये । तनये पुत्रे । युवराजशब्द युवराजाभिधानम् । प्रवर्त्य प्रवर्तनं कृत्वा । भोगान् पञ्चवेन्द्रियभोगान् । सदा अनवरतम् । अनुभवन् । निविशन् । अवास्थित अवसत् । स्या गतिनिवृत्तौ लुट् । 'गविप्रावात्' इति तच् ॥ ८५ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने  
 च बिहन्मनोवलभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

दानोको सम्हाला ॥८३॥ पद्मनाभने जब अपने बिस्तीर्ण सुन्दर ललाटकी शोभासे कुटिल अष्टमीके चन्द्रमाको भी जीत लिया, तब उसके सामने हमारी क्या दशा होगी, मानो इसी चिन्ताके कारण पद्मनाभके राजसिंहासनपर आरोहण करते ही सभी राजा उसके सामने नतमस्तक हो गये और उन्होंने अपनी कुटिलवृत्ति छोड़ दी ॥८४॥ पद्मनाभकी रानीका नाम सोमप्रभा और पुत्रका नाम सुवर्णनाभ था । पुत्र बड़ा तेजस्वी और प्रगतिशील था । उसे युवराज बनाकर पद्मनाभ अपनी पत्नी सोमप्रभाके साथ—जिसने सम्भोगके समय अनुरागवश उसके होठको दन्तसतसे चिह्नित कर दिया था—भोगोका अनुभव करने लगा ॥८५॥

इस प्रकार वीरनन्दी विरचित उद्दयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें  
 पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥१॥

१. श स व्याक्षिप्तः । २. = भूपालैः राजभिः । नृपासनस्थे सिंहासनस्थिते । तत्र राजनि । कुटि-लता वक्रत्वम् । न भेजे । यथायमष्टमीमृगाङ्कोऽनेन वक्रतरोऽपि जितः तत्र के वयम्, इति वक्रत्वं विहाय पदयोः पतिता इति भावः । ३. श स तौष्ठः । ४. श स 'कलङ्केन' नास्ति । ५. आ अङ्कितौ चिह्नितावोष्ठौ यस्य सः । ६. श स 'प्रो' नास्ति ।

## [ २. द्वितीयः सर्गः ]

अथैकदास्थानगतं प्रतीहारनिवेदितः ।  
 वनपालो महोपालमिति नत्वा व्यजिज्ञपत् ॥१॥  
 देव देवोचिनस्थाने सुगन्धिपवने वने ।  
 मुनिरैकः समायातः शब्दार्थाभ्यां मनोहरे ॥२॥  
 भुवनव्यापिनीं भव्यपुण्डरीकाभिनन्दिनीम् ।  
 धत्ते श्रीधर इत्याख्यां यो भानुरिव द्योषितम् ॥३॥

श्रावणपुण्डरीकप्रणमामि नित्यं यत्कायकान्तिरजनाद्रिसमानशोभम् ।  
 देवासुरासनरन्दकिरीटकोटीमाणिक्यकान्तिपरिचक्षितपादपाठम् ॥

अर्थः—आदि । अथ प्रथममर्गनिष्पणनान्तरम् । एकदा एकस्मिन् दिने । प्रतीहारनिवेदितः प्रतीहारेण द्वाःपालेन निवेदिता ज्ञापितः । वनपालः उद्यानपालः । आस्थानगतं सभायां स्थितम् । महोपालः पद्मनाभ-महोपायम् । नत्वा नमनं पृथक् ( पदवात् कृत्वा ) प्रणम्य । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । व्यजिज्ञपत् व्यज्ञापयत् । जा अवबोधने । णिजन्तात् ॥१॥ देवेत्यादि । देव भो राजन् । देवोचिनस्थाने देवानाम् उचितं योग्यं स्थानं यत् तस्मिन् । सुगन्धिपवने शोभनगन्धसहितवायुयुक्तम् । शब्दार्थाभ्यां शब्देन नाम्ना अर्थेन च अभिधेयैर्नामि च । मनोहरे मनोहरनाम्नि । वने उद्याने । एकः कदाचित् । मुनिः यतीश्वरः । समायातः समागतः ॥ २ ॥ भुवनव्यापिनीं भव्यपुण्डरीकाभिः । यः मुनिपतिः । भुवनव्यापिनीं भुवनं लोकं व्याप्नोतात्येव शीलाताम् । भव्यपुण्डरीकाभिनन्दिनीं भव्यपुण्डरीकाणां भव्यप्रेष्ठानाम् अभिनन्दिनीं मनोपहराम्, एते भव्यानि मनोहराणि पुण्डरीकाणि कमलानि अभिनन्दनशीला ( अभिनन्दयशीलस्यशीला ) विकासनशीला ताम् । भानुः सूर्यः । द्योषितमिव किरणमिव । श्रीधर इत्याख्या श्रीधर इति नामधेयम् । धत्ते दुधात् धारणे च

इसके बाद एक दिनकी बात है । राजा पद्मनाभ सभामें बैठा हुआ था । इतनेमें द्वारपालने उसे मनाहर बागके मालीके आनेको सूचना दी, और उसको अनुमति लेकर मालीको अन्दर लिवा ले गया । वहाँ पहुँचते ही मालीने राजाको प्रणाम किया और कहा— ॥१॥ राजन् ! जिसमें देवोके योग्य स्थान है और जहाँ सदा सुगन्धित वायु बहता करती है, वह बाग न केवल नामसे बल्कि अर्थसे भी मनोहर है । वहीपण एक मुनिराज पधार है ॥२॥ उनका नाम श्रीधर है जो विश्वके कोने-कोनेमें प्रसिद्ध है । उसे सुनकर भव्य जीवोको बड़ा आनन्द होता है । जैसे सूर्यको किरणें सारे समारमें फैली हुई है । वे सुन्दर कमलोंको विकसित कर

१ श म नन्तरे । २ आ पालकन । ३ = विज्ञापयामास । ४ = जा जाने जानने च । ५. = यस्मिन् । ६. शोभने गन्धो यस्मिन् सुगन्धिः, सुगन्धिः पवनः पद्मानो यस्मिन् स तस्मिन् । ७. आ प्रतावेव 'किरणमिव' इति सम्पुल्लभ्यते ।

दारुणं यस्तपस्तेजः सौम्यां च दधदाकृतिम् ।  
 समाहारेण निर्वृत्तः सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥४॥  
 मोक्षसंधानचित्तेन गुणमार्गणशालिना ।  
 येन चापधरेणैव भूतेभ्योऽदीयतामयम् ॥५॥  
 त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितम् ।  
 प्रतिबिम्बमिवादर्शं जगद्यद्वचसीव्यते ॥६॥  
 सुवर्णैरभिनिरृत्ता दत्तमुक्तोत्तमास्पदाः ।  
 यस्याश्चर्यकथाः कर्णपूरायन्ते विपश्चिताम् ॥७॥

लट् ॥ ३ ॥ दारुणमित्यादि । यः मुनिपतिः । दारुणं भयंकरम् ( तीव्रम् ) । तपस्तेजः तप एव तेजः<sup>१</sup>  
 तप प्रतापम् । सौम्या मनोहराम् । आकृति च आकार च । दधत् दधातीति दधत् धरन् । सूर्याचन्द्रमसोः  
 सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ तयो । 'इन्द्रासोमादिपू देवतानाम्' इति साधु । समाहारेण समूहेन<sup>२</sup> निर्वृत्तः  
 निष्पन्न इव । भातीत्यव्याहारः ॥ ४ ॥ मोक्षेत्यादि । मोक्षसंधानचित्तेन मोक्षो परमनिर्वाणो संधानं संबन्धो  
 यस्य तत् तयोक्तं मोक्षसंधानं चित्तं यस्य तेन, पक्षे मोक्षश्च संधान च तयो । शरमोक्षणशरसंधानयो  
 चित्तं यस्य तेन । गुणमार्गणशालिना गुणैः गुणस्थानैः मार्गणैः मार्गणास्थानैः शालिना सम्पूर्णं, पक्षे गुणं  
 मोक्षां मार्गणं बाणंश्च शालिना । येन मुनिपतिना । चापधरेणैव धनुर्धरेणैव । भूतेभ्य प्राणिभ्यः । अभयम्  
 अदीयत । दाण् दाने कर्मणि लट्, पक्षे अभयम् अदीयत अलण्डपत<sup>३</sup> । दो अवलण्डने । श्लोकोपमा ॥ ५ ॥  
 त्रिकां देव्यादि । त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितं त्रिकाल एव गोचरो येषां ते त्रिकालगोचराः अनन्ताः  
 अनन्तमलयावच्छिन्नाः पर्याया मद्रभाविपरिभावि<sup>४</sup> परिणामाः तथोक्ताः त्रिकालगोचराश्च ते<sup>५</sup> अनन्तपर्या-  
 याश्च ते<sup>६</sup> परिनिष्ठिता युक्तम् । जगत् लोक । यद्वचसि यस्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य वचसि वचने । आदर्श दर्पणे ।  
 प्रतिबिम्बमिव प्रतिकृतिरिव । ईदृशे दृश्यते । ईभि दर्शने कर्मणि लट् ॥ ६ ॥ सुवर्णैरित्यादि । सुवर्णैः  
 स्पष्टाशरैः, पक्षे कनकैः । अभिनिरृता विरचिता । दत्तमुक्तोत्तमास्पदा दत्त मुक्तानां सिद्धानाम् उत्तमं  
 श्रेष्ठम् आस्पदं येषां तैः<sup>७</sup>, पक्षे दत्त मुक्तानां मोक्तिकानाम् उत्तमम् आस्पदं येषां तैः<sup>८</sup> । यस्य मुनिपते ।

उन्हे आनन्द देती है ॥३॥ उनकी आकृति सौम्य है और उसपर उनके तपका तीव्र तेज है ।  
 अतः लगता है वे सूर्य और चन्द्रके समिश्रणमें रचे गये हैं । वे तेजस्वी होकर भी शान्त हैं ॥४॥  
 उनका मन मुक्तिके अनुसन्धानमें लगा हुआ है, सद्गुणोंके अन्वेषणमें उनकी शोभा है और  
 वे समस्त प्राणियोंको अभय प्रदान करते हैं । अतएव वे इस समय उस धनुर्धारीके समान जान  
 पड़ते हैं, जिसका मन केवल बाण छोड़ने और उसके स्थानमें दूसरा बाण रखनेमें लगा हुआ  
 है; जिसकी शोभा डोरी और बाणोंसे है तथा जो लोगोंको निर्भय कर रहा है ॥५॥ जिस  
 प्रकार दर्पणमें, सामने रखे सभी पदार्थों और उनकी वर्तमान अवस्था की स्पष्ट छलक मिल  
 जाती है, उसी प्रकार उनके वचनोंमें सारे जगत् और उसकी भूत, वर्तमान और भविष्यमें  
 होनेवाली सभी अवस्थाओंकी स्पष्ट झाँकी मिल जाती है ॥६॥ उपदेश देते समय वे प्रसंगवश  
 जो कथाएँ सुनाते हैं, वे कर्णभूषण सरीखी रहती हैं । जिस प्रकार कर्णभूषण सोनेसे बनाये

१ = तपस्तेजस्तेजः । २ = समूहवचन । ३. श स अलण्डयत । ४. 'परिभावि' । ५. आ प्रती  
 केवल 'ते' इति दृश्यते । ६. = यामु ताः । ७. = यामु ताः ।



भ्रमन्ति भुवनाभोगे निश्चला अपि यद्गुणाः ।

असंख्येयाश्च सर्वत्र यजन्ति गणनीयताम् ॥६॥

यत्पादपांसुसंपर्कादलंकृतशिरोरुहाः ।

निस्पृहा वासवर्णेषु भवन्ति नृसुरासुराः ॥६॥

भास्वानपि च यः सेव्यपादोऽभूत्तापवर्जितः ।

विकासयति वाशेषकुमुदं कुमुदोज्ज्वलः ॥१०॥

आश्चर्यकथाः विस्मयकथाः । विपश्चिता विदुषाम् । कर्णपूरायन्ते कुण्डलमिवाचरन्ति । कर्णपूरमिति सुवधातोः  
क्यङ्प्रत्यय ॥ ७ ॥ भ्रमन्तीत्यादि । यद्गुणाः यस्य मुनिपतेर्गुणाः । निश्चला अपि स्थिरा अपि । भुवना-  
भोगे भुवनानां लोकानाम् आभोगे विस्तारे । 'आभोगः परिपूर्णता' इत्यमरः । भ्रमन्ति चलन्ति । भ्रम्-  
चलने नट् । असंख्येयाश्च अगण्येयाश्च<sup>१</sup> । सर्वत्र सर्वस्मिन् सर्वत्र । गणनीयतां,<sup>२</sup> (पक्षे) श्लाघ्यता ।  
यजन्ति गच्छन्ति ॥ ८ ॥ यद्विस्थादि । यत्पादपांसुसंपर्कात् यस्य मुनिपते पादयोः चरणयोः रजसो धूसरा-  
सम्पर्कत् संगतः । अलङ्कृतशिरोरुहाः अलङ्कृताः भूषिताः शिरोरुहाः केशा येषां ते । नृसुरासुराः  
मनुष्यदेवासुराः । वासवर्णेषु सुगन्धिवर्णेषु । निस्पृहाः वाञ्छारहिताः । भवन्ति ॥ ९ ॥ भास्वानित्यादि ।  
यः मुनिपतिः । भास्वानपि च तेजोयुक्तोऽपि च, सूर्य इति ध्वनिः । सेव्यपादः सेव्यो पूजनीयो पादो यस्य, पक्षे  
सेव्याः किरणाः यस्य सः । 'पादा रश्म्यध्रुवर्षाः' इत्यमरः । अभूत् अभवत् । लुङ् । तापवर्जितः तीक्ष्ण-  
परिणामरहितः सन्तापरहितश्च । कुमुदवत् चन्द्रबहुज्ज्वलो भाममानः । 'गणित्वसोत्पत्तिकृपण-  
दिग्गजेषु कुमुदः' इति नानार्थकोशे । यो भास्वानपीत्यत्रापि योग्यः । अशेषकुमुदम् अशेषा चाशो कुञ्च अशेषकु-  
तस्याः मूत् हर्षः ता, पक्षे अशेषं च तत् कुमुदं चेति कयः (?) समस्तकैरवम् । विकासयति च प्रकाशयति, पक्षे

जाते हैं; उनमें मोती जड़े रहते हैं और वे पहरनेवालोंके कानोंकी शोभा बढ़ाते हैं । इसी प्रकार  
उनकी कथाएँ अच्छे अक्षरोंसे रची रहती हैं; उनमें यथास्थान मुक्कन जीवोंकी उत्तम चर्चा  
रहती है और अनेक विगणताओंके रहनेसे वे आश्चर्यजनक होते हैं तथा उनका श्रवण विद्वान्  
श्रोताओंके कानोंकी सुशोभित करता है ॥७॥ उनके गुणोंमें दो विचित्र बातें हैं—पहली यह  
कि वे चलते नहीं हैं किन्तु घूमने सारे संसारमें हैं और दूसरी यह कि वे गणनाके बाहर हैं  
पर सब जगह गणनामें आते हैं । वस्तुतः वे बड़े ही गुणी हैं—उनके गुण अविनाशी हैं; उनके  
गुणोंकी चर्चा सभी करते हैं; उनके गुणोंको गिनाया नहीं जा सकता और वे (गुण) सर्वत्र  
आदर पाते हैं ॥८॥ जो भवनवासो, व्यन्तर, ज्योतिषो, कल्पवासो और मनुष्य उनके चरण-  
रजसे अपने वालोंको विभूषित कर लेते हैं, उन्हें सुगन्धिवर्णकी चाह नहीं रहती ॥९॥ श्रीधर  
मुनि तेजकी दृष्टिसे सूर्य हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐसी भी विशेषताएँ हैं, जिनसे वे उससे कहीं  
अच्छे हैं; क्योंकि उल्लगताके कारण सूर्यके किरण (चरण) सेवन करने योग्य नहीं हैं जब कि  
उनके चरण सेवन करने योग्य हैं । सूर्य सन्तापमहित हैं किन्तु वे सन्तापरहित हैं; क्योंकि  
वे कभी ऐसा कार्य ही नहीं करते जिससे उन्हें सन्ताप हो । सूर्यका वर्ण चन्द्र-जैसा उज्ज्वल  
नहीं है । किन्तु उनका शरीर चन्द्र-जैसा उज्ज्वल है । वे सारे भूमण्डलके प्रमोदको बढ़ाते हैं  
पर सूर्य सारे भूमण्डलकी बात तो दूर रहो कुमुदको भी प्रमोद नहीं दे पाता ॥ १० ॥

१. यः स 'भ्रमन्ति इत्यादि' इति । २. यः भ्रान्त स भ्रमः । ३. यः स अगण्येयाश्च ।  
४. = गणनीयता गणनाविषयता, गणनं जनवन्दनं नीयता प्राप्यता च ।

मुनेस्तस्य प्रभावेण<sup>१</sup> या विभूतिरभूदने ।  
 तां विषयाम्यहं किं तु वक्ष्यं नोक्तं करोति मे ॥११॥  
 वसन्तमनपेक्षैव तस्यातिशयविस्मिताः ।  
 रोमाञ्चानिव मुञ्चन्ति कोरकांश्चूतपादपाः ॥१२॥  
 तत्संगादिषु संजातशान्तचित्तेन पुण्यता<sup>२</sup> ।  
 न विसोढमशोकेन कामिनीपादताडनम् ॥१३॥  
 बकुला अपि दृष्ट्वा तमणुव्रतमिवाश्रिताः ।  
 यद्वधूमधुगण्डूषाननादृत्यैव पुष्पिताः ॥१४॥  
 तिलकस्तिलकं पृथ्व्यास्तं दृष्ट्वा व्यकसत्क्षणात् ।  
 स्वपक्षदर्शनात्कस्य न प्रीतिरुपजायते ॥१५॥

स्फुटयति । काशि<sup>३</sup> दीप्ती जिज्ञासाल्लट् ॥१०॥ मुनेरित्यादि । तस्य मुनेः श्रीधरमुनिपस्य । प्रभावेण<sup>४</sup> सामर्थ्येन ।  
 वने मनोहरोद्याने । या विभूतिः संपत्तिः । अभूत् अभवत् । ता विभूतिम् । अहं विषयामि वक्ष्युमिच्छामि ।  
 वच् परिभाषणे । 'कम्प्येककृत् काल्' इत्यादिना सन् प्रत्ययः तस्मात्लट् । किन्तु विशेषोऽस्ति । मे मम । 'ते मया-  
 वेकत्वे' इति अस्मच्छब्दस्य पष्ठपक्षवचने मे इत्यादेशः । ववश्च वदनम् । उन्नतं भाषितम् । न करोति न  
 विदधाति । दुकृञ् करणे लट् । तद्विभूतिर्वाचामगोचरेति भावः ॥११॥ वसन्तमित्यादि । तस्य मुनिपतेः ।  
 अतिशयविस्मिताः अतिशयेन उत्कर्षेण विस्मिताः आश्चर्यं गताः । चूतपादपाः सहकारवृक्षाः । वसन्तं  
 वसन्तकालम् । अनपेक्षैव अपेक्षामकृत्यैव । रोमाञ्चानिव रोमहर्षणानीव । कोरकान् मुकुलानि । मुञ्चन्ति  
 धरन्तीत्यर्थः । मुक्नुवौ मोक्षणे ॥१२॥ तत्संगादिषु<sup>५</sup> । पुण्यता<sup>६</sup> विकसता । अशोकेन अशोकवृक्षेण । तत्संगात्  
 तस्य मुनिपतेः संगत् सम्पत्कृत् । संजातशान्तचित्तेन सम्पन्नज्ञानशान्तहृदयेनेव । कामिनीपादताडनं कामिनीना  
 स्त्रीणां पादताडनं चरणापातम् । न विषोढं न मृष्टम्, बाञ्छितं न भवतीत्यर्थः ॥१३॥ बकुला इत्यादि । बकुलाः  
 बकुलवृक्षाः अपि । तं मुनीन्द्रम् । दृष्ट्वा बोधय । अणुव्रतं सूक्ष्मव्रतं-प्रायस्कव्रतम् । श्रिता इव आश्रिता इव ।  
 'श्रितादिभि' इति समासः । यन् यस्मात्कारणात् । वधूमधुगण्डूषान् वधूना स्त्रीणां मधुनो मद्यस्य गण्डूषान्  
 निष्ठोषनक्रिया । अनादृत्यैव उदासीनं कृत्यैव । पुष्पिताः पुष्पाणि संजातानि एषाम् इति पुष्पिताः कुसुमिताः ।  
 बकुलवृक्षाणां स्त्रीणां मद्यगण्डूषेण पुष्पाणि जायन्तेऽन तदपेक्षा नास्तीत्यर्थः ॥१४॥ तिलक इत्यादि । तिलकः

उनके प्रभावसे मनोहर बागकी जो विभूति प्रकट हुई है, उसे मैं तो कहना चाहता हूँ, किन्तु मेरा मुँह कहना नहीं मान रहा है । शब्दोंमें इतना सामर्थ्य ही कहाँ, जो वे उसे कह सकें; वह तो केवल देखते ही बनती है ॥११॥ सभी जगह वसन्त ऋतुके आनेपर ही आमके पेड़ोंमें बीर लगती है, किन्तु राजन्, आपके मनोहर बागमें बिना वसन्तके आये ही उनमें बीर लग गई है । लगता है मुनिराजके अतिशयसे चकित हो जानेके कारण उन्हें रोमाञ्च हो आया है ॥१२॥ स्त्रियोंके चरणोंकी चोट सहे बिना ही अशोक वृक्ष विकसित हो गये हैं । मानो मुनिराजके समागमसे उनका चित्त शान्त हो गया है ॥१३॥ मौलसिरी वृक्ष स्त्रियोंके मद्यके कुरलोंकी अवहेलना करके अपने-आप विकसित हो गये है । मानो मुनिराजके दर्शन पाकर उन्होंने पाँच अणुव्रत ग्रहण कर लिये हैं ॥१४॥ मुनिराज पृथिवीके तिलक हैं । मानो इसीलिए उनके दर्शन

१. क ख ग घ प्रभावेन । २. अ 'तिशयि' । ३. अ आ इ क ख ग घ श स पुष्यता । ४. कासुङ् दीप्ती इति शाकटा० धातुपाठे, काम्ठ दीप्ती इति पाणिनीये । ५. श स 'भावेन' । ६. श स मुच । ७. श स 'ङ्गादिति' । ८. श स पुष्यता । ९. = अनपेक्षैव ।

तत्तमभ्रवणज्जातविबोधा इव चम्पकाः ।  
 न मनागप्यजायन्त मलिनालिस्माध्रयाः ॥१६॥  
 यथा पलाशास्तत्रैव शोभन्ते न च किंशुकैः ।  
 तथैव जम्बूतरवो विराजन्ते न किंशुकैः ॥१७॥  
 जयशब्दं वयःशब्दैः कुर्वन्त्याः काननश्रियः ।  
 दन्तावलिर्वाभाति कुन्दकुङ्कुमलसंततिः ॥१८॥  
 हासानिव विमुञ्चन्तः संतोषात्कुसुमोद्गमान् ।  
 शिखण्डितापङ्कवाटोपं तन्वन्ति कुटजद्रुमाः ॥१९॥

तिलकवृक्षः । पुष्पाः भूमेः । तिलकं श्रेष्ठम् । तं मुनिम् । दण्डवा बोध्य । क्षणात् उत्सवात् । 'कालविशेषो-  
 रसवयोः क्षणः' इत्यमरः । व्यक्तसत् अस्फुटत् । कस गतो लट् । तथा हि—स्वपक्षदर्शनात् स्वेषा पक्षानां  
 सहायानां दर्शनात् बोधक्षणात् । कस्य पुरुषस्य । प्रीतिः संतोषः । नोपजायते नोत्पद्यते, अपि तु उपजायते  
 एव ॥१५॥ तद्धर्मस्थादि । चम्पका चम्पकवृक्षाः । तद्धर्मक्षवणात् तस्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य धर्मस्य धर्मोपदेशस्य  
 श्रवणात् । जातविबोधा इव जात उत्पन्नो बोधो येषां ते त इव । मनागपि स्वल्पमपि । मलिनालिस्माध्रयाः  
 मलिनानां कुण्ठवर्णानाम् अलीना भ्रमराणां समाश्रया सङ्गद्युक्ताः, पापसमूहस्वाधारा न भवन्तीति ध्वनिः ।  
 नाजायन्त नामभवन् । जनेद् प्रादुर्भवे लट् ॥१६॥ यथेत्यादि । तत्रैव मनोहरोद्यान एव । पलाशाः पलाश-  
 वृक्षाः । नचकिंशुकैः नवैर्मनोने किंशुकैः किंशुकवृक्षस्य पुष्पाणि किंशुकानि तैः । 'बहुलं धलुकं पुष्पमूले' इति  
 ब्रिहत्संहितायस्य श्लोकः । यथा येन प्रकारेण । शोभन्ते विराजन्ते । तथैव तेन प्रकारेणैव । जम्बूतरवः जम्बू-  
 वृक्षाः । शुकैः कीरपक्षिभिः । न विराजन्ते किं न शोभन्ते किम् । अपि तु विराजन्त एव । राज्ञ् दीप्तो  
 लट् । यमकम् ॥१७॥ जयशब्दमित्यादि । कुन्दकुङ्कुमलसंततिः कुन्दानां माध्यानां कुङ्कुमलानां मुकुलानां  
 संततिः समूहः । वयःशब्दैः वयसा शब्दैः पक्षिध्वनिभिः । 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । जयशब्दं  
 जयेतिशब्दम् । कुर्वन्त्याः विदधत्याः । काननश्रियः उद्यानलक्षणा । दन्तावलिर्ब दन्तानां रदनानाम्  
 आवलिः पङ्क्तिः समूह इव । आभाति विराजते । भा दीप्तो लट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ हासानित्यादि ।  
 संतोषात् प्रमोदात् । हासानिव हास्यानोव । कुसुमोद्गमान् कुसुमानां पुष्पाणाम् उद्गमान् 'कुङ्कुमलानि ।

पाकर तिलकवृक्ष भारे खुशीके फूल उठे हैं । अपने पक्षके व्यक्तिको देखकर किसे प्रसन्नता नहीं  
 होती ? ॥१५॥ जान पड़ता है उनके श्रीमुखसे धर्मोपदेश सुनकर चम्पक वृक्षोंका विवेक जाग  
 उठा है, मानो इसीलिए उन्होंने अपना पूर्ण विकास कर लिया है और इसके पश्चात् काले  
 भौरोंको—भौरोंको क्या पापपुञ्जको—आश्रय लेनेके लिए अपने पास तनिक भी नहीं फटकने  
 दिया ॥१६॥ राजन् ! यह तो सभी जानते हैं कि ढाकके पेड़ वसन्तमें और जामुनके पेड़ वर्षा  
 ऋतुमें विकसित होते हैं । किन्तु आपके बागमें इस समय ढाकके पेड़ जैसे नवीन फूलोंसे शोभा  
 पा रहे हैं क्या उसी प्रकार जामुनके पेड़ तांतोंसे शोभा नहीं पा रहे हैं ? ॥१७॥ राजन् ! वहाँ  
 पक्षी चहचहा रहे हैं, अतः लगता है मुनिराजको देखकर वनलक्ष्मी जयजयकार कर रही है ।  
 कुन्द वृक्षोमें कलियाँ खिल रही हैं । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो जयजयकार  
 करनेसे उसके दाँतोंकी पङ्क्ति देख पड़ रही हो ॥१८॥ कुटजवृक्ष विकसित हो गये हैं । उनमें  
 कलियाँ खिल उठी हैं । अतएव ऐसा जान पड़ता है कि मुनिसमागमके सन्तोषसे वे हँस रहे हैं ।

१. आ इ तथैव म तथेव । २. अ क त्व ग घ म संततिः । ३. श स तथापि । ४. = विबोधा ।  
 ५. आ कुटम् ।

भयात्पलायमानस्य कामस्य गलिता करात् ।  
 बाणावलिरिवाभाति बाणावलिरितस्ततः ॥२०॥  
 शुचिसंगाद्विकासो मे कक्षातोऽपि मुनेः शुचिः ।  
 इतीव मन्यमानागाद्विकासं नयमल्लिका ॥२१॥  
 कदम्बैः सहसा नाथ विकसत्कुसुमोत्करैः ।  
 रोमाञ्चकञ्चुकादानादलभात्मसमीकृतः ॥२२॥  
 तिरश्चां संहतिस्तत्र परस्परविरोधिनी ।  
 विरोधं सहजं हित्वा बन्धुभावेन वर्तते ॥२३॥

विमुञ्चन्तः विमुञ्चमानाः । कुटजद्वयाः कुटजवृक्षाः । शिखण्डिताण्डशोथे शिखण्डिनां मयूराणां ताण्डवस्य नर्तनस्य आटोर्षं संभ्रमम् । तन्वन्ति विस्तारयन्ति । तन्वृ विस्तारे लट् ॥१९॥ भयादित्यादि । भयात् भीतेः । इतस्ततः इतोऽप्युत्तरे । पलायमानस्य । कामस्य मन्मथस्य । करात् हस्तात् । गलिता पतिता । बाणावलिरिव बाणानां शराणाम् आवलिरिव समूह इव । बाणावलिः बाणानां कुरण्टकानाम् आवलिः समूहः । आभाति शोभते ॥२०॥ शुचिसंगादित्यादि । मे मम । शुचिसंगात् शुचेः आषाढमासस्य संगत् संपर्कात्, पक्षे शुचेः निर्मलपुष्पस्य संगत् । विकासः विकसनम् । भवितव्य इति शेषः । अतो<sup>१</sup> अमुष्मात् । मुनेरपि योगीन्द्रादपि । कः शुचिः को निर्मलः न कोऽप्यव्य इति भावः । इति इत्थम् । मन्यमानेव बुध्यमानेव । नयमल्लिका नूतनमल्लिका । विकासं विकसनम् । अगात् आयात् । इण गतौ लुङ् । 'गैत्योः' इति गादेजः ॥२१॥ कदम्बरित्यादि । नाथ, भो स्वामिन् । विकसत्कुसुमोत्करैः विकसन् कुसुमानाम् उत्करो येन तैः, विकसत्पुष्पसमूहयुक्तैरित्यर्थः । कदम्बैः कदम्बवृक्षैः । रोमाञ्चकञ्चुकादानात् रोमाञ्च एव रोमहर्षणम् एव कञ्चुको वारबाणः तस्य आदानात् । अलभा स्वयम् । सहसा शीघ्रेण । अलम् अत्यन्तम् । समीकृतः प्राक् असम इदानीं समः क्रियते स्म समीकृतः, अभूवम् इति भावः ॥२२॥ तिरश्चामित्यादि । तत्र मनोहरोद्याने । परस्परविरोधिनी परस्परवैरवती । तिरश्चा तिर्यग्जीवानाम् । संहतिः संबोहः । सहजं सहभाविनम् । विरोधं । हित्वा त्यक्त्वा । बन्धुभावेन बन्धुत्वेन, उपशमभावेनेत्यर्थः ।

कुटज वृक्षोंका विकास देखकर मयूर यह समझ रहे हैं कि वर्षा ऋतु आ गयी है, अतः वे भी नाच रहे हैं ॥१९॥ राजन् ! वहाँ इधर-उधर बाण-वृक्षोंकी पतितियाँ लगी हुई हैं । वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो मुनिराजके भयसे भागे हुए कामदेवके हाथसे गिरे हुए बाणोंकी पतितियाँ हों ॥२०॥ 'शुचि-आषाढमासके समागमसे मेरा विकास होता है । इन मुनिराजसे बढ़कर शुचि-पवित्र (आषाढ मास) और कौन होगा' मानो यही सोचकर चमेली खिल उठी ॥२१॥ राजन् ! मुनिराजके आनेपर जिस समय कदम्ब वृक्षोंमें फूल खिले उसी समय मेरे सारे शरीरमें रोमांच हो आया, इससे ऐसा जान पड़ा मानो मैंने कवच पहन लिया हो । इस अवसरपर कदम्ब वृक्षोंने मुझे पूरी तरहसे अपने समान बना लिया ॥२२॥ जिन पशुओंमें आपसी विरोध है, उनका झुण्ड वहाँ जन्मजात विरोध छोड़कर मित्रोंकी भाँति हिल-मिलकर बैठा हुआ

१. अ क ख ग घ म 'दहमा' । २. श स तनुङ् । ३. आ प्रतो केवल 'इतोऽप्युत्तरे' इति पाठो दृश्यते । ४. आ 'अतो' इति नास्ति । ५. 'दानात्' इति टीकाकारसमतः पाठः, 'धानात्' इति सर्वासु प्रतिषु । ६. = शीघ्रम् । ७. आ 'परस्पर' इति नास्ति । ८. आ हित्वा हा संपूर्ण त्यक्त्वा ।

इति श्रुत्वा स तद्वाणीं मुनिवृत्तान्तशंसिनीम् ।  
 स्वाङ्गेऽपि न ममौ हर्षादुद्वेग इव वारिधिः ॥२३॥  
 सत्कृत्य स स्वकीयैस्ते भूषणैः पारितोषिकैः ।  
 वनपालमथान्यैश्च कृतार्थमकरोद्धनैः ॥२४॥  
 यस्य देवस्य गन्तव्यं स देवो गृहमागतः ।  
 इत्युक्तिं घोषयन्नाच्चैरुदस्यादासनादसौ ॥२५॥  
 दिशि तस्यामवस्थापय यत्रासौ परमेश्वरः ।  
 बद्ध्वा लब्धमसौ भूमावनंसीत्तस्य पादयोः ॥२६॥  
 व्यानशेऽथ तदादेशात्पुनं पटहन्निःस्वनः ।  
 मुनिवन्दनयात्रायां कुर्वन्संकेतिनीः प्रजाः ॥२७॥

वर्तते तिष्ठति । वृत्तु वृत्तन आत्मनपदम् ॥२३॥ इतित्यादि । स. पद्मानाममहावति । मुनिवृत्तान्तशंसिनी  
 मुनेः श्रीधरमुनीन्द्रस्य वृत्तान्तशंसिनी वार्त्ताभिषायिनीम् । तद्वाणी तस्य वनपालस्य वाणी वचनम् । इति उक्त-  
 प्रकारेण । श्रुत्वा निशम्य । हर्षात् संतोषात् । स्वाङ्गेऽपि स्वस्व आत्मनः अङ्गेऽपि शरीरेऽपि । उद्वेगः वेला-  
 मुद्वेगतः, तीरमतिक्रान्त इत्यर्थः । वारिधिरिव समुद्र इव । न ममो न प्रमिमोते स्म । मा माने लिट् ॥२४॥  
 सत्कृत्येत्यादि । सः पद्मानामः । अथ वार्त्ताश्रवणानन्तरम् । स्वकीयैः स्वस्य सन्धेः । पारितोषिकैः पारि-  
 तोषस्य संतोषस्य योग्यानि पारितोषकाणि तैः । भूषणैः आभरणैः । त वनपालम् ऋषिनिवेदकम् । सत्कृत्य  
 सत्कारं कृत्वा । 'कारिका'—इत्यादिना ति सज्ञा । अन्यैश्च शोषैश्च । घनैः द्रव्यैः । कृतार्थं कृता निष्पन्नोऽर्थः ।  
 प्रयोजनं यस्य तम् । अकरोत् अकार्षीत् । हुकुञ्ज् करणे लट् ॥२५॥ यस्येत्यादि । यस्य देवस्य देवतायाः ।  
 गृहम् आवासः । गन्तव्यं गन्तुं योग्यम् । स देवः देवता । आगतः समायातः । इत्युक्तिम् एव प्रकारः [ कं ]  
 नीतिवचनम् । उच्यते. नितातम् । घोषयन् उच्चारयन् । असौ पद्मानाममहोपतिः । आसनात् सिंहासनात् ।  
 उदस्यात् उदतिष्ठत् । आ घातिनिवृत्तौ लुङ् ॥२६॥ दिशिः । असौ पद्मानामभूपतिः । यत्र यस्यां दिशि ।  
 असौ अयम् । परमेश्वरः श्रीधरमुनिपरमेश्वरी वर्तते । तस्या दिशि । अवस्थापय अवस्थानं पृथक् स्थित्वा । लक्ष्यम्  
 अङ्गम् । बद्ध्वा कृत्वा । तस्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य । पादयोः चरणारविन्दयोः । भूमौ चरण्याम् । अवनंतीत्  
 अतमत् । गम् प्रहृन्वे शब्दे । लुङ् ॥२७॥ स्थानस्य इत्यादि । अथ व दनाः । तम् । तदादेशात् तस्य पद्म-  
 नाममहोपतेः आदेशात् आज्ञायाः । मुनिवन्दनयात्रायां मुनेः मुनिवन्दनस्य यात्रायां प्रस्थाने । प्रजाः  
 पौरजनान् । संकेतिनीः संकेतवतीः । कुर्वन् विदधानः । पटहन्निःस्वनः पटहन्निःस्वनः पटहन्निःस्वनः पटहन्निःस्वनः पटहन्निःस्वनः । पुरं रत्नसं-

है ॥२३॥ इस प्रकार मालीसे मनोहर बागमे मुनिराजके आनेके समाचार मुनिकर महाराज  
 पद्मानाभ वन्दोदय होनेपर उमड़े हुए सागरकी भांति खुशोके मारे अपने शरीरमे फला नहीं  
 समाया ॥२४॥ पद्मानाभने अपने आभूषण देकर उस मालीका सत्कार किया और उसे और श्री  
 धन इनानामे देकर कृतार्थ कर दिया ॥२५॥ 'जिनके मन्दिरमे मुझे स्वयं जाना चाहिए था वे देव  
 स्वयं ही मेरे घर पधारे है' इस उक्तिको जोरसे दुहराता हुआ राजा पद्मानाभ उन्नत सिंहासनसे  
 उठ खड़ा हुआ ॥२६॥ और जिस दिशामे मुनिराज विराजे थे उसी ओर खड़े होकर पद्मानाभने  
 भूमिपर उनके चरणोका ध्यान कर नमस्कार किया ॥२७॥ इसके पश्चात् महाराज पद्मानाभके  
 आदेशसे प्रजाको मुनिराजकी वन्दनाके लिए जानेवाले जुलूसमें सम्मिलित होनेकी सूचना देनेके

१. अ वारिधिः । २ 'यैः संभूष' । ३ आ घा घातिनिवृत्तौ लट् आत्मने पदम् । ४. = न मानि स्म ।  
 ५. = आत्मीयै । ६. आ प्रतापेव 'ऋषिनिवेदकम्' इति समुपलभ्यते । ७ = आदृत्य । ८. आ श ख  
 हत्युपगतम् । ९. = पश्चात् किञ्चित् । १०. = नमनोद्देश्यम् ।

पञ्चषानपि कृत्वाग्रे पत्नीन्प्राप्तैर्नराधिपैः ।  
 क्रमशः संमिलत्लोकैरनुभ्यद्राजगोपुरम् ॥२६॥  
 सपौरः समुद्रद्वर्गः सकलत्रः सबान्धवः ।  
 सतनूजः ससामन्तः स चञ्चल ससैनिकः ॥३०॥  
 गच्छन्लावण्यसंक्रान्तदिदृक्षुनयनो वनम् ।  
 नन्दनामिमुखीभूतशक्रशोभां बभार सः ॥३१॥  
 क्षणादशोकसंयुक्तं पुंनागपरिवारितम् ।  
 वनमात्मसमं प्राप्य पिप्रिये पृथिवीपतिः ॥३२॥

चयम् । व्यानसो व्याप्नोति स्म । अशोङ् व्याप्नो कर्त्तरि लिट् । 'नवचासुदृशद्यनेकहलः' इति नवागमः ॥२८॥  
 पञ्चषानपीत्वादि । पञ्चषानपि पञ्च वा षड्वा इति पञ्चषाः तान् । 'सुज्वा—' इति समासः । 'प्रमाणी-  
 संस्थाड्' इति ड-प्रत्ययः । पत्नीन् पशतोन्, पादचारिभूत्यानित्यर्थः । अग्रे पुरः । कृत्वा विधाय ! प्राप्तेः  
 प्रयातः । नराधिपैः नराणाम् अधिपाः तैः भूनालैः । क्रमशः क्रमात् । 'बह्वृत्पार्थ—' इत्यादिना षसि  
 प्रत्ययः । संमिलत्लोकैः संमिलद्भिः संयुक्तजानैः लोकैः जनैः । राजगोपुरं राजद्वारम् । अनुभ्यतुं । क्षुभ  
 संवलने ॥२९॥ सपौर इत्यादि । सपौरः पौरजनसहितः । समुद्रद्वर्गः सुहृदा वर्गेण समूहेन सहितः । सकलत्रः  
 अन्तःपुरसंयुक्तः । सबान्धवः बन्धुजने युत । सतनूजः तनूजैः पुत्रैः युक्त । ससामन्तः राज्यसंविष्ट-  
 भूपैः सहितः । ससैनिकः सेनापतिसनायः । सः पचनाभमहोपायः । चञ्चल प्रतस्थे । चञ्च कम्पने लिट् ॥३०॥  
 गच्छन्त्यादि । 'लावण्यसंक्रान्तदिदृक्षुनयनः लावण्ये देहक्रान्ती संक्रान्तानि प्रतिबिम्बितानि दिदृक्षूणा द्रष्टु-  
 मिच्छूना नयनानि नेत्राणि यस्य सः । वन मनोहरोद्यानम् । गच्छन् यान् । सः पचनाभमपतिः । नन्दनाभि-  
 मुखीभूतशक्रशोभा प्रागनमिमुख इदानीमभिमुखी भवति स्म अभिमुखीभूतः नन्दनस्य नन्दनवनस्याभिमुखीभूतः  
 तद्योक्तः स चासौ शक्रश्च तस्य शोभा लीलाम् । बभार धरति स्म । भूज मरणे । लिट् ॥३१॥ क्षणादित्यादि ।  
 पृथिवीपतिः पचनाभमहोपति । अशोकसंयुक्तम् अशोकैः अशोकवृक्षैः, पक्षे शोकरहितजनैः संयुक्तं सहितम् ।  
 पुंनागपरिवारितं पुंनागैः पुंनागवृक्षैः, पक्षे पुंना पुरुषाणां नागैः श्रेष्ठैः परिवारितं वेष्टितम् । 'स्मृत्तरपदे  
 व्याघ्रपुनर्वर्धमकुञ्जराः । सिंहसार्द्धं नागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः ।' इत्यमरः । आत्मसमं आत्मनः स्वस्य

लिए भेरीकी आवाज सारे नगरमें गूँज उठी ॥२८॥ इस समाचारको सुनते ही आस-पासके  
 अन्य नगरोंके राजे-जनके आगे पाँच-छह नौकर थे—पुरके दरवाजेपर जा पहुँचे । धीरे-धीरे  
 और लोग भी क्रमसे आ गये । फलतः वहाँ बड़ो भीड़ हो गयी ॥२९॥ फिर आने पुत्र, मित्र,  
 कलत्र, भाई, पुरवासी और सामन्तोंके साथ महाराज पचनाभने भी प्रस्थान किया ॥३०॥  
 महाराज पचनाभ जब वनकी ओर जा रहे थे, उस समय सभी दर्शकोंकी दृष्टि उन्हींकी ओर  
 लगी हुई थी । इससे उनके दीप्तिमय देहमें हजारों नेत्र दृष्टिगोचर होने लगे । फलतः वे  
 नन्दन वनकी ओर जानेवाले इन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥३१॥ महाराज पचनाभ  
 शीघ्र ही वन पहुँच गये । उस वनमें अशोक वृक्ष थे और वह चारों ओरसे नागकेसरके वृक्षोंसे  
 घिरा हुआ था । पचनाभके साथ जितने मनुष्य थे वे सबके सब अशोक—शोक रहित थे तथा  
 उसे चारों ओरसे श्रेष्ठ पुरुष घेरे हुए थे । अतः उस वनकी अपने ही समान पाकर पचनाभको

१. आ प्रतावेव केवलं सूत्रमिदं दृश्यते । २. श स घा-प्रत्ययः । ३. = चुक्षोभ । ४. श स तनूजैः ।  
 ५. श स 'स्वभावां' । ६. अ ससैन्यकः । ७. = 'मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु  
 तत्लावण्यमिहोच्यते ॥' ८. श स यन् । ९. श स सह संयुं ।

वायुना विदधे किञ्चित्संज्ञाताध्वपरिश्रमः ।  
 वनलक्ष्मीविनिश्वाससमेन विपरिश्रमः ॥३३॥  
 सेनापति समादिश्य सेनामावासयेति स ।  
 प्रविवेश महानागाद्वधतीर्य महावनम् ॥३४॥  
 राजलीलां<sup>१</sup> परित्यज्य चामरादिपरिच्छदाम् ।  
 विनीतः शिष्यवद् भेजे देशं मुनिसमाश्रितम् ॥३५॥  
 दृष्टो च मुनिस्तेन स्थितो नीलशिलातले ।  
 शरत्प्रसन्ने शीतांशुरिवाकाशैकमण्डले ॥३६॥  
 त्रिः परीत्य प्रणम्य त्रिखिजं<sup>२</sup>येति निगद्य सः ।  
 त्रिरुक्मखिलं कृत्वा न्यचित्त मुनेः पुरः ॥३७॥

समं सदुद्यम् । वनं वनोद्गरोद्यानम् । क्षणात् शीघ्रात्<sup>१</sup> । प्राप्य गत्वा । विप्रियं प्राति यदौ । प्रोक्ष् प्रोती ।  
 लिट् । श्लेषः ॥३२॥ वायुनेत्यादि । किञ्चित्संज्ञाताध्वपरिश्रमः<sup>३</sup> किञ्चित् ईषत् संज्ञातेन उत्पन्नेन अध्वनः  
 मार्गस्य परिश्रमेण पुनः वनलक्ष्मीनि[विनि]श्वाससमेन वनस्य उद्यानस्य लक्ष्म्याः श्रियः नि[विनि]श्वासस्य  
 समेन सदुत्तरेण । वायुना मन्दमास्तेन । निपरिश्रमः विगतपरिश्रमः । विदधे चक्रे । दुष्टाञ्च धारणं च । कर्मणि  
 लिट् । उपमा ॥३३॥ सेनापतिमित्यादि । सः पद्मनाभभूषालः । सेनां चमूम् । आवासयेति निवासयेति<sup>४</sup>  
 सेनापति सेनानायकम् । समादिश्य आज्ञापयित्वा । महानागात् महागजपतेः<sup>५</sup> । अवतीर्य अवहत् । [महावनं]  
 महत् पृथु वनम् उद्यानम् । प्रविवेश जगाम<sup>६</sup> । विश प्रवेशने लिट् ॥३४॥ राजलीलामित्यादि । विनीतः  
 विनययुतः । चामरादिवरिच्छदा चामरादिभिः प्रकीर्णकादिभिः परिच्छदैः परिकरैः युक्ता राजलीला राज-  
 विलासम्<sup>७</sup> । परित्यज्य बिभृचपः । मुनिसमाश्रितं मुनिना मुनीश्वरेण समाश्रितम् । देशं प्रदेशम् । शिष्यवत्  
 छात्रवत् । भेजे शिष्ये<sup>८</sup> । भज सेवायाम् । लिट् ॥३५॥ दृष्टो इत्यादि । शरत्प्रसन्ने शरदा प्रसन्ने निर्मले ।  
 आकाशैकमण्डले आकाशस्य एकमण्डले एकप्रदेशे । शीतांशुरिव चन्द्र इव । नीलशिलातले इन्द्रनीलशिला-  
 प्रदेशे । स्थितः । मुनिः मुनीश्वरः । तेन पद्मनाभभूषेन । ददुले च बोधये<sup>९</sup> । दृष्टुं प्रेक्षणे<sup>१०</sup> । कर्मणि लिट् ॥३६॥  
 त्रिः परीत्येत्यादि । सः पद्मनाभभूषः । त्रि परीत्य त्रीन् वारान् परीत्य प्रदक्षिणोक्त्यम् । त्रिः त्रीन् वारान्  
 जयेति सर्वोत्कर्षेण वसेत्वेति । निगद्य उच्चार्य । अखिलं समस्तम् । त्रिरुक्मं त्रिवारोक्तम् । कृत्वा विधाय ।

बड़ी प्रसन्नता हुई ॥३२॥ पद्मनाभको रास्तेको थोड़ी-सी थकान हो गयी थी । किन्तु उसे  
 वनलक्ष्मीकी श्वास-सरीखी वहाँको मन्द, सुगन्ध और शीतल वायुने शीघ्र हो दूर कर  
 दिया ॥३३॥ पद्मनाभने पहले सेनापतिको आदेश दिया कि सेनाको यहाँपर ठहरा दो और फिर  
 हाथीसे उतरकर वनमें प्रवेश किया ॥३४॥ पद्मनाभने चामर आदि शाहों ठाटको हटा दिया  
 और फिर एक विनीत शिष्यको भाँति वे उस प्रदेशमें जा पहुँचे जहाँ मुनिराज विराजे थे ॥३५॥  
 वहाँ पहुँचकर पद्मनाभने मुनिराजके दर्शन किये । वे उस समय नीलो चट्टानपर बिगजमान  
 थे । अतः वे शरत्काळीन निर्मल आकाशके एक प्रदेशमें पूर्णचन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे  
 थे ॥३६॥ फिर पद्मनाभने मुनिराजको तीन बार परिक्रमा की, उन्हे तीन बार प्रणाम किया  
 और तीन बार उनका जयजयकार किया । इस तरह सब तीन-तीन बार करके उनके आगे

१. क ख ग राजलक्ष्मीम् । २. = शीघ्रम् । ३. = किञ्चित् ईषत् संज्ञातेन उत्पन्नोऽध्वपरिश्रमो यस्य सः ।  
 ४. = निवेशय, हति-इत्यम् । ५. आ वा स महागजपतेः सकानात् । ६. = प्रवेशं चकार । ७. क ख घ राज-  
 विलासम् । ८. = प्राप इत्यर्थः । ९. = दृष्टव्यम् । १०. आ दृष्टुं प्रेक्षणे श स दृष्ट प्रेक्षणे ।

नृपतेमुकुलीकुर्वन्स कराभ्मोरुहद्वयम् ।  
 शीतगुत्वं व्यनक्ति स्म स्वकीयं मुनिपुंगवः ॥३८॥  
 भुवः शोभाभवद्योगाद्या जिनेन्द्रसुरेन्द्रयोः ।  
 तयोः संगतयोरालीप्ता मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः ॥३९॥  
 शान्ते जयजयेत्युच्चैर्भव्यकोलाहले ततः ।  
 दत्ताशीर्मुनिना तेन जगाद् जगतीपतिः ॥४०॥  
 निरालोके जगत्यस्मिन्नदृष्टशिववर्त्मनि ।  
 सम्मार्गदर्शनाप्राप्तं त्वमालोक इवोद्गतः ॥४१॥  
 खपुष्पं तदहं मन्ये भुवने सचराचरे ।  
 दिव्यबानमये यच्च स्फुरितं तव चक्षुषि ॥४२॥

मुनेः मुनीन्द्रस्य । पुरः अप्रे । न्यविक्षत उपाविशत । विश प्रवेशने । लङ् ॥३७॥ नृपतेरित्यादि । नृपतेः पद्मनाभमहीपतेः । कराभ्मोरुहद्वयं मुकुलीकुर्वन् कुङ्कुलीकुर्वन् । स मुनिपुंगवः मुनीना पुंगवः श्रेष्ठः । स्वकीयं स्वसंबन्धम् शीतगुत्वं शीता गावः किरणाः यस्य [सः] शीतगुः, तस्य भावः तत् । व्यनक्ति स्म व्यक्तो करोति स्म । अञ्जु गतिव्यक्तिप्रशङ्गेषु । लट् । लट् स्म योगे भूतार्थः ॥३८॥ भुव इत्यादि । जिनेन्द्र-सुरेन्द्रयोः तीर्थकरदेवेन्द्रयोः । योगात् संबन्धात् । भुवः भूमेः । या शोभा धृतिः । अभवत् अभूत् । लङ् । संगतयोः संयुक्तयोः । तयोः मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः श्रीधरमुनीन्द्रपद्मनाभयोः । योगात् सा शोभा । आशीत् अभवत् । अस भुवि लङ् ॥३९॥ शास्त्र इत्यादि । ततः पश्चात् । जय जयेति सत्त्वैर्कर्षणं वर्तस्वेति । उच्चैः, नितागतम् । भव्यकोलाहले भव्यानां रत्नत्रयाविभवनयोग्यानां कोलाहले कलकले । शान्ते स्तिमिते । तेन मुनिना मुनीन्द्रेण । दत्ताशीः वितोर्णाशीः । जगतीपतिः जगत्या, लोकस्य पतिः । जगाद् उवाच । गद व्यक्तार्था वाचि । लिट् ॥४०॥ निरालोक इत्यादि । नाथ स्वामिन् । अदृष्टशिववर्त्मनि शिवस्य मोक्षस्य वर्त्म मार्गः शिव-वर्त्म, अदृष्ट शिववर्त्म येन (यस्मिन्) तस्मिन् । निरालोके आलोकान्निर्गतो[त] निरालोकः[कं] तस्मिन्, प्रकाशरहित इत्यर्थः । 'आलोक' दर्शनोद्योती इत्यमरः । अस्मिन् एतस्मिन् । जगति लोके । सम्मार्ग-दर्शनात् सतो विशिष्टस्य मार्गस्य अभ्युपेतप्राप्त्युपायस्य दर्शनात् प्रकाशनात् । त्वं भवान् । आलोक इव प्रदीप इव । उद्गगन उद्गच्छन्ति स्म तयोक्तः अधिगतः । गम्लु गतो । क्तप्रत्ययः । उपमा ॥४१॥ खपुष्पमि-

वैठ गया ॥३७॥ मुनिराजके आगे बैठते हो पद्मनाभके दोनों हाथ अपने आप संकुचित कमलकी कलीकी भाँति जुड़ गये । अतः ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो मुनिराजने अपना चन्द्रपना व्यक्त कर दिया हो ॥३८॥ मुनिराज और राजा पद्मनाभके संयोगसे उस समय पृथिवीकी वही शोभा उत्पन्न हो गयी जो पहले तीर्थकर और इन्द्रके संयोगसे हुई थी ॥३९॥ भव्य जीव इस समय मुनिराजकी जयजयकार कर रहे थे । इससे बड़ा कोलाहल सुनायी पड़ रहा था । उसके शान्त होते ही पद्मनाभ मुनिराजसे आशीर्वाद लेकर यों बोला— नाथ ! इस जगत्में ज्ञानका प्रकाश न रहनेसे कल्याणका मार्ग नहीं सूझ रहा था । आपके आते ही वह सूझने लगा है, अतः आप प्रकट हुए प्रकाशके समान हैं ॥४२॥ इस जंगम

१. स नरेन्द्रमुनीन्द्रयोः । २. अ आ इ 'देशनाप्राप्त' । ३. आ कर एवाभ्मोरुहयो द्वयम् ( करावेवा-भ्मोरुहे तयोर्द्वयं करकमलयुगलम् ) । ४. श स कराभ्मो-इत्यादि मूलं तद्वयाख्यानां च नास्ति । ५. = आत्मीयम् । ६. श स किरणानि । ७. श स भवन इत्यादि । ८. स नरेन्द्रमुनीन्द्रयोः । ९. आ मार्ग । १०. आ 'लोक' । ११. अ आ इ 'देशनाप्राप्त' । १२. आ प्रती केवलम् 'अभ्युपेतप्राप्त्युपायस्य' इति समुपलभ्यते ।



ततोऽवगन्तुमिच्छामि त्वत्तत्तत्त्वं जगत्प्रभो ।  
 संदिग्धं हि परिज्ञानं गुरुप्रत्ययवर्जितम् ॥४३॥  
 कचिद्विद्यं यतः प्राहुर्नास्तिकागममाश्रिताः ।  
 न जीवः कश्चिदप्यस्ति पदार्थो मानगोचरः ॥४४॥

स्थादि । सचराचरे चरादश्च अचरादश्च चराचराः तैः सह वर्तन्ते इति सचराचरं तस्मिन्, जङ्गमस्यावरसहिते इत्यर्थः । भुवने जगति । यत् वस्तु । दिव्यज्ञानमये अपूर्वज्ञानस्वरूपे । तत्र भवतः । चक्षुषि ज्ञानचक्षुषि । न स्फुरित न दृष्टम् । तत् वस्तु । खपुष्पम् आकाशकुसुममिति । ग्रन्थे जानामि । मनि ज्ञाने लट् ॥४२॥ तत् इत्यादि । ततः तस्मात् कारणात् । जगत्प्रभो जगता प्रभो जगन्नाथ । त्वत् त्वत् त्वत्तः भवतः सकाशात् । तत्त्वं वस्तुस्वरूपम् । अधिगन्तुम् अधिगमनाय अधिगन्तुं ज्ञातुम् । गत्यर्थानां घातुना ज्ञानार्थस्यादित्यर्थः । इच्छामि वाञ्छामि । इयु इच्छाया लट् । 'यं मिषोः इच्छ इति दादेशः' <sup>३</sup> ( 'यम्गमिषोदिश च्छ' शाकटा० ४।२।५७ यम् गम् इयु इत्येतेषां घातुना यि प्रत्यये छकारादेशो भवति । यच्छति गच्छति इच्छति ) । गुह-प्रत्ययवर्जितं गुहो । प्रत्ययेन उपदेशेन वर्जितम् । परिज्ञानं विज्ञानम् । मंदिग्धं मथयितम् । हि स्फुटम् । अर्थान्तरस्यासः ॥४३॥ केचिदिस्थादि । मानगोचरः मानस्य प्रमाणस्य गोचरो विषयः सामान्यविशेषात्मा प्रमाणार्थो विषय इत्यभिप्रायः । कचिदपि एकोऽपि । जीव जीवति जीविष्यति अजीवोवत् इति जीवः प्राणिपदार्थः वस्तु । नास्ति न विद्यते । असं भुवि । लट् । नास्तिकागम नास्ति परलोकादिमदमित्यस्य [सः] नास्तिकः चार्वाकः, तस्य आगम मतम् । आश्रिताः आश्रयन्ते स्म तथोक्ता, अङ्गोक्तानां इत्यर्थः । केचित् अन्ये । इत्थम् अनेन प्रकारेण । 'कथमित्ययम्' इति साधु । यत यस्मात् । यतः कस्मात् (?) । प्राहुः

औरस्यावर जगत्में, मैं उस वस्तुको आकाशका फूल समझता हूँ, जो आपकी दिव्यज्ञानकी दृष्टिसे ओझल हो ॥४२॥ हे जगन्नाथ ! इसीलिए मैं आपसे तत्त्वोका स्वरूप जानना चाहता हूँ, क्योंकि गुरुके उपदेशके बिना तत्त्वज्ञानमें सन्देह बना रहता है ॥४३॥ कोई नास्तिकागम-नुयायी ( चार्वाक दर्शनवाले, और कुछ बातोंमें चार्वाकोसे भी चार कदम आगे चलनेवाले 'तत्त्वोपप्लव' दर्शनके अनुयायी ) यह कहते हैं कि 'जीव' नामका ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है,

१. चार्वाक दर्शन बहुत पुराना है । इसका उल्लेख महाभारतमें भी मिलता है । इस दर्शनकी दृष्टिसे पुष्प-पाप, स्वर्ग-नरक और आत्मा-परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार भूत हैं ( आकाश नहीं ); जीव भूत चतुष्टयके संयोगसे उत्पन्न होता है, जो देहके साथ उत्पन्न होकर, उसीके साथ नष्ट हो जाता है और केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है । तत्त्वोपप्लवदर्शन, चार्वाकदर्शनसे उत्पन्न हुआ एक नवीन दर्शन है । यो यह दर्शन स्थूल रूपसे चार्वाकदर्शन समझा जाता है, किन्तु सूक्ष्म विचार किया जाये, तो उससे भिन्न है, यद्यपि उसीसे उत्पन्न हुआ है । भिन्नताका कारण मान्यताका भेद है । चार्वाकदर्शन, भूतचतुष्टय रूप चार तत्त्व, किसी-न-किसी रूपमें जीवतत्त्व, और अन्य प्रमाणको न मानकर भी प्रत्यक्ष प्रमाण-की स्वीकार करता है, जब कि तत्त्वोपप्लव दर्शन किसी भी तत्त्व और किसी भी प्रमाणको नहीं मानता । इस दर्शनकी दृष्टिसे सर्वत्र बाधा-ही-बाधा है । इसीलिए आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रोमें उक्त दोनो दर्शनोंकी पृथक्-पृथक् समालोचना की है । प्रस्तुत प्रकरणमें महाकवि वीरभद्रने तत्त्वोपप्लवदर्शनको यहाँ पूर्वेपक्षके रूपमें उपस्थित किया है । २. आ 'चरः । ३. श स ' -बहुवचनः पाठो नास्ति । ४. आ अजिजीवत् । ५. = प्राणी । पदार्थः वस्तु । ६. श स आगमो । ७. = अङ्गीकृतवन्तः ।

अजीवश्च कथं जीवापेक्षन्तस्यात्यये भवेत् ।

अन्योन्यापेक्षया तौ हि स्थूलसूक्ष्माविब स्थितौ ॥४४॥

कथं च जीवधर्माः स्युर्बन्धमोक्षादव्यस्ततः ।

सति धर्मिणि धर्मो हि भवन्ति न तद्व्यत्यये ॥४५॥

तस्मादुपप्लुतं सर्वं तत्त्वं तिष्ठतु संवृतम् ।

प्रसार्यमाणं शतधा शीर्यते जीर्णवस्त्रवत् ॥४७॥

बुध्ति । 'बुध्तिरप्यञ्चत—' इत्यादिना रोह सादेशः बुध् आह इत्यादेशश्च । लट् ॥४४॥ अजीव इत्यादि । तस्य जीवपदार्थस्य । अत्यये अभावे सति । जीवापेक्षः जीवपदार्थसापेक्षः । अजीवश्च अजीवपदार्थः । कथं केन प्रकारेण । भवेत् स्यात् । जीवपदार्थस्य विद्यमानत्वे अजीवपदार्थ इति व्यपदेशः, तदभावे तद्व्यपदेशाभावाः, तस्मात्कारणात् अजीवपदार्थस्य जीवपदार्थापेक्षेत्यर्थः । अजीवजीवपदार्थौ स्थूलसूक्ष्माविबे । इव शब्दो वाक्यालङ्कारः । अन्योन्यापेक्षया परस्परापेक्षया । स्थितौ तिष्ठतः स्म हि । ष्ठा गतिनिवृत्तौ कर्त्तरि वतः ॥४५॥ कथमित्यादि । ततः जीवाजीवयोः परस्परापेक्षया विद्यमानत्वात् । बन्धमोक्षादयः बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ तौ आदौ<sup>१</sup> मेधा ते तथोक्ताः । जीवधर्माः जीवस्य धर्माः । कथं च केन प्रकारेण । स्युः भवेयुः । धर्मिणि धर्माः सन्ति अस्य इति धर्मो तस्मिन् । सति विद्यमाने । धर्माः स्वभावाः । भवन्ति सन्ति । भू सत्ताया लट् । तदव्यये तस्य धर्मिणः अव्यये नाये । न हि धर्माः न भवन्ति हि ॥४६॥ तस्मादित्यादि । तस्मात् कारणात् । सर्वं विश्वम् । तत्त्वं जीवादि वस्तुस्वरूपम् । उपप्लुतं<sup>२</sup> निराकृतं संवृतम् असत्यम् । तिष्ठतु वर्तताम् । प्रसार्यमाणं प्रसार्यते इति प्रसार्यमाणं विस्तार्यमाणम् । कर्मण्यानञ् । जीर्णवस्त्रवत् विशेषणवस्त्रमिष । शतधा

जो प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध हो ॥४४॥ जीव पदार्थकी सत्ता जब किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, तो उसका अभाव ही मानना होगा, और उसका अभाव माननेपर अजीव पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि जीव और अजीव पदार्थोंका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है । जैसे स्थूल और सूक्ष्मका व्यवहार । स्थूल व्यवहार तभी होता है, जब कोई सूक्ष्म हो और सूक्ष्म व्यवहार भी तभी होता है, जब कोई स्थूल हो । इसी तरह जीव व्यवहार अजीवको जानकर और अजीव व्यवहार जीवको जानकर किया जाता है ॥४५॥ और जब जीव पदार्थ ही सिद्ध नहीं है, तो उसके बन्ध और मोक्ष आदि धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? क्योंकि धर्मो-पदार्थके होनेपर ही उसका कर्म-स्वभाव या गुण सिद्ध होता है, न कि उसके अभावमें ॥४६॥ अतः जीव, अजीव, बन्ध और मोक्ष आदि सभी तत्त्व बाधित हैं । ऐसी स्थितिमें वे शास्त्रोंमें ही छिपे रहें । अन्यथा ज्यों-ज्यों विचार किया जायगा त्यों-त्यों पुराने सड़े-गले वस्त्रकी तरह उनमें सैकड़ों उलझनें उपस्थित हो जायेंगी । गला हुआ पुराना कपड़ा तभीतक सुन्दर मालूम पड़ता है, जबतक उसकी सहज खोली जाये । तह खोलनेपर तो उसकी सैकड़ों घक्तिज्यां दृष्टिगोचर होने लगती है, और वे आपसमें उलझने भी लगती हैं ॥४७॥

१. इ 'धर्मो' इति नास्ति । २. = स्थूलश्च सूक्ष्मश्चैव स्थूलसूक्ष्मौ तद्वत् । ३. = इवशब्द औपम्यवाचकः । ४. आ आदिः । ५. = उपप्लुतं बाधितं संवृतमप्रसारितं वा । ६. = विस्तार्यमाणम् । ७. श सन्तु । ८. आ वस्त्र इव ।

जीवमन्ये प्रपद्यापि तद्धर्मं प्रति वादिनः ।  
 विवदन्ते प्रबन्धेन विविधागमवासिताः ॥ ४८ ॥  
 कूटस्थनित्यतां केचित्केचिदाहुरकर्तृताम् ।  
 अन्ये तु जडतामन्ये चित्तसंततिरूपताम् ॥ ४९ ॥  
 इत्याद्यनेकसिद्धान्तगहने गहने स्थितः ।  
 यातु दिग्भ्रमसंभ्रान्तः पुरुषः केन वर्त्मना ॥ ५० ॥

शतैः प्रकारैः शतधा अनेकप्रकारैरित्यर्थः । विधीयते विनश्यति । श्रु हिंसाया कर्मणि लट् ॥४७॥ जीवमिन्यादि । अन्ये केचित् । विविधागमवासिताः विविधैर्नामाप्रकारैः आगमैर्वासिताः संस्कृताः । वादिनः मिथ्यावादिनः । जीवं जीवपदार्थम् । प्रपद्यापि अङ्गीकृत्यापि । तद्धर्मं प्रति जीवस्य सर्वं प्रति । 'आग्निं च प्रतिपर्यनुभिः' इति द्वितीया । प्रबन्धेन नाना प्रविधेन विवदन्ते विवादं कुर्वन्ति । वद व्यवहाराया वाचि । 'विप्रलापे वा' इति तड् ॥४८॥ कूटस्थेत्यादि । केचित् अन्ये । कूटस्थनित्यता कूटस्थवृत्तायो नित्यश्च तथोक्तः तस्य भावः ता त्रिकालव्याप्यविनश्यत्स्वरूपम् । आहुः ब्रुवन्ति । केचित् अन्ये । अकर्तृताम् अकर्तुं भावः ता सुखदुःखाद्यकर्तृत्वम् । आहुः ब्रुवन्ति । अन्ये तु केचित् जडताम् अज्ञानत्वम् । 'जडोऽज्ञ' इत्यमरः । आहुः ब्रुवन्ति । अन्ये केऽपि । चित्तसंततिरूपतां चित्तस्य ज्ञानस्य सन्ततिरेव सन्तानमेव रूपं स्वरूपं यस्य तस्य भावः ताम्, विज्ञानाद्वैतस्वरूपत्वमित्यर्थः । आहुः ब्रुवन्ति ॥४९॥ इतीत्यादि । गहने प्रवेष्टुमशक्ये । 'गह्वरदुःखविपिनकलिलेषु गहनम्' इति नामार्थकोशे । इत्याद्यनेकसिद्धान्तगहने इति आदिर्येषां ते इत्यादयः । अनेकं च ते सिद्धान्ताश्च तथोक्ताः, त एव गहनं तस्मिन् इत्यादिनामामातरण्ये । स्थितः तिष्ठतिस्म स्थितः । दिग्भ्रमसंभ्रान्तः दिशा ककुभा भ्रमेण मोहेन संभ्रान्तो मोहितः । पुरुष जीवः । केन वर्त्मना केन मार्गेण । यातु गच्छतु । या प्रापणे लोट् ॥५०॥

सांख्य, नैयायिक और बौद्ध आदि अन्यवादो जीवतत्त्वको स्वीकार करके भी उसके नित्यत्व आदि धर्मोंको लेकर आपसमें विवाद करते हैं, तथा अपने-अपने पक्षके समर्थनमें अपने-अपने शास्त्रोंके संस्कारवश प्रमाण भी उपस्थित करते हैं ॥४८॥ सांख्य लोग जीवको सर्वथा नित्य और सुख-दुःख आदिका अकर्ता मानते हैं । ये लोग कहते हैं कि प्रधान-अचेतन मुख आदिका कर्ता है और पुरुष-चेतन उसका भोक्ता । नैयायिक लोग जीवको जड मानते हैं । वे कहते हैं कि जीव स्वयं ज्ञानवान् नहीं है; ज्ञानके समवायसे वह ज्ञानवान् है । बौद्ध लोग जीवको चित्त-ज्ञानकी सन्तति रूप मानते हैं । उनका कहना है कि ज्ञानकी सन्तान ही जीव है ॥४९॥ इत्यादि अनेक सिद्धान्तोंके दुर्गम एवं बोहड़ जंगलमें जो यात्री अपनी गन्तव्य दिशा ही भूल गया हो, वह किस मार्गसे जाये-किस सिद्धान्तको अपनाकर अपने लक्ष्यको सिद्ध करे ? भगवान्

१. आ नाना प्रविधेन । २. = सहायाः । ३. = नैयायिकाः । ४. बौद्धाः । ५. = सन्तान एव । ६. कूटस्थ... इत्यादि श्लोकके पूर्वाद्धिमें सांख्योके दो सिद्धान्त बतलाये गये हैं—पहला कूटस्थ नित्यताका और दूसरा अकर्तृत्वका । निर्णयसागरको मुद्रित प्रतिके टिप्पणसे ज्ञात होता है कि पूर्वाद्धिमें पहला सिद्धान्त सांख्योका और दूसरा मीमांसकोका है । किन्तु टिप्पणकारका यह निराश्रय है । यदि टिप्पणकारकी दृष्टि इसी सङ्गे ८१, ८२, ८३ नं० के श्लोकोपर पड़ जाती, तो उन्हें यह भ्रम नहीं होता । पूर्वाद्धिमें 'केचित्' का दो बार प्रयोग न होता, तो भी वे इस भ्रमसे बच सकते थे ।

इत्युक्त्वा वाचमुच्चार्य विरराम नरेश्वरः ।  
 भारतीमय गम्भीरां जगाद् परमेश्वरः ॥ ५१ ॥  
 त्वयैयं ब्रुवता सूक्तं नृप सत्यमिदं कृतम् ।  
 उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः ॥ ५२ ॥  
 जीवाजीवादि यत्पृष्ठमस्पृष्टपरदूषणम् ।  
 यथा भवति तत्सर्वं तथाहं कथयामि ते ॥ ५३ ॥  
 जीवो नास्तीति पक्षोऽयं प्रत्यक्षादिनिराकृतः ।  
 तत्र हेतुमुपन्यस्यऋकुर्यात्कः स्वविडम्बनाम् ॥ ५४ ॥

हृतीत्यादि । नरेश्वरः नराणां मनुष्याणामोश्वरः पद्मनाभ । उक्त्वावर्षाम् उक्त्वो गम्भीरभूतो अर्थोऽभिषेचो यस्याः ताम् । वाचं वाणीम् । इति एवं प्रकारेण । उक्त्वा प्रोच्य । विरराम तूष्णीं स्तितः । रमिं क्रोडायाम् । लिट् । 'न पर्याङ्घ्रे रमः' इति तद्-निषेधः । अथ विरामानन्तरम् । परमेश्वरः परमवशासो ईश्वरश्च तयोश्चतः श्रोधराचार्यवर्यः । गम्भीरा गम्भीरभूताम् । भारती वाणीम् । जगाद् उवाच । गद् व्यक्ताया वाचि । लिट् ॥५१॥ स्वयेत्यादि । नृप ! नूनं जनान् पातीति नृपः, तस्य संबुद्धिः<sup>१</sup> । एवम् उक्तप्रकारेण । ब्रुवता ब्रून् व्यक्ताया वाचि ब्रवीतीति ब्रूवन् तेन ब्रुवता शतुप्रत्ययः वदता इत्यर्थः । त्वया भवता । इदं सूक्तं प्रदत्तवचनम् । सत्यं तथ्यम् । कृतं विहितम् । ईश्वरबुद्धयः ईश्वराणां पुण्यवतां बुद्धयो मतयः । "ईश्वरो विभवेराद्ये शम्भो स्वामिनि मम्मये ।" इति विश्वः । बुद्धीनां ज्ञानानाम् । उपर्युपरि पुरः पुरः । चरन्ति प्रवर्तन्ते । उपर्युपरि वैशद्यरूपेण वर्तन्ते इत्यर्थः । चर गतो लट् ॥५२॥ जीवेत्यादि<sup>२</sup> । यत् जीवा-जीवादितत्त्वम् । दूष धृतम् (?) । अस्पृष्टपरदूषणं न स्पृष्टम् अस्पृष्टं परेषा मिथ्यावादिमिद्वक्तं दूषणं तद्योक्तम् अस्पृष्टं परदूषणं यस्मिन् कर्मणि तत् । यथा येन प्रकारेण भवति । तथा तेन प्रकारेण । ब्रह्म श्रोधर-मुनि । तत्सर्वं तत्समस्तम् । ते तव । कथयामि ब्रवीमि । कथ बाधप्रबन्धे । लट् ॥५३॥ जीव इत्यादि । जीवः जीवपदार्थः, नास्तीति, अयम् एषः, पक्षः अङ्गोकारः । प्रत्यक्षादिनिराकृतः ज्ञेयज्ञानुमानादिप्रमाणैरनिरा-कृतः तिरस्कृतः<sup>३</sup> । तत्र जीवो नास्तीति पक्षे हेतुं जीवो नास्त्यनुपलम्भादिति साधनम् । उपन्यस्य प्रयोग्य । स्वविडम्बना स्वस्य विडम्बना तिरस्कारम् । क. पुरुषः । कुर्यात् विधीयान् । दुक्ञ् करणे । लिङ् ॥५४॥

बताइए ॥५०॥ इस प्रकार राजा पद्मनाभ उत्कृष्ट अर्थ-भरे शब्दोंमें अपनी बात कहकर चुप हो गये । इसके बाद मुनिराजने गम्भीर शब्दोंमें यों उत्तर दिया— ॥५१॥ राजन् ! इस प्रकारसे अपनी बात कहकर तुमने इस कहावतको सत्य सिद्ध कर दिया कि 'पुण्य वान् पुरुषोकी बुद्धि अन्य बुद्धिमानोंकी बुद्धिके आगे चलती है' ॥५२॥ जिन जीव और अजीव आदि तत्त्वोंके विषयमें तुमने पूछा है, उनको मैं तुम्हें ऐसे ढंगसे बतलाये देता हूँ, जिससे अन्यवादियोंके दोष उनका स्पर्श तक न कर सकें ॥५३॥ 'जीव नहीं है' यह तत्त्वोपप्लव-वादियोंका पक्ष प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे खण्डित है । ऐसी अवस्थामें 'क्योंकि उसको उपलब्धि

१. अ. परदूषणम् । २. आ रम् । ३. संबुद्धौ । ४. आ ब्रू । ५. = सुभाषितम् । ६. आ श स कृतं विहितम् । इदं सूक्तं प्रदत्तवचनम् । सत्यं तथ्यम् । ७. = प्रत्यक्षप्रतिभाः । ८. आ प्रतो श्लोकस्यास्य म्यास्या नोपलभ्यते । ९. = पृष्ठं जिज्ञासितम् । १०. = जीवो नास्तीति चार्वाकैस्त्वन्यस्यते । प्रसिद्धो षर्षो पक्षः, तत्र चार्वाकाप्रसिद्धस्य जीवस्य पक्षत्वकरणे स्वविडम्बना कः कुर्यात् ? प्रसिद्धपक्षस्य हेतुविषयत्वं क्रियते । अथवा जीवो नास्ति, अनुपलम्भे—इति भवतानुपलम्भविषयीक्रियमाणो जीवः पक्षः, प्रत्यक्षोपलम्भेन स्वसंबेदनलक्षणेनैव निराकृत इति ।

प्रतिजन्तु यतो जीवः स्वसंवेदनगोचरः ।

मुखदुःखादिपर्यायैराक्रान्तः प्रतिभासते ॥ ५५ ॥

नचास्वेवदितं<sup>१</sup> ज्ञानं वेद्यत्वात्कलशादिवत् ।

स्वात्मन्यपि क्रियादृष्टेर्दीपादेः स्वप्रकाशनात् ॥ ५६ ॥

विषयान्तरसंचारो न च स्यादस्ववेदिनः ।

अपरापरबोधस्य वेदनीयस्य संभवात् ॥ ५७ ॥

प्रतीत्यादि । यतः यतः कारणात् । प्रतिजन्तु जन्तु जन्तु प्रति [इति] प्रतिजन्तु । अग्न्ययोभाषः । स्वसंवेदनगोचरः स्वसंवेदनस्य सुखी अहं दुःखो अहम् इत्यादि स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्य गोचरो विषयः । मुखदुःखादिपर्यायैः मुखं च दुःखं मुखदुःखं ते आदौ येषां ते तथोक्ताः मुखदुःखादयश्च ते पर्यायाश्च ते, आदिपदेन रागद्वेषादि विपरिणामाः परिगृह्यन्ते । आक्रान्तः प्रापितः, जीवः जीवपदार्थः । प्रतिभासते प्रकाशते । भासि दीप्तौ । लट् ॥ ५५ ॥ न चेत्यादि । ज्ञानं धर्मः । अस्ववेदितं स्ववेदितं न; अस्ववेदितम् इति साध्यम् । वेद्यत्वात् ज्ञातु योग्यत्वात् । इति प्रमेयत्वात् हेतुः । कलशादिबत् इति दुष्टान्तः एवं न च । स्वात्मनि स्वरूपे । क्रियावृत्तेः । क्रियायाः व्यापारस्य वृत्तेः प्रवृत्तेः । दीपादेः प्रदीपादेः । आदिशब्देन सूपादेः, स्वप्रकाशनात् स्वरूप प्रकाशनं प्रभासनं स्वप्रकाशनं तस्मात्, स्वप्रकाशनाभावे परप्रकाशनानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ ५६ ॥ विषयेत्यादि । अस्ववेदिनः स्ववसायनहितस्य ज्ञानस्य । विषयान्तरसंचारः विषयान्तरेण परविषयेण संचारः प्रवृत्तिः । न स्यात् न भवेत् ।

नही होतो' यह हेतु देकर कौन अपना परिहास करावेगा ? ॥ ५४ ॥ 'अनुपलब्धि' हेतु देकर जीवका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि जगन्में जितने भी जन्तु हैं, उनमें जीवकी सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है—प्रत्येक जन्तुके—जीवके साथ मुख-दुःख आदि अवस्थाएँ लगी हुई हैं, और इसीलिए उन्हें 'मैं सुखी हूँ' (सुखावस्थामें) 'मैं दुःखी हूँ' (दुःखावस्थामें) इस प्रकारका स्पष्ट आभास होता रहता है ॥ ५५ ॥ यदि यह कहो कि 'ज्ञान स्वसंवेदी-अपनेको जाननेवाला नहीं है; क्योंकि उसे दूसरा ज्ञान जानता है, अतः वह वेद्य है । जैसे कलश आदि । जैसे कलश आदि अपनेको नहीं जानते, वैसे ज्ञान भी अपनेको नहीं जानता; क्योंकि अपनेमें क्रिया नहीं होती । जिस प्रकार नट नृत्यकलामें कितना ही कुशल क्यों न हों, पर वह स्वयं अपने ही कन्धेपर चढ़कर नृत्य नहीं कर सकता । इसी प्रकार ज्ञान कितना ही निर्मल हो, किन्तु वह अपनेको नहीं जान सकता ।' ठीक नहीं; क्योंकि अपनेमें भी क्रिया देखी जाती है । देखिए न, दीपक, चन्द्र और सूर्य आदि अपनेको भी प्रकाशित करते हैं । दीपक आदि अपनेको प्रकाशित करनेसे यदि प्रकाश्य है, तो अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेके कारण प्रकाशक भी । इसी प्रकार ज्ञान अपनेको जानता है, अतः वेद्य है और अन्य पदार्थोंको जानता है, अतः वेदक भी ॥ ५६ ॥ यदि ज्ञान अस्वसंवेदी हो तो वह चेतन या अचेतन किसी भी पदार्थको नहीं जान सकता । यदि यह कहो कि 'पहले ज्ञानको दूसरा ज्ञान जान लेना है, अतः पहला ज्ञान पदार्थों-

१. इ नत्वास्व<sup>१</sup> । २. आ आदिः श स आदि । ३. आ 'वि' नास्ति । ४. श स धर्मः । ५. = इति हेतुः । ६. = बाध्यम् । ७. श स 'वृत्ति' । ८. = क्रियादृष्टेः क्रियादर्शनात् । ९. श स सूपादिः । १०. = प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयस्य । अतः प्रमाणमेव प्रोक्तमित्यते । ननु चेदं स्वसंवेदनलक्षणं प्रमाणमसिद्धमिति चेत्; उच्यते—न चेत्यादि । ज्ञान-स्वसंवेदनम् अस्ववेदितं भवति, वेद्यत्वात् । यद्वेद्यं तद् अस्ववेदितम् । यथा कलशादिः । [ इति ] न च—न बाध्यम् । स्वात्मन्यपि क्रियादृष्टेः—क्रियादर्शनात् । दीपादेः स्वप्रकाशनात् यथा दीपः स्वं प्रकाशयन्नेवार्थं प्रकाशयति । तथा ज्ञानम् ।

अनवस्थालता च स्यान्नमस्तलविसर्पिणी ।  
यदेवाविदितं तेषु तन्न पूर्वस्य वेदकम् ॥ ५८ ॥  
तस्माद्विषयविज्ञानमप्रत्यक्षमवस्थितम् ।  
तदप्रत्यक्षतायां च विषयस्यापि सा गतिः ॥ ५९ ॥  
परोक्षादपि ज्ञेयज्ञानादर्थोधिगतिरिष्यते ।  
परेण विदितोऽप्यर्थस्तथा स्वविदितो भवेत् ॥ ६० ॥  
तस्मात्स्ववेदने सिद्धे प्रत्यक्षे सति युक्तितः ।  
प्रत्यक्षबाधा न भवेत्कथं नास्तित्ववादिनाम् ॥ ६१ ॥

कस्मात्, इत्युक्ते । अपरापरबोधस्य अपरापरस्य उत्तरोत्तरस्य बोधस्य ज्ञानस्य । वेदनीयस्य ज्ञातव्यस्य ।  
संभवात् अस्तित्वात् ॥५७॥ अनवस्थेत्वादि । तेषु अपरापरबोधेषु । यदेव ज्ञानम् । अविदितम् अज्ञातम् ।  
ज्ञानम् । पूर्वस्य प्रथमज्ञानस्य । वेदकं बोधकम् । 'कृतकामुकस्य'—इत्यादिना कर्मणि पष्ठे । न  
भवति । नमस्तलविसर्पिणी नमस्तः आकाशस्य तले प्रदेशे विसर्पिणी प्रसारिणी, अवसानरहितेत्यर्थः ।  
अनवस्थालता अनवस्थैव अनवस्था दोष एव लता वृत्तिश्च तद्योक्ता । स्यात् । अस भुवि लिङ् ॥५८॥  
तस्माद्विष्यादि । तस्मात् कारणात् । विषयविज्ञानं विषयस्य पदार्थस्य विज्ञानं परिज्ञानम् । अप्रत्यक्षं  
परोक्षम् । अवस्थितं स्थितम् । तदप्रत्यक्षताया तस्य विषयपरिज्ञानस्याप्रत्यक्षताया च । विषयस्यापि  
पदार्थस्यापि । सा परोक्षता । गतिः क्षरणम् । स्यादित्यव्याहारः ॥५९॥ परोक्षाद्विष्यादि । परोक्षः अपि  
अप्रत्यक्षादपि । ज्ञानात् परिज्ञानात् । अर्थोधिगतिः अर्थस्य विषयस्य अविगतिः निश्चयः । इष्यते चेत्  
अङ्गीक्रियते चेत् । परेण अन्यज्ञानेन सन्तानाम्तरज्ञानेन वा । विदितोऽपि ज्ञातोऽपि । अर्थः घटादिपदार्थः । तथा  
परप्रत्यक्षप्रकारेण । स्वविदितः स्वेन विदितो ज्ञातः । भवेत् स्यात् । भू सत्ताया लिङ् ॥६०॥ तस्माद्विष्यादि ।  
तस्मात् स्वेन ज्ञातः ( ? ) अन्यस्य ज्ञानेन स्वस्य ज्ञानं न जायते तस्मात् । युक्तितः विचारात् । स्ववेदने  
स्वस्य वेदने तस्मिन् स्वस्ववेदने प्रत्यक्षे—प्रत्यक्षप्रमाणे । सिद्धे निष्पक्षे सति । 'अदभावो भावलक्षणम्' इति  
सप्तमी । नास्तित्ववादिना नास्तित्वं वदन्तोत्येवंशोलाः तेषां दूष्यवादिनाम् । प्रत्यक्षबाधा प्रत्यक्षेण प्रत्यक्ष-

को जान लेता है' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि उत्तरोत्तर जितने भी ज्ञान होंगे, वे सब  
अगले-अगले ज्ञानके वेद्य ही तो होंगे ॥५७॥ पूर्व-पूर्व ज्ञानको उत्तरोत्तर होनेवाले ज्ञान जानकर  
उन्हे पदार्थको जानने योग्य बनाते रहेंगे, ऐसा माननेपर तो अनवस्था दोषकी बेल पूरे  
आकाशमें फैल जायेगी—आकाशकी तरह उसका भी अन्त नहीं आयेगा । उत्तरोत्तर होनेवाले  
ज्ञानोंको यदि स्वतः अस्वसंवेदी ही मानते हैं तो वे पूर्व-पूर्व ज्ञानको नहीं ही जान सकेंगे ॥५८॥  
ऐसी अवस्थामें पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान अप्रत्यक्ष हो बना रहेगा । उसके अप्रत्यक्ष रहनेसे  
विषयकी भी वही गति होगी—वह भी अप्रत्यक्ष बना रहेगा ॥५९॥ यदि परोक्ष ज्ञानसे भी  
पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, यह स्वीकार करते ही तो एक मनुष्यने जिस पदार्थको जाना है,  
उसकी जानकारी दूसरेको भी हो जानी चाहिए ॥६०॥ इसलिए युक्तिबलसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षके

१. = यदि ज्ञानमन्येन ज्ञानेन विदितं सद् वेदकं स्यात् तदा । २. आ प्रतावेव केवल 'परोक्षम्'  
इत्युपलभ्यते । ३. आ निराकृतम् । ४. = तस्मात् कारणाद् युक्तितः प्रमाणोपपत्त्या स्ववेदने स्वसंवेदने  
नास्मि प्रत्यक्षे प्रमाणे सिद्धे अवस्थापिते सति नास्तित्ववादिनां च. वाक्यतत्त्वोपप्लवानां प्रत्यक्षेण बाधा प्रत्यक्ष-  
बाधा कथं न भवेत् ? अव्यक्षेण जीवमपह्नुवानानां तेषां प्रत्यक्षमेव जीवव्यवस्थापकं भवेत् इति भावः ।  
५. तत्त्वोपप्लववादिनाम् ।

जीवे सिद्धेऽपि गर्भादिमरणान्ते स्वध्वनात् ।  
 प्राग्धर्म्बं च कथं सिद्धस्तस्येति यदि मन्यसे ॥ ६२ ॥  
 सदकारणवत्त्वेन सिद्धा तन्नाप्यनादिता ।  
 अनन्तता च वाय्वग्निपृथिवीपयसामिव ॥ ६३ ॥  
 न च सिद्धमहेतुत्वं हेतोः कस्याप्ययोगतः ।  
 भूतानां न च हेतुत्वं सहप्रत्येकपक्षयोः ॥ ६४ ॥

प्रमाणेन बाधा पोडा<sup>१</sup> । कथं केन प्रकारेण । न भवेत्, अपितु भवेदेव । भू सत्ताया लिङ् ॥६१॥ जीव इत्यादि । स्वध्वेदनात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् । गर्भादिमरणान्ते गर्भ एवादिमरणमेवान्तो मरणान्तः, गर्भादिमरणान्तो यस्य<sup>२</sup> तस्मिन् । जीवे जीवपदार्थे । सिद्धेऽपि निष्पन्नेऽपि । तस्य जीवपदार्थस्य । प्राक्, यमार्त् प्राक् । ऊर्ध्वं च मरणादूर्ध्वं च । चकारः समुच्चयार्थः । कथं केन प्रकारेण । सिद्धिः अस्तित्वम् । इति यदि मन्यसे जानासि । मनि ज्ञाने लट् ॥६२॥ सदित्यादि । तत्रापि जीवपदार्थेऽपि । सदकारणवत्त्वेन सतो नित्यस्याकारणवत्त्वं तेन, 'सदकारणवन्नित्यम्'<sup>३</sup> इत्यभिधानात् । वाय्वग्निपृथिवीपयसामिव वायुवच्चानिदं पृथिवी च पयश्च तद्योक्तानि । अनादिता न विद्यते आदिमस्य [ स. ] अनादिः तस्य भावः तद्योक्ता आदिरहितत्वम् । अनन्तता न विद्यतेऽतोऽवसानो [न] यस्य [स.] अनन्तः । तस्य भावोऽनन्तता अवसानराहित्यम् । सिद्धा निष्पन्ना<sup>४</sup> ॥६३॥ न चेत्स्यादि । अहेतुत्वम् असाधनत्वम्<sup>५</sup> । असिद्धम् अप्रसिद्धम् [अनिष्पन्नम्] । न च न भवति । कस्यापि हेतोः साधनस्य । अयोगतः अयोगादयोगतोऽप्यटनात् । सहप्रत्येकपक्षयोः सह सहितश्च प्रत्येकश्च सहप्रत्येको<sup>६</sup> ( ? ) तो च तो पक्षो च तद्योक्तो, तयोः योगपक्ष—अ(पा)यंक्षयपक्षयोः, वाय्वग्निपृथिवीपयसामिव जीवस्य युगत्कारणानि पृथिव्याद्येकैकं प्रत्येकतया कारणम् इति सहप्रत्येकपक्षो तयोः रित्यर्थः । भूतानां पृथिव्यादीनाम् । हेतुत्व

सिद्ध हो जानेपर तत्त्वोपप्लववादियोंको प्रत्यक्ष बाधा क्यों नहीं होगी ? ॥६१॥ यदि तुम स्वसंवेदन प्रत्यक्षके आधारपर गर्भसे लेकर मरण पर्यांत जीवकी सत्ताको मानकर भी यह पूछो कि 'गर्भसे पहले और मरणके बाद उसकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है ?' तो सुनो, जो पदार्थ सत् हों और जिनकी उत्पत्ति किसीसे न हुई हो, वे सब निश्चित ही अनादि और अनन्त होते हैं । जैसे पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ॥६२-६३॥ जीवकी उत्पत्तिका कोई हेतु नहीं है—वह किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ, यह असिद्ध है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि उसकी उत्पत्तिका कोई हेतु सिद्ध नहीं है । यदि यह कहा जाये कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत उसकी उत्पत्तिमें हेतु हैं, तो दो विकल्प उठते हैं—(१) चारों भूत मिलकर जीवकी उत्पत्तिमें हेतु है, (२) या एक-एक करके ? वे दोनों ही तरह जीवकी उत्पत्तिमें हेतु

१. विरोधः । २. वा स यस्मिन् । ३. वा स<sup>१</sup> वन्नित्याभिधानात् । ४. = वादिप्रतिवाद्यपेक्षया व्यवस्थाप्यमानो जीवः पक्षः, अनाद्यनन्तो भवति, सदकारणवत्त्वात् । येषां सदकारणवत्त्वं तेषामनाद्यनन्तत्वम् । यथा वाय्वग्निपृथिवीपयसाम् । सदकारणवादाद्यतो तस्मादनाद्यनन्तः । ५. अथा इ न च न हेतुः = अकारणवत्त्वम् । ६. = सहपक्षो योगपक्षपक्षः, प्रत्येकपक्षः क्रमपक्षः ।

प्रत्येकपक्षे जीवानां भूतसंख्या प्रसज्यते ।

सहपक्षेऽप्यसंविद्धयस्तेभ्यः स्याच्चेतनः कथम् ॥ ६४ ॥

सजातीयं ह्युपादानं दृष्टं घटपटादिषु ।

मृदादीनां हि हेतूनां घटाद्यनुगमेक्षणात् ॥ ६६ ॥

साधनत्वम् । न च भवेत् ॥६४॥ प्रत्येकेत्यादि । प्रत्येकपक्षे पृथक् पक्षे । जीवानां जीवपदार्थानाम् । भूत-  
संख्या भूतानां पृथिव्यादीनां संख्या गणना । प्रसज्यते प्रशंस्यते<sup>१</sup> (?) सहपक्षेऽपि योगपक्षपक्षेऽपि । असंविद्धयः ।  
न विद्यते संवित् येषां तेभ्योऽचेतनेभ्यः । तेभ्यः भूतचतुष्टयेभ्यः । चेतनः जीवपदार्थः । कथं केनप्रकारेण ।  
स्यात् भवेत् न स्यादित्यर्थः । असं भुवि लिङ् ॥६५॥ सजातीयमित्यादि । घटपटादिषु घटश्च पटश्च घटपटी  
तौ आदी<sup>३</sup> येषां तेषु घटपटादिपदार्थेषु । सजातीयं समानाजातियस्य [तत्] सजातीयम्, 'जातेवङ्कः सामान्य-  
वति' इति छ-प्रत्ययः, समानजातियुक्तम् । उपादानं त्यक्तात्यक्तरूपम् उपादानम्<sup>४</sup> इति लक्षणम्, मुख्यकारण-  
मित्यर्थः । दृष्टं दृश्यते स्म दृष्टम् । हि स्फुटम् । हि यस्मात् । मृदादीनां मृत्पिण्डादीनाम्<sup>५</sup> । हेतूनां मुख्यकार-  
णानाम् । घटाद्यनुगमेक्षणात् घटादिषु कलशादिषु अनुगमस्यान्वयस्य ईक्षणात् दर्शनात् । इदं हेतुरूपम् ॥६६॥

नहीं हो सकते । क्यों ? सुनि—॥६४॥ यदि चार भूतोंमें-से किसी भी एकको जीवकी  
उत्पत्तिमें हेतु मान लिया जाये तो जीवमें उसकी संख्याका प्रसंग आयेगा—जिस भूतसे जीवकी  
उत्पत्ति होगी, उसके प्रत्येक कणमें जीवोत्पादनकी शक्ति होगी या उनके समुदायमें ? यदि  
प्रत्येकमें, तो जितनी संख्या कणोंकी होगी, उतनी ही जीवोंकी संख्या होगी । किन्तु किसी भी  
एक शरीरमें अनेक जीवोंकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं; क्योंकि सभी जीवोंकी अलग-अलग  
इच्छाएँ उत्पन्न होंगी, फलतः उन इच्छाओंकी पूर्तिके लिए सभी जीवोंमें सदा महाभारत छिड़ा  
रहेगा । यदि इस संख्याके प्रसंगसे बचनेके लिए किसी एक या चारों भूतोंके कण-समुदायमें  
जीवोत्पादनकी शक्ति मान ली जाये, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि चाहे एक भूतके कण हों  
चाहे चारोंके, वे सबके सब अचेतन हैं, और अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति हो नहीं सकती ।  
ऐसा एक भी उदाहरण नहीं जो अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति सिद्ध करनेमें सहायक हो ॥६५॥  
प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त ये दो कारण होते हैं । उनमें उपादान कारण  
सदा सजातीय ही होता है, यह नियम है । घटकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मिट्टी है और  
कपड़ेकी उत्पत्तिमें तन्तु । मिट्टी घड़ेकी सजातीय है और तन्तु कपड़ेके । इन सजातीय उपादान  
कारणोंका घड़े और कपड़ेमें सदा अन्वय बना रहता है, जिसे हम सब देखते ही है । अतः  
चारों भूत चूँकि जीवके सजातीय नहीं, विजातीय हैं, इसलिए उन्हें जीवकी उत्पत्तिमें  
उपादान कारण नहीं मान सकते । उन चारोंका जीवमें अन्वय भी तो हम नहीं देखते ॥६६॥

१. प्रत्येकभूताज्जीवो जायते-इति पक्षे । २. = भूतानां यावती संख्या तावती संख्या तदुत्पन्नानां  
जीवानामपि स्यादित्यर्थः । ३. श स जाधिः । ४. = त्यक्तात्यक्तरात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते । कालत्रयेऽपि  
तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् । अष्टवह्नो-२१० । ५. श स मृदघटादीनाम् ।



युज्यते व्यभिचारोऽपि न शृङ्गादेः शरादिना ।

तत्रापि पुद्गलत्वेन सजातीयत्वसंभवात् ॥ ६७ ॥

विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यो जायते यदि चेतनः ।

पयसोऽपि भवेत्पृथ्वो तन्न तत्त्वचतुष्टयम् ॥ ६८ ॥

न चान्यदस्त्युपादानं भूम्यादिव्यतिरेकतः ।

भूतानां संहतिर्येन कल्प्येत सङ्गकारिणी ॥ ६९ ॥

युज्यत इत्यादि । शृङ्गादेः विपाणादेः सकाशात्—विजातीयोऽपि शृङ्गादेः शराद्युत्पत्तिदर्शनात् । शरादिना बाणादिना<sup>१</sup> व्यभिचारोऽपि अनेकास्ति<sup>२</sup>कोऽपि । न युज्यते न संबध्यते<sup>३</sup> । तत्रापि शरादावपि । पुद्गलत्वेन गलति पूरयतीति पुद्गल<sup>४</sup> तस्य भावः तेन अचेतनत्वेन । सजातीयत्व संभवात् समानजातिगुणत्वस्य संभवात् सङ्गावात् । इदमपि हेतुरूपम् । अचेतनेभ्योऽपि भूतेभ्यश्चेतनो जीवो जन्यते इति व्यभिचारिता न, सजातीयो-  
देव सजातीयोत्पत्तिनियम इति चेत्, न युक्तम्, तत्रापि शरादिषु पुद्गलत्वेन<sup>५</sup> सजातीयत्वसंभवादिति भावः ॥६७॥ विजातिभ्योऽपीत्यादि<sup>६</sup> । यत्र कुत्रापि विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः । चेतनः जीवपदार्थः । जायेत उदायेत । तत् तर्हि । पयसोऽपि जलादपि । पृथ्वी पृथिवी । भवेत् जायेत । तत्त्वचतुष्टयं चत्वारोऽवयवा अस्य चतुष्टयम् 'अवयवानयम्' तत्त्वानां चतुष्टयं तथोक्तम् । न न भवेत् । विजातीयोऽपि विजातीयोत्पत्तिरित्युक्ते भूतचतुष्टयस्यैकत्वावपि<sup>७</sup>, तेषामन्योन्योत्पत्तिदर्शनादित्यर्थः ॥६८॥ न चेत्यादि । उपादानकारणानि मा भूवन् सङ्गकारिकारणानि भविष्यन्तीत्यपि युक्तं न भवति, भूतचतुष्टयमन्तरेण पदार्थान्तराभावादानुपादा शिद्धिप्रसंगात् । तस्मात् कथं सङ्गकारिकारणभावे भूतचतुष्टयस्येति प्रश्नायेन न चान्यदपीत्याह । भूम्यादिव्यतिरेकतो भूम्यादिभ्यो व्यतिरेकतो भिन्नत्वात् । अन्यदपि अपरमपि । उपादानं मुख्यं कारणम् । न च न भवति । भूतानां पृथिव्या-

यदि यह कहा जाये कि 'सीग यद्यपि बाणका सजातीय नहीं है, फिर भी उससे बाण बनाया जाता है, अतः सजातीय ही उपादानकारण होता है, यह नियम कहाँ रहा ? वह तो व्यभि-  
चारिन हो जाता है ।' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सीग पुद्गल है और बाण भी पुद्गल है, अतः दोनों सजातीय ही है, विजातीय नहीं । चारो भूत अचेतन है और जीव चेतन, अतः जीवकी उत्पत्तिमें वे सजातीय नहीं, विजातीय हैं ॥६७॥ यदि विजातीय भूतोंसे भी जीव उत्पन्न हो जाये तो जलसे पृथिवीकी भी उत्पत्ति हो जाये, और ऐसी दशामे आपके चार भूत तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे ॥६८॥ पृथिवी आदि चार भूतोंको छोड़कर कोई पदार्थ जीवकी उत्पत्तिमें उपादानकारण नहीं है, जिससे भूत समुदायको उसकी उत्पत्तिमें सङ्गकारी कारण माना जाय । अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जीवकी उत्पत्तिमें भूत समुदाय सङ्गकारी कारण है । क्योंकि जीवकी उत्पत्तिमें यदि कोई उपादान कारण सिद्ध हो जाता तो भूत समु-  
दायको उसमें सङ्गकारी कारण कल्पित किया जा सकता था । उपादानके बिना सङ्गकारी कारण

१. अ आ इ कल्पेत । २. श स शरादीनां बाणादीनाम् । ३. आ<sup>०</sup> बन्ध्यते । ४. = पूरयति  
गलतीति पुद्गलः पूरणाद् गलनाद्वा पुद्गलः । ५. श स<sup>०</sup> त्वेन न । ६. आ विजातीयेत्यादि । ७. श स<sup>०</sup>  
त्पत्तिरिति भूतम् ।

न चोपादानधर्मोऽपि<sup>१</sup> काये कोऽप्यवलोक्यते ।

शरीरे तदवस्थेऽपि जीवे विकृतिदर्शनात् ॥ ७० ॥

घटादिकारणेभ्येत्स्मुदादिषु न चेद्व्यते ।

ततोऽनुमानबाधापि<sup>२</sup> पक्षं व्याघ्रीव बोधते<sup>३</sup> ॥ ७१ ॥

दीनाम् । मंथनि<sup>४</sup> समूहः । सहकारिणो सहकारिकारणभूता । येन कथं कल्प्यते ? काकु<sup>५</sup> ॥ ६९ ॥ न चेत्यादि । काये देहे । कोऽपि<sup>६</sup> उपादानधर्मः उपादानरूप मुख्यकारणस्य धर्मोऽपि स्वरूपमपि । न चावलोक्यते न च दृश्यते । शरीरे देहे<sup>७</sup> । तदवस्थेऽपि पूर्वकारसहिते सत्यपि । जीवे जीवपदार्थे । विकृतिदर्शनात् विकृतेविकारस्य दर्शनात् अवलोकनात् ॥ ७० ॥ घटादीत्यादि । घटादिकारणेषु घटादीनां कारणेषु मृदादिषु मृदादिर्मेषां तेषु मृत्पिण्डादिषु । एतत् चैनन्यम् । न चेद्व्यते नाङ्गीक्रियते । इय इच्छायाम् । कर्मणि लट् । ततो मृदादिषु चैनन्याभावादेव । अनुमानबाधापि अनुमानप्रमाणेन बाधापि<sup>८</sup> । व्याघ्रीव शार्दूलोव । पक्षं जीवो नास्तीति पक्षम् ।

कार्यकी उत्पत्ति नहीं कर सकता है ॥ ६९ ॥ यदि यह कहो कि जीवकी उत्पत्तिमें उसका शरीर उपादान कारण है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि आत्मामें उपादानरूप शरीरका स्वभाव नहीं देख पड़ता । उपादान कारणमें यदि कोई विकार उत्पन्न हो तो उसका प्रभाव कार्यपर अवश्य ही पड़ता है, किन्तु शरीरके ज्यों-के-स्थीं बने रहनेपर भी जीवमें विकार देखा जाता है । यदि शरीर उपादान कारण होता तो उसके अविकृत रहनेपर जीवको भी अविकृत रहना चाहिए । उपादानका धर्म उपादेयपर अपना प्रभाव अवश्य ही डालता है । यदि शरीरको उपादान और आत्माको उपादेय मानते है, तो आत्मामें शरीरका कोई धर्म अवश्य देख पड़ना चाहिए, किन्तु नहीं देख पड़ता—शरीर आँखोंसे देख लिया जाता है, किन्तु आत्मा आँखोंसे कभी नहीं देखा जा सकता, शरीरमें अनेक विकार देखे जाते हैं, किन्तु वे आत्मामें नहीं देखे जाते; शरीरके बलमें न्यूनता देखनेपर भी आत्माके बलमें अधिकता देखी जाती है । अतः शरीर आत्माका उपादान कारण नहीं माना जा सकता है ॥ ७० ॥ घट आदि पदार्थोंके जो मिट्टी आदि उपादान कारण हैं, उनमें यह बात नहीं देखी जाती कि मिट्टी आदि उपादान कारणमें विकार होनेपर भी घट आदिमें विकार न हो । अतः अनुमान बाधा भी आपके पक्षपर व्याघ्रीकी तरह क्रूर दृष्टि डाल रही है । चवालीसवें श्लोकमें तत्त्वोपप्लववादीने कहा था कि जीव पदार्थकी कोई प्रमाणसिद्ध सत्ता नहीं है । उसके 'जीव नहीं है' इस पक्षमें चौवनसे एकसठवें श्लोक तक प्रत्यक्ष-स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे बाधा दिखलाई थी । उसके पश्चात् बासठवें श्लोकसे बहत्तरवें श्लोक तक अनुमान बाधा दिखलाई गयी । स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त जीवकी सत्ता सिद्ध होती है और 'जीव अनादि और अनन्त है; क्योंकि वह सत् पदार्थ है और उसकी उत्पत्ति किसी अन्य पदार्थमें नहीं हुई है । जैसे भूत चतुष्टय' इस अनुमानसे जीवकी अनादिता और अनन्तता सिद्ध होती है और इसलिए यही अनुमान पूर्व पक्षोंके पक्षमें बाधा उपस्थित करता है ॥ ७१ ॥

१. अ मद्योपादानधर्मोऽपि । २. म बाधादि । ३. अ व्याघ्रावतीसते । ४. आ बाधि । ५. कस शरीरो देहो । ६. = घटादिकारणेषु मृदादिषु, एतद्भिन्नलक्षणत्व नैव्यते च, ततस्तस्मादनुमानबाधापि पक्षं बोधते । व्याघ्रीवत् । यथा प्रत्यक्षेण पक्षबाधा तथानुमानतोऽपीति रहस्यम् ।

हेतुश्चानुपलम्भादिरसिद्धोऽभावसाधने ।  
 तस्य स्ववेदनाध्यक्षादुपलम्भस्य संभवात् ॥ ७२ ॥  
 न चात्मभूतयोरैक्यं चिदचिद्रूपभेदतः ।  
 विभिन्नप्रतिभासित्वाद्भेदलक्षणसंभवात् ॥ ७३ ॥  
 इत्यमात्मनि संसिद्धेऽनित्यत्वैकान्तकल्पना ।  
 तस्यान्यैः क्रियते तेऽपि प्रत्यक्षेणैव बाधिताः ॥ ७४ ॥  
 यतः स्ववेदनादात्मा<sup>१</sup> सुखदुःखादिपर्ययैः ।  
 विद्यतेमानः सततं प्रतिप्राणि प्रकाशते ॥ ७५ ॥

बोधते पश्यति । ईश दर्शनं । लट् ॥ ७१ ॥ हेतुस्त्विदि । अभावसाधने अभावस्य नास्तित्वस्य साधने । अनुपलम्भादिः अप्रमेयत्वादिः । हेतुः साधनम् । असिद्धः असत्यसत्तानिश्चयः । कस्मादित्युक्ते, तस्य चैतन्यस्य, स्ववेदनाध्यक्षात् स्ववेदनं तच्छ तदध्यक्षं च प्रत्यक्षं च तस्मात्, स्वसंवेदनप्रत्यक्षादित्यर्थः । उपलम्भस्य अस्तित्वस्य । संभवात् सद्भावात् ॥ ७२ ॥ न चेत्यादि । चिदचिद्रूपभेदतः<sup>२</sup> विचित्रं अचिच्च चिदचित्तो तयो रूपं भेदस्तस्मात् ततः, चेतनाचेतनस्वरूपविशेषात् । विभिन्नप्रतिभासित्वात् विभिन्नेन भेदेन प्रतिभासत्वात् प्रकाशत्वात् । भेदलक्षणसंभवात् भेदलक्षणस्य संभवात् सद्भावात् । आत्मभूतयोः चेतनाचेतनयोः । ऐश्वर्यम् अभेदः । न च नच भवति ॥ ७३ ॥ इत्यमित्राद्यादि । इत्यम् अनेन प्रकारेण<sup>३</sup> । आत्मनि चैतन्यपदार्थं । संसिद्धे निष्पन्ने सति । तस्य जीवपदार्थस्य । यैः बाधभिः । नित्यत्वैकान्तकल्पना नित्यत्वमेकान्तं तस्य कल्पना । क्रियते विधीयते । तेऽपि बाधिनः । प्रत्यक्षेणैव प्रत्यक्षप्रमाणेनैव । बाधिताः बाध्यन्ते स्म बाधिताः । नन-प्रत्यय ॥ ७४ ॥ यत् इत्यादि । यतः यस्मादित्युक्ते । सुखदुःखादिपर्ययैः<sup>४</sup> सुखं च दुःखं च सुखदुःखे ते आदि<sup>५</sup> येना ते च ते पर्यायाश्च<sup>६</sup> तैः सुखदुःखादिपरिणामैः । सततम् अनवरतम् । विद्यतेमानः प्रवर्तमानः विकृतिगो वा । आत्मा जीवपदार्थः । स्ववेदनात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् । प्रतिप्राणि प्राणिषु प्राणिषु प्रतिप्राणि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः ।

जीवका अभाव सिद्ध करनेके लिए तत्त्वोपप्लववादीने जो अनुपलम्भ ( 'अनुपलम्भात्'—'उपलब्धि न होनेसे' यह ) हेतु दिया है, वह असिद्ध है; क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उसका सद्भाव सिद्ध है ॥ ७२ ॥ दूसरी बात यह है कि जीव तथा भूतोंमें एकता नहीं मानी जा सकती; क्योंकि उनके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं—जीवका स्वरूप चेतन और भूतोंका स्वरूप अचेतन है । जीव और भूतोंका पृथक्-पृथक् प्रतिभास होता है । जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतिभास होनेसे पृथ्वी आदि चार भूतोंको पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है, इसी प्रकार जीवका भी तो भूतोंसे भिन्न प्रतिभास होता है । अतः उसे भी भूतोंसे भिन्न मानना चाहिए । जीव और भूतोंमें भेद सिद्ध करनेवाले उनके भिन्न लक्षण पाये जाते हैं ॥ ७३ ॥ इस प्रकार जीवकी सिद्धि हो जानेपर जो (सांख्य) लोग उसे सर्वथा नित्य मानते हैं, उनका भी खण्डन प्रत्यक्षसे हो जाता है ॥ ७४ ॥ क्योंकि प्रत्येक प्राणी स्वसंवेदन प्रत्यक्षमेव यह सदेव अनुभव करता है कि उसकी आत्मा कभी सुखकी अवस्थाको और कभी दुःखकी अवस्थाको प्राप्त होता है—उसकी सुख-दुःखकी अवस्था बदलती रहती है । आत्मा द्रव्य है और सुख-दुःखादि उसकी पर्यायें हैं । गुण और पर्यायोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं । पर्यायोंके परिवर्तनका प्रभाव द्रव्य-पर भी पड़ता है । अतः पर्यायोंकी अनित्यताके कारण द्रव्य भी कदाञ्चित् अनित्य ठहरता है ।

१. म<sup>१</sup> वेदनादात्मा । २. स स जीवविद् । ३. आ स स<sup>३</sup> कारणेत्यम् । ४. आ स स<sup>४</sup> पर्यायैः । ५. = जादौ । ६. = पर्यायाश्च ।

सुखदुःखादिपर्याया जीवान्न च विभेदिनः ।  
 तस्यायमिति सम्बन्धकल्पनानुपपत्तिः ॥ ७६ ॥  
 नित्यस्यानुपकारित्वात्समवायो न युज्यते ।  
 उपकाराश्रया सर्वा संबन्धसमवस्थितिः ॥ ७७ ॥  
 उपकारोऽपि भिन्नत्वात्तस्येति कथमुच्यते ।  
 उपकारान्तरापेक्षा विद्ययादनवस्थितिम् ॥ ७८ ॥

प्रकाशते प्रतिभासते । काशि दीप्तौ लट् ॥७५॥ सुखेत्यादि । सुखदुःखादिपर्यायाः सुखदुःखादिपरिणामाः । जीवात् चैतन्यपदार्थात् । विभेदिनः अत्यन्तं भिन्नरूपाः<sup>१</sup> । न च न च भवन्ति । कस्मादिति चेत्—तस्य जीवपदार्थस्य अयम् इति<sup>२</sup> एष पर्याय इति संबन्धकल्पनानुपपत्तेः संबन्धस्य समवायादेः कल्पनायाः अनुपपत्तेरभावात् ॥७६॥ नित्यस्येत्यादि । समवायसंबन्धो वर्तते इत्युक्ते—नित्यस्य सर्वथा नित्यपदार्थस्य । अनुपकारित्वात् उपकाररहितत्वात् । समवायः समवायाख्यसंबन्धः । न युज्यते न संबध्यते । युज्यते योगे कर्मणि लट् । सर्वा समस्ता । संबन्ध-समवस्थितिः सम्बन्धस्य समवायादेः समवस्थितिः संप्राप्तिः । उपकाराश्रया उपकार एवाश्रय आधारो यस्याः सा तर्षावता । ७७॥ उपकार इत्यादि । उपकारोऽपि प्रकृतोपकारोऽपि । भिन्नत्वात् उपकारिणः सकाशात् सर्वथा भिन्नत्वात् पृथक्त्वादित्यर्थः । तस्येति तस्य उपकारिणोऽप्युपकार इति । कथं केन प्रकारेण । उच्यते भाष्यते । ब्रूय् व्यक्ताया वाचि कर्मणि लट् । 'अस्ति द्रुवोभूयचो' इति वचादेशः । 'इव्या—' इत्यादिना य इग् कृपस्य वकारस्य द्वयं उपकारादेशः । उपकारान्तरापेक्षप्रकृतोपकारादन्य उपकार उपकारान्तर तस्यापेक्षा वर्तते चेत् न ।

अतः उसे सर्वथा नित्य मानना ठीक नहीं ॥७५॥ सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ जीवसे भिन्न नहीं है । यदि इन अवस्थाओंको जीवसे भिन्न माना जाये तो 'ये अवस्थाएँ—पर्यायें इस जीवकी हैं' इस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पनाएँ नहीं हो सकती ॥७६॥ यदि कहा जाये कि पर्यायोंके साथ जीवका समवाय सम्बन्ध है तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वैशेषिक लोग समवायको सर्वथा नित्य मानते हैं । सर्वथा नित्य होनेसे वह किसीका उपकार नहीं कर सकता । फलतः समवाय सम्बन्धसे भी पर्यायोंके साथ जीवका सम्बन्ध नहीं हो सकता । उपकारके आधारपर ही सम्बन्धोंकी व्यवस्था की जाती है । जब समवाय उपकार नहीं कर सकता, तो वह द्रव्य और पर्यायोंके बीच कैसे माना जा सकता है ? ॥७७॥ अच्छा, थोड़ा देरको यह मान भो लें कि समवाय उपकार करता है, तो उपकार तो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, अतः वह अनित्य है और समवाय नित्य है । ऐसी स्थितिमें उपकारको समवायसे भिन्न मानना होगा । भिन्न मान लेनेपर 'यह उपकार समवायका है' वह कैसे सिद्ध होगा ? यदि प्रस्तुत समवायका उसके उपकारके साथ सम्बन्ध सिद्ध करनेके लिए दूसरे समवायको माना जाय, तो फिर यह प्रश्न होगा कि दूसरे समवायका उसके उपकारके साथ सम्बन्ध कैसे हांगा ? इसके उत्तरमें भी यह कहा जाय कि तीसरा समवाय मान लिया जायगा तो फिर वही प्रश्न होगा । फलतः अनवस्था हो

१. अ आ इ क ख ग घ म तस्यामी इति । २. आ श स 'त्वम्तभिन्न' । ३. 'तस्यायमिति' टीकाकृद्-भिमत पाठः, सर्वानु प्रतिषु 'तस्यामी इति' इत्येव समुपलभ्यते । पञ्चिकायामपि 'तस्यामी इति' इति वर्तते—'ते च सुखदुःखादि पर्याया जीवात् सर्वथा विभेदिन इति चेत्, न, भेदे सति 'तस्यामी' इति सम्बन्धानुपपत्तेः ।'

स्यादभिन्नस्ततो जीवः सुखदुःखादिपर्ययैः ।  
 तथा च परिणामित्वात्कथं कूटस्थनित्यता ॥ ७९ ॥  
 एतेन जडतां तस्य ब्रुवाणा विनिवारिताः ।  
 चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैरेक्यसंभवात् ॥ ८० ॥  
 न चाप्यकर्तृता तस्य बन्धाभावादिदोषतः ।  
 कथं ह्यकुर्वन्मध्येत कुशलाकुशलक्रियाः ॥ ८१ ॥

अनवस्थितिं मूलव्यवहारीकम्<sup>१</sup> । विदध्यात् कुर्यात् । इधाम् धारणे च कर्तरि लिङ् ॥ ७८ ॥ स्यादित्यादि । ततः ।  
 अनवस्थादोषात् । जीवः चैतन्यपदार्थः । सुखदुःखादिपर्ययैः, सुखदुःखादिपरिणामरूपैः । अभिन्नः अभेदरूपः ।  
 स्यात् । यदि भवेत् । असंभवि लिङ् । तथा च परिणामित्वात् पूर्वकारं त्यज्युत्तराकारमवाप्नोति  
 केनचित्प्रकारेण तिष्ठन्नेति परिणामी तस्मात् परिणामरूपपर्यायादभिन्नत्वात् नित्यस्य कूटस्थनित्यता त्रिकाल-  
 व्याप्तिरूपनित्यत्वम् । कथं केन [ प्रकारेण ] स्यात्<sup>२</sup> ॥ ७९ ॥ एतेनेति । एतेन<sup>३</sup> अनेन नित्यस्वाभावेन ।  
 तस्य जीवस्य । जडताम् अजडत्वम् । ब्रुवाणाः भाषमाणा । विनिवारिताः निराकुताः । कस्मादिति चेत्—चिद्रूप-  
 मुखदुःखादिपर्यायैः । चित्तैश्चैतनाया रूपैः, मुखदुःखादिभिः सुखदुःखप्रमुखैः पर्यायैः परिणामैः । ऐक्यसंभवात् ऐक्यस्य  
 एकत्वस्य संभवात् सद्भावात्, चेतनास्वरूपसुखदुःखादिपरिणामैरभिन्नत्वादित्यर्थः ॥ ८० ॥ न चेति । तस्य  
 जीवपदार्थस्य । अकर्तृता पुण्यपापाद्यकर्तृत्वम् । न च न च भवति । बन्धाभावादिदोषतः बन्धस्य पुण्यपापादि-  
 बन्धस्याभावः तथोक्तः स एवादिपदस्य, बन्धाभावादिदोषादोषस्य तस्मात् ततः । कुशलाकुशलक्रियाः पुण्यपाप-  
 कर्मणि<sup>४</sup> । अकुर्वन् न करोतीत्यकुर्वन् । शतृ प्रत्यय । कथं हि येन हि ( केन प्रकारेण हि ) । बध्नेत<sup>५</sup> । बधि

जायगी ॥ ७८ ॥ इसलिए यह सिद्ध है कि सुख-दुःख आदि पर्यायोंके साथ जीवका कदाञ्चित् अभेद है । और इसीलिए यह निश्चित है कि वह परिणमनशील है । ऐसी स्थितिमें जीव कूटस्थ नित्य कैसे हो सकता है ? ॥ ७९ ॥ 'सुख-दुःख आदि पर्यायों आत्मासे भिन्न है' इस सिद्धान्तके खण्डनसे आत्माको जड़ माननेवालोंका भी खण्डन हो जाता है । क्योंकि चेतन स्वरूप सुख-दुःख परिणामोंके साथ उसका अभेद सम्भव है (भेद<sup>३</sup> नहीं) ॥ ८० ॥ साम्योका जीवको अकर्त्ता मानना भी ठाक नहीं; क्योंकि अकर्त्ता माननेसे कर्मबन्धका अभाव हो जायगा । ध्यान देनेकी बात है, यदि जीव अच्छे-बुरे काम नहीं करेगा तो उसे पुण्य-पापका बन्ध कैसे होगा ? अच्छे काम करनेसे पुण्य बन्ध होता है और बुरे काम करनेसे पापबन्ध । जीवको अकर्त्ता माननेसे ये बन्ध नहीं होगा और बन्धके न होनेपर माझ कैसे होगा ? ॥ ८१ ॥

१. अ आ इ क ख ग घ म तथापि । २. = अस्ति नित्यस्थोपकारित्वात् चेत्, तस्मादुपकारोऽभिन्नो भिन्ना वा ? अभिन्नश्चेत् तत्त्वम्, भिन्नश्चेत् सबन्धासिद्धिः । उपकारान्तरमपेक्ष्य सबन्धकरणेऽनवस्थितिः स्यात् । ३. = 'मूलव्यवहारीकमहृन्नवस्था च द्रवणम् ।' ४. = 'परिणामप्रकृतिद्वयं नित्यत्वेकात्मबाधिनो ।' ५. = एतेन कूटस्थतानिराकरणेन तत्प्राप्तमनो जडतामजडत्वं ब्रुवाणा नैवाप्यकीदृशया विनिवारिताः—प्रक्षिप्ताः, चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैर्विषयैरेक्यसंभवात्, परिणामित्वेनैक्यघटनात् । ६. श स चेतश्च । ७. = तद्धि आत्माऽकर्त्ता—इति चेत्, तस्यात्मनोऽकर्तृतापि न च, बन्धाभावादिदोषात् । हि यस्मात् । कुशलाकुशलक्रियाः— मनोज्ञामनोज्ञकर्मणि अकुर्वन्नात्मा कथं बध्नेत ? न कथमपि । ८. श स 'कर्मणा । ९. = बद्धो भवेत् । १०. वैयर्थिक लोग यह मानते हैं कि सुख-दुःख आदि आत्मासे भिन्न हैं और वे यह भी मानते हैं कि ज्ञान आत्मासे भिन्न है । इनकी यह भी मान्यता है कि आत्मा स्वयं न आत्मा है और न अनात्मा, किन्तु आत्मत्वके समवायसे आत्मा है ।

भुक्तिक्रियायाः कर्तृत्वं भोक्तामेति स्वयं वदन् ।  
 तदेवापह्नुवानः सन्निक न जिह्वेति कापिलः ॥ ८२ ॥  
 अचेतनस्य बन्धादिः प्रधानस्याप्ययुक्तिकः ।  
 तस्मादकर्तृता पापादपि पापीयसी मता ॥ ८३ ॥  
 चित्तसंततिमात्रत्वमप्ययुक्तं प्रकल्पितम् ।  
 संतानिव्यतिरेकेण यतः काचिन्न संततिः ॥ ८४ ॥  
 व्यतिरेकेऽपि नित्यत्वं संतानस्य यदीष्यते ।  
 प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात्क्षणिकैकान्तवादिनाम् ॥ ८५ ॥

बन्धने कर्मणि लिङ् ॥८१॥ भुक्तीति । आत्मा जीवपदार्थः । भोक्ता सुखादिभोक्ता । इति एवम् । भुक्ति-  
 क्रियाया भुक्तेरनुमयस्य क्रियाया कार्यं । कर्तृत्वं एतन्मन्त्रत्वम् । स्वयं वदन् वदतीति वदन् वृषन् । कापिलः  
 सांख्यः । तदेव कर्तृत्वमेव । अपह्नुवानः सन् अपहनुते इति अपहनुवानः अपलपन् सन् । किं किं निमित्तम् ।  
 न जिह्वेति लज्जा न प्राप्नोति । ह्रीं लज्जायां लट् । आत्मनः स्वयं कर्तृत्वोपगमाभावे भोक्तृत्वं न घटते इति  
 तात्पर्यम् ॥८२॥ अचेतनस्येति<sup>३</sup> । अचेतनस्य अचेतनद्रव्यस्य । प्रधानस्यापि प्रकृतितत्त्वस्यापि । अयुक्तितः<sup>४</sup>  
 अयुक्तेरयुक्तितः । प्रधानस्य शुभाशुभकर्मकरणे युक्तेरसंभवात् । बन्धादिः कर्मबन्धादिः । न न भवति । तस्मात्  
 युक्तेरभावात् । अकर्तृता अकर्तृत्वम् । पापादपि कष्टादपि । पापीयसी<sup>५</sup> अतिघयेन पापरूपेति । मता मन्यते स्म  
 मता ज्ञाता ॥८३॥ चित्तेति । यत यस्मात् । संतानिव्यतिरेकेण संतानिनमन्तरेण । काचित् एका । संततिः  
 संतानः । न न भवति । चित्तसंततिमात्र [ त्व- ] मपि चित्तस्य चेतनः<sup>६</sup> संततिरेव संततिमात्र तस्य भावः  
 तत्त्वम् । तदपि अयुक्तप्रकल्पितम् अयुक्तेन युक्तिरहितेन प्रकल्पितं विहितम् ॥८४॥ व्यतिरेक इति । व्यति-  
 रेकेऽपि संतानिव्यतिरेकेऽपि सति । संतानस्य संतते । नित्यत्वं स्थिरत्वम् । यदीष्यते यद्यङ्गोत्रियते । तर्हि ।

‘आत्मा भोक्ता है’ यह कहकर सांख्यने स्वयं ही यह स्वीकार कर लिया कि वह ‘भुक्ति’ क्रियाका  
 कर्त्ता है, किन्तु फिर भी उसके कर्त्तृत्वको छिपाते हुए उसे क्यों सकोच नहीं होता ? आत्माको  
 कर्त्ता माने बिना उसे भोक्ता नहीं माना जा सकता ॥८२॥ यदि यह कहा जाय कि यह प्रधान-  
 प्रकृतिके बन्ध आदि होते हैं, तो यह भी युक्तिसङ्गत नहीं, क्योंकि वह अचेतन है । अचेतन-  
 को न बन्ध होता है और न मोक्ष । इसलिए आत्माको अकर्त्ता मानना पाप है, पाप ही नहीं  
 महापाप है ॥८३॥ बौद्ध लोगोकी कल्पना है कि केवल चित्त सन्तान—ज्ञानधारा ही आत्मा  
 है, यह भी असङ्गत है; क्योंकि सन्तानो—सन्तानवान् द्रव्यके बिना कोई भी सन्तान—गुण  
 या पर्याय सम्भव नहीं । गुण, द्रव्यको आश्रय बनाकर उसीमें रहते हैं । द्रव्यके बिना गुण  
 नहीं रह सकते, यह सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं । बौद्ध ज्ञानकी धाराको ही आत्मा  
 मानते हैं, किन्तु ज्ञानकी धारा तो गुण है, अतः गुणो-आत्माके बिना गुण-ज्ञानधाराकी सत्ता  
 कैसे रह सकती है ? ॥८४॥ यदि आप सन्तानको सन्तानोके अभावमें भी मानते हैं, तो हम  
 आपसे पूछते हैं कि वह सन्तान नित्य है या अनित्य ? यदि आप नित्य मानते हैं, तो आपकी

१. अ सत्तादि । २. ‘भुक्तिक्रियाया’ इति टीकाकारधृतः पाठ । सर्वाम् प्रतिषु तु ‘भुक्तिक्रियायाः’  
 इत्येव दृश्यते । ३. आ वा स चेतनेति । ४. अयमपि पाठः टीकाकृताधृतः, प्रतिषु तु ‘अयुक्तिकः’ इत्येव  
 समुपलभ्यते । ५. = नन्वात्मा न बध्यते, इति चेत्, न, अचेतनस्य प्रधानस्य बन्धादिरप्ययुक्तिकः,  
 चेतन एव बध्यते—इत्यर्थः । तस्मादात्मनोऽकर्तृता पापादपि पापीयसी । ६. = ज्ञानस्य । ७. प्रतिषु तु  
 ‘अयुक्त’ इत्येवास्ति । ८. = संतानिनः सकाशाद् भिन्नत्वेऽपीत्यर्थः ।

क्षणिकत्वेऽपि संतानिपक्षनिक्षिप्तदूषणम् ।

कृतनाशादिकं तस्य सर्वमेव प्रसज्यते ॥ ८६ ॥

न च व्यापकता तस्य घटनामुपढौकते ।

स्वसंघिदितरूपस्य बहिर्देहावदेदनात् ॥ ८७ ॥

तस्मादनादिनिधनः स्थितो देहप्रमाणकः ।

कर्ता भोक्ता चिदाकारः सिद्धो जीवः प्रमाणतः ॥ ८८ ॥

क्षणिकैकान्तवादिनां सर्वे क्षणिकमिति क्षणिकैकान्तवादिक्षोभतानाम् । प्रतिज्ञाहानिदोषः प्रतिज्ञायाः संहरस्य<sup>१</sup> हानिरिव दोषः । स्यात् भवेत् । नित्यस्वाङ्गीकारादेव क्षणिकैकान्त इति प्रतिज्ञाहानिदोषः ॥ ८५ ॥ क्षणिकत्वं इति । क्षणिकत्वेऽपि संतानस्य क्षणिकधर्मवत्त्वेऽपि । तस्य आत्मन । कृतनाशादिकं कृतस्य पापादेः नाशादिकं कृतनाशाङ्गनाभ्यागमादिकम् । सर्वमेव सकलमेव । संतानिपक्षनिक्षिप्तदूषणं संतानस्य<sup>२</sup> पक्षे निक्षिप्तं प्रोक्तं तन्मयं तद्दूषणं च तथोक्तम् । प्रसज्यते प्राप्यते ॥ ८६ ॥ न चेति । तस्य जीवस्य । व्यापकता विभुत्वम् । घटनां व्याप्यति । न षोडशोक्ते नोपयाति । स्वसंघिदितरूपस्य स्वेन संबिदितं ज्ञातं रूपं स्वरूपं यस्य तस्य । देहात् शरीरात् । बहिः बाह्ये । अवेदनात् अदर्शनात् । आत्मनो व्यापकत्वे देहादपि बहिः दूषयतामित्यर्थः ॥ ८७ ॥ तस्मादिति । तस्मात् देहाद्बहिर्दर्शनं न भवति यस्मात् तस्मात्<sup>३</sup> अनादिनिधनः आदिश्च निधनं च आदिनिधने, न विद्यते आदिनिधने यस्य स तथोक्तः, अन्तरहित इत्यर्थः । स्थितः नित्यरूपः । देहप्रमाणकः देह एव प्रमाण यस्य तथोक्तः, स्वीकृतदेहप्रमाण इत्यर्थः । कर्ता पुण्यपापयोः कर्ता । भोक्ता पुण्यपापजनित-मुक्तदुःखादीनां भोक्ता भुजानः । चिदाकारः चिदेवाकारो यस्य तथोक्तः, चैतन्यरूप इत्यर्थः । प्रमाणनः प्रत्यक्षादि-

यह प्रतिज्ञा कि 'सर्वे क्षणिकं मत्वात्'—'सभो पदार्थं क्षणिक है, क्योंकि वे सत् है' दूट जायगी, और प्रतिज्ञाका भङ्ग (दूटना) एक महान् दोष है, जिससे आप नहीं बच सकेंगे ॥ ८५ ॥ यदि इस दोषसे बचनेके लिए आप सन्तानको क्षणिक स्वीकार करते हैं, तो क्षणिक सन्तानोंके माननेमें जो कृतनाश आदि दोष दिये जाते हैं, वे सब-के-सब सन्तानमें भी आयेंगे - यदि सन्तान क्षणिक मानो जाय तो जो सन्तान क्षण अच्छे-बुरे कर्म करेगा, वह दूसरे क्षणमें तां रहेगा नहीं, फलतः जो दूसरे क्षणमें उत्पन्न होगा, वह उसके फलको भोगेगा । ऐसी अवस्थामें करनेवाले सन्तान क्षणको कृतनाश और न करनेवाले भोक्ता सन्तान-क्षणको अकृताभ्यागमका दोष लगेगा ॥ ८६ ॥ कुछ दार्शनिक आत्माको व्यापक मानते हैं । किन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि उसकी व्यापकता सिद्ध नहीं होती । शरीरके भीतर उनकी सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है पर शरीरके बाहर रहनेवाली आत्माकी सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं है ॥ ८७ ॥ अतः प्रमाणके आधारपर जीव अनादि—अदिरहित, अनिधन—अन्तरहित; नित्य; शरीर-प्रमाण; अच्छे-बुरे कर्मोंका कर्ता तथा उनके फलका भोक्ता और चेतनावस्वरूप सिद्ध होता

१. अ आ इ प्रमाणतः । २. अ आ इ विदाकारः । ३. = क्षणिकैकान्तं वस्तुत्वेवं शीलाः क्षणिकैकान्तवादिनः तेषां सौगतानामित्यर्थः । ४. = संतानिनः सकाशात् सन्ततिप्रसाराभिप्राया वा ? यद्यभिप्रायः तर्हि तत्समा, अभिप्रायः चेत्, नित्यानिन्या वा ? नित्यत्वे क्षणिकैकान्तवादिनां प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात् । 'सर्वे क्षणिकं सत्वात्' इति तेषां प्रतिज्ञा । ५. आ अङ्गस्य । ६. = 'कृतप्रणाशकृतकर्मयोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्ग-बोधात्' । उपेक्ष्य साक्षात् क्षणमङ्गमिच्छग्रहो महामाहसिकः परोऽमी । ७. आ श स संतानं । ८. = संतानिनः । ९. = अननुमत्ता । १०. = उत्तविबेचनात् ।

येऽप्यजीवाव्यो भावास्तदपेक्षा व्यवस्थिताः ।  
 तेऽपि संप्रति संसिद्धास्तत्र तत्त्वमुपप्लुतम् ॥ ८९ ॥  
 जीवाजीवादिषड्वर्गं प्रतिपद्यापरे पुनः ।  
 मोक्षे विप्रतिपद्यन्ते मोमांसापक्षपातिनः ॥ ९० ॥  
 तेषामप्यनुमाबाधा परिधावति वृष्टतः ।  
 यतः कर्मक्षयो मोक्षः स च सिद्धोऽनुमानतः ॥ ९१ ॥  
 तथाहि क्वचिदप्यस्ति पुंसि कृत्स्नावृत्तिक्षयः ।  
 तत्कार्यसकलजत्वस्यान्यथानुपपत्तितः ॥ ९२ ॥

प्रमाणत्वं जीवः आत्मा । सिद्धः निश्चितः ॥ ८८ ॥ ये इति । येऽपि तदपेक्षाः तस्यापेक्षा येषां ते तदपेक्षा जीवतत्त्वपेक्षाः । अजीवादयः न विद्यते जीवो यस्य स एवादियेषां ते तदोक्ताः अजीवप्रमुखाः । भावाः पदार्थाः । व्यवस्थिताः स्थापिताः । स्मृतित्यध्याहारः । तेऽपि अजीवादयोऽपि । संप्रति इदानीम् । संसिद्धाः प्रमाणप्रसिद्धाः । तत् तस्मात् कारणात् । तत्त्वं द्रव्यम् । उपप्लुतं बाधितम् । न न भवति ॥ ८९ ॥ जीवेति । मोमांसापक्षपातिनः मोमांसायाः मोमांशेति नामधेयशास्त्रस्य पक्षेऽङ्गोकारे पातिनः प्रवर्तमानाः । अन्यवादिनः । अपरे केचित् । जीवाजीवादिवर्गं जीवाजीवादोनां वर्णा वर्गम् । प्रतिपद्य प्रतिपदनं पूर्व । पुनः पश्चात् अङ्गोक्तत्वं । मोक्षे परमनिर्वाणे । विप्रतिपद्यन्ते विवादं कुर्वन्ति, जीवस्य मोक्ष एव नास्तीति विद्वदन्ते इत्यर्थः । यदि गतौ लट् ॥ ९० ॥ तेषामिति । यतः यस्मात् । कर्मक्षयः कर्मणा क्षयः नाशः । मोक्षः परमनिर्वाणः, पुण्यरापकर्मणां प्रध्वंस एव मोक्ष इत्यर्थः । न च [ स च ] मोक्षः । अनुमानतः अनुमानप्रमाणात् । दोषावरणपोहानिः क्वचित् पुंसि निःशेषास्यतिशायनादित्यनुमानादित्यर्थः । 'अथहेत्वाभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इति सूत्रकारवचनाच्च । सिद्धः निश्चितः । तेषामपि मोमांसकानामपि । वृष्टतः वृष्टे वृष्टनः पश्चाद्भावे । अनुमाबाधा अनुमानबाधा । परिधावति परिप्लायते, कथमपि न मुञ्चतीति भावः । सू गतौ लट् । 'सत्ते षीं वेगे' इति धावादेशः ॥ ९१ ॥ तथेति । तथाहि-उक्तार्थं विवृणोति । क्वचिदपि कस्मिंश्चिदपि । पुंसि पुरुषविशेषे । कृत्स्नावृत्तिक्षयः कृत्स्नायाः समस्ताया आवृत्तेरावरण-स्य क्षयो नाशः । अस्ति वर्तते । तत्कार्यसकलजत्वस्य तस्य समस्तावरणक्षयस्य कार्यस्य सकलजत्वस्य सर्वज्ञ-

है ॥ ८८ ॥ इस प्रकार जीवकी सत्ता सिद्ध हो जानेपर, उसकी अपेक्षा रखनेवाले अन्य अजीव आदि पदार्थ भी प्रस्तुत प्रसङ्गमें सिद्ध हो जाते हैं, और उन सभी पदार्थोंकी सिद्ध हो जाने-पर यह निश्चित हुआ कि तत्त्वोपप्लवादीका कहना ठीक नहीं । तत्त्वोपप्लव वादी सभी तत्त्वों-को बाधित मानता है ॥ ८९ ॥ मोमांसक लोग जीव-अजीव आदि छहों पदार्थोंकी स्वीकार करते हैं, किन्तु वे मोक्षके विषयमें विवाद करते हैं-मोक्ष नहीं मानते ॥ ९० ॥ मोमांसकोंका यह विवाद ठीक नहीं; क्योंकि अनुमान बाधा उनका पीछा कर रही है । कारण कि समस्त कर्मोंके क्षयको मोक्ष कहते हैं, जो अनुमान प्रमाणसे सिद्ध है ॥ ९१ ॥ वह इस प्रकार सिद्ध है-किसी भी पुरुषमें समस्त आवरणोंका क्षय हो जाता है; क्योंकि आवरणोंका क्षय हुए बिना उसमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती । कार्यसे कारणका अनुमान किया जाता है, यह निश्चित है । प्रस्तुत प्रसङ्गमें कर्मोंका क्षय कारण है और सर्वज्ञता उसका कार्य है । पुरुषमें सर्वज्ञता

१. आ स 'क्षप्रमा' । २. आ 'तत्त्वस्यापेक्षाः' । ३. 'वृष्टं' । ४. = अपरे अन्ये केचित्, मोमांसका इत्यर्थः । ५. = पश्चात् किञ्चित् । ६. आ प्रती केवलं 'तेषामिति' इति सम्पुलङ्ग्यते । ७. = 'दोषा-वरणयोर्हानिनिश्चेषात्स्यतिशायनात् । क्वचिदपि स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥' । ८. आ 'सत्ते षीं वेगे' न श स 'सुते षो वेग' ।



सर्वज्ञत्वं न चासिद्धं कस्यचिद्बाधकात्पयात् ।  
 सर्वत्र बाधकाभावादेव वस्तुव्यवस्थितिः ॥ ९३ ॥  
 न तस्य बाधकं तावत्प्रत्यक्षमुपपद्यते ।  
 तस्यास्तज्ञत्वादत्यक्षे न विधिर्न निषेधनम् ॥ ९४ ॥  
 न चानुमानं तद्वाधां विधातुं भवति क्षमम् ।  
 तस्मिन् पुरुषत्वादि व्यभिचारि यतोऽखिलम् ॥ ९५ ॥  
 यथाहि पुरुषत्वेऽपि वेदार्थज्ञानगोचरः ।  
 कस्याप्यतिशयस्तद्वत्सर्वार्थज्ञानगोचरः ॥ ९६ ॥

तस्य । अन्यथानुपपत्तिः अन्यथा सकलावरणक्षयाभावे' अनुपपत्तिः अर्गभवान् ॥९२॥ सर्वज्ञत्वमिति ।  
 कस्यचित् पुरुषस्य । सर्वज्ञत्व सकलज्ञत्वम् । असिद्धम् अनिश्चितम् । न च न च भवति । बाधकात्पयात्  
 बाधकाभावात् । सर्वत्र सर्वस्मिन् सर्वत्र, सर्वस्मिन् अनुमानादौ । वस्तुव्यवस्थितिः वस्तुनः पदार्थस्य व्यवस्थितिः  
 संसिद्धिः । बाधकाभावादेव बाधकस्यासंभवादेव ॥९३॥ नेति । तस्य सर्वज्ञत्वस्य । तावत् प्रथमम् । प्रत्यक्षं  
 प्रत्यक्षं प्रमाणम् । बाधकं बाधकारकम् । न उपपद्यते नोपयानि' भवितुं । तस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्य ।  
 अज्ञज्ञत्वात् इन्द्रियोत्पन्नत्वात् । अप्रत्यक्षे अतीन्द्रियविषयपदार्थे । विधिर्न विधिर्न भवति । निषेधनं च निषेध-  
 नमपि न भवति ॥९४॥ न चेति—'अनुमानं च अनुमानप्रमाणमपि । तद्वाधा तस्य सर्वज्ञत्वस्य बाधाम् ।  
 विधातुं कर्तुम् । क्षमं समर्थम् । न भवति न वर्तते ।' यतः यस्मात् । अखिल समस्तम् । पुरुषत्वादि—कश्चित्  
 सर्वज्ञो न भवति पुरुषत्वात् शिर पाण्यादिमत्त्वात् रथ्यापुरुषवदिति । तस्मिन् तस्य सर्वज्ञाभावस्य साधकं  
 लिङ्गम् । व्यभिचारि अनेकान्तिकं भवति । अनुमानम् (?) । अथवा अहं सर्वज्ञो न भवति वस्तुत्वात्  
 पुरुषत्वात् यद्वादिषदित्यनुमानम् । तद्बाधा तस्य सद्भावबाधाम् । विधातुं विधानाय विधातुं कर्तुम् । क्षम  
 समर्थम् । न च भवति । भू सताया लट् ॥९५॥ यथेति । यथा हि पुरुषत्वेऽपि पुरुषत्वसदभावोऽपि । कस्या-  
 पि पुरुषस्य । वेदार्थज्ञानगोचरः वेदानाम् अर्थो वेदार्थः तस्य ज्ञानं गोचरो विषयः [ यस्य सः ] अतिशयो

युक्ति सिद्ध होनेसे कर्मोंके ध्यका अनुमान होता है । सर्वज्ञता कर्मधायको छोड़कर  
 और किसी तरह नहीं हो सकती ॥९२॥ और सर्वज्ञता अमिद्ध नहीं है, क्योंकि पुरुषको  
 सर्वज्ञ माननेमें कोई बाधा नहीं है । बाधा न होनेसे ही सब जगह वस्तुकी व्यवस्था होती  
 है ॥९३॥ आप हमे यह समझाइए कि अमुक प्रमाण सर्वज्ञताका बाधक है । यदि आप प्रत्यक्ष-  
 को सर्वज्ञताका बाधक समझते है, तो ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष उसका बाधक सिद्ध नहीं हो  
 सकता । चूँकि प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है, इसलिए वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका न साधक है और  
 न बाधक । सर्वज्ञता अतीन्द्रिय है, अतः इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष उसका सद्भाव या  
 असद्भाव सिद्ध नहीं कर सकता ॥९४॥ और इसी प्रकार अनुमान भी सर्वज्ञतामें बाधा डालने-  
 में समर्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई हेतु ही नहीं है, जो सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध कर सके ।  
 यदि यह कहा जाय कि पुरुषत्व आदि हेतु उसके बाधक है—'कश्चित्सर्वज्ञो न भवति पुरुषत्वात्  
 शिरः पाण्यादिमत्त्वाद् रथ्यापुरुषवत्'—अर्थात् 'कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि वह पुरुष है  
 और उसके शिर तथा हाथ आदि है । जैसे गलीमें फिरनेवाला आदमी' । तो यह भी ठीक  
 नहीं; क्योंकि उक्त हेतु दूषित है ॥९५॥ जिस प्रकार पुरुषत्वके रहते हुए भी किसी व्यक्तिमें

१. आ प्रती केवल 'सकलावरणक्षयाभावे' इति समुपलभ्यते । २. = अनुपपन्नम् । ३. = व्यवस्था ।  
 ४. बा स प्रत्यक्षं । ५. = भवितुं नार्हति । ६. = यथा हि पुरुषत्वेऽपि कस्यापि वेदार्थज्ञानगोचरोऽति-  
 शयस्त्वद् कस्यापि सर्वार्थज्ञानगोचरोऽपि ।

रासभो न यथा शृङ्गी देशकालान्तरेऽखिलः ।

तथा पुमान् सर्वत्रो देशकालान्तरेऽखिलः ॥ ६७ ॥

इत्यादि नोपमानं च युक्तमिष्टविधाततः ।

तथा हि खचरादीनां न स्यात्खगमनादिकम् ॥ ६८ ॥

तस्मान्नरविशेषोऽसौ यस्य सा सकलज्ञता ।

तथा खरविशेषश्चेद्विष्टा तस्यापि शृङ्गिता ॥ ६९ ॥

भवति । न [च] वेदार्थवेदी सर्वार्थवेदी इति । तद्वत् वेदार्थज्ञानगोचरातिशयवत् । सर्वार्थज्ञानगोचरः सर्वोपामर्शानां ज्ञानस्य गोचरो विषयः ( सर्वं च तेषां विषयः सर्वार्थः । तेषां ज्ञानं गोचरो विषयो यस्य सः, अतिशयः पुरुषत्वेऽपि कस्यचित् ) । भवति ॥९६॥ रासभ इति । यथा देशकालान्तरे देशान्तरे कालान्तरे वा । अखिलः सकलः । रासभः खरः । शृङ्गी विषाणो । न भवति । तथा तेन प्रकारेण । अखिलः सकलः । पुमान् पुरुषः । देशकालान्तरे देशान्तरे कालान्तरे । सर्वज्ञः सकलार्थवेदी । न भवति । इति मीमांसकमित्राचार्यः ॥९७॥ इत्यादीनि । इत्यादि एवमादि । उपमानम् उपमानप्रमाणमपि । इष्टविधाततः इष्टस्याङ्गीकारस्य विधाततो बाधनात्, इष्टविरोधादित्यर्थः । न युक्तं न संगतम् । तथा हि उक्तार्थं विवृणोति तथा हीति । खचरादीनां खे चरतीति खचराः ते आदयो येषां तेषां विद्याधरादीनाम् । खगमनादिकं खगमनमादि यस्य ( तत् ) खगमनादिकम् आकाशगमनादिकम् । स्यात् न भवेत् ॥९८॥ तस्मादिति । तस्मात् कारणात् यस्य पुरुषस्य । सा सकलज्ञता सकलं जानातीति सकलज्ञः तस्य भावः सकलज्ञता सर्वज्ञता । असौ अयम् । नरविशेषः पुरुष विशेषः । तथा तेन प्रकारेण । खरविशेषश्चेत्[रासभविशेषश्चेत्] । तस्यापि खरस्यापि । शृङ्गिता विषाणिता ।

समस्त वेदोक्तं अर्थको जाननेका अतिशय<sup>१</sup> पाया जाता है, इसी प्रकार पुरुषत्व आदिके रहते हुए भी किसी पुरुषमें समस्त पदार्थ जाननेका अतिशय पाया जा सकता है ॥९६॥ यदि यह कहा जाये कि 'जैसे किसी भी देश और किसी भी कालमें गदहें सींगवाले नहीं देखे जाते, वैसे ही किसी भी देश और किसी भी कालमें मनुष्य सर्वज्ञ नहीं देखा जाता, इत्यादि उपमान सर्वज्ञता का बाधक है' तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा माननेपर आपके ही इष्टका विनाश होगा । वह इस तरह—जैसे किसी देश और किसी भी कालमें आपलोग आकाशमें गमन करनेवालेके अभावको उपमान मानकर मनुष्यमात्रमें आकाश गमनरूप उपमेयका अभाव मान लें तो आपको विद्याधरोमें भी आकाश गमनका अभाव मानना पड़ेगा । किन्तु यह आपको इष्ट नहीं है । इसी तरह उपमानके आधारपर सर्वज्ञताका अभाव मानना भी आपको इष्ट नहीं होना चाहिए ॥९७-९८॥ इस कारण यदि यह कहा जाये कि वह विशिष्ट पुरुष होता है, जो आकाशमें गमन कर सकता है, तो हम भी यह कह सकते हैं कि वह विशिष्ट पुरुष होता है, जिसमें सर्वज्ञता होती है । यदि कहें कि इस प्रकार तो कोई विशेष प्रकारका गदहा भी ऐसा हो सकता है, जिसके सींग हों, तो ठीक है यदि आपको कहीं ऐसा गदहा मिल जाये, जिसके सींग सचमुच हों । किन्तु ऐसा गदहा मिलना असम्भव है, पर किसी विशिष्ट

१. मीमांसकोंकी मान्यता है कि वेद ही पुरुषको त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंका बोध करा देता है । अतः वेदके आधारपर पुरुषमें सभी पदार्थोंको जाननेका अतिशय प्रकट हो जाता है ।

न चार्थापत्तिरप्यस्ति सर्वज्ञाभावसाधिनी ।  
 को ह्यर्थोऽसंभवी तेन विना यस्ततं प्रकल्पयेत् ॥ १०० ॥  
 नाप्यागमेन सर्वज्ञः कृतकेनेतरेण वा ।  
 बाध्यते कर्तृहीनस्य तस्यात्यन्तमसंभवात् ॥ १०१ ॥  
 कर्तुरस्मरणादिभ्यः कर्त्रभावो न सिद्ध्यति ।  
 अज्ञातकर्तृकैर्वाक्यैर्व्यभिचारस्य संभवात् ॥ १०२ ॥  
 न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति पौरुषेयेष्वसंभवो ।  
 अतोन्द्रियार्थसंवादः सर्वज्ञोक्तोऽपि संभवेत् ॥ १०३ ॥

इष्टा अङ्गीकृता ॥१९॥ न चेति । सर्वज्ञाभावसाधिनी । सर्वज्ञाभावस्य साधिनी अर्थापत्तिरपि अर्थापत्तिप्रमाणमपि ।  
 न चास्ति न संभवति । तेन विना सर्वज्ञाभावेन विना । असंभवा<sup>१</sup> अभावरूपः (अनुपपन्नगण) । अर्थः पदार्थः ।  
 को हि न कोपौत्थः । यः को वः । त सर्वज्ञम् । प्रकल्पयेत् समर्थयेत् । कुतो<sup>२</sup> सामर्थ्ये निवृत्तास्ति ॥१००॥  
 नेति । कृतकेन पौरुषेयेण, पुरुषशेषत्वेनेत्यर्थः । इतरेण वा अपौरुषेयेण, अनादिरूपेणेत्यर्थः । आगमेन आगम-  
 प्रमाणेन । सर्वज्ञः । न बाध्यते न निराक्रियते । कर्तृहीनस्य कर्त्रा प्रणया हीनस्य रक्षितस्य । अत्यन्तम्  
 असंभवात् अभावात्, कर्तुरहितस्यागमस्य सर्वथाऽसंभव इत्यर्थः ॥१०१॥ कश्चु<sup>३</sup>रिति । कर्तुः देवस्य  
 [ वेदस्य ] कर्तुः । अस्मरणादिभ्यः वेदः पुरुषेण प्रोक्त इति स्मरणाभावादिभ्यः । कर्त्रभावः वेदकर्तृगभावः ।  
 न सिद्ध्यति न संभवति । अज्ञातकर्तृकः अज्ञातः कर्ता येषां तैः । वाक्यैः निरुपबन्तचयप्रवाच्यैः ।  
 व्यभिचारस्य अनैकान्तिकस्य संभवात् सद्भावात् ॥१०२॥ न चेति । पौरुषेयेण पुरुषप्रधानेण वेदेषु मनु,  
 एवं कथने न सम्भवतीति कश्चिद्विशेषो नास्ति । अतोन्द्रियार्थसंवादः तेषु न सम्भवतीति चेत्, सर्ववितुक्ते वेदे  
 सोऽपि सम्भवत्येव । असंभवो असंभवरूपः । कश्चिद्विशेषः कोऽर्थावशेषः । न चास्ति नास्ति । अतोन्द्रियार्थ-

पुरुषका सर्वज्ञ हीना असंभव नहीं है ॥१९॥ अर्थापत्ति भी सर्वज्ञके अभावको निन्द नहीं कर  
 सकती; क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो सर्वज्ञके अभावके बिना असंभव होकर उसके  
 अभावको सिद्ध कर सके । यदि ऐसा कोई पदार्थ हो, जो सर्वज्ञके अभावमें ही हो, तो उसे देख-  
 कर सर्वज्ञके अभावकी कल्पना की जा सकती है । किन्तु ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है ॥१००॥  
 यदि आप यह कहे कि आगमसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि  
 हम आपसे पूछते हैं कि पौरुषेय आगमसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है, या अपौरुषेयसे ?  
 अपौरुषेय आगमसे उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा आगम अत्यन्त असंभव  
 है, जो बिना पुरुषके ही बन गया हो ॥१०१॥ कर्ताका स्मरण न हाना आदि हेतुओंसे उसके  
 कर्ताका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता । यदि कर्ताके स्मरण न होनेसे किसी आगमको कर्ता-  
 रहित-पौरुषेय माना जाये, तो ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिनके कर्ताका किसीको पता नहीं है,  
 अतः उन वाक्योंके साथ उक्त हेतु व्यभिचारो है ॥१०२॥ जिसे आप अपौरुषेय आगम सिद्ध  
 करना चाहते हैं, उसमें ऐसी कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती, जो पौरुषेय आगममें सर्वथा  
 असंभव हो । यदि आप यह कहे कि अतोन्द्रिय पदार्थोंकी प्रामाणिक चर्चा अपौरुषेय आगमकी  
 विशेषता है, जो पौरुषेय आगममें असंभव है, तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि सर्वज्ञ

१. अ आ ह म धनो । २. आ पौरुषेयस्य संभवो । ३. = पौरुषेयेष्वसंभवो कश्चिद्विशेषोऽपौरुषेय  
 नास्ति । यथातोन्द्रियार्थसंवादोऽपौरुषेये तथा पौरुषेयेऽपि दृश्यते । ४. आ वक्तुः । ५. ना स संवादः ।  
 ६. ना स देवपुरुषेण । ७. आ स न । ८. आ एषा । ९. = सुप्तिङन्तचयप्रवाच्यैः ।

विवादविषयापन्नं ततः शास्त्रं सकर्तृकम् ।  
 दृष्टकर्तृकतुल्यत्वादकलङ्कादिशास्त्रवत् ॥ १०४ ॥  
 तस्मादकर्तृकं शास्त्रं नास्ति सर्वज्ञबाधकम् ।  
 कृतकं च द्विधाभिन्नं सर्वज्ञेतरहेतुकम् ॥ १०५ ॥  
 असर्वज्ञकृतं तावन्न प्रमाणमतीन्द्रिये ।  
 सकलज्ञप्रणीतं तु तस्य प्रत्युत साधकम् ॥ १०६ ॥  
 प्रस्तुतस्यानुमानस्य साधकत्वेन संभावात् ।  
 प्रमाणपञ्चकाभावोऽप्यखिलज्ञं न बाधते ॥ १०७ ॥

संवादः अतीन्द्रियार्थस्य संवादः । सर्वज्ञोक्तेऽपि सर्वज्ञेनोक्तेऽपि । संभवेत् ॥ १०३ ॥ विवादेति । ततः तस्मान्कारणात् । विवादविषयापन्नं विवादस्य विषयप्राप्तम् ( विषयं प्राप्तम् ) शास्त्रम् आगमो धर्मि । मकर्तृकं कर्तृमहितम्, इति माध्यम् । दृष्टकर्तृकतुल्यत्वात् 'दृष्टकर्तृकस्य समानत्वात्, इति साधनम् । अकलङ्कादिशास्त्रवत् अकलङ्कादीनां शास्त्रमिव, इति दृष्टान्तः ॥ १०४ ॥ तस्मादिति । तस्मात् कारणात् । सर्वज्ञबाधकं सर्वज्ञस्य बाधकं ( सर्वज्ञबाधक सर्वज्ञस्य बाधकं ) नास्ति त्वज्ञापकम् अकर्तृकं कर्तृगहितम् । शास्त्रम् आगमः । नास्ति न संभवति । कृतकं च स कर्तृकं च सर्वज्ञेतरहेतुकं सर्वज्ञेतरहेतुश्च सर्वज्ञेतरौ नौ एव हेतू यस्य तथोक्तं, सर्वज्ञासर्वज्ञकारणकमित्यर्थः । द्विधा द्विप्रकारेण । भिन्नं भेदयुक्तम् । स्यादित्य-  
 ध्याहारः ॥ १०५ ॥ असर्वज्ञेति । तावत् प्रथमम् । असर्वज्ञकृतम् असर्वज्ञेन किञ्चिज्ज्ञेन कृतं प्रणीतम् । अतीन्द्रिये अतीन्द्रियविषये । प्रमाणं विषयाद्यैर्गोचरमित्यर्थः ( प्रमाणभूतमित्यर्थः ) । न न भवति । प्रत्युत तर्हि सकलज्ञप्रणीतं तु सकलज्ञेन सर्वज्ञेन प्रणीतं तु । तस्य सर्वज्ञस्य । साधक माधकमेव । भवति न बाधकम् ॥ १०६ ॥ प्रस्तुतस्येति । प्रमाणपञ्चकाभावोऽपि पञ्च अवयवा यस्य ( तत् ) पञ्चकं, 'संख्या-  
 दशैवाशतिष्ठे क' इति क-प्रत्ययः, प्रमाणानां पञ्चकं प्रमाणपञ्चकं तस्याभाव एव स्वरूपं यस्य तथोक्तः, प्रमाणपञ्चकाभावरूपाभावप्रमाणमपीत्यर्थः । अखिलज्ञं सर्वज्ञम् । न बाधते । प्रस्तुतस्य प्रकृतस्य । अनुमानस्य-  
 कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रकीर्णप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् इत्यनुमानस्य ।

कथित आगममे अतीन्द्रिय पदार्थोक्तौ चर्चा सम्भव है ॥ १०३ ॥ अतः विवाद कोटिमें स्थित प्रस्तुत आगम निम्न अनुमान प्रमाणसे भी पोष्येय सिद्ध होता है—विवादस्थ आगम पोष्येय है; क्योंकि वह कर्तावाले आगमोके समान है । जैसे अकलङ्क आदिके शास्त्र ॥ १०४ ॥ ऐसी स्थितिमें अपोष्येय आगम सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता । तथा पोष्येय आगम दो प्रकारका होता है—एक सर्वज्ञ प्रणीत और दूसरा असर्वज्ञ प्रणीत । दोनोंमें-से आप किसे सर्वज्ञका बाधक मानते हैं ? ॥ १०५ ॥ यदि असर्वज्ञ प्रणीत आगमको सर्वज्ञका बाधक मानते हैं, तो वह अतीन्द्रिय पदार्थोके निरूपण करनेमें प्रमाण नहीं है, अतः वह सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता । यदि सर्वज्ञ प्रणीत आगमको बाधक मानते हो तो ठीक नहीं; क्योंकि वह उसका बाधक नहीं बल्कि साधक ही है ॥ १०६ ॥ चूँकि प्रस्तुत अनुमान, जो वाचनवे-तेराचनवे वे श्लोकमें दिया गया है, सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध करनेमें समर्थ है, अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति

१. आ सत्यवादः । २. आ स विवाद इति । ३. स स वृक्षकं । ४. स स वृक्षकं । ५. आ 'अ' नास्ति । ६. = स स विषयवर्गम् । ७. = वैरीत्येन । ८. = 'यत्तावदुक्तं प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयत्वमशेषज्ञस्येति, तद्युक्तं, तद्ग्रहणकस्यानुमानस्य संभवात् । तथा हि कश्चित् पुरुष सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रकीर्णप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् ।' प्रमेयरत्न ० पृ० ५४ ।

तस्माद्गोपयित्वास्मिन्स्तीत्यागमसंभवा ।  
 प्रमाणं बाधकाभावाद्बुद्धिरसादिबुद्धिश्च ॥ १०८ ॥  
 ततो मोक्षोऽपि संसिद्धो रत्नत्रयनिबन्धनः ।  
 जीवाजीवास्तवैर्बन्धनिर्जरासंवरैः समम् ॥ १०९ ॥  
 वचोभिरिति तत्त्वार्थशंसिभिश्चुम्बकैरिव ।  
 स शल्यमिव संदेहमाचर्क्य महीपतेः ॥ ११० ॥  
 यदुक्तं सुरिणा तेन तस्येति प्रपद्य सः ।  
 प्रपञ्चं पुनरात्मीयान्भवान्मुदितमानसः ॥ १११ ॥

‘तथाहि क्वचित्प्रसिद्धं पुंसि कृत्स्नावृत्तिप्रयः । तत्कार्यमकलज्ञत्वस्यान्यथानुपपत्तितः’ इत्यनुमानस्य च । साधकत्वेन सर्वज्ञस्यैव कारणेन । संभवात् ॥१०७॥ तस्मादिति । तस्मात् प्रमाणपट्टकेनापि सर्वज्ञो न बाध्यते यस्मात्, तस्मात् । अशेषवित् अशेषं वेत्तीत्यशेषवित् सर्वज्ञः । कश्चिदस्ति कश्चिद् वस्ति । इति आगमसंभवा बुद्धिः शास्त्रसंभूता एवं मतिः । प्रमाणं प्रमाणभूतव । बाधकाभावात् बाधकस्य प्रतिबन्धकस्य<sup>१</sup> अभावात् असंभवात् । असादिबुद्धिवत् प्रत्यक्षादिज्ञानवत् ॥१०८॥ तत् इति । तत् अनुमानप्रमाणेन सर्वज्ञः सिद्धो यतः, ततः रत्नत्रयनिबन्धनः रत्नत्रयमेव निबन्धन यस्य स, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकारणकः । मोक्षः परम-निर्वाणकर्मोक्षपादायः । जीवाजीवास्तवैः जीवैश्चाजीवश्चास्तवश्च तथोक्ताः ते । एवं यदुक्तत्वं सम साकम् । सिद्धः निश्चितः ॥१०९॥ वचोभिरिति । स मुनिपतिः । चुम्बकैरिव अयस्कातैरिव । ‘चुम्बको’ बहुगुणधृतायस्कातकामुके’ इत्यभिधानात् । तत्त्वार्थशंसिभिः<sup>२</sup> तत्त्वार्थस्य शंसिभिः आविष्कैरिभिः । इति प्रागुक्तः । वचोभिः वचनैः । महीपतेः पद्मनाभस्य । शल्यमिव शंकायुधमिव । सन्देहं संशयम् । आचर्क्य निराचकार । कृष विलेखने छिद् ॥११०॥ यदिति । तेन<sup>३</sup> मूरिणा तेन मुनिनाथेन । यत् उक्तं भाषितम् । तत् तद्वचनम् । तथेति तेन प्रकारेणेवेति । प्रपद्य अङ्गीकृत्य । मुदितमानसः मुदित मनुष्टं मानस चित्त यस्य सः । सः पद्मनाभमहीपतिः । पुनः पश्चात् । आत्मीयान् आत्मन इमे आत्मीयाः तान् स्वसंबन्धान् । भवान्

और आगम इन पाँच सद्भाव साधक प्रमाणोंका अभाव रूप अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता ॥१०७॥ अतः ‘कोई सर्वज्ञ है’ इस प्रकारके शब्दसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धि प्रमाण है; क्योंकि इसमें कोई बाधक नहीं है । जैसे प्रत्यक्ष आदि ज्ञान । अर्थात् जैसे ‘अयं घट-’-‘यह घड़ा है’ इत्याकारक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण है, इसी प्रकार ‘कश्चित् सर्वज्ञः’-‘कोई सर्वज्ञ है’ इत्याकारक शब्द ज्ञान भी प्रमाण है ॥१०८॥ सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध हो जानेसे जीव, अजीव, आसृव, बन्ध, सवर और निर्जरा इन छह तत्त्वोंके साथ मोक्ष भी सिद्ध हो जाता है, जिसका कारण रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र है ॥१०९॥ इस प्रकार सात तत्त्वोंके प्रतिपादन करनेवाले वचनोसे मुनिराज श्रीधरने राजा पद्मनाभके सन्देहको निकाल दिया । जैसे चुम्बक लोहेकी कोलको निकाल देता है ॥११०॥ मुनिराज महान् विद्वान् थे, अतः उनके उपदेशकी वास्तविकतासे राजा बड़ा प्रसन्न हुआ, और उसने कहा—‘मुनिराज, जीव आदि तत्त्वोंके विषयमे जो आपने उपदेश दिया, वह वैसा ही है, जैसा आगममें बतलाया गया है ।’ इसके बाद उसने उनसे अपने पिछले और अगले भवोंके बारेमे पूछा ॥१११॥

१. आ आ इ स<sup>१</sup> भवात् । २. स स सर्वज्ञः । ३. स स<sup>२</sup> बन्धस्य । ४. स स जीवोऽजीवः । ५. आ चुम्बकवद् । ६. आ शंसिभिः । ७. स स आविः कां । ८. आ प्रती ‘तेन’ इति सम्पुल्लङ्घिते नाग्यासु ।

मुनिना वकुमारेभे तस्मै भवपरम्परा ।  
 चक्रे भव्यसभा विस्रमवधानपरम्परा ॥ ११२ ॥  
 द्वीपे नृप तृतीये यो विद्यते पूर्वमन्दरः ।  
 क्रीडतिकन्नरसंकीर्णलताभवनसुन्दरः ॥ ११३ ॥  
 तस्यापरविदेहेऽस्ति सुगन्धिरिति नामतः ।  
 देशो विभूष्य शीतोदानघुत्तरतटं स्थितः ॥ ११४ ॥  
 बिभ्राणैर्बृहद्बुद्धपिण्डच्छत्रावलिश्रियम् ।  
 राजन्ते राजवद्यस्य प्रदेशाः क्रमुकद्रुमैः ॥ ११५ ॥

भूतमविषयजन्मानि । पप्रच्छ व्याजज्ञे<sup>१</sup> । प्रच्छ क्षोप्साया<sup>२</sup> लिट् ॥ १११ ॥ मुनिनेति । मुनिना मुनिनाथेन । भवपरम्परा भवानां जन्मानां परम्परा संततिः । तस्मै पद्यानामहोपतये । वक्तुं भाषितुम् । आरम्भे उपपन्नम् । रभि राभस्ये कर्मणि लिट्<sup>३</sup> । परा उत्कृष्टा । भव्यसभा भव्यानां रत्नत्रयाभिर्भवनयोग्यानां विनयजनानां सभा संसत् । अवधानपरं अवधाने सावधाने<sup>४</sup> पर तत्परम् । विस्रं मानसम् । चक्रे विद्यते स्म । हुकुम् करणे लिट् ॥ ११२ ॥ द्वीप इति । नृप नृन् पातीति नृपः तस्य आमन्त्रणं<sup>५</sup>—हे पद्यानाम ! तृतीये त्रयाणां पूरणे । तृतीयः तस्मिन् । 'द्वित्रेस्तीयद्वेइव ऋश्' इति तीयत् प्रत्ययः तद्योगे विशदस्य रिकारस्य ऋश्—आदेशः । शित्वात् सर्वस्य । द्वीपे पुष्करार्द्धं पे । क्रीडतिकन्नरसंकीर्णलताभवनसुन्दरः क्रीडन्तीति क्रीडन्तः (तै) क्रीडद्भिः किन्नरैः किन्नरदेवैः संकीर्णनामाकीर्णानां लतानां व्रततीर्णां भवनैः । आलयेः सुन्दरो मनोहरः । यः पूर्वमन्दरः पूर्वस्मिन् पूर्वभागे विद्यमानो मन्दरो मेरु तथोक्तः । विद्यते वर्तते । विदिसत्ताया लट् ॥ ११३ ॥ तस्यैति । तस्य मन्दरस्य<sup>६</sup> अपरविदेहे अपरदवासी विदेहव्यापारविदेहः तस्मिन्, पश्चिमविदेहक्षेत्रे । शीतोदान-घुत्तरतटं शीतोदाया नद्याः उत्तरं तटं तीरम् । विभूष्य विभूषणं पूर्वं<sup>७</sup> अलङ्कृत्य । स्थितः नामतः नाम्नां नामतो नामधेयात् । सुगन्धिरिति<sup>८</sup> देश जनपदः । अस्ति विद्यते । अस भुवि लिट् ॥ ११४ ॥ बिभ्रेति । यस्य सुगन्धिदेशस्य । प्रदेशाः क्षेत्राणि । बृहद्बुद्धपिण्डच्छत्रावलिश्रियम् उद्गता दण्डा उदण्डा बृहन्त उदण्डा येषां तानि तथोक्तानि<sup>९</sup> पिण्डैर्निर्मितानि छत्राणि पिण्डच्छत्राणि बृहद्बुद्ध्यानि च पिण्डच्छत्राणि च तेषां मावलिः तस्याः श्रियं शोभाम् । बिभ्राणैः बिभ्रत इति बिभ्राणाः तैः । हुभून् धारणपोषणयोः । 'सलट्'—इत्यादिना नश-प्रत्ययः । क्रमुकद्रुमैः क्रमुकानां पूगानां द्रुमैः वृक्षैः । राजवत् राजान इव । राजन्ते भासन्ते । मुनिराजने पद्यानामसे उनके भवोके बारेमें कहना प्रारम्भ कर दिया और उस समय वहाँ श्रेष्ठ सभामें जितने भव्य लोग उपस्थित थे, सभीने उसे सुननेके लिए अपने-अपने मनको सावधान कर लिया—सभी सावधान होकर सुनने लगे ॥ ११२ ॥ राजन् ! तीसरे द्वीपका नाम पुष्करार्द्ध है, उसके पूर्वमें 'मेरु' पर्वत है, जो 'पूर्व मन्दर' नामसे प्रसिद्ध है । उसके मण्डपोंमें किन्नरगण क्रीड़ा किया करते हैं, जिससे वह बड़ा सुन्दर मालूम पड़ता है ॥ ११३ ॥ उस पूर्व मन्दरके पश्चिम विदेहमें शीतोदा नदीके उत्तरी तटपर एक सुगन्धि नामका देश है । उसीसे शीतोदा नदीके उत्तरी तटकी शोभा है ॥ ११४ ॥ उस देशमें सुपारीके पेड़ प्रचुर मात्रामें पाये जाते हैं । उनके तने ऊँचे हैं, और उनके ऊपरी भाग, जहाँ सभी ओरसे पत्ते लगे हुए हैं, बिलकुल गोल हैं । अतएव उनमें छातोंकी पूरी शोभा उतर आयी है । उनसे उस देशके प्रदेश छत्रधारी राजाओंके

१. = पृच्छतिस्म । २. श स प्रच्छ ओप्ता । ३. आ प्रतो केवलं 'रभि राभस्ये कर्मणि लिट्' इति समुदास्यते । ४. = एकाग्रतायाम् । ५. = आमन्त्रणे । ६. = पूर्वमन्दरस्य । ७. = पद्यात् किञ्चित् । ८. = विद्यमानः । ९. प्रसिद्ध इति शेषः । १०. = सुगन्धिमामधेयः । ११. अ आ इ अं बुद्धविपण्ड । १२. = वस्तुतस्तव विपण्डवदस्य स्वाने पिण्डपदेनैव भाष्यम् ।

सुगन्धिकुसुमामोदैः सुगन्धयति यो दिशः ।  
 सर्वतोऽपि निजामाख्यां कर्तुमर्थवतीमिव ॥ ११६ ॥  
 अकृष्टपच्यसस्याढये निरोती निरघप्रदे ।  
 यत्रानित्यप्रमोदिन्यो मोक्षप्राप्ता इव प्रजाः ॥ ११७ ॥  
 ग्रामैः कुक्कुटसंपातैः सरोभिर्विकचाम्बुजैः ।  
 सीमभिः सस्यसंपन्नैर्यैः समन्ताद्विराजते ॥ ११८ ॥  
 अर्थं धर्माय सेवन्ते कामं संतानवृद्धये ।  
 यत्र न व्यसनाल्लोकाः परलोकक्रियोद्यताः ॥ ११९ ॥

राज्जु दीप्ती लट् । उपदेशा ॥ ११६ ॥ सुगन्धीति । य. देशः । निजा स्वकीयाम् । आख्या नामधेयम् ।  
 अर्थवती सार्थकाम् । कर्तुमिव कारणायेव । सुगन्धिकुसुमामोदैः सुगन्धिना सुशोभनो गन्धो येषां तानि  
 सूतूनिवुरभेगंधादिषु गुणैः इति इत्-प्रत्ययः ॥ सुगन्धिना कुसुमानाम् आमोदै मनोहरपरिमलैः । 'आमोद-  
 सोऽतिनिहारो' इत्यमरः । दिशः ककुभः । सुगन्धयति सुगन्धो करोतीति सुगन्धयति । सुगन्धीति सुगन्धातोः  
 'णिज्बहुलं कृञादिषु' इति णिच् प्रत्ययः । उपदेशा ॥ ११७ ॥ अकृष्टेति । यत्र सुगन्धिदेशे । अकृष्टपच्य-  
 सस्याढये अकृष्टेन पच्यैः परिपक्वैः सस्यैः आढये परिपूर्णं निरोती<sup>१</sup> निगमा ईनयोर्गतवृष्टपादयो यस्मिन्  
 ( यस्मात् ) तस्मिन् । निरघप्रदे<sup>२</sup> निर्गताऽवग्रहो दुर्मिक्षो ( वृष्टिप्रतिबन्धो ) यस्मिन् ( यस्मान् ) तस्मिन् ।  
 'प्रतिबन्धगजालोकवृष्टिबन्धेव्यवग्रह' इत्यभिधानात् । [ यत्र सुगन्धिदेशे ] । प्रजा जना । मोक्षप्राप्ता इव  
 परमनिर्वाण गता इव । 'निरघप्रमोदिन्यः प्रमोदोऽस्त्यामामिति तथोक्ताः । वर्तन्ते उपमा ( उपदेशा ) ॥ ११७ ॥  
 ग्रामैः । य. सुगन्धिदेशः । कुक्कुटसंपातैः<sup>३</sup> [त्यैः] कुक्कुटैः तान्म्रचूटैः संपातैः<sup>४</sup> [त्यैः] लट्प्रयितुं गन्धैः, अति-  
 समीपस्थैरित्यर्थः । ग्रामैः निगमैः विकचाम्बुजैः विकचान्धम्बुजानि येषु तानि, ने. । सरोभिः कागारैः ।  
 सस्यसंपन्नैः सस्यैः धान्यैः संपन्नैः समृद्धैः । सीमभिः क्षेत्रैः । 'सीमनोमे दिश्यामुजं' इत्यमरः । समन्तान्  
 परितः । विराजते विभासते । राज्जु दीप्ती ॥ ११८ ॥ अर्थमिति । यत्र सुगन्धिदेशे । परलोकक्रियोद्यताः परस्य  
 उत्तरलोकस्य क्रियाया कारणभूताचरणादिकृत्यै उद्यताः सन्नद्धाः । लोका जना । धर्माय धर्मायम् । अर्थं  
 समान मुशोभित हो रहे है ॥ ११५ ॥ उस देशमे सभी ओर बाग-बगोचे है । उनमे फूल खिले  
 हुए है । उनको सुगन्धि दसो दिशाओको मुवासित कर रही है । इसलिए ऐसा जान पड़ता है  
 मानो वह देश अपने 'सुगन्धि' नामको सार्थक सिद्ध करना चाहता है ॥ ११६ ॥ उस देशकी  
 भूमि बहुत उपजाऊ है, अतः बिना जोते ही वहाँ भरपूर अनाज उत्पन्न होता है । वहाँ अति-  
 वृष्टि, अनावृष्टि, मूपक, शलभ, शुक और अत्यन्त पास निवास करनेवाले राजा ये छह इतिथियाँ  
 नहीं है । वहाँ कोई रुकावट नहीं है । अतएव वहाँके निवासी सदा आनन्दसे रहते है । फलतः  
 वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया हो ॥ ११७ ॥ वहाँके गाँव बिलकुल पास-  
 पासमे है, इतने पास कि एक गाँवके मुँगे दूसरे गाँवमे पहुँच जाते है । वहाँके सगेबरोमे कमल  
 खिले हुए है । वहाँकी सीमाएँ धान्यसे परिपूर्ण है । उन गाँवों, सरोवरो और सीमाओसे उस  
 देशकी सभी ओरसे शोभा है ॥ ११८ ॥ वहाँके निवासी धर्मके लिए धनका उपार्जन करते है  
 और सन्तति उत्पन्न करनेके लिए विषय सेवन करते है । उन्हें धन बढ़ोरने और ऐश करनेका

१. आ प्रतारिष केवलं स्वस्ति भान्तर्गतः पाठः सम्पुल्लभ्यते । २. = कृष्टेन पच्यते इति कृष्टपच्यानि  
 न कृष्टावधान्यकृष्टपच्यानि यानि सस्यानि धान्यानि तैराढये व्याप्यते । ३. = निरोती इति रहते । 'अति-  
 वृष्टिरनावृष्टिमुपकाः शलभाः शुकः । स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता इतयः स्मृताः ॥' । ४. = अर्वाष्ट्रहिते ।  
 ५. आ इ निप्रमोदि । ६. = कुक्कुटसंपातैः वसन्तीति कुक्कुटसंपातावास्तैः । ७. आ इ 'लोककृतोद्यताः ।

यस्मिन्निरन्तरारामविश्रामैर्विधुतध्रमाः ।

मन्यन्तेऽध्वानमध्वन्या गृहप्राङ्गणसंनिभम् ॥ १२०

यथाभिलपितं वस्तु शश्वत्संपादयन्नणाम् ।

जिगीषतीव यः कल्पपादपैर्मण्डितां महीम् ॥ १२१ ॥

विद्युतश्चञ्चला यत्र स्वभावेन न संपदः ।

कृष्णानि प्रावृड्भ्राणि चरितानि न देहिनाम् ॥ १२२ ॥

कचिद्गोधनदुङ्कारैरिष्यन्त्रारवैः क्वचित् ।

कचिच्छिखण्डिनां नादैर्निगमा यस्य सुन्दराः ॥ १२३ ॥

द्रव्यम् । मंतानस्यान्वयस्य वृद्धये । कामं वनितासंभोगम् । सेवन्ते अनुभवन्ति स्वीकुर्वन्ति वा । व्यसनात् पुरुषप्रत्यावर्तनहेतुभूतान् । न सेवन्ते इत्यर्थः ॥११९॥ चस्मिन्निति । यस्मिन् यत्र सुगन्धिदेशे । निरन्तरारामविश्रामैः निरन्तराणां निरवकाशानाम् आरामाणाम् उद्यानानां विश्रामैः विश्रान्तिभिः । विधुतध्रमा<sup>१</sup> विधुतो<sup>२</sup> निराकृतोश्रमो येषां ते तथोक्ताः । अध्वन्याः अध्वानमलङ्गामिनोऽध्वन्या पथिका । 'यध्वानं यक्षी' इति य-प्रत्ययः । अध्वान मार्गम् । गृहप्राङ्गणमन्निभं गृह्णा स्वालयानां प्राङ्गणानामङ्गणानां सन्निभं समानमिति । मन्यन्ते जानन्ति ॥१२०॥ यथेति । य सुगन्धिदेशे । नृणां नगराणाम् । यथामिलपितं अभिलपितमनतिक्रम्य यथाभिलपितम् । 'यथाथाः' इत्यव्ययीभाषः । वस्तु भोगोपभोगवस्तु । शश्वत् अनवरतम् । संपादयन् संचयन् । कल्पपादपैः कपादवने पादपादश्च कल्पपादपा तैः कल्पवृक्षैः । मण्डिताम् अलङ्कृताम् । मही भोगभूमिम् । जिगीषतीव जेतुमिच्छति जिगीषति जि अभिभवे<sup>३</sup> । 'कम्पेककर्तृकात्—' इत्यादिना कम्प्ये मन् प्रत्ययः । 'जे लिट् मनि' इति नित्यादेशः । उपमा ( उत्प्रेक्षा ) ॥१२१॥ विद्युन् इति । यत्र सुगन्धिदेशे । स्वभावेन निमर्गेण । चञ्चला, चलनरूपाः । विद्युन् तडित । संपदः ऐश्वर्याणि न चञ्चलाः । कृष्णानि कल्पितानि<sup>४</sup> प्रावृड्भ्राणि प्रावृषो वर्षाकालस्याभ्राणि मेघाः । देहिना च प्राणिना च । तानि<sup>५</sup> कृष्णानि नन्वन्तस्त्यर्थः । परिग्रह्या ॥१२२॥ क्वचिदिति । यस्य सुगन्धिदेशस्य । निगमाः ग्रामाः । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । गोधनदुङ्कारैः गोधनस्य गोममूहस्य दुङ्कारैः, दुङ्कारध्वनिभिः । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । इष्यन्त्रारवैः इक्षणा रसालानां<sup>६</sup> यन्त्राणाम् आरवैर्ध्वनिभिः । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । शिखण्डिना मयूरा-

व्यसन—चस्का नहीं है । उन्हे परलोकका खयाल रहता है, इसीलिए वे सदा पारलौकिक क्रियाओंमें तत्पर रहते हैं—वे धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका सेवन करते हैं, किन्तु उनका ध्यान मुख्यतया धर्मकी ओर ही रहता है ॥११६॥ वहाँ लगातार बाग-बगीचे हैं । उनमें विश्राम करके पथिक अपनी थकावट दूर करते हैं । अतः वे मार्गको अपने घरका आँगन सरीखा मानते हैं ॥१२०॥ उस देशमें वहाँके निवासियोंके मनके अनुकूल वस्तुएँ उत्पन्न होती थीं । अतएव वह देश ऐसा मालूम पड़ता था मानो कल्पवृक्षसे विभूषित भोगभूमि और स्वर्ग-भूमिकी जीतना चाहता हो ॥१२१॥ यहाँ केवल बिजली ही स्वभावसे चञ्चल हैं; सम्पदाएँ चञ्चल नहीं हैं । इसी प्रकार केवल वर्षाकालीन बादल ही काले हैं; वहाँके मनुष्योंके चरित काले-मलिन नहीं हैं ॥१२२॥ वहाँके गाँव अत्यन्त सुन्दर हैं । उनकी सुन्दरता कही गायो और बेलोंके रंगानेसे, कहीं गन्ने पेरनेवाले कोलहूओंके शब्दसे और कही मयूरोंके स्वरसे देखते ही

१. इ 'क्वचित्' इति नास्ति । २. श स 'धूत' । ३. श स 'धूतो' । ४. = सम्पदादयम् । ५. = जेतुमिच्छतीव । ६. आ जि जि अभि' । ७. श स कल्पानि । ८. = चरितानि-आचरणानि । ९. = 'रसाल इक्षुस्तद्वत्' पुण्ड्रकान्तरकादयः । इत्यमरः ।



मञ्जस्तीमन्तिनीसार्यकुचसंक्रान्तकुङ्कुमः ।

रक्तांशुकैरिषाभान्ति यस्मिञ्जलधियोपितः ॥ १२४ ॥

महाविभवसंपन्नं तत्रास्ति श्रीपुरं पुरम् ।

लोकपुण्यैः समुत्पन्नं त्रिविष्टपमिषापरम् ॥ १२५ ॥

प्रासादशृङ्गसंलग्नरत्नोपलमरीचिभिः ।

सदैवान्तरिता यत्र ज्योतिर्गणविभाभवत् ॥ १२६ ॥

चन्द्रकान्तस्तुतेयत्र सूर्यकान्तोद्भवान्ति ।

मिमोले सालसंरुद्धरविचन्द्रोदयं जनः ॥ १२७ ॥

णाम् । नादै. केकारवै । सुन्दरा मनोहराः । भवन्ति ॥ १२३ ॥ मञ्जदिति । यस्मिन् सुगन्धदेशे । जलधि-  
योपितः जलधेर्योषितो नयः । मञ्जस्तीमन्तिनीसार्यकुचसंक्रान्तकुङ्कुमैः मञ्जन्तीना स्नानं कुर्वन्तीना मौमन्ति-  
नीना नारीणा सार्यस्य समूहस्य कुचेषु स्तनभरेषु संक्रान्तीराक्रान्ते. कुङ्कुमं काश्मोरे । 'मार्धो वणिक्समूहः  
स्यादपि संधातमात्रके' इति विश्वः । रक्तांशुकैरिव रक्तवसनैरिव । आभान्ति विराजन्ते । भा दीप्तौ लट् ।  
उपमा ( उत्प्रेक्षा ) ॥ १२४ ॥ महति । यत्र सुगन्धदेशे । महाविभवसंपन्नं महागत् पृथुल विभवम् ऐश्वर्य  
संपन्नं संप्राप्तम् । श्रीपुरं श्रिया संपत्त्योपलक्षितं पुरं 'श्रीपुरम्' इति । पुरं पुरो । अपरम् अन्यत् । त्रिविष्टपमिव  
त्रिवशालय इव । लोकपुण्यैः लोकाना जनाना पुण्यैः सुकृते समुत्पन्नं संज्ञातम् । उपमालङ्कारः ॥ १२५ ॥  
प्रासादिति । यत्र श्रीपुरे । ज्योतिर्गणविभा ज्योतिषा चन्द्रसूर्यादीनां गणस्य समूहस्य विभा कान्ति । प्रासाद-  
शृङ्गसंलग्नरत्नोपलमरीचिभिः प्रासादना सौधाना शृङ्गेषु शिखरेषु मंलग्नाना संबद्धाना रत्नोपलाना  
मरीचिभिः कान्तिभिः । सदैव सर्वस्मिन् काले सदैव । 'सदैतर्ह्यसुनेदानी तदानी मय' इति साधु । अन्तरिता  
आच्छादिता । अभवत् आसीत् । भू सत्ताया लङ् । सामान्यालङ्कारः ॥ १२६ ॥ चन्द्रेति । यत्र श्रीपुरे ।  
जन. लोकः । सालसंरुद्धरविचन्द्रोदयं सालेन प्राकारेण संरुद्धयोरान्वृतयो रविचन्द्रयोः सूर्याचन्द्रमसो  
उदयमुदयमनम् । चन्द्रकान्तस्तुतेः चन्द्रकान्तस्य चन्द्रकान्तपाषाणस्य स्तुते. स्पन्दनात् । सूर्यकान्तोद्भवान्ति.  
सूर्यकान्तात् सूर्यकान्तशिलायाः सकाशात् उद्भवत् उत्पन्नात् अग्निनः बल्लेः सकाशात् । मिमोले अनुमिनोति ।

वनते हैं ॥ १२३ ॥ बहौकी नदियोंमें जिस समय स्त्रियाँ स्नान करती हैं, उस समय वे, बहते हुए  
उनके स्तनोंके केशरके रंगसे रंगीन होकर लाल कपड़ोंको पहननेवाली सौभाग्यवती स्त्रियो सरीखी  
जान पड़ती हैं ॥ १२४ ॥ उस सुगन्धि देशमें एक श्रीपुर नामका पुर है । वहाँ अट्ट सम्पत्ति  
है । वह ऐसा जान पड़ता है मानो वहाँके निवासियोंके प्रचुर पुण्यसे रचा गया दूसरा स्वर्ग हो  
॥ १२५ ॥ वहाँके महलोंके शिखरो पर नाना प्रकारके रत्न जड़े हुए हैं । उनकी किरणें आकाशमें  
फेली रहती हैं । अतः सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और ताराओंकी प्रभा सदा छिपी रहती है ॥ १२६ ॥  
उस पुरकी चहार दीवारी बहुत ऊँची है । अतः वहाँके निवासी कभी सूर्य और चन्द्रमाके उदय-  
को नहीं देख पाते; किन्तु सूर्यकान्त मणियोंमेंसे निकलती हुई अग्नि देखकर सूर्योदयका तथा

१. = सन्ति । २. = उपलक्षिता इवेति यावत् । ३. = महता विपुलेन विभववैभववर्धेण संपन्नं  
संयुक्तम् । ४. = उत्प्रेक्षा यमकं च । ५. आ कान्तस्य ।

यत्प्रासादशिरोलम्बपद्मरागांशुभिर्नभः ।

मिश्रं करोत्यकाण्डेऽपि संच्छाद्यक्षां शरीरिणाम् ॥ १२८ ॥

वासराधिपतिस्तुङ्गप्रतोलीशिखरं शनैः ।

यत्राधिरुह्य पूर्वाक्षे प्रपूर्णकलशायते ॥ १२९ ॥

प्राकारशिखरासघ्नेस्तारतारकदम्बकैः ।

यत्र दीपोत्सवभ्रान्तिस्तन्यतेऽनुदिनं निशि ॥ १३० ॥

प्राकारः परितो यत्र शृङ्गैरुत्तम्भितोऽङ्गुलिभिः ।

नाकावलोकनोत्कण्ठां बिभ्रान्न इव भासते ॥ १३१ ॥

माङ् माने लट् । अनुविपलङ्कार ॥ १२७ ॥ यदिति । यत्प्रासादशिरोलम्बपद्मरागांशुभिः यस्य श्रोतुरस्य प्रासादात्तौ शरीरानि शिरस्सु शिखरेषु लम्बानां संनद्धानां पद्मरागाणां पद्मरागरत्नानामङ्गुलिभिः कान्तिभिः । मिश्रं छत्रम् । नभः आकाशम् । शरीरिणा जनानाम् । अकाण्डेऽपि । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणावर्गविवरवारिपु' इत्यमरः । संच्छाद्यक्षा संच्छाया रागस्य शङ्का सन्दिहम् । करोति विदधाति । हुकुञ् करणे लट् । भ्रान्तिमान-लङ्कारः ॥ १२८ ॥ वासरेति । यत्र पुरे । वामराधिपतिः वासरस्य दिवसस्याधिपतिः सूर्यः । पूर्वाक्षे अङ्गुलिः पूर्वं पूर्वाक्षि । तरिमन् । तुङ्गप्रतोलीशिखरं तुङ्गस्योन्नतस्य प्रतोल्याः गोपुरस्य शिखरमग्रभागम् । शनैः नीचैः अधिरुह्य अधिरोहणं पूर्वं आरुह्य । प्रपूर्णकलशायते प्रपूर्णश्चासौ कलशश्च तथोक्तः, प्रपूर्णकलश इवाचरतीति तथोक्तः । 'प्ययङ्' इत्याचपर्यायं प्ययङ्-प्रत्ययः । उपमा ॥ १२९ ॥ प्राकार इति । यत्र श्रोतुरे । प्राकारशिखरासघ्ने । प्राकारस्य सालस्य शिखरस्य अग्रस्य भासते समीपगतैः । तारतारकदम्बकैः ताराणां महतीनां ताराणां नक्षत्राणां कदम्बकैः समूहैः । अनुदिनं प्रतिदिनम् । निशि रात्रौ । दीपोत्सवभ्रान्तिः दीपाना-मुत्सवस्य भ्रान्तिभ्रमणः । तन्यते क्रियते । तनूञ् विस्तारे कर्मणि लट् । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥ १३० ॥ प्राकार इति । प्राकारः सालः । परितः समन्ततः । उत्तम्भितोऽङ्गुलिभिः उत्तम्भिताः धृताः उडबो नक्षत्राणि मेघा (यैः) तैः । शृङ्गैः शिरोमग्नौ । नाकावलोकनोत्कण्ठा नाकस्य स्वर्गस्यावलोकने दशने उत्कण्ठामुत्कलिकाम् ।

चन्द्रकान्त मणियोंका पसो जना देखकर चन्द्रोदयका अनुमान कर लेते हैं ॥ १२७ ॥ वहाँके महलों-के ऊपरी सिरेपर पद्मराग मणि जड़े हुए हैं । उनकी लाल किरणोंसे आकाशका रंग लाल हो जाता है । अतः वह सन्ध्या-समय न रहनेपर भी लोगोंको सन्ध्याका भ्रम उत्पन्न कर देता है ॥ १२८ ॥ सूर्य दिनके पूर्व भागमें जब धीरे-धीरे उस पुरके दरवाजेके शिखरपर चढ़ जाता है तब वह पूर्ण स्वर्ण कलश-सा प्रतीत होने लगता है ॥ १२९ ॥ चहारदीवारीकी चोटीपर रात्रिके समय जब ताराओंका चमकीला गण पहुँच जाता है तब वह उस पुरमें प्रतिदिन दीपावलोका भ्रम फैला देता है ॥ १३० ॥ उस पुरकी चहारदीवारी रात्रिके समय जब नक्षत्रोंको अपने शिखरोसे उठा लेती है तब वह ऐसी जान पड़ती है मानो उसे स्वर्ग देखनेकी उत्कण्ठा उत्पन्न

१. = तुङ्गायाः उन्नतायाः । २. = तुङ्गप्रतोलीशिखरम्—उच्चपुरद्वारशिखरः । ३. = मण्डम् । ४. = पद्मात् किञ्चित् । ५. = अग्रभागस्य । ६. = भ्रमः । ७. = 'उत्कण्ठीरकलिके समे' इत्यमरः ।

मानोन्नता महामोगा मत्तवारणशालिनः ।  
 बहुभूमियुता यत्र प्रासादाः पार्थिवोपमाः ॥ १३२ ॥  
 अम्बुना घनकिञ्जलकच्छादितेन निरन्तरम् ।  
 स्वीकुर्वाणा कचिल्लदमी हिरण्यखचितस्तिः ॥ १३३ ॥  
 तीरजस्तुरुस्तानैः पयस्ति प्रतिबिम्बितैः ।  
 पातालोपवनारैकां कुर्वन्त्यन्यत्र<sup>१</sup> परित्रणाम् ॥ १३४ ॥  
 विभ्रती काशसंकाशपक्षविक्षेपशोभिनः ।  
 हंसांकापि मरुल्लोलान्फेनपुञ्जानिवात्मनः ॥ १३५ ॥

विभ्रान्ण इव दधान इव । भासने भाति । भान्ज् दीप्तो लट् । उपदेशा ॥ १३१ ॥ मानेति । यत्र श्रोपुरे । मानोन्नता मानेन प्रमाणेन, पक्षे मानेन गर्बेण उन्नता उत्तुङ्गा । 'मान प्रमाणे प्रस्थादौ मानदिवतोन्नतो ग्रहे' इति विश्वः । महामोगा महान् आभोगो विस्तारो येषां ते, पक्षे महान् भोगः स्वोच्चन्दनादिविषयानुभवो येषां ते । 'भोगं मुखे घने चाहे । शरीरकणधोरपि । पालने व्यवहारे च निर्वेदे पण्ययोपिताम् ॥' इति विश्वः । मत्तवारणशालिनः मत्तवारणः मदगर्जे, पक्षे उपधानकलकविशेषे शालिनः शोभमानाः । 'मत्तवारणमिच्छन्ति दानविलम्बे मरुद्विषे' । महामोगादयोधना वग्गृहे चाप्युपाश्रये ॥' इति विश्वः । बहुभूमियुता बहुभि-  
 भूमिभिः क्षेत्रे युताः सदिता । प्रासादाः शोभा । पार्थिवोपमा पादिवाना भूपतीनामुपमा<sup>२</sup> सद्गुणा भवन्ति । उपेपोपमा ॥ १३२ ॥ अम्बुनेति । बबुचिन् एव स्मिन् प्रदेशे । निरन्तरम् अन्तरात्रिगतं निरन्तर निरन्तरात् यथा तथा । घनकिञ्जलकच्छादितेन घने किञ्जलके, केनरे छादितेन पिहितेन । अम्बुना जलेन हिरण्यखचितयितेन हिरण्येन स्वर्णेन खचितया निमिताया<sup>३</sup> स्तिः भूमे । लक्ष्मी शोभाम् । स्वीकुर्वाणा आददाना । कुलकत्वात् एतस्तान् स्वातिका भाति (१३७) इत्यम्बोयते ॥ १३३ ॥ तीरैरिति । अन्यत्र पयसि सलिले । प्रतिबिम्बितैः प्रतिच्छाया गर्ज । तीरजैः तीरे जायन्त इति तीरजा नं, लट्जान् । लक्ष्मस्तान् । तरुणा वृक्षाणां गन्तान् गम्यते । 'अपत्योपमसमुहसुरकुजेपु सन्तान' इति नानाश्रकोऽपि । परित्रणा पत्रमस्योपा-  
 मिति पतिष्ठणः खगा तेषाम् । पातालोपवनारैकां पातालमग्न्य अधोभवनस्य<sup>४</sup> उपवनस्य उद्यानस्य आरैकाः सन्देहम् । कुर्वन्ती विदधती<sup>५</sup> । उपदेशा ॥ १३४ ॥ विभ्रतीति । क्वापि अन्यत्र । काशसंकाशपक्षविक्षेपशोभिनः काशस्थोन्मत्तेशो सकाशानां पत्राणां विक्षेपेण प्रेरणेन शोभिनी भासिनः । हंसात् मरालान् । आत्मनः स्वस्य मरुल्लोलान् मरुता वायना लोलान् चञ्चलान् । फेनपुञ्जानिव फेनानि विण्शो गणा पुञ्जानिव पिण्डानिव ।

हो गई हो ॥ १३१ ॥ उस पुरके महल राजाओं सरीखे है— राजा गर्वान्न हांते हैं, वे मापमे उन्नत है—बहुत ऊँचे हैं । राजाओंके पास भोग सामग्री खूब होती है, उनका विस्तार बहुत है । राजाओंकी शोभा मदमाते हाथियोंमें होती है; वे छज्जोंमें मुग्धाभित हैं और राजाओंके पास बहुत भूमि होती है तो वे भी तो बहुत भूमिसे युक्त है ॥ ३२ ॥ उस पुरके चारों ओर परिखा-नवाँ खुदी हुई है । उसमें लबालब जल भरा हुआ है, और उसमें कमल लहलहा रहे हैं । उनका पराग झड़ कर जलके ऊपर जितने भागमें फैल जाता है, उनना भाग स्वर्ण जड़ित भूमिकी छविकी ग्रहण कर लेता है ॥ १३३ ॥ उस परिखाके जलमें एक ओर किनारेके वृक्षांका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है उसे देखकर पक्षियोंको पातालमें उपवनका सन्देह हो रहा है ॥ १३४ ॥ उस परिखाके जलमें जिस ओर हम तैर रहे हैं, और वे कांसके फूलोंकी भाँति अपने सफेद पंख

१ अ क ग घ ङ कुर्वन् । २ श स दानविलसतटद्विषे । ३ उपमा सादृश्यं येषां ते ।  
 ४. = पन्तीति शेषः । ५ आ 'निमिताया' इति नास्ति । ६ श स रैकं । ७. भवनलोकस्य ।  
 ८. आ कुर्वन्ति विदधति ।

तटपादपसंरुद्धैर्निष्कम्पसलिलानिलैः ।

मुग्धस्त्रोणां वितम्बानां क्वापि स्फटिकभूभ्रमम् ॥ १३६ ॥

मज्जत्पुरन्ध्रिधम्मिल्लगलदुज्ज्वलमल्लिका ।

यत्र तारकितेव यौ सर्वतो भाति खातिका ॥ १३७ ॥ ( पञ्चभिः कुलकम् )

तीक्ष्णत्वं केवलं यत्र बोधे न वचने नृणाम् ।

कठिनत्वं कुचद्वन्द्वे कामिनीनां न मानसे ॥ १३८ ॥

भङ्गः कचेषु नारीणां वतेषु न तपस्विनाम् ।

विरसत्वं कुकाव्येषु मिथुनेषु न कामिनाम् ॥ १३९ ॥

बिभ्रतो घरतो ॥ १३५ ॥ तदेति । क्वापि अन्यत्रापि । तटपादपसंरुद्धैः तटस्य तोरस्य पादपैर्वृक्षैः सरुद्धैरावृतैः । अनिलं मरुद्भिः । निष्कम्पसलिला निष्कम्पं सलिलं जलं यस्या सा तथोक्ता । मुग्धस्त्रोणा मुग्धाना मोहितानां मूढानां वा स्त्रोणा वनितानाम् । स्फटिकभूभ्रमं स्फटिकेन पाषाणेन निमित्ताद्याः भ्रुवो भूमेभ्रमं भ्रान्तिम् । वितम्बानां कुर्वाणा । तनुजं विस्तारे । 'सल्लट्—' इत्यादिना नन्-प्रत्यय । भ्रान्तिमान-लङ्कारः ॥ १३६ ॥ मज्जद्दिनि । यत्र थोपुरे । मज्जत्पुरन्ध्रो धम्मिल्लगलदुज्ज्वलमल्लिका मज्जन्तीना स्नान कुर्वतीना पुरन्ध्रोणा मुचिरिजवनिताना धम्मिल्ले<sup>३</sup> संयतकचैः गन्तुं उज्ज्वला मल्लिका मल्लिकापुष्पं यस्या सा । खातिका परिखा । सर्वतः सर्वप्रदेशतः । यौ. आकाशम् । तारकितेव तारका. संजाता यस्यामिति तारकितेव । भाति स्म रराज<sup>४</sup> । उत्प्रेक्षा । पञ्चभिः कुलकम् ॥ १३७ ॥ तीक्ष्णत्वमिति । यत्र थोपुरे । तीक्ष्णत्वं कुशाग्रोपपन्नं, पक्षे क्रूरत्वम् । केवलं परम् । नृणा जनानाम् । बोधे ज्ञाने, भवतीति शेषः । वचने भाषणे । न न भवति । कठिनत्वं कर्कशत्वम् । कामिनीनां वनितानाम् । कुचद्वन्द्वे स्तनयुगे, भवतीति शेषः । मानसे हृदये । न न वनते । परिसङ्गालङ्कारः ॥ १३८ ॥ भङ्ग इति । नारीणां वनितानाम् । कचेषु केशेषु । भङ्गः अवमर्दनं (वक्रत्वम्) स्यात् । तस्मिन्ना तपोऽस्ति येषामिति तपस्विनः, तेषाम् । 'तपस्व्यमाश्रमेषां भो विन्' इति विन्-प्रत्ययः । स्तं सर्वत्र इति पदसंज्ञाभावः । वनेषु चारित्र्येषु । न न स्यात् । कुकाव्येषु कुस्मितकवि-श्रेषु । विरसत्वं शृङ्गारादिनवरसाभावो भवेत् । कामिना कामुकानाम् । मिथुनेषु द्रव्येषु । न न वर्तते ।

हिला रहे है, उन्हे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो हवाके झोकसे उसके ऊपर फेनका पुञ्ज लहरा रहा हो ॥ १३५ ॥ एक ओर परिखाके किनारेपर बहुत ही घनी वृक्षावली है । उससे हवा रुक जानेके कारण उसके जलका जितना अंश बिलकुल ही निश्चल हो रहा है उसे देखकर भोली-भाली स्त्रियोंको स्फटिकमणिजटित भूमि(फर्श)का भ्रम हो रहा है ॥ १३६ ॥ स्नान करते समय सौभाग्यवती स्त्रियोंके केश पाशसे गिरे हुए सफेद चमेलीके फूल उसके जलमें चारों ओर लहराने लगते हैं । अतः वह क्षिप्रमिलाने तारोसे युक्त आकाश सरीखो देख पड़ती है ॥ १३७ ॥ उस पुरके निवासियोंकी केवल बुद्धिमें ही तीक्ष्णता है; उनके बचनोमें तीक्ष्णता—तोखापन नहीं है । वहाँ केवल स्त्रियोंके स्तन युगलमें कठोरता पायी जाती है; उनके मनमें कठोरता नहीं पायी जाती ॥ १३८ ॥ वहाँकी स्त्रियोंके केवल केशोंमें ही घुंघरालापन पाया जाता है । और उन्हींमें मर्दन भो ( साफ करने समय ) देखा जाता है । किन्तु साधुओंके वनोंमें दोष नहीं देख पड़ते, और व्रत धारण करनेके पश्चात् उनका मानभङ्ग भी नहीं होता । केवल कुकवियोंके काव्योमें ही वहाँ नीरसता पायी जाती है, कामियोंके युगलमें नीरसता नहीं

१ अ कविभ्रमम् । २ आ मोहितानाम् । ३ = धम्मिल्लेभ्यः सयनकचेषु गन्तुं पनन्ती उज्ज्वला मल्लिका यस्या सा । ४ = सर्वत्रस्तारकितः क्षीरिव भाति राजते । ५ क म कुचेषु ।

विरोधः पञ्जरेष्वेव न मनःसु महात्मनाम् ।  
 नाभिष्वेव च नीचत्वं नाचारेषु कुटुम्बिनाम् ॥ १४० ॥  
 प्राकारपरिखावप्रैः परितः परिवेष्टितम् ।  
 परिवेषत्रयान्वीतचन्द्रघट्टिराजते ॥ १४१ ॥  
 प्रसिद्धेनाचिरुद्धेन मानेनाप्यभिचारिणा ।  
 वणिजस्ताकिंकाश्चापि यत्र वस्तु प्रमिथ्वते ॥ १४२ ॥

इयमपि परिसंख्या ॥१३९॥ विरोध इति । पञ्जरेष्वेव पक्षिनिरोधरुकाष्टयस्त्रेण [एव] । विरोध बीना पक्षिणा रोधः तिरोधानं, पक्षे वैरं भवेत् । महात्मना महानात्मा येषां तेषां सज्जनानाम् । मनःसु मानेणु । न नास्ति । नाभिष्वेव नाभिप्रदेशेषु [एव] नीचत्वं निम्नत्वं, पक्षे निकृष्टत्वमस्ति । कुटुम्बिना गृहस्थानाम् । आचारेषु चारित्र्येषु । न नास्ति । इयमपि परिसंख्या ॥१४०॥ प्राकारेति । परितः समन्तान् । प्राकार-परिखावप्रैः प्राकारश्च परिखा च वप्रश्च प्राकारपरिखावप्रा तैः सालजलत्वातिकाप्राकारान्तवेदिकाभिः । परिवेष्टितं परिवृतम् । यत् श्रोत्रम् । परिवेषत्रयान्वीतचन्द्रवत् परिवेषाणां पत्रिघोना त्रयेण अन्वितश्चासौ चन्द्रश्च स इव । भासते । राज्ञः दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१४१॥ प्रसिद्धेनेति । यत्र श्रोत्रे । बाणजो बाणजाः । ताकिंकाश्चापि तर्कन्यायशास्त्रं<sup>१</sup> बोद्धारोऽप्येतारो वा । प्रसिद्धेन लोकप्रतीनेन । अविस्मृतेन विरोधरहितेन, विरुद्धरूपहेतुदोषरहितेन । अव्यभिचारिणा क्रयविक्रयकरणे अव्यभिचाररहितेन व्यभिचाररूप-हेतुदोषरहितेन च । मानेन प्रमाणेन<sup>३</sup> । वस्तु रत्नादिवस्तु वल्लघादिवशां च । प्रमिथ्वते अनुमिथ । ममिञ्

पायी जाती ॥१३९॥ उस पुरमें विरोध—वि + रोध = पक्षियोको गेक रखना केवल पिजरो-में ही देखा जाता है; महात्माओके मनमें विरोध नहीं देख पड़ता । केवल स्त्रियोको नाभि-में ही गहरायो पायी जाती है; गृहस्थोंके आचरणमें नीचता नहीं पायी जाती ॥१४०॥ वह नगर चारो ओरसे चहारदीवारी, खाई और अन्तर्वेदीसे घिरा हुआ है, अतः वह तीन परिधियों-के बीचो-बीच पहुँचे हुए चन्द्रमाके समान सुसोभित हो रहा है ॥१४१॥ उस पुरके वणिक्-व्यापारी जिन मापनेके पात्रों और तौलनेके बांटोसे सौदा मापते या तौलते हैं, वे सब लोक प्रसिद्ध हैं । वे लेनेके बड़े और देनेके छोटे नहीं हैं और उनमें कोई पासंग या करामात नहीं है—वहाँके व्यापारी अत्यन्त प्रामाणिक हैं । इसी प्रकार वहाँके ताकिंक भी प्रमेयका निश्चय जिस अनुमान प्रमाणसे करते हैं, उसका बङ्ग-हेतु असिद्ध, विरुद्ध और व्यभिचारी नहीं रहता—वे अग्नि आदि प्रमेयोंका विश्वास धूम आदि सच्चे हेतुओंसे करते हैं, झूठे हेतुओं—हेत्वाभासोंसे

१. = 'वेदेहक. सार्धबाहो वैगमो बाणजो वणिक्.' इत्यमरः । २. = तर्कस्य न्यायशास्त्रस्य बोद्धारोऽप्येतारो वा, तेषां । ३. सा स प्रमाणेन च । ४. सा स दुमिञ् प्रमोपणे ।

वापोवनायतनसौधतडागरम्यं स्वर्गाभिभाविबिभवोदयवर्द्धमानम् ।<sup>१</sup>

शक्येत तन्न गुरुणापि पुरं यथावदाख्यातुमल्पमतिना किमु मद्भिधेन ॥ १४३ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्के अम्भ्रप्रमचरिते महाकाव्ये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

प्रश्नोत्तरं । श्लेषालङ्कारः ॥ १४२ ॥ वापोति । वापोवनायतनसौधतडागरम्यं वापोभिर्दीपिकाभिर्वनैरुद्यानैः । आयतनैः चैत्याल्यैः सौधैः प्रासादैः तटाकैः पचाकरैश्च रम्यं मनोहरम् । स्वर्गाभिभाविबिभवोदयवर्द्धमानः स्वर्गं सुरलोकम् अभिभवतोत्येवंशीलः स्वर्गाभिभावो स्वर्गतिरस्कारी स चासौ विभवश्च तद्योक्तः, स्वर्गाभिभाविबिभवस्यैवयस्योदयः प्रादुर्भावः तेन वर्धमानम् एधमानम् । तत् पुरं श्रीपुरम् । गुरुणापि बृहस्पतिनापि । यथावत् यथेवास्तेति<sup>२</sup> यथावत् सत्यम् । आख्यातुं न शक्येत न समर्थ्येन । शक्यं शक्तौ कर्मणि लिङ् । मद्भिधेन मम विधः समानः तेन मत्सङ्घेन । अल्पमतिना अल्पा मतिर्यस्य तेन । किमु शक्येत । अनेन कवेरस्योद्धत्यपरिहारः कृतः । अतिशयोक्तिः ॥ १४३ ॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्के अम्भ्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये द्वितीयः सर्गः ॥ १ ॥

नही ॥ १४२ ॥ उस पुरको सुन्दरतामें वापिकाओं, बाग-बगोचों, देवालयों, महलों और सरोवरोंने चार चाँद लगा दिये है । बहाँपर स्वर्गके वैभवको भी मात करनेवाला वैभव-अटूट सम्पत्ति है, अतः दिनोदिन उसकी प्रगति हो रही है । इस लिए उस पुरका वास्तविक वर्णन देवगुरु बृहस्पति भी नहीं कर सकते, फिर मुझ जैसा मन्दमति कर ही कैसे सकता है ? ॥ १४३ ॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क अम्भ्रप्रमचरित महाकाव्यमें दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

१. अ<sup>१</sup>भिभाविभि<sup>२</sup> क ख ग घ स्वर्गाभिपस्य विभ । २. स यथेवास्तेति यथावत् ।

## तृतीयः सर्गः ।

तत्राभिनन्दितनिजाखिलबन्धुपक्षो न्यायांशुजालनिहतापनयान्धकारः ।

संकोचितारिबनितास्यनिशाकरश्रीः श्रीपेण इत्यजनि भानुनिभो नरेन्द्र ॥ १ ॥

यस्य प्रतापदहनेन विलङ्घ्यमानमूर्तिरनन्तरमरातिगणः समस्तः ।

द्रष्टुं दिशं न विदिशं चकितः प्रभृष्युर्धूकोपमः समभवद्गिरिगह्वरस्थः ॥ २ ॥

यस्य स्फुरद्भिरनुरागकरैर्यशोमिच्छासितासु सकलासु दिगङ्गनासु ।

तन्मात्रकार्यकरणप्रवणाय लोकः शीतांशवे न नितरां स्पृहयांबभूव ॥ ३ ॥

गर्भावनारसमयं (ये) भुवनं समस्तं गङ्गाबुधेमगिरत्नमुषाभिषिक्तम् ।

क्षीराब्धिनीरपरिशोभितदिव्यकार्यं श्रीशीतलं जिनपतिं प्रणमामि नित्यम् ॥

तत्रेति । तत्र श्रीपुरे । अभिनन्दितनिजाखिलबन्धुपक्ष अभिनन्दिताः प्रवचिता निजस्य स्वस्य अविद्याः समस्ता बन्धव एव पद्मानि नलिनानि येन (सः) तथोक्तः । अथवा अभिनन्दिता निजाखिलबन्धूना पद्मा लक्ष्मी येन । न्यायांशुजालनिहतापनयान्धकार न्याया नीतय त एवाशब्दो मयूषा तेषां जाल समूह तेन निहतो- निराकृतोऽपनयो दुर्नोति स एवान्धकार, रूपकं, न्यायांशुजालनिहतोऽपनयान्धकारो यस्य (येन स) तथोक्तः । संकोचितारिबनितास्यनिशाकरश्रीः संकोचिताऽरीणां शत्रूणां वनितानां नारीणामास्यान्धेव निशाकरदबन्दनस्य श्री शोभा येन तथोक्तः । भानुनिभः भानो सूर्यस्य निभः समानः । श्रीपेण इति । नरेन्द्र नृपतिः । अजनि अजायत । जनेष्वां प्रादुर्भावे लुट् । इत्येवमिति ॥ १ ॥ यश्चेति । यस्य श्रीपेणस्य । प्रतापदहनेन प्रतापः तेजः स एव दहतीति । तेन । रूपकम् । निरन्तरं निरवकाशम् । विलङ्घ्यमानमूर्ति विलङ्घ्यमाना अनुलङ्घ्यमाना मूर्तिरवयवो यस्य स (अतिक्रम्यमाणतनु) । चकितः भोतः । दिशम् आशम् । विदिशं च । द्रष्टुं विदिशुम् । न प्रभृष्युः समर्थः । भू सत्तायामिति धातो 'भूजेस्त्नुक्' इति माय् । घर्मशीलेषु स्नुप्रत्ययः । समस्तः सकलः । अरातिगण अरातीनां शत्रूणां गण समूहः । गिरिगह्वरस्य गिरीणां गह्वरेण स्थं स्थितः (गिरिगह्वरेषु तिष्ठतीति गिरिगह्वरस्य) । धूकोपमः धूकस्योल्कस्योपमः समानः (धूकस्योल्कस्योपमा यस्य यः) । समभवत् समभूत् । भू सत्ताया लट् ॥ २ ॥ यश्चेति । यस्य श्रीपेणस्य । स्फुरद्भिः प्रज्वलद्भिः (स्फुरण-शीलैः) । अनुरागकरैः अनुराग सन्तोषं कुर्वन्तीत्यनुरागकरा तैः । यशोभिः कीर्तिभिः । सकलामु सर्वायुः । दिगङ्गनासु दिशा कटुभामङ्गनाः कन्यकाः । (दिश आशा एवाङ्गना दिगङ्गनाः) तामु । उद्गासितासु प्रकाशितासु मतीषु । लोकः जनः । तन्मात्रकार्यकरणप्रवणाय तदेव तन्मात्र प्रकाशनमात्र तस्य कार्यस्य करणं

उस श्रीपुरमे श्रीपेण नामका राजा राज्य करता था । वह सूर्य सरोखा था । सूर्य अपने कमल-बन्धुश्रीका विकास करता है, इसने अपने बन्धु-कमलोंका विकास किया था । सूर्य अपनी किरणोंसे अन्धकारको हटाता है, इसने अपने न्यायसे अन्यायको मिटा दिया था । सूर्य चन्द्रमाकी श्रीकी फीका कर देता है, इसने अपने शत्रुओंकी स्त्रियोंके चन्द्रमुखको फीका कर दिया था ॥ १ ॥ उसका प्रताप अग्निके समान सन्ताप देनेवाला था । उसके सभी शत्रु उससे सन्तप्त होकर ऐसे घबरा उठे कि वे दिशा और विदिशाको पहचाननेमें असमर्थ हो गये । फलतः वे पहाड़ोंकी गुफाओंमें जा घुसे और वही उल्लुओंकी तरह छिपकर बैठ गये ॥ २ ॥ उसका यण सभी ओर बढ़ी तेजीसे फैल रहा था, और लोगोंके मनमें अनुराग उत्पन्न कर रहा था । जब उसने सभी

संपूर्णशारदनिशाकरकान्तकीर्तिबह्वीवितानपरिवेष्टितविष्टपान्तः ।

यः पोषगाद्विनयनाद्ध्यसनापनोदात्स्वामी गुरुः सुहृद्भूस्त्रिलजप्रजानाम् ॥४॥

यत्र प्रशान्तसकलव्यसने विनीते स्वाभाविकं मतिमहातिशयं प्रपद्ये ।

चक्रुर्निवासमखिला नरनाथविद्याः पर्युत्सुका इव परस्परदर्शनस्य ॥५॥

तुङ्गत्वमद्रिपतिना हरिणेश्वरत्वं शीतांशुना सुभगता वशिता मुनीन्द्रैः ।

शीर्यं मुगाधिपतिना गुरुणा मनीषा गाम्भीर्यमम्बुनिधिना तुलितं यदीयम् ॥६॥

नागाः पदातिवृषभास्तुरगा रथाश्च शोभानिमित्तमभवन्लु यस्य सर्वे ।

आक्रम्य मण्डलपतीन्खिलान्स यस्मात्सर्वा भुभोज वसुधां निजतेजसैव ॥७॥

विद्याने प्रवणाय समर्थाय ( प्रकाशमात्रकार्यकरणसमर्थाय ) । शीताशवे चन्द्राय । नितराम् अत्यन्तम् । न स्पृहयाबभूव वाञ्छयतिस्म ( वाञ्छतिस्म ) । स्पृह ईप्सायां लिट् । सामान्यालङ्कारः ( व्यतिरेकालङ्कारः ) ॥३॥ संपूर्णति । संपूर्णशारदनिशाकरकान्तकीर्तिबह्वीवितानपरिवेष्टितविष्टपान्तः संपूर्ण पूर्णकल शारदः शरत्कालभवो निशाकरश्चन्द्रः ( स ) इव कान्ता मनोहराः कीर्त्तयो यशासि, उपमा, ता एव वक्ष्यो लता, रूपकं, तासां वितान ( नं ) समूहस्तेन वेष्टित परिवृतो विष्टपस्य लोकस्यान्तो मध्यं ( मध्य ) यस्य ( येन ) सः । य. श्रीपेण । अखिलप्रजानाम् अखिलानां प्रजानां पोषणात् रक्षणात् । विनयनात् शिश्नानां । व्यसनापनोदान् व्यसनस्यापनोदानां निराकरणात् । यथाक्रमम् । स्वामी पालनात् । गुरुः शिक्षणात् । सुहृन् दुःखनिवारणात् । अभूत् अभवत् । भू सत्ताया लुङ् । यथासंख्यालङ्कारः ॥४॥ यत्रेति । प्रशान्तसकलव्यसने प्रशान्त विनष्ट सकल यमस्तं व्यसनं दुःखं यस्य तस्मिन् । विनीते विध्युते ( विनयान्विते ) । स्वाभाविकं स्वभावभवम् । मतिमहातिशयं मतेर्बुद्धेर्महान्तमतिशयम् । प्रपद्ये प्रयाते ( प्राप्ते ) । यत्र श्रीपेणे । अखिला समस्ता । नरनाथविद्या नरनाथपरा राजो विद्याः । परस्परदर्शनाय परस्परस्य दर्शनाय वीक्षणाय । पर्युत्सुका इव पर्युत्कलिका इव ( उन्फण्टिता इव ) । निवासम् आवासम् । चक्रुः विदधुः । लुक्कृञ् करणे लिट् । उपप्रेक्षा ॥५॥ तुङ्गत्वमिति । यदीयं यस्येदं यदीयम् । 'दीश्छः' । तुङ्गत्वम् उन्नतत्वम् । अद्रिपतिना महा-मेरुणा मह । ईद्वरत्वं प्रभुत्वम् । हरिणा देवेन्द्रेण । सुभगता सोन्दर्यम् । शीतांशुना शीताः शीतरूपा अश्वो मयूखा यस्य तेन चन्द्रेण । वशिता इन्द्रियजयत्वम् । मुनीन्द्रैः यतीन्द्रैः । शीर्यं शूरत्वम् । मुगाधिपतिना सिंहेन । मनोषा बुद्धिः । गुरुणा बृहस्पतिना । गाम्भीर्यं गम्भीरत्वम् । अम्बुनिधिना समुद्रेण । तुलितं समानीकृतम् । उपमा ( दीपकम् ) ॥६॥ नागा इति । स श्रीपेणः । यस्मात् । निजतेजसैव निजस्य स्वस्य तेजसैव प्रतापेनैव । अखिलान् समस्तान् । मण्डलपतीन् भूपालान् । आक्रम्य आक्रमणं पूर्वं ( पश्चात् किञ्चित् ) तिरस्कृत्य ।

दिशाओको प्रकाशित कर दिया तब लोगोंको, केवल प्रकाश फैलानेमें चतुर चन्द्रमाकी चाह बिलकुल ही नहीं रही ॥३॥ उसकी कीर्ति शरत्कालीन पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान सुन्दर थी । वह दुनियाके कोने-कोनेमें लताकी तरह फैल गयी थी । भरण-पोषण करनेसे वह राजा सारी प्रजाका स्वामी था; शिक्षा देनेसे गुरु था और संकट निवारण करनेसे मित्र भी था ॥४॥ उसमें कोई बुरा व्यसन नहीं था; वह अत्यन्त नम्र था; उसकी बुद्धि स्वभावतः अत्यन्त तीक्ष्ण थी और इसीलिए उसमें वे सारी विद्याएँ, जिनका अध्ययन राजाओंको अवश्य ही करना चाहिए, आकर रहने लगी । मानो वे पहले से ही एक-दूसरेसे मिलनेके लिए उत्सुक थीं ॥५॥ उसकी ऊँचाईकी तुलना सुमेरुसे, ऐश्वर्यकी इन्द्रसे, सुन्दरताकी चन्द्रमासे, जितेन्द्रियताकी बड़े-बड़े मुनियोसे, शूरताकी सिंहसे, बुद्धि की बृहस्पतिसे और गम्भीरताकी सागरसे की जाती थी ॥६॥ हाथी, घोड़े, रथ और वीर सैनिक ये सभी केवल उसकी शोभाके निमित्त थे; क्योंकि केवल



यत्र क्वचिद्गुणगणो गतवान्स ह्यैव वृद्धिं मया नृपतिरेष पुनर्न जाने ।  
मां द्वेष्टि शंसति शमप्रभृतीनितीथ यो जातनिर्भरुषा मुमुक्षे मदेन ॥८॥  
वक्षः श्रियो भुजयुगं वरवीरलक्ष्याः कान्तेः शरीरमखिलं हृदयं क्षमायाः ।  
यस्यास्पदं मुखमजायत वाग्विभूतेर्नवाश्रयाय सकलस्य सतां प्रयासः ॥९॥  
भेजे नितान्तमजलोऽपि नदीनभावं यश्चाभवद्वसुमतीतिलकोऽप्यशोकः ।  
दोषाकरश्च न बभूव कलाधरोऽपि सर्वे हि विस्मयकरं महतां स्वरूपम् ॥१०॥

मया समस्ताम् । वमुषा भूमिम् । बुभोज पालयति स्म । भुज पालनाभ्यवहारयोः लिट् । 'शपनाथगिञ्ज—'  
इत्यादि सूत्रेण पालनार्थे लट् । यस्य श्रियेणस्य । नागा गजा । [ वदातिवृषभा ] वदातयो वृषभा इव  
तथोक्ता, 'व्याघ्रादिभि' गौणैस्तदनुक्तौ' इति कर्मधारयः, भटश्रेष्ठाः । तुरगाः वाजिनः । रथाश्च । सर्वे  
समस्ता । शोभानिमित्तं विलासार्थम् । अभवन् अभूवन् । भू सत्ताया लट् । अतिशयोक्ति ॥७॥ यत्रेति ।  
( यत्र ) क्वचित् राज्ञि । गुणगणः गुणानां गणः समूहः । मया सहैवै सममेव । वृद्धिं समृद्धिम् । गतवान्  
यातवान् । यत्र राज्ञि ( ? ) । न जाने न बुध्ये । ज्ञा अवबोधने । 'अनुपसर्गं ज्ञ' इति लडात्मने पदम् ।  
पुन पदवान् । एष नृपति अयं नरनाथः । मा द्वेष्टि क्लृप्पति । शमप्रभृतीन् क्षमादीन् । गसति सत्करोति ।  
इति एवम् । जातनिर्भरुषे जातयोत्पन्नया निर्भरयाऽधिकया रूपेण कोपेनैव । मदेन गर्वेण । मुमुक्षे त्यज्यते  
स्म । मुच्लू मोक्षेण कर्मणि लिट् ॥८॥ वक्ष इति । यस्य श्रियेणस्य । वक्षः उरः । श्रिय श्रोत्रेणाः । आस्पद  
स्थानम् । भुजयुगं भुजयोर्युगं युगलम् । [ वर- ] वीरलक्ष्याः ( श्रेष्ठ- ) जयलक्ष्या स्थानम् । अखिल  
सकलम् । शरीरं गात्रम् । कान्तेः देहदीप्त्याः स्थानम् । हृदयं स्वान्तम् । क्षमायाः क्षान्त्याः स्थानम् । मुखं  
वदनम् । वाग्विभूतेः वाचः सरस्वत्याः विभूतेः ऐश्वर्यस्य स्थानम् । अजायत अजनि । जनैर् प्रादुर्भावे लट् ।  
सतां सत्पुरुषाणाम् । प्रयासः प्रयत्नः । [ ननु ] ( निश्चयेन ) । सकलस्य सर्वजनस्य । आश्रयाय आधाराय  
( भवतीति शेषः ) । ननु तथाहि ( ? ) । अर्धान्तरस्यासः ॥९॥ भेज इति । यः श्रियेणः । नितान्तं भृगम् ।  
अजशोऽपि, जलरहित इति ध्वनिः । न दीनभावं न दीनं, न दीन इति नयो नस्य लुप्तमाय ( ? )  
तस्य भाव दैन्यभावमिदं । नदीनां सरितामिनः स्वामी तस्य भावः तम् । समुद्रस्वरूपमिति ध्वनिः । भेजे  
सिपेवे ! भजी सेवायां लिट् । वसुमतीतिलकोऽपि वसुमत्या भूमेस्तिलकोऽप्यलङ्कारोऽपि, वसुमत्या वर्तमान-  
तिलकवृक्षोऽपि, इति ध्वनिः । अशोकः दुःखरहितः, अशोकवृक्ष इति ध्वनिः । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया  
अने प्रतापसे ही सभी माण्डलीक राजाओंको जीत करके वह समस्त भूमण्डलका परिपालन  
कर रहा था ॥७॥ 'त्रिस किसी भी राजाके गुण अभी तक मेरे ही साथ बढ़े है, किन्तु यह  
राजा न जाने कैसा है, कि मुझसे द्वेष करता है और शम-शान्ति आदि गुणोंकी प्रशंसा किया  
करता है' मानो इसीलिए अहंकार अत्यन्त रुष्ट हो गया और उसे छोड़कर चला गया ॥८॥  
उसका वक्षस्थल लक्ष्मीका, बाहु युगल श्रेष्ठ विजयलक्ष्मी या वीरताका, पूरा शरीर कान्तिका,  
हृदय क्षमाका और मुख वाणीके वैभवका निवासस्थान हो गया । सज्जनोंका प्रयत्न निश्चय ही  
दूसरोंको आश्रय देनेके लिए हुआ करता है ॥९॥ वह ( विरोध पक्षमें—) विलकुल जल-  
रहित था, पर था समुद्र ( परिहार पक्षमें—) वह अत्यन्त बुद्धिमान था, और उनके मनमें  
कभी दीनताके भाव उत्पन्न नहीं होते थे । वह ( विरोध पक्षमें—) पृथ्वीका तिलक वृक्ष था तो  
भी अशोक वृक्ष था ( परिहार पक्षमें—) वह भूमण्डलका मण्डन था और उसे कभी शोक नहीं

१. अ आ इ क स ग घ ङ मत्वाश्च । २. आ लेप् स स तिप् । ३. श स गणैः । ४. श स  
समयाः । ५. = यत्र क्वचित् यस्मिन् कस्मिदिषत् पुरुषे । ६. श स सहैव । ७. श स 'सर्गजः ।  
८. आ त्यजति स्म । ९. श स मुच्यते ।

धर्मोऽर्थसंचयनिमित्तमुदारमर्थः कामस्य हेतुरितरः सुखयोनिरेते ।  
 यत्र अयोऽप्यविरतं न परस्परस्य जैनैश्चरा इव नया विजडुष्यपेक्षाम् ॥११॥  
 बाष्पक्षिणाश्रयविशेषमिवात्मयोग्यमौदार्यधैर्यविनयादिगुणैरशौचैः ।  
 अम्ययितः सततमावरवज्रिरेषां वेधाः ससर्जं नृपमालयभूतमेनम् ॥१२॥  
 भानुर्भवेद्यपि मनागिह सौम्यरूपस्तेजस्वितामुपगतो मृगलाञ्छनो वा ।  
 धामाधिको विवक्षयेव जनानुरागं तेनोपमानपदवीं प्रभुरुद्धहेत ॥१३॥

लङ् । कलाधरोऽपि द्वास्त्रयतिलकलाधरोऽपि, चन्द्र इति ध्वनिः ॥१॥ दोषाकरश्च दोषाणां पापाचरणानामाकर उत्पत्तिस्थानम्, रात्रिकर इति ध्वनिः ( न बभूव न सपञ्चनि ) । महता सत्पुरुषाणाम् । सर्वं निखिलम् । स्वरूपं धर्मः । विस्मयकरं हि विस्मयमाश्चर्यं करोतीति विस्मयकरं हि ॥१॥ विरोधार्थान्तरन्यासयोः सङ्करः ॥१०॥ धर्म इति । यत्र श्रोत्रेण । धर्मः । उदारम् अत्यन्तम् । अर्थसंचयनिमित्तम् अर्थस्य संचयस्य संपादनस्य । निमित्तं कारणम् । अर्थं कामस्य विषयानुसंधस्य हेतुः कारणम् । इतरः अन्यः कामः । सुखयोनिः सुखस्येन्द्रियमुखस्य योनिः कारणम् । एते त्रयोऽपि—धर्मापंक्षामा अपि । परस्परस्य अन्योन्यस्य । जैनैश्चराः जिनैश्चरस्येमे तथोक्ताः जिनसंबन्धिनः । नया इव नैगमसंग्रहनया इव । अविरतम् अनवरतम् । व्यपेक्षाम् आकांक्षाम् । न जडः न तत्पुत्रः । ओहाक् त्यागे लिट् । उपमा ॥११॥ बाष्पेति । आत्मयोग्यम् आत्मनां स्वेषा योग्यमुचितम् । आश्रयविशेषम् । आश्रयस्याधारस्य विशेषः । मेदम् बाष्पक्षिः इच्छाक्षिः । आवरवज्रि आश्रये प्रीतियुक्तेः । अशौचैः सकलैः । औदार्यशौर्यविनयादिगुणैः औदार्यं च शौर्यं च विनयवच तथोक्ताः । ते आदिर्वेषां ते औदार्यशौर्यविनयादयः ते ( च ) ते गुणाश्च तथोक्ताः सैः, त्यागप्रतापसत्कारादिगुणैरित्यर्थः । सततमनवरतम् । अम्ययितः प्रापित इव । वेधाः ब्रह्मा । एषां गुणानाम् । आलयभूतम् अधारभूतम् । एनं नृपम् इमं श्रोत्रेण-राजम् । सुज विसर्गे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१२॥ भानुरिति । इह लोके । यदि मनाक् ईषत् । भानुः सूर्यः । सौम्यरूपः सौम्यं मनोहर रूपं यस्य सः । भवेन् स्यात् । भू सत्तायां लिङ् । मृगलाञ्छनः मृग एव लाञ्छनं होता था । वह ( विरोध पक्षमें— ) था तो चन्द्रमा पर रात्रिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था ( परिहार पक्षमें— ) वह समस्त कलाओंमें कोविद था और उसमें कोई दोष नहीं था । महान् पुरुषोंका सारा स्वरूप निश्चय ही आश्चर्यजनक होता है ॥१०॥ धर्म उसके धन-संचयका एक बड़ा निमित्त था, धनसंचय काम पुरुषार्थका और काम पुरुषार्थ इन्द्रिय सुखका और ये तीनों— धर्म, अर्थ तथा काम कभी भी एक-दूसरेकी उपेक्षा नहीं करते थे—सभीको एक-दूसरेकी अपेक्षा रहती थी । तीनों पुरुषार्थ जिनेंद्र भगवान्के द्वारा प्रतिपादित नैगम आदि नयोंके समान एक दूसरेसे सम्बन्ध रखते थे ॥११॥ उदारता, धैर्य और विनय आदि सभी गुण अपने निवास करने योग्य किसी विशेष आश्रयको चाह रहे थे, और उन्होंने बड़े आदरके साथ इसके लिए कुछ दिन लगातार ब्रह्मदेवसे प्रार्थना की । मानो इसी प्रार्थनापर उसने इन गुणोंके रहनेके लिए इस राजाकी सृष्टि की ॥१२॥ इस संसारमें सूर्य यदि थोड़े सौम्य रूपको धारण कर लेता अथवा चन्द्रमा ही तेजस्वी हो जाता, तो इन दोनोंमें-से कोई भी एक, तेजस्वी और प्रजाका रंजन करनेवाले

१. म ॥१॥ २. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ३. = अजलोऽपि जलरहितोऽपि नदीनभावं समुद्रत्वं [ भेजे ] । बहुमत्यां तिलको वृक्षविशेषोऽपि, अशोको वृक्षजातिः । कलाधरोऽपि चन्द्रोऽपि दोषाकरो न बभूव । विरोधोऽयम् । तदारिहारः—अपि निवचयेन । यतोऽजडः पण्डितोऽत एव दोनभावं दीनत्वं न भेजे । यतश्च बहुमत्वाः बहुधायाः तिलको ललामभूतोऽत एवाशोकोः शोकरहितः । यतश्च कलाधरोऽत एव दोषाणामसौजन्यदीनतामकरो न बभूव । ४. आ संपादकस्य । = अर्थसंग्रहसंपादनस्थेऽर्थः । ५. = विशिष्टआश्रयम् । ६. वा स राजानम् ।

श्रीकान्तया सरसिजाकरसंनिवासिनीश्रीकान्तया सकललोकमनोभिरामः ।  
 देव्या स्वकीयवपुरव्यतिरिक्तयाप योर्गं शशीव कलयामलया स भूपः ॥१३॥  
 लावण्यसंपदमलाम्भसि संनिमज्ज्य देहं स्वमुज्ज्वलमिवातितरां विधातुम् ।  
 श्लाघ्यः शरद्विशदचन्द्रगमस्तिगौरो यस्यास्तनो समुदितः सकलो गुणोद्यः ॥१४॥  
 शीलक्षमाविनयरूपगुणमहाधामुच्चित्य यामखिलविष्टपमुन्दरीषु ।  
 भर्तुं मेनो रमयितुं स्वसहायभूतां लक्ष्मीरिधादरपरा स्वयमेव धरे ॥१५॥

यस्य सः, चन्द्रो वा । रूपकम् (?) । तेजस्वितां तेजोऽस्यास्तीति तेजस्वी तस्य भावम् । परिगतः गतवान् ।  
 धामाधिकः प्रतापाधिकः । जनानुरागं जनानां लोकानामनुरागं प्रीतिम् । विदधत् विदधातीति विदधत्,  
 कुर्वन्, शतुप्रत्ययः । 'न नम्' इति तन् न भवति । एषः अयम् । प्रभुः श्रोणेणः । तेन भानुना चन्द्रेण वा ।  
 उपमानपदशेम् उपमानस्य सादृश्यस्य पदवीं स्थानम् । उद्धेत दध्यात् । अतिसायोक्तिः ॥१३॥ अंति ।  
 सकललोकमनोभिरामः सकलानां जनानां मनोभिरामो मनोहरः । स भूपः श्रोणेण्यः । सरसिजाकरमनिवासि-  
 श्रीकान्तया सरसिजाकरं शरीरं सनिवासिनी निवसनशीला श्रीरिव कान्तया मनोहरया । स्वकीयवपुर-  
 व्यतिरिक्तया स्वकीयस्य स्वस्य वपुषा शरीरेणाव्यतिरिक्तयाभिन्नरूपया । श्रीकान्तया श्रीकान्तसंज्ञया ।  
 देव्या महिष्या । अमलया निर्मलरूपया । कलया धोडशभागेन । शशीव चन्द्र इव । योर्गं मन्बन्धम् । आप  
 ययो । आप्लु व्यप्लो लिट् ॥१४॥ लावण्येति । लावण्यसंपदमलाम्भसि लावण्यस्य देहकाम्तेः संपदेव  
 अमलेऽम्भसि जले । रूपकम् । स्व स्वकीयम् । देहं शरीरम् । अतितराम् अत्यन्तम् । उज्ज्वल निर्मलम् ।  
 विधातुमिव कर्तुमिव । संनिमज्ज्य सन्ताप्य श्लाघ्य पूज्य । शरद्विशदचन्द्रगमस्तिगौरो शरदः शरत्कालस्य  
 विशदस्य निर्मलस्य चन्द्रस्य गमस्तिरिव कान्तिरिव गौरो मनोहरः । सकलः सर्वः । गुणोद्यः गुणाणां पाति-  
 त्रयादीनामोद्यः समूहः । यस्या श्रीकान्तया । तनो शरीरे । समुदितः संचितः । उद्देशः ॥१५॥ अंतेति ।  
 आदरपरा प्रीतिपरा । लक्ष्मी । अखिलविष्टपमुन्दरीषु अखिलस्य विष्टपस्य मुन्दरीषु म्बोषु । शीलक्षमाविनय-  
 रूपगुणैः शीलं च क्षमा च विनयश्च तथोक्ता त एव रूपं येषां तैः गुणैः । महाधाम अतिशयेन पूज्यम् ।  
 स्वसहायभूता स्वस्य सहायभूता मुहुर्दभूताम् । या श्रीकान्तादेवीम् । उच्चित्वं गृहीत्वा भर्तुं श्रोणेणभूषणम् ।

उस राजाका उपमान हो सकता था, तथा राजा भी उपमेयका रूप लेकर उसकी समानता  
 धारण कर लेता ॥१३॥ वह सभी लोगोंकी दृष्टिमें सुन्दर था । उसका विवाह श्रीकान्ता देवीके  
 साथ हुआ था । वह कमलोमें निवास करनेवाली लक्ष्मीके समान सुन्दर थी और चन्द्रमाकी  
 कलाकी भाँति निर्मल । राजा उसे अपने शरीरसे बिलग नहीं समझता था । उसकी अधोजङ्घिनी  
 जो थी । वह उससे घुलमिल गई जैसे कला चन्द्रमासे सम्बन्ध जोड़कर उससे घुलमिल जाती  
 है ॥१४॥ श्रीकान्ताके शरीरमें प्रशंसनीय तथा शरत्कालीन चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल  
 सभी गुण प्रकट हो गये । मानो वे उसकी कान्तिके निर्मल जलमें स्नान करके अपने शरीरको  
 और भी अधिक उज्ज्वल करना चाहते थे ॥१५॥ वह शील, क्षमा, विनय और रूप आदि  
 गुणोंके कारण सारे संसारको सुन्दर स्त्रियोंके द्वारा पूज्य थी । इसे खोजकर लक्ष्मीने मानो  
 अपने पति श्रोणेण ( राजा लक्ष्मीपति कहे जाते हैं ) के मनोरञ्जनके लिए बड़े सम्मानके साथ

१. आ शा स केन । २. = सरसिजाकरसंनिवासिनी कमलवनवासिनी वासी श्रीश्च तद्वत् कान्तया  
 मनोरमया । ३. = या श्रीः सेव । ४. = आत्मीयस्य । ५. = संपदोद्यः । ६. = निमज्जनं विधाय । ७. आ स  
 एव । ८. = अन्विष्य ।

चन्द्रोज्ज्वलेन यत्नसां कथितं सुराणामौशस्य संसदि परीतवता त्रिलोकीम् ।  
 रूपं प्रद्योतुमनसः स्पृहयन्ति यस्या देव्यो विधोवतरणाय तपांसि कर्तुम् ॥१७॥  
 दोषानुबन्धरहिता तमसा विमुक्ता रम्या निजोदयविकासितबन्धुपथा ।  
 प्राभातिकी द्युतिरिषाम्बुजबान्धवस्य या कान्तिमोषधिपतेः परिभूय तस्यौ ॥१८॥  
 धर्माधेयोरविद्वत्सविशामधीशो बाधा विधूयमयशोधवलीकृताशः ।  
 सार्धं तया प्रणयकोपकृतान्तराणि देव्या सुबान्यनुभवन्दिषसाक्षिनाय ॥१९॥

मनः स्वान्तम् । रमयितुं वशीकर्तुमिह स्वयमेवं वने विवाहं चक्रे<sup>१</sup> । वृत् वरणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१६॥  
 चन्द्रेति । त्रिलोकीं यथाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी, ताम् । 'त्रिणोः' इति डी । परीतवता स्वाप्तवता ।  
 चन्द्रोज्ज्वलेन चन्द्रेणोऽज्ज्वलेन । यत्नसां कीर्त्या । सुराणां देवानाम् । ईशस्य इन्द्रस्य । संसदि सभायाम् ।  
 कथितं प्रोक्तम् । यस्याः श्रीकान्तायाः । रूपं सौन्दर्यम्<sup>२</sup> । मृगीतुमनसः मृगीतुं स्वीकर्तुं मनसो मानसाः चित्ताः<sup>३</sup> ।  
 'तुमो मनस्कामे' इति तुमो मकारस्य लोपः । देव्यः देवस्त्रियः । तपांसि तपस्वरणानि । कर्तुं करणाय ।  
 दिवः स्वर्गम् । अवतरणाय आगमनाय<sup>४</sup> स्पृहयन्ति बाञ्छन्ति । स्पृह ईप्सायां लट् । 'स्पृहेर्वा' इति चतुर्थी ।  
 उत्प्रेक्षा ॥१७॥ दोषेति । दोषानुबन्धरहिता दोषाया रात्रेर्दोषस्य पापस्यानुबन्धेन संबन्धेन रहिता विमुक्ता ।  
 तमसा अन्धकारेण, अज्ञानेन वा । विमुक्ता रहिता । रम्या मनोहरा । निजोदयविकासितबन्धुपथा निजस्य  
 स्वस्योदयेन विकासितानि प्रस्फुल्लितानि बन्धव एव पथानि यस्याः (यया) सा । या श्रीकान्ता । अम्बुज-  
 बान्धवस्य अम्बुजस्याम्बोवस्य बान्धवस्य सूर्यस्य । प्राभातिकी प्राभातस्योदयकालस्येयं प्राभातिकी । द्युतिरिष  
 प्रकाश इव । ओषधिपतेः ओषधीनां पतिश्चन्द्र, तस्य । कान्ति द्युतिम् । परिभूय तिरस्कृत्य । तस्यौ तिष्ठ-  
 नि स्म । स्या गतिनिवृत्ती लट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ धर्मेति । धर्माधेयो द्वयोः । बाधा विरोधम् । अविद्वत्  
 अकुर्वन् । विधूयमयशोधवलीकृताशः विधोवचन्द्रस्योपधेन समानेन<sup>५</sup> यशसा प्राणधवला इदानीं धवलाः क्रियन्ते  
 स्म धवलीकृता आशा दिशो यस्य (येन) सः । विशां राज्ञाम् । अधोशः प्रभुः । सः श्रोणेण । तया श्रीकान्तया ।

स्वयं अपना सहायक बना लिया था ॥१६॥ उसका निर्मल यश तीनों लोकोंमें फैल गया था ।  
 उसकी चर्चा इन्द्रकी सभामें भी होती थी । उसे सुनकर स्वर्गकी देवियाँ उसके रूपको पानेकी  
 इच्छासे तपस्वरण करनेके लिए स्वर्गसे उतरकर मनुष्यलोकमें आना चाहती थी ॥१७॥ जिस  
 प्रकार प्रभात वेलामें सूर्यको प्रभा रात्रिके ससर्गसे रहित और अन्धकार-शून्य होती है । सुन्दर  
 होती है और अपने उदयके साथ ही कमल-बन्धुओंको विकसित करती है । चन्द्रमाकी कान्ति-  
 को फोका कर देती है । इसी प्रकार वह रानी दोषोंसे रहित, अज्ञान रहित, सुन्दर, अपने  
 अभ्युदयमें अपने बन्धुओंकी वृद्धि करनेवाली और चन्द्रमाकी कान्तिको फोका करनेवाली थी  
 ॥१८॥ श्रोणेणने अपने निर्मल यशसे समस्त दिशाओंको धवल कर दिया था—उसका यश  
 दुनियाके कोने-कोनेमें फैला हुआ था । धार्मिक और आर्थिक कार्योंमें बाधा पहुँचाये बिना वह  
 अपनी पट्टरानीके साथ काममुखका अनुभव करता हुआ काल बिता रहा था । मुखके उन

१ = अनुरञ्जयितुम् । २ = स्वत एव । ३ = वृत्तवती स्वीकृतवती । ४ आ रूपं सौन्दर्य रूपम्  
 श रूपं सौन्दर्यरूपम् स सौन्दर्य रूपम् । ५ = मनांसि मानसानि चित्तानि यासा ताः । 'चित्तं तु चेतो हृदयं  
 स्वास्तं ह्युमानसं मनः ।' इत्यमरः । ६ = मानवपर्यायधारणायेति यावत् । ७ = विधोवचन्द्रस्योपमा यस्य  
 तेन, शशधरधवलेनेत्यर्थः ।

कृत्वापरेष्टुरास्त्रावसरं स यावदन्तःपुरं व्रजति किन्नरीवकीर्तिः ।

तावत्कराप्रविनिनिष्टकपोलमूलां देवीमुदधुनयनां सहसा ददर्श ॥२०॥

तां तादृशीं समवलोक्य समानदुःखो दुःखं विभक्तुमिव तन्मनसि प्रवृत्तम् ।

स व्याकुलेन मनसा त्वरमाणवृत्तिः प्रचच्छ हेतुमतिशोकसमुद्भवस्य ॥२१॥

दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलनप्रवीणे<sup>१</sup> पृथ्वीतलप्रवृत्तदुर्विह्वलप्रतापे ।

पचायताक्षि मयि जीवति जीवितेशे संभाव्यते परमवो न पराभवस्ते ॥२२॥

देव्या महिष्या । प्रणयकोपकृतान्तराणि प्रणयकोपेन कृतं विहितम् अन्तरमवकाशं(शो) येषां (येषु) तानि । सुखानि । अनुभवन् । वासरान् । निनाय<sup>२</sup> यायति स्म । जीर्णं प्रापणे लिट् ॥२१॥ कृषेति । किन्नरीवकीर्ति-  
कीर्तिः किन्नरैर्देवविशेषैर्गाता स्तुता कीर्तयस्य सः । सः श्रोत्रेण<sup>३</sup> । अपरेष्टुः अग्निरिन्द्रं दिने । 'पूर्वापर—'  
इत्यादिना एष्टुस्यत्ययः । अस्त्रावसरं सर्वावसरम्<sup>४</sup> । कृत्वा विधाय । यावत् यावत्पर्यन्तम् । अन्तःपुरम्  
अवरोधम् । व्रजति गच्छति । तावत् । कराप्रविनिनिष्टकपोलमूला करस्य हस्तस्य अग्रे उपरिभागे विनिविष्टं  
स्थापितं कपोलस्य गण्डस्य मूलं यथा ताम् । उदधुनयनाम् उदधुणी उत्पतदधुणी<sup>५</sup> नयने नेत्रे यस्याः ताम् ।  
देवो श्रीकान्तादेवोम् । सहसा शोघ्रेण (शोघ्रम्) । ददर्श पश्यति स्म । दृष्टुं प्रेक्षणे लिट् । स्वभावोक्तिः ॥२०॥  
तामिति । तादृशीं तादृशताम् । सा श्रीकान्तादेवोम् । समवलोक्य सम्यग् दृष्ट्वा । समानदुःखं समानं दुःखं  
यस्य सः । स श्रोत्रेण<sup>६</sup> । व्याकुलेन कातरेण । मनसा मानसेन । त्वरमाणवृत्तिः सन् त्वरमाणा वृत्तिर्यस्य सः  
विह्वलवर्तनायुक्तः सन् । तन्मनसि तस्याः देव्याः मनसि चित्ते । प्रवृत्तं स्थितम् । दुःखम् असातम्<sup>७</sup> । विभक्तु-  
मिव विभागं कर्तुमिव । शोकसमुद्भवस्य दुःखोद्भवस्य । हेतुं कारणम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । प्रचच्छ  
पृच्छति स्म । प्रच्छ शोप्ताया लिट् ॥२१॥ दुर्वारिति । पचायताक्षि पचे इवायते दीर्घे अक्षिणी नेत्रे यस्याः  
तस्याः संबोधनम्<sup>८</sup> । दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलनप्रवीणे निवारयितुमशक्यं वीर्यं येषां तेषां<sup>९</sup> शत्रूणां निर्दलेन विभेदने  
प्रवीणे समर्थं । पृथ्वीतलप्रवृत्तदुर्विह्वलप्रतापे पृथ्वीतले भूतले प्रवृत्तो बिसृत्<sup>१०</sup> प्रतापः । तेषां यस्य तस्मिन् ।  
जीवितेशे प्राणकान्ते । मयि जीवति सति प्राणति<sup>११</sup> रति । परमवः परैः<sup>१२</sup> भवः उत्पन्न<sup>१३</sup> । पराभवः

दिनोंमें कभी-कभी रानीके प्रणयकोपके कारण कुछ-कुछ सम्भोगमें व्यवधान पड़ जाया करता था  
॥१९॥ उसका यशोगान गन्धर्व देव किया करते थे । एक दिनकी बात है—वह आमसभा का  
काम पूरा करके ज्यों ही अन्तःपुरमें प्रवेश करता है त्यों ही उसकी दृष्टि एकाएक पट्टरानीपर  
पड़ी । उसका कपोल हथेलीपर झुका हुआ था और उसकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे ॥२०॥  
उसे रोते देखकर श्रोत्रेण भी उसीके समान दुखी हुआ—उसकी आँखोंमें आँसू भर आये ।  
उसका हृदय व्याकुल हो उठा और उसने शीघ्र ही रानीसे इतने बड़े शोक होनेका कारण  
पूछा । मानो वह उसके दुःखको बाँटना चाहता था ॥२१॥ हे कमललोचने ! हे प्रिये ! बड़े-  
बड़े पराक्रमी शत्रुओंके छक्के छुड़ानेमें मैं कुशल हूँ, सारे भूमण्डलपर मेरा प्रबल प्रताप फैला  
हुआ है और मैं तुम्हारे जीवनका रक्षक हूँ । रोनेका कारण बताओ । क्या किसीने तुम्हारा

१. अ. 'रिपुराद्धहनप्रवीणम्' 'रिपुनिर्दहनप्रवीणे । २. आ प्राप' । ३. नीज प्रापणे । ४. श स  
श्रोत्रेणः तथा श्रीकान्तया । ५. = सभाकायम् । ६. आ उदधुणी उत्पतदधुणी । ७. = 'शर्मसातसुखानि  
च' इत्यमरः ; 'सातं सीक्ष्यं सुखम्' इति हेमचन्द्रश्च । ८. = यस्याः सा, तत्संबुद्धौ । ९. = रिपूणां ।  
१०. = बिसृत्त इत्यर्थः । ११. = प्राणिति । १२. = परेभ्यः । १३. = शत्रुकृत इत्यर्थः ।

संतापमल्लसुहृदं विरहं विसोढुमुन्मेषमात्रमपि तावकमप्रभूष्णोः ।

मत्तोऽपि मत्तगजगामिनि निश्चयेन जानीहि संभवति न प्रणयस्य भङ्गः ॥२३॥

त्वत्पादपद्मशरणे त्वद्वीनवृत्तौ त्वत्प्रेमनिष्पन्नमनसि त्वदभिन्नदेहे ।

शाठ्यं मनागपि मृगाङ्गमुखि त्वदीये संभावयामि सरले न सखीजनेऽपि ॥२४॥

छन्दानुवर्तिषु पदातिषु बान्धवेषु दास्यं गतेषु च निशान्तवधूजनेषु ।

भ्रूभङ्गमात्रमपि सोढुमशकनुवत्सु संजायते न तव तन्वि निवेशभङ्गः ॥२५॥

पराजयः । न संभाव्यते न नोयते<sup>१</sup> । भू कृपोवकल्पने कर्मणि लट् । अनुमितिः ॥२२॥ संतामेति । मत्तगज-  
गामिनि मत्तगज इव मदगज इव गामिनि गमनशीले<sup>२</sup> संतापमूल-मूलसुहृदं संतापस्य मूलं मुखं सुहृदं मित्रम् ।  
तावकं तव संबन्धम् । 'युष्मदस्मदो—' इत्यादिना अत्र तद्योगे एकत्वे तवकादेशः । विरहं<sup>३</sup> । उन्मेषमात्रमपि  
उन्मेषमेव उन्मेषमात्र क्षणमात्रमपि । विसोढुं मचितुम् । अप्रभूष्णोः असमर्थात् । मत्तोऽपि मत्तकाशादपि ।  
प्रणयस्य विनयस्य ( स्नेहस्य ) । भङ्गो नाशः । न संभवति नोत्पद्यते । इति निश्चयेन नियमेन । जानीहि  
मन्यस्व । शा अवबोधने लोट् ॥२३॥ त्वद्विति । मृगाङ्गमुखि । मृगाङ्ग इव मुखं यस्याः सा तस्याः संबोधनं<sup>४</sup>  
चन्द्रमुखि ! इत्यर्थः 'असहृन्नञ्—' इत्यादिना डो । त्वत्पादपद्मशरणे तव पादावेव पदं तदेव शरणं रक्षणं  
यस्य तस्मिन् । त्वदवीनवृत्तौ तवाघोना वृत्तिर्यस्य तस्मिन् । त्वत्प्रेमनिष्पन्नमनसि तव प्रेम्णि प्रीतो निष्पन्नमघोर्न  
मनो यस्य तस्मिन् । त्वदभिन्नदेहे त्वत्सकाशादभिन्नो देहः कायो यस्य तस्मिन् । सरले ऋजुभावयुक्ते ।  
त्वदीये तव संबन्धे । 'बोधच्छः' इति छः । सखीजनेऽपि सख्य एव जनः तस्मिन् । ( शाठ्यं शाठत्वं धूर्तत्वं  
वा ) । न संभावयामि [न] निश्चिनोमि । भू कृपोवकल्पने लट् । रूपकम् ॥२४॥ छन्देति<sup>५</sup> । तन्वि कृशाङ्गि ।  
छन्दानुवर्तिषु अनुवर्तन्ते इत्येवंशीला अनुवर्तिनः छन्दस्यानुवर्तिनः<sup>६</sup> तेषु अनुकूलवृत्तिषु । 'छन्दो वरोऽप्यभि-  
प्राये हार्दिका' 'चित्तवृत्तयो' इति विश्वः । पदातिषु भूत्येषु । दास्यं गतेषु कैङ्कर्यं गतेषु । बान्धवेषु बन्धुषु ।  
बन्धूनामपि दास्यकथनेन तस्या महत्त्वं व्यज्यते । भ्रूभङ्गमात्रमपि भ्रूवो भङ्ग एव भ्रूभङ्गमात्रं तदपि । सोढुं

अपमान किया है ? मुझे तो इसकी सम्भावना नहीं है कि मेरे जीवित रहते कोई तुम्हारा  
अपमान कर सके ॥२२॥ हे मदमाते गजकी भाँति गमन करनेवालो ! तुम्हारा विछोह होते ही  
मेरे मनमें सन्ताप होने लगता है । मेरे सन्तापका मूल कारण तुम्हारा विछोह है । इसलिये  
तुम यह निश्चित समझो कि मैं तुम्हारे स्नेहको नहीं ठुकरा सकता ॥२३॥ हे चन्द्रवदने ! देवि !  
तुम्हारी सखियोंने तुम्हारे साथ कोई अनुचित व्यवहार किया हो, यह भी मेरी दृष्टिसे सम्भव  
नहीं है; क्योंकि उन्हें केवल तुम्हारे चरणकमल ही शरण हैं; उनकी जीविका तुम्हारे अधीन  
है; वे हृदयसे तुम्हारे प्रेमके लिए लालायित रहती हैं; वे सदा यही सोचती रहती हैं कि तुम्हारे  
मनमें प्रेम बना रहे; वे क्षुब्धर भी तुमसे बिलग नहीं होतीं और सबसे मुख्य बात यह है कि  
वे सभी सरल हैं—उनके मनमें छल नहीं है ॥२४॥ हे कृशाङ्गि ! सभी नौकर-चाकर तुम्हारे  
इशारेपर नाचते हैं—तुम्हारी इच्छाके अनुकूल चलते हैं; परिवारके बन्धुओंने तुम्हारी दासता  
स्वीकार कर ली है और अन्तःपुरकी रानियाँ तुम्हारी अकुटो-भोके टेढ़ेपनको सहन करनेमें

१. = तिरस्कारः । २. = न उन्नीयते न तर्प्यते । ३. = मत्तगज इव गच्छतीत्येव शीला  
मत्तगजगामिनी तत्संबुद्धौ मत्तगजगामिनि । ४. वा स लब् । ५. = वियोगम् । ६. = तत्संबुद्धौ । ७. अ  
पक्षमिदं नोपलभ्यते यस्येयं टोका । ८. वा स नुवृत्तिषु । ९. छन्दानुवर्तिनः । १०. वा हृदाध्या ।

पतेष्वसत्स्वेपरितोषनिबन्धनेषु किं कारणं कथय देवि शुचस्तवास्याः ।  
 पृष्टेति सा स्त्रितिशुभा अपया न किञ्चिद्व्ये परं मुक्कमलोकत बालसख्याः ॥२६॥  
 सा ह्रीवशादथ गिरा किमपि स्खलन्त्या<sup>१</sup> तस्याः सखीति निजगाद परेकितता ।  
 सत्यं न संभवति देव पराभवादिरस्या भवत्प्रणयभारमहाधिकायाः ॥२७॥  
 किञ्च कारणमभूत्परं विषादे दैवं विहाय न यदन्यजनस्य साध्यम् ।  
 देवस्य तत्सकलमेव निवेदयामि कर्तव्यवस्तुनि पुनर्नियतिः प्रमाणम् ॥२८॥

मयितुम् । अशङ्कनुवस्तु असमर्थेषु । निशान्तवधूजनेषु अन्तःपुरस्त्रीजनेषु । तव ते । निदेशमङ्ग निदेशस्याज्ञाया  
 भङ्गा नाश । न संजायते न संभवति । जनैर्द्वाद्रुर्भावि लट् । रूपकमनुमितिश्च ॥२५॥ एतेष्विति । देवि  
 भोः श्रोकान्ता देवि<sup>२</sup> । अपरितोषनिबन्धनेषु अशरितोषस्य दुःखस्य निबन्धनेषु कारणेषु । एतेषु उक्तवान्प्रवा-  
 दिषु<sup>३</sup> । असत्सु अविद्यमानेषु । तव ते । अस्याः एतस्याः । शूचः शोकस्य । कारणं हेतुम् । किम् ? कथय  
 किम् इति वृद्धिः । कथं वाक्यप्रबन्धे लोट् । इति एवंप्रकारेण । स्त्रितिशुभा भूषतिना । पृष्टा श्रुता । सा  
 श्रीकास्ता । वपया लज्जया । किञ्चित् ईषत् ( अपि ) । नोचे न ब्रवीति स्म । ब्रूय व्यवताया वाचि लिट् ।  
 'अस्ति ब्रूवो—' इत्यादिना वचादेशः । बालसख्याः बालायाः सख्याः । मुखं<sup>४</sup> । परम्<sup>५</sup> अधिकम् । अलोकत  
 ददर्श । लोकाद् दर्शने लङ् ॥२६॥ सेति । अथ सखीमुखावलोकनानन्तरम् । परैर्द्वाङ्गना परेषामन्येषामिद्विज्ञता  
 अभिप्रायज्ञा । तस्याः श्रीकास्ताया । सा सखी बालसखी । ह्रीवशात् लज्जावशात् । स्खलन्त्या मिष्टया ।  
 गिरा वचनेन । किमपि किञ्चित् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निजगाद ब्रवीति स्म । गद व्यवताया वाचि लिट् ।  
 देव भोः स्वामिन् । भवत्प्रणयभारमहाधिकायाः भवतः तव प्रणयस्य स्नेहस्य भारेण महाधिकाया महापूजा-  
 युक्तायाः । अस्या देव्याः । पराभवादिः तिरस्कारादिः । न संभवति न जायते । इति सत्यं सत्यमेव ॥२७॥  
 किमिति । किन्तु किमित्युक्ते । अत्र अस्मिन् । विषादे दुःखे । परम् अन्त्यत् । कारणं हेतुः । अभूत्  
 अभवत् । दैवं पुण्यम् । विहाय त्यक्त्वा । यत् यत्किञ्चित् । अन्यजनस्य अन्यलोकस्य । न साधन साध्यं  
 न भवति । तत्सकलमेव तत्सर्वमेव । देवस्य स्वामिनो भवतः । निवेदयामि विज्ञापयामि । पुनः पदवात् ।  
 कर्तव्यवस्तुनि कर्तव्ये विषादव्ये वस्तुनि पदार्थे । नियतिः<sup>६</sup> नियमः । प्रमाणं सत्यभूतम्<sup>७</sup> ॥२८॥

असमर्थ है । अतः इनसे तुम्हारी आज्ञाका उल्लंघन नहीं हो सकता है ॥२५॥ हे देवि ! जिनकी  
 मैंने सम्भावना की है, वे तुम्हारे असन्तोषके कारण नहीं है । फिर तुम्हीं कहो, तुम्हारे इस  
 शोकका क्या कारण है ? राजाके यों पूछनेपर रानी लज्जावश कुछ नहीं बोली, किन्तु अपनी  
 बचपनकी सहेलीके मुखकी ओर ताकने लगी ॥२६॥ उसकी सहेली दूसरीके भावकी भाँपनेमें बड़ी  
 कुशल थी । वह तुरन्त ही रानीका भाव समझ गई । यों उसे भी राजाके सामने बोलनेमें  
 लज्जाका अनुभव हो रहा था, और वाणी भी स्खलित हो रही थी । किन्तु फिर भी रानीकी  
 आज्ञा शिरोधार्य थी, अतः यों कहने लगी—राजन् ! आपके स्नेहके कारण इसे सभी पूज्य  
 मानते हैं । अतः यह सच है कि पराभव-अपमान आदि इसके शोकके कारण नहीं हैं ॥२७॥  
 इसके विषादका कारण कुछ और ही है । उसका प्रतीकार केवल भाग्य ही कर सकता है, और  
 कोई नहीं । मैं आपको सब सुना रही हूँ, किन्तु उसे सुनकर क्या कर्तव्य है, इस विषयमें

१. म एतेषु सत्स्व । २. म लन्त्या । ३. = भो. देवि श्रीकांते । ४. = पूर्वोक्तेषु । ५. = अनु-  
 युक्ता । ६. = वदनम् । ७. = केवलम् । ८. = नियतिः । भाग्यम् । 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्वी-  
 नियतिर्निधिः ।' इत्यमरः । ९. = शरणमिति यावत् ।

पपा पुरं त्वदनुभावविबुद्धशोभं द्रष्टुं प्रयाग सह मन्दिरमभ्यरुहत् ।

चेकीडतो निजकराहतकन्दुकेन तत्रैताताड्यपृथुकाम्पृथुकान्तियुक्तान् ॥२६॥

तानिन्दुसुन्दरमुखानवलोकयन्ती चिन्तामगमादिति विषण्णमुखारविन्दा ।

धन्याः स्त्रियो जगति ताः स्पृहयामि ताभ्यो यासाममीभिरफला तनयैर्न सृष्टिः ॥३०॥

या मद्रिधाः पुनरसंचितपूर्वपुण्याः पुण्यं सदा फलविबजितमुद्वहन्ति ।

ताः सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा वन्ध्या लता इव भृशं न विभान्ति लोके ॥३१॥

एषेति । एषा श्रीकान्ता । त्वदनुभावविबुद्धशोभं त्वत् (?) तव अनुभावेन विबुद्धा प्रवृद्धा शोभा यस्य तत् । पुरं पत्तनम् । द्रष्टुं दर्शनाय । अथ इदानीम् । मया सह मया साकम् । मन्दिरं तीर्थम् । अभ्यरुहत् अचिररोह । तत्र पुरे । निजकराहतकन्दुकेन स्वकरताडितेन कन्दुकेन गोलकेन चेकीडतः पुनः पुनः क्रोडन्तीति चेकीडतः [चेकीडन्तः] तान् पृथुकान्तियुक्तान् पृथ्व्या महत्या कान्त्या युक्तान् । आड्यपृथुकान् आडधानां धनिकानां पुण्यकान् बालकान् । 'पृथक्' शाब्कं शिशु इत्यमरः । ऐक्षत ददर्श । ईक्षि दर्शने लङ् । जात्यलङ्कारः ॥२९॥ तानिति । इन्दुसुन्दरमुखान् इन्दुरिव चन्द्र इव सुन्दरं मुखं येषां तान् । तान् बालकान् । अवलोकयन्ती पश्यन्ती । विषण्णमुखारविन्दा विषण्णं म्लानं मुखमेवारविन्दं सरसि न यस्याः सा । अमीभिः एभिः । तनयैः बालकैः । यासा स्त्रीणाम् । मृष्टिः उत्पत्तिः । अफला निष्फला । न न भवति । ताः स्त्रियः । जगति लोके । धन्याः कृतार्थाः भवन्ति । ताम्यः स्त्रीभ्यः । स्पृहयामि<sup>१</sup> बाञ्छामि 'स्पृहेर्व' इति चतुर्थी । इति एवम् । चिन्ताम् अगात् अगच्छत् । इण् गती लङि । 'वैश्यो' इति गादेशः । 'ब्रमास्वाभावाहावस' इति सेलृक् । अर्धाभिरन्यासः ॥३०॥ या इति । पुनः पदवात् । असंचितपूर्वपुण्याः असंचितमसंपादितं पूर्वं पुरातनं पुण्यं सुकृतं याभि ताः । मद्रिधाः मम सद्गताः । स्त्रियः । सदा सर्वकाले । फलविबजितं फलरहितम् । पुण्यं कुबुधम् । उद्वहन्ति धरन्ति<sup>२</sup> । सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा सर्वे सकर्तृलोकैः परिनिन्दितो जन्मनो लाभो यासां ताः । ताः । वन्ध्या अफलाः<sup>३</sup> पुनरहिताश्च । लता इव बल्लवं इव । लोके अगति । भृशम् अत्यर्थम् ।

केवल भाग्य ही शरण है ॥२८॥ आपके प्रभावसे इस नगरकी शोभा अन्य नगरोंसे बहुत बढ़ी-चढ़ी है । इसे देखनेके लिए यह आज मेरे साथ छत पर गयी थी । वहाँसे इसने खेलके मैदानमें धनिकोंके कुछ तेजस्वी बच्चोंको देखा, जो हाथकी थपकी दे-देकर जी भरकर गेंद खेल रहे थे ॥२९॥ उनके मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर थे । उन्हें देखते ही यह चिन्तामग्न हो गई । इसका मुख कमल म्लान हो गया, और यह सोचने लगी कि इस लोकमें वे स्त्रियाँ धन्य हैं और उनसे मुझे स्पर्द्धा है, जिन्होंने इन बच्चोंको जन्म देकर अपना जन्म सफल कर लिया है ॥३०॥ मेरे समान जिन स्त्रियोंने पूर्व जन्ममें पुण्य संवय नहीं किया और इसीलिए जो सदा पुण्यवती ( यहाँ पुण्य शब्दका अर्थ मासिक धर्म है ) होकर भी उसके फल ( गर्भ ) से वंचित रहती हैं, वे बर्बाद समझी जाती हैं । वे उन लताओंके समान सर्वथा श्रीहीन मालूम पड़ती हैं, जिनमें फूल तो लगते हैं, पर फल नहीं लगते । सभी लोग उनके जन्मकी निन्दा किया करते हैं ॥३१॥

१. = गेयुकेन । 'गेयुक. कन्दुक.' इत्यमरः । २. वा स ईक्ष । ३. = ईष्यामि । ४. आ प्रदावेव 'उद्वहन्ति धरन्ति' इति सम्पुलभ्यते । ५. आ अबलाः ।



या स्त्यानधर्मिणि पुरंभिजने प्रसिद्धं स्त्रीशब्दमुद्धति कारणनिर्व्यपेक्षम् ।  
 सा हास्यभावमुपयाति जनेषु यद्वदन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकामः ॥३२॥  
 चन्द्रोज्जितां रविरेक्षं कुरुते घनानां बोधीं सरोजनिकरः सरसीमहंसाम् ।  
 पुत्रं विहाय निजसंततिबीजमन्यो न त्वस्ति मण्डनविधिः कुलपुत्रिकाणाम् ॥३३॥  
 तेनोज्जितां निजकुलैकविभूषणेन सौभाग्यसौख्यविभवस्थिरकारणेन ।  
 मां शक्नुवन्ति परितर्पयितुं विपुण्यां न ज्ञातयो न सुहृदो न पतिप्रसादाः ॥३४॥

न विमानि न भासन्ते । भा बोधो लट् । उपमा ॥३१॥ येति । ५ या स्त्री । स्त्यानधर्मिणी स्त्यानस्य गर्भ-  
 धारणस्य ५ धर्मिणि धर्मवति (स्त्यानं धर्मो यस्य स स्त्यानधर्मा तस्मिन्) पुरंभिजने पुरगृध्वेव जनः (पुरन्ध्रीणां  
 जनो वर्गः) तस्मिन् । रूपकम् (?) । प्रसिद्धं प्रतीतम् । स्त्रीशब्दम् । कारणनिर्व्यपेक्षं यथा भवति तथा,  
 गर्भधारणं विनापीत्यर्थः, स्त्यानधर्मवती स्त्री (स्त्यायते गर्भो यस्यां सा स्त्री) इति व्युत्पत्तेः ! उद्धति  
 भरति । सा स्त्री । जनेषु लोकेषु । हास्यभावं परिहासत्वम् । उपयाति<sup>१</sup> अन्धः दृष्टिरहितः । यद्वत् यथा ।  
 सुलोचन इति बोधननयन इति । व्यपदेशकामः नामारोपणं बाह्यनः । अर्धन्तर्यासः ॥३२॥ चन्द्रेति ।  
 चन्द्रोज्जितां चन्द्रोज्जितां रहिताम्<sup>२</sup> । घनानां मेघानाम् । बोधीं रथ्यां गगनम् । रविः सूर्यः । अलङ्कुरुते  
 भूषयति<sup>३</sup> । अहंसां हंसरहिताम् । सरसीं सरोवरम् । सरोजनिकरः सरोजाना पद्माना निकरः समूहः ।  
 [ अलङ्कुरुते ] कुलपुत्रिकाणां कुलोद्भवानां स्त्रीणाम्<sup>४</sup> । निजसंततिबीजं स्वस्य संततेः संतानस्य बीजं कारणम् ।  
 पुत्रं तनयम् । विहाय त्यक्त्वा<sup>५</sup> । अन्यः मित्रः । मण्डनविधिः अलङ्कारविधिः । नास्ति ॥३३॥ तेनेति ।  
 निजकुलैकविभूषणेन निजस्य स्वस्य कुलस्य एकेन मुख्येन विभूषणेन अलङ्कारभूतेन । सौभाग्यसौख्यविभव-  
 स्थिरकारणेन सौभाग्यस्य सुभगत्वस्य सौख्यस्य सुखस्य विभवस्य ऐश्वर्यस्य स्थिरस्य स्थितेः (स्थिरेण दृढेन)  
 कारणेन हेतुना । तेन पुत्रेण । उज्जितां रहिताम् । विषण्णां<sup>६</sup> दुःखिताम् (विपुण्यां हतभाग्याम्) । माम् ।  
 परितर्पयितुं संतर्पयितुम् । ज्ञातयः बन्धवः । न शक्नुवन्ति न समर्था भवन्ति । सुहृदः मित्राणि न शक्नुवन्ति ।

गर्भ धारण करना स्त्रीका धर्म है । इस धर्मके बिना भी जो निरर्थक 'स्त्री' संज्ञाको धारण करती  
 हैं, लोग उनका परिहास करते हैं । उनकी स्थिति ठीक उस मनुष्यके समान हो जाती है, जो  
 अन्धा होकर भी अपना नाम 'सुलोचन' रखवाना चाहता हो । लोग ऐसे व्यक्तिका परिहास  
 'आँखोंके अन्धे नामके नयनसुख' कहकर किया करते हैं ॥३२॥ रात्रिके समय चन्द्रमा आकाश-  
 की शोभा बढ़ाता है और उसके अस्त होते ही दिनमें सूर्य उसकी शोभा बढ़ाता है । इसी तरह  
 हंस सरोवरकी शोभा बढ़ाते हैं और उनके चले जानेपर कमल उसकी शोभा बढ़ाते हैं । किन्तु  
 कुलकी सन्ततिको आगे बढ़ानेके मुख्य कारण स्वरूप पुत्रके बिना कुलवती स्त्रियोंके लिए कोई  
 दूसरा मण्डनका उपाय नहीं है ॥३३॥ पुत्र कुलका एकमात्र भूषण है, और वही मेरे सौभाग्य,  
 सुख और वैभवका निश्चल कारण है । यदि मैं उससे वंचित रहती हूँ, तो मैं बड़ी अभागिन हूँ ।  
 ऐसी दशामें मुझे परिवारके लोग तृप्त नहीं कर सकते और न मित्र ही । पत्नीके लिए पतिके  
 उपहार तृप्ति जनक होते हैं, किन्तु सखि ! मैं दिलकी बात कहती हूँ, इस समय मुझे उनसे भी  
 तृप्ति नहीं हो सकती । पुत्र न रहने पर भी मेरे पति देव भले हो प्रसन्न रहें, किन्तु उनके

१. आ प्रतापेव स्वस्तिकान्तर्गतः पाठः समवलोक्यते । २. = प्राप्नोति । ३. आ श स नामा-  
 रोपणम् । ४. श स 'हिताणाम् । ५. आ भूषति । ६. = 'कुलस्त्री कुलबालिका' इति हेमचन्द्रः । ७. आ  
 विहाय विहानं पूर्वं त्यक्त्वा । ८. एष टीकाकारवृत्तः पाठः ।

कृत्वा विषादमिति दुःस्थितचित्तवृत्तिर्दुःखं निवेद्य मयि तत्पतले न्यपतन् ।  
 संबोचितापि न मया बहुभिः प्रकारैः शोकं विमुञ्चति मनागपि देव देवी ॥३५॥  
 सख्या मुखादिति निशम्य विषादहेतुं निःश्वस्य किञ्चिद्भूमिपतिर्ब्रूमाये ।  
 शोकः शरीरहृदयेन्द्रियशोषहेतुर्युक्तो न देवि तव वस्तुनि दैवसाधये ॥३६॥  
 दुःखेन ते प्रथममस्म्यहमेव दुःखी मदुःखतो भवति सर्वजनस्य दुःखम् ।  
 इत्थं समस्तजनतापरितापहेतोर्मा गाः कृपावति शुचो वशमुज्जतायाः ॥३७॥  
 जन्मान्तरे शुभमथाप्यशुभं यदेव यैरजितं स्वपरिणामचशेन कर्म ।  
 तद्योग्यमेव फलमिष्टमनीप्सितं वा तैः प्राप्यते किमिति शोचसि हेतुहीनम् ॥३८॥

पतिप्रसादाः पत्युर्ध्वस्य प्रसादाः प्रसन्नताः । न शक्नुवन्ति ॥३४॥ कृत्वैति । देव भोः स्वामिन् । इति एवं प्रकारेण । विषादं शोकम् । कृत्वा विषाय । दुःस्थितचित्तवृत्तिः दुःस्थिता दिव्यं यता चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो यस्या सा । देवी स्वामिनो<sup>१</sup> । मयि (सख्याम्) । दुःखं विषादम् । निवेद्य उक्त्वा<sup>२</sup> । तत्पतले शय्यातले । न्यपतन् अपतन् । पल्लु<sup>३</sup> गतो लुङ् । 'सतिशास्तिर्लुद्वृत्त्युप्यादेः' अङ्-प्रत्ययः । तद्योगे 'व्ययत्यस्वच्-पतोऽङ्ययगुप्तम्' इति पमागमः मया बहुभिः बहुलैः । प्रकारैः भेदैः । संबोचितापि विज्ञापितापि । शोकं विषादम् । मनागपि न विमुञ्चति न त्यजति । मुञ्चलु मोक्षणे लट्<sup>४</sup> ॥३५॥ सख्या इति । भूमिपतिः श्रीपेणः । सख्या बालमस्याः । विषादहेतुं विषादस्य शोकस्य हेतुं कारणम् । इति उक्तप्रकारेण । निशम्य श्रुत्वा । किञ्चित् ईषत् । निश्वस्य निश्वासं कृत्वा । अथ अनन्तरम् । ब्रूमाये ब्रूवतीति स्म । देवि भो देवि । दैवसाधये दैवेन पुण्येन साधये । वस्तुनि पदार्थे । शरीरेन्द्रियशोषहेतुः शरीरस्य देहस्य हृदयस्य चित्तस्येन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां शोषस्य सतापस्य हेतुः कारणम् । शोकः विषादः । तव भवत्याः । युक्तो न उचितो<sup>५</sup> न भवति ॥३६॥ दुःखेनेति । कृपावति दयावति, कृपा अस्या अस्तोति कृपावती तस्या । संबोधनम्<sup>६</sup> । 'अस्त्यस्मिन्वेति मनु' इति मनुः । 'मान्तोपान्त—' इत्यादिना मस्य वः, 'नृदुगि—' इति डी । ते तव । दुःखेन शोकेन । प्रथमं<sup>७</sup> अहमेव दुःखी शोकी । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । मदुःखतः मत् (?) मम दुःखतः शोकतः । सर्वजनस्य सर्वस्य सकलस्य जनस्य । दुःखं विषादः । भवति जायते । इत्थम् अनेन प्रकारेण । समस्तजनता-परितापहेतोः समस्ताया जनतायाः जनसमुहस्य, 'ग्रामवनबन्धुगजसहायात्तल' इति तल, परितापस्य संतापस्य हेतो । उज्जताया प्रवृद्धायाः । शुचः शोकस्य । वशम् अधीनम्<sup>८</sup> । मा गाः मा गमः । इण् गतो लुङ् । 'गित्यौः' इति गादेशः ॥३७॥ जन्मेति । यैः जनैः । जन्मान्तरे प्रकृतजन्मनोऽन्यजन्म<sup>९</sup> जन्मान्तरम्, तस्मिन् पूर्वजन्मनि ।

प्रसन्न रहनेसे भी मुझे तृप्ति नहीं ॥३४॥ इस प्रकार इसे विषाद हुआ, जिसके फल स्वरूप इसका हृदय व्याकुल हो उठा । इसने अपने मनका सारा दुःख मुझे सुनाया फिर पलंगपर जा गिरी । राजन् ! मैंने इसे नाना प्रकारसे समझाया, किन्तु यह शोकको जरा भी नहीं छोड़ रही है ॥३५॥ सखीके मुखसे इस प्रकार रानीके शोकका कारण सुनकर राजाने लम्बी साँस ली और फिर कुछ रुककर रानीसे बोला—देवि ! जो वस्तु भाग्याधीन है, उसके विषयमें तुम्हें शोक करना उचित नहीं; क्योंकि शोक शरीर, हृदय और इन्द्रियोंके शोषणका कारण है ॥३६॥ तुम्हारे दुःखसे सबसे पहले मैं ही दुखी हो रहा हूँ, और मेरे दुःखसे परिवार एवं प्राज्ञके लोगोंको भी दुःख होगा । इस तरह तुम्हारा दुःख सबके दुःखका कारण है । यदि इन सबके प्रति तुम्हें दया है तो हे दयावति ! इतना अधिक शोक न करो ॥३७॥ अपने-अपने शुभ या अशुभ परिणामोंके अनु-

१. क ख ग घ मे दुःखतो । २. आ श स देवे स्वामिनि । ३. श स त्यस्वा । ४. श स पत् गतो । ५. आ प्रती केवलं स्वस्तिकान्तर्गतः पाठः समुपलभ्यते । ६. आ उचितम् । ७. = तत्संबुद्धौ । ८. = पूर्वम् । ९. = अधीनताम् । १०. श स अन्यजम् ।

अत्यन्तदुर्घटमिदं न हि वस्तुनोऽस्य निष्पत्तिरित्यलसगामिनि माघमंस्थाः ।  
संपत्स्यते सव मनोरथ एव शीघ्रमेकान्ततो यदि भवेन्न विधिर्विपक्षः ॥३६॥  
सन्त्येव केवलदृशोऽवधिलोचनाश्च तोर्थं जिनस्य मुनयो विविधद्वियुक्ताः ।  
आप्रस्वप्नप्रचदलप्रचलच्च विश्वं येषामिदं करतलस्थितवच्छकास्ति ॥४०॥  
तेभ्योऽधिगम्य तव संततिलोपहेतुमभ्युद्यते<sup>१</sup> प्रनिविधानुमहं यतिरप्ये ।  
कस्त्रैर्वचोभिरिति लोकपतिः प्रियायाः शोकापनोदमकरोत्करदीकृताशः ॥४१॥

स्वपरिणामवशेन स्वस्य परिणामस्य वशेनाद्योनतया । शुभ प्रशस्तम् । अथापि अयथा । अशुभम् अप्रशस्त वा  
यदेव कर्म पुण्यपापकर्म<sup>२</sup> । अजितं संवादितम्<sup>३</sup> । ते जनैः । तयोपमेव तस्य परिणामस्य योग्यमेव ।  
इष्टम् ईप्सितम् । अनौप्सितम् अनिष्टं वा । फलं निष्पत्ति<sup>४</sup> ( परिणामः ) । प्राप्तं नीये<sup>५</sup> । आप्तुं  
व्याप्तो कर्मणि लट् । [इति] हेतुशीलं हेतुना कारणेन हीनं रहितं यथा तथा । किमिति किं कारणम्  
शोचसि<sup>६</sup> । शूब शोके लट् ॥३८॥ अत्यन्तेति । अलसगामिनि अलस मन्द मच्छलोत्प्येव शोला तयोवता  
तस्या संबोधनम्<sup>७</sup> तत्संबुद्धौ । इदम् एतत् । अत्यन्तदुर्घटम् अत्यन्तमधिकं दुर्घटमसाध्यम् । अस्य वस्तुन अस्य  
पदार्थस्य । निष्पत्तिर्लाभः । नहीति नास्तीति । माघमस्या. मा बुध्यस्व । यदि विधि पुण्यम् । विपक्षः  
प्रतिपक्षः । न भवेत् न जायेत । एकान्ततः निश्चयेन । शीघ्रं लघु । एव. अयम् । मनोरथ. मनोऽभीष्टः<sup>८</sup> ।  
संपत्स्यते संभवित्यते(ति) । पदि गतौ लट्<sup>९</sup> ॥३९॥ सन्तति । एषा येषां मृगताम् । जायन् वृष्यमानम् ।  
स्वपत् मुह्यत् । द्रव्यम् [इदम्] । प्रचलत् जङ्गमम् । अप्रचलत् स्थावरम् । विश्व समस्तम् । करतलस्थितवत्  
करतले हस्ततले स्थितवत् । चकास्ति भासते । केवलदृशं<sup>१०</sup> केवलं दृग् दृशेन जान येषां ते केवलज्ञानिनः ।  
अवधिलोचनाः अवधिरिव लोचनं नेत्रं<sup>११</sup> येषां ते, अवधिज. निन । विविधद्वियुक्ताः विविधाभिः ऋद्धिभिर्भुक्ताः  
सहिताः, नाना ऋद्धि प्राप्ताः<sup>१२</sup> । [ते] मूनयः<sup>१३</sup> मुमक्षवश्च । जिनस्य जिनेद्वयस्य । तार्थे सन्ताने ममये  
इत्यर्थः । सन्त्येव वस्तन्त एव ॥४०॥ तेभ्य इति । अहं<sup>१४</sup> तेभ्यः<sup>१५</sup> केवलदृगादिस्य । अधिगम्य ज्ञात्वा । अभ्यु-  
द्यतम् उदयगतम् । तव ते । संततिलोपहेतुं संतनेः संतानस्य लोपस्य नाशस्य ( अभास्यस्य ) हेतु कारणम् ।  
प्रतिविधानुं प्रतिकारं कर्तुम् । प्रयतिव्ये प्रयत्नं कारये । इति एव प्रकारेण । वस्त्रे मनोहरः । वचोभिः  
वचनैः । करदीकृताशः प्रागकरदा इदानीं करदाः क्रियन्ते स्म करदीकृता आशा दिशो येन<sup>१६</sup> स । लोकपतिः

सार जिन्होंने पूर्व जन्ममें अच्छे या बुरे जैसे भी कर्म बांधे हैं, वे उनकी अनुकूल अच्छे या बुरे  
फलको प्राप्त करते हैं । ऐसी स्थितिमें तुम व्यर्थ ही शोक क्यों मना रही हो ? ॥३८॥ हे मन्द-  
गामिनि ! पुत्र होना कठिन है या असम्भव है ऐसा न समझो । यदि भाग्य सर्वथा प्रतिकूल न  
हुआ तो तुम्हारा यह मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा ॥३९॥ गुणार्थनाथके तार्थ्यमें हम समय  
केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी और नाना ऋद्धियोंके धारी मुनि विद्यागान हैं, जिन्हें मोह निद्राने जागे  
हुए और मोह निद्रामें अचेत पड़े हुए इस सारे जंगम और स्थावर जगत्का स्पष्ट ज्ञान है । जैसे  
वह उनकी हथेलीमें स्थित हो ॥४०॥ किस कारणके रहनेमें तुम्हारे मन्तान नहीं हो रही है,  
यह उन मुनियोंसे जानकर, उसका प्रतिकार करनेके लिए मैं प्रयत्न करूँगा । इस प्रकारके मधुर  
वचनोंसे राजाने रानीका शोक दूर कर दिया । साग संसार उमें अपना स्वामी समझता था,

१ अ आ इ क ख ग घ म ण्यत । २ आ 'स्वस्य' नास्ति । ३ आ 'रूपकर्म' । ४ आ संवादितम् ।  
५. आ 'न्यपत्तिम्' । ६. = अवाप्यते । ७. = किमर्थं व्यर्थम् । ८. = शोकमनुभवसि । ९. = नन्मंबुद्धौ । १०.  
= मनोऽभीष्टम् । ११. श स लट् । १२ आ केवलं मुख्यं दृक् दृग् (?) येषाम् । १३. आ लोचने नेत्रे ।  
१४. आ नानाऋद्धिप्राप्ताः । = नाना बुद्ध्यादिलब्धिसहिताः । १५ स मुनिवराः । १६. = श्रोत्रेण । १७.  
श स 'केवल' इति लोपलभ्यते । १८ श स यस्य ।

युक्तोऽन्यदा क्षितिपतिः स निजैः सुहृद्भिरालिङ्गितं समधिगम्य 'वसन्तलक्ष्म्या ।

क्रीडाधनं समवलोकितुमभ्ययासीदुद्दामकौतुकरसप्रसरप्रणुभः ॥४२॥

नृत्यच्छिखण्डिनि मृदुकणदन्यपुष्टे सुस्वादुसुन्दरफले सुमनःसुगन्धौ ।

तस्मिन्वने शिशिरमन्दमरुप्रचारे सर्वेन्द्रियोत्सवकरे विजहार भूपः ॥४३॥

अत्रान्तरे पृथुतपःधियमुन्नतश्रीरुन्मीलितावधिदृशं सुविशुद्धदृष्टिः ।

तारापथादधतरन्तमनन्तसंज्ञमैक्षिष्ट चारणमुनि सहसा नरेन्द्र ॥४४॥

रोमाञ्चचञ्चिततनुरभसेन गत्वा भूपस्तमालतरुमूलगतस्य तस्य ।

मूर्ध्ना ननाम गुरुभक्तिभरानतेन संसारसिन्धुतरणी चरणौ महर्षेः ॥४५॥

जनपतिः । प्रियाया, कान्ताया । शोकापनोद शोकस्य दुःखस्य अपनोदं निराकरणम् । अकरोत् अदधात् ( व्यधात् ) । हुङ्क्त् करणे लट् ॥४२॥ युक्त इति । अन्यथा अन्यस्मिन् कालेऽन्यदा, एकदा । निजैः स्वकीयैः । सुहृद्भिर्बन्धुभिः । युक्त महितः । स क्षितिपतिः रथपेणभूपतिः । वसन्त लक्ष्म्या वसन्तस्य लक्ष्म्या श्रिया । आलिङ्गित परित्यक्तम् । क्रीडावन क्रीडोद्यानम् । समधिगम्य ज्ञात्वा । उद्दामकौतुकरसप्रसरप्रणुभ उद्दामो महत कौतुकशयाद्भूतस्य रमस्य प्रसरेण प्रवाहेण प्रणुन्न, प्रेरितः सन् । समवलोकितुं समीक्षितुम् अभ्ययासीत् अभ्यगच्छत् । या प्रापेण लुट् ॥४३॥ नृत्यदिति । भूप श्रीपेण । नृत्यच्छिखण्डिनि नृत्यन्तः शिखण्डिनो मयूरा यस्मिन्, तस्मिन् । मृदुकणदन्यपुष्टे मृदु मधुर स्वगतो ध्वनन्तोऽन्यपुष्टाः कोकिला यस्मिन् ( तत् तस्मिन् ) । सुस्वादुसुन्दरफले सु शोभन स्वादु (शोभन स्वादु) वेधा तानि सुस्वादानि सुन्दराणि मनोहराणि फलानि पत्राणि [फलानि] यस्मिन्, तस्मिन् । सुमनःसुगन्धौ सुमनसा पुष्पाणां सुगन्धौ (सुगन्धिर्यस्मिन्, तस्मिन्) मनोहरपरिमलयुक्त । शिशिरमन्दमरुप्रचारे शिशिरस्य शीतलस्य मन्दस्य मृदोरमृत, पवमानस्य प्रचार, मंचारो यस्मिन्, तस्मिन् । सर्वेन्द्रियोत्सवकरे सर्वेषामिन्द्रियाणामुत्सवकरे संतोषकरे । वने विजहार । हृज् हृरणे लिट् । जातः ॥४३॥ अत्रेति । अत्रान्तरे अस्मिन् प्रस्तावे । उन्नतश्रीः उन्नता श्रीर्यस्य सः । विशुद्धदृष्टिः विषुद्धा पञ्चविंशतिमलरहितान् दृष्टिर्यस्य सः । स नरेन्द्र श्रीपेणः । पुथुतपःश्रियः पृथुः (पृथ्वी) मदनो तपस श्रीर्यस्य तम् । उन्मीलितावधिदृशं उन्मीलित उन्निमेषणो अवधिरिव दृग् लोचनं यस्य तम् । तारापथान् आकाशान् । अत्यन्तम् अत्यन्तम् आगच्छन्तम् । अत्यन्तमंजम् अत्यन्त इति मञ्जा नाम यस्य तम् । चारणमुनिम् आकाशचारणमुनेरवगम् । ऐक्षिष्ट ददर्श । ईक्षि दर्शने ॥४४॥ रोमाञ्चेति । रोमाञ्चचञ्चित-तनुः रोमाञ्चवने रोमवर्षेण चञ्चिता तनु शरीरं यस्य सः । भूपः श्रीपेणः । रभसेन शीघ्रम् । गत्वा प्राप्य ।

और मभी आरमे उसके पास टँकम आता था—पभी राजाश्रीने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी ॥४१॥ वसन्तकी मुपमाके चारों ओर फैल जानेसे क्रीडावन दर्शनीय हो गया है, यह जानकर श्रीपेणको बड़ा कौतूहल हुआ, जिससे प्रेरणा पाकर वह एक दिन अपने मित्रोंके साथ उसे देखने के लिए गया ॥४२॥ उस क्रीडावनमें मयूर नाच रहे थे; मधुर स्वरमें कोकिल गा रहे थे; अत्यन्त स्वादिष्ट अच्छे-अच्छे फल लगे हुए थे; फूलोंकी भीनी-भीनी सुगन्धि आ रही थी और मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी । इस तरह वह पाँचों इन्द्रियोको आनन्द दे रहा था । लगता था वहाँ कोई उत्सव मनाया जा रहा है । राजा वही पर घूमने लगा ॥४३॥ राजाके पास अटूट सम्पत्ति थी और वह निमल सम्यग्दृष्टि था । उसने इसी बीचमें वहाँ आकाशसे उतरते हुए एक चारण ऋद्धिके धारो मुनिको अचानक देखा । वे मुनि बड़े तपस्वी थे और थे अवधिजानी । उनका नाम अनन्त था ॥४४॥ उनका दर्शन करते ही राजाका शरीर पुलकित हो गया ।

१. आ इ 'रम्यवसन्त' । २. श स लोकपतेः जनपतेः । ३. एष टीकाकारवृत्तः पाठः, प्रतिभु 'सुविशुद्ध दृष्टिः' इत्येवास्ति । ४. आ 'मपतः । उन्मेषितः । ५. आ 'पदात् । ६. = चारिणम् ।

सोऽप्यात्मनः परिसमाप्य समाधियोगमाशीर्षवांसि निपपाठ विशुद्धपाठः ।  
 संस्नापयन्नरपतिं कुमुदोज्ज्वलेन धर्माभिषेकपयसेव निजस्मितेन ॥४६॥  
 कृत्वा करावप स संकुचद्वज्रकान्ती सप्रश्रयामिति जगद् गिरं क्षितीशः ।  
 दन्तावलीविशद्वरश्मिबितानकेन लिम्पन्मुनीन्द्रचरणाविध चन्दनेन ॥४७॥  
 गत्वा सुदूरमपि यस्य बिलोकनीयौ पादौ पवित्ररजसौ रजसः क्षयाय ।  
 तस्यागमे तव मुनीन्द्र न हेतुरन्यो मुक्त्वा ममान्यभवसंचितपुण्यपाकम् ॥४८॥

तमालतरुमूलगतस्य तमालस्य तरौर्वक्षस्य मूलं गतस्य । तस्य महर्षेः महात्माने । संसारसिन्धुतरणी संसार  
 एव सिन्धुः समुद्रः तस्यः तरणौ । चरणौ पादौ । गुरुभक्तभरान्वितेन गुरोर्भक्त्या भरेणातिशयेनान्वितेन  
 ब्रितेन मूर्ध्ना शिरसा । ननाम नमतिस्म । णम् प्रहृष्टत्वे शब्दे च<sup>१</sup> लिट् । रूपकम् ॥४५॥ स इति ।  
 विशुद्धपाठः विगुद्धो दोषरहितः पाठः परमागमोपदेशो यस्य सः । सोऽपि चारणमुनीश्वरः । आत्मनः  
 आत्मस्वरूपस्य । समाधियोगं समाधेयानि यस्य योगं संबन्धम् । परिसमाप्य संपूर्णयित्वा । धर्माभिषेक-  
 पयसेव धर्म एवाभिषेकस्य स्नानस्य पयसेव जलेनेव । रूपकोपमे च<sup>२</sup> कुमुदोज्ज्वलेन कुमुदनिव सितकमल-  
 विबोज्ज्वलेन निजस्य स्वस्य स्मितेन दरहसनेन । नरपति श्रोपेणमहीपतिम् । संस्नापयन् स्नानं कारयन् ।  
 आशीर्षवांसि आशिर इष्टप्रशंसनस्य वचांसि वचनानि । निपपाठ निरूपयति स्म । पठ व्यक्ताया वाचि लिट्  
 ॥४६॥ कृष्वेति । अथ आशीर्वादानन्तरम् । सः क्षितीश श्रोपेणभूयति । संकुचद्वज्रकान्ती सकुचतो मुकुलित-  
 स्याज्जस्येव कान्तिर्योस्तौ । करो हस्तौ । कृत्वा विरचय । दन्तावलीविशद्वरश्मिबितानकेन दन्ताना  
 दशानामावल्याः समूहस्य ( पंक्तेः ) विशदाना घबलाना रश्मिना कान्तीना बितानकेन निबहेन । चन्दनेनेव  
 श्रोगन्धेनेव<sup>३</sup> मुनीन्द्रचरणौ मुनीन्द्रस्य अनन्तमुनीश्वरस्य चरणौ पादौ । लिम्पन् । लेपनं कुर्वन् ( चर्चयन् ) ।  
 सप्रश्रया विनयसहिताम् । गिरं बाणोम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । जगद् ब्रह्मापे । गद्य व्यक्ताया वाचि  
 लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४७॥ गत्वेति । मुनीन्द्र मुनीश । यस्य मुनीशस्य । पवित्ररजसौ पवित्रं रजो धूलिर्यवोस्तौ

फलतः । ऐसा जान पड़ता था मानों उस पर कोई लेप किया गया हो । वह शीघ्र ही उस तमाल  
 वृक्षके नीचे पहुँचा, जिसके नीचे वे मुनिराज जा पहुँचे थे । वे अपने समयके बहुत बड़े ऋषि  
 थे । उनके चरण संसार सागरसे पार उतारने वाले थे । उन चरणोंमें राजाने अपना मस्तक  
 झुकाकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया ॥४५॥ जिस समय राजाने प्रणाम किया, उस समय वे  
 मुनिराज समाधिगमन थे । समाधि समाप्त होनेके बाद उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें शुद्ध पाठ किया  
 और फिर आशीर्वादके शब्द ( धर्मवृद्धिरस्तु—धर्मकी वृद्धि हो ) राजासे कहे । जिस समय वे  
 आशीर्वादके शब्द कह रहे थे, उस समय उनके मुखपर मुसकान थी । मुसकानकी प्रभा कुमुद  
 सरोखी सफेद थी । राजाके ऊपर उसके पड़नेमें ऐसा जान पड़ता था मानो वे धर्माभिषेकके  
 जलसे उसे स्नान करा रहे हों ॥४६॥ मुनिराजका आशीर्वाद प्राप्तकर राजा श्रोषेण अपने  
 दोनों हाथोंको मुकुलित कमलकी कलीके आकारमें जोड़कर उनसे विनयपूर्वक यों बोला—  
 बोलते समय उसके दातोंकी स्वच्छ किरणें मुनिराजके चरणोंपर पड़ रही थी, अतः ऐसा जान  
 पड़ता था मानो वह उनके ऊपर चन्दनका लेप कर रहा हो ॥४७॥ मुनिराज ! आपके चरण  
 अत्यन्त पवित्र हैं । वे जिस मार्गसे चलते हैं उसकी धूलिको पवित्र कर देते हैं, और चलते समय

१ = तलम् । २ = तारको । ३. आ गुरुभक्तिभरान्वितेन गुरोर्भक्त्या भरेणातिशयेन गतेन  
 विनयेन । ४. आ णम् प्रहृष्टत्वे शब्दे । ५. आ समयोगम् । ६. = धर्माभिषेकस्य । ७. = धर्मस्नानस्य ।  
 ८. = रूपकमुपमा च । ९. आ 'तकुबलय' । १०. = श्रोत्रध्वनेव ।

श्रेयस्तनोति परिषर्धयते विवेकमुन्मूल्यत्यधमुदीरयते विभूतिम् ।  
 त्वद्दर्शनं सुचरितं अखिलमद्रहेतुर्नाल्पीयसो भवति गम्यमिदं शुभस्य ॥४९॥  
 यद्भावि भूतमथवा मुनिनाथ तत्ते बाह्यं न वस्तु कथयेदमतः प्रसीद ।  
 संसारवृत्तमखिलं परिजानतोऽपि नाद्यापि याति विरतिं किमु मानसं मे ॥५०॥  
 भ्रुवेति तद्वचनमेधमुवाच चिन्तां चेतोगतां स नृपतेरबुध्यमानः ।  
 यावत्तव स्फुरति चेतसि स्नुवाङ्का तावन्न यासि विरतिं नृपपुंगव त्वम् ॥५१॥

पादौ चरणी । सुदूरमपि महददूरमपि । गत्वा समेत्य । रजसः पापस्य । क्षयाय नाशाय । बिलोकनीयो  
 वीक्षणयोगी । तस्य तव भवतः । आगमे आगमने । मम मे । अन्यमवसंभितपुण्यपाकम् अन्यस्मिन् पूर्वस्मिन्  
 भवे अन्मनि संचितं सपादितं पुण्यपाकं मुक्ततपरिपाकम् । मुक्त्वा त्यक्त्वा । अन्यः परः । हेतुः कारणम् । न  
 नास्ति ॥४८॥ श्रिय इति । सुचरितं भो संपूर्णचरित्र । अखिलमद्रहेतुः अखिलस्य मद्रस्य मङ्गलस्य हेतुः  
 कारणम् । त्वद्दर्शनं त्वत् (?) तव दर्शनम् । श्रेयः सौख्यम् तनोति करोति तनूजं विस्तारे लट् ।  
 विवेकं हेयोपादेयविवेकभेदम् । परिवर्द्धयते पयंषयते । वृद्धं वृद्धौ लट् । अर्थं पापम् । उन्मूलयति नाशयति ।  
 मूलं प्रतिष्ठायां लट् । विभूतिम् ऐश्वर्यम् । उदीरयते प्रवर्द्धयते । ईर प्रेरणे लट् । इदम् एतद्दर्शनम् । अल्पीयसः  
 अल्पतरस्य । शुभस्य पुण्यस्य । गम्यं लब्धुं शक्यम् । न भवति । अनुमितिः ॥४९॥ यदिति । मुनिनाथ  
 भो मुनीन्द्र । यद् वस्तु । भावि भविष्यत् । अथवा भूतम् अतीतम् । तद्वस्तु पदार्थः । ते भवतः । बाह्यं  
 बहिर्भूतम् । न न भवति । अत एतस्मात्कारणात् । इदं वैराग्याभारकारणम् । कथय ब्रूहि । कथं वाक्यप्रबन्धे  
 लोट् । प्रसीद प्रसन्नो भव । षट् विशारणगत्यवसादनेषु । 'पाद्माश्रमास्था—' इत्यादिना सोद<sup>१</sup> इत्यादेशः,  
 लोट् । अखिलं निश्चलम् । संसारवृत्तं संसारस्य वृत्तं वर्तनम् । परिजानतोऽपि विजानतोऽपि । मे मम ।  
 मानसं मनः अद्यापि इदानीमपि । विरतिं वैराग्यम् । किमु किं कारणम्<sup>३</sup> । न याति न गच्छति । या प्रापणे  
 लट् ॥५०॥ भ्रुवेति । इति एवम् । तद्वचनं तस्य भूपस्य वचनम् । भ्रुत्वा निश्चयम् । नृपतेः । चेतोगता  
 मनोगताम् । चिन्ताम् आध्यानम् । अबुध्यमानः । जानन् । सः मुनिवृन्दारकः । एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण । उवाच  
 वभाषे । ब्रूयन्मताया वाचि लट् । नृपपुङ्गव नृपवत्सो पुङ्गवश्च<sup>४</sup> तस्य संबोधनं<sup>५</sup> नृपश्रेष्ठ । यावत्

जो धूलि उनके ऊपर पड़ जाती है, वह उनका स्पर्श पाकर पवित्र हो जाती है । अपने पापको  
 नष्ट करनेके लिए दूर जाकर मुझे उन ( चरणों ) का दर्शन करना चाहिए था । किन्तु आप  
 स्वयं यहाँ पधारे हैं । आपके पधारनेमें मेरे पूर्व जन्ममें संचित पुण्यके उदयके सिवा और क्या  
 कारण हो सकता है ? ॥४८॥ मुनिराज ! आपका चरित निर्मल है । आपका दर्शन कल्याणकारी  
 है । आपका दर्शन विवेकको बढ़ता है, पापको मूलसे नष्ट करता है, विभूतिको प्रकट करता है  
 और समस्त मंगलोंका कारण है । आपका दर्शन थोड़े पुण्यसे नहीं हो सकता ॥४९॥ मुनिराज !  
 जो वस्तु पहले हो चुकी है अथवा आगे होगी वह आपके ज्ञानसे बाहर नहीं है—आप न केवल  
 वर्तमान को, बल्कि भूत और भविष्यको भी जानते हैं । अतः प्रसन्नता पूर्वक मुझे यह बतला-  
 दिये कि मे संसारके सारे व्यवहारको जानता हूँ, किन्तु फिर भी अभीतक मेरा मन विरक्त क्यों  
 नहीं हो रहा है ? ॥५०॥ राजाके ये वचन सुनकर मुनिराज उसके मनकी चिन्ताको समझ

१. = दर्शनीयो । २. आ भगवतः । ३. आ अखिलानां मद्रस्य स अखिलमद्रस्य । ४. श स श्रियः ।  
 ५. = कल्याणम् । ६. = विस्तारयति । ७. = हेयोपादेयभेदम् । ८. श स परिवर्द्धयति । ९. = प्राप्यं  
 विषयो वा । १०. आ भविष्यति, अथवा भूतं यति तं वस्तु पदार्थः, तद्वस्तु । ११. श स अत एव तस्मात्  
 कारणात् । १२. श स सिद्धिः । १३. = कथम् । १४. = नृपाणां पुङ्गवो नृपपुङ्गवः । १५. = तत्संबुद्धौ ।

सा च प्रणश्यति न तावदसौ न यावत्पुत्रो भवत्यरिकुलोन्मथनैकवीरः ।

पुत्रोदयेऽपि भवतोऽस्ति विबन्धहेतुरस्यो भवान्तरगतं शृणु तं ब्रवीमि ॥५२॥

एषा तवाग्रमहिषी पुटभेदेनऽभूदत्रैव पूर्वमभिनन्दितसर्वबन्धोः ।

देवाङ्गदस्य वणिजस्तनया सुनन्दा श्रीकुक्षिजा गुणगणाभरणाभिरामा ॥५३॥

सान्यां विलोक्य नवयौवन एव नारीं गर्भेण पीडिततनुं गलिताङ्गशोभाम् ।

जन्मान्तरेऽपि वयसि प्रथमेऽहमीदृश्या भूयमित्यकृत मन्दमतिनिदानम् ॥५४॥

यन्मानम् अस्य यावत् । 'यत्तद' इति घृणु-प्रत्यय, घस्य वः । तत्र ते । चेतसि चित्ते । मृतुवाञ्छा सुनोः पुत्रस्य बाञ्छा अभिलाषः । स्फुरति प्रवर्तते । तावत् पर्यन्तम् । त्वं भवान् । विर्गति वैराग्यम् । न यासि न गच्छसि । या प्राणो लट् ॥५१॥ सा चेति । यावत् 'यावत्पर्यन्तम्' । अरिकुलोन्मथनैकवीरः । अर्गणा शत्रूणां कुलस्य समुद्रस्योन्मथने निगकरणे एकोऽसहायो वीरः । शूरः । असौ पुत्रः तनयः । न भवति न जायते । तावत् तावत्पर्यन्तम् । सा च चिन्ता । न प्रणश्यति न विनश्यति । पुत्रोदये च पुत्रस्य तन्मन्मथोदये उत्पत्तौ च । भवतः तव । भवान्तरगतः जन्मान्तरगतः । अन्यः अपरः । विबन्धहेतुः विबन्धस्य निरोधस्य हेतुः । अस्ति वर्तते । त हेतुम् । ब्रवीमि निगदामि । शृणु आकर्णय श्रु श्रवणे लोट् ॥५२॥ एषेति । तत्र ते । अग्रमहिषी श्रेष्ठमहिषी । एषा इयम् । पूर्वं प्राक् । अत्रैव अस्मिन्नेव । पुटभेदेन पत्ने । 'पत्न्यपुटभेदनम्' इत्यमरः । श्रीकुक्षिजा श्रियाः श्रुनामधेयाया कुक्षिजा गर्भजाता । गुणगणाभरणाभिरामा गुणानां गणः समूहः स एषा-भरणमलंकारस्तेनाभिरामा मनोहरा । अभिनन्दितसर्वबन्धो अभिनन्दिता<sup>३</sup> रतापिता सर्वे बन्धवा यस्या-स्तस्याः<sup>४</sup> । देवाङ्गदस्य देवाङ्गदनामधेयस्य । वणिजः वैश्यः । सुनन्दा सुनन्तेति । तनया पुत्री । अनूत् अभवत् । भू सत्ताया लुङ् । कावम् ॥५३॥ सेति । मन्दमति मन्दा मतिर्यस्या ना । सा सुनन्दा । नव-यौवन एव नव नूतने यौवन एव तारुण्य एव । गर्भेण पुत्रवृत्तगर्भेण । पीडिततनुं पीडिता याविता तनुःस्याः ताम् । गलिताङ्गशोभां गलिता शिथिलिताङ्गस्य शोभा यस्यास्ताम् । अन्याम् एकाम् । नारी वनिताम् । विलोक्य दृष्ट्वा । जन्मान्तरेऽपि उत्तरभवेऽपि । प्रथमे वयसि यौवनकाले । अहम् । ईदृक् इयमिव दृश्यत इतीदृक्, एतत्प्रकारावयवयुक्ता । मा भूव मा जनिष्व<sup>५</sup> न भविष्यामि, इति निदानं निदानात्परम् । अकृत

गये और वे उमने यो बोले—राजन् ! जब तक तुम्हारे मनमें पुत्रकी अभिलाषा बनी रहेगी, तब तक तुम्हे वैराग्य नहीं हो सकता ॥५१॥ राजन् ! तुम्हारे चित्तकी चिन्ता तबतक नहीं मिट सकती जब तक कि शत्रु वर्गके छक्के छुड़ानेवाले अद्वितीय वीर पुत्रका जन्म तुम्हारे यहाँ नहीं होता । तुम्हारे यहाँ पुत्रकी उत्पत्तिमें भी रुकावट डालनेवाला कारण कुछ और ही है, जिसका सम्बन्ध पिछले जन्मसे है । मैं उसे बताता हूँ, तुम सुनो ॥५२॥ तुम्हारा यह पटुगनी ( श्रीकान्ता ) पिछले जन्ममें इसी नगरमें उत्पन्न हुई थी । इसके पिताका नाम देवागद था । वे जातिके वणिक् थे । उनके सभी बन्धु उनसे प्रसन्न रहने थे । उनकी पत्नीका नाम श्री था । उसीके गर्भसे सुनन्दा नामकी गुणवती सुन्दर कन्या उत्पन्न हुई थी, जो इस समय आपकी पटुगनी है ॥५३॥ उस सुनन्दाने यौवनके प्रारम्भमें ही एक स्त्रीको देखा, जिसका शरीर गर्भके कारण पीड़ित और शोहीन था । उसे देखकर उस ( सुनन्दा ) ने यह निदान बोध लिया कि

१. श स यावत् इति नास्ति । २. श स वर्धते । ३. संदिताः । ४. श स यस्य तस्य । = येन तस्य । ५. = गर्भधारणेन । ६. अङ्गलाभाम् । ७. श स मा जनि । = न स्याम् ।

सागारधर्मनिरता प्रतिपद्य कालं सौधर्मकल्पमुपगम्य बभूव देवी ।

च्युत्वा ततः पुनरभूद्दिह पुण्यशेषाद्यौघनस्य दुहिता भवतश्च पत्नी ॥५४॥

तस्माद्भवान्तरभवाद्भूमाधिद्वानादस्या सद्यो नवमगादनपत्यमेव ।

कैश्चिद्द्विनैः प्रशममीयुषि तस्य दोषे निःसंशयं तव भविष्यति पुत्रजन्म ॥५६॥

तस्मिन्मृगाङ्क इव सर्वमनोभिरामे सूनौ निधाय पृथुघामिन धुरं धरिष्याः ।

संपत्स्यसे त्वमधिगम्य जिनेन्द्रदीक्षां सिद्धालयातिथिरशेषितकर्मबन्धः ॥५७॥

संक्षेपतो गिरिमाममभिधाय सम्यगानन्द्य भूमिपतिमिष्टनिवेदनेन ।

धामेप्सितं मुनिरगाम्रपतिश्च राजधानीमणुव्रतविभूषणभूषिताङ्कः ॥५८॥

अकुरुत । हुकुञ्च करणे लृट् ॥५४॥ सेति । सा सुनन्दा । आ[सा]गारधर्मनिरता । आगारधर्मे श्रावकाचारं निरता तत्परा । कालं मरणम् । प्रतिपद्य प्राप्य । सौधर्मकल्पं सौधर्मनामस्वर्गम् । उपगम्य एष्य । देवी देवस्त्री । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । ततः सौधर्मकल्पात् । पुनः परानात् । च्युत्वा आगत्य । इह अस्मिन् पुरे । पुण्यशेषान् पुण्यस्य सुकृतस्यावशेषान् । दुर्योधनस्य दुर्योधनराजस्य । दुहिता पुत्री । भूत्वा । भवतश्च तव । पत्न्या भार्या । अमृतं अभवत् ॥५५॥ तस्मादिति । भवान्तरभवात् भवान्तरे जन्मान्तरे भवात् जनितात् । अशुभात् अप्रशस्तात् । तस्मात् निदानात्, प्रागुक्तनिदानशल्यात् । अस्या देव्याः । नवं प्रथमम् । वयं गीबनकालः । अनपत्यमेव न विसृजेऽपत्यं सतानो यस्मिन् तत्, संनारहितं मत् आगान् अगच्छन् । इण् गतौ लुङि 'गैन्थो' इति गादेशः । तस्य निदानशक्त्यस्य । दोषे कर्मणि । कैश्चिद् द्विनैः दिवसैः । प्रशमं शान्तिम् । ईयुषि इयाय इति इयान् तस्मिन् । 'लिट्. क्वमुकानो' इति क्वमुः, 'ववस उस्' इति उस् । तव भवतः । पुत्रजन्म पुत्रस्य नन्दनस्य जन्म जननम् । नि संशय सन्देहः रहितम् । भविष्यति । भू सत्तायां लृट् ॥५६॥ तस्मिन्निति । मृगाङ्क इव चन्द्र इव । सर्वमनोभिरामे सर्वेषां जनानां मनसश्चित्तस्थाभिरामे पिराजमाने पृथुघामिन् पृथु महद् घाम तैजो यस्य तस्मिन्, महातेजस्विनीत्यर्थः । तस्मिन् सूनौ तत्पुत्रे । धारिष्या भूमे । धुरं भारम् । निधाय गच्छात्वा । त्वं भवान् । जिनेन्द्रदीक्षां जिनेन्द्रस्य दीक्षाम्, दिगम्बर-रत्नमित्यर्थः । अधिगम्य मृशीत्वा । अशेषितकर्मबन्धः अशेषितो निर्मूलितः कर्मणा कण्ठो येन सः । सिद्धालया-तिथिः सिद्धानां मुक्तानामालयो मोक्षस्तन्यातिथिरुत्सवहेतुः । संपत्स्यसे संश्रयिष्यमि । यदि गतौ लृट् ॥५७॥ संक्षेपत इति । मुनिं मुनिपतिं । संक्षेपतः संवृत्तः । इमाम् एताम् । गिरं वाणोम् । सम्यक् समीचीनम् । अभिधाय उक्त्वा । इष्टनिवेदनं इष्टम्य समीहितस्य निवेदनेन निरूपणेन । भूमिपतिं श्रीपेणमहाराजम् ।

जन्मान्तरमे भी मे युवावस्थामे इस जैगी न होऊँ । नादान जो ठहरी ॥५४॥ निदान बाँध लेने-के बाद उसने जीवन भर गृहस्थ धर्मका पालन किया और अन्तमें जीवन लीला समाप्त होनेपर वह सौद्धर्म स्वर्गमें देवी हुई । वहाँसे च्युत होकर शेष पुण्यके फलसे दुर्योधनकी पुत्री और आपकी पत्नी हुई ॥५५॥ पिछले जन्मके उसी अशुभ निदानके निमित्तसे इसका नवयौवन बिना सन्तानके ही बीत गया है । अब थोड़े ही दिनोंमें उस निदान-दोषके शान्त होते ही तुम्हारे यहाँ पुत्रका जन्म होगा । इसमें कोई संशय नहीं ॥५६॥ वह पुत्र चन्द्रमाके समान सबके चित्त-को आह्लाद देनेवाला और ( सूर्यके समान ) बहुत तेजस्वी होगा । उसीको अपना राज्य भार सौंपकर-तुम दिगम्बर-दीक्षा ले लोगे । इसके बाद अष्ट कर्मों को नष्ट कर तुम सिद्धालयके अतिथि-मुक्त हो जाओगे ॥५७॥ संक्षेपमें इतना कहकर और पुत्रोत्पत्तिकी सूचना देकर मुनिराजके दर्शनों और उनके वचनोंसे राजा बहुत प्रभावित हुआ । फलतः उसने अपने मनमें पाँच अणु-

१. आ आ इ म निबन्धनेन । २. आ विकितात् । ३. आ एयिवात् । ४. = रञ्जके । ५. = समासतः ।

६. आ एयाम् । ७. टीकाकारवृत्तः पाठः, प्रतिषु 'इष्टनिबन्धनेन' इत्येव पाठः समुपलभ्यते ।



पुंसां पुरोपचितपुण्यनिबद्धमिष्टमित्याकलय्य निबन्धनं मतिं स धर्मे ।  
 तत्रोत्सुकं<sup>१</sup> भवति भाग्यवतां हि चेत्ते यत्संपदां नियतमङ्गनागतानाम् ॥५६॥  
 दानेन संयमिजनस्य जिनाचनेन तस्य प्रभोरचिरतं नयतो दिनानि ।  
 प्रक्षोभिताखिलसुरासुरनागलोकं नान्दीश्वरं परमपर्व समाससाद ॥६०॥  
 तस्मिन्विधाय महतीमुपवासपूर्वां<sup>२</sup> पूजां जगद्विजयिनो जिनपुंभवस्य ।  
 स्नानं समीहितनिमित्तमतः<sup>३</sup> तदीयबिम्बस्य स प्रविद्धे सहितोऽप्रदेव्या ॥६१॥

आनन्द संतोष्य । ईदृशितम् अभोष्टम् । धाम स्थानम् । अगात् अगमत् । अणुवतविभूषणभूषिताङ्गः अणूनि च  
 तानि वतानि च तथोक्तानि, श्रावकव्रतानोत्पद्यः, तान्येव विभूषणानि तैर्भूषितम् अङ्गं यस्य सः । रूपकम् ।  
 नृपतिश्च श्रोत्रेणभूषय । राजधानीं निजपुरम् । अगात् । दीपकम् ॥५८॥ पुंसमिति । पुसा पुन्रथाणाम् ।  
 इष्टम् अभोष्टम् । पुरोपचितपुण्यनिबद्धं पुरोपचितेन प्राक्संपादितेन पुण्येन निबद्धं कृतम् । इति एवं प्रकारेण ।  
 आकलय्य विचार्य । सः भूपतिः । धर्मे 'सर्वजगणीतधर्मे' । मतिं बुद्धिम् । निबन्धनं चकार । बन्ध बन्धने  
 लिट् । तथाहि—यत् अनागताना भविष्यता संपदाम्<sup>४</sup> नियत निश्चयम् । अङ्गं कारणम् । तत्र धर्मे । भाग्य-  
 वतां पुण्यवताम् । चेत् । चित्तम् । उत्सुकं संभ्रमयुक्तम्<sup>५</sup> भवति हि । अर्धान्तरण्यासः ॥५९॥ दानेनेति ।  
 संयमिजनस्य<sup>६</sup> संयम्येव जनस्तस्य । रूपकम् (?) दानेन आहारादिदानेन जिनाचनेन जिनेन्द्रपूजनेन । अविरतम्  
 अनवरतम् । दिनानि वासरान् । नयतः यापयतः । तस्य प्रभोः श्रोत्रेण भूषते । प्रक्षोभिताखिलसुरासुरनाग-  
 लोकं सुरासुरासुरासुरा नागाश्च तेषां लोकस्तथोक्तः, प्रक्षोभित सङ्गमितोऽखिलः सुरासुरनागलोको येन तत् ।  
 नान्दीश्वरं नन्दीश्वरस्येदं नान्दीश्वरम् । परमपर्व परम् उत्कृष्टं पर्वं तिथिः<sup>७</sup> समाससाद सम्यगाजगाम ।  
 वदन् विचारणगत्यवसादनेषु लिट् । सहामितः (?) ॥६०॥ तस्मिन्निति । अप्रदेव्या भोकाग्नया । सहितः  
 संपुक्तः । स श्रोत्रेण । तस्मिन् नन्दीश्वरपर्वणि । जगद्विजयिनः जगद्विजयशोकेन । जिनपुङ्गवस्य जिनत्वासी  
 पुङ्गवश्च (?) जिनानामप्रमत्तादिश्लोकवायावसानेकदेश जिनानां पुङ्गवस्तथोक्तः, तस्य जिनेन्द्रस्य । उपवास-  
 पूर्वां उपवासः पूर्वं मुख्यं यस्यां<sup>८</sup> ताम् । महतीं<sup>९</sup> पूजाम् पूजाम् अर्चनाम् । विधाय कृत्वा । अतः  
 पश्चात् । तदीयबिम्बस्य तदीयस्य जिनपुङ्गवसंबन्धस्य बिम्बस्य । समीहितनिमित्तं समीहितस्याभोष्टफल-

व्रतोंके परिपालन करनेका संकल्प किया, और वह सोचने लगा कि वास्तविक आभूषण गुण  
 हो हैं । यह सोचते हुए वह भी अपनी राजधानीमें चला गया ॥५८॥ मानवका मनोरथ पूर्वो-  
 पाजित पुण्यसे ही पूरा होता है, यह सोचकर राजाने अपनी बुद्धिको धर्ममें लगा दिया । सच  
 है भाग्यवानोंका मन उस कार्यमें उत्सुक होता है, जो भविष्यमें होनेवाली कल्याण-सम्पत्तिका  
 निश्चित कारण हो ॥५९॥ राजाके दिन जिनेन्द्रदेवकी पूजा और साधु-सन्तोंको दान देनेमें  
 बोलते लगे । वह इन धार्मिक कार्योंको अविराम गतिसे कर रहा था । इतनेमें सर्वोत्कृष्ट आष्टा-  
 ल्लिक पर्व आ गया । फिर क्या था ऊर्ध्वं मध्य और अधोलोकमें उत्सवकी तैयारी होने लगी  
 और क्या सुर, क्या असुर क्या धरणेन्द्र सभीके मनमें आनन्दका सागर लहराने लगा ॥६०॥  
 उस पर्वके अवसरपर राजाने अपनी पट्टरानीके साथ आठ उपवास किये और आठ दिन  
 जगद्विजयी जिनेन्द्रदेवकी बड़ी भारी ( महामह ) पूजा की और इसके पश्चात् उसने इष्टसिद्धिके

१. अ क ख ग घ म 'मुक्तम्' । २. अ 'वासपूर्वं' । ३. अ क ख ग घ म 'मवस्त' । ४. अ स स  
 धर्मज्ञ' । ५. आ प्रती 'संपदाम्' इति नोपलभ्यते । ६. आ 'पुण्यवताम्' इति नास्ति । ७. = उत्कृष्टतम् ।  
 ८. = संपत्तिनां संयमवतां जनो वर्गः संघो वा तस्य । ९. आ वासरः । १०. = आष्टाल्लिकमहोत्सवः ।  
 ११. अ स यस्याः । १२. = विपुलाम् ।

प्रह्लादनं विदधती शशिनः कलेव्र संपाद्यन्त्यभिमतं कुलदेवतेव ।  
 गर्भं कियद्विरथ सा दिवसैर्बभार मुकाफलं परममम्बुधिमुक्तिकेव ॥६२॥  
 किञ्चिदुपुः शिथिलतामगमत्सदानीमापाण्डुरं वदननोररुहं बभूव ।  
 गर्भस्य बालगुणभूरिभरादिवागान्मन्दापि मन्दतरतां गतिरायतादयाः ॥६३॥  
 नीलाननं प्रसृतपाण्डिम धारयन्ती वक्षोरुहद्वयमधःकृतचन्द्रकान्ति ।  
 गन्धान्धपट्चरणचुम्बितपद्मयुगमामम्भोजिनीमनुचकार चकोरचक्षुः ॥६४॥  
 सर्पकुचद्वयविपाण्डुरतागुणेन हारो हृतद्युतिरिवास्य मुखे चकार ।  
 संघर्षेणेन मलयोजनिकां कुतोऽपि निर्मत्सरो हि विरलो गुणिनां गुणेषु ॥६५॥

प्राप्तेनिमित्तं कारणम् । स्नानम् अभिषेकम् । प्रविद्धे प्रवक्त्रे । कुचाच्चरणे च लिट् ॥६१॥ प्रह्लादनमिति ।  
 शशिनः चन्द्रस्य । कलेव्र योड्यभाग इव । प्रह्लादनं संतोषम् । विदधती<sup>१</sup> । कुलदेवतेव अन्वयागतदेवतेव ।  
 अभिमतम् अमोष्टम् । संपाद्यन्ती संविन्वती । सा श्रीकान्ता । अथ नन्दोद्वरानन्तरम्<sup>२</sup> । कियद्विर-  
 कतिभिः<sup>३</sup> । दिवसे दिने । अम्बुधिमुक्तिका अम्बुधौ समुद्रे विद्यमाना मुक्तिका । परमम् उत्कृष्टम् ।  
 मुक्ताफलं मुक्तामणिमिव । गर्भं शिशुम् । बभार दधौ । भूञ्चरणे लिट् । उपप्रेसा ( उपमा ) ॥६२॥  
 किञ्चिदिति । तदानीं गर्भसमये । आयतादयाः आयते दीर्घे अक्षिणो नेत्रे यस्याः तस्याः श्रीकान्तायाः । वयुः  
 गात्रम् । किञ्चित् ईषत् । शिथिलता कुशत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्लु गतौ लुङ् । 'सतिशास्ति-'  
 इत्यादिना अङ् । वदननोररुहं वदनं मुखमेव नोररुहं कमलम् । आपाण्डुरं किञ्चिच्छब्देतम् । बभूव भवति स्म ।  
 भू सत्ताया लिट् । गर्भः बालगुणभूरिभरादिव गर्भस्यैव गर्भं स्थितस्य बालस्य शिशोर्गुणानां भूरे-  
 बहूलाद्भारादिव भारादिव । मन्दा [वि] अलया [वि] गतिर्गमनम् । मन्दतरताम् । अत्यस्तमन्दत्वम् ।  
 अगता अयासीत् । उपमा ( उपप्रेसा ) ॥६३॥ नीलेति । नीलाननं नीलं कुण्डलम् आननं कुचाग्रं<sup>४</sup> यस्य तत् ।  
 प्रसृतपाण्डिम विस्तृतपाण्डिम, शुभ्रत्वमुक्तम् । अधःकृतचन्द्रकान्तीव [ न्ति ] अव कृता तिरस्कृता चन्द्रस्य  
 कान्तिः शोभा यस्य ( येन ) तदिव ( तत् ) । वक्षोरुहद्वयं वक्षोरुहयोर्द्वयं युगलम् । धारयन्ती दधती ।  
 चकोरचक्षुः चकोर इव चक्षुषो यस्याः सा श्रीकान्ता । गन्धान्धपट्चरणचुम्बितपद्मयुगमा गन्धेन परिमलेनाधै-  
 रासवतैः पट्चरणैश्चचकोरैश्चुम्बितं पद्मयोः कमलयोर्गुणं युगलं यस्यास्ताम् । अम्भोजिनी नलिनीम् ।  
 अनुचकार स्वीकृता । लुक्चरणे लिट् । उपमा ॥६४॥ सर्पदिस्थादि । सर्पकुचद्वयविपाण्डुरतागुणेन कुचयोर्द्वयं

निमित्तसे उसने जिनबिम्ब-जिनमूर्तिका अभिषेक किया ॥६१॥ पर्वके पश्चात् रानी चन्द्रमाकी  
 कलाकी भाँति सबको आह्लाद देने लगी और कुल देवताकी तरह सबके मनोरथको पूरा करने  
 लगी । फिर कुछ दिनोंके बाद उसने गर्भ धारण किया । जैसे समुद्रकी सीप उत्तम मोतीको  
 धारण करती है ॥६२॥ गर्भके समय उस रानीका शरीर कुछ शिथिल हो गया और उसका  
 मुखकमल भी सफेद हो चला । यों उसकी चाल पहलेसे ही धीमी थी किन्तु इन दिनोंमें और  
 भी धीमी हो गयी । मानो गर्भस्थ बालकके गुणोंका भारी बोझ हो गया हो ॥६३॥ उस  
 चकोराक्षी रानीके स्तनोंका अगला भाग बिलकुल काला और शेष सभी भाग सभी ओरसे  
 सफेद हो गया । ऐसी स्थितिमें उसने चन्द्रमाकी शोभाको मात कर दिया । इन दिनोंमें उसने  
 उस कमलिनीका अनुसरण किया, जिसमें दो सफेद कमल खिले हों और दोनोंके बीचों-बीच  
 उनकी सुगन्धिमें आसक्त होकर भोरोंका मण्डल बैठा हुआ हो ॥६४॥ रानीके दोनों स्तनोंकी

१. क ल ग च म हतद्युति । २. अ क ल ग च कुतोऽपि । ३. = कुर्वन्ती । ४. = तन्वीस्वरपर्व-  
 समाप्त्यनन्तरम् । ५. = कतिपयैः । ६. = चूचुकाग्रम् । ७. = अनुसार ।

जृम्भाभघटततस्निहिता सखीव नान्तं मुमोच घरमित्रमिवालसत्त्वम् ।  
 लज्जाभरः सममगादुदरेण वृद्धिमभ्युद्यमः सह ननाश वलिप्रयेण ॥ ६६ ॥  
 नीलोत्पलानि निजया विजितानि तावन्कान्त्या मया सहजया सह पुण्डरीकैः ।  
 स्पष्टं धुन्वात्तद्वर्गमिमोच विचिन्त्य तस्या नेत्रद्वयं धवलनामगमन्कृशाङ्गयाः ॥ ६७ ॥  
 गर्भस्थितस्य जननान्तरबीजबन्धं बालस्य तस्य घबनेन विना यद्वन्ति ।  
 तस्याः शिरीषसुकुमारतनोर्बभूवुरेकान्ततोऽपि जिनपूजनदौर्हृदानि ॥ ६८ ॥

कुचद्वयं तस्य विषाण्डुरता एव गुणः सर्पश्चासौ कुचद्वयस्य विषाण्डुरतागुणश्च तेन । हृद्युतिरिव हृत्पापहता  
 द्युतिर्यस्य स इव । हारः मुक्ताहारः । सत्रयणेन समर्द्धनेन । अभ्य कुचद्वयस्य । मूल्ये अग्रे । मलयोजनकां  
 मलस्य योजनिकाम् । चकार करोति स्म । हुकुञ् करणे लिट् । गुणिता गुणसहितानाम् । गुणेषु । कुताऽपि  
 कस्मादपि [ हेतोः ] निर्मलसरः मत्सररहितः । बिरलः अल्पो हि । अर्धान्तरगम्याम् ॥ ६६ ॥ जृम्भेति । जृम्भा  
 जृम्भणम् । सखीव वयस्येव । सततस्निहिता सततं स्निहिता समीपस्था । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लट् ।  
 अलसत्त्वम् आलस्यम् । परममित्रमिव मित्रश्रेष्ठ इव । अन्तं समीपम् । न मुमोच न त्यजति स्म । मुच्यञ्  
 मोक्षणे लिट् । लज्जाभरः लज्जायास्त्वपया भरो भारोऽतिशयो वा । अघरेण रदनच्छदेन । ममं साकम् ।  
 वृद्धिं समृद्धिम् । अगात् अगमत् । इण् गतौ लुट् । अभ्युद्यमः उद्योगः । वलिप्रयेण सह विबलितो साकम् ।  
 ननाश नश्यति स्म । नश अवर्धने लिट् । उपमालङ्कारः ॥ ६६ ॥ नोद्वेति । मया निजया स्वकीयया ।  
 सहजया सहजातया । कान्त्या किरणेन । नीलोत्पलानि कुमुदानि । तावत् प्रथमम् । विजितानि निराकृतानि ।  
 अघुना इदानीं तु । अहं पुण्डरीकैः सह मिताम्भोजैः साकम् । स्पष्टं संघर्षण करोमि । स्पष्टं संघर्षे लट् । इति  
 एवम् । विचिन्त्येव ध्यात्वेव ( विचिन्त्येव ध्यात्वेव ) । कृशाङ्गयाः तन्वङ्गयाः । तस्याः श्रोकान्तायाः ।  
 नेत्रद्वयं नयनयुगलम् । धवलता शुभ्रत्वम् । अगमत् अगात् । गम्यत् गतौ लुट् । उपेक्षा ॥ ६७ ॥ गर्भेति ।  
 शिरीषसुकुमारतनोः शिरीषमिव सुकुमारा तनुर्गात्रं यस्या सा तस्याः । तस्याः श्रोकान्तायाः । गर्भस्थितस्य  
 गर्भे कुत्रो स्थितस्य । तस्य बालस्य । जननान्तरबीजबन्धं जननान्तरमेव बीज कारण यस्य स बामो

सफेदी चारो फेल रही थी और उनके ऊपर पड़े हुए हारकी कान्ति लुप्त हो गयी । अतएव  
 ऐसा जान पड़ता था मानो उसे स्तनोंकी सफेदीने हर लिया हो । और इसीलिए लगता है कि  
 उस ( हार ) ने उनके मुखपर खूब मलकर कज्जल पोत दिया है ( स्तनोंका अग्रभाग बिलकुल  
 काथा पड़ गया था, इसीलिए यह कल्पना की गयी है ) । सच तो यह है कि गुणियोंके समु-  
 दायमें भी ऐसे बिरले हो होते हैं, जो किसीसे भी डाह न करते हैं ॥ ६६ ॥ जमुहाई सखीकी  
 तरह निरन्तर उसको निकटवर्तिनी हो गयी—सदा जमुहाईयाँ आने लगी । अच्छे मित्रके  
 समान आलस उसके पाससे नहीं हटता था । पेटके साथ लज्जा बढ गयी और उदरकी तीन  
 बलियोंके साथ स्फूर्ति लुप्त हो गयी ॥ ६६ ॥ 'हमने अपनी स्वाभाविक कान्तिमे नीलकमलोंकी  
 पहले ही जीत लिया है, अब केवल सफेद कमलोसे ही हमें डाह है' मानो यही सोचकर उस  
 कृशागी रानोके दोनो नेत्र सफेद हो गये ॥ ६७ ॥ रानी पहलेसे ही सुकुमारशरीरा थी, पर  
 इस अवस्थामे उसका शरीर शिरीष पुष्पके समान और भी अधिक सुकुमार हो गया, और

१. क ल म म म 'नन्वह' । २. श प्रतावेव 'गुणेषु' इति समुपलभ्यते । ३. आ प्रतो केवलम्  
 'अर्धान्तरगम्यास' इति । ४ 'अघरेण' इति टीकाकारसंमतः पाठ, सर्वास्वपि प्रतिपु 'उदरेण' पदं समुपलभ्यते ।  
 ५. = निबलया । ६. = तदौक्तिरिव । ७ = दैत्या । ८. आ प्रतो केवलं 'तस्याः' इति समुपलभ्यते ।  
 ९. श स 'सबन्धम्' ।

प्राप्ते प्रसूतिसमयेऽथ तिथौ शुभायामुच्चस्थितेषु सकलेषु शुभग्रहेषु ।  
सा भावितीर्थंकरमुज्ज्वलदेहदीप्तिप्रध्वंसिताम्यतमसं सुषुप्ते कुमारम् ॥ ६६ ॥

शुभ्रं नभोऽभवद्भीषुमतीव तस्मिन्मभ्युद्गते परप्रधामनिधानभूते ।  
लक्ष्मीः सरःकमलिनी सहसाम्यनन्ददाशाङ्गना मलिनिमापगमाद्विरेजुः ॥ ७० ॥

निःशेषमभ्युधरधीरगभीरनादैस्तूयैर्बभूव मुखरं नरनाथवेशम् ।

पौरौ जनस्त्वरितमेव निजे निजेऽसौ गेहे महोत्सवमकारयत प्रहृष्टः ॥ ७१ ॥

बन्धवश्च<sup>१</sup> संबन्धश्च तम् ( जननान्तरस्य बीजबन्धं संस्कारविशेषम् ) । वचनेन विना वचसा विना । वदन्ति  
बुधन्ति । जिनपूजनदोहूदानि जिनस्य जिनेश्वरस्य पूजने पूजायां दोहूदानि<sup>२</sup> दोहूलानि । एकान्ततः निश्चया-  
दपि । बभूवुः भवन्ति स्म । भू सत्तायां लिट् ॥ ६८ ॥ प्राप्त इति । सा श्लोकान्ता । अयं अनन्तरम् । प्रसूतिसमये  
प्रसवकाले । प्राप्ते आयाते । शुभाया प्रशस्तायां । तिथौ<sup>३</sup> । सकलेषु सर्वेषु । शुभग्रहेषु प्रशस्तग्रहेषु । उच्चै  
उन्नतं स्थितेषु—उच्चग्रहेषु । भावितीर्थंकरं भाविनं भविष्यन्तं तीर्थंकरं तीर्थेश्वरम् । उज्ज्वलदेहदीप्ति-  
प्रध्वंसिताम्यतमसम् उज्ज्वलस्य देहस्य देहस्य दीप्त्या कात्या प्रध्वंसितं विनाशितमम्यतमसं यस्य [ येन ]  
तं कुमारं बालकम् । सुषुप्ते प्रसूते स्म । पूष्ट् प्राणिप्रसवे लिट् ॥ ६९ ॥ शुभ्रमिति । अभीपुमतीव अभीपुमस्या-  
स्तोत्यभीपुमान्<sup>४</sup> तस्मिन् सूर्ये इव । परमधामनिधानभूते परमस्योत्कृष्टस्य धामस्तैः जसो निधानभूते निधिभूते ।  
तस्मिन् कुमारे । अभ्युदिते उदिते सति । नभः आकाशम् । शुभ्रं निर्मलम् । अभवत् अभूत् । लक्ष्मीः शोभा-  
रूपा । सरःकमलिनी<sup>५</sup> सरसि सरोवरे स्थिता कमलिनी नलनी । सहसा शीघ्रम् । अमनन्दत् अविकसत् । दुनदु  
समुद्भौ लङ् । आशाङ्गना । दिगङ्गना । मलिनिमापगमात् मलिनिम्नो मलोमसत्त्वस्यापगमात् विगमात् । रेजुः  
बभुः । राज्ञ् दीप्तौ लिट् ॥ ७० ॥ निःशेषमिति । अभ्युधरधीरगभीरनादैः अभ्युधरस्य मेघस्य ध्वनिरिव धीरः  
पटुर्गभीरो गम्भीरो नादो ध्वनि गेवा तैः । तूर्यैः वाद्यैः । निःशेष समस्तम् । नरनाथवेशम् नराणां नाथो  
नरनाथो राजा तस्य वेशम् गृहम् । मुखरं वाचालम् । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । प्रहृष्टः संतुष्टः ।  
असौ पौरजनः पुरे भवः पौरः स एव जनः तथोक्तः । रूपकम् (?) । त्वरितमेव शीघ्रमेव । निजे निजे  
स्वकीये स्वकीये । 'वीणायाम्' इति द्विः । गेहे मन्दरे । महोत्सव महासभ्रम् । अकारयत वरकरयत् । डुकुब्ज

उसके कोमल मनमें केवल जिनन्द्रदेवकी पूजा करनेकी आकाक्षा ( दोहला ) रहने लगी, जो  
गर्भस्थ बालकके जन्मान्तरके शुभ संस्कारोके सम्बन्धको वचनोके बिना भी कह रही थी ॥ ६८ ॥  
इसके पदवात् प्रसूति-प्रसवका समय आनेपर रानी श्रीकान्ताने पुत्रको जन्म दिया । जन्मके  
समयकी तिथि शुभ थी और सभी शुभग्रह उच्च स्थानपर थे । पुत्र भावी तीर्थङ्कर था — आगे  
अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ होगा, और वह बड़ा तेजस्वी था, उसके देहकी उज्ज्वल दीप्तिसे प्रसूति-  
गृहका अन्धकार नष्ट हो गया था ॥ ६९ ॥ उसके जन्म लेनेपर आकाश निर्मल हो गया,  
शोभास्वरूपा सरोवरकी कमलिनी सहसा खिल उठी और धुँधलापन मिट जानेसे दिशारूपी  
स्त्रियोंकी शोभा निराली हो गई । वह सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी था । सूर्योदय होनेपर  
जिस तरह प्रकृतिकी अपूर्व सुपना हो जाती है, उसी तरह उस बालकके जन्म लेनेपर हुई  
॥ ७० ॥ मेघोंके समान बाजोंकी गम्भीर ध्वनिसे सारा राजमहल गूँज उठा । इस अवसरपर  
पुरवासियोंकी बड़ा हर्ष हुआ । फलतः उन्होंने भी अपने-अपने घरोंमें महान् उत्सव मनाया

१. आ प्रतावेव 'बन्धवश्च' इति पदं वर्तते । २. = अभिलाषविशेषः । ३. = दिवसे ।  
४. = दशने । ५. = अभीषेकः सन्नि यस्य सोऽभीपुमान् ॥ ६. = ज्ञाते । ७. अ<sup>०</sup>लिनी ।

स्वस्माद्बहिर्भवतः प्रकटं निरेत्ये नृत्याभ्यन्तवत् गणो गणिकाजनानाम् ।

लब्धोऽपुना वसुमति प्रभुरद्वितीयो नन्द त्वमित्यजनि जन्मवतां प्रघोषः ॥ ७२ ॥

तुष्टया ददत्स्वसुतजन्म निवेदयद्गुणो देयं न देयमिदमित्यथवा क्षितीशः ।

नाजोगणत्प्रमदविह्वलचित्तवृत्तिर्विह्वलितवृत्ति हि मनो न विचारदक्षम् ॥ ७३ ॥

गायत्रिप्रमदभितो रभसेन घलादुन्मत्ततामिव जगाम पुरं समस्तम् ।

तत्राभवन्न खलु कोऽपि स यस्य नान्तर्जज्ञे चिकासि हृदयं सहसा द्विषोऽपि ॥ ७४ ॥

करणे णिज्जात् लङ् ॥ ७१ ॥ स्वस्मादिति । गणिकाजनना गणिका एव जनोऽस्तेषाम् । रूपकम् (?) । गणाः समूहाः [ गण. समूहः ] स्वस्मात् स्वकीयात् । भवनतः गृहात् । बहिः बाह्ये । निरेत्ये निर्गत्य । नृत्यानि नर्तनानि । प्रकटं प्रसिद्धं यथा भवति तथा ( सर्वजनसमक्षम् ) अतन्वत अकुरुत । तन्त्रं विस्तारे लङ् । अपुना इदानीम् । अद्वितीयः उपमातोत् । वसुमती प्रभुः वसुमत्या. भूमे । [ वसुमति वसुधारे ] प्रभुः पतिः । लब्ध. प्राप्तः । एवं नन्द एषस्व । इति जन्मवतां जन्मास्त्येषामिति मतुः 'अस्त्यस्मिन्वेति मतुः' 'मान्तोपात्त—' इत्यादिना मध्य वः । प्रघोषः शब्दः । अजनि अजायत । जनंङ् प्रादुर्भावे लङ् ॥ ७२ ॥ तुष्टयेति । स्वसुतजन्म स्वस्य आत्मनः मुनस्य पुत्रस्य जन्म उत्पत्तिम् । निवेदयद्गुणं विज्ञापयद्गुणः । तुष्टया संतोषेण । आददत् [ दत्त ] दान कुर्वन् । प्रमदविह्वलचित्तवृत्ति । प्रमदेन संतोषेण विह्वला 'विकलबो विह्वलः स्यात् विकलोऽरिष्ट तुष्टयो.' इत्यमरः, 'विह्वलो' चित्तस्य मनसो वृत्ति बलं न यस्य सः । क्षितीशः भूपालः । इदम् एतत् । देयं दातुं योग्यम् । अथवा न देयं दातुं योग्यं न भवतीति । नाजोगणत् नागणयत् । विक्षिप्तवृत्ति विक्षिप्तेन संतोषेण युक्ता ( विक्षिप्तास्थिरा ) वृत्ति यस्य । मन चित्तम् । विचारदक्षं परीक्षादक्षम् । न हि न भवति हि । अर्थात्तरंग्याम्. ॥ ७३ ॥ गावदिति । तत्र पुरोदये अभितः सर्वतः । रभसेन संतोषेण । गायत् गीतं कुर्वन् । पुनस्त्यत् नटत् । वल्लभं लङ्घत् ( गच्छत् ) समस्त सर्वम् । पुरं नगरम् । उन्मत्ततां भ्रान्तताम् । जगामेव द्यायेव । गच्छेत् गतो लिट् । अवबन् अभूत् । द्विषोऽपि शत्रोरपि । यस्य कस्य । अन्तः अर्वाक् (?) हृदयं चित्तम् । सहसा शीघ्रम् । चिकासि सत्तुष्टम् । न जज्ञे न जायते । सः पुरुष । कः न कोऽपीत्यर्थः । यस्यान्तरङ्गं संतुष्टं न । स कश्चित् पुमान् नास्ति । शत्रूणां मानसमपि सत्तुष्टं जात-

॥ ७१ ॥ गणिकावर्गं अपने घरसे बाहर निकला और उसने खुले मैदानमें नृत्य किया । सभी मनुष्योंके मुखसे एक ही बात निकल रही थी—'पृथ्व !' तुमने अद्वितीय पति पा लिया है, अतः अब तुम खूब समृद्ध हो' । ७२ । राजाने पुत्र-जन्मकी सूचना देने वालोंको आनन्द विभोर होकर दान देते समय यह बिलकुल नहीं सोचा कि क्या दान देने योग्य है और क्या अयोग्य । उसका मन उस समय केवल देनेमें ही सन्तुष्टिका अनुभवकर रहा था, और सब तो यह है कि विक्षिप्त मनमें विचारकी चतुरता नहीं रहती ॥ ७३ ॥ उस समय सारा नगर सभी ओरसे गाता नाचता और बड़े वेगसे दौड़ता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था । अतः ऐसा जान पड़ता था मानो खुशिके मारे पागल हो गया हो । वहाँ ऐसा एक भी मनुष्य नहीं था जिसका हृदय भीतरसे प्रसन्न न

१. म निरित्य । २. स स जनः । ३. आ निरेत्य । ४. आ प्रतावेव 'भवति तथा' इति दृश्यते । ५. = असाधारणः । ६. आ 'सुमति' । ७. = त्वयेति रोपः । ८. = जन्मास्ति येषां तेषाम् । ९. आ उत्पत्तिः । १०. = विकलबा । ११. = 'रभसो वेगहर्षयोः' इत्यनेकार्थसंग्रहः । १२. स स बल्लभः । १३. आ भ्रान्तिताम् । १४. स स गमः ।

सर्वज्ञं कनकमयैः समर्च्य पुष्पैः कल्याणेऽहनि सहितेन वंशवृद्धेः ।

श्रीवर्मैत्यवनिभुजाय तस्य नाम श्रीशब्दानुगतमकारि मङ्गलाय ॥ ७५ ॥

विदधदखिलांस्तेजस्तीव्रान्परानतान्नतानवनिममितामोजोभिः स्वेर्वंशं विवशां नयन् ।

निधिशतमहालाभैर्भूभृच्छतप्रहितैर्धनैरुदयनिलये जाते तस्मिन्ननन्द स नन्दने ॥ ७६ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

मित्युक्तेषु नान्येषां जातं किमित्याश्चर्यम् । उत्प्रेक्षा ॥७४॥ सर्वज्ञमिति । वंशवृद्धेः कुलश्रेष्ठः । सहितेन<sup>१</sup> संयु-  
तेन । अवनिभुजा भूपालेन । कल्याणं मङ्गलरूपे । अहनि दिने । कनकमयै कनकनिर्मितैः । पुष्पैः कुटुम्बैः ।  
सर्वज्ञं सर्ववेदिनम् । समर्च्य पूजयित्वा<sup>२</sup> । अथ पूजानन्तरम् । तस्य बालस्य । श्रीशब्दानुगतं श्रौरितिशब्देन  
अनु संयुक्तं श्रीवर्मैति श्रीवर्मकुमार इति । नाम नामधेयम् । मङ्गलाय मङ्गलार्थम् । अकारिं अकरोत् ।  
हुकुब् करणे लुङ् ॥७५॥ विदधदिति । उदयनिलये उदयस्य ऐश्वर्यस्य निलये स्थाने । तस्मिन् नन्दने कुमारे ।  
जाते सति । स्वैः स्वकीयैः । ओजोभिः तेजोभिः । तेजस्तोत्रान् तेजसा प्रतापेन तीव्रान् तीक्ष्णान् । अनतान्  
अप्रणतान् । अखिलान् सर्वान्<sup>३</sup> । परान् शत्रून् । नतान् प्रणतान् । विदधत् कुर्वन् । विवशां वशगताम् ।  
अमिताम् अमर्यादाम् । अर्वाणि भूमिम् । वशम् अधीनम्<sup>४</sup> । नयन्<sup>५</sup> । सः नृपः । निधिशतमहालाभैः निधौना  
निधानानां शतस्य अनेकस्य महद्भिः लाभैः । भूभृच्छतप्रहितैः भूभृतां भूपतीनां शतेन अनेकेन प्रहितैः प्रेषितैः ।  
धनैः<sup>६</sup> । ननन्द तुतोष । टुनटु समृद्धौ लिट् ॥७६॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने

च विद्वन्मनोवत्सलाख्ये तृतीयः सर्गः ॥३॥

हुआ हो और तो क्या शत्रुवर्गको भी हार्दिक प्रसन्नता हुई ॥ ७४ ॥ इसके पश्चात् उस राजाने  
अपने वंशके विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ शुभ दिनमें स्वर्ण पुष्पांसे सर्वज्ञ भगवान्-  
को पूजाकी, और पूजाके बाद अपने पुत्रका माङ्गलिक 'श्री'से युक्त 'श्रीवर्म' नाम  
रखा ॥ ७५ ॥ बालक बड़ा भाग्यशाली था । उसके जन्मते ही धीरेणने अपने बलसे, बड़े-बड़े  
तेजस्वी उद्धत राजाओंको नम्र कर दिया, अपरिमित भूमिको—जिसपर शत्रुओंने अधिकार जमा  
लिया था—अपने वशमें कर लिया और सैकड़ों राजाओंने उपहारमें धन भेजा, जिससे उसे  
सैकड़ों निधियोंका लाभ हुआ । इस तरह सभी ओरसे उसकी समृद्धि बढ़ने लगी । फलतः वह  
बहुत आनन्दित हुआ ॥ ७६ ॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित

महाकाव्यमे तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

१. आ प्रतापेव 'उत्प्रेक्षा' इति समुपलभ्यते । = वस्तुतस्तु पद्यमिदमित्थं व्याख्येयम्—गायत् गानं  
कुर्वत् । प्रनृत्यत् नृत्यं कुर्वत् । रभसेन वेगेन । वस्गत् गच्छत् । समस्तं पुरं निखिलं नगरम् । उन्मत्ततामिव  
प्रमत्ततामिव । जगाम यथौ । सत्र तस्मिन् पुरे । खलु निश्चयेन । स. सकः । कोऽपि कश्चिदपि । न अभवत्  
न बभूव । यस्य हृदयं मनः । अन्तः अन्तस्तः । विकासि प्रसन्नम् । न जज्ञे नाजायत । द्विषोऽपि  
शत्रोरपि । हृदयं मनः । अन्तः अन्तस्तः । विकासि प्रसन्नम् । जज्ञे समजनि ॥७४॥ २. क ख ग घ ङ सह  
तेन । ३. स पूजितः । ४. = व्यवधि । ५. आ आनतान् प्रणतान् । ६. आ 'सर्वान्' इति पदं नास्ति ।  
७. = परकरयतामित्यर्थः । ८. आ अश्वनीम् । ९. आ अधीशम् । १०. = कुर्वन् । ११. = वितैः ।

## चतुर्थः सर्गः ।

अथ प्रजानां नयनाभिरामो लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्गः ।

वृद्धिं स पद्याकरवत्प्रपदे दिनानुसारेण शनैः कुमारः ॥ १ ॥

व्रजन्सहैवोन्नतिमुज्ज्वलाभिः कलाभिरानन्दितसर्वलोकः ।

स कान्तिमांश्चन्द्रमसा तदानीं जनैरुपामीयत राजपुत्रः ॥ २ ॥

गुरुन्गुरुन्सम्यगुपास्य तेभ्यो विद्योपविद्या विधिना चिद्वित्वा ।

तद्वदिनोऽसौ गणितैरहोभिरथो व्यधाद्दीधितिमानिवेद्धः ॥ ३ ॥

श्रेयानिभिः सकलमङ्गलहेतुभूतं लोकोत्तमं शरणमप्रतिमं जिनेशम् ।

श्रेयः सदान्तमहोत्सवदानदर्शनं श्रेयोऽभिधानजिनप प्रणमामि निरयम् ॥

अथेति । अथ कुमारोदयानन्तरम् । प्रजानां जनानाम् । नयनाभिरामः नयनानां नेत्राणामभिरामो मनोहरः । लक्ष्मीलनालिङ्गितसुन्दराङ्गः लक्ष्मीः सम्पत्तिरैव लता वत्परी तयालिङ्गित लालित सुन्दरं मनोहरमङ्गं मार्गं यस्य सः । रूपकम् । सः श्रीवर्मकुमारः । पद्याकरवत् सरोवरवत् । दिनानुसारेण दिनस्यानुसारेणानुक्रमेण । शनैः मन्दम् । वृद्धिं वर्धनम् । प्रपदे प्रपद्ये । यदि गतौ लिट् ॥१॥ व्रजति । उज्ज्वलाभिः प्रदीप्ताभिः । कलाभिः चतुःषष्टिकलाभिः षोडशभागीष्व । सहैव साकमेव । उन्नतिं वृद्धिम् । व्रजन् गच्छन् । आनन्दितसर्वलोक आनन्दिता आह्लादिता, सर्वे लोकाः जनाः येन सः । कान्तिमान् ध्यातिमान् । सः राजपुत्रः । तदानीं तस्मिन् काले । जनैः लोकैः । चन्द्रमसा चन्द्रेण । उपामीयत उपमा [ -विषयोऽ ] क्रियत । मायु माने कर्मणि लङ् । श्लेषोपमा ॥२॥ गुरुन्ति । दीधितिमानिब दीधितिरस्यास्तीति दीधितिमान् सूर्य इव [ दीधितयोऽस्य सन्तीति दीधितिमन् सूर्यः, म इव ] । इदः दीप्तः । अग्रे कुमारः । गुरुन् श्रेष्ठान् । गुरुन् उपदेशकान् । सम्पगुपास्य आराध्य । तेभ्य गुरुभ्यः । विद्योपविद्याः विद्याः आन्वीक्षिकी त्रयो वार्ता दण्डनीतिः शांति चतस्रो

जिस प्रकार सरोवर सबके नेत्रोंको सुन्दर लगता है, बांधपर लगी हुई सुन्दर लताएं उसके प्रदेशोंको छविको बढ़ाती हैं और वर्षा ऋतुके दिनोंके अनुसार धीरे-धीरे उसकी वृद्धि होती है, तथा जिस प्रकार कमलोंका समूह सबके नेत्रोंको सुन्दर प्रतीत होता है, उसके ऊपर लक्ष्मी निवास करती है और वह दिनके समयके अनुसार धीरे-धीरे विकसित होता है, उसी प्रकार वह राजकुमार श्रीवर्मा समस्त प्रजाके नेत्रोंको प्रिय था, उसके पूरे शरीरपर लक्ष्मीको छाया थी और वह अपनी आयुके दिनोंके अनुसार धीरे-धीरे बढ़ रहा था ॥१॥ राजकुमार चौंसठ उज्ज्वल कलाओंको उन्नतिके साथ-ही-साथ अपनी उन्नति कर रहा था, उसके शरीरपर कान्ति थी और इसीलिए उसे देखकर सभी लोगोंको बड़ा आनन्द होता था । उस समय उसे जो भी देखते थे वे उसकी तुलना चन्द्रमासे करते थे, क्योंकि चन्द्रमा भी सोलह कलाओंको उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करता है, सारे संसारको आनन्द देता है और मनोहर कान्तिको धारण करता है ॥२॥ वह सूर्यके समान तेजस्वी था । उसने श्रेष्ठ गुरुओंकी सच्ची उपासना की और उनसे आन्वीक्षिकी आदि चार विद्याओं तथा उनकी सहायक चौंसठ उपविद्याओंको सीखा ।

१. आ प्रतो पद्यमिदं नोऽलम्बते । २. आ संश्रुति । ३. आ प्रतावेव केवलं 'सरोवरवत्' इति पदमुपलभ्यते ।

जनादशेषाद्वयसा लघोयानपि प्रवृद्धैः स महान्वभूष ।  
 कलागुणैरुज्ज्वलरश्मिजालैरिव स्वकीयैर्मणिशारकोत्थः ॥ ४ ॥  
 धनुर्धरैः खड्गभिरश्ववारैर्गजेन्द्रशिक्षाधिकृतैश्च लोकैः ।  
 स्वं स्वं गुणोत्कर्षमसाववाप्तुं सदाभियुक्तैरुपजीव्यते स्म ॥ ५ ॥  
 तुषाररश्मि भजते निशायां दिनागमे याति सरोजवर्षम् ।  
 इति प्रकृत्या चपलापि लक्ष्मीरियेष मोक्षतुं न तनुं तदीयाम् ॥ ६ ॥  
 वदान्यतां नस्य विलोक्य गुर्वी<sup>१</sup> तद्वद्विरस्याजि वृथाभिमानः ।  
 गतस्य लोके परतोऽभिभूतिं न मानिनो राजति मानयोगः ॥ ७ ॥

राजविद्याः, ताश्च, उपविद्याश्च चतुःषष्टिरूपाः ताश्च । विधिना क्रमेण । विदित्वा ज्ञात्वा । गणितैः कियद्भिः । अहोमिः दिवसीः । तद्वेदिनः । त्रिविधोपविद्यावेदिनः पुरुषान् । अथो व्यवात् तिरस्कृतवान् । हुषाश् चारणे च लुट् । उपमा ॥३॥ जनादिति । सः कुमारः । असौवात् सकलान्<sup>२</sup> । जनात् लोकात्<sup>३</sup> । वयसा वयोधर्मेण । लघोयानपि अत्यन्तं लघुरपि 'गुणाङ्गाद्वेद्यसू' इति ईयसु-प्रत्ययः । प्रवृद्धैः अधिकैः । कलागुणैः सकलकलागुणैः<sup>४</sup> स्वकीयैः स्वसंबन्धिभिः । उज्ज्वलरश्मिजालं उज्ज्वलैः रश्मीनां किरणानां जालैः समूहैः । आशरोत्य खनिष्ठा-नोत्पन्नः । मणिरिव रत्नमिव । महान् श्रेष्ठः । बभूव भवतिस्म । भू सप्ताया लिट् । उपमा ॥४॥ धनुरिति । अथो कुमारः । सर्वदा सर्वस्मिन् काले । अभियुक्तैः उद्युक्तैः । धनुर्धरैः धन्विभिः । खड्गभिः खड्गोऽस्त्येषा- [ ऽ स्ति येषा ] मिति खड्गिनस्ते खड्गधरैः । अश्ववारैः अश्ववाहैः । गजेन्द्रशिक्षाधिकृतैश्च गजेन्द्राणां शिक्षायामधिकृतैरधिकारिभिश्च । स्वं स्वं स्वकीयम् । बीप्साया द्वि 'बीप्सायाम्' इति द्वि । गुणोत्कर्षं गुणानां धनुर्विद्यादीनामुत्कर्षं प्रवर्धनम् । अवाप्तुं लब्धम् । उपजीव्यते स्म । जीव प्राणधारणे कर्मणि स्म योगे<sup>५</sup> 'स्मे च लट्' इति भूनाथं लट् ॥५॥ तुषारेति । लक्ष्मीः श्रीदेवी । निशायां रात्रौ । तुषाररश्मिं चन्द्रमसम् । भजते सेवते । भज<sup>६</sup> सेवाया लट् । दिनागमे दिनस्य विवसस्य आगमे प्रातःकाले इत्यर्थः । सरोजवर्षं सरोजानां कमलानां वर्षं कदम्बम् । याति गच्छति । इति एवं प्रकारेण । प्रकृत्या स्वभावेन । चपलापि चञ्चलापि । तदोया तस्य कुमारस्य संबन्धिनीम् । तनुं शरीरम् । मोक्षतुं त्यक्तुम् । न इवेष न ववाञ्छ । इषु इच्छाया लिट् ॥६॥ वदति । तस्य कुमारस्य । गुर्वी<sup>१</sup> महतीम् । वदान्यतां त्यागिताम् । विनोब्य दृष्ट्वा । तद्वद्भिः औदार्ययुक्तैः<sup>७</sup> । वृथाभिमानः व्यर्थाभिमानः । अस्याजि अमुष्पुत । त्यज हानो कर्मणि लुट् । लोके

वह प्रतिभाका धनी था, अतः समस्त विद्याओं और उपविद्याओंकी शिक्षा प्राप्त कर उसने थोड़े ही दिनोंमें समस्त विद्याओं और उपविद्याओके जाननेवालोंको मात कर दिया ॥३॥ वह राजकुमार उम्मे सबसे बहुत छोटा था, किन्तु फिर भी विकसित कलाओं और गुणोंमें उनसे बड़ा था । जैसे एक खानसे उत्पन्न हुआ मणि और मणियोंके पीछे निकल कर भी अपनी उज्ज्वल किरणोंके कारण उनसे कहीं श्रेष्ठ होता है ॥४॥ धनुर्धारी, खड्ग चलानेवाले, अश्व-विद्या जाननेवाले और गजशिक्षाके अधिकारी विद्वान् अपने-अपने गुणोंका उत्कर्ष पानेके लिए सदा तत्परताके साथ उसकी सेवामें लगे रहते थे ॥५॥ लक्ष्मी रात्रिके समय चन्द्रमाकी सेवा करती है और दिन होते हो उसे छोड़कर कमलके पास चली जाती है । इस तरह वह स्वभावसे चञ्चल होकर भी उस राजकुमारके शरीरको नहीं छोड़ना चाहती थी—चन्द्रमा और कमलकी अपेक्षा राजकुमारका शरीर कहीं अधिक सुन्दर था ॥६॥ वह राजकुमार बड़ा दानी था । उसकी सर्व श्रेष्ठ उदारताको देखकर अन्य उदार पुरुषोंने अपनी-अपनी उदारताके निरर्थक

१. अ तद्वद्भिः । २. स स असेवान् सकलान् । ३. स स जनान् लोकान् । ४. आ प्रतावेव 'सकलकलागुणैः' इति पर्यायो दृश्यते । ५. स स योगो । ६. स स भजि । ७. आ उदारयुक्तैः ।



तदीयसङ्गादखिलोऽपि भीरुरन्यो जनः शूरतरो बभूव ।  
 महात्मनस्तस्य पुनर्महीयः स्वभाविकं शौर्यमिव द्विपारे ॥ ८ ॥  
 त्यागश्च शौर्यं च तथैव सत्यं महागुणा नोतिविदामभीष्टाः ।  
 त्रयोऽप्यमी तस्य तनौ विवृद्धिं स्पर्धादिष्वान्योन्यकृतात्प्रजग्मुः ॥ ९ ॥  
 प्रपूर्यन्धान्यधनैरशेषं नियोजयन्नापि महागुणेषु ।  
 पतिः स एवाजनि नोतिनेत्रो गुरुः स एवाश्रयिणां जनानाम् ॥ १० ॥  
 न केवलं सर्वगुणाश्रयेण प्रहर्षितस्तेन भृशं स्वपक्षः ।  
 किं तु द्विषन्तोऽपि अलस्यभावास्तन्नास्ति यत्पुण्यघतामसाध्यम् ॥ ११ ॥

जयति । परतः अन्यस्मात् । अभिभूतिं तिरस्कृतिम् । गतस्य प्राप्तस्य । मानिन गविण । मानयोगः मानस्य गवंस्य योगः । न राजति न भाति । राज्ञ् दीप्ती लङ् । अर्धात्तरत्वात् ॥७॥ तदीयेति । तदीयसंगात् तदीयात् कुमारकसंबन्धात् सङ्गात् संपर्कात् । अखिलोऽपि निखिलोऽपि । भीरुः भीलुकः । अन्यः परः । जनः । शूरतरोः प्रकृष्ट शूरः । शूरतरोः बभूव भवतिस्म । भू सत्ताया लिट् । पुनः पवचात् । महात्मनः महापुरुषस्य । तस्य कुमारस्य । महीयः अतिमहत् । शौर्यं पराक्रमः । द्विपारेः द्विपाना गङ्गानामरे । सिंहस्य । इव । स्वाभाविक स्वभावजनितम् । बभूव । उपमा ॥८॥ त्याग इति । त्यागश्च वितरणम् । शौर्यं पराक्रमश्च । तथा च तेन प्रकारेण । सत्यं तथ्यम् । नोतिविदां नोति नोतिशास्त्रं विदन्ति जानन्तीति नोतिविदः, तेषामभीष्टाः समोहिताः । अमी इमे । त्रयोऽपि महागुणाः मुख्यगुणाः । तस्य कुमारस्य । तनौ गात्रे । अन्योन्यकृतात् अन्योन्यैः कृतात् बिहृतात् । स्पर्धादिव मात्सर्यादिव । विवृद्धिं प्रवृद्धिम् । प्रजग्मुः प्रययुः । गम्लृ गतो लिट् । उपप्रेक्षा ॥९॥ प्रपूरयन्ति । अशेषं संपूर्णम् । आन्यधनैः धान्यैः श्रोत्रादिधान्यैर्धनैः सुवर्णादिभिः । प्रपूरयन् पालयन् महागुणेषु मुख्यगुणेषु । नियोजयन्नापि संबन्धयन्नापि । नोतिनेत्रः नोतिरेव नोतिशास्त्रमेव नेत्रं नयनं यस्य स । स एव कुमार एव । आश्रयिणाम् आश्रितानाम् । जनानां पतिः प्रभुः । स एव कुमार एव । गुरुः श्रेष्ठः । अजनि अभवत् । क्वनकम् ॥१०॥ नेति । सर्वगुणाश्रयेण सर्वेषां गुणानामाश्रयेणाधारभूतेन । तेन कुमारेण । स्वपक्षः सहायजनः । केवलं मुख्यम् [परम्] । भृशम् अत्यन्तम् । न प्रहर्षितः । न सतोपितः ।

अभिमानको छोड़ दिया । क्योंकि इस संसारमें उस मानीका मान शोभा भी तो नहीं देता, जो दूसरेसे पराजित हो चुका हो ॥७॥ उसके सम्पर्कमें रहनेसे सभी अन्य कायर पुरुष भी बहादुरोंके सिरमौर हो गये । उसको आत्मा महान् थी, और उसका महान् पराक्रम सिंहके समान स्वाभाविक था ॥८॥ त्याग, शूरता और सत्य ये तीन महान् गुण हैं, इन्हें सभी नोति शास्त्रके विद्वान् चाहते हैं, किन्तु ये तीनों स्वयं भी उस राजकुमारको चाहते थे । इसीलिए मानी वे आपसी स्पर्धावश उसमें खूब ही विकसित हुए । उनका विकास उसके शरीरको देखनेसे ही प्रतीत हो रहा था ॥९॥ वह नोतिशास्त्रमें निपुण था । वह नोतिशास्त्रको ही अपना नेत्र समझता था । आश्रयमें आनेवाले सभी मनुष्योंका वह पति ( पातोति पति.—जो रक्षा करे वह पति कहलाता है ) था । क्योंकि भरपूर धन और धान्य-अनाज देकर वह उनका भरण, पोषण और संरक्षण करता था, और उन सबका वह गुरु ( शिक्षक ) था; क्योंकि उन्हें वह श्रेष्ठ सद्गुणोंको शिक्षा देता था ॥१०॥ वह सर्वगुण सम्पन्न था, अतः उसने न केवल अपने पक्षके लोगोंको ही खूब प्रसन्न किया, बल्कि कुछ स्वभाववाले शत्रुओंको भी । ऐसा कोन सा कार्य है, जो पुण्यात्माओंको

१. आ महान् । २. = यथा । ३. = शौर्यं च । ४. = अन्योन्यम् । ५. आ प्रती प्रवृद्धिम् इतिनास्ति ।  
 ६. गम गतो । ७. = पोषयन् । ८. आ प्रती स्वस्तिकान्तगतः पाठो नास्ति । ९. = शिक्षकः । १०. = प्रकर्वेण हर्षं प्रापिताः । ११. आ प्रती 'न' नोपलभ्यते ।

त्रैलोक्यशोभाभिभवप्रवीणं नूनं विधिस्तस्य विलोक्य रूपम् ।

यथावत्तत्त्वचतुराननत्वं नान्यद्वयं कारणमत्र विधाः ॥ १२ ॥

स संपदामायतनं जयश्रीसमाश्रयः सर्वमनोभिरामः ।

भजे न चोत्सेकमननीतिर्मदं भजन्ते न महानुभावाः ॥ १३ ॥

निरस्तपद्मवर्गरिपुः कृतज्ञो गुणाधिकानां धुरि वर्तमानः ।

स मत्सरेणेव समं गुणोद्येन पस्पृशे दोषगणैः कुमारः ॥ १४ ॥

पितुर्निदेशाद्य सुन्दराङ्गी स राजकन्यां विधिनोपयेमे ।

प्रभाषतो देहगतप्रभायाः प्रभाषतीति प्रथिताभिधानाम् ॥ १५ ॥

किन्तु खलस्वभावाः दुर्जनस्वरूपाः । द्विवस्तोऽपि शत्रवोऽपि प्रहृषिताः । यत् पुण्यवता मुकृतवताम् ।  
असाध्यम् । तत् । लोके नास्ति न<sup>१</sup> भवति । अर्थात्तरन्यासः ॥ ११ ॥ त्रैलोक्येति । विधिः कर्म—ब्रह्मा ।  
तस्य कुमारस्य । त्रैलोक्यशोभाभिभवप्रवीणं त्रैलोक्यस्य लोकत्रयस्य शोभायाः कागतेरभिभवे तिरस्करणे प्रवीणं  
समर्थम् । रूपं<sup>३</sup> सुकृष्टम् । नूनं निश्चयेन । विलोक्य बौद्ध्यं । अतृप्तः तृप्तिरहितः सन् । चतुराननत्वं चतु-  
भिरानने युक्तत्वं । यद्यी इयाय । या प्रापणे लिट् । अत्र चतुराननत्वे । अन्यत् परम् । कारणं हेतुम् ।  
वयं न विधाः न जानीम । विद ज्ञाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥ १२ । स इति । संपदाम् ऐश्वर्याणाम् । आयतनं गृहम् ।  
जयश्रीसमाश्रयः जयश्रियाः जयलक्ष्म्याः आश्रयः आधारः । सर्वमनोऽभिरामः सर्वेषां सकलानां मनोभिरामो  
मनोहरः । अनूनोतिः अनूना संपूर्णा नीति रस्यथ । स श्रीवर्मकुमारः । उत्सेकं गर्वम् । न भजे न भजति  
स्म । भज सेवाया लिट् । महानुभावाः महाननुभावः सामर्थ्यं येषां<sup>४</sup> ते । मदं गर्वम् । न भजन्ते । अर्थात्तर-  
न्यास ॥ १३ ॥ निरस्तेति । [ निरस्तपद्मवर्गरिपुः ] निरस्तास्तिरस्कृताः पद्मवर्ग एव रिपवः शत्रवो येन सः ।  
'अयं कितनं प्रणोताः कामक्रोधानमनमदहर्षा क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिपद्मवर्गः' इति नीतिवाक्यामुते । कृतज्ञः कृतं  
जानातीति कृतज्ञः, कृतकार्यज्ञ इत्यर्थः । गुणाधिकानां गुणैर्माधुर्यादिगुणैरधिकानां प्रबुद्धानाम् । धुरि अग्रभागे ।  
वर्तमानः<sup>५</sup> । कुमारः श्रीवर्मकुमारः । गुणोद्येः गुणानामोद्येः समूहः<sup>६</sup> । समं साकम् । समत्सरेणैव<sup>७</sup> ईर्ष्य-  
[ ८ ] यैव । 'मत्सरोऽयं गुमद्वेषी' तद्वत्क्रूरण्योस्त्वित्<sup>८</sup> । इत्यभिधानात् । दोषगणैः दोषाणामप्रशस्तानां  
गणैः समूहैः । न पस्पृशे न स्पृश्यते स्म । स्पृश स्पृशने कर्मणि लिट् । उपमा ॥ १४ ॥ पितु रिति ।  
अथ दौर्जनप्राप्त्यनन्तरम् । सः कुमारः । देहगतप्रभायाः देहं गात्रं गतायाः प्राप्तायाः<sup>९</sup> । प्रभायाः कान्त्याः

कठिन हो ? ॥ ११ ॥ उसका रूप तीनों लोकोंकी शोभाको मात करनेवाला था । उसे देखकर  
ब्रह्मादेवको तृप्ति नहीं हुई—उसका चित्त नहीं अघाया । मानो इसीलिए उसने तीन मुख और  
बना लिये—वह चतुर्मुख हो गया । उसके चतुर्मुख होनेका हमें और कोई कारण नहीं जान  
पड़ता ॥ १२ ॥ वह सम्पत्तिका घर था; विजयलक्ष्मीका आश्रयदाता था; सबके मनकी प्रिय  
था और समस्त नीतिका पालक था, किन्तु फिर भी उसे अहङ्कार नहीं था । सच है विशिष्ट  
प्रभावशाली पुरुष कभी अहङ्कार नहीं करते ॥ १३ ॥ उसने काम, क्रोध, हर्ष, मान, लोभ और  
मद इन छह आभ्यन्तर शत्रुओंको तिरस्कृत कर दिया था, वह कृतज्ञ था और गुणवानोंमें  
अग्रेसर था । उसके गुणोंसे दोषोंको बड़ी डाह हो गयी थी, मानो इसीलिए वे उस राजकुमारको  
कभी छूते भी नहीं थे ॥ १४ ॥ इसके पश्चात् उसने अपने पिताकी आज्ञासे एक परमसुन्दरी  
राजकुमारीके साथ त्रिधिपूर्वक विवाह किया, जिसका नाम प्रभावती था । शरीरकी विशिष्ट

१. अ आपावित् । २. आ प्रती 'न' नास्ति । ३. आ रूपकम् । ४. आ एषां । ५. = विद्यमानः ।  
६. = स मत्सरेणैव । ७. आ 'गुमद्वेषि' । ८. आ प्रती 'त्रिषु' इति पदं नास्ति । ९. आ प्रती 'प्राप्तायाः'  
इति पदं नास्ति ।

तं योवराज्ये परिणीतभार्यं नियोज्य धुर्यं वशिनां तनूजम् ।  
 स राज्यसौख्यं विगतान्तरायं निश्चिन्तचित्सोऽनुबभूव भूपः ॥१६॥  
 भोगैः स बाष्पकृतसन्निधानैर्मनोहरैर्मोहितचित्तवृत्तिः ।  
 कालं न गच्छन्तमपि प्रजङ्गे प्रज्ञां हि मोहः शिथिलीकरोति ॥१७॥  
 स्थितोऽथ हर्म्यं स नृपः कदाचित्तुलकां विलोक्याम्बरतः पतन्तीम् ।  
 विरक्तबुद्धिविषयेषु चिन्तामगादिति प्रोद्गतकाललब्धिः ॥१८॥  
 समस्तमेवंविधमेव पुंसामशाश्वतं जीवितयौवनादि ।  
 तथापि जानाति न मन्वबुद्धिरस्मादृशः पुत्रकलत्रमूढः ॥१९॥

प्रभावतः सामर्थ्यात् । प्रभावतीति प्रभा देहकान्तिरस्यास्तीति प्रभावती, इति । प्रविताभिधाना प्रचितं प्रसिद्धमभिधानं<sup>१</sup> यस्याः ताम् । सुन्दराङ्गीं सुन्दरमङ्गं यस्याः सा ताम् । 'असहृन्तम्—' इत्यादिना डी । राजकन्यां राजपुत्रीम् । पितुः जनकस्य । निदेशात् आजायाः । विधिना विधानेन । उपरमे परिणीतवान् । यम उपरमे लिट् ॥१५॥ तमिति । सः भूपः श्रोत्रेण भूपति । परिणीतभार्यं परिणीता भार्या<sup>३</sup> जाया यस्य<sup>४</sup> तम् । धुर्यं मुख्यम् । वशिन् जितेन्द्रियं जितात्मानं वा । तं तनूज कुमारम् । योवराज्ये युवराजपदस्याम् । नियोज्य संस्थाप्य । निश्चिन्तचित्तः चिन्ताया निर्गतं निश्चिन्तं चित्तं यस्य स<sup>५</sup> । विगतान्तरायं विगतोऽन्तरायो यस्मिन् तत् । राज्यसौख्यं राज्यसुखम् । अनुबभूव अनुभवति स्म । भूसत्तायां लिट् ॥१६॥ भोगैरिति । बाष्पकृतसन्निधानं बाष्पकृता कृतं सन्निधानं समीपं<sup>६</sup> येषां<sup>७</sup> तैः । मनोहरं मनोहररूपं । भोगैः विषयानुभवेः । मोहितचित्तवृत्तिः मोहिता आसक्ता चित्तस्य<sup>८</sup> वृत्तिर्यस्य सः । सः कुमारः । गच्छन्तमपि यान्ति<sup>९</sup> मपि । कालं समयम् । न प्रजङ्गे न जानाति स्म । मोहः मोहनोपकर्म । [ हि निश्चयेन ] । प्रज्ञा सम्प्रज्ञानम् । शिथिलीकरोति<sup>१०</sup> अपहरति । दुर्लभं कर्णे लिट् । हि । अर्थान्तरन्यासः ॥१७॥ स्थित इति । अथ अनन्तरम् । कदाचित् अन्यदा । हर्म्यं सोपे । स्थितः उपविष्टः । सः नृपः श्रोत्रेण नरपति । अम्बरतः आकाशान् । पतन्तीं निपतन्तीम् । उल्कां<sup>११</sup> उल्कातनम् । विलोक्य दृष्ट्वा । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । विरक्तबुद्धिः अनासक्तबुद्धिः । प्रोद्गतकाललब्धिः प्रोद्गता काललब्धिर्यस्य स । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । चिन्ता स्मृतिम् । ( स्मृतिपत्रवाह्यम् ) । अगात् अयात्<sup>१२</sup> । इण्<sup>१३</sup> गतो लृट् ॥१८॥ समस्तेति । पुमा पुरुषाणाम् । अशाश्वतम् अस्थिरम् । जीवितयौवनादि<sup>१४</sup> जीवितं यौवनमादिर्यस्य तत्<sup>१५</sup> । समस्त सकलम् । एवंविधम् एतदुल्का-प्रभाके प्रभावसे उसका 'प्रभावती' नाम सभो ओर प्रसिद्ध हो गया था ॥१५॥ विवाहके बाद राजा श्रोत्रेण ( पिता ) ने अपने उस, जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ पुत्र ( श्रोत्रर्मा ) को युवराज बना दिया, और स्वयं निश्चिन्त होकर विघ्न-बाधाओंसे रहित राज्यसुखको भोगने लगा ॥१६॥ उसे भोग सामग्रियोंकी कमी नहीं थी, इच्छा होते ही मनोहर भोग्य पदार्थ उसकी सेवामें उपस्थित कर दिये जाते थे । उनमें उसका मन इतना आसक्त हो गया कि उसे यह भी पता नहीं रहा कि समय बीत रहा है । सच है मोह मानवकी मतिको शिथिल कर देता है ॥१७॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है । वह अपने राजमहलमें बैठा था । इतनेमें उसने आकाशसे गिरती हुई उल्का देखी । देखते ही उसे विषयोंसे विरक्त हो गयी । उसकी काललब्धि जो आ गयी थी । फलतः वह यों सोचने लगा—॥१८॥ मानव मात्रका जीवन और यौवन आदि सभी वस्तुएँ इसी उल्काकी तरह क्षणभङ्गुर हैं । फिर भी बाल-बच्चोंके मोहमें कैसे हुए मुख जैसे

१. अ जीवन् । २. = नाम । ३. आ 'गोता मितमिद्रा भार्या । ४. = येन । ५. = सामीप्यम् । ६. = यैः । ७. आ स चित्तवृत्ति । ८. आ यात् । ९. = शिथिलयति । १०. = अवानिकम् । ११. आ आयात् । १२. आ गम् । १३. अ जीवन्मयी । १४. जीवितं जीवनं यौवनं तारुण्यं चादि यस्य तत् ।

नगापगातोयतरङ्गलोलैर्विलोभ्यमानो विषयैर्धराकः ।  
 नारम्भदोषाग्मणयत्यनन्तदुःखप्रदाम्मोहचशेन जीवः ॥२०॥  
 क्षणक्षयिण्यायुषि मूढबुद्धिः स्थिराभिमानं यदि नैव कुर्यात् ।  
 न कर्मपाशैर्विषशीकृतात्मा योनिष्वनन्तासु सहेतु दुःखम् ॥२१॥  
 मुहुः प्रणष्टा मुहुरेव दृष्टाः समागमाः स्वप्नसमागमाभाः ।  
 विश्वासमुच्छस्यत एव विद्वांस तेषु संयोगनिबन्धनेषु ॥२२॥  
 या दुःखसाध्या चपला दुरन्ता यस्या वियोगो बहुदुःखहेतुः ।  
 तस्याः कृते जन्तुरपैति लक्ष्म्याः परिश्रमं पश्यत मोहमस्य ॥२३॥

पतनस्य समानमेव । तथापि । पुत्रकलत्रमूढः पुत्राश्च कलत्राणि च तेषु<sup>१</sup> मूढो मोहितः । मन्दबुद्धिः मन्द-  
 मतिः । अस्मादृशः वयमिव दृश्यते इति अस्मादृशः । 'त्यदाद्यन्य' इत्यादिना कट्-प्रत्ययः । न जानाति न  
 वेति । ज्ञा अवबोधने लट् । आक्षेपः (?) ॥१९॥ नमेति । नगापगातोयतरङ्गलोलैः नगे पर्वते समुत्पन्नाया-  
 आपगया नद्यास्तोयस्य सलिलस्य तरङ्गाः कल्लोलास्त इव लोलैश्चञ्चलैः<sup>२</sup> विषयैः पञ्चेन्द्रियगोचरैः ।  
 विलोभ्यमानः मुह्यमानः । वराकः<sup>३</sup> मूर्खः । जीवः प्राणी । अनन्तदुःखप्रदात् [दान्] अनन्तं निरवसानं दुःखं  
 प्रददातोत्यनन्तदुःखप्रदं तस्मात् [न्तान्] । आरम्भदोषान् आरम्भेभ्यः कृष्यादिभ्यः प्रभवपापानि<sup>४</sup> । मोहवशेन  
 अज्ञानवशेन । न गणयति । गण संख्याने लट् ॥२०॥ क्षणेति । मूढबुद्धिः मोहितमतिः । एषः अयं जीवः ।  
 क्षणक्षयिणि क्षणे क्षयिणि नाशनशोले । आयुषि जीविते । यदि स्थिराभिमानं नित्यमित्यभिमानम् । [न] कुर्यात्  
 न विधेयात् । कर्मपाशैः पापपाशैः । विषशीकृतात्मा विषशीकृतः परवशीकृत आत्मा स्वरूपं यस्य सः ।  
 अनन्तासु निरवसानानाम् । योनिषु उत्पत्तिस्थानेषु । दुःख [न] सहेतुं नानुभवत् । यद्दि<sup>५</sup> मर्पणे लिह ।  
 आक्षेपः (?) ॥२१॥ मुहुरिति । स्वप्नसमागमाभाः स्वप्नस्य समागमस्यागमनस्याभाः सद्भाः । समागमः  
 परिग्रहा, मुहः पुनः । प्रणष्ट विनष्ट । मुहुरेव पुनरेव । दृष्टाः दृश्यन्ते स्म दृष्टाः । अतएव एतस्मादेव ।  
 विद्वान् ज्ञानी । संयोगनिबन्धनेषु संयोगस्य कर्मबन्धस्य निबन्धनेषु कारणेषु । तेषु समागमेषु । विश्वासं  
 विस्मभम् । न ऋच्छति न गच्छति । ऋच्छ गतो लट् । उपमा ॥२२॥ वेति । या दुःखसाध्या दुःखेन महता  
 कष्टेन साध्या साधनीया । चपला चञ्चलरूपा । दुरन्ता दुःखावसाना । यस्याः वियोगः विगमः । बहुदुःखहेतुः  
 बहुर्दुःखस्य हेतुः कारणम् । तस्या लक्ष्म्या ऐश्वर्यस्य । कृते निमित्तम् । जन्तुः प्राणी । परिश्रमं प्रयासम् ।

मूर्खं नहीं समझते ॥१९॥ पाँच इन्द्रियोंके विषय पहाड़ी नदोंकी तरङ्गोंकी भाँति चञ्चल-  
 अस्थिर हैं, फिर भी उन्होंने बेचारे जीवोंको ऐसा लुभा लिया है कि वह उनके मोहमें फँसकर  
 खेती आदि नाना आरम्भ करता है, पर अनन्त दुःखोंको देनेवाले उनके दोषोंकी ओर कोई  
 ध्यान ही नहीं देता ॥२०॥ यदि यह मोहो जीव क्षणिक आयुमें स्थिरताका अभिमान न करता  
 तो इसे कर्म बन्धन विषय न कर पाते और न अनन्त योनियोंके दुःख भी भोगने पड़ते ॥२१॥  
 कञ्चन और कामिनी आदि प्रिय पदार्थोंका समागम स्वप्न समागम सरोखा क्षणिक है, जो  
 बार-बार दृष्टि गोचर होता है और बार-बार दृष्टिसे ओझल हो जाता है । यह समागम कर्म  
 बन्धनका कारण है । इसीलिए बुद्धिमान् मनुष्य इसपर विश्वास नहीं करता ॥२२॥ जो लक्ष्मी  
 बड़े दुःखोंसे कमाई जाती है; जो चञ्चल है; जो बुरा फल देने वाली है और जिसका वियोग  
 अनेक दुःखोंका कारण है, उसके लिए यह मनुष्य कितना परिश्रम करता है । इसके मोहको

१. आ क्ष स पुत्रमित्रकलत्रमूढः पुत्रश्च मित्रं च कलत्रं च पुत्रमित्रकलत्राणि तेषु । २. लोलाश्च-  
 ञ्चलाः, तैः । ३. दीनः । ४. प्रभवानि पापानि । ५. क्ष स सह । ६. क्ष स 'पुनः' इति नोपलभ्यते ।  
 ७. क्ष स प्रणष्टः ।

विहाय वे निर्वृतिमव्यपायां बहुव्यपायां वृणुते विभूतिम् ।  
 हित्वा हिमं ते शुचिचन्दनाम्नः पिबन्त्यपो मूढधियः सपङ्काः ॥२४॥  
 ममेवमस्याहमिति प्रहेण प्रस्तो वराकः कथमेव जन्तुः ।  
 अणुप्रमाणस्य सुखस्य हेतोर्दुःखं गिरीन्द्रोपममभ्युपैति ॥२५॥  
 न काकतालीयमिदं कथंचित्कृशस्त्यानमानुषजन्म लब्ध्वा ।  
 युक्तः प्रमादः स्वहिते विधातुं संसारवृत्तान्तविदा नरेण ॥२६॥  
 इति प्रजानामधिपः स्वचिप्ते विचिन्तयन्संस्तुतिफलमुपाधम् ।  
 जगाम वैराग्यमपेतरागो बुद्धेः फलं ह्यारमहितप्रवृत्तिः ॥२७॥

उपैति प्राप्नोति । अस्य जीवस्य । मोहम् अज्ञानम् । पश्यत वीराध्वम् । वृषि प्रेक्षणे लोट् । 'पा घ्रा—'  
 हत्यादिना पथ्य अदेशः । आक्षेपः (?) ॥२३॥ विहायेति । ये पुरुषाः । अव्यपायां व्यपायरहिताम् । निर्वृतिं  
 मुक्तिम् । विहाय विहानं पूर्व० त्यक्त्वा । बहुव्यपायां बहुवर्गेको व्यपायो बाधा यस्यास्ताम् । विभूतिम्  
 ऐश्वर्यम् । वृणुते गृह्णन्ति । ते मूढधियः अज्ञानिनः । हिमं शीतलम् । गुवि निर्मलम् । चन्दनाम्नः चन्दनेन  
 श्रीगन्धेन मिश्रमम्नो जलम् । हित्वा त्यक्त्वा । सपङ्काः सक्रवमाः । अम्भः जलानि । पिबन्ति पान  
 कुर्वन्ति । आक्षेपः (निदर्शना) ॥२४॥ ममेति । मम इदं मे एतत् । अस्य एतस्य शरीरादे अहमिति प्रहेण  
 अभिमानेन । प्रस्तः पीडितः । वराकः मूर्खः । एष अयम् । जन्तुः जीवः । अणुप्रमाणस्य अणुप्रमाणयुक्तस्य ।  
 सुखस्य ह्लादनस्य । हेतोः निमित्तम् । गिरीन्द्रोपमं गिरीणां पर्वतानामिन्द्रस्य मेरोः उपमं समानम् ।  
 दुःखमभ्युपैति प्रयाति । इण् गतो लट् । आक्षेपः (?) ॥२५॥ नेति । क्लेशशब्दात् कर्मक्षयात् । काकतालीयं  
 काकतालस्य समानम् । इदम् एतत् । मानुषजन्म मनुष्यस्येदं मानुष तच्च तज्जन्म च । कथंचित् येन केन  
 प्रकारेण । लब्ध्वा प्राप्य । संसारवृत्तान्तविदा संसारस्य चतुर्गतिभ्रमणस्वरूपं वृत्तान्तं स्वरूपं वेत्तीति  
 तद्योक्तस्तेन । नरेण पुरुषेण । स्वहिते स्वस्य आत्मनो हिते । प्रमादः अनवधानता । विधातुं समाचरितुम् ।  
 युक्तः योग्यः । न न भवति ॥२६॥ ह्यौक्तिः । प्रजानां जनानाम् । अधिपः प्रभुः औपेयः । अपेतराग  
 अपेक्षो व्यपगतो रागो यस्य स । इति उक्तप्रकारेण । समृतिफणुभाव संयुते संसारस्य फलो  
 निःसारस्य भावं स्वरूपम् । स्वचित्ते मानसे । विचिन्तयन् ध्यायन् । वैराग्यं विरागत्वम् । जगाम

तो देखा ! ॥२३॥ मुक्तिं नित्य है और है निर्विघ्न—मुक्ति मिल भर जाय, फिर कभी वह  
 नष्ट नहीं होती और न वहाँ किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ हो जाती हैं । किन्तु लक्ष्मी उससे  
 बिलकुल उल्टी है—प्राप्त होकर खर्च हो जाती, नष्ट हो जाती है और यदि किसी तरह रह  
 भी जाती है तो उसमें अनेक विघ्न-बाधाएँ आती रहती हैं । जो लोग मुक्ति और लक्ष्मी-विभूति  
 इन दोनोंमेंसे विभूतिको पसन्द करते हैं, उनकी बुद्धिकी बलिहारी है—वे निरर्थक हैं, और  
 वे चन्दन मिश्रित, ठण्डे, पवित्र और निर्मल जलको छोड़कर कोचड़ सहित ( गन्दा नालीका )  
 जल पीते हैं ॥२४॥ 'यह मेरा है' और 'मे इसका हूँ' यह ग्रह इस बेचारे प्राणीको कैसे लग  
 गया है ? इस ग्रहके लग जानेसे यह प्राणी जरा भर मुखके पोछे सुमेरूके समान बड़े-से-बड़े  
 दुःखको भोगता है ॥२५॥ यह मानव जन्म बड़े क्लेश भोगनेके बाद कर्मादयके मन्द होनेपर  
 किसी तरह काकतालीय न्यायसे प्राप्त हुआ है । अतः संसारके प्रकरणको जाननेवाले मनुष्यको  
 अपने हितमें आलस करना उचित नहीं ॥२६॥ इस प्रकार संसारको असारताको मन-ही-मन

१. म यारम् । २. आ प्रतावेव 'बाधा' इति दृश्यते । ३. आ श स आपः । ४. आ प्रतावेव 'मे'  
 इत्युपलभ्यते । ५. आ यो हि यो । ६. = उपमा साम्यं यस्य तत् । ७. श स मानु । ८. श स वृत्तान्तः ।  
 ९. श स अशीतो । १०. निःसारताम् ।

अन्येष्टुराहूय युवेशमोशः कृतप्रणामाञ्जलिमित्युवाच ।  
 मन्दीभवत्प्रेमरसानुबन्धां तदीयवक्त्रे विनिवेश्य दृष्टिम् ॥२८॥  
 वात्येव यावन्न वपुःकुटीरमेतज्जरा जर्जरयत्युपेत्य ।  
 प्रवर्धमानं तिमिरं विहन्तुं यावन्न वा दर्शनशक्तिमोष्टे ॥२९॥  
 यावन्न तीर्थोपगमप्रवीणौ पादौ निजप्रस्फुरणं जहौतः ।  
 कालेन यावद्भजतेऽवसादं न च श्रुतिधर्मकथावसक्ता ॥३०॥  
 वयोनुरूपेण विवर्धमानो यावत्स्मृतिं भ्रंशयते न मोहः ।  
 यावच्च शास्त्राध्ययनप्रवीणा प्रवर्तते प्रस्खलितुं न बाणो ॥३१॥

ययौ । गम्लु गतौ लिट् । आत्महितप्रवृत्तिः<sup>१</sup> । आत्मनः स्वरूपस्य हिते उपकारके मार्गे प्रवृत्तिर्वर्त्तनम् ।  
 बुद्धेः ज्ञानस्य । फलं हि निष्पत्तिर्हि । अर्थात्तरन्वासः ॥२७॥ अन्येष्टुरिति । ईशः प्रभुः । अन्येष्टुः  
 एकस्मिन् दिने । 'पूर्वापर—' इत्यादिना एष्टुस् प्रत्ययः । युवेशं युवराजम् । आहूय आकारयित्वा ।  
 मन्दीभवत्प्रेमरसानुबन्धा प्रागमन्द हृदानीं मन्दो भवतीति मन्दीभवन् प्रेम्णो रसस्तस्यानुबन्धः संबन्धः,  
 मन्दीभवन् प्रेमरसानुबन्धो यस्याः ताम् । दृष्टिं लोचनम् । तदीयवक्त्रे तदीये श्रोत्रमर्मबन्धिनि वक्त्रे मुखे ।  
 विनिवेश्य स्थापयित्वा । कृतप्रणामाञ्जलिं कृतो विरचितः प्रणामस्याञ्जलियेन तम् । वक्ष्यमाणप्रकारेण ।  
 उवाच जगाद । ब्रह्म व्यक्ताया वाचि लिट् ॥२८॥ वात्येति । कुटीरं तृणगृहम् । वात्येव वातानां समूह इव ।  
 'पाशादेश्वयः' इति समूहे य-प्रत्ययः । 'वात्या वातस्तु मुञ्चति' इत्यभिधानात् । एतत् इदम् । वपुः शरीरम् ।  
 जरा वार्धक्यम् । उपेन्य आगत्य । यावत् यावत्पर्यन्तम् । न जर्जरयति न विनाशयति । प्रवर्धमानम् एष-  
 मानम् । तिमिरं नेत्रदोषं (प) । यावत् दर्शनशक्तिं दर्शनयोर्नयनयोः शक्तिं सामर्थ्यम्<sup>२</sup> । विहन्तुं विनाशयि-  
 तुम् । न ईष्टे न समर्थं मञ्जति । ईशि ऐष्वर्यं लट् । उपमा ॥२९॥ वाचदिति । तीर्थोपगमप्रवीणो तीर्थस्य  
 पवित्रस्थानस्योपगमे गमने प्रवीणो समर्थो । पादौ चरणौ । निजप्रस्फुरणं निजयोः प्रस्फुरणं सामर्थ्यम् ।  
 यावत् पर्यन्तम् । न जहौत न त्यजत । यावत् धर्मकथावसक्ता धर्मस्य कथायामवसक्ता सक्ता । श्रुतिः  
 श्रोत्रेन्द्रियम् । कालेन वयोधर्मणः । अवसादं बधिरत्वम् । न च भजते न याति । भज सेवायां लट् ॥३०॥  
 वय इति । वयोनुरूपेण वयसो वयोधर्मस्यानुरूपेणानुवर्त्तनेन । वर्धमानः एषमानः । मोहः अज्ञानम् । यावत्  
 स्मृतिं सम्यग्ज्ञानम् । न भ्रंशयते न नाशयति । शास्त्राध्ययनप्रवीणा शास्त्रस्यागमस्याध्ययने प्रवीणा समर्था ।

सोचते हुए राजा श्रीवेणको वैराग्य हो गया । फलतः विषयोंमें उसे जो राग रहा, वह अब  
 नहीं रहा । आत्महितमें प्रवृत्ति करना ही तो बुद्धिका फल है ॥२७॥ अगले दिन राजा श्रीवेण-  
 ने युवराजको बुलाया । वह शोघ्र ही उपस्थित हुआ, और उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ा  
 हो गया । राजा उसके चेहरेपर दृष्टि—जिसमें प्रीतिका रस बिलकुल ही कम था अर्थात् जो  
 प्रीतिसे सनी हुई नहीं थी—डालकर यों बोला—॥२८॥ जिस प्रकार आँधी, फूसकी झोपड़ीको  
 झकझोर डालती है, उसी प्रकार मेरे इस शरीरको जबतक वृद्धावस्था आकर नहीं झकझोरती और  
 जबतक बढ़ता हुआ तिमिर-नेत्ररोग मेरी देखनेकी शक्तिको नष्ट नहीं कर पाता ॥२९॥ तीर्थ  
 यात्रा करनेमें प्रवीण मेरे ये पैर जबतक अपने गमन-सामर्थ्यको नहीं छोड़ते और धर्म-कथाओंके  
 श्रवणमें संलग्न मेरे ये कान जबतक कालके प्रभावसे बधिर नहीं होते ॥३०॥ आयुके अनुसार  
 क्रमसे बढ़ता हुआ मोह जबतक मेरी स्मरण-शक्तिको नष्ट नहीं करता और शास्त्रोंके पढ़नेमें

१. अ सुवेच<sup>१</sup> । २. आ 'हितमार्गे' या । ३. आ सामर्थ्यतरम् । ४. यावत् पर्यन्तम् ।  
 ५. स्मरणं वा ।

तावद्भवान्मोक्षयितुं प्रयत्नादात्मानमिच्छाम्यसुखानलातम् ।  
 जिनेन्द्रदीक्षाविधिनात्र कार्यं त्वया न भाव्यं परिपन्थिना मे ॥३२॥  
 पुरैव संसारपरम्पराया हेतोः श्रियश्चिच्छमपेतमेव ।  
 अपेक्षमाणोऽनुदिनं त्वदीयमेवोदयं राज्यपदेऽवतिष्ठे ॥३३॥  
 भवानपास्तव्यसतो निजिन धाम्नाधिभयार्दमिमामिदानीम् ।  
 महीमशेषामपहस्तितारिषर्गोदयः पालयतु प्रशान्तः ॥३४॥  
 यथा भवत्यभ्युदिते जनोऽयमानन्दमायाति निरस्तखेदः ।  
 सहस्ररश्माधि चक्रवाको वृत्तं तद्देवावर चारचक्षुः ॥३५॥

वाणी वचनम् । यावच्च प्रस्खलितुं<sup>१</sup> । न प्रवर्तते । वृत्तं वर्तते लट् ॥३१॥ तावदिति । तावत् । असुखा-  
 नलातम् असुखमेव दुःखमेवानलोऽग्निस्तेनातं पीडितम् । आत्मानं जीवम् । जिनेन्द्रदीक्षाविधिना जिनेन्द्र-  
 दीक्षाविधानेन । भवात् संसारान् । मोक्षयितुं निवारयितुम् । प्रयत्नात् । इच्छामि वाञ्छामि । मे मम । अत्र  
 कार्यं कृत्ये<sup>२</sup> । परिपन्थिनां शत्रुणा । त्वया भवता । न भाव्यं न भवितुं योग्यम् ॥३२॥ पुरेति । संसार-  
 परम्परायाः संसारस्य परम्परायाः प्रवाहस्य । हेतोः कारणभूतायाः । श्रियः सम्पद सकाशात् । पुरैव प्रागेव ।  
 चित्तं मनः । अपेतमेव अपगतमेव<sup>३</sup> । अनुदिनं प्रतिदिनम् । त्वदीयमेव तव सम्बन्धमेव<sup>४</sup> । उदयम् ।  
 ऐश्वर्यम् । अपेक्षमाणः वाञ्छन्लभम् । राज्यपदे राज्यपदव्याप्तम् । अवतिष्ठे तिष्ठामि । छा गतिनिवृत्ती लट् ॥३३॥  
 भवानिति । अपास्तव्यसतः अपास्तं निराकृतं व्यसनं येन सः । अपहस्तितारिषर्गोदयः अपहस्तितो निरस्तोऽरीणा  
 र्गर्गस्योदय उदरति रस्य ( येन ) सः । प्रशान्तं प्रशमनान् । भवान् त्वम् । निजेन स्वकीयेन । धाम्ना  
 तेजसा । इदानीम् अद्य । इमाम् एताम् । अशेषा समस्ताम् । मही भूमिम् । अधिभयार्दमं अधिभवेन समृद्ध एव  
 मर्यादा यस्मिन् कर्मणि तत् ( तथा ) । पालयतु रक्षेत्यर्थः । अवच्छिन्नयोगे प्रथमं पुरुषः ॥३४॥ व्यति । भवति  
 त्वयि । अभ्युदिते सति अभ्युदययुक्ते सति । निरस्तखेदः तिरस्कृतखेदः । अयम् एवः । जनः लोकः । सहस्ररश्मो

प्रवीण मेरी वाणी जबतक स्खलित नहीं होती । ॥३१॥ तब तक मैं दिग्गम्बर दीक्षा लेकर  
 दुःखाग्निमें झुलसती हुई अपनी पीड़ित आत्माको पूरे प्रयत्नसे इस जगत्से मुक्त कराना चाहता  
 हूँ । मेरे इस कार्यमें तुम विरोध नहीं करना—मेने आत्माकल्याणका निश्चय कर लिया है,  
 अतः इस पवित्र कार्यमें तुम्हे मेरा विरोधी नहीं होना चाहिए ॥३२॥ यह राज्य-लक्ष्मी संसार-  
 की परम्पराका कारण है । इससे मेरा मन पहलेसे ही ऊँचा हुआ है । मैं कभीका चला गया  
 होता । किन्तु तुम नाबालिग रहे, अतः प्रति दिन मैं तुम्हारे अभ्युदयकी अपेक्षामें रहा—“तुम  
 राज्य-भार समालने योग्य हो जाओ, तो मैं जाऊँ, बस इसी प्रतीक्षामें मैं अबतक राजगद्दीपर  
 बैठा रहा ॥३३॥ तुम अने तेजसे समुद्र पर्यन्त इस समूची पृथ्वीका पालन करना । देखो,  
 कभी किसी व्यसनमें नहीं फँसना; प्रजाके ऊपर कोई सङ्कट आये तो उसका शीघ्र ही प्रतिकार  
 करना; सदा शान्त रहना—प्रथम गुणको धारण करना और शत्रुओंको गुटबन्दी नहीं करने  
 देना—गुटबन्दी करनेवाले शत्रुओंको सिर नहीं उठाने देना ॥३४॥ जिस प्रकार सूर्योदय  
 होनेपर चक्रवेका प्रियाविरहका सारा खेद दूर हो जाता है और उसे बहुत आनन्द होता है,  
 इसी प्रकार तुम्हारे अभ्युदयसे प्रजा-जनोंको आनन्दका अनुभव हो और उन्हें कभी तनिक भी  
 खेद न हो, ऐसा व्यवहार करना । यों सारी प्रजाके कष्टका स्वयं पता लगाना कठिन है,

१. आ इ 'कुलकम्' इत्यपि दृश्यते । २. प्रस्खलनं लब्धम् । ३. आ वर्तनकृत्ये । ४. प्रतिबन्धकेन ।  
 ५. वा स अपेतमिव अपगतमिव । ६. वा स त्वदीयमिव तव संबन्धमिव ।

वाञ्छन्विभूतीः परमप्रभावाः मोदोविजस्त्वं जनमात्मनीनम् ।  
 जनानुरागं प्रथमं हि तासां निबन्धनं नीतिविदो वदन्ति ॥३६॥  
 समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात्संपदां निर्व्यसनत्वमस्य ।  
 वश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन्नवश्ये व्यसनं गरीयः ॥३७॥  
 विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम् ।  
 गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥३८॥

सूर्ये । [ चक्रवाक इव ] चक्रवाको रथाङ्गः पक्षिविशेषः, स इव । यथा येन प्रकारेण । आनन्दं संतोषम् ।  
 आयाति गच्छाति । या प्रायणे लट् । तपैव ( तेनैव प्रकारेण ) । चारचक्षुः चारा गूढपुष्पा एव चक्षुषी यस्य  
 ( सः ) तपोवतः । वृत्तं चरित्रम्<sup>१</sup> । आचर प्रवर्त्तस्व । उपमा रूपकं च ॥३५॥ वाञ्छन्विति । परमप्रभावाः  
 परमः प्रभावो यासां ताः । विभूतीः ऐश्वर्याणि । वाञ्छन् इच्छन् । त्वम् । आत्मनीनम् आत्महितम् ।  
 'भोगोत्तरपदात्मन्या खः' इति हितायै खः । जनं लोकम् । मोदोविजः मा पीडय । व्यज व्याजीकरणे निज-  
 न्ताल्लङ् । 'गेरिषत—' इति णि-लुक् । 'कं श्रित—' इत्यादिना जिः, तद्योगे 'द्विधातुः—' इत्यादिना द्विः ।  
 जनेषु प्रजाम् । विहितम् अनुरागं प्रीतिम् । तासां संपदाम् । प्रथमं मुख्यम् । निबन्धनं कारणम् । इति  
 नीतिविदः नीतिशास्त्रज्ञाः । वदन्ति ब्रुवन्ति । वद व्यक्ताया वाचि लट् ॥३६॥ समागम इति । निर्व्यसनस्य  
 व्यसनरहितस्य । राज्ञः क्षितिपतेः । संपत्तीनां संपदाम् । समागमः आगमनं । स्यात् भवेत् । अस भुवि लिङ् ।  
 स्वकीये स्वसद्विधिनि<sup>३</sup> । परिवारे परिजने । वश्ये वंशगते सति । 'वश्यपध्य—' इत्यादिना य-प्रत्ययान्तो  
 निपातः । अस्य राज्ञः । निर्व्यसनत्वं व्यसनरहितत्वं भवेत् । तस्मिन्नेव परिवार एव । अवश्ये अवशं गते सति ।  
 गरीयः महत् । व्यसनं विपद् भवेत् । परिवारे वंश गते राज्ञो निर्व्यसनत्वमेवमर्थं च जायते, तदभावे राज्ञो  
 व्यसनं विपज्जायते, इत्यर्थः ॥३७॥ विधित्सुरिति । तत् तस्मात्कारणात् । एवं तव वंशगतम् (एन परिवारम्)  
 आत्मवश्यम् आत्माधीनम् । विधित्सुः कर्तुमिच्छुः । 'कर्म्येक—' इत्यादिना सन्, 'घुमीमा—' इत्यादिना भिम्,  
 'सन्निधा—' इत्यादिना उ-प्रत्ययः । कृतज्ञतायाः उपकारस्मरणत्वस्य । पार तीरम् । समुपैहि<sup>४</sup> गच्छ ।  
 इण् गतो लोट् । अपरैः अन्यैः गुणैः सद्भिः । उपेतः युक्तः । कृतघ्नः उपकारनाशकः । समस्तं सकलम् । लोकं

किन्तु गुप्तचरोंकी सहायतासे उस ( कष्ट ) का पता लगाकर शीघ्र ही उसका निवारण करते  
 रहना । दूरकी स्थिति देखनेके लिए तुम गुप्तचरोंकी ही अपनी चक्षु समझना ॥३५॥ दूसरोंपर  
 उत्कृष्ट प्रभाव डालनेवाली विभूतिको चाहते हुए तुम अपने किसी हितैषीको पीडा नही देना;  
 क्योंकि राजनीति जाननेवाले विद्वान् यह कहते हैं कि 'लोगोंसे अनुराग करना और उनका  
 अनुराग प्राप्त करना ही विभूतिका मुख्य कारण है ।' ॥३६॥ सम्पदाओंका समागम उस  
 राजाको होता है, जो विपदाओंसे मुक्त हो, और वह राजा विपदाओंसे मुक्त होता है, जिसका  
 परिवार अपने वशमें हो । यदि अपना परिवार राजाके वशमें न हो, तो उसे बड़ी-बड़ी विपदाएँ  
 आ घेरती हैं ॥३७॥ अतः यदि तुम अपने परिवारको वशमें रखना चाहते हो, तो कृतज्ञताका  
 पूरा परिपालन करना । क्योंकि अन्य अनेक गुणोंसे युक्त होकर भी जो कृतघ्न होता है—  
 दूसरोंका उपकार नही मानता है, वह निश्चय ही सारे संसारको उद्विग्न कर देता है ॥३८॥

१. स स चक्षुषि । २. आ 'वृत्तं चरित्रम्' इति नास्ति । ३. आ 'संबन्धे' । ४. स  
 ख 'पैहि' ।



धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं स्वमर्थकामौ कलिदोषमुक्तः ।  
 युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितोऽथ ॥३६॥  
 वृद्धानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विधेहि प्रहृतप्रमादः ।  
 विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः ॥४०॥  
 निगृह्यतो बाधकरान्प्रजानां भृत्यास्ततोऽग्यान्नयतोऽभिवृद्धिम् ।  
 कीर्तिस्तथाशेषदिगन्तराणि व्याप्नोति बन्दिस्तुनकीर्तनस्य ॥४१॥  
 कुर्याः सदा संवृतचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजेहितानि ।  
 गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रमेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥४२॥

जनम् । उद्वेगयेत्<sup>१</sup> हि सतजयति हि । गृज ग्राजोकरणे लट् ॥३८॥ धर्मेति । कलिदोषमुक्तः कलिरन्यायः स एव दोषः पापाचारस्तेन मुक्तस्त्यक्तः । त्वं भवान् । धर्माविरोधेन धर्मस्याविरोधेन प्रतिकूलाभावेन ( आनुकूल्येन ) अर्थकामौ अर्थश्च कामश्च तौ । वृद्धिं समृद्धिम्<sup>२</sup> । नयस्व प्रापय । गौर् प्राणे लोट्<sup>३</sup>, टिकर्मकः । गुरुणा उपायेन । त्रिवर्गं त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गम् । निषेवमाणः भजमान । क्षितोऽथ भूमिः । लोकद्वयम् इहलोकपरलोकद्वयम् ( इह लोकं परलोकं च ) । साधयति स्वसात्करोति । राघ साध ससिद्धौ लट् ॥३९॥ वृद्धेति । वृद्धानुमत्या वृद्धानां मन्त्रपुरोहितानाम् । अनुमत्या संमत्या । सकलं निश्चिन्तम् । स्वकार्यं स्वस्य कार्यम् । प्रहृतप्रमादः प्रहृतो नष्ट प्रमादो यस्य सः । सदा सर्वदा । विवेहिं कुरु । गुरुणा उपाध्यायेन, पक्षे वृहस्पतिना । नित्यम् अनवरतम् । विनीयमानः शिक्षमाणः । नरेन्द्रः क्षितोन्द्रः । सुरेन्द्रलोला सुरेन्द्रस्य देवेन्द्रस्य लीलां शोभाम् । लभते प्राप्नोति । लुलभिष प्राप्नोति लट् । श्लेषः ॥४०॥ निगृह्णेति । प्रजानां जनानाम् बाधकरान्<sup>४</sup> पीडां कुर्वतः । भृत्यान् सेवकजनान् । निगृह्णतः निग्रहं कुर्वतः । ततः बाधाकरभृद्भ्यः ( बाधकरभृत्येभ्यः ) । अन्यान् अनुकूलान् । अभिवृद्धिं समृद्धिम् । नयतः नयमानस्य । बन्दिस्तुनकीर्तनेन बन्दिभिः पाठकैः स्तुतेन तुनैः कीर्तनेन<sup>५</sup> । तव ते । कीर्तिः गुणस्तुतिः । अशेषदिगन्तराणि अशेषाणां सर्वासां दिशामन्तराण्यवसानानि । व्याप्नोति प्रयाति<sup>६</sup> । आप्लु व्याप्नोति लट् । अतिगयोक्तिः ॥४१॥ कुर्यां हति । संवृतचित्तवृत्तिं संवृतां आच्छादिना चित्तस्य मानस्य वृत्तिं ग्राह्यतो येन सः । फलानुमेयानि फलेन कार्यणा-नुमेयानि कठिन्तु योग्यानि निजेन स्वेन<sup>७</sup> ईहितानि चेष्टितानि । सदा अनवरतम् । कुप्य<sup>८</sup> । गूढात्ममन्त्रः

तुम कलिकालके दोष-पापाचरणसे दूर रहना और धर्मकी अनुकूलता पूर्वक अर्थ और काम पुरुषार्थकी वृद्धि करना । युक्तिपूर्वक धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सेवन करने-वाला राजा दोनों लोकोंको साध लेता है ॥३९॥ वयोवृद्ध मन्त्री और पुरोहितीसे अनुमति लेकर ही तुम सदा अपने सब काम करना । उन कामोंमें आलस कामी नहीं करना । वयोकि सदा गुरुजनोकी शिक्षा पानेवाला नरेन्द्र, वृहस्पतिसे शिक्षा पानेवाले सुरेन्द्रको शोभाको प्राप्त कर लेता है ॥४०॥ तुम अपने उन कर्मचारियोंको दण्ड देते रहना, जो प्रजाको पीड़ा दें और उन कर्मचारियोंको बड़ावा देते रहना, जो प्रजाको पीड़ा न होने दें । इसका परिणाम यह होगा कि चारण लोग तुम्हारा गुणगान करेंगे, जिससे तुम्हारी कीर्ति समस्त दिशाओं और विदिशाओंमें फैल जायगी ॥४१॥ तुम अपने विचारोंको सदा गुप्त रखना, और जिन कार्योंको तुम करना चाहो, उनका किसीको पहलेसे पता नही लगने देना । कार्योंकी समाप्ति होनेके

१. आ आ ह क ख ग घ म व्याप्नोतु । २. आ जयति । ३. आ प्रतावेव 'समुद्धि' इति पदं दृश्यते । ४. आ लिट् । ५. आ प्रतावेव 'स्वस्य कार्यम्' इति समुपलभ्यते । ६. आ श स<sup>३</sup> धाकारान् । ७. गुणवर्णनेन । ८. व्याप्नोतु प्रयातु । ९. आ प्रतावेव 'संवृता' इत्युपलभ्यते । १०. निजस्य स्वस्य । ११. विधेहि ।

तेजस्विनः पूरयतोऽखिलाशा भूभृच्छिरःशेखरतां गतस्य ।  
 दिनाधिपस्येव तवापि भूयात्करमपातो भुवि निर्विबन्धः ॥४३॥  
 इति त्रितीयः सह शिष्यासौ विश्राणयामास सुताय लक्ष्मोम् ।  
 सोऽपि प्रतः ॥ गुरुपरोधात्पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः ॥४४॥  
 ततः स ॥ पितराज्यभारः पृष्ठाखिलाज्ञातिरपास्तसङ्गः ।  
 तप्त्वा तपः श्रीप्रभपादमूले समासवृत्तिस्त्रिवधवरत्वम् ॥४५॥

गूढो व्यवहित आत्मनः स्वस्य मन्त्रो गुप्तभाषणं येन ( यस्य ) सः । परमन्त्रभेदी परेषां शत्रूणां मन्त्रभेदी मन्त्रालोचननिवारकः<sup>१</sup> । पुरुषः पुमान् । परेषां शत्रूणां । अगम्यः अभेद्यः । भवति । भू सत्ताया लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥४२॥ तेजस्वीति<sup>२</sup> । तेजस्विनः प्रतापवतः, पक्षे कान्तिमतः । अखिलाशाः अखिलानां समस्तानामाशा बाञ्छाः, पक्षे दिशः । पूरयतः संपूर्णाः कुर्वत, पक्षे व्याप्नुवतः । भूभृच्छिर शेखरतां भूपतीनां शिरसां मस्तकानां शेखरतां ललामतां, पक्षे गिरीणां शिरसां शिखराणामलङ्कारताम् । गतस्य यातस्य । दिनाधिपस्येव सूर्यस्येव । तवापि भवतोऽपि । करप्रपातः करस्य भागधेयस्य प्रपातो लाभः, पक्षे करस्य किरणस्य [ करणा किरणानां ] प्रपतनम् । भुवि लोके । निर्विबन्धः अनिवार्यः । भूयात् भवेत् । भू सत्तायां लिङ् । श्लेषोपमा ॥४३॥ इतीति । असौ त्रितीयः श्रीवेणमहीवति । इति<sup>३</sup> प्रोक्तप्रकारेण । शिष्या उपदेशेन । सह साकम् । सुताय श्रीवर्मणे । लक्ष्मो साम्राज्यसम्पत्तिम् । विश्राणयामास ददौ । श्रणं दाने लिट् । सोऽपि श्रीवर्मपि । गुरुपरोधात् गुरोर्महत ( पितुर्वा ) उपरोधात् प्रार्थनान् । प्रतीयथ अङ्गीकरोतिस्म । इयु इच्छायां लिट् । सुपुत्रः सन्पुत्रः । पितुः जनकस्य । [ हि निश्चयेन ] । अनुकूलवृत्तिर्हि अनुकूला वृत्तिर्वर्तनं यस्य सः । अर्थान्तरन्यासः ॥४४॥ तत इति । ततः पश्चात् । पुत्रापितराज्यभारः पुत्रे तनयेऽपितः स्वापितो राज्यस्य भारो येन सः । पृष्ठाखिलाज्ञातिः पृष्ठाः प्राणिता अखिला ज्ञातयो बन्धवो येन सः । अपास्तसङ्गः अपास्तो निराकृतः सङ्गो येन सः । सः श्रीवेणः । श्रीप्रभपादमूले श्रीप्रभस्य श्रीप्रभाचार्यस्य पादमूले पाद-समीपे । तपः बाह्याभ्यन्तरतपः । तप्त्वा<sup>४</sup> संतप्य सिद्धिबधूवरत्वं सिद्धिरेव मुक्तिरेव बधूस्तस्या वरत्वम्<sup>५</sup> ।

पश्चात् फलको देखकर लोग उसका केवल अनुमान ही लगा सकें, इसका ध्यान रखना; क्योंकि जो मनुष्य अपनी मन्त्रणाको गुप्त रखता है और दूसरोंकी गुप्त मन्त्रणाको प्रकट कर लेता है, वह अपने शत्रुओंके लिए अजेय होता है ॥४२॥ जिस प्रकार तेजस्वी, सभी दिशाओंको अपने प्रकाशसे भरनेवाला और पर्वतोंके शिखरोंपर पहुँचकर उनके शिरोभूषणकी स्थितिको प्राप्त करनेवाला सूर्य सारे भूमण्डलपर अपनी किरणोंको निर्विरोध रूपसे फैला देता है, इसी प्रकार तुम तेजस्वी बने रहना, सबकी आशाओंकी पूर्ति करना और सभी राजाओंके सिर-मौर होना, जिससे सारे भूमण्डलपर निर्विरोध रीतिसे तुम्हारी टेक्स वसूल करनेकी सुव्यवस्था हो ॥४३॥ राजा श्रीवेणने अपने पुत्र श्रीवर्माको इस प्रकारकी शिक्षाके साथ राजलक्ष्मी समर्पित कर दी । पिताके अनुरोधसे पुत्रने भी उसे स्वीकार कर लिया । सुपुत्र वही है जो पिताके अनुकूल व्यवहार करे ॥४४॥ पुत्रको राज्यका भार समर्पित करके श्रीवेणने गोत्रके सभी लोगोंसे दीक्षाकी अनुमति ली और फिर मुनिराज श्रीप्रभके समक्ष समस्त परिग्रहको त्यागकर दिगम्बर दीक्षा ग्रहण की । इसके पश्चात् उन्हीं मुनिराजके चरणोंके निकट रहकर उसने तपस्या की ।

१. अ. पृष्ठ्वाखिलाज्ञातिमया । २. मन्त्रस्फोटको वा । ३. तेजस्विन इति ४. = पूर्वोक्त । ५. वा स अणु । ६. आग्रहात् । ७. तपो विधाय । ८. वा अवतरत्वम् ।

श्रीवर्मराजोऽपि पितृर्वियोगाद्दिनानि भूत्वा कतिचित्सशोकः ।  
 संबोधितो मन्त्रिसुहृत्समूहैर्विनिर्धेयो साधयितुं धरित्रीम् ॥४६॥  
 विधाय मौलं बलमात्ममूले स नीतिमानाटविकं बहिःस्थम् ।  
 मध्ये च सामन्तबलं बलीयश्चचाल 'चूडामणिभासिताशः ॥४७॥  
 समुच्चलत्तस्य तुरङ्गमोत्थं सेनारजो रासभरोमधूध्रम् ।  
 परं विशामेव मलीमसानि नास्यानि चक्रे रिपुयोपितां च ॥४८॥

सामादत्तं अगच्छत् । 'यदलं विशरणगत्यवसादनेषु लुङ्' ॥४५॥ श्रीवर्मति । श्रीवर्मराजोऽपि श्रीवर्मभूपोऽ-  
 पि । पितुः जनकस्य । वियोगात् विगमात् । कतिचित् कियन्ति । दिनानि अहानि पर्यन्तम् । 'कालाध्वनोऽध्याप्ती'  
 इति व्याप्यर्थे द्वितीया । सशोक दुःखसहितः । भूत्वा भवनं पूर्वम् । मन्त्रिसुहृत्सहायैः मन्त्रिणा सचिवाभिः  
 सुहृद्भिः मित्राणां सहायैर्निबहैः । संबोधितः सम्यग् बोधितः सन् । धरित्री भूमिम् । साधयितुं साधनाय ।  
 विनिर्धेयो निर्जगाम । या प्राप्ते लिट् ॥४६॥ विधायेति । नीतिमान् नीतिशास्त्रवान् । सः श्रीवर्मा ।  
 आत्ममूले आत्मनः स्वस्य मूले समीपे । मौल क्रमादागतम् । बलं मन्त्रिपुरोहितसेनापतिदुर्गाधिकारिकर्माधि-  
 कारिकोशागारिकदेवज्ञ इति सप्तविधं मौलं बलम् । विधाय कृत्वा । आटविकं शबरबलम् । बहिःस्थं  
 बहिःस्थितम् । विधाय । मध्ये च अन्तराले । बलीयः बलिष्ठम् । सामन्तबल राज्ञां बलम् । विधाय ।  
 चूडामणिभासिताशः चूडामणिना चूडारत्नेन भासिताः प्रकाशिता आशा दिशो येनैव । सन् । चचाल  
 बगाम । चल कम्पने लिट् । दीपकम् ॥४७॥ समुच्चलत् । समुच्चलत् उद्गच्छत् । तुरङ्गमोत्थं  
 तुरङ्गमेः 'अश्वैर्गदयमुत्थितम्' । रासभरोमधूध्रं रासभस्य गर्दभस्य रोमवद् धूध्रं कुण्डम् । कृष्णाधिकलोहितं  
 धूध्रमिति नाम । तस्य श्रीवर्मणः । सेनारजः सेनाया रजो धूलि । परं केवलम् । दिशामेव ककुभामेव ।  
 नास्यानि मुखानि । मलीमसानि मलमस्येषामिति मलीमसानि । 'मलोऽस्त्रियाम्' इति भर्तृव्य ईमस-  
 प्रत्यय । न चक्रे न कुरुते स्म । अपितु रिपुयोपिता च रिपूणा वज्रूणा योषिता नारीणाम् ।

फलतः अष्ट कर्मोको नष्टकरके वह सिद्धिवधूका वर—मुक्त हो गया ॥४५॥ इधर राजा श्रीवर्मा  
 भी पिताके वियोगसे कुछ दिनोंतक शोकमग्न रहा, फिर मन्त्रिमण्डल तथा मित्रवर्गके सम-  
 क्षानेसे धीरे-धीरे उसका शोक दूर हुआ, इसके बाद वह पृथ्वीको अपने वशमे करनेके लिए—  
 दिग्विजय करनेके लिए निकला । ॥४६॥ वह राजनीतिमें प्रवीण था । दिग्विजयके लिए जाते  
 समय उसने अपने पास उस सेनाको रखा, जो उसके यहाँ कई पीढ़ियोंसे काम करती चली  
 आ रही थी और जिसमें मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, दुर्गाधिकारी, कर्माधिकारी, कोषाधिकारी  
 और ज्योतिषी सम्मिलित थे, भीलोंकी सेनाको सबसे आगे रखा और बीचमे प्रबल सामन्तोंकी  
 सेना को । चलते समय उसके चूडामणिके प्रकाशसे समस्त दिशाएँ प्रकाशित होती जा रही  
 थीं ॥४७॥ चलते समय घोड़ोंकी टापोसे सेनामें धूल उड़ रही थी । उसका रंग गदहेके रोमों  
 सरीखा मटमला था । उसने चारों ओर फैलकर न केवल समस्त दिशाओंके वरन् शत्रु-स्त्रियोंके

१. अ क ख ग घ म चूला । २. श स षद विशरण । ३. श स लङ् । ४. आ विपयेति ।  
 ५. नीतिशास्त्रवित् । ६. श तिलविकम् । ७. श बहिष्ठम् । ८. आ मध्ये बलान्तराले । ९. आ यस्य ।  
 १०. एष टीकाकृतसंमतः पाठः प्रतिषु तु 'समुच्चलत्' इत्येव समुपलभ्यते । ११. आ प्रतापेव 'अश्वैः'  
 इत्युपलभ्यते । १२. श स एकं केवलम् । १३. 'मलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

सैन्यभ्यञ्जैरप्रतिकूलवातव्याघननप्रोल्लसितैस्तदीयः ।  
 नान्तर्दधे केवलमेव सूर्यः शत्रुप्रभावश्च महाप्रभावे ॥४६॥  
 प्रयाणकालप्रभवैरुदारैस्तदीयमातङ्गमदप्रवाहैः ।  
 पांसुप्रतानः शमयांबभूवे न केवलं धाम च शाश्ववीयम् ॥४७॥  
 मूर्च्छन्वद्रीणां विवरेषु तस्य प्रस्थानशंसी पटहप्रणादः ।  
 न पातयामास परं तटानि क्षोणोधराणां द्विषतां च चेतः ॥४८॥  
 पौरैः समागत्य गृहीतरत्नस्थालैः सुदूराभ्रतपूर्वकायैः ।  
 प्रदर्शितानेकपयोविकारैः प्रत्युद्यये<sup>१</sup> ग्राममहत्तरैश्च<sup>२</sup> ॥४९॥

आस्थानं मुखानि मलोमतानि चक्र—इत्यभिप्रायः । समुच्चये १.४८॥ सैन्येति । अप्रतिकूलवातव्याघनन-  
 प्रोल्लसितैः अप्रतिकूलस्यानुकूलस्य वातस्य वायोर्व्याघननेन कम्पनेन प्रोल्लसितैः प्रकाटितैः ( दोधूयमानैः ) ।  
 तदीयैः तस्य संबन्धे महाप्रभावे महद्भिः प्रभावैः निहादिचिह्नयुतैः । सैन्यध्वजैः सैन्ये सेनायां स्थितै-  
 ध्वजैः पताकाभिः । केवलमेव परमेव । सूर्यः आदित्यः । नान्तर्दधे नाच्छादितः । अपि तु शत्रुप्रभावश्च शत्रूणां  
 प्रभावस्तेजश्चाच्छादितः ॥४९॥ प्रयाणेति । प्रयाणकालप्रभवे । प्रयाणस्य कालेन प्रभवैरुद्भूतैः । उदारैः  
 महद्भिः । तदीयमातङ्गमदप्रभावैः तदीयानां तत्संबन्धानां मातङ्गानां गजानां मदस्य मदजलस्य प्रवाहैर्निर्भरैः ।  
 केवलं परम् । पांसुप्रतानः पांसूनां रजसां प्रतानः समूहः । न शमयांबभूवे न शमितो बभूव । धाम दम उप-  
 शमने णिजन्ताल्लिट् । किन्तु शाश्ववीयं शत्रुसंबन्धि । धाम च प्रभावश्च ॥५०॥ मूर्च्छन्विति । तस्य श्रीवर्म-  
 भूषणैः । प्रस्थानशंसी प्रस्थानस्य प्रयाणस्य शंसी सूचकः । पटहप्रणादः पटहानां भेरीणां प्रणादो ध्वनिः ।  
 दरीणां गुहानाम् । विवरेषु रन्ध्रेषु । मूर्च्छन् व्याप्नुवन् । क्षोणोधराणां पर्वतानाम् । परं केवलम् । तटानि  
 सानूनि । न पातयामास न पातयति स्म । पल्लु गतो णिजन्ताल्लिट् । द्विषतां शत्रूणाम् । चेतश्च मानसं च  
 पातयामास ॥५१॥ पौरैरिति । स<sup>३</sup> श्रौवर्मभूषणः । गृहीतरत्नस्थालैः गृहीतानि रत्नस्थालानि यैस्तैः, स्वीकृत-  
 रत्ननिमित्तभाजनैरित्यर्थः ।<sup>४</sup> दूरानतपूर्वकायैः दूरानततो दूरानतः पूर्वं कायस्य पूर्वकाय, 'पूर्वापर—'  
 इत्यादिना समासः, नामैरुर्ध्व पूर्वकायः, दूरानत पूर्वकायो येषां<sup>५</sup> तैः । पौरैः पुरैः भवाः पौराः तैः पुरजैः ।  
 प्रदर्शितानेकपयोविकारैः<sup>६</sup> प्रदर्शितैरायनोद्भूतरनेकैर्बहुलैः पयोविकारैर्दध्यादिभिः । ग्राममहत्तरैश्च ग्रामाधि-

मुखको भी मेला कर दिया ॥४८॥ दिग्विजयके लिए जाते समय अनुकूल वायु चल रही थी  
 ( यह शुभ शकुन है ), उससे उसकी सेनाके लहराते हुए झण्डे देखते ही बनते थे । उनके  
 ऊपर सिंह आदिके चिह्न बने हुए थे । दर्शकोंपर उनका महान् प्रभाव पड़ रहा था । उन्होंने  
 न केवल सूर्यको ही बल्कि शत्रुओंके प्रभावको भी छिपा दिया—अस्त कर दिया ॥४९॥  
 प्रयाणके समय उसकी सेनाके हाथियोंके मदजलके बड़े-बड़े प्रवाह बहने लगे, जिनसे न केवल  
 मार्गकी धूल ही शान्त हुई, बल्कि शत्रुओंका तेज भी शान्त-ठण्डा हो गया ॥५०॥ उसके  
 प्रस्थानकी सूचना देनेवाला नगाड़ेका शब्द पहाड़ोंकी गुफाओंके अन्दर प्रतिध्वनित होने लगा;  
 और उसने न केवल पर्वतोंके शिखर हो गिराये किन्तु शत्रुओंके हृदयोंको भी गिरा दिया—  
 उन्हें साहस हीन बना दिया ॥५१॥ मार्गमें रत्नोंसे भरे हुए थाल लेकर आये हुए नागरिकोंने  
 दूरसे ही अपने मस्तक झुकाकर श्रीवर्मकी अगवानोंकी और दही आदि लेकर उपस्थित हुए

१. अ पुरै । २. अ सहैरानत<sup>३</sup> । ३. अ प्रत्युद्यये । ४. अ आ ह क ख घ म याममहत्तरैश्च ।  
 ५. तत्संबन्धिभिः । ६. अतिप्रभावकैः । ७. काले । ८. आ प्रतो 'व्याप्नुवन्' इति नोपलभ्यते । ९. एष  
 टीकाकारभूटः पाठः । १०. अयपि टीकाकारभूटः पाठः, प्रतिपु तु 'सुदूराभ्रत' इत्येव समुपलभ्यते । ११. आ  
 एषाम् । १२. = प्रदर्शिता उपायनोद्भूता अनेके पयोविकारा यैस्तैः ।

निशम्य तस्यातुलपुण्यशक्तेः प्रस्थानमाविष्कृतविक्रमस्य ।  
 महाभयव्याकुलमानसानां द्विषामभूवन्निति चेष्टितानि ॥५३॥  
 दारान्सुतानप्यनपेक्ष्य केचित्स्वदेहरक्षां बहुमन्यमानाः ।  
 तत्सैन्यसंचारविमर्दभीता भेजुर्विगन्तान् हरिणैः सहैव ॥५४॥  
 कठोरधारं विनिवेश्य कण्ठे कुठारमन्ये भयविह्वलाङ्गाः ।  
 सतां शरण्यं शरणं तमोयुजिनं यथा मानमपोह्य भव्याः ॥५५॥  
 खनद्य सैन्यैः सह शौर्यशीण्डैरेके महामानगजाधिकृताः ।  
 तदीयशस्त्राग्निशिखावलीषु प्रपेदिरेऽभ्येत्य पतङ्गवृत्तिम् ॥५६॥

कारिमिः । प्रत्युद्ये समुत्थो बभूवे ( प्रतिगृहीतः ) या प्रापणे कर्मणि लिट् ॥५२॥ निशम्येति । अतुल-  
 पुण्यशक्तेः<sup>१</sup> अतुला उपमारहिता पुण्यस्य सुकृतस्य शक्ति सामर्थ्य यस्य तस्य । आविष्कृतविक्रमस्य  
 आविष्कृत प्रकटीकृतो विक्रमः पराक्रमो यस्य तस्य । तस्य<sup>२</sup> श्रीवर्मभूपस्य प्रस्थानं प्रयाणम् । निशम्य<sup>३</sup>  
 श्रुत्वा । महाभयव्याकुलमानसानां महाभयेन व्याकुल पीडितं मानसं मनो येषां तेषाम् । द्विषां शत्रूणाम् । इति  
 बध्यमाणप्रकारेण । चेष्टितानि व्यापृतानि । अभूवन् अभवन् । भू सत्तायां लुङ् ॥५३॥ दारानिति । केचित् अन्ये ।  
 दारान् कलत्राणि । सुतान् पुत्रानपि । अनपेक्ष्य अपेक्षामकृत्वा । स्वदेहरक्षां स्वेषां देहरक्षां शरीररक्षणम् ।  
 बहुमन्यमानाः वाञ्छन्तः । तत्सैन्यसंचारविमर्दभीता । तस्य श्रीवर्मभूपस्य सैन्यस्य सेनायाः संचारस्य प्रचारस्य  
 विमर्दनं पीडया भीता । हरिणैः मृगैः । सहैव साकमेव । दिगन्तान् दिशामन्तानवधीन् । भेजुं जम्मु ।  
 भज सेवाया लिट् ॥५४॥ कठोरैति । भयविह्वलाङ्गाः भयेन विह्वल<sup>४</sup> विफलवमङ्ग<sup>५</sup> येषां ते । अन्ये केचि-  
 न्भूयाः । कठोरधारं कठोरा निशिता धारा यस्य तम् । कुठार परशुम् । कण्ठे गण्डे । विनिवेश्य  
 निक्षिप्य । तं श्रीवर्मभूपम् । शरणं रक्षणम् । ईयुं जम्मु । इण्<sup>६</sup> गतो लिट् । सता सत्पुरुषाणाम् ।  
 शरण्यं शरणं गन्तुं योग्यम् ( शरणे साधुः शरण्यस्तम् । 'तत्र साधो' शाकटा० ३।२।१९६ । सत्पुण्यन्तान्-  
 साधवश्च यो भवति । सामानि साधु सामन्यः । कर्मण्य । शरण्यः । लभ्यः । साधुः योग्यः, प्रवीणः, उपकारको  
 वा । इति चिन्तामणिवृत्तौ । ) । जिनम् अहंस्पतिम् । मानं गर्वम् । अपोह्य त्यक्त्वा । भव्याः रत्नत्रयाविर्भवन-  
 योग्याः । यथा<sup>७</sup> ईयुस्तथेत्यर्थः ॥५५॥ सख्यंति । महामानगजाधिकृताः महातो माना गर्वाः । त एव गजा-  
 स्तानधिकृताः । एके केचित् । शौर्यशीण्डेः शौर्येण प्रतापेन शौण्डेयवित्तैः । सैन्यैः सेनाभिः । सह सम् ।

ग्रामोके बुजुर्गों और अधिकारियोंने भी दूरसे ही मस्तक झुकाकर उसकी अगवानी की—  
 स्वागत किया ॥५२॥ श्रीवर्मका पुण्यबल अतुल है और उसका पराक्रम किसीसे छिपा नहीं  
 है—प्रकट हो चुका है । उसने दिग्विजयके लिए प्रस्थान कर दिया है, यह सुनते ही शत्रु  
 लोगोंका हृदय भारी भयसे व्याकुल हो उठा । फलतः उनको ये चेष्टाएँ हुई—॥५३॥ श्रीवर्म-  
 की सेनाके संचारसे कही हम रोदे न जायें, यह सोचकर कुछ शत्रु इतने भयभीत हुए कि अपनी  
 पत्नी और पुत्रोंको भी छोड़कर, अपने शरीरकी रक्षाको ही बहुत मानकर हिरणोके साथ  
 दिशाओंके छोरोंमें जा पहुँचे ॥५४॥ कुछ शत्रु भयसे इतने व्याकुल हुए कि वे अपने कण्ठमे कठोर-  
 पैना कुठार लगाकर सत्पुरुषोंकी रक्षा करनेवाले श्रीवर्मकी शरण जा पहुँचे । जैसे भव्य जीव  
 मानकषायको छोड़कर भगवान् जिनेन्द्र देवकी शरण जाते है ॥५५॥ कुछ शत्रु महान् मान-  
 धमण्डके हाथीपर सवार होकर, दूर बीरताके धमण्डमे चूर अपने सैनिकोंके साथ सजकर,

१. = प्रतिगृहीतः । २. आ °शक्तिः । ३. आ प्रतापेव 'तस्य' इति पद दृश्यते । ४. आ आनिशम्य ।  
 ५. = सुतानपि । ६. = अपेक्ष्य । ७. आ कृशं । ८. श °वारं । ९. श वारा । १०. श इयु । ११. श  
 इयु । १२. श इयु ।

पत्रं धनं धान्यमशेषरत्नान्युपायनीकृत्य निरस्तदर्पाः ।

हिमर्तुवृक्षा इव शातिताङ्गाः स्वजीवितान्येव ररक्षुरन्ये ॥५७॥

बद्धाञ्जलीन्खण्डितमातशृङ्गान्यूहोतसारानथ तान्विधाय ।

न्ययुक्तं स स्वेषु पदेषु भूपः<sup>१</sup> सतां हि कोपो नमनावसानः ॥५८॥

निपातितानां रणमूध्न्यरीणामुपेयुषः कण्ठकुठारवृत्त्या ।

सोऽन्वप्रहोदार्द्रमनास्तनूजान्युक्तैव दीनेषु<sup>२</sup> कृपोन्नतानाम् ॥५९॥

सम्राट् सज्जोक्त्य । तदीयशस्त्राग्निशिखावलीषु तदीयस्य तस्य संबन्धस्य ( तत्संबन्धिनः ) शस्त्रस्थायुषस्यानेः शिखानां उवालानामावलीषु समुद्देशे । अन्येत्य पतित्वा । पतङ्गवृत्ति पतङ्गस्य शलभस्य वृत्ति वर्तनम् । प्रपेदिरे ययुः । पदि गतो लिट् ॥५६॥ पत्रमिति । निरस्तदर्पाः निरस्तो निराकृतो सर्वो गर्वो यैस्ते ( येषां ते ) । अन्ये केचित् । पत्रं बाह्वनं, पक्षे पणम् । 'पत्रं बाह्वनपणयोः' इत्यमरः । धनं द्रव्यम् । धान्यम् । अशेष-रत्नानि समस्तरत्नानि । उपायनीकृत्य<sup>३</sup> उपग्राह्यं कृत्वा । हिमर्तुवृक्षा इव हेमन्तकालस्य वृक्षा इव तरव इव । शातिताङ्गाः कृती [शो-]कृतशरीराः<sup>४</sup> । स्वजीवितान्येव स्वजीवनान्येव । ररक्षुः पालयामासु । रक्ष पालने लिट् ॥५७॥ बधेति । स. भूपः । अथ अनन्तरम् । बद्धाञ्जलीन् रचिताञ्जलीन् । खण्डितमातशृङ्गान् खण्डितं मान एव शृङ्गं येषां तान् । गृहीतसारान् स्वीकृतवस्तून् । तान् । शत्रून् । विधाय कृत्वा । स्वेषु स्वकीयेषु । पदेषु स्थानेषु । न्ययुक्तं न्ययोजयत् । युजिर् योगे<sup>५</sup> लङ् । सतां सत्पुरुषाणाम् । कोपः क्रोधः । नमनावसानो हि नमनमनावसानं यस्य सः ( नमनेनावसानं यस्य सः ) । बधन्तिरन्यासः ॥५८॥ निपातीति । रणमूध्न रणस्य सधामस्य मूध्नि अग्रे । निपातितानाम् । अरीणां शत्रूणाम् । कण्ठकुठारवृत्त्या कण्ठे प्रोवाया वर्चमानस्य कुठारस्य परशोर्वृत्त्या वर्तनेन । उपेयुषः आगतवतः । इण् गतो 'लिट् क्वसुकानो' इति क्वसुः । तनूजान् तनयान् । आर्द्रमनाः मृदुमानसः । सः श्रीवर्मभूपः । अन्वगृहीतुं काश्चनमकरोत् । उन्नतानां महताम्

श्रीवर्माका सामना करनेके लिए घरसे निकल पड़े, किन्तु वे उसकी शास्त्राग्निकी उवालामें गिरकर पतङ्गोंकी तरह जल गये ॥५६॥ कुछ शत्रुओंने अहङ्कारको छोड़कर, और श्रीवर्माको बाह्वन, धन, धान्य और समस्त रत्न उपहारमें देकर अपनी जान बचाली । जैसे हेमन्त ऋतुमें वृक्ष ( पाला पड़नेसे ) पत्तोंको त्यागकर टूट जैसी स्थितिमें पहुँचकर भी अपना जान बचा लेते हैं ॥५७॥ श्रीवर्माने कुछ शत्रुओंको उनसे हाथ जुड़वाकर मान रहित कर दिया और उनकी सारभूत सम्पत्ति अपने अधीन कर ली । ऐसी अवस्थामें वे सीग टूट जानेसे पशुकी भाँति दयनीय प्रतीत होने लगे और विरूप भी । उनकी यह दशा देखकर श्रीवर्माको दया आ गयी । फलतः उसने उन्हें, उन्हींके पद पर पुनः नियुक्त कर दिया । सच है सज्जनोंका क्रोध विरोधीके नमन करते ही शान्त हो जाता है ॥५८॥ कुछ अहंकारी शत्रु लड़नेके लिए लड़ाईके मैदानमें आ डटे, किन्तु श्रीवर्माकी सेनाके सामने वे टिक नहीं सके, फलतः मार गिराये गये । इसके पश्चात् उन मरे हुए शत्रुओंके लड़के अपने-अपने गलेमें कुठार लगाकर श्रीवर्माकी शरणमें उपस्थित हुए । उन्हें देखकर उसका हृदय पिघल गया, अतः उसने उनके ऊपर बड़ा अनुग्रह

१. आ इ क ख ग घ म भूयः । २. अ द्वीपेषु । ३. = उपहृत्य । ४. श कृतशरीराः । ५. आ एषाम् । ६. श युजिङ् योगी । ७. = अनुजग्राह ।

गताथलेपैः प्रविशद्भिरेत्य वृत्ताभयैर्मण्डलिनां समूहैः ।  
 दिने दिने तत्कटकः समन्ताद्घर्षताम्भोधिजिगीषयेव ॥६०॥  
 गण्डस्थलामोदहतखिरैर्मदाम्बुविक्रैर्द्वितभूरजोभिः ।  
 तत्तोरणद्वारमभूदुदारैर्न जातुचिच्छून्यमुपायनेभैः ॥६१॥  
 गजेन्द्रदन्तैश्चमरीकचौघैर्मृगेन्द्रशाघैरपि पञ्जरस्थैः ।  
 तं पार्वतीयाः समुपेत्य भीताः सिपेविरे सेवकवृत्त्यभिज्ञाः ॥६२॥  
 वस्तुपदीकृत्य विचित्ररूपं द्वीपोद्भवं द्वीपपतीनुपेतान् ।  
 संभावयामास स तृप्तिदानैश्चेतः प्रभूणां नहि नोचितशम् ॥६३॥

दीनेषु वनाथेषु । कृपा दया । युक्तव योग्यैव । अर्थान्तरन्यासः ॥५९॥ गतेति । गताथलेपैः गतोद्गृहीतो लेपो गर्वो येषां तैः । दत्ताभयैः दत्तमभयं येषां ( येभ्यः ) तैः । मण्डलिनाम् जरातिभूपानाम् । समूहैः । एतय आगत्य । प्रविशद्भिः अन्तर्गच्छद्भिः । दिने दिने दिवसे दिवसे । कौत्स्याया द्वि । तत्कटकस्तव श्रीवर्मण कटकं शिबिरम् । अम्भोधिजिगीषयेव अम्भोवि समुद्र जिगीषयेव जेतुमिच्छयेव । समन्तान् सर्वतः । अवर्द्धत ऐषत । वृधूञ् वधने लङ् । उपमा ( उद्रेका ) ॥६०॥ गण्डेति । गण्डस्थलामोदहतखिरैः गण्डस्थलस्य कपोलप्रदेशस्थामोदेन परिमतेन हृता आकुष्टा खिरका अमरा येषां ( यैः ) तैः । मदाम्बुविक्रैर्द्वितभूरजोभिः मदाम्बुना मदत्रलेन कले [ विकले-]द्वितानि भूयो भूम रजांसि येषां ( यैः ) तैः । उदारै महद्भिः । उपायनेभैः उपायनायमानोर्तारभैर्गजैः । तत्तोरणद्वार तस्य भूस्य तोरणद्वार बहिर्द्वारम् । जातुचित् कदाचिदपि । शून्य रिक्तम् । नाम्ना नामवत् । ६१॥ गजेन्द्रेति । भीता बिभ्रति स्म भीताः । सेवकवृत्त्याभिज्ञा । सेवकाना भूतवाना वृत्ती वर्तनेऽभिज्ञा प्रवीणा । पर्वतीयाः पवते भवाः पर्वतीयाः, व्याघ्रा इत्यर्थः । त् श्रीवर्मभूपम् । गजेन्द्रदन्तैः गजेन्द्राणा दन्तैः । चमरीकचौघं चमरीणा चमरीमृगणा कवाना वैशानामोर्षं समूहैः । पञ्जरस्थैः पञ्जरे तिष्ठन्तीति पञ्जरस्थाः तैः । मृगेन्द्रशाघैः मृगेन्द्राणां शाघैः । पौतैरपि । समुपेत्य आगत्य । सिपेविरे सेवन्ते स्म । सेवुः सेवने लिट् ॥६२॥ वस्तुवति । द्वीपोद्भवं द्वीपे उद्भूतमुत्पन्नम् । विचित्ररूपम् आश्चर्य-रूपयुक्तम् । वस्तु । उपरीकृत्य उपायनोक्त्य । उपेतान् समागमागतान् । द्वीपपतीन् अन्तर्गताधिपान् । स.

किया । महान् पुरुषोंका अनार्यों पर दया करना उचित हो है ॥५९॥ श्रीवर्माके विजयके इन समाचारोंको सुनकर, माण्ड्योक राजाओंका वर्ग अहंकार छोड़कर उनकी सेवामें उपस्थित हुआ । श्रीवर्मने उन्हें अभय प्रदान किया और उन्हें अपनी सेनामें प्रविष्ट कर लिया । इसमें उसकी सेना सभी ओरसे बढ़ गयी । मानो वह अपने विस्तारसे समुद्रको जीतना चाहती हो ॥६०॥ इसके पदचात् श्रीवर्मा मार्गमें जहाँ भी पड़ाव डालता था, अनेक राजे-महाराजे उसके लिए उपहारमें बड़े-बड़े हाथी भेजते थे, जो अपने गण्डस्थलोंके मदत्रलको सुगन्धसे भौरोंको अपनी ओर खींचते थे, और जो मदत्रलसे पृथिवीकी धूलिको गोला कर देते थे । उन हाथियोंसे उसका बाहरी दरवाजा कभी खाली नहीं रहता था ॥६१॥ सेवा करनेमें चतुर पहाड़ी लोग श्रीवर्माके पराक्रमके समाचार सुनकर भयभीत हो गये, अतः वे हाथी दाँत, चमरी गायोंके बाल और कटघरोंमें बन्द मिहोंके बच्चोंको लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए । उन्होंने उसकी खूब सेवा की ॥६२॥ द्वीपोंके अधिपति अपने-अपने द्वीपोंको विलक्षण वस्तुओंको उपहारसे देनेके लिए श्रीवर्मसे मिले । उमने उन्हें सन्तोषजनक प्रत्युपहार देकर सम्मानित किया ।

१. अ आ इ क ख ग घ म 'बिच्छिन्न' । २. अ आ इ स वृष्टि । क ख ग घ म सुदृष्टिदानैः ।

३. आ कपाली । ४. श स 'विक्रोडित' । ५. श स विक्रोडितानि । ६. श स सेव । ७. = अद्भुतमित्यर्थः ।

या तेन मुक्ता रविणोऽसाम्भूतारिणो शत्रुचिन्तामिराशा ।  
 प्रधूमिता यां च चकाङ्क्ष यातुं पलायमानारिचमूरजोभिः ॥६४॥  
 कल्लोलहस्तैः स्फुरदंशुजालं मुक्ताफलौघं विकिरंस्तदेषु ।  
 वेलाघनप्राप्तबलस्य तस्य भयादिवाद्योत्करमर्णयोऽपि ॥६५॥  
 द्वीपेषु दुर्गेष्वथ मण्डलेषु विविधेषु दिक्षु प्रतिकूलिताहः ।  
 न कोऽपि तस्याजनि पुरयराशेर्देवेऽनुकूले किमु नानुकूलम् ॥६६॥

भूपतिः । तुष्टिदानैः तुष्टेः सन्तोषकरस्य दानैः । सभावयामास सत्करोति स्म । मूर्च्छावकरूपने लिट् । प्रभूनां स्वामिनाम् । चेत-चित्तम् । नोचितज्ञं नहि अनुचितज्ञं नहि (उचितज्ञं नहि, इति न) अपि तु उचितज्ञमेव ॥६३॥  
 येति । रविणोऽसाम्भूतैः । तेन श्रीवर्मभूपेन । मुक्ता त्यक्ता । या आशा दिक् । सा शत्रुचिन्ताभिः शत्रुशक्तीनां चिन्ताभिः दाहकाष्टैः । अङ्गारिणी हसन्ती, पक्षे मूर्धन्यवता । 'अङ्गारिणी हसन्त्यां च भास्कररत्यवतदिश्यपि ।' अभूत् अभवत् । स. भूपः । या विशम् । यातुं गन्तुम् । चकाक्ष ववाञ्छ । कांक्ष काक्षाया लिट् । पलाय-मानारिचमूरजोभिः पलायमानानां धावतामरीणां शत्रूणां चमूनां सेनानां रजोभी रेणुभिः प्रधूमिता क्लेशिता, पक्षे सूर्येण गन्तव्या । 'प्रधूमिता [ प्रधूमिता ] क्लेशिताया सूर्यगन्तव्यदिश्यपि ।' अभूत् । श्लेषः ॥६४॥  
 कल्लोलैति । अर्णयोऽपि सागरोऽपि । कल्लोलहस्तैः । कल्लोलः गता एव हस्ता पाणयस्तैः । रूपकम् । स्फुरदंशुजालं स्फुरत् प्रज्वलद् अंशूनां किरणानां जाल यस्य तम् । मुक्ताफलौघं मुक्ताफलानां मोवितकानामोघं समूहम् । तदेषु तीरेषु । विकिरम् विशिष्यत् । वेलाघनप्राप्तबलस्य वेलायास्तदस्य वनमर्ण्यं प्राप्तं यातं बलं सैन्य यस्य तस्य । [ तस्य ] भूपस्य भयादिव मोतिरेव । करं सिद्धायम् । आदात् आयच्छत् । दुराज्ञं दाने लुट् । उत्प्रेक्षा ॥६५॥ द्वीपेष्विति । पुण्यराशेः पुण्यानां मुकुतानां राशेरिव । तस्य श्रीवर्मणः । द्वीपेषु अन्तर्द्वीपेषु । दुर्गेषु जलदुर्गवनदुर्गगिरिदुर्गेषु । अथ अनन्तरम् । मण्डलेषु देशेषु । विविधेषु दिग्गन्तरेषु । दिक्षु आशासु । कोऽपि एकोऽपि । प्रतिकूलिताहः प्रतिकूलं गता आशा यस्य यः । न अजनि नाभायत । जनैश्च प्रादुर्भावे लुट् । अनुकूले अनुकूलरूपे । देवे पुण्ये । नानुकूलम् अनुकूलं (ना) रहितम् । किमु न किमतीत्यर्थः । अर्थान्तरभ्यासः ॥६६॥

राजाओंका हृदय उचित व्यवहारको नहीं जानता, यह बात नहीं है—राजा उचित व्यवहार-को खूब जानते हैं ॥६३॥ श्रीवर्मा सूर्य सरोखा था । सूर्य जिस दिशाको छोड़ता है वह अंगारिणी कहलाती है और वह जिस दिशामें जाता है वह प्रधूमिता । इसी प्रकार वह जिस दिशासे चला आता था वह शत्रुओंकी चिन्ताओंसे अंगारिणी—अंगारवाली हो जाती थी और जिस दिशाकी ओर प्रस्थान करता था वह भागती हुई शत्रुसेनाओंकी घूलिसे प्रधूमिता—मलिनवर्णा हो जाती थी ॥६४॥ दिग्विजय करते-करते श्रीवर्मा समुद्रके तटपर जा पहुँचा । उसने अपनी सेना समुद्र तटके आस-पासके वनोंमें ठहरा दी । इस अवसर पर समुद्रकी तरंगों, तरंगों क्या, उसके बाहुओंसे चमचमाते हुए मोती श्रीवर्माकी ओरके किनारे पर आ रहे थे, अतः ऐसा जान पड़ता था मानो समुद्र भी भयभीत होकर उसे टेकस दे रहा हो ॥६५॥ श्रीवर्मा साक्षात् पुण्यकी राशि था वह जिन द्वीपों, अन्तर्द्वीपों, जलदुर्गों, वनदुर्गों, पहाड़ी दुर्गों, देशों, दिशाओं और विदिशाओंमें पहुँचा, वहाँ कोई भी मनुष्य उसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सका । देवके

१. म °दिवारात् । २. श स कृपो । ३. आ प्रतावेव 'सागरोऽपि' इति दृश्यते । ४. श स अदात् अयच्छत् ।



संस्पृश्य पूर्वं परितः करेण नीता पुनस्तेन रति समानम् ।

बधूरिषाम्भोनिधिवारिवस्त्रा बभूव वक्ष्या सकला धरित्री ॥६७॥

इति प्रसाध्याखिलभूतघात्रीं घात्रीं चतुर्वारिधिवारिसीमाम् ।

स बन्दिवन्दैरभिवन्द्यमानः श्रीमान्पुनः श्रीपुरमाससाद् ॥६८॥

नबोधयं प्रस्फुरितप्रतापं प्रसादितशेषदिगन्तरालम् ।

प्रत्यागतं भानुमिव प्रणम्य तमर्धहस्ता जनता निरीयुः ॥६९॥

संस्पृश्येति । पूर्वं प्रथमम् । करेण सिद्धायेन, पक्षे हस्तेन । परितः सर्वतः । संस्पृश्य स्पर्शने कृत्वा । पुनः पश्चात् । तेन भूमेन । समानाम् अभिमानसहिता, पक्षे समरूपाम् । रति मुरतं प्रीति च । नीता यापिता [ प्रापिता ] । अम्भोनिधिवारिवस्त्रा अम्भोनिधेः समुद्रस्य वायव्यं सलिलमेव वस्त्रं वसनं यस्याः सा । सकला सर्वा । धरित्री भूमिः । बधूरिष स्त्रीषु । वक्ष्या वक्षं गता । 'वक्ष्यपद्य—' इत्यादिना साधुः । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । इत्येवंपमा ॥६७॥ इतीति । चतुर्वारिधिवारिसीमा चतुर्णां वारिधीना वायव्यं सीमा यस्यास्ताम् । अखिलभूतघात्रीम् अखिलाना सकलाना भूताना प्राणिना घात्रीकोपमातेव प्रवर्तमानाम् ( प्रवर्तमाना ताम् ) । घात्रीं भूमिम् । इति उक्तप्रकारेण । प्रसाध्य साधयित्वा । बन्दिवन्दैः स्तुतिपाठकसमूहैः । अभिवन्द्यमानः स्तूयमानः । श्रीमान् सम्पत्तिमान् । सः श्रीवर्मभूषः । पुनः पश्चात् । श्रीपुरं श्रीपोलक्षितं पुरं— श्रीपुराङ्गणं पुरम् । आससाद् आजगाम । बद्धू विशरणगत्यवसादनेषु लिट् । रूपकम् ॥६८॥ नवेति । नबोधयं नबो नूतन उदय ऐश्वर्यं, पक्षे उत्पत्तिर्यस्य तम् । प्रस्फुरितप्रतापं प्रस्फुरित प्रज्वालितः प्रताप प्रभावः, पक्षे प्रतापस्तेजो यस्य तम् । प्रसादितशेषदिगन्तरालं 'प्रसादिताना प्रसत्रीकृतानामशेषाणां दिशामाशानामन्तरालं यस्य तम् । प्रत्यागतं पुनरागतम् । भानुमिव सूर्यमिव । तं श्रीवर्माणम् । प्रणम्य नमस्करणाय । 'अर्धहस्ताः' अर्चनायोग्यद्रव्ययुक्ताः । जनताः जनाना समूहा जनताः । 'ग्रामजनबन्धुजसहायात्' । निरीयुः

अनुकूल होनेपर कौन अनुकूल नहीं होता ? ॥६६॥ जिस प्रकार चतुर पति अपनी नववधूका— जो समुद्रके समान बड़े लहंगे आदि कपड़े पहनकर लज्जाके कारण एक ओर सिमटी बैठी है— अपने कोमल हाथसे चारो ओर स्पर्श करता है, और फिर उसके मनमें अपने ही समान रतिकी वासनाको उद्वुद्ध करके अपने वशमें कर लेता है । इसी प्रकार श्रीवर्माने समुद्रमें घिरी हुई सारी पृथ्वीको अपना बनाकर उससे टेक्स बसूल किया फिर सुन्दर व्यवस्थासे उसको अपने समान सुखी बनाकर वशमें कर लिया ॥६७॥ इस प्रकार चार समुद्रों तक सीमित समस्त पृथ्वीको—जो समस्त प्राणियोंकी उपमाता है—जीतकर श्रीमान् श्रीवर्मा श्रीपुर लौट आया । लौटते समय रास्तेमें स्तुतिपाठकोंके वर्गने उसका पुनः अभिवन्दन किया ॥६८॥ जिस प्रकार प्रातःकाल उदित होनेवाले, अपने प्रतापको चारों ओर फैलानेवाले और सभीको प्रसन्न करनेवाले नवीन सूर्यको प्रणाम करनेके लिए लोग अपने-अपने हाथोंमें अर्घ-सामग्री लेकर घरसे निकलते हैं । इसी प्रकार जब दिग्विजयसे श्रीवर्मा लौटा तो उसका ऐश्वर्य बिलकुल नवीन हो गया; उसका प्रताप सभी ओर फैल गया और उसने सभी दिशाओके निवासी शिष्ट पुण्योको प्रसन्न कर दिया । उसके आनेके समाचार सुनते ही श्रीपुरके रहनेवाले सभी लोग उसे प्रणाम करनेके

१. अ आ इ क ख ग घ म प्रसाधिता । २. क स याता । ३. क स प्रवर्त्य° । ४. = प्रसादितं प्रसत्रीकृतं दिशामाशानामन्तरालं मध्यभागो येन तम् । ५. आ अर्ध्य° ।

मनोहरैः संहतकच्छवाटैर्बहिर्भुवां श्यामरुचः प्रदेशान् ।  
 विलोकयन् राजगजाधिरुढः स गोपुरस्याभिमुक्तो बभूव ॥७०॥  
 भरक्षमदमारुहमूलबद्धस्कन्धान्मदान्धानलिशोभिक्कुम्भान् ।  
 व्यलोकतासौ ध्रुवतः शिरोधोऽकृतप्रणामानिब वारणेन्द्रान् ॥७१॥  
 कलं नदन्ती परिखातटेषु निषेदुषो शङ्खसिता समन्तात् ।  
 हंसावलिस्नस्य जह्वार चित्तं सहैव<sup>१</sup> गत्या गमनोत्सुकस्य ॥७२॥  
 स खातिकायाः पयसो विनिर्यत्कुतूहलेनेव विलोकनस्य ।  
 ददर्श पाठीनकुलं समन्तात्सरोजजैः पिञ्जरितं रजोभिः ॥७३॥

निर्जग्मुः । इण् गतो लिट् । इलेयोपमा ॥६९॥ मनोहरैरिति । बहिर्भुवां<sup>२</sup> बाह्यभूमिनाम् । मनोहरैः सुन्दरैः ।  
 संहतकच्छवाटैः संहतैः कच्छवाटैः शाकवाटैः । श्यामरुचः श्यामा हरिद् रुचकान्तिर्येषां तान् । प्रदेशान् ।  
 विलोकयन् पश्यन् । राजगजाधिरुढ राजगजं गन्धहस्तिनमारुढः । स श्रीवर्ममूषः । गोपुरस्य बहिर्द्वारस्य ।  
 अभिमूलः संमुखः । बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिट् । सामान्यालङ्कारः । ७०॥ भरेति । भरक्षमदमारुह-  
 मूलबद्धस्कन्धान् भरक्ष भारस्य क्षमस्य<sup>३</sup> चमारुहाणा मूलेषु बृष्णेषु बद्धाः स्कन्धा येषां तान् । मदान्धान्  
 मदेनान्धान् । अलिशोभिक्कुम्भान् अलिभिर्भ्रमरैः शोभिनी मनोहराः कुम्भा येषां तान् । शिरोधोन् कम्बरान् (?) ।  
 'शिरोविः कम्बरेत्यवि' इत्यमरः । ध्रुवतः कम्पमानान् (कम्पयमानान्) कृतप्रणामानिब कृतनमस्कारानिब ।  
 वारणेन्द्रान् गजेन्द्रान्<sup>४</sup> । असौ भूरः । व्यलोकत अपश्यत् । लोक्कुं दर्शने लङ् ॥७१॥ कलमिति । परिखा-  
 तटेषु खातिकातीरेषु । समन्तात् सर्वतः । निषेदुषो स्थितवती । कलं मनोहरम् । नदन्ती ध्वनन्ती । शतु-प्रत्ययः ।  
 शङ्खसिता शङ्ख इव सिता शुभ्रा । हंसावलिः हंसानां हंसाक्षिणामावलिः<sup>५</sup> समूहः । आगमनोत्सुकस्य आगमने  
 उत्सुकस्योद्युक्तस्य तस्य श्रीवर्ममूषस्य । गत्या गमनेन । सहैव<sup>६</sup> वित्तं मानसम् । जह्वार हरति स्म । उपमा  
 [ सहोक्तिः ] ॥७२॥ स इति । स. श्रीवर्ममूषः । विलोकनस्य दर्शनस्य । कुतूहलेनेव कौतुकेनेव । खाति-  
 कायाः परिखायाः । पयसो जलात् । विनिर्यत् विनिर्मलं कृत् । सरोजे कमले जायन्त इति सरोजजानि तैः ।  
 रजोभिः धूलिभिः । समन्तात् परितः । पिञ्जरितं सुवर्णवर्णम् । पाठीनकुलं पाठीनानां मानिनां कुलं  
 समूहम् । 'मौन पाठीन एव च' इत्यभिधानात् । ददर्श व्यलोकत<sup>७</sup> । दृग् प्रेक्षणे लिट् । उपमा [ उत्प्रेक्षा ]

लिए अपने-अपने हाथोंमें अर्ध सामग्री लेकर घरोसे निकल पड़े ॥६९॥ श्रीपुरके बाहर पास-  
 पासमें अनेक कच्छवाड़े थे । उनमें शाक-भाजी लगी हुई थी । उनके कारण सभी ओरकी भूमि  
 हरी-भरी दृष्टिगोचर हो रही थी । श्रीवर्मा गजराजपर आरुढ़ होकर उसे देखते हुए पुरद्वारकी  
 ओर चले जा रहे थे ॥७०॥ कुछ आगे जाकर श्रीवर्मने उन हाथियोंको देखा, जिनके गलेकी  
 सांकलें बहुत मजबूत पेड़ोंके तनोंसे बँधी हुई थीं; जो मदान्व थे; जिनके गण्डस्थलोंपर भीरे  
 बैठे हुए थे और जो गर्दन हिला रहे थे । उन्हें देखकर श्रीवर्माको लगा कि वे उसे  
 नमस्कार कर रहे हैं ॥७१॥ इनके बाद श्रीवर्मने खाईके किनारोंपर मनोहर शब्द करने-  
 वाली, सभी ओर बैठी हुई, शङ्खकी भाँति सफेद हंस-पंक्ति देखी । वह आगे जानेको उत्सुक  
 था, किन्तु उसके मन और गमन दोनोंको एक ही साथ उस ( हंस-पंक्ति ) ने हर लिया  
 ॥७२॥ उस समय श्रीवर्मने पद्म-परागसे रंगकर सुनहले रंगका प्रतीत होने वाला एक मछ-  
 लियोंका झुण्ड देखा । वह खाईके जलकी सतहसे कुछ ऊपर उछल रहा था । अतः ऐसा प्रतीत

१. सहैव । २. स बाह्यभुवाम् । ३. = भरे भारवहने क्षमाणां । ४. आ प्रती केवल,  
 'गजेन्द्रान्' इति समुपलभ्यते । ५. = पंक्तिः । ६. साकमेव । ७. स व्यलोकयत ।

गवाक्षनिक्षिप्तमुखारविन्दाः पौराङ्गनास्तं नयनाभिरामम् ।

संभूय नेत्राञ्जलिभिः पिबन्त्यो न स्मरन्ः स्वं श्लयनीविबन्धम् ॥७३॥

समधिकनवयौवनोदयश्रोविन्दधधः शशिनं शरीरकान्त्या ।

स नृपतिरविशत्पुं पुरान्तर्गतवनिताहृदयं च पञ्चबाणः ॥७४॥

सह शशिसमकान्त्या शीलसौभाग्यवत्या

विधृतविमलमूर्त्या कामशक्त्येव देव्या ।

रतिसुखमसमानं मानयन्स्वेविलासै-

रकृतनिकृतशत्रुस्तत्र राज्यं स भूपः ॥७५॥

॥७३॥ गवाक्षेति । गवाक्षनिक्षिप्तमुखारविन्दाः गवाक्षेषु वातायनेषु निक्षिप्तानि मुखान्येव वदनाभ्येवार-  
विन्दानि यासा ताः । पौराङ्गनाः<sup>१</sup> पुरे विद्यमाना अङ्गनाः तथोक्ताः । संभूय संमिलित्वा<sup>२</sup> । नयनाभि-  
रामं नयनाना लोचनानामभिरामं मनोहरम् । तं भूपम् । नेत्राञ्जलिभिः । नेत्राण्येव नयनाभ्येवाञ्जल्यस्तैः ।  
पिबन्त्यः पानं कुर्वन्त्यः । स्वं स्वकीयम् । श्लयनीविबन्धं श्लथ विश्लष्टं नोविबन्धम् ( वस्त्रप्रग्रथम् ) । न  
स्मरन्, न स्मरन्तिस्म । ध्वै स्मृन्ताया लिट् । रूपकम् ॥७४॥ समेति । समधिकनवयौवनोदयश्रीः समधिका  
नवस्य यौवनस्योदयस्य<sup>३</sup> श्रीः शोभा यस्य सः । शरीरकान्त्या शत्रस्य शोभया । शशिन चन्द्रम् । अथः  
तिरस्कार विदधत् कुर्वन् ( अथोविदधत् तिरस्कुर्वन् ) । सः नृपतिः श्रीवर्मभूपः । पुरं श्रीपुरम् । पञ्चबाणः  
काम इव । पुरान्तर्गतवनिताहृदयं च पुरस्य पत्तनस्यान्तर्गताना वनिताना कान्ताना हृदय मानसं च ।  
अविशत् प्राविशत्<sup>४</sup> । विश् प्रवेशानं लङ् । उपमा तुल्ययोगिता ॥७५॥ सहति । शशिसमकान्त्या शशिन-  
द्वन्द्वस्य समा समाना कान्ति शोभा<sup>५</sup> यस्यास्तथा । शीलसौभाग्यवत्या शीलसौभाग्याया युक्तया ।  
विधृतविमलमूर्त्या विधृता भूता विमला निर्मला मूर्तियस्या ( यया ) तथा । कामशक्त्येव मन्मथशक्त्येव । देव्या  
महिन्या प्रभाशतीनामधेयया । असमान समान [ ता ] रहितम् । रतिसुख कामसुखम् । स्वे, स्वकीये ।  
विलासैः विनोदैः । मानयन् अनुभवन् । निकृतशत्रुः निकृता निराकृता, शत्रुको येन स । स भूपः श्रीवर्मनृपतिः ।

हो रहा था, मानो वह भी उस ( श्रीवर्मा ) को देखनेके लिए उत्कण्ठित हो ॥७३॥ श्रीवर्मा  
इसके पदचात् कुछ और आगे बढ़ा । उसे देखनेके लिए श्रीपुरको स्त्रियाँ सम्मिलित होकर  
अपने-अपने मकानोंकी खिडकियोंमें अपने-अपने मुख कमलोंकी लगाकर खड़ी हो गयी । वे  
अपनी-अपनी नेत्र रूपी अञ्जलियोंसे अत्यन्त सुन्दर उस ( श्रीवर्मा ) को पीने ( प्रेम पूर्वक देखने )  
में इतनी तल्लीन हो गयी कि उन्हें अपने ढीले नाड़े या धोतीकी गाँठको बाँधनेका कोई खयाल  
ही नहीं रहा ॥७४॥ श्रीवर्मके ऊपर नवयौवनकी पूर्ण सुपमा व्याप्त थी । उसने अपने शरीरकी  
कान्तिसे चन्द्रमाको तिरस्कृत कर दिया था । उसने ज्यों ही श्रीपुरमें प्रवेश किया, त्यों ही  
कामदेवने वहाँकी स्त्रियोंके हृदयमें प्रवेश किया ॥७५॥ श्रीवर्मा अपने सभी शत्रुओंको जीत  
चुके थे । अतः निश्चिन्त होकर अपनी रानी प्रभावतीके साथ — जिसकी कान्ति चन्द्रमाके  
समान थी; जो शील और सौभाग्यसे सम्पन्न थी और जो कामदेव की निर्मल मूर्तिको धारण  
करके आयी हुई साक्षात् शक्ति थी — नाना विलासोंके साथ अनुपम सम्भोग-सुख भोगते हुए

१. आ विवृत<sup>१</sup> । २. आ श स पुराङ्गना । ३. श स संमेल्य । ४. आ विश्लष्ट । ५. आ 'दयश्रीः ।

६. आ प्राविशति स्म । ७. आ श्रीवर्मशोभा । ८. = अनुपममित्यर्थः ।

दृष्ट्वा कदाचिदथ शारदमभ्रवृन्द-

मुत्पत्त्यन्तरविनाशि विनाशितारिः ।

निर्वेदमाप सहसा स भवस्थितिज्ञः

सन्तः प्रयान्ति विषयेषु हि नातिसक्तिम् ॥७७॥

श्रीकान्ताय समर्प्य राज्यमखिलं नत्वा मुनिं श्रीप्रभं

प्रमज्य प्रशमानुरक्तहृदयस्तत्त्वा तपो दुश्चरम् ।

सौधर्मे परमोदयः प्रमुदितो द्व्यब्धिप्रमायुः स्थिति-

र्देवः श्रीधर इत्यमृतस विबुधस्त्रीनेत्रनित्योत्सवः ॥७८॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये चतुर्थः सर्गः ॥४॥

तत्र श्रीपुरे । राज्यम् अकृत अकृतम् । दुःकुञ्जं करणे लुङ् । उपमा ॥७६॥ दृष्ट्वेति । विनाशितारिः विनाशिता विहता अरयः शत्रवो येन सः । स श्रोधर्मभूषः । अथ योगानुभवानन्तरम् । कदाचित् एकदा । उत्पत्त्यन्तर- विनाशि उत्पत्तेरन्तरमुत्तरसमये विनाशि नाशि । शारद शरत्कालसम्बन्धम् । अभ्रवृन्दम् अभ्राणा मेषानां वृन्द निबन्धम् । दृष्ट्वा । भवस्थितिज्ञः भवस्य संसारस्य स्थितिज्ञ स्थिति जानन् । सहसा शीघ्रेण (शं द्रम्) । निर्वेदं विरागम् । आप ययौ । आप्लु क्वाप्तौ लिट् । तथा हि—सन्त सत्पुरुषाः । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । अतिसक्तिम् अतिश्रुतिम् । न प्रयान्ति हि न गच्छन्ति हि । अर्धान्तरन्यासः ॥७७॥ श्रीति । स श्रोधर्मभूषः । श्रीकान्ताय श्रीकान्ताभिधानमुताय । अखिल निखिलम् । राज्य सपत्न्यं दत्त्वा । श्रीप्रभं श्रीप्रमाख्यम् । मुनिं मुनीन्द्रम् । नत्वा नमस्कृत्य । प्रबुज्य तपः स्वीकृत्य । प्रशमानुरक्तहृदयः सन् प्रशमेन रागद्वेषोपशमनेनानुरक्तं हृदयं यस्य सः । दुश्चरम् आचरिणुसशक्यम् । तपः बाह्याभ्यन्तररूपम् । तत्त्वा । सौधर्मे प्रथमस्वर्गम् । परमोदयप्र- मुदित परमेशोत्कृष्टनोदयेनैश्वर्येण प्रमुदितः संतुष्टः । द्व्यब्धिप्रमायुः स्थितिः द्वौ अवधौ प्रमाण यस्याः सा चायुषस्य [चायुष] स्थितिरस्य स । विबुधस्त्रीनेत्रनित्योत्सवः विबुधस्त्रीणां देवत्राणां नेत्राणां नयनानां नित्योत्सवः । श्रीधर इति देवः सुरः । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥७८॥

इति वीरनन्दिकृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं च  
बिद्वन्मनोबलमाख्ये चतुर्थः सर्गः ॥४॥

राज्य करने लगे ॥७६॥ इसके पश्चात् शत्रु-विजेता श्रीधरने किमी समय शरत्कालीन मेघ देखा, जो उत्पन्न होते ही नष्ट हो गया । उसके देखते ही उसने संसारको स्थिति जान ली कि संसार शरत्कालीन मेघके समान क्षणभंगुर है । फलतः उसे विराग्य हो गया । सच है अच्छे मनुष्य पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें अधिक आसक्त नहीं होते ॥७७॥ इसके पश्चात् उसने अपना सारा राज्य अपने पुत्र श्रीकान्तको सोप दिया और श्रीप्रभ नामके मुनिराजको नमस्कारकर उनसे जिन दीक्षा ले ली । दीक्षा लेनेके बाद उसका मन केवल राग-द्वेष आदिको शान्त करनेमें लग गया । रागादिको जीतकर उसने घोर तपश्चरण किया । फलतः वह सौधर्म स्वर्गमें श्रीधर नामका देव हुआ । वहाँ उसका ऐश्वर्य अन्य देवोंसे कहीं अच्छा था । उसकी आयु दो सागर प्रमाण थी । देवागनाएँ उसकी सेवामें उपस्थित रहती थी । उसे देखकर देवांग-नाओंके नेत्रोंको बड़ा आनन्द होता था । उनके साथ वह आनन्दसे रहने लगा ॥७८॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्र-

चरित महाकाव्यमें चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

## पञ्चमः सर्गः

अथ धातकीत्युपपदेन युतामभिभूय<sup>१</sup> याम्यदिशि खण्डमुचम् ।

प्रविभासमानवपुरस्ति गुरुः सुरसेव्यसानुरिषुकारगिरिः<sup>२</sup> ॥१॥

अपि तस्य पूर्वभरते भरतप्रमुखक्षितीश्वरकृतावतरे ।

कविबेधसां स्तुतिपथाविषयो विषयोऽलकैति दध्वस्त्यभिधाम् ॥२॥

कमलानना मधुकरीनयना नवनालदण्डतनुबाहुलताः ।

हृदयंगमा वहति यः परितस्तदणोरिव स्थलसरोरुद्दिणी ॥३॥

स सर्वदैकान्तमते विदूष्य स्याद्वादविद्या प्रकटोप्रकुर्वन् ।

मिथ्यान्धकारं प्रहृतं प्रबाण्या श्रीवासुपूज्यो जयता मुमाम्यः<sup>४</sup> ॥

अथेति । अथ देवस्योत्पत्त्यनन्तरम् । धातकीत्युपपदेन धातकीति समोपपदेन । युता युक्ताम् । खण्डमुचं खण्डस्य<sup>५</sup> भूमिम् । अभिभूय अलंकृत्य । याम्यदिशि याम्याया दिशि दक्षिणाया दिशोत्यर्थः । प्रविभासमानवपुः प्रविभासमानं शोभमानं वपुः स्वरूपं यस्य सः । गुरुमहान् । सुरसेव्यसानु मुरैर्देवैः सेव्या आश्रयणीयाः सानरी यस्य सः । इषुकारगिरिः इष्यकारपर्वतः । अस्ति वर्तते ॥१॥ अपर्याप्तिः । अपि पुनः । भरतप्रमुख-क्षितीश्वरकृतावतरे भरतप्रमुखैर्भरतादिभिः क्षितीश्वरैर्भूमिपालैः कृतो विहितोऽवतारो यस्मिन् सः, तस्मिन्<sup>६</sup> ।<sup>६</sup> तस्य धातकीखण्डस्य<sup>७</sup> । पूर्वभरते पूर्वस्मिन् भरते भरतक्षेत्रे । कविबेधसा कविमुक्त्यानाम् । स्तुतिकथाविषयः स्तुतेः स्तुतिकथायाः कथाया बाण्या अविषयोऽणोरः । अलकैति ( अलका, इति ) । अभिधाम् अभिषानम् । दधत् वहन्<sup>८</sup> । विषयः देशः । अस्ति वर्तते । अतिशयः ॥२॥ कमलेति । कमलाननाः कमलान्वयं मुखं यासां ताः । रूपकम् । कमलानीव मुख यासां ताः । उपमा । मधुकरीनयनाः मधुकर्येव नयने यासा ताः । रूपकम् । अथवा मधुकर्यं इव नयने यासा ताः । उपमा । नवनालदण्डतनुबाहुलताः नवाना नूनाना नालानां दण्डा यष्टयः स एष<sup>९</sup> तन्त्री कृशा बाहुलता यासा ता । अथवा नवाना नालना दण्डा इव तन्त्री कृशा बाहुलता यासां ताः । उपमा । हृदयङ्गमा मनोहरा । तदणोरिव युवतीरिव । स्थलसरोरुद्दिणी स्थले वर्तमानः सरो-

श्रीवर्मकि स्वर्गवासेक पश्चात् उससे सम्बन्ध रखनेवाली कहानी शुरू होती है । दूसरे द्वीपका नाम धातकीखण्ड है । उसको दक्षिण दिशामें एक पहाड़ है, जो बाणके आकारका होनेसे 'इष्वाकार' या 'इषुकार' नामसे विख्यात है । उससे धातकीखण्डकी शोभा है । वह सभी ओरसे सुन्दर है । वह अन्य पहाड़ोंसे बड़ा है । इसीलिए उसके शिखरोपर देव लोग विचरण करते हैं ॥१॥ उसके पूर्व-भरतमें जहाँ भरत आदि राजे-महाराजे जन्म ले चुके हैं, एक 'अलका' नामका देश है । उसका वर्णन बड़े-बड़े कवि भी नहीं कर सके — वह अत्यन्त सुन्दर है ॥२॥ उस देशमें सभी ओरसे स्थल कमलनी लगी हुई है, जो नवयुवतियोंके समान हैं । नव युवतियोंके मुख कमल सरीखे, नेत्र भँवरी जैसे और बाहु मृणाल जैसे हाते हैं । स्थल-कमलिनियोंमें कमल लगे हुए हैं, जो उनके मुख हैं; उनके ऊपर भँवरियां बैठी हैं, जो उनके नेत्र हैं और उनके मृणाल बिलकुल नवीन हैं, जो उनकी भुजाएँ हैं । दोनोंकी सुपमा बिलकुल

१. आ इ<sup>१</sup> अभिभूय । २. अ<sup>२</sup> रिरिगिरिः । ३. अ<sup>३</sup> कविबेधसास्तुति<sup>३</sup> अ<sup>३</sup> विषयास्तुति<sup>३</sup> । ४. आ प्रती पद्यमिदं नास्ति । ५. आ वा स खण्डमुचं खण्डस्य । ६. आ प्रती स्वस्तिकान्तरगतं पाठो नावलोक्यते । ७. वा स खण्डस्य । ८. = नवा नूतना नालदण्डा मृणालयष्टयः । ९. वा स इव ।

वितताखिलक्षितितलाः पृथक् शिखरावलीबलपलीढघनाः ।  
 समतां यदीयनिगमान्तगता धरणीधरैर्दधति धान्यवयाः ॥४॥  
 विमलाकृतीरपरिदृष्टतला चिह्नितादरैरपि गभीरतया ।  
 प्रविभति यः सकललोकमता महतां मतीरिव महासरसीः ॥५॥  
 जलदीधिका जनविगाह्यजलाः सरितः शकुन्तरवरम्यतटाः ।  
 प्रविभाति यः परिदृष्टपरितः सरसोश्च पङ्कजवनाभरणाः ॥६॥  
 खरशीतमारुतरजोरहिते समयोचितोष्णहिमवर्षसुखे ।  
 निवसन्कदाचिदपि नाकुलतां सकलर्तुषु व्रजति यत्र जनः ॥७॥

रहिण्यः पद्मिन्यः ताः । बहति धरति । श्लेषोपमा ॥३॥ चिततेति । वितताखिलक्षितितलाः वितत-  
 मखिलानां समस्तानां क्षितितला तलं येषां ( यैः ) ते । पृथक् स्थूलाः । शिखरावलीबलपलीढघनाः शिख-  
 राणां शृङ्गाणामावल्याः समूहस्य बल्यैर्वृत्तैर्लौढश्चुम्बितो घनो मेघो येषां ( यैः ) ते । यदीयनिगमान्तगताः  
 यदीयानां निगमानां ग्रामाणामन्तं समीपं गताः । धान्यवयाः धान्यसमूहाः । धरणीधरैः पर्वतैः । समतां  
 सादृश्यम् । दधति धरति । उपमा ॥४॥ विमलेति । विमलाकृतीः विमला आकृतियुक्ताः ताः । गभीरतया  
 गम्भीरत्वेन । चिह्नितादरैरपि कृतप्रोतिभिरपि, गम्भीरत्वं द्रष्टुं प्रोत्तरपीत्यर्थः । अपरिदृष्टतलाः अपरिदृष्टमप-  
 रिलोकितां तलं यासां ताः । सकललोकमताः सकलं निखिललोकैर्जनैः [मताः] संमताः । महतां सत्पुरुषाणाम् ।  
 मतीरिव बुद्धीरिव । महासरसीः महतीः सरसीः । य देशः । विभति धरति । उपमा ॥५॥ जलेति । जन-  
 विगाह्यजलाः जनैर्विगाह्यं प्रवेशयोग्यं जलं यासां ताः । जलदीधिकाः क्रीडासरोवरान् । शकुन्तरवरम्यतटाः  
 शकुन्तानां पक्षिणां रवेर्बनिभो रम्यं तटं यासां ताः । सरितः नदीः । पङ्कजवनाभरणाः पङ्कजानां पद्मानां  
 वनमेव वण्डमेवाभरणं यासां ताः । सरसीश्च सरासि च । परितः समन्तात् । परिदृष्टं विभ्रतम् । यः अल-  
 कादेशः प्रविभाति विराजते । भा दीप्ती लट् । रूपकम् ॥६॥ खरेति । खरशीतमारुतरजोरहिते खरेण  
 तीक्ष्णेन शीतेन शैत्येन ( शीतलेन ) मारुतेन वायुना रजसा रणुना च रहिते व्यपगते । समयोचितोष्णहिमवर्ष-  
 सुखे समयस्य कालस्थोचितेन योग्येनोष्णेन हिमेन वर्षेण वृष्टिना ( वृष्ट्या ) । सुखे सुलभूते । यत्र देशे ।  
 निवसन् तिष्ठन् । जनः प्रजा । कदाचिदपि एकदापि ( कहिचिदपि ) । सकलर्तुषु सकलेषु ऋतुषु । आकुलतां

एक सरोखी है ॥३॥ उस देशके आस-पासमें बहुतसे गाँव हैं । उनके बाहर खिलहानोंमें अनाज-  
 के ढेर लगे हुए हैं, जो पहाड़ों सरोखी है — पहाड़ोंकी तरह वे सारे भूतलमें फैले हुए हैं, बड़े  
 हैं और अपने शिखरोंसे मेघोंको छू रहे हैं ॥४॥ वहाँ बड़े-बड़े सरोवर हैं । वे महान् पुरुषोंकी  
 बुद्धिके समान निर्मल हैं और गंभीरता ( गहराई ) के कारण, आदर करनेवाले भी उनकी  
 याह नही ले पाते । अतएव वे सर्वमान्य हैं । निर्मलता, अगाधता और लोकमान्यताके कारण  
 महान् पुरुषोंकी बुद्धि और सरोवरोंमें अद्भुत साम्य है ॥५॥ वहाँ जलसे लबालब भरी हुईं  
 दीधिकाएँ ( होज ) हैं, जिनका जल स्नान करने योग्य है । वहाँ अनेक नदियाँ हैं, जिनके तट  
 पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे मनको लुभानेवाले हैं । वहाँ बहुतसे सरोवर हैं, जिनमें कमल लहलहा  
 रहे हैं । इन दीधिकाओं, नदियों और सरोवरोंसे उस देशकी शोभामें चार चाँद लग गये हैं  
 ॥६॥ वहाँ तेज लू, शीतलहरी और आँधी नहीं चलती । ऋतुओं ( शीष्म, शीत और वर्षा )  
 के आनेपर उनके अनुकूल गर्मी सर्दी और बरसात होती है । फलतः वहाँके निवासी किसी भी

१. म 'हुता । २. अ जलवि' । ३. आ प्रतावेव 'पद्मिन्यः' इति समुपलभ्यते । ४. वा स शिखरा' ।

५. वा स शिखरा । ६. आ वा स 'कृतिः ।

सिकतास्थलोऽज्ज्वलवृद्धजघना भ्रमनाभिकाचचिरमध्यभुवः ।

सुपयोधरा वहति योऽङ्गता निजवल्गभा इव महासरितः ॥८॥

न नयं धयो व्यसनवर्गहृतं न जरा मतिस्मृतिविमोहहता ।

न हता गुणा मलिनदोषगणैर्न च यत्र मृत्युरपमृत्युहृतः ॥९॥

निरवग्रहैर्नवनवैः परितः परिपूर्णया विविधसस्यचयैः ।

प्रतनोति योऽखिलजनस्य भुवा नयनोत्सवं सुरकुरूपमया ॥१०॥

व्याकुलत्वम् । न व्रजति न गच्छति । व्रज गती लट् ॥७॥ विक्रमेति । सिकतास्थलोऽज्ज्वलवृद्धजघनाः सिकतानां स्थलानि प्रदेशास्ताभ्येवोऽज्ज्वले मनोहरे बृहती जघने यासा ताः, पक्षे सिकतास्थलमिवोऽज्ज्वले बृहती जघने यासा ताः । उपमा । भ्रमनाभिकाः भ्रमा आकर्तस्तेन एव नाभि र्यासा ताः । रूढकम् । पक्षे भ्रमा इव नाभि र्यासा ताः । रुचिरमव्यभुवः रुचिरा मनोहरा मध्यस्य भू प्रवेशो यासा ता । सुपयोधराः सु शोभनं पयो जल धरन्तीति सुपयोधराः, पक्षे सु शोभनो पयोधरो यासा ता । अङ्गताः अङ्गमग्रभाग गताः, पक्षे अङ्ग-मूढप्रदेशं गताः । निजवल्गभा इव निजस्य स्वस्य वल्गभा वनिताः [ ता ] इव । महासरितः महातरङ्गिणी । यः देशः । वहति धरति । वह प्रापणे लट् । श्लेषोपमा ॥ ८ ॥ नेति । यत्र देशो । नव नूतनम् । वयः योव-नादि । व्यसनवर्गहृतं व्यसनानां द्यूतादीनां वर्गेण समूहेन हृतं बाधितम् । न भवति । जरा बाधक्यम् । मतिस्मृ-तिविमोहहता मते रागाभिमोचरायाः स्मृतेरतोतविषयकायाः विमोहेन वैराग्येन हता । न भवति । गुणा । मलिनदोषगणैः मलिनं मलोमसं दोषाणां गणैः निबद्धैः । हता बाधिता । न भवति । मृत्युः मरणम् । अपमृत्यु-हृतः अपमृत्युना कलौघातादिना हतो बाधितः । न भवति । परिस्रव्या ॥९॥ निरेति । य देशः निरवग्रहैः अवग्रहान्निर्णेत निरवग्रहैरप्रतिवातेरित्यर्थः<sup>२</sup> । नवनवैः नूतनैर्नूतनैः । बोधनाया ङि । विविधसस्यचयैः विविधानां नानाप्रकाराणां सस्यानां चयैः । परितः समन्तात् । परिपूर्णया सपूर्णया । मुरकुरूपमया मुरकुरोर्देव-कुरोरुपमया समानया<sup>३</sup> । भुवा भूम्या । अखिलजनस्य सकलजनस्य । नयनोत्सवं नेत्रमंतोषम् । प्रतनोति

ऋतु ( मौसम ) मे व्याकुल नहीं होते ॥७॥ उस देशके बीचो-बीच जो नदियाँ बहती हैं, वे उसकी गोदमे बैठो हुई पत्नीके समान जान पड़ती हैं । पत्नीका जघन-भाग, रेताले स्थल-टापूके समान उज्ज्वल और विशाल होता है; भँवर सरीखी नाभिसे उसका मध्यभाग विभूषित होता है और उसके मुन्दर स्तन होते हैं । इसी तरह वे नदियाँ रेताले स्थल रूपी उज्ज्वल विशाल जघनोंसे विभूषित हैं, उनके मध्यभाग भँवररूपी नाभिसे अलंकृत हैं और उनका जल मधुर है ॥८॥ वहाँके निवासियोंका नव यौवन जुआ आदि बुरी आदतोंमें फँसकर बरबाद नहीं होता; बुढ़ापेमें भी उनकी बुद्धि और स्मृति ठोक बनी रहती है — वे सड़पा नहीं जाते; उनके निर्मल गुण, दोषोंसे मलिन नहीं होते । फलतः उनकी मृत्यु आयु समाप्त होनेपर ही होती है । विष आदिके द्वारा किसीकी अपमृत्यु ( अकाल मरण ) नहीं होती ॥९॥ उस देशकी भूमि सभी ओरसे नये-नये नाना प्रकारके अनाजसे परिपूर्ण रहनेसे देवकुरु ( उत्तम भागभूमि ) सरीखी है । अनाजकी उपज, कभी सूखा ( अवर्षण ) आदिसे नष्ट नहीं होती । इसीलिए वह देश सभीके

१. आ शा स लिट् । २. = वृष्टिप्रतिबन्धरहितैरिति यावत् । ३. = मुरकुरोर्देवकुरोरुपमा साम्ये यस्याः सा, तथा ।

तदराजयः सकुसुमाः कुसुमं फलवत्फलं मधुरतानुगतम् ।  
 नहि तत्र किञ्चिदपि वस्तु न यज्जनतामुदं प्रविद्धात्यथवा ॥११॥  
 अथ कोशलेति भुवनत्रितयप्रथितास्ति तत्र विषये नगरी ।  
 अलकेव भूरिविभवानुगतैः परिवारिता<sup>१</sup> प्रचुरपुण्यजनैः ॥१२॥  
 तनुकुक्षयोऽप्यतनुधारमपो विसृजन्ति यत्र शरदागमने ।  
 अतितुङ्गसोऽथ शिखरावततिप्रविदारितोदरभुवोऽम्बुधराः ॥१३॥  
 मणिदीपकप्रकटनिर्वृतये क्षिपनी शिखासु निजमाल्यरजः ।  
 द्यितेन यत्र नवमुग्धवधूरपहस्यते<sup>२</sup> नतमुक्ती श्रपया ॥१४॥

विदधाति । तनुक् विस्तारे लट् । उपमा ॥१०॥ तरुराजय इति । तत्र देशे । तरुराजयः तरुणा वृक्षाणां राजयः श्रेणयः । सकुसुमाः कुसुमसहिताः । कुसुमं पुष्पम् । फलवत् फलवृक्षम् । फलं मधुरतां मधुरत्वम् । अनुगतं स्वीकृतम् ( प्रपन्नम् ) । यत् वस्तु । जनतामुदं जनतायाः जनसमूहस्य मुद संतोषम् । न प्रविद्धाति<sup>३</sup> न करोति । अथवा तद्वस्तु किञ्चिदपि नहि नास्ति । तस्मिन् देशे सर्वं वस्तु सर्वजनानां संतोषप्रदमेव, प्रमोदप्रदं ( त्व ) रहितं नास्तीत्यभिप्रायः । एकावलि ॥११॥ अथेति । अथ अनन्तरम् तत्र विषये अलका-विषये । भूरिविभवानुगतैः भूरि बहुलविभवमैश्वर्यमनुगतैः । प्रचुरपुण्यजनैः प्रचुरैर्बहुभिः पुण्यजनैर्बलैश्च पुण्ययोगक्षिप्तजनैश्च । परिवारिता सकीर्णा । अलकेव कुबेरपुरमिव । कोशलेति<sup>४</sup> । भुवनत्रितयप्रथिता भुवनानां लोकानां त्रितयं तस्मिन् प्रथिता प्रसिद्धा । नगरी पुरी । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । श्लेषोपमा ॥१२॥ तन्वितेति । यत्र कोशलायाम् । शरदागमने शरदः शरत्कालस्यागमने । अतितुङ्गसोऽथ शिखरावततिप्रविदारितोदरभुवः<sup>५</sup> अतितुङ्गानामतृपुनतानां सोधानां हर्म्याणां शिखराणां शृङ्गानामवतत्वा समूहेन प्रविदारिता त्रिभिन्ना भू-प्रदेशो<sup>६</sup> येषां ते । अम्बुधराः मेघाः । तनुकुक्षयः तनुः कुक्षः कुक्षिर्येषां ते । अतनुधारम् अतन्वी महती धारा प्रवाहो यथा तथा । अपः जलानि । विसृजन्ति वर्षन्ति । सूत्र विसर्जने लट् । अतिशयः ॥१३॥ मणीति । यत्र कोशलायाम् । मणिदीपकप्रकरनिर्वृतये मणीनां रत्नानां दीपकानां<sup>७</sup> प्रकरं निवहं<sup>८</sup> निर्वृतये विनाशाय । शिखामु ज्वालासु । निजमाल्यरजः निजायाः<sup>९</sup> स्वकीयाया माल्यस्य रजो रेणुम् । क्षिपती निक्षि-

नेत्रोको आनन्द देने वाला है ॥१०॥ वहाँ वाग-बगीचे बहुत हैं । उनमें पंक्तिके अनुसार वृक्ष लगाये गये हैं । उनमें फूल लगे हुए हैं, फूलोंमें फल लगे हुए हैं और फलोंमें मधुरता भरी हुई है । वहाँ ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो जनताको आनन्दजनक न हो ॥११॥ यहाँ तक 'अलका' देशका वर्णन हुआ, अब यहाँसे उसकी 'कोशला' नगरीका वर्णन प्रारम्भ होता है । उस देशमें कोशला नामकी एक नगरी है । उसका नाम तीनो लोकोंमें प्रसिद्ध है । वह कुबेरकी अलका पुरीके समान है । जिस प्रकार अलका पुरीमें वैभवशाली पुण्यजन-यक्ष निवास करते हैं, उसी प्रकार कोशला नगरीमें वैभवशाली पुण्यजन-सज्जन निवास करते हैं ॥१२॥ बरसातमें मेघ सजल होनेसे तुन्दिल हो जाते हैं और शरद् ऋतुमें निर्जल होनेसे वे तुन्दिल नहीं रहते, किन्तु उस नगरीके महलोंके शिखरोंसे आहत होकर वे शरद् ऋतुमें क्षीणकोष होकर भी अपने मध्यभागसे मूसलाधार जल बरसा देते हैं ॥१३॥ वहाँ प्रथम मिलनकी वेलामें भोली-भाली नव-वधुएँ मणि-दीपोंको बुझानेके लिए उनके ऊपर अपनी मालासे पराग निकालकर फेंक देती

१. अ आ इ<sup>१</sup> त्रितये । २. अ परितद्वरत्प्रभु<sup>२</sup> । ३. अ स्वतनुग्रये । ४. इ क ल ग घ म<sup>३</sup> रवहस्यते । ५. आ सुकुपु<sup>४</sup> । ६. आ श स न विदधाति । ७. = 'कोशला' इति नामवती । ८. श स<sup>५</sup> षरभुवः । ९. = उदरभू मध्यप्रदेशः । १० = मणिदीपकानाम् । ११ = प्रकरो निवहः, तस्य । १२. = निजमाल्यस्य स्वमालाया रजो रेणुम् ।



विबिधासु धन्यजनहर्म्यततेर्मणिमूमिषु प्रतिमया निपतन् ।

निशि यत्र कुन्दसदृशः कुसुमप्रकरायते ग्रहगणो निखिलः ॥१५॥

असतीजनं जिगमिषुं बहुलक्षणदामुल्लेषु दयितावसथम् ।

निज एव विधनयति यत्र मुहुमुल्लचन्द्रमाः स्मितविभिन्नतमाः ॥१६॥

रजनीषु यत्र गुरुहर्म्यशिखागतनीलरत्नरुचिर्विच्छुरितः ।

हिमद्रीधितिर्भवति कृष्णवपुः पुरयोषितामिव मुखैर्विजितः ॥१७॥

शिखराणि यत्र परिधेः परितः परिवारितानि शरदभ्रलवैः ।

रघियाजिनामिव विलङ्घयतां श्रमजैर्विभान्ति मुखफेनचयैः ॥१८॥

पती<sup>१</sup> । त्रयया लज्जया । नतमुखो विनतानना । नवमुखवधूः नवा नूतना मुख्या अप्रोडा वधूः वनिता । दयितेन पुत्र्येण । अपहृत्यते परिहास्यते । हसे हसने कर्मणि लट् ॥१४॥ विविधेति । यत्र पुर्याम् । धन्यजनहर्म्यततेः धन्यानां पुण्यवतां जनानां हर्म्याणां सोपानां ततेः पक्षेः । विविधासु नानाविधासु । मणिमूमिषु रत्नमूमिषु । निशि निशायाम् । 'वद्'— इत्यादिना निशाशब्दस्य निष् इत्यादेशः । प्रतिमया प्रतिबिम्बेन । निपतन् संक्रममाणः । कुन्दसदृशः कुन्दस्य सदृशः । निखिलः सकलः । ग्रहगणः ग्रहाणां नक्षत्राणां गणः समूहः । कुसुमप्रकरायते कुसुमप्रकर इवाचरतीति कुसुमप्रकरायते । उपमा ॥१५॥ असतीति । यत्र पुर्याम् । बहुलक्षणदा-मुल्लेषु बहुलक्ष्य कृष्णवक्षस्य क्षणदानां रात्रौणां मुखेषु प्रारम्भेषु । दयितावसथं दयिनस्योपपत्तरावसथमावासम् । जिगमिषुं गन्तुमिच्छुम् । असतीजनम् असत्येव (असतीनां) जनस्तम्—शारस्त्रीजनम् । स्मितविभिन्नतमाः स्मितेनेपदसनेन विभिन्नं निराकृतं तमो रस्य ( येन ) सः । निज एव स्वकीय एव । मुखचन्द्रमाः मुखमेव चन्द्रमाश्चन्द्रः । मुहुः पश्चात् । विधनयति प्रत्युहं करोति । विधन इति सुब्धातोः 'णिञ्जबहुलं कृञादिषु' इति णिञ् ॥१६॥ रजनीधिति<sup>२</sup> । यत्र पुर्याम् । रजनीषु रात्रिषु । गुरुहर्म्यशिखागतनीलरत्नरुचिर्विच्छुरितः । गुरुणां महतां हर्म्याणां सोपानां शिखाः शिखराणि गतानां नीलरत्नानां रुचिः कान्तिविचिच्छुरितो विभित<sup>३</sup> । हिमद्रीधितिः चन्द्रः । सामान्यालङ्कारः (तद्गुणालङ्कारः) पुरयोषिता पुरस्त्रीणाम् । मुखैः वदनेः । विजित इव निराकृत इव । कृष्णवपुः कृष्णशरीरः । भवति । उपमा [उत्प्रेक्षा] ॥१७॥ शिखरेति । यत्र पुर्याम् । शरदभ्रलवैः शरदः शरत्कालस्याभ्रस्य मेघस्य लवैः खण्डैः । परितः सर्वतः । परिवारितानि व्याप्तानि । परिधेः सालस्य । शिखराणि शृङ्गाणि । विलङ्घयतां लङ्घनं कुर्वताम् । रविवाजिना सूर्यस्तुरङ्गाणाम् । श्रमजैः आयासजनितैः ।

हैं । यह देखकर उनके पति हँसने लगते हैं और वे लज्जित होकर अपना सिर नीचेको और झुका लेती हैं ॥१४॥ वहाँ घनिक लोगोंके महलोंमें जो फर्श है, उनमें मणि जड़े हुए हैं । रात्रिके समय उनमें ग्रह-नक्षत्र आदि जो दूरसे कुन्द-पुष्प सरीखे जान पड़ते हैं — प्रतिबिम्बित होकर पुष्प-पुञ्ज सरीखे प्रतीत होते हैं ॥१५॥ वहाँ जो अभिसारकाएँ कृष्ण पक्षकी रात्रिके प्रारम्भमें अपने उपतियों (यारों) के घर जाना चाहती हैं, उन्हें उन्हीका मुख-चन्द्र अपनी मुस-कानकी चौदनीसे अन्धकार मिटाकर विघ्न डाल देता है ॥१६॥ वहाँके महलोके ऊपरी भागोंमें नीलरत्न जड़े हुए हैं । रात्रिके समय उनकी प्रभासे चन्द्रमा काला पड़ जाता है । मानो उस नगरीकी स्त्रियोंके मुखसे पराजित हो जानेसे वह ऐसा ( काला ) हो गया है ॥१७॥ उस नगरीकी चहार दीवारीपर जब चारों ओरसे शरत्कालीन मेघोंके छोटे-छोटे टुकड़े छा जाते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है मानो उस ( चहार दीवारी ) को लांघनेवाले सूर्यके घोड़ोंके मुखसे

सति मानसेऽप्यकलुषाम्भसि यद्गृह्णीष्विकानिरतहंसकुलैः ।  
 न विमुच्यते सततसंनिहितैरिव सुन्दरीगतिशिशिक्षिषया ॥१६॥  
 अतुलप्रतोलिशिखराप्रगतस्फटिकोपलांशुचयसंवलितः ।  
 भजते सहस्रकिरणत्वमुद्रप्रकरोऽपि यत्र रजनीसमये ॥२०॥  
 सुरसुन्दरीसमशरीरलताः प्रविधाय यत्र युवतीविधिना ।  
 समपादि संकरभियेष भिदा सनिमेषलोचनयुगेन पुनः ॥२१॥  
 त्रिदशाधिवासजित यत्र सदाप्यगुणः समस्ति परमेष महान् ।  
 निपतन्मुखे कमलशङ्किमना यदुपद्रवत्यलिगणः सुमुखीः ॥२२॥

मुखफेनचर्यं मुखस्य फेनानां चर्यरिव । विभान्ति विरेजुः । भा दीप्ती लट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ सतीति । या पुरी । अकलुषाम्भसि अकलुष निर्मलम्भो यस्मिन् तस्मिन् । मानसे सरस्यपि सुन्दरीगतिशिशिक्षिषयेव सुन्दरीणां नारीणां गतैर्मनस्य शिशिक्षिषयेव अभ्यासेच्छयेव । सततसंनिहितं सतनमनवरतं संनिहितैः । गृह्णीष्विकानिरतहंसकुलैः गृह्णीष्विकामु क्रीडासरोवरैषु निरतैस्तत्परैः हंसानां मरालानां कुलैः समूहैः । न विमुच्यते न त्यज्यते । मुक्लब्धं मोक्षणे कर्मणि लट् । उत्प्रेक्षा ॥१९॥ अनुलंघति । यत्र पुर्याम् । रजनीसमये रात्रिकाये । अतुलप्रतोलिशिखराप्रगत अतुल्या । प्रमातीताया प्रतोल्या गोपुरस्य शिखराणामग्रं गत । स्फटिकोपलांशुचयसंवलित स्फटिकोपलानां स्फटिकपाषाणानामंगूनां किरणानां चयेन निवहेत संवलितो मिथितः । उद्रप्रकरोऽपि उद्भूतं नक्षत्राणां प्रकरोऽपि समूहोऽपि । सहस्रकिरणत्व प्रचुरकिरणत्वम् । भजते सेवते । भज सेवाया लट् । मामान्यालङ्कारः ॥२०॥ सुरेति । यत्र पुर्याम् । विधिना कर्मरूपेण । सुरसुन्दरी-समशरीरलताः सुरसुन्दरीणां दिविजस्त्रीणां समा समाना शरीरमेव लता यासा ताः । युवती. नारीः । प्रविधाय निर्माय । पुन पश्चात् । संकरभियेष मिश्रणभयेनेव । सनिमेषलोचनयुगेन सनिमेषयोनिमेषसहितयोर्लोचनयो-र्नयनयोर्युगेन । भिदा भेदः । समपादि अकारि । पदि गतो कर्मणि लुट् । ॥२१॥ त्रिदशेति । त्रिदशाधिवास-जित त्रिदशानां देवानामधिवासमावाप जयतीति त्रिदशाधिवासजित् तस्मिन् । यत्र पुर्याम् । मदा सर्वदापि । कम-शङ्किमना. कमलमिति शङ्क शङ्कनशीलं मनो यस्य स । मुखे बन्दने । निपतन् विनमन् । अलिगण. अलीना भ्रमराणां गण । सुमुखीः सु शोभनं मुख यासा ताः । उपद्रवति बाधते । द्रु गती लट् । यत् यस्मान् ।

परिश्रमके कारण गिरे हुए फेन-पुञ्ज हो ॥१८॥ उस नगरीकी दीधिकाओंमें — जो घर-घर बनो हुई है — हंस इतने रम गये हैं, कि निर्मल जलवाले मानस सरोवरके पासमें होनेपर भी, वे उसमें नहीं जाते । मानो वे वहाँकी स्त्रियोकी सुन्दर चाल सोखनेके लिए निरन्तर वही रहना चाहते हैं — शिक्षामें व्यवधान न हो, मानो यह सोचकर उस नगरीको ( वर्षा ऋतुमें भी ) नहीं छोड़ना चाहते ॥१९॥ उस नगरीके प्रमुख दरवाजोके ऊपरी शिखर अनुपम है । उनमें स्फटिक मणि जड़े हुए हैं । रात्रिके समय उनकी किरणें नक्षत्र मण्डलके ऊपर पड़ती हैं । फलतः वह ( नक्षत्रमण्डल ) भी हजार किरणोंवाला ( सूर्य ) हो जाता है ॥२०॥ ब्रह्मा ( नाम कर्म ) ने वहाँको युवतियोंको देवांगनाओंके समान सुकुमार और सुन्दर बनाकर, बादमें उनमें खुलने और बन्द होनेवाले ( सनिमेष ) लोचन लगा दिये । मानो इस भयमें कि वे देवांगनाओंमें मिलकर कही एक न हो जायें ॥२१॥ यों उस नगरीने अपनी सुषमासे स्वर्गको मात कर दिया है, किन्तु वहाँ यह एक बहुत बड़ा दोष सदा बना ही रहता है कि स्त्रियोंके

१. = मानससरोवरैः सत्यपि । २. स स मुख । ३. = सूर्यत्वमिति व्यज्यते । ४. = तस्याम् ।

५. आ अलिनाम् ।

अथ तत्र शक्युपचयानुगतो नृपशेखरीकृतपदाम्बुगुहः ।  
 नयविक्रमाजितजगज्जयधानजितंजयोऽजनि नराधिपतिः ॥२३॥  
 बिसतन्नुनिर्मलतमैर्जनतापरितापनोदिभिरतीततुलैः ।  
 करणैरिवोद्भुपतिनास्मगुणैर्धवलीकृता जगति येन दिशः ॥२४॥  
 मम कः प्रतापमवजेतुमलं जगतीत्युदेति समदः प्रथमम् ।  
 प्रचिलोक्ष्य धाम पृथु यस्य पुना रविरेति लज्जित इवास्तमयम् ॥२५॥  
 महिमा निसर्गविनयेन यथा न तथा धियाप्यजनि यस्य सतः ।  
 न निमित्तमत्र विभवः पुरुषं गुणसंपदेव गुरुतां नयते ॥२६॥

अर्थ महान् । परं केवलम् । अगुणः दोषः । समस्ति वर्तते । अन्तिमान् ॥२२॥ अर्थेति । अथ अनन्तरम् ।  
 तत्र पुनर्यम् । शक्युपचयानुगतः शक्तीनां प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तीनामुपचयं वृद्धिमनुगतः । नृपशेखरीकृत-  
 पदाम्बुगुहं नृराणां भूपतीनां शेखरीकृत प्रागशेखरद्वानां शेखरः क्रियते<sup>१</sup>स्म तयोक्तं पादावेवाम्बुगुहं तयोक्तं  
 नृशेखरीकृतं पदाम्बुगुहं येन सः । नयविक्रमाजितजगज्जयवान् नयविक्रमाजित नोतिपराक्रमाभ्यामजितः  
 संपादितो जगता जयस्तथोक्तः, नयविक्रमाजितश्चासौ जगज्जय सोऽस्यास्तीति तथोक्तः । अजितंजय इति ।  
 जनाधिपतिः राजा । अजनि अजायत । जनैश्च प्रादुर्भावे लब्धः ॥२३॥ विभेति । उद्भुपतिना चन्द्रेण ।  
 बिसतन्नुनिर्मलतमै बिसर्ग्य<sup>३</sup> कमलस्य तत्तव इव निर्मलतमैरत्यन्तनिर्मलैः । जनतापरितापनोदिभिः जनताया  
 जनसमूहस्य । 'प्रामजनबन्धुगजसहायास्तल' इति समूहायें तत् । परितापनोदिभिः मनापहारिभिः ।  
 अतीततुलै अतिक्रान्ततुलाराशिभिः, पक्षे उपमातीतैः । किरणैरिव कान्तिभिर्गिव । येन अजितंजयेन ।  
 आत्मगुणैः स्वकीयगुणैः । जगति लोके । ॥ दिशं<sup>४</sup> ककुम् । विमलीकृता प्रागविमला इदं नो विमला  
 क्रियन्तेस्म तथोक्ताः । 'कर्मकर्मण्यं प्रागतस्त्रयैर्विवः' इति चिन् । 'चन्द्रौ चानव्ययस्य' इति—अकारग्य  
 ईकारः । श्लेषोपमातिशयो ॥२४॥ ॥ ममेति । जगति लोके । मम मे । प्रतापं विक्रमं तेजश्च । अवजेतु  
 जयनायः । कः को वा । अलं समर्थः । इति प्रकरणेन । प्रथमं समदं गर्वमहितं । रवि सूर्यः । उदेति  
 उद्भूयति । पुन पदवात् । यस्य राज्ञः । पृथु महत् । धाम तेजः । प्रचिलोक्ष्य प्रवीक्ष्य । लज्जित इव त्रपित इव ।  
 अस्तमयम् अस्तादिम् । एति गच्छति । इण् गतो लट् । उत्प्रेक्षा ॥२५॥ महिमिति । स्रग मत्पुरुषस्य ।

मुखको कमल समझकर भोरे उन्हें सताया करते हैं ॥२२॥ यहाँसे, वहाँके राजा अजितंजयका  
 वर्णन प्रारम्भ होता है । उस कोशलापुरीमें अजितंजय नामका राजा राज्य करता था ।  
 उत्साह शक्ति, मन्त्रशक्ति और प्रभुशक्ति ये तीनों शक्तियाँ खूब विकसित होकर उसका  
 अनुगमन करती थीं । सभी राजे-महाराजे मस्तक नवाकर उस नमन करते थे । उसने नोति  
 और पराक्रमसे सारे जगत्पर 'वज्र पा ली थी ॥२३॥ जिस प्रकार चन्द्रमा मृणालतन्तुओंके  
 समान अत्यन्त निर्मल, जनताके सन्तापको मिटानेवाली और तुलाराशिको पार करनेवाली  
 अपनी किरणोंसे संसारकी सभी दिशाओंको उज्ज्वल कर देता है, इसी प्रकार उस राजाने भी  
 मृणालतन्तुओंके समान अत्यन्त निर्मल एवं प्रजाजनके सन्तापको मिटानेवाले अपने अनुपम  
 गुणोंसे विश्वके कोने-कोनेको उज्ज्वल कर दिया था ॥२४॥ 'इस संसारमें मेरे प्रताप ( तेज,  
 पराक्रम ) को जीत ही कौन सकता है' यह सोचकर जो सूर्य सबेरे सगर्व होकर उदित होता  
 है, वही उस राजाके सर्वत्र फैले हुए प्रबल प्रतापको देखकर मानो लज्जित होकर शामको  
 फिर डूब जाता है ॥२५॥ उसकी जो महिमा विनयेसे थी वह लक्ष्मीसे नहीं थी । लक्ष्मी तो

१. अ भा 'नयः । २. श स क्रियन्ते स्म । ३. — कमलदण्डस्य तन्तुभिरिव । ४. श स स्वस्तिका-  
 न्तर्गतः पाठो न लोपलभ्यते । ५ = इत्थं विचार्यति यावत् ।

भुवनातिशेन यशसो कथितं प्रविधायं यस्य गुह धैर्यगुणम् ।

लव गोदधिर्निजयशोभिभवादिषु कालिमानमथद्वष्टपुषि ॥२७॥

दहनेन येन रिपुवंशततः सुहृदाननाम्बुजविकासकृता ।

न जितः परं दिनमणिर्महता शशलाञ्छनोऽपि कमनीयतया ॥२८॥

गुरोर्भ्वरो नरकभिन्नदः कमलालयः शिशिरगुह्य बुधः ।

सुगतश्च सम्सकलदेवमयः समपादि यो वसुमतीवल्लभे ॥२९॥

यस्य राज्ञः । निशग्विनयेन सहज्विनयेन । यदा येन । महिमा महत्त्वम् । 'पृथादेवमन्' इति भावे इमन्-प्रत्ययः । अजनि अजायत । तथा तेन<sup>१</sup> । श्रियापि संपत्त्यापि । नाजनि । अत्र जगति । विभवः संपत् । निमित्त कारणम् । न भवति । गुणसंपदेव गुणमाप्तिरेव । पुरुषम् आत्मानम् । गुह्यता महत्त्वम् । नयते प्रापयति ।<sup>२</sup> णीञ् प्रापणे लट् । अन्तरिम्यासः ॥२६॥ भुवनेति । यस्य राज्ञः । भुवनातिशेन भुवनमतिगच्छतीति भुवनःतिगं तेन । यशसो कीर्त्या । कथितं प्रोक्तम् । रूधैर्यगुणं गुरोर्महती धैर्यस्य गुणं धैर्यमेव गुणं वा । प्रविधायं निश्चित्या (निश्चित्य) । लवणोदधि लवणरूपाण्युदकानि धीयस्तेऽस्मिन्निति तथोक्तः । लवणसमुद्रः । निजयशोभिभवादिषु निजस्य स्वकीयस्य यशसः कीर्तयिषिभवादिषु तिरस्करणादिषु । वपुषि अवयवे । कालि-मानं कुल्लवत्वम् । 'वर्णद्विद्विभ्य' इति इमन् । अवहत् अथत् । बहो प्रापणे लङ् । उपेक्षा ॥२७॥ दहनेनेति । रिपुवञ्शतते रिपुणा शत्रूणां वशानामन्वयानां ततेनिकरस्य । दहनेन वह्निना । सुहृदाननाम्बुज-विकासकृता सुहृदा मित्राणामननायैवाम्बुजानि कमलानि तेषां विकासकृता । रूपकम् । येन । महमा तेजसा । परं केवलम् । दिनमणिः सूर्यः । न जित न जीयते स्म<sup>३</sup> । पुनः । कमनीयतया मनोहरतया । शशलाञ्छनोऽपि चन्द्रोऽपि, जित इत्यर्थः । दीपकम् ॥२८॥ गुरुरिति । यः राजा । गुरुः<sup>४</sup> बृहस्पतिः । ईश्वर इत्यपती वृहदव । नरकभिन् नरकगतिनामकर्मच्छेदको विष्णुश्च । धनदः<sup>५</sup> धनं प्रदाता कुबेरश्च । कमलालय कमलाया लक्ष्म्या आलयो निलयो ब्रह्मा च । शिशिरगुः शिशिरा गौर्यस्य शीतलवचन इत्यर्थः,

ओरोके पाम भी धो, पर उस जैसी विनय किसीमे नहीं थो । वह सज्जन जो था । पुरुषके बह्पनमे वैभव उतना कारण नहीं जितनी गुणोंकी सम्पत्ति होती है । पुरुषको गौरव, गुणोंसे ही मिलता है । गुण-सम्पत्ति ही उसे गौरवकी ओर ले जाती है ॥२६॥ उसका यश इम लोकमे समा नहीं रहा था । वह (यश) उस (राजा) के महान् धैर्यगुणको व्यक्त कर रहा था । उसके धैर्यने समुद्रके धैर्यगुणस उत्पन्न हुए यशको भी फोका कर दिया । मानो इसी कारणसे लवण समुद्र चारों ओरसे काला पड़ गया ॥२७॥ शत्रु-वंशको जलानेके लिए वह अग्नि था और मित्रोंके मुखकमलको विकसित करनेके लिए सूर्य । यों सूर्य भी बाँसोको जलाता है और अपने मित्र-कमलोको विकसित करता है । अतः वह उस राजाके समान माना जा सकता है, किन्तु राजाने अपने तेजसे उसे जोत लिया था, तथा चन्द्रमाको अपनी सुन्दरतासे ॥२८॥ प्रजाको शिक्षा देनेसे वह उसका गुरु ( बृहस्पति ) था; सब कुछ करनेमे समर्थ होनेसे ईश्वर (शंकर) था; नरकगतिमे ले जानेवाले पापोंका भेदन करनेसे नरकभिन् ( विष्णु ) था; धन देनेसे धनद ( कुबेर ) था; सम्पन्न होनेसे कमला-लक्ष्मीका निवास स्थान ( कमलालय ब्रह्मा ) था;

१. अ आ इ क ख ग घ ङ कविद्वन्द्वः । २. = येन प्रकारेण । ३. = तेन प्रकारेण ।

४. श स अजनि । ५. आ नायते प्रायते । श स नायते । ६. आ जिज्ञ । ७. आ वहि । श स वह ।

८. = विकासकारिणा । ९. राज्ञा । १०. य स न जीयति स्म । ११. = महान् बृहस्पतिश्च ।

१२. = धनप्रदाता ।

निजशौर्यवह्निहृतशत्रुगणे गुणरञ्जिताखिलमहोवलये ।  
 पृथुधाम्नि रक्षितरि यत्र सदा निरुपद्रवा विवबुधे धरणी ॥३०॥  
 रिपुसुन्दरीविततबाणजलैः शमितोरुवैरदहनस्य सतः ।  
 रविधाम यस्य ससहायमभूदुरुतेजसाखिलमटद्भवनम् ॥३१॥  
 निजविक्रमाहितरणैकरसो मददत्तकेसरिकिशोर इव ।  
 द्विपतां बले विपुलतेजसि यः प्रबबन्ध कोटकधियं प्रधने ॥३२॥  
 अतुलप्रतापपरिभूतमोरिपुधाम्नि यत्र कृतदिग्विजये ।  
 निजनाम सर्वभवनप्रथितं दधुरशून्यमधिपाः ककुभाम् ॥३३॥

चन्द्रदेव । बुध. विद्वान् । बुधग्रहश्च । सुगत. सम्पन्नज्ञानी बुद्धश्च सन् । वसुमतोवलये वसुमत्या भूमेर्वलये मण्डले । सकलदेवमयः । सकलदेवानां मय. स्वरूपः । समवादि । समभवत् । पाद गतो लुङ् । 'पद.' इति कतेरि जिः ॥३१॥ निजेति । निजशौर्यवह्निहृतशत्रुगणे निजस्य स्वस्य शौर्यमेव वह्निहृतस्मिन् हृतो हवनं कृत. शत्रूणां वैरिणां गणो यस्य ( येन ) तस्मिन् । गुणरञ्जिताखिलमहोवलये गुणै रञ्जितः प्रीणितः माखिल महोवलये भूमण्डल यस्य ( येन ) तस्मिन् । पृथुधाम्नि महाप्रतापे । रक्षितरि पालयितरि । यस्मिन् राज्ञि ( सति ) । सदा सर्वस्मिन् काले । निरुपद्रवा निर्बाधा । धरणी भूमिः । विवबुधे । वर्धतेस्म । वृधून् वर्धने लिट् ॥ ३० ॥ रिप्बिति । अखिलं निखिलम् । भुवनं जगत् । अटन् गच्छत् । रविधाम रवेः सूर्यस्य धाम तेजः । रिपुसुन्दरीविततबाणजलैः रिपूणां शत्रूणां सुन्दरीणां वनितानां विततबाणजलैरश्रुजलैः । शमितोरुवैरदहनस्य शमितो दमित उरुमेहान् वैरमेव दहनो यस्य तस्य । सत सन्तुष्टस्य । यस्य राज्ञः । उरुतेजसा महाप्रतापेन । स्वप्रायम् । अभून् असवत् । भू सताया लुङ् ॥३१॥ निजेति । निजविक्रमाहितरणैकरसः निजस्य स्वस्य विक्रमेण पराक्रमेणाहिते कृते रणे संग्रामे एको मुख्यो रसो यस्य सः । मददत्तकेसरिकिशोर इव मदेन दत्तो गवित केसरिण सिंहस्य किशोर इव शावक इव । य राजा । प्रधने संग्रामे । विपुलतेजसि विपुलप्रतापयुक्ते । द्विपता शत्रूणाम् । बले सैन्ये । कोटकधियं कोटक इति बुद्धिम् । प्रबबन्ध करोति रम । बन्धं संगमने लिट् ॥३२॥ अनुलेति । अतुलप्रतापपरिभूतमोरिपुधाम्नि अतुलनोपमासीलेन प्रतापेन तेजसा परिभूत तिरस्कृत तमोरिपो सूर्यस्य धाम तेजा यस्य तस्मिन् । यत्र राज्ञि । कृतदिग्विजये सति कृतो विहितो दिवा जयो येन तस्मिन् मति । ककुभा दिशाम् । अधिपाः अधिपतयः । सर्वभुवनप्रथितं सर्वेषु भुवनेषु प्रथितं प्रसिद्धम् । निजनाम सस्वनामवेषम् ।

मधुरभाषो होनेसे शिशिरगु ( चन्द्रमा ) था; पण्डित होनेसे बुध ( बुधग्रह ) था और सम्पन्नज्ञानी होनेसे सुगत ( बुद्ध ) था । इस प्रकार वह इस भूमण्डलमे सर्वदेवमय था ॥२६॥ उसने शत्रु-वर्गको अपने पराक्रमकी अग्निमें होम दिया था और सारे भूमण्डलको अपने गुणोंसे प्रमत्त कर दिया था । अतः उस प्रबल प्रतापी राजाके रक्षक होनेपर पृथ्वी सदा उपाद्रवोंसे रहित होकर खूब समृद्ध हो रही थी ॥३०॥ उसने अपने वैरकी अग्निको शत्रु-नारियोंके अश्रुजलसे शान्त-कर दिया था और उसका तेज सूर्यके उस तेजको सहायक हुआ, जो सारे संसारमे अकेला ही भटकता रहा ॥३१॥ अपने पराक्रमसे रण छेड़नेमे उसे बड़ा रस आता था । अतः सगर्व शेरके बच्चेकी भाँति वह रण-क्षेत्रमें तेजस्वी-से-तेजस्वी शत्रुओंके दल बलकी अपने सामने कीड़ा-मकीड़ा सलक्षता था ॥३२॥ उसने अपने अनुपम प्रतापसे सूर्यके प्रतापको मात कर दिया था । उसने जब पूर्व आदि सभी दिशाओंपर विजय पा ली, तब इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम

१. = सकलदेवस्वरूपः । २. = विहितः । ३. = आहृतिरूपता नीतः । ४. आ निवबुधे ।

५. = ससहाय । ६. आ रुद्रप्रतापसंयुक्ते । ७. आ वध । ८. = येन ।

जयशालिनः सहजभद्रतया परिभूषितस्य गुरुवंशभृतः ।  
 अजनिष्ट यस्य न मनागपि दिक्करिणोऽपि कीर्तिनिलयस्य मदः ॥३४॥  
 वसुधां पयोनिधिपयोवसनां परिष्ठाकृतौ दधति यस्य भुजे ।  
 गुरुभारभुगमहिराजशिरोनिकुरम्बमुन्नतमवाप चिरात् ॥३५॥  
 निजरूपविभ्रममनोरमयाजितसेनया स कुलपुत्रिकया ।  
 प्रजगाम योगमवनौतिलकी रजनीमुखे विधुरिवात्मरुचा ॥३६॥  
 यदभूत्सुरासुरवधूसमितेरुपपादने महदतीवतराम् ।  
 प्रकटं विधातुमिष तद्धिघना निजकार्यकौशलमजन्यत या ॥३७॥

अर्थशून्यम् अर्थेन शून्यम् । दधु. धरन्ति स्म । हुधात्र धारणे च लिट् ॥३३॥ जयेति । जयशालिनः जयेन शालिनः संपूर्णस्य । सहजभद्रतया सहजया सहजातया भद्रतया मङ्गलत्वेन भद्रजातितया । परिभूषितस्य अलङ्कृतस्य । गुरुवसानूत. गुरुं महत् वंशं पृष्ठास्थिभूतं धृत्य धरन्त्य, पक्षे महान्वयभूत कीर्तिनिलयस्य कीर्तिनिलयस्य निवासस्य । दिक्करिणोऽपि दिग्गन्तिनोऽपि । यस्य राज्ञः । मनाक् ईषत् । मदी नाजनिष्ट नाजायत । जनैश्च प्रादुर्भावं लुङ् । श्लेषः ॥३४॥ वसुधासिति । परिष्ठाकृतौ परिचस्येव अर्गलाया इवाकृतिराकारे यस्य तस्मिन् । यस्य राज्ञः । भुजे बाहौ । दधति धरति सति । गुरुभारभुगं गुरुणा महता भारेण भुगं रुग्णम् । अहिराजशिरोनिकुरम्बम् अहिराजस्य महाशेषस्य शिरसां शीर्षाणां निकुरम्बं कदम्बकम् । चिरात् चिरकालान् । उन्नतम् उन्नमनम् । अवाप आयाति स्म । आप्ठु व्वाप्तो लिट् ॥३५॥ निजेति । अवनौतिलक. भूतिलकः । सः अजितं जयः । निजरूपविभ्रममनोहरया [ मनोरमया ] निजस्य स्वकीयस्य विभ्रमेण विलासेन मनोहरया [ मनोरमया मनोहरया ] । अजितसेनया अजितसेनादेव्या । कुलपुत्रिकया कुलसजातया । रजनीमुखे रजण्या रात्र्या मुखे प्रारम्भे । आत्मरुचा स्वस्य कान्त्या । विधुरिव चन्द्र इव । योगं संबन्धम् । प्रजगाम प्रययौ । गम्त् गतो लिट् । उपमा ॥३६॥ यदिति । सुरासुरवधूसमितौ सुराणां देवानामनुराणां भवनवासिना च वधूना वनिताना समितौ समूहे । 'सङ्घे संभायां समितिः' इत्यभिधानत् । अतीवतरां नितान्तम् । यत् आदि समस्त दिक्पालोके लोकप्रसिद्ध नाम निरर्थक हो गये - वे कोरे नामके हो दिक्पाल रह गये ॥३३॥ दिग्गज विजयमे सुशोभित होता है, भद्र जातिसे विभूषित होता है, उभरी हुई रीढ़की हड्डीसे युक्त होता है और बहुत यशस्वी होता है किन्तु निर्मद-मद जलमे रहित नहीं होता । पर यह एक विचित्र-सी बात है कि वह राजा विजयसे अलङ्कृत था, स्वाभाविक भद्रतासे विभूषित था, बहुत बड़े वंशमे उत्पन्न हुआ था, यशस्वी था और था दिक्करी-समस्त दिशाओसे टँकस बसूल करनेवाला ( दिग्गज ), किन्तु उसे मद-अहंकार ( मदजल ) तनिक भी नहीं था ॥३४॥ पृथ्वीके भारी भारसे शेष नागके सारे ( एक हजार ) सिर ( फण ) नाँवकी ओर झुक गये थे । किन्तु उस राजाने जब अपने परिघ सरोखे बाहुसे समुद्र तककी पुरी पृथ्वीको संभाल लिया तो उन्हें ( शेषनागके शिरोको ) बहुत समयके बाद ऊपर उठनेका अवसर मिल गया ॥३५॥ वह पृथ्वीका तिलक था । उसका विवाह अजितसेना नामकी कुलीन कन्याके साथ हुआ । वह अपने सौन्दर्य और हाव-भावसे अजितजयके मनको रमाने वाली थी । अजितजय और अजितसेनाकी जोड़ी बड़ी सुन्दर थी, जैसी रात्रिके प्रारम्भमे चाँद और चाँदनीकी होती है ॥३६॥ मुर-कल्पवासी देवों और असुर-भवनवासी, व्यन्तर तथा

१. क ल ग च "तोवतरम् । २. बिभर्तीति पृष्ठास्थिभूत्, तस्य । ३. आ अजितसेनः । ४. आ गमल गतो । श स गम गतो । ५. आ श स प्रतिपु 'सङ्घ' इत्येव पाठः सम्पुलभ्यते, परम् अमरकोशे 'सङ्घे' पाठो वर्तते ।

रतिकपस्पदमभूतिकरल्लितैर्मिजस्य वपुषोऽवयवैः ।  
 शुभलक्षणैः परिधिभूषितया विभवाय भूषणमभारि यया ॥३८॥  
 शशलाञ्छनेऽस्तमितयत्यपि सत्यगमद्यदीयमुखचन्द्रमसा ।  
 स्मितचन्द्रिकोज्ज्वलतरङ्गतिना जगतीतलं सरजनीकरताम् ॥३९॥  
 स तथोगुणभरणभूषितयोर्विबुधः समेत्य सुरलोकभूय ।  
 भुवनतिशायिकमनोयतनुस्तनुभूरभूदजितसेन इति ॥४०॥  
 जनतानुरागपरिवृद्धिकरः सुभगाकृतिर्वयसि यः प्रथमे ।  
 शरदौषधीपतिरिवामल्लिनेस्तिलकः क्षितेरुपचिकाय कलाः ॥४१॥

निजकार्यकौशल निजस्य स्वस्य कार्यस्य<sup>१</sup> क्रियायाः कौशलं प्रौढत्वम् । अभूत् अववत् । लुङ् । तत् प्रकटं प्रकाशम् । विधातुमिव कर्तुमिव । विधिना ब्राह्मणा । या देवी । अजन्यत जन्यते स्म । जनैर्द्राब्रुमन्वि निजन्तात् कर्मणि लुङ् । उपदेशा ॥३७॥ रतीति । रतिकपस्पदमभूतिकरं रते रतिदेव्या रूपस्य लावण्यस्य संपदः समुद्रेरभिभूतिकरं स्तरस्कारकरैः । ललितं मनोहरैः । शुभलक्षणं शुभलक्षणैर्भूतैः । निजस्य स्वस्य । वपुषः गात्रस्य । अवयवैः परिभूषितया अलङ्कृतया । यया देव्या । भूषणं मण्डनम् । विभवाय सपदे । अभारि<sup>२</sup> अधात् । भूय भरणे कर्मणि लुङ् । अतिशयः ॥३८॥ शशोति<sup>३</sup> । शशलाञ्छने चन्द्रे । अस्तमितवति अस्तमेति स्म अस्तमितवान् तस्मिन् अस्तगते सत्यपि । स्मितचन्द्रिकोज्ज्वलतरङ्गतिना स्मितमीपद्मसनमेव चन्द्रिका उज्ज्वलता तथोज्ज्वलतरा निर्मलतरा [ युतिः ] कान्तिर्यस्य तेन । यदीयमुखचन्द्रमसा यदीयं यस्याः संबन्धः<sup>४</sup> मुखमेव चन्द्रमाः चन्द्रस्तेन । रूपकम् । जगतीतलं जगत्या भूमैस्तलम् । सरजनीकरता रजनीकरणे चन्द्रेण सह विद्यमानत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गमलृ गतौ लुङ् । अतिशयः ॥३९॥ स इति । गुणभरणभूषितयोः गुणा एवाभरणानि मण्डनानि तैर्भूषितयोरलङ्कृतयोः । अजितं जयजितसेनयोः । स विबुधः श्रीधरदेवः । सुरलोभ भुवः स्वर्गलोकात् । समेत्य आगत्य । भुवनातिशायिकमनोयतनुः भुवने भुवनस्य वातिशायिनी अतिशयकारिणी कमनीया मनोहरा तनुः शरीर यस्य स । अजितसेन इति तनुभूः तनो भवतीति तनुभू पुत्र । अभूत् अववत् । भू सत्ताया लुङ् ॥४०॥ जनतेति । शरदौषधीपतिरिव शरदः शरत्कालस्थोपधोपतिरिव चन्द्र इव । अमलिनः निर्मलः । 'मलादिमसश्च' इति च-शब्देन मत्वर्थीय इत-प्रत्ययः । क्षिते भूमे । तिलकः मण्डनः । जनतानुरागपरिवृद्धिकरः जनताया जनसमूहस्य रागस्य प्रोतेः परिवृद्धिकरः । सुभगा कृति सुभगा मनोहरा आकृतिराकारो यस्य स । यः कुमारः । प्रथमे आद्ये । वयसि । कला चतुःषष्टिकलाः षोडशभागाश्च ।

उद्योतिषो देवीं ही समस्त देवियोके निर्माणमे ब्रह्माने जो अत्यधिक कुशलता प्राप्त की थी, मानो उसीके प्रदर्शनके लिए उसने अजितसेनाको बनाया ॥३७॥ उसके शरीरके सभी अवयव सुन्दर और शुभ-चिह्नोंसे विभूषित थे और इसीलिए वे रतिकी सौन्दर्य-सम्पत्तिकी मात करने वाले थे, फिर भी उस ( अजितसेना ) ने केवल वैभव या लोकमर्मादाके खयालसे आभूषण धारण किया था ॥३८॥ चन्द्रमाके अस्त होने पर भी मुसकानकी चाँदनीसे उज्ज्वल कान्ति फैलाकर उसका मुखचन्द्र ही उस ( चन्द्र ) की पूर्ति कर देता था ॥३९॥ वे दोनों - अजितंजय और अजितसेना - गुणोंके आभूषणोंसे विभूषित थे - गुणी थे । वह श्रीधरदेव ( जिसका वर्णन चौथे सर्गमें कर आये है ) सौधर्म स्वर्गसे चयकर उनके यहाँ पुत्र हुआ । उसके शरीरका सौन्दर्य लोकातिशायी था । उसका नाम अजितसेन रखा गया ॥४०॥ वह ( अजितसेन ) शरत्कालके चन्द्रमाके समान जनताके अनुरागकी बढ़ानेवाला, सुन्दर, निर्मल और पृथ्वीका

१. अ आ इ क ख ग घ ङ नास्तिलकः । २. श स शौर्यस्य । आ प्रतो 'शौर्यस्य' 'कार्यस्य' इति द्वे अपि पदे नोपलभ्येते । ३. = अधारि । ४. आ शशोति । ५. = परसंबन्धि ।

गुणनिमित्तैः सुरभिभिः कुमुदैरिव यद्यशोभिरनुरागकरैः ।  
 प्रथिभासिते जगति शीतरुचेरुदयो जनैरवचये विकलः ॥४२॥  
 ध्रुवमस्य रूपविभवेन जितस्त्रयया विलीय समभूतनुः ।  
 मदनस्तदीयतनुदाहकरी हरलोचनाच्चिरिति वार्तमदः ॥४३॥  
 नयमिन्द्रलाघवकरो विभवो विभवं च यस्य सहजो विनयः ।  
 तमलंचकार परमः प्रशमः प्रशमं पराक्रमगुणो गुणिनः ॥४४॥  
 गुणसंपदा सकलमेव जगल्लघयन्त आत्मतनयं तमसौ ।  
 मुमुदे महीपतिरुदीच्य भृशं शशिनं समग्रकलमन्धिरिव ॥४५॥

उपविकाय उपविनोतिस्म ! 'चेर्वा' इति बिज् चपने इति घातोर्लिट्, कवर्गादेशः । इत्येधोऽमा ॥४१॥  
 गुणेति । गुणनिमित्तैः गुणोद्भावादिभिः निमित्तैः कृतै, पक्षे तन्मुभिः कृतै । सुरभिभिः शुभ्रे सुगन्धिभिश्च ।  
 अनुरागकरैः प्रीतिकरैः । कुमुदैरिव केरवैरिव । यद्यशोभिः यस्य कुमारस्य यशोभिः कीर्तिभिः । जगति लोके ।  
 प्रतिभासिते प्रकाशिते सति । जनैः लोकैः । शीतरुचे चन्द्रस्य । उदयः उत्पत्तिः । विकलः निष्कलः । इति  
 अवयवे जजे<sup>१</sup> । या प्रापणे कर्मणि लिट् । इत्येध ॥४२॥ ध्रुवमिति । यस्य कुमारस्य । रूपविभवेन रूपस्य  
 लावण्यस्य विभवेन संपदा । जितः निराकृत । मदनः स्मरः । त्रयया लज्जया । विलीय विशीर्य । अतनुः  
 तनुहितः । समभूत समभवत् । भू सत्ताया लुट् । ध्रुव<sup>२</sup> निश्चय हरलोचनाभिः हरस्य रुद्रस्य लोचनस्य  
 नयनस्याधिष्ठाता । तदीयतनुदाहकरी इति तदीयायाः मदनसंबन्धायास्तनोः शरीरस्य दाहकरी भस्मकरी इति  
 अदो लोकवचनम् । वार्तम् अस्यम् । अपह्नुतिः ॥४३॥ नयमिति । गुणिनः औदार्यादिगुणयुक्तस्य । यस्य  
 कुमारस्य । इन्द्रलाघवकरः इन्द्रस्य लाघवकरो लघुत्वकरः । विभवः संपत् । नयं नीतिम् । सहजः सहजातः ।  
 विनयः विनयगुणः । विभवं संपदम् । परमः महान् । प्रशमः क्षमागुणः । त पराक्रमगुणम् । विक्रमगुणः  
 प्रशमं क्षमागुणम् । अलंचकार अलंकरोतिस्म ॥४४॥ गुणेति । असौ अयम् । महीपतिः अजितजयः । गुण-  
 संपदा गुणसंपत्त्या । सकलमेव विश्वमेव । जगत् लोकम् । लघयन्त लघुकुर्वन्तम् । आत्मतनयम् आत्मनः स्वस्य-  
 तनयं नन्दनम् । उदीच्य आलोक्य । समग्रकलं संपूर्णकलावन्तम् । शशिनं चन्द्रम् । अन्धिरिव समुद्र इव ।

मण्डन था । उसने वाल्यकालमें ही सब कलाओंमें पूर्णता प्राप्त कर ली थी । जैसे चन्द्रमा  
 शुक्लपक्षमें अपनी कलाओंमें पूर्णता पा लेता है ॥४१॥ जिस प्रकार कुमुद मृणाल तन्तुओंसे  
 रचित, सुगन्धित और सबके अनुरागको उत्पन्न करनेवाला होता है, उसी प्रकार उस राज-  
 कुमारका यश उसके गुणोंसे उत्पन्न, मनोज्ञ और प्रजाजनोंके अनुरागको उत्पन्न करने वाला था ।  
 उसके यशसे सारे संसारके प्रकाशित हो जानेपर लोगोंने चन्द्रमाके उदयको निरर्थक समझ  
 लिया ॥४२॥ जान पड़ता है इस राजकुमारके उत्कृष्ट रूपसे पराजित होकर कामदेव लज्जावश  
 धूल-धूलकर अनंग हो गया है—अवना शरीर खो बैठा है । 'शिवजोकी नेत्राग्निकी ज्वालासे  
 कामदेवका शरीर भस्म हुआ था' यह तो कोरी गप्प है ॥४३॥ वह बड़ा गुणी था । उसका  
 वैभव इन्द्रसे भी कहीं अधिक था । उसको नीतिकी शोभा वैभवसे, वैभवकी सहज विनयसे,  
 विनयकी प्रशम-क्षमासे और प्रशमकी पराक्रमसे थी ॥४४॥ गुणोंकी सम्पत्तिसे उसने समस्त  
 जगत्को मात कर दिया था । उसे देखकर उसके पिता बहुत प्रसन्न हुए । जैसे पूर्णचन्द्रको देख

१. क. ल. परमप्रशमः । म. परमप्रशमम् । २. वा. स. शोभादि<sup>३</sup> । ३. = ध्रुवधे । ४. = निश्चयेन ।



इति च व्यचिन्त्यदलाभि न किं निजजन्मनः फलममुष्य मया ।  
 भुवि यस्य भानुसदृशस्तनयः पिदधाति धामभिरशेषदिशः ॥४६॥  
 मलसङ्घवर्जितमिनं पृथुतामुदयाम्पदं सकलधामवताम् ।  
 घनवर्त्म शीतरुचिनेध करमर्म दीपितं कुलमनेन गुणैः ॥४७॥  
 कुसुमाद्यथा विटपिनो वपुषो नचयौवनाच्छ्रुतवतः प्रशमात् ।  
 पुरुषान्वयस्य जगतीह तथा न सुपुत्रतः परमलंकरणम् ॥४८॥  
 अपरेद्युरेनमवनीतिलकं महतोत्सवेन नृपचक्रयुतः ।  
 नृपतिर्यवोविशदनिन्यतमे जगतो हिताय युवराज्यपदे ॥४९॥

भृगुम् अयन्तम् । मृगदे संतुतोप । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥४५॥ इतीति । भुवि भूमौ । यस्य मम । भानुसदृशः भानोः सूर्यस्य सदृशः समानः । तनयः कुमारः । अशेषदिशः समस्तकक्षुषः । धामभिः पिदधाति<sup>१</sup> । मया अमुष्य अम्य । निजजन्मनः निजस्य स्वस्य जन्मनो जननस्य । फलमलाभि अलभ्यत । हुलभिप् प्राप्ती कर्मणि लुट् । न किम् अपितु अलाभ्येव । इति च एवं प्रकारेण । व्यचिन्त्यत् चिन्तयति स्म ॥४६॥ मलेति । मल-सङ्घवर्जितं मलस्य सङ्घेन संबन्धेन वर्जितं रहितम्, पक्षे कालुष्यरहितम् । पृथुता महत्त्वम् । इन शतम् । सकल-धामवता सकलानां सर्वेषां धामवतां तेजस्विना क्षत्रियाणाम्, पक्षे ज्योतिर्गणानाम् । उदयाम्पदम् उदयस्य संपद आसदं स्थानम्, पक्षे प्रदुर्भावस्य स्थानम् । मम मे । कुलं वंशम् (शः) । अनेन एतेन कुमारैः । गुणैः ओदार्षादिभिः । शीतरुचिना चन्द्रेण । करैः किरणैः घनवर्त्मं मेघमार्गं इवाकाशमिव । दीपितं प्रकाशितम् । इत्येवोपमा ॥४७॥ कुमुमादिति । विटपिनः वृक्षस्य । कुमुमात् पुष्पात् । यथा वपुः शरीरस्य । यौवनत् यौवनावस्थायाः । श्रुतवतः शास्त्रिणः । प्रशमात् कामाद्युपशमात् । तथा तेन प्रकारेण । इह जगति लोके । पुरुषान्वयस्य पुरुषस्य मनुष्यव्यान्वयस्य वंशस्य । सुपुत्रतः सत्पुत्रात् । परम् अन्यत् । अलङ्करणं भूषणम् । न नास्ति । दृष्टान्त ॥४८॥ अपरेद्युरिति । अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिन । नृपचक्रयुतः नृपाणां राज्ञां चक्रेण निबद्धेन युतः । नृपतिः भूपतिः । अवनीतिलकं भूमिभूषणम् । एवं कुमारम् । महता पृथुता । उत्सवेन प्रभावनया । अनिन्यतमे पृथतमे । युवराजपदे युवराजस्य पदे स्वाने । जगतः लोकस्य । हिताय उपकाराय । न्यबोविशत्

कर समुद्र प्रसन्न होता है ॥४५॥ राजा अपने मन-ही-मन यों सोचने लगा कि 'मेरा पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी है और सूर्यके समान मेरे इस पुत्रने अपने तेजसे सब दिशाओंको व्याप्त कर दिया है । इसे पाकर क्या मेने अपने जीवनका फल नहीं पा लिया ? ॥४६॥ मेरा वंश आकाश के समान है । जैसे आकाश मेलके सम्बन्धसे रहित—निर्मल है, विशाल है और तेजस्वी सूर्य आदि ज्योतिषी देवोंके उदयका स्थान है । वैसे ही यह वंश निर्दोष, विशाल और तेजस्वी क्षत्रियोंका अन्म-स्थान है आकाशको चन्द्रमा अपनी किरणोंसे प्रकाशित करता है और इस वंश-को मेरे पुत्रने अपने गुणोंसे प्रकाशित कर दिया है ॥४७॥ जिस प्रकार वृक्षका फूल, शरीरका यौवन और विद्वानका शान्तिसे बढ़कर कोई अन्य भूषण नहीं है, इसी प्रकार मनुष्यके वंशका सुपुत्रके सिवा और कोई भूषण नहीं है ॥४८॥ यह सोचकर राजा अजितंजयने अगले दिन ही पुत्रको युवराज पद प्रदान करनेके लिए बहुत बड़ा उत्सव किया । उसमे सभी राजे-महाराजे सम्मिलित हुए । उन्हींके समक्ष उसने अपने पुत्र अजितसेनको—जो समस्त पृथ्वीका मण्डन था—लोक हितके लिए सम्मानित युवराज पदपर आरुढ़ कर दिया—उसे युवराज बना दिया ॥४९॥

१. क ल ग घ म ाउवपदे । २. = आच्छादयति व्याप्नोतीत्यर्थ । ३. = अन्यदलङ्करणमिह नास्ति ।

श्रुतशुद्धधीरधरितेन्द्रपदं पद्मस्थितः पितुर्द्वारतमम् ।  
 स कलाधरः सकलभूमिभृतां मुकुलीचकार करपद्मवनम् ॥५०॥  
 नयनाभिराममकलङ्कितं नवमादधानमुदर्यं जनता ।  
 शिरसा दृशोर्गतममुं विषयं प्रणनाम बालमिव चन्द्रमसम् ॥५१॥  
 स कदाचनार्थ युवराजयुतः सद्गुणायनानुगतमण्डलिनाम् ।  
 प्रविलोकयन्निवहमास्त मुदा नृपतिमनोहरसभाभवने ॥५२॥  
 प्रथितोऽथ चण्डरुचिरित्यसुरस्तदशेषमेव परिमोह्य सदः ।  
 कृतपूर्ववैरमवगम्य सुतं तमिलापनेरपजहार रुषा ॥५३॥

स्वापयति स्म । विश प्रवेशने निजन्तात्सु ॥४९॥ श्रुतेति । अधरितेन्द्रपदं निरसीकृतदेवेन्द्रपदम्<sup>१</sup> । उदारतमं<sup>२</sup> प्रकृष्टमहितम् । पितुः तानस्य । पदं राज्यपदम् । आस्थितः तिष्ठतिस्म । 'खेड्स्थासोऽधराधारः' इत्याधारे द्वितीया । श्रुतशुद्धधीः श्रुतेन शास्त्रेण शास्त्राभ्यासेन शुद्धा निर्मला धीर्बुद्धिर्यस्य सः । मः कुमारः । कलाधरः चतुःषष्टिकलाधरः, पक्षे षोडशभागधरश्चन्द्रः । सकलभूमिभृता सकलानां सर्वेषां भूमिभृता राजा । करपद्मवनं करावेव हस्तावेव पद्मवनं कमलवनम् । मुकुलीचकार संकोच चकार 'कर्मवर्तुम्याम्—' इत्यादिना णिवः । 'क्वौ चानव्ययस्य' इति ईकारादेशः । इलेषो रूपकञ्च ॥ ५० ॥ नयनेति । नयनाभिरामं नयनयोरभिरामं मनोहरम् । अकलङ्कनम् अकलङ्का निर्मला तनुः शरीर यस्य तम् । नव नूतनम् । उदर्य संपदम्, पक्षे उत्पत्तिम् । आदधानं स्वीकृत्यन्तम् । दृशोर्गतमयोः । विषयं गोचरम् । यातं गतम् । बलं नूतनम् । चन्द्रमसमिव चन्द्रमिव । अमुं कुमारम् । जनता जनसमूहः । 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्सु' । [ शिरसा मस्तकेन । प्रणनाम प्रणाम चकार । ] इलेषोपमा ॥५१॥ स इति । अथ युवराजपदराख्यनन्तरम् । कदाचन एकदा । युवराजयुतः युवराजेन कुमारेण युवः सहितः । मः नृपतिः अजितजयभूमिपः । मनोहरसभाभवने मनोहरे सुन्दरे सभाभवने सभासदरे । सद्गुणायनानुगतमण्डलिना सद्भिः प्रशस्तेरुपायनैरुपग्राह्यं अनुगतानाम् अनुगतानां । मण्डलिना भूमताम् । निवहं समूहम् । प्रविलोकयन् पश्यन् । मुदा सतोषेण । अस्त उपविशति स्म ॥५२॥ प्रथित इति । अथ सभाग्दृष्टव्यनन्तरम् । चण्डरुचिः इति प्रथित प्रसिद्धः । असुरः असुरकुलभवः । तदशेषमेव सकलमेव । सदः सभाम् । समोह्य मूढां कृत्वा । कृतपूर्ववैरं कृतं विहितं पूर्वमद्य वैरं विरोधम् । अवगम्य ज्ञान्वा ।

युवराजकी बुद्धि अनेक शास्त्रोंका अभ्यास करनेसे परिष्कृत थी और वह चन्द्रमाकी तरह समस्त कलाओका आश्रय था । इन्द्रके पदसे भी उत्कृष्ट और प्रतिष्ठित पिताके महान पद पर उसके आसीन होते ही समस्त राजाओंने हाथ जोड़ दिये । चन्द्रमाकी देखकर कमलोंका जैसा आकार हो जाता है, ठीक वैसा ही आकार उस समय समस्त राजाओंके हाथोंका हो गया ॥५०॥ जिस प्रकार नयनाभिराम, निष्कलंक और नवोदित बालचन्द्रको देखते ही सभी लोग नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार नयनाभिराम, निष्णाप और नवीन अभ्युदयको प्राप्त हुए युवराज को देखते ही सभी लोग प्रणाम करने लगे ॥५१॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है, राजा अजितजय युवराजके साथ सुन्दर सभा-भवनमें बैठे हुए थे । इसी अवसरपर माण्डलीक राजाओं-का मण्डल उत्तम उपहार लेकर उससे मिलनेके लिए वहाँ आया । अजितजय उसकी ओर दृष्टिपात कर ही रहा था ॥५२॥ कि इतनेमें चण्डरुचि नामका एक कुख्यात असुर वहाँ आ धमका । राजकुमारके साथ उसका पिछले जन्मका वैर था । सभामें पहुँचते ही उसने उसे

१. अ आ इ क ख ग घ म चन्द्रः । २. स निरसीकृतदेवेन्द्रपदकीम् । ३. आ ० रतनुं । ४. = आरुहः । ५. = संकोचयामास । ६. = उपहारे । ७. आ स स विलोकयन् । ८. आ ० स्वीकृत्यनन्तरम् । ९. = मूर्च्छतां कृत्वा ।

प्रतिबुद्धवानसुरमोहनजं क्षणमाश्रयेण<sup>१</sup> परिधूय तमः ।  
 सकलं ससंभ्रममिलाधिपतिः सुतशून्यमैतत् सभाभवनम् ॥५४॥  
 इदमिन्द्रजालमुन धातुगता विकृतिर्मनः किमुत विप्लवि<sup>२</sup> मे ।  
 अवलोकयामि यदहं युवराट्विकलामिमां निजसभां परितः ॥५५॥  
 अथ मायिनान्यभववैरवशाद्भ्रजनीचरेण दृढबद्धरूपा ।  
 असुरेण वासुसदृशस्तनुभूरूपेण वेनचिदहारि स मे ॥५६॥  
 इति तर्कयन्विकलमङ्गमुवा गणयन्नरण्यमिष जीर्णमसौ ।  
 सकलं सदो दयितया सहितः प्रललाप मुक्तकण्ठगार्तरवम् ॥५७॥

इलापते भूमिपते । तं सुतम् अजिततेनकुमारम् । कया कोपेन । अपवहार अपहरति स्म ॥५३॥ प्रसीति ।  
 असुरमोहनजं बुद्धरुचिमोहनेन जनितम् । तम् अज्ञानम् । क्षणमाश्रयेण अल्पकालेनैव । परिधूय निराकृत्य ।  
 प्रतिबुद्धवान् जागरितवान् । इलाधिरिति भूमिपतिः । ससंभ्रम विस्मयवर्धितं यथा तथा । सुतशून्यं कुमार-  
 रहितम् । सभाभवनं सभामदनम् । ऐश्वर्य अपश्यत् । ईक्षि<sup>३</sup> दर्शने लट् । ५४॥ इदमिति । यत् यस्मात्कार-  
 णात् । अहं युवराट्विकला युवराजेन विकला रहिताम् । इमाम् एताम् । निजगमा निजस्य स्वस्य सभाम् ।  
 परितः समन्तात् । अवलोकयामि वीक्षे<sup>४</sup> । लोकात् दर्शने लट् । इदम् एतत् । इन्द्रजालम् इन्द्रजालविद्या ।  
 उत अथवा । धातुगता धातून् मन्त्रधातून् गता यान्ता । विकृति विचार । उत अथवा । मे मम । मन  
 मानसम् । विप्लवि भ्रान्त किम् । मशय ॥५५॥ अश्वेति । अथ अथवा । अन्यभववैरवशात् अन्यभवस्य  
 पूर्वभवस्य वैरवशाद् विरोधवशान् । दृढबद्धरूपा दृढं बाह बद्धा मत् येन तेन । मायिना मायायुक्तेन । रजनी-  
 चरेण राजचिचरेण । वा अथवा । अकृपेण कृपाहितेन । केनचिदसुरेण अमुग्धवेन । अमुग्धः अमृता प्राणाना  
 सदृशः समानः । मे मम । तनुम् कुमार । अहारि अहिपतं । हृत् हरणे कर्मणि लृट् । मशय ॥५६॥  
 इतीति । इति एवं प्रकारेण । तर्कयन् विचारयन् । अपो राश । अङ्गमुवा ननवेन । विकल रहितम् । सकलं  
 समस्तम् । सदः सभाम् । ओणं निविहितम् । अरण्यमिव कान्तं मत् । गणयन् विचारयन् । दयितया  
 निःश्रयिण्या । सहित युक्त । मुक्तकण्ठगार्तरव मुक्तया कण्ठया शोकस्वनानां पोहितो रवो ध्वनियमिमन्

पहुवान लिया, फिर सारी सभाको मूर्छित करके बड़े क्रोधसे उसे हर ले गया ॥५३॥ क्षण  
 भरके बाद ही उस अपुरकी मोहिनी विद्याके प्रभावसे उत्पन्न हुई मूर्च्छासे छुटकारा पाते ही वह  
 राजा घबराकर ज्योही सभाकी ओर देखना है त्यों ही उसे पना लग गया कि राजकुमार  
 गायब हैं । उसके बिना सारी सभा उसे सूनी मालूम पड़ने लगी ॥५४॥ मैं मारी सभाको चारो  
 ओरसे देख रहा हूँ, किन्तु राजकुमार कहीं भी नहीं देख पड़ने । किमीने इन्द्रजाल-जादू फैला  
 दिया है, धातुओंमें विकार उत्पन्न हो गया है या मेरे मनमें ही कोई भ्रम उत्पन्न हो गया  
 है ? ॥५५॥ अथवा जन्मान्तरके तीव्र वैरके कारण कोई मायावी और तीव्र क्रोधी राक्षस या  
 असुर मेरे प्राण-प्रिय उस पुत्रको हर ले गया है ? ॥५६॥ इस तरह उसके मनमें नाना प्रकारके  
 तर्क-वितर्क उठ रहे थे । पुत्रके बिना उसे सारी सभा पुराने जंगल सरीखी लगने लगी । इतनेमें  
 उसकी रानी भी वहाँ जा पहुँची । उसके साथ वह दुःख भरे कष्टाजनक शब्दोंमें

१. म "केन । २. घ विभ्रमि । ३. म वामुग्धः । ४ = लब्धचेतन इत्यर्थः । ५. वा स ईल ।  
 ६. आ वीक्षे । ७. आ लोक् । ८. वा स अहीयत । = हृत इत्यर्थः ।

प्रविधाय<sup>१</sup> मामशरणं सहसा क्व मद्दुर्ललितं हासि गतः ।

लघु देहि दर्शनमहं हि विना भवतावलम्बितुमस्मिन्नलम् ॥५८॥

अधिसूनु<sup>२</sup> लालनविधावहिनेऽप्यमनोहरं तव मयामिहितम् ।

न कदाचिद्वत्सदृशप्रणये किमकारणं मयि विरक्तिमगाः ॥५९॥

वचनामृतैः सुखरसशमिदं कुरु पूर्ववच्छ्रवणयोर्युगलम् ।

अनिबन्धनाकुशलशङ्कितया किमुपेक्षसे पितरमाकुलितम् ॥६०॥

यदि वा कुतश्चिदपि कारणतो मयि वत्स तेऽजनि निरादरता ।

अनिमित्तमेव रहिता किमिमां जननीं प्रति प्रकृतिवत्सलता ॥६१॥

कर्मणि तत् । प्रललाप शुशोब । लन व्यवताया वाचि लिट् ॥५७॥ प्रवीणि । भोऽमदुर्ललितं<sup>३</sup> मयाङ्कु-  
दोषणोः—ऊरुभूयोः ललित मनाहर । महसा सं ग्रम् । मामशरण शरणरहितम् । प्रविधाय कृत्वा । क्व<sup>४</sup>  
कस्मिन् । गतांसि यातोऽसि । हा हन्त । लघु क्रीडम् । दर्शनं देहि प्रयच्छ । दुशान् दाने लोट्<sup>५</sup> । अहं हि  
भवता त्वया विना । अमून् प्राणान् । अवलम्बितुं घत्तुम् । अनलम् असमर्थो भवामि ॥५८॥ अधीति ।  
अविमून् सूनुवधिकृ य अधिसूनु तस्मिन् पुत्रविषये । लालनविधौ लालनस्य बालकेत्या विधौ । अहितेऽपि  
हितरहितेऽपि । मया कदाचिदपि एकदापि । तव भवत । अग्नोद्वग् अमङ्गलवचनम् । अमिहितं न  
मायित न । असदृशप्रणये असदृशोऽपाधारण प्रणय प्रीतियस्मिन् तस्मिन् । मयि । अकारणं कारण विना ।  
विरक्तिम् अप्रोतिम् । किम् अगा किम् अयासो ॥५९॥ वचनेति । वचनमृतैः वचनामृतैरामृतानि तैः ।  
इदम् एतत् । श्रवणयोः कर्णयोः । युगल द्वयम् । पूर्ववत् प्रथमविव । सुखरसजं सुखस्यानन्दस्य रसजम् । कुरु  
विधेहि । अनिबन्धनाकुशलशङ्कितया अनिबन्धनमकारणमकुशलं कष्ट शङ्किततया<sup>६</sup> शङ्कानशीलत्वेन<sup>७</sup> । आकु-  
लितं<sup>८</sup> पीडितम् । पितरं जनकम् । किमुपेक्षसे<sup>९</sup> किं कारणमुदासीनं करोषि । ईक्षि<sup>१०</sup> दर्शने लट् । रूपकम्  
॥६०॥ यदिति । वत्स भोः पुत्र । यदि वा, कुतश्चिदपि कस्मादपि । कारणतः हेतोः मयि, ते तव । निरादरता  
अप्रीतिता । अजान अज्ञायत । इमम् एताम् । जननीं मातरं प्रति । प्रकृतिवत्सलता प्रकृत्या स्वभावेन

खूब जोर-जोरसे या विलाप करने लगा—॥५७॥ हे मेरी गोद और हाथोंके आभूषण;  
हाय, तुम मुझे अशरण बनाकर अचातक ही कहाँ चले गये ? मुझे योघ्न ही दर्शन दो । तुम्हारे  
बिना अब मैं अपने प्राणोंको धारण करनेमें असमर्थ हूँ ॥५८॥ वचनमें जब तुम स्वयं अपने  
लिए हो अहित करनेवाले खेल खेठने लगने थे, तब भी मैंने तुमसे कोई आप्रय बात नहीं कही ।  
मैं तो तुमसे सदा अमाधारण स्नेह करता आ रहा हूँ, फिर तुम अशरण हो मुझसे क्यों रूठ  
गये हो ? ॥५९॥ तुम अपने वचनामृतसे मेरे इन दोनों कानोंको पट्टेलकी भाँति सुन्नी करो ।  
तुम्हारे बारोंमें अकारण ही अकुशलकी आशङ्कासे तुम्हारा यह पिता व्याकुल हो रहा है । तुम  
इसकी उपेक्षा क्यों कर रहे हो ? ॥६०॥ हे बेटे ! यदि किसी कारणसे मेरे प्रति निरादरका  
भाव हो गया था, तो इस माँ से जो तुम्हारा स्वाभाविक वात्सल्य रहा, उसे यो ही क्यों छोड़

१ क ख ग घ म प्रविहाय । २ अ अयि सूनु । ३ एष टीकाकुशममतः पाठः, प्रतिपु  
तु 'मददुर्ललित' इत्येव दृश्यते । ४ = कुत्र । ५ आ लिट् । ६ आ अयासि श स आयासि ।  
७ = अमङ्गलम् । ८ = तच्छङ्कितया । ९ = तच्छङ्कनशीलत्वेन । १० = व्याकुलम् । ११ = किमुपेक्षा  
करोषि । १२ श स ईक्ष ।

गुणिनं मनोरथशताधिगतं निजवंशवारिधिबिधुं विधिना ।  
 हरता भवन्तमकृपेण मम क्षतमक्षियुग्ममुपदर्श्य निधिम् ॥६२॥  
 पद्मीमतीत्य तमसां तपता भुवनोदयाचलशिखामणिना ।  
 रहितास्त्वया स्वजनवत्सल मे तिमिरावृता इव विभ्रान्ति दिशः ॥६३॥  
 दिनमद्य मे गतमनुत्सवतां शरणोन्मिलतोऽद्य मम बन्धुजन ।  
 भवदीयदुःसहवियोगभवत्तनुदेहयष्टिरहमद्य मृतः ॥६४॥  
 यशसः सुखस्य विभवस्य तथा महसस्त्वमेव मम हेतुरभूः ।  
 प्रजता त्वया भुवनभूषण तद्व्यथप्रहसितं सकलमेकपदे ॥६५॥

वत्सलता वात्सल्यम् । अनिमित्तमेव कारणरहितमेव । किं किनिमित्तम् । रहिता त्यक्ता ॥६१॥ गुणिनमिति । गुणिनं गुणवन्तम् । मनोरथशताधिगतं मनोरथानां मनोऽभ्योष्टानां शतम् अनेकम् [तेन] अधिगतं मागतम् । निज-  
 वंशवारिधिबिधु निजस्य स्वस्य वंश एव वारिधित्तस्य विधुरिव तम् । विधिना दशन । भवन्तं पूजयं त्वाम् ।  
 हरता अपहरता । अकृपेण दयारहितेन । निवि पद्मशङ्खादिकम् । उपदर्श्य दर्शयित्वा । अक्षियुग्मम् अक्षो-  
 नयनयो युग्म युगलम् । क्षतम् अपकृतम् ॥६२॥ पद्मीमिति । स्वजनवत्सलः स्वस्य स्वकीयस्य जनेषु  
 बन्धुषु वत्सलो वात्सल्ययुक्तः ( तत्संबुद्धौ हे स्वजनवत्सल ) । तमसाम् अज्ञानानाम् । पद्मी मार्गम् ।  
 अतीत्य ५ बह्वा । तपता प्रज्वलता । ५ भुवनोदयाचलशिखामणिना ५ भुवनमोदयाचलस्तस्य शिखामणिश्चूडा-  
 मणिः ० तेन । रूपकम् । त्वया भवता । रहिता । त्यक्ता । दिशः ककुम् । मे मम । तिमिरावृता इव  
 तिमिराण्यकारेणावृता व्याप्ता इव । विभ्रान्ति विराजन्ते । भा दीपो लट् । उपमा ॥६३॥ दिनमिति ।  
 मे मम । अद्य इदानीम् । दिनं दिवस । अनुत्सवताम् । उत्सवरहितत्वम् । गत प्राप्तम् । अद्य इदानीम् ।  
 मम मे । बन्धुजनः बन्धुरेव जनस्तद्योक्तः । शरणोन्मिलतः शरणेन रक्षणोन्मिलतो रहितः । भवदीयदुःसह-  
 वियोगमवत्तनुदेहयष्टिः भवदीयेन भवता अनितेन दुःसहेन मोहमशक्येन वियोगेन वियोजनेन भवन्तो जायमाना  
 तन्वी कृषा देहयष्टिः शरीरयष्टिर्यस्य सः - भवज्जनितातिदुःसहेन वियोगेन कृशीभूतशरीरवानित्यर्थः ।  
 अहम् अद्य इदानीम् । मृतः ५ म्रियते स्म ॥६४॥ यशस इति । भुवनभूषण । भुवनस्य लोकस्य भूषणमलङ्कार  
 ( स्तसंबुद्धौ हे भुवनभूषण ) । मम मे । यशसः कीर्ति । सुखस्य । विभवस्य संपद । तथा तेन प्रकारेण ।  
 महसः तेजसः । त्वमेव भवानेव । हेतु कारणम् । अभू अभवः । प्रजता गच्छता । त्वया । एकपदे एकक्षणे ।

दिया ? ॥६१॥ बेटे; तुम गुणवान् हो; सैकड़ो मनोरथोंके बाद तुम मुझे प्राप्त हुए, और इस  
 वंश रूपी समुद्रके लिए तुम साक्षात् चन्द्रमा हो । निर्दय विधाताने तुम्हारा हृण करके तो जैसे  
 निधि दिखलाकर मेरी दोनों आँखें ही फोड़ डाली है ॥६२॥ जैसे अन्धकारको हटाकर तपने-  
 वाले और उदयाचलके शिखरपर उसके चूडामणि सरीखे प्रतांत होने वाले सूर्यके बिना समस्त  
 दिशाओंमें अन्धकार फैल जाता है, वैसे ही अज्ञानके अन्धकारको दूरकर ज्ञानका प्रकाश फैलाने  
 वाले, शत्रुओंको सन्ताप देने वाले और उदयाचलकी भाँति उन्नत संसार (मानव समाज)के  
 मस्तकपर चूडामणिका स्थान पानेवाले तुम्हारे बिना सभी दिशाओंमें अन्धकार दिखाई दे रहा  
 है ॥६३॥ आजसे मेरे दिन उत्सव रहित हो गये हैं, आजसे मेरे परिवारके लोग अशरण हो  
 गये हैं और हे बेटे ! तेरे असह्य वियोगमें मेरा शरीर मूँखकर लकड़ो हुआ जा रहा है । ऐसी  
 अवस्थामें मैं अब मरा ॥६४॥ हे बेटे ! तुमसे संसारकी शोभा रही, इसलिए तुम उसके भूषण  
 थे, और मेरे यश, सुख, ऐश्वर्य तथा तेजके तुमही एक कारण थे । तुम्हारे चले जानेसे वे सब

१. = प्राप्तम् । २. = विधुश्चन्द्रः । ३. आ ० वत्सलम् । श स ० वत्सलः । ४ = उत्सवः ।

५. श स भवन्तो । ६. श स भवन् । ७. आ श स मणिरिव । ८. = हतः ।

ललितभ्रु लोचनयुगं<sup>१</sup> वदनं तुहिनद्युतिद्युति वचो मधुरम् ।

भवदीयमङ्ग तदशेषमगान्मम पाप्मभिः स्मरणगोचरताम् ॥६६॥

अपि<sup>२</sup> तद्गवेहिनमपुण्यवतः परमोत्सवं पुनरपीह मम ।

विषयत्वमप्यति विलोचनयोस्तव वत्स यत्र मुखपङ्कजहम् ॥६७॥

किमभूदमोष्वपि न वत्सलता स्वसुहृत्सु काचन कठोरधिया ।

गमनोत्सुकेन सहपांसुरता<sup>३</sup> यदि मे त्वया दयित नालपिताः ॥६८॥

निजमर्तुदुर्व्यसनदुःखचितं शरणोज्झितं प्रविलपन्तमिमम् ।

सपदि प्रदर्शितपदाम्बुरुहः सुखिनं कुरुष्व नृपभृङ्गचयम् ॥६९॥

तत्सकलं तत्सर्वम् । व्यपहस्तित । निराकृतम् ॥६५॥ ललितेति । अङ्ग भो. पुत्र । ललितभ्रु ललित मनोहरे भ्रुवौ नयनपताके यस्य तत् । लोचनयुगं लोचनयोर्युगं युगलम् । तुहिनद्युतिद्युति<sup>४</sup> तुहिनद्युतेऽचन्द्रस्यैव द्युतिः कान्ति र्यस्य तस्य सन्धोधनम् । वदनं मुखम् । मधुर<sup>५</sup> माधुर्यम् । वच. वचनम् । तदशेषं तत्सकलम् । मम मे । पाप्मभिः पापैः । स्मरणगोचरता स्मरणस्य विन्ताया गोचरता विषयताम् । अगात् अगमत् । इण् गती लुङ् । उगमा ॥६६॥ अशीति । भो वत्स भोः पुत्र । यस्मिन् दिवसे । तव भवनः । मुखपङ्कजहं मुखमेव पङ्कजहं कमलम् । मम मे । विलोचनयोनयनयोः । विषयत्वं गोचरत्वम् । एष्यति यास्यति । पुनरपि पश्चादपि । इह प्रदेशे । अपुण्यवतोऽपि पुण्यरहितस्यापि । तद्विन् तदहः । परमोत्सवं परमोत्सवेन युक्तम् । भवेत् स्यात् । भू सत्ताया लुङ् ॥६७॥ किमिति । यदि यत् यस्मात् कारणात् । कठोरधिया कठोरा निष्ठुरा धीर्यस्य तेन । गमनोत्सुकेन गमने प्रयाणे उत्सुकस्तेन । त्वया भवता । सहपांसुरताः सहपासु-क्रोडिनाः । इमे एते । नालपिताः नाभाषिताः । दयित भोः पुत्र । अमीषु एतेषु । स्वसुहृत्स्वपि स्वस्य तव सुहृत्स्वपि मित्रेस्वपि । काचन वत्सलता वात्सल्यम् । कि नाभूत् कि निमित्त नाभवत् । भू सत्ताया लुङ् ॥६८॥ निजेति । निजमर्तुदुर्व्यसनदुःखचित निजानां स्वेषां भर्तुः प्रभोर्दुर्व्यसनेन दुःसहेन व्यसनेन<sup>६</sup> विपत्त्या दुःखेन कष्टेन चितं युक्तम् । शरणोज्झितं शरणेन रक्षणेनोज्झित रहितम् । प्रविलपन्तं प्रलाप कुर्वन्तम् । इमम् एनम् । नृपभृङ्गचयं नृपा एव भृङ्गास्तयोक्तास्तेषां चय समूहम् । सपदि शीघ्रम् । प्रदर्शितपदाम्बुरुहः प्रदर्शितं पदमेवाम्बुरुहं कमलं येन स । सुखिनं सुखयुक्तम् । कुरुष्व विधत्स्व । भृङ्गं करणे लोट् । रूपकम् ॥६९॥

भो एकदम चले गये ॥६५॥ बेटे ! तुम्हारे मुन्दर भोवाले नेत्र, चाँद-सा चमकता हुआ चेहरा और मधुर वचन—ये सब मेरे प्रचुर पापकर्मके उदयसे अब केवल स्मृतिके विषय बनकर रह गये हैं—अब केवल उनकी स्मृति ही जीव रही है ॥६६॥ बेटे ! मुझ पापीको क्या फिर भी कभी वह उत्सवका दिन आयागा, जब मैं तेरे मुखकमलको इन आँखोंसे देखूँगा ? ॥६७॥ प्यारे बेटे ! अच्छा, हम लोगोंकी बात जाने दो, पर जिनके साथ तुम बचपनमें घूमि खेलते रहे, क्या उन मित्रोंसे भी तुम्हें स्नेह नहीं था, जो तुमने अपनी बुद्धिको इतना कठोर कर लिया कि जानेके लिए उत्सुक होकर उनसे भी कुछ नहीं कह गये । ॥६८॥ यह राज-वर्ग-रूपी भ्रमरमण्डल अपने स्वामी (तुम्हारे)के इस संज्झटसे अत्यन्त दुःखी हो रहा है और अपनेको अशरण समझकर विलापकर रहा है । इसे अपने चरण कमलोंका दर्शन देकर सुखी करो ॥६९॥

१. म. 'भ्रुलोचन'. २. अ. अवि. ३. अ. सहपांशु. ४. सह पांशु. ५. = तुहिनद्युतिश्चन्द्रस्तस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तत्. ६. = माधुर्यप्रेतम्. ६. आ. मनिता ।

यदसह्यशोकघनकालबलप्रबिबुद्धमस्य समुपेत्य पुनः ।  
 भव घन बाणध्वजनाश्रुधुनीपयसो निदाघसमयः सहसा ॥७०॥  
 सुतशोकशङ्कुपरिविबुद्धमनाः प्रलपन्निति प्रबलबाणजलः ।  
 क्षणमाधिमन्तरयितुं जगृहे परिमूर्च्छया स कृपयेव नृपः ॥७१॥  
 अथश्चरच्चन्दनसेचनाद्यैः क्षणादुपायेरपनीतमूर्च्छैः ।  
 व्यलोक्यश्चारणमन्तरिक्षे यति तपोभूषणनामधेयम् ॥७२॥  
 दधानमिन्द्रोः परिवेषभाजस्तुलामनुदयाङ्कुरचः परीतम् ।  
 तदा तमुद्ग्रीवमुदीश्रमाणा सर्वा सभा विस्मयमाजगाम ॥७३॥

यद्वि<sup>३</sup>ति । बत्स भोः पुत्र । यत् । असह्यशोकघनकालबलप्रबिबुद्धम् अतस्तु साहमगवय शोको दुःखं स  
 एव घनकालो वर्षाहालस्त्वस्य जनेन सन्निहित प्रबिबुद्धमप्येतत् । अस्य एतस्य । बाणध्वजनाश्रु-  
 धुनीपयसो बाणध्वज एव जनारोपामध्या धुनी नदी तस्या । पयस्तस्य । पुनः पश्चात् । सहसा शीघ्रम् ।  
 समुपेत्य समीपमागत्य । निदाघसमयः शष्पकाल । भव भूया । भू गताया लोट् । ७०॥ सुतति  
 सुतशोकशङ्कुपरिविबुद्धमनाः सुतस्य पुत्रस्य शोक स एव शङ्कु शब्द तेन परिविबुद्ध मिध<sup>४</sup> मनो यस्य स ।  
 [ स. ] नृप अजितंजय । क्षणम् अल्पकालमेतत् । 'कालाघ्रना व्याप्नो' इति द्वितीया । आधि मन पीडाम् ।  
 अन्तरयितुं निवारयितुम् । मकृपयेव कृपा युक्तयेव । परिमूर्च्छया महामूर्च्छया । जगृहे गृहीत । गृह<sup>५</sup>  
 उपादाने कर्मणि लट् । रूपकम् ॥७१॥ अथेति । अथ मूर्च्छान्तरम् । चन्दनमचनाद्यै चन्दनस्य श्रीगन्ध-  
 जलस्य सेचनाद्यै । सेचनादिभिः । उपायैः कारण । क्षणात् अल्पकालात् । अपनीतमूर्च्छं अनाता मूर्च्छा  
 यस्य स । ईश्वर भूयति । तपोभूषणनामधेय तपोभूषणमिति ( तपोभूषण इति ) नामधेयमभिधानं यस्य  
 तम् । चारण चारणद्विगतात् । यति मुनिम् । अन्तरिक्षे आकाशे । व्यलोक्यन् अदृश्यत् । लोड्<sup>६</sup> दशने  
 निजस्तामलम् ॥७२॥ दधानमिति । परिवेषभाजः परिवेषमाधितस्य । इन्द्रोश्चन्द्रस्य । तुला समान ( समानम् ) ।  
 दधान धरन्तम् । अनुदयाङ्कुरचा अनुदयाया निरुपमया अङ्गस्य देहस्य कचा कामरथा । परिवेषेण च चारण-  
 मुनिम् । तथा नरपतिकीक्षणप्राप्तम् । उद्ग्रीवम् उदगता-ग्रीवा यस्मिन् वर्धमानं ( तथा ) । उदीक्षमाणा  
 बिलोक्तमाना । सर्वा सकला । सभा सगत् । विस्मयम् आश्चर्यम् । आजगाम आययो । गम् गतो लिट् ।

बेटे । तुम्हारे जानेसे बन्धुओंका ऊपर असह्य शोकके बादल छा गये है, शोकके बादलके  
 छा जानेके इस अवसर (वर्षात)पर उन (बन्धुओं)की अनुमतिसे वाद आगई है । उसे मुक्वानेके  
 लिए तुम शीघ्र हा आकर श्रोत्र ऋणु बन जाओ ॥७०॥ पुत्र विग्रहके शोक रूपी काटिने चुभकर  
 राजाके कोमल हृदयमें घाव कर दिया, जिससे वह इस तरह विलाप करते-करते रोने लगा और  
 उसकी अश्रुजलकी धारा वेगसे बहने लगी । इस अवसरपर मामा मानसिक व्यथाको दूर करने-  
 के लिए मूर्च्छासे दयासे उसे अपने अधीन कर लिया—वह मूर्च्छित हो गया ॥७१॥ इसके  
 पश्चात् चन्दन-सेवन आदि सीतोपचारसे कुल ही क्षणमें मूर्च्छाके दूर हात ही उभने आकाशमें  
 तपोभूषण नामके चारणमुनिको देखा ॥७२॥ चारो ओर उनके शरीरकी अनुपम प्रभा फैल  
 रही थी, उसके बीचमें वे कान्तिमण्डलके बीचों—बीच पूर्णमासीके चन्द्रमाकी भाँति दृष्टिगोचर  
 हो रहे थे । साथी सभा गर्दन उठाकर उनकी ओर देखने लगी, जिससे उसे बड़ा आश्चर्य

१. अ यदशोक शोक । २. अ<sup>३</sup>रिक्षात् । ३. आ श स यदीति । ४. आ श स<sup>४</sup>जलप्रवृद्धम् ।

५. श स क्षिन् । ६. = स नृप. कृपयेव कणयेव । ७. आ गृहि उपादाने । ८. श स लोड् ।

९. श स<sup>९</sup>पयुतस्य ।

प्रलापिनीशे करुणाद्र्भावं बिम्बं किमेतद्गतमुष्णरश्मेः ।  
 विनर्कमेवं जनयज्जनानां जघेन जज्ञे स नृपान्तवर्ती ॥७४॥  
 संदर्शनादेव तदा महर्षेस्तपोमयेन ज्वलतोऽङ्गधाम्ना ।  
 स भूभुतः पुत्रवियोगजन्मा जगाम शोकः सहसा कृशत्वम् ॥७५॥  
 न यावदद्यापि पवित्रपांसू निपीदतस्तच्छरणौ धरण्याम् ।  
 ससंभ्रमं तावदुपेत्य भूपः प्रसारयामास निजोत्तरीयम् ॥७६॥  
 अर्घ्यादिकां सम्यगवाप्य पूजां ससंभ्रमेणोपहृितां जनेन ।  
 स्वहस्तदत्तं नृवरेण पश्चादलं चकारोन्नतमासनं सः ॥७७॥  
 न तस्य तावानसुसन्निभस्य सूनोर्वियोगेन बभूव शोकः ।  
 यावान्भुवो भर्तुरभूतपूर्वो मुनीश्वराभ्यागमनेन तोषः ॥७८॥

उपमा । ७३॥ प्रलापनीति । ईशो राज्ञि । प्रलापिनि प्रलापयुक्ते<sup>१</sup> सति । करुणाद्र्भावं करुणया दययाद्र्भावं  
 मृदुभावं । उष्णरश्मेः सूर्यस्य । गतं यानम् । एतद् इदम् । बिम्बं मण्डलं किम् । एवं प्रकारेण । जनानां  
 लोकानाम् । विनर्कं विचारम् । जनयन् उत्पादयन् । सः मुनिः । जघेन शीघ्रम् । नृपान्तवर्ती नृपस्य राजो-  
 न्तवर्ती समीपवर्ती । जज्ञे जायते स्म । जनेङ् प्रादुर्भावे लट् । संवपः ॥७४॥ संदर्शनादिति । तपोमयेन  
 तपोभ्येण । अङ्गधाम्ना देहकायया । उज्ज्वलत [ ज्वलत ] प्रकाशमानस्य । महर्षेः । महामुनेः । संदर्शनादेव  
 समीक्षणादेव । तदा तत्तमये । भूभुत भूतस्य । पुत्रवियोगजन्मा पुत्रस्य सूनोर्वियोगेन जन्मा ( जन्म यस्य )  
 जातः । सः शोकः दुःखम् । महमा शीघ्रम् । कृशत्वं काशस्यम् । जगाम ॥७५॥ नेति । अद्यापि इदानीमपि ।  
 पवित्रपासू पवित्र पासू<sup>२</sup> धूलि संयोगेनो । तच्छरणौ तस्य मुनेश्चरणौ पादौ । धरण्या भूमौ । यावत् पर्यन्तं न  
 निपीदत न तिष्ठत । तावत्पर्यन्तं ससंभ्रमं मन्त्रमसहितं यथा तथा । भूप भूपतिः । उपेत्य समीपं गत्वा ।  
 निजोत्तरीयम् उपरिस्थितुकूलवस्त्रम् । प्रसारयामास प्रसारयामास ॥७६॥ अर्घ्येति । ससंभ्रमेण सभ्रम-  
 युक्तेन । जनेन परिजनेन । उपहृिताम् आनीताम् । अर्घ्यादिकां सत्कारपूर्विकाम् । पूजाम् अर्चनाम् ।  
 सम्यगवाप्य प्राप्य । पश्चात् पुनः । नृवरेण नरपतिना । स्वहस्तदत्तं स्वस्य हस्तेन पाणिना दत्तं वित्रीणम् ।  
 उन्नतं प्राणु<sup>३</sup> । आसनं विष्टम् । सः चारणमुनि । अलं चकार अलं करोति स्म ॥७७॥ नेति । भुवः भूमेः ।  
 भर्तुः प्रभोः । मुनीश्वराभ्यागमनेन मुनोर्द्राभ्यागमनेन । अभूतपूर्वः पूर्वमभूतोऽभूतपूर्वः । यावान् यस्मानमस्य  
 यावान् । 'यत्तद' इति घतु-प्रत्ययः । तोषं गतोप । बभूव भवति स्म । तस्य असुसन्निभस्य असुता प्राणानां

हुआ ॥७३॥ उम्हें वटे वेगमे राजाके निकट आने देखकर लोगोंके मनमे यह तर्क उत्पन्न हो  
 रहा था कि इसके विलापसे दयाद्र होकर कहौ सूर्यका बिम्ब तो नहीं उतरता चला आ रहा  
 है ? कुछ ही क्षणोंमें वे राजाके निकट जा पहुँचे ॥७४॥ महर्षिके शरीरपर तपका तेज था ।  
 उससे वे प्रज्वलित अग्नि सरोखे प्रकाशमान हो रहे थे । उनके दर्शन पाते ही राजाका पुत्र-  
 वियोगसे उत्पन्न हुआ शोक एका-एक कम हो गया ॥७५॥ धूलिको भी पवित्रकर देनेवाले उनके  
 चरण अभी पृथ्वीपर पहुँच ही नहीं पाये थे कि राजाने शीघ्र ही उनके निकट जाकर अपना  
 दुपट्टा बिछा दिया ॥७६॥ राजाके पास उस समय जो लोंग उपरिथित थे, वे शीघ्र ही अर्घं  
 आदि सामग्री ले आये । इसके पश्चात् मुनिराजाके विराजनेके लिए राजाने स्वयं अपने हाथसे  
 ऊँचा आसन दिया । उसे उन्होंने अलङ्कृत किया—वे उसपर बैठ गये ॥७७॥ अपने प्राण-  
 प्रिय पुत्रके वियोगसे राजाको उतना शोक नहीं हुआ, जितना मुनिराजाके पधारनेमे सन्तोष

१. स धारिण्याम् । २. श स प्रलापेति । ३. श स प्रलापे विप्रलापयुक्ते । ४. आ पवित्रपासु ।

५. आ श स मानिताम् । ६. = अर्घ्यादिषामप्रीसमेताम् । ७. श स प्राणुम् ।



अस्पृष्टपांस् अपि खेचरत्वात्कृतादरः शान्त्युदकार्यमेव ।  
 प्रक्षालयामास मुनोन्द्रपादौ नृपः पयोभिः प्रमदाश्रुमिश्रैः ॥७६॥  
 तस्मिन्नाधीताशिषि साधुमुख्ये सप्रश्रयां वाचमुवाच भूपः ।  
 दन्तांशुभिः कुन्ददलैरिवासी समर्चयन्पादयुगं तदीयम् ॥८०॥  
 जातोऽहमघेन्दुसमानकीर्तिर्धन्यः कृतार्थो जगतश्च मान्यः ।  
 यदभ्युपेतो मदनुग्रहार्थं मनोरथस्यापि भवानभूमिः ॥८१॥  
 न काचिदीहा कृतकृत्यभावाच्च च क्वचित्प्रेमं समत्वयोगात् ।  
 इयं हि कल्याणकरी प्रवृत्तिर्जगद्धितायैव भवादृशानाम् ॥८२॥

संनिभस्य समानस्य । वियोगेन वियोजनेन । तावान् तन्मात्र(तन्मान- )मस्य तावान् तत्प्रमाण । शोकः दुःखम् ।  
 न बभूव ॥७८॥ अस्पृष्टेति । कृतादरः<sup>१</sup> विहितप्रीतिः । नृपः अजितंजय । खेचरत्वात् आकाशचरत्वात् ।  
 अस्पृष्टपांस् अस्पृष्ट पांमुर्धूलि यंयो. ( याम्या ) तो । अपि । मुनोन्द्रपादौ मुनोन्द्रस्य पादौ चरणौ ।  
 प्रमदाश्रुमिश्रैः प्रमदादानन्दाऽजातेनाश्रुणा नेत्रोदकेन मिश्रैर्युक्तै । पयोभिः सलिलै । शान्त्युदकार्यमेव  
 शान्तिसलिलनिमित्तमेव । प्रक्षालयामास प्रक्षालयतिस्म । क्षल शौचकर्मणि लिट् ॥७९॥ तस्मिन्नाति ।  
 तस्मिन् साधुमुख्ये मुनोन्द्रे । अधीताशिषि प्रोक्ताशीर्वादे सति । असौ भूपः अजितजयभूपतिः । कुन्ददलैरिव  
 कुन्दस्य माधुर्यस्य दलेरिव पुष्पैरिव । दन्तांशुभिः दन्तकान्तिभिः । तदीय तस्येदं तदीयम् । पादयुग पादयो-  
 र्युगं द्वन्द्वम् । समर्चयन् पूजयन् । सप्रश्रया विनययुताम् । वाच वचनम् । उवाच ब्रवीतिस्म । ब्रूय व्यस्ताया  
 वाचि लिट् । 'अस्ति—' इत्यादिना वचादेशः । उपमा ॥८०॥ जात इति । मनोरथस्य अभिलाषस्य ।  
 अभूमिः अनिवाशोर्त्रि । मदनुग्रहार्थं ममानुग्रहार्थं उपकारे प्रीतः । भवान् त्वम् । यत् अभ्युपेत । आगतवान् ।  
 ( तत् ) अथ इदानीम् । अहम् इन्दुसमानकीर्तिः इन्दोश्चन्द्रस्य समाना कीर्तियस्य स । धन्यं<sup>२</sup> धनं लब्धो  
 धन्यः । कृतार्थः सपूर्णप्रयोजनः । अजितदश लोकस्य ( च ) मान्यः पूज्यः । जातः<sup>३</sup> जायते स्म ॥८१॥ नेति ।  
 कृतकृत्यभावात् निर्वाचनकार्यत्वात् । काचिद् ईहा वाञ्छा । न न भवति । समत्वयोगात् समन्वय समानपरिणाम  
 योगात् । क्वचित् कस्मिन्चित् । प्रेम रागः । न च न भवति । मवादृशानां त्वादृशानाम् । कल्याणकरी मङ्गलकरी ।

हुआ । ऐसा सन्तोष अपने जीवनमे उसे पहली बार हुआ ॥७८॥ आकाशचारी होनेसे मुनि-  
 राजके चरणोको यद्यपि धूलि छू भी नहीं सकी थी, किन्तु फिर भी केवल शान्ति-जलके लिए  
 ही राजाने उनका आदरपूर्वक जलसे प्रक्षाल किया । प्रक्षाल करते समय उमकी आँखोंसे  
 हर्षाश्रु प्रवाहित हो रहे थे ॥७९॥ इसके बाद मुनिराजने राजाको आशीर्वाद दिया । आशीर्वाद  
 पाकर वह कुन्दपुष्पोंके समान अपने दातोंको किरणोंसे मानो उनके चरणोंको अर्चना करता  
 हुआ बिनअ शब्दोंमें यों कहने लगा—॥८०॥ मुनिराज ! आज मेरी चन्द्रमाके समान निर्मल  
 कीर्ति उत्पन्न हो गई है, मैं धन्य, कृतकृत्य और लोकमान्य हो गया हूँ; क्योंकि केवल मेरे ऊपर  
 अनुग्रह करनेके लिए आप यहाँ पधारे है । मैं तो कभी इसकी आशा भी नहीं कर सकता  
 था; क्योंकि आपको ऐसा कोई मनोरथ नहीं हो सकता, जिसकी पूर्तिके लिए आप मेरे ऐसे  
 व्यक्तिके घर पधारे ॥८१॥ आपको अब कोई कामना नहीं; क्योंकि आप कृतकृत्य हो चुके  
 हैं, और आपको किसीसे राग नहीं; क्योंकि आप सभीके प्रति समभाव रखते हैं । किन्तु फिर  
 भी आप जैसे महर्षियों की यह भ्रमण करनेकी प्रवृत्ति केवल लोकहितके लिए ही हुआ करती

१. म शमत्वं\* । २. = विहितादरः । ३. = पुण्यवान् । 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इति ह्यमः ।

४. आशस जातेति । = संवृतः ।

निमज्जतो मे परिमूढबुद्धेरर्थविधे बन्धुवियोगदुःखे ।  
 मनः समुच्छ्वासि कृतं त्वयैव त्वं बान्धवेष्वोऽपि यतोऽसि बन्धुः ॥८३॥  
 इति श्रुतिह्लादि वचो ब्रुवाणं महोपति भक्तिभरावनम्रम् ।  
 जगाद् भव्याम्बुद्वैकभानुसुनिर्मनोहारिभिरुक्तिभेदैः ॥८४॥  
 नराधिप त्वां प्रियविप्रयुक्तं विलोक्य दिव्येन बिलोचनेन ।  
 गुणानुरागाद्दहमागतोऽस्मि गुणेषु केषां न मनोऽनुरक्तम् ॥८५॥  
 श्रुतान्वितस्याम्यशरीरभाजस्तत्त्वावबोधक्रममाणबुद्धेः ।  
 भवस्थितिस्ते विनिवेद्यमाना शतक्रतोर्नाककथेव भाति ॥८६॥

इयम् एषा । प्रवृत्तिः प्रवर्तनम् । जगद्विषयैव जगतो हितार्थैव उपकारार्थैव ॥८२॥ निमज्जत इति । एवं-  
 विधे एवंविधा यस्य तस्मिन् । बन्धुवियोगदुःखे बन्धोवियोगाज्जाते दुःखे । निमज्जतः<sup>१</sup> निमज्जत्य ।  
 परिमूढबुद्धेः परिमूढा भ्राम्या बुद्धिमति र्यस्य तस्य । मे मम । मनः मानसम् । यतः यस्मात् । त्वयैव भवतैव ।  
 समुच्छ्वासि संतोषयुक्तम् । कृतं<sup>२</sup> क्रियते स्म । ( ततः ) त्वं भवान् । बान्धवेष्वोऽपि बन्धुष्वोऽपि । बन्धुः  
 अधिकबन्धु । असि भवसि । अस भुवि सत् ॥८३॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । श्रुतिह्लादि श्रुतेः  
 कर्णस्य ह्लादि सुखकारि । वषः वचनम् । ब्रुवन्तं निगदन्तम् । भक्तिभरावनम्रं मत्स्या मरो भारस्तेन नमती-  
 त्येवं शील ( नमतीत्येवं शीलः, तम् ) । 'नम्रकम्—' इत्यादिना शीलार्थे र-प्रत्ययः । महीपतिम् अजितं जय-  
 भूपतिम् । भव्याम्बुद्वैकभानुः भव्या विनेयव्रजास्त एवाम्बुद्वह्णिण कमलानि तेषामेको मुख्यो भानुरिव  
 प्रवर्तमानः । मुनिः यतीन्द्रः । मनोहारिभिः मनःसंतोषकारिभिः । उक्तिभेदैः वचनविशेषैः । जगाद् गदति स्म ।  
 रूपकम् ॥८४॥ नरेति । नराधिप नरपते । प्रियविप्रयुक्तं प्रियेण पुत्रेण विप्रयुक्तं वियोगसहितम् । त्वां  
 भवन्तम् । दिव्येन दिव्यरूपेण । विलोचनेन ज्ञानेन । विलोक्य दृष्ट्वा । गुणानुरागात् गुणेष्वनुरागात् । अहम्  
 आगतः आयात । अस्मि भवामि । गुणेषु केषां<sup>३</sup> गुरुवाणाम् । मनः मानसम् । अनुरक्तं प्रीतं न, अपि  
 त्वनुरक्तमेव । अद्यन्तः रग्यसः ॥८५॥ श्रुतेति । श्रुतान्वितस्य श्रुतेन शास्त्रेणान्वितस्य युक्तस्य । अन्यशरीर-  
 भाजः अन्त्यं चरमं शरीरं भजतीत्यस्यशरीरभाक् तस्य । तत्त्वावबोधक्रममाणबुद्धेः तत्त्वावबोधे तत्त्वपरिज्ञाने  
 क्रममाणा वर्तमाना बुद्धिर्यस्य तस्य । ते तव । विनिवेद्यमाना ज्ञाप्यमाना । भवस्थितिः भवस्य संसारस्य  
 स्थितिः । शतक्रतोः देवेन्द्रस्य । नाककथेव नाकस्य स्वर्गस्य कथेव कथनमिव-इन्द्रो यथा सुरलोकस्वरूपं स्वत-

है ॥८२॥ मुनिराज ! मैं ऐसे पुत्रवियोगके दुःख-समुद्रमें डूब रहा था कि मेरी बुद्धि सर्वथा  
 मूढ-विचारशून्य हुई जा रही थी, इतनेमें आपका समागम हो जानेसे मेरा मन सुखकी श्वास  
 लेने लगा है । आपके आनेसे ही मेरा मन सन्तुष्ट हुआ है जिससे यह स्पष्ट ही समझ गया हूँ  
 कि आप बन्धुओंसे भी बढ़कर बन्धु हैं ॥८३॥ कानोंको आनन्द देनेवाले इन मधुर वचनोंको  
 मुनिराजसे कहकर वह राजा मौन हो गया । मुनिराजके सामने वह भक्तिसे नम्र होकर बैठ  
 गया इसके पश्चात् वे मुनिराज, जो भव्यजीवरूपी कमलोंको आनन्द देनेके लिए एकमात्र सूर्य थे,  
 मनोहर शब्दोंमें इस प्रकार बोले—॥८४॥ राजन् ! अपने दिव्यनेत्र-अवधिज्ञानसे तुम्हें पुत्रसे  
 वियुक्त जानकर मैं यहाँ तुम्हारे गुणोंके ऊपर अनुराग होनेसे आया हूँ । गुणोंके ऊपर किनका  
 मन अनुरक्त नहीं होता ? ॥८५॥ राजन् ! तुमने शास्त्रोंका परिशीलन किया है, तुम्हारी  
 बुद्धि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें लगी हुई है और तुम चरम शरीरी हो—तुम इसी जन्ममें मुक्ति  
 पा लोगे । अतएव तुम्हें संसारकी स्थिति बताना इन्द्रको स्वर्गकी कथा सुनानेके समान मालूम

१. म सुलोच<sup>१</sup> । २. = बुद्धतः । ३. = विहितम् । ४. आ गुणेषु । = गुणेषु गुणवस्तु वा ।  
 ५. श स तेषाम् ।

अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ साधारणौ सर्वशरीरभाजाम् ।  
 इत्यात्मबुद्ध्या विगणय्य विद्वान्ने खेदयत्यात्ममनो विषादैः ॥८७॥  
 अहं स्यनस्त्वं प्रविधातुमेनं शरीरसंतापकरं न शोकम् ।  
 विपत्सु दैवोपनिबन्धनासु प्रखिद्यते कातरधीर्न धीरः ॥८८॥  
 विशङ्कमानोऽकुशलं तनूजे खेदं महीमण्डन मा च यासीः<sup>१</sup> ।  
 संयोज्यसि<sup>२</sup> त्वं दिवसैः क्रियद्भिः समृद्धिभाजा निजनन्दनेन ॥८९॥  
 इति गिरमभिधाय निश्चिंतार्थं गतवति तत्र निजाश्रमं मुनीन्द्रे ।  
 स निखिलमकृताह्निकं विधेयं प्रहृतनरेन्द्रनियोगिमन्त्रिवर्गः ॥९०॥

एव परोपदेशं जितैव जानाति तथा त्वमपि संसारस्वरूपं सर्वं जानासीत्यभिप्रायः । भारती भाषा (?) । भाति ।  
 उपमा ॥८६॥ अनिष्टेति । सर्वशरीरभाजा सर्वेषां शरीरभाजा संसारिणाम् । अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ अनिष्ट-  
 स्याद्विषयानुतो योगश्च संबन्धश्च प्रियस्येष्टवस्तुनो विप्रयोगश्च विप्रयोगश्च तो । साधारणौ समानौ । इति  
 एवं प्रकारेण । आत्मबुद्ध्या स्वस्य बुद्ध्या । विगणय्य विचार्य । विद्वान् ज्ञानी । आत्ममनोविषादैः आत्मनः  
 स्वस्य मानसलोकैः<sup>३</sup> । न खेदयति न पीडयति । खिदि दैन्ये<sup>४</sup> लट् ॥८७॥ अहं स्येति<sup>५</sup> । अत एतस्मात्<sup>६</sup> । त्वं  
 भवान् । शरीरसंतापकरं शरीरस्य संतापकरं दाहकरम् । एनं शोकं दुःखम् । प्रविधातुं कर्तुम् । नार्हसि न  
 समर्थोऽसि । दैवोपनिबन्धनासु दैवमदृष्टदैवोपनिबन्धनं कारणं यासा तासु । विपत्सु विपत्सु । कातरधीः  
 कातरा भोता धीर्यस्य सः । प्रखिद्यते विषाद करोति । धीरः विद्वान् न प्रखिद्यते । खिदि दैन्ये लट् ।  
 अर्थांतरन्यासः ॥८८॥ विशङ्कति । महीमण्डन भो भूमितिलक । तनूजे तनये । अकुशल कष्टम् ( अमङ्गलम् )  
 विशङ्कमानः शङ्का कुर्वन् । खेदं दुःखम् । मा च ( मा स्म ) यासी<sup>७</sup> मा गा । या प्रापणे लुट् । समृद्धिभाजा  
 समृद्धि भजतीति समृद्धिभाक् तेन । निजनन्दनेन निजस्य स्वस्य नन्दनेन पुत्रेण । क्रियद्भिः कनिषयैः । दिवसैः  
 दिनैः । त्वं भवान् । संयोज्यसि संवाच्यं प्राप्त्यसि । यजुज् योगं कर्मणि लृट् ॥८९॥ इतीति । तत्र तस्मिन् ।  
 निश्चिंतार्थं निर्णीताभिप्रायाम् । गिर वाचम् । इति उक्तप्रकारेण । अभिधाय उदीर्य<sup>८</sup> । मुनीन्द्रे मुनीश्वरे ।  
 निजाश्रमं निजस्य स्वस्याश्रमं स्थानम् । गतवति यातवति सति । प्रहृतनरेन्द्रनियोग [ गि ] मन्त्रिवर्गः  
 प्रहृतो विसर्जितो नरेन्द्राणां भूपानां नियोग [ गि ] पुरुषाणां मन्त्रिणां वर्गं समूहो येन स । स. राजा ।  
 निखिलं सकलम् । आह्निकं दिने प्रवर्तमानम् । विधेयं कार्यम् । अकृत अकरोत् । अकृतकरणे लृट् ॥९०॥

होता है । जिस प्रकार इन्द्रस्वर्गकी स्थितिको स्वयं जानता है इसी प्रकार तुम भी संसारकी स्थितिको स्वयं जानते हो ॥८६॥ इस संसारमें जितने शरीरधारी-प्राणी हैं, उन सभीके साथ इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग समान रूपसे लगे हुए हैं, यह अपनी बुद्धिसे सोचकर बुद्धिमान् मनुष्य विषादसे अपने मनको खिन्न नहीं करते ॥८७॥ अतः तुम्हें शोक करना उचित नहीं; क्योंकि शोक करनेसे शरीरमें सन्ताप होता है, लाभ तो कुछ होता नहीं । पूर्वोक्तजित कर्मोंके कारण विपदाएँ आती हैं । उनके आने पर कायर पुरुष ही खिन्न होते हैं, न कि धीर-वीर ॥८८॥ राजन् ! तुम इस भूमिके भूषण हो—तुमसे इसभूमिकी शोभा है । अपने पुत्रके बारेमें अकुशलकी आशङ्कासे खिन्न न होओ । थोड़े ही दिनोंमें अपने समृद्धिशाली पुत्रमें तुम्हारी भेट होगी । ८९॥ निश्चित अर्थसे भरे वचन कहकर मुनिराजने उधर अपने इष्ट स्थानकी ओर प्रस्थान किया, और इधर राजाने भी वहाँ उपस्थित राजाओं, अधिकारियों और मन्त्रियोंको

१. क ल ग च मावयासीः । मु० मा स्म यासीः । २. क ल ग च संयोज्यसे । स संयुज्यसे ।

३. = विषादैः मानसलोकैः । आत्ममनः आत्मनः स्वस्य मनश्चित्तम् । ४. स स खेदि । ५. स स अहंसीति ।

६. आ तस्मात् । = अतः अस्मात् कारणात् । ७. श स लृट् ।

दिनैरल्पैरेव प्रथितगुणराशेस्तनुभुवो  
 चिदित्वा संयोगं परममुदयं चोग्रमहसः ।  
 पठद्बन्दिमातस्तुतशशिकलाशुभ्रयशसा  
 सुखं तस्थे राज्ञा मुनिवचनविश्वस्तमनसा<sup>१</sup> ॥६१॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकुतावुदयाङ्गे चन्द्रप्रभवचित्ते महाकाव्ये पञ्चमः सर्गः ॥५॥

दिनैरिति । प्रथितगुणराशेः प्रथितो गुणानां राशिः समूहो यस्य तस्य । उग्रमहसः उग्रस्तीव्रो ( उग्रं तीव्रं )  
 महः प्रातापो यस्य तस्य । तनुभवः कुमारभ्य । अल्पैरेव स्तोत्रैरेव दिने । संयोगं समेलनम् । परमम्  
 उत्कृष्टम् । उदयं च सूर्यं च । चिदित्वा ज्ञात्वा । पठद्बन्दिमातस्तुतशशिकलाशुभ्रयशसा पठता बन्दिनां  
 ब्रातेन ब्रजेन स्तुत शशिकलेन चन्द्रकलेन शुभ्र यशा यस्य तेन । मुनिवचनविश्वस्तमनसा मुनिवचने विश्वस्त्वं  
 विश्वव्यं मनो यस्य तेन । राज्ञा भूरेन । सुखं तस्ये स्वीयते स्म । पठः गतिनिवृत्तौ भावे लिट् ॥९१॥

इति वीरनन्दिकुतावुदयाङ्गे चन्द्रप्रभवचित्ते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं च  
 विद्वन्मनोबलभाष्ये पञ्चमः सर्गः ॥५॥

बिदाकर अपना सारा दैनिक कार्य पूरा किया ॥९०॥ थोड़े ही दिनोंके बाद, अपने गुणोंसे  
 प्रसिद्ध और अत्यन्त तेजस्वी पुत्रसे भेंट होगी । उसका उत्कृष्ट अभ्युदय होगा, यह जानकर राजा  
 सुखसे रहने लगा । मुनिराजके वचनोपर उसे अपनेमें पूर्ण विश्वास था । अब उसे कोई चिन्ता  
 नहीं रही । सब काम पूर्ववत् चलने लगे उसके चन्द्रकलाकी भाँति धबल यशका, स्तुतिपाठक  
 गान करने लगे ॥६१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्ग चन्द्रप्रभवचित्ते  
 महाकाव्यमें पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

## षष्ठः सर्गः

अथ तेन परिभ्रमय्य मुक्तः सरुपासावसुरेण राजसूनुः ।  
 निपपात मनोरमाभिधाने सरसि 'प्रोन्मिषदुग्रनक्रचक्रे ॥ १ ॥  
 गगनात्पतितस्य तस्य घातादपविद्धेषु पयःसु सर्वदिक्कम् ।  
 जलधाम तदा स्थलीबभूव स्थलमासीच्च जलाशयो मुहूर्तम् ॥ २ ॥  
 परितः परिचूर्णयन्नुपेतान्मकरादीन्घनमुष्टिपाणिघातैः ।  
 प्रकटीकृतपूर्वपुण्यशक्तिस्तटमाप प्रचिलह्वय वारि दोर्भ्याम् ॥ ३ ॥

वस्तुस्थिति कथयतस्तत्र दिव्यमार्गं मिथ्यामतं त्विति वदन्ति कुदर्शनस्थाः ।

यत्पश्य हा विमल तद्विपरीतवर्ति काले कलौ च विपरीतमति स्वभावा<sup>२</sup> (?) ॥

अथेति । अथ मुनीन्द्रबोधनानन्तरम् । सरुपा कोपसहितेन<sup>३</sup> । तेन असुरेण देवविशेषेण । परिभ्रमय्य परितो भ्रामयित्वा । मुक्तः सन् त्यक्तः सन् । असौ अयम् । राजसूनुः राजकुमार । प्रोन्मिषदुग्रनक्रचक्रे प्रोन्मिषदुग्गच्छदुग्राणा<sup>४</sup> क्रूराणां नक्राणां ग्रहाणां चक्रं वृन्द यस्मिन् तस्मिन् । मनोरमाभिधाने मनोरमम् इत्यभिधानं यस्य तस्मिन् । सरसि सरोवरे । निपपात पतति स्म । पतत् गतो लिट् । जातिः ॥ १ ॥ गगनादिति । गगनात् आकाशात् । पतितस्य प्रच्युतस्य । तस्य कुमारस्य । घातात् प्रतिस्खलनान् । सर्वदिक्कं सर्वा दिश एव सर्वदिक्कम् । पुनस्तत्<sup>५</sup> (?) । पयःसु सलिलेषु । अपविद्धेषु<sup>६</sup> सन्मु प्राप्तेषु सन्मु । तदा तत्समये । जलधाम जलानां धाम स्थानं सरोवर इत्यर्थः । स्थली बभूव प्रागस्थलमिदानीं स्थल बभूवेति तद्योक्तम्, 'कर्मकर्तृभ्यां प्रागतस्वे -' इति चिवः, स्थलं भवति स्म । मुहूर्तं घटिकाद्वयपर्यन्तम् । 'कालाध्वनो-  
 र्भ्यांस्त्री' इति द्वितीया । जलाशयः सरोवरः । स्थलं जलरहितप्रदेशः । आसीच्च अमवक्च । अस भूवि लङ् ॥ २ ॥ परित इति । परितः समन्तात् । उपेतान् समायातान् । मकरादीन् मकरादिजलचरान् । घनमुष्टिपाणि-  
 घातैः घनैर्मुष्टिपाण्योर्घातैः प्रतिघातैः । परिचूर्णयन् परिमर्दयन् । दोर्भ्यां भुजाभ्याम् । वारि सलिलम् ।

उधर उस चण्डरुचि नामके क्रोधी असुरने राजकुमार अजितसेनको—जिसे वह हर ले गया था—दोनो हाथोंसे चारों ओर घुमाकर फेंक दिया । वह मनोरम नामके सरोवरमें—जिसमें भयंकर मगर-मच्छ उछल-कूद मचा रहे थे—जा गिरा ॥ १ ॥ आकाशसे गिरे हुए उस राजकुमार-के आघातसे सरोवरका सारा जल ऊपर की ओर उछल गया, जिसने जलसे लबालब भरा हुआ सरोवर थोड़ी देरके लिए स्थल हो गया और जहाँ-जहाँ वह जल जा गिरा वे स्थल जलमय हो गये ॥ २ ॥ कुछ ही क्षणोंमें सरोवर फिर जलसे भर गया । जलके साथ मगर-मच्छ आदि जल-जन्तु भी वही-के-वहीं आ गये, और राजकुमारके ऊपर झपटने लगे । किन्तु पूर्वोपाजित पुण्यकर्मकी शक्तिसे उसने उन्हें जोरके मुक्कों और एड़ियोंसे मार-मारकर चकनाचूर कर दिया,

१. अथ प्रोन्मिल<sup>१</sup> । २. आ प्रती पद्यमिदं न दृश्यते । ३. अ स कोपेन सहितेन । ४. आ षदुच्छसदुः ।  
 ५. आ पुस्तत् । ६. अ स षद्वेषु । ७. = स्वल्पकालं यावत् ।

धवलाहणकृष्णदृष्टिपातैः ककुभः कर्बुरयन्सरोन्तिकस्थः ।  
 स ददर्श समं ततोऽपि धीरः<sup>१</sup> पश्याभ्यामटवीमगम्यकृपां ॥ ४ ॥  
 पृथुनुङ्गनिरन्तरैस्तरुणां निवहैश्छन्नसमस्तदिङ्मुखायाम् ।  
 निपतन्ति न यत्र तिग्मरश्मेरपि पादा इव दर्भसूचिभीत्या ॥ ५ ॥  
 मृगराजविदारितेभकुम्भच्युतमुक्ताफलपङ्क्तयः समन्तात् ।  
 पतिता इव तारका नभस्तस्तदशाखास्खलनेन भान्ति यस्याम् ॥ ६ ॥  
 अतिरौद्रकिरातभङ्गाभिन्नप्रियकासाहणिता दधाति भूमिः ।  
 रुचिरत्वमरण्यदेवतानां चरणालकचर्चितेव यस्याम् ॥ ७ ॥

प्रविलङ्घ्य उल्लङ्घ्य । तट तोरम् । आप प्राप । आप्नु व्याप्नोति लट् ॥ ३ ॥ धवलेति । धवलाहणकृष्णदृष्टि-  
 पातैः धवलाहणकृष्णैः श्वेतलोहितनीलैः दृष्ट्योः पातैः पतनैः । ककुभः दिशः । कर्बुरयन् विचित्रवर्णं ( पांः )  
 कुर्वन् । सरोऽन्तिकस्थः सरसः सरोवरस्यान्तिकस्थः समीपस्थः । धीरः धीरपुरुषः । सः कुमारः समन्ततोऽपि  
 सर्वतोऽपि । अगम्यकृपां अगम्यं गन्तुमशक्यं रूपं यस्यास्ताम् । पश्याभ्या 'पश्या'<sup>२</sup> इत्याभ्याऽभिधानं  
 यस्यास्ताम् । अटवीम् अरण्यानीम् । ददर्श पश्यति स्म । दृष्टुं प्रेक्षणे लिट् ॥ ४ ॥ इत्येवेति । पृथुनुङ्गनिरन्तरैः  
 पृथुभिर्मङ्गिस्तुङ्गैश्च निरन्तरैः सान्द्रैः । तरुणा वृक्षाणाम् । निवहैः समूहैः । छन्नसमस्तदिङ्मुखायां  
 छन्नानि समस्तानां सर्वासा<sup>३</sup> दिशा मुखानि समस्तदिङ्मुखानि दिग्विचाराणि यस्यास्तस्याम् । यत्र अटव्याम् ।  
 तिग्मरश्मेरपि सूर्यस्य ( अपि ) । पादाः किरणाः, चरणा इति ध्वनिः । दर्भसूचिभीत्या दर्भाणां दर्भा एव  
 वा सूचयस्तासां भास्या भवेनेव । न निपतन्ति न प्रविशन्ति । पट् गतो लट् । उपप्रेक्षा ॥ ५ ॥ मृगेति ।  
 यस्याम् अटव्याम् । मृगराजविदारितेभकुम्भच्युतमुक्ताफलपङ्क्तयः मृगाणां राजेन ( राज्ञा ) सिंहने विदारितस्य  
 इभानां गजानां कुम्भेभ्यः कुम्भस्थलोभ्यच्युतास्तथोक्ता, तादृक् ता मुक्ताफलानां भोजितकानां पङ्क्तयो  
 राजयः । समन्तात् सर्वतः । तदशाखास्खलनेन तरुणा वृक्षाणां शाखानां स्खलनेन घातेन । नमसः  
 [नमस्त] आकाशात् । पतिताः प्रच्युता । तारका इव नक्षत्राणोव । भान्ति विराजन्ते । भा दीप्नोति लट् ।  
 उपप्रेक्षा ॥ ६ ॥ असीति । यस्याम् अटव्याम् । \*अतिरौद्रकिरातभल्लभिन्नप्रियकासाहणिता अतिरौद्राणाम्<sup>४</sup>  
 अतिक्रोधिना किरातानां पुलन्दानां भल्लैर्बाणैर्मिश्रानां विदारितानां प्रियकाणां मृगाणामखेण रक्तेनाहणिता  
 और फिर तैरकर किनारेपर जा पहुँचा ॥ ३ ॥ किनारेपर पहुँचते ही वह खड़ा होकर चारों ओर  
 देखने लगा । ऊँचाईसे गिरने, जल जन्तुओसे जूझने और तेरनेके कारण उसके नेत्र लाल हो  
 गये थे । नेत्रोके मध्य-भागमें कालापन था और चारों ओर कुछ सफेदी और कुछ लालिमा ।  
 इन तीनों वर्णोंकी सम्मिलित प्रभाके सभी ओर पड़नेसे सारी दिशाएँ चितकबरी-सी हो गयी ।  
 वह वीर वहाँसे जानेके लिए मार्ग देखना चाहता था, किन्तु उसे चारो ओरसे पश्या नामकी  
 अटवी दिखलाई पड़ी, जो बहुत ही घनी थी । उससे निकलनेका कोई रास्ता ही नहीं सूझ  
 रहा था ॥ ४ ॥ उसमें सभी ओरसे लगातार ऊँचे और विशाल वृक्षोके झुण्ड थे, जिनसे सारी  
 दिशाएँ आँखोसे ओझल हो गयीं थी । उसमें सुई-सरीखा नुकीला कांस लगा हुआ था । मानो  
 उसकी नोक चुभनेके भयसे सूर्यके भी पाद ( किरण, चरण ) वहाँ नहीं पड़ते थे ॥ ५ ॥ वहाँ  
 सिंहोंने जिन हाथियोंके गण्डस्थलोंका विदारण किया था, उनकी मुक्ताएँ ( गजमुक्ताएँ ) चारों  
 ओर पड़ी थीं, उनके देखनेसे ऐसा जान पड़ता था मानों वहाँकी उन्नत-वृक्ष-शाखाओंकी रगड़से  
 आकाशसे ताराएँ टूटकर विखरी पड़ी हों ॥ ६ ॥ वहाँ अत्यन्त क्रोधी भीलोंने अपने भालोंसे

१. अ क ख ग घ म वीरः । २. आ पश्य इति । ३. आ स दृशू । ४. आ सर्वाणाम् ।  
 ५. आ स अतिक्रादं । ६. आ स अतिक्राद्राणाम् ।

शशराहतपुण्डरीकयूथैर्वटपालम्बिभिरेकतोऽपरम् ।

हरिहंसितसामजास्थिकूटैर्जनसन्त्रासकरी पुरीव मृत्योः ॥ ८ ॥

मदगन्धिषु सप्तपर्णकेषु प्रचुरप्रान्तलतान्धकारितेषु ।

करिशङ्कितया क्रमं दधाना हरयो यत्र भवन्ति बन्धकोपाः ॥ ९ ॥

सततप्रसृतैरपोदशीताः शयुनिःश्वासचयोष्णितैर्मरुद्भिः ।

गमयन्ति महीरुहाधिरुदाः<sup>१</sup> शिशिरर्तुं प्लवगाः सुखेन यस्याम् ॥ १० ॥

लोहिता । 'बभूवप्रियकावपि' इत्यमरः । भूमिः पृथ्वी । अरण्यदेवतानाम् अरण्ये कान्ते विद्यमाना देवताना देवीनाम् । चरणालक्तकर्चचित्ते चरणानां पादानामलक्तकेन यावकरसेन चचित्तेव लिखेव । शबिरं मनोहरम् [ शबिरत्वं मनोहरत्वं ] । दधाति धरति । दृष्टाञ् घातणे च लट् । उत्प्रेषा ॥७॥ शबरेति । एकतः एकस्मिन् एकतः—एकप्रदेशे । विटपालम्बिभिः । विटपेषु शावान्मुलम्बिभिः । 'विटपः पल्लवे पिङ्ग<sup>३</sup> विस्तारे रक्तम्बशाखयोः' इति विश्वः । शशराहतपुण्डरीकयूथे शबरेष्वपि गह्वरानां घातितानां<sup>४</sup> पुण्डरीकाणां व्याघ्राणां यूथैः समूहैः । परत्र अन्यप्रदेशे ।<sup>५</sup> हरिहंसितसामजास्थिकूटैः हरिभिः निर्हेदिसितानामाघातानां<sup>६</sup> सामजानां गजानामस्थानां कूटैः राशिभिः । मृत्योः यमस्य । पुरीव पलनमिव । जनमन्त्रासकरी जनानां लोकानां मन्त्रासकरी भयङ्करी । भाति । उपमा ( उत्प्रेषा ) ॥८॥ मदेति । यत्र अटव्याम् । मदगन्धिषु मद इव मदजल इव गन्धिषु परिमलयुक्तेषु । प्रचुरप्रान्तलतान्धकारितेषु प्रचुराभिः प्रान्ते सन्निधे विद्यमानाभिलताभिरन्धकारितेषु ध्वान्तयुक्तेषु । सप्तपर्णकेषु कर्पूरकदलीषु । करिशङ्कितया गजमश्विनया । क्रमं पादम् । दधानाः । धरन्तः । हरयः सिंहाः । बन्धकोपा निष्कनक्रोधाः । भवन्ति भवन्ति । भू सत्ताया लट् ॥९॥ सततेति । यस्याम् अटव्याम् । महीरुहाधिरुदा महीरुहान् वृक्षान् अधिरुदा<sup>७</sup> आरुढवन्तः । प्लवगाः वानराः । सततप्रसृतैः सततमनवरतं प्रसृतैः व्याप्तैः । शयुनिःश्वासचयोष्णितैः शयूनां संप्रविशोवाणां निद्रामानामन्तर्द्विर्गन्तशयूनां चनेन समूहेनोष्णितैः संभातोष्णैः । मरुद्भिः वायुभिः । अपोदशीताः अपोढ निराकृतं सितं हिमं येषां ते । शिशिरर्तुं

जिन मूकोका शिकार किया था, उनके रक्तसे पृथ्वी लाल हो गयी थी, जो ऐसी जान पड़ती थी मानो वन देवियोंके चरणोंके महावरसे रंग गयी हो ॥ ७॥ जहाँ एक ओर वृक्षोंकी शाखाओं-पर वे बाध लटक रहे थे, जिन्हें भोलोने अभी-अभी मारा है और दूसरी ओर सिंहोंके द्वारा मारे गये हाथियोंकी हड्डियोंके ढेर लगे हुए थे । फलतः वह अटवी यमगुरीके समान, मानवकी भयावनो हो गयी थी ॥ ८ ॥ वहाँ सप्तच्छद ( कर्पूरकदली ) वृक्ष लगे हुए थे : उनकी गन्ध हाथियोंके मदजलकी गन्धके समान थी । उनके आम-पास सघन लताएँ छाई हुई थी । अतएव वहाँ सदा अन्धकार रहता था । फलतः वहाँ सिंहोंकी हाथियोंका भ्रम हो जाया करता था, जिससे वे छलांग मारकर सप्तच्छद-वृक्षोंके ऊपर पंजोका प्रहार कर बैठते थे । यद्यपि उनका यह क्रोध व्यर्थ ही होता था ॥९॥ वहाँ अजगरीकी श्वाससे वायु गरम होकर बहा करती थी । अतः वृक्षोंपर चढ़े हुए बन्दरोंकी जाड़ा नहीं सताता था । वे शिशिर ऋतु सुखपूर्वक बिताया करते थे

१. अ आ इ दधानाः । २. क र्ग ग ध भ महीधराधि<sup>१</sup> । ३. आ पण्डे । ४. आ घातना । ५. आ अन्यत्रप्र<sup>२</sup> । ६. = मारितानां विदारितानां वा । ७. = मदजलमिव । ८. = चटितानां । ९. = अजगराणां ।

घनपादपसंकटान्तराले गहने यत्र स जातदिव्यप्रमोहः ।

विनिचाय्य चिराद्वनेचराणां पदवीं निर्भयमानसः प्रतस्थे ॥ ११ ॥

गुरुवंशमथाप्रमाणसत्त्वं स्थितिमत्युन्नतिशालिनीं दधानम् ।

रुचिराकृतिमेकमालुलोके स्वसमानं स नगं गजेन्द्रगामी ॥ १२ ॥

बहुनागमेकखङ्गिसेव्यं तमिलानाथमिव प्रसादिताशम् ।

गगनस्पृशमारोह शैलं वनपर्यन्तबुभुक्षया कुमारः ॥ १३ ॥

शीतकालम् । मुखेन निरायासेन । गमयन्ति मापयन्ति । गन्तुं गतीं निजन्तात्कल् ॥ १० ॥ घनेति । [ घन-  
पादपसंकटान्तराले ] घनैः सान्द्रैः पादपैस्तुल्यैः सङ्कटं सङ्कीर्णमन्तरालं मध्यं यस्मिन् तस्मिन् । तत्र तस्मिन्  
कानने । जातदिव्यप्रमोहः जात उत्पन्नो दिशां प्रमोहो भ्रमो यस्य सः । स. अजितसेनकुमारः । वनेचराणां  
व्याधानाम् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति क्वचित् श्लुगभावः । पदवीं मार्गम् । चिरान् शनैः विनिचाय्ये  
विलोच्य । चाय पुजानिशामनयोः । निर्भयमानसः सन् निर्भयं भयरहितं मानवं यस्य सः, सन् । प्रतस्थे  
प्रययो ॥ ११ ॥ गुरुवंशमिति । अथ प्रत्यानानन्तरम् । गजेन्द्रगामी गजेन्द्र इव गच्छतोऽप्येव शैली मन्दगामी-  
त्यर्थः । सः कुमारः । गुरुवंशं गुरुवो महान्तो वंशः वेणवो यस्मिन् तम्, पक्षे गुरुमहान् वंशः कुलं यस्य तम् ।  
अप्रमाणसत्त्वम् अप्रमाणा सत्त्वाः प्राणिनो यस्मिन् तम्, पक्षे बहलसामर्थ्यम् । अत्युन्नत [ ति ] शालिनीम्  
अत्युन्नत्या शालिनीं संपूर्णां स्थितिं व्यवस्थितिं, पक्षे मर्यादाम् । दधानं धरन्तम् । रुचिराकृतिं रुचिराकृतियं-  
स्य तम् । एकं स्वसमानम् । नगं पर्वतम् । आलुलोके दर्शः । लोके दर्शने लिट् । श्लेषोपमा ॥ १२ ॥ खङ्गिति ।  
बहुनागं बहुवो नागाः । कुञ्जरा यस्मिन् तम् । अने खङ्गिगसेव्यम् अनेकैर्वहलैः । खङ्गिभिः खङ्गिगमैः, पक्षे,  
वीरभटैश्च सेव्यं सेवनीयम् । प्रसादिताशं प्रसादिता प्रसन्ना आशा दिशो येन तम्, पक्षे प्रसादितामिलापम् ।  
गगनस्पृशम् आकाशस्पृशम् । हलानाथमिव भूमिनाथमिव । तं शैलं पर्वतम् । कुमारः अजितसेनः । वन-  
पर्यन्तबुभुक्षया वनस्य काननस्य पर्यन्तमवसानं बुभुक्षया बोद्धुमिच्छया आरोहो आरोहतस्मिन् । रुह बीज-

॥ १० ॥ उस अटवीके बीचमे सपन वृक्षावली थी, इस कारण राजकुमार अजितसेनको दिशा  
पहचाननेमे भ्रम हो गया । बहुत देरके बाद उसे खोज करनेपर भोलोंका एक आने-जानेका  
मार्ग मिला । उसी मार्गसे वह निर्भय होकर चल पड़ा ॥ ११ ॥ गजराजकी भाँति गमन करने-  
वाला वह राजकुमार उहाँ ही कुछ आगे बढ़ा त्योंही उसे एक पहाड़ दिखलाई दिया । वह उसी  
राजकुमारके समान था । राजकुमार श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न हुआ था, पहाड़में बड़े-बड़े वांस लगे  
हुए थे । राजकुमारमे अपरिमित बल था, पहाड़मे अपरिमित प्राणी थे । राजकुमार उत्तरोत्तर  
उन्नतिसे मुशोभित व्यवस्थासे युक्त था, पहाड़ श्रेष्ठ ऊँचाईसे युक्त था । राजकुमार का आकार  
सुन्दर था और पहाड़ भी दर्शनीय था । इस तरह वंश ( वंश, वांस ), सत्त्व ( बल, प्राणी ),  
स्थिति ( व्यवस्था, मर्यादा ) और सुन्दरताकी दृष्टिसे दोनों समान थे ॥ १२ ॥ वह पहाड़  
राजाके समान था । राजाके पास बहुत हाथी होते हैं; उसकी सेवा खड्गधारी सिपाही करते हैं;  
वह सबके मनोरथको पूरा करता है और वह गगनचुम्बी महलोपर चढ़कर आकाशको छूता है ।  
इसी प्रकार वह पहाड़ बहुत हाथियों और सर्पोंसे युक्त था; उसपर गेंडे निवास करते थे; वह  
सभी दिशाओंको प्रसन्न करता था और उन्नत शिखरोंमे आकाशको छू रहा था । राजकुमार

१. आ इ पादपसंकटा । २. चिताशम् । ३. = सुवपुर्व्वम् । ४. = चिरं । ५. आ विनिचाय्य  
विलोच्य । आयूज पुजानिशामनयोः । ६. = 'निशामनं चाक्षुषजानम्' इति भाष्यः । ७. = सत्त्वानि । ८. =  
अत्युन्नत्या शालते क्षोमत इत्येवंशैलाताम् अतिसमुन्नतिक्षोभमानामित्यर्थः । ९. आ लोक्ज् । १०. = प्रसादं  
प्रापिता आशा दिशो येन तम् । ११. = गगनचुम्बिनमत्युन्नतमित्यर्थः । १२. = तच्चुम्बुत्सया तद्बोद्धुमिच्छया ।



स्फुरदोष्ठतटः<sup>१</sup> करालघको भुजदण्डभ्रमितप्रचण्डयष्टिः ।  
 सहस्राविरभूत्पुरोऽस्य तस्मिन्पुरुषः प्रावृषिजाम्बुवाहनीलः ॥१४॥  
 प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः स समेत्य त्वरया समीपदेशम् ।  
 वचनैः परुषाक्षराविषहोरिति तं तर्जयति स्म राजपुत्रम् ॥ १५ ॥  
 किम् कोऽपि बलोद्धतस्त्वमुच्चैरित विद्यातिशयं दधासि कंचित् ।  
 यद्वाकिर मनस्त्वया मदीयां भुवमाक्रान्तुमिमामनन्यभोग्याम् ॥ १६ ॥  
 त्रिदशो<sup>२</sup> यदि वादितेस्तनूजो न मदाज्ञामनवाप्य कोऽपि शक्तः ।  
 परिरक्षितमस्मदीयदोर्म्यां गिरिमाक्रान्तुमिमं विशालशृङ्गम् ॥ १७ ॥

अनमनि लिट् । श्लेषोपमा ॥१३॥ स्फुरदिति<sup>३</sup> । स्फुरदोष्ठतटः स्फुरत्कम्पमानमोष्ठस्याधरस्य तटं प्रदेशो यस्य सः । करालवक्त्रं करालं भयङ्करं वक्त्रं मूलं यस्य सः । भुजदण्डभ्रमितप्रचण्डयष्टिः भुजदण्डेन भ्रमिताः कम्पिता प्रचण्डा निष्ठुरा यष्टिर्योदण्डो यस्य ( येन ) सः । प्रावृषिजाम्बुवाहनीलः<sup>४</sup> प्रावृषिजो वर्षाकालजनितोऽम्बुवाह इव नीलः कृष्णवर्णः । पुरुषः मनुष्यवेषधारी । तस्मिन् पर्वते । अप्य कुमारस्य । पुरः अग्रे । सहसा योऽग्रम् । आविरभूत् प्रादुरभूत् । जातिः ॥१४॥ प्रतीति । प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः प्रतिनादितं प्रतिध्वं ( ध्वा ) नितं सर्वेषां शैलानां पर्वतानां रन्ध्रं छिद्रं येन सः । सः पुरुषः । त्वरया वेगेन । समीपदेशं निकटप्रदेशम् । समेत्य आगत्य । परुषाक्षराविषहोः<sup>५</sup> परुषेनिष्ठुरैरक्षरैः वर्णैरविषह्यैः दुःसहैः । वचनैः वचोभिः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । तं राजपुत्रं राजकुमारम् । तर्जयति स्म त्रासयति स्म<sup>६</sup> । तर्जं भर्त्सने<sup>७</sup> लट् ॥१५॥ किम् इति । अत् यस्मात् । मदीया मम सम्बन्धिनीम् । अनन्य-भोग्याम्<sup>८</sup> अनन्यगोचरहिताम् इमाम् एताम् । भुव भूमिम् । आक्रान्तुम् आगन्तुम् । त्वया मनः चित्तम् । अकारि अक्रियत । दृक्कृ करणे कर्मणि लुट् । [ किम् किंवा ] त्वम् उच्चैः बलोद्धतः बलेन पराक्रमेणोद्धतो गवितः कोऽपि<sup>९</sup> । [ उत अथवा ] कंचित् विद्यातिशयं विद्यायाः जात्यादिविद्याया अतिशयम् । दधासि धरसि । उत किम् । संशयः ॥१६॥ त्रिदश इति । यदि त्रिदशः देवः । ( वा अथवा, कोऽपि ) अदितेः अदितिती<sup>१०</sup> मातुः तनूज पुत्रः, दानव इत्यर्थं (?) वा किम् । मदाज्ञा ममाज्ञाम् । अनवाप्य अलब्ध्वा । अस्मदीयदोर्म्याम् अस्मदीयाभ्यां दोर्म्यां भुजाभ्याम् । परिरक्षितं परिवारितम् । विशालशृङ्गं<sup>११</sup> विस्तारशृङ्ग-पुष्पतम् । इमम् एतम् । गिरि पर्वतम् । आक्रान्तुम्<sup>१२</sup> आगन्तुम् । शक्तः समर्थः कोऽपि, न अजितसेन वनका और-छोर जाननेके लिए उस पहाड़पर चढ़ गया ॥ १३ ॥ ज्यों ही वह ऊपर पहुँचा त्योंही उसके सामने एकाएक एक पुरुष ( पुरुष वेषधारी देव ) प्रकट हुआ । क्रोधके कारण उसका अधर ( नीचेका होठ ) फड़क रहा था, उसका मुख बड़ा भयंकर दिख रहा था, वह एक भयानक लोहदण्डको अपने हाथोंसे घुमा रहा था और वह वर्षाकालीन मेघकी भाँति काला था ॥ १४ ॥ उसकी भयावनी आवाजसे पहाड़की सारी गुफाएँ गुँज उठीं । वह शीघ्र ही राजकुमारके पास आ घमका और कठोर अक्षरोंसे भरे हुए असह्य वचनोंसे उसको भर्त्सना यों करने लगा—॥ १५ ॥ क्या तुझे अपने बलका इतना भारी घमण्ड है या तू किसी विशिष्ट विद्याको जानता है ! जो तेरी इच्छा मेरी इस भूमिमें आनेकी हुई, जिसका उपभोग कोई भी नहीं कर सकता ॥ १६ ॥ कोई देव हो या दानव, पर कोई मेरी आज्ञाके बिना, उन्नत शिखरों-वाले इस पर्वतपर नहीं आ सकता । मैं स्वयं अपनी बाहुओंसे इसकी रखवाली जो करता हूँ

१. अ<sup>१</sup> 'उत्तल' । २. अ<sup>२</sup> 'भुवमागन्तु' । ३. अ<sup>३</sup> 'त्रिदशेश' । ४. अ<sup>४</sup> 'मागन्तु' । ५. अ<sup>५</sup> 'स स्फुरेरित' । ६. = वर्षाकाल जनितः सबासावम्बुवाहो मेघः स इव नीलः कृष्णवर्णः । ७. श<sup>७</sup> स<sup>७</sup> 'त्रासयति' । ८. श<sup>८</sup> स<sup>८</sup> 'रत्रिसहैः' । ९. अ<sup>९</sup> 'आसयतिस्म' इति नीपलभ्यते । १०. अ<sup>१०</sup> 'तज्यं भर्त्सने' । ११. = अनन्यगोचरात् । १२. = असि । १३. = 'अदिति' इति नामधेयायाः । १४. = विस्तारिशृङ्गपुष्पतम् । १५. अ<sup>१५</sup> 'आक्रान्तुम्' ।

जलनिर्भरसङ्गशीतवाते<sup>१</sup> धृत्प्रीधे शिशिरत्वमावधानाः ।

न पतन्ति यन्त्र तिग्मरश्मेः किरणाः कारणमत्र मत्प्रतापः ॥ १८ ॥

इदमात्मवधाय मद्भिरुद्धं विद्वानोऽबुध केन विप्रलब्धः ।

अथवा न गतः श्रुति तवाहं नहि विद्वानसमीक्षितं विधत्ते ॥ १९ ॥

इति तस्य निशम्य गर्वगर्भी स गिरं मर्मनिकुन्तनी<sup>२</sup> भवैषुम् ।

कुपितः कृतसौष्ठवं बभाषे जयलक्ष्मीनिलयो नरेन्द्रसूनुः ॥ २० ॥

भजते भयमेभिरर्थशून्यैर्वचनैः कापुरुषो न धीरचेताः ।

अहमस्मि सुरासुरैकमल्लो गणना कैव भवद्विधे नृकीटे ॥ २१ ॥

कोऽशौत्यर्थ ॥ १७ ॥ जलेति । जलनिर्भरसङ्गशीतवाते जलनिर्भरस्य जलप्रवाहस्य सङ्गेन संबन्धेन शीतलो [ शीतो ] वातो यस्मिन् तस्मिन् । अत्र अस्मिन् । धरणीध्रे पर्वते । शिशिरत्वं शीतत्वम् । आवधानाः धरन्तः । तिग्मरश्मेः सूर्यस्य । किरणाः प्रमुखाः । न पतन्ति न प्राप्नुवन्ति । इति यत् यत् किञ्चित् । अत्र सूर्यकिरण-पतने । मत्प्रतापः मम प्रतापः पराक्रमः । कारणं निमित्तम् । भवति । अनुमितिः ॥ १८ ॥ इदमिति । अबुध भो अज्ञानिन् । इदम् एतत् । विरुद्धं विरुद्धकार्यम् । आत्मवधाय आत्मनः स्वस्य वधाय मारणाय । विद्वान् विवेको । असमीक्षितम् अविवारितम् । न विधत्ते हि न करोति हि । इवाहं धारणे च लट् ॥ १९ ॥ इतीति । इषुमिव बाणमिव । मर्म अन्तरङ्गम् । निकुन्तनीं मेदिनीम् । गर्वगर्भी गर्मे गर्भो यस्य तां । 'गद्वादिभ्यः' इति पूर्वनिपाठः । तस्य कृतकपुरुषस्य गिरं बाणोम् । निशम्य श्रुत्वा । कुपितः क्रुद्धः । जयलक्ष्मीनिकय जयलक्ष्म्या निलय आलयः । स. नरेन्द्रसूनुः नरेन्द्रस्य भूरेन्द्रस्य कुमारः । कृत-सौष्ठवं कृतं सौष्ठवं वर्णव्यक्तिर्यस्मिन् कर्मणि तत् । बभाषे जगाद । बाधि व्यक्ताया बाधि लिट् । उपमा ॥ २० ॥ भजते इति । अर्थशून्यै अर्थरहितैः, निशम्योर्जनैरिरयथं । एभिः एतैः । वचनै वचोभिः । कापुरुषः कुपितः पुरुषः । 'पुरुषे का बा' इति पुरुषशब्दे परे कुलबन्धस्य<sup>३</sup> का-प्रादेशः । भयं भोतिम् । भजते भजते । अत्र सेबाया लट् । धीरचेताः धीरं भयरहितं चेतश्चित्तं यस्य सः । न न भजते । अहं सुरासुरैकमलः सुरासुराणामेको मुखो मलः प्रतिभटः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । भवद्विधे भवतस्तव

॥ १७ ॥ इस पर्वतपर अनेक जलप्रपात हैं । उनके कारण यहाँ ठण्डो हवा बहा करती है । यहाँ सूर्यकी किरणें ठण्डो हो जाती हैं—ठिठुरने लगती हैं । फलतः वे यहाँ प्रवेश ही नहीं करतीं । इसमे मेरा प्रताप कारण है । मेरे प्रभावक्षेत्रमें सूर्य भी हतप्रभ हो जाता है, फिर तेरा तो सामर्थ्य ही क्या है ? ॥ १८ ॥ रे मूर्ख ! अपनी मोतके लिए जो तू मेरे विरुद्ध यह काम कर बैठा—मेरी आज्ञाके बिना यहाँ घुसता चला आया, सो क्यों ? क्या तुझे किसीने शनका दिया है ? या तूने मेरा नाम ही नहीं सुना था ? क्योंकि समझदार ( विद्वान् ) मनुष्य कभी नासमझीका काम नहीं करता ॥ १९ ॥ उसकी ऐसी गर्वोलो और बाणकी तरह मर्म-मेदिनी बातें सुनकर राजकुमारको, जो जयलक्ष्मीका निवासस्थान था, क्रोध आ गया । फिर उसने स्पष्ट शब्दोंमें यो उत्तर दिया— ॥ २० ॥ तुम्हारी इन निरर्थक बातोंसे कायर भले ही डर जायें, पर जिसके हृदयमें धीरता है, वह कभी नहीं डर सकता । तुम मुझे नहीं जानते ? नहीं जानते हो, तो जानलो—मैं देवों और दैत्योंसे टक्कर लेनेवाला योद्धा हूँ । तुम सरोखे नर-

१. अ. 'निर्भरशीतसङ्गवाते । २. आ इ न तपन्ति, क क ग च निपतन्ति, अ प्रतपन्ति ।

३. क स 'कुन्तनीं मेदिनीम् । ४. = मद्भिरुद्धं । ५. = मद्भिरुद्धकार्यम् । ६. = केन मानवेन । ७. = नहि विधत्ते नहि करोति । ८. आ क स गर्वादिभ्यः । ९. = इति गिरं । १०. आ भजते । ११. क स कुप्य ।

तद्वत् परिभाषितैरमीभिर्बहुभिः<sup>१</sup> संमितभाषिणो हि सन्तः ।  
 यदि पौरुषमस्ति मुञ्च घातं न भवत्येष<sup>२</sup> मदीयमुष्टिपिष्टः ॥ २२ ॥  
 इति वादिनि तत्र राजपुत्रे तरसापातयद्यासीं स यष्टिम् ।  
 तमसाद्यपि यश्चित्तप्रहारः स्वभुजाभ्यन्तरवर्तिनं चकार ॥ २३ ॥  
 इतरेतरबाहुपीडिताङ्गौ मिलितौ लोकपती इवाजिकण्ड्वा ।  
 निभृताभिरण्यदेवताभिर्दृष्टाते तरजालकान्तरेण ॥ २४ ॥  
 करणैर्विविधैरशेषबन्धैश्चरणाभ्यांहतिभिर्भुजप्रहारैः ।  
 क्रमजातजयं प्रचण्डशक्त्योश्चिरमङ्गेन<sup>३</sup> तयोर्बभूव युद्धम् ॥ २५ ॥

विषे सद्यो । नृकीटे मनुष्यकीटके । कैव गणना संख्या न कैवेत्यर्थः । आक्षेपः ॥ २१ ॥ तदिति । तत् तस्मात् ।  
 अमीभिः एभिः । बहुभिः बहुलैः ( बहुलैः ) परिभाषितैः परिगणितैः । अलं पर्याप्तम् । सन्तः सत्पुरुषाः ।  
 संमितभाषिणः मितवचनाः<sup>४</sup> । हि यदि । पौरुषं प्रतापः । अस्ति चेत् । [ घातं मुञ्च प्रहारं कुरु ] । एषः  
 अयं स्वम् । मदीयमुष्टिपिष्टः मदीयया मम संबन्धया<sup>५</sup> मुष्ट्या मुष्टिप्रहारेण पिष्टः चूर्णीकृतः । न भवमि नास्ति ।  
 भू सत्तायां लट् । घातं बधनघातम् । मुञ्च त्यज । मुच्यु मोक्षणे लोट् ॥ २२ ॥ इतीति । तत्र तस्मिन् । राजपुत्रे  
 राजकुमारे । इति उक्तप्रकारेण । वादिनि सति वदति सति । सः कृतकपुरुषः । तरसा शीघ्रम् । आयसीम्  
 अयसा निमित्ताम् । यष्टि दण्डम् । अपायतत् न्यक्षेपयत्<sup>६</sup> । पल्ल गतौ निजन्ताल्लेङ् । वञ्चितप्रहारः विप्रलम्ब-  
 प्रहारः । असौ अपि कुमारोऽपि । त कृतकपुरुषम् । स्वभुजाभ्यन्तरवर्तिनं स्वस्यात्मनोभुजयो बाह्योरभ्यन्तरे मध्ये  
 वर्तिनं वर्तशीलम् । चकार करोति स्म । दृक्कृञ् करणे लिट् ॥ २३ ॥ इतरेति । बाजिकण्ड्वा बाजेः सप्तामस्य कण्ड्वा  
 कण्डूया । मिलितौ युक्तौ । इतरेतरबाहुपीडिताङ्गौ इतरेतरयोरन्योन्ययोर्बाहुभ्यां भुजाभ्यां पीडित बाधितमङ्ग-  
 शरीरं ययोस्तौ । लोकपती इव दिक्शालाविव । तरजालकान्तरेण तक्षणा वृक्षाणां आलकस्य समूहस्याभ्यन्तरेणात-  
 रालेन । निभृताभिः निवृत्ताभिः । अरण्यदेवताभिः वनदेवताभिः । दृष्टाते दृश्यते स्म । दृगु प्रेक्षणं कर्मणि लिट्  
 ॥ २४ ॥ करणीरिति । विविधैः नानाप्रकारैः । करणं अंगे । अशेषबन्धैः अशेषैः समस्तैर्बन्धविशेषैः । चरणाभ्यां-  
 हतिभिः चरणानां पादानामप्राहतिभिर्घातैः । भुजहारैः भुजानां बाहूनां प्रहारैर्बाधनैः । प्रचण्डशक्त्योः प्रचण्डा  
 शक्त्या शक्तिः पराक्रमो ययोस्तयोः । अङ्गेन शरीरेण । क्रमजातजयं क्रमेण जातो जयो यस्य<sup>७</sup> तत् । एकवारं

कीटांकी मेरे सामने गिनती ही क्या है ? ॥ २१ ॥ इसलिए तुम इन निरर्थक बातोंको बन्द  
 करो—चुप रहो, बकवास न करो । तुम बहुत बक चुके हो । अच्छे आदमी बहुत थोडा बोला  
 करते हैं । यदि पौरुष-शक्ति या मर्दानगो हो तो बार करो । पर इतना सोच लो कि बार  
 ( प्रहार ) करनेसे पहले ही मेरे मुक्कोंकी मारसे तुम कहीं पिस न जाना ॥ २२ ॥ राज-  
 कुमारके यों कहते ही उसने बार करनेके लिए बड़े वेगसे लोह-दण्ड ऊपरकी ओर उठाकर  
 गिराना चाहा, पर राजकुमारने उसे बीचमें ही रोक लिया, और प्रहार करनेवाले उस असुर-  
 को अपने बाहुओंके बीचमें दबोच लिया ॥ २३ ॥ उस असुरने भी राजकुमारको अपने बाहुओंसे  
 दबा लिया—दोनों आपसमें लिपट गये । एक दूसरेको बाहुओंसे खूब जकड़कर पकड़ लेनेसे वे  
 दोनों ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों युद्धकी खूजली मिटानेके लिए दो लोकपाल आपसमें भिड़  
 पड़े हों ! वनदेवियां वृक्षोंकी ओटमें चुपचाप खड़ी होकर उनकी ओर देख रही थी ॥ २४ ॥  
 दोनोंमें प्रचण्ड शक्ति थी ; दोनों ही पैतरे व दाव-पेंच जानते थे । फलतः नाना प्रकारके पैतरों व

१. म संमितं । २. बा इ न भवत्येष, म न भवत्येष । ३. अ क ल ग ष र्णाभ्यां ।  
 ४. क ल ग ष र्णाङ्गेन । ५. = भवन्तीति शेषः । ६. = संबन्धिन्या । ७. = पातयामास । ८. आ दृष्याते ।  
 ९. आ दृश, क्ष स दृशि । १०. = यस्मिन् ।

अथ भूपतिस्तुना कराभ्यां स समुत्फाल्य नभस्तले विमुक्तः ।  
 कृतघोडशभूषणाभिभूयं वपुरादर्शयति स्म दिव्यरूपम् ॥ २६ ॥  
 इति चाभिवधे हिरण्यनामा परमर्द्धिस्त्रिवशोऽस्मि नाकलोके ।  
 अभिवन्द्य जिनालयान्सुराद्री सुभग क्रीडितुमागतोऽत्र शैले ॥ २७ ॥  
 कृतकप्रघनेन रूपमन्यत्समुपादाय मया परोक्षितोऽसि ।  
 अमुना तव साहसेन चेतः परतन्त्रीकृतमेतदस्मदीयम् ॥ २८ ॥  
 विभ्रुतोऽसि ययाम्बुजाक्ष कुसौ जननी धन्यतमा तवैव सैका ।  
 कृतिनः ससुरासुरेऽपि लोके चरितं यस्य चमत्कृतिं विधत्ते ॥ २९ ॥

कुमारस्य जयः, पुनरेकवारं देवस्य जयः—इति क्रमः । युद्धं संग्रामः । चिरं<sup>१</sup> दीर्घम् । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥ २५ ॥ अथेति । अथ युद्धानन्तरम् । भूपतिस्तुना कुमारेण । कराभ्यां हस्ताभ्याम् । समुत्फाल्य उद्धृत्य । नभस्तले [ नभस्तले ] नभस आकाशस्य तले प्रदेशे । विमुक्तः विमुच्यते स्म विमुक्तो निःसृष्टः । सः देवः । कृतघोडशभूषणाभिभूयं कृता घोडशैर्भूषणैरभिभूया अलङ्कृतो यस्य तत् । दिव्यरूपं दिव्य रूपं यस्य तत् । वपुः शरीरम् । आदर्शयति स्म आलक्षयति स्म । दृष्टुं प्रेक्षणं निःत्रन्ताल्ड् ॥ २६ ॥ इतीति । सुभग भो मनोहराङ्ग । नाकलोके सुरलोके । हिरण्यनामा हिरण्य इति नाम यस्य सः । परमर्द्धिः परमा उत्कृष्टा ऋद्धि ऐश्वर्यं यस्य स । त्रिदशः देवः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । सुराद्री मेरी । जिनाल-यान् चैत्यालयान् । अभिवन्द्य वन्दित्वा । अत्र अस्मिन् । शैले पर्वते । क्रीडितुं क्रीडानिमित्तम् । आगतः<sup>२</sup> । इति एवं प्रकारेण । अभिवधे ऊचे । डशाञ् घारणं च लिट् ॥ २७ ॥ कृतकैति । मया, अन्यत् भिन्नम् । रूपं वेषम् । समुपादाय अङ्गीकृत्य । कृतकप्रघनेन कृतकैः कपटरूपेण प्रघनेन युद्धेन । परोक्षितः विचारितः । असि भवसि । तत्र भवतः । अमुना एतेन । साहसेन सामर्थ्येन । अस्मदीयम् अस्मत्संबन्धम् । चेतः चित्तम् । पर-तन्त्रीकृतं पराधीनं कृतम् ॥ २८ ॥ विघट्ट<sup>३</sup> इति । अम्बुजाक्ष अम्बुजमवाशिणी यस्य तस्य संबोधनम्—भो अम्बुजाक्ष । कृतिनः पुण्यवतः । यस्य पुरुषस्य । चरितं प्रवर्तनम् ( वृत्तं वा ) । ससुरासुरेऽपि सुरैश्चा-सुरैश्च सह वर्तते इति ससुरासुरः, तस्मिन् अपि । लोके भुवने । चमत्कृतिम् आश्चर्यम् । विधत्ते करोति । स त्वम् दृश्यमाहारः । यया कुसौ गर्भे । विघृतः<sup>४</sup> विघ्नितवै स्म । असि भवसि । तवैव भवत एव । सैका

अनेक प्रकारके पेचोके प्रयोगसे वे दोनों एक दूसरेके ऊपर कभी हाथोंसे और कभी पैरोसे प्रहार कर रहे थे । बराबरीका जोड़ होनेसे कभी एक की, तो कभी दूसरेकी विजय हो रही थी । इस तरह उन दोनोंमें बहुत देर तक शारीरिक युद्ध ( कुस्ती ) होता रहा ॥ २५ ॥ इसके पश्चात् राजकुमारने उसे अपने दोनों हाथोंसे उठाकर ऊपर उछाल दिया । तब उसने अपने शरीरको सोलह आभूषणोंसे विभूषित करके उसे अपना असली दिव्यरूप दिखला दिया ॥ २६ ॥ और उसने राजकुमारसे कहा—हे सुभग ! मैं उत्तम ऋद्धिओंका धारण करनेवाला देव हूँ । मैं स्वर्गमें रहता हूँ । मेरा नाम हिरण्य है । मैं वहाँसे चैत्यालयोंकी बन्दना करनेके लिए सुमेरुपर्वत-पर गया था । फिर वहाँसे क्रीडा करनेके लिए यहाँ चला आया ॥ २७ ॥ मैंने अपना रूप बदलकर बनावटी युद्धसे तुम्हारी परीक्षा ली है । तुम्हारे इस साहसे मेरा मन तुम्हारे अधीन हो गया है—पै हृदयसे तुम्हारा हो चुका हूँ ॥ २८ ॥ हे कमललोचन ! जिस पुण्यात्माका चरित आज सुरलोक और असुर लोकमें चमत्कार उत्पन्न कर रहा है, उसे ( अर्थात् तुमको ) जिस माताने अपने गर्भमें धारण किया है, केवल वही ( तुम्हारी माता ) सबसे अधिक

१. = चिरकाल यावत् । २. = समायातः । ३. एष टीकाकृत्रिमतः पाठः, प्रतिषु 'विभ्रुतः' इत्येव दृश्यते । ४. अयमपि पाठस्तथैव श्रेयः ।

हृदयामिमत्तं वरं वृणीष्वेत्यमिधानुं त्रपया न मेऽस्ति शक्तिः ।  
 नहि पुण्यवतां भवद्विधानां परनिष्ठं भुवने समस्ति किञ्चित् ॥ ३० ॥  
 तदपि क्वचन प्रयत्नसाध्ये विषयेऽहं मनसि त्वया निधेयः ।  
 न सहाययिनाकृता कदाचित्पुरुषस्योद्यमशालिनोऽपि सिद्धिः ॥ ३१ ॥  
 अपरं च निवेदयाम्यहं ते शृणु जन्मान्तरवृत्तमेकचित्तः ।  
 अभवत्त्वमितो भवे तृतीये नृपतिः श्रीपुरभुक्सुगन्धिदेशे ॥ ३२ ॥  
 गृहिणौ शशिसूर्यनामधेयावथ तत्रैव कृपीवलावभूताम् ।  
 अपरेष्टुः प्रेत्य दत्तखातः सकलं सूर्यधनं शशी जहार ॥ ३३ ॥

मुक्या । जननी माता । भव्यतमा पुण्यवतो भवति ॥ ३० ॥ हृदयेति । हृदयामिमत्तं हृदयेन चित्तोनामिमत्तं वाञ्छितम् । वरम् अभीष्टम् । वृणीष्वेति प्रार्थय इति । अमिधानुं वक्तुम् । त्रपया लज्जया । मे मम । शक्तिः सामर्थ्यम् । नास्ति न भवति । [ हि यतः ] । पुण्यवता कुशलवताम् । भवद्विधानां युष्मा-  
 दृशाम् । भुवने लोके । किञ्चित् यत्किञ्चित् वस्तु । परनिष्ठं पराधीनम्, असाध्यमित्यर्थः । न समस्ति ।  
 हि नास्ति हि ( न समस्ति नास्ति ) ॥ ३० ॥ तदिति । तदपि तदापि । क्वचन क्वचित् । प्रयत्नसाध्ये  
 प्रयत्नोद्योगेन साध्ये साधनीये । विषये वस्तुनि । अहं, मनसि चित्ते । त्वया भवता । निधेयः स्मरणीयः ।  
 उद्यमशालिनोऽपि प्रयत्नशालिनोऽपि । पुरुषस्य जनस्य । कदाचित् कस्मिंश्चित् । सहाययिनाकृता सहायेन  
 विनाकृता रहिता । सिद्धिः कार्यसिद्धिः । न न भवति ॥ ३१ ॥ अपरमिति । अहं, जन्मान्तरवृत्तं प्रकृत-  
 जन्मनोऽन्यजन्म जन्मान्तरं तस्य वृत्त वृत्तान्तम् । अपरम् अन्यत् । ते तव । निवेदयामि बोधयामि । विद  
 ज्ञाने लट् । एकचित्तः एक निश्चितं चित्तं मनो यस्य सः, सन्, शृणु । त्वं ममान् । इतः एतस्माद्भवात् ।  
 तृतीये त्रयोऽवयवा यस्य तस्मिन् । भवे जन्मनि । सुगन्धिदेशे सुगन्धिरिति देशे विषये । श्रीपुरभुक् श्रीपुरपालकः ।  
 नृपतिः राजा । अभवः अजायया । ॥ ३२ ॥ गृहिणाविति । अथ अनन्तरम् । तत्रैव तस्मिन्नेव पुरे । शशि-  
 सूर्यनामधेयो शशिसूर्यामिधानो । कृपीबलौ कृपिकर्मजीविनौ । गृहिणौ गृहस्थौ । अभूताम् अजायताम् । भू  
 सत्ताया लुङ् । शशी तयोर्मध्ये शशी । अपरेष्टुः अन्यस्मिन् दिने । 'पूर्वापरः' इत्यादिना एष्टुम्-प्रत्ययः ।  
 उपेत्य आगत्य । दत्तखातः दत्तः खातो येन सः, विहितसुरद्वय इत्यर्थः । सकलं सर्वम् । सूर्यधनं सूर्याह्वयस्य

पुण्यात्मा है । सबकी मांसे तुम्हारी ही माँ अधिक घन्य है ॥ २९ ॥ लज्जावश मुझे यह कहने-  
 का साहस नहीं हो रहा है, कि तुम मुझसे इच्छित वर माग लो; क्योंकि सच तो यह है कि इस  
 संसारमें ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिसे पानेके लिए आप जैसे पुण्यात्माओंको दूसरोंका  
 आसरा लेना पड़े—उनका मुँह देखना पड़े ॥ ३० ॥ तो भी इतना अवश्य कहना चाहता हूँ  
 कि किसी प्रयत्नसाध्य—कठिन कामके आ पड़नेपर मेरा स्मरण करना; क्योंकि सहायकके  
 बिना उद्योगी पुरुषको भी कार्य सिद्धि कभी नहीं होती ॥ ३१ ॥ एक बात और निवेदन करता  
 हूँ— मैं तुम्हारे पिछले जन्मका वृत्तान्त सुनाता हूँ । तुम उसे सावधान होकर सुनो—पिछले  
 तीसरे जन्ममें तुम सुगन्धि नामक देशमें श्रीपुर नामके नगरके राजा हुए थे ॥ ३२ ॥ तुम्हारे  
 शासनकालमें वही पर ( श्रीपुरमें ) दो गृहस्थ रहते थे । दोनों किसान थे । उनमेंसे एकका  
 नाम शशी था और दूसरेका सूर्य । एक दिनकी बात है । शशी सूर्यके घर गया और सेंध लगा-

१. आ तदित्यादि । २. आ श स 'निधेयः' शेषामु च प्रतिषु 'विधेयः' इति पाठः समस्ति । ३. आ  
 विहिता । ४. आ अजायताम् ।

अधिगम्य निपातितस्त्वयासौ स्वघनेन प्रतियोजितश्च सूर्यः ।  
 परिवृत्य भवे प्रभूतयोनावसुरश्चण्डरुचिः शशी बभूव ॥ ३४ ॥  
 समुपाजितपूर्वपुण्यलेशात् भवं सूर्यचरस्त्वहं हिरण्यः ।  
 अजनिष्ट ततः स पूर्ववैरासव हता रिपुरस्म्यहं च मित्रम् ॥ ३५ ॥  
 मधुराक्षरहारिणीं स वाणीमभिधायेति तिरोबभूव देवः ।  
 नरनाथसुतोऽपि तत्प्रभावात्सहसात्मानमलोकयन्नान्ते ॥ ३६ ॥  
 किमिदं परमाद्भुतं मया यद्वनमुत्थीर्णमदृशि काननान्तः ।  
 मनसेति विचिन्तयंस्तदा तं महिमानं स हिरण्यजं विवेक्ष ॥ ३७ ॥

घनं द्रव्यम् । जहार अपहरति स्म । हृव् हरणे लिट् ॥ ३३ ॥ अर्जति । त्वया भवता । अधिगम्य ज्ञात्वा । असौ शशी । निपातितः दण्डितः । सूर्यः, स्वघनेन स्वस्य निजस्य घनेन द्रव्येण । प्रतियोजितः संबन्धितः । शशी, [ प्रभूतयोनौ प्रभूता नाना योनय उत्पत्तिस्थानानि यत्र तस्मिन् ] भवे संसारे । प्रभूतयोनौ प्रभूतो बहुलो योनिस्तत्पत्तिस्थानं यस्य तस्मिन् । परिवृत्य परिभ्रम्य । चण्डरुचिः चण्डरुचिरिति । असुरः भवनवासि-देवः । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥ ३४ ॥ समुपेति । सूर्यचरः सूर्यः पूर्वः<sup>१</sup> ( भूतपूर्वः सूर्यः ) सूर्य-चरः, पूर्व सूर्यभूत इत्यर्थः । 'भूतपूर्वे चरट्' इति चरट्-प्रत्ययः । अहं तु अहमपि । समुपाजितपूर्वपुण्यलेशात् समुपाजितस्य संपादितस्य पूर्वपुण्यस्य लेशात् कणात् । हिरण्यः हिरण्याक्ष्यदेवः । अभवम् आसम् । भू सत्ताया लुङ् । सः शशिचरः । पूर्ववैरात् पूर्वजनिताद् वैरात् । तव त्वामित्यर्थः । 'कुत्सामुक्ष्य' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । हता अपहृता । रिपुः शत्रुः । अजनिष्ट अभूत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । अहं च अहमपि । मित्रं सुहृत् । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् ॥ ३५ ॥ मधुरेति । स देवः हिरण्याक्ष्यदेवः । मधुराक्षरहारिणी मधुरैः प्रियैरक्षरैर्वर्णैर्हारिणीं मनोहारिणीम् । वाणीं वाचम् । इति उक्तप्रकारेण । अभिषाय उक्त्वा । तिरो-बभूव व्यवधानो बभूव । नरनाथसुतोऽपि नरनाथस्य सुतोऽपि कुमारोऽपि । तत्प्रभावात् तस्य देवस्य प्रभावात् सामर्थ्यात् । सहसा शीघ्रम् । आत्मानं स्वम् । वनान्ते<sup>२</sup> वनमध्ये । अलोकयत् अदर्शयत् । लोकाद्दर्शने ण्यन्ताल्लङ् ॥ ३६ ॥ किमिति । पश्य उच्छृष्टम् । इदं किमद्भुतं किमाश्चर्यम् । यत् मया, वनं काननम् । उत्तीर्णं लङ्घितम् । काननान्तः काननस्यान्तोऽवसानम्<sup>३</sup> । अदृशि दृश्यते स्म । इति एवं प्रकारेण । मनसा मानसेन । विचिन्तयन् स्मरन् । स कुमारः । तदा तं महिमानं महत्त्वम् । हिरण्यजं हिरण्यदेशाज्जातम् ।

कर उसका सारा धन चुरा लाया ॥ ३३ ॥ इसका पता लगाकर तुमने सूर्यका धन उसे वापिस दिलवाया और शशीको फाँसीकी सजा दी । बहुत अधिक (चौरासी लाख) उत्पत्ति स्थानोंवाले संसारमे इधर उधर भटककर—खोटी-खोटी योनियोंमें जन्म लेकर शशी, चण्डरुचि नामका असुर हुआ ॥ ३४ ॥ पूर्वोपाजित पुण्य कर्मके बचे-खुचे अंशसे मैं हिरण्य नामका देव हुआ । मे तुम्हारा मित्र हूँ । मैं ही पहले सूर्य रहा । वह शशी पूर्व वैरके कारण तुम्हारा शत्रु है, और वही तुम्हें हर ले आया है ॥ ३५ ॥ मधुर अक्षरोसे मनको हरनेवाले इन वचनोंको कहकर वह देव आँखोंसे ओझल हो गया, और उसके प्रभावसे राजकुमारने भी अपनेको उस वनकी सीमासे बाहर पाया ॥ ३६ ॥ यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि मैं इतने बड़े बीहड़ जंगलको इतनी शीघ्रतासे पारकर एकाएक उसकी सीमाके बाहर आ पहुँचा हूँ । वनकी बाहरी सीमा आँखोंके सामने है । यों अपने मन-ही-मन सोचता हुआ वह समझ गया कि यह तो हिरण्य देवकी महिमा

१. अ क ख ग घ म चण्डरुचिः । २. अ क ख ग घ म कारिणी । ३. आ सूर्यपूर्वः ।

४. = व्यवहितोऽन्तर्हितो वा । ५. = वनावसाने । ६. आ सानः । ७. = व्यक्षोकि ।

गहनान्तमयापहाय राष्ट्रं नगरग्रामनिरन्तरं प्रविष्टः ।  
 सकलास्वपि दिक्षु जातमीति बिलुलोके स जनं पलायमानम् ॥ ३८ ॥  
 उपसृत्य पुमांसमेकमाराद्धयरोमाञ्चितसर्वगात्रयष्टिम् ।  
 उपजातकुतूहलः कुमारः परिपप्रच्छ पलायनस्य हेतुम् ॥ ३९ ॥  
 पृथिवीपतिपुत्रपृच्छयासाविति निर्विण्णमना जगाद वाचम् ।  
 गगनात्पतितोऽसि किं प्रसिद्धं न विजानासि यदेतमप्युदन्तम् ॥ ४० ॥  
 प्रथितोऽयमरिजयाभिधानो धनधान्याढयजनाकुलो जनान्तः ।  
 विजहाति सदा न यत्र शोभां नवसस्याङ्कुरशाद्वला धरित्री ॥ ४१ ॥

विशेष बुबोध । विद ज्ञाने लिट् ॥ ३७ ॥ गहनेति । अय अनन्तरम् । गहनान्तं काननावसानम् । अपहाय विहाय । नगरग्रामनिरन्तरं नगरैर्ग्रामैश्च निरन्तरमन्तररहितम् । राष्ट्रं देशम् । प्रविष्टः प्रविष्ट्यात् । स. कुमारः । सकलानु सर्वाः स्वपि । दिक्षु दिशासु । जातमीति जातमयम् । पलायमानं धावमानम् । जनं लोकम् । बिलुलोके दःशः । लोकञ्च दर्शने लिट् ॥ ३८ ॥ उपति । उपजातकुतूहलः उपजातं कुतूहल यस्य सः । कुमारः, मयरोमाञ्चितसर्वगात्रयष्टिं मयेन भीत्या रोमाञ्चिता रोमहर्षणयुक्ता सर्वा निखिला गात्रयष्टिर्यस्य तम् । एकं पुमांसं पुरुषम् । आरात् समीपे । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । उपसृत्य<sup>१</sup> प्राप्य । पलायनस्य इतस्ततः पलायनस्य । हेतुं कारणम् । परिपप्रच्छ<sup>२</sup> शृणुवाक । प्रच्छ<sup>३</sup> शोप्ताया लिट् ॥ ३९ ॥ पृथिवीति । पृथिवीपतिपुत्रपृच्छया पृथिव्याः पत्युर्भूपते । पुत्रस्य कुमारस्य पृच्छया प्रश्नेन । निर्विण्णमना, निर्विण्णं दुःखितं मनो यस्य सः । असौ बयं पुरुष । वाचं वाणीम् । जगाद ब्रवीतिस्म । नद भ्यक्तया वाचि लिट् । यत् यस्मात्कारणात् । प्रसिद्धं प्रतीतम् । एनमपि अमुमपि । उदन्तं बातीम् । न विजानासि न वेत्सि । ज्ञा अवबोधने लट् । गगनात् आकाशात् । पतितः<sup>४</sup> निमग्नः । असि भवसि । अस भुवि लट् ॥ ४० ॥ प्रथित इति । यत्र देशे । नवसस्याङ्कुरशाद्वला नवैर्नवीनैः सस्याङ्कुरैः शाद्वला हरिता । धरित्री भूमिः । सदा सर्वकाले । शोभां मनोहरत्वम् । न जहाति न त्यजति । ओहाक् त्यागे लट् । प्रथितः प्रतीतः । धनधान्याढयजनाकुलः धनैर्धान्यैराढयैः समृद्धैर्जनैराकुलः मङ्गुलः । अरिजयाभिधानं अरिजय इत्यभिधानं यस्य सः । अयम् एषः ।

है ॥ ३७ ॥ इसके पश्चात् वह राजकुमार उस स्थानको छोड़कर ज्योंही आगे बढ़ा, त्यों ही उसने एक ऐसे देशमें प्रवेश किया, जहाँ लगातार नगर और ग्राम बसे हुए थे । वहाँपर उसने देखा कि जिधर देखो उधर लोग डरके मारे भागे जा रहे हैं ॥ ३८ ॥ राजकुमारको बड़ा कौतूहल हुआ । अतः उसने एक मनुष्यके—जिसके सारे शरीरमें भयके कारण रोंगटें खड़े हुए थे—पास जाकर लोगोंके भागनेका कारण पूछा ॥ ३९ ॥ राजकुमारके प्रश्नसे अपने मनमें दुःखी होकर वह टिरिति हुए यों बोला—क्या तुम आसमानसे टपके हो, जो इस लोक-विदित वृत्तान्तको भी नहीं जानते ? ॥ ४० ॥ यह अरिजय नामका प्रसिद्ध देश है । यहाँके निवासी खुशहाल हैं, धनाढ्य हैं और उनके पास भरपूर अनाज रहता है । यहाँको पृथिवी सदा नये-नये धान्यके अंकुरोंसे हरी-भरी रहनेके कारण कभी अपनी सुषमाको नहीं छोड़ती ॥ ४१ ॥

१. = व्याप्तमित्यर्थः । २. = गत्वा प्राप्य-इत्यर्थः । ३. = अप्राप्तीत् । ४. आ पृच्छञ् शोप्ताया लिट् । पृच्छ शोप्तायां आकादा ४।२।२५७ पू० २७७ । ५. = व्युतः ।

विपुलं विपुलामिधां दधानं पुरमस्त्युत्तममस्य नाभिभूतम् ।  
 प्रविभाति यदुच्चसीधशृङ्गैर्विलिखत्कं खचराधिवासकल्पम् ॥ ४२ ॥  
 जयधामजयधर्माधेयो नगरं तत्पृथिवीपतिः प्रशस्तिः ।  
 यदतीवकरापनीततापा निरपेक्षा वसुधोदये हिमांशोः ॥ ४३ ॥  
 दिननाथविभेधं पूरिताशास्मरपत्नीव वितोर्णकामसौख्या ।  
 रणलब्धजयश्रियो जयश्रीरभवत्तस्य वधूर्विधूपमास्या ॥ ४४ ॥  
 उदपादि तयोः शशिप्रभास्या बुद्धिता सर्वजगल्लालामभूता ।  
 तरतीव शशाङ्कचार यस्या निजलावण्यपयोनिधौ शरीरम् ॥ ४५ ॥

अनांतः देशः । 'राष्ट्रं जनपदो निर्गो जनान्तो विषयः स्मृतः' ॥४१॥ विपुलमिति । यत्, उच्चसीधशृङ्गैः  
 उच्चानामुन्नतानां शीघानां प्रासादानां शृङ्गैः शिलरैः । खं गगनम् । विलिखत् स्पृशत् । खचराधिवासकल्पं  
 खचराणां विद्याधराणामधिवासस्य पत्तनस्य कल्पं सद्दशम् । प्रविभाति विराजते । अस्य देशस्य । नाभिभूतं  
 मध्यप्रदेशम् ( शः ) । विपुलामिधां विपुलेत्यभिधाममिधानं<sup>१</sup> । दधानं धरत् । विपुलं 'विपुलम्' इति ।  
 उत्तमं श्रेष्ठम् । पुरं पत्तनम् । अस्ति वर्तते । अब भुवि लट् । उपमा ॥४२॥ जयधामिति । यत् यस्मात् (?) ।  
 अतीवकरापनीततापा<sup>२</sup> अतीव्रेण मृदुना करेण सिद्धायेन, पक्षेऽविमृदुभिः करैः किरणैरपनीतो निराकृतः तापः  
 संतापो यस्याः सा । वसुधा भूमिः । हिमांशोः चन्द्रस्य । उदये उत्पत्तौ । निरपेक्षा निर्व्यपेक्षा—चन्द्रोदया-  
 मावेऽपि राजनीतिपालनेन शीतीभूता—इत्यर्थः । जयवान् जययुक्तः । जयधर्माधेयः 'जयधर्मा' इति नामधेयं  
 यस्य सः । पृथिवीपतिः भूमिपतिः । तत्रगरं विपुलपुरम् । प्रशस्तिं पालयति ॥४३॥ दिनेति । दिननाथविभेधं  
 दिनस्य विषयस्य नाथस्य सूर्यस्य विभेधं कान्तिरिव । पूरिताशा प्रापितसंतोषा, पक्षे अन्तर्विष्का । स्मरपत्नीव  
 रतिदेवीव । वितोर्णकामसौख्या वितोर्णं दत्तं कामसौख्यं यया सा, पक्षे वितोर्णं कामस्य मन्मथस्य सौख्यं यया सा ।  
 विधूपमास्या<sup>३</sup> विधोश्चन्द्रस्योपमास्यं यस्याः सा । जयश्रीः जयश्री—इति । रणलब्धजयश्रियः रणे संग्रामे  
 लब्धा जयश्रीर्जयलक्ष्मीर्यस्य ( येन ) तस्य । जयधर्मणः, वधू वनिता । अभवत् अभूत् । इलेयोपमा  
 ॥४४॥ उदपादीति । यस्याः, शशाङ्कवारु शशाङ्क इव चन्द्र इव चारु मनोहरम् । शरीरं गात्रम् । निजला-  
 वण्यपयोनिधौ निजस्य स्वस्य लावण्यमेव देहकान्तिरेव पयोनिधिः समुद्रः, तस्मिन् । तरतीव<sup>४</sup> लवमानेव ।

इस देशके ठोक बीचमे एक विशाल और सुन्दर विपुल नामका पुर है जो इसकी नाभिके समान  
 प्रतीत होता है । वह पुर कभी किसीसे अभिभूत—तिरस्कृत नहीं हुआ । अपने उन्नत महलोंकी  
 चोटियोंसे आकाशकी छूनेवाला यह पुर विद्यावरोंके पुरकी भाँति जान पड़ता है ॥ ४२ ॥ उस  
 पुरमे विजयो जयधर्मा नामका राजा राज्य करता है । वह उतना ही टैक्स लेता है, जिससे  
 किसीको सन्ताप न हो । उसके कर-टैक्स ( किरण ) से पृथ्वी ( लक्षणया उसके निवासियों )  
 को तनिक भी सन्ताप नहीं होता । फलतः वहाँकी सन्तापहीना पृथ्वीको कभी चन्द्रोदयकी  
 अपेक्षा नहीं रहती ॥ ४३ ॥ रणांगणमें विजयलक्ष्मीको पानेवाले उस राजाका विवाह  
 चन्द्रमुखी जयश्रीके साथ हुआ । वह सूर्यकी प्रभा सरोखी है । सूर्यकी प्रभा जैसे सभी दिशाओंको  
 भर देती है उसी तरह जयश्री सबकी आशाओं ( मनोरथ ) को पूरा कर देती है, और वह  
 कामदेवकी पत्नी-रतिके समान है । रति कामदेवको सुख देती है और जयश्री अपने पति जय-  
 धर्माको सम्भोगका सुख प्रदान करती है ॥ ४४ ॥ उन दोनोंके शशिप्रभा नामकी कन्या उत्पन्न

१. अ<sup>१</sup>यशो' । इ यस्या । २. = संज्ञामित्यर्थः । ३. = यदतीवकरापनीततापा यस्य राज्ञोऽतीव्रेण  
 सह्येन करेण भागधेयेन, पक्षेऽतीवमृदुभिः करैरपनीतो निराकृतस्तापः संतापो यस्याः सा । ४. = विधूपमं  
 चन्द्रसदृशमास्यामानं यस्याः । ५. = लवमानमिव भाति ।



अथ तामपरो महेन्द्रनामा जयवर्माणमयाचत श्रितीशः ।

वितरन्नचिरायुषे तन्वृजं<sup>१</sup> किल तस्मै स निमित्तिना निषिद्धः ॥ ४६ ॥

स निरस्तमनोरथस्त्विदानीं<sup>२</sup> सह संभूय समस्तराजलोकैः ।

जयवर्मबलं निहत्य युद्धे पुरमावृत्य वितिष्ठते तदीयम् ॥ ४७ ॥

तद्यं स्वविनाशमीक्षमाणः सकलो राष्ट्रजनः प्रयाति भग्नः ।

गिरमित्यवगम्य तस्य हृष्यभ्युचराजो विपुलं प्रति<sup>३</sup> प्रतस्थे ॥ ४८ ॥

दृष्टो च गतेन तेन तस्मिन्नगरं तद्विपुसैनिकैः परीतम् ।

शिशिरांशुसमुद्गमे प्रवृद्धैरिव<sup>४</sup> वेलावनमम्बुधेस्तरङ्गैः<sup>५</sup> ॥ ४९ ॥

सर्वजगल्लामभूता सर्वस्य जगतो ललामभूता । शशिप्रभाक्या 'शशिप्रभा' इत्याख्या कनिधानं यस्याः सा । दुहिता कुमारी । तयोः जयवर्मजयप्रियोः । उदयादि अत्रायत ॥ ४५ ॥ अथेति । अथ शशिप्रभोत्पत्त्य-  
नन्तरम् । महेन्द्रनामा 'महेन्द्रः' इति नाम यस्य सः । अवरः अन्यः । क्षितीशः भूमिशः । ता शशिप्रभाम् ।  
जयवर्मणि जयवर्मभूपतिम् । अयाचत याचते स्म । अचिरायुषे अचिरमल्पमायुर्यस्य तस्मै, स्तोकायुष्यायेत्यर्थः ।  
तस्मै महेन्द्राय । तन्वृजा पुत्रोम् । वितरन् ददानः । सः क्षितीशः । निमित्तिना निमित्तिज्ञेन । निषिद्धः निवारितः  
किल ॥ ४६ ॥ स इति । निरस्तमनोरथः निरस्तो निराकृतो मनोरथोऽभोष्टं यस्य सः । सः महेन्द्रस्तु । इदानीम्  
अथ । समस्तराजलोकैः समस्तैर्निखिले राजलोकैः राजजनैः । सह साकम् । संभूय विलिप्त्वा । युद्धे संग्रामे ।  
जयवर्मबलं जयवर्मराजबलम् । निहत्य हत्वा । तदीयं जयवर्मसंबन्धम् । पुरं पत्तनम् । आवृत्य वेष्टित्वा ।  
वितिष्ठते वर्तते । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् । 'संविप्राभात्' इति तङ् ॥ ४७ ॥ तद्विधि । तत् तस्मात् । स्वविनाशं  
स्वस्य विनाशम् । ईक्षमाणः बिलोकमानः । अगम्य पृथः । सकलः समस्तः । राष्ट्रजनः राष्ट्रस्य जनपदस्य जनो  
लोकः । भग्नः पराजितः बन् । प्रयाति पलायते । तस्य पुरुषस्य । इति उक्तप्रकारेण । तत् [ गिरं ] वचनम्  
अवगम्य ज्ञात्वा । हृष्यन् संतोषं कृण्वन् । युवराजः अजितसेनकुमारः । विपुलं प्रति विपुलपुरं प्रति । प्रतस्थे  
प्रपयो । छा गति निवृत्तौ क्तिट् । 'संविप्राभात्' इति तङ् ॥ ४८ ॥ दृष्टो इति । शिशिरांशुसमुद्गमे शिशिरांशो-  
दवनस्य समुद्गमे उदये । प्रवृद्धैः समृद्धैः । अम्बुधेः समुद्रस्य । तरङ्गैः कूर्मिभिः । वेलावनं तीरवनमिव ।  
तस्मिन् समये प्रस्तावे वा । तद्विपुसैनिकैः तस्य रिपोः शत्रोः सैनिकैर्बलैः परीतं परिवेष्टितम् । नगरं पुरम् ।

हुई । वह सारे संसारका आभूषण या तिलक है । उसका चन्द्रमाके समान सुन्दर शरीर अपने  
कान्तिके समुद्रमें ऐसा जान पड़ता है मानो तेर रहा हो ॥ ४५ ॥ इसके पश्चात् उसके विवाह  
योग्य होनेपर महेन्द्र नामके राजाने जयवर्मसे उसकी कन्या ( शशिप्रभा ) की अपने लिए  
मगनी की । राजा जयवर्मा इसके लिए राजी भी हो गया, किन्तु एक निमित्त जानीने महेन्द्रको  
अल्पायु बतलाकर उसे रोक दिया ॥ ४६ ॥ मनोरथके ठुकराये जानेसे महेन्द्रने अपने पक्षके  
सभी राजाओंसे मिलकर जयवर्मके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी, और युद्धमें जयवर्मकी  
सेनाको मारकर उसके नगरको घेर लिया है ॥ ४७ ॥ इस कारण पराजित, इस राष्ट्रके सभी  
लोग अपना विनाश सोचकर भागे जा रहे हैं । उसके ये वचन सुनकर युवराज अजितसेनने मन-  
ही-मन प्रसन्न होकर विपुलपुरकी ओर प्रस्थान कर दिया ॥ ४८ ॥ आगे जाकर उसने देखा  
कि उस नगरको शत्रु-सैनिकोंने सभी ओरसे घेर लिया है । जैसे चन्द्रोदय होनेपर समुद्रकी उत्ताल

१. क ल ग घ ञ 'रथस्तदानीं । २. अ 'प्रति' इति नास्ति । ३. अ 'मुद्गमप्रवृद्धैः' । ४. अ अम्बु-  
निधेस्तरङ्गैः ।

अधिकम्पितधीर<sup>१</sup> संस्तुतत्वात्प्रतिविद्धोऽपि नृपाजया प्रगच्छन् ।  
 करिकीर्णपथां प्रतिप्रतोलीमिति तैः सोऽभिदधे महेन्द्रयोधैः ॥ ५० ॥  
 शिरसा न मिजेन तेऽस्ति कार्यं परिनिर्विण्णमतिः स्वजीविते वा ।  
 नृपशासनमप्रसह्यमन्यैर्यदतिक्रम्य परैषि<sup>२</sup> निर्विशङ्कः ॥ ५१ ॥  
 स तदीयवचःप्रवृद्धमन्युर्धनुरेकस्य कराज्जहार वीरः<sup>३</sup> ।  
 स्वनृपेण सहैव रक्षतासुन्यदि शक्तिर्भयनामिति ब्रवाणः ॥ ५२ ॥  
 नगतुङ्गमतङ्गजोघ्ननके पवनस्पधितुरङ्गवीचिचक्रे ।  
 विचरन्श्चतुरङ्गसैन्यसिन्धौ दृष्टे मन्दरवत्स पौरलोकैः ॥ ५३ ॥

गतेन यातेन । तेन कुमारेण ददृशे दृश्यते स्म । दृशं प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥ ४९ ॥ अवीति । अविहम्पितधीः  
 अधिकम्पिता निश्चला धीर्यस्य स । असंस्तुतत्वात् अननुमत्वात् । नृपाजया राजाजया । प्रतिविद्धोऽपि  
 निवारितोऽपि । करिकीर्णपथां करिणां गजानां कीर्णः सबद्धो मार्गो यस्याः ताम् । प्रतीर्णो गोपूरं प्रति ।  
 प्रगच्छन् प्रयान् । सः कुमारः । तैः महेन्द्रयोधैः महेन्द्रभटैः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अभिदधे प्रोवतः  
 ॥ ५० ॥ शिरसेति । यत् कारणात् । अन्यैः अपरैः । अप्रसह्यं निराकर्तुमशक्यम् । नृपशासनं नृपस्य राज्ञः  
 शासनमाज्ञाम् । अतिक्रम्य उल्लङ्घ्य । निर्विशङ्कः निःशङ्कः सन् । परैषि गच्छसि यासि । [ तत् ] ते  
 तव । निजेन स्वकीयेन । शिरसा मस्तकेन । कार्यं प्रयोजनम् । न अस्ति न भवति । स्वजीविते स्वस्य जीवने ।  
 परिनिर्विण्णमति परिनिर्विण्णा विरक्ता मतिर्यस्य सः । वा किमन्यर्थः ॥ ५१ ॥ स इति । तदीयवचः-  
 प्रवृद्धमन्युः तदीयेन भटसंबन्धिना वचसा वचनेन प्रवृद्धः प्रेषितो मन्युः कोपो यस्य सः । सः कुमारः ।  
 भवता युष्मकम् । यदि चेत् । शक्तिः सामर्थ्यम् । अस्ति । स्वनृपेण निजभूपतिना । सहैव साकमेव ।  
 अमूर्त् प्राणान् । रक्षत पालयत । इति एवम् । बुवाणः ब्रुवन् । वीरः शूरः । एकस्य पुरुषस्य । करात्  
 हस्तात् । धनुः चापम् । जहार हरति स्म । हृत् हरणे लिट् ॥ ५२ ॥ नगेति । नगतुङ्गमतङ्गजोघ्ननके नगा इव  
 पर्वना इव<sup>४</sup> तुङ्गा उग्रता ये मतङ्गजा मत्तदभित्तनः त एवोघ्रा भयकरा नक्का यस्मिन् तस्मिन् । पवनस्पधि-  
 तुरङ्गवीचिचक्रे पवनो वायुस्त ( तस्मै ) स्पर्धन्ते तच्छीलाः ( इत्येवंशीलाः ) अतिवेगवन्त इत्यर्थः, तथोक्ता  
 ये तुङ्गा वाजिनस्त एव बीचपस्तरङ्गास्तामा चक्र समूहो यस्मिन् तस्मिन् । चतुरङ्गसैन्यसिन्धौ चतुरङ्गं  
 तरंगोके द्वारा उसका किनारेका वन घेर लिया जाता है ॥ ४९ ॥ वह आगे बड़े वेगसे बढता  
 चला जा रहा था, किन्तु अपरिचित तथा अनुमति पत्रसे रहित होनेके कारण राजाकी आज्ञासे  
 रोक दिया गया । फिर भी वह निःशंक होकर उस पुरके प्रवेशद्वारकी ओर चलता ही गया,  
 जिसका मार्ग हाथियोंसे घिरा हुआ था । फिर राजा महेन्द्रके सिपाही उससे यों बोले— ॥ ५० ॥  
 क्या तुझे अपने सिरसे कोई काम नहीं है ? या तू अपने जीवनमें ऊब चुका है ? जो दूसरोंसे  
 अनुल्लङ्घनीय राजाकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके इधर निःशंक होकर चला आ रहा है ॥ ५१ ॥  
 उनके इन वचनोंकी सुनकर राजकुमारको बड़ा क्रोध आया । अतः उसने उत्तर दिया कि यदि  
 तुम लोगोंमें शक्ति हो तो अपने और साथ ही अपने राजाके भी प्राण बचा लो । यह कहते-  
 कहते उस शूर-वीर राजकुमारने उन्हींके बीचमें-से किसी एकके हाथसे धनुष छीन लिया ॥ ५२ ॥  
 फिर क्या था, उसे चतुरंगिणी सेनाने चारों ओरसे घेर लिया । पर राजकुमार भी बड़ा सूरमा  
 था । उसके लिए सेना समुद्र थी तो वह उसके लिए मन्दराचल था । समुद्रमें बड़े-बड़े भयंकर

१. अ वीरस<sup>१</sup> । २. अ म परैषि । ३. अ इ म वीरः । ४. = करिभिर्गजैः कीर्णो व्याप्तः पन्था  
 मार्गो यस्याः, ताम् । ५. = यस्मात् कारणात् । ६. आ परैषि । ७. = वर्तते । ८. आ पर्वतवत् ।  
 ९. आ पवनेन वायुना स्पर्धन्तस्तुङ्गाः ।



‘पुरनाथपुरःसरः कुमारः प्रविशन् राजनिक्ते सुत्पताकम् ।  
 विदधे विविधान् वधूजनानां हृदयोन्मादविधायिनः स्वभावात् ॥ ५७ ॥  
 वपुषा जयता नरेन्द्रं लक्ष्मीमितरासंभविना च पौरुषेण ।  
 परिसूचनया विनापि राजा बुबुधे जातिकुलोन्नतिस्तदीया ॥ ५८ ॥  
 निवसन्कृतसत्कृतिः स तस्मिन्विनमय्यावनिपात्रिजप्रतापैः ।  
 विपुलाधिपतेऽकार बध्यां सुरराजोपमविक्रमो धरित्रीम् ॥ ५९ ॥  
 सह सङ्गमया पतिं प्रजानां शयनीयस्थितमेकदा समेत्य ।  
 विहितप्रणतिः परेक्षितज्ञा निजगादेति सखी शशिप्रभायाः ॥ ६० ॥

प्रवेशे लिट् ॥ ५६ ॥ पुरेति । पुरनाथपुरःसरः पुरनाथस्य जयवर्मणः पुरःसरः । कुमारः अजितसेनः । उत्पता-  
 कम् उद्धृताः पताका यस्य तत् । राजनिक्तेतर्न राजमन्दिरम् । प्रविशन्, वधूजनानां वधू एव जनास्तेषाम् ।  
 रूपकम् ( ? ) हृदयोन्मादविधायिनः हृदयस्य चित्तस्योन्मादं विकारं विदधतीत्येवंशीलाः, हृदयोन्मादकारिण-  
 स्तान् । विविधान् नानाप्रकारान् । स्वभावात् चेष्टाः । विदधे चकार । बुबुधे धारणे च लिट् ॥ ५७ ॥  
 वपुषेति नरेन्द्रलक्ष्मीं नरेन्द्रस्य महेंद्रस्य लक्ष्मीं शोभाम् । जयता जयमानेन । वपुषा गात्रेण । इतरासंभविना  
 इतरेवामसंभविना । पौरुषेण प्रतापेन । परिसूचनया वचनेन विनापि । तदीया तस्यैव तदीया-अजितसेन-  
 संभविनी । जातिकुलोन्नतिः जातिकुलयोः मातापित्रोश्चरितरात्रिक्यम् । राजा भूषेन । बुबुधे बुध्यते स्म ।  
 बुधिमनि ज्ञाने कर्मणि ङिट् । अनुमितिः ॥ ५८ ॥ निवसन्निति । तस्मिन् विपुलपुरे । निवसन् तिष्ठन् ।  
 कृतसत्कृतिः कृता विहिता सत्कृतिः सत्कारो यस्य सः । सः कुमारः । निजप्रतापैः निजस्य स्वस्य प्रतापैस्ते-  
 जोभिः । ॥ अवनिपान् भूपान् । विनमय्ये बन्दयित्वा । सुरराजस्य देवराजस्य उपमा  
 समानो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः । धरित्रीं भूमिम् । विपुलाधिपतेः जयवर्मणः । बध्यां बध्नां गताम् ।  
 ‘बधयपथ्य—’ इत्यादिना साधु । चकार करोति स्म । बुक्कम् करणे ङिट् ॥ ५९ ॥ सहेति । बलमया वनितया ।  
 सह साकम् । शयनीयस्थितं शयनीये तस्यै स्थितम् । प्रजानां लोकानाम् । पतिं प्रभुम् । एकदा एकस्मिन्  
 दिने । समेत्य प्राप्य । परेक्षितज्ञा परेक्षामन्येवामिङ्गितज्ञां अभिप्रायज्ञा । विहितप्रणतिः कृतप्रणामा ।  
 शशिप्रभाया शशिव्रमाकुमार्याः । सखी वयस्या । इति वक्ष्यमाणप्रकरणेन । निजगाद ऊचे । गद व्यक्तार्थां

समय नगरमे खूब सजावट की गयी थी और उत्सवोंकी धूम मची हुई थी ॥ ५६ ॥ राजमहल  
 पताकाओंसे सजा दिया गया था । उसमें राजकुमार अजितसेनने—जिसके आगे-आगे राजा  
 जयवर्मा चल रहा था—प्रवेश किया । राजकुमारको देखकर वहाँकी वधुओंकी नाना प्रकारकी  
 चेष्टाएँ प्रकट हुईं, जिनसे उनके हृदयके उन्माद भरे भाव अभिव्यक्त हो रहे थे ॥ ५७ ॥ राज-  
 कुमारके इन्द्रसे भी कही अधिक सुन्दर शरीर और पुरुषार्थको, जो दूसरोंमें कभी सम्भव नहीं  
 हो सकता—देखकर राजाने, बिना किसी सूचनाके उसकी जाति और कुलकी उन्नति जान  
 ली ॥ ५८ ॥ राजकुमार, जयवर्माके यहाँ कुछ दिन सत्कारके साथ रहा । वह इन्द्रके समान  
 पराक्रमी था । अतः उसने अपने प्रतापसे सभी राजाओंको नम्र बना दिया और सारे भूमण्डल-  
 को विपुल नरेश—जयवर्माके अधीन कर दिया ॥ ५९ ॥ एक दिनकी बात है । राजा, रानीके  
 साथ एक पलंगपर बैठा हुआ था । उसी समय राजकुमारो शशिप्रभाकी एक सहेली, जो  
 दूसरोंके भावको भाँपनेमें बड़ी कुशल थी, उस ( राजा ) के पास जाकर नमस्कारपूर्वक यों

१. अ पुनराजपुरः । २. अ म स भावात् । ३. अ क ल ग च म मरेन्द्रः । ४. आ मातु-  
 पित्रोः । ५. = विनम्रात् विधाय । ६. सुरराजोपमो देवराजसदृशो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः, विष्यपराक्रम  
 इति यावत् । ७. = इङ्गितं पराभिप्रायं जानातीतीतिङ्गितज्ञा ।

नरनाथ युवा यदा स दृष्टो भवतो देहजया महेन्द्रमदी ।

चिदधाति ततः प्रभृत्यनास्थां स्वशरीरेऽपि विमुक्तगन्धमाल्या ॥ ६१ ॥

परिशुन्यमना चिच्चिन्तयन्ती किमपि क्षामविपाण्डुगण्डलेखा ।

परिवारसमाहृतेऽन्नपाने ज्वरहीनापि दधात्यरोचकत्वम् ॥ ६२ ॥

हिमदग्धसरोरुहोपमाङ्गया हति तस्या विनिपत्य तत्क्षणम् ।

क्वथता नयनाम्बुनान्तरङ्गः परितापः परिगम्यते गरीयान् ॥ ६३ ॥

श्वसितैरहिमेनिताग्तदीर्घैरिव धूमप्रसरैर्वियोगवह्नेः ।

सरसोरुहशङ्कया मुखेऽस्या निपतद्दूरमुदस्यतेऽलिवृन्दम् ॥ ६४ ॥

वाचि लिट् ॥ ६० ॥ नरनाथेति । नरनाथ भूपाल । महेन्द्रमदीं महेन्द्र मदन्तीत्येवशोलः, तथोक्तः, महेन्द्रस्य हन्ता । युवा तरुण । स कुमारः । भवतः तव । देहजया तनूयया । यदा यत्समये । दृष्टः आलोकितः । ततः प्रभृति तथादि । विमुक्तगन्धमाल्या विमुक्ते गन्धमात्ये यथा सा । स्वशरीरे स्वशरीरेऽपि देहेऽपि । अनास्थाम् औदासीन्यम् । विदधाति करोति दुषाञ्च धारणे च लट् ॥ ६१ ॥ परिशुन्येति । परिशून्यमनाः परिशून्य मनो यस्य सः ( यस्याः सा ) । किमपि यत्किञ्चिदपि । [ वि- ] चिन्तयन्ती विचारयन्ती । क्षामविपाण्डुगण्डलेखा क्षामा कृशा पाण्डुः शुभा, क्षामा चासौ पाण्डुश्च तथोक्ता क्षामगण्डगण्डयोल्लेखा प्रदेशो यस्याः सा । परिवारसमाहृते परिवारं परिजनैः समाहृते<sup>२</sup> नीते । अन्नपाने भक्षतपाने<sup>३</sup> । ज्वरहीनापि ज्वरेण जूर्या<sup>४</sup> हीनापि । अरोचकत्वम् अरुचित्वम् । दधाति धरति । हेतुः ( विभाजना ) ॥ ६२ ॥ हिमेति । हिमदग्धसरोरुहोपमाङ्गयाः हिमेन दग्धस्य भस्मीकृतस्य सरोरुहस्योपमा समानम् ( साम्य यस्य तत् ) अङ्ग यस्यास्तस्याः । तस्याः शशिप्रभायाः । हृदि चित्ते । तत्क्षणम् तत्समयेन । विनिपत्य पतित्वा । क्वथता उष्णतायता ( उष्ण-तावता ) । नयनाम्बुना नेत्रांम्बुना । अ [ आ- ] न्तरङ्गः अन्तरङ्गे प्रवर्तमान । गरीयान् प्रकृष्टो गुरुः ( प्रकर्षेण गुरु ) गरीयान् । 'गुणाङ्गाद्विधेयसू' इति यमू ( ईयसु ) । 'प्रियस्विर—' इत्यादिना गुरुशब्दस्य गरादेशः । परितापः संतापः । परिगम्यते जायते । गम्लृ गतो कर्मणि लट् । अनुमितिः ॥ ६३ ॥ श्वसितैरिति । अहिमै उष्णे । नितान्तदीर्घं नितान्तमपत्यन्तं दीर्घैरापते । वियोगवह्ने वियोग एव विरह एव वह्निरग्निस्तस्य । धूमप्रसरैरिव धूमस्य प्रसरैरिव प्रसरणैरिव । श्वसितैः श्वासैः । सरसोरुहशङ्कया सरसोरु-हमिति कमलमिति शङ्कया सन्नेहेन । अस्याः शशिप्रभायाः । मुखे वदने । निपतत् स्खलत् । अलिवृन्दम्

कहने लगी— ॥ ६० ॥ राजन् ! आपको कन्या शशिप्रभा ने जवने राजा महेन्द्रको मारनेवाले युवक अजितसेनको देखा है तभीसे उसने चन्दनके लेप और मालाका परित्याग कर दिया है तथा अपने शरीरकी भी उपेक्षा कर दी है ॥ ६१ ॥ उसका मन सूतसान (एकान्त) स्थान-को पसन्द करने लगा है । वहीं ( एकान्त में ) बैठकर वह कुछ सोचती रहती है । उसके कपोल सूख गये हैं और उनका रंग पीला पड़ गया है । परिवारके लोग उसके पास अन्न-जल ले जाते हैं, किन्तु ज्वरके बिना भी उसे खाने-पीनेसे अरुचि हो गयी है ॥ ६२ ॥ उसका सुकुमार शरीर पालेस झूलसे हुए कमलके समान हो गया है । उसके अश्रु-विन्दु आँखोंसे सीनेपर गिरकर शीघ्र ही खोलने लगते हैं, जिनसे उसके तोत्र अन्तस्तापका पता लगता है । ॥ ६३ ॥ कमलके भ्रमसे उसके मुख पर जो भीरे गिरना चाहते हैं, वे वियोगाग्निके फैलते हुए धुरें सरीखे प्रतीत

मुषिता<sup>१</sup> वदनश्रिया मम श्रीरनयेतीव रघोपजातमूर्च्छाम् ।  
 विदधाति मुहुर्मुहुर्मृगाक्षीं विपनिःस्यन्दिभिरंशुभिः शशाङ्कः ॥ ६५ ॥  
 परितापविनाशनाय शय्या क्रियते या नवपल्लवैः सखीभिः ।  
 दधवद्विशिखावलीव सापि ज्वलयत्यम्बुजकोमलं तदङ्गम् ॥ ६६ ॥  
 विदधातु भुजंगसङ्क्रमाजो रससेकः खलु चन्दनस्य तापम् ।  
 प्रविभाति महत्तदत्र चित्रं यदमं प्लुष्यति दक्षिणोऽपि वातः ॥ ६७ ॥  
 नितरां परिकोपितो मनोभू<sup>२</sup> रतिरूपं ध्रुवमेतया हरन्त्या<sup>३</sup> ।  
 विदधाति विनाशहेतुमस्याः किमसाधारणमन्यथा प्रयत्नम् ॥ ६८ ॥

अलीनां भ्रमराणां वृन्दं समूहः । दूरम् उदस्यते निराक्रियते । असू क्षेपणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ६४ ॥ मुषितेति । मम मे । श्री शोभा । अनया, अन्वादेशः एतदादेशः (?) । वदनश्रिया वदनस्य मुखस्य श्रिया शोभया । मुषिता अपहृता । इति एवम् । मत्वा, कृपा कोपेन, इव । शशाङ्कः चन्द्रः । विष [ निः- ] स्यन्दिभिः विप ( निः ) स्यन्दत इत्येवंशोलेः । अंशुभिः किरणैः । मृगाक्षी मृगस्याक्षिणी इवाक्षिणी यस्यास्ताम् । मुहुर्महुः पुनः पुनः । उपजातमूर्च्छाम् उपजाता उत्पन्ना मूर्च्छा यस्यास्ताम् । विदधाति करोति ॥ ६५ ॥ परितापेति<sup>४</sup> । परिताप-विनाशनाय परितापस्य मतापस्य विनाशनाय विनाशायम् । सखिभिः [ सखीभिः ] वयस्याभिः । नवपल्लवैः नवैर्नूतनैः पल्लवैः किसलयैः । या शय्या तत्पम् । क्रियते विधीयते । सापि पल्लवशय्यापि । दधवद्विशिखावलीव दधवच्छापी बल्लिव ( दधस्य बल्लिः ) तथोक्तस्तस्य शिखानां ज्वालाणामावलीव समूह ( जालम् ) इव । अम्बुजकोमलम् अम्बुजमिव कमलमिव कोमल मुदुलम् । तदङ्ग तस्याः शशिप्रभाया अङ्गं भागम् । ज्वलयति<sup>५</sup> दहयति । ज्वल दीप्तिं गिजगताल्लट् । हेतुः (?) ॥ ६६ ॥ विदधाति । भुजङ्गसङ्क्र-माजः भुजङ्गानां सङ्गं सपकं भजतीति तथोक्तस्य । चन्दनस्य मलयजस्य । रससेकं ( कः ) रसस्य द्रवस्य सेकं ( क ) सेचनम् । खलु, तापं सन्तापम् । विदधातु करोतु । दुष्पात्रं चारणे च लोट्<sup>६</sup> । दक्षिणोऽपि दक्षिणदिश आगतोऽपि । वातः वायुः । अमम् एताम् । प्लुष्यति दहति । प्लुष दाहे लट् । यत् प्रकृतम् । तत्, अत्र लोके । महत्चित्रम् आश्चर्यम् । भवति । हेतुः ॥ ६७ ॥ नितरामिति । रतिरूपं रतिदेश्या रूपम् । हरन्त्या बधहरन्त्या । एतया अनया शशिप्रभाया । मनोभूः मन्मथः । नितराम् अत्यन्तम् । परिकोपितः परिक्रुद्धः । ध्रुवं<sup>७</sup> निदधय । अन्यथा न परिकोपितश्चेत् । अस्याः शशिप्रभायाः । असाधारणं<sup>८</sup> प्रतिकार-रहितम् । विनाशहेतुं निघनकारणम् । प्रयत्नं<sup>९</sup> प्रारम्भम् । किं किं कारणम् । विदधाति करोति । दुष्पात्रं

होने वाले उसके उष्ण और दीर्घ द्वास वायुसे हटा दिये जाते हैं ॥ ६४ ॥ 'इसने अपने मुखकी शोभासे मेरी शोभा चुरा ली है', मानो यह सोवकर रात्रिके समय चन्द्रमा क्रुद्ध होकर अपनी किरणोंसे बिष बहाकर शशिप्रभाको बार-बार मूच्छित कर देता है ॥ ६५ ॥ उसके तीव्रसन्तापको दूर करनेके लिए सहेलियां नवीन कोंपलोसे जो सेज सजाती हैं, वह भी उसकी कमल कोमल कायाको दवाग्निकी ज्वालाकी भांति जलाने लगती है ॥ ६६ ॥ चन्दन-द्रवका सिचन या लेप भले ही उसे सन्ताप दे; क्योंकि उससे जहरीले काले नाग लिपटे रहते हैं, किन्तु दक्षिण (अनुकूल) वायु भी उसे जलाता है, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है ॥ ६७ ॥ लगता है शशिप्रभाने रतिके रूपको हरकर कामदेव (रतिपति) को बहुत अधिक क्रुद्ध कर दिया है । यदि यह बात न होती

१. अ मुजिता । २. अ मनोजो<sup>१</sup> । ३. अ वहन्त्या । ४. आ वा स इदं ( ६६ तमं ) पद्यं पश्चाद् व्याख्यातम्, इतः पूर्व तु विदधातु इत्यादि ( ६७ तमं ) पद्यं व्याख्यातम् । ५. = दहति संधुक्षयति वा । ६. आ लट्, वा स लट् । ७. = कृत इति शेषः । ८. = निदधयेन । ९. = प्रयतनम् ।

सपदि प्रविधीयतां तदत्र प्रविधेयं गुणवद्विभूष्य बुद्ध्या ।  
हरिणायतचक्षुरीश यावद्दशमीं याति दशां न पुष्पकेतोः ॥ ६६ ॥  
श्रुतवानिति तद्गिरं गरीयःप्रमदोद्यत्पुलको बभूव भूपः ।  
दुहितुर्विगण्य चित्तवृत्तिं सदृशीमात्मन एव चित्तवृत्ते ॥ ७० ॥  
अपरेश्वरपृच्छद्वाटतात्मा<sup>१</sup> सहसाह्वय निमित्तिनं नरेन्द्रः ।  
विवधे च शुभे शरीरजाया दिवसे तत्प्रतिपादिते प्रदानम् ॥ ७१ ॥  
स ततः प्रभृति प्रतीततेजा<sup>२</sup> निजपाणिग्रहवासरं कुमारः ।  
गणयन्स्मरबाणभिन्नमर्मा दयितासङ्गसमुत्सुकोऽवतस्थे ॥ ७२ ॥

धारणे च लट् ॥ ६८ ॥ सवदिति । ईश भो स्वामिन् । हरिणायतचक्षुः हरिणस्य मृगस्येवायते विशाले चक्षुषो यस्याः सा । यावत् यत्प्रमाणम् । पुष्पकेतोः<sup>३</sup> मन्मथात् । दशमी दशाना पूर्णो दशमी, ताम् । दशाम् अवस्थां मरणावस्थामित्यर्थः । न याति न गच्छति । ( तावत् ) गुणवत् गुणयुक्तम् । प्रविधेयमिति कार्य-मिति । बुद्ध्या बोधनेन । विमृश्य विचार्य । अत्र अस्याम् । तत् कार्यम् । सपदि शीघ्रम् । प्रविधीयतां प्रतिकारः क्रियताम् । उच्यते ॥ ६९ ॥ श्रुतेति । इति उक्तप्रकारेण । तद्गिरं तस्याः शशिप्रभासख्या गिरं वाचम् । श्रुतवान् आकण्ठितवान् । भूपः जयवर्मा । आत्मन एव स्वस्यैव । चित्तवृत्तेः चित्तस्य वृत्तेर्धर्तनस्य । सदृशीं समानाम् । दुहितुः पुत्र्याः । चित्तवृत्तिं मानसवृत्तिम् । विगण्य निदिश्य । गरीयःप्रमदोद्यत्पुलकः गरीयसा महता प्रमदेन संतोषेण उद्यदुत्पद्यमानः पुलको रोमाञ्चो यस्य स । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । ७० ॥ अपरेश्वरिति । आदुतात्मा आदुत आदरयुक्त आत्मा बुद्धि यस्य सः । नरेन्द्रः जयवर्मा । अपरेश्वर अग्यस्मिन् दिवसे । निमित्तिनं निमित्तकम् । सहसा शीघ्रम् । आहूय आह्वानं कृत्वा । अपृच्छत् अपृणोत् । तत्प्रतिपादिते तेन निमित्तजेन प्रतिपादिते कथिते । शुभे शोभने । दिवसे दिने । शरीरजायाः कृतिप्रभाकुमार्याः । प्रदानं वाग्दत्तम् । विवधे च वकार च । दुषाम् धारणे च लिट् ॥ ७१ ॥ स इति । ततः प्रभृति तद्विषयमारभ्य । प्रतीततेजाः प्रतीतं प्रेषितं तेजः । प्रतापो यस्य सः । स्मरबाणभिन्नमर्मा स्मरस्य मदनस्य बाणोर्मर्गभिन्नं स्फुटितं मर्म मर्मस्थानं यस्य सः । दयितासङ्गसमुत्सुकः दयितायाः कान्तायाः सङ्गे संयोगे समुत्सुकः समयुक्तः । सः कुमारः । अजितसेनकुमारः निजपाणिग्रहवासरं निजस्य स्वस्य पाणिग्रहस्य विशाहस्य वासरं विषयम् । गणयन् संख्यानं कुर्वन् । अवतस्थे तिष्ठति स्म । ष्टा गतिनिवृत्ती लट् । 'संविधावात्' इति तट्

तो वह इसके बिनाशके लिए असाधारण प्रयत्न क्यों करता ? ॥ ६८ ॥ राजन् ! इसलिए अपनी बुद्धिसे इस विषयमें जो भी लाभकर हो शीघ्र कीजिए, जिससे हरिणाक्षी शशिप्रभा कामदेवकी दशवीं (मृत्यु) दशासे बच जाये ॥ ६९ ॥ शशिप्रभाकी सहेलोकें ये वचन सुनकर एवं अपने विचारोंके समान अपनी पुत्रिके विचारोंको भी जानकर जयवर्मा मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ, और उसी प्रसन्नताके कारण उसके शरीरमें रोमांच हो आया ॥ ७० ॥ इससे अगले दिन राजाने आदर पूर्वक एक ज्योतिषीको शीघ्र ही बुलवाया । राजाके पूछने पर उसने जो शुभ दिन बतलाया, उसी दिन उसने अपनी कन्याका प्रदान—वाग्दान (सगाई) कर दिया ॥ ७१ ॥ विवाहकी बात तय होनेके बाद कामदेवने तेजस्वी राजकुमार अजितसेनके मर्मस्थलको अपने बाणोंसे बीध डाला । फलतः वह पत्निके समागमके लिए उत्सुक होकर विवाहके दिन गिनने लगा

१. अ 'दाहितात्मा । २. आ इ प्रथिततेजा' । ३. = यावत् पर्यन्तम् । ४. = मन्मथस्य । ५. आ संतोषयुक्त' । ६. = पृच्छति स्म ।

गिरिरस्यथ खेचराधिवासः शिखरोत्तमिमततारकासमूहः ।  
 विजयार्थ इति प्रसिद्धनामा निजविस्तारनिरुद्धविश्वभागः ॥७३॥  
 कलघौतमयोऽखिलासु विष्णु प्रकिरन्त्यः शशिशुभ्रमंशुजालम् ।  
 प्रविभाति विशालमेदिनीकः शुचिनिर्मोक इवाम्बरोरगस्य ॥७४॥  
 पृथु दक्षिणतोऽस्ति तत्र रम्यं पुरमादित्यपुराभिषां दधानम् ।  
 रजताच्छतयेव देवलोकान्प्रतिबिम्बं पतितं मनोभिरामम् ॥७५॥  
 धरणीध्वज इत्यमृतप्रशास्ता बलवांस्तस्य पुरस्य खेचरेन्द्रः ।  
 अमरेन्द्र इवोद्धतान्मयघाघाः सकलान्खेचरभूभृतो विपक्षान् ॥७६॥

॥७३॥ गिरिरिति । अथ अनन्तरम् । खेचराधिवासः खेचराणां विद्याधराणामधिवासः आधारभूतः । शिखरोत्तमिमततारकासमूहः शिखरैः शृङ्गैरुत्तमिमत सदृशः तारकाणां नक्षत्राणां समूहो यस्य ( येन ) सः । निजविस्तारनिरुद्धविश्वभागः निजस्य स्वस्य विस्तारेणायामेन निरुद्धो व्याप्तो दिशां विभागो यस्य ( येन ) सः विजयार्थ इति रजताक्षर इति । प्रसिद्धनाम्ना<sup>१</sup> प्रसिद्धेन प्रतीतेन नाम्ना अभिमानेन । गिरिः पर्वतः । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । स्वभावः ॥७३॥ कलघौतेति<sup>२</sup> । कलघौतमयः रजतमयः । शशिशुभ्रं शशीव चन्द्र इव शुभ्रं गौरम् । अंशुजालम् अंशूनां किरणानां जालं समूहम् । अखिलासु सर्वासु । विष्णु दिशाम् । प्रकिरन् विकिरन् । विशालमेदिनीकः विशाला<sup>३</sup> विस्तारा मेदिनी भूमि रम्य सः । यः पर्वतः । अम्बरोरगस्य अम्बरमाकाशमेवोरगः सर्पस्तस्य । शुचिनिर्मोक इव शुचिः शुभ्रो निर्मोकः कञ्जुकः ( स ) इव । प्रविभाति प्रभासते । आ दीप्तो लट् । उत्प्रेक्षा ॥७४॥ पृथ्विति<sup>४</sup> । तत्र पर्वते । दक्षिणतः दक्षिणस्या श्रेण्याम् । रजताच्छतया रजतस्य छप्यस्याच्छतया वैर्मलेन । मनोभिरामं मनोहरम् । देवलोकान् स्वर्गान् । पतितं च्युतम् । प्रतिबिम्बं प्रतिकृतीव<sup>५</sup> । रम्यं सुन्दरम् । आदित्यपुराभिषाम् 'आदित्यपुरम्' इत्यभिषा ताम् । दधानं धरमाणम् । पृथु महत् । पुरं पुरी । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । उत्प्रेक्षा ॥७५॥ धरणीति । यः विपक्षान् शत्रून् । विगतपट्टान् । सकलान् निखिलान् । खेचरभूभृतः खेचरभूमिपालान्, पक्षे खेचरान् आकाशधरान् भूभूतः पर्वतान् । अमरेन्द्र इव देवेन्द्र इव । उद्धतान् विनष्टान् । व्यघ्रान् अकरोत् । बलवान् पराक्रमी ।

॥७३॥ इसके पदचात्—एक विजयार्थ नामका प्रसिद्ध पर्वत है । उसने अपने विस्तारसे सारी दिशाओं और विदिशाओंके विभागको समाप्त कर दिया है—जिधर देखो उधर वह फैला हुआ है, अतः पूर्व किस ओर है और किस ओर है पश्चिम आदि, इसका पता ही नहीं पड़ता । उसने अपने शिखरोंसे तारामण्डलको ऊपर उठा दिया है, और उस पर विद्याधर लोग निवास करते हैं ॥७३॥ उस पर्वतने अपनी लम्बाईसे भी विशाल भूभागको आत्मसात् कर रखा है । रजतमय होनेसे वह सभी ओर चन्द्रमाके समान अपनी धवल किरणोंको फैलाए हुए है । अतः वह आकाश रूपी सर्पकी गिरी हुई सफेद कंचुलीके समान जान पड़ता है ॥७४॥ दक्षिणकी ओर उस पर्वतके ऊपर (उस पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें) एक आदित्य नामका विशाल नगर है । वह अत्यन्त अभिराम—सुन्दर है । उसे जो भी एक बार देख लेता है, उसका मन वहीं रम जाता है (अभिरामम्-अभिरमते मनो यत्र तदभिरामम्) । अतएव ऐसा जान पड़ता है मानो उसके रजतमय स्वच्छ प्रदेशमें स्वर्गका प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो ॥७५॥ धरणीध्वज नामका एक बलवान् राजा उस नगरका शासक था । वह समस्त विद्याधरोंका स्वामी था । उसने सारे विपक्षी

१. अ मनोमिधानम् । २. = बबिबाखो निबाखो यत्र सः । ३. 'प्रसिद्धनाम्ना' इति पाठछोकाङ्कवधिमतः । प्रतिपु प्रसिद्धनामा' इत्येव पाठो दृश्यते । प्रसिद्धं प्रख्यातं नाम यस्य सः—इति तद्व्याख्या कार्या । ४. आ कलघौत इति । ५. = विस्तृता । ६. स स पृथ्वीति । ७. = प्रतिकृतिरिव । ८. आ विगतपट्टान् , अ स विगतपट्टान् ।



अथ सर्वप्रियधर्मनामधेयं परमाणुव्रतपालनप्रसक्तम् ।  
 यतिचिह्नधरं समाप्तरस्यः सहसा क्षुल्लकमागतं ददर्श ॥७७॥  
 प्रतिपत्तिभिरर्घ्यपूजिकामि स्वयमुत्थाय तमप्रहोत्खगेन्द्रः ।  
 मलयो न खल्वचित्तृतायां मृगयन्ते महतां परोपदेशम् ॥७८॥  
 प्रविसर्जितं सर्वपादसेवागतविद्याधरबन्धुमन्त्रिवर्गः ।  
 गुरुविष्टरमास्थितेन तेन स्मितपूर्वं स कृताशिषा बभाषे ॥७९॥  
 खचराधिप योगिनोऽपि कामं किमपि स्निह्यति मानसं न जाने ।  
 त्वयि बान्धववत्सले ममाहो बलवान्सर्वजगतस्तु मोहराजः ॥८०॥

धरणीध्वज इति धरणीध्वज इति नाम ( नामकः ) । खचरेन्द्रः खचराणां विद्याधराणामिन्द्रः प्रभुः । तस्य पुरस्य आदित्यपुरस्य । प्रशास्ता पालकः । 'कृतकामुकस्य—'इत्यादिना कर्मणि धृष्टौ । अभूत् अभवत् ॥७६॥ अथेति । अथ अनन्तरम् । समाप्तरस्य समायाः संसदोऽन्तरस्यो मध्यस्थ । स. धरणीध्वजः । परमाणुव्रत-पालनप्रपक्तं परमाणुव्रतस्य श्रावकव्रतस्य पालने रक्षणे प्रसक्तमासक्तम् । यतिचिह्नधरं मुनिचिह्नधरं—जपमालादिधरमित्यर्थः (?) । प्रियधर्मनामधेयं प्रियधर्म इति नामधेयं यस्य तम् । सहसा क्षीघ्रम् । आगतम् । आयातम् । क्षुल्लकं ब्रह्मचारिणम् (?) ददर्श पश्यति स्म । दृशु प्रेक्षणे लिट् ॥७७॥ प्रतिपत्तिभिरिति । खगेन्द्र खगानां विद्याधराणामिन्द्रः प्रभुः । स्वयम् उत्थाय सिंहासनादुत्थाय । अर्घ्यपूजिकामिः अर्घ्यः पूजायोग्यं द्रव्यं पूर्वं पुरस्सरं यासां ताभिः । प्रतिपत्तिभिः सत्कारैः । तं प्रियधर्माणम् । अग्रहीत् अपूजयत् । महता महापुरुषाणाम् । मलयः, उच्चैः श्रितायां प्रकृतजन्तायाम् । परोपदेशं परेषामुपदेशम् । न मृगयन्ते नान्वेषयन्ति । मृगि जन्वेषणे लट् । खलु व्रतम् । अयन्तिरन्यासः ॥७८॥ प्रवीति । प्रविसर्जितमवपादसेवागतविद्याधरबन्धुमन्त्रिवर्गः पादयोः सेवा पादसेवा तस्य आगतास्तथोक्ताः, सर्वे च ते पादसेवागताश्च ( तथोक्ता ) सर्वपादसेवागतानां विद्याधराणां खचराणां बन्धूनां संगोत्राणां मन्त्रिणां सचिवानां वर्गः समूहः, प्रविसर्जितः प्रहितः । सर्वपादसेवागतविद्याधरबन्धुमन्त्रिवर्गो येन स । सः धरणीध्वजः । स्मितपूर्वं स्मितं मनाक् स्मितं पूर्वं यस्मिन् कर्मणि तत् । कृताशिषा बिहिताशीर्वादेन । गुरुविष्टरं महदासनम् । आस्थितेन । तेन प्रियधर्मव्रताधारिणा । बभाषे उच्यते स्म । भाषि ब्रह्मतायां भाषि कर्मणि लिट् । ७९॥ खचरेति । खचराधिप भो खचराणां विद्याधराणामधिप प्रभो । बान्धववत्सले बान्धववत् वत्सले वात्सल्ययुक्ते । त्वयि भवति । योगिनोऽपि

विद्याधरोंकी सत्ता समाप्त कर दी थी । जैसे इन्द्रने आकाशमें उड़नेवाले (जेनेतर पुराणोंकी दृष्टिसे) पहाड़ोंके पक्ष काटकर उन्हे निष्प्राण कर दिया था ॥७६॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है, वह सभाके बीचमें बैठा हुआ था । इतनेमें उसने अचानक ही वहाँ आये हुए क्षुल्लक-गयारहवीं प्रतिमाके धारी उत्कृष्ट श्रावकके दर्शन किये । वे उत्कृष्ट अनुव्रतोके पालक थे । वे दिग्गम्बर साधुओंकी तरह उद्दिष्ट भोजन त्याग आदि विह्वलिते विभूषित थे । उनका नाम था प्रियधर्म ॥७७॥ वह विद्याधरोंका राजा सिंहासनसे उठकर खड़ा हो गया, और अर्घ आदि पूजा सामग्री लेकर उसने स्वयं उनका सत्कार किया । महान् पुरुषोंकी बुद्धि उचित बातोंकी जानकारीके लिए निश्चय ही परोपदेशकी प्रतीक्षा नहीं करती ॥७८॥ फिर अपने धरणीकी सेवामें उपस्थित हुए विद्याधरों, बन्धुओं और मन्त्रियोंके मण्डलकी राजा धरणीध्वजने बिदा करके क्षुल्लकजीकी एक बड़े आसन पर बैठा दिया । आसन पर बैठकर उन्होंने आशीर्वाद देकर मुस्कराते हुए, उससे यों कहा—॥७९॥ हे विद्याधरोके नाथ ! मैं एक योगी हूँ, फिर भी मेरा

१. अ प्रियधर्म । २. अ स 'रर्घपूजि' । ३. इ प्रतिपत्ति । ४. अ आ इ सर्वगतवच मोह ।  
 ५. आ प्रतापे 'प्रकृतजन्तायाम्' इति पर्यायः समुपलभ्यते । ६. स स भाष ।

तच्च मानघनाखिलप्रकारैः प्रविधातुं प्रियमीदृते मतिर्मे ।

तमिमं शृणु यो मया मुनीन्द्रास्त्वदुदन्तो विदितः सुधर्मनाम्नः<sup>१</sup> ॥८१॥

विपुलाख्यमरिजयामिधाने पुरमस्तीन्द्रपुरोपमं जनान्ते ।

तदपास्तसमस्तवैरिषां जयधर्मेति<sup>२</sup> भुनक्ति भूमिपालः ॥८२॥

मृगदृष्टिरिव<sup>३</sup> भ्रमप्रहोणा शशभृत्कान्तिरलाञ्छनप्रसङ्गा ।

करदीकृतमण्डलस्य जिष्णोस्तनया तस्य शशिप्रभामिधाना ॥८३॥

तत्पस्विनोऽपि । मम मे । मानसं चित्तम् । कामं भृशम् । स्निहति प्रीतिं करोति । किमपि किं निमित्तमिति । न जाने न वेद्यि । ज्ञा अवबोधने लट् । सर्वजगत्सु सर्वजनेषु । मोहराजः मोहकर्मराजः । बलवान् शक्तिवान् । अहो हन्त । अर्धान्तरस्यासः ॥८०॥ तथेति । मानघनं मान एवामिमान एव घनं यस्य तस्य संशोधनम्—भो अविमानघन । अखिलप्रकारैः नानाप्रकारैः सर्वप्रकारैर्वा । तव भवतः । प्रियं प्रीतम्<sup>४</sup> । ( हितमिति यावत् ) प्रविधातुं कर्तुम् । मे मम । मतिः बुद्धिः । ईदृते प्रवर्तते । ईहि चेष्टायां लट् । सुधर्मनाम्नः सुधर्माभिधानात् । मुनीन्द्रात् मुनीनामिन्द्रः श्रेष्ठस्तस्मात् । य त्वदुदन्तः तव भवत उदन्तो वार्ता । मया विदितः ज्ञातः । [ तम् इमम् उदन्तं वृत्तान्तम् । शृणु आकर्ण्य । ] । रूपकम् ( ? ) ॥८१॥ विपुकेति । अरिषामिधाने अरिजय इत्यभिधानं यस्य तस्मिन् । जनान्ते देशे । इन्द्रपुरोपमम् इन्द्रपुरस्यामरावसीपुरस्थोपमं ( उपमा यस्य तत् ) समानम् । विपुलाख्यं विपुलमित्पाख्या यस्य तत् । पुरं पुरी । अस्ति वर्तते । असं भुवि लट् । अशास्तसमस्तवैरिषां अपास्तः तिरस्कृतः समस्तानां वैरिणां रिपूणां वर्गः समूहो येन सः । जयधर्मेति, भूमिपालः भूमि पालयतीति यथोक्तः । तत् पुरम् । भुनक्ति पालयति । मृग पालनाभ्यबहारयोर्लट् ॥८२॥ मृगेति । अविभ्रमप्रहोणा<sup>५</sup> अविभ्रमेण ब्रह्मासामायेन प्रहोणा रहिता विलासेन सहिता—इत्यर्थः । मृगदृष्टिः मृगस्यैव<sup>६</sup> दृष्टिर्यस्याः सा—पणलोचना । अलाञ्छनप्रसङ्गा अलाञ्छनेन लाञ्छनरहितेन प्रसङ्गा संबन्धा । शशभृत्कान्तिः शशभृत्कण्ठेर्ब्रह्मन्तिर्द्युतिर्यस्याः सा । शशिप्रभामिधाना शशिप्रभेत्यभिधानं यस्याः सा । तनया कुमारी । करदीकृतमण्डलस्य करदीकृतं करदानविहितं मण्डलं देशो यस्य तस्य । जिष्णोः जयगोलस्य । भूजेऽस्तु<sup>७</sup> इति शीलायै स्तु- ( स्तुक्- ) प्रत्ययः । तस्य जयवर्मणः । अमूत्,

मन न जाने क्यों तुमसे बहुत अधिक स्नेह करता है । यों तुम भी सभीसे मित्रवत् स्नेह करते, हो, किन्तु तुम्हारा स्नेह उचित है, राजा जो ठहरे, पर एक योगी किसीसे स्नेह करे, यह एक अद्भुत-सी बात है । सच तो यह है कि सारे संसारमें मोह बड़ा बलवान् है । वह सभी कर्मोंका राजा है ॥८०॥ हे राजन् ! तुम मानके धनी हो । मेरी बुद्धि हर तरहसे तुम्हारा हित करना चाहती है । अतः सुधर्म नामक मुनिसे मेने जो वृत्तान्त तुम्हारे बारेमें सुना था, उसे सुनाता हूँ । तुम सुनो— ॥८१॥ अरिजय नामके देशमें एक विपुल नामका पुर है । वह इन्द्रके पुरके समान है । शत्रुओंके छक्के छड़ानेवाला राजा जयवर्मा उसका शासक है ॥८२॥ राजमण्डलसे वह टैक्स बसूल करता है— सभी राजे उसके मातहत थे । वह विजयशाल है । उसकी एक शशिप्रभा नामकी कन्या है । उसकी दृष्टि मृगकी है—वह मृगनयनी है, किन्तु उसमें नारीके विलासकी बहुलता है । उसकी कान्ति चन्द्रमाके समान है, किन्तु उसमें कभी लांछन (कलङ्क)

१. अ सुधर्मनाम्नः । २. अ जयधर्मेति । ३. क ल ग घ म<sup>४</sup> दृष्टिरिव भ्रम<sup>५</sup> । ४. आ प्रीतिम् ।

५. श स यस्मिन् । ६. एष टीकानुसारी पाठः प्रतिष्ठा तु<sup>७</sup> रिव भ्रमप्रहोणा—इत्येव समालोक्ष्यते ।

७. मृगस्य दृष्टिरिव । ८. प्रसङ्गः संबन्धो यस्याः सा । ९. = चन्द्रस्यैव ।

परिणेष्यति तां य एष धन्यो भवन्त्येव धनुर्लतां नताङ्गीम् ।  
 स भविष्यति पुण्यराशिरेकस्तथ हृष्टा भरतस्य च प्रभोक्ता ॥ ८४ ॥  
 इति वाचमष्टमुद्गराभां सहसा तस्य निशम्य खेचरेन्द्रः ।  
 हृदये विषसाद् साध्वसोद्यत्प्रचुरस्वेदजलप्लुताङ्गयष्टिः ॥ ८५ ॥  
 गुणवत्सल मा गमस्त्वमस्मिन्विषये मामकचिन्तयाकुलत्वम् ।  
 कमपि प्रतिकारमत्र योम्यं प्रविधास्याम्यहमप्रमत्तचित्तः ॥ ८६ ॥  
 इति देशयति नमश्चराणामधिपस्तं विससर्ज नम्रमौलिः ।  
 अवधाय च कृत्यमात्मचित्ते तमनैवीद्विवसं निगूढभावाः ॥ ८७ ॥ ( युग्मम् )

इत्यप्याहारः । उरमा ॥ ८३ ॥ परीति<sup>१</sup> । मदनस्य मन्मथस्य । धनुर्लता धनुषो लतामिव<sup>२</sup> नताङ्गी<sup>३</sup> स्तनभारेण किञ्चिदानतशरीराम् । 'असङ्ग' इत्यादिना डो-प्रत्ययः । तां शशिप्रभाम् । धन्यः पुण्यवान् । पुण्यराशिः पुण्यानां सुकृतानां राशिः समूहो यस्य सः । य एष पुण्य<sup>४</sup> एष परिणेष्यति परिग्रही भविष्यति सः पुण्यः । एकः, तत्र ते । हन्ता हिंसिता । कृतकामुकस्य—'इत्यादिना कर्मणि णट्ठो । भरतस्य भरतक्षेत्र-स्य । प्रभोक्ता च पालकश्च । अत्रापि कर्मणि णट्ठो । भविष्यति । भू सत्ताया लट् ॥ ८४ ॥ इतीति । खेचरेन्द्रः धरणीध्वजः । तस्य प्रियधर्मणः । अदृष्टमुद्गराभाम् अदृष्टस्यानालोकितस्य मृगदरस्यायोगदाया<sup>५</sup> आभां समानाम् । इति प्रतीतिभूताम् । वाचं बधनम् । निशम्य श्रुत्वा । सहसा शीघ्रम् । साध्वसोद्यत्प्रचुर-स्वेदजलप्लुताङ्गयष्टिः ] साध्वसेन भवेन उद्यत उत्पद्यमानस्य प्रचुरस्य बहुलस्य स्वेदस्य जलेन सलिलेन प्लुता साधिता ( आर्द्रा ) अङ्गस्य गात्रस्य यष्टिः ( अङ्गयष्टिर्गात्रयष्टिः ) यस्य सः । हृदये मानसे । विषसाद् बिलेद ( बिलेद ) । पदन्तु बिशरणगत्यबसादनेषु लिट् ॥ ८५ ॥ गुणेति । गुणवत्सलं गुणेषु वत्सलः प्रीति यस्य तस्य संबोधनं भो गुणवत्सल गुणप्रीत<sup>६</sup> । अस्मिन् विषये एतस्मिन् कार्ये । त्वं भवान् । मामकचिन्तया मदीयया चिन्तया । 'युस्यस्त्वम्'—'इत्यादिना अज्' तद्योगे ममकादेशः<sup>७</sup> । आकुलत्वं व्याकुलत्वम् । मा गम मा गच्छ । गच्छ गती लुङि 'सतिशास्ति—' इत्यादिना अङ्-प्रत्ययः । अत्रनसचित्तः अत्रमत्तं प्रमादहितं चित्तं यस्य सः । अहम्, अत्र कार्ये । योम्यम् अहम् । कमपि कंचन । प्रतिकार<sup>८</sup> प्रतिकूलम् । प्रविधाम्यामि करिष्यामि । हुधाद्य धारणे च ॥ ८६ ॥ हसीति । नमश्चराणां विधाचराणाम् । अधिराः प्रमथंगोध्वजः । तं देशयति प्रियधर्मत्राचारिणम् । नम्रमौलिः नम्रो मौलिर्यस्य सः । विससर्ज विमृष्टवान् । आ-मचित्ते आत्मनः

का कोई प्रसंग नहीं आया ॥ ८३ ॥ उसका शरीर कामदेवकी धनुर्वल्लरोंकी भाँति नमनशील और कोमल है । वह पुरुष धन्य है, जो उसके साथ विवाह करेगा । उसका पुण्यात्मा पति तुम्हें मारनेवाला होगा और फिर भरतक्षेत्रका शासक होगा ॥ ८४ ॥ धुल्लक प्रियधर्मकी इस बातको—जो जादूसे न दिखनेवाले मुद्गरके प्रहारके समान है—अचानक सुनकर विद्या-धरोंका राजा अपने मनमें बड़ा दु खी हुआ । भयके कारण उसका सारा शरीर पसीनेसे सगाबोर हो गया ॥ ८५ ॥ हे गुणवत्सल ! इस विषयमें आप मेरी चिन्तासे व्याकुल न हो । अब मैं सावधान रहूँगा—अपने मनमें तनिक भी प्रमाद नहीं करूँगा । और इसके बारेमें कोई योग्य प्रतीकार करूँगा ॥ ८६ ॥ यह कहकर विद्याधरोंके राजा धरणीध्वजने अभिवादनपूर्वक उन देशव्रती धुल्लकजीको वहाँसे बिदा कर दिया, और फिर अपने मनमें कर्तव्यका निश्चय कर

१. अ<sup>१</sup> 'सति गूढ' । २. अ आ इ क ल ग घ 'युग्मम्' इति नोपलभ्यते । ३. आ श स परेति ।

४. = धनुर्लतामिव कुशाङ्गोमिश्रयः । ५. = य एष पुण्य । ६. = परिग्रहीष्यति । ७. = आभा यस्या. सा तां तस्मान्नामिति यावत् । ८. = गुणेषु वत्सलो गुणवत्सल. तन्मबुद्धो हे गुणवत्सल हे गुणानुरागिन् । ९. आ प्रतापेन 'गुणप्रीत' इति सम्पलभ्यते । १०. आ अजि, श स अजो । ११. आ मामकादेशः । १२. = प्रतिक्रियाम् ।

अपरेशुरशेषसैन्ययुक्तः स विमानैर्मणिकिङ्किणीकरालैः ।

जयधर्मपुरं<sup>१</sup> रुरोच गत्वा सभयैः पौरजनैर्विलोक्यमानः<sup>२</sup> ॥ ८८ ॥

प्रजिघाघ च दूतमुद्धताख्यं वचनञ्च<sup>३</sup> विनिवेदितामिसंघम् ॥

स सभामुपगम्य सूचितात्मा जयवर्माणमिदं<sup>४</sup> वचो बभाषे ॥ ८९ ॥

धरणीध्वज इत्यमोघनामा प्रथितः खेचरचक्रचक्रवर्ती<sup>५</sup> ।

वदतीति भवन्तमक्षताहो नृप मद्रकनिवेशितैर्ध्वजोभिः ॥ ९० ॥

स्वस्य वित्ते मानसे । कृत्यं कार्यम् । अथर्वान् निश्चित्य । निगूढभावः निगूढः<sup>६</sup> व्यवहितो<sup>७</sup> भावो यस्य स, सन् । तं दिवसं तद्दिनम् । अनैवोत्<sup>८</sup> प्रापयत् । णोञ् प्रापणे लृङ् ॥ ८७ ॥ अपरेशुरिति । अपरेशुः अन्यस्मिन् दिने । अशेषसैन्ययुक्तः । अशेषैः समस्तैः सैन्यैः सेनाभिर्युक्तः सहितः । स. धरणीध्वजः । मणिकिङ्किणीकरालैः मणिमो रत्नं कृताभि<sup>९</sup> किङ्किणीभिः क्षुद्रघण्टिकाभिः करालैर्बाणैः । विमानं ध्योमयानैः गत्वा प्राप्य । सभयैः भयतर्हितैः । पौरजने. पुरजने । विलोक्यमानः बोधयमाणः सन् । जयधर्मपुरं जयवर्माणं पुरं पुरीम् । रुरोच ऋषिर्द्धि स्म । रुधूञ् आवरणे लिट् । जातिः<sup>१०</sup> ॥ ८८ ॥ प्रजिघायेति । वचनञ्च वचनवागुपदेशम् । विनिवेदितामिसंघं विनिवेदितोऽमिसंघमिवरमिप्रायो येन<sup>११</sup> तम् ( कथिताभिप्रायमित्यर्थः ) । उद्धताख्यम् उद्धत इत्याख्यामिधानं यस्य तम् । दूतं वचोहरम् । प्रजिघाघं प्राहिणोत् । हि गतिवृद्धयोर्लिट्<sup>१२</sup> । 'हि घ्नोऽङ् कुः पूर्वात्' इति हेः पूर्वात् परस्य कुः कवगदिशः । सूचितात्मा सूचितो विज्ञापित आत्मा येन स. । सः दूतः । सभा सभागृहम् । उपगम्य गत्वा । जयवर्माणं जयवर्मभूषं प्रति । इदं वचः एतद्वचनम् । बभाषे ऊचे । भाषि व्यवहृता वाचि लिट् । १८९ ॥ धरणीध्वज इति । नृप भो नरपते । अक्षताञ्च अक्षता बाणारहिता<sup>१३</sup> आज्ञा वासनं यस्य स । धरणीध्वज इति, अमोघनामा अमोघं सार्थकं नाम यस्य सः । प्रथितः<sup>१४</sup> प्रतीतः । खेचरचक्रचक्रवर्ती खेचराणां विद्याधराणां चक्रस्य समूहस्य चक्रवर्ती सार्वभौमः । मद्रकनिवेशितैः मम वक्ष्ये मुले निवेशितैः<sup>१५</sup> स्थापितैः । ध्वजैः । भवन्तं पूज्यं त्वाम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । वदति

लिया । उसने अपना मनोभाव गुप्त रखा । इस प्रकार उसने वह दिन बिताया ॥ ८७ ॥  
अगले दिन अपनी सारी सेनाओंको साथ लेकर वह विमानोसे—जिनमें मणिमय छोटी-छोटी घण्टियोंकी सजावट थी—जयवर्मके नगरमें जा पहुँचा । पहुँचते ही—उसने उसके नगरको चारों ओरसे घेर लिया । उसे देखनेवाले वहाँके निवासी मन-ही-मन बड़े भयभीत हो रहे थे ॥ ८८ ॥ और उसने अपने एक उद्धत नामके दूत को—जो बोलनेमें कुशल था—अपना अभि-  
प्राय बतलाकर जयवर्मके पास भेजा । उसने सभामें पहुँचकर और अपना परिचय देकर जय-  
वर्मसे ये वचन कहे—॥ ८९ ॥ राजन् ! विद्याधरोके चक्रवर्ती धरणीध्वजने मेरे-द्वारा आपके पास सन्देश भेजा है । सारे भूमण्डलमें उनके झण्डे लहरा रहे हैं । इसीलिए उनका 'धरणीध्वज' नाम सार्थक है । कोई भी मनुष्य उनकी आज्ञाकी अवहेलना नहीं कर सकता । उनकी सब

१. अ 'धर्मपुरं' । २. अ 'वर्माणः' । ३. अ 'वर्माण' । ४. आ इ 'राजचक्रवर्ती' । ५ = नितरां गूढो गुप्तः । ६. आ व्यवहितः । ७ = विनाय । ८. स स लृङ् । ९. = संस्कृताभिः । १०. आ प्रती केवलं, 'जातिः' इत्युपलम्भते । ११. = यस्मै । १२. स स लिटि । १३. आ 'वरहिता' । १४. = प्रसिद्धः । १५. स स निवेशितैः ।

तथ कापि शशिप्रभाभिधाना दुहितास्त्यर्थसमन्वितेन नाम्ना ।

भवता किल सा विदेशकाय प्रवितोर्णेति मया श्रुतं जनेभ्यः ॥ ६१ ॥

तद्विद्यं शरदभ्रशुभ्रकीर्तस्तत्र युक्तं न कुलोन्नतस्य कर्तुम् ।

भवतो भवति ह्यकीर्तिरेवं सति गुर्वी पृथ्वीतले समस्ते ॥ ६२ ॥

विदधाति मतिं सुताविमोहाद्गृहजामातरि यद्यपीह कोऽपि ।

अभिजातिरवश्यमेव तेनाप्यभिमुख्या ननु सा वरेषु मुख्या ॥ ९३ ॥

भवतो ननु पुण्यमत्र हेतुर्नयिज्ञातकुलेन तेन नोढा ।

तद्विष्यं स्वकरणे दीयतां मे हठकारः क्रियते मया न यावत् ॥ ६४ ॥

ब्रवीति । वर वरताया वाचि लट् ॥९०॥ तथेति । तत्र ते । अर्थसमन्वितेन अर्थयुक्तेन—सायंकेनेत्यर्थः । नाम्ना अभिधानेन । शशिप्रभाभिधाना शशिप्रभा—इत्यभिधाना यस्याः सा । कापि काचित् । दुहिता पुत्री । अस्ति किल<sup>१</sup> वर्तते किल<sup>२</sup> । भवता त्वया । सा कन्या । विदेशकाय देशान्तरादागतया । प्रवितोर्णा इति दत्ता इति । मया, जनेभ्यः लोकेभ्यः । श्रुतम् आकर्णितम् ॥९१॥ तदिति । शरदभ्रशुभ्रकीर्तं शरदः शर-  
त्कालस्याभ्रबन्धमेवयत् शुभ्रा वरता कीर्तयिष्य तस्य । कुलोन्नतस्य कुलेनोन्नतस्य महत् । तत्र भवत । तदिदं तथेत्यकार्यम् । युक्तं न योग्यं न भवति । एवं सति, समस्ते निष्पिडे । पृथ्वीतले पृथिव्या भूम्या तले । भवतः तत्र । गुर्वी महती । अकीर्तिः अपकीर्तिः । भवति हि । उपमा ॥९२॥ विदधातीति । इह अस्मिन् । कोऽपि; सुताविमोहात् सुताया पुत्र्या विमोहात् प्रीतेः । गृहजामातरि गृहस्वागते ( गृहमागते ) जामातरि दुहितृपुत्री । मतिं बुद्धिम् । विदधाति करोति । तेनापि पुरुषेणापि । वरेषु परिणयनयोग्यपुरुषेषु । मुख्या प्रधाना । सा अभिजातिः कुलम् । अवश्यमेव निश्चयेनैव । अभिमुख्या ननु अन्वेषणीया ननु ॥९३॥ भवत इति । अभिज्ञातकुलेन अभिज्ञातमविदितं कुल जातिर्यस्य तेन । तेन वरेण । नोढा न परिणीता । यत्, अत्र कार्यं । भवतः तत्र । पुण्य मुकुतम् । हेतुः कारणं ननु । अज्ञातकुलपुरुषाय कन्येतावत्पर्यन्तं न दत्ता तदत्र तत्र पुण्यमित्यर्थः । मया, यावत्पर्यन्तम् । हठकारः बलात्कारः । न क्रियते न विधीयते । तत् तावत् । इयम् एषा । स्वकरणे स्वहस्तेन । मे मया । दीयतां वितोर्येताम् । हुदात् दाने कर्माण लट् ॥९४॥

जगह प्रसिद्धि है । उनका सन्देश यह है—॥९०॥ आपकी कोई शशिप्रभा नामकी कन्या है । शशी—चन्द्रमाके समान प्रभा होनेसे वह यथानाम तथा गुण है । ऐसी सुन्दर कन्या आप किसी परदेशीको देना चाहते हैं । उसे आप विवाहका वचन भी दे देंगे, ऐसा मैंने लोगोंसे सुना है ॥९१॥ आपकी कानि शरत्कालीन चन्द्रमाकी भाँति शुभ्र है, और आपका कुल भी उन्नत है । अतः आपकी ऐसा करना योग्य नहीं है । यदि आप ऐसा ही करेंगे, नहीं ही मानेंगे तो सारे संसारमें आपका अपयश फैल जायेगा ॥६२॥ यदि कोई पुत्रोंके मोहवश अपने घर आये व्यक्तिको वर ( जमाई ) बनाना चाहता है, तो उसे भी उसके कुलका विचार अवश्य ही करना चाहिए; क्योंकि वरमें कुलीनता ही मुख्य रूपसे विचारणीय होती है ॥९३॥ उसके साथ—जिसके कुलका भी कुछ पता नहीं—तुमने अपनी कन्याका विवाह नहीं कर दिया, चट मंगनी पट व्याह नहीं कर डाला, इसमें तुम्हारा पुण्य ही कारण है । अतः तुम अपने हाथसे अपनी कन्या मुझे शीघ्र ही सोप दो, जिससे मुझे हठ या बलका प्रयोग न करना पड़े ।

इति तद्वचनैर्विरुद्धचित्तो<sup>१</sup> वचनं भूपतिरभ्यधात्समासात् ।  
 मतिमानपि दूत कोविदस्त्वं न मनागप्यसि लौकिकक्रियायाम् ॥ ९५ ॥  
 कुलजोऽकुलजोऽथवास्तु सोऽस्मै न हि दत्ता तनया भवत्पददा ।  
 यदि कोऽपि बलात्प्रहीतुमीशस्त्वरितोऽभ्येतुं विलम्बते किमर्थम् ॥ ९६ ॥  
 इति दूतमसौ विसृज्य<sup>२</sup> राजाजितसेनाय तदाकथंवाग्नु कार्यम् ।  
 रचितभूकुटिस्तदा स कोपाविदमूखे श्वशुरं विलोक्य बाहू ॥ ९७ ॥  
 तव तात न युक्तमाकुलत्वं मयि तिष्ठत्यरिमस्तकैकशूले ।  
 त्वमिमं प्रचिलोकयाद्य मृत्योर्वदने दुष्टनभश्चरं विश्रान्तम् ॥ ९८ ॥

इतीति । इति एवंविधैः । तद्वचनैः तस्य दूतस्य वचनैः । विरुद्धचित्तः विरुद्धं कोपयुक्तं चित्तं मानसं यस्य सः । भूपतिः जयवर्मा । समासात् संक्षेपात् । वचनं वचः । अभ्यधात् अवधेत् । दृष्ट्वा चारणे च लुङ् । भो दूत भो चर । त्वं मतिमानपि बुद्धिमानपि । लौकिकक्रियायां लोकव्यवहारकार्ये । मानगपि ईधपि । कोविदः प्रोढ़ः । नासि न भवसि । अस भुवि लट् ॥ ९५ ॥ कुलज इति । सः गृहागतो वरः । कुलजः वंशजातः । अथवाकुलजो वा दुष्कुलजो वा । अस्तु भवतु । अस भुवि लेट् । अस्मै एतस्मै । तनया कुमारी । दत्ता वितोर्णा । अदत्ता न वितोर्णा हि वा । न भवतु [ भवति ] । कोऽपि बलात् बलात्कारात् । गृहीतुं स्वीकर्तुम् । ईशः समर्थश्चेत् । स्वरित शीघ्र ( ता- ) युक्तः । अभ्येतु आगच्छतु । किमर्थं किंनिमित्तम् । विलम्बते कालयापनं करोति ॥ ९६ ॥ इतीति । इति अनेन प्रकारेण । असौ राजा जयवर्मभूपः । दूतम् उद्धताकथदूतम् । विसृज्य गन्तु-माशाय । अजितसेनाय अजितसेनकुमाराय । तत्कार्यं धरणीध्वजसंभन्धीष्ट प्रयोजनम् । आशु शीघ्रम् । आकथ्य अवबोत् । कथा प्रकथने लङ् । तदा तत्समये सः कुमारः । कोपात् रोषात् । रचितभूकुटिः रचितता विहिता भूकुटियस्य ( येन ) सः । बाहू भुजौ । विलोक्य वीक्ष्य । दबसुरं मातुलं (?) प्रति । इदं वदयमाण-वचनम् । ऊचे जगाद । भूज् वक्रतायां वाचि लिट् । 'अस्तिब्रह्मोर्भुवौ' इति वचादेशः । 'व्यादिदस्ववचः' किति<sup>३</sup> इति यज्ञ इक् ॥ ९७ ॥ तवेति । तात भोः पूज्य । 'तातोऽनुकम्प्ये जनकै' इति विदवः । अरिमस्तकैकशूले अरीणां शत्रूणां मस्तकानामेक केवलं शूलमिव अरिमस्तकैकशूलः तस्मिन् । मयि तिष्ठति विद्यमाने सति । तव भवतः । आकुलत्वं व्याकुलत्वम् । न युक्तं न योग्यम् । अथ इदानीम् । मृत्योः यमस्य । वदने मुखे । विश्रान्तं गच्छन्तम् । इमम् एतम् । दुष्टनभश्चरं दुष्टविद्याधरम् । त्वं विलोक्य पश्य । लोकाज् दर्शने निजन्तालोद<sup>४</sup>

मेरे हठ करनेके पहले ही तुम अपनी कन्या मुझे दे दो ॥ ९४ ॥ दूतके इन वचनोंको सुनकर उसने संक्षेपमें दूतसे ये वचन कहे—दूत ! तुम बुद्धिमान् हो, फिर भी लोकव्यवहारमें सर्वथा अनभिज्ञ हो—लौकिक व्यवहारको तुम तनिक भी नहीं जानते ॥ ९५ ॥ जिसे मैं अपनी कन्या दे चुका हूँ, वह कुलीन हो या अकुलीन, पर अब कुछ नहीं हो सकता । दी गयी कन्या अब नहीं दी गयी, नहीं हो सकती । यदि कोई उसे बलात् ग्रहण करनेमें समर्थ है, तो तुरन्त चला आये, विलम्ब क्यों कर रहा है ? ॥ ९६ ॥ यह कहकर राजाने दूतको बिदा किया, और शीघ्र ही अजितसेनको वे सारी बातें सुना दीं, जो दूतके साथ हुईं । उन बातोंको सुनकर मारे क्रोधके उसकी भूकुटि तन गयी । फिर वह अपने बाहुओंको देखकर अपने श्वशुरसे यों बोला— ॥ ९७ ॥ पिताजी, मैं शत्रुओंका सिरदर्द हूँ । मेरे रहते हुए आपका व्याकुल होना योग्य नहीं—आप व्याकुल न हों । उस दुष्ट विद्याधरको आप आज ही मृत्युके मुखमें घुसते देखना ॥ ९८ ॥

१. क ख ग घ ङ 'वदतेता' । २. अ 'रितः सोऽस्तु । ३. अ आ इ विसृज्य । ४. अ स विसृज्य ।  
 ५. आ 'वजः संदिष्ट' । ६. आ लिट् ।

इति चित्तममुष्य धीरयित्वा हृदि सस्मार दृढस्मृतिर्हिरण्यम् ।  
 स्मृत एव पुरोऽभवद्दृष्टोत्वा स रथं रोपितदिव्यशस्त्रजालम् ॥ ६६ ॥  
 अधिरुह्य स तत्र विस्मितास्यैः पुरलोकैश्च परैश्च दृश्यमानः ।  
 सुरसारथिरुत्पपात शत्रोरभिसैन्यं शरसंहतीर्विमुञ्चन् ॥ १०० ॥  
 तमुदीक्ष्य क्षरांशुवद्दुरीक्ष्यं प्रभुलज्जाविषयीकृताः प्रहर्तुम् ।  
 शरशक्तिरथाक्लृप्तहस्ताः सह संभूय डुडौकिरे नभोगाः ॥ १०१ ॥  
 निखिलानमितानलक्ष्यमोक्षैः सममल्लप्रधियागताम्पृथक्कैः ।  
 समकोचयदप्रकम्पधैर्यैः कुमुदानीव करैः सरोजबन्धुः ॥ १०२ ॥

॥ १८ ॥ इतीति । अमुष्य एतस्य । चित्तं मानसम् । इति अनेन प्रकारेण । धीरयित्वा धैर्यवत्कृत्वा । हृदि हृदये । दृढमति । दृढा मतिर्बुद्धिरस्य सः । हिरण्यं हिरण्यवस्तुदेवम् । सस्मार स्मरति स्म । स्मृत एव स्मृत-  
 मात्रः । स. हिरण्यदेवः । रोपितदिव्यशस्त्रजालं रोपितं पूरितं दिव्यानां शस्त्राणामायुधानां जालं यस्मिन् तम् ।  
 रथं स्यन्दनम् । गृहोत्वा आनीय । पुरः अग्रे । अववत् अभूत् । भू सत्ताया लुट् ॥ ९९ ॥ अधीति । सुरसारथिः ।  
 सुर एव हिरण्य एव सारथिः । सूतो यस्य सः । सः कुमारः । तत्र रथे । अधिरुह्य आरुह्य । विस्मितास्यैः ।  
 विस्मितमाश्चर्यपितमाश्चर्यं मुखं वेधा तैः । पुरलोकैश्च पुरजनैश्च । परैश्च शत्रुभिश्च दृश्यमानः प्रेक्ष्यमाणः ।  
 दृष्ट्वा प्रेक्षणे कर्मण्यनन्त-प्रत्ययः । शरसंहति शराणां बाणानां सहति समूहम् । विमुञ्चन् विसृजन् । शत्रोः  
 वैरिणः । अभिसैन्यं सेनाभिमुखं यथा तथा । उत्पपात उज्जगाम । पल्ल गतो लिट् ॥ १०० ॥ तमिति । क्षरा-  
 णुवद्दुरीक्ष्यं क्षराशुः सूर्यस्तद्दुरीक्ष्यं दुर्यणम् । तं कुमारम् । उदीक्ष्य विलोक्य । प्रभुलज्जाविषयीकृताः प्रभवा  
 महत्या लज्जया त्रयया वशीकृताः परवशीकृताः । शरशक्तिरथाक्लृप्तहस्ताः शराश्च वाक्चर्यश्च रथाङ्गानि  
 चक्राणि तानि च कुन्ताश्च बासाश्च तथोक्ताः, त एव हस्तेषु वेपा तैः तथोक्ताः । 'प्रहरणात् सत्तवी च'  
 इति पूर्वनिपातः । नभोगाः विद्याधराः । सह युगपत् । संभूय मिलित्वा । प्रहर्तुं सग्राह्यं कर्तुम् । डुडौकिरे  
 ययुः । डौकुङ् गतो लिट् । उपमा ॥ १०१ ॥ निखिलानिति । अप्रकम्पधैर्यम् अप्रकम्प निश्चलं धैर्यं यस्य  
 सः । अक्षत्रधिया अक्षत्र इति क्षत्रियो न भवतीति धिया बुद्ध्या । मम युगपत् । आगतान् आयातान् ।  
 निखिलानपि सकलानपि । तान् विद्याधरान् । अलक्ष्यमोक्षैः अलक्ष्योद्देश्यो मोक्षो मोक्षणं वेपा तैः ।

इस तरह जयवर्माके मनमें धैर्य उत्पन्न कर अजितसेनने हिरण्य नामके देवका स्मरण किया ।  
 अजितसेनकी स्मृति बड़ी प्रबल थी । यही कारण है जो ऐन मौकेपर, उसे संकटमें सहायताका  
 वचन देनेवाले हिरण्यका स्मरण हो आया । स्मरण करते ही वह दिव्य शस्त्रोंसे भरे हुए रथको  
 लेकर उसके सामने उपस्थित हुआ ॥ १०१ ॥ वह उसपर सवार हो गया और उसके आगे वह  
 देव, सारथी बनकर बैठ गया । पुरके निवासी और शत्रु, सभी उसे आश्चर्यसे देख रहे थे ।  
 फिर बाणोंकी वर्षा करता हुआ वह शत्रु-सेनाका सामना करनेके लिए चल पड़ा ॥ १०० ॥  
 राजकुमार प्रचण्ड मार्तण्डकी भाँति तेजस्वी था, नजर उठाकर उसकी ओर देखना कठिन था ।  
 उसे आते देखकर विरोधी विद्याधर बहुत भारी लज्जासे विवश हो उठे । फिर बाण, शक्ति,  
 चक्र और भाले अपने-अपने हाथोंमें लेकर वे सब मिलकर राजकुमारके ऊपर प्रहार करनेके  
 लिए आगे बढ़े ॥ १०१ ॥ इस तरह क्षत्रियधर्मको ताकमें रखकर अगणित सन्ध्यामें आये हुए  
 समस्त विद्याधरोंको देखकर राजकुमार तनिक भी नहीं घबराया । उसके बाणोंको—जिनका  
 छोड़ना अदृश्य था—देखकर सभी विरोधी विद्याधर संकोचमें पड़ गये । जैसे सूर्यकी किरणोंके  
 कारण कुपुद संकोचमें पड़ जाते हैं—संकुचित हो जाते हैं । जिस तरह सूर्य अपनी किरणोंसे

तमसाध्यमवेत्य मानुषास्त्रैरधलोक्ष्य स्वबलं विह्वल्यमानम् ।  
 मुमुक्षे धरणीध्वजेन कोपादरिमोहप्रवणेन<sup>१</sup> तामसास्त्रम् ॥ १०३ ॥  
 तिमिरप्रविधायि धावमानं स तदुद्गीक्ष्य तिरोहिताखिलाशम् ।  
 सुरदत्तविसर्जितेन सद्यस्तपनास्त्रेण निधोरयांभूव ॥ १०४ ॥  
 भुजगान्गरुडेन बह्निमध्वैः कुलिशेनाचलमुद्यमेन तन्द्राम् ।  
 पवनेन पयोधरान्स शशो रुरुधे विघ्नविनायकेन सिद्धिम् ॥ १०५ ॥  
 स ततो हतहेतिरुद्रकोपादसिमुद्यम्य समापतज्जवेन ।  
 विगततासुरकार्यमोघशक्त्या हृदि निर्भिद्य शशिप्रभाप्रियेण ॥ १०६ ॥

पृथक्कैः बाणैः । 'पृथक्कबाणविशिखा' इत्यमरः । सरोजबन्धुः दिवाकरः । करैः किरणैः । कुमुदानोव कुचल-  
 यानीव । समकोचयत्<sup>२</sup> संकोचयामास । कुच संकोचने<sup>३</sup> लङ् । उपप्रेक्षा ( उमा ) ॥ १०२ ॥ तमिति ।  
 मानुषास्त्रैः मानुर्वर्मेनुष्यसंबन्धैः सामाग्यैरित्यर्थः । अस्त्रैः बाणैः । तं कुमारम् । असाध्यं साधयितुमशक्यम् ।  
 अवेत्य ज्ञात्वा । ह्वयमानं हिस्यमानम् । स्वबलं च स्वसैन्यं च । अवलोक्ष्य बोध्य । अरिमोहप्रवणेन अरेः  
 शत्रोर्मोहस्य करणे प्रवणेन समर्थेनेत्यर्थः । धरणीध्वजेन धरणीध्वजखचराधियेन । कोपात् रोपात् । तामसास्त्रं  
 तमोबाणः । मुमुक्षे मुच्यते स्म । मुचलूज् मोक्षणे कर्मणि लिट् ॥ १०३ ॥ तिमिरिति । सः कुमारः ।  
 तिमिरप्रविधायि तिमिरमन्धकारं प्रविधत्ते तच्छीलं तमःप्रसारकमित्यर्थः । धावमानं गच्छत् । तिरोहिता-  
 खिलां तिरोहिता व्यबहिता अखिला निखिला आशा दिशी येन तत् । तत् अस्त्रम् । उद्गीक्ष्य विलोक्ष्य ।  
 सुरदत्तविसर्जितेन सुरेण हिरण्येन दत्तं तेन विसर्जितेन विमुक्तेन—पूर्वं हिरण्याद्यपदेन दत्तं पश्चादनेन  
 कुमारेण विसर्जितमित्यभिप्रायः । तपनास्त्रेण सूर्यप्रकाशबाणेन । सद्यः<sup>४</sup> तदैव । निवारयांभूव निवारयति  
 स्म । वृज् वरणे णिज्ज्ञास्लट् । जातिः ॥ १०४ ॥ भुजगानिति । सः कुमारः । भुजगान् भुजगबाणान् । गरु-  
 डेन गरुडबाणेन । बह्नि बह्निबाणम् । अध्वैः मेघबाणैः । अवलं पर्वतबाणम् । कुलिशेन वज्रबाणेन । तन्द्राम्  
 आलस्यबाणम् । उद्यमेन उद्योगबाणेन । पयोधरान् मेघबाणान् । पवनेन वायुबाणेन । सिद्धिं कार्यसिद्धिबाणम् ।  
 विघ्नविनायकेन विघ्नविनायकबाणेन । रुरुधे रणद्धि स्म । रघूज् आवरणे लिट् ॥ १०५ ॥ स इति । ततः  
 पश्चात् । हतहेतिः हता नष्टा हेतय आयुधानि यस्य सः । सः धरणीध्वजः । उप्रकोपात् तीक्ष्णरोधात् । अस्मि  
 चक्रायुधम् । उद्यम्य कोशादपनीय । जवेन शीघ्रम् । समापतन्<sup>५</sup> समापद्यमानः । शशिप्रभाप्रियेण शशिप्रभायाः

कुमुदोंको संकुचित कर देता है, उसी प्रकार उसने अपने बाणोंसे प्रतिद्वन्द्वियोंको संकुचित कर  
 दिया ॥ १०२ ॥ राजा धरणीध्वजने मानवोंके मामूली हथियारोंसे अजितसेनको अजेय जानकर  
 और अपनी सेनाको बुरी तरह मरते देखकर विरोधीके ऊपर मोहका चादर डालनेके लिए  
 क्रुद्ध होकर तामस ( अन्धकार फैलानेवाला ) अस्त्र छोड़ा ॥ १०३ ॥ राजकुमारने यह देखकर  
 कि अन्धकार फैलानेवाला और सभी दिशाओंको छिपा देनेवाला तामस अस्त्र सामने बड़े वेगसे  
 चला आ रहा है, हिरण्यदेवके द्वारा समर्पित तपनास्त्र-सूर्यास्त्रका प्रयोग किया । उसके प्रयोगसे  
 उसने शीघ्र ही तामसास्त्र ( तामस अस्त्र ) का निवारण कर दिया ॥ १०४ ॥ इसके पश्चात्  
 अजितसेनने धरणीध्वजके द्वारा प्रयुक्त भुजगास्त्रको अपने गरुडास्त्रसे, आग्नेय अस्त्रको मेघास्त्र-  
 से, पर्वतास्त्रको वज्रास्त्रसे, तन्द्रास्त्रको उद्यमास्त्रसे, मेघास्त्रको वायव्य अस्त्रसे और सिद्धि-  
 अस्त्र को विघ्नविनायक अस्त्रसे रोका ॥ १०५ ॥ इस तरह धरणीध्वजके सभी आयुध व्यर्थ कर  
 दिये गये । तब उसे बड़ा क्रोध आया, अतः वह म्यानसे तलवार निकालकर अजितसेनके ऊपर



निहतप्रमुखे ततोऽरिसैन्ये नगमुद्गीय गते समं धयोमिः ।  
 प्रविसर्ज्य<sup>१</sup> हिरण्यमक्षताङ्गः स पुरं पौरकृतोत्सवं विवेश ॥ १०७ ॥  
 अथ पुण्यदिने मुहूर्तमात्रान्मिलिताशेषपरिच्छदो महच्छब्दः ।  
 गुरुणा निरवर्तयद्विवाहं जयवर्मा<sup>२</sup> दुहितुर्महोत्सवेन ॥ १०८ ॥  
 विधिना परिणीय राजपुत्रीं युवराजः कतिचित्दिनान्युषित्वा ।  
 श्वशुरानुमतो जगाम शीघ्रं स्वपुरीमुत्सुकसर्वबन्धुलोकाम् ॥ १०९ ॥  
 अतिदूरतरोऽपि तेन सोऽप्या जनकाश्वासनलोलमानसेन ।  
 दिवसैरतिसंमितैर्लङ्घ्ये जनयत्युत्सुकतां न कस्य बन्धु ॥ ११० ॥

प्रियेण कान्तेन । अमोघशक्त्या अमोघया सकलया शक्त्या शक्त्यायुधेन । हृदि वसति । निर्भिद्य विदार्य ।  
 विशतासुः विशता अपगता असवः प्राणा यस्य सः । अकारि अक्रियत । हुकुज् करणे कर्मणि लुट् ॥ १०६ ॥  
 निहतोति<sup>३</sup> । ततः पश्चात् । निहतप्रमुखे निहितो हितितः प्रमुखो मुख्यनायको यस्य तस्मिन् । अरिसैन्ये अरेः  
 शत्रोः सैन्येऽनोके । धयोमिः पक्षिभिः । सार्कं समम् । उड्ढोय आकाशमध्यम् । नग विजयार्धपर्वतम् । गते सति  
 याते सति । हिरण्यं हिरण्याख्यदेवम् । प्रविसर्ज्य प्रहृत्य । अक्षताङ्गः असतमबाधितमङ्गं शरीरं यस्य सः । सः  
 अजितसेनः । पौरकृतोत्सवं पौरैः पुरजने कृत उत्सवो यस्य<sup>४</sup> तत् । पुर विपुलपुरम् । विवेश विशति स्म । विश  
 प्रवेशने लिट् ॥ १०७ ॥ अथेति । अथ पुरप्रवेशानन्तरम् । पुण्यदिने शुभदिवसे । मुहूर्तमात्रात् अल्पकाल-  
 मात्रात् । मिलिताशेषपरिच्छदः मिलितः संचितोऽशेषः समस्तः परिच्छदः परिकरो यस्य सः । महच्छब्दः गम्भीरः<sup>५</sup>  
 जयवर्मा जयवर्मभूपतिः । गुरुणा महता । महोत्सवेन महोत्साहेन । दुहितुः पुत्र्या । विवाहं पाणिग्रहम् ।  
 निरवर्तयत् अकरोत् ॥ १०८ ॥ विधिनिति । युवराजः अजितसेनः । राजपुत्रीं राजसुता शशिप्रभाम् । विधिना  
 विधानेन । परिणीय विवाहं कृत्वा । कतिचित् कियन्ति । दिनानि<sup>६</sup> दिवसपर्यन्तम् । उषित्वा स्थित्वा ।  
 श्वशुरानुमतः सन् श्वशुरस्य मातुलस्यानुमतः संमतः सन् । उत्सुकसर्वबन्धुलोकाम् उत्सुका<sup>७</sup> सर्वे बिभवे बन्धव-  
 एव लोका यस्यां ताम् । कस्यकम् ( ? ) । स्वपुरीं साकेतपुरीम् ( ? ) । शीघ्रं त्वरितम् । जगाम ययौ । गम्ल-  
 यतो लिट् ॥ १०९ ॥ अतीति । जनकाश्वासनलोलमानसेन जनकस्य पितुः आश्वासने विश्रमः<sup>८</sup> ( विश्रम्भ- )  
 कारणे लोल<sup>९</sup> लम्पटं मानसं यस्य तेन अजितसेनकुमारेण । सोऽप्या स मागं । अतिदूरतरोऽपि अत्यन्त विप्र-  
 कृष्टतरोऽपि । अतिसंमितीः परिमितीः । दिवसैः दिनेः । ललङ्घ्ये गम्यते स्म । बन्धुः बान्धवः । कस्य, उत्सुकताम्

तोत्र वेगसे झण्टा । पर शशिप्रभाके प्रिय ( अजितसेन ) ने सोनेपर अमोघ शक्तिका प्रहार करके उसकी जीवनलीला समाप्त कर दो ॥ १०६ ॥ इसके पश्चात् स्वामीके दिवंगत होते ही उसकी सेना पक्षियोंके साथ उड़कर विजयार्ध पर्वतको ओर चली गयी और राजकुमार अजितसेनने हिरण्यको बिदाई देकर सकुशल विपुलपुरमें—जहाँ पुरवासी उत्सव मना रहे थे—प्रवेश किया ॥ १०७ ॥ फिर उदार हृदय राजा जयवर्माने शीघ्र ही सब प्रकारकी समायी एकत्रित करके महान् उत्सव और उत्साहके साथ शुभ दिनमें अपनी कन्याका विवाह कर दिया ॥ १०८ ॥ राजकुमारी शशिप्रभासे विधिपूर्वक विवाह करके युवराज अजितसेन कुछ दिन ससुरालमें रहा । फिर श्वशुरसे अनुमति लेकर उसने शीघ्र ही अपनी नगरीको प्रस्थान कर दिया, जहाँपर सभी बन्धु-बान्धव उससे मिलनेके लिए लालायित थे ॥ १०९ ॥ अपने पिताको आश्वासन देनेके लिए उसका मन उतावला हो रहा था, अतः बहुत लम्बे रास्तेको उसने बहुत ही थोड़े दिनोंमें

१. न प्रविसृज्य । २. न जयवर्मा । ३. स स विहितेति । ४. = तस्मिन् । ५. = महाशयः । 'महच्छब्दु महाशयः' । ६. आ गम्भीरबुद्धिः । ७. = गुरुजनेन समम् । ८. = महामहेन । ९. = उड्ढाह । १०. = अहानि । ११. स विकर्म । १२. = सत्पणम् ।

भूत्वा तं सकलत्रमुद्धूतरिषु भूत्या महत्यागतं  
 विभ्राणः प्रमदोदयान्निजतनुं पुण्यत्कदम्बाकृतिम् ।  
 निर्गत्यानुगतः पिता परिजनैः पौरैश्च जातोत्सवैः  
 रानन्दाश्चरन्तिक्षणयुगः प्रावेशयत्पत्तनम् ॥ १११ ॥

इति श्रीवीरनन्दिनकृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

■

उद्युक्तताम् । [ न ] जनयति [ न ] उत्सादयति, अपि तु जनयत्येव । जनैः प्रादुर्भावे लट् । अर्थात्परिजनाः ॥ ११० ॥ श्रुत्वेति । उद्धूतपुत्रम् उद्धूतना रिपवः शत्रवो येन तम् । सकलत्रं वनितासहितम् । महत्या भूत्या विभूत्या । आगतम् आयातम् । तं कुमारम् । भूत्वा आकर्ण्य । प्रमदोदरात् प्रमदस्य संतोषस्योदयाद्दुग्ध-  
 मान् । पुण्यत्कदम्बाकृतिः पुण्यतो विकसितः कदम्बस्य नीपवृक्षस्याकृतिर्यस्यास्ताम् । निजतनुं स्वशरीरम् ।  
 विभ्राणः परमाणः । [ पिता जनकः ] । जातोत्सवैः उत्पन्नोत्सवयुक्तैः । परिजनैः सेवकजनैः । पौरैः पुरजनेः ।  
 अनुगतः पश्चादागतः । निर्गत्य निर्याय । आनन्दाश्चरन्तिक्षणयुगः आनन्दाज्जातेनाश्रुणा नेत्रोदकेन  
 तरङ्गितममिनाक्षणयोर्नयनयोर्नेत्रयोर्द्युग युगलं यस्य स, सन् । पत्तनं पुरम् । प्रावेशयत् प्रवेशयति स्म ।  
 विशः प्रवेशने णिजन्ताल्लट् ॥ १११ ॥

इति वीरनन्दिनकृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च  
 विद्वज्जमनोबलमाण्ये षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

■

समाप्त कर दिया । बन्धुजन किसे उत्सुक नहीं बना देते ? ॥ ११० ॥ अजितसेनके पिताने जब  
 यह समाचार सुने कि अजितसेनने संग्राममें शत्रुओंके छक्के छुड़ा दिये हैं ; उसका विवाह हो गया  
 है ; वह नगरके बाहर आ गया है ; अपने साथ बहुत अधिक सम्पत्ति भी लाया है; तब उसे  
 बड़ा हर्ष हुआ, और हृषसे उसके शरीरमें रोमांच हा आये, जिससे वह विकसित कदम्बकी भाँति  
 हो गया । वह अपने परिजन और पुरजनोंके—जिन्होंने खूब उत्सव मनाया है—साथ अपने नगरके  
 बाहर पहुँचा । वहाँ अपने पुत्र अजितसेनको देखकर उसे बहुत आनन्द हुआ, और आनन्दसे  
 उसको आँवोंमें अधुधागा प्रवाहित होने लगी । उसने उसे नगरमें प्रवेश कराया ॥ १११ ॥

इयं प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयांक चन्द्रप्रमचरित महाकाव्यमें  
 छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

■

१. स पुण्यत् । २. = सर्वस्यार्थः । ३. = अनुसृतः ।

## [ ७. सप्तमः सर्गः ]

पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणः पाकशासनसमानतेजसः ।

चक्ररत्नमथ तस्य क्षण्डितारातिचक्रमुदपादि चक्रिणः ॥ १ ॥

रश्मिजालजटिलीकृताश्लक्षयोम दुःसहनिरीक्ष्यविग्रहम् ।

यद्दृश्यभाष्यत विलोक्य मानवैर्भानुविम्बमिव सेवयागतम् ॥ २ ॥

आसितारिरुन्मूर्जिज्युतिद्योतिनद्युधिवरो महानसिः ।

इदयजिह्व इव तेन चक्रिणं क्षुब्धना स्त्रियमसेवतान्तकः ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> प्रक्षीणबातिस(क)बनुष्टयलब्धबोधदुर्गोर्ध्वहीरुपसदनन्तचतुष्टयार्हः ।

आनञ्जमव्यञ्जनतामुल्लदानशीलं पायादनन्तजिनपो जगतीमनन्ताम् ॥

पूर्वति । अथ पुनः प्रवेशानन्तरम् । पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणः पूर्वस्मिन् जन्मनि कृतं विहितं पुण्यकर्म येन तस्य । पाकशासनसमानतेजसः पाकशासनस्य देवैर्द्रस्य समानं संकाश तेजः प्रतापो यस्य तस्य । अजिन-  
सेनस्य, चक्रिणः सार्वभौमस्य । क्षण्डितारातिचक्रं क्षण्डित विभिन्नमरानोना शब्दणा चक्रं यस्य तत् । चक्ररत्नं  
चक्रमेव रत्नं तथोक्तम् । रूपकम् । उदपादि उदपद्यत । यदि गतो लुङ् ॥१॥ रश्मीति । रश्मिजालजटिली-  
कृताश्लक्षयोम रश्मीनां किरणानां आलेन समूहेन जटिलीकृतं वेणीकृतमश्लिलं व्योमाकाश यस्य ( येन ) तत् ।  
दुःसहदुरीक्षं (क्षय-) विग्रहं दुःसहं । सोढुपशब्दो दुरोक्ष (क्षयः) द्रष्टुमशक्यो विग्रहो गात्र यस्य तत् । यत्  
चक्रम् । मानवैः मनुष्यैः । विलोक्य वीक्ष्य । सेवया वरिवस्यया । 'वरिवस्यया तु शृङ्गूपा सेवाभक्तिरुपासना' ।  
आगतम् आयातम् । भानुविम्बमिव भानोः सूर्यस्य बिम्बमिव मण्डलमिव । व्यभाष्यत निरबोयत । भू-  
क्षुपीवक्ष्यते लङ् । उत्प्रेक्षा ॥२॥ आसितेति । त्रामिताः त्रामिता अरयो येन सः । निज्युतिद्योतिनद्युधिवरः  
निजस्य सूर्या कात्या द्योतिनं प्रकाशितं दिव आकाशस्य विवरं मध्यं येन तत् (यः) । महान् अस्मिः खड्ग-  
रत्नम् । उदभूत् उदेति स्म । भू सत्तायां लुङ् । तेन छद्यना खड्गव्याजेन । दृश्यजिह्वं दृश्या जिह्वा यस्य  
सः । अन्तक इव यम इव । इदयं, चक्रिणं चक्रवर्तिनम् । असेवत असेवित् । पेङ् सेवने लङ् । उत्प्रेक्षा ॥३॥

इसके पश्चात् पूर्व जन्ममे पुण्य कमानेवाले और इन्द्रके समान तेजस्वी चक्रवर्ती अजित-  
सेनके यहाँ शत्रुओंका दमन करनेवाला चक्ररत्न उत्पन्न हुआ ॥१॥ उसकी किरणोंका जाल  
पूरे आकाशमें फैला हुआ था । तीव्र तेजसे युक्त होनेसे वह दर्शकोंके नेत्रोंको असह्य था, और  
इसीलिए लोगोंको उसकी ओर देखना कठिन था । उसे देखकर लोग समझते थे कि राज-  
सेवाके निमित्तसे जैसे सूर्यमण्डल आ गया हो ॥२॥ उसके यहाँ खड्गरत्न उत्पन्न हुआ । उसे  
देखकर अजितसेनके शत्रु भयभीत हो गये । उसकी कान्तिसे आकाशका मध्यभाग प्रकाशित हो  
उठा । उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वह अदृश्य रूपमें चक्रवर्तीकी सेवा करनेवाले

१. आ प्रती पद्यमिदं नोपकल्पते । २=येन । ३. एष टीकानुगतः पठः, प्रतिपु तु 'निरीक्ष्य' इत्येव  
पाठः समुपलभ्यते । ४. आ विरवीभ्यत । ५. आ स भा । ६. आ स व्यभाषेन । ७. स य पेङ् ।

वज्रपांसुजलधर्मवारणं जातमिन्दुहवि चर्मवारणम् ।  
 व्यञ्जितुं कमलया स्वसेवनं पाणिपद्ममिष संप्रदर्शितम् ॥ ४ ॥  
 सिन्धुतोयतरणादिषु क्रियासुपयोगगमेन गर्वितम् ।  
 पुण्यवैभववशीकृतं विभोश्चर्मरत्नमगमद्विधेयताम् ॥ ५ ॥  
 ज्योतिरुज्ज्वलमनल्पमण्डलं यद्गहराजद्वनी प्रसारितम् ।  
 चक्रभृग्महिमनिर्जितं नभः संप्रकुच्य तमिवाश्रयं गतम् ॥ ६ ॥  
 वृत्तिमद्रिकुलिशादिभेदनप्रायकर्मसु बृहत्पटोयसीम् ।  
 दण्डरत्नमभवद्भवान्तरोपाजितोर्जितशुभाभ्युदीरितम् ॥ ७ ॥

वज्रेति । वज्रपांसुजलधर्मवारणं वज्रस्याशनेः <sup>१</sup>पासोर्ध्व्या जलस्य तलिलस्य धर्मस्य चातपस्य च वारणं निवारणम् । इन्दुहवि इन्दोश्चन्द्रस्येव हविः कान्तिर्यस्य तत् । धर्मवारणं छत्ररत्नम् । कमलया लक्ष्मीदेव्या । स्वसेवनं निजसेवनम् । व्यञ्जितुं प्रकाशितुम् । पाणिपद्मं पाणिरेव पद्मम् । रूपकम् । सं [प्र] दर्शितमिष संविलोकितमिष । जातम् उत्पन्नम् । उपप्रेक्षा ॥४॥ सिन्धुवति । सिन्धुतोयतरणादिषु सिन्धोः समुद्रस्य तोयस्य जलस्य तरणादिषु प्लवनादिषु । क्रियासु कार्येषु । उपयोगगमनेन उपयोगस्य प्रयोजनस्य गमनेन प्राप्या । गतिनम् अहंशरितम् । पुण्यवैभववशीकृतं पुण्यस्य मुक्तस्य वैभवेन सामर्थ्येन वशीकृतमपीनकृतम् । चर्मरत्नं चर्मरत्नम् । विभोः चक्रिणः । विधेयता वशास्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्न् गतो लुङ् । 'सतिशक्तिः—' इत्यदिना अट्-प्रत्ययः ॥५॥ ज्योतिरिति । ज्योतिरुज्ज्वलं ज्योतिषा कान्त्या उज्ज्वलं प्रज्वलम् । पक्षे ज्योतिर्मि पञ्चविधज्योतिर्मिरुज्ज्वलम् । अनल्पमण्डलम् अनल्पं बहुलं मण्डलं प्रदेशो यस्य तत्, पक्षे अनल्पमण्डलं विस्तृतविस्त्वम् । अवनी भूम्याम् । प्रसारितं मधुतारितं (?) विस्तृतं वा यत्सूर्यमण्डलम् । चक्रभृग्महिमनिर्जितं चक्रभृत्चक्रवर्तिनो महिम्ना निर्जितं विजितम् । नभः गगनम् । सं-प्रकुच्य सकोचनं कृत्वा । त चक्रिणम् । आश्रयम् आशरणम् । गतमिष यातमिष । वदराज् व्यभासत । राज्ञ् दीप्तो लुङ् । हेलोपमा ॥६॥ वृत्तिमिति । अद्रिकुलिशादिभेदनप्रायकर्मसु अद्रिकुलिशादीनां पर्वतवशादीनां भेदेनैव प्रायकर्मसु बहुक्रियासु । 'प्रायो भूयन्तगमने' इत्यमरपाठाददन्तत्वं प्रायशब्दस्य । पटोयसीं प्रकुट्ट-पटम् । वृत्तिं वर्तनाम् । दण्डत्वरत्नम् । भवान्तरोपाजितशुभाभ्युदीरितं भवान्तरे जन्मान्तरे उपाजितेन शुभेन

यमराजको जीभ दृष्टिगोचर हो रही हो ॥३॥ उसके यहाँ छत्ररत्न उत्पन्न हुआ । वह वज्र, धूलि, जल और धूपको रोकनेवाला और चन्द्रमण्डलके समान सफेद था । उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्ती अजितसेनकी सेवामें उपस्थित होकर स्वयंकी सेवा व्यक्त करनेके लिए लक्ष्मीके द्वारा प्रदर्शित किया गया, उसका कर-कमल हो ॥४॥ उसके यहाँ चर्म-रत्न उत्पन्न हुआ । यो वह समुद्रके जलमें तैरने आदि अनेक कार्योंमें उपयोगी होनेसे सगर्व-सा था किन्तु चक्रवर्तीके पुण्यके वैभवसे प्रभावित होकर उसकी इच्छाके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला हो गया ॥५॥ वह चर्मरत्न ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्ती अजितसेनकी महिमासे पराजित होकर जगमगाती ज्योतिसे उज्ज्वल और विशाल मण्डलवाला आकाश संकुचित होकर उसकी शरण पाकर, उसके घर, पृथ्वीमें फैला हुआ पड़ा हो ॥६॥ चक्रवर्तीके जन्मान्तरोमें संचित शुभ कामोंको प्रेरणासे उसके यहाँ दण्डरत्न उत्पन्न हुआ, जो पर्वत और वज्र आदि

१. इ मण्डलं । २. वा स पाणुं । ३. वा स पांशो । ४ = तोये जले । ५. 'मपीनोक्तम् । ६. वा स गम् गतो । ७. = विस्तारितम् । ८. वा स 'प्रसारितं मधुतारितम्' इति नोपलभ्यते । ९. = प्रकुर्वन् पट्वीम् ।

यद्वराज निजभासुरप्रभाभासिताखिलनभोदिगन्तरम् ।  
 तद्गुणाधिगतवेषयोश्च्युतं वासवस्य कुलिशं करादिषु ॥ ८ ॥  
 भास्करादिगगोचरीभवद्भवान्तपाटनविधौ पटोयसौ ।  
 किकरत्वमभजत्समुज्ज्वला तारकाधिपकलेष काकिणी ॥ ९ ॥  
 प्रोद्भूव नवमेघमेवकप्रान्तवर्तिमिरक्षतिभ्रमः ।  
 रत्नदर्पण इव श्रियः स्फुरद्दीपभासुराशिखः शिखामणिः ॥ १० ॥  
 स्पन्दमानमद्विर्भरश्चलच्छास्त्रचामरचिराजितो गजः ।  
 तद्गुणस्त्वगुणनिर्जितश्चलच्छास्त्रचामरचिराजितो गजः ॥ ११ ॥

शुभनामकर्मणाभ्युदीरितं प्रेरितम् । दण्डरत्नम्, अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लट् ॥७॥ चदिति । यत् दण्ड-  
 रत्नम् । निजभासुरप्रभाभासितनभोदिगन्तरं निजस्य स्वस्य भासुराणां देदीप्यमानानां प्रभाणां कान्तोना  
 आरेण समूहेन भासितं प्रकाशितं नभसो गगनस्य दिशा ककुभामन्तरं मध्यं यस्य (येन) तत् । तद्गुणाधिगत-  
 वेषयोः तस्माद्विजितसेनाज्जातभयाद्गन्तव्यं प्राप्तो वेषयुः कम्पन यस्य (येन) तत्स्य । वासवस्य देवदेवस्य ।  
 करात् हस्तात् । च्युतं पतितम् । कुलिशनिव वज्रमिव । राराज राजति स्म । राज्ञः दीप्ती लिट् ।  
 सत्प्रेक्षा ॥८॥ भास्करेति । भास्करादिगगोचरीभवद्भवान्तपाटनविधौ भास्करस्य सूर्यस्याध्वर्यवोऽधिककाते-  
 रगोचरीभवस्याविषयभूतस्य ध्वान्तस्य तमसः पाटनस्य भेदनस्य विधौ विधाने । पटोयसौ प्रकृष्टपटौ ।  
 तारकाधिपकलेव तारकाधिपस्य चन्द्रस्य कलेव पौंड्रशमाग इव । समुज्ज्वला प्रज्वलत् । काकिणी काकिणी-  
 नामरत्नम् । किकरत्व भूत्यत्वम् । अभजत् आश्रयन् । उपमा ॥९॥ प्रोद्भूवेति । नवमेघमेवकप्रान्तवर्ति-  
 तिमिरक्षतिभ्रमः नवमेघ इव वर्षाकालमेव इव मेवकस्य नोलवर्णस्य प्रान्ते मर्यादा वर्तिना विद्यमानस्य  
 तिमिरस्य तमसः सती विनाशने क्षमः समर्थः । श्रिय आदेश्याः । रत्नदर्पण इव रत्नमुकुट इव । स्फुरद्दीप-  
 भासुराशिखः स्फुरतः प्रज्वलतो दीपस्य प्रदीपस्य (इव) भासुरा दीदीप्यमाना शिखा ज्वाला यस्य स । शिखा-  
 मणिः चूडामणिः । प्रोद्भूव उत्पद्यते स्म । भू सत्ताया लिट् ॥१०॥ स्पन्देति । स्पन्दमानमद्विर्भरं स्पन्दमानः  
 लवन् मदस्य मदजलस्य निर्भरः प्रवहो यस्य स । चलच्छास्त्रचामरविजित चलच्छास्त्रः कम्पमानंदवाहामर्मेनो-  
 हरश्चामरश्चामरकौटूः । विराजितो विभामित । गजः गजस्त्वम् । तद्गुणस्त्वगुणनिर्जितः तस्याजितसेनस्य  
 गुणस्त्वमेव गुणस्तेन निर्जितो विजितः । गैलराट् महामन्त्रवत् । छलन् (गजरत्न-) व्याज्रादिव । उपान्तित

भेदन-जैसे बहुत-से कार्योमें अत्यन्त पटु था । ॥७॥ दण्डरत्नने अपनी जगमगाती प्रभासे पूरे  
 आकाश और सभी दिशाओंके अन्तरालको प्रकाशित कर दिया था । वह ऐसा जान पड़ता था  
 मानो चक्रवर्तीके भयसे कांपनेवाले इन्द्रके हाथमें गिरा हुआ वज्र हो ॥८॥ सूर्य आदिकी प्रभा  
 जहाँ नहीं पहुँच सकती वहाँ अन्धकारको हटानेमें समर्थ, उज्ज्वल और दमोलिए चन्द्रकला  
 सरोखी काकणी ( काकणीरत्न ) चक्रवर्तीकी सेवामें उपस्थित हुई ॥९॥ चक्रवर्तीके यहाँ चूडा-  
 मणिरत्न उत्पन्न हुआ, जो अपने आस-पासमें फैले हुए, वर्षाकालीन मेघकी भाँति काले और  
 गाढ़ अन्धकार को मिटानेमें समर्थ था, जिसकी आभा जलते हुए दीपककी लौ के समान थी  
 और जो ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीका रत्नदर्पण हो ॥१०॥ अजितसेनकी सेवामें एक  
 गजरत्न उपस्थित हुआ । उसका मदजलका प्रवाह वह रहा था और वह चलते हुए चामरों  
 ( चैवरों ) से सुशोभित था । ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्तीके गौरवमें पराजित हुआ  
 पर्वतराज मुमैर अथवा हिमालय उसकी सेवामें उपस्थित हुआ हो, जिसके ऊपर झरने बह रहे

१ एष पाठश्रीकाश्रयः, प्रतिपु तु 'दिगम्' इत्येव दृश्यते । २ = प्रोज्ज्वला । ३ = बालव्यवर्तनः ।  
 'चामरं बालव्यवर्तन रोमगुच्छः प्रकीर्णकम्' इति हैमः ।

अस्खलद्गतिं बृहद्वलान्वितं वाजिरत्नमसद्वन्मनोजवम् ।

तन्निभेन चिद्वधे समीपगस्तस्य बाधुरिव पर्युपासनम् ॥ १२ ॥

शक्रदुर्धिषहशक्तिभीषणस्तेजसा विजिततारकाधिपः ।

शौर्यभूररिभियामभूरभूत्कार्तिकेय इव वाहिनीपतिः ॥ १३ ॥

देवमानवशुभेतरग्रहप्रापितापदग्रहस्तनक्षमः ।

देहबद्ध इव पुण्यसंचयः संबभूव भवने पुरोहितः ॥ १४ ॥

सेवाम् । ययो इयाय । या प्रापणे लिट् । उपप्रेक्षा ॥ ११ ॥ अस्खलदिति । अस्खलद्गतिं स्खलनरहिता गति-  
गमनं यस्य तत् । बृहद्वलान्वितं बृहता महता बलेन शक्त्यान्वितं युक्तम् । मनोजवं मन इव जवो वेगो  
यस्य तत् । वाजिरत्नम् अश्वरत्नम् । अमदत् प्रसन्नमभवत् । पदलं विचारणगत्यवसादनेषु लुब्धं । ॐ सति-  
शास्ति— इत्यादिना अङ्-प्रत्ययः । तन्निभेन तस्याश्वरत्नस्य निभेन व्याजेन । तस्य नृपस्य । समीपगः  
समीपं गच्छति स्म तथोक्तं, निकटमागत इत्यर्थः । बाधुरिव वात इव । पर्युपासनं सेवाम् । चिद्वधे चकार ।  
दुष्पात्र धारणे च लिट्<sup>१</sup> । उपप्रेक्षा ॥ १२ ॥ शक्रेति । शक्रदुर्धिषहशक्तिभीषण-  
शक्त्या सामर्थ्येन भीषणो भयंकरः, पक्षे शक्तिर्नामायुधत्रिशेषस्तथा भयंकरः । तेजसा कान्त्या, पक्षे प्रतापेन ।  
विजिततारकाधिप-विजिनो निजितस्तारकाधिपद्वन्द्वो यस्य (येन) स, पक्षे पराजिततारकासुरः । 'बाहुले-  
यस्तारकजित्' इत्यभिधानात् । शौर्यभू शौर्यस्य प्रतापस्य भू स्थानम् । अरिभियाम् अरिभिः कृतानां मिथः  
भयानाम् । अभूः अस्थानम् । कार्तिकेय इव यष्मत् इव । वाहिनीपतिः सेनापतिरत्नम् । अभूत् अभवत् ।  
भू सत्ताया लुब्धं । उपमा ॥ १३ ॥ देवेति । देवमानवशुभेतरग्रहप्रापितापदग्रहस्तनक्षम-  
शुभस्य (शुभात्) इतरेऽनुभास्त एव ग्रहाः शनेऽश्वराद्यशुभग्रहा इत्यर्थः । अशुभग्रहैश्च प्रापिता कृता सा  
चासावापन्नं तथोक्ता तस्या अपदग्रहस्तने विनाशने क्षमः समर्थः । देहबद्ध-सरीरसंबद्धः । पुण्यसंचय इव  
पुण्यानां शुभकर्मणा संचय समूह इव (समूह, स इव) । पुरोहितः पुरोहितरत्नम् । भवने राजमन्दिरे ।

हो और जो चमरमुगोके बालोसे अलंकृत हो ॥ ११ ॥ चक्रवर्तीको अश्वरत्नकी प्राप्ति हुई ।  
उसकी गति अस्खलित थी; उमका वेग वायुके समान था और वह बड़ा बलवान् था । वह  
ऐसा जान पड़ता था मानो अजितसेनकी सेवामें उस (अश्व) के बहाने वायु उपस्थित हो  
गया हो ॥ १२ ॥ अजितसेनका सेनापति कार्तिकेयके समान था । कार्तिकेय अपने पास शक्ति  
नामक आयुध रखते थे । वह आयुध शत्रुओंके लिए असह्य था । फलतः शत्रु लोगोंका कार्ति-  
केय भीषण थे । कार्तिकेयने अपने तेजसे तारक नामके अमुरको जीत लिया था । कार्तिकेय  
पराक्रमके निवास स्थान थे, सर्वथा निर्भय थे और थे सेनापति । इसी तरह अजितसेनका सेना-  
पति सामर्थ्यसे सम्पन्न था, शत्रु उसके सामर्थ्यको असह्य जानकर उससे डरते थे । उसने अपनी  
कान्तिसे चन्द्रमाको जीत लिया था; वह पराक्रमी था और था निर्भय ॥ १३ ॥ चक्रवर्तीके यहाँ  
पुरोहितरत्न उत्पन्न हुआ । वह देव, मानव और अशुभ ग्रहोंके निमित्तसे होनेवाली विपदाओं-  
को दूर करनेमें समर्थ था, और वह ऐसा जान पड़ता था मानो मूर्तिमान् पुण्यराशि हो—पुण्य-

१. अ क ख ग घ ङ 'मसिधम्मनो' । २. अ 'योजनानि य उदित्य गच्छति द्वादश क्षणत ईदृशो  
धनुः । शत्रुतारककृतध्वजः क्षमी कार्तिकेय इव वाहिनीपतिः ।' एष त्रयोदशः श्लोकः । ३. आ प्रतापेन  
स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो दृश्यते । ४. एष माण्ड्योकाकुरभिमतः, प्रतिपु तु शत्रु इत्येवकोषयते ।

तत्क्षणाभिलषितामराधिपावासकल्पसदनादिसाधकः ।  
 ब्रह्मणा सकलशिल्पकर्मणा संनिभः स्थपतिरप्यजायत ॥ १५ ॥  
 'चित्तपट्टलिखितव्ययागमो नित्यकृत्यगृहकार्यकोविदः ।  
 लोकवृत्तचिदुदाधीरधीसंगतो गृहपतिः समुद्ययो ॥ १६ ॥  
 'प्रासदञ्जिति शशिप्रभान्विता रत्नशब्दगदिताश्चतुर्दश ।  
 तस्य भाग्यभवनस्य भूपतेर्दुर्लभं किमथवा शुभोदये ॥ १७ ॥  
 नित्यसंनिहितदेहदेवतादत्तचिन्तितविचित्रवस्तवः ।  
 रत्नवत् निधयः सुकर्मणस्तस्य सन्नि नवोपतस्थिरे ॥ १८ ॥

संभूय संजायते स्म । भू सत्तायां िट् । उपमा ॥ १४ ॥ तत्क्षणेति । तत्क्षणाभिलषितामराधिपावासकल्प-  
 सवनादिसाधकः तत्क्षणेन क्षणमात्रेणामिलषिताना बाञ्छितानाममराधिरस्य देवैर्गृहस्थावासस्य विमानस्य  
 कल्पानां सदृशानां सदनादीनां मन्दिरादीनां साधको निर्माणकः । शिल्पकर्मचणविद्वक्र्मणां शिल्पकर्मणां  
 नानाविधशिल्पक्रियया प्रतीतः शिल्पकर्मचणः, 'तेन वित्ते चूडचूचणो' इति प्रतीताथे चण-प्रत्ययः, स बासी  
 विद्वक्र्मो ब्रह्मा तेन । संनिभः समानः । ब्रह्मणा देववर्धना वा समानः-इत्यर्थः । स्थपतिः तक्षकरत्नमपि ।  
 जायायत समभवत् । जनैश् प्रादुर्भावे लट् । उपमा ॥ १५ ॥ चित्तेति । चित्तपट्टलिखितव्ययागमः चित्तमेव मन  
 एव पट्टो लेखनपत्रं तत्र लिखितो व्ययागमो येन सः । रूपकम् । नित्यकृत्यगृहकार्यकोविद नित्यमनवरतं कृत्ये  
 विधानुं योग्यं कार्यं क्रियायां कोविदो निपुणः । लोकवृत्तवित् लोकस्य वृत्त वास्तां वित् जानन् । उदारधीर-  
 धीसंगतः उदारया गम्भीरया धीरया धीररूपया धिया संगत सयुतः । गृहपतिः गृहपतिरत्नम् । समुद्ययो  
 समुद्भवः । या प्रापणे लिट् ॥ १६ ॥ प्रासदञ्जिति । भाग्यभवनस्य भाग्यस्य भवनस्य स्थानस्य । तस्य  
 भूपतेः अजितसेनस्य । शशिप्रभान्विता, शशिप्रभया शशिप्रभादेव्या अन्विता युक्ता । रत्नशब्दगदिताः रत्न-  
 शब्देन गदिताः श्रोक्ताः । चतुर्दश चतुर्दशप्रमिताः । प्रासदन् प्रकृता अवयवन् । अववा तथा हि । शुभोदये  
 पुण्योदये । दुर्लभं प्राप्नुवत्यर्थं किम् । अर्थांतरस्यास ॥ १७ ॥ नित्येति । नित्यसंनिहितदेहदेवतादत्तचिन्तित-  
 विचित्रवस्तवः नित्यमनवरतं संनिहितानि देहेन युक्ताभिर्देवताभिर्देवतानि चिन्तितानि स्मृतानि विचित्राणि  
 नानाविधानि वस्तुनि येषां ते । नव नवसंख्या । निधयः कालादिनिधयः । रत्नवत् रत्नानीव । मुकर्मणः  
 पुण्यवतः । तस्य अजितसेनस्य । सन्नि मन्दिरं । उपतस्थिरे प्रापु । छा गतिनिवृत्तौ लिट् । उपमा ॥ १८ ॥

राशिकी मूर्ति हो ॥ १४ ॥ उसके यहाँ शिल्पिरत्न उत्पन्न हुआ । वह शीघ्र ही इच्छित, इन्द्रके  
 निवास मन्दिर सरीखे महलोके निर्माणमे चतुर था, और इसीलिए वह सारी शिल्पकारोको  
 जाननेवाले ब्रह्माके समान था । ॥ १५ ॥ उसके यहाँ गृहपतिरत्न उत्पन्न हुआ । वह अपने  
 चित्तरूपी लकड़ीके पट्टियेपर आय और व्ययका हिसाब लिखता रहता था—वहीमें लिखे बिना  
 ही वह सारे आय और व्ययके हिसाबको याद रखता था । वह प्रतिदिन करने योग्य घरके  
 कार्योंमे प्रवीण था, लोकव्यवहारका जानकार था और उसको बुद्धि उदारता और धीरतासे  
 युक्त थी ॥ १६ ॥ इस प्रकार उस भाग्यशाली चक्रवर्तीको शशिप्रभा सहित चौदह रत्न प्राप्त हुए ।  
 शुभोदय होनेपर क्या दुर्लभ है ? ॥ १७ ॥ पुण्यात्मा चक्रवर्ती अजितसेनके घर चौदह रत्नोंकी  
 तरह नौ निधियां भी उपस्थित हुईं । वे निधियां अपने पास रक्षाके निमित्तसे रहनेवाले सदेह

१. स चित्तपट्ट । २. क ख ग घ म प्रासिदञ्जिति । ३. = निर्माता । ४. सर्वांशु मूलप्रतिषु 'ब्रह्मणा  
 सकलशिल्पकर्मणा' इत्येव पाठः समुत्पन्नः । ५. = लोकवृत्तं वेति आनादिति लोकवृत्तवित् ।

तेषु माषवणकातसीतिलबीहिशालियवमुद्गकोद्रवान् ।

पाण्डुकः सततमेवमादिकान्शुम्भयामयहरान्वयशिष्यणत् ॥ १६ ॥

कान्तकुण्डलमनोजमुद्रिकातारहारमणिमेखलादिकम् ।

रत्नरश्मिरुचिरं विभूषणं चित्तवाञ्छितमवक्ष्ये पितृलः ॥ २० ॥

वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भवं चित्तहारि सकलतुंगोचरम् ।

पुष्पपल्लवमथोत्तमं फलं तस्य कालनिधिरीप्सितं ददौ ॥ २१ ॥

रन्ध्रनटनिबिडादिभेदतो मिथमानवपुष्टमोत्तमम् ।

वाद्यवस्तु सुखकारि कर्णयोस्तस्य शङ्खनिधिना व्यतीर्यत ॥ २२ ॥

तेष्विति । तेषु निधिषु । पाण्डुकः<sup>१</sup> पाण्डुकव्यनिधिः । शुम्भयामयहरान् शुम्भया एवामया व्याधयस्तान् हरन्तीति शुम्भयामयहरास्तान् । माषवणकातसीतिलबीहिशालियवमुद्गकोद्रवान् माषव, वणको हरिमन्धकः स च, अतसी उमा सा च, तिलव, बीहिव, शालिव, यवव, मुद्गव, कोद्रवव, तथोक्तास्तान् । एवमादिकान् एवं प्रमुखां धान्यविशेषान् । सततम् अन्वयणत् । व्यशिष्यणत् अददात् । अण दाने लङ् । ॥१६॥ कान्तेति । पिङ्गकः<sup>२</sup> पिङ्गकव्यनिधिः । रत्नरश्मिरुचिरं रत्नानां रश्मिभिः कान्तिभिरुचिरं मनोहरम् । चित्तवाञ्छितं चित्तेन मनसा वाञ्छितमभिलषितम् । कान्तकुण्डलमनोजमुद्रिकातारहारमणिमेखलादिकं कान्ते च ते कुण्डले च तथोक्ते, मनोज्ञा चासौ मुद्रिका च तथोक्ता, तारो निर्मलः स चासौ हारव च तथोक्तः, मणिभिर्निर्मिता मेखला काञ्चोदाम, सा च मणिमेखला च तथोक्ता—कान्तकुण्डले च मनोज्ञमुद्रिका च तारहारव च मणिमेखला च तथोक्ताः आदयो यस्य<sup>३</sup> तत् । विभूषणम् आभरणम् । अदत्त अददात्<sup>४</sup> । दृढाञ् दाने लङ् । ॥२०॥ वृक्षेति । अथ पुनः । कालनिधिः कालाव्यनिधिः<sup>५</sup> । तस्य चक्रिणः । ईप्सितं वाञ्छितम् । वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भवं वृक्षवृत्तादिगुल्मो वृत्तादिर्लतिका द्राक्षादिः—वृक्षवृत्तगुल्मवृत्तलतिका च तथोक्ताः, तासु समुद्भवं निष्पन्नम् । चित्तहारि मनोहारि । सकलतुंगोचरं सकला अतएव एव गोचरो विषयो यस्य तत् । पुष्पपल्लवं पुष्पं च पल्लवव च तथोक्तम् । 'फलं जातिः' इति द्वन्द्व एकवद्भावः । उत्तमं श्रेष्ठम् । फलं फलजातिम् । ददौ विश्राण । दृढाञ् दाने लिट् ॥२१॥ रन्ध्रेति । रन्ध्रनटनिबिडादिभेदतः रन्ध्रं वंशादि नटं भेदादि निबिडं वीणादि रन्ध्र च नटं च निबिडं च तथोक्तानि तान्येवादिः ( दौ ) येषां ते तथोक्तास्त एव भेदास्तेभ्यो रन्ध्रनटनिबिडादिभेदतः । मिथमानवपुः मिथमानं वपु स्वरूपं यस्य तत् । उत्तमोत्तमम् अत्यन्तोत्तमम् । कर्णयोः श्रवणयोः । सुखकारि आह्लादनकारि । वाद्यवस्तु पञ्चमहावाद्यवस्तु । तस्य चक्रिणः । शङ्खनिधिना शङ्खाव्यनिधिना । व्यतीर्यत वीर्यते स्म । तु

देवीके द्वारा चक्रवर्तीको मनचाही विचित्र चीजें प्रदान करती थीं ॥१८॥ उन नौमें एक पाण्डुक नामकी निधि थी । वह भूखकी व्याधिको दूर करनेवाले उड़द, चने, अलसी, तिल, सामान्य धान्य-बीहि, विशेष धान्य-शालि ( साठिया धान ), जौ, मूग और कीदों आदि खाद्यान्नोंको सदा प्रदान करती थी ॥१९॥ पिङ्गल नामकी निधि रत्नोंकी किरणोंसे विभूषित सुन्दर कुण्डल, मनोज्ञ अँगूठियाँ, जगमगाते हार और मणिरचित करधनी आदि इच्छित आभूषण प्रदान करती थी ॥२०॥ काल नामकी निधि वृक्षों, झाड़ियों और लताओंमें उत्पन्न होनेवाले, मनोहर, छद्मों श्रुतुओंके फूल, कोंपल और उत्तम फल चक्रवर्तीकी इच्छानुसार प्रदान करती थी ॥२१॥ शंख नामकी निधि बांसुरी, मृदङ्ग और वीणा आदि नाना प्रकारके कानोंको

१. या स पाण्डुकः । २. = यस्मिन् । ३. आ अददात् । ४. आ 'कालनिधिः कालाव्यनिधिः' इति नोपलभ्यते । ५. आ द्वन्द्वैकत्वम्, या स द्वन्द्वैकवद्भावः ।



चित्रनेत्रपटवीनपट्टिकारत्नकम्बलपटोपटादिकम् ।  
 वस्त्रजातमखिलं महागुणं चित्रहारि विततार पद्मकः ॥ २३ ॥  
 कम्पताम्रतपनीयनिर्मितं आपुपं रजतलोहसंभवम् ।  
 मन्दिरोपकरणं ददौ महाकालनामनिधिरेवमादिकम् ॥ २४ ॥  
 प्राससायकरथाङ्गमुद्गरं शक्तिशङ्कुतरवारितोमरम् ।  
 शस्त्रजालमिदमादि माणवः शास्त्रवधनमवदादुरुप्रभम् ॥ २५ ॥  
 सोपधानशयनासनादि यदेहनिर्वृतिविधायि मार्दवम् ।  
 तत्समस्तमजनिष्ट तस्य नैपूर्वसर्वनिधिसंप्रपादितम् ॥ २६ ॥

प्लवनतरणयोः कर्मणि लट् ॥ २२ ॥ चित्रेति । चित्तशरि मनोहारि । महागुणं महामुषकातिवादिव्यभाव-  
 युक्तम् । चित्रनेत्रपटवीनपट्टिकारत्नकम्बलपटोपटादिकं चित्रशाली नेत्रपटवश्च चित्रनेत्रपटो विचित्रमुद्रमसनं,  
 'नेत्रं मुद्रगुणं' वस्त्रे तत्समूहं विलोचने । नेत्रं रथे च नाड्या<sup>१</sup> ( वद्या ) च नेत्रो नेतरि भेषवत् ॥ इति विश्वः,  
 चित्रनेत्रपटवश्च, चीन कीर्त्ये तच्च, पट्टिका कटिवेष्टन सा च, रत्नकम्बलो लोहितकम्बलः स च, पटो द्विपट्टिका  
 सा च, पटः सामान्यवस्त्रं स च तथोक्ता ते आदि- ( आदौ ) यस्य लृत् ॥ जखिल निखिलम् । वस्त्रशालं  
 वस्त्रसमूहम् । पद्मकः पद्मनिधिः । विततार ददौ । लृत् प्लवनतरणयोर्लिट् ॥ २३ ॥ कम्पति । कम्पताम्रतपनीय-  
 निमित्तं ताभ्रं च तपनीयं च तथोक्ते कम्पे च तं ताभ्रतपनीये च ताभ्या निमित्तं रचितम्, ताभ्रमुष्णविरहित-  
 मित्यर्थः । आपुपं त्रपुषो विकारस्यापुपं त्रपुभाजनम् । रजतलोहसंभवं रजत रूप्य लोहं च ताभ्या संभवम् ।  
 एवमादिकम् एवंप्रकारम् । मन्दिरोपकरणं मन्दिरस्य राक्षसदन्त्योपकरणम् । महाकालनिधि महाकालाख्य-  
 निधिः । ददौ यच्छति स्म । हुडाङ् दाने लिट् । स्वभावोक्तिः ॥ २४ ॥ प्राप्तेति । प्राससायकरथाङ्गमुद्गरं  
 प्रासः कुन्तागुणं सायको बाणो रथाङ्गं चक्रं मुद्गरं ( र. ) लोहगदा—प्रासश्च सायकश्च रथाङ्गं च मुद्गरश्च  
 तथोक्तम् । शक्तिशङ्कुतरवारितोमरं शक्तिश्च शङ्कुश्च तरवारश्च तोमरश्च तथोक्तम् । 'वा पति शल्यं  
 शङ्कुर्ना सर्वला तोमरोऽस्त्रिवाम्' । इत्युभयत्र, पद्मकः । शास्त्रवधनं शस्त्राणां मूढः शास्त्रं तद्वन्तीति तथोक्तम् ।  
 उरुप्रभम् उर्वी प्रभा यस्य लृत् । इदम् एतत् । इदमादि इदंप्रभृति । शस्त्रजालं शस्त्राणामायुधानां जालं  
 समूहम् । माणवः माणवाख्यनिधिः । अददात् अदत् । हुडाङ् दाने लट् ॥ २५ ॥ सोपधानेति । यत्, देहनि-  
 र्वृतिविधायि देहस्य शरीरस्य निर्वृतिं सुखं विधत्ते इत्येव शीले तथोक्तम् । मार्दवं मुदुस्वभावम् । सोपधानशय-  
 नासनादिकं सोपधानम् उपधानेनोपबर्हेण सह वर्तत इति तथोक्तम् । सोपधानं च तच्छयनं च, तच्च आसनं  
 च सोपधानशयनासने ते आदि ( आदौ ) यस्य लृत् । तस्यमस्त तस्यकलम् । नैपूर्वमपनिधिमप्रपादितं  
 नै एव पूर्वस्मिन् यस्य स नैपूर्वं स चामी सपनिधिश्च तथोक्तस्तेन नैपनिधिसा मप्रपादितं संप्रदत्तम् । तस्य

सुखं देनेवाले उत्तमांशतः बाद्य, चक्रवर्तीको देती थी ॥२२॥ पद्म नामक निधि विचित्र सूक्ष्म  
 वस्त्र, चाइना सिल्क, कमरबन्द, लालकम्बल, दुपट्टे एव लाभकारी और सभी प्रकारके सुन्दर  
 वस्त्र चक्रवर्तीको दिया करती थी ॥२३॥ महाकाल, नामक निधि राजमहलके योग्य, सुन्दर  
 तबिये, सोने, शीशे, चाँदी और लोहे आदिके बने पात्र ( लोटे, गिलास, थाली, घड़े आदि )  
 प्रदान करती थी ॥२४॥ माणव नामक निधि भाले, बाण, चक्र, मुद्गर, शक्ति, शङ्कु, खड्ग  
 और तोमर आदि नाना प्रकारके, वैरियोंको मारनेवाले चमकीले हथियार देती थी ॥२५॥  
 चक्रवर्ती अजितसेनके यहाँ उसके शरीरको सुख देनेवालो कोमल तकिया, सेज और आसन

१. य महाताल । २. वा नेत्रमधिगुणं । ३. वा नाड्या । ४. एव टीकापाठः, सूक्ष्मप्रतिष्ठु  
 'वस्त्रजातम्' इत्येव समुपलभ्यते । ५. = एवं प्रकारकम् ।

चित्ररत्नकिरणैः प्रवर्तयन्त्योमनीन्द्रधनुर्द्ववां श्रियम् ।

सर्वरत्ननिधिरस्य सर्वदा सर्ववाञ्छितफलप्रदोऽभवत् ॥ २७ ॥

नोदसिक्त स मदप्रवर्तिनीं तादृशीमपि विलोक्य तां श्रियम् ।

धर्म एष हि सतां क्रमागतो यत्र यान्ति विभवेन विक्रियाम् ॥ २८ ॥

वीतरागचरणौ समर्थ्य सद्गन्धधूपकुसुमानुलेपनैः ।

संपदा परमया सबान्धवः स व्यधत्त निधिरत्नपूजनम् ॥ २९ ॥

चक्रवर्तिविभवोचितोत्सवं तस्य पार्थिवसमूहसंगतः ।

पट्टबन्धविधिमन्यदा स्वयं संनिधाय निरवर्तयद्गुरुः ॥ ३० ॥

चक्रिणः । अत्रनिष्ठ अभूत् । अनेङ् पादुमवि लिङ् ॥ २६ ॥ चित्रेति । चित्ररत्नकिरणैः चित्राणां नानाविधानां रत्नानां मणोनां किरणमयूखैः । व्योमनि गगने । इन्द्रधनुर्द्ववाम् इन्द्रधनुषि ( यः ) उद्भवामुद्भूताम् । श्रियं शोभाम् । प्रवर्तयन् कुर्वन् । सर्वरत्ननिधिः सर्वरत्नानां निधिः<sup>१</sup> ( सर्वरत्नाख्यनिधिः ) । अस्य चक्रिणः । सर्वदा सर्वस्मिन् काले । सर्ववाञ्छितफलप्रदः वाञ्छितं च तत्फलं च तथोक्तं सर्वं च तद् वाञ्छितफलं च तथोक्तं सर्ववाञ्छितफलं प्रददातीति तथोक्तः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् ॥ २७ ॥ नोद्वेति । सः चक्रो । मदप्रवर्तिनीं मदं गर्वं प्रवर्तयत इत्येवं शोभा मदप्रवर्तिनी ताम् । तादृशीमपि, तां श्रियं संपत्तिम् । विलोक्य विलोकनं पूर्व० वक्ष्य । नोदसिक्त शक्तिः नामभवत् । पिबि क्षणे इति घातोलुङ् । विभवेन संपदा । ( सन्त ) विक्रिया विक्राम् । न यान्ति न गच्छन्ति । या प्रापणे लिट् । यत् यस्मात् । एषः अयम् । सत्ताम्<sup>३</sup> । क्रमागतः क्रमात् परिपाटपा आगतः । धर्मो हि स्वभावो हि । अर्थात्तरम्यासः ॥ २८ ॥ वीतरागेति । सबान्धवः बान्धवैः सह वर्तते इति तथोक्तः, बन्धुसहित इत्यर्थः । सः चक्रो । सद्गन्धधूपकुसुमानुलेपनैः गन्धश्च धूपश्च कुसुम चानुलेपनं च तथोक्तानि, सति च तानि गन्धधूपकुसुमानुलेपनानि च तैः । वीतरागचरणौ वीतरागस्य सर्वज्ञस्य चरणौ पादौ । समर्थ्य संपूज्य । संपदा संपत्त्या सह । निधिरत्नपूजनं निधीना नवनिधीनां<sup>४</sup> रत्नानां चतुर्दशरत्नानां च पूजनमर्थनम् । व्यधत्त चकार । दुष्वाङ् धारणे च लङ् ॥ २९ ॥ चक्रवर्त्ति । पार्थिवसमूहसंगतः पार्थिवानां—पृथिव्या ईशाः पार्थिवाः 'ईशे' इत्यङ्—प्रत्ययः<sup>५</sup>, तेषां समूहेन सन्दाहेन संगतः सहितः । गुरुः पिता । तस्य चक्रिणः । चक्रवर्तिविभवोचितोत्सवं चक्रवर्तिनः सावंभोमस्य विभवस्य ऐश्वर्यस्योचितं योग्यमुत्सवम् ( निःशर्तयत्, यत्र ) । पट्टबन्धविधिं पट्टबन्धस्य पट्टाभिवेकस्य विधिम् । अन्यदा अन्यदिनम् दिने । स्वयं

आदि सारी जो जै नैसर्प निधिके द्वारा दी हुई थी ॥ २६ ॥ चक्रवर्त्तिके यहाँ सदैव उसके सब प्रकारके मनचाहे फलको देनेवाली सर्वरत्न निधि नामकी निधि थी, जो नाना प्रकारके रत्नों और मणियोंकी किरणोंसे आकाशमें इन्द्र धनुषकी शोभा फैलाया करती थी ॥ २७ ॥ गर्वको उत्पन्न करनेवाली ऐसी विभूतिको देखकर भी वह चक्रवर्त्ती कभी सगर्व नहीं हुआ । क्योंकि सच तो यह है कि सज्जनोंका कुल परम्परासे चला आया यह स्वभाव होता है, कि वे वैभवके निमित्तसे कभी इतराते नहीं ॥ २८ ॥ चक्रवर्त्ती अजितसेनने अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ श्रेष्ठ चन्दन, धूप, पुष्प और लेपनसे वीतराग प्रभु—अरहन्तके चरणोंकी पूजा की और फिर उत्तम सम्पत्ति व्यय करके नौ निधियों और चौदह रत्नोंकी भी पूजा की ॥ २९ ॥ इसके पश्चात् एक दिन चक्रवर्त्ती अजितसेनके पिता अजितजयने स्वयं सभी राजा-महाराजाओंकी उपस्थितिमें चक्रवर्त्तीकी शानके अनु-

१. अ क ख ग घ याति । २. आ 'सर्वरत्नानां निधिः' इति नोपलभ्यते । ३. = सज्जनानाम् ।

४. श स नवरत्ननिधीनाम् । ५. अ श स ईश इत्यङ्—प्रत्ययः ।

केवलं तदभिषेकवारिमिदूरमुच्छ्वसदभूत् भूतलम् ।  
 हर्षसागरविषर्तवर्तिनां सर्ववन्धुसुहृदां च मानसम् ॥ ३१ ॥  
 सप्रसादसविकासतारकं निर्मलाम्बरतया मनोहरम् ।  
 केवलं न पुरलोकयोषितां मण्डलं समभवद्दिशामपि ॥ ३२ ॥  
 लब्धसौरभगुणैर्भुजतयातनुभिस्तविकासिकैसरैः ।  
 पर्यपूरि कुसुमोत्करैः परं भूमिजैर्न दिविजैरपि क्षितिः ॥ ३३ ॥  
 संततोत्सवनिविष्टचेतसां संबभूव सुहृदां न केवलम् ।  
 विविधामपि भविष्यदापदां सवतोऽप्युदितकेतु मन्दिरम् ॥ ३४ ॥

संविधाय संनदो भूत्वा । निरवर्तयत् बकरोत् । वृद्धं वर्तने लङ् ॥ ३० ॥ केवलमिति । तदभिषेकवारिमिः  
 तस्य पट्टाभिषेकस्य वारिमिः सलिलैः । केवलं मुक्यम् । भूतलं भूतितलम् । दूरं निताप्तम् । उच्छ्वसत्  
 प्रवर्धमानम् । नाभूत् नाभवत् । लुङ् । हर्षसागरविषर्तवर्तिना हर्षं संतोषं स एव सागरस्तस्य समुद्रस्य  
 ( स एव सागरः समुद्रस्तस्य ) विषर्तं जलधमे वर्तिना स्थितानाम् । सर्ववन्धुसुहृदा सर्वेषां बन्धूना सुहृदां  
 मित्राणाम् । मानसं च चित्तं च, उच्छ्वसदभूदित्यर्थः ॥ ३१ ॥ सेति । दिशां बकुभाम् ( पुरलोकयोषितां  
 धोराङ्गानाम् ) । मण्डलं समुद्रः । निर्मलाम्बरतया निर्मलं मलरहितमम्बरं वस्त्र यस्य तस्य भावस्तथोक्ता  
 तया मलरहितवस्त्रयुक्तया, यत्ने मेघरहितगगनयुक्तया । सप्रसादसविकासतारकं प्रसादस्य विकासश्च तथोक्तो  
 प्रसादविकासस्यास्य सह वर्तते इति तथोक्ता । सप्रसादसविकासो तारका कनौनिका यस्य तत्, यत्ने तारका  
 मन्त्राणि यस्य तत् । मनोहरं मञ्जुलम् । केवलं मुख्यम् । न समभवत् नाभूत् । लङ् । पुरलोकयोषितामपि  
 पुरलोकानां पुरजानां योषितामपि स्त्रीणां अपि ( दिशामपि बकुभामपि ) समभवत् ( इति ) शेषः ॥ ३२ ॥  
 लब्धेति । लब्धसौरभगुणैः सौरभ एव गुणस्तथोक्तः, लब्धः सौरभगुणो येनैतं । भवन्नत्रातनुभिस्तविकासि-  
 कैसरैः मधुरतानां भ्रमराणां व्रातेन समूहेन चुम्बिता आवृता विकासिनः कैसरा विजृम्भका येषां ते । भूमिजैः,  
 कुसुमोत्करैः कुसुमानां पुष्पाणामुत्करैर्निबद्धैः क्षितिः भूमिः । परं केवलम् । न पर्यपूरं न व्याप्तम् । पृथालन-  
 पुरणयोः कर्मणि लुङ् । ( किन्तु ) दिविजैरपि स्वर्गोत्पन्नैरपि । मुग्धपवृद्धिरपि जातेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ सनेति ।  
 संततोत्सवनिविष्टचेतसां संततघनवस्तुसम्बन्धे निविष्टं स्वस्तं चेतश्चित्तं येषां तेषाम् । सुहृदा मित्राणाम् । मन्दिरं

कूल उत्सवके साथ अपने चक्रवर्ती पुत्रका पट्टाभिषेक किया ॥ ३० ॥ अजितसेनके अभिषेकके जल-  
 से न केवल भूतल ही फूला, वरन् हर्षके समुद्रमे डुबकी लगानेवाले सभी बन्धुओं और मित्रोंके  
 हृदय भी फूले नहीं समा रहे थे ॥ ३१ ॥ इस अवसरपर न केवल वहाँका महिलामण्डल ही  
 बल्कि सारा दिङ्मण्डल भी मनोहर हो गया । महिलाओंका मण्डल स्वच्छ वस्त्र पहने हुए था,  
 उसके चेहरेपर प्रसन्नता झलक रही थी, जिससे उसके नेत्रोंकी कनौनिकाएँ कमलकी भाँति  
 खिल उठीं थी । इसी प्रकार आकाशकी निर्मलताके कारण सभी ताराएँ स्पष्ट ही प्रसन्नता  
 और विकाससे ओतप्रोत होकर दृष्टि गोचर हो रही थी । इसीलिए सारा दिग्मण्डल भी मनोहर  
 हो गया ॥ ३२ ॥ उस समय भूमि न केवल पार्थिव फूलोंकी राशिसे बल्कि दिव्य फूलोंकी राशिसे  
 भी व्याप्त हो गयी । दोनों ही प्रकारके फूल अत्यन्त सुगन्धित थे और इसीलिए उनकी विकसित  
 परागके ऊपर बैठकर भीरोंका झुण्ड उन्हें ढके हुए था ॥ ३३ ॥ निरन्तर उत्सव मनानेमें  
 जिनका मन आसक्त था, उन मित्रोंके महलोंपर पताकाएँ फहरा रहीं थी और जिनके ऊपर  
 आपदाएँ आनेवाली थीं, उन शत्रुओंके महलोंपर केतु ग्रह उदित हो रहा था । इस अवसरपर

१. कूल ग ब कासितारकं । २. अ निर्मलं परतया । ३. = परम् । ४. = उच्छ्वसन् । ५. वा स  
 लङ् । ६. भा वर्तते इति तथोक्ते । ७. = सप्रसादा सविकास च । ८. = परम् । ९. = न व्याप्ता ।

प्राप धारवनिताप्रवर्तितैर्गीतनृत्यविधिभिर्मनोहृताम् ।  
 मेदिनी विहितलोकविस्मयैर्धौश्च किनरवधूसमुद्भवैः ॥ ३५ ॥  
 पेटुरेत्य नटगायकादयो<sup>१</sup> मङ्गलं नृपतिमन्दिराङ्गणे ।  
 तुम्बरुप्रभृतयश्च कोकिलापकोमलगिरौ नभोङ्गणे ॥ ३६ ॥  
 वारिकैर्मृदुजलच्छटोद्यतैः केवलं न खलु राजवत्सु ।  
 वारिकैरपि<sup>२</sup> मनाक्प्रवर्धिभिः पांसवः प्रशममाशु निन्यरे ॥ ३७ ॥  
 केवलं न मणिबन्धभासुरं तेन पुण्यजयिना नृपासनम् ।  
 चकिरे गुरुजनाशिबोऽप्यधस्तम्भनोरथपातिगभिया ॥ ३८ ॥

सदनम् । सर्वतोऽपि<sup>३</sup> सर्वस्मादपि । उदितकेतु उदिताः उत्पन्नाः । केतवो षड्वा यस्य तत् । केवलं परम् । न  
 संबभूव संजायते स्म । भू सत्ताया लिट् । अपितु भविष्यदापदां भविष्यन्ती आपद् येषा तेष म् । विहितामपि  
 वाश्रूणामपि । मन्दिरमुदितकेतु<sup>४</sup> संबभूवैत्यर्थः ॥ ३५ ॥ प्रापेति । धारवनिताप्रवर्तितैः धारवनिताभिर्गणिकाभिः  
 प्रवर्तितैर्विहितैः । विहितलोकविस्मये विहितः कृतो लोकस्य विस्मय आश्चर्य येषां ( यैः ) तैः । गीतनृत्य-  
 विधिभिः गीतनृत्ययोर्विधिविधानैः । मेदिनी भूमिः । मनोज्ञतां मनोहरताम् । न प्राप न ययौ<sup>५</sup> । किनरवधू-  
 समुद्भवैः किनरस्य स्त्रीभिः समुद्भवैस्तद्वैरपि<sup>६</sup> । दौहव गगनमपि । मनोज्ञता प्रापेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ पेटुरिति ।  
 नृपतिमन्दिराङ्गणे नृपतेर्भूयतेमन्दिरस्य सदनस्याङ्गणेऽङ्गरे । नटगायकादयः नर्तकगायकादयः । एत्य आगत्य ।  
 मङ्गलं मङ्गलस्तोत्रम् । पेटुः गायन्ति स्म । पठ व्यवसाया वाचि लिट् । नभोऽङ्गणे गगनाङ्गणे । कोकिलापकोमल-  
 गिरः कोकिलानां पिकानामालाप इव कोमला मृदुला गोवाणी येषां ते । तुम्बरुप्रभृतयः तुम्बरुमुश्याश्च, पेटुरित्यर्थः  
 ॥ ३६ ॥ वारिकैरिति । राजवत्सु<sup>७</sup> राजवीर्येषु । मृदुजलच्छटोद्यतैः मृदुजलस्य छटन(?)सेचनेन उद्यतैरुद्यतैः ।  
 वारिकैः रथोदकवाहकैः<sup>८</sup> । केवलं परम् । पांसवः<sup>९</sup> रेणवः । प्रशमम् उपशमम् आशु शीघ्रम् । न खलु  
 निन्यरे<sup>१०</sup> नति नवन्ति स्म । मनाक् किञ्चित् । प्रवर्धिभिः प्रशम्भिः । वारिकैरपि मेधैरपि । पानवः  
 प्रशमं निन्यरे, इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ केवलमिति । पुण्यजयिना पुण्यजंयतीत्येवं शीलस्तेन, धर्मजयित्वेत्यर्थः ।

न केवल मित्रोके बलिक शत्रुओंके भी महल उदितकेतु हो गये थे—मित्रोंके महलोके ऊपर  
 केतु—पताकाएँ और शत्रुओंके महलोंपर केतु—केतुग्रह दृष्टिगोचर हो रहा था । मित्रोंने हादिक  
 प्रसन्नता व्यक्त करनेके लिए अपने महलोंपर पताकाएँ लगाई थीं, और शत्रुओंने केवल व्यवहार  
 बश अपने महलोंपर पताकाएँ लगाई । किन्तु आश्चर्य है जो मित्रोंके महलोंपर पताकाएँ ज्यो-  
 को-र्यों फहराती रही पर शत्रुओंके महलोंकी पताकाएँ कट-फटकर नीचे गिर रहीं थीं ॥ ३४ ॥  
 लोगोंको आश्चर्यजनक, वेदयाओंके गान और नाचसे न केवल पृथ्वी ही, बल्कि गन्धर्वोंकी अङ्ग-  
 नाओंके अद्भुत गान और नाचकी विबिसे आकाश भी मनोज्ञ हो गया ॥ ३५ ॥ इधर राज-  
 महलके आगनमें पहुँचकर नटों, गायकों और उनके सहयोगियोंने मङ्गल-स्तोत्रोंका पाठ किया  
 उधर कोकिलकण्ठ तुम्बरु आदिने बीच आकाशमें जाकर मङ्गलमय स्तवन पढ़े ॥ ३६ ॥ न  
 केवल जल छिड़कनेवाले लोगोंने थोड़ा-थोड़ा-सा जल छिड़ककर सड़कों की धूलको शान्त  
 किया, बल्कि धीमी-धीमी वर्षा करनेवाले बादलोंने भी उसी काम ( धूल-शामन ) को उनसे  
 कहीं पहले ही पूरा कर दिया ॥ ३७ ॥ पुण्यात्मा राजकुमार अजितसेनने न केवल रत्न-  
 जटित देदोप्यमान सिंहासनको ही ( बैठकर ) नीचा कर दिया, बल्कि गुरुजनोंके मनोरथसे भी

१. म 'गायनादयो' । २. अ वारिकैर्मृदु<sup>३</sup> । ३. = परितोऽपि । ४. = 'ग्रहभेदे षड्जे केतुः ।' इत्यमरः ।  
 ५. = प्राप ययौ—इति स्वात् । ६. = गीतनृत्यविधिरित्यर्थः । ७. = राजवाग्गेषु । ८. = छटाया सेचने-  
 सेचनकर्मणि । ९. वा एषोदकवाहकैः । १०. अ वा पांसवः । ११. = नीयन्तेस्म ।

प्राप्य चक्रधरराज्यसंपदा<sup>१</sup> संगमं गुरुकृताभिषेचनः ।  
 सोऽधिकं सहजदीधितिर्बभौ सूर्यकान्त इव सूर्यरोचिषा<sup>२</sup> ॥ ३९ ॥  
 अन्तरेऽत्र नक्षचन्द्रचन्द्रिकाबुम्बितत्रिदशराजमस्तकः ।  
 भव्यलोकनिबहं प्रबोधयन्नाययौ जिनपतिः स्वयंप्रभः<sup>३</sup> ॥ ४० ॥  
 सिंहविष्टरनिविष्टं मरुयुतं तं निशम्य निकटव्यवस्थितम् ।  
 निर्जगाम रमसेन वन्दितुं चक्रवर्तिसहितोऽजितंजयः ॥ ४१ ॥

तेन चक्रिणा । मणिबन्धमासुरं<sup>४</sup> मणे रत्नस्य बन्धेन कोलेन भासुरं देवोप्यमानम् । नृगसनं सिंहा-  
 सनम् । केवलं परम् । अध. अधोभागे । न ( चक्रे ), किन्तु तन्मनोरथपवातिगमित्र्या तेषां गुरुजनानां  
 मनोरथस्याभिलाषस्य पथं-[ पन्थानं- ] मतिगच्छतीति तन्मनोरथपवातिगा<sup>५</sup> सा चासौ श्रीश्च तथा ।  
 गुरुजनादिषोऽपि गुरुजनैर्गुणाढ्यसत्पुरुषैः कृता आशिष इष्टाशंसनवचना नि च । अध. नीचं । चक्रिरे  
 विदधिर । डुकृञ् करणे ( कर्मणि ) लिङ् । श्रीः आशोरवादि- ( आशिषो- ) पश्चिका-इति भावः  
 ॥ ३८ ॥ प्राप्येति । गुरुकृताभिषेचनः गुरुणा पित्रा कृतं विरचितमभिषेचनमभियवण यस्य सः । सहजदी-  
 धितिः सहजा निसर्गजा दीधितिः कान्तिर्यस्वसः । सः चक्रो । चक्रधरराज्यसंपदा चक्रधरस्य चक्रेधरस्य  
 राज्यस्य संपदा संपत्त्या । संगमं संबन्धम् । प्राप्य लब्धम् । सूर्यरोचिषा सूर्यस्य रोचिषा कान्त्या । सूर्यकान्त  
 इव सूर्यकान्तशिले<sup>६</sup> बभौ भाति स्म । भा दीप्तौ लिट् । अतिशय उत्प्रेक्षा वा ( उपमा ) ॥ ३९ ॥ अन्तर-  
 इति । अन्तरे एतस्मिन् प्रस्तावे । नक्षचन्द्रचन्द्रिकाबुम्बितत्रिदशराजमस्तकः नक्षा एव चन्द्रास्तेषां चन्द्रिका  
 ज्योत्स्ना तथा बुम्बिता व्याप्ता<sup>७</sup> त्रिदशानां देवानां राज्ञां मस्तका यस्य<sup>८</sup> सः । स्वयंप्रभ. स्वयप्रभ इति  
 जिनपतिः तीर्थङ्करः । भव्यलोकनिबहं रत्नत्रयाभिर्बन्धनयोग्यभव्यलोकानां भव्यजनानां निबह समूहम् ।  
 प्रबोधयन् प्रबोधयतीति तथोक्तः सन् । आययौ आजगाम । या प्रापणे लिट् । समाहितालङ्कारः (?) ॥ ४० ॥  
 सिंहेति । सिंहविष्टरनिविष्टं<sup>९</sup> सिंहैर्मृगेन्द्रधृते विष्टरे पीठे निविष्टं स्थितम्<sup>१०</sup> । तं जिनपतिम् । निशम्य  
 आकर्ण्य । चक्रवर्तिसहितः चक्रेधरेण सहितः । अजितंजयः । वन्दितुं वन्दनाय । रमसेन शीघ्रम् । निर्जगाम<sup>११</sup>

कहीं अधिक लक्ष्मी पाकर उन ( गुरुजनों ) के आशीर्वादोकी भी नीचा कर दिया ॥ ३८ ॥  
 पिताने जब राज्याभिषेक कर दिया, तब राजकुमार अजितसेन चक्रवर्ती राज्यकी सम्पत्तिके  
 सङ्गम या अधिकारको पाकर पहलेसे कहीं अधिक शोभायमान हुआ । जैसे स्वाभाविक ज्योतिसे  
 युक्त सूर्यकान्त मणि सूर्यकिरणोका सम्पर्क पाकर अत्यधिक सुशोभित होने लगता है ॥ ३९ ॥  
 इसी बीचमें स्वयंप्रभ नामक तीर्थङ्कर — जिनके चन्द्रसरीखे चरणनखोंकी चन्द्रिका-सी प्रभा  
 देवेन्द्रोंके मस्तकको ( भक्तिपूर्वक झुककर अष्टाङ्ग या पञ्चाङ्ग नमस्कार करते समय ) प्रका-  
 शित करती थी—भव्यजीवोंके समाजको प्रबोध देते या मोह निद्रासे जगाते हुए वहाँ ( अजित-  
 सेन भी राजधानीमें ) पधारे ॥ ४० ॥ 'तीर्थङ्कर स्वयंप्रभ बिलकुल निकटमें ही पधारे हुए है, वे  
 अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे कभी च्युत होनेवाले नहीं हैं, और वे सिंहासनपर विराजमान हैं ।'  
 यह सुनकर राजा अजितंजय अपने चक्रवर्ती पुत्र अजितसेनके साथ उनकी वन्दना करनेके लिए

१. एष टीकानुगतः पाठः प्रतिपु तु 'संपदा—इति दृश्यते । २. अ 'सोऽधिकं सहजदीधितिर्बभौ'  
 तारकापतिरिब व्यदीप्यत ॥' इति पाठो दृश्यते । ३. अ पद्यमिदं नोपलभ्यते । ४. = सिंहोपलक्षितं विष्टरं  
 सिंहविष्टरं सिंहासनं तस्मिन् निविष्टमुपविष्टम् । ५. = मणौना रत्नानां बन्धो रचनाविशेषः, तेन भासुरं  
 देवोप्यमानम् । ६. श 'पदातिगा । ७. = सूर्यकान्तमणिर्ब वा । ८. श स प्राप्ताः । ९. आ राजानाम् ।  
 १०. = येन । ११. अ 'निविष्ट'—इति नास्ति । १२. अ सुस्थितम् । १३. = निर्ययो ।

तीर्थभूतैर्मुक्तमभिविधितं प्रणम्य मुनिहंससेवितम् ।  
 मस्तकस्थकरकुड्मलोऽमलं प्रश्नमित्युक्तं तत्त्वगोचरम् ॥ ४२ ॥  
 बध्यते कथय कर्मभिः कथं नाथ जन्तुरिह मुच्यतेऽथवा ।  
 देव संशयविपर्ययाकुलं तिष्ठते त्वयि जगद्यतोऽखिलम् ॥ ४३ ॥  
 वस्तुतत्त्वमधिगन्तुमिच्छतो भारतीमिति निशम्य भूभूतः ।  
 योजनप्रमितया गिराधरस्पन्दवर्जितमुवाच तीर्थकृत् ॥ ४४ ॥  
 सप्रमादहृदयः कषाययुग्योगवान्विरतिवर्जिताशयः ।  
 सम्यगोक्षणविपर्ययस्थितः कर्मबन्धमुपयाति चेतनः ॥ ४५ ॥

प्रविवेश । गन्तुं गतो लिट् ॥ ४१ ॥ तीर्थेति । उद्भवितभावतः उर्ध्वा महत्या भक्त्या गुणानुरागेण भावितः संस्कृतः । मस्तकस्थकरकुड्मलः मस्तकस्थकरादेव कुड्मलो यस्य सः । अमलः निर्मलवित्तः सन् । तीर्थभूतं पवित्रोभूतम् । मुनिहंससेवितं मुनिहंसेर्गणधरादिमुनिवरैः सेवितमाराधितम् । तं स्वयंप्रभञ्जनम् । प्रणम्य वन्दित्वा । तत्त्वगोचरं तत्त्वान्वेष गोचरो विषयो यस्य तत् ( तम् ) । प्रश्नं पृच्छनम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अकृत व्यधात् । हुक्ञ् करणे लुङ् ॥ ४२ ॥ बध्यते इति । भोः स्वामिन् । संशयविपर्ययाकुलं संशयविपर्ययाभ्यामाकुलं बाधितम् । अखिलं सकलम् । जगत् लोकाः । यतः यस्मात् । त्वयि भवति । तिष्ठते प्रकाशते । छा गतिनिवृत्तौ लट् । 'स्थेय प्रकाशने' इति टङ् । नाथ जिनपते । जन्तु जीवः । इह ससारे । कर्मभिः शुभाशुभकर्मभिः । कथं केन प्रकारेण । बध्यते संबध्यते । अथवा, कथं मुच्यते श्रूयते । कथय ब्रूहि । कथ वाक्यप्रबन्धे लट् ॥ ४३ ॥ वस्तिवनि । वस्तुतत्त्वं वस्तुनः पदार्थस्य तत्त्वं स्वरूपम् । अधिगन्तुं ज्ञातुम् । इच्छतः वाञ्छतः । भूभूतः क्षितिपतेः । इति एवं (भूताम्) । भारती वचनम् । निशम्य श्रुत्वा । तीर्थकृत् स्वयंप्रभञ्जनपतिः । योजनप्रमितया योजनप्रमाणभूतया ( योजनव्यापिन्या इत्यर्थः ) । गिरा दिव्यनिनादेन । अधरस्पन्दवर्जितम् अधरयोरोष्ठयोः स्पन्देन चलनेन वर्जितं रहितं यथा भवति तथा । उवाच निरूपयतिस्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । 'अस्ति ब्रुवोर्भूवचौ' इति वचादेशः । स्वभावाविति ॥ ४४ ॥ सेति । सप्रमादहृदयः प्रमादविषयादिपञ्चदशप्रमादियुक्त हृदयं मानसं तेन सह वर्तते इति । [ कषाययुक् ] क्रोधादिबन्धकषायैर्युक्तः क्रोधादिकषायवान् । योगवान् कायवाङ्मनःकर्मयोगस्तजान् । विरतिवर्जिताशयः विरत्या हिंसादिनिवृत्त्या वर्जित आशयो यस्य सः । सम्यगोक्षणविपर्ययस्थितः सम्यगोक्षणस्य सम्यग्दर्शनगुणस्य विपर्यये मिथ्यादर्शने स्थितः । चेतनः जीवः । कर्मबन्धं कर्मणा

घरसे चल पड़े ॥ ४१ ॥ वे तीर्थस्थान स्वरूप हैं । श्रेष्ठ मुनि या गणधर उनकी आराधना करते हैं । उनके दर्शन करते ही अत्यन्त भक्तिभावसे प्रणाम करके अजितत्रयने हाथ जोड़ते हुए मस्तक नवाकर शुद्ध हृदयसे एक तात्त्विक प्रश्न किया — ॥ ४२ ॥ भगवन् ! सारा संसार संशय और विपर्ययसे व्याकुल हो रहा है । चूँकि वह आपके ज्ञानमें स्पष्ट हो झलक रहा है, अतः नाथ ! यह बताइये कि इस संसारमें यह जीव शुभ और अशुभ कर्मोंसे कैसे बँध जाता है और फिर उनसे छुटकारा कैसे पा जाता है ? ॥ ४३ ॥ वस्तु स्वरूपके जिज्ञासु राजा अजितत्रयके इन वचनोंको सुनकर तीर्थङ्कर स्वयंप्रभ यों बोले । बोलते समय उनका अधर ( नीचेका ओठ ) स्पन्दन रहित था और उनकी वाणी एक योजन पर्यन्त सुनाई पड़ रही थी ॥ ४४ ॥ जिस जीवके हृदयमें प्रमाद भरा हुआ है; जो कषायवान् है; जिसके मन, वचन और कायमें चञ्चलता भरी हुई है; जिसका हृदय हिंसा आदि पापोंसे विरत नहीं है और जिसको श्रद्धा

१. अ. भूतगुरुं । २. अ. क. ख. ग. घ. म. बन्धनो । ३. अ. तिष्ठति । ४. आ. बध्यन्ते । ५. आ. पतिपतिः । ६. = कषायैः क्रोधादिभिर्भूयते इति कषाययुक् । ७. हा समस्तमिदं पद नास्ति । ८. हा इदमपि समस्तं पदं नास्ति ।

तेन स स्ववशभावमाहृतः कर्मणाष्टविधभेदभागिना ।

संसारत्यशरणो भवान्बुधौ लोहकान्तमणिकुण्डलोहवत् ॥ ४६ ॥

कर्मभिः परवशीकृतात्मनो<sup>१</sup> भ्रान्त्यतो बहुविधासु योनिषु ।

खल्वबिल्वविधिना प्रमादतो जायते मनुजजन्मसंगमः ॥ ४७ ॥

प्राप्तमानवमवोऽपि रुच्छतः पुत्रबान्धवकलत्रमोहितः ।

कर्म तत्किमपि संचिनोत्यसौ येन गच्छति पुनः कुयोनिषु ॥ ४८ ॥

जानावरणादीना बन्धम् । उपयाति उपगच्छति । या प्रापणे लट् ॥४५॥ तेनेति । अष्टविधभेदभागिना अष्टविधा प्रकरा यस्य स तथोक्तः, अष्टविधवशासौ भेदश्च तथोक्तः, अष्टविधभेदं भजतीत्येवंशीलं अष्टविधभेदभागि, तेन । तेन कर्मणा । स्ववशमात्रं स्वस्य वशभावमधीनत्वम् । आहृतः<sup>२</sup> नीतः । अशरणः सन् न विद्यते शरणं यस्य सः, रक्षितुरहितः सन् । सः जीवः । भवान्बुधौ भव एवाम्बुविस्तस्मिन् । रूपकम् । लोहकान्तमणिकुण्डलोहवत् लोहकान्तमणिना अयस्कान्तमणिना कुण्ड आहृतो लोहवत् । संसरति भ्रमति । सु गतो लट् । उपमा ॥४६॥ कर्मभिरिति । प्रमादतः प्रमादात् । कर्षयित् (?) । बहुविधाम् बह्वीषु विधामु भेदेषु । योनिषु जन्मसु । भ्राम्यतः पर्यटत । कर्मभिः शुभाशुमरूपाकर्मभिः । परवशीकृतात्मनः परवशीकृतस्य पराधीन ( नी ) कृतस्यात्मनो जीवस्य । खल्वबिल्वविधिना खल्वस्य नष्टरोमशिरः<sup>३</sup> पुरुषस्य बिल्वविधिना बिल्वफलस्य न्यायेन । अबुद्धिपूर्वकं बिल्वफलं नष्टरोमशिरयुक्तस्य मस्तके पतितं<sup>४</sup> ( पतति ) यथा तथा इत्यर्थः । मनुजजन्मसंगमः मनुजस्य मानुषस्य जन्मन उत्पत्तेः संगमः संपर्कः । जायते संभवति । जनैश्च प्रादुर्भावे लट् । उपमा ॥४७॥ प्राप्तेति । रुच्छतः कृष्टात् । प्राप्तमानुषमवोऽपि प्राप्नो लब्धो मानुषस्य मनुष्यस्य भवो यस्य ( येन ) सः । पुत्रबान्धवकलत्रमोहितः पुत्राश्च बान्धवाश्च कलत्राणि च तथोक्तानि तेषु मोहित आसक्तः सन् । किमपि तत्कर्म<sup>५</sup> शुभाशुभकर्म । संचिनोति संपादयति । पुनः पश्चात् । येन कर्मणा संबन्धः, तेन कर्मणा । योनिषु गच्छतीत्यर्थः । असौ जीवः । कुयोनिषु कुत्सितयोनिषु । गच्छति याति । सम्भू गतो लट् ॥४८॥ इतीति ।

विपरीत है उसके कर्मबन्ध होता है । मूल बात यह है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मबन्धके कारण हैं ॥ ४५ ॥ जानावरण आदि आठ भेदोंवाले कर्मने जीवको अपने आधीन कर लिया है । अतः जैसे अयस्कान्त मणि या चुम्बक पत्थरसे आकृष्ट होकर लोहा अशरण हो जाता है, वैसे कर्माधीन जीव भी—अशरण हो जाता है । फलतः वह संसार सागरमें मोते खाता रहता है ॥ ४६ ॥ प्रमादके कारण यह जीव कर्मों द्वारा परवशकर दिया जाता है । फिर यह नाना ( चौरासी लाख ) योनियोंमें भटकता फिरता है । भटकनेवाले इस जीवको खल्वबिल्व न्यायसे मानव जन्म बड़ी कठिनाईसे मिलता है । खलवाट जब-जब बेलके नीचे जाय तब-तब उसके सिरपर बेल गिरे, यह कभी सम्भव नहीं हो सकता । ऐसी घटना क्वचित् कदाचित् ही घटती है । इसी प्रकार यह जीव जब-जब पर्याय बदले तब-तब उसे मानव जन्म मिले, यह असम्भव है । वह तो बड़े भाग्यसे मिलता है ॥४७॥ बड़ी कठिनाईसे मानवभवको पाकर भी यह जीव पुत्र, मित्र और कलत्रके मोहमें फँसकर ऐसे कर्मोंका सञ्चय कर लेता है, जिससे वह

१. अ 'ब' नीलम्पते । २. अ भवान्तरेष्वन्तश्चित्तमृतिर्नरः स्वयम् । ३. अ कर्मसङ्गविशो-  
कृतात्मनो । ४. अ 'मा'माहृतः । ५. = कृष्टमाहृत यत्लोहं लोहधातुस्तद्वत् । ६. = बह्वी विधा यासां तासु  
नानाविधासु । ७. = उत्पत्तिस्त्यानेषु । ८. = खलवाटस्य । ९. आ परोतं । १०. = अशुभकर्म ।

इत्येवेत्य भवदुःखमीरवः संगमं विदधते सुमेधसः ।  
 कर्मबन्धनविपक्षभूतया ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदा ॥ ४६ ॥  
 ज्ञानमर्थपरिबोधलक्षणं दर्शनं जिनमतामिरोचनम् ।  
 पापकार्यचिरतिस्वभावकं कीर्तितं चरितमात्मवेदिभिः ॥ ५० ॥  
 संगतं त्रयमिदं प्रजायते कृत्स्नकर्मविनिवृत्तिकारणम् ।  
 पङ्गुलोचनविहीनवद्भवेदेककं न पुनर्यसाधकम् ॥ ५१ ॥  
 ज्ञानभागमनिरोधि कर्मणो भाविनश्चरितमजितसप्तम् ।  
 दृष्टिराचरति पुष्टिमेतयोरित्यमेतदुपयोगवत्त्रयम् ॥ ५२ ॥

सुमेधसः शोभना मेधा येयु<sup>१</sup> हे । इति एवम् । अवेत्य ज्ञात्वा । भवदुःखमीरवः<sup>२</sup> भवे संसारे संभवदुःखे मीरवो भीताः । कर्मबन्धनविपक्षभूतया कर्मणा<sup>३</sup> बन्धनस्य विपक्षभूतया । ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदा ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तच्च दर्शनं सम्यग्दर्शनं तच्च चरित्रं सम्यक्चारित्र्यं तच्च तथोक्तानि, ज्ञानदर्शनचरित्राणां संपदा संपत्त्या । संगमं संगमम् । विदधते कुर्वन्ति । दुःखाच्च धारणे च लट् ॥ ४९ ॥ ज्ञानमिति । आत्मवेदिभिः आत्मज्ञानिभिः । अर्थ-परिबोधलक्षणम् अर्थस्य परिबोधः परिज्ञानं स एव लक्षणं यस्य तत् । ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । जिनमतामिरोचनं जिनमते आर्हतमतेऽमिरोचनं विदधास । दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । पापकर्मचिरतिस्वभावकं<sup>४</sup> पापकर्मणा कर्मबन्धनस्म-कारणहिंसादिभ्यापाराणां विरतिनिवृत्तिरेव स्वभावो यस्य तत् । चरितं सम्यक्चारित्र्यमिति । कीर्तितं भाषितम् ॥ ५० ॥ संगतमिति । संगतं समुत्तम् । इदम् एतत् । त्रयं त्रयोऽवयवा अस्य त्रयम् । 'अवयवात्तयद्' इति तयट् । 'द्वित्रिम्यां लुग्या' इति तकारस्य लृक् । सम्यग्ज्ञानादित्रयम् । कृत्स्नकर्मविनिवृत्तिकारणं कृत्स्नानां साकल्यानां ( सकलानां ) कर्मणा द्रव्यभावकर्मणां विनिवृत्तिविमोक्षस्य कारणं निमित्तम् । प्रजायते प्रभवति । पङ्गुलोचनविहीनवत् पङ्गु-लज्जः ( लन् ) स च लोचनविहीनोऽन्धकः स च तथोक्तो पङ्गुलोचनविहीनोऽन्धकस्तथोक्तम् । एककम्<sup>५</sup> असह्यम् । पुनः पक्षेत् । अर्थसाधकं प्रयोजनसाधकम् । न भवेत् न स्यात् । भू सत्ताया लङ् । उपमा ॥ ५१ ॥ ज्ञानमिति । ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । भाविनः भविष्यतः । कर्मणः, आगमनिरोधिः ( धि ) आगमस्यास्रवस्य निरोधिः । ( चि ) निवारकः ( कम् ) । चरितं चारित्र्यम् । अजितसप्तम् अजितस्य पूर्वोपसत्स्य कर्मणोऽसन्नं नाशनम् । दृष्टिः सम्यग्दर्शनम् । एतयोः ज्ञानचारित्रयोः । पुष्टिं<sup>६</sup> तुष्टिम् । आचरति<sup>७</sup> इत्यम् अनेन प्रकारेण । एतत् इदं त्रयं सम्यग्ज्ञानादित्रयम्<sup>८</sup> । उपयोगवत् परस्परोपकारवत् । भवति ॥ ५२ ॥

फिर खोटी-खोटी योनियोमें चला जाता है ॥ ४८ ॥ यह जानकर संसारके दुःखोंसे डरनेवाले बुद्धिमान् पुरुष कर्मबन्धनकी विरोधिनी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की सम्पत्ति का समागम करते हैं ॥ ४९ ॥ जोवादि पदार्थोंका यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान है; जिन मतकी अभिरुचि सम्यग्दर्शन है और हिंसा आदि पाप कार्योंसे निवृत्त होना सम्यक् चारित्र्य है, ऐसा आत्मज्ञानियोने कहा है ॥ ५० ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों मिलकर समस्त कर्मोंकी निवृत्तिके कारण हैं । यदि वे पंगु और अन्धे पुरुष की भाँति अलग-अलग रहें तो मानवके प्रयोजनको सिद्ध नहीं कर सकते । अन्धे और पंगु मिलकर अपने इष्ट स्थानमें पहुँच सकते हैं । इसी तरह सम्यग्दर्शन आदि तीनों गुणोंके सम्मिलित सहयोगको पाकर जीव अपने गन्तव्य मोक्ष-धाम तक पहुँच सकता है ॥ ५१ ॥ सम्यग्ज्ञान आनेवाले कर्मोंको रोकने-वाला है और सम्यक्चारित्र्य पहलेसे आये हुए-बद्ध कर्मोंको दूर करनेवाला है । तथा सम्यग्दर्शन

१. अ पद्यमिदं नोपलभ्यते । २. = येषां । ३. = सबः संसारः तस्य दुःखं तस्माद् भीरवो भीताः ।  
 ४. सा कर्मणा । ५. = पापकर्मणामनुष्मकर्मणां हिंसादिभ्यापाराणां विरतिनिवृत्तिरेव स्वभावो यस्य तत् ।  
 ६. सा एकम् । ७. = पुष्टताम् । ८. = विदधाति । ९. सा सम्यग्ज्ञानाचारित्र्यम् ।



ज्ञानमात्रमिह संसृतिक्षये कल्पितं यद्बुधैर्न तत्तथा ।  
 भेषजावगममाश्रतः शमं व्याधिरिति किमुष्ठितैर्विना ॥ ५३ ॥  
 शुश्रुवानिति स बन्धमोक्षयोः कारणं जिनमुखारविन्दतः ।  
 तत्क्षणानुपपद्यौ धिरक्तां श्रेयसि त्वरयते हि भव्यता ॥ ५४ ॥  
 स प्रहाय शमसक्तमानसः प्रेम बन्धुसुतदारगोचरम् ।  
 देहजापितपरिच्छदः परं शिथिले श्रमणसेवितं पदम् ॥ ५५ ॥  
 चक्रवर्त्यपि गृहीतदर्शनः कायवाङ्मनसशुद्धिसंयुतः ।  
 त्रिः प्रणम्य जिनमर्चितं सतां प्राविशत्पुरमुद्गारगोपुरम् ॥ ५६ ॥

ज्ञानमात्रमिति । इह अस्मिन् । संसृतिक्षये संसृतेः संसारस्य क्षये । यत् ज्ञानमात्रं दर्शनमात्रं (दर्शन—) चारित्र्य-  
 निरपेक्षं ज्ञानमात्रम् । अबुधैः अज्ञानिभिः । कल्पितं कृतं तत् तथा [ न ] तेन प्रकरणेन भवति । अनुष्ठितैः  
 [ विना ] आचरणैर्विना । भेषजावगममाश्रतः भेषजस्य औषधस्यावसममाश्रतो ज्ञानमाश्रतः । व्याधिः रोगः ।  
 शमम् उपशमम् । एति किं याति किम् ॥ ५३ ॥ शुश्रुवानिति । सः अजितंजयः । जिनमुखारविन्दतः जिनस्य  
 तीर्थङ्कस्य मुखमेवारविन्दः कमलं तस्मात् । बन्धमोक्षयोः कर्मबन्धमोक्षयोः । इति एवं प्रकारेण । शुश्रुवान्  
 शृणोति स्म । तत्क्षणात्, विरक्ततां वैराग्यम् । उपपद्यौ उपजगाम । या प्र.पणे लिट् । भव्यता भव्यत्वम् ।  
 श्रेयसे मोक्षनिमित्तम् । त्वरयते हि शीघ्रं ( शीघ्रताम् ) करोति ॥ ५४ ॥ स इति । शमसक्तमानसः शमेन  
 उपशमेन ( शमे उपशमे ) सक्त युक्त ( आसक्त ) मानसं यस्य सः । सः अजितंजयः । बन्धुसुतदारगोचरं  
 बन्धवश्च सुताश्च दाराश्च तथोक्ता बन्धुसुतदारा एव गोचरा यस्य तत् । प्रेम प्रीतिम् । प्रहाय विहाय । देह-  
 जापितपरिच्छदः देहजेऽजितसेनेऽपि स्थापित परिच्छदो येन सः, सन् । श्रमणसेवितं श्रमणेः सेवितमाराधि-  
 तम् । परं प्रकृतम् । पदं मोक्षपदमित्यर्थः । शिथिले सिधेवे । श्रुत् सेवाया लिट् ॥ ५५ ॥ चक्रेति । कायवाङ्-  
 मनसशुद्धिसंयुतः कायवाङ्मनसानां शुद्धया युतः । चक्रवर्त्यपि सार्वभौमोऽपि । गृहीतं दर्शनं यस्य ( येन ) सः  
 सन् । सतां सद्भिः । अर्चितं पूजितम् । ' वा नाकस्य—' इत्यादिना करणे छष्टौ । जिनं जिनेश्वरम् । त्रि-  
 प्रणम्य श्रीन् वारान् प्रणम्य । उदारगोपुरम् उदारान्युन्नतानि गोपुराणि पुरद्वाराणि यस्य तत् । पुरं विनीता-

इन दोनों ( सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ) की पुष्टि करता है । इस तरह ये दोनों उपयोगी हैं  
 और हैं एक दूसरेके उपकारी ॥ ५२ ॥ 'अकेला ज्ञान ही संसारका अन्त करके मुक्ति दिलाने-  
 में समर्थ है' ऐसी कल्पना कुछ अज्ञानी लोगोंने कर रखी है, पर वह ठीक नहीं; क्योंकि अनु-  
 ष्ठानके बिना दवाओंका खाली ज्ञान कर लेनेसे व्याधि शान्त नहीं हो सकती । दवाओंकी  
 जानकारीके साथ जब विश्वास और परहेज होते हैं, तब रोग शान्त होता है । इसी प्रकार  
 तत्त्वोंके ज्ञानके साथ जब श्रद्धा और आचरण होते हैं तब कहीं संसारकी समाप्ति—मुक्तिकी  
 प्राप्ति होती है ॥ ५३ ॥ जिनेन्द्र भगवान् — स्वयंप्रभके मुख कमलसे, इस तरह बन्ध और मोक्ष  
 के कारण सुनकर अजितंजय तत्काल विरक्त हो गया । भव्यता निश्चय ही कल्याणके लिए  
 शीघ्रता कराती है ॥ ५४ ॥ अजितंजयका मन अब केवल आत्मशान्ति पानेके लिए उत्तम हो  
 उठा । फलतः उसने अपने परिवारके बन्धु, पुत्र और पत्नीसे प्रेमका नाता तोड़ दिया, राज्यका  
 भार पुत्रको सौंप दिया और फिर उत्कृष्ट पदका—जिसकी आराधना श्रमण करते चले आ रहे हैं—  
 आश्रय लिया ॥ ५५ ॥ चक्रवर्तीके मन, वचन और कायमें पहलेसे पवित्रता थी ही, पर इस  
 अवसरपर उो सच्चो श्रद्धा भी उत्पन्न हो गई । सज्जनोके द्वारा पूजित स्वयंप्रभ भगवान्को

१. अ ज्ञानमाचरणहीनमत्र सज्ज्ञानहीनमपि तत्र सिद्धये । २. अ क ल ग घ भ भेषजैश्च विदितै-  
 र्यतः शमः । ३. = कल्पनाविषयीकृतम् । ४. = मुखमरविन्दमिव ।

अन्यदा नृपतिवृन्दवेष्टितः संनियुज्य<sup>१</sup> स पुरः प्रयाणके ।

वाहिनीपतिमसह्यतेजसं निर्जगाम दशदिग्जिगीषया ॥ ५७ ॥

छत्रमुल्लसितफेनपाण्डुरं निर्बभ्रावुपरि तस्य गच्छतः ।

धर्मवारणमुखेन<sup>२</sup> सेवितुं चन्द्रमण्डलमिवागतं स्वयम् ॥ ५८ ॥

चित्ररत्नपरिपूर्णकुक्षयो मन्द्रगजितकृतोऽर्णवा इव ।

संचरिष्णुरथरूपधारिणं स्वं विकृत्य निधयः प्रतस्थिरे ॥ ५९ ॥

स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशयं<sup>३</sup> व्यन्तरामरसहस्ररक्षितम् ।

सर्वमध्वनि रथाङ्गपूर्वकं तस्य रत्नमभवत्पुरःसरम् ॥ ६० ॥

पुरम् । प्राविशत् प्रविष्टवान् । विश प्रवेशने लट् ॥ ५६ ॥ अन्यदेति । अन्यदा अन्यस्मिन् काले । नृपतिवृन्द-  
वेष्टितः नृपतोना भूगना वृन्देन समूहेन वेष्टितः परिवृतः । स. अजितसेनचक्रः । असह्यतेजस सोऽहमशक्यप्रतापम् ।  
वाहिनीपति सेनापतिम् । पुर प्रयाणके अग्रप्रयाणनिमित्तम् । संनियुज्य विनियोगं विधाय । दशदिग्जि-  
गीषया जेतुमिच्छा जिगीषा दशाना दिशा दिशाना जिगीषा तथा । जि जि अभिभवः । 'कस्येककनूकात्'  
इत्यादिना मन् । 'जेलिट् सन्' इति द्विभावे पूर्वस्मात्परस्य गौ<sup>४</sup>—इत्यादेशः । निर्जगाम निर्ययो । गम्ल् गतो  
लिट् ॥ ५७ ॥ छत्रमिति । उल्लसितफेनपाण्डुरम् उल्लसितो त्रिभासितः फेन इव छिण्डीर इव पाण्डुरं शुभ्रम् ।  
छत्रं छत्ररत्नम् । गच्छतः यत । तस्य चक्रिणः । उपरि ऊर्ध्वभागे । धर्मवारणमुखेन (मिषेण) धर्मवारणमिति  
छत्रमिति मुखेन व्याजेन ( धर्मवारणं छत्रं तस्य मिषेण व्याजेन ) सेवितुम् आराधय ( धिय- ) तुम् । स्वयम्  
आगतम् आयातम् । चन्द्रमण्डलमिव चन्द्रबिम्बमिव । निर्बभौ भाति स्म । उपेक्षा ॥ ५८ ॥ चित्रेति । चित्र-  
रत्नपरिपूर्णकुक्षयः चित्रैरनाविर्ध रत्नं परिपूर्णं, कुक्षियेषा ते । मन्द्रगजितकृतः मन्द्र गम्भीरध्वनिः तच्च  
तद्गजितं च मन्द्रगजितं ( तत् ) कुर्वन्तीति तद्योक्ताः । अर्णवा इव समुद्रा इव । निधय नवनिधयः । स्वं  
स्वरूपम् । मचरिष्णुरथरूपधारिणं संचरिष्णोर्गमनशीलस्य रथस्य स्पन्दनस्य रूपधारिणं स्वरूपधारिणम् ।  
विकृत्य निर्माय । प्रतस्थिरे निर्जग्मुः । उपेक्षा (?) ॥ ५९ ॥ स्वेति । स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशयं स्वेषां स्वेषां  
कृत्यस्य कार्यस्य करणे शिषाने उद्यत उद्युक्त आशयो मानसं यस्य तत् । व्यन्तरामरसहस्ररक्षितं व्यन्तराणां  
व्यन्तरादेवानां सहस्रेण रक्षितं पालितम् । रथाङ्गपूर्वकं रथाङ्गं चक्रं तदेव पूर्वं यस्य तत् । सर्वं सकलम् ।  
रत्नं जोबाजोवभेदम् । तस्य चक्रिणः । अध्वनि मार्गः । पुर.सर पुरः सरतीति पुरःसरमग्रगामि । अभवत्

तीन बार प्रणाम करके उसने अपने नगरमें प्रवेश किया — जहाँ बड़े-बड़े द्वार थे ॥ ५६ ॥ कुछ  
दिनोंके बाद चक्रवर्ती अजितसेन—जिसके साथ सभी राजे-महाराजे थे—अपने तेजस्वी सेनापति-  
को आगे प्रयाण करनेका आदेश देकर दिग्बिजयके लिए निकल पड़ा ॥ ५७ ॥ चलते समय चक्र-  
वर्तीके ऊपर, लहराते फेनकी भाँति सफेद छाता ऐसा जान पड़ता था मानो उस (सफेद छाते) के  
बहाने स्वयं चन्द्रमण्डल उसकी सेवामें उपस्थित हुआ हो ॥ ५८ ॥ जिनका भीतरी भाग विचित्र  
रत्नोंसे भरा हुआ है और जिनका गर्जन गम्भीर है, समुद्र सरोखी वे नौ निधियाँ चलते हुए  
रथका रूप धारण करके चल पड़ीं ॥ ५९ ॥ अपना-अपना कर्तव्य पालन करनेके लिए उद्यत  
और एक हजार व्यन्तर देवोंसे सुरक्षित चौदह रत्न मार्गमें चक्रवर्तीके आगे-आगे चलने लगे ।

१. अ संनियुज्य म संनियोज्य । २. अ क ल ग घ म वारणमिषेण । ३. म ण्ठपधारिणः । ४. व  
"द्यव्यन्तरा" । ५. आ गिरित्यादेशः श गीरित्यादेशः । ६. = फेनी छिण्डीरः स इव ।

तस्य वाजिमुखै रजश्चयैरुत्थितै स्तपनवर्मरोधिभिः ।  
 पूरिताः करभयादिव स्वयं भेजिरे भृशमदृश्यतां दिशः ॥ ६१ ॥  
 चित्रमेतद्वतिदूरवर्तिनाप्यस्य सैन्यरजसा प्रसर्पता ।  
 यच्चिरन्तरमरातियोषितश्चक्रिरे विगलदध्रुलोचनाः ॥ ६२ ॥  
 सिद्धरत्नमयगम्य संनुकीभूतमप्रतिमपौरुषाश्रयम् ।  
 मूर्धदेशनिहिताप्रपाणय प्राभृतैस्तमुपतस्थिरे नृपः ॥ ६३ ॥  
 नामयन्नतुल्यदैवपौरुषः सिद्धशक्त्युपचिताम्स पार्थिवान् ।  
 प्राप वारिधितटं समुच्चलत्कीर्तिभासितसमस्तदिङ्मुखः ॥ ६४ ॥

अभूत् । मू सत्ताया लङ् । जातिः ॥ ६० ॥ तस्येति । तस्य चक्रिणः । वाजिमुखैः वाजिनामश्वानां मुखैः  
 शाफ़ातैः । तपनवर्मरोधिभिः तपनस्य सूर्यस्य वर्म आकाश रोधिभिराच्छादिभिः । उत्थितै ऊर्ध्वं गतैः ।  
 रजश्चयैः रजसा रेणूना चयैर्निबहैः । पूरिताः<sup>१</sup> व्यापिताः । दिशः बहुभ । करभयादिव करस्य किरणस्य  
 भयादिव भीतेरिव । स्वयं, भृशम् अत्यन्तम् । अदृश्यता दृष्टिगोचरहितत्वम् । भेजिरे भजन्ति स्म । भज सेवाया  
 लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ६१ ॥ चित्रमिति । अस्य चक्रिणः । प्रसर्पता निर्गच्छता । सैन्यरजसा ( सैन्यस्य सेनाया )  
 रजसा रेणुना । अतिदूरवर्तिना अपि विप्रकृष्ट<sup>२</sup> वर्तमानेनापि । निरन्तरम् निरवकाशम् । अरातियोषितः अरा-  
 तीनां शत्रूणा योषितः प्रमदा । विगलदध्रुलोचनाः विगलत् खवद् अधु नेचोदकं ययो<sup>३</sup> ते तद्योवते विगलदध्रुणो  
 लोचने यासा ता । चक्रिरे<sup>४</sup> विदधु यत् एवत् । चित्रम् आश्चर्यम् । उत्प्रेक्षा (?) ॥ ६२ ॥ मिद्वेति । सिद्धरत्नं  
 सिद्धानि रत्नानि यस्य तम् । समुखोभूतम् अभिमुखोभूतम् । अप्रतिमपौरुषाश्रयम् अप्रतिमस्योपमातीतस्य  
 पौरुषस्याश्रयः तम् । तं चक्रिणम् । अशिम्य जात्वा । मूर्धदेशनिहिताप्रपाणयः मूर्धनो मस्तकस्य देवे प्रवेशे  
 निहितोऽप्रपाणयैवा<sup>५</sup> ते । नृपाः भूमिगः । प्राभृतैः उपायनै । उपतस्थिरे सेवा चक्रिरे । छा गतिनिवृत्तौ  
 लिट् । ६३ ॥ नामयन्निति । अनुलदैवपौरुष अनुले असमाने दैवपौरुषे यस्य नः । समुच्चलत्कीर्तिभासित-  
 समस्तदिङ्मुखः समुच्चलत्या कीर्त्या यशसा भासितानि समस्तानां सर्वांश दिशा मुखानि यस्य सः ।  
 सः चक्रो । सिद्धशक्त्युपचिताम् सिद्धाभिविद्याश्रमि । शक्तिभिरुत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभिरुपचितान्<sup>६</sup> राशोभूतान् ।  
 प्रापिवान् भूमिगान् । नामयन् नमोऽकुर्वन् । वारिधितटं वारिधेः समुद्रस्य तटं तीरम् । प्राप ययौ । आप्

चलते समय रत्नानि सबसे आगे चक्र था ॥ ६० ॥ घोड़ों की टापोके पडनेसे धूल उडने लगी ।  
 धीरे-धीरे उसने पूरे आकाशको घेरकर सूर्यका मार्ग छेक लिया । सारी दिशाएँ अदृश्य हो गईं,  
 जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चक्रवर्तीको लगान देनेके भयमे सब दिशाएँ स्वयं कहीं  
 जाकर छिप गई हों ॥ ६१ ॥ उस समय यह एक आश्चर्यकी बात हुई कि फैलनेवाली सेना  
 की धूलिने स्वयं बहुत दूर रहकर भी ( केवल अपना दर्शन देकर, आँखोंमें घुसकर नहीं ) शत्रु-  
 स्त्रियोंको लगातार आँखोंसे आँसू गिरानेके लिए बाध्य कर दिया ॥ ६२ ॥ चक्रवर्तीको चौदह  
 रत्न सिद्ध हैं । उसका पराक्रम अनुपम है — पराक्रममे उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता ।  
 वह यहाँ आ ही रहे है, यह जानकर राजे-महाराजे नाना प्रकारका उपहार लेकर उसके सामने  
 हाथ जोड़कर सिर नवाते हुए पहुँचे ॥ ६३ ॥ अनुपम दैव और पुरुषार्थ वाले और परिपूर्ण प्रभु-  
 शक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साह शक्तिसे समूह राजाओंको झुकाकर चक्रवर्तीने अपनी बढ़ती  
 हुई कीर्तिसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित कर दिया । फिर वह समुद्र तटपर पहुँचा ॥ ६४ ॥

१. म "रुचिष्ठितं" । २. आ इ क ख ग घ म "दैवपौरुषान्" । ३. = व्याप्ता । ४. वा विप्रकृष्टवर्त" ।

५. = वाय्म्यां । ६. = विदधिरे । ७. = निहिता अप्रपाणयो येः । ८. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिपु तु सर्वासु  
 'समुच्चलत्' इत्येवोपक्रम्यते । ९. = येन । १०. = संपन्नान् ।

तत्क्षणात्क्षुभितसिंहविह्वरः संनिकुष्टमवगम्य चक्रिणम् ।  
 तं प्रभासचिबुधः कृताञ्जलिर्विध्वस्तनिकरैरपू पुञ्जन् ॥ ६५ ॥  
 एतस्य दौकितविचित्रभूषणो देव नन्द जय रक्ष मेदिनीम् ।  
 तं बभौभिरिति साञ्जलिः स्तुतुवन्मागधोऽप्यञ्जनि सत्यमागधः ॥ ६६ ॥  
 द्वीपसिन्धुविविधाकरोद्भवैः प्राभूतैर्वरतनुर्मनोहरैः ।  
 तं विनम्रमुकुटः कुटुम्बिवत्पर्युपास्त मद्मानवर्जितः ॥ ६७ ॥  
 प्रागपाववरुणदिग्व्यवस्थितानामभ्यस्य नृपलेखरामरान् ।  
 व्योमसंचरणगर्वितानसौ निजिगाय विजयार्धवासिनः ॥ ६८ ॥

व्याप्तौ लिट् । सामान्यम् (?) ॥ ६४ ॥ तत्क्षणादिति । अस्मकालात् । क्षुभितसिंहविह्वरः क्षुभित<sup>३</sup> संबलितं सिंहविह्वरं सिंहासनं यस्य सः । प्रभासचिबुधः प्रभासनामा अमरः । संनिविष्टम्<sup>४</sup> आगतम् । तं चक्रिणम्- अजितसेनचक्रवर्तिनम् । अवगम्य ज्ञात्वा । कृताञ्जलिः विद्वताञ्जलिः सन् । दिग्ध्वस्तनिकरैः दिग्घानां रत्नानां निकरैः समूहैः । अपूञ्जत् अपूजयत् । पूजं पूजाया लुङ् ॥ ६५ ॥ एत्येति । दौकितविचित्रभूषणः दौकितान्यानीतानि विचित्राणि नानाविधानि भूषणानि येन सः । साञ्जलिः अञ्जलिना युक्तः । मागधोऽपि मागधामरोऽपि । एतस्य आगतस्य । देव स्वात्मन् । नन्द समृद्धो मय । जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । मेदिनीं भूमिम् । रक्ष पालय । रक्ष पालनं लेट् ( लोट् ) । इति एवंविधैः । बभौभिः बचनैः । तं चक्रिणम् । स्तुतुवन् नुवन् । तस्य चक्रिणः । मागधः स्तुतिपाठकः । अञ्जनि अजायत । जनैश्च पादुभिर्वे लुङ् ॥ ६६ ॥ द्वीपेति । विनम्रमुकुटः विनम्रं विनमनशीलं मुकुटं<sup>५</sup> यस्य सः । 'नम्कम्य-' इत्यादिना शीलायै र-प्रत्ययः । मद्मानवर्जितः मद्मानाभ्यां मदाग्रहगर्वाभ्यां वर्जितो रहितः । वरतनुः वरतनुनामा अमरः । द्वीपसिन्धुविविधाकरोद्भवैः द्वीपेषु अन्तरोपेषु सिन्धौ समुद्रे विद्यमानेषु [ विविधेषु ] नानाप्रकारेषु आकरेषु अनिस्थानेषु उद्भवैः उत्पन्नैः । मनोहरैः मनोर्मैः । प्राभूतैः उपायैः । तं चक्रिणम् । कुटुम्बिवत् करवीकृतकुण्डलवत् । पर्युपास्त अष्टवत् । आसि उत्पन्ने लुङ् ॥ ६७ ॥ प्रागिति । अमो अयं चक्री । 'प्रागपाववरुणदिग्व्यवस्थितान् प्राक् पूर्वा सा च अपाग् दक्षिणा सा च वरुणा पश्चिमा सा च तथोक्ताः ताश्च ता दिशश्च तथोक्ताः, प्रागपाववरुणदिक्षु व्यवस्थिताः प्रवृत्ताः, तान् । नृपलेखरामान् नृपान् भूमिपान् लेखरान् विद्याधरान् देवान् । आनमश्च आनमनं पूर्वम् । व्योमसंचरणगर्वितान् व्योम्नि गमने संचरणेन गमनेन गर्वितान् । विजयार्धवासिनः विजयार्धं विजयार्धपर्वते वासिनो वसन्तीत्येवशीलान् । निजिगाय जयति स्म । जि औ अभिभवे लिट् ।

ज्यो हो वह समुद्र तटपर पहुँचा त्यों ही अपने सिंहासनके हिलनेसे प्रभास नामक देव यह समझ गया कि चक्रवर्ती अजितसेन यहाँ आया हुआ है । फिर उसने दोनों हाथ जोड़ते हुए दिव्य रत्नों-का उपहार देकर चक्रवर्तीका सत्कार किया ॥ ६५ ॥ मागध नामका देव चक्रवर्तीके पास जाकर तथा विचित्र रत्नोंके आभूषण प्रदान करके उसको स्तुति करता हुआ कि 'देव ! आप समृद्ध हों, आपकी जय हो, आप सारी भूमिकी रक्षा करें' पूरा मागध ( स्तुति पाठक ) ही बन गया ॥ ६६ ॥ वरतनु नामक देवने आग्रह और अहङ्कार छोड़कर अपने मुकुटको नवाते हुए द्वीप, समुद्र और नाना खानोंसे उत्पन्न सुन्दर उपहार देकर चक्रवर्ती अजितसेनको कुटुम्ब-के एक सदस्यकी भाँति उपासना की ॥ ६७ ॥ अजितसेनने पहले पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशाओंके निवासी राजों-महाराजों, विद्याधरों और देवोंको नमामा फिर आकाशगमनका गर्व

१. म पूजयत् । २. आ इ प्रागपार्ध । ३. = कम्पितमित्यर्थ । ४. = संनिकुष्टम् । ५. आ मुकुटं । ६. आ अग्रद्वीपेषु । ७. = 'कुटुम्बो कर्षकः क्षेपो ह्यो कृषिक कर्षको । कुषोऽलोऽपि' इति ह्येनः । ८. वा प्रागपार्धम् ।

शक्तिमिस्तिरुमिरन्वितोऽभवद्यः समस्तविजयस्य भाजनम् ।

तस्य कः खलु जितांशुमहद्युतेर्विस्मयोऽत्र विजयार्धसाधने ॥ ६९ ॥

साधयन्निविधरत्नमण्डिता मेदिनीमधरितारिविक्रमः ।

वर्धमानविभवोऽनुबासरं सोऽभवत्सकललोकवत्सलः ॥ ७० ॥

प्रत्यहं द्विगुणपोडशावनीमुख्यपाथिवसहस्रमूर्धनु ।

तस्य संसदि गतस्य चक्रिरे वासचूर्णरुचिमङ्गिप्ररेणवः ॥ ७१ ॥

पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा सोऽजनिष्ट भुवनतिवर्तिना ।

वर्णवत्यचिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्रमुखपद्मपट्पदः ॥ ७२ ॥

'जे लिट् सनि' इति द्विर्भावं पूर्वस्मात्तरस्य गो-इत्यादेशः । अवसरः (?) ॥ ६८ ॥ शक्तिमिरिति । य चक्रो । तिसृभिः त्रिमहर्षाभिः । शक्तिभिः प्रभूताहमन्त्रशक्तिभिः । अन्वितः युक्तः । समस्तविजयस्य समस्तानां सर्वेषां विजयस्य । भाजनं स्थाविस्थानं च । अवसत् अभूत् । जितांशुमद्युतेः जिता अंशुमद्युतियस्य तस्य । तस्य चक्रिणः । अत्र अस्मिन् । विजयार्धसाधने समस्तदेवाधिपतेः तस्य विजयार्धपर्वतस्थितविद्याधर (स्य) साधने देशार्धसाधने वा । को विस्मयः, विस्मयो नास्त्येत्यर्थः । सर्वविजयभाजनस्य चक्रिणो विजयार्ध इत्युक्ते अर्धे विजयो यावत् (तावत्) तस्य साधने को विस्मयः, इति ध्वनिः ॥ ६९ ॥ साधयन्निति । अचरितारिविक्रमः अधरितो निराकृतोऽङ्गो विक्रमा येन सः । सकललोकवत्सल सकले लोके जने वत्सलः प्रीतियुक्तः । सः चक्रो । विविधरत्नमण्डिता विविधैर्नानाविधै रत्ने मण्डितामलकुलाम् । मेदिनी भूमिम् । साधयन् निष्पादयन् । अनुबासरं प्रतिदिनम् । वर्धमानविभवः वर्धमान एवमानो विभवः संवत्स्य सः । अवसत् अभूत् ॥ ७० ॥ प्रत्यहमिति । संसदि सभायाम् । गतस्य यातस्य । तस्य चक्रिणः । अङ्गिप्ररेणवः अङ्गिप्ररेणवा रजांसि । द्विगुणपोडशावनीमुख्यपाथिवसहस्रमूर्धनु द्वौ गणौ येषां तं (तेषां) द्विगुणानां पोडशानामवयवा मुख्यानां पाथिवानां भूयानां सहस्रस्य मूर्धनु मस्तके पु-द्गाविशस्तस्य-मकुटबद्धानां मस्तकेष्वित्यर्थः । प्रत्यहं प्रतिदिनम् । वासचूर्णरुचि वासचूर्णस्य पटवारचूर्णस्य रुचि शोभाम् । चक्रिरे विदधुः । लुक् कृत् करणे लिट् । उत्प्रेषा (?) ॥ ७१ ॥ पूर्वलिः सः चक्रो । भुवनतिवर्तिना । भुवनं लोकमतिवर्तिना अतिक्रम्य वर्तमानेन । पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा पूर्वस्मिन् जन्मनि प्राप्तव्यं कृतेन विहितेन पुण्यकर्मणा शुभकर्मणा ॥ वर्णवत्यचिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्रमुखपद्मपट्पद अचिरं रोचि यस्याः सा अचिर-रोचिविद्युन्माला सेवोज्ज्वलाः स्त्रियो वनितास्तासां सहस्रं तथोक्तं पद्मभरिका नवतिः तथोक्ता वर्णवतिवारान् ॥ अचिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्र तस्य मुक्ताग्रेव पद्यानि कमलानि तेषां पट्पदो भ्रमरः ।

करनेवाले विजयाद्धं पर्वतके वासियोंको परास्त किया ॥ ६८ ॥ चक्रवर्ती अजितसेन प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति, इन तीन शक्तियोंसे युक्त है, मूर्धसे कहो अधिक तेजस्वी है और उसमें पूरे भरतक्षेत्रके—जिसके छः खण्ड है—विजयकी पूर्ण क्षमता है । अतः उसके विजयाद्धं विजयसे क्या आश्चर्य ? ॥ ६९ ॥ नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित भूमि ( रत्नगर्भा वसुधरा ) को अपने वशमें करके चक्रवर्तीने शत्रुओंके पराक्रमको हेठा-नीचा कर दिया । उसका वैभव दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था और उसका वात्सल्य भी सभी लोगोंमें हों गया ॥ ७० ॥ अजितसेन प्रतिदिन जब सभा में जाता था तब उसके चरणोंको धूलि बत्तीस हजार प्रमुख राजाओंके मस्तकपर सुगन्धित चूर्णकी शोभाको प्राप्त कर रहो थो ॥ ७१ ॥ चक्रवर्ती अजितसेन पूर्व संचित लोकातिशायी पुण्यकर्मके निमित्तसे छियानवे हजार विजुलीके समान

१. = यंन । २. = वशीकुर्वन् । ३. = लोकमतिवर्तते इति लोकातिवर्ती, तेन । लोकातिशायिना

इत्यर्थः । ४. आ प्रती स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते ।

तस्य मन्थरचतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिदानकर्मैः ।  
 मन्दिराङ्गणमभूदनारतं दुष्प्रलङ्घ्यमघनागमेध्वपि ॥ ७३ ॥  
 तस्य मास्तविलोलमूर्तिभिर्द्विनंबोत्तमतुरङ्गकोटिभिः ।  
 क्षुभ्यति स्म परितश्चमचयो वीचिपङ्क्तिभिरिवापगापतिः ॥ ७४ ॥  
 शुद्धकुन्ददलरोचिषां गवामाचितास्तिसृभिरस्य कोटिभिः ।  
 रेजिरे गहनभूमया दिशः शारदीभिरिव मेघपङ्क्तिभिः ॥ ७५ ॥  
 तस्य वारिनिधिवारिमेलला मेदिनी मदनसंनिभाकृतेः ।  
 सस्यसंपदमसूत वाञ्छितानामेकसंस्थहलकोटिवाहिता ॥ ७६ ॥

रूपकम् । अजनिष्ट अजायत । जनैश्च प्रादुर्भावे लुङ् ॥ ७३ ॥ तस्येति । तस्य चक्रिणः । मन्दिराङ्गणं मन्दिरस्य गृहस्याङ्गणम् । मन्थरचतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिदानकर्मैः चतुष्टयेनाधिकाशीतः, चतुष्टयाधिकाशीतवार्तित्वान् लक्षानि येषां ते च ते करिणश्च तथोक्ताः, मन्थरा मन्दगमनाः ते च ते चतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिणश्च तथोक्ताः । तेषां दान मदजलं तस्माज्जातं ( तैः ) कर्मैः पङ्क्तिभिः । अघनागमेध्वपि प्रीतिमकालेध्वपि । अनारतम् अनवरतम् । दुष्प्रलङ्घ्य लङ्घितुमशक्यम् । अभूत् अभवत् । ७३ ॥ तस्येति । तस्य चक्रिणः । चमूचयः चम्बाः सेनायादयः समूहः । मास्तविलोलमूर्तिभिः मास्त इव वायुरिव विलोला चञ्चला मूर्तिः शरीरं यासां ताभिः । द्विनंबोत्तमतुरङ्गकोटिभिः द्वौ वारौ नव द्विनंब उत्तमाश्च ते तुरङ्गाश्च तथोक्ताः, उत्तमतुरङ्गाणां कोटयस्तथोक्ताः द्विनंब च ता उत्तमतुरङ्गकोटयश्च ताभिः । वीचिपङ्क्तिभिः वीचीना तरङ्गाणां पङ्क्तिभिः समूहैः । आपगापतिः समुद्रः । स इव । सर्वतः परितः । क्षुभ्यति स्म क्षुभोभ । क्षुभिः सञ्चलने लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥ शुद्धेति । शुद्धकुन्ददलरोचिषां शुद्धानां निर्मलानां कुन्ददलानां कुन्दपुष्पाणां रोचिर्विव रोचिः कान्तितया तानाम् । गवां घेतूनाम् । तिसृभिः कोटिभिः, आचिता व्याप्ताः । अथ चक्रिणः । गहनभूमयः गहनस्य कान्तस्य भूमयः प्रदेशाः । शारदीभिः शरत्कालसम्बन्धीभिः । मेघपङ्क्तिभिः मेघानां जलदानां पङ्क्तिभिः समूहैः । दिशः ककुभ इव । रेजिरे राजति स्म । राजून् दीप्ती लट् ॥ ७५ ॥ तस्येति । मदनसंनिभाकृतेः मदनस्य मन्मथस्य संनिभा आकृतिराकारो यस्य तस्य । उपमा । तस्य चक्रिणः । एकसंस्थहलकोटिवाहिता एका सह्या येषां ते तथोक्ताः, एकसंस्थानां हलानां लाङ्गलानां कोटया वाहिता कृपिता, एककोटिप्रमितहला—इत्यर्थः । वारिनिधिवारिमेलला वारिनिधेः समुद्रस्य वार्येव जलमेव मेलला काञ्चिः यस्यां सा समुद्रमोक्ष—इत्यर्थः । रूपकम् । मेदिनी भूमिः ।

उज्ज्वल, सुन्दर स्त्रियोके मुखकमलोंका रस लेनेके लिए साक्षात् भ्रमर बन गया ॥ ७२ ॥ अजितसेनके यहाँ मन्द गतिसे चलने वाले चौरासी लाख हाथी थे । उनके मदजलसे राजप्रासादके आँगनमें वर्षा ऋतुके बिना भी सदा इतनी अधिक कोच मची रहती थी कि लोगोंको वहाँ से निकलना हो कठिन हो गया ॥ ७३ ॥ चक्रवर्तीके यहाँ वायुकी गतिसे चलनेवाले और वायुके समान चञ्चल अठारह करोड़ घोड़े थे । उनके रहनेसे उसकी विशाल सेना चारो लहराते हुए धुव्व समुद्रोंकी भाँति दृष्टिगोचर होती थी । सेना समुद्रकी तरह अपार थी और घोड़े उत्ताल तरङ्गों सरोखे—सदा उछल-कूद मचाने वाले ॥ ७४ ॥ उसके यहाँ तीन करोड़ गायें थी । वे निर्मल कुन्दपुष्पके समान धीले रंग की थी । उनसे व्याप्त चरागाहकी भूमियाँ, शरत्कालीन मेघोंसे घिरी हुई दिशाओंकी भाँति सुशोभित होती थी ॥ ७५ ॥ वह कामदेवके समान सुन्दर था—उसका आकार कामदेवसे बिल्कुल मिलता-जुलता था । उसके राज्य की सीमा समुद्र पर्यन्त थी—उसके राज्यकी भूमि समुद्रसे घिरी हुई थी । उसकी उपजाऊ जमीन,

सैन्यनाटयनिधिरत्नभोजनान्यासनं शयनभाजने<sup>१</sup> पुरम् ।

बाहनेन सममित्यभोप्सितं भोगमाप स दशाङ्गमीश्वरः ॥ ७७ ॥

सोऽधिगम्य वसुधाविशेषकः षोडशामरसहस्रसेव्यताम् ।

नाकनायक इव स्वतेजसा दुःसह्येन विततान रोदसीम्<sup>२</sup> ॥ ७८ ॥

संकुलं नरनभश्चरामरैराकरैश्च बहुरत्नयोनिभिः ।

म्लेच्छखण्डसहितं स समितैरार्यखण्डमनयम्वशं दिनः ॥ ७९ ॥

षट्खण्डमण्डितमखण्डमिति<sup>३</sup> प्रचण्डकोदण्डखण्डितरिपुभरतं<sup>४</sup> प्रसाध्य ।

प्रत्याजगाम जगतोतिलकः स<sup>५</sup> सम्राडुत्कण्डमाननिजबन्धुजनामयोध्याम् ॥ ८० ॥

वाञ्छिता समीहितान् । सत्यसम्पद सस्तरसप्तितम् । असूत वदपादयत् । पृष्टं प्राणिगर्भविभोबने लङ् ॥ ७६ ॥  
सैन्येति । ईश्वरः प्रभुः । सः चक्रो । सैन्यनाटयनिधिरत्नभोजनानि सैन्यं सेना तच्च नाटयं नर्तनं तच्च निधिश्च  
रत्नानि जीवाजीवभेदानि तानि च भोजनं जेमनं<sup>१</sup> तच्च तथोक्तानि । आसनं सिंहासनम् । शयनभाजने शयनं च  
भाजने च तथोक्तं । बाहनेन समं यानेन साकम् । पुरमिति पुरीति । अभोप्सितं वाञ्छितम् । दशाङ्गं दश अङ्गा  
न्यवयवा यस्येति दशाङ्गस्तम् । भोगम्, आप ययो । आप्लु व्याप्तो लिट् ॥ ७७ ॥ स इति । वसुधाविशेषकः  
वसुधाया वसुधाराया विशेषकस्तिलकः । सः चक्रो । षोडशामरसहस्रसेव्यता षोडश [ षोडश ] अमराणां<sup>२</sup>  
गणद्वेदेवानां सहस्रेण<sup>३</sup> सेव्यतामाराध्यताम् । अधिगम्य लब्ध्वा । दु सहेन सोढुमशक्वेन । स्वतेजसा स्वस्य  
तेजसा प्रतापेन । नाकनायक इव नाकस्य स्वर्गस्य नायक इव देवेन्द्र इव । रोदसीं भूम्याकाशे । 'एकयोक्त्या  
द्यावाभूमौ रोदसी रोदसी तथा'<sup>४</sup> इत्यभिधानात् । विततान विस्तारयति रम । तनुजं विस्तारे लिट् ।  
उपमा ॥ ७८ ॥ संकुलमिति । स चक्रो । नरनभश्चरामरै नरैर्मनुष्यैर्नभश्चरै विद्याधरैरमरै देवैश्च । बहुरत्न-  
योनिभिः बहूनां बहुलानां रत्नानां योनिभिरुत्पत्तिकारणैः । आकरैश्च खनिस्वान्देव । संकुलं संकीर्णम् ।  
म्लेच्छखण्डसहितं म्लेच्छानां खण्डैर्भागैः । सहितं युक्तम् । आर्यखण्डम् आर्याणां पुज्यपुण्यवानां खण्डम् ।  
समितेः अल्पैरित्यर्थः । दिविः दिवसैः । वशं स्वाधीनम् अनयत्<sup>५</sup> प्रापयत् । षोऽधिगम्य लङ् । सहोक्तिः (?)  
यस्य<sup>६</sup> सः । षट्खण्डेति । प्रचण्डकोदण्डखण्डितरिपु प्रचण्डेन समर्थेन कोदण्डेन चापेन खण्डिता निरस्ता रिपवः शत्रवो  
यस्य<sup>७</sup> सः । जगतोतिलकः जगत्या लोकस्य तिलकः श्रेष्ठः । सः सम्राट् अजितमेनचक्रो । षट्खण्डमण्डितं  
षट्खण्डैः षट्भागे मण्डितमलंकृतम् । अखण्डं संपूर्णम् । भरतं भरतसैन्यम् । इति उक्तप्रकारेण । प्रसाध्य

जो एक करोड़ हलोसे जोती जाती थी, इच्छित खाद्य सम्पत्ति उत्पन्न करनी थी ॥ ७६ ॥  
सारी प्रजा उसे अपना ईश्वर समझती थी । उसके पास सेना, नाटय, निधि, रत्न, भोजन,  
आसन, सेज, पात्र, पुर और वाहन ये दस प्रकारके इच्छित भोग थे ॥ ७७ ॥ वह पृथ्वीका  
तिलक था । सोलह हजार देव उसको सेवामें उपस्थित रहा करते थे । उसने इन्द्रके समान  
अपने असंख्य तेजसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर दिया था ॥ ७८ ॥ उसने थोड़े ही  
दिनोंमें आर्यखण्डको—जो मनुष्य, विद्याधर, देव और नाना प्रकारके रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली  
खानोंसे व्याप्त था—म्लेच्छखण्ड सहित जीत लिया—पाँच म्लेच्छखण्ड और एक आर्यखण्ड—इस  
तरह छः खण्डवाले भरतक्षेत्रको अजितसेन चक्रवर्तिने अपने अधीन कर लिया ॥ ७९ ॥  
सम्राट्का पराक्रम अप्रतिहत था । उसने अपने भयङ्कर धनुषसे शत्रुओंके छत्रके छूटा दिये थे ।

१. अ आ इ रत्नभाजना । २. अ आ इ शयनभाजने । ३. क ख ग घ म रोदसी । ४. अ क ख ग  
घ म म्लेच्छखण्डः । ५. अ रिपुनितरा । ६. आ इ दुत्कण्ट । ७. अ बन्धुरता । ८. श पूडो । ९. = 'भोजनं  
जेमनादने' इति हैमः । १०. श षोडशमराणां । ११. श प्रते सहस्रेण इति नोपलभ्यते । १२. आ रोषस्यौ  
रोषसी तथा । १३. = षट्खण्डमण्डितमखिलं भरतक्षेत्रमहोमसीयसा कालेन जिगायेत्यर्थः । १४. = येन ।

तस्यां षण्णिकपथकृताधिकसत्क्रियायां<sup>१</sup> द्वारप्रदेशविनिवेशिततोरणायाम् ।

तं कामकल्पवपुषं प्रविशन्तमुच्चैश्चुल्लोभ वीक्ष्य निबहः पुरसुन्दरीणाम् ॥ ८१ ॥

प्रावेशिकानकनिनाद्विबोधितस्य भूपालमार्गमभिधावनतत्परस्य ।

योषिद्वयस्य गुणवानपि संबभूव श्रोण्या सहानभिमतः कुचकुम्भभारः ॥ ८२ ॥

तद्रूपलोकनविलोमितलोचनायाः कस्याश्चिदुद्ग्रथितनीचि नितम्बबिम्बे ।

संसक्तमिन्दुरुचिरं दधदन्तरीयं स्वेदाम्बु बुद्धिमदिव स्खलितं ररक्ष ॥ ८३ ॥

सावयित्वा । उत्कण्ठमाननिजबन्धुजनां निजस्य स्वस्य बन्धव एव जनाः, उत्कण्ठमाना द्रष्टुमीहमाना निजबन्धुजना यस्याः<sup>२</sup> ताम् । अयोध्यां विनीतापुरीम् । प्रत्याग्रामा प्रत्याययो । गम्य गतो लिट् । रूपकम् (?) ॥ ८० ॥ तस्यामिति । षण्णिकपथकृताधिकसत्क्रियायां ( संक्रियायां ) षण्णिकपथे विषण्या कृता विहिता अधिका बहुो सत्क्रिया ( संक्रिया ) यस्यां तस्याम् । द्वारप्रदेशविनिवेशिततोरणाया द्वारप्रदेशे विनिवेशिता । स्थापितास्तोरणा यस्याः<sup>३</sup> तस्याम् । तस्याम् अयोध्यायाम् । प्रविशत्<sup>४</sup> गच्छन्तम् ( प्रवेशं कुर्वन्तम् ) । कामकल्पवपुष कामस्य मन्मथस्य कल्पं समानं वपुः शरीरं यस्य तम् । तं चक्रिणम् । पुर-सुन्दरीणां पुरे पुर्यां विद्यमानसुन्दरीणा स्त्रीणाम् । निबहः समूहः । वीक्ष्य दृष्ट्वा । उच्चैः अधिकम् । चुल्लोभ संबलित स्म । भुभि संबलने लिट् । उपमा ॥ ८१ ॥ प्रावेशिकेति<sup>५</sup> । प्रावेशिकानकनिनाद्विबोधितस्य प्रावेशिके प्रवेशकाले ताडितानामानकाना भेरीणा निनादैर्ध्वनिविबोधितस्य ज्ञापितस्य । भूपालमार्ग भूपालस्य राज्ञो मार्गं वीक्षीम् । अभिधावनतत्परस्य अभिधावनेऽभिमुखं धावने तत्परस्य<sup>६</sup> प्रीतस्य । योषिद्वय-णस्य योषिता स्त्रीणा गणस्य समूहस्य । कुचकुम्भभारः कुचावेव कुम्भो तयोर्मारः । गुणवानपि कठिन-स्पर्शनादिगुणयुक्तोऽपि<sup>७</sup> । श्रोण्या निजम्बेन । सह साकम् । अनभिमतः अनिष्टः । संबभूव संभवति स्म । भू सत्ताया लिट् । रूपकम् (?) ॥ ८२ ॥ तद्रूपेति । तद्रूपलोकनविलोमितलोचनायाः तस्य चक्रिणो रूपस्य विलोकने दर्शने विलोभिते मोहिते लोचने यस्यास्तस्याः । कस्याश्चित् बनितायाः । नितम्बबिम्बे नितम्बप्रदेशे । उद्ग्रथितनीचि उद्ग्रथिता शिथिलिता नीचो यस्य तत् । इन्दुरुचिरम् इन्दुरिव चन्द्र इव रुचिरं मनोहरम् । उपमा । अन्तरीयम् उपसंभ्यानवस्त्रम्<sup>८</sup> । संसक्तं संबद्धम् । दधत् धरत् । स्वेदाम्बु स्वेदस्य घर्मस्याम्बु जलम् । बुद्धिमदिव बुद्धियुक्तमिव । स्खलितं प्रमादम् । ररक्ष पालयति स्म । रक्ष पालने लिट् । उत्प्रेक्षा

वह पृथ्वीका तिलक था—उससे पृथ्वीकी शोभा थी । वह छः खण्डवाले भरत क्षेत्रको जीत-कर अयोध्या लौट आया, जहाँ बन्धुजन उससे मिलनेके लिए उत्सुक थे ॥ ८० ॥ उस नगरीके बाजारोंमें खूब सजावट की गई और दरवाजोंके ऊपर तोरण (राजस्थानमें अभी भी इस शब्दका प्रयोग होता है) स्थापित किये गये । कामदेव सरीखे सुन्दर अजितसेनको नगरीमें प्रवेश करते देख वहाँका स्त्रीवर्ग उतावला हो उठा ॥ ८१ ॥ प्रवेशके शुभ अवसरपर बजनेवाले नगाड़ों-के शब्दसे चक्रवर्तीकी सड़कपर आया हुआ जानकर स्त्रीवर्ग उसी ओर दौड़नेकी तत्पर हो गया । इस अवसरपर उसे अपने स्तन और नितम्ब अप्रिय हो गये, यद्यपि दोनों गुणवान् थे—स्तनोंमें कठोरता और नितम्बोंमें गुह्यता थी ॥ ८२ ॥ किसी सुन्दरीके नेत्र अजितसेनके रूपको देखकर उसीमें लुभा गये । गांठ ढीली पड़ जानेसे उसका अधोवस्त्र—जो चन्द्रमाकी आकृतिकी बूटियोंसे सुन्दर था—कमरसे नीचेकी ओर खिसकने लगा, पर पसीनेके जलने उसे नितम्बपर

१. आ आ इ<sup>०</sup> षिकसंक्रियायां । २. = यस्यां । ३. = यस्यां । ४. प्रवेशं कुर्वन्तम् । ५. आ प्रावेशि-  
ता प्रेति । ६. = प्रवणस्य । ७. सद्गुणसमेतोऽपीति ध्वनिः । ८. = अधोवस्त्रम् । ९. = उत्पत्तनं ।



काचिद्विहाय गृहभित्तिगतं विचित्रं चित्रं गवाक्षवदनाभरणीकृताक्षी ।  
तद्रूपदर्शनसमुद्भवमन्यदेव चित्रं स्वचेतसि चकार चकोरनेत्रा ॥ ८३ ॥  
कस्याश्चिद्वन्यजनसंकुलमार्गगाया धर्मोदबिन्दुरक्षिरे कुचकुम्भमध्ये ।  
जातत्रपेव परभागमनश्नुवाना तुषोट हारलतिका लतिकाकुशाङ्गयाः ॥ ८४ ॥  
आर्द्रार्द्रदन्तवयावकमण्डनेन काचिद्विकासिरुचिराघरपल्लवेन ।  
तद्रूपदर्शनसमुत्थममान्तमङ्गे बभ्राम रागमतिरिक्तमिषोद्विगन्ती ॥ ८५ ॥

॥ ८३ ॥ काचिदिति । गृहभित्तिगतं गृहस्य सदनस्य भित्ति गच्छतिस्म गृहभित्तिगतम्—कुडघगतम् । विचित्रं  
नानाविधम् । चित्रं रचनाम् । विहाय त्यक्त्वा । गवाक्षवदनाभरणीकृताक्षी गवाक्षस्य वातायनस्य मुखस्थे  
आभरणीकृते अलंकारविहिते अलिणी नयने यस्याः सा । चकोरनेत्रा चकोर इव नेत्रे यस्याः सा । उपमा ।  
काचित् कापि स्त्री । तद्रूपदर्शनसमुद्भवं तस्य चक्रिणी रूपस्य दर्शने वीक्षणं समुद्भव संज्ञानम् । अन्यदेव  
निगमेश । चित्ररचनाम् विस्मय च । स्वचेतसि स्वचित्ते । चकार करोति स्म । कुचकुम्भकरणे लिट् ॥ ८४ ॥  
कस्या इति । अन्यजनसंकुलमार्गगायाः अन्यं दोषार्जनं संकुल संकीर्णं मार्गं पन्थानं गच्छन्तीत्यन्यजनसंकुल-  
मार्गगा तस्याः । लतिकाकुशाङ्गयाः लतिकेव कुशमङ्गं यस्यास्तस्याः । 'अमहन्ज—' इत्यादिना डो ।  
कस्याश्चित् एकस्या नायाः । धर्मोदबिन्दुरक्षिरे धर्मोदस्य स्वरोदकस्य बिन्दुभी रक्षिरे मनोहरे । कुचकुम्भमध्ये  
कुचावेव कुम्भी तयोर्मध्ये मध्यप्रदेशे । परभाग शोभाम् । 'भागो रूपार्थके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोः' । 'परः  
स्यादुत्तमानात्मवैरद्वारेण केवलः' । हस्तमयत्रापि विद्वत् । अनश्नुवाना अलभमाना । हारलतिका हार एव  
लतिका । रूपकम् । जातत्रपेव जातलज्जेव । तुषोट भवति स्म । झटति स्म । झट छेदने लिट् । उत्प्रेक्षा  
॥ ८५ ॥ आर्द्रेति । काचित् एका वनिता । आर्द्रार्द्रदन्तवयावकमण्डनेन आर्द्रमार्द्र दन्तं लिप्ते नयं नूतनं यावक-  
मण्डनं यस्य तेन । विकासिरुचिराघरपल्लवेन अघर एव ओष्ठ एव पल्लवस्तथोक्तः । विकासिना रुचि-  
रेणाघरपल्लवेन । तद्रूपदर्शनसमुत्थं तस्य चक्रिणी रूपदर्शनेन समुत्पन्नम् । अङ्गे शरीरे । अमान्तम्  
असंमितम् । अतिरिक्तम् अतिक्रान्तम् । रागमिव अनुरागमिव । उद्विगन्तीव उद्विगन्तीव । बभ्राम बवाल ।

हो रोककर एक बुद्धिमान् पुरुष की भति पतनमे बचा लिया ॥ ८३ ॥ एक चकोरक्षी  
नायिका अपने घरकी दीवारपर एक आश्चर्यकारी सुन्दर चित्र बना रही थी, उसे छोड़कर  
वह खिडकीके पास जाकर खड़ी हो गई । उनके नेत्रोंसे खिडकीकी शोभा बढ़ गई । चक्रवर्ती-  
की देखते ही उसके मनमें दूसरा ही चित्र आ गया । और दीवारके चित्रसे मनका चित्र कहीं  
सुन्दर है, यह सोचकर उसके मनमें चित्र ( आश्चर्य ) भी उत्पन्न हो गया ॥ ८४ ॥ अजित-  
सेनके दर्शनोके लिए छरहरे वदनकी कोई पृथक् बहुत ही भीड़भरे रास्तेमें चली जा रही  
थी । जाते-जाते वह पसीनेसे सगावोर हो गई । पसीनेकी बिन्दुओंमें स्तनकलशोका मध्यभाग  
बहुत ही सुन्दर प्रतीत होने लगा । वहीपर एक लड़ीका हार भी लटक रहा था, पर  
पसीनेकी बिन्दुओंकी सुषमाके सामने उसकी सुषमा फीकी पड़ गई, मानो इसी कारणसे वह  
लज्जित होकर सहसा टूट गया ॥ ८५ ॥ शीघ्रतावश एक नायिका पीछेमें लगाने योग्य महावर-  
की अपने सुन्दर होठपर लगाकर अजितसेनको देखनेके लिए चल पड़ी । अजितसेनको देखते  
समय भी उसके होठपर लगा हुआ महावर गोला था और नीचेकी ओर फैलता जा रहा था ।  
अतएव ऐसा जान पड़ता था मानो उसके देखनेसे उत्पन्न हुए रागको — जो उसके शरीरमें समा

१. अ क ख ग घ म सहसा कुशा । २. अ क ख ग घ म 'मान्तमन्त' । ३. = विलक्षणम् । ४.  
= चित्ररचनाम् । ५. = ऊर्ध्वभागस्थेऽर्थः । ६. = मण्डनोक्तम् । ७. = यया । ८. = दर्शनाद् वीक्षणम् ।  
९. = आलेश-रचना । १०. वा 'एका वनिता' इति नास्ति । ११. = यत् । १२. = रागम् अनुरागम् ।

अभ्योन्यसंहतकराङ्गुलिबाहुयुग्ममन्या निधाय निजमूर्धनि जुग्ममाणा ।  
तद्दर्शनात्प्रविशतो हृदये स्मरस्य माङ्गल्यतोरणमिधोत्तिष्ठती रराज ॥ ८७ ॥  
संभावितैकनयना रुचिराञ्जनेन तद्विक्रमेव दधतीक्ष्णमन्यद्वन्या ।  
लोकस्य सस्मितविलोकनकारिणोऽर्धनारीश्वरस्मरणकारणतां जगाम ॥ ८८ ॥  
वस्त्रं गल्लिगतनोवितया दधाना रोमोद्गमोपचयगाढतया वज्रन्ती ।  
विस्त्रस्तकेशनियमाकुलिताप्रपाणेर्द्वेभ्यः प्रिया च समभूद्दर्शना परस्याः ॥ ८९ ॥

भ्रमु चलने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ८६ ॥ अभ्योन्येति । अभ्योन्यसंहतकराङ्गुलिबाहुयुग्मम् अभ्योन्यं संहताः  
संयुक्ता कराङ्गुलयो यस्य तद् बाह्वोर्मुबोधयुग्मं<sup>१</sup>, अभ्योन्यसंहितं कराङ्गुलिबाहुयुग्मं यस्मिन् तत् ।  
निजमूर्धनि स्वमस्तके । निधाय संस्थापय । जुग्ममाणा गात्रविनामं कुर्वन्ती<sup>२</sup> । अन्या एका स्त्री । तद्दर्शनात्  
तस्य चक्रिणो दर्शनात् । हृदये चित्ते । प्रविशतः अन्तर्गच्छतः । स्मरस्य मारस्य । माङ्गल्यतोरणं माङ्गल्याय  
माङ्गल्यनिमित्तं वर्तमानं तोरणं बन्धनमालाम् । उत्तिष्ठतीति न दन्तीति । रराज बभौ । राज्ञू दीप्तौ लिट् ।  
उत्प्रेक्षा ॥ ८७ ॥ संभावति । रुचिराञ्जनेन रुचिरेण मनोहरेणाञ्जनेन नेत्राञ्जनेन । संभावितैकनयना  
संभावितं सत्कृतम्<sup>३</sup> एकं नयनं यस्याः 'सा । तद्विक्रमेव तेनाञ्जनेन रिक्तमेव' । अन्यत् एकम् । दधती  
धरन्ती । अन्या एषा नारी । सस्मितविलोकनकारिणः सस्मितमोपद्रुमसहितं विलोकनकारिणो दर्शनकारिणः  
लोकस्य जनस्य । अर्धनारीश्वरस्मरणकारणताम् अर्धनारेः अर्धं नारीरूपयुक्तस्य ईश्वरस्य स्मरणस्य कारणतां  
हेतुत्वम् । जगाम ययौ । गम्ल् गतौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ८८ ॥ वस्त्रमिति । वि० तनीवितया [ विगतनीवितया ]  
विधृतया नोवितया ( विगता विस्त्रस्ता नोविर्वस्त्रग्रन्थिस्तस्या भावस्तया ) । गच्छत् पठत् । वस्त्रं वसनम् ।  
दधाना धरन्ती । रोमोद्गमोपचयगाढतया रोमणा तनुहृणामुद्गमस्य ( मेन ) गाढतया दृढतया । वज्रन्ती  
तुदन्ती । रशना काञ्ची । विस्त्रस्तकेशनियमाकुलिताप्रपाणिः ( गेः ) विस्त्रस्तानां शिथिलितानां वेशानां  
मूर्च्छांशानां नियमे बन्धने आकुलितो व्यापारितोऽप्रपाणि यस्याः सा ( यया सा तस्याः ) । अपरस्याः  
अन्यस्याः । द्वेभ्यः कोपनीया ( द्वेवविषया, अग्रिया—इत्यर्थः ) । प्रिया च ( तद्विपरीता च ) । समभूत्  
नही रहा था—बाहर निकाल रही हो ॥ ८६ ॥ कोई स्त्री अंगुलियोंमें अंगुलियाँ डालकर दोनों  
बाहुभोंको सिरपर रख करके जैभाई ले रही थी । अतएव ऐसा जान पड़ता था मानो अजित-  
सेनको देखकर हृदयमें प्रवेश करनेवाले कामदेवके लिए वह ऊपर मङ्गल तोरण उठा रही हो ।  
इस अवसरपर उसकी शोभा देखते ही बनती थी ॥ ८७ ॥ शीघ्रतावश एक स्त्री अपनी एक  
आँखमें मुन्दर अञ्जन आज कर और दूसरीको बिना आजि ही सम्प्राट्के दर्शनोके लिए दीड़ी  
चली गई । उसे आश्चर्यके साथ देखनेवालोंको वह अर्धनारीश्वरका स्मरण दिलानेमें कारण बन  
गई—उसे देखकर दर्शकोंको अर्धनारीश्वरकी याद आ गई । अर्धनारीश्वरके वामभागमें  
पार्वती और दक्षिण भागमें शिवजी हैं ॥ ८८ ॥ एक युवती अपने वालोंको सँवार रही थी,  
पर चक्रवर्तिके आनेके समाचारको सुनकर वह बिल्वरे हुए वालोंको एक हाथसे पकड़कर  
दीड़ी चली जा रही थी । दीड़नेसे उसका वस्त्र नीचे गिरने ही वाला था, पर उसकी  
गाँठ करधनीमें फँसी हुई थी, इसलिए गिर नहीं सका । फलतः नायिकाको वह करधनी बड़ी  
प्रिय लगी । चक्रवर्तीकी देखते ही उसे रोमाञ्च हो आया, जिससे करधनी कमरमें कसने  
लगी और उसे ढोड़ा देने लगी । इसीलिए करधनी उसे द्वेभ्य भी बन गई । वस्त्रको गिरनेसे

१. युगलम् । २. आ कुर्वन्ती । ३. = संस्कृतमलकृतं वा । ४. = अनजितमेव ।  
५. = दक्षिणनेत्रमिति यावत् । 'संग्यं हि पूर्वं सनुष्या अञ्जते' इति वचनात् । ६. = सस्मेरं  
विलोकयतः—इत्यर्थः ।

कादम्बरीमद् इवाशयसंप्रमोहं संस्कारनाश इव च स्मृतिविप्रमोषम् ।

कुर्वन्प्रमञ्जन इवाखिलदेहभङ्गं चिक्रीड तासु मवनो ग्रहतुल्यवृत्तिः ॥ ९० ॥

इत्थं नारीः क्षणरुचिरुचः क्षोभयन्तीति दत्तः क्षीणक्षोभः क्षपितनिखिलारातिपक्षोऽम्बुजाक्षः ।

क्षोणीनाथो विनिहितमहामङ्गलद्रव्यशोभं प्रापक्षोजोविजिततपनो मन्दिरद्वारदेशम् ॥ ९१ ॥

प्रविश्य भवनान्तरं क्षणचतुष्कमध्यस्थितः प्रतीक्ष्य जरतीकृतं कुशलमङ्गलारोपणम् ।

नमन्प्रति स पादयोर्गुरुजनस्य बद्धाञ्जलिर्बभूव भृशमुन्नतो यदिदमद्भुताद्भुतम् ॥ ९२ ॥

सम्भवत् । भू मत्ताया लुङ् । शिथिलतया द्वेष्या शृङ्गारतया प्रोता - इत्यर्थः ॥ ८९ ॥ कादम्बरीति । कादम्बरी-  
मद इव कादम्बरी मयेन जातमद इव उन्माद इव । आशयसंप्रमोहम् आशयस्य चित्तस्य संप्रमोहं भ्रान्तिम्  
( मूच्छा वैविर्यं वा ) । संस्कारनाश इव संस्कारस्य धारणाज्ञानस्य नाश इव विनाश इव । चः समुच्चयायः ।  
स्मृतिविप्रमोषं स्मृतेः स्मरणस्य विप्रमोषं भ्रंशम् । प्रमञ्जन इव वायुरिव ( वातरोग इव ) । अखिलदेह-  
भङ्गम् अखिलाना सर्वेषां देहभङ्गं कम्पनम् । कुर्वन् विदधत् । मदनं काम । ग्रहतुल्यवृत्तिं ग्रहेण भूतेन  
तुल्या समाना वृत्तिर्यस्य स, सन् । तासु वनितासु । चिक्रीड विजहार । क्रोडं विहारे णिङ् । उपमा ॥ ९० ॥  
इत्थमिति । नीतिदक्षः न रथां नीतिशास्त्रे दक्षः प्रवीणः । क्षोणक्षोभ क्षोणो नष्ट क्षोभश्चित्तविक्षेपो यस्य  
स । क्षपितनिखिलारातिपक्ष क्षपितो निराकृतो निखिलानां समस्तानामारातीनां पक्षो येन स । अम्बुजाक्षः  
अम्बुजं कमलमिवाक्षिणो यस्य सः । तेजोविजिततपन तेजसा प्रतापेन विजितो निराकृतस्तपन । सूर्यो  
यस्य स । क्षोणीनाथः क्षोण्या भूम्या नाथः प्रभुः । क्षणरुचिरुचः क्षणरुचिरिव विद्युदिव रुक् कान्तियोगि  
ताः । नारी पुरुषनिताः । इत्थम् अनेन प्रकारेण । क्षोभयन् विकारयन् । विनिहितमहामङ्गलद्रव्यशोभं  
विनिहितानां महामङ्गलद्रव्याणां प्रशस्ः पूर्णकुम्भादिमङ्गलवस्तूनां शोभा यस्य तम् । मन्दिरद्वारदेशं  
मन्दिरस्य राजमन्दिरस्य द्वारस्य देशं प्रदेशम् । प्राप्त् अगमत् । आलु व्याप्तौ लृट् । 'सतिशान्तिः' इत्यट्-  
प्रत्ययः । उपमा ॥ ९१ ॥ प्रविश्येति । स, चक्री । भवनान्तरे सदनमध्ये । प्रविश्य गत्वा । क्षणचतुष्कमध्य-  
स्थितः सन् क्षणम्यामवस्य चतुष्टयस्य मण्डपस्य मध्ये मध्यप्रदेशे स्थितः सन् । जरतीकृतं जरत्या द्रव्या  
कृतं रचितम् । कुशलमङ्गलारोपणं कुशलस्य सेमकरणस्य मङ्गलस्यारोपणं नोराजनम् 'प्रत' इय प्रतपान्य,  
गृहीत्वा—इत्यर्थः । बद्धाञ्जलिः सन् बद्धो रचितोऽञ्जलिर्धेन सः । गुरुजनस्य गुरुजनस्य । पादयो-

बचाया, इसलए प्रिय, और रोमञ्चसे कसने लगी, अतः द्वेष्य ॥ ८९ ॥ चक्रवर्तीको देखकर  
स्त्रियोंमें काम उत्पन्न हो गया । उम (कामदेव) ने शराबके नशेके समान उनके हृदयमें बेहोशो-सी  
उत्पन्न कर दी, संस्कारनाशकी तरह उसने उनकी स्मृतिको नष्ट कर दिया—वे अपनी मुध-बुध  
खो बैठी, वायुकी भांति उसने उनके शरीरमें कम्पन उत्पन्न कर दिया और वह उनमें ग्रह-भूतकी  
तरह क्रोडा करने लगा ॥ ९० ॥ सम्राट् अजितसेन नीतिनिपुण था; उसके मनमें कभी क्षोभ नहीं  
होता था; उसने शत्रुओंकी पाटियाँ समाप्त कर दी थी; उसके लोचन कमल-सरलसे थे; उसने  
अपने प्रतापसे सूर्यको परास्त कर दिया था, और वह समस्त पृथ्वीका स्वामी था । राजमार्गमें  
चलते समय देखनेवाली स्त्रियोंके मनमें उसने विकार उत्पन्न कर दिया था । धीरे-धीरे वह राज-  
महलके द्वार तक—जहाँ रखे गये बड़े-बड़े मंगल कलश आदि मांगलिक वस्तुओंसे शोभा बढ़  
गयी थी—पहुँच गया ॥ ९१ ॥ राजमहलके अन्दर जाकर अजितसेन मंगल चौकके बीचमें बैठ  
गया । फिर बृद्धाओंने आरती उतारकर उसके ऊपर मांगलिक अक्षतोका प्रक्षेप किया, जिसे  
उसने सादर स्वीकार किया । फिर उसने हाथ जोड़कर गुरुजनोंके चरणोंमें प्रणाम किया । चरणोंमें

१. आ क्रोड । २. = अम्बुजं कमल तद्दक्षिणी यस्य सः । ३. = येन । ४. आ यस्य सः ।  
५. = स्थापिताना । ६. श यस्य स तम् । ७. = मङ्गलाक्षतप्रक्षेपं वा ।

कृतचरणनमस्क्रियास्तदाङ्गां सह मुकुटेन शिरोभिस्त्रुहन्तः ।  
 नृपक्षचरणयो यथायथं ते ययुरपरेऽङ्गि रथाङ्गिना विष्टुष्टाः ॥ ६३ ॥  
 दिव्यान्विद्याकारकान्तासहायो भोगाभोगी निर्विशन्निर्विशङ्कः ।  
 राज्यं राज्यभ्रंशितारातिलोकभक्ते चक्री पूर्वपुण्योदयेन ॥ ६४ ॥

इति श्रीवीरनन्दिकृततुदयाङ्के चन्द्रप्रभवचरिते महाकाव्ये सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

चरणयो । नमस्तप नमस्तप । भृगम् अत्यन्तम् । उन्नतः उत्तुङ्गः । बभूव भवति स्म । यदिदम् इदं कार्यम् । अद्भुतात् आश्चर्यात् । अद्भुतम् आश्चर्यम् । विरोधः । ९२॥ कुन्ति । कृतचरणनमस्क्रियाः कृता विहिताश्चरणयोः पादयो नमस्क्रिया यैस्ते । तदाज्ञा तस्य चक्रिण आज्ञाम् । मुकुटेन मौलिना । सह साकम् । शिरोभिः मस्तकैः । उद्वहन्तः चरन्तः । ते नृपक्षचरणाः नृपाणां भूराणां क्षत्राणां गणाः समूहाः । यथायथं स्वस्वस्थानम् । परेङ्गि परेषु । रथाङ्गिना चक्रिणा । विसृष्टाः सन्तः विसर्जिताः सन्तः । ययुः प्रायुः । या प्रापणे लिट् ॥ ९३॥ दिव्यानीति । दिव्याकारकान्तासहायः दिभ्यो मनोहर आकारो यासां ताः, तारव ता कान्तावच, ता एव सहायो यस्य सः ( तासां सहायः ) । भोगी दशाङ्गभोगी । दिव्यान् मनोहरान् भोगान् । निर्विशन् अनुमन् । निर्विपादः संक्लेशहितः [ निर्विशङ्कः निःशङ्कः ] । राज्यभ्रंशितारातिलोकः राज्याद् भ्रंशितो निराकृत अरातयः शत्रवः त एव लोको यस्य सः ( निराकृतोऽरातौना शत्रूणां लोको वर्गो येन सः ) । चक्री सार्वभौमः । पूर्वपुण्य दयेन पूर्वस्य जन्मान्तरसंपादितस्य पुण्यस्योदयेन । राज्यं साम्राज्यम् । चक्रे विदधे । डुकृञ् करणे लिट् । कृकम् (?) ॥ ९४॥

इति वीरनन्दिकृततुदयाङ्के चन्द्रप्रभवचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं च विद्वन्मनो-  
 वल्लभाय सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अवनत होता हुआ भी वह उस समय बहुत अधिक उन्नत हो रहा था, यह अत्यन्त ही आश्चर्य-जनक बात हुई ॥ ९२॥ इस शुभ अवसरपर जो राजे-महाराजे और विद्याधर लोग सामूहिक रूपमें अजितसेनके यहाँ पधारे थे, वे एक दिन ठहरकर दूसरे दिन अजितसेनके चरणोंमें प्रणाम करके और उनकी आज्ञाको अपने-अपने सिरपर मुकुटके साथ धारण करके उससे विदाई लेकर अपने-अपने घर चले गये ॥ ९३॥ पूर्वोपाजित पुण्यकर्मके उदयमे अत्यन्त सुन्दर छियानवें हजार सुन्दर स्त्रियाँ अजितसेनकी संगिनी बनी, भोगनेको दिव्य भोग प्राप्त हुए, और प्रजाको सताने-वाले उद्वह शत्रुओंको राज्यसे च्युत या निर्वासित कर देनेसे वह शंकाओंसे मुक्त हुआ । इस तरह भीतरी और बाहरी परिस्थितिको अनुकूलतामें वह राज्यका संचालन करने लगा ॥ ९४॥

इस तरह श्री वीरनन्दिकृत उदयाङ्क चन्द्रप्रभवचरित महाकाव्यमें  
 सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७॥

## [ ८. अष्टमः सर्गः ]

तत्र शासति महौ जनतायाश्चातरि क्रमसरोजनतायाः ।  
 मोदयन्मधुरभृन्मधुपानां संततिं 'कृतगलन्मधुपानाम् ॥ १  
 संहतिं नवनवाङ्कुरलीनां नेक्षितुं तरुषु शेकुरलीनाम् ।  
 साश्रुभिर्विरहिणो रमणीयैर्लोचनैरपहृता रमणी यैः ॥ २ ॥  
 अस्मरत्पतति चम्पकरेणौ वल्लभां कुसुमचापकरेणौ ।  
 अध्वगो विधुरधीरमराणां कामिनीमिव मनोरमराणाम् ॥ ३ ॥

सद्दृष्टिबोधचरितारमकधर्मनाथः श्रीधर्मनाथजिनपो जगदेकनाथ ।  
 धर्माभूत त्रिजगतां सुखदं प्रथपन् यो धर्मशोलमखिलं सुजनं करोतु २ ॥

तत्रेति । क्रमसरोजनतायाः क्रमो पादौ तावेव सरोजे कमले तयोर्नता प्रणता तस्याः । जनतायाः  
 जनसमूहस्य । 'शामजनबन्धुगणसहायास्तत्' इति समूहे तत्-प्रत्ययः । आतरि रक्षितरि । 'कृतकामुकस्य—'  
 इत्यादिना कर्मणि पष्ठे । तत्र तस्मिन् चक्षिणि । महौ भूमिम् । शासति पालयति सति । कृतगलन्मधुपाना  
 गलकच तन्मधु च गलन्मधु स्रवत्पुष्पासः तस्य पानं गलन्मधुपानं कृतं गलन्मधुपानं यया सा कृतगलन्मधुपाना  
 ताम् । मधुपाना भ्रमराणाम् । संहतिं निबहम् । मोदयन् सतोषयन् । मधुः वसन्तकालः । अमृतं लम्बाव-  
 सरोऽभवत् । रूपकं यमकं (च) ॥ १ ॥ संहतिमिति । साश्रुभिः नेत्रोदत्तसहितैः । रमणं यै मनोहरे ।  
 यैः कैश्चित् । लोचनैः नयनैः । रमणी नारी । अपहृता रञ्जिता । तैः इत्यध्याहारः । तरुषु वृक्षेषु ।  
 नवनवाङ्कुरलीनां नवेषु नवेषु नूतनेषु नूतनेषु । 'बीप्सायाम्' इति टि, अङ्कुरेषु मुकुलेषु लोना स्थगिताम् ।  
 लोनां मधुकराणाम् । संहतिं समूहम् । ईक्षितुम् आलोकितुम् । विरहिणं वियोगिनः । न शोकः समर्थो न  
 अवस्थि स्म । शब्दं शब्दो लिट् ॥ २ ॥ अस्मरदिति । कुसुमचापकरे कुसुममेव चापं यस्य तस्य कामस्य  
 करे हस्ते ३ । अणौ सूक्ष्मे । चम्पकरेणौ चम्पकस्य हेमपुष्पस्य रेणौ घृत्याम् । पतति गच्छति सति । विधुरधीः  
 विधुरा सद्गुणा धोर्बुद्धिर्यस्य (सः) । अध्वगः पथिकः । अमराणां देवानाम् । कामिनीमिव रमणीमिव ।  
 मनोरमराणां मनोरमो राणो ध्वनिर्यस्यास्ताम् । वल्लभां वनिताम् । अस्मत् स्मरति स्म । स्मृ चिन्तायां

चक्रवर्ती अजितसेनके शासन करनेपर सारी जनता उनके चरणोमें झुक गयी, और वह भी  
 बढ़ी तत्परतासे उसको रक्षा करने लगा । मानो उसके शासनसे प्रभावित होकर ऋतुराज वसन्त  
 भी भीरोंको सन्तुष्ट करता हुआ प्रकट हुआ । ऋतुराजने सभी प्रकारके फूलोंको विकसित कर  
 दिया । खिले हुए फूलोंसे रस बहने लगा, और भीरोने उसे पीना शुरू कर दिया ॥ १ ॥ युवकोने  
 अपने जिन सजल सुन्दर नेत्रोंसे पहले युवतियोका आवर्जन और मनोरंजन किया था, वे युवक  
 विरही होकर आज वसन्तके इन दिनोंमें उन्ही नेत्रोंसे, वृक्षोंके ऊपर नयी-नयी कलियोमें छिपकर  
 बैठे हुई भ्रमर-पंक्तिको न देख सके ॥ २ ॥ चम्पक वृक्षकी कामोद्दीपक सूक्ष्म परागको ढाखते  
 देख, एक पथिकका मन बेचैन हो उठा, और उसे अपनी देवांगना-सी मधुरभाषिणी प्रियाकी

१. अ 'कृत' इति नोपलभ्यते । २. आ प्रतो पठमिदं नास्ति । ३. = कामोत्सादके ।

विभ्रती मधुकरं कलिकालं नागकेसरतरोः कलिकालम् ।  
 मन्मथार्तिमकरोद्भितानां चित्तनाथवसताधनितानाम् ॥ ४ ॥  
 पुष्पमम्बुरुहनाम धुनानां भृङ्गपङ्क्तिरदती मधु नाना ।  
 कामिनोजनमनोऽभिनन्दन्तः कोकिलाश्च परितोऽभिनन्दन्तः ॥ ५ ॥  
 वीक्ष्य जातमुकुलं सहकारं कामिनीं प्रणयिना सह कारम् ।  
 पञ्चसायकशरैर्वितता न प्रीतिकारि सुरतं विततान् ॥ ६ ॥  
 शीतलो वनभुवामनिलोऽलं स्त्रीजनं दयितधामनि लोलम् ।  
 उत्कयन्प्रविकसत्कमलास्यं पल्लवं प्रविद्धे कमलास्यम् ॥ ७ ॥

लङ् ॥३॥ विभ्रतीति । कलिकालं कलिरिव कलिकाल इव कालः कृष्णवर्णस्तम् । मधुकरं भ्रमरम् । विभ्रतो  
 धरती । नागकेसरतरोः पुत्रागवृक्षस्य । कलिका कोरकः । चित्तनाथवसतो चित्तनाथस्य प्राणकान्तस्य वसतो  
 सदनम् । 'वसतो रात्रिवेश्मनो' इत्यमरः । अनिताना यन्ति स्म इताः ( न इताः ) अनिताः तासाम् ।  
 अयातानाम् । वनिताना स्त्राणाम् । मन्मथार्ति मन्मथस्य मदनस्याति पीडाम् । अलं नितान्तम् ।  
 अकरोत् अकार्षीत् । दुःकुञ्ज करणे । उपमा ॥४॥ पुष्पमिति । अन्तः वनमध्ये । अम्बुरुहनाम अम्बरहमिति  
 कमलमिति नाम यस्य तत् । पुष्पं कुसुमम् । धुनानां धुनीते इति धुनानां कम्पयन्ती । नाना बहुविकारम् ।  
 'नानानेकोभयार्थयोः' इत्यमरः । मधु पुष्परसम् । 'मधु मये पुष्परसे क्षीरेऽपि' इत्यमरः । अदती विवती ।  
 भृङ्गपङ्क्तिः भृङ्गाणां मधुकराणां पङ्क्तिः संदोहः । कामिनोजनमनः कामिन्येवजनः<sup>१</sup> तस्य मनविचलम् ।  
 रूपकम् (?) । अभिनन्तु<sup>२</sup> भेदयति स्म । मिदृजं विदारणे लङ्<sup>३</sup> । परितः समन्तात् । अभिनन्दन्, ध्वनन्तः ।  
 कोकिलाश्च परभूताश्च । च—शब्दबलेन कामिनोजनमनोऽभिनन्दन् इत्यवधीयते ॥५॥ वीक्ष्येति । जातमुकुलं  
 जातं मुकुलं यस्य तम् । सहकारं चूततम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । पञ्चसायकशरैः पञ्चसायकस्य मन्मथस्य  
 शरैर्विभिः । अरं नितान्तम् । वितता व्यापता । [का]कामिनी [का]रमणी । प्रीतिकारि प्रियविधायि । सुरतं  
 निधुवनम् । प्रणयिना प्राणनाथकेन । सह साकम् । न विततान न चकार । अपि तु विततान—इत्यर्थः  
 ॥६॥ शीतल इति । प्रविकसत्कमलास्यं प्रविकसत्कमलमिवाभ्यं मुखं यस्य तम् । दयितधामनि दयितस्य  
 पुरुषस्य धामनि सदनम् । लोलं लम्पटम् । 'लोलचलसत्पुण्योः' इत्यमरः । स्त्रीजनं वनितजनम् । अलं  
 नितान्तम् । उत्कयन् उत्सुकं कुर्वन् । वनभूषा वने भवन्ति स्म वनभूवस्तेषाम्, वृक्षाणां संबन्धी इति शेषः ।  
 शीतलः शैत्यगुणयुतः । अनिलः माहवः<sup>४</sup> । क पल्लवं, विटं च । 'पल्लवः किसलये पिष्टे विटपे विस्तरे  
 जवे । शृङ्गारेऽलकतरागेऽपि' इति विदवः । अलास्यं नृत्परहितम् । अपि तु सलास्यं प्रविद्धे एव । उपमा

याद आने लगी ॥३॥ कलिकालके समान काले भोरको धारण करनेवाली नागकेसरकी कलीने  
 उन युवतियोंके मनमें काम पीड़ा उत्पन्न कर दी, जो अपने प्राणनाथके घर नहीं पहुँच सकी  
 ॥४॥ बाग-बगीचोंके अन्दर कमलको हिलानेवाली और उनके नाना प्रकारके रसको पीनेवाली  
 भ्रमरपक्षिने एवं चारों ओर 'कुहू-कुहू' शब्द करनेवाली कोकिलाओंने नायिकाओंके हृदयको  
 कुरेदना या विदोषण करना शुरू कर दिया ॥५॥ एक आमके पेड़को—जिसपर चारों ओरसे बौर  
 लगे हुई थी—देखते ही कामदेवके बाणोंके प्रहारसे पीड़ित हुई किस नायिकाने अपने पतिके साथ  
 अतिमात्रामें सुखद सम्भोग नहीं किया ? ॥६॥ जिनका चेहरा खिले हुए कमलके समान था  
 और जो पतिके यहाँ जानेके लिए लालायित थी; उन युवतियोंको वनकी ठंडी हवाने और भी  
 अधिक उत्सुक कर दिया, तथा उस ( हवा ) ने किस कामी पुरुषको नृत्यसे अछूता छोड़ा, और

१. = इत्यर्थः । २. = कामिनीनां जनो वर्गः । ३. = भिषति स्म । ४. आ वा लुङ् ।  
 ५. = यस्मिन् । ६. वा प्रती 'अनिलः माहवः' इति नोपलभ्यते ।

तापकृत्कुरवकः<sup>१</sup> स्तवकेन हेतुना न नमितस्तव केन ।  
 प्रावसो यं<sup>२</sup> इति नो किल नादः पान्थमभ्यधित<sup>३</sup> कोकिलनादः ॥ ८ ॥  
 योऽभवत्प्रियतमैः सह मानस्तं पुरंध्रनिवहोऽसहमानः ।  
 वायुनाभ्रजसा शबलेन प्रत्यबाध्यत रतीशबलेन ॥ ९ ॥  
 याः प्रसूनविगलन्मधुरागास्तेनिरे<sup>४</sup> मधुलिहो मधुरा गाः ।  
 प्रोषितस्य सकलं विषमभिर्हृद्यवस्तु विदधे विषमभिः ॥ १० ॥  
 अप्यनारततपोनियतोनां तान्यजायत दिनानि यतीनाम् ।  
 मानसं प्रविकसत्कुसुमेषु वीक्षितेषु सुरभेः<sup>५</sup> कुसुमेषु ॥ ११ ॥

॥७॥ तापेति । यः त्वम् । प्रावसः परदेशस्थितोऽभवः । वस निवासं लङि मध्यमपुरुषः । स्तवकेन पुष्प-  
 समूहेन । नमितः नम्रोभूतः, प्रह्वोभूत — इत्यर्थः । कुरवकः कुरवकवृक्षः । तव 'यमकदम्बेपत्रिषु बबयो-  
 डेलयो' नं मित्' इति वचनात् तव—इत्यर्थः । केन हेतुना कारणेन । तापकृत् सतापकृत् । न इति न  
 नवतीति । अदः इत्येतत्, वाताम् ( वचनम् ) इत्यर्थः । कोकिलनादः कोकिलस्य नादः स्वरः । पान्थं  
 पथिकम् । 'नित्यं णः पन्थदश्च' इति पन्थादेशः । नो न अभ्यधित नावोचदिति नो, अपि त्ववोचदेव । द्वौ नवौ  
 प्रकृतमर्थं द्योतयतः ॥८॥ य इति । प्रियतमं प्राणवत्त्वमे । सह साकम् । यः मानः गर्वः । अभवत्  
 अभूत् । भू सत्ताया लट् । तं मानम् । असहमानः अधममाणः । पुरंध्रानिवहः पुरंध्राणां सुषरितम्बोणां  
 निवहः । आभ्रजसा आभ्रस्य माकन्दस्य रजसा वायुना । शबलेन मिश्रणं । रतीशबलेन रतीशस्य बलेन  
 सहायेन । वायुना मन्दमास्तेन । प्रत्यबाध्यत प्रापीडयत । बाधद् रोषने<sup>६</sup> कर्मणि लट् । मन्दमास्तेन  
 कामिनीनां बाधा जाता—इत्यर्थः ॥९॥ या इति । प्रसूनविगलन्मधुरागाः प्रसूनाद् विगलन् स्ववत् तत्त्व  
 तन् मधु च तत्र रागः प्रीतिर्यथा ते । मधुलिहः भूङ्क्ता । याः मधुगः मनोहराः । गाः झङ्कारं<sup>७</sup> रवान्  
 'स्वर्गपुष्पावाञ्छदिङ्नेत्रघृणिभूङ्क्ते । लक्ष्यदृष्टयो' श्रिया पुंसि गोः । इत्यमरः । तेनिरे विस्तारयन्ति<sup>८</sup>  
 स्म । विषमभिः तोत्राभिः । आभिः गोभिः । झङ्कारैः—इत्यर्थः । प्रोषितस्य देशान्तरगतस्य । सकल  
 समस्तम् । हृद्यवस्तु मनोज्ञलक्ष्मन्दनादिवस्तु । विष विषमम् । अनिष्टम्—इत्यर्थः । विदधे क्रियत स्म ।  
 दुषाञ् चारणे<sup>९</sup> कर्मणि लिट् ॥१०॥ अपीति । सुरभेः वसन्तस्य, वृथाविषेपस्य वा । 'चम्पकस्वर्णपुष्प-  
 वसन्तपञ्चमोजेषु सुरभिः' इति नानार्थकोशः । कुसुमेषु पुष्पेषु । वीक्षितेषु विलोक्षितेषु सत्सु । अनागततपो-

तो और नये-नये पत्तोंको भी नृत्यसे मुक्त नहीं रहने दिया—वे हिलने लगे ॥७॥ कोकिल अपने  
 शब्दोमे पथिकसे कही यह बात तो नहीं कह रहा था कि गुच्छोंसे झुका हुआ यह कुरवक वृक्ष  
 किस कारण तुम्हे सन्तापकारी नहीं हुआ जो तुम अपनी प्रियाको छोड़कर अकेले ही प्रवासमें  
 निकल पड़े हो ॥८॥ जो मानवती कुलीन नायिकाएँ पहले अपने प्रियतमके गर्वको नहीं सह्य  
 करती थीं, उनको आमकी बोरके परागसे मिश्रित, कामदेवकी म्हायक वायुने बाधा देना शुरू  
 कर दिया । फलतः इन वसन्तके दिनोमे उन्हें बाध्य होकर पतिका मान सहना पड़ा ॥९॥  
 फूलोंसे बहते हुए रसमे राग रखनेवाले भीरे अपने जिस झंकारके मधुर स्वरको खूब जोर-जोरसे  
 सुना रहे थे, वह प्रवासियोंको बड़ा ही दुःखदायी सिद्ध हुआ । उसने प्रवासियोंके लिए माला  
 और चन्दन आदि जो चीजें बहुत प्रिय थीं; उन सभीमे विष घाल दिया ॥१०॥ वसन्तके फूलों-

१. क ख ग व रवक । २. अ प्रावसोऽयि । ३. आ इ 'मग्नि' । ४. अ प्रसूनमगलन् ।  
 ५. अ प्रस्फुटसुरभेः । ६. आ रलपो । ७. आ वा 'योरभेदः' । ८. आ लोटने । ९. आ झङ्कार' ।  
 १०. आ 'दृष्टयो' श अक्ष्यदृष्टयोः । ११. वा प्रस्तारयन्ति । १२. वा चारणवोपणयो । १३. वा प्रतो 'कर्मणि  
 लिट्' इति नीपलम्प्रते ।

मन्दधूतवकुलोपवनेन स्पृश्यमानवपुर्षा पवनेन<sup>१</sup> ।  
 सुभ्रूवामवधिना विकलेन पञ्चमेन समभावि कलेन ॥ १२ ॥  
 माग्रहं सखि भजस्व स माया यत्करोति द्युतः स्वसमायाः ।  
 गोप्यते तव कथं तनु तेन पुष्टिमङ्गकमिदं तनुते न ॥ १३ ॥  
 नास्ति तस्य मयि यन्ममतापि तेन मानसमिदं मम तापि ।  
 तन्ममास्तु सखि तन्ममनेन नासुखप्रतिविधानमनेन ॥ १४ ॥  
 योऽपराधरचनासु खलेश्चस्तेन कः प्रणयिना सुखलेशः ।  
 तद्वरं विदधन् महिमानं युक्तमेव विदधीमहि मानम् ॥ १५ ॥

नियतानाम् अवानतमनवरत तपसो नियतिनिवमो येषां तेषाम् । यतीनां यमिनामपि । मानसं चित्तम् । तानि  
 दिनानि तादृक्प्रत्ययस्तम् । 'कालःकालोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया । प्रविकसन् प्रादुर्भवत् कुसुमेषुः  
 कामविकारो यस्य<sup>२</sup> तत् । अजायत अभवत् । जनेड् प्रादुर्भाव लट् ॥ ११ ॥ मन्देति । मन्दधूतवकुलोपवनेन मन्दम्  
 ईषद् धूतं कम्पितं वकुलोपवनं वहुलवृक्षोद्यानं येन तेन । पवनेन मास्तेन । स्पृश्यमानवपुषा स्पृश्यमानं वपुः शरीरं  
 यासां तासाम् । सुभ्रूवा सु शोभने भ्रूवौ यासां तासाम्, वनितानाम्—इत्यर्थः । अर्वाधिना मर्त्यादिना । विकलेन  
 रहितेन । कलेन मनोहरेण । पञ्चमेन पञ्चमरागेण । समभावि सभूतम् । भू सत्ताया कर्मणि लुट् । 'इन्  
 दृशि—' इत्यादिना जिः । 'ज' इति त-लुक् ॥ १२ ॥ मेलि । सखि भो वयस्ये । यत् कारणात् । सः द्युतः  
 प्राणनायकः । माया वञ्चनानि । करोति विदधाति । स्वसमायाः स्वस्य प्राणानां समायाः सद्भावाः । तव त्वे ।  
 इदम् एतत् । तनु कृणुम् । अङ्गकं शरीरम् । पुष्टि<sup>३</sup> तुष्टिम् । न तनुते न विस्तारयति । तन्नुजं विस्तारयति लट् ।  
 तेन प्राणनायकेन । कथं केन प्रकारेण । गोप्यते आच्छाद्यते । गुपी रक्षणे कर्मणि लट् । माग्रहं<sup>४</sup> तात्पर्यम् ।  
 मा भजस्व मा कृषा ॥ १३ ॥ नास्तीति । सखि भो वयस्ये । तस्य प्राणनायकस्य । मयि, यत् कारणात् ।  
 ममतापि ममत्वमपि । नास्ति न विद्यते । तेन<sup>५</sup> द्युतिरेन । मम मे । इदम् एतत् । मानसं चित्तम् । तापि  
 तापोऽप्यास्तीति तापि सतापयुक्तम् । तत् तस्मात् कारणात् । अनेन एतेन । तन्ममनेन तस्य प्राणनायकस्य  
 नमनेन नमस्कारेण । मम मे । असुखप्रतिविधानम् असुखस्य विरहजनितदुःखस्य प्रतिविधानं प्रतीकारः ।  
 नास्तु न भवतु ॥ १४ ॥ य इति । यः पुरुष । अपराधरचनासु मानसस्यानुकूल(तां)रहितवर्तनाक्रियामु<sup>६</sup> ।  
 खलेशः खलानां दुर्जनामीशः श्रेष्ठ । तेन प्रणयिना प्राणकान्तेन । सुखलेशः सुखस्य संतोषस्य लेश एकदेशः ।

जो देखकर निरन्तर तप करनेवाले यतियोंके मनमें भी कामविकार उत्पन्न हो गया, जो  
 वसन्तके अन्तिम दिनों तक बगावर बना ही रहा ॥ ११ ॥ धीरे-धीरे बकौलीके वृक्षोंको हिलाने-  
 वाले ( मन्द सुगन्ध ) पवनने ज्यों ही मुन्दर नायिकाओंके शरीरका स्पर्श किया, त्यों ही उनका  
 अस्पष्ट किन्तु मधुर पचम स्वर, जिसमें किसी प्रकारकी मर्यादाका कोई नियन्त्रण नहीं था—  
 शुरू हो गया । इधर वसन्ती हवा वहीं उधर मधुर स्वरमे नायिकाओंका गान शुरू हुआ ॥ १२ ॥  
 हे सखि ! वह पतिदेवजी चूँकि मुझसे मायाचारी करते है, इसीलिए तो मेरा यह शरीर पुष्ट नहीं  
 हो रहा है । तुझे मैं अपने समान मानती हूँ । अतः तुझसे ये बातें कैसे छिपाऊँ ? अब तू मुझसे,  
 उनसे मिलनेका आग्रह न कर ॥ १३ ॥ सखि ! मेरे ऊपर उनकी ममता भी तो नहीं है । इसी  
 कारणसे मेरा यह मन सन्तप्त रहा करता है । अब उनके चरणोंमें नमन करनेसे मेरे विरहजन्य  
 दुःखोंका प्रतीकार—जो पहले कभी सम्भव रहा—न हो तो न सही, पर अब तो उनसे मेरा  
 दिल बिलकुल ही निकल गया है ॥ १४ ॥ अपराधीकी झड़ी लगानेके लिए जो खल, खल नहीं,

१. अ. वपुवोपवनम् । २. = यस्मिन् । ३. = पुष्टत्वम् । ४. = दृढम् । ५. = कारणेन ।  
 ६. = मनःप्रतिकूलव्यवहारविधानेषु ।



तापहारि वपुषो विधुरस्य चन्द्रनाम्बु न न वा विधुरस्य ।  
 गन्तुमप्रियकृतौ नियतेहं न प्रियं तदपि धाम्नि यतेऽहम् ॥ १६ ॥  
 यान्यदास्त वचनानि वदन्ती कृतिकामिति महानिब दन्ती ।  
 माधवीऽकृत वशे मधुरस्य तां प्रियस्य धृतकामधुरस्य<sup>१</sup> ॥ १७ ॥  
 ( पञ्चभिः कुलकम् )

त्वाद्दशी पट्टरकारि वयस्या मच्छुभैर्ग्रहपतेरिव यस्याः ।  
 मूर्तिरुत्सवकरी सकलस्य सज्जनस्य सविकासकलस्य<sup>२</sup> ॥ १८ ॥  
 तत्प्रगम्य दयितं रुचिताभिर्वाग्मिरालि निगदेरुचिताभिः ।  
 यत्प्रियैकवचसामपरस्य जायते न तदसामपरस्य<sup>३</sup> ॥ १९ ॥

कः, न कोऽपीत्यर्थः । तत् तस्मात् कारणात् । परम् उक्तम् । महिमानं महत्त्वम् । विदधतं कुर्वन्तम् । युक्तम् उचितम् । मानसमेव सर्वमेव । विदधोमहि कुर्यामहि । दुष्पात्र धारणे च लिङ् ॥ १५ ॥ तापति । विधुरस्य (विदह-) दुःखितस्य । [अस्य] वपुषः शरीरस्य । चन्द्रनाम्बु गन्धोदकम् । तापहारि संतापहारि । न भवति । विधुर्वा चन्द्रोऽपि । अस्य [वपुषः] शरीरस्य । तापहारि न भवति । तदपि तथापि । अप्रियकृतौ अप्रियस्य कृतिकार्यस्य कृतौ करणे । नियतेहं नियता नियमिता ईडा-चेष्टा यस्य तम् । प्रियं वल्लभम् । गन्तुं गमनाय । धाम्नि गृहे । अहं न यते यत्न न करोमि । यतेऽ् प्रयत्ने लट् ॥ १६ ॥ येति । या नायिका । अन्यदा दोषतुल्य । अन्ययम् । कृतिका संचारिकाम् । इति उक्तप्रकारेण । वचनानि वचांसि । वदन्ती ब्रुवाणा । आस्त अतिष्ठत् । माधव वसन्तः । धृतकामधुरस्य धृता कामस्य मदनस्य धूम्रौ यस्य<sup>४</sup> तस्य । मधुरस्य मनोहररूपातिशययुक्तस्य । प्रियस्य वल्लभस्य । वशे अधीने । ता स्त्रीम् । महान् दन्तीव गज इव । अकृत अकरोत् । दुहृञ् करणे लुङ् । पञ्चभिः कुलकम् ॥ १७ ॥ त्वाद्दशीति । यस्याः वनितायाः<sup>५</sup> । मूर्तिः शरीरम् । सविकासकलस्य सविकासः प्राकटयसहिताः कलावचतुःपष्टिकला यस्य तस्य, पक्षे प्रकाशयुक्तपोडशभाग-सहितस्य । ग्रहपतेः चन्द्रस्य एव । सकलस्य सर्वस्य । सज्जनस्य सत्पुरुषजनस्य<sup>६</sup>, पक्षे सत्ता नक्षत्राणां जनस्य लोकस्य च । उत्सवकरी संतोषकरी । पट्टः समर्था । त्वाद्दशी त्वत्तद्दशी । वयस्या सखी । मच्छुभैः मम शुभैः पुण्यैः । अकारि अक्रियत । दुहृञ् करणे कर्मणि लुङ् । इत्येवमपि ॥ १८ ॥ तदिति । तत् तस्मात् कारणात् । इति काचिन्नायिका सखी स्तोति—इत्यर्थः । आलि भो. सखि । दयितं प्राणकाम्तम् । प्रगम्य प्राप्य ।

महाखल है, उस खलनायकसे क्या लेशमात्र भी मुख हो सकता है ? अतएव मैं श्रेष्ठ बड़प्पन दिलानेवाले मानको कहूँ, यही उचित है ॥ १५ ॥ मेरे इस दुःखी शरीरके सन्तापको न तो चन्दनका जल या गन्धोदक हर सकता है और न चन्द्रमा । तो भी वे जान बूझकर अप्रिय कार्योंमें लगे रहते हैं; अतः उनके पास जानेके लिए मैं अपने घरमें कोई प्रयत्न नहीं कर रही हूँ ॥ १६ ॥ इस तरह जो नायिका ग्रीष्म आदि अन्य ऋतुओंमें अपनी दूतीसे कहा करती थीं, उन्हीं (नायिका) को, बहुत बड़े हाथोंके समान प्रभावशाली वसन्तऋतुने उसके अत्यन्त मुन्दर और इमोलिए कामदेवके कार्यभारको धारण करनेवाले पतिके वशमें कर दिया ॥ १७ ॥ तुझ सरोखी समर्थ सखी मुझे बड़े भाग्यसे मिली है । जिस प्रकार सोलह कलावाले पूर्णचन्द्रमाकी मूर्ति नक्षत्र लोकके उत्सवकी पूति करनेवाली होती है इसी प्रकार तेरी मूर्ति सब कलाओंमें निष्णात समस्त सज्जनोंको सन्तोष देनेवाली है ॥ १८ ॥ अतः हे सखि ! मेरे पतिदेवके निकट जाकर

१. अ यान्यदा तव च तानि वदन्ती हन्ति मामिति महानिब दन्ती । साधवीऽकृत वशे मधुरस्य माधवस्य वृत्तकामधुरस्य ॥ २. अ क ल ग घ 'पञ्चभिः कुलकम्' इति नोपलभ्यते । ३. अ सज्जनाश-यविकासकलस्य । ४. आ इ 'युगम्' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते । ५. = येन । ६. तव-इत्यर्थः । ७. = सत्पुरुषस्य ।

किंकरी तव भवामि सदाहं मन्मनः सुरतकामि सदाहम् ।

ह्लादय प्रियतमानयनेन त्वं क्षमात्र न मृगोनयने न ॥ २० ॥

तापयन्ति मम मानिनि तान्तं मानसं मधुदिनानि नितान्तम् ।

तद्विधेहि दयितं दयमानं सामभिर्मम महोदयमानम् ॥ २१ ॥

काचिदुत्पलतुलासहनेत्रा रन्तुमुत्सुकमनाः सह नेत्रा ।

दूतिकामिति जगौ चिनयेन दुःखमुद्भवति भावि न येन ॥ २२ ॥

( पञ्चभिः<sup>१</sup> कुलकम् )

रुचिताभिः इष्टाभिः । उचिताभिः प्रस्तुताभिः । वाग्भिः वचनैः । निगदैः त्वं ब्रूहि । गद व्यक्तायां वाचि लिङ् । प्रियैकवचसा प्रियं प्रीतमेकं मुख्यं वचो येषां तेषाम् । यत् वस्तु । जायते संवृत्ते । असामपरस्य अस्मिन् अप्रियवचने परस्य तदारस्य । अपरस्य अन्यस्य । तत् वस्तु । न जायते ॥ १९ ॥ किंकरीति । मृगोनयने मृगाः (नयने) इव नयने नेत्रे यस्यास्तस्याः संबोधने<sup>२</sup> भो एणलोचने । अहं सदा अनवरतम् । तव ते । किंकरी सेविका । भवामि अस्मि । भू सत्तायां लट् । सुरतकामि (सुरतं) संभोगम् (कामयते) इच्छन्ती- (ति सुरतकामि) । सदाहं संतापसहितम् । मन्मनः मम मे मनः चित्तं मन्मनः । प्रियतमानयनेन प्रियतमस्य प्रकृष्टप्राणकान्तस्यानयनेन । त्व भवती । ह्लादय तृप्ति नय । अत्र प्रियतमानयने । त्वं न क्षमा न समर्था (इति) न, न भवसि, अपि तु क्षमैव । द्वौ द्वौ प्रस्तुतार्थं समयतः ॥ २० ॥ तापेति । मानिनि भोः सखि । तान्तं दुःखसहितम् । मम मे । मानसं चित्तम् । मधुदिनानि अघोर्वसन्तस्य दिनानि दिवसाः । नितान्तं तीव्रम् । तापयन्ति संतापयन्ति । तत् तस्मात् कारणात् । महोदयमानम् उदय ऐश्वर्यं, मानोऽभिमानः, उदयवक्ष मानव्य तथोक्ती, महान्ती उदयमानो यस्य तम् । मम मे । दयितं कान्तम् । सामभिः प्रियवचनैः । दयमानं पालयन्तम् । विधेहि कुरु । इष्टायां धारणे च लोट्<sup>३</sup> ॥ २१ ॥ काचिदिति । उत्पलतुलासहनेत्रा<sup>४</sup> उत्पलस्य कुलवक्ष्य तुले समाने असहे नेत्रे यस्याः सा, उत्पलोपमाननेत्रा—इत्यर्थः<sup>५</sup> । काचित् अस्या स्त्री । त्रेत्रा प्राणनायनेन । सह साक्षम् । रन्तुं श्रोतुम् । उत्सुकमनाः उत्सुकमनाः सती । येन केन ( ? ) । भावि भविष्यत् । दुःखं कृच्छम् । नोद्भवति न जायते । चिनयेन प्रशयेन । दूतिका सखीम् (दूतीम्) । इति प्रोक्त-प्रकारेण । जगौ जगाद । गौ शब्दे लिट् । 'एवोऽश्याः' इति आकारादेशः । उपमा । पञ्चभिः कुलकम् ॥ २२ ॥

तुम उचित वचन बोलना; क्योंकि जो वस्तु प्रियावादीको मिल जाती है, वह अप्रियवादीको नहीं मिल सकती ॥ १९ ॥ हे मृगनयनी ! मैं सदा तेरी दासी बनी रहूँगी । मेरा सन्तप्त मन सम्भोगके लिए लालायित है । अतः उन ( पतिदेव ) को यहाँ लाकर मुझे तृप्त कर दे । तू इस काममें समर्थ नहीं है, सो यह बात तो है नहीं ॥ २० ॥ हे सखि ! ये वसन्तके दिन मेरे दुखी मनको खूब ही संताप दे रहे हैं । अतएव तू अपनी प्रिय बातोंसे उन ( पतिदेव ) को मेरे ऊपर दयालु बना दे । वे महान ऐश्वर्यके स्वामी हैं और हैं मानके धनी । तू भी तो मानकी धनी है । अतएव वे तेरी बातको टालगे नहीं ॥ २१ ॥ इस तरह कोई नवयुवती, जिसके नेत्रोंको तुलनामें नील-कमल भी अत्यन्त तुच्छ थे और जिसके मनमें अपने पतिके साथ क्रोड़ा करनेकी उमंग भरी हुई थी, यह सोचकर कि उसे आगे विरहका दुःख न उठाना पड़े, बड़ी विनयसे ये बातें अपनी

१. आ इ 'पञ्चभिः' इति नोपलभ्यते । २. = तत्संबुद्धौ । ३. आ किट् वा लोट् । ४. = उत्पलं कुलवक्ष्यं तस्य तुला साम्यं न सहते नेत्रे यस्य सा । ५. = उत्पलाभिर्भाबिलोचना—इत्यर्थः ।

का क्षता' हृदयभूशबरस्य सायकैर्न विननाश वरस्य ।  
 संस्मरन्त्यनुपमासहितस्य प्रोषितस्य मधुमासहितस्य ॥ २३ ॥  
 प्रीणिताहिनरदेवकुलानि प्रोल्लसन्ति नितरां बकुलानि ।  
 नीररिक्कजलवाहसितानां साम्यमापुरबलाहसितानाम् ॥ २४ ॥  
 काञ्चनारकुसुमे द्युतिमत्ताह्वितामलिनविद्युति मत्ता ।  
 कुर्वती ध्वनिमतारमतारं कालिनी न सरसारमतारम् ॥ २५ ॥  
 तां शशाङ्ककिरणा विद्वहन्ति मन्मथश्च नयकोविद हन्ति ।  
 पीडितां निजमनःकमलेन त्वद्वियोगभयशोकमलेन ॥ २६ ॥

केति<sup>१</sup> । अनुपमासहितस्य उपमया सादृश्येन सहितः संयुक्तः तथोक्तः, न उपमया सहितोऽनुपमासहितः तस्य, उपमाराहित्ययुक्तस्य—इत्यर्थः<sup>२</sup> । प्रोषितस्य परदेशस्त्वस्य । मधुमासहितस्य मधुमासाय वसन्तमासाय हितस्य हितमृतस्य । 'शक्तार्थ—' इत्यादिना हितशब्दयोगे चतुर्थो वा (?) । वरस्य वरस्य-नायकस्य । वधयोरभेदः । संस्मरन्ती व्याधन्ती । 'स्मृत्यर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । हृदयभूशबरस्य हृदयभूरेव मन्मथ एव शबरो व्याघ्रस्तस्य । सायकैः बाणैः । क्षता बिद्धा क्षती । का न विननाश का न नश्यति स्म, अपि तु ननाश एव । रूपम् ॥ २३ ॥ प्रीणितेति । प्रीणिताहिनरदेवकुलानि अहीना भवनवासिनां<sup>३</sup> नराणां मनुष्याणां देवानां कल्पवासिनां<sup>४</sup> कुलानि समूहाः तथोक्तानि, प्रीणितानि<sup>५</sup> तृप्तानि तानि च तानि अहिनरदेवकुलानि च तथोक्तानि । नितराम् अत्यन्तम् । प्रोल्लसन्ति विलसन्ति । बकुलानि बकुलपुष्पाणि । नीररिक्कजलवाहसितानां नीरेण जलेन निक्षतो रहितो जलवाहवत् शरत्कालमेषवत् ( जलवाहः शरम्मेव तद्वत् ) सितानां शुभ्रानाम् । अबलाहसितानाम् अबलानां वनितानां हसितानां मन्दस्मितानाम् । साम्यं सादृश्यम् । आपुः ययुः । आप्लु व्याप्तौ लिट् । उपमा ॥ २४ ॥ काञ्चनारैति<sup>६</sup> । द्युतिमत्ताह्वितामलिनविद्युति द्युतिमत्तया कान्तियुक्त-त्वेन ह्वेयिता लज्जिता अमलिना निर्मला विद्युद् यस्य<sup>७</sup> तस्मिन् । काञ्चनारकुसुमे काञ्चनारस्य कीविदारस्य कुसुमे पुष्पे । मत्ता प्रीता । क्षतारमतारं मन्दं मन्दम् । 'वत्सायाम्' इति द्वि । ध्वनि स्वरम् । कुर्वती विदधती । सरसा सरागा । का अलिनी भ्रमरी । अरम् अत्यन्तम् । नारमत नाक्रोष्ट् अपि स्वरमत एव ॥ २५ ॥ तामिति । नयकोविद भो नोनिचतुर । त्वद्वियोगभयशोकमलेन तव वियोगेन विरहेण भवो जातः शोको विषादः स एव मलं दोषो यस्य<sup>८</sup> तेन । निजमनःकमलेन निजस्य स्वस्य मन एव चित्तमेव कमलं तेन । कपकम् । पीडितां बाधिताम् । ता स्त्रीम् । शशाङ्ककिरणाः शशाङ्कस्य चाद्रस्य किरणा मयूषाः । विद्वहन्ति<sup>९</sup>

दूतीसे कह रही थी । ( यहाँ १८ वें से २२ वे श्लोक तक सम्बन्ध है ) ॥ २२ ॥ ऐसी कौन सी युवती थी, जो सौन्दर्यमें अनुपम एवं वसन्त मासमें हितकर अपने प्रवासी पतिको याद करती-करती काम-व्याधके बाणोंसे घायल होकर कामदेवकी दसवी अवस्थामे नहीं पहुँचो ? ॥ २३ ॥ भवनवासी, मनुष्य और कल्पवासी देवों ( तीनों लोकोंके निवासियों ) को प्रसन्न करनेवाले बकुल ( मोलसिरी ) के फूल खूब ही खिल रहे हैं और वे शरत्कालीन मेषकी भाँति श्वेत, नायिकाओंके हासकी ( धवल होनेसे ) बराबरी कर रहे हैं ॥ २४ ॥ इन दिनोंमें ऐसी कौन सी रसिली भौरी थी, जो अपनी कान्तिसे उज्ज्वल बिजलीको लजानेवाले कचनारके फूलवर उसके रससे मनवाली होकर, मन्द-मन्द ध्वनि करती हुई क्रीड़ा नहीं कर रही थी ? ॥ २५ ॥ हे नीति-निपुण ! तुम्हारे विरह जन्य शोकके मलसे उस ( तुम्हारी प्रिया ) का हृदयकमल भीतर-ही-भीतर दबा-सा जा रहा है, अतः वह योंही दुःखी है, ऊपरसे चन्द्रमाकी किरणें उसे जला रही हैं

१. इतिता । २. आ क्ष का इति । ३. = अनुपमस्य—इति यावत् । ४. आवासिकानां वा वासितानां । ५. वा वासितानां । ६. = तृप्तिं प्राप्तिताम् । ७. आ क्ष कामिति । ८. = येन । ९. = ययुः । १०. = संघुषयन्ति ।

शीतवग्धनलिनीसमदेहां वल्लभां च्युतबिलासमदेहाम् ।

पासि तां यदि गुणो भवतोऽयं देहि वा जितमनोभव<sup>१</sup> तोयम् ॥ २७ ॥

यः प्रविश्य हृदये रजनीषु स्थैर्यवान् रतिपतेरजनीषुः ।

सुभ्रुवः स तव संगमनेन नोद्धृतो<sup>२</sup> ब्रजति संगमनेन ॥ २८ ॥

गच्छ तत्सुभग सारमयत्वं संप्रहाय दायितां रमय त्वम् ।

मग्मथव्यसनलाविरहस्य न कामेन्दुवदना विरहस्य ॥ २९ ॥

ब्रितपन्ति । मग्मथव्य मारोऽपि । हन्ति हिनस्ति । हन् हिंसागत्योः लट् ॥ २६ ॥ शीतलि । जितमनोभव  
जितः पराजितो मनोभवः कामो येन तस्य संबोधनम्,<sup>३</sup> भो जितमार । शीतवग्धनलिनीसमदेहां शीतेन हिमेन  
दम्बायाः संतप्ताया नलिण्याः पद्मिण्याः समः समानो देहः शरीरं यस्याः, ताम् । च्युतबिलासमदेहा च्युता  
विनष्टा बिलासस्य शृङ्गारस्य मर्यादा ईहा चेष्टा यस्याः, ताम् । तां वल्लभां प्राणकान्ताम् । यदि पासि  
रक्षसि । पा रक्षणे लट् । अयम् एषः । भवतः तव । गुणः<sup>४</sup> । वा अथवा । तोयं जरम् । देहि यच्छ ॥ २७ ॥  
य इति । यः, रतिपतेः कामस्य । हृदये अन्तरङ्गे । प्रविश्य गत्वा । स्थैर्यवान् स्थिरतरः । अजनि अजायत । तव ते । संगम-  
नेन संसर्गेण । उद्धृतः उत्पाटितश्चेत् । सः बाणः । अनेन हृदयेन । संगं संसर्गम् । न व्रजति न प्राप्नोति ।  
व्रज गतो लट् ॥ २८ ॥ गच्छेति । तत् तस्मात् कारणात् । सुभग भो मनोहराङ्ग । मग्मथव्यसनलाविरहस्य  
मग्मथेन कामेन जातं व्यसनं मग्मथव्यसनं तल्लुनातीत्येवं शीलं तयोश्च मग्मथव्यसनलावि रहस्यं भोगो यस्य  
तस्य संबोधनं<sup>५</sup> हे कामव्यसनच्छेदिभोगयुक्त—इत्यर्थः । सारमयत्वं लोहमयत्वं कठिनत्वं मूर्खत्वं वा—  
इत्यर्थः । 'जलजबलम्यायस्थिरावावरघर्षेणु सारः' इति नातायकोशे । संप्रहाय त्यक्त्वा । गच्छ याहि । गम्लु  
गतो लोट्<sup>६</sup> । 'यग्ममिषोऽशच्छः' इति छान्दोग्यः । त्वं भवान् । दायिता बनिताम् । रमय क्रोडय । इन्दुवदना  
इन्दुरिव वदनं मुखं यस्याः सा । विरहस्य वियोगस्य । कामो<sup>७</sup> सहमाना । न न भवति । उपमा ॥ २९ ॥

और कामदेव मारे डालता है ॥ २६ ॥ सुन्दर ! तुमने तो सुन्दरतामें कामदेवको भी मात कर  
दिया है । तुम्हारी प्रियाकी अवस्था इस समय अत्यन्त दयनीय हो गयी है—उसकी काया शीत-  
लहरी ( पाला ) से झुलसी हुई कमलिनोके समान हो गई है, और उसे अपने जिस शृङ्गारपर  
गर्व था, उस ओर अब उसका ध्यान ही नहीं जाता, न उसकी चेष्टा हो करती है । यदि तुम  
उसे बचा लेते हो ( उसके निकट जाकर ) तो तुम्हारा दयागुण व्यक्त होगा—तुम्हारी दया  
होगी । यदि ऐसा नहीं कर सकते हो तो उसे जलाञ्जलि दे दो ॥ २७ ॥ रात्रिके समय कामदेवका  
जो बाण तुम्हारी प्रियाके—जिसकी भी अत्यन्त सुन्दर है—कलेजेमें घुसकर बही जम गया है,  
जरा भी नहीं हिलता, उसे तुम अपने मधुर संसर्गसे निकाल दो तो वह उस ( कलेजे ) के  
साथ नहीं जायगा ॥ २८ ॥ हे सुभग ! कामपीडाको दूर करनेका रहस्य तुम जानते हो । अतः  
तुम अपनी फौलादी कठोरताको छोड़ो, जाओ और अपनी प्रियाको रमाओ । तुम्हारी चन्द्रमुखी

१. अ जितमनो<sup>१</sup> । २. अ मोक्षितो<sup>२</sup> । ३. = तत्संबुद्धो । ४. = लाभ उपकारी वा ।  
५. = तत्संबुद्धो । ६. आ लिट् श लट् । ७. = योग्या ।

दूतिकोक्तिमिति कोऽपि निकामं शुश्रुवान्मनसि कोपिनि कामम् ।  
 तत्क्षणमुपययौ परमेण दीर्घमानकलुषोपरमेण ॥ ३० ॥ ( पञ्चभिः कुलकम् )  
 कर्णिकारमधवाजनितान्तं<sup>२</sup> चारुगन्धगुणतोऽजनि तान्तम्<sup>३</sup> ।  
 सर्जने हि विधिरप्रतिमोदस्तस्य युक्तघटनां प्रति मोहः ॥ ३१ ॥  
 वृक्षपङ्क्तिरुक्तयुक्तेरधरेण चारुतापरमपारधरेण ।  
 किंशुकैर्न शुशुभे समयोऽसौ बिन्दुनेव सविलासमयोऽसौ ॥ ३२ ॥  
 गायनेष्वलिवधूनिकरेषु<sup>४</sup> जातवस्तु शमहानिकरेषु ।  
 पुष्परेणुकृतपांसुलतानां नर्तको मरुद्भूत्सुलतानाम् ॥ ३३ ॥

दूतिकेति । दूतिकोक्तं दूतिकया संचारिकया उक्तं भाषितम् । इति एवम् । कोपिनि क्रोधयुक्ते । मनसि मानसे । निकामम् अत्यन्तम् । शुश्रुवान् शुश्राव इति शुश्रुवान् आकर्णित<sup>५</sup> । कोऽपि कश्चिच्चायकः । परमेण महता । दीर्घमानकलुषोपरमेण दीर्घो बहलो मानो गर्वः स एव कलुष दोषः नस्योपरमो विनाशः तेन । तत्क्षणात् क्षणमात्रम् । कामं कामविलासम् । उपययौ जगाम । या प्रापणे लिट् । रूपकम् । पञ्चभिः कुलकम् ॥ ३० ॥ कर्णिकारमिति । अधवाजनितान्तं न विद्यते घटो यासां ता अधवास्तासां नायकवियुक्तानां जनिर्तो<sup>६</sup> जातो अन्तो नाशो येन तत् । कर्णिकार<sup>७</sup> गिरिपद्मम् । चारुगन्धगुणतः चारुगन्धस्य गुणतो विशिष्टपरिमलात् । तान्तं शून्यम् । अजनि अभूत्, स्वयं द्रष्टव्यमपि सुगन्धिहीनमभूत्-इति भावः । तथा हि-विधिः ब्रह्मा । सर्जने सृष्टौ । अप्रतिमोद्गः अप्रतिम उपमातीत ऊहो विचारो यस्य सः, स तथोक्तः । तथापि । तस्य ब्रह्मणः । युक्तघटनां प्रति<sup>८</sup> परिमलसंबन्धव्यापारं प्रति । मोहो हि अज्ञानं हि ॥ ३१ ॥ वृक्षेति । चारुतापरमपारधरेण चारुताया मनोहरत्वस्य परमवस्तुत्वं पारमवसान धरतीति चारुतापरमपारधरः, तेन । वृक्षपङ्क्तिरुक्तयुक्तेः वृक्षाणां तरुणां पङ्क्तिः सम्यक्<sup>९</sup> ( राजि ) सा एव युवतिस्तस्मै तस्याः । रूपकम् । अधरेण रदनच्छदनिभेन । किंशुकैर्न पलाशेन । असौ समयः । अयं बसन्तकालः । असौ खड्गे । अयः लोहम् । बिन्दुनेव जलकणेनेव । सविलासं विलाससहितं यथा तथा । शुशुभे बभौ । शुभि दीप्तौ लिट् । उपमा ॥ ३२ ॥ गायनेष्विति । शमहानिकरेषु शमस्य उपशमगरिणामस्य हानिकरेषु नाशकारिषु<sup>१०</sup> । अलिवधूनिकरेषु अलीनां मधुकराणां प्रिया अब विरह सहने योग्य नही है ॥ २९ ॥ किसी नायकके मनमें यो तो अत्यधिक क्रोध भरा हुआ था, किन्तु दूतीकी उक्त बातोंको सुनते ही उसके मनको, गर्वसे उत्पन्न हुई कलुषता बिलकुल ही विलीन हो गई । फलतः वह शीघ्र ही अपनी प्रियाके पास चला गया । ( २६वें से ३०वें श्लोक तक सम्बन्ध है ) ॥ ३० ॥ कनेरका फूल अत्यन्त सुन्दर होता है, कामोदीपक होता है और होता है विधवाओं या विरहिणियोंके जीवनका अन्त करनेवाला । किन्तु उसमें अच्छी गन्ध नहीं होती । सच तो यह जान पड़ता है कि मृष्टिके बारेमें विधाता अनुपम विचारोंका धनी होता है, किन्तु किस वस्तुका किस वस्तुके साथ ठीक मेल बैठेगा, इस योजनाके विषयमें उसे मोह हो जाता है । इसीलिए तो उसने कनेरके फूलको खूब सुन्दर बनाया पर उसे अच्छी गन्धसे वञ्चित रखा ॥ ३१ ॥ सुन्दरताके नये कीर्तिमान ( रिकार्ड ) को स्थापित करनेवाले, ठेसूके फूलरूपी, वृक्षबीधेरूपी युवतीके होठसे बसन्तके इस मुहावने समर्थकी शोभा है । जैसे कलापूर्ण विधिमें चढ़ाये गये आबसे तलवारके लोहेकी शोभा होनी है ॥ ३२ ॥ भौरोंकी अंगनाएँ गाना गानेके लिए जब सम्मिलित रूपमें उद्यत हो गयी, और उनका गान

१. अ क ल ग घ 'पञ्चभिः कुलकम्' इति नास्ति । २. अ<sup>१</sup> नितान्ता । ३. अतान्तम् । ४. अ<sup>१</sup> विलि-  
 जने निकरेषु । ५. = आकर्णितवान् । ६. = उत्पादितः । ७. = द्रुमोत्पलम् । ८. = योग्यसंयोगं प्रति ।  
 ९. आ समूहः । १०. सा नाशकरेषु ।

कन्तुना भवदशोकबलेन मृत्युनेव सकलोऽकवलेन ।  
 प्रस्यते स्म विरहो प्रमदाया संस्मरन्मुहुःकम्प्रमदायाः ॥ ३४ ॥  
 प्रागतीव मनसा समुदा यस्तस्थिवाग्विरहिणीसमुदायः ।  
 सोऽतिदुःसहमनोभवदूनो माधवे सुखितयामभवदूनः ॥ ३५ ॥  
 कामशोकजलधेरुदितानि संहारालि सततं रुदितानि ।  
 मेरुभूधरसदृशममुक्तं धैर्यमापदसनक्षममुक्तम् ॥ ३६ ॥  
 यत्र भान्ति कुसुमेरमलामैः शाखिनो जनमनोरमलामः ।  
 यस्तवावधिरकारि वसन्तः प्रेयसा निजगुणैरिव सन्तः ॥ ३७ ॥

बधूना बनिताना निकरेषु निबहेषु । गायनेषु गायत्सु । जातवत्सु जातेषु सत्सु । पुष्परेणुकृतपांगुलतानां पुष्परेणुना कुसुमरसेन (रजसा) कृता विहिता पांगुलता मलिनत्वं यासा तासाम् । सुलतानां शोभनव्रततीनाम् । मरुत् वायु । नतरुः नटः । अभूत् अववत् । परिणामः ( रूपकम् ) ॥ ३३ ॥ कन्तुनेति । अकवलेन प्रासरहितेन । मृत्युनेव यमेनेव<sup>३</sup> । भवदशोकबलेन भवद् अशोक एव कङ्कलिवृक्ष एव बलं सहायो यस्य तेन । कन्तुना मन्मथेन । अकम्प्रमदायाः अकम्प्र. स्थिरो मदो गर्वो यस्याः, तस्याः । प्रमदायाः कान्तायाः । स्मरणार्थत्वाद् बनितामित्यर्थः । 'स्मृत्यर्थः—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । मुहुः पुनः । संस्मरन् संधायन् । सकलः सर्वः । विरहो वियोगशून्य जन । प्रस्यते स्म गिर्यते स्म<sup>४</sup> । प्रमूङ् अदने कर्मणि लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥ प्रागिति । य. विरहिणीसमुदायः विरहिणीना वियोगिनीनां समुदाय. समवायः । प्राक् पूर्वम् । अतीव अत्यन्तमिव । इव शब्दो बाक्यालङ्कारे । समुदा मुदा संतोषेण सह वर्तते इति समुत् तेन । मनसा चित्तेन । तस्थिवान् तस्यो इति तस्थिवान् स्थितवान् । सः विरहिणीसमुदायः<sup>५</sup> । माधवे मधुरेव माधवः ( प्रज्ञा-त्वाद् ) तस्मिन् वसन्ते । अतिदुःसहमनोभवदूनः अतिदुःसहेन सौहृदमगम्येन मनोभवेन मन्मथेन दूनः संतापितः सन् । सुखितया मुष्णयुक्तत्वात् । ऊनः रहितः । अभवत् अभूत् । मू सत्ताया लट् ॥ ३५ ॥ कामेति<sup>६</sup> । आलि सखि । कामशोकजलधेः कामेन जातः शोकः स एव जलधि तस्मात् । सततं संततम् । उदितानि जातानि । रुदितानि रोदनानि । संहार त्यज । मेरुभूधरसदृशं मेरुणा मन्दरेण भूधरेण पर्वतेन सदृशं समानम् । धैर्यं धीरत्वम् । अपुक्ताम् अत्यन्त सत् । आपदसनक्षमम् आपदो विपत्तेरसने नाशने क्षमं समर्थम् । उक्त माषितम् ॥ ३६ ॥ यत्रेति । [ यत्र यस्मिन् वसन्ते ] । अमलामै. अमला आभा कान्तियेया तैः । जनमनोरमलामैः

सुनकर साधुओंका शमगुण नष्ट होने लगा, तब मलयानिल भी परागसे धूसरित लताओंको नचानेके लिए उद्यत हो गया । फूल खिल उठे, भौरे उनपर गुंजार करने लगे, दक्षिण पवन बहने लगा । लतायें हिलने लगीं और साधुओंके मनमें विकार शुरू होने लगा ॥ ३३ ॥ अशोकका बल पानेवाले कामदेवने समस्त विरहियोंको—जो स्थिर गर्व रखनेवाली अपनी प्रियाओंकी बार-बार याद कर रहे थे—यमराजकी तरह एक ही साथ निगलना शुरू कर दिया ॥ ३४ ॥ विरहियोंका जो वर्ग पहले शिशिर ऋतुमें खूब प्रसन्नचित्त रहा, वही वसन्त-के आते ही असह्य कामसे सन्तप्त होकर सुखी न रह सका ॥ ३५ ॥ सखि ! कामसन्तापके कारण तेरे शोकसागरसे ये लगातार आसू बरसाने वाले रुदनरूपी मेघ उठ रहे हैं । इनका संहार कर-लगातार रो मत । अनुभवी लोगोंने कहा है—'धोरज न छोड़ा जाय तो वह मेरु पर्वतके समान अटल होकर विपदाओंकी दूर करनेमें समर्थ होता है' ॥ ३६ ॥ जिस वसन्त ऋतुको तेरे पतिने परदेश जाते समय आनेकी अवधि कहा था, और जिसमें वृक्ष निर्मल

१. म यस्तवावधिरकारि वसन्तः प्रेयसा निजगुणैरिव सन्तः । यत्र भान्ति कुसुमेरमलामैः शाखिनो जनमनोरमलामैः ॥ २. = गायकेषु । ३. य प्रती 'यमेनेव' इति नौपलभ्यते । ४. आ प्रती 'गिर्यते स्म' इति नास्ति । ५. आ वा प्रसू । ६. य 'समवायः' । ७. य कामेति ।

विप्रयोगकृद्धारहितेन चेतसा कठिनतारहितेन ।

उत्सुको नहि विकासमयन्तं सोऽतिवर्तितुमसं<sup>१</sup> समयं तम् ॥३८॥

रक्ष तद्वपुरिवं नियमेन मा विवेहि<sup>२</sup> लघुदानि यमेन ।

<sup>३</sup>रस्यसेऽल्पदिवसैः सह तेन स त्वदीयविरहं सहते न ॥३९॥

मन्ददीप्तिरसुखावहमाना जीविते शिथिलतां वहमाना ।

दूरदिक्पतिरपोहितमालया काचनेति जगदे हितमालया ॥४०॥

( पञ्चमिः कुलकम् )<sup>४</sup>

जनानां प्रजानां मनसि मानसे रमस्य(?) क्रोडाया लाभे प्रापणं । अथवा जनाना मनोरमाः प्रीतिकराः लाभो येषां ते । कुसुमैः पुष्पैः । शाखिनः भूकृताः । निवृणुणः स्वस्थ गुणैः । सन्तः सज्जना इव । भान्ति विराजन्ते । यः वसन्तः । तव ते । प्रियसा नायकेन । अवधिः अवधिकारः । अकारि अक्रियत । दुःकृञ् करणे कर्मणि लुङ् । तादृशं वसन्तमिति परलोकानां कीयते । उमा ॥३७॥ विप्रयोगेति । विप्रयोग-कृद्धारहितेन विप्रयोगेन विरहेण कृशानां तनूनां दाराणां कलत्राणां हितेन उपकारकेण । कठिनतारहितेन कठिनतया कठिनत्वेन रहितेन । चेतसा चित्तेन । उत्सुकः उत्सुक् । स नायकः । विकासं विस्तारम् । अयन्तं याप्तम् । त समयं तादृशं वसन्तम् । अतिवर्तितुम् अतिक्रामितुम् । नाल हि न समर्थो हि ॥३८॥ रक्षेति । तदिदं तदेवम् । वपुः शरीरम् । नियमेन निबध्यमेन । रक्ष पालय । यमेन मृत्युना । लघुदानि लघौ शीघ्रं ( लघु शीघ्र ) दानियस्य तत् । मा विवेहि मा कुरु । तेन सह नायकेन सह । अलदिवसैः कतिपय-दिनैः । रस्यसे क्रोडिष्यसि । सः नायकः । त्वदीयविरहं त्वदीयं तव सङ्ग<sup>५</sup> विरहं त्रियोगम् । न सहते न जमते । वहि मरणे लट् ॥३९॥ मन्देति । मन्ददीप्तिः मन्दा अल्पा दीप्तिः कान्ति रस्यसाः सा । असुखावह-माना असुखं दुःखमावहतीति असुखावहः, ( असुखावहो ) मानो गर्वो मर्याः सा । जीविते जीवने । शिथिलता<sup>६</sup> शीघ्रताम् । वहमाना धरमाणा । दूरदिक्पतिः दूरदिशि विप्रकृष्टेण पतियस्याः सा । अपो-हितमालया अपोहितं त्यक्तं माल्यं यया सा । काचन वनिता । आलया सख्या । इति प्रोक्तप्रकारेण । हितम्

आभावान्ते तथा लोगोंके मनको प्रसन्न करनेवाले फूलोंसे मुगोभित होते हैं । जैसे सत्पुरुष अपने, निर्मल और लोगोंके मनमें प्रीति उत्पन्न करनेवाले गुणोंसे सुगोभित होते हैं ॥ ३७ ॥ तेरे प्रियतमका हृदय कोमल है, उसमें कठोरता तनिक भी नहीं है । उसे विरह व्याकुल कृश अंगनाओके हितका स्वयं खयाल है, फिर भला तुम्हारे हितका खयाल नहीं होगा ? वह यहाँ आनेको उत्सुक है । उस वसन्तके इन विकासकारी दिनोंका वह उल्लंघन नहीं करेगा— अवश्य ही आयगा ॥ ३८ ॥ रक्षाका नियम लेकर तू अपने इस शरीरको बचा ले इसे इतनी जल्दी यमराजके द्वारा हानि पहुँचाने योग्य न बना डाल । तू थोड़े ही दिनोंमें उसके साथ रमण करेगा । वह तेरे विरहको सहन नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥ ये हितकी बातें एक सहेली-ने अपनी उस विरहिणी सखीसे कहीं, जिसकी दीप्ति फीकी पड़ गयी थी, जिसे अपना सम्मान भी दुःखदायी जान पड़ता था, जिसने अपने जीवनमें भी शिथिलता धारण कर ली थी, जिसका पति कहीं दूर गया हुआ था और जिसने मालाका भी परित्याग कर दिया था ।

१. अ सोऽविलम्बितुमसं । २. अ आ इ विधाहि । ३. क ख ग घ म रस्यसे । ४. आ इ क ख ग घ 'पञ्चमिः कुलकम्' इति नोपलभ्यते । ५. = उत्कण्ठितः । ६. = अतिवर्तनं कर्तुम् । ७. = सवन्धिम् । ८. = शीथिलम् ।

दारुणा विरचना भ्रुकुटीनां साम्यमावहति सुभ्रु कुटीनाम् ।  
बिभ्रति प्रियतमे तव दास्यं कोपनं किमिति जातवदास्यम् ॥४१॥

का धृतिस्तव रतेन विना मे नोद्यताञ्जलिहं न विनामे ।  
किं वृथैव मयि मानममाने संतनोति भवती नममाने ॥४२॥

कान्तिवारिणि नभोवदनन्ते मग्नमम्बुजनिभं वदनं ते ।  
पातुमुत्सुक इव भ्रमरोऽहं जायमानबहुविभ्रमरोहम् ॥४३॥

मग्नमः सुतनु भीमदनेन बाध्यमानमनिशं मदनेन ।  
वर्तते भज रूपस्तनिमानं मुञ्च पीवरतरस्तनि मानम् ॥४४॥

उपकारवचनम् । जगदे ऊचे । गद वदन्तायां वाचि कर्मणि लट् । पञ्चभिः श्लोकम् ॥४०॥ दारुणेति । सुभ्रु सु शोभने भ्रुवौ यस्याः तस्याः संबोधनम्<sup>१</sup>, भो मनोहरभ्रु वनिते । भ्रुकुटीनां भ्रूविकाराणाम् । दारुणा निष्ठुरा । विरचना करणम् । कुटीना तृणकुटीराणाम् । साम्यं सादृश्यम् । आवहति धरति । तृण-कुटीरवच्छोत्रं नश्येत्—इत्यर्थः । तव ते । दास्यं दासत्वम् । बिभ्रति धरति । प्रियतमे प्राणनायके, मयि, इत्यव्याहारः । आस्यं मुखम् । किमिति किं कारणम् । को(नं) कोपयुक्तम् । जातवत् जातम् । क्तवत्—प्रत्ययः ॥४१॥ का धृतिरिति<sup>२</sup> । तव ते । रतेन सुरतेन । विना ऋते । मे मम । का धृतिः कः संतोषः । अह, विनामे प्रणामे । नोद्यताञ्जलिः न विहिताञ्जलिर्न वि(हि)मयामि, इति न, अपि तु उद्यताञ्जलिरेव—इत्यर्थः । भवती पूज्या त्वम् । अमाने गर्वरहिते । नममाने नमस्कारं कुर्वाणे । मयि नायके । वृथैव व्यर्थमेव । मानं गर्वम् । किं कारणम् । संतनोति करोषि(ति) । मयच्छब्दयोगे प्रथमपुञ्जः ॥४२॥ कान्तीति । नभोवत् गगनवत् । अनन्ते अन्तरहिते । कान्तिवारिणि कान्तिःलावण्यमेव वारि जलं तस्मिन् । मग्नं निपतितम् । अम्बुजनिभम् अम्बुजस्य कमलस्य निभं समानम् । जायमानबहुविभ्रमरोहं जायमान उत्पद्यमानो बहुबहुलो विभ्रमस्य भ्रूविकारस्य रोहः स्थानम्, जयवा अक्षुरप्रादुर्भाषो यस्य<sup>३</sup> तत् । तव, वदनं मुखम् । अह, भ्रमरः भृङ्ग इव । पातुं पानं कर्तुम् । उत्सुकः उत्सुकतः ॥४३॥ मग्नम इति । सुतनु सु शोभना तनुर्यस्याः तस्याः संबोधनम्<sup>४</sup>, भो मनोहराङ्गि । पीवरतरस्तनि पीवरतरो अत्यन्तपीवरो स्तनो कुक्षौ यस्याः तस्याः संबोधनम्<sup>५</sup>, भोः पूवतरस्तनि । अनेन एतेन । मदनेन मग्नयेन । अनिशम् अनवरतम् । बाध्यमानं पीडयमानम् । मग्नमः मम चित्तम् । भीमम् भीमंयमस्यास्तीति भीमम् भयसहितम्—इत्यर्थः । वर्तते बिभ्रते । एवः कोपस्य । तनिमानं तनोः कृशस्य भावः तनिमा तं कृशत्वम्—इत्यर्थः । भज आश्रय ।

( ३६वें से ४०वें पद्य तक सम्बन्ध है ) ॥४०॥ प्रिये ! तेरी भौहें सुन्दर हैं, पर इस समय कोपके कारण कुटिलता और कठोरता आ जानेसे ये दारुण हो गयी हैं और इसीलिए लकड़ीकी कुटियों जैसी हो गयी हैं । प्रियतमने ( मैंने ) तेरी दासता स्वीकार कर ली है तो फिर तेरा मुख कोपयुक्त क्यों है ? ॥ ४१ ॥ तेरे सम्भोग बिना मुझे कौन-सा सन्तोष है ? तुझे प्रणाम करते समय मैं हाथ नहीं जोड़ता, यह बात भी नहीं है । मैं मान छोड़कर तेरे सामने नम गया हूँ, तो फिर तू व्यर्थ ही मान क्यों कर रही है ? ॥ ४२ ॥ आकाशकी तरह अनन्त कान्ति रूपी जलमें डूबे हुए, नाना प्रकारके शृंगारसे युक्त तुम्हारे कमलसरीखे मुखको मैं भीरके समान पीनेके लिए उत्सुक हूँ ॥ ४३ ॥ हे सुन्दर शरीर वाली ! और हे पुष्ट स्तनों वाली ! इस काम-देवके द्वारा निरन्तर सताया गया मेरा मन भयभीत हो रहा है । अतः क्रोधको कम कर, और



काचिदित्यमुदिता दयितेन प्रेम सार्धमकृतोदयि तेन ।  
 कं वचांसि रसभारचितानि प्रीणयन्ति न बुध रचितानि ॥४४॥  
 ( पञ्चभिः कुलकम्<sup>१</sup> )  
 कन्दरास्वनुकृताहिमवन्तं ध्वान्तराशिमचलं हिमवन्तम् ।  
 भानुराप शशिशुद्धनदायां भाति यो दिशि वसद्धनदायाम् ॥४५॥  
 लीनपट्पदकुला तिलकाली यद्विकासमगमत्तिलकाली ।  
 प्राप तेन मनसापमुदारं मानिनी मदनतापमुदारम् ॥४७॥  
 संनिषेव्य सततं कमलिन्या रागकारि मधु साकमलिन्या ।  
 यामि चक्रुरल्यो ध्वनितानि के निश्मय ययुरध्वनि तानि ॥४८॥

मज सेबाया लोट्<sup>२</sup> । मानं गर्वम् । मुञ्च इत्यज । मुचलूज मोक्षणे लोट्<sup>३</sup> ॥४४॥ काचिदिति । दयितेन नायकेन । इदम् अनेन प्रकारेण । काचित् एका स्त्री । उदिता भाविता । तेन नायकेन । सार्धं साकम् । प्रेम स्नेहम् । उदयि उदयोऽस्यास्तीति उदयि, उत्पत्तिपुवतम् ( वर्धमानमिति यावत् ) । अकृत अकरोत् । कुक्क करणे लुट् । तथा हि—रसभारचितानि रसाना शृङ्गारादिनवरमाना भारेण अतिशयेन चित्तानि पोषितानि । बुधे, विद्वद्भिः । रचितानि निमित्तानि । वचांसि वचनानि । कं पुरुषम् । न प्रीणयन्ति न संवोषयन्ति । प्रीज तर्पणे लट् । पञ्चभिः कुलकम् ॥४५॥ कन्दरास्विति । यः हिमवान् पर्वतः । शशिशुद्धनदायां शशीव चन्द्र इव शुद्धा निर्मला नदा नद्यो यस्या तस्याम् । वसद्धनदायां वसन् तिष्ठन् धनदः कुबेरो यस्या तस्याम् । दिशि ककुभिः । भाति राजते । तम्—इत्यध्याहारः । कन्दराम्<sup>४</sup> गङ्गरेण अनुकृताहिम् अनुकृताः समीकृता अहयः सर्पा येन तम् । ध्वान्तराशि ध्वान्ताना तमसा राशि समूहम् । अवन्त रक्षन्तम् । हिमवन्तं हिमश्रामधेयम् । अचलं पर्वतम् । भानुः सूर्य । आप ययो । आप्लु व्याप्तो लिट् । उत्तगयणोऽभूत्—इति भावः ॥४६॥ लीनेति । लीनपट्पदकुला लीनं स्वयित पट्पदाना कुलं समहो यस्या मा । तिलकाली तिल इव काली कृष्णवर्णा । 'कालशबल—' इत्यादिना डो । तिलकाली तिलकाना तिलकवशाणांमाली पङ्क्तिः । यत् यस्मात् । विकासं विकसनम् । अगमत् अगात् । गम्लु गतो लुट् । 'सतिगस्ति—' इत्यादिना अङ्-प्रत्ययः । तेन काशनेन । मानिनी कान्ता । अपमुदा अपगता व्यपगता मुद् यस्य तेन । मनसा मानसेन । उदारं महान्तम् । मदनतापं मदनैक कामेन जनित ( त ) संतापम् । अम् अत्यर्थम् । आप जगाम । आप्लु व्याप्तो लिट् ॥४७॥ संनिषेव्येति<sup>५</sup> । अलयः भवराः । अलिन्या भृङ्गया । साकं सह । कमलिन्याः

गर्वको छोड़ ॥ ४४ ॥ किसी युवतीसे उसके पतिने जब यों कहा तो उसने उसके ( पतिके ) साथ खूब ही प्रेम किया, जो उत्तरोत्तर बढ़ता गया । बुद्धिमान् पुरुषोंके द्वारा कहे गये सरस वचन किये नहीं प्रसन्न कर देते हैं ? ( यहाँ भी पाँच श्लोकोका सम्बन्ध है ) ॥ ४५ ॥ अपनी गुफाओंमें नागके समान काले अन्धकारकी रक्षा करनेवाले उस हिमालय पर्वतको सूर्यने प्राप्त कर लिया—उत्तरायण हो गया, जो चन्द्रमा सरोखी शुभ्र और निर्मल नद व नदियोंकी बहानेवाली कुबेरके निवासकी दिशा—उत्तरमें सुशोभित है ॥ ४६ ॥ तिलक नामके वृक्षोंकी पङ्क्ति खिल उठी, उसके ऊपर चारों ओरसे भीरीके झुण्ड निश्चल होकर बैठ गये । फलतः तिलक वृक्षोंको आवली ( पङ्क्ति ) तिलोंके समान काली हो गयी । उसके इस विकाससे मानवती नायिकाके मनकी प्रसन्नता लुप्त हो गयी, और उसे कामव्यय सन्ताप भी बहुत अधिक हुआ ॥ ४७ ॥ भीरोंने भीरियोंके साथ कमलिनोके, कामरागको बढ़ानेवाले रसको लगातार

१. म प्रती 'पञ्चभिः कुलकम्' 'इत्युपलभ्यते नाभ्यामु प्रतिपु । २. आ लिट् वा लेट् । ३. आ लिट् वा लेट् । ४. आ लिट् । ५. = गुहासु । ५. अ स समिति ।

शीतला इति विभाव्य जनेन पातिताः ससलिलव्यजनेन ।

को न जातविरहोऽननुतापः काथिताम्बुसदृशोऽननुतापः ॥४९॥

वीक्ष्य जातरुडिवासमहानि पद्मपण्डमविकासमहानि ।

तिग्मगुर्विद्धितवान्हिमनि भास्वतां न हृदयं नहि मानि ॥५०॥

इत्थं मधौ मधुकरोमुखरीकृताशे व्याजृम्भिते मकरकेतुनिसर्गबन्धौ ।

भूयः प्रविश्य मुद्रितः सहसा निशान्तं विस्त्रध्मिदधेऽङ्गतां स देवीम् ॥५१॥

नलिन्याः । रावकारि प्रोतिकारि । मधु पुष्परसम् । सन्निपेय्य निगोय । सततम् अनवरतम् । यानि ध्वनितानि यान् ध्वनोन् । चक्रुः विदधुः । तानि ध्वनितानि । निशम्य श्रुत्वा । अध्वनि मार्गे । के पुण्याः । ययुः जग्मुः । न केऽपि—इत्यर्थः । या प्रापणे लिट् ॥४८॥ शीतला इति । ससलिलव्यजनेन ससलिलेन जलसहितेन व्यजनेन तालवृत्तेन । जनेन परिवारजनेन । शीतला इति शीतगुणयुक्ता इति । विभाव्य निदिक्ष्य । पातिताः सिक्ताः । आपः ( अपः ) सलिलानि । जातविरहः जातः समुत्पन्नो विरहो विद्योषो यस्य सः । अननुतापः अतनुबंहलः तापो यस्य सः, कामर्षतापयुक्तो वा । कः को वा पुरुषः । क्वाथिताम्बुसदृशः क्वाथितस्य मतपनस्य ( मंतापं प्रारितस्य ) जलस्य सदृशः समानाः । न अतनुत न कर्गेति स्म । तनुञ् विस्तारे लङ् ॥४९॥ वीक्ष्येति । तिग्मगुं तिग्माः तीक्ष्णा गावः किरणा यस्य सः, सूर्यः । अविकाशे विकासरहितम् । असमहानि असमा अमदृशा हानिनशी यस्य तत् । प्रागुतुगुणयुतम्—इति यावत् । पद्मपण्डं पद्माना कमलाना पण्डं समूहम् । वोऽप दृष्ट्वा । जातरुडिव जाता उत्पन्ना रुट् कोषो यस्य स इव । 'रुट्कृषी स्त्रिवी' इत्यपरः । अहानि दिवसानि । अहिमानि उष्ण ( ता ) सहितानि । विहितवान् कृतवान् । तथा हि—भास्वतां भासः सन्नेया ते भास्वन्तः, तेषां तेजस्विनाम् । हृदयं चित्तम् । मानि नहि अभिमानयुक्त न भवतीति नहि, अपि तु मानमुक्तमेव ॥५०॥ इत्थमिति । मधुकरोमुखरीकृताशे मधुकरीभिर्भृङ्गवधूमिखरीकृता वाचालिता अक्षा दिशो यस्मिन् तस्मिन् । मकरकेतुनिसर्गबन्धौ मकरकेतोर्ममयस्य निसर्गेण सहजेन बन्धौ मित्रे । मधौ वसन्ते । इत्थम् उक्तप्रकारेण । व्याजृम्भिते सति व्यावृद्धे सति । मुद्रितः संतुष्टः । स भूपः अजितसेनचक्रवर्त्तिः । सहसा स्वेच्छया । निशान्तम् अन्तःपुरम् । प्रविश्य प्रवेशनं कृत्वा । अङ्गताम् उत्पङ्ग-गताम् । देवीं शशिप्रभादेवीम् । विस्त्रध्व विस्त्रस्तं यथा तथा । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अमिदधे ऊचै ।

पोकर जो झंकार की ध्वनि की, उसे सुनकर ऐसे कौनसे धीर-वीर थे, जो उस मार्गमें आगे कदम बढ़ा सके हों ? ॥ ४८ ॥ परिवारके लोगोंने शीतल समझकर जिस जलके छीटे देकर ताड़के पल्लोको विरहियोंके ऊपर झलना शुरू किया, वही जल एक-एक बिन्दुके रूपमें जब उनके सन्तप्त शरीरपर गिरा, तब उसे उन विरहियोंमेंसे किस तीव्र सन्तापवाले विरहीने खोलाये गये जलके समान नहीं कर दिया ? ॥ ४९ ॥ शशिर ऋतुमें कमलोका विकास रुक गया था, और उनकी इतनी हानि हुई थी, जितनी हानि कभी किसीको नहीं हुई होगी, मानो इमी विचारसे क्रुद्ध होकर सूर्यने हिमको दूर कर दिया, और दिनोमें उष्णता भर दी । तेजस्वियोंका मन मानयुक्त नहीं होता, यह बात नहीं ॥ ५० ॥ जिसने भौरियोंके शब्दसे सभी दिशाओंको मुखरित कर दिया है और कामदेव जिसका स्वभावतः मित्र है, उस वसन्त ऋतुके पूर्ण विकासको प्राप्त कर लेनेपर अजितसेन बड़ा प्रसन्न हुआ । वह सहसा अन्तःपुरमें प्रविष्ट होकर अपने पास आकर बैठो हुई रानी शशिप्रभासे शान्तिपूर्वक यों बोला—॥ ५१ ॥

१. आ जलरहितेन वा जलवहिते । २. = 'पद्मविन्द्वे पण्डोऽस्त्री' इति विश्वलो० । ३. आ वा स्त्रियाम् । ४. वा प्रती 'दिशो' इति नीपलम्ब्यते । ५. आ प्रवृद्धे ।

प्रिये प्रिये परभृन्ध्वनितच्छलेन<sup>१</sup> मामेष दर्शयितुमाह्वयतीव चैवः ।  
 प्रादुर्भवत्तिलकपत्रविशेषशोभां सीमन्तिनीमिव पुरोपवनस्य लक्ष्मीम् ॥५२॥  
 संभावयामि तद्दहं तमनङ्गबन्धुं गत्वा वने मलयमारुतनृतशाखे ।  
 तत्र त्वमप्यवननाङ्कि तिरोहितानां नेत्रोत्सवं कुरु गता धनदेवतानाम् ॥५३॥  
 हीतो विहाय मम लोचनहारि नृत्तं गन्तुं शिखी सुमुखि तत्र यदि व्यवस्थेत् ।  
 कार्यैस्त्वया स्मरनिवासनितम्बचुम्बी चीनांशुकेन पिहितो निजकेशपाशः ॥५४॥

दुषाम् धारणे च लिट् ॥५१॥ पश्यति । प्रिये भो. कान्ते । प्रादुर्भवत्तिलकपत्रविशेष<sup>२</sup> शोभा प्रादुर्भवतामुत्पद्य-  
 मानानां तिलकानां तिलकवृक्षाणां पत्रैः छद्दैः<sup>३</sup> विशेषा<sup>४</sup> बह्वो शोभा, पक्षे प्रादुर्भवेता तिलकपत्रेण मन्-  
 रिकापत्रेण<sup>५</sup> विशेषा अङ्किका शोभा यस्याः, ताम् । सीमन्तिनीमिव कामिनीमिव । पुरोपवनस्य पुरोद्यानस्य ।  
 लक्ष्मीं शोभाम् । दर्शयितुम् आलोकयितुम् । परभृन्ध्वनितच्छलेन परभृन्ध्वनित कोकिलस्य ध्वनितमिति  
 ध्वनिरिति<sup>६</sup> छन्देन व्याजेन । एष अयम् । चैव<sup>७</sup> । माम्, आह्वयतीव आकारयतीव । पश्य बीक्षस्व ।  
 दृष्ट् बीक्षणे लोट्<sup>८</sup> ॥५२॥ संभावयामीति । ब्रवनताङ्कि अवनतमे पद्मतमङ्गं यस्याः तस्याः मन्मथनम्<sup>९</sup>  
 भो नम्राङ्कि । तत् तस्मात्स्फांशात् । अहं, मलयमारुतनृतशाखे मलयमारुतन दक्षिणवायुना नृताः<sup>१०</sup> शाखा  
 यस्मिन्, तस्मिन् । वने उद्याने । गत्वा प्राप्य । त वसन्तम् । अनङ्गबन्धुं मन्मथमित्रम् । [ त वसन्तम् ] ।  
 संभावयामि सत्करोमि । त्वमपि, तत्र वने । गता याता सर्ता । तिरोहितानां व्यवहितानाम् । वनदेवतानां  
 वनदेवतानाम् । नेत्रोत्सवं नयनोत्सवम् । कुरु विधेहि । कुञ्जं कर्णे लोट्<sup>११</sup> ॥५३॥ हांत ह्वि । सुमुखि भो  
 मनोहरमुखि । तत्र वने । शिखी मयूरः । हीतः लज्जित । मम मे । लोचनहारि लोचनयोनयनयो हारि  
 मनोहरम् । नृत्तं नर्तनम् । विहाय त्यक्त्वा । यदि, गन्तुं गमनाय । व्यवस्थेत् उद्यानं कुर्वन् । वि अवपूर्व. पो  
 अस्तकर्मणि लिट् । ( तत् ) त्वया, स्मरनिवासनितम्बचुम्बी स्मरस्य कामस्य निवासमावाप्तं नितम्बं  
 चुम्बति स्पृशतीत्येवं शीलः तद्योषतः । निजकेशपाश निजस्य स्वरूप केशपाशो यस्मिन्ल । चीनानुकेन

प्रिये ! इस समय पुरके उपवनकी शोभा सीमाव्यवती नायिका सरीखी हो गयी है । जिस प्रकार  
 नायिका तिलक ( मुद्रागबिन्दु ) और पत्र-रचनासे सुशोभित होती है, उसी प्रकार उपवनकी  
 शोभा तिलक वृक्षोंके अभी-अभी उत्पन्न हुए नये-नये पत्तोंसे है । इसी शोभाको दिखलानेके  
 लिए मानो चैत्रमास कोकिलके शब्दके बहानेसे मुखे बूला रहा है ॥ ५२ ॥ उपवनमे मलय-  
 पवनके इशारेपर टहनियाँ नर्तकीकी भाँति नृत्य कर रही हैं-हिल रही हैं । मैं वहाँ जाकर  
 कामदेवके मित्र ऋतुराज वसन्तका सत्कार करूँ । नम्र शरीरवाली प्रिये ! तुम भी चलो  
 और वहाँ ओटमे खड़ी हुई-अदृश्य वनदेवियोंकी आँखोंको उत्सव उत्पन्न कर दो ॥ ५३ ॥  
 हे सुमुखि ! वहाँ मेरी दृष्टिको आकृष्ट करने वाले नृत्यको छोड़कर मयूर यदि लज्जित होकर  
 भागनेका प्रयत्न करे तो तुम कामदेवके निवास स्थान स्वरूप नितम्ब तक लटकने वाले अपने

१. आ इ परभृतां ध्वनितं । २. एर टोकाध्वयः पाठः प्रतिपु तु विशेषस्य स्थाने विविधं इत्यस्ति ।  
 ३. = प्रादुर्भवद्भिः तिलकाद्यैः तिलकवृक्षछद्दैः । ४. = विविधा । ५. या प्रती 'मन्तरिकापत्रेण' इति  
 नोपलभ्यते । ६. = ध्वनितं ध्वनिः, तस्य । ७. = चैत्रमासः । ८. आ लिट् या लोट् । ९. = तस्मिन्बुद्धौ ।  
 १०. = नृतयुताः । ११. आ लिट् या लोट् ।

माधुर्यमिच्छुरतिशायि परिग्रहीतुं चूनाङ्कुरप्रसन्नजातकपायकण्ठः ।  
 मूकीभवत्परभृतां निबहोऽपि नूनमाकर्णयिष्यति तवानतगात्रि वाणीम् ॥५५॥  
 तत्र त्वदीयचरणाभ्युज्जताड्यमानो द्वौ यास्यतः सुषदने सदृशीभवस्थाम् ।  
 सद्यो वहन्मुकुलजालमशोकशाखी रोमाञ्चकञ्चुकितमूर्तिरहं द्वितीयः ॥५६॥  
 गत्या निसर्गपरिमन्थरया भ्रमर्ती त्वां संनिरीक्ष्य निवसन्नदीर्घिकासु ।  
 हंसीकुलं न हरिणाक्षि जनियते न त्वच्छिष्यभावगमनस्पृहयालु मन्थे ॥५७॥

कोशेयवस्त्रेण । पिहितः आच्छादितः । कार्यं विधेयः ॥५४॥ माधुर्यमिति । आनन्दगात्रि विनताङ्गि । अति-  
 शायि अतिशयशालम् । माधुर्यं मधुरत्वम् । परिग्रहीतुं परिग्रहणाय । इच्छुः इच्छन् । 'सन्निधौ—' इत्यादिना  
 उ-प्रत्ययः । चूनाङ्कुरप्रसन्नजातकपायकण्ठः । च्युतस्य माकन्दस्य अङ्कुरस्य कलिकायाः प्रसन्नेन सेवनेन जातः  
 संजातः कपायः शुद्धता वा यस्यासौ च्युतः अङ्कुरप्रसन्नजातकपायः । स कण्ठो यस्यासाविति पुनः बंसः<sup>३</sup> (?) ।  
 'कपायो रसभेदे स्यादङ्गणामे रिलेने । नियमि च कपायोऽयं सुगन्धो लाहितोऽन्यत्' ॥ 'कटुतिक्तकपायास्तु  
 सुगन्धस्याभिषायकाः ।' इत्यभिधानात् । परभृता कोकिलानाम् । निबहोऽपि समूहः ( अपि ) । मूकीभवनं  
 प्रागमूक इदानीं मूको भवतीति तथोक्तम् । तत्र ते । वाणीं वचनम् । नूनं निश्चयेन । आकर्णयिष्यति  
 आश्रयिष्यति ( आश्रयति ) । छिद्रकर्णभेदे लृट् ॥५५॥ तत्रेति । सुषदने सु शोभन वदन यस्याः तस्याः  
 सवीचनम्<sup>४</sup> सुमुखि । तत्र वने । त्वदीयचरणाभ्युज्जताड्यमानो त्वदीयांश्च तव सवन्धिभ्यां चरणाभ्युज्जता  
 पादावरिन्दिभ्यां ताड्यमानो आहत्यमानो । द्वौ, सद्यः तदैव । सदृशीं समानाम् । अवस्था परिणतिम् ।  
 यास्यतः गमिष्यतः । द्वौ वौ, इत्युक्ते कथ्यते—मुकुलजात मुकुलानां कुम्भलानां जातं समूहम् । वहन् धरन् ।  
 अशोकशाखी अशोकशाखी शाखी च तथोक्तः, एकः । रोमाञ्चकञ्चुकितमूर्तिः । रोमाञ्चने रोमहर्षण  
 कञ्चुकिता कञ्चित्ता मूर्ति र्यस्य सः । अहं, द्वितीयः । 'द्वित्रेऽशोयदेशे च ऋणं' इति तीयन्-प्रत्ययः । भवामि,  
 ह्यप्यद्याहार्यम् ॥५६॥ गन्थेति । हरिणाक्षि हरिणस्य ( अक्षिणी ) इव अक्षिणी यस्याः तस्याः संबोधम्<sup>५</sup>  
 ओ एणाक्षि । वनदीर्घिकामु वनस्य दीर्घिकामु सरोवरेषु निवसत् विद्यमानम् । हंसीकुलं हंसवधूनां कुलं यूथम् ।  
 निसर्गपरिमन्थरया निसर्गेन स्वभावेन मन्थरया मन्दया गत्या गमनेन । भ्रमर्ती चलन्तीम् । त्वा भवतीम् ।  
 संनिरीक्ष्य संविलोक्य । त्वच्छिष्यभावगमनस्पृहयालु तव ते शिष्यप्रावं छात्रत्वं गमने प्रापणे स्पृहयालु वाञ्छा-  
 युक्तम् अथवा तव शिष्यभावकल्पगमनं वाञ्छन् । न जनियते न भविष्यति ( इति ) न, किन्तु भविष्यत्येव ।

बालोंको चीनी रेशमी चादरसे ढक लेना ॥ ५४ ॥ हे नम्र शरीरवाली ! वहाँ आभ्रमंजरी  
 खानेसे कोकिलोंका कण्ठ मुरीला हो गया है । फिर भी सर्वश्रेष्ठ मधुरताको प्राप्त करनेकी  
 इच्छासे उनका झण्ड निश्चय ही मोन रहकर तुम्हारे वचन सुनेगा ॥ ५५ ॥ हे मुन्दर मुख-  
 वाली प्रिये ! वहाँ तुम्हारे चरण कमलोंके आघातसे दो, एक सरीखी अवस्थाको प्राप्त करेंगे—  
 पहला अभी-अभी उरपन्न हुई कलियोंको धारण करनेवाला अशोक वृक्ष और दूसरा मैं, जिसके  
 सारे शरीरमे रोमांच-ही-रोमांच दृष्टिगोचर होगे ॥ ५६ ॥ हे मुगलोवने ! मेरा खयाल है वहाँ-  
 के सरोवरोंमें रहनेवाला हंसियोंका झण्ड तुम्हें स्वाभाविक मन्दगतिसे घूमती हुई देखकर

१. क ख ग घ ग गमने स्पृहयालु । २. श शुद्धवाक् । ३. आ इति पुगर्भतः । ४. आ 'न्यदक्' ।  
 ५. = तत्संबुद्धौ । ६. = तत्संबुद्धौ ।

हस्तेन मुन्दरि मुहुर्विनिवारितोऽपि भृङ्गस्तवाधरदले नवविद्रुमामे ।  
 धावन्नशोकनवपल्लवशङ्खिवेताः स्मेरं करिष्यति न कस्य मुखं वनाम्ने ॥५८॥  
 पर्यन्तजाततृजालनिरुध्यमानभास्वरकरेष्वपि वनान्तलतागृहेषु ।  
 त्वद्वक्त्रचन्द्रश्चिम्बिः प्रतिहन्यमानो मुग्धाक्षि नः परिभविष्यति नान्धकारः ॥५९॥  
 दृष्टयोर्मदालिपु लतासु शरीरयष्टेऽर्धोर्विचित्रकदलीष्वधरस्य बिम्बे ।  
 संवाहिताक्षिप्रगुला स्वसखोजनेन सादृश्यमिन्दुवदने विहरेत्तमाणा ॥६०॥

मन्ये जाते । मनि जाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥५७॥ हस्तेनेति<sup>१</sup> । मुन्दरि रमणि । नवविद्रुमामे नवस्य विद्रुमस्य प्रवालस्यामे समाने<sup>२</sup> । तव ते । अधरदले अधर एव दलं पल्लवः, तस्मिन् । रूपकम् । अशोकनवपल्लव-  
 शङ्खिवेताः अशोकस्य कङ्कलिवृक्षस्य नवः प्रत्ययः पल्लव इति शङ्खि गङ्गागुप्त चेतो यस्य सः । मुहं  
 षट्पदः । हस्तेन पाणिना । मुहुः पुनः । निवारितोऽपि निगृह्यतोऽपि धावन् वगेन गच्छन् सन् । 'मतेर्वी वगे'  
 इति सु गवो इति धातोः वंग-वै धावादेशः । वनान्ते वनमध्ये । कस्य पुरुषस्य । सुग वदनम् । स्मेरं स्मितम्  
 (सस्मितम्) । न करिष्यति न विधास्यति । हुङ्कुज् करणे लट् ॥५८॥ पर्यन्तेति । मुग्धाक्षि मग्नं मनोहरेऽक्षिणो  
 यस्याः तस्याः<sup>३</sup> सखीजनम्, भो मनोह्र-नयने । पर्यन्तजाततृजालनिरुध्यमानभास्वरकरेषु पर्यन्ते समीपे  
 जातानामुत्पन्नानां तृक्षणा वृक्षाणां जालेन समूहेन निरुध्यमाना आव्रियमाणा<sup>४</sup> अन्ध्वन सूर्यस्य करा किरणा  
 येषु तेषु । वनांतलतागु-पु वनस्थान्ते मध्ये विद्यमानाभिलंताभिर्यन्तरोन्मिनिमिनि, नि गृह्णाति तेष्वपि ।  
 त्वद्वक्त्रचन्द्रश्चिम्बिः तव ते वक्त्रं मुखं तदेव चन्द्र सोमः तस्य मरीचिम्, कान्तिम् । रूपकम् । परिहन्यमानः  
 निराक्रियमाणः । अन्धकारः ध्वान्तम् । नो परिभविष्यति न पराजयिष्यति, इति न, किं तु परिभविष्यत्येव । नः  
 अस्मान् । परिभविष्यति अधधारयिष्यति, इति न । त्वम्मुखचन्द्रे सति तवाग्न्यकारस्य मनागपि सभाव-<sup>५</sup> नास्ति,  
 इति भावः ॥५९॥ दृष्टयोरिति<sup>६</sup> । इन्दुवदने इन्दुरिव वदनं मुखं यस्याः तस्या सखीजनम्<sup>७</sup>, गो चन्द्रमणि ।  
 उपमा । मदालिपु मदेन युक्तेषु अलिपु मृद्गेषु । दृष्टयोः नयनयोः । शरीरयष्टेः, लतासु वल्लरीषु । विचित्र-  
 कदलीषु विचित्रासु आश्चर्यमूतासु कदलीषु रमासु, ऊर्वोः । बिम्बे विम्बकले । अधरस्य रदनच्छदस्य ।  
 सादृश्यं साम्यम् । ईक्षमाणा आशङ्कमाना । स्वसखीजनेन निजालिजनेन<sup>८</sup> । संवाहिताक्षिप्रगुला संवाहित  
 मर्दितमद्भुतः पादयोर्गुलं यस्याः सा ( त्वम् ) । बिहर बिहार कुरु । हज् हरणे लेट् ( लाट् ) । उपमा

तुम्हारी सिध्दता स्खोकार करनेके लिए लालायित हो उठेगा ॥ ५७ ॥ हे मुन्दर ! हाथसे बार-बार हटाया गया भी भीया नवीन कोपलकी आभा वाले तुम्हारे होटपर अशोककी कोपलके भ्रमसे दोड़कर उपवनमे किसके मुखको हासयुक्त नहीं कर देगा ? ॥ ५८ ॥ हे मुन्दर आँखों वाले ! वहाँ लतामण्डप बने हुए है, उनके चारो ओर घनो वृक्षावली लगी हुई है, जिससे सूर्य की किरणे बाहर ही रोक दी जाती है-अन्दर प्रवेश नहीं कर पाती । अतः वहाँ अन्धकार छाया रहता है । फिर भी तुम्हारे मुखचन्द्रकी कान्तिसे वह नष्ट कर दिया जायगा । हम लोगोंको बाधा नहीं पहुँचा सकेगा ॥ ५९ ॥ हे चन्द्रवदने ! वहाँपर तुम अपनी आखोकी समानता मतवाले भीरोमे, शरीरकी समानता लताओंमें, ऊँधोंकी समानता विचित्र कदली वृक्षोंमें, होठकी समानता कुन्दरुमे देखती हुई विहार करना । थकान होनेपर तुम्हारी

१ अ 'युगलामु । सखीजनेन । २. वा हस्तेति । ३. = नवविद्रुमवदाभा यस्य तस्मिन्, विद्रुमवर्ण-  
 इत्यर्थः । ४. = तत्सद्बुद्धौ । ५. भा आह्वियमाणाः । ६. एष टीकानुगः पाठः, प्रसिद्ध तु 'दृष्टेः' इत्येव  
 सम्पुलक्यते । ७. = तत्सद्बुद्धौ । ८. वा निजालिजनेन' इति नास्ति ।

क्षणमिति मधुराभिर्भूयतिभारतीभिः स रहसि रमयित्वा वल्लभां बद्धभाषाम् ।  
 निजनगरनिवेशे<sup>१</sup> लोकमानन्द्यन्तीं वनविहरणयात्राघोषणामादिदेश ॥६१॥  
 दिङ्नागान्प्रतिदन्तिशङ्किमनसः श्रव्योत्कटान्कोपय-  
 न्ममःपूर्णपयोदरेकिहृदयानुत्कण्ठयन्केकिनः ।  
 नागानुत्कण्ठयन्ममत्कृतिभृतो भूभृत्तटास्त्राख्य-  
 न्व्योम व्याप<sup>२</sup> मृदङ्गभूरुदयवान्प्रस्थानशंसी ध्वनिः ॥६२॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्येऽष्टमः सर्गः ॥८॥

॥६०॥ क्षणमिति । सः भूरतिः अजितसेनचक्रवर्ती । इति उक्तप्रकारेण । क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् ।  
 मधुराभिः मनोहराभिः । भारतीभिः वचनैः । बद्धभाषां बद्धो रचितो भावशिबलविकारो यस्याः, ताम् ।  
 वल्लभा प्राणहस्ताम्, शशिप्रभाम् इति यावत् । रहसि एहान्ते । रमयित्वा क्रोडयित्वा । निजनगरनिवेशो  
 निजनगरस्य स्वपुरस्य निवेशे मध्ये । लोकं जनम् । आनन्दयन्तीं सतीषयन्तीम् । वनविहरणयात्राघोषणां  
 वनस्य विहरणस्य<sup>३</sup> क्रोडायाः [यात्रायाः] निर्याणस्य घोषणाम् । आदिदेश आज्ञे । दिशि अतिसर्जने कृत्  
 ॥६१॥ दिङ्नागानिति । [ङ्] व्योत्कटान् [ङ्] व्योत्तस्तः कटा येषां तान् खरत्कपोलान् । प्रतिदन्ति-  
 शङ्किमनसः प्रतिदन्तिन इति प्रतिकूलमया इति शङ्कि सन्देहयुक्त मनो येषां तान् । दिङ्नागान् दिग्गजान् ।  
 कोपयन् क्रोधयन् । अममःपूर्णपयोदरेकिहृदयान् अमसा सलिलेन पूर्णं पयोदो मेघ इति शङ्कि हृदयं चित्तं येषां  
 तान् । केकिनः मयूराः । उत्कण्ठयन् सतीषयन् । चमःकृतिभृतः चमत्कृति चमत्कारं भृतो धरतः (विभ्रतीति  
 भृतः धरतः तान्) । नागान् सधन् । उत्कण्ठयन् उदयतफणान् कुर्वन् । भूभृत्तटान् भूभृता पर्वतानां तटान्  
 सानून् । स्कालयन् पादेन प्रहरन् । प्रस्थानशसी प्रस्थानस्य प्रयाणस्य शंसी सूची । ध्वनिः ध्वनिः । मृदङ्गभूः  
 पटोद्भूवः । उदयवान्<sup>४</sup> प्रादुर्भावयुक्तः । व्योम गगनम् । व्याप व्याप्नोति स्म । आल्लु व्याप्नोति । इत् ।  
 अतिशयः ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च  
 विद्वन्मनोवल्लभाख्येऽष्टमः सर्गः<sup>५</sup> ॥८॥

सखियां पेर दबा देगी ॥ ६० ॥ स्थिर विचारवाली रानी शशिप्रभाको इस प्रकारके मधुर  
 वचनोसे थोड़ी देर एकान्त स्थानमें आनन्द देकर चक्रवर्ती अजितसेनने अपने नगरके अन्दर  
 सभी लोगोंको आनन्द देनेवाली वनविहारकी यात्राकी सूचना देनेके निमित्तसे घोषणाका  
 आदेश दिया ॥ ६१ ॥ प्रस्थानसूचक मृदंग-शब्द बहुत तेज था । वह पूरे आकाशमें गूँज  
 उठा । उसे सुनकर मदजल बहानेवाले दिग्गजोंको दूसरे हाथियोंके शब्दका भ्रम हो गया,  
 जिससे वे क्रुद्ध हो उठे; मयूरोको सजल मेघोके गर्जनको आशंका उत्पन्न हो गयी, फलतः वे  
 ग्रीवा उठाकर ऊपरकी ओर देखने लगे; नाग आश्चर्यमें पड़ गये और फन उठाकर इधर-  
 उधर ताकने लगे तथा पहाड़ोंके शिखर हिलने लगे ॥ ६२ ॥

इस तरह श्रीवीरनन्दिविरचित उदयाक चन्द्रप्रभविरचित महाकाव्यमें अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

१. अ. निवेशः । २. अ. व्योमध्यायिमृदङ्गभू<sup>३</sup> । ३. = विहारस्य । ४. = वर्धमानः । ५. आ शा चैव-  
 वर्णनो नामाष्टमः सर्गः ।

## [६. नवमः सर्गः]

मधुविनिहितविभ्रमाभिरामां मदकलकोकिलनादिनीं नरेन्द्रः ।

परिजनपरिवारितो वनान्तश्चियमबलामिव वीक्षितुं प्रतस्थे ॥१॥

ललितघनतमालका मनोज्ञद्विजसुभगास्तिलकाहितोरुशोभाः ।

स्तनजघनभरालसं प्रबेलुस्तुलितवनावलिविभ्रमा रमण्यः ॥२॥

संसारसिन्धुरहिततृप्तिबद्धजीवानुद्भूत्य नित्यपदवीमधितिष्ठति स्म  
धर्म प्रकाशयति तं जिनधर्मनाथं तीर्थकरो जयति सर्वविनेयकृतो । ॥

मध्विति । परिजनपरिवारितः परिजनैः सेवकजनैः<sup>१</sup> परिवारितः पङ्क्तः । नरेन्द्रः मराणामिन्द्रचक्रो । मधुविनिहितविभ्रमाभिरामा मधुना वसन्तेन मधेन च विनितितेन कुतश्च विभ्रमेण शोभया अभिरामा बिराजमाना<sup>२</sup>, पक्षे विभ्रमेण भ्रमत्या अभिरामा । मनोहराम् । मदकलकोकिलनादिनी मदेन कलः कोकिलस्य नादोऽस्या अस्तीति मदकलकोकिलनादिनी, ताम् । 'मदकलः स्याममदेभ्यो मदेनाव्यक्त' वाचि च' इत्यभिधानात् । अबलामिव स्त्रियमिव । वनान्तश्चिय वनस्यान्तस्य मध्यस्य श्रिय शोभाम् । वीक्षितुं वीक्षणाय । प्रतस्थे प्रययी । ष्टा गतिनिवृत्तौ लिट् । श्लेषः ॥१॥ ललितेति ।<sup>३</sup> ललितं घनतमालका ललिता<sup>४</sup> मनोहरा घनतमा अलकाः कुन्त्या यासा ताः, पक्षे ललिता<sup>५</sup> मनोहरा घना निरन्तराः तमाला तमालवृक्षा यासा ताः । मनोज्ञद्विजसुभगा । मनोज्ञमनोहरं द्विजैर्वन्तैः सुभगा, पक्षे मनोज्ञद्विजैः<sup>६</sup> (मनोज्ञद्विजैः) पक्षिभिः सुभगाः । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः । तिलकाहितोरुशोभा तिलकैः कस्तूर्यादितिलकैराहिता कृता उरुः ( उर्वी ) महती शोभा यासा ताः, पक्षे तिलकवृक्षैः । तुलितवनावलिविभ्रमा तुलित समानाकुला वनावाना-मावलिखि पङ्क्तिखि विभ्रमा<sup>७</sup> मनोहराः । रमण्यः वनिता । स्तनजघनभरालसं स्तनजघनयोः स्तननितम्बयो-

इसके पश्चात् वनकी शोभा देखनेके लिए राजा अजितसेनने अपने स्थानसे प्रस्थान कर दिया । इस अवसरपर वे चारों ओरसे अपने पूरे परिवारमें घिरे हुए थे । वनकी जिस शोभाको देखनेके लिए वे जा रहे थे, वह युवतीके समान थी । युवती मद्यपान कर लेनेपर विलाससे मनोज्ञ हो जाती है और मद्यके नशेमें कोकिलकी भाँति अव्यक्त, किन्तु मधुर शब्दोंमें बोलने लगती है । इसी तरह वनकी सुषमा भी वसन्तकी छायासे दर्शकोंको रमानेवाली हो जाती है तथा मतवाले कोकिलोंके शब्दोंसे आकर्षक ॥ १ ॥ उस यात्रामें स्तन और नितम्बके बोझसे जो स्त्रियाँ अलसामी हुई सी, चली जा रही थीं, उनकी शोभा वन पङ्क्तिके समान थी । वनकी पङ्क्तिमें सुन्दर एवं सघन तमाल वृक्ष होते हैं, वह मनोज्ञ पक्षियोंमें सुहावनी होती है और तिलक वृक्षोंसे उसकी श्रौवृद्धि होती है । इसी तरह उन स्त्रियोंके केश सुन्दर और अत्यधिक सघन थे, वे सुन्दर दाँतोसे बड़ी सुहावनी थी और सुहावने बिन्दुओंसे उनकी शोभा

१. आ पद्यमिदं नास्ति । २. श 'सेवकजनैः' इति नास्ति । ३. आ मदे व्यक्तं श मदे वाच्यवत् ।

४. ललितेति । ५. श अलित । ६. श अलिताः । ७. श अलिताः । ८. आ मनोज्ञा द्विजैः । ९ = विभ्रमा. शोभा याभिः, ताः ।

प्रणवितकलकाञ्चिन्पुरोत्थं ध्वनिमनुबध्नति राजहंसयूथे ।  
सदृशगतिकुतूहलेन दृष्टिमुन्दुरपतद्भ्रान्तिताजने च यूनाम् ॥३॥  
सुललितगमनो न राजहंसः कलभार्पितर्न च मन्थरप्रयातः ।  
अलसगतिषु वामलोचनानां गुरुरजनिष्ट निजो नितम्बभारः ॥ ४ ॥  
गगनमुभयतः प्रपूर्यमाणं हरिणदृशां बटुलैः कटाक्षपातैः ।  
पवनविधुतनीलनीरजौघव्यतिकरिणः सरसो बभार लक्ष्मीम् ॥ ५ ॥

भरेण भारेणालसं यथा भवति तथा । प्रचेलु प्रवयु । अल कम्पने लिट् ॥२॥ प्रणदितेति । प्रणवितकल-  
काञ्चिन्पुरोत्थं प्रणवितैर्मनोहरध्वनितं कलैर्मनोहरैः काञ्चिन्पुर्वैः काञ्चिदामपादकटकीः उत्थं जातम् ।  
ध्वनि शब्दम् । अनुबध्नति अनुयाति । राजहंसयूथे राजहंसानां यूथे समूहे । वनिताजने<sup>३</sup> वनिता एव जनः  
तस्मिन् च । तरुणानां ( यूनाम् ) । दृष्टिः नयनम् । सदृशगतिकुतूहलेन सदृशगती समानगमने कुतूहलेन  
कौतुकेन । मूढः पुनः पुनः<sup>४</sup> । अपतत् । अप्तत् । पल्लु गतो लुङ् ॥३॥ सुललितेति । वामलोचनानां  
कामिनीनाम् । निजः स्वकीयः । नितम्बभारः नितम्बस्य भारः । सुललितगमनः सुललितं सुललितं गमनं  
यस्य सः । तथापि राजहंसः हंसपक्षी । नाजनिष्ट नाभवत् । मन्थरप्रयातः मन्दगमनः, सम्मथि । कलभपतिः  
कविशायकपतिः । न च नाजनिष्ट । ततः, अलसगतिषु मन्दगतिषु गमनेषु । गुरु. उपदेशकः । अजनिष्ट  
बभूव । जनेङ् प्रादुर्भावे लुङ् ॥४॥ गगनमिति । हरिणदृशां हरिणस्य ( दृशौ ) इव दृशौ नयने  
यामा तासाम्, नागीनाम्—१त्यर्थः । बटुलैः चंचलैः<sup>५</sup> । कटाक्षपातैः कटाक्षस्यापाङ्गदर्शनस्य पातैर्विन्ध्यसैः ।  
उभयतः उभयपाक्षतः । प्रपूर्यमाणं सर्गं क्रियमाणम् । ( भ्रियमाणम् ) । गगनम् आकाशम् । पवनविधुत-  
नीलनीरजौघव्यतिकरिणः पवनेन वायुना विधुतस्य<sup>६</sup> ( कम्पितस्य ) नीलानां कुलानां नीरजानां  
नीलोत्तरलानामिति यावत्, ओघस्य समूहस्य व्यतिकरिणो व्यतिकरः संप्रभोऽस्त्यस्येति तथोक्तं, तस्य ।  
'व्यतिकरः स्पाद् व्यनमनव्यतिषद्भयो' इति विश्वः । सरसं सरोवरस्य । लक्ष्मीं शोभाम् । बभार धरति स्म ।

और भी अधिक बढ़ गयी थी ॥ २ ॥ यात्रामें सम्मिलित होनेवाली सभी स्त्रियोंकी कमरमें  
बजनेवाली करघनी और पैरोंमें नपूर थे । चलते समय उन दोनोंकी ध्वनि सुनकर राजहंसी-  
का झुण्ड इधर-उधरसे आ-आकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा । उन स्त्रियों और हंसोंकी  
बिलकुल एक सरीखी चाल देखकर युवकोंको बड़ा कौतूहल हुआ, अतः उनकी दृष्टि स्त्रियों और  
हंसोंकी ओर बार-बार जा रही थी ॥ ३ ॥ राजहंस उतना सुन्दर गमन नहीं कर पाता और  
न श्रेष्ठ कलभ भी उतनी मन्दगतिमें चल सकता है । अतः स्त्रियोंको सुन्दर एव मन्द गतिका  
उपदेश देनेवाला गुरु उनके नितम्बका भार था, न कि राजहंस या कलभ ॥ ४ ॥ हिरणोके  
समान सुन्दर नेशोंवाली स्त्रियोंके चंचल कटाक्षोसे दोनों ओरसे व्याप्त होकर आकाश उस  
सरोवरके समान हो गया, जिसमें वायुमें कम्पित होकर नील कमलोंका समूह लहरा रहा

१. आ इ 'काञ्ची' । २. अ स ललितं । ३. = वनितायां जनो वर्ग. तस्मिन्वच । ४. श 'पुनः' इति  
नोपलक्ष्यते । ५. = राजहंसः मरालः । सुललितगमनः सुललितगतिमनोहरं गमनं यस्य सः । न नास्ति ।  
कलभपतिः च त्रिशद्वचकविशायकेशोऽपि । मन्थर-यातः मन्थरं मन्दं प्रयातं गमनं यस्य सः । न न वर्तते ।  
अतो वामलोचनानां कामिनीनाम् । अलसगतिषु मन्दगतिषु । निजः स्वकीय एव । नितम्बभारः बहुलितम्बः ।  
गुरुः शिक्षकः । अजनिष्ट ममजनि । नितम्बनीनां यादृशी गतिरस्ति तादृशी राजहंसे कलभे च नावलोक्यते ।  
अत एव तासामलसगतिः-यथे तन्निमित्तम् एव गुणं राजहंसी न च कलभ इति निर्याल्लिख्यते । व्यतिरेका-  
लङ्कारः ॥४॥ ६. श विधुतस्य । ७. श विधुतस्य ।



ललिततिलकमण्डनानि मुग्धे रचयितुमेव वृथा तव प्रयासः ।  
 मुखकमलमलं करोति यत् पतदलिनीकुलमेव पद्ममोहात् ॥६॥  
 विरचयसि यमादरेण हारं तमपि तवाहमवैमि शुद्धभारम् ।  
 कमलमुखि पयोधरान्तराले भ्रमजलबिन्दुविभूषिते प्रजनन्याः ॥७॥  
 भ्रवणतटविलम्बि संविधत्से नयनयुगं न किमेतदीयशोभाम् ।  
 धरतनु विकलकियं विधातुं यदस्तिमुत्पलमुद्यतासि कर्णे ॥ ८ ॥  
 विरयसि परमेव निक्षिपन्ती रसमतिसान्द्रमलककस्य कान्ते ।  
 ननु किसलयभासि रागबन्धस्तव पदपद्मतले निसर्गसिद्धः ॥ ९ ॥

दुभूज धारणपोषणयो लिट् । उपेक्षा ( निदर्शना ) ॥५॥ ललितेति । मुग्धे सुन्दरि । 'मुग्ध सुन्दरमूढयोः' इत्यभिधानात् । ललिततिलकमण्डनानि ललितानि मनोहराणि तिलकान्वेव मण्डनानि यदा उपलक्षणात् तिलक-प्रभृतिमण्डनानि तयोक्तानि । विरचयितुं [ रचयितुं ] कर्तुम् । तव ते । एषः अयम् । प्रयासः प्रयत्नः । वृथा व्यर्थः । यत् यस्मत् । पद्ममोहात् पद्मम्—इति मोहाद् भ्रान्तेः । पतदलिनीकुलमेव पद्मतीनामतिनीना भृङ्गीणा कुलमेव समूह एव । ते तव । मुखकमलं वदनपद्मम् । अलकरोति मण्डयति । दुर्गुज्जं करणे लट् । रूपकम् ॥६॥ विरचयसीति । कमलमुखि कमलमिव पद्ममिव मुख यस्या तस्याः संबोधनम् । य हारं हारयति । आदरेण प्रीत्या । विरचयसि संधारयसि । रच प्रतियत्ने लट् । तमपि हारमपि । अहम् । व्रतन्याः गच्छन्त्याः । भ्रमजलबिन्दुभूषिते भ्रमजलस्य स्वेदसलिलस्य बिन्दुभिविदुर्भिभूषिते मण्डिते । पयोधरान्तराले पयोधरयोः स्तनयोरन्तराले मध्ये । तव ते । शुद्धभारं तूष्णीं भारमिति । अवैमि जानामि । एणं गतो लट् । उपेक्षा । ७॥ भ्रवणेति । धरतनु वरा मनोहरा तनुङ्गा यस्याः तस्या संबोधनम्, भो मनोहराङ्गि । विकलकियं विकला-निष्कला क्रिया यस्मिन् कर्मणि तत् । यत् असितं कृष्णम् उत्पल नीलोत्पलम्—इति यावत् । कर्णे धोत्रे । विधातुं कर्तुम् । उद्यता उद्युक्ता । असि भवसि । अस भुवि लट् । एतदीयशोभां एतदीयस्य नीलोत्पल-संबन्धस्य शोभा विलासम् । भ्रवणतटविलम्बि भ्रवणयोः । कर्णयोस्तत् मूलं विलम्बि<sup>१</sup> आश्रयणीलम् । नयनयुगं नयनयोर्नेत्रयोर्गुणं युगम् । न संविधत्से किं न संवरति<sup>२</sup> किं, किन्तु संविधत्से एव । सामान्यम् ॥८॥ विरयसीति । कान्ते भो ललने । अलककस्य यावकस्य<sup>३</sup> । अतिमान्द्रम् अतिघनम् । रस द्रवम् । निक्षिपन्ती स्थापयन्ती । परमेव अत्यन्तमुत्कृष्टमेव । विरयसि चिर करोषि आलस्य करोषि—इत्यर्थः । किसलयभासि<sup>४</sup> किसलयमिव भासि कान्तियुक्ते । ते तव । पदपद्मतले पदमेवपद्मतले ब्रतसरोरुहं तस्मिन् । रागबन्धः

हो ॥ ५ ॥ हे सुन्दरी ! सुन्दर तिलक आदि लगाकर शृंगार करनेका तेरा यह प्रयास व्यर्थ है; क्योंकि कमलके भ्रमसे आया हुआ भीरियोंका झुण्ड ही तेरे मुख-कमलको अलंकृत कर रहा है ॥ ६ ॥ हे कमलमुखी, जिस हारको तू बड़े शौकसे पहन रही है, मैं उसे केवल, तेरा बोझ ही समझता हूँ, जब कि चलनेसे तेरे स्तनोंके बीचका भाग पसीनेके बिन्दुओंसे भूषित, भूषित नहीं, विभूषित है—हारसे भी कहीं अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा है ॥ ७ ॥ हे सुन्दर शरीर-वाली ! कानों तक फैले हुए नेत्रोंसे क्या तेरे इन ( कानों ) की गोभा नहीं है, जो तू नील-कमलोंको व्यर्थ ही कानोंके ऊपर धारण करनेके लिए उद्यत हो रही है ॥ ८ ॥ हे प्रिये ! खूब गाढ़ा महावर लगाकर तू केवल विलम्ब ही कर रही है ( न कि परो का शृंगार ), क्योंकि नयी कोपलो सरोखी कान्तिको धारण करने वाले तेरे चरण-कमलोंके तलबोंमें निश्चय ही

१. आ इ विपुलकिं । २. आ दु दु भूज् भरणे लिट्, श दु दु भूज् धारणपोषणयोर्लिट् । ३. = 'तसंबुद्धौ' । ४. = केवलभारमिति । 'शुद्धः केवलपूतयोः' इत्यनकायसङ्गः । ५. = विलम्बते समाश्रयतोत्यर्थं शीलम् । ६. आ युगल । ७. = विदधाति । ८. आ युषकस्य । ९. = किसलयवद् भाः कान्तियस्य तस्मिन् । १०. श पदावेव ।

लघु जिगमिषुणेति काचिदुच्चैः स्ववपुरलंकरणाकुला प्रियेण ।  
 प्रतिपदमवगच्छता तदीयं जघनमहामरविचित्रं<sup>१</sup> प्रयातम् ॥ १० ॥  
 सकृद्वधुघतया कृतेऽपराधे भवति ततो विनिवृत्तिरेव दण्डः ।  
 तदहमपि न तं पुनर्विधास्ये सुतनुं तवेति स वल्लभो ब्रवीति ॥ ११ ॥  
 अपि च सुवदने नरो न दोषाद्विरमति शिक्षयते न यावदन्धः ।  
 स च कुसुमशरेण शिक्षितस्त्वद्विरहसखेन निनीषुणा विनाशम् ॥ १२ ॥  
 न च सखि सुसहस्वयापि तावत्प्रियविरहः क्षयहेतुरङ्गयष्टेः ।  
 कथयति हि नबोष्टविश्वमुष्णश्वसितविरुक्षितमान्तरङ्गमाधिमं<sup>२</sup> ॥ १३ ॥

रागस्यारूपस्य<sup>३</sup> बन्धः सन्धः । निसर्गसिद्धः स्वभावसिद्धः । ननु लघु ॥१॥ कथयति । स्ववपुरलंकरणाकुला  
 स्ववपुः स्वशरीरस्यालंकारणैः लङ्कारैः (मण्डने) आकुला सक्ता । काचित् एका स्त्री । प्रतिपदं पदं पदं प्रति  
 चरणनिर्देशणं चरणनिक्षेपणं प्रति । जघनमहामरविचित्रं जघनस्य नितम्बस्य महामरेण भारेण विचित्र-  
 मन्तरितम् । तदीयं तस्या इदं तदीयम् । प्रयातं गमनम् । अवगच्छता जानता । लघु जिगमिषुणा लघु शीघ्रं  
 जिगमिषुणा<sup>४</sup> गन्तुमिच्छुना । प्रियेण दयितेन । इति वदाम.ण. (उक्त-) प्रकारेण । ऊचै उच्यते स्म । पञ्चमिः  
 कुलकम्<sup>५</sup> ॥१०॥ सकृदिति । सतनु भो मनोहराङ्ग । अबुघतया अजानतया । सकृत् एकवारम् । अपराधे  
 बोधे । कृते विहिते । तन तस्मात् । विनिवृत्तिरेव निराकृतिरेव । दण्डः<sup>६</sup> अपराध. (?) भवति । भू सत्तायां  
 लट् । तस्मात्, अटमि, तम् अपराधम् । पुनः पश्चात् । न विधास्ये न करिष्ये । सः, तव ते । वल्लभः  
 प्राणनायकः । इति एवम् । ब्रवीति वदति ॥११॥ अर्थाति<sup>७</sup> । सुवदने सुगममुखि । अपि च विशेषोऽस्ति  
 ( अथ च ) । अन्यः, नरः पुरुषः । यावत् यत् ( यावत् ) पर्यन्तम् । न शिक्षयते शिक्षां न करोति । शिक्षि<sup>८</sup> ।  
 विद्योपादाने पश्चात्सलट्<sup>९</sup> । तावत्—इत्यध्याहारः । दोषात् अपराधात् । न विरमति नापसति । 'न  
 पयोऽव रम' इति स्मृ. न भवति । विनाशं विनाशनम्<sup>१०</sup> । निनीषुणा नेतुमिच्छुना । त्वद्विरहसखेन<sup>११</sup> तव ते  
 विरहस्य वियोगस्य सखेन (?) महायेन । कुसुमशरेण पुष्पबाणेन । स च पुरुषः । शिक्षितः ॥१२॥ न चेति ।  
 सखि भो वत्सल्ये । अङ्गयष्टे शरीरयष्टेः । क्षयहेतुः नाशकारणम् । प्रियविरहः प्रियस्य दयितस्य विरहो वियोगः ।

स्वाभाविक लालिमा बनी हुयी है ॥ ९ ॥ शीघ्र ही जानेके लिए इच्छुक नायकने इस तरह  
 अपनी पत्नीसे कहा, जो अपने शरीरका शृङ्गार करनेमें व्यग्र थी; क्यों कि वह पहलेसे ही  
 उमके नितम्बके भारे भारसे गमनमें पग-पगपर आनेवाली बाधाको जो जानता था । ( छे  
 इलोकसे यहाँ तक सम्बन्ध है ) ॥ १० ॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! तेरा पति यों कहता  
 है कि भूलने एकवार अपराध कर लेनेपर उसमें निवृत्त होना ही दण्ड है । अतः मैं  
 भी अब कभी उम अपराधको नहीं करूँगा, जो मुझसे भूलवश एक बार हो गया है  
 ॥ ११ ॥ हे सुन्दर मुखवाली ! और एक बात यह भी तो है कि मनुष्य किसी अपराधसे तभी  
 तक निवृत्त नहीं होता, जबतक कि उसे कोई शिक्षा नहीं दे देता—समझा नहीं देता । विरहा-  
 वस्थामें तुम्हारी मदद करनेवाले और अपराधीको विनाशकी ओर ले जानेकी इच्छा रखने-  
 वाले कामदेवने उसे ( तेरे पतिको ) खूब शिक्षा दे दी है ॥ १२ ॥ हे सखि ! प्रियका विरह  
 शरीरके विनाशका कारण है, अतः तेरे लिए भी वह ( प्रिय विरह ) आसानीसे सहने योग्य

१. अ जनमनहःविचित्रं । २. आ इ सुतनो । ३. आ आ इ 'तमङ्गरङ्गमाधिमं । ४. = रागस्य  
 आरूपस्य । ५. = गन्तुमिच्छुजिगमिषुः, तेन । ६. आ इ 'कुलकम्' इति नास्ति । ७. = दमनोपायः ।  
 ८. न असीति । ९. आ शिक्षा । १०. आ लुट्, श लट् । ११. आ नाशनम् । १२. तव विरहो वियोगः स  
 एव सखा मित्रं यस्य, तेन ।

त्यज मम विरहोऽधुनेष पञ्चादपि न रुजाकर इत्यपि स्वमानम् ।  
 नहि भवति यथा स्थिरं क्रियादाघधिकृतनिर्वहणे तथैव चेतः ॥ १४ ॥  
 इति हितमधुरैरिवादिमन्त्रैरपहृतमानविषा सखीवचोभिः ।  
 दयितमनुजगाम मन्दमन्दं निहितपदा किल नेच्छतीव काचित् ॥ १५ ॥  
 ( कुलकम्<sup>१</sup> )

स्मरपरवशबुद्धिरसंपृष्ठप्रगमितपाणिघृतप्रियाकुचाग्रः ।  
 गजपतिरिव मन्थरेण कश्चित्समुपजगाम शनैः पदक्रमेण ॥ १६ ॥

स्वयापि<sup>२</sup> । तावत्<sup>३</sup> तत्पर्यन्तम् । सुतहः सुखेन सहः । स च<sup>४</sup> । तव ते । आन्तरङ्गम् अन्तरङ्गभवम् ।  
 आधि पीडाम् । उष्णवसितविरुक्षितम् उष्ण<sup>५</sup> इव सितेन द्वासेन विरुक्षितं पर्वयितम् । ओष्ठविम्बम्<sup>६</sup> ओष्ठो-  
 षरः स एव विम्बं विम्बफलम् कथयति हि वदति । कथ वाक्पप्रबन्धे लट् । अनुमितिः ॥ १३ ॥ त्यजेति । मम  
 मे । विरहः वियोगः । अधुनेव इदानीमिव । 'सदेतद्दधुनेदानीं सद्यः' इति साधु । पञ्चादपि परस्मिन्नि<sup>७</sup>  
 ( समये ) । रुजाकरः पीडाकरः । न भवति, इत्यपि, स्वमानं स्वस्य मानं गवम् । त्यज अहि । त्यज हानौ  
 कोट्<sup>८</sup> । चेतः चित्तम् । क्रियादौ क्रियायाः कार्यस्यादौ प्रारम्भे । यथा, स्थिरं दृढम् । तथैव<sup>९</sup> । अधिकृत-  
 निर्वहणे अधिकृतस्य प्रारब्धस्य निर्वहणे<sup>१०</sup> संपूर्णकरणे । न भवति हि नास्ति हि ॥ १४ ॥ इतीति । इति  
 एवम् । हितमधुरैः हितैरहितमूर्तमधुरैर्मनोहरैः । अहिमन्त्रैरिव विषापहारमन्त्रैरिव । सखीवचोभिः सख्या  
 आल्या वचोभिर्वचनैः । अपहृतमानविषा अपहृतं निराकृतं मानं एव गवं एव विपं यस्याः सा । नेच्छतीव न  
 वाञ्छतीव । मन्दं मन्दं शनैः शनैः । 'वोपतायाम्' ( इति ) ङि । निहितपदा<sup>११</sup> निहितौ निहितौ पदौ यथा  
 सा । काचित् अन्या वनिता । दयितं बल्लभेन सह ( बल्लभम् ) । अनुजगाम अनुयाति स्म । गम्ल् गतो लट् ।  
 उरमा- ( रूपकमुद्रिका च ) । पञ्चभिः कुलकम्<sup>१२</sup> ॥ १५ ॥ स्मरेति । स्मरपरवशबुद्धिः स्मरेण मन्थरेण  
 परवशा पराशोना बुद्धिर्यस्य सः । अंष्टपृष्ठप्रगमितपाणिघृतप्रियाकुचाग्रः अंशेन भुजगिरसा पृष्ठे चरमनो<sup>१३</sup> प्रगमि-  
 तेन प्रापितेन पाणिना हस्तेन घृतं प्रियाया दयितायाः कुचः प्र यस्य<sup>१४</sup> स । गजपतिरिव मन्थरस्तीव ।  
 कश्चित्<sup>१५</sup> एकनायकः । मन्थरेण मन्देन । पदक्रमेण पदविन्यासेन । शनैः, समुपजगाम नमपयति स्म ।

नहीं है; क्योंकि तेरा होठ, जो गरम द्वासवायुसे रूखा पड़ गया है, और जिमपर पपड़ी पड़ गयी  
 है, तेरी मानसिक व्याधिको बतला रहा है ॥ १३ ॥ जैसे इस समय मुझे प्रियका विरह पीडा  
 नहीं दे रहा है, इसी तरह आगे भी नहीं देगा, यह सोच कर भी तू मान मत कर-मानको छोड़  
 दे; क्योंकि किसी भी कार्यके प्रारम्भमें मन जैसा स्थिर होता है, वैसा उसके अन्त तक नहीं  
 रहता ॥ १४ ॥ इस तरह हितकर, मधुर एवं सर्पमन्त्रके समान सखीके वचनोसे किसी मान-  
 वती नायिकाका मान विषकी तरह शान्त हो गया । फलतः वह अपने पनिके पीछे-पीछे छोरे-  
 छोरे पेर रखकर चलने लगी, जिससे उस समय वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जाना नहीं  
 चाहती हो ॥ १५ ॥ एक कामी—जिसकी बुद्धि कामदेवके वशमें थी—अपनी प्रियाके कन्धे और  
 पीठके ऊपरसे बगलमें डाले हुए हाथसे उसके स्तनके अगले भागको पकड़कर गजराजकी तरह

१. आ इ 'कुलकम्' इति नास्ति । २. = स्वस्यापि । ३. = वाक्पालङ्कुरे । ४. = विरहः ।  
 ५. आ उष्णस्य । ६. = ओष्ठो विम्बमित्योष्ठविम्बम् । ७. वा 'परस्मिन्नि' इति नोपलभ्यते । ८. वा  
 कोट् । ९. = तैवेव प्रकारेण । १०. = निबहि । ११. = निहिते निहिते पदे यथा सा । १२. वा 'पञ्चभिः  
 कुलकम्' इति नोपलभ्यते । १३. वा गतो । १४. = येन । १५. वा कश्चिदेव । १६. आ समनु ।

कृतमनसिजवेगमुरुगुग्मं पथिजपरिभ्रमनोदनापदेशात् ।  
 मुहुरलसगतेः<sup>१</sup> स्पृशन्प्रियायाः समुपयावपरोऽल्पकेऽपि मार्गे ॥ १७ ॥  
 इति कृतविधिवप्रकारचेष्टा मनसि शयाकुलचेतसः<sup>२</sup> सभार्याः ।  
 विविशुरुपवनं पुरः प्रयातक्षितिपतिसेवितकृत्रिमाद्रि पौराः ॥ १८ ॥  
 तरुविटप<sup>३</sup> शिखावसक्तहस्ताश्चिरमनुपात्तनिमेषनेत्रयुग्माः ।  
 फलकुसुमसमृद्धिमीक्षमाणा हरिणदृशो वनदेवता इवाभुः ॥ १९ ॥  
 सति निजकरजारुणांशुभिन्ने जरठपलाशचये महोरुहाणाम् ।  
 समजनि वनिताजनस्य हेतुर्ध्वदिमगुणो नयपल्लवावबोधे ॥ २० ॥

गमू गतो हिट् । उपमा ॥ १६ ॥ कृतेति । अपरः ब्रह्मो नायकः । पथिजपरिभ्रमनोदनापदेशात् पथिब्रह्म  
 मार्गजातस्य परिभ्रमस्य नोदनस्य निराकरणस्यापदेशाद् व्याज्जात् । अलसगतेः अलसा मन्दा गतिर्गमनं यस्याः  
 तस्याः । प्रियायाः दयिताया । कृतमनसिजवेगं कृतो विहितो मनसिजो<sup>४</sup> मनसि जातो वेगः क्षीघ्रं यथा  
 तथा । ऊरुगुग्मम् ऊर्ध्वगुग्मं युगलम् । मुहुः भूयः । स्पृशन् स्पर्शनं कुर्वन् । अल्पके समीपे । मार्गेऽपि  
 सत्यपि । समुपयायो समुपजगाम । या प्रापणे लिट् ॥ १७ ॥ इतीति । इति एवम् । कृतविधिवप्रकारचेष्टाः  
 कृता विविधप्रकाराः नानाप्रकारा चेष्टा व्यापारा यैः, ते । मनसि शयाकुलचेतसः मनसि शयेन कामेनाकुलं व्याकु-  
 लितं चेतश्चित्तं येषां ते । सभार्याः जायाजनसहिताः । योगः पुरे भवाः पौराः पुरजनाः । पुरः अग्रे ।  
 प्रयातक्षितिपतिसेवितकृत्रिमाद्रि प्रयातेन गतेन क्षितिपतिना भूमिपतिना सेवित आश्रितः कृत्रिमाद्रिः कृतकाशैलो  
 यस्मिन् तत् । उपवनं क्रीडावनम् । विविशुः प्रविष्टाः ॥ १८ ॥ तरुविटपेति । तरुविटपशिखावसक्तहस्ताः  
 तरुणा वृक्षाणां विटपानां<sup>५</sup> शिखानामग्रेऽवसक्ता न्यस्ता हस्ता यासां ( याभिः ) ताः । चिरं मन्दम् ।  
 अनुपात्तनिमेषनेत्रयुग्माः अनुपात्तोऽस्वीकृतो निमेषो निमोलनं यस्य तत्तद्योक्तं नेत्रयोर्नयनयोर्गुग्मं तथोक्तम्,  
 अनुपात्तनिमेषं नेत्रयुग्मं यासां ताः । फलकुसुमसमृद्धि फलानां कुसुमानां पुष्पाणां ( च ) समृद्धिः प्रवृद्धिम् ।  
 ईक्षमाणाः धिक्लक्षमाणाः । हरिणदृशः हरिणस्य ( दृशो ) इव दृशो यासां ताः । वनदेवता इव वनस्य  
 देवता इव देववनिता इव । आभुः रेजुः । आ दीप्तौ लङ् ॥ १९ ॥ सतीति । महोरुहाणा वृक्षा-  
 णाम् । जरठपलाशचये जरठानां पुराणानां पलाशानां पत्राणां चये समूहे । निजकरजारुणांशु-  
 भिन्ने निजानां करजानां नखानामरुणैर्लोहितैरंशुभिभिन्ने मिश्रिते सति । वनिताजनस्य<sup>६</sup> वनिता  
 एव जनः, तस्य । रूपकम् (?) । नव पल्लवावबोधे नवा नूतनाः पल्लवाः किसलयानि—इत्यवबोधे विज्ञाने ।  
 मृदिमगुणः मृदु ( ता ) गुणः । हेतुः कारणम् । समजनि अजायत । जनेड् प्रादुर्भविलिट् । 'दीप्तरजन्—'

धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था ॥ १६ ॥ दूसरा कामी मन्द गतिसे चलती हुई प्रियाके ऊरुओं—  
 घुटनेके ऊपरी भागोंको, मार्गको थकावटको दूर करनेके बहानेसे सुहराकर काम-विकारके वेगको  
 बढ़ाता हुआ, बढ़त सकरे रास्तेसे भी आनन्द पूर्वक चला जा रहा था ॥ १७ ॥ इस प्रकारकी  
 और भी अनेक चेष्टाओंको करनेवाले सपत्नीक पुरवासियोंने—जिनके मन कामदेवसे व्याकुल  
 थे—नगरके उस उपवनमें प्रवेश किया, जिसके कृत्रिम पर्वत पर चक्रवर्ती अजितसेन पहले ही  
 पहुँच चुका था ॥ १८ ॥ उपवनमें पहुँचकर मृगसरीखे नेत्रोंवाली स्त्रियाँ वृक्षोंकी शाखाओंको  
 पकड़कर उनके फलों और फूलोंकी समृद्धिको निमिषेष-अपलक दृष्टिसे देखने लगी । उस समय  
 वे ऐसी जान पड़ती थी मानो वनदेवियाँ हों ॥ १९ ॥ वृक्षोंके पुराने पत्तोंके समूहको स्त्रियोंने  
 अपने नखोंको लाल कान्तिसे बिलकुल ही भिन्न बना दिया—पीलेसे लाल कर दिया, और फिर

१. आ इ 'रलसगतिः । २. अ मनसिज व्याकुल' । ३. म तटविट' । ४. = कामजो' ।  
 ५. अ व्याकुल । ६. = शाखानाम् । ७. = चिरात् । ८. वा लिट् । ९. = वनितानां अनो वयः, तस्य ।

प्रगमितमरविन्दलोचनायाः प्रणयवता अवणावतंसभावम् ।

स्वयमतिविहितादरेण शोकं व्यतरदशोकमपि प्रतीपपत्न्याः ॥ २१ ॥

कुसुमकिसलयं विचेतुकामां विटपिनि सत्यपि नम्रनम्रशाखे ।

तरुमनयत तुरुमेव भर्ता भुजयुगमूलविद्वत्तया मृगाक्षीम् ॥ २२ ॥

तिलकमिति यदत्र पूर्वमासीद्भुवि विदितं खलु नाममात्रकेण ।

कुवलयनयनामिरुक्तमाङ्गे निहितमवाप यथार्थतां तदानीम् ॥ २३ ॥

वपुषि कनकभासि चम्पकानां सुदति न ते परभागमेति माला ।

स्तनतटमिति संस्पृशन्प्रियाया हृदि रमणो बकुलस्रजं धवन्ध ॥ २४ ॥

इत्यादिना जि.। 'जे' इति तत्प लुक् । हेतु ॥२०॥ प्रगमितमिति । स्वयम्, अतिविहितादरेण अतिविहि-  
तेनातिक्रमेण विहितेन कृतेनादरेण प्रीत्या । प्रणयवता स्नेहवता पुरुषेण अरविन्दलोचनायाः अरविन्दे कमले इव  
लोचने यस्या तस्याः । अश्रणावतंसभावः अश्रणयोः कर्णयोरवनसयोः कर्णपूरयोर्भावः स्वकूपम् । प्रगमितं  
प्रापितम् । अशोकमपि कङ्कालिपुष्पमपि । प्रतीपपत्न्या सपत्न्या । शोकं दुःखम् । व्यतरत् करोति स्म । तू  
प्लवनतरणयोल्ङ् । पर्यायोक्तिः ॥२१॥ कुसुमेति । भर्ता बल्लभ । कुसुमकिसलयं पुष्पफलवम् । 'शेषोऽप्राणी'  
इति इन्द्रैकत्वम् । विचेतुकामां छेतुकामाम् । 'तुमो मनस्कामे' इति तुमो मकारस्य कामे परे लुक् । मृगाक्षी  
कुरङ्गाक्षीम् । नम्रनम्रशाखे' नम्रनम्रेऽत्यन्तं नम्रे शाखे शाखायुक्ते । विटपिनि वृक्षे, मर्त्यापि । भुजयुगमूल-  
विद्वत्तया भुजयो बाह्वोर्युगं युग्मं तस्य मूलस्य विद्वत्तया द्रष्टुमिच्छया । तुङ्गमेव उन्नतमेव । तरं वृक्षम् ।  
अनयत् प्रापयत् । षीञ् प्रापणे लट् । द्विकर्मक ॥२२॥ तिलकमिति । अत्र भुवि भूमौ । यत् पूर्व प्राक् ।  
तिलकमिति तिलकपुष्पमिति । नाममात्रेण संज्ञामात्रेण । विदितं प्रसिद्धम् । आसीत् खलु अभवत् खलु स्फुरत् ।  
कुवलयनयनाभिः कुवलयमिव नीलोत्पलवन्नयने यासां तामि । उत्तमाङ्गे मनसके । निहितं धृतम् । तदानीं  
तस्मिन् काले । यथार्थता' सत्यरूपसंज्ञास्वम् । अवाप ययौ । आप्त् व्याप्ती लिट् ॥२३॥ वपुषीति । मुदाति  
सु शोभना दन्ता अस्या इति ( मुदती तत्सम्बुद्धौ ) मनोहरदन्तयुक्ते । 'वयसि दन्तस्य दन्तु' इति दन्तस्य  
दन्तादेशः ( दन्तु-आदेशः ) । ऋदिस्वात् 'नृदुग्' इत्यादिना डी । ते तव । कनकभासि कनकमेव भा-  
कान्तियस्य तस्मिन् । सुवर्णच्छाये-इत्यर्थः । वपुषि शरीरे । चम्पकानां हेमपुष्पकाणाम् । माला मातृयम् ।  
परभागं स्ववर्णस्य संपूर्णत्वम्-अतिसयम् । 'परभागो गुणोत्कर्षः' इत्यभिधानात् । नैति न याति । इति एवम् ।

वे उन्ही पुराने पत्तांको नये पत्तांके रूपमें समझने लगी । इसका कारण उन्हीका भोलापन था ॥२०॥ किसी कमललोचना नायिकाके स्नेही पतिने बड़े आदरसे जो फूल उनके कानमें पहनाया था, वह स्वयं अशोक-अशोक वृक्षका फूल था अथवा शोक रहित था पर सौतका शोक दे रहा था । उसे देखते ही सौतके चित्तमें शोक उत्पन्न हो गया ॥२१॥ फूलों और पत्तियोंको चुननेकी इच्छा रखनेवाली एक मृगनयनीको उसका पति, अत्यन्त नाचो शाखाओवाले वृक्षके समीपमें होनेपर भी, उसके बाहुके मूत्र भागको देखनेकी इच्छासे खूब ऊँचे वृक्षके पास ले गया ॥२२॥ इस भूमि पर पहले जो फूल केवल 'तिलक' इस नामसे ही प्रसिद्ध था, वही जब नील कमल सरीखे नेत्रोंवाली नायिकाओके द्वारा मस्तक पर रख लिया गया, तब वह यथार्थ 'तिलक' हो गया । पहले वह केवल संज्ञासे ही तिलक था, पर अब अर्थसे भी तिलक हो गया है ॥२३॥ हे मुन्दर दाँतोंवाली ! तेरे गोरे रंगके शरीर पर चम्पेकी माला फल नहीं रहो है, यह कहकर उसके पतिने स्तनोंका स्पर्श करते हुए उसके सीने पर

१. आ इ स्वभावति । २. = पत्न्या-इति यावत् । ३. = कर्णपूरत्वमित्यर्थः । ४. = नम्रनम्रा अत्यन्तं नम्राः शाखा यस्य तस्मिन् । ५. = अन्वर्थताम् । ६. आ संज्ञताम् ।

स्फुटमिह कमनीयमन्यथा वा न किमपि भावकृतस्त्वयं विभागः ।  
 समजनि यदशोकतः पलाशं प्रियमवतंसितमीश्वरेण बध्वाः ॥ २५ ॥  
 ऋतुजनितरुचिर्वधूसमूहैरवचितपुष्पचयश्च यस्तरुणाम् ।  
 मुदित इव परार्थयात्मलक्ष्म्या पवनधुतैर्नवपल्लवैर्ननर्त ॥ २६ ॥  
 इति वनविहृतिप्रसङ्गखिन्नं निखिलमवेत्य जनं स्वमन्यद्योशः ।  
 सरसि शुचिजले ममज सज्जीकृतजलकैलिपरिच्छदप्रपञ्चे ॥ २७ ॥

प्रियायाः दयितायाः । स्तनतट<sup>१</sup> स्तनप्रदेशम् । संस्पृशन् स्पर्शं कुर्वन् । रमणः नायकः । हृदि हृदये ।  
 बहुलजं बहुलपुष्पमालाम् । बध्वा बध्नाति स्म ॥ २४ ॥ स्फुटमिति । ईश्वरेण नायकेन । अशोकतः  
 कङ्क्रेलिपुष्पात् । यत् पलाशं किशुकपुष्पम् । बध्वाः वनितायाः अवतंसित कर्णाभरणौकृतम् । ( तत् ) प्रियं  
 प्रीतम् । समजनि समजायत । जनैर्<sup>२</sup> प्रादुर्भावे लुट् । इह भुवि । किमपि, स्फुट व्यक्तम् । कमनीयं मनोहरम् ।  
 अन्यथा वा न । कमनीयाकमनीयविभागः अयं विभागः अतिशयः तु । भावकृतः संकल्पकृतः ॥ २५ ॥  
 अस्तिविति । अतु नितरुचिः ऋतो कालविशेषे जनिता चासी रुचिः शोभा च तयोवता । बधून्मूहैः बधूना  
 वनितानां समूहैर्निबद्धैः । अपचितपुष्पचयः अपचितोऽपनीतः पुष्पाणां चयः समूहो यस्य सः । तरुणां  
 महोदहानाम् । चयः समूहः । परार्थया परेवामन्येषामर्थया प्रयोजनया । आत्मलक्ष्म्या आत्मनः स्वस्य लक्ष्म्या  
 संपदा । मुदित इव समुष्ट इव । पवनधुतैः पवनेन मारुतेन धुतैः कम्पितैः । नवपल्लवैः नवैः प्रत्यग्नेः पल्लवैः  
 किसलयैः । ननर्त नृत्यति स्म । नृतै<sup>३</sup> मात्रविशेषे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥ इतीति । अद्योशः चक्रवर्ती । इति  
 एवम् । वनविहृतिप्रसङ्गखिन्नं वनस्य विहृतैः क्रोडायाः प्रसङ्गेन सङ्गधेन<sup>४</sup> लिङ्गमायस्तम्<sup>५</sup> । निखिलं  
 समस्तम् । जन लोकम् । स्वमपि आत्मानमपि । अवेत्य ज्ञात्वा । शुचिजले शुचि निर्मलं जल यस्य तस्मिन् ।  
 सज्जीकृतजलकैलिपरिच्छदप्रपञ्चे सज्जीकृतः सन्नद्धीकृतो जलकैस्त्या जलक्रीडायाः परिच्छदानां परिकराणां  
 प्रपञ्चो निचयो यस्य ( यत्र ) तस्मिन् । सरसि सरोवरे । ममज स्नाति स्म । हुमज<sup>६</sup> शुद्धौ । लिट् ॥ २७ ॥

मौलसिरीको माला पहना दो ॥ २४ ॥ निश्चय ही इस संसारमे कोई भी चीज न तो सुन्दर  
 है और न असुन्दर; क्योंकि सुन्दर और असुन्दरका यह विभाग मानवके मनोभावों पर निर्भर  
 है । एक नायकने अपनी नायिकाके कानसे अशोकका फूल निकालकर उसके स्थानमे ढाकका  
 फूल पहना दिया, जो उसे अशोकके फूलसे कहीं अधिक प्रिय लगा । अथवा एक नायकने स्वयं  
 अपने हाथसे अपनी नायिकाके कानमे ढाकका फूल पहना दिया, जो उसे अशोकके फूलसे भी  
 अधिक अच्छा लगा । अशोकका फूल सुन्दर और ढाकका फूल असुन्दर समझा जाता है । पर  
 पति अपने हाथसे स्नेहपूर्वक यदि टेसू-ढाकका भी फूल पहना दे, तो उसका प्रिय होना ही  
 उचित है ॥ २५ ॥ जिनमे वसन्त ऋतुने शोभा उत्पन्न कर दी थी और जिनकी पुष्पराशिको  
 नायिकाओके वर्गने चुन लिया था, उन वृक्षोके हवासे हिलते हुए पत्तोंको देखकर ऐसा जान  
 पड़ता था मानो वे अपनी परोपकारिणी लक्ष्मीके निमित्तसे खुशोके मारे नाच रहे हों ॥ २६ ॥  
 इस तरह वन विहारके प्रसङ्गसे सारे पुरवासियोंको, अपने परिवारके लोगोंको और स्वयं अपने  
 को यका हुआ जानकर आंजलसेन चक्रवर्तीने, जिसके लिए जल क्रीडाके योग्य नाना प्रकारकी

१. = स्तनाग्रम् । २. आ जनी । ३. आ नृती । ४. वा अधिकारणेन । ५. वा श्राप्तम् ।

६. वा स्वकीयमपि । ७. आ हुमज्जा ।

हृषिततनुवृद्धाश्चिरेण भीरुप्रकृतितयाम्भसि नाभिमात्रकेऽपि ।  
 प्रियकरधृतपाणयो रमण्यः प्रविचिशुराहितमन्दमन्दपादाः ॥ २८ ॥  
 तदखिलमपि वारि निक्षिपन्त्यः कठिनपयोधरपीडनैः पुरस्तात् ।  
 पृथुतरनिजकुम्भमनुजतोया धनकरिणीरनुचक्ररञ्जनेत्राः ॥ २९ ॥  
 जलमकलुषमन्तरानुबध्नन्मुद्यतिमुखप्रतिमां पयोजबुद्ध्या ।  
 भ्रममफलमवाप मत्तभृङ्गो न खलु हितं मदमूढधीरवैति ॥ ३० ॥  
 सरलनवमृणालनालबाहुश्चपलशिलीमुखलोचना कृशाङ्गी ।  
 निजतनुमनुकुर्वती कयाचित्सरभसमम्बुजिनी समालिखिक्ते ॥ ३१ ॥

हृषितेति । हृषिततनुवृद्धा, हृषिताः संतुष्टाः तनुवृद्धा रोमाणि यासा ता । चिरेण कालविलम्बनेन । भीरुप्रकृति-  
 तया भीरोभयशोलस्य प्रकृतितया स्वभाववत्तया । नाभिमात्रकेऽपि नाभिः प्रमाणमस्य नाभिमात्रकं तस्मिन् ।  
 'तदस्य प्रमाणमाश्रद्' इति मात्रट्-प्रत्ययः । अम्भसि सलिले । प्रियकरधृतपाणयः, प्रियाणा दयिताना करैर्हस्तै-  
 र्वृता मृगाः पाणयो हस्ता यासा ताः । रमण्य वनिताः । आहितमन्दमन्दपादाः आहितो निक्षिप्तो मन्दो पादो  
 यासा ताः, सत्यः । प्राविचिशुः अवतैः । विश प्रवेगने लिट् । जाति ॥२८॥ तद्धिति । कठिनपयोधरपीडनैः  
 कठिनानां कर्कशानां पयोधराणां स्तनानां पीडनैर्वाधनैः ( आघातैः ) तदखिलमपि तत्सर्वमपि । वारि जलम् ।  
 पुरस्तात् अग्रे । निक्षिपन्त्यः सेचयन्त्यः । अञ्जनेत्रा, अञ्ज कमल तदिव नेत्रं यासा ता । पुथुतरनिजकुम्भमनु-  
 तोयाः पृथुतरैर्मशतरैर्निजकुम्भैः स्वकीयकुम्भस्थलैर्नुषं<sup>१</sup> निरसितं तोय जलं यासा ताः । धनकरिणीः वने  
 विद्यमानाः करिणीः करेणुकाः । अनुचक्रः अनुकुर्वन्ति स्म । हुक्कृ करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥२९॥ जलमिति ।  
 अकलुषं निर्मलम् । जलं सलिलम् । अन्तः [ अन्तरा ] मध्ये । युवतिमुखप्रतिमा युवत्या वनिताया मुखस्य  
 वदनस्य प्रतिमा प्रतिबिम्बम् । पयोजबुद्ध्या पयोजमिति कमलमिति बुद्ध्या । अनुबध्नन् अनुपतन् अनुचरन्<sup>२</sup>  
 वा । मत्तभृङ्गः मत्तभ्रमरः । अकलं निष्कलम् । धर्मं प्रयासम् । अवाप याति स्म । अल्पं व्याप्ती लिट् ।  
 भ्रान्तिभान् । मदमूढधीः मदेन गवेण मूढा मूढा धोबुद्धिर्यस्य सः । हितं हितकार्यम् । नाबैति खलु न जानाति  
 खलु । इण् गतो लिट् । अर्थांतरन्यासः ॥३०॥ सरलेति । सरलनवमृणालनालबाहुः सरलम् ऋजु नवं प्रत्यष्टं  
 मृणालस्य विसर्प्य नालमेव बाहुः ( पक्षे ) नालवद् बाहुर्न्यासः सा । चपलशिलीमुखलोचना चपलदचञ्चल-  
 शिलीमुख इव ( एव ) लोचने यस्याः सा, ( पक्षे ) भ्रमरलोचना वा । कृशाङ्गी तन्वङ्गी । निजतनुं  
 स्वशरीरम् । अनुकुर्वती<sup>३</sup> स्वीकुर्वती अम्बुजिनी<sup>४</sup> कमलपण्डम् । कयाचित् स्थिया । सरभस सभ्रमयुक्तं यया

सामग्री सजा दी गई है—पवित्र जलवाले जलाशयमें स्नान किया ॥२७॥ भीरु स्वभाव होनेसे  
 स्त्रियोंके रोगटे खड़े हो गये । फलतः वे अपने अपने पतिके हाथोंमें अपने हाथ देकर, नाभि  
 तक गहरे जलाशयके जलमें भी बहुत देरके बाद धीरे-धीरे पैर रखती हुई उतरी ॥२८॥  
 जिनके लोचन कमलोके समान थे, उन स्त्रियोंने अपने कठोर स्तनोंके आघातसे जलाशयके  
 सारे जलको आगेकी ओर ठेल दिया । अतः वे उस समय अपने विशालगण्डस्थलोकी टक्कर  
 लगाकर जलाशयके जलको आगेकी ओर ठेलनेवाली हृदिनियोका अनुकरण कर रही थी ॥२९॥  
 निर्मल जलमें युवतीके मुखके प्रतिबिम्बको कमल समझकर एक मतवाला भोरा उसके ऊपर  
 मँडराने लगा, किन्तु उसे अपने परिश्रमका फल नहीं मिला—परिश्रम निष्फल हो हुआ । जिसकी  
 बुद्धि मदसे विकृत हो गई है, वह निश्चय ही अपने हितको नहीं जान पाता ॥३०॥ सीधे  
 नवान कमलदण्डरूपी बाहुको धारण करनेवाली, चञ्चल भ्रमररूपी नेत्रोंसे युक्त, पतली और  
 इसीलिए अपने शरीरका अनुकरण करनेवाली कमलिनीको किसी नायिकाने सखीके भ्रमसे

१. = याभिः । २. = निरस्तम् । ३. = याभिः । ४. वा अनुबुध्बन् । ५. = विदम्बयन्ती ।  
 ६. = कमलिनी ।

अपहृतवसना वधूस्तरङ्गैः पृथुनि नितम्बतटे निविष्टदृष्टिम् ।  
 प्रियतममवलोक्य जातलज्जा कलुषयति स्म अलं विलोडनाभिः ॥ ३२ ॥  
 पयसि समवतीर्य नाभिदध्ने विलुलितकेशकलापबन्धनायाः ।  
 समजनि रभसोत्कटं तरन्याः स्तनयुगमेव तरण्डकं तरुण्याः ॥ ३३ ॥  
 जनमयपरिविद्रुतेऽपि पत्यौ युवतिघनस्तनबिम्बमोहितायाः ।  
 सलिलगतविमुग्धकोकवध्वा विरहभयव्यथया न संभभूवे ॥ ३४ ॥  
 इयमिह पुलिने निसर्गरम्ये चकिततया स्थिरतामनश्नुवाना ।  
 गतिमिव परिशिक्षितुं त्वदीयां सुतनु करोति गता गतानि हंसी ॥ ३५ ॥

तथा । समालिलङ्गे आलिङ्गता । लिगु गतो कर्मणि लिट् । दृष्टेर्बोवमा ॥३१॥ अवहनेति । तरङ्गैः उमिमिः । अपहृतवसना अपहृतमपनोतं वसनं यस्याः सा । वधू काचिद्वनिता । मृदुनि<sup>१</sup> कोमले । नितम्बतटे नितम्ब-  
 प्रदेशे । निविष्टदृष्टिं निविष्टे स्थापिते दृष्टौ लोचने यस्य तम् । प्रियतमं वल्लभम् । अवलोक्य बोध्य । जात-  
 लज्जा जातबोधा । विलोडनाभिः विलोडनैः । जल सलिलम् । कलुषयति स्म कलुषमकरोत् ॥३२॥ पयसीति ।  
 नाभिदध्ने नाभिमात्रे—नाभिमात्रमस्य<sup>२</sup> नाभिदध्नुम्, तस्मिन् । 'बोर्ध्वं दधन्वद्वयसट्' इति प्रमाणे दधन्ट्-प्रत्ययः ।  
 पयसि जले । समवतीर्य प्रविश्य । विलुलितकेशकलापबन्धनायाः विलुलितं शिथिलित केशकलापस्य केशपाशस्य  
 बन्धनं ग्रन्थिका यस्या तस्याः । रभसोत्कट रभसस्य संभ्रमस्योत्कटमाधिक्यं यस्मिन् कर्मणि तत्० । तरन्याः  
 प्लवमानायाः । तरुण्याः युवत्याः । स्तनयुगमेव कुचयुगलमेव । तरण्डकं तुम्बिगण्डकादयम् । समजनि  
 समजायत । जनैर्द् प्रादुर्भावे लुट् । 'दीर्घजन—' इत्यादिना जि-प्रत्ययः । 'भेः' इति तस्य लृक् ।  
 रूपकम् ॥३३॥ जनेति । पत्यौ पुरुषवक्षिणि । जनमयपरिविद्रुतेऽपि [जनमयात्] पलायमानेऽपि सति ।  
 युवतिघनस्तनबिम्बमोहितायाः युवत्या वनिताया घनयोः कठिनयोः स्तनयोर्बिम्बे प्रदेशे चक्रवाक इति मोहितं  
 ( मोहो ) भ्रान्तिर्यस्याः, तस्याः । सलिलगतविमुग्धकोकवध्वाः सलिलं गताया विमुग्धाया मनोहरायाः  
 कोकवध्वाश्चक्रवाकवनितायाः । विरहभयव्यथया विरहेण वियोगेन भवया जातया व्यथया पीडया । न  
 संभभूवे न जन्यते स्म । जनैर्द् प्रादुर्भावे, भवे लिट् । भ्रान्तिमान् ॥३४॥ इयमिति । सुतनु भो मनोहरायात्रे<sup>३</sup> ।  
 इह अस्मिन् । निसर्गरम्ये निसर्गेन स्वभावेन रम्ये मनोहरे । पुलिने सिकते । चकिततया मोहियुक्ततया ।  
 स्थिरता स्थिरत्वम् । अनश्नुवाना अप्राप्नुवती । इयम् एषा । हंसी हंसवधूः । त्वदीयां तव संगमिनीम् ।  
 गतिं गमनम् । पशिशिक्षितुमिव<sup>४</sup> भ्रम्यासं कर्तुमिव । गतागतानि गमनागमनानि । करोति विदधाति । दुरुक्

अपने गले लगा लिया—आलिङ्गन कर लिया ॥३१॥ किसी नायिकाके अधोवस्त्रको तरङ्गोंने छीन लिया, जिससे उसके विशाल निर्वस्त्र नितम्ब पर उसके पतिने अपनी दृष्टि गड़ा दी । उसे ऐसा करते देखकर नायिकाने लज्जित होकर ( जब और कुछ उपाय नहीं सूझा ) जलका विलोडन करके उसे मेलाकर दिया ॥३२॥ नाभि तक गहरे जलमें उतर कर कोई युवती बड़ो तेजोसे तैरने लगी । उसके केशपाशका बन्धन खुल गया और केशपाश बिखरकर जलमें लहराने लगा । इस अवसर पर उसके दोनों स्तन डोंगेसे बँधी हुई दो तुम्बियोंका काम कर रहे थे ॥३३॥ लोगोंके भयसे पतिके भाग जाने पर भी जलमें स्थित एक भोली-भाली चकवीको— जिसे किसी युवतीके कठोर स्तनमण्डलमे चकवे ( अपने पति ) का भ्रम हो गया था— विरहकी व्यथा नहीं हुई ॥३४॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! यहाँ इस स्वभावतः सुन्दर तटपर भयभीत हो जानेसे एक जगह स्थिर न रहनेवाली यह हंसी ऐसी जान पड़ती मानो तुम्हारी

१. एव टोकाकुरमिमतः पाठः, प्रतिपु तु 'पृथुनि' इत्येव समुपलभ्यते । २. = नाभिः प्रमाणं यस्य यत् । ३. आ कुम्भं । ४. आ जनी । ५. आ क्यातिः । ६. आ 'जनैर्द् प्रादुर्भावे,भावे लिट्' इति नोपलभ्यते । ७. आ क्यातिमान् । ८. श 'गाति । ९. = परिशीलयितुमिव ।



अयमपि मधुरस्वरोऽभिसर्गमधु मधुपः परिहृत्य पद्मिनीजम् ।  
 अहमिव परिपातुमानं ते सुमुखि निसर्गसुगन्धि वाञ्छनीव ॥ ३६ ॥  
 अयमनमिमुखी सुकेशि कीकः समनुनयम्बुबाटुभिः स्वजायाम् ।  
 प्रकुपितव्यताप्रसादहेतुपुपदिशतीव ममापि चाटुकारान् ॥ ३७ ॥  
 इयमपि शफरी समुत्पतन्ती गगनमिनः सलिलादनेकवारान् ।  
 ध्रुवमपहृतविभ्रमा भवत्या नयनयुगेन नताङ्गि पूरकरोति ॥ ३८ ॥  
 इदमिदमिति दर्शयन्नशेषं सलिलनिवासिमनोज्ञसत्त्वधुत्तम् ।  
 अरमयत युवा चकोरनेत्रां सरसि तदंसविलम्बिवामबाहुः ॥ ३९ ॥

करणे कट् । उपमा<sup>१</sup> ॥ ३६ ॥ अयमिति । सुमुखि मनोहरवदने । पद्मिनी<sup>२</sup> कमलपण्डजनितम् । मधु पुष्प-  
 रसम् । परिहृत्य हिरवा । मधुरस्वरः मनोहरस्वरयुक्तः । अभिसर्गं अभिमुखमागच्छन् । अयमपि एषोऽपि ।  
 मधुपः भ्रमरः । ते तव । निसर्गसुगन्धि सहजगन्धयुक्तम् । आननं मूढम् । अहमिव परिपातुं परिपातयाम् ।  
 वाञ्छन्तीव इच्छन्तीव, माति-इत्यभिप्रायः । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥ अयमिति । सुकेशि नु शोभना<sup>३</sup> केशा यस्याः  
 तस्याः संबोधनम्<sup>४</sup> । अयमिमुखी विमुखीम् । स्वत्राणं स्वभायाम् । बह्व्वाटुभिः बहुभिर्बाटुल्लेखवाटुभिः प्रिय-  
 वचनैः । समनुनयन् प्रतिबोधयन् । अयम् एषः । कीकः चक्रवाकः । प्रकुपितवनिताप्रसादहेतुं प्रकुपितायाः<sup>५</sup>  
 कोपं कृतायाः दयिताया भाव्यायाः प्रसादस्य संतोषस्य हेतुं कारणानि । चाटुकारान् प्रियवचनानि । ममापि ।  
 सपदिशतीव उपदेशं करोतीव । दिशि<sup>६</sup> अतिसर्जने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३७ ॥ इयमिति । नताङ्गि विनम्र-  
 गतिं 'असहनञ्—' इत्यादिना डी । इतः अस्मात् । सलिलात् सरसः । अनेकवारम् अपकृतुं । गगनम्  
 आकाशम् । समुत्पतन्ती समुद्रगच्छन्ती<sup>७</sup> । इयमपि एषापि । शफरी मत्स्यी<sup>८</sup> । भवत्या तव । नयनयुगेन  
 नेत्रयुगलेन । अपहृतविभ्रमा अपहृतः स्वीकृतो विभ्रमः शोभा यस्या सा । पूरकरोति पूरकां करोति<sup>९</sup> । ध्रुवं  
 निश्चयः । उत्प्रेक्षा ॥ ३८ ॥ इदमिति । तदंसविलम्बिवामबाहुः तस्या<sup>१०</sup> नायक्या असे भुजशिरसि विलम्बो  
 अवलम्बी<sup>११</sup> बामबाहुवत्स्य सः । युवा तरुणः । सरसि सरोवरे । अनेत्रं मूकलम् । सलिलनिवासि जल-  
 निवासि । मनोज्ञसत्त्वत्<sup>१२</sup> मनोज्ञाना मनोहराणां सत्त्वाना जीवाना वृत्तवर्तनम् । [ इदमिदमिति ] इदमेतत्  
 [ इति ] । 'वोपसायाम्' ( इति ) द्विः । दर्शयन्<sup>१३</sup> बोधमाणाः । चकोरनेत्रा चकोर इव नेत्रे यस्या ताम् ।  
 अर भूषणम् । अयत अगच्छन् । अय गतौ लट् । ( अरमयत रमय माप—इति वा ) । कुलकम् ॥ ३९ ॥

गति ( चाल ) सोलनेके लिए बार-बार आ-जाकर अभ्यास कर रही हो ॥ ३५ ॥ कमलिनिके  
 रसको छोड़कर इसी ओर आता हुआ यह मधुरस्वरवाला भोगी भी, हे मुन्दर मुखवाली प्रिये !  
 तेरे स्वाभाविक सुगन्धमे युक्त मुखको, जान पड़ता है मेरे ही समान पोना चाहता है ॥ ३६ ॥  
 हे मुन्दरबालोंवाली ! अपनी विमुख-प्रसन्न पत्नीको बहुत-सी मोठी बातोंमें समझाता हुआ यह  
 चकवा, लगता है मुझे भी, क्रुद्ध प्रियाको प्रसन्न करनेवाली विकनी-चुपडी बातोंका उपदेश दे  
 रहा है ॥ ३७ ॥ हे नम्र शरीरवाली ! यह मछली भी सरोवरके डम जलमे बार-बार ऊपर  
 आकाशकी ओर उछल रही है । जान पड़ता है तुमने अपनी आँखोंमे इनकी शोभा छीन ली  
 है, जिससे यह पूरकार कर रही है ॥ ३८ ॥ सरोवरमे अपनी चकोरलोचना प्रियाको  
 एक युवकने—जो उसके गलेमें अपना बायाँ हाथ डाले हुए था—'यह देखो, यह देखो' ऐसा  
 कहकर जलमें रहनेवाले सभी सुन्दर जन्तुओंकी विशेषताएँ दिखलाकर प्रसन्न किया ॥ ३९ ॥

१. आ आ इ 'निकवारम्' । २. आ इ 'कुलकम्' इत्यपि सम्पुल्लम्बने । ३. उत्प्रेक्षा । ४. कमलिनो-  
 समुद्रसम् । ५. तत्संबुद्धौ । ६. प्रकोपकर्याः । ७. आ दिशि । ८. सर-सलिलादित्यर्थः । ९. आ सम-  
 नुपाता । १०. आ मरसौ । ११. आ पूरकरोति पूरकरं करोति । १२. नायिकायाः । १३. विलम्बते इत्येवं  
 शाकः । १४. सलिलनिवासिमनोज्ञसत्त्वत् सलिलनिवासिना मनोज्ञसत्त्वाना मनोहराणिना वृत्तं चेष्टितम् ।  
 १५. प्रदर्शयन् ।

सुखमसदृशविभ्रमैर्विदित्वा सुभगतनोररविन्दमध्यगायाः ।  
 सरसिजमिदमित्युपेत्य 'शाठ्याद्विविततत्त्व इवापरश्चुम्बम् ॥ ४० ॥  
 सरसिजजरजसारुणे सपत्न्याः स्तनयुगले नखशङ्कया कृतेर्ध्या ।  
 किमपि न द्यितं जगाद् काचित्परमवधीत्परिभङ्गुरैः कटाक्षैः ॥ ४१ ॥  
 निजमधुरविलासशोभितानां सलिलविहारजुषां विलासिनीनाम् ।  
 वदनशशिजिताम्बुजानुमम्लौ द्रमलिना<sup>१</sup> नु मृणालिनी जनौधैः ॥ ४२ ॥  
 अधरदलगतं निधाय रागं स्ववपुषि यावकसंभृतं वधूनाम् ।  
 विदधति हृदयं स रागमासां विनिमयवृत्तिमशिश्रियञ्जलानि ॥ ४३ ॥

सुखमिति । अरविन्दमध्यगायाः<sup>३</sup> अरविन्दस्य कमलपुष्पस्य मध्यगाया मध्यं यतायाः । सुभगतनोः मनोहरा-  
 ज्ञपाः । असदृशविभ्रमैः अमदृशरसमार्तविभ्रमैः<sup>४</sup> शोभाभिः । सुखं वदन्तम् । विदित्वा ज्ञात्वा । इदम् एतत् ।  
 सरसिजं सरसि ( सी ) इत्म्, इति, उपेत्य समीपं गत्वा । अविविततत्त्व इव अविवितं तत्त्वं स्वरूपं येन स  
 ( इव ) । अपर, कविबत् पुरुषः । शाठ्यात् शाठ्यत् । चुम्बम् चुम्बति स्म । चुम्बुं<sup>५</sup> वक्त्रसंयोगे लिट् ॥ ४० ॥  
 सरसीति । सापत्न्याः प्रतिकूलस्त्रियाः । स्तनयुगले स्तनयोः कुचयोर्युगले युग्मे । सः सिसिजरजसा सः सिसिजस्य  
 कमलस्य रजसा पाशुना<sup>६</sup> । अरुणे लोहिते सति । नखशङ्कया नख, करग्रह इति शङ्कया सन्देहेन । कृतेर्ध्या  
 कृतमाया । काचित् वनिता । द्यितं पुरुषम् । [ न ] किमपि यत्किमपि ( न किञ्चिदपि ) । जगाद् ब्रवीति  
 स्म । ( चित्तु ) परिभङ्गुरैः वक्रैः । कटाक्षैः अपाङ्गदग्नैः । परम् अधिकम् । अवधीत् बाधयति स्म । हन्  
 हिंसामत्योर्लुङ्<sup>७</sup> । उल्लेखः ( ? ) ॥ ४१ ॥ निजेति ।<sup>८</sup> मृणालिनी कमलिनी । सलिलविहारजुषां<sup>९</sup> सलिलस्य  
 जलस्य विहार क्रोडा जुषा सेवमानानाम् । निजमधुरविलासशोभितानां निजानां<sup>१०</sup> मधुरेण मनोहरेण विलासेन<sup>११</sup>  
 विरोदेन शोभितानां विराजितानाम् । विलासिनीनां वनितानाम् । वदनशशिजिताम्बुजा वदनानि मुखान्येव  
 शशिनश्चन्द्रा, तैजितानि पञ्जितान्यम्बुजानि सः मिजानि यस्याः सा, सती । मम्लौ म्लायतिस्म । म्ले गात्र-  
 विनामे लिट् । नु किम् । जनौधैः जनसमूहैः । द्रम ईषत् । मलिता मलिना । नु किम् । संशयः ॥ ४२ ॥  
<sup>१२</sup> अधरेति । वधूनां वनितानाम् । अधरदलगतम् अधर ओष्ठ स एव दलं पल्लवः तदगतम् । यावकसंभृतं  
 यावत्वेन संभृतं संभृतम् । रागम्<sup>१३</sup> अरुणम् । स्ववपुषि निजगात्रे । निधाय स्थापयित्वा । आसाम् एतासां  
 नारीणाम् । हृदयं चित्तम् । साराग रागेण सहितम् । विदधति कुर्वति । जलानि सलिलानि । विनिमयवृत्ति  
 विनिमया ग्रहणप्रतिग्रहणरूपा वृत्ति वर्तनाम् । अशिश्रियन् भ्रजन्ति स्म । सरोजलिनि स्वयं स्त्रीणां

दूसरे युवकने कमलके बोचमे खड़ी हुई अपनी सुन्दर शरीरवाली प्रियाके मुखको, उसके असा-  
 धारण विलासोंसे जानकर भी अनजानके समान निकट जाकर कमल बतलाते हुए धूर्तता पूर्वक  
 चूम लिया ॥ ४० ॥ स्नान करते समय एक नायिकाका स्तनयुगल कमलकी परागसे लाल हो  
 गया, जिससे उसकी सौतको नखक्षतको शङ्का हो गई । फलतः उसके हृदयमें ईर्ष्या उत्पन्न  
 हो गई, पर उसने पतिसे बड़ा कुछ भी नहीं, केवल कुटिल कटाक्ष बाणोंसे उसके ऊपर प्रहार  
 किया ॥ ४१ ॥ एक कमलिनीकी म्लान देखकर दर्शक अपने मनमें यह सोचने लगे कि अत्यन्त  
 सुन्दर विलाससे अलंकृत जलक्रोडा करनेवाली विलासिनियोंके मुखचन्द्रसे अपने कमलोंका पराभव  
 देखकर यह कमलिनी मुरझा गई है या स्नान करनेनाले पुरुष वर्गके द्वारा मसली जानेसे ?  
 ॥ ४२ ॥ जलाशयके जलने नायिकाओंके अधर और पैरोंके मादुरका राग-लाल रंग लेकर

१. अ सासाद<sup>१</sup> । २. अ आ इ क ख ग घ द्रमलिता । ३. = अरविन्दानां कमलाणां मध्यं  
 मध्यभागं गच्छतीति अरविन्दमध्यगा, तस्याः । ४. = विलासैः । ५. आ चुम्बि । ६. सा पाशुना । ७. सा वक्त्र  
 द्विसर्गां लुङ् । ८. अ नीचेति । ९. = सलिलविहारं चुम्बन्ते सेवन्ते-याः ताः, तासाम् । १०. = निजेन ।  
 ११. = विभ्रमेण । १२. अ अविवेकि । १३. = आरुण्यम् ।

कठिनकुचविचूर्णितोऽप्यपतद्बद्धि मुहुर्कमिषयो<sup>१</sup> विलासिनीनाम् ।  
 मज्जति खलु बुधोऽपि विप्रमोहं युवतिषु कैव कथा जलात्मकानाम् ॥ ४४ ॥  
 कृतदयितविचञ्चना मुहूर्तं यद्वक्तुं धारिणि मज्जनं मृगाक्षी ।  
 स्फुटमजनि तदङ्गरागगन्धादुपरि परिभ्रमतालनीकुलेन ॥ ४५ ॥  
 मज्जति मम जलक्रिया समाप्तिं वरतनु तावक एव कान्तितोये ।  
 किमपरमधिकं जलैर्विगाढरिति दयितां दृढमालिलिङ्ग कञ्चन ॥ ४६ ॥  
 मुखमिदमरविन्दमुन्दरं नः प्रकृतिमभं मुषितं न पङ्कजिन्याः ।  
 इति पयसि चिरं निमज्ज्य नाथो<sup>२</sup> ददुरिव दिव्यविशुद्धिमोक्षराय ॥ ४७ ॥

यावकरागं गृहीत्वा तासां पुनः मनोमृगां ददति<sup>३</sup> स्म — इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ कठिनेति । उमिषयः उर्मोणां तरङ्गाणां चयं समूहः । विलासिनीनां मुन्दरीणाम् । कठिनकुचविचूर्णितः कठिने कर्कशे कुचै स्तनैर्विचूर्णितः पेषितः<sup>४</sup> अपि । मुहुः पुनः । हृदि हृदये । अपपतत् पतित स्म । पतन् गतो लुट् । 'रुतिशास्ति' इत्यादिना अङ् । 'द्वयस्य' इत्यादिना वमागमः । युवतिषु तरुणीषु । बुधोऽपि प्राज्ञोऽपि । विप्रमोहं भ्रान्तिम् । मज्जति खलु गच्छति खलु । जहात्मकानाम् अज्ञानरूपाणाम्, पक्षे जहस्वरूपाणाम् । कैव कथा कैव वात्ता ॥ ४४ ॥ कृतेति । यत् । कृतदयितविचञ्चना कृतं दयिताय विचञ्चनं यस्यां<sup>५</sup> सा । मृगाक्षी कुक्ष्याक्षी । तत् ( ? ) । धारिणि जले । मुहूर्तं घटिकाद्वयपर्यन्तम् । मज्जन् मनानम् । अकृत अकरोत् । हुक्क करणे लुट् । तदा तत्समये । तदङ्गरागं तस्या मृगाक्ष्या अङ्गस्य शरीरस्य गन्धात् परिमलात् । उपरि ऊर्ध्वभागे । परिभ्रमता पर्यटता । अल्लिनीकुलेन अल्लिनीनां भ्रमणेना कुलेन सम्बोहेन । स्फुटं व्यक्तम् । अजनि अजायत । जनेङ्<sup>६</sup> प्रादुर्भावे लुट् । अनुमिति ॥ ४५ ॥ मज्जति । वरतनु भो मनोहरमात्रि । तावक एव तवेवं तावकं तस्मिन् तावक एव । 'युष्मदस्मद्' इत्यादिना अङ् । ततोपे एकैव तवक इत्यादिना । कान्तितोये कान्तिर्दहकान्तिः सैव तोयं तस्मिन् । रूपम् । मम मे । जलक्रिया जलक्रीडा । समाप्ति<sup>७</sup> संपूर्णम् । मज्जति गच्छति । यत्र गतो लट् । विगाढे<sup>८</sup> प्रयाते । जलेः उदके । अपरम् अन्यम् । अधिकं किम् ? यद् भवति — इत्यप्युपाहारः । इति, कश्चित् नायक । दयिता वनिताम् । दृढ गदम् । आलिलिङ्ग आलिङ्गति स्म । लिगु गतो लिट् । ४६ ॥ मुखमिति । नः अस्माकम् । अरविन्दमुन्दरम् अरविन्दमिव कमलमिव सुन्दरं रुचिम् । इदम् एतत् । मुखं वदनम् । प्रकृतिमभं प्रकृत्या स्वभवेन भवं जानाम् । पङ्कजिन्याः

( स्वयं लाल होकर ) और उनके हृदयमें राग-अनुराग उत्पन्न करके विनिमय-अदल बदलके व्यवहारका पालन किया ॥ ४३ ॥ नायिकाओके कठोर स्तनोके आघातसे चूर-चूर होकर भी जलके तरङ्ग बार-बार उन्हीं ( नायिकाओं ) के हृदय पर जा गिरते थे । ठीक है, जब बुधजन भी युवतियोंके मोहमें पड़ जाते हैं तो जहाँ ( जल ) की क्या बात है ॥ ४४ ॥ एक मृगनयनीने अपने पतिको धोखा देकर थोड़ी देर जलमें डुबकी साध ली । उसका पति उसे धर-उधर खोजने लगा । इननेमें नायिकाके लेपकी मुगन्धि पाकर उसके ऊपर ( जहाँ वह डुबकी साधकर बैठी हुई थी ) भीरियोंका झुण्ड मँडराने लगा, जिससे उसका स्पर्श ही पता लग गया ॥ ४५ ॥ हे सुन्दर शरीर वाली प्रिये ! तुम्हारे कान्तिके जलमें ही मेरी जलक्रीडा समाप्त हो जाती है, फिर जलाशयके जलमें अवगाहन करनेसे और अधिक क्या हो सकता है ? यह कहकर किसी नायकने अपनी नायिकासे गाढ़ आलिङ्गन कर लिया ॥ ४६ ॥ 'हमारा यह कमल जैसा सुन्दर मुख स्वाभाविक है, कमलनीसे चुराया हुआ नहीं है' यह कहकर स्त्रियाँ जलमें बहुत देर तक डुबकी

१. म मिषयो ।

२. ना वषति ।

३. उमिषा ।

४. आ पेषितः ।

५. वा पत ।

६. वा बुधोऽपि ।

७. = यथा । ८. = स्पर्शकालं यावत् । ९. आ जनी । १०. = संपूर्णताम् । ११. = कृतप्रवेशे ।

विष्णुपुरलकाम्बिलासिनोनामधिरुहुर्जघनाभ्युरासि जघ्नुः ।  
 अनवरतनिपातिनस्तरङ्गा निपुणमिवाभ्यसितुं भुजङ्गवृत्तम् ॥४८॥  
 मदनरसमिवातिरिच्यमानं मुखगतवारिपदेन विलिपन्ती ।  
 प्रियतममभि काचिदाबभासे स्मितरुचिराजितमुखवक्त्रचन्द्रा ॥४९॥  
 निपतति कुचमण्डले रमण्याः प्रियरचितः सलिलाञ्जलिर्न यावत् ।  
 हृदयमभिषिषेव तावदेव प्रतियुवतेनयनाम्बुनः प्रवाहः ॥५०॥  
 सितकुसुमचयैश्च्युतैः कवर्चा वियदिव तारकितं बभौ यदम्भः ।  
 समजनि मृगमुखलोचनाया वदनसरोरुहमेव तत्र चन्द्रः ॥५१॥

कमलिण्याः । न मुषिताः न लुण्ठिताः [ न मुषितं नापहृतम् ] । इति एवम् । नार्यः वनिताः । पयसि जले ।  
 विरं, निमज्ज्यं स्नात्वा । ईश्वरगय प्रियतमाय । दिव्यशुद्धि कोशपानं शपथम् । ददुरिव ददति स्मेव । कुशब्  
 दाने लिट् । भास्ति । उत्प्रेक्षा ॥४७॥ विष्णुकुचुरिति । अनवरतनिपातिनः अनवरत सततं निपातिनः निपतन-  
 शोलाः । तरङ्गाः ऊर्मयः । निपुण प्रोढम् । भुजङ्गवृत्त भुजङ्गानां विटागं वृत्तं वर्तनम्<sup>१</sup> । अभ्यसितुम् [ इव ]  
 अभ्यासं कर्तुमिव । विलासिनोना वनिनानाम् । अलकान् चूर्णकुम्भकान् । विबहुपुः आकृष्टि<sup>२</sup> बक्रुः । कुच  
 विलेखने लिट् । जघनानि नितम्बानि<sup>३</sup> । अधिरुहुः आह (रो) ह्मति स्म । सह बीजजन्मनि<sup>४</sup> लिट् । उरासि  
 वक्षासि । जघ्नुः घनन्ति स्म । हन हिसागत्यो<sup>५</sup> लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४८॥ मदनरसमिति । मुखगतवारिपदेन  
 मुखं बभूव गतम् इत वारि सलिलम् इति पदेन व्याजेन<sup>६</sup> । अतिरिच्यमानं वर्धमानम्<sup>७</sup> । मदनरसं मदनस्य मन्मथस्य  
 रसं शृंगाररसम्—इत्यर्थः । प्रियतममभि प्रियतमं दयितस्याभिमुखम् । 'भागिनि प्रतिपर्युनुभि' इति द्वितीया ।  
 विलिपन्तीव बभन्तीव । स्मितरुचिराजितमुखवक्त्रचन्द्रा स्मितस्य ईषद्वसनस्य चन्द्रा कान्त्या राजितं विभासितं  
 मुखं मनोहरं वक्त्रं मुखमेव चन्द्रो यस्याः सा । रूपकम् । काचित् एका नारी । आबभासे । भासु दोप्तो  
 लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४९॥ निपततीति । प्रियरचितः प्रियेण दयितेन रचितः कुतः सलिलाञ्जलिः सलिलस्य  
 जलस्याञ्जलिः । यावत् यावत्तम्यतम् । रमण्याः तरुण्याः । कुचमण्डले कुचयोस्तनयो मण्डले प्रदेशे । न  
 निरतति न निष्पतति<sup>८</sup> । तावदेव<sup>९</sup> तावन्मात्रमेव । प्रतियुवतेः सपत्न्याः । नयनाम्बुनः नेत्रोदकस्य । प्रवाहः  
 निर्धरः । हृदयं विलम् । अभिषिषेव । विचूर्ण<sup>१०</sup> रुचने लिट् ॥५०॥ सितेति । कवर्चाः केशदेशे त् । च्युतैः  
 पतितैः । सितकुसुमचयैः सितानां श्वेतानां कुसुमानां चयैः समुदाये । तारकितं तारकाः संज्ञाता अस्मिन्निति ।  
 'सञ्ज्ञाततारकादिभ्य इत' इति इत<sup>११</sup>—उत्पयः । वियदिव गगनमिव । यद् अम्भः सलिलम् । बभौ राजाज ।  
 भा दोप्तो लिट् । तत्र जले । मृगमुखलोचनाया मृगस्यैव मुखं मनोहरे लोचने नयने यस्याः तस्याः । वदन-

लगाकर मानो दिव्य पराक्षाके द्वारा अपने पतिको आत्मशुद्धिका परिचय दे रही थी ॥४७॥  
 लगातार ऊपर गिरनेवाले तरंग मानो विटवृत्तिका चतुराईसे अभ्यास करनेके लिए स्त्रियोंके  
 बाल खींच रहे थे, जघन प्रदेशके ऊपर चढ़ रहे थे और छातीसे टकरा रहे थे ॥४८॥ एक  
 नायिका—जिसका मुखचन्द्र मुसकानको चाँदनीसे सुशोभित था—अपने पतिके सामने कुरलके  
 बहानेसे मानो अन्दर न समा सकनेवाले शृङ्गाररसको बाहर निकाल रही थी ॥४९॥ नायक  
 अपनी एक नायिकाके स्तनोंपर अपनी अञ्जलिका जल डालनेको ही था, इतनेमें उसकी दूसरी  
 नायिकाने देख लिया । फलतः अञ्जलिके जल गिरनेसे पहले ही दूसरी नायिकाकी आँखोंसे  
 आँसुओंका प्रवाह बहने लगा, जिससे उसका हृदय भीग गया ॥५०॥ एक नायिकाके कंशापाशसे  
 गिरे हुए सफेद फूलोंसे सरोवरका जो जल, ताराओंसे व्याप्त आकाशकी भाँति सुशोभित हो

१. आ इ म वृत्तिम् । २. अ मदनरसम् । ३. = कृष्टिवा । ४. = चेष्टितं व्यवहारं वा ।  
 ५. वा आकृष्टम् । ६. = नितम्बान् । ७. आ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावः । ८. वा हन हिसायां गतो च ।  
 ९. वा वर्तमानम् । १०. वा निक्षिपति । ११. = तावत्पर्यन्तमेव । १२. आ विचूर्णं रुचने । १३. आ इत् ।

उदककणचितैर्नितम्बिनीनां नयनयुगः सरसश्च कृष्णपद्मैः ।  
 समुपहितमतिभ्रमा बभूवुः क्वचिदपि न स्थितिशालिनो द्विरेफाः ॥५२॥  
 क्षणमरुणितलोचना रमण्यः सलिलविहारमपास्य जातलेदाः ।  
 ममुरपरि निपत्य कौतुकिभ्यो निजजघनैरुलूधूनि सैकतानि ॥५३॥  
 अयमुदकहतो व्यधिष्यते त्वां यदि विदधे न मुखानिलेन सेकम् ।  
 इति कृतकृतकश्चिरं सदन्तव्रणमधरं दयितः पपौ प्रियायाः ॥५४॥  
 अनिमिषकुलसंकुले विशङ्किः पयसि निजप्रतिमानिभेन नेत्रैः ।  
 ध्रुवमभिलषितो विलासिनीनां चलशफरीकुलविभ्रमापहारः ॥५५॥

सरोरुहमेव बदनं मुखं तदेव सरोरुहं कमल तदेव । चन्द्रः सोमः । समन्त्रिण बजायत । जर्नद् प्रादुर्भावे लुङ् ।  
 रूपकम् ॥५१॥ उदकेति । उदककणचितैः उदकस्य जलस्य कणैर्बिन्दुमिश्रितैः युक्तैः । नितम्बिनीनां  
 मानिनीनाम् । नयनयुगे. नयनानां लोचनानां युगे युगलैः । सरसः सरोवरस्य । कृष्णपद्मैः नीलं त्रलेश्वर ।  
 समुपहितमतिभ्रमाः समुपहितः कुतो मते बुद्धेर्भ्रमो भ्रान्तिर्यथा ते । द्विरेफाः भ्रमराः । क्वचिदपि  
 कस्मिन्चित् [ अति ] प्रदेशे । स्थितिशालिनः<sup>३</sup> स्थित्या शालिनः । न बभूवुः न भवन्ति स्म । भ्रान्ति-  
 मदलङ्कारः ॥५२॥ क्षणमिति । क्षण अणपर्यन्तम् । 'कालाध्वनोर्गर्गात्' इति द्वितीया । अरुणितलोचनाः  
 अरुणितं लोहितं लोचने नयने यासां ता । रमण्यः वनिताः । जातलेदाः जातायासां । सलिलविहारं  
 जलक्रीडाम् । अपास्य त्यक्त्वा । कौतुकिय कौतुहलिन्य सत्य । निजजघनैः<sup>४</sup> निजानां जघनैः । उलूधूनि  
 महाति । सैकतानि पुलिनानि । उपरि अग्रे । निपत्य स्थित्वा । ममः प्रमान्ति स्म ॥५३॥ अयमिति ।  
 मुखानिलेन मुखस्यानिलेन वायुना । सेकं सेचनम् । यदि न विदधे न करोति ( मि ) स्म । उदकहतः उदकेन  
 सलिलेन हतो बाधितः पीडितः । अयम् अधरः । त्वां व्यधिष्यते<sup>५</sup> बाधिष्यते । व्यध<sup>५</sup> ताडने नृद् । इति  
 एवम् । कृतकृतकः कृतः कृतको येन सः, कृतकपट इत्यर्थः । दयितः नायकः । सदन्तव्रणं दन्तजातं व्रणं  
 ( दन्तव्रणं, दन्तव्रणो वा ) तेन सह वर्तते इति सदन्तव्रणः, तम् । अधरम् ओष्ठम् । प्रियायाः भार्यायाः ।  
 चिरं पपी पिबति स्म ॥५४॥ अनिमिषेति । अनिमिषकुलसंकुले अनिमिषाणां मत्स्यानां कुलेन निवहेन  
 संकुले संकीर्णे । पयसि सलिले । निजप्रतिमानिभेन निजानां प्रतिमा इति निजमेन व्याजेन । विशङ्किः शयच्छङ्किः ।  
 विलासिनीनां सोमन्तिनीनाम् । नेत्रैः नयनैः । चलशफरीकुलविभ्रमापहारं चलानां चलन्तीनां शफरीणां  
 मत्स्यवनितानां कुलस्य समूहस्य विभ्रमस्यापहारः परिहारः । ध्रुवं निवधयम् । अभिलषितः बाञ्छितः ।

रहा था, उसमें मृगनयनीका मुख ही चन्द्रमाकी छवि दे रहा था ॥५१॥ नायिकाओंके पानीकी  
 बिन्दुओंसे व्याप्त नेत्रों और सरोवरके नीले कमलोमें भोरीकी बुद्धिभ्रम हो गया, जिससे वे  
 कही भी स्थित नहीं हो सके—कभी नेत्रोंकी ओर तो कभी नीलकमलोकी ओर दीड़ते ही रहे  
 ॥५२॥ कुछ स्त्रियाँ जब थक गईं और उनकी आँखें लाल हो गईं, तब वे जलक्रीडा बन्द  
 करके थोड़ी देरकी बड़े-बड़े रेतोले प्रदेशोंके ऊपर चढ़कर जा बैठी । अपने नितम्बोंसे उन  
 प्रदेशोंकी वे मापने लगी, तो उन्हें बड़ा कौतूहल होने लगा, यह जानकर कि वे प्रदेश ठीक  
 उनके नितम्बोंके मापके हैं ॥५३॥ 'यदि मैं अपने मुखकी वायु ( फूँक ) से सेक न कहूँ तो  
 दन्तक्षतसे घायल, तेरा यह अधर पानी पड़नेसे तुझीकी दुःखी कर देगा, यह छल भरी बात  
 बनाकर किसी नायकने काफी समय तक अपनी प्रियाके अधरका पान किया ॥५४॥ मछलियोंसे  
 व्याप्त जलमें परछाईके बहाने प्रवेश करनेवाले स्त्रियोंके नेत्रोंने मानो चञ्चल मछलियोंकी

१. स. उपहितमतिभ्रमाः । २. = व्याप्तैः । ३. = स्थिराः । ४. = स्वजघनैः । ५. वा व्यधिष्यते ।

वनजवनगताः करेण लीलाकमलमुदुह<sup>१</sup> शिलीमुखं बहन्त्यः ।

श्रियमनुविदधुर्नरेन्द्रजाया जलकणमण्डितपीनपाण्डुगण्डाः ॥५६॥

निजभुजयुगलैरुदस्य आया जघनभरेण पदे पदे स्खलन्तीः ।

कृतमुदमुदतारयंस्तदीयस्तनपरिमर्शनलोलुपा युवानः ॥५७॥

कुवलयनयनाभिरस्यमानान्यनुपुलिनं सरसानि रागवन्ति ।

मुमुचुरिव शुचाभ्रणः प्रवाहं स्रवणपदेन पुरातनांशुकानि ॥५८॥

उत्प्रेक्षा ( अपङ्गुलिश्च ) ॥५५॥ वनेति । वनजवनगताः वनजानां जलजानां वनं वण्डं गता याताः । 'प्रलवणप्रवासनिवासवारिकान्तारेषु वनम्' इति नानार्थकोशे । उदुहशिलीमुखम् उदुहः संघृतः शिलीमुखो भ्रमरो यस्मिन् तत् । 'अलिबाणो शिलीमुखी' इत्यमरः । लीलाकमलं लीलार्थं घृतं कमलं तथोक्तम् । करेण पाणिना । बहन्त्यः घातयः । जलकणमण्डितपीनपाण्डुगण्डाः जलस्योदकस्य कणौ बिन्दुभिर्मण्डितौ पीनौ महाश्लो पाण्डू शुभ्रौ कपोलौ यासां ताः । नरेन्द्रजायाः नरेन्द्रस्य चक्रवर्तिनो जाया वनिताः । श्रियं लक्ष्मीं देवीम् । अनुविदधुः अनुकुर्वन्ति स्म । उपमा ॥५६॥ निजेति । जघनभरेण जघनानां भरो भारः, तेन । पदे पदे पदविन्यासे पदविन्यासे । वीप्सायां द्विः । स्खलन्तीः, जायाः रमणीः । निजभुजयुगलैः निजानां भुजानां बाहूनां युगलं युग्मम् । उदस्य उदध्वं । तदीयस्तनपरिमर्शनलोलुपाः तदीयानां तासां संबन्धनां<sup>२</sup> स्तनानां कुक्षानां परिमर्शने स्पर्शने । लोलुपाः लम्पटाः । युवानः तरुणाः । कृतमुदं कृता मुदो यस्मिन् कर्मणि तत् ( तथा ) । उदतारयन् उत्तारयन्ति स्म । तु लवणतरणयोः निजस्ताल्लङ् ॥५७॥ कुवलयेति । कुवलय-नयनाभिः कुवलयमिव उत्पन्नमिव नयने नेत्रे यासां ताभिः । अनुपुलिनं पुलिनस्यानु अनुपुलिनं तस्मिन् अनु-पुलिनम् । 'सत्प्रेक्षा' इति वाम् । अस्यमानानि मुच्यमानानि । सरसानि<sup>३</sup> सार्द्राणि रागवन्ति अरुणवर्ण-युक्तानि । पुरातनांशुकानि पुरातनानि पूर्वं धूनानि अंशुकानि वस्त्राणि । स्रवणपदेन स्रवणस्य स्पन्दनस्य पदेन व्याजेन । शुचा शोकेन । अश्रुणः नेत्राभ्युनः । प्रवाहं निर्गमम् । मुमुचुरिव मुच्यन्तिस्मेव । उत्प्रेक्षा

शोभा चुरानेका सङ्कल्प कर लिया था ॥५५॥ चक्रवर्ती अजितसेनकी रानियाँ कमलके वनमें खड़ी हुई थीं, उनके हाथोंमें कमल थे—जिनके ऊपर भीरं बैठे हुए थे, उनके भरे हुए कपोल जल-बिन्दुओंसे अलंकृत थे । अतः उस समय वे लक्ष्मीका अनुकरण कर रही थी ॥५६॥ नितम्बके बोझसे जो युवतियाँ पग-पग पर फिसल रही थीं उन्हें उनके स्तनोंके स्पर्शके लोभो पतियोंने अपने बाहुओंसे उठाकर प्रसन्नता पूर्वक घाटके ऊपर पहुँचा दिया ॥५७॥ नील कमल सरीखे नेत्रोंवाली स्त्रियोंने गीले ( रसिक ) रंगीन ( अनुरागयुक्त ) जिन पुराने कपड़ोंको किनारे पर उतार दिया, उनसे पानी निकल रहा था । अत एव ऐसा जान पड़ता था मानो वे

विश्राम्भ्यर्थं समनुसरति प्रस्थमम्भोधराध्व-  
 आन्त्युद्भूतम इव रघौ पश्चिमस्याचलस्य ।  
 गत्वा भूपः<sup>१</sup> पुरमुत्थवांस्यक्ततोयावगाह-  
 भक्ते कृत्स्नं सह परिजनैरक्षपानादिकृत्यम् ॥५९॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकुताबुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये नवमः सर्गः ॥९॥

॥५८॥ विश्राम्भ्यर्थं<sup>२</sup> । रघौ सूर्ये । अम्भोधराध्व आन्त्युद्भूतम इव अम्भोधराध्वनो गगनस्य आन्त्या  
 भ्रमणेनोद्भूत उत्पन्नः अमो यस्य तस्मिन्निव । पश्चिमस्य अपरदिक्स्थस्य पर्वतस्य । प्रस्थ सानुम्<sup>३</sup> ।  
 विश्राम्भ्यर्थं विश्रामार्थम् । समनुसरति समनुगच्छति सति । त्यक्ततोयावगाहः त्यक्तो मुक्तस्तोयस्य जलस्या  
 वगाहः क्रीडा येन सः । उदयवान् ऐश्वर्यवान् । भूपः चक्रवर्ती । पुरं नगरीम् । गत्वा एत्य । परिजनैः ।  
 भृत्यजनैः । सह साकम् । अक्षपानादि भोजनपानादि । कृत्स्नं सकलम् । कृत्यं कार्यम् । चक्रे करोति स्म ।  
 सरप्रेक्षा ॥५९॥

इति वीरनन्दिकुताबुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोबल्लभाख्ये  
 नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

शोकके कारण आँसू बहा रहे हों ॥५८॥ आकाशमे भ्रमण करनेसे सूर्य मानो थककर विश्राम  
 करनेके लिए अस्ताचलके शिखरकी ओर चल दिया । यह देखकर चक्रवर्ती अजितसेन जो  
 उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा था—जलक्रीडा बन्द करके पुरकी ओर चला गया । वहाँ जाकर  
 उसने अपने परिवारके लोगोके साथ भोजन आदि सभी आवश्यक कार्य किये ॥५९॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्ग चन्द्रप्रम चरित महाकाव्यमे  
 नवां सर्गं समाप्त हुआ ॥९॥

१. क ख ग घ म भूयः । २. आ विश्राम्ति इति, वा विश्राम्तीति । ३. आ स्थानम् ।

## [ १०. दशमः सर्गः ]

इतरेषु जनेषु का कथा न सुरेष्वप्युच्यता निरत्ययाः ।  
इति सूचयितुं शरीरिणां रविरस्ताद्रिमथाधिशिथिले ॥१॥  
प्रियसङ्गसमुत्सुकाङ्गनानयनप्रान्तशरैरिव क्षतः ।  
तनुमावहति स्म भानुमानरुणाम्बोरुहभारसंनिभाम् ॥२॥  
दिवसाधिपवत्तभागमे वरुणः।शा परिलोहितानना ।  
स्वयमेव समेत्य कुङ्कुमैः कृतचर्चैव रराज संभ्यया ॥३॥  
परकृत्यविधौ समुद्यतः पुरुषः कृच्छ्रगतोऽपि पूज्यते ।  
शिरसास्तमयेऽप्यदीधरद्यशीतद्युतिमस्तभूधरः ॥४॥

इतरेष्विति । अथ बलक्रीडानन्तरम् । सुरेष्वपि देवेष्वपि । उदधाः अभ्युदयाः । निरत्ययाः निर्बाधाः । न नमवन्ति । इतरेषु अन्येषु । जनेषु लोकेषु । का कथा का वार्ता । रविः सूर्यः । शरीरिणां जीवानाम् । इति परमार्थवचनम् । सूचयितुं दर्शयितुम् ( इव ) । अस्ताद्रि पश्चिमाद्रिम् । अधिशिथिले अधिश्रयति स्म । उत्प्रेक्षा ॥१॥ श्रियेति । प्रियसङ्ग समुत्सुकाङ्गनानयनप्रान्तशरैः प्रियाणां दयितानां सङ्गे संयोगे समुत्सुकानामुद्युक्तानामङ्गनानां नयनानां नेत्राणां प्राग्गता अपाङ्गास्त एव वारा वाणाः, तैः । क्षत इव घातित इव । भानुमान् सूर्यः । अरुणाम्बोरुहभारसंनिभाम् अरुणाऽम्बोरुहाणां रक्तसरोरुहाणां भारस्य समूहस्य संनिभां समानाम् । तनुं गानम् । आवहति स्म भरति स्म । बहो<sup>३</sup> प्रापणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥२॥ दिवसेति । वरुणाणां वरुणा पश्चिमा दिक् सेवाशा स्त्री । कृपकम् । दिवसाधिपवत्तभागमे दिवसाधिपः सूर्यः स एव वरुणो नायकः तस्यागम<sup>४</sup> आगमनं, तस्मिन् । परिलोहितानना परिलोहितमरुःमाननं मुखं यस्याः सा । स्वयमेव, समेत्य प्राप्य । कुङ्कुमैः काश्मीरजैः । कृतचर्चा इव कृता चर्चा स्नानं लेपनं वा यस्याः सा इव । सम्भ्यया सम्पारानेन । रराज भाति स्म । राजञ्<sup>५</sup> दीप्ती लट् । उत्प्रेक्षा ॥३॥ परेति । यत्, अस्तभूधरः अस्ताचलः । अशीतद्युतिम् अशीता उष्णा द्युतयः कान्तयो यस्य तम्, सूर्यम्-इत्यर्थः । अस्तमयेऽपि अस्तमान ( मन ) काले, पक्षे नाशसमयेऽपि । शिरसा मस्तकेन । अदीधरत् भरति स्म । धृञ् धारणे निजन्ताल्लुङ् । परकृत्यविधौ परेषामग्रेषां कृत्यस्य प्रयोजनस्य विधौ करणे । समुद्यतः समुद्युतः । पुरुषः पुमान् । कृच्छ्रगतोऽपि कृच्छ्रं कष्टं गतोऽपि प्राप्तीऽपि, पक्षे विगतपुच्छोऽपि । पूज्यते हि महीयते हि । अर्थान्तरम्भासः ॥४॥

इसके पश्चात्—“जब देवोंका भी अभ्युदय निर्बाध नहीं है, तो और लोगों की बात ही क्या है” मानों यह सूचना, समस्त प्राणियोंको देनेके लिए सूर्यने अस्ताचलका आश्रय लिया ॥१॥ अपने-अपने पतिके समागमके लिए उत्सुक नायिकाओंके कटाक्ष-बाणोंने मानो सूर्यको घायल कर दिया, फलतः उसका शरीर रक्त कमलोंके समूहकी भाँति बिलकुल लाल हो गया ॥२॥ सूर्य रूपी नायकके आते ही पश्चिम दिशा रूपी नायिकाका मुख (अगला भाग) लाल हो गया । इतनेमें संध्या (उसकी सखी) आ गयी । उससे वह ऐसी प्रतीत होने लगी मानो उसके शरीरपर कुङ्कुमका लेप कर दिया गया हो ॥३॥ जो पुरुष दूसरोंके उपकारके लिए उद्यत रहता है, वह आपद्ग्रस्त होनेपर भी पूज्य होता है दूसरोंके द्वारा सम्मानित होता है । मानों इसीलिए

१. अ 'वाशिथिल्ये' । २. अ 'रुहभारसंनिभाम्' । ३. आ वह, वा वहि । ४. आ 'गमे' । ५. = यया । ६. आ राज् । ७. आ 'उत्प्रेक्षा' इति नास्ति ।



मयि पश्यति मामिभूयतां तमसेदं मलिनात्मना जगत् ।

इति तर्कयतेष्व मण्डलं दिनभन्नास्तरधीयतात्मनः । ५॥

बलवान्विचारेव देहिनां न सहाया न मतिर्न पौरुषम् ।

तमसा स तथा प्रतापवान्दिननाथोऽपि यदभ्यभूयत ॥६॥

विषये गुणवद्विचरिते गुणहीनाः प्रभवन्ति का गतिः ।

गगनं हि तमोभिरावृतं मलिनैरस्तमिते दिनाधिपे । ७॥

कृतदीप्तरेवैविद्ध्यमैर्निजनीडाभिमुखैः समाकुलाः ।

वियुता इव पद्मबन्धुना प्रविलापं विदधुर्विगङ्गनाः ॥८॥

अथीति । मयि पश्यति सति बोध्यमाणे<sup>१</sup> सति । इदम् एतत् । जगत् विष्टपम् । मलिनात्मना मलिनो बली-  
मस आत्मा स्वरूपं यस्य तेन । तमसा अन्धकारेण । मामिभूयता तिरस्कारो मा क्रियताम् । भू सत्ताया  
कर्मणे लोड<sup>२</sup> । इति एवम् । तर्कयतेष्व विचारयतेष्व । दिनभन्ना सूर्येण । आत्मनः स्वस्य । मण्डलं बिम्बम् ।  
अन्तरधीयत व्यवधीयते स्म । दुष्पात्रं धारणे च<sup>३</sup> कर्मणि लङ् । उत्प्रेक्षा । ५॥ बलवानिति । तथा तेन  
प्रकारेण । प्रतापवानपि प्रतापयुक्तोऽपि । स दिननाथः सूर्यः । यत् यस्मात्कारणात् । तमसा तिमिरेण ।  
अभ्यभूयत तिरस्क्रियते स्म । ( तत् ) देहिना बोधानाम् । विचारेव बभूव । बलवान् बलवत् ( सबलः ) ।  
सहायाः बलवन्तो न भवन्ति । मतिः बुद्धिः । न, बलवतो न भवति । अयान्तिरन्यासः ॥६॥ विषय इति ।  
दिनाधिपे सूर्ये । अस्तमिते अस्तं गते छति । मलिनैः मलीयसैः । 'मलादोममद्व' इति ईमसं—प्रत्ययः ।  
तमोभिः तिमिरैः । गगनं हि आकाशं हि । आवृतं व्याप्तम् । गुणवद्विचरितं<sup>४</sup> गुणवद्गुणयुक्तैः पुरुषै-  
र्विचरितं रहितं । विषये देशे । गुणहीनाः गुणहीना रहिताः । प्रभवन्ति समर्था भवन्ति । का गतिः गतिः<sup>५</sup> ।  
का ? गुणवद्विचरितेऽपि देशे गुणहीनाः स्थित्यभावे तेषां गति का<sup>६</sup> इत्यर्थः ॥७॥ कृतेति । कृतदीप्तरेवै-  
कुला विहिता दीप्ताः तारा रत्नाः स्वरा यैः, तैः । निजनीडाभिमुखैः निजानां स्वेषां नीडानां कुलायानामभि-  
मुखैरभिमुखं गच्छद्भिः । विहङ्गमैः पक्षिभिः । समाकुला व्याप्ताः । विगङ्गनाः<sup>७</sup> विधुः ककुप्सु विद्यमाना  
अङ्गनाः कन्यकाः । पद्मबन्धुना पद्मस्य कमलस्य बन्धुराग्नयः, तेन, सूर्येण—इत्यर्थः । वियुताः विरहिताः ।

अस्ताचलने डूबते समय भी सूर्यको अपने मस्तक (शिखर) पर धारण किया ॥४॥ मेरे देखते  
हुए—मेरी दृष्टिके सामने, यह जगत् मलिन (कृष्णवर्ण, पापी) अन्धकारसे अभिभूत न हो,  
मानो यह सोचकर सूर्यने अपने मण्डलको छिपा लिया—सूर्य डूब गया ॥५॥ जब प्रतापी सूर्य  
भी अन्धकारके द्वारा अभिभूत-तिरस्कृत कर दिया गया, तब तो यही कहना चाहिए कि  
प्राणियोंका भाग्य ही बलवान है, न कि सहायक, बुद्धि और पुरुषार्थ ॥६॥ जिस देशमें गुणवान्  
नहीं रहते, उसमें निर्गुणोंकी प्रभुता हो जाती है । इसका उपाय ही क्या है ? इसीलिए न,  
सूर्यके अस्त होते ही मलिन अन्धकारने आकाशको घेर लिया ॥७॥ जोर-जोरसे शब्द करते हुए  
पक्षी अपने-अपने घोंसलोंको ओर जाने लगे, तो सभी दिशाएँ उनसे व्याप्त होकर ऐसी प्रतीत

१. आ बोध्यमाणे । २. = न तिरस्क्रियताम् । ३. का लेट् । ४. आ 'च' नास्ति । ५. आ इत् ।  
६. एव टीकाश्रयः पाठः, प्रथिवुत्तु 'गुणवद्विचरिते' इत्येव वर्तते । ७. = उपायः । ८. = एव इति यावत् ।  
९. = विष्ट एवाङ्गना विगङ्गनाः ।

ककुभो मलिनात्मनाखिलं तमसा व्याप्तमवेत्य विष्टपम् ।  
ययुरस्तमुपागते रवाविध विध्वंसमयादृश्यताम् ॥९॥  
अथभास्य जगद्गृहं करै रविदीपे विरतिं गते तमः ।  
प्रसरद्दृशे शनैः शनैरिध तत्कञ्जलमम्बरे जनः ॥१०॥  
तमसाखिलमेव कुर्वता निजसङ्गेन जगन्मलीमसम् ।  
इति देहवतां स्फुटीकृतं गुणदोषाः सदस्तप्रसङ्गजाः ॥११॥  
विनिवृत्तेनिजाह्निकक्रियं विगतालोकमुपात्तसंभ्रमम् ।  
परिवृत्तिमगादिवाखिलं भुवनं संतमसावगुण्ठितम् ॥१२॥

प्रविलापं प्रलापम् । विदधुरिब चक्रुरिब । भान्ति स्म । हुवाब् धारणे च<sup>१</sup> लिट् । उपप्रेक्षा ॥८॥ ककुभ इति ।  
रवौ सूर्ये । अस्त<sup>२</sup> परोक्षम् । उपागते याते सति । मलिनात्मना मलिनो मलीमसः आत्मा यस्य, तेन ।  
तमसा तिमिरेण । व्याप्तम् आवृतम् । अखिलं निखिलम् । विष्टपं भुवनम् । अवेत्य आत्मा । ककुभः दिशः ।  
विध्वंसमयादिव विध्वंसोद् नाशाज्जातमयादिव भोतेरिव । अदृश्यतां नयनविषयामावम् । ययुः यान्ति स्म ।  
या प्रापणे लिट् । उपप्रेक्षा ॥९॥ अथभास्येति । रविदीपे रविरिव दीपः प्रदीपः, तस्मिन् । करैः किरणैः ।  
जगद्गृहं जगदेव गृहं मन्दिरम् । अवभास्य<sup>३</sup> प्रकाशनं कृत्वा । विरतिं विरामम् । गते याते सति । अम्बरे  
गगने । शनैः शनैः मन्द मन्दम् । प्रसरत् व्याप्नुवत् । तमः तमिस्रम् । जनैः लोकैः । तत्कञ्जलमिव तस्य  
रविदोषस्य कञ्जलमिव मसिकेव<sup>४</sup> । दृश्ये दृश्यते स्म । दृष्टुं प्रेक्षणे लिट् । उपप्रेक्षारूपकयोः सङ्करः  
॥१०॥ तमसेनि । निजसङ्गेन निजस्य सङ्गेन संगेण । अखिलमेव निखिलमेव । जगत् भुवनम् । मलीमसं  
मलम् ( मलो ) अस्प अस्तीति मलीमसं पुनस्तत् । 'मलादीममश्च' इति ईमस—प्रत्ययः । कुर्वता विधत्ता ।  
तमसा तिमिरेण । देहवता देहः शरीरमस्त्येषामिति देहवन्तः, तेषाम्, संसारिणाम्—इत्यर्थः । ॥ गुणदोषाः<sup>५</sup>  
गुणाश्च दोषाश्च तथोक्ताः । सदस्तप्रसङ्गजाः सता सत्पुरुषाणामसता दुर्जनानां प्रसङ्गजाः संगेण जाताः ।  
इति एवम् । स्फुटीकृतं प्रागस्फुटमिदानीं स्फुटं क्रियते स्म स्फुटीकृतं व्यक्तीकृतम्—इत्यर्थः ॥ । दृष्टान्तः ( ? )  
॥११॥ विनिवृत्तेति<sup>६</sup> । विनिवृत्तेनिजाह्निकक्रियं विनिवृत्ता निरस्ता निजस्य स्वस्याह्निका दिवसे प्रवर्तमाना  
क्रिया व्यापारो यस्य तत् । विगतालोकं विगतो रहित आलोको यस्य तत् । उपात्तसंभ्रमम् उपात्तं स्वीकृतः  
संभ्रमोऽनवस्थिति भयं वा येन तत् । 'संवेगमयादरेण संभ्रमः' इति नानार्थकोशे । संतमसावगुण्ठितं संतमसेन  
समन्ताद् विद्यमानेन तमसा अवगुण्ठितमाच्छादितम्, ( पक्षे ) अज्ञानान्धकारेणावगुण्ठितम् । अखिल निखिलम् ।  
भुवनं विष्टपम् । परिवृत्तिं व्यवस्थितम्, पक्षे उन्मत्तवृत्तिं तिरस्कारं वा । अगादिब अयादिब । इण् गतो लुट् ।

होने लगी मानों सूर्य (पति) से वियुक्त होकर वे विलाप कर रही हैं ॥८॥ सूर्यके अस्त होते  
ही मलिन अन्धकारने सारे संसारको घेर लिया, यह देखकर सभी दिशाएँ मानो विध्वंसके भयसे  
अदृश्य हो गई ॥९॥ जगत् रूपो घरको प्रकाशित करके सूर्य रूपी दीपकके अस्त होते ही लोगों-  
ने आकाशमें घीरे-घीरे उसके कञ्जल सरीखे प्रतीत होनेवाले अन्धकारको फैलते देखा ॥१०॥  
अपने संसर्गसे सारे संसारको मलिन करते हुए अन्धकारने, समस्त प्राणियोंके सामने इस बात-  
को स्पष्ट कर दिया कि गुण और दोष, क्रमशः अच्छे और बुरे संसर्गसे हुआ करते हैं ॥११॥  
अन्धकारका आवरण या पर्दा पड़ जानेसे सारा संसार बिलकुल बदल-सा गया । उसने दिनमें  
होनेवालो सारो क्रियाएँ छोड़ दीं, उसका प्रकाश समाप्त हो गया और उसे भय भी उत्पन्न हो  
गया । फलतः वह पागल सरीखा जान पड़ने लगा । पागल दैनिक क्रियाओंसे निवृत्त रहता है

१. आ 'च' नोपलभ्यते । २. = अस्ताचलम् । ३. = प्रकाश्य । ४. अ मसिकेव । ५. आ दृशिर ।  
६. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । ७. अ विनीति । ८. अ 'धरेणु ।

न जहाति पुमान्कृतज्ञतामशुभकेऽपि निसर्गनिर्मलः ।  
 रक्षिणा गमितः समुच्चति सह तेनास्तमियाय वासरः ॥१३॥  
 गुणवान्समुपैति सेव्यतां गुणहीनादपरज्यते जनः ।  
 दिवसापगमे मलीमसं कमलं पश्य समुज्जितं श्रिया ॥१४॥  
 ककुभां विवरेषु तारका विहृतध्वान्तलवाक्षकासिरे ।  
 गलिता इव मित्रबिप्लवे गगनस्योग्रशुचोऽश्रुबिन्दवः ॥१५॥  
 गलिताश्रुमिरार्तनिःस्वनैर्बहलध्वान्तमयीमलीमसैः ।  
 विरहानलधूमधूसरैरिव चक्राह्वयुगैर्व्ययुज्यते ॥१६॥

‘मैथोः’ इति गादेशः । उपप्रेक्षा ॥१२॥ नेति । रक्षिणा सूर्येण । समुच्चति महोच्चतिम् । गमितः प्रावितः । वासरः  
 विषयः । तेन सूर्येण । सह साकम् । अस्तं नाशम् । इयाय जगाम । इण् गतो लिट् । निसर्गनिर्मलः निसर्गेण  
 स्वभावेन निर्मलो मलरहितः । पुमान् पुरुषः । असुभङ्गेऽपि असूना प्राणाना भङ्गेऽपि नाशेऽपि । कृतज्ञताम् उपकार-  
 स्मरणत्वम् । न जहाति न त्यजति । कोह्याक् त्यागे लट् । अर्धन्तरन्यासः ॥१३॥ गुणवानिति । गुणवान्  
 गुणसहितः । जनः लोकः । सेव्यता पूज्यताम् । समुपैति संयाति । गुणहीनात् गुणहीनाद् रहितात् ।  
 अपरज्यते<sup>१</sup> अपसरति । रज्जुं रागे लट् । लोके गुणवान् जनो गुणवन्तमाश्रित्य पूज्यतामुपयाति, स एव  
 गुणहीनमाश्रित्य स्वगुणान् त्यजते ( ति ) इत्यभिप्रायः । दिवसामपगमे दिवसस्य दिनस्य । आगमे नाशे ।  
 मलीमसं मलसंयुक्तम् । श्रिया शोभया । समुज्जितं रहितम्<sup>२</sup> । कमलं नलिनम् । पश्य विलोकय । दृष्टुं प्रेक्षणं  
 लोट्<sup>३</sup> । ‘पा प्रा—’ इत्यादिना पश्यादेशः । दृष्टान्तः ॥१४॥ ककुभामिति । ककुभा दिशाम् । विवरेषु भागेषु ।  
 विहृतध्वान्तलवाः विहृता निरस्ता ध्वान्तस्य तमसो लवाः कणा यासां ताः तथोक्ता । तारकाः तन्त्राणि ।  
 मित्रबिप्लवे मित्रस्य सूर्यस्य बिप्लवे नाशे, मित्रस्य सुहृदो बिप्लवे नाशे च । श्लेषः । गगनस्य आकाशस्य । उग्र-  
 शुचा उग्रया तीव्रया शुचा शोकेन । अश्रुबिन्दवः अश्रुणो नयनोदकस्य बिन्दवः कणाः । गलिता इव क्लृप्ता इव ।  
 चक्रासिरे<sup>४</sup> । कासं<sup>५</sup> शीघ्रो लिट् । उपप्रेक्षा ॥१५॥ गलितेति । गलिताश्रुभिः गलितं सखितमश्रु वेद्योदकं  
 येषां तैः । आर्तनिःस्वनैः आर्तं शोभेन युक्तो निःस्वनो येषां तैः । बहलध्वान्तमयीमलीमसैः बहलं गाढ ध्वान्तं  
 तमस्वदेव मयी<sup>६</sup> तथा मलीमसानि मलिनानि तैः । चक्राह्वयुगलैः चक्राह्वाना चक्रवाकाना युगलैर्द्वन्द्वैः ।  
 विरहानलधूमधूसरैः [ इव ] विरहो बियोधः स एवानलोऽग्निस्तस्य धूमेन धूमरा विवर्णां तीरिव । व्ययुज्यते ।

उसे कुछ ज्ञान नहीं रहता और उसे भ्रम हुआ करता है ॥१२॥ जो मनुष्य स्वभावतः निर्मल  
 होता है—जिसका दिल साफ होता है—वह प्राण निकलनेकी नौबत आनेपर भी कृतज्ञताको  
 नहीं छोड़ता । मानो यही सोचकर, सूर्यके द्वारा समुन्नत किया गया दिन, सूर्यके साथ ही अस्त  
 हो गया ॥१३॥ गुणी मनुष्य पूज्य होता है, पर जब वह गुणहीन हो जाता है, तब लोग उससे  
 विरक्त हो जाते हैं । कमलको देखो, दिन अस्त होनेपर ज्यों ही वह मलिन होने लगता है,  
 त्योंही लक्ष्मी उसे छोड़ देती है ॥१४॥ दिशाओके बीच-बीचमे अन्धकारको कुछ-कुछ दूर करने  
 वाली ताराएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानों मित्र (सूर्य, सखा) के अस्त (नष्ट) होनेपर अत्यधिक  
 शोक करनेवाले आकाशको अश्रु-बिन्दुएँ टपक रही हो ॥१५॥ चक्रवाक पक्षियोंके जोड़े दुःखी  
 हो गये—उनकी आँखोंसे आँसू टपकने लगे, उनके मुखसे दुःखभरे शब्द निकलने लगे और वे  
 अन्धकार रूपी काली स्याहीसे मैले होकर ऐसे जान पड़ने लगे मानो विरहाग्निके धुएँसे मटमैले

१. वा अस्तमियाय नाशमियाय प्राप । २. वा स्मरणत्वम् । ३. = अपरज्यतो भवति । ४. वा रञ्जितः ।

५. वा अपयसम् । ६. वा दृष्टिश्च । ७. वा लोट् । ८. = यामिः । ९. वा चक्रासिरे । १०. वा काशः ।  
 ११. = भवति हिनस्त्योऽप्यस्यमिति मयो ।

विसरन्बिसं तन्तुनिर्मलो विषभासेऽथ नभः पयोनिधौ ।  
 निकरो रजनीपते रुचामिव मुक्ताफलरोषिषां चयः ॥१७॥  
 प्रसृतालकतुल्यलाञ्छनद्युतिरद्रयन्तरिताधमण्डलः ।  
 व्रजति स्म ललाटपट्टतां क्षणमात्रं बलमिदृशः शशी ॥१८॥  
 विदधन्तिमिरं तिरोहितं करजालैर्गगनान्तगामिभिः ।  
 अभवद्रजनीकरः क्रमादुदयाद्रीन्द्रशिरः शिखामणिः ॥१९॥  
 उदयाद्रिशिरः श्रितः शशी शशमन्तर्गतमाजिघांसुना ।  
 तमसा शबरेण सायकैरिव बिद्धोचिजगाम रक्तताम् ॥२०॥

युज्यते<sup>१</sup> योगे भावे लङ् । उद्रेक्षा ॥१६॥ विसरन्व्रजति । अथ सूर्यास्तमया ( ना ) नन्तरम् । विसरन्तुनिर्मलः विसस्य<sup>२</sup> कमलस्य तन्तुरिव निर्मलः शुभ्रः । विसरन् प्रसरन् । रजनीपतेः निशाकरस्य । रुचां काम्नीनाम् । निकरः, नभःपयोनिधौ समुद्रे<sup>३</sup> । मुक्ताफलरोषिषां मुक्ताफलानां मुक्तामणौनां रोषिषां काम्नीनाम् । चय इव निबह इव । विषभासे भासते स्म । मासृ<sup>४</sup> दीप्तौ लिट् । उद्रेक्षा ॥१७॥ प्रसृतेति । प्रसृतालकतुल्यलाञ्छन-द्युतिः प्रसृतस्य विसृतस्यालकस्य चूर्णकुन्तलस्य तुल्या समाना लाञ्छनस्य द्युतिः कान्ति र्यस्य सः । अद्रयन्तरिता-धमण्डलः अद्रिणा पूर्वपर्वतेनान्तरितं व्यवहितं मण्डलस्य बिम्बस्याधम् अधमण्डल यस्य सः । शशी चन्द्रः । क्षणमात्रं क्षणपर्यन्तमेव । बलमिदृशः बलमिद इन्द्रस्य दिशः । ललाटपट्टतां ललाटस्य पट्टतां<sup>५</sup> प्रदृशस्वम् । व्रजति स्म गच्छति स्म । व्रज गती लट् । उद्रेक्षा ॥१८॥ विदधन्तिमिरं । गगनान्तगामिभिः गगनस्याकाशस्यान्तमव-सन् गामिभिः<sup>६</sup> गगनशीलैः । करजालैः करानां किरणानां जालैः समूहैः । तिमिरं तमः । तिरोहितं व्यव-हितम् । विदधत् कुर्वन् । रजनीकरः निशाकरः । क्रमात्<sup>७</sup> परिवाटघातः । उदयाद्रीन्द्रशिरःशिखामणिः उदया-द्रीन्द्रस्य उदयपर्वतेन्द्रस्य शिरसो मस्तकस्य शिखामणिश्चूडामणिः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । उपमा ॥१९॥ उदयेति । उदयाद्रिशिरःश्रितः उदयाद्रेरुदयपर्वतस्य शिरः शिखरं श्रित आश्रितः । शशी चन्द्रः । अन्तर्गतम् अन्तर्मध्यं गतं यातम् । शशं शशमृगम् । आजिघांसुना हन्तुमिच्छुना । तमसा तिमिरेण । शबरेण व्याधेन । सायकैः बाणैः । विद्ध [ इव ] वेधित इव । रक्ततां लोहितत्वम् । निजगाम [ अधिजगाम ] ययौ ।

हो गये हों । फिर वे विछुड़ गये ॥१६॥ इसके पश्चात् सभी ओर फैलनेवाला, कमलदण्डके तन्तुओंके समान निर्मल, चन्द्रमाकी किरणोंका समूह सुशोभित होने लगा, जो ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी समुद्रमें मोतियोंकी किरणोंका समूह हो ॥१७॥ चन्द्रमा दृष्टिगोचर होने लगा । उसका आधा भाग उदयाचलकी ओटमें छिपा हुआ था, और आधा उसके ऊपर देख पड़ता था, जो थोड़ी देर तक इन्द्रकी दिशा (पूर्व) रूपी नायिकाके ललाटकी छविको धारण कर रहा था, और उसमें काला धब्बा बिखरे केशपाशकी सुधमाकी व्यवृत कर रहा था ॥१८॥ आकाशमें सभी ओर जानेवाली किरणोंसे अन्धकारकी दूर करता हुआ चन्द्रमा धीरे-धीरे उदयाचलके सिर—शिखरपर, पूरा-का-पूरा पहुँच गया, और वहाँ वह उसका चूडामणि बन गया ॥१९॥ चन्द्रमा उदयाचलके शिखरपर पहुँच गया । वहाँ वह बिल्कुल रक्तवर्ण हो गया, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो अन्धकार रूपी भीलने उसके भीतर स्थित खरगोशकी मारनेके लिए जो बाण मारे थे, उनसे वह स्वयं घायल हो गया हो, और घावसे निकलनेवाले

१. आ विवशन्वि<sup>१</sup> । २. आ युजिर् । ३. = कमलदण्डस्य-मुण्डालस्य । ४. = आकाशसमुद्रे । ५. आ मासृज् । ६. = फलकत्वम् । ७. = गच्छन्तीत्येवं शोकानि, तैः । ८. = क्रमवः । ९. = 'शशस्तु मुदुलोक्यकः' इति ह्रियः । १०. आ जगाम ।

घनवीथिरथं क्षपापतावधिरुदे धृतधामधन्वनि ।  
 उपभुक्तनिशं तमो भयात्परदारग्रहजादिवाद्रवत् ॥२१॥  
 विगलत्तिमिरावगुण्डनामुदुधमोदकबिन्दुसंभृताम् ।  
 दहशुः शिशिरांशुसंगमे सुरतस्थाभिव शर्वरी जनाः ॥२२॥  
 भवतीह विनापि हेतुना घटना कस्यचिदेव केनचित् ।  
 विकसद्भिरिति स्फुटीकृतं कुमुदैरेव निशाकरोदये ॥२३॥  
 प्रविकासिनि यन्मयलीयत भ्रमरीणां कुमुदानने कुलम् ।  
 तिलकं तदभूत्प्रसाधने कुमुदिन्यास्तुहिनांशुसंगमे ॥२४॥

गम्ल् गती लिट् । उपप्रेक्षा ॥२०॥ घनेति । धृतधामधन्वनि<sup>१</sup> धामैव किरण ( शाः ) एव धनु तथोक्तम्, धृतं भूतं च तद् धामधनुश्च तथोक्तम्, धृतधामधनुःस्यास्तीति धृतधामधन्वा तस्मिन् क्षपापतो निशापतो, चन्द्रे—इत्यर्थः । घनवीथिरथं घनस्य मेघस्य वीथिः, गगनम्—इति भावः, घनवीथिरेव रथः, तम् । रूपकम् । अघिरुदे सति । उपभुक्तनिशम् उपभुक्तानुभूता निशा रात्रिमेव तत् । तम. तिमिरम् । परदारग्रहजात् परदारगणा परस्त्रीणां ग्रहजादं ग्रहणेन जातात् । भयादिव भीतेरिव । अद्रवन् अघावत् । द्रु गतो<sup>२</sup> लङ् । उपप्रेक्षा ॥२१॥ विगलदिति । शिशिरांशुसङ्गमे शिशिराशोषचन्द्रस्य सङ्गमे ससर्गे<sup>३</sup> । विगलत्तिमिरावगुण्डना विगलद् विगच्छत् तिमिरमेव तम एवावगुण्डनं बह्व यस्याः ताम् । उदुधमोदकबिन्दुसंभृताम्<sup>४</sup> रुद्रुनि नक्षत्राणि तान्येव धर्मस्य स्नेहस्योदकं जलं तस्य बिन्दुवस्तान् संविमति स्म उदुधमोदकसंभृता, ताम् शर्वरी रात्रिम् । जनाः लोकाः । सुरतस्थाभिव निधुवनस्थाभिव । दहशुः पश्यन्ति स्म । दृष्टुं प्रेक्षणे लिट् । उपप्रेक्षा ॥२२॥ भवतीति । इह जगति । हेतुना विनापि कारणेन विनापि । कस्यचिदेव<sup>५</sup> वस्तुन एव । केनचित् वस्तुना साकम्<sup>६</sup> । घटना सम्बन्धः । भवति जायते । निशाकरोदये निशाकरस्य चन्द्रस्योदये । विकसद्भिः<sup>७</sup> । कुमुदैरेव कैरवैरेव<sup>८</sup> । इति एवम् । स्फुटीकृतं व्यक्तीकृतम्<sup>९</sup> । कुमुदैरेव मह मयंश्च कुमुदानां विकसनेनेव व्यक्तीकृत इत्यर्थः । अनुमितिः ॥२३॥ प्रविकासिनीति । प्रविकासिनि विका ( क, सनशीले ) । कुमुदानने कुमुदमेवानने तथोक्तं, तस्मिन् । भ्रमरीणां<sup>१०</sup> मधुकरीणाम् । कुलं समूह । न्यलीयते<sup>११</sup> न्यपतत । लोह् दलेषणे कर्मणि लट् । तुहिनांशुसङ्गमे तुहिनाशोषचन्द्रस्य सङ्गमे ससर्गे । कुमुदिन्याः<sup>१२</sup> कुमुदपण्डस्य कुमुदिनी-जातिः ( ते. ), स्थिया इति ध्वनिः । तत् भ्रमरीकुलम्<sup>१३</sup> । तिलकं तिलकम्—इति नाम । प्रसाधनम्

रक्तसे रंजित हो गया हो ॥२०॥ अपना प्रकाश या प्रभाव रूपी धनुष (और किरण रूपी बाण) लेकर ज्यों ही रात्रिका पति-चन्द्रमा आकाश रूपी रथपर सवार हुआ, त्यों ही रात्रिका उपभोग करनेवाला अन्धकार मानो परनारी भोगनेके भयसे भाग गया—चन्द्रोदय होते ही अन्धकार नष्ट हो गया ॥२१॥ चन्द्रमाका सगम होते ही रात्रि रूपी नायिकाका अन्धकार रूपी घृष्ट उतर गया और उसके ऊपर नक्षत्र रूपी पत्नीनेके बिन्दु दृष्टिगोचर होने लगे । अतएव दर्शकोंको वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो वह सुरतमे निरत हो ॥२२॥ चन्द्रोदय होनेपर केवल रात्रि विकासी कमल ही विकसित हुए ( न कि दिनमे खिलकनेवाले कमल ), जिन्होंने मानो यह स्पष्ट बतला दिया कि इस संसारमे किसीका किसीके साथ बिना किसी कारणके भी (स्वाभाविक) सम्बन्ध होता है ॥२३॥ विकसित कुमुद रूपी (कुमुदिनीके) मुखपर जो भोरोंका झण्डा जा बैठा,

१. क. ख. ग. घ. भ्रमराणां । २. = धनं धामैव धनुर्मेव, तस्मिन् । ३. वा द्रु सु (लु) गती । ४. वा 'संसर्गे' इति नोपलभ्यते । ५. = रुद्रुन्येव धर्मोवधिवन्धः तै. भृता व्याप्ताम् । ६. आ दृशिर । ७. = कस्यचिद्वस्तुन एव । ८. आ 'साकम्' इति नास्ति । ९. = स्फुटीकृतम् । १०. वा कुमुदैरेव कैरवैरेव । ११. वा 'व्यक्तीकृतम्' इति नोपलभ्यते । १२. आ भ्रमराणां । १३. वा व्यक्तीयत् । १४. = कुमुदरायाः । १५. आ भ्रमरं ।

अपहन्ति नरो निसर्गजानपि दोषान्गुणवन्तमाश्रितः ।  
 नमसा हि हिमांशुसंगमादपनीतं मलिनत्वमात्मनः ॥२५॥  
 उदितेन पयोधिरिन्दुना परमां कोटिमनीयतोन्नतेः ।  
 महतां हि परोपकारिता सहजा नाद्यतनी मनागपि ॥२६॥  
 विकसत्कुमुदाकरं सरः प्रकटोद्भ्रमकरं नभःस्थलम् ।  
 द्वयमाप परस्पोषमां करजाले शशिनः प्रसर्पति ॥२७॥  
 रजनी तमसान्यजातिना परिमृष्टा घनवर्मवर्मनि ।  
 प्रविधातुमिवात्मशोधनं निमगज्जेन्दुमहोमहाह्वदे ॥२८॥

अलङ्कारः । अभूत् अवबत् । भू सत्ताया लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥२४॥ अपहन्तीत्यादि । हिमांशुनङ्गमात् हिमाशो-  
 वचन्द्रस्य सङ्गमात् ससर्गात् । नमसा गगनेन । आत्मनः स्वस्य । मलिनत्वं मलीमसत्त्वम् । अपनीतं निराकृतम् ।  
 गुणवन्तं गुणिनं पुरुषम् । आश्रितः समुपयातः । नरः पुरुषः । निमगंजान् स्वभावजनितान् । दोषानपि  
 पापान्यपि । अपहन्ति नाशयति । द्वन हिंसागत्योः कर्तरि लट् । अर्धान्तरन्यासः ॥२५॥ उदितेनेति ।  
 उदितेन उदिते स्म उदितः, तेन उदयं गतेन । इन्दुना सोमेन । पयोधिः समुद्रः । उन्नतेः महत्त्वस्य । परमाम्  
 उत्कृष्टाम् । कोटि भागम् । अनोयत् अयायत्<sup>१</sup> । णीञ् प्रापणे कर्मणि लङ् । दुहि याचि— इत्यादिना  
 द्विकर्मकः । महता सताम् । परोपकारिता परेषा सर्वेषामुपकारितामुपकारित्वम् । सहजा निसर्गजनिता । हि  
 मनागपि ईषदपि । न अद्यतनी अद्यमवा न । 'सायम्—' इत्यादिना तनट् । 'टिट्ठण्डे—' इत्यादिना डो<sup>२</sup> ।  
 अर्धान्तरन्यासः ॥२६॥ विकसदिति । शशिनः चन्द्रस्य । करजाले कराणां किरणानां जाले समूहे । प्रसर्पति  
 प्रसरति सति । विकसत्कुमुदाकरं विकसन् कुमुदानां कुबलयानामोकरो निबहो यस्मिन् तत् । सरः सरोवरः ।  
 प्रकटोद्भ्रमकरं प्रकटः प्रादुर्भवन् उद्भूना नक्षत्राणां प्रकरो निबहो यस्मिन् तत् । नमस्तलं नमस आकाशस्य तलं  
 प्रदेशः । द्वय सरोवरनमस्तलयोर्द्वयम् । परस्पोषमाम् अयोःशोषमाम् । आप याति स्म । आप्ल व्याप्तो लिट् ।  
 उपमा ॥२७॥ रजनीति । घनवर्मवर्मनि घनवर्मैव गगनमेव वर्त्म मार्गः, तस्मिन्, आकाशमार्ग—इत्यर्थः ।  
 तमसा तिमिरेण । अन्यजातिना चाण्डालेन<sup>३</sup> । परिमृष्टा परिस्पृष्टा । रजनी रात्रिः स्त्री । आत्मशोधनम्  
 आत्मनः स्वस्य शोधनं शुद्धिम् । प्रविधातुमिव कर्तुमिव । इन्दुमहोमहाह्वदे इन्दोश्चन्द्रस्य महः कान्तिः तद्देव  
 महति ह्वदे ( महाह्वदः, तस्मिन् ) सरोवरे । निमगज्ज स्नाति स्म । दुमस्जो<sup>४</sup> शुलो लिट् । रूपकं परिणामो

वह कुमुदिनी रूपी नायिकाका चन्द्रमाके समागमके समय तिलक बन गया ॥२४॥ 'गुणवान्का  
 आश्रय पानेवाला पुरुष अपने स्वाभाविक दोषोंको भी छोड़ देता है' यह बिलकुल सच है, क्योंकि  
 आकाशने चन्द्रमाका संसर्ग पाकर अपनी स्वाभाविक मलिनताको छोड़ दिया ॥२५॥ चन्द्रमाने  
 उदित होकर समुद्रको उन्नतिको चरम सीमामें पहुँचा दिया । इसका एकमात्र कारण है महान्  
 पुरुषोंकी स्वाभाविक परोपकार करनेकी प्रवृत्ति, जो अंशतः भी आजकी नहीं मानी जा सकती  
 ॥२६॥ चन्द्रमाकी किरणोंके फैलनेपर सरोवर—जिसमें कुमुदोंका समूह खिल उठा और  
 आकाश—जिसमें नक्षत्र मण्डल प्रकट हो गया, ये दोनों बिलकुल एक सरोखे हो गये ॥२७॥  
 चन्द्रोदयके पहले अन्धकार रूपी चण्डालके द्वारा रात्रि रूपी स्त्री आकाशमार्गमें छू ली गई थी,  
 मानो इसीलिए अपनेको शुद्ध करनेके लिए उसने चन्द्रमाके प्रकाश रूपी बहुत बड़े जलाशयमें

१. क ल ग घ म प्रविबोधेनु<sup>१</sup> । २. = नीतः । ३. आ अयास्ययत । ४. आ डीप् । ५. स कमला-  
 नाम् । ६. आ चण्डालेन । ७. आ दुमस्जो ।

तिमिरेममदुर्न हिंसितुं शशिसिंहाय गुहाश्रितं नगः॥  
 शरणागतरक्षणं सतां नहि जातु व्यभिचारमेष्यति ॥२६॥  
 विषभाघचिरोहदम्बरे विधुबिम्बं क्षणमुद्गमारुणम् ।  
 अनयद्धरिदिवधृजपाकुसुमापीडयितकर्मक्षिणाम् ॥३०॥  
 समभूत्सुखिचक्रवाकयोर्मिथुनं संगमद्वष्टमल्लि यत् ।  
 निशि तद्विरहातिविह्वलं घिगिमां दग्धविध्विडम्बनाम् ॥३१॥  
 यदधुः प्रियकोपधूपिते हृदि मानप्रहशल्पमङ्गनाः ।  
 विधुरुद्धरति स्म दुर्धरं करसंदंशकताडनेन तत् ॥३२॥

वा ( वस्त्रेक्षा ) ॥२८॥ तिमिरेमेति<sup>१</sup> । नगः पर्वताः । गुहाश्रितं गुहा गह्वरमाश्रित<sup>२</sup> केवितम् । तिमिरेमं तिमिरेमेवमः करी तम् । शशिसिंहाय शशयेव सिंहो मृगेन्द्रः तस्मै । हिंसितुं हन्तुम् । नातु न ददति स्म । दुदाब् दाने लुब् । शरणागतरक्षणं शरणं रक्षणमागतानां रक्षणं पालनम् । सतां सत्पुरुषाणाम् । जातु एकवारमपि । व्यभिचारं अपत्ययम् । नेष्यति हि न यास्यति हि । इण् गतो लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२९॥ विषभाघाति । क्षणं क्षणपर्यन्तम् । उद्गमारुणम् उद्गमे उदयेऽरुणं लोहितम् । अम्बरे गगनं । अधिरोहत् आरोहत् । विधुबिम्बं विधोवचन्द्रस्य बिम्बं मण्डलम् । अङ्गना जनानाम् । हरिदिवधृजपाकुसुमापीडयितकं हरिदिवधे इन्द्रदिवधे वधूर्वनिता तस्या जपाकुसुमेन जपापुष्पेण रचित आपोड शोखर इति वितकं माशङ्काम् । अनयत् उत्पादयत् सत् । विषभो भाति स्म । भा दीप्तो लट् । संशयः ॥३०॥ समभूदिति । सङ्गमद्वष्टं सङ्गमेन संसंगेण द्वष्टं संतुष्टम् । यत्, चक्रवाकयोः कोकपक्षिणोः । मिथुन द्वादशम् । अल्लि दिवसे । सुखि सुख-युक्तम् । समभूत् समभवत् । भू सत्ताया लुब् । तत्, निशि निशायाम् । विरहातिविह्वलं विरहस्य वियोगस्या-र्था पीडया विह्वलं<sup>३</sup> मूर्च्छितम् । अमूत् । दग्धविधेः धूर्त्वापस्य । इमाम् एनाम् । विडम्बना तिरस्कृतिम्<sup>४</sup> । धिक् । 'हा धिक् समया' इत्यादिना द्वितीया ॥३१॥ यदिति । अङ्गना वनिता । प्रियकोपधूपिते प्रियं नायके विद्यमानेन कोपेन धूपिते संतापिते । हृदि हृदये । यत्, मानप्रहशल्प्य मानस्य गर्वस्य प्रह एव स्वीकार<sup>५</sup> एव शल्प्यं शाङ्कम् । अधुं धरन्ति स्म । विधुः चन्द्रः । दुर्धरं धर्तुमशक्यम् । तत्, करसंदंशकताडनेन कर एव किरण एव संदंशकस्य ( संदंशः कङ्कपुष्पः तस्य । संदश्यते तप्तहेमादि येन संदंशः । ) तप्तलोहग्राहकस्य

प्रवेश किया ॥२८॥ पर्वतोने अपनी गुफाकी शरण आये अन्धकार रूपी हाथीको मारनेके लिए चन्द्रमा रूपी सिंहके हवाले नहीं किया; क्योंकि शरणागतकी रक्षा करना सज्जनोंका व्रत है, जो कभी अन्यथा नहीं हो सकता—चन्द्रमाने गुफाओंके अन्धकारको छोड़कर बाहरके अन्धकारको हटा दिया ॥२९॥ उदयकालीन लाल चन्द्रमा, जब आकाशमें चढ़ रहा था, बड़ा ही सुन्दर प्रतीत हो रहा था । उस समय वह दर्शकोके मनमें यह तर्क उत्पन्नकर रहा था कि यह (चन्द्रमा) इन्द्रकी दिशारूपी नायिकाका कही जपापुष्पका शिरोभूषण तो नहीं है ॥३०॥ चक्रवा-चक्रवीका जो जोड़ा दिनमें एक साथ रहनेसे सुखी रहा, वही रातमें एक दूसरेके विरहसे बेचैन हो उठा । निठुर विधाताकी इस विडम्बनाको धिक्कार है ॥३१॥ पतिके ऊपर उत्पन्न हुए क्रोधकी अग्निसे सन्तप्त अपने हृदयमें मानवती (रूठकर बैठी हुई) नायिकाओंने जिस मानके कांटे या कीलको ठोक लिया था, वह रात्रिके समय दुर्धर हो गया, पर उसे चन्द्रमाने अपनी

१. आ श तिमिरेति । २. = प्राप्तम् । ३. = व्याकुलम् । ४. = निष्ठुरदेवस्य । ५. आ तिरस्किणम् ।

६. आ 'स्वीकार एव' इति नोपलभ्यते । ७. वा 'तत्' इति नास्ति ।

हिमरश्मिकरापसारिते तिमिरे काण्डपटस्फुटोपमे ।

रुच्येऽम्बरकुट्टिमस्थितैः सितपुष्पप्रकरैरिव ग्रहैः ॥३३॥

रजनीपतिना प्रतर्जितं करकुन्तैर्भुवनान्तवर्ति यत् ।

प्रविवेश वियोगिनीमनःस्विव मूर्च्छाकृतकेन तप्तमः ॥३४॥

क्षणदानिलभासुरीभवद्विरहान्निज्वलितेन चेतसा ।

वनितामिरचिन्ति चित्तभूशरशाणाकृतिं चन्द्रमण्डलम् ॥३५॥

शिशिरींशुकराभिमर्शनाद्रजसाविर्भवता समन्ततः ।

भकरन्दमयेन निर्वभाविष निर्यत्पुलका कुमुद्वती ॥३६॥

ताडनेन । उदरति स्म उद्धृतवान् । रूपकम् ॥३२॥ हिमेति । काण्डपटस्फुटोपमे काण्डपटेन ज्वनिकापटेन स्फुटं व्यथतमुपमा<sup>१</sup> समानं यस्य तस्मिन् । तिमिरे तमसि । हिमरश्मिकरापसारिते हिमरश्मेऽवशब्दस्य करेण किरणेन<sup>२</sup> अपसारिते निवारिते । अम्बरकुट्टिमस्थितैः अम्बरमेवाकाशमेव कुट्टिमम् अङ्गणं, तस्मिन् स्थितैः । सितपुष्पप्रकरैरिव सितानां शुभ्राणां पुष्पाणां कुसुमानां प्रकरैरिव समूहैरिव । ग्रहैः नक्षत्रैः । रुच्ये विदीपे । रश्मिं दीप्तौ भावे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३३॥ रजनीति । भुवनान्तवर्ति भुवनस्यान्ते मध्ये वति वर्तमानम् । रजनीपतिना सोमेन । करकुन्तैः करा एव कुन्ताः कुन्तायुधानि, तैः । प्रतर्जितं यत्सितम् । यत् तमः तिमिरम् । तत्, मूर्च्छाकृतकेन मूर्च्छा इति कृतकेन व्याजेन । वियोगिनीमनःसु वियोगिनीनां विरहिणीनां<sup>३</sup> मनसु चित्तेषु । प्रविवेश इव अन्तर्गतं ( तम् ) इव । विश प्रवेशने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३४॥ क्षणहेति । क्षणदानिलभासुरीभवद्विरहान्निज्वलितेन क्षणदैव रात्रिरेवानिलो वायुः तेन भासुरीभवतः प्रकाशनीभवत् । अग्रे बल्लेर्ज्वलितेन संतापितेन (क्षणदा रात्रिः तस्या अनिलो वायुस्तेन भासुरीभवत् प्रज्वलन् विरहाग्निवियोगानलस्तेन ज्वलितेन संघुलितेन ) । चेतसा चित्तेन । वनिताभिः सुन्दरीभिः । चन्द्रमण्डलं चन्द्रस्य मण्डलं बिम्बम् । चित्तभूशर-शाणाकृतिं चित्तभूषो मन्मथस्य शरस्य बाणस्य शाणस्य आकृतिर्यस्य तत् । इति, अचिन्ति चिन्त्यते स्म । चित् सज्जने कर्मणि लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥३५॥ शिशिरेति । शिशिरींशुकराभिमर्शनात् शिशिरींशोश्चन्द्रस्य करानां किरणानामभिमर्शनात् स्पर्शनात् । भकरन्दमयेन पुष्परसमयेन । समन्ततः परितः आविर्भवता प्रकटीभवता । रजसा ध्रुव्या । कुमुद्वती कुमुदिनी । निर्यत्पुलकेन निर्यन् निर्गच्छन् पुलको यस्याः सा इव । निर्भवो भाति स्म ।

किरणोंकी संसीसे एकड़कर निकाल दिया ॥३२॥ चन्द्रमाने अपने कर (किरण, हाथ) से पर्दे सरीखे अन्धकारको हटा दिया तो आकाश रूपी फर्श या रंगमंचपर स्थित नक्षत्र (पुष्प शशिकी भाँति सुशोभन होने लगे ॥३३॥ चन्द्रमाने अपनी किरणोंके भालोंसे जगत्के अन्दरके जिस अन्धकारका तर्जन किया, वह मूर्च्छाके बहाने विरहिणियोंके हृदयमें जा घुसा ॥३४॥ रात्रिकी वायुसे विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठी और उससे विरहिणियोंका हृदय जलने लगा । इस अवसर पर विरहिणियोंने चन्द्रमण्डलको कामदेवके बाणोंकी तेज करनेवाले शाण (सान) के आकारमें देखा—चन्द्रमा उन्हें सान-सा प्रतीत हुआ ॥३५॥ चन्द्रमाकी किरणों (अथ च हाथों) के स्पर्श-से कुमुदिनीके चारों ओरसे सरस पराग निकलने लगा, जिससे वह ऐसी जान पड़ने लगी मानो

१. क ल ग च म कुट्टिमं स्थितैः । २. अ "शिरसाणीकृत" । ३. = साम्यम् । ४. = हस्तेनेति ध्वन्यर्थः । ५. आ रश्मि । ६. = भुवनस्यान्ते मध्ये वर्तत इति भुवनान्तवर्ति । ७. अ विरहिणी । ८. अ प्रकाशिनी ।



रजनोपतिबिम्बदर्शनात्प्रियसङ्गत्वरमाणचेतसाम् ।  
 परिवृद्धिमियाथ योषितां हृदये कामपि रागसागरः ॥३७॥  
 सुहृदर्थपरैर्महात्मभिर्न पुनः स्वार्थपरैरुदीयते ।  
 यदभूद्रजनीकरोदयः परिवृद्धये स्मरशक्तिसंपदः ॥३८॥  
 बभुरौषधयः समन्ततः शिखरे भूमिश्रुतां ज्वलच्छिखराः ।  
 क्षणदाङ्गनयेव दीपिका हरिणाङ्गाभिगमे प्रदीपिताः ॥३९॥  
 निजधामविवृद्धिकारिणी न परं चन्द्रमसा विभावरी ।  
 कुमुदिन्यपि भासिता सतां निरपेक्षा हि परोपकारिता ॥४०॥  
 परिणामिनि यामिनीमुखे हरिणाङ्गे च कठोरतेजसि ।  
 जगृहेऽथ विविक्रमास्पदं रतये रागिभिरङ्गनासखैः ॥४१॥

आ दीप्तो लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३६॥ रजनीति<sup>१</sup> । रजनोपतिबिम्बदर्शनात् रजनीपतेश्चन्द्रस्य बिम्बस्य मण्डलस्य दर्शनात् विलोकनात् । प्रियसङ्गत्वरमाणचेतसा प्रियस्य धवस्य<sup>२</sup> सङ्गमे ससौ त्वरमाणमुत्सुकं चेत्तौ यासां तासाम् । योषिता वनितानाम् । हृदये चेतसि । रागसागरः राग एव सागरः समुद्रः । कामपि परिवृद्धि प्रवृद्धिम् । इयाथ याति स्म । इण् गतौ लिट् । रूपकम् ॥३७॥ सुहृदिति । महात्मभिः महापुरुषैः । सुहृदर्थपरैः सुहृदो मित्रस्वार्थे प्रयोजने परैः तत्परैः । उदीयते ऐवर्थ्यं प्राप्यते । स्वार्थपरं स्वप्रयोजनतत्परं । पुनः पश्चात् । न मोदीयते । यत् यस्मात् । रजनीकरोदयः रजनीकरस्य चन्द्रस्योदयः । स्मरशक्तिसंपदः स्मरस्य मन्मथस्य शक्तैः सामर्थ्यस्य सम्पदः संपत्तयः । परिवृद्धये परिवर्धनाय । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुट् ॥३८॥ बभुरिति । भूमिश्रुतां पर्वतानाम् । शिखरे शृङ्गे । समन्ततः सर्वतः । ज्वलच्छिखरा ज्वलन्ती शिखरा यासां ताः । औषधयः काष्ठज्योतिष । हरिणाङ्गाभिगमे हरिणाङ्गस्य चन्द्रस्याभिगमे<sup>३</sup> आगमे । क्षणदाङ्गनया क्षणदैव रात्रिरेवाङ्गना स्त्री तया । प्रदीपिताः प्रज्वलिताः । दीपिका इव प्रदीपा इव । बभू भासित स्म । भा दीप्तो लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३९॥ निजेति । चन्द्रमसा चन्द्रेण । पर केषलम् । निजधामविवृद्धिकारिणी निजधामनः स्वकारणस्य विवृद्धिप्रवृद्धि करोतीत्येवं शीला तबोक्ता । विभावरी रात्रिः । न भासिता न प्रकाशिता । किन्तु, कुमुदिन्यपि कुसलयपण्डमनि भासिता-इत्यर्थः । सता सत्पुरुषाणाम् । परोपकारिता परोपकारित्वम् । निरपेक्षा हि अपेक्षारहिता हि । अर्थान्तरभासः ॥४०॥ परिणामिनीति । यामिनीमुखे यामिन्या रात्रेर्मुखे प्रारम्भे । परिणामिनि परिपाकवति । हरिणाङ्गेऽपि चन्द्रेऽपि । कठोरतेजसि कठोरं मधुपर्णं तेजः किरणो यस्य तस्मिन्, सति । अथ अनन्तरम् । अङ्गनासखैः अङ्गना एव वनिता एव सख्यो येषां ते 'राजन् सखे' इति अट् ।

उसे रोमांच हो रहा हो ॥३६॥ जो नायिकाएँ प्रिय समागमके लिए भीतरसे उतावली हो रही थीं, उनके हृदयमें, चन्द्रबिम्बको देखते ही रागका सागर उमड़ पड़ा । उस समय उममें जो वृद्धि हुई, वह अनिवर्चनीय है ॥३७॥ महारमा अपने मित्रोंके उपकारके लिए अवतरित होते हैं, न कि अपने स्वार्थको सिद्ध करनेके लिए । इसीलिए चन्द्रमाका उदय कामदेवकी शक्तिरूपी सम्पत्तिके बढ़ानेके लिए हुआ ॥३८॥ पर्वतोंकी चोटियोंपर चारों ओर जड़ी वृष्टियाँ जगमगाने लगीं, उनसे लौ निकलने लगी । अतएव ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चन्द्रमाके शुभागमनके अवसरपर उसकी रात्रिरूपी प्रियाने छोटे-छोटे दीपक जला कर रख दिये हों ॥३९॥ चन्द्रमाने अपने प्रकाशको बढ़ानेवाली न केवल रात्रिकी, वरन् कुमुदिनीकी भी मुशोभित कर दिया । सज्जनोंकी परोपकारकी प्रवृत्ति निश्चय ही निःस्वार्थ होती है ॥४०॥ रात्रिका पहला भाग जब समाप्त होने-

१. आ रजनीपतीति । २. = पर्युः । ३. = अनिवर्चनीयम् । ४. = समागमे । ५. = प्रज्वलिताः प्रदीपिता वा । ६. = स्वकिरणानां । ७. = कुमुदिन्यपि । ८. = अङ्गनायाः सखायाः अङ्गनासखाः, तैः ।

विरहे तनुतामतीव ये दधुरङ्गावयवा नतभ्रुवाम् ।  
 प्रियसंगमजन्मभिर्ययुः पुलकैस्ते पुनरेव पीनताम् ॥४२॥  
 हठकारिणि यावदङ्गनाः प्रतिकूलं क्षणमाचरन्मिये ।  
 निजशासनभङ्गस्येर्ष्यधीरिव तावद्वनुरादये स्मरः ॥४३॥  
 नवसंगमजन्मना ह्रिया नतमूर्ध्नामरविन्दचक्षुषाम् ।  
 भयमिश्रमपीयताधरो हठवृत्त्युन्मिताननः प्रियैः ॥४४॥  
 पतिरङ्गनया न्यपेधि यत्परिरस्मेऽधरपीडनेऽपि वा ।  
 विपरीततया मनोभुवस्तदभूदागविवृद्धयेऽखिलम् ॥४५॥  
 हतदृक्प्रसरा निरन्तरस्तनभारेण ददृशे नाङ्गना ।  
 वसनं च्युतमप्यधः पतिप्रियदृष्ट्या न्वमिमोत केवलम् ॥४६॥

रागिभिः कामभिः । रतये क्रोडाये । विवर्कितं प्रच्छन्नम् । आस्वद स्थानम् । जगृहे स्वीक्रियते स्म । ब्रह्म<sup>१</sup>  
 उपादाने कर्मणि लिट् ॥४१॥ विरह इति । नतभ्रुवा नते भ्रुवो यासां तासां नारीणाम् । ये अङ्गावयवाः  
 शरीरावयवाः । विरहे वियोगे । अतीव अत्यन्तम् । इव शब्दो वाक्यालङ्कारः । तनुता कृशत्वम् । दधुः धरन्ति  
 स्म । प्रियसङ्गमजन्मभिः प्रियाणां नायकानां सङ्गमे संयोगे जन्मभिर्जातैः पुलकैः रोमाञ्चैः । ते अङ्गावयवाः ।  
 पुनरेव पववादिव । पीनता स्थूलत्वम् । ययुः यान्ति स्म । या प्रापणे लिट् ॥४२॥ हठकारिणीति । अङ्गनाः  
 वनिताः । हठकारिणि बलात्कारिणि सति । प्रिये नायके । क्षणं क्षणपर्यन्तम् । प्रतिकूलं प्रतीपम्<sup>३</sup> । यावत्  
 यावत्पर्यन्तम् । आचरन् आचरन्ति स्म । चर गतो लङ् । तावत् । स्मरः मन्मथः । निजशासनभङ्ग<sup>४</sup> हेर्ष्यधीरिव  
 निजस्य स्वस्य शासनस्वाज्ञायां भङ्गेन नाशने हेर्ष्यां सकोपा धीर्यस्य छ इव । धनुः चापम् । आददे आददो<sup>५</sup>  
 ॥४३॥ न्यपेति । नवमजन्मजन्मना नवेन नूतनेन सङ्गमेन<sup>६</sup> जन्मना जातया । ह्रिया लज्जया । नतमूर्ध्ना  
 नता मूर्ध्ना<sup>७</sup> यामा तामाम् । अरविन्दमिव चक्षुषो यासां तासाम् । अधरः ओष्ठः ।  
 हठवृत्त्युन्मिताननं हठवृत्त्या बलात्कारवृत्त्या उन्मत्तमदन्तं मुखं धेया<sup>८</sup> तैः । प्रियैः प्राणनायकैः । भयमिष्टं  
 भयसहितं यथा भवति तथा । अपीयत पीयते स्म । पा पाने ऋमणि लङ् ॥४४॥ पतिरिति । पतिः नायकः ।  
 परिरम्भे आलिङ्गने । अधरपीडनेऽपि वा अधरस्य ओष्ठस्य पीडने बाधनेऽपि वा । अङ्गनया वनितया । यत्  
 यत्कार्यम् । न्यपेधि तिरस्क्रियते स्म । मनोभुवः कामस्य । विपरीततया विपरीतत्वेन । तत् तत्कार्यम् ।  
 अखिलं सङ्गलम् । रागविद्वृद्धये रागस्य विवृद्धये प्रवृद्धये । अमूत् अभवत् । भू सत्ताया लुट् ॥४५॥ इति ।  
 निरन्तरस्तनभारेण निरन्तरेण निबिडेन स्तनभारेण स्तनातिशयेन । हतदृक्प्रसरा हत सन्तो दृशोः प्रसरो  
 को हुआ और चन्द्रमाका पूर्ण प्रकाश फेल गया, तब रागो युवक अपनी-अपनी प्रियाओके साथ  
 एकान्त स्थानमे चले गये ॥४१॥ कामदेवके धनुषकी भाँति नम्र भो वाली युवतियोंके जो अंग  
 विरहके समय अत्यन्त कृश हो गये थे, वे प्रियके समागमसे उत्पन्न हुए रोमांचसे पुनः पुष्ट हो गये  
 ॥४२॥ पतिके हठ करनेपर ज्योंही युवतियोने न, न, न, कहकर प्रतिकूल व्यवहार किया त्यों ही  
 कामदेवको मानो अपने शासनको अवहलना करनेसे उनके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो गई, फलतः उसने  
 तत्काल ही अपना धनुष उठा लिया ॥४३॥ प्रथम समागमके समय युवतियोने—जिनके नेत्र कमल  
 सरीखे थे—लज्जावश अपने सिर झुका लिये, तब उनके पतियोने बलात् उनका मुख ऊपर  
 उठाकर अधर पान कर लिया ॥४४॥ पतिको आलिंगन अथवा अधरपानमें प्रवृत्त होते देख उसकी  
 नायिकाने जो न, न, न कहकर निषेध किया, कामदेव उसके खिलाफ था । फलतः वह सारा  
 निषेध अनुरागको बढ़ानेके लिए हुआ ॥४५॥ सघन स्तनोंका व्यवधान पड़ जानेसे नायिकाकी

१. अ क ख ग घ म रादधे । २. वा ब्रहि । ३. आ प्रतिपद्यम् । ४. वा आधये दधी । ५. = जन्म  
 यस्याः सा तथा । ६. अ नतो मूर्धा । ७. = वैः ।

सहसापहताधरांशुकः किल यावज्जघनं कुतूहली ।  
 परिपश्यति तावदङ्गना<sup>१</sup> प्रियमासञ्जयति स्म चुम्बने<sup>२</sup> ॥४७॥  
 करताडनमास्यचुम्बनं परिरम्भो दशनच्छदग्रहः ।  
 विविधेति विलासिनां क्रिया मदनान्नेरभयद्यूताहुतिः ॥४८॥  
 हृदये हरिणोदशां प्रियप्रथमालिङ्गनगाढपीडिते ।  
 पुलकैः प्रमदाङ्कुरैरिवानवकाशैः पदमादधे बहिः ॥४९॥  
 अनुरागपरापि बिभ्रती ह्रियमासन्नगते सखीजने ।  
 मुलचुम्बनलोपुं प्रियं परिरम्भेण वधूरजीगमत् ॥५०॥

यया सा । अङ्गना वनिता । क्युतं<sup>१</sup> पल्लवम्<sup>२</sup> अपि । वसनं वस्त्रम् । न ददर्श न पश्यति स्म । दृश्ये<sup>३</sup>  
 प्रेक्षणे लिट् । केवल परम् । अथ परतिप्रयदृष्ट्या अथ पतन्या प्रियस्य नायकस्य दृष्ट्या नयनेन ।  
 अन्वमिमीत अनुमिमीते स्म । मा माने लिट् । अनुमित्यलङ्कारः ॥४६॥ सहसेति । सहसा पीडम् । सहसा  
 अटिति ध्रुम् ( द्रुतम् )<sup>४</sup> । अणुवाधराणुकः अणुहन् निवारितमधरमन्तरीयमणुक वस्त्रं यस्य सः । कुतूहली  
 कीर्तुकी । यावत् यावत्पर्यन्तम् । जघनं नितम्बम् । परिपश्यति परितो वीक्षते । दृश्ये<sup>३</sup> प्रेक्षणे लट् । तावत्,  
 अङ्गना वनिता । चुम्बने वक्त्रसंयोजने । आसञ्जयति<sup>५</sup> स्म किल सम्बन्धयति स्म किल । पञ्च<sup>६</sup> सङ्गे  
 णि वन्ताल्लट् ॥४७॥ करताडनमिति । करताडनं करस्य हस्तस्य ताडनं हननम् । आस्यचुम्बनम् आस्यस्य  
 मुखस्य चुम्बनं वक्त्रसंयोजनम् । परिरम्भः बालिङ्गनम् । दशनच्छदग्रहः दशनच्छदस्य ओष्ठस्य ग्रहो ग्रहणम् ।  
 इति एवम् । विधातिना कामुकानाम्<sup>७</sup> । विविधा नानाप्रकाराः । क्रिया कृत्या ( नि ) । मदनान्ने. मदन  
 एव ममस्य एवागिस्तस्य । रूपकम् । द्यूताहुतिः घृतस्वाहुतिः मपिषारा । अभवत् अभूत् । लट् ॥४८॥  
 हृदय इति । हरिणादृशा हरिणा ( दुशो ) इव दुशो नेत्रे याया तामाम् । प्रियप्रथमालिङ्गनगाढपीडिते  
 प्रियस्य नायकस्य प्रथमेन पौरस्त्वेनालिङ्गनेन परिरम्भेण पीडिते बाधिते । हृदये हृदयप्रदेशे । अनवकाशे  
 स्थानुमनवकाशोरवकाशारहिते । प्रमदाङ्कुरैरिव प्रमदस्य मनीषस्याङ्कुरैरिव । पुलकैः रोम ऊचैः । बहिः, पद  
 स्थानम् आदधे अग्रे । दुधाद्यु धागणे<sup>८</sup> कर्मणि लिट् । नम्प्रेक्षा ॥४९॥ अनुरागेति । वधू वनिता । अनुगम-  
 परापि अनुगमे प्रीतो परापि ततरापि । सखाजने<sup>९</sup> सखि एव जनः ( सखीना जना वर्ग ) नास्मिन्  
 रूपकम् ( ? ) । आसन्नगते आसन्न समीपं गते याते सति । ह्रिय लज्जाम् । बिभ्रती धरन्ती । मुलचुम्बन-

दृष्टिका प्रसार रुक गया । इस कारण वह नोचे गिरे हुए अपने अधोवस्त्रको न देख सकी, पर  
 पतिकी दृष्टिसे—जो बार-बार उसी ओर लगी हुई था—उसने केवल अनुमान कर लिया—  
 'मेरा अधोवस्त्र नोचे गिर गया है; क्योंकि ये बार-बार नोचेकी ओर घूर-घूरकर देख रहे  
 हैं ।' ॥४६॥ एकाएक अधोवस्त्र खींचकर एक रसिक जयां हो अपनी प्रियाके जघनको देखनेको  
 उद्यत हुआ, त्यों ही उसकी प्रियाने उसे ( अपने प्रियका ) चुम्बनमे विलमा लिया ॥४७॥  
 हाथसे पथाराना, मुख चुम्बन करना, आलिंगन करना और अधर पान करना आदि अनेक  
 प्रकारका विलासियोंको चेष्टाएँ कामाग्निकी प्रज्वलित कर्नेके लिए घी की आहुति का काम  
 करने लगी ॥४८॥ मृगनयनियोका हृदय, प्रथम आलिंगनके अवसरपर उनके पतियोंके द्वारा  
 जब खूब जोरसे दबा दिया गया, तब उन्हें रोमांच हो आया, जो ऐसा जान पड़ना था मानो  
 सन्तोषके अंकुर भीतर स्थान न मिलनेसे बाहर फूट निकले हो ॥४९॥ पतिसे अनुराग होनेपर

१ अ दङ्गना । २ अ मञ्जनयन्ति चुम्बने । ३ यस्याः । ४ पतितम् । ५ अ इल्लितम् ।  
 ६ दृशिर । ७ अ निद इति नास्ति । ८ अवलोकनेन । ९ येन । १० अ दुर्गिर । ११ अ लययति  
 स्म वा । १२ अ आसञ्ज । १३ अ विलासिनीना कामिनीनाम् । १४ अ दुदाङ्क दाने । १५ अ सखीना  
 जना वर्गः तस्मिन् ।

विरहश्चसितोष्णनीरसाधरबिम्बा वनिता समीयुषे ।  
 न दूरी सणमास्यचुम्बनं दयितायाम्यकथाप्रवर्तिनी ॥५१॥  
 बहुशः प्रणिपत्य बोधिता प्रियवाग्भिः प्रणयेन मानिनी ।  
 स्मरकातरमात्मवल्लभं परिरमे श्लथबाहुबन्धनम् ॥५२॥  
 परिरम्भभवो वधूवपुःपरिपुष्टिं विदधद्विलासिन्याम् ।  
 बहुलः पुलकोद्गमोऽगमत्सचिवत्वं दृढनीबिमोक्षणे ॥५३॥  
 परिरम्भिणि जीवितेश्वरे विगलत्स्वेदपदेन संततः ।  
 सुदृशां हृदयेष्वसंभवश्चिद्विभाररसो विनिर्ययौ ॥५४॥

लोलुप मुक्तचुम्बने मुखसंयोजने लोलुप लम्पटम् । प्रियं नायकम् । परिरम्भेण आलिङ्गनेन । अजोगमत् गमयति स्म<sup>१</sup> । गम्य गतो गिरज्ज्वालु<sup>२</sup> । 'जे. -' इति णि लुक्<sup>३</sup> । 'कं त्रि—' इत्यादिना डः<sup>४</sup> । तस्मिन् परे 'द्विधत्तिः—' इति द्विः ॥५०॥ विरहेति । विरहश्चसितोष्णनीरसाधरबिम्बा विरहेण वियोगेन जातेन दवांसितस्य दवासानिलस्योष्णेन तापेन नीरसं रसरहितमधुस्योष्ठस्य बिम्बं प्रदेशो यस्याः सा । वनिता रमणी । समीयुषे सम् समीपम् इवाय इति समीयिष्वन् तस्मै, समीपं गताय इत्यर्थः । दयिताय नायकाय । अन्यकथाप्रवर्तिनी अन्यकथायाम् इतरप्रसङ्गे प्रवर्तिनी प्रवर्तमाना सती । आस्यचुम्बनं मुखचुम्बनम् । अण क्षणपर्यन्तम् । न ददौ न ददाति स्म । दृढाङ्ग दाने लिट् ॥५१॥ बहुश हति । प्रणयेन स्महेन । बहुशः बहुलम् । प्रणिपत्य प्रणम्य । प्रियवाग्भिः प्रियाभिः<sup>५</sup> प्रिययुक्ताभिर्वाग्भिर्बन्धनैः । बोधिता विज्ञापिता । मानिनी वनिता । स्मरकातरं स्मरे कामकस्या कातर तत्परम्<sup>६</sup> । बारमवल्लभं स्वनायकम् । अदृश्यबाहुबन्धनम् अदृश्य दृढं बाहुबन्धनं भुजबन्धो यथा भवति तथा । परिरमे आलिलिङ्ग । रमि<sup>७</sup> रामस्ये लिट् ॥५२॥ परिरम्भेति । परिरम्भप्रभवः परिरम्भे आलिङ्गने भव उत्पन्नः । वधूवपुःपरिपुष्टिं वध्वा स्त्रियो वपुः शरीरस्य परिपुष्टिं<sup>८</sup> नृष्टिम् । विदधत् कुर्वन् । बहुलः बहु । पुलकोद्गम पुलकस्य रोमाञ्चस्य उद्गम उदय । दृढनीबिमोक्षणे<sup>९</sup> दृढस्य गाढस्य विमोक्षणे विमोचने<sup>१०</sup> । विलासिना कामुहानाम्<sup>११</sup> । सचिवत्वं सहायत्वम् । अगमत् अगच्छन् । गम्य गतो लुङ् । लट्त्वादङ्<sup>१२</sup> ॥५३॥ परिरम्भिणीति । जीवितेश्वरे प्राणनायके । परिरम्भिणं आलिङ्गन-  
 शीले सति<sup>१३</sup> । संततः व्याप्तः । सुदृशा सु शोभने<sup>१४</sup> दूरी यासा तासाम्, स्त्रीणाम्—इत्यर्थः । हृदयेषु

भो एक नायिका, सखीको निकट आती देख लज्जित हो गई । अतः उसने मुख चुम्बनके लिए लालायित अपने पतिको केवल आलिंगनसे ही सन्तुष्ट करके टाल दिया ॥५०॥ विरहसे निकलने-  
 वाली श्वासको गर्भसे एक नायिकाका होठ नीरस हो गया—सूख गया, अतः निकट आये हुए पतिको उसने कुछ क्षणों तक अपना मुख नही चूमने दिया । उस समय उसने और-और बातें छेड़ दी और उन्हींमें अपने पतिको उलझा लिया ॥५१॥ एक नायकने बार-बार प्रणाम करके अपनी मानवती पत्नीको खूब स्नेह पूर्वक मोठे शरीरमे समझाया, जिससे उसने अपने काम पीड़ित पतिको बाहुओंसे बाँधकर गले लगा लिया—गाढ़ आलिंगन किया ॥५२॥ पतिके आलिंगनमे नायिकाओंको अत्यधिक रोमांच हो आया, जिसने उनके शरीरको पुष्टकर दिया और उनके विलासी पतियोंको उनके नाड़ीको दृढ़ गाँठ खोलनेमे सहायता दी ॥५३॥ पतिके

१. अ सावधत्वं । २. = विलम्बयति स्म । ३. आ चिणो । ४. आ कल त्रित्यादिना जः ।  
 ५. = मधुराभिः । ६. = कातरतान्वितं । ७. आ 'तत्परम्' इति नास्ति । ८. श रम् । ९. = पीनताम् ।  
 १०. आ श दृढविमोक्षणे । १०. = दृढा गाढा या नोर्विवर्त्यग्रभिः तस्या विमोक्षणे विमोचन । ११. श विलासिनीना कामुकीनाम् । १२. श इतिवादङ् । १३. आ 'आलिङ्गनशीले सति' इति नोपलभ्यत ।  
 १४. आ शोभनी ।

दयितामतिपोवरस्तनीं परिरब्धुं दृढबन्धमक्षमः ।  
 स्पृहयालुरभूत्समाकुलो भुजदैर्घ्यातिशयाय कश्चन ॥५४॥  
 प्रियचाट्टुषु कोविदोऽपरो दधतीं मानकपायमङ्गनाम् ।  
 परिसान्द्र्य रसेस्तदोष्ठजैर्मदनाग्निं मनसि व्यदध्यपत् ॥५६॥  
 अद्यं दयितेन पातितैरपि काटिन्यगुणेन योपिताम् ।  
 नवकुङ्कुमकेसरैरिवोपरि तस्ये स्तनयोर्नखक्षतैः ॥५७॥  
 करताडनमोष्ठखण्डनं नखपातप्रसरः कचग्रहः ।  
 अजनोष्ठजनेऽपि कामिनां चरितं चाममहो मनोभुवः ॥५८॥

हृदयप्रवेशोऽपि । असंभवन् स्थानमलमपान । शृङ्गाररसः शृङ्गार एव रसः सन्निरूपः । विगलस्त्वेदपदेन विगलन्<sup>१</sup> इवन् स्वेद इति धर्मः ( -जलम् ) इति पदेन व्याजेन । विनिर्यायाविव निगच्छति स्मेव । या प्रापणे लिट् । रूपकमुत्प्रेक्षा ( कैतवापह्नुतिष्व ) ॥५४॥ दयितामिति । अतिपोवरस्तनोम् अतिपोवरो अत्यन्तं स्पृहो स्तनो कुचो यस्याः, ताम् । दयिता वल्लभाम् । दृढबन्ध दृढो गठः बन्धो बन्धनं यस्मिन् कर्मणि तत् । परिरब्धुं परिरम्भणाय, आलिङ्गनाय—इत्यर्थः । अक्षमः शक्तिरहितः । कश्चन पुरुषः । भुजदैर्घ्यातिशयाय भुजयोर्बाह्वोर्दैर्घ्यस्य दंष्ट्रवत्स्य अतिशयाय अतिशयः । स्पृहयालुः वाञ्छाशीलः सन् । 'अट्टा' इत्यादिना शीलार्थे आलु—प्रत्ययः । 'स्पृहे वा' इति कर्मणि चतुर्थो । समाकुलः<sup>२</sup> व्याकुलः ( -ता ) सहितः । अभूत् अभवत् । भू मत्ताया लुट् ॥५५॥ प्रियचाट्टुषु । प्रियवचनेषु । कोविदः प्रवीणः । कोऽपि कश्चन । मानकपायं मानस्य गर्वस्य कपाय परिणामम् । दधनी धरन्तोम् । अङ्गना वतिताम् । परिसान्द्र्यं<sup>३</sup> शमयित्वा । तदोष्ठजैः तस्या वनिताया ओष्ठजैर्धरसंजातैः । रसे सलिले मनसि मानसे । मदनानि कामाग्निम् । व्यदध्यपत् शमयति स्म । द्ये<sup>४</sup> चिन्ताया निजन्ता<sup>५</sup> लुट् ॥५६॥ अद्यमिति<sup>६</sup> । काटिन्यगुणेन काटिन्यं गुणो यस्य तेन । दयितेन नायकेन । अद्यं कृपारहितं यथा तथा । योषिता स्त्रीणाम् । स्तनयोः कुचयोः । उपतस्थे स्त्रियते स्म । पातितैः अङ्कितैः । नखक्षतैः नखाना क्षतैर्वातिरि । नवकुङ्कुमकेसरैरिव नवस्य नूतनस्य कुङ्कुपस्य कादमोरीजस्य केसरैरिव किञ्चलकैरिव । उत्प्रेक्षा ॥५७॥ करंति । करताडनं हस्तताडनम् । ओष्ठखण्डनम् अधरखण्डनम् । नखपातप्रसरः नखाना कररुद्धाणां पाताना प्रसरः समूहः । कचग्रहः कचाना केशाना ग्रह आकर्षणम् । कामिनां कामुकानाम् । जने अपि लोके अपि ( इष्टजने अपि प्रियजने अपि, प्रियावने अपि—

आलिङ्गन करनेपर नायिकाओको पसीना आने लगा, और वह बहकर चारो ओर फेल गया, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो शृङ्गाररस, उनके हृदयमे समा नहीं सकनेसे बहते हुए पसीनेके बहाने बाहर निकल आया हो ॥५४॥ अपनी अत्यन्त पीन स्तनवाली घरवालीको बाहुओंमें लपेटकर गाढ़ आलिङ्गन करनेमे असमर्थ कोई नायक व्याकुल होकर पर्याप्त मात्रामें अपनी बाहुओंकी लम्बाई प्राप्त करनेके लिए लालायित हो उठा ॥५५॥ प्रिय वचनोकी रचना करनेमें कुशल दूसरे नायकने अपनी मानवती पत्नीको समझा-बुझाकर शान्त किया, फिर उसके अधरके रस (अथ च जल) से अपने मनकी कामाग्निको शान्त किया ॥५६॥ नायिकाओंके स्तनोंपर उनके पतियोने निर्दयतापूर्वक जो नखक्षत किये, वे उन (स्तनो) की कठोरताके कारण कादमोरी केसरकी भाँति उन (स्तनो) के ऊपर ही रह गये, अन्दर प्रवेश नहीं कर सके ॥५७॥ कामी पुरुषोंने अपने प्रिय वर्ग (स्त्री वर्ग) में भी करताडन, दन्तक्षत, नखक्षत

१. श परिशाम्य । २. क न्य ग घ रमे प्रदीपजै । ३. = सवन् । ४. = लक्ष्मिमिति शेषः । ५. = व्याकुल । ६. श परिशाम्य । ७. श द्ये म्पु । ८. आ णन्ताल्लुट् । ९. = अद्यमिति । दयितेन । अद्यं निर्दयं यथा स्यात् तथा । पातितैरपि अङ्कितैरपि । नखक्षतैः नखक्षणैः । योषिता तस्त्रीणां । स्तनयोः कुचयोः । काटिन्यगुणेन कठोरताया । नवकुङ्कुमकेसरैरिव अभिनवकुङ्कुमकिञ्चलकैरिव । उपतस्थे स्थायिते स्म ॥५७॥

श्रुतिताप्यतिमात्रसंस्तवाभ्यणिमालेख गुणैर्विलासिनाम् ।

रमणीमणितर्मनोहरैः सुरतेच्छा पुनरेव संदधे ॥१५॥

सुभगाकृतिस्तीक्ष्णकलक्वणितं चाटुमनोहरं वचः ।

दयितासुरतेषु शृण्वता बहु मेने त्रिदिवो न कामिना ॥१६॥

इति वृद्धिमिते रतोत्सवे रमयित्वा क्षितिपः शशिप्रभाम् ।

सुखनिद्रमशेत कोमले शयने तद्भुजपाशवेष्टितः ॥१७॥

प्रक्षुब्ध क्षणमथ मङ्गलैकहेतौ विश्रान्ति समुपगते प्रभाततूर्ये ।

यामिन्या विरतिमिति प्रविश्य सूता भूमर्तुः सपदि निवेदयांबभूवुः ॥१८॥

इत्यर्थः ) । अजनिष्ट अजायत । जनेड् प्रादुर्भावे लङ् । मनोभुवः मन्वदस्य । चरितं चरित्रम् । वाममहो मनोहरमहो ( अहो वामम् अहो मनोहरम् ) वक्र वा । 'वामे ( मो ) वक्त्रे मनोहरे' इत्यमरः<sup>१</sup> । अर्धान्तर-  
न्यास ॥१५८॥ श्रुतिमिति । अतिमात्रसंस्तवात् अतिमात्रं मस्तवात् परिचयात् । बहुलानु 'भवात्-इत्यर्थः ।  
'संस्तव' स्यात् परिचयः' इत्यमरः । मणिमालेख मणीना रत्नाना मालेख माल्यमिव । श्रुतितापि<sup>२</sup> छेदिता  
अपि । विलासिना कामुकानाम् । सुतेच्छा निधुवनेच्छा । मनोहरैः रुचिरैः । रमणीमणिते रमणीना वनितानां  
मणितेगलरवे । 'मणितं रतिकूजितम्' इत्यमरः । गुणैः तन्तुभिः । पुनरेव पश्चादेव । संदधे संघटिता ध्रियते  
स्म वा । सुरतेच्छाश्रुतितापि गुणर्मणिमालेख महिलामणिते । पुनः संघटिता, भूयोऽपि सुरतेच्छाऽजायत<sup>३</sup>—  
इत्यर्थः । उत्प्रेक्षा ॥१५९॥ सुममेति । दयितासुरतेषु<sup>४</sup> दयितानु नायिकानु सुरतेषु निधुवनेषु । सुभगाकृति  
मनोहराकारयुक्तम् । स्तीक्ष्णं स्तीक्ष्णम् । कलक्वणितम् अध्यस्तमनोहररवम् । चाटुमनाहर चाटुभिः शिथिलचनै-  
मनोहरम् । वचः वचनम् । श्रुत्वा आकर्ष्य । कामिना कामुकेन । त्रिदिवः स्वर्गः । बहु महदिति । न मेने  
न मन्यते स्म । वृषि मनि जावे कर्मण लिट् । जातिः ॥१६०॥ हर्षति । रतोत्सवे, इति एवम् । वृद्धि  
प्रवृद्धिम् । इति गते सति । क्षितिप अजितसेनचक्रवर्ती । शशिप्रभा शशिप्रभादेशीम् । रमयित्वा क्रीडयित्वा ।  
कोमले मृदुले । शयने शयनायाम् । तद्भुजपाशवेष्टितः तस्याः शशिप्रभाया भुज एव बाहुरेव पाशो रज्जुस्तन  
वेष्टितः । सुखनिद्रं सुखेन सतोपेण युक्ता निद्रा यस्मिन् कर्मणि तत्, इति क्रियाविशेषणम् । अशेत अनिद्रायत ।  
शोड् स्वप्ने लङ् ॥१६१॥ प्रक्षुब्धेति । अथ निद्रानन्तरम् । मङ्गलैकहेतौ मङ्गलस्य एकहेतौ मुख्यकारणे ।  
प्रभाततूर्ये प्रभातस्य विभातस्य तूर्ये वाद्यविदोपे । क्षण क्षणपर्यन्तम् । प्रक्षुब्ध धोषयित्वा<sup>५</sup> । विश्रान्ति  
विश्रामम् । समुपगते समुपयाते । सूताः मङ्गलपाठकाः । 'क्षत्रिपाद् ब्राह्मणौजोऽपि सूतः पारदबन्दिनो'<sup>६</sup>  
इत्यभिधानात् । प्रविश्य गत्वा । भूमर्तुः चक्रिणः । यामिन्याः रात्रिः । विरति विरामम् । निवेदयांबभूवुः

और कचग्रह ( बाल पकड़ना ) आदि चेष्टाएँ कीं । ओह कामदेवका चरित बिलकुल विपरीत  
है ! ॥१५८॥ जिस प्रकार अधिक उपयोगमें आनेसे टूटी हुई मणियोंकी माला डोरेसे पुनः जुड़  
जाती है उसी प्रकार प्रचुर मात्रामे अनुभव कर लेनेसे विलासियोंकी संभोगकी टूटी हुई  
( पूरी हुई ) भी इच्छा नायिकाओंके मुखसे निकले 'सो, सो, सो,' शब्दोंको मुनते ही पुनः जुड़  
गई—उत्पन्न हो गई ॥१५९॥ नायिकाओंके साथ सम्भोग करते समय उनके अत्यन्त मुन्दर  
सीत्कारको, उनके गहनोंके शब्दोंको, और प्रिय और मनोहर वचनोंको सुनकर कामियोने  
स्वर्गकी भी मामूली या तुच्छ समझा ॥१६०॥ इस प्रकार रतोत्सवके बढ़नेपर चक्रवर्ती राजा  
अजितसेनने अपनी प्रिया शशिप्रभाके साथ संभोग किया फिर कोमल सेजपर उसकी बाहोसे  
वेष्टित होंकर आरामसे सो गया ॥१६१॥ इसके पश्चात् प्रभात होते ही मांगलीक बाजे थोड़ी देर  
बजकर बन्द हो गये, फिर स्तुति पाठकोने शीघ्र ही अन्दर प्रवेश करके राजाको रात्रिके समाप्त

१. आ इ 'समवात्' । २. = अहो वामम् अहो मनोहरम् । ३. = इति वनञ्जयः । ४. आ बह्वच ।  
५. = छिन्ना । ६. वा 'जायदिव' । ७. = दयिताना नायिकानां सुरतेषु । ८. वा बोधयित्वा ।

यात्येषा नृवर विभावरी विकीर्णं संवृत्यांशुकमिव धाम तारकाणाम् ।  
 चन्द्रेऽस्तं जिगमिषति त्वदाननेन्दुं शोभायै जगत इव प्रबोधयन्ती ॥६२॥  
 सिन्दूरद्युतिरिव पूर्वदिक्पुरंध्र्याः सोमन्तान्तरचिह्ना विभाति सध्या ।  
 मुखोर्वीमिव शयने तव स्मितेन व्यामिश्रां दधतु रुचिं विभातदीपाः ॥६३॥  
 एतच्च प्रविकसदम्बुजाभिमुख्यं गच्छद्भिन्नमरगणैर्विमुच्यमानम् ।  
 ब्रह्माण्डप्रसृतभवद्यशोजितश्च संकोचं कुमुदवने शुचैव धत्ते ॥६४॥  
 पिङ्गत्वादिव विरहानलप्रलितमोत्सुक्यशस्तरनि मल्लद्रथाङ्गयुग्मम् ।  
 वसोजल्यमिव नाथ कुकुमाकं कामिन्यास्तव हृदयस्थले विभाति ॥६५॥

विज्ञापयामासुः । विद जाने णिज्जन्तिस्सु ॥६२॥ या गति । नृवर नृणां [ नृवर नृणां ] वर श्रेष्ठ । चन्द्रे सोमे । अस्तम् अस्तपर्वतम् । जिगमिषति गन्तुं मच्छति सति । त्वदाननेन्दुं तव ते आननमेवेन्दुश्चन्द्रः, तम् । रूपकम् । जगत. लोकस्य । शोभायै शोभानिमित्तम् । प्रबोधयन्तीव निवेदयन्तीव । एषा इयम् । विभावरी मिशा स्त्री । विकीर्णं विस्तीर्णं । तारकाणां नक्षत्राणाम् । धाम कान्तिम् । अनुकमिव वसनमिव । संवृत्य संकोचयित्वा । याति गच्छति । या प्रापणे लट् । उपेक्षा ॥६३॥ सिन्दूरेति । उर्वीमिव भूपतेः । पूर्वदिक्-पुरंध्र्याः पूर्वदिगेव पुरंध्रो नागे, तस्या । रूपकम् । सोमन्तान्तरचिह्ना सोमन्तस्य वैशमध्यपद्धतैरन्तरे मध्ये विस्तृता वितता । सिन्दूरद्युतिरिव सिन्दूरस्यै चूर्णविशेषस्य<sup>१</sup> द्युतिरिव कान्तिरिव । सध्या<sup>२</sup> प्रभात । विभाति विराजते । आ दीप्तौ लट् । तवः शयन शयनालम् । मुञ्च त्वज्ज । मुञ्च मौक्षणं लोट् । तव ते । स्मितेन मन्दस्मितेन । व्यामिश्रा मिश्रितम् । रुचिं कान्तिम् । विभातदीपा प्रदीपाः । दधतु धरन्तु । दृष्ट्वा चारणे लोट् । उपेक्षा ॥६४॥ एतदिति । प्रविकसदम्बुजाभिरूप प्रविकसतोऽम्बुजस्य कमलस्याभिरुपम्<sup>३</sup> । गच्छद्भिः सर्पद्भिः । भ्रमरगणं भ्रमराणां मधुराणां गणे समूहे । विमुच्यमानं त्यज्यमानम् । ब्रह्माण्डप्रसृत-भवद्यशाजितश्च ब्रह्माण्डेषु लोकेषु लोकलक्षितप्रयोग, प्रसूतेन व्याप्तं भवतस्तव यशसा कीर्त्या जिता श्रिता श्रोः शोभा यस्य तत् । एतत् इदम् । कुमुदवनं कुवलयवनम् । शुचैव शोकेनैव । मकोचं मुकुलितम् । ( मुकुलितावस्थाम् ) । धत्ते धरति । उपेक्षा ॥६५॥ पिङ्गत्वादिव । नाथ भो नाथ । पिङ्गत्वात् हेमवर्ण-त्वात् । विरहानलप्रलितम् [ इव ] विरह एव विद्योः एवानलो बल्लिन्तेन प्रशिथ्य प्रलितमिव । ओत्सुक्यात्, सरसि सरोवरे । मल्लद्रथाङ्गयुग्मं मल्लत् संयोजत्<sup>४</sup> रथाङ्गानां चक्रवाकानां<sup>५</sup> युग्मं युगलम् । तव ते ।

होनेकी सूचना इस प्रकार दी ॥६२॥ राजन् । आप सब राजाओमें श्रेष्ठ है अब चन्द्रमा अस्त होना चाहता है, अतः जगत्की शोभा बढानेके लिए आपके मुखरूपी चन्द्रमाको जगाती हुई-सी यह रात्रि ताराओकी कान्तिरूपी फेले हुए वस्त्रको लपेटकर जा रही है ॥६३॥ राजन् प्रभातकी सन्ध्या ऐसी जान पड़ती है मानो पूर्वदिशा रूपी सौभाग्यवती नायिकाका मागमें भरी हुई सिन्दूरकी द्युति हो । अब आप सेज छोड़िये । ये प्रभातके दीपक आपकी मुसकानमें मिली हुई कान्तिको धारण करें ॥६४॥ राजन सारे ब्रह्माण्डमें फेले हुए आपके यगने जिमकी श्रो-शोभा जीत ली है और भीरोके झुण्ड जिसे छोड़-छोड़कर विकसित कमलओकी ओर चले जा रहे हैं, वह ( पराजित और अपमानित ) कुमुदवन मानो शोकके कारण सकुचित हो रहा हो ॥६५॥ राजन् ! सरोवरमें चक्रवाक और चक्रवाकी का युगल बड़ी उत्सुकतासे मिल रहा है । पोले

१. आ 'निशा स्त्रा' इत्यस्य स्थाने 'रात्रि' इति सपुलङ्गते । २. श भूमि ते । ३. = नागसंभवस्य । सिन्दूरं नागसंभवम्<sup>४</sup> इत्यमरः । ४. आ चूर्णविशेषस्य । ५. = प्रभातम्, प्रगतेना सन्ध्या इति यच्च । ६. वा लट् । ७. श चारणे च लट् । ८. = सामीप्यम् । ९. = मुकुलितावस्थाम् । १०. = संयोगं भवत् । ११. आ संयोजयत् । १२. श चक्रवाकाणां ।

धर्माशोरुदयमहोभ्ररुद्धमूर्तेः कुन्ताग्रैरिव किरणाङ्कुरैः प्रणुभम् ।  
 संश्लिष्यद्वनगिरिगह्वरेषु वृत्तिं ध्वान्तं त्वद्विषदनुशीलतां दधाति ॥६७॥  
 प्रत्यूषोद्भवहिमबिन्दुभिः पतद्भिर्मुक्ताभैरवनिरुद्धाः परिष्कृताङ्गाः ।  
 रत्युत्थभ्रमसलिलो भवानिवैते लदयन्ते तरुणलतावधूपगूढाः ॥६८॥  
 गच्छन्ती क्षितितलरोपितैकपादा शय्यास्थं यदतिरसेन चुम्बतीशम् ।  
 पाथेयं धरणिपते वधूर्ध्रुवं तद्गुह्येते गुरुविरहाध्वलङ्घनाय ॥६९॥

कामिन्या वनितायाः । हृदयस्थले हृदयस्य स्थले प्रवेशे । कुङ्कुमाक्तं कुङ्कुमेन काश्मीरजेनावर्तं रक्तम् ।  
 वक्षोऽद्वयमिव वक्षोऽभयोस्तनयोद्वयमिव द्वन्द्वमिव । त्रिमासि मासते । उद्वेशा ॥६६॥ धर्माशोरिति । उद्वे-  
 महीध्ररुद्धमूर्तेः उद्वेगेन उदयनाम्ना महीध्रेण पर्वतेन रुद्धा आवृता मूनिरवयवो यस्य तस्य । धर्माशोः सूर्यस्य ।  
 कुन्ताग्रैरिव कुन्तानामायुर्विशेषयोगागमग्रैरिव । किरणाङ्कुरैः किरणानां मयूकानामङ्कुरैः । प्रणुनं विद्धम् ।  
 वनगिरिगह्वरेषु वनेषु गिरिषु गह्वरेषु गुहासु । मश्लिष्यत्<sup>१</sup> संबन्धयत् ध्वान्तम् अन्ततमसम् । त्वद्विषदनु-  
 शीलतां तव ते द्विवता शत्रूणामनुशीलतां सादृश्यम् ( यत्र तः ) । वृत्तिं वर्तनम् । दधाति धरति ।  
 दुषाञ् चाण्ये च ऋट् । उद्वेशा ( उपमा ) ॥६७॥ प्रत्यूषेति । पतद्भिः अपतद्भिः । मुक्ताभैः  
 मोक्षितकममानैः । प्रत्यूषाङ्कुरहिमबिन्दुभिः प्रत्यूषे प्रभाते उद्भवस्योत्पद्यमानस्य हिमस्य बिन्दुभिः ।  
 परिष्कृताङ्गाः । परिष्कृतमलङ्कृतमङ्गं येषां ते । तरुणलतावधूपगूढाः तरुणाः<sup>२</sup> कोमलाः लता एव वत्सर्य  
 एव वक्षः स्त्रियः, तामिगूढा आलिङ्गताः । एते इमे । अवनिरुद्धाः वृक्षाः । रत्युत्थभ्रमपलिलः रती संभोगे  
 उद्वेगमत्पन्नं श्रमाउजातं सलिलं यस्य सः । भवानिव त्वमिव । लदयन्ते दृश्यन्ते । लक्षे<sup>३</sup> दर्शनाङ्क-  
 नभोल्लट् उद्वेशा ॥६८॥ गच्छन्तीति । धरणिपते भूमिपते । क्षितितल रोपितैकपादा क्षितितले भूतले रोपिताः  
 त्रिपत् ( एक ) पादो यस्याः<sup>४</sup> सा । वधू वनिता । शय्यास्थं शयनस्थम् । ईशं प्रभुम् । यत् यस्मात् ।  
 अनिरसेन अतिप्रोत्थया । चुम्बति<sup>५</sup> चुम्बि वक्षसंयोगे लट् । तत् गुरुविरहाध्वलङ्घनाय गुरुर्महान् विरह एव  
 वियोग एव अथवा मार्गस्तन्मय लङ्घनाय गमनाय । पाथेयं मार्गहितम् । गृह्णीते स्वीकरोति । ध्रुवं<sup>६</sup> निश्चयम् ।

होनेसे दोनो—चकवा और चकवी, ऐसे जान पड़ते है मानों विरहकी अग्निसे लिप्त हों ।  
 राजन् ! सरोवरमे दोनोंकी वही शोभा है जो आपके सीनेपर आपकी नायिकाके काश्मीरी  
 केसरसे लिप्त स्तनोकी होती है ॥६६॥ राजन् ! इस समय सूर्य उदयाचलको ओटमें है । उसको  
 भालोकी नौक सरोखी किरणोमे घायल हुआ अन्धकार सघन वनों और पर्वतोंकी गुफाओंमें  
 घुसकर आपके शत्रुओका अनुसरणकर रहा है ॥६७॥ राजन् ! ये वृक्ष इस समय आप सरीखे  
 लग रहे हैं । आप लताओके समान छरहरे वदनकी युवतियोंसे आलिगन करते है, ये छरहरे  
 वदनकी युवतियोंके समान नवीन लताओंसे आलिगन कर रहे हैं । आप संभोगके परिश्रमके  
 कारण मोतियों जैसी पसीनेकी बिन्दुओसे मुशोभित होने लगते है तो ये भी प्रभातकी वेलामें  
 गिरनेवालो मोतियो सरीखी ओसकी बिन्दुओसे बिभूषित हो रहे हैं ॥६८॥ राजन् ! शयनागार-  
 से बाहर जानेवाली एक नायिका अपने एक पैरकी नीचे (और एक को सेजके ऊपर) रखकर,  
 सेजपर लेटे हुए पतिका जो खूब ही स्नेहसे चुम्बनकर रही है सो ऐसा जान पड़ता है मानो वह

१. अ क ख ग घ रबनिरुद्धः । २. = संबन्ध भ्रमत् । ३. = नूटनाः । 'तरुणः कुञ्जपुष्पे  
 स्यादेरण्डे यूनि नूतन' इत्यनेकार्थसंग्रहः । ४. सा लक्षि । ५. = यया । ६. = चुम्बनं करोति ।  
 ७. = निश्चितम् ।



स्त्रिंशं ते यपुनपायिनामुनैव<sup>१</sup> भारेणोन्नतिजयिनः कुचद्वयस्य ।  
 मुञ्चेमं सुतनु वृथैव रोषभारं नो किञ्चित्कलमतिभगनीडनेन ॥७०॥  
 नत्वाहं विरहभयाङ्गणामि यस्मादृष्टापि त्वमसि हृदि स्थिता सदा मे ।  
 किं स्वम्भोजमुखि तथैव देहतापी कोपोऽयं नियतममङ्गलावसानः<sup>२</sup> ॥७१॥  
 कालुष्यं त्यज भज तुङ्गमाद्रंभावं कः कोपः प्रणयिनि चक्रवाकवृत्तौ ।  
 इत्येवं निजविरुतैर्निशान्तशंखौ वक्ति त्वामिव मुदुरेष ताम्रचूडः ॥७२॥  
 काठिन्यं तव हृदये स्तनद्वयस्य सान्निध्याच्च खलु सुकैश्चि कल्पयामि ।  
 किं जातु त्यजति महासूतस्य वृत्तौ माधुर्यं विषयनमध्यसंप्रसृतः ॥७३॥

कपकम् ( उत्पन्ना च ) ॥६९॥ स्त्रिंशन्मिति । इतः परं कश्चिन्नायको<sup>३</sup> नायकी प्रति वक्ति । वक्ष्यमाणयैः  
 कुचकम् । सुतनु शोभनात्रि । अनयायिना विगमरहितेन । अमुनैव एतेनैव । उत्प्रतिजयिनः<sup>४</sup> उत्प्रति जयिनः  
 पूज्यम्—इत्यर्थः । कुचद्वयस्य वक्षोजपुगलस्य । भारेण, ते तव । वपुः शरीरम् । स्त्रिंशं पीडितम् । ( अतः )  
 वृथैव फलरहितमेव । इमम् एवम् । रोषभारं रोषस्य कोपस्य भारमतिशयम् । मञ्चव त्यज । मुल्लूजं<sup>५</sup> मोक्षणे  
 लट् । अनिमग्नशब्देन अतिभग्नस्यातिपीडितस्य पीडनेन बाधनेन । किञ्चित् फल किञ्चित्प्रयोजनम् । नो  
 न भवति ॥७०॥ नात्वेति । अम्भोजमुखि अम्भोजमिव कमलमिव मुख यस्याः तस्याः संबोधनम्<sup>६</sup> । विरह-  
 भयात्<sup>७</sup> विरहाद् विद्योपाद् भयात् । त्वा त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वा—आदेशः । अहम्, न भणामि  
 न ब्रूयामि भण शब्दे लट् । यस्मात् कारणात् । त्वम्, दृष्ट्वापि विलोक्यापि । सदा अनवरतम् । मे मम ।  
 हृदि हृदये । स्थिता, अस्ति भवसि । अस भूवि लट् । किन्तु विद्योपोऽस्ति । आमङ्गलावसान अमङ्गलमेव  
 मङ्गलाभावा एवावसान इत्यर्थः । अयम् एषः । कोपः क्रुध् । नियत निश्चयेन । तथैव भवता एव । देह-  
 तापी देहस्य नाशस्य तापी संतापकारी । भवति । उपमा ॥७१॥ कालुष्यमिति । कालुष्यं<sup>८</sup> वषेणम् ।  
 त्यज मञ्चव । त्यज हानौ लोट्<sup>९</sup> । तुङ्गम् उन्नतम् । आद्रंभावम् आद्रंस्त्वम् । भज आश्रय । चक्रवाकवृत्तौ  
 चक्रवाकस्य रथाङ्गावधिगो वृत्तिरिव वर्तनमिव वृत्तिर्यस्य तस्मिन् । वृत्तिः—इत्यर्थः । ( ? ) । प्रणयिनि  
 नायके । कोपः क्रोधः । कः न कोऽपीत्यर्थः । इत्येवं प्रोत्तरकारणम् । निजविरुतैर् निजस्य स्वस्य विरुतैर्  
 चरनिभिः । निशान्तशंखौ निशान्तस्य प्रमानकालस्य शंखौ प्रशमाशौल<sup>१०</sup>, सूचक इत्यर्थः । एष अयम् । ताम्रचूडः  
 ताम्रा लोहितवर्णा चूडा शिखा यस्य स<sup>११</sup>, कुबकुट इत्यर्थः । मृदु<sup>१२</sup> पुनः । त्वामिव भवतीमिव । वक्ति ब्रवीति ।  
 तव परिभाषणे लट् । उपमा, उत्प्रेक्षा ॥७२॥ काठिन्यमिति । सुपशि मु शोभनाः केशाः शिरोरुहा यस्या-  
 स्तस्याः संबोधनम्<sup>१३</sup> 'अमहन्ज—' इत्यादिना डौ । स्तनद्वयस्य स्तनयोः कुचयोर्द्वयस्य युगलस्य । सान्निध्यात्  
 सामीप्यात्, समर्गात्—इत्यर्थः । तव ते । हृदये उगसि । काठिन्यं कठिनत्वम् । न खलु कलायामि न सकल

महान् विरहके मार्गको तय कान्तके लिए कलेवा ले रही हो ॥६९॥ हे सुन्दर शरीरवाली !  
 तेरा शरीर अत्यन्त उन्नत स्तनोके कभी विलग्न होनेवाले इस भाग्यसे पीडित है अतः व्यर्थके इस  
 रोषके बोझको छोड़ दे । अत्यन्त पीडितको पीडा देनेसे कुछ फल भी तो नहीं मिलता ॥७०॥  
 हे कमलके समान मुख वाली ! मैं विरहके भयसे तुझसे नहीं कह रहा हूँ; क्योंकि तू मानके दोष-  
 से दूषित होकर भी सदा मेरे हृदयमे बसी रहनी है । किन्तु इस लिए कह रहा हूँ कि अन्तमें  
 अमंगल करनेवाला यह कोप निश्चयसे तेरे ही शरीरको मन्ताप देगा ॥७१॥ प्रमातकी सूचना  
 देनेवाला यह मूर्गा अपने शब्दोंमें मानो तुमसे बार-बार यह कह रहा है कि चित्तकी कलुषता  
 को छोड़ो और श्रेष्ठ कीमलताको धारण करो । चक्रवेकी भाँति स्नेह करनेवाले घरवालेपर कोप  
 कैसा ? ॥७२॥ हे सुन्दरवाली वाली ! मैं निश्चय ही यह कल्पना नहीं कर सकता कि स्तनोके

१. म भारेणान् । २. अ<sup>३</sup> वसानम् । ३. = नायिका । ४. = उन्नत्या जयतीत्येवं शौलं, तस्य । ५.  
 आ मुल्लूज । ६. श लोट् । ७. = तत्संबुद्धौ । ८. = विद्योगमयात् । ९. = कलुषताम् । १०. श लोट् । ११. = पुनः  
 पुनः । १२. = तत्संबुद्धौ ।

कोऽपीत्थं प्रणयकृषा विवृत्य सुतां प्रेमान्धः प्रियवचसानुनीया कान्ताम् ।

संपूर्णाधिगतलपोपमानभावाभालिङ्गनअपदपल्लवैर्विधत्ते ॥७४॥

ससीनां रुचिरनवातपल्लुतानामक्षात्वातिशयमरञ्जितेतरैःभ्यः ।

तिग्मांशोर्बिदधति बाजिभूषकास्ते प्रौढत्वे करकृतकुङ्कुमाः<sup>१</sup> प्रतीक्षाम् ॥७५॥

शष्मोतीक्षितमुधरीकृतप्रतापी भूपालो न खलु ममोपरि प्रयातम् ।

रोचिष्मानिति मयतोभयादिवायमाकाशप्रणयि शनैः करोति बिम्बम् ॥७६॥

यामि । विषवनमध्यसंप्रसृतः विधाणा विषवृक्षाणा वनस्य काननस्य मध्ये संप्रसृतः संजातः । महामृतस्य महामृत-  
रूपस्य । वृक्षः महीरहः । माधुर्यं स्वादुरवम् । जातु सकृत् । त्यजति किं मुञ्चति किम् । न त्यजति—इत्यर्थः ।  
अर्चन्तिरन्त्यासः ॥७३॥ कोऽपीत्थमिति<sup>२</sup> । प्रेमान्धः प्रेम्णा प्रीत्या अन्धो मूढः । कोऽपि कदिबन्नायकः । प्रणय-  
कृषा प्रणयेन स्नेहेन जातया कृषा कोपेन<sup>३</sup> । विवृत्य पराङ्मुखी भूत्वा । मुक्ता निद्रायिताम् । कात्यां वनिताम् ।  
इदम् अनेन प्रकारेण । प्रियवचसा प्रियवचनेन । अनुनीय संतप्य । आलिङ्गन् आश्लिष्यन् । नखपदपल्लवैः  
नखानां कररङ्गाणां<sup>४</sup> पदा एव लता एव पल्लवाः किसलयानि, तैः । संपूर्णाधिगतलपोपमानभावा<sup>५</sup> संपूर्ण गताभा  
याताया लताया वल्लर्या उपमानः समानो भावो यस्याः ताम् । विधने करोति । दुष्पाञ्च बाणैः<sup>६</sup> लट् । कुल-  
कम् ॥७४॥ ससीनामिति । रुचिरनवातपल्लुतानां रुचिरेण मनोहरेणातपेन<sup>७</sup> उद्योतेन प्लुतानां<sup>८</sup> मग्नानाम् ।  
सप्तोनां तुरङ्गमाणाम्<sup>९</sup> । अरञ्जितेतरैःभ्यः अरञ्जितैर्भ्यः कुङ्कुमालङ्कारशृङ्गेभ्य इतरैःभ्यः कुङ्कुमालङ्कारिभ्यः<sup>१०</sup>  
स्तुरगेभ्यः । अतिशयं भेदम् । अज्ञात्वा अवधत्वा । ते, प्रौढत्वे तोदयत्वे । करकृतकुङ्कुमाः करे हस्ते कृतं  
कुङ्कुम ये तैः । बाजिभूषकाः<sup>११</sup> बाजिनस्तुरङ्गान् (भूषयन्तीति बाजि-)भूषका अलङ्कारकाः । तिग्मांशोः सूर्यस्य ।  
प्रतीक्षा<sup>१२</sup> वाञ्छाम् । विदधति कुर्वन्ति । बालातपेन व्याप्तान् सूर्यनुरागान् कुङ्कुमरञ्जितेतरान् ज्ञात्वा  
रञ्जितानपि रञ्जयन्ति<sup>१३</sup> इत्यर्थः<sup>१४</sup> । भ्रान्तिमान् ॥७५॥ शष्मोतीति । अधरीकृतप्रतापिभूपालः<sup>१५</sup> अधरीकृता

सक्षमंसे तुम्हारे हृदयमे कठोरता आ गई है । विषवनके बीचमे उत्पन्न हुआ अमृत वृक्ष क्या  
कभी अपनी मधुरताको छोड़ सकता है ? ॥७३॥ किसी रागान्ध नायकने ऐसे प्रिय वचन सुना  
कर, प्रणयक्रोपसे विमुख होकर सोई हुई अपनी नायिकाको अनुकूल बना लिया । फिर  
आलिंगन करते हुए उसने उसे नखक्षतोंके पल्लवोंसे अलंकृत करके पूर्णतया लताको समता  
पाने योग्य बना दिया । वह छरहरे शरीरसे पहले अशता लताके समान थी, अब नखक्षत  
रूपी पल्लवोंसे अलंकृत होकर पूरी तीरसे लताके समान हो गई । नखक्षतोंने पल्लवोंकी कमोको  
दूरकर दिया ॥७४॥ राजन् ! घोड़ोंका शृगार करनेवाले लोग, घोड़ाको केशर लगा रहे  
थे । इतनेमें बाल सूर्यको सुन्दर अरुण आभाके पडते ही सभी घोड़े अरुण वर्णके हो गये । तब  
उन घोड़ोंका पहचानना कठिन हो गया, जिन्हें केशर नहीं लगाई गई थी; क्योंकि जिन्हें केशर  
लगाई जा चुकी थी; उनसे उन घोड़ोंका अन्तर ही ज्ञात नहीं हो सका, जिन्हें केशर नहीं  
लगाई गई थी ! ऐसी स्थितिमे शृगार करनेवाले लोग हाथमें केशर लेकर सूर्यके प्रौढ़ होनेकी  
प्रतीक्षा करने लगे ॥७५॥ प्रतापी राजाओंके छक्के छड़ानेवाला राजा (अजितसेन) निश्चय ही

१. कल गद्य म<sup>१</sup> भूषकास्ते । २. आ इ<sup>२</sup> कुङ्कुमै । ३. आ श क इति । ४. = प्रणयकोपेन । ५. = पदाभि  
लिङ्गान्येव सत्तायेव । ६. = संपूर्णाधिगतो लताया उपमानभावः साम्यं यया सा, ताम् । ७. बा बाणैः बलट् ।  
८. = प्रमातारुणिम्ना । ९. = व्याप्तानाम् । १०. आ तुरमाणाम् । ११. श<sup>११</sup> रेभ्यः । १२. श सुताः ।  
१३. = प्रतिपालनाम् । १४. = रञ्जयन्ति । १५. = प्रमातारुणिम्ना प्रभूवितानवद्वा रञ्जितान् ज्ञात्वा न  
रञ्जयन्ति बाजिभूषकाः । परं करकृतकुङ्कुमाः सन्तः ते तिग्मांशोः प्रौढत्वं प्रतीक्षन्ते । १६. एष टीकाश्रयः पाठः  
अतिष्ठ तु 'अधरीकृतप्रतापिभूपालः' इत्येव सम्पलभ्यते ।

बन्दिभ्यो ललितपदक्रमाभिरामां संशृण्वन्मिति दयितोपमां स वाणीम् ।

'निःस्पन्दोच्छ्वसददरप्रसुप्तभृङ्गैरम्भोजैः सममभजन्मृपः प्रबोधम् ॥७७॥

अथ कथमप्यपास्य दयिताभुजपाशमसा-

वरुणरुचा प्रसाध्यति पूर्वदिशं तपने ।

रतिकलहप्रसङ्गगलितोज्ज्वलहारमणि-

प्रकरचितं पयोनिधिमिव व्यमुचच्छ्वयनम् ॥७८॥

निराकृताः प्रतापिनः तेजस्विनो भूपाला राजानो येन स' । मम मे । उपरि प्रयातम् ऊर्ध्वं प्रयात'मागतम् । ईक्षितुं बिलोकितुम् । न खलु शक्नोति न समर्था भवति । इति मत्वा । भवतः तत्र । भयादिब भीतेरिव । अयम् एवः । रोचिष्मान् सूर्यः । बिम्बं मण्डलम् । आकाशप्रणयि आकाशे गगने प्रणयि प्रसरणयुक्तम् । 'प्रणयः प्रेम्णि बिम्बस्ये यास्मा प्रसरयोरपि ।' इति विदधः । शनैः मन्दम् । करोति विदधाति । उत्प्रेक्षा ॥७६॥ बन्दिभ्य इति । बन्दिभ्यः मङ्गलपाठकैभ्यः । ललितपदक्रमाभिरामा ललिताना मनोहराणां पदमां तिङ्-सुबन्त-(सुप्तिङन्त-) रूपाणां क्रमेण परिपाटया अभिरामां मनोहराम्, पक्षे, ललितेन मृदुलेन पदक्रमेण पादन्धा-सेनाविरामाम् । दयितोपमां भार्योपमाम् । इति उक्तप्रकाराम् । वाणी वचनम् । संशृण्वन् आकर्णयन् । सः नृपः चक्रो । निष्पन्दोच्छ्वसदुदरप्रसुप्तभृङ्गैः निष्पन्दाश्चलनरहिता उच्छ्वसन्त उच्छ्वासं कुर्वन्तः उदरे अन्तः प्रसुप्ता भृङ्गा मधुकरा येषां तैः । अम्भोजैः कमलैः । सम साकम् । प्रबोध जागरम्, पक्षे विक्रमनम् । अभजन् आश्रयत् । अत्र<sup>५</sup> सेवायां लङ् । सद्बोद्धि ॥७७॥ अभ्येति । अथ जागरणान्तरम् । तपने सूर्ये । अरुणरुचा अरुणया लोहितया रुचा कान्तया । पूर्वदिशम् इन्द्रदिशम् । प्रसाध्यति सति भूयसति सति । अनौ चक्रवर्ती । दयिताभुजपाश दयितायाः शशिप्रमाया भुज एव पाश, तम् । कथमपि येन केनापि ( प्रकारेण ) अपास्य त्यक्त्वा । रतिकलहप्रसङ्गगलितोज्ज्वलहारमणिप्रकटचित रतिकलहस्य प्रणयकलहस्य प्रसङ्गेन गलितस्य पतित-स्योज्ज्वलहारस्य प्रज्वल ( प्रोज्ज्वल- ) हारस्य मणानां मौक्तिकानां प्रकरणेन समूहेन चितं<sup>४</sup> विततम् । पयो-निधिमिव समुद्रमिव । शयनं शय्याम् । व्यमुचत्<sup>६</sup> । मुच्लन् मोक्षणे लुङ्<sup>७</sup> । 'सतिशास्ति—' इत्यादिना

अपने ऊपरसे मेरा जाना देख नहीं सकेगा, मानो यही सोचकर सूर्य आपके डरसे अपने बिम्बको धीरे-धीरे आकाशमें चढ़ा रहा है ॥७६॥ मंगलपाठ करनेवालोंसे नायिकाके समान सुन्दर पद-बिन्द्यास ( सुबन्त तिङन्त पदोका बिन्द्यास, पैरोका बिन्द्यास ) से मनको रमानेवाली वाणी सुनता हुआ राजा अजितसेन, कमलोंके—जिनके अन्दर निश्चेष्ट, धीरे-धीरे द्वास लेनेवाले और सोए हुए थे—साथ-ही-साथ प्रबुद्ध हो गया । कमल खिल उठे और राजा जाग उठा । ॥७७॥ सूर्य अपनी अरुण आभासे अभी पूर्व दिशाके शृंगार करनेमें ही लगा हुआ था, किन्तु राजा अजितसेनने जागते ही जिस किसी तरह अपनी प्रियाके बाहुपाशसे निकलकर सेज छोड़ दी, जो रतिकलहके प्रसंगसे गिरे हुए हारके मणियोंसे व्याप्त होकर रत्नाकरकी भाँति दृष्टिगोचर

१. क ल ग घ ङ निःस्पन्दी । २. अ आ इ मृदुचच्छ्वयनम् । ३. = समनम् । ४. श मञ्जि । ५. = व्याप्तम् । ६. = मुमोच । ७. आ लङ् ।

द्वाराप्रप्रथितामलारुणमणिज्योतिर्मिहस्वर्षिभि-  
 मिन्नाङ्गावयवः स्वभावमहता दीप्तो वपुस्तेजसा ।  
 घर्माशोरुदयाचलेन्द्रशिखराद्भ्युज्जिह्वासोः<sup>१</sup> श्रियं  
 भेजे भूमिपतिः स वासभवनाभिर्यजनानन्दितः ॥७६॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्कचन्द्रप्रबचरिते महाकाव्ये दशमः सर्गः ॥१०॥

अङ् । उपमा ॥७८॥ द्वारेति । उत्सर्पिभिः श्वापनशोलैः<sup>२</sup> । द्वाराप्रप्रथितामलारुणमणिज्योतिभिः द्वारस्यार्धं पुरोभाग, तत्र प्रथितानां<sup>३</sup> स्थापितानाम् अमलानां निर्मलानामरुणमणीनां पद्मरागमणीनां ज्योतिभिः किरणैः । मिन्नाङ्गावयवः मित्रो<sup>४</sup> विभिन्नित्रोऽङ्गस्य मात्रस्यावयवो यस्य सः । स्वभावमहता स्वभावेन<sup>५</sup> स्वरूपेण महता पृथुलेन । वपुस्तेजसा वपुषः शरीरस्य तेजसा कान्त्या । दीप्तः देदीप्यमानः । जगन्नन्दिनः<sup>६</sup> जगतो लोकस्य नन्दिनो मनोहरात् ( जगत् लोकं नन्दयतीत्येवं शीलम्, तस्मात्, मनोहरात्—इत्यर्थः ) । वासभवनात् गर्भागारात् । निर्यन् निर्गच्छन् । सः भूमिपतिः सार्वभौमः । उदयाचलेन्द्रशिखरात् उदयाचलेन्द्रस्योदयपर्वतस्य शिखरात् शृङ्गात् । अभ्युज्जिह्वासोः उदितुमिच्छोः । घर्माशोः सूर्यस्य । श्रियं संपदम् । भेजे भजतिस्म । भज<sup>७</sup> सेवामा लिट् ॥७९॥

इति वीरनन्दिकृतानुदयाङ्कचन्द्रप्रबचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च  
 विद्वम्भनोवल्लभाख्ये दशमः सर्गः ॥१०॥

हो रहो थो ॥७८॥ दरवाजेके अगले भागमें निर्मल पद्मरागमणि जड़े हुए थे, उनकी ऊपर फैलनेवाली प्रभासे राजा अजितसेनके शरीरके सारे अवयव बदल गये—लाल हो गये और वह स्वयं भी अपने स्वाभाविक अत्यधिक तेजसे देदीप्यमान हो रहा था अतएव लोगोंको आनन्द प्रदान करनेवाले अपने निवासके भवनसे निकलते समय अजितसेन उदयाचलके शिखरसे उदित होनेवाले सूर्यकी सुषमाको प्राप्तकर रहा था ॥७९॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्कचन्द्रप्रबचरित  
 महाकाव्यमे दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०॥

१. क ल ग च म 'दभ्युज्जिह्वासोः' । २. आ 'शोलैः' इति नास्ति । ३. = कक्षितानाम् । ४. वा 'वि' नास्ति । ५. = प्रकृत्या । ६. एष टीकाकृदभिमतः पाठः प्रतिपु तु 'जनानन्दितः' इत्येव समुपलभ्यते । ७. घ भजि । ८. आ वा चन्द्रोदयसूर्योदय वर्णनो नाम वक्ष्यः सर्गः ।

## [ ११. एकादशः सर्गः ]

अथ प्रवृद्धे दिवसे विशांपतिर्विधाय स स्नानपुरःसराः क्रियाः ।  
 गृहीतवस्त्राभरणोऽचिशिथ्रिये<sup>१</sup> सभागृहं कल्पितसिंहविष्टरम् ॥१॥  
 तमेत्य सर्वावसरव्यवस्थितं प्रधानदौवारिकसूचितागमाः ।  
 महीतलाशिलप्रशिखेन मौलिना नृपाः प्रणेतुः प्रणतैकवत्सलम् ॥२॥  
 ततः प्रतीहारकृतप्रवेशने यथायथं सम्भयजने व्यवस्थिते ।  
 विलोकयामास स सेवयागतं सभाजिरे राजगजं प्रजापतिः ॥३॥

श्रीमन्नतामरनरेन्द्रकिरीटकोटामाणिक्यसंभविलोसमरीचिकाभिः ।

आलीढपादयुगलजिनकुन्धुनार्यं नित्यं नमामि जिनराजविनूतपादम् ॥<sup>२</sup>

अथेति । अथ सूर्योदयानन्तरम् । दिवसे दिने । प्रवृद्धे सति एषिते सति<sup>३</sup> । स. विशांपति नरपतिः । स्नानपुरस्सरा. स्नानवेव पुरस्सरं पूर्वं यासा ताः । क्रियाः कार्याणि । विधाय कृत्वा । गृहीतवस्त्राभरणं गृहीतानि स्वीकृतानि<sup>४</sup> वस्त्राभरणानि येन स. । कल्पितसिंहविष्टरं कल्पितं विरचितं सिंहविष्टरं सिंहासनं यस्मिन् तत् । सभागृहम् आस्थानमण्डपम् । अचिशिथ्रिये आश्रयति<sup>५</sup> स्म । श्रिज्<sup>६</sup> सवाया लिट् ॥१॥ तस्मिति । प्रधानदौवारिकसूचितागमाः प्रधानेन मुख्येन दौवारिकेन सूचितो विज्ञापित आगम आगमन येषां ते । नृपाः भूमिपा । प्रणतैकवत्सलं प्रणतेषु एको मुखेण वत्सल<sup>७</sup> प्रीतिर्यस्य तम् । सर्वावसरव्यवस्थितं सर्वासं प्रज्ञानामवसरे<sup>८</sup> व्यवस्थितं स्थितम् । तं चक्रवर्तिनम् । एव्य आगत्य । महीतलाशिलप्रशिखेन महीतले भूतले आशिल्लटा संस्पृष्टा<sup>९</sup> शिवा अवभामो यस्य तेन । मौलिना मुकुटेन । प्रणेतुः प्रणमन्ति स्म । णम्<sup>१०</sup> प्रह्ल्वत्वे शब्दे लिट् ॥२॥ तन् इति । ततः पदवात् । प्रतीहार<sup>११</sup> कृतप्रवेशने प्रतीहारणं दौवारिकेण कृत प्रवेशनमन्तर्गमनं यस्य तस्मिन् । सम्भयजने मध्ये सभायोग्ये जने लोके । यथायथं मर्यादायानतिक्रम्य । व्यवस्थिते सति स्थिते मति । स. प्रजापतिः चक्रवर्त्ति । सेवया सेवानिमित्तम् । आगतम् आयातम् । राजगजं गन्ध-

इसके पदवात् दिन चढ़ते ही राजा अजितसेनने स्नान आदि क्रियाओंसे निवृत्त होकर वस्त्र और आभूषणोंको धारण किया । फिर वह सभा-भवनमें पहुँचा, जहाँ सिंहासन रखा हुआ था ॥१॥ वह आम सभाका भवन था । वहाँ सबको आनेका और बोलनेका भी अवसर दिया जाता था । इसीलिए उसका नाम सर्वावसर रखा गया था । चक्रवर्त्ती उस सभामें जाकर सिंहासनपर बैठ गया । फिर प्रमुख द्वारपालके द्वारा अपनी सूचना अन्ध भेजकर आगन्तुक राजाओंने विनम्र व्यक्तियोके एकमात्र स्नेही अजितसेनके पास जाकर उन्हें मस्तक नवाकर प्रणाम किया । प्रणाम करते समय उनके मुकुटका ऊपरी भाग भूमिका स्पर्श कर रहा था ॥२॥ इसके पदवात् द्वारपालकी सूचनाके अनुसार सभासदोंने प्रवेश किया, और वे वहाँ अपने-अपने योग्य स्थानपर बैठ गये । जब सभी लोग वहाँकी व्यवस्थाके अनुसार बैठ गये, राजा

१. क थ ग च 'चिशिथ्रिये' । २. आ द्यं पयं नोपलस्यते । ३. आ 'एषिते सति' इति नास्ति । ४. = परिचारितानि । ५. अ 'अचि' इति नास्ति । ६. अ आश्रयते । ७. अ श्रिज् । ८. = स्निग्धः । 'स्निग्धस्तु वत्सलः' वत्सोऽस्त्यस्य, वत्सलः, सिध्मादित्वाद् । इति ह्रैमः । ९. = अवसरोऽस्त यस्मिन्, तस्मिन्, सद्यसि-हर्यर्थः । १०. आ सखिल्लटा । ११. आ णम् । १२. आ श प्रतीहार ।

अनल्पसत्त्वं गुरुवंशशालिनं प्रलम्बहस्तं स्वमिवाधलोप्य तम् ।  
 मतङ्गजं क्रोडयितुं कुट्टिलाद्वृक्षवृक्षीरनरान्नराधिपः ॥४॥  
 तदाक्षयैकः समुपेत्य धोरधीर्जघान मुष्टया घनपोचरे करे ।  
 तमेति'यावत्स जघेन वृष्टतस्ततोद् तावद्वृक्षमारयापरः ॥५॥  
 निवृत्य<sup>१</sup> यावत्किल वृष्टवर्तिनं प्रतिप्रधावस्यतिकोपपीडितः ।  
 निपत्य तावन्निजलाघवात्परश्चकार पार्श्वे घनलोष्टताडनम् ॥६॥

हस्तिनम् । सभाजिरे सभाया आस्थानस्याजिरेऽङ्गणे । 'अङ्गणं चत्वारजिरे' इत्यमरः । विलोकयामास  
 बीलां चक्रे ॥३॥ अनक्षयेति । नराधिपः भूमिपालः । अनल्पसत्त्वं अनल्पं महत् सत्त्वं सामर्थ्यं यस्य तम् ।  
 गुरुवंशशालिनं गुरुणा महता वंशेन पृष्ठास्थना<sup>२</sup> ( पृष्ठास्थिना-इत्यर्थः ) शालिनं<sup>३</sup> शोभिनम्, पक्षे महाकुलेन  
 आसिनम् । 'बेणो वयं कुले<sup>४</sup> वंशः पृष्ठस्यावययेऽपि च ।' इत्यभिधानात् । प्रलम्बहस्तं प्रलम्बी दीर्घो हस्तः  
 शुण्डादण्डो यस्य तम्, पक्षे हस्तः पाणि यस्य तम् । स्वमिव आत्मानमिव । त मत्तङ्गजं मदगजम् । बललोच्य  
 बीक्ष्य । क्रोडयितुं क्रोडनाय । कुट्टिलात् कुतुकात् । वीरपुरुषान् । अच्युदत् अघ्रेयत् । बुद घ्रेणे लुड्<sup>५</sup> ॥४॥  
 तदाक्षयेति । तदाक्षया तस्याजितसेनस्याक्षया अनुक्षया । धोरधीः धोरा धीर ( -त्व ) गुणयुक्ता धीर्बुद्धि-  
 यस्य सः । एकः शूरभटः । समुपेत्य समीपं गत्वा । घनपोचरे घने कठिने<sup>६</sup> पोचरे स्थूले । करे शुण्डादण्डे ।  
 मुष्टया वज्रमुष्टया । जघान<sup>७</sup> हन्ति स्म । हन द्विसागत्योन्दि । सः गजः । जघेन क्षीघ्रम् । तं पुरुषम् ।  
 यावत् यावत्पर्यन्तम् । एति आयाति । तावत्, अपरः अन्यो भटः । वृष्टतः पश्चाद्भागं । आरया आरा-  
 दण्डेन<sup>८</sup> । भुगम् अत्यन्तम् । तुनोद वनाद्य । तुद<sup>९</sup> व्यधने लिट् ॥५॥ निवृत्येति<sup>१०</sup> । अतिकोपपीडितः<sup>११</sup>  
 अतिकोपेनाधिकक्रोधेन पीडितः<sup>१२</sup> प्रकाशितः<sup>१३</sup> सन् । निवृत्य बलिवा । वृष्टवर्तिनं पश्चाद्भागवतिनम् ।  
 पुरुषं प्रति, यावत् किल, प्रधावति लघु पलायते<sup>१४</sup> । सू गतो लट् । 'सर्वे वीरे वेगे' इति धाव-आदेशः ।  
 तावत्, परः अन्यः । पुरुष, निजलाघवात् निजस्य स्वस्य लाघवात् लघुत्वात् । निपत्य समीपे गत्वा । पार्श्वे  
 दक्ष ( दक्षिण ) पार्श्वे<sup>१५</sup> । घनलोष्टताडनं घनेन कठिनेन लोष्टेन ताडनं हननम् । चकार करोति स्म ।

अतितसेनने अपनी सेवाके निमित्तसे सभाके आँगनमें आये हुए एक गजराजको देखा ॥३॥  
 वह गजराज अजितसेन सरीखा था । अजितसेनमें बहुत अधिक बल था; वह महान्  
 वंशमे जन्मा था और उसके बाहु लम्बे थे । इसी प्रकार गजराज बहुत बलवान् था;  
 वह उभरी हुई रीढ़की हड्डीसे विभूषित था और उसकी सूँढ़ खूब लम्बी थी । उसे अपने ही  
 समान देखकर अजितसेनने कौतुकवश कुछ वीर पुरुषोंको उसके क्रोड़ा करनेके लिए प्रेरित  
 किया ॥४॥ राजाकी आज्ञा पाकर एक धीर बुद्धिवाले वीर पुरुषने पास जाकर उसकी कठोर  
 और पुष्ट सूँढ़पर मुक्केका प्रहार किया । हाथी बड़े वेगसे जबतक मुक्का मारनेवालेपर झपटने  
 ही वाला था, इतनेमें ही दूसरे वीरने उसे पीछेसे चमड़ा काटनेका औजार चुभा दिया, जिससे  
 उसे बड़ी व्यथा हुई ॥५॥ फिर क्या था, उसका क्रोध भड़क उठा । फलतः वह जबतक मुड़-  
 कर पीछेसे प्रहार करनेवालेकी ओर लपकनेको ही था कि तीसरे पुरुषने बड़ी फुर्तिसे कुछ आगे

१. अ तमेव । २. अ आ निवृत्य । ३. आ 'पृष्ठास्थो' इति नोपलभ्यते । ४. = शालते शोभते  
 इत्येवं शीलः, तम् । ५. श वगिकुले । ६. श लङ् । ७. आ 'कठिने' इति नोपलभ्यते । ८. = तताड ।  
 ९. आ आरया आरादण्डेन । = 'आरा चर्मप्रवेदिका' इति हैम । १०. श तुदि । ११. श व्यूषेति ।  
 १२. आ 'दापितः' । १३. आ बोपितः । १४. = 'प्रधावितः' इति ववेत् । १५. आ पलायति, अ पलायते ।  
 १६. आ पार्श्वे दक्षिणः पार्श्वे ।

विनीयमानो नृपशासनेन तैः कृतक्रियैरित्यमसौ मतकृजः ।  
 प्रधावितुं कंचिदशक्तमुद्धतः करेण जग्राह पुरः प्रसारिणा ॥७॥  
 प्रहागतं तं मद्मूढमानसो जनस्य हाहेति रवेण पश्यत ।  
 तथा समास्फालयति स्म भूतले यथा स सर्वांशयवैर्व्ययुज्यत ॥८॥  
 विलोक्य तं शारदमेघवत्क्षणाद्विलीनमङ्गेन च जीवितेन च ।  
 कृपाङ्गनालिङ्गिततुङ्गमानसो जगाम निर्वेदमिति क्षितिश्वरः ॥९॥  
 अहो नराणां भवगर्तवर्तिनामशाश्वतीं पश्यत जीवितस्थितिम् ।  
 ययातिदूरेण जिताः स्वबापलात्तद्विद्वितासाः शरदम्बुदैः समम् ॥१०॥

बुद्ध्वा करेण लिट् ॥६॥ विनीयमान इति । नृपशासनेन<sup>१</sup> नृपस्य चक्रिणः शासनेनाज्ञया । कृतक्रियैः कृता विहिता क्रिया अभ्यासो यैः, तैः । तैः भटैः । इत्यम् अनेन प्रकारेण । विनीयमानः बोध्यमाणः (शिष्यमाणः) । चञ्चलः प्रवृद्धकोपः । असौ मतङ्गजः मद्गजः । प्रधावितुं पलायितुम् । अशक्तं सामर्थ्यरहितम् । कञ्चित् कञ्चित्पुरुषम् । पुरःप्रसारिणा पुरःअग्रभागे प्रसारिणा प्रसरणशीलेन । करेण दाण्डादण्डेन । जग्राह गृह्णाति स्म । गृह्ण<sup>२</sup> उपादाने लिट् । ७॥ ग्रहेति । मद्मूढमानः सः मदेन मूढं मोहितं मानसं यस्य सः । सः मद्गजः । हाहेति हा हा इति । रवेण ध्वनिना । पश्यतः बोधमाणस्य । जनस्य लोकस्य हा हा इति पश्यः । बोधमाणस्य हा हा इति ध्वनि कुर्वन्तं पश्यन्तं जनमनादस्य उदासीनं कृत्वा (उपेक्ष्य) इत्यभिप्रायः । 'वष्टो बानादरे' इति वष्टो । ग्रहागतं ग्रहं वक्ष्यम् (ग्रहणम्) आगतम् आयातम् । 'ग्रहे ग्रहो वषा' इत्यमरः । (ग्रहः सूर्यादिनिबन्धोपरागेषु रणोद्यमे । ग्रहणं पूतनादौ च संहिकमेऽप्यनुग्रहे । विश्वलोचनकोशः) । तं पुरुषम् । यथा सर्वांशयवैः सर्वैः अशयवैः । व्ययुज्यत व्यभिद्यत । युज्वा<sup>३</sup> योगे कर्मणि लट् । तथा, भूतले महतीले । समास्फालयति स्म । आघातयति स्म । स्फाल<sup>४</sup> लट् । दृष्टान्तः (?) ॥८॥ विलोक्येति । शारदमेघः तं शारदः शरदि शरत्काले मद्यो जातः मेघवत् बारिवाहवत् (शरदि भवः शारदः म चासौ मेघो बारिवाहः तद्वत्) । अङ्गेन च शरीरेण । जीवितेन च जीवनेन । क्षणात् अल्पकालात् । विलीनं नष्टम् । तं पुरुषम् । विलोक्य बोध्य । कृपाङ्गनालिङ्गिततुङ्गमानसः कृपेव कारुण्यमेवाङ्गना वनिता तयालिङ्गितमादिलिष्टं तुङ्गमुन्नतं मानसं चित्तं यस्य सः । रूपकम् । क्षितिश्वरः सार्वभौमः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । जगाम ययौ । गम्लु गतौ लिट् ॥९॥ अहो इति । यया ससारस्थित्या । स्वबापलात् । निजबाप्कृत्यात् । शरदम्बुदैः शरदः

बहुकर उसकी बगलमें कठोर लोढ़ेका प्रहारकर दिया ॥६॥ इस तरह राजाके आदेशसे अभ्यास करनेवाले वीराके द्वारा उस हाथीको युद्धकी शिक्षा दी जा रही थी । इतनेमें, सयोगकी बात है, उस उद्धत हाथीके सामने एक ऐसा मनुष्य आ गया, जो दीड़नेमें असमर्थ था । फिर क्या था, हाथीने आगे सूड फैलाकर उसे पकड़ लिया ॥७॥ लोगोंमें हाहाकार मच गया । उनके देखते देखते हाथीने—जो बिलकुल मदान्ध था—पकड़में आये हुए उस मनुष्यको जमीनपर ऐसे ढगसे दे पटका कि उसके हाथ, पैर आदि सारे अङ्ग टूट-टूटकर अलग जा गिरे ॥८॥ शरत्कालके मेघकी तरह उसे क्षणभंग्मे ही शरीर और जीवनके साथ विलीन (मरते) होते देखकर कृपा रूपी अङ्गनाने राजा अजितसेनके उन्नत हृदयसे आलिङ्गन कर लिया—उस पुरुषको मृत्युके मुखमें जाते देखकर अजितसेनको दया आ गयी । फिर उसे वैराग्य हो गया । उस समय उसके मनमें इस प्रकारके वैराग्यके विचार उत्पन्न हुए ॥९॥ यह संसार बहुत बड़े गड़ढेके समान है । ओह इसमें पड़े हुए मनुष्यकी क्षणभङ्गुर जीवनकी अवस्थाको तो देखो !, जिसने अत्यन्त दूर

१. 'नृपशासनेन' इति टोकाङ्गसंमतः पाठः, प्रतिपु तु 'नृपशासनादरे' इत्येव पाठो दृश्यते । २. आ ग्रहः । ३. आ युज् । ४. आ स्फ लट् । ५. श तुङ्गम् उच्चम् ।

गदेन मुक्तोऽशनिना कटाक्ष्यते तदुज्जितः शस्त्रविषाग्निक्ण्टकैः ।

अनेकमृत्युद्भवसंकटे नरः कियद्वराकश्चिरमेव जीयतु ॥११॥

वपुर्धनं यौवनमायुरन्यदप्यशाश्वतं सर्वमिदं शरीरिणाम् ।

तथाप्ययं शाश्वतमेव मन्यते जनः प्रमोहः खलु कोऽप्ययं महान् ॥१२॥

इदं करोम्यद्य परहिनेष्विदं परार्थदृष्टं प्रविधेयमित्ययम् ।

अनेककलव्यशताकुलः पुमान् मृत्युमासन्नमपीक्षितुं क्षमः ॥१३॥

शरत्कालस्याभ्युदीर्घारिबाहूः । समं साहम् । तडिडिलासाः तडितः सोढामिन्याः विलासाः शोभाः । अतिदूरेण भूषां दूरेण विप्रकृष्टेन ( नितास्तम्-इत्यर्थः ) । जितः अजिभूताः । भववर्ततिनां भवः संसारः स एव गर्तोऽवटः तस्मिन् वर्तिनां विद्यमानानाम् । नाराणां मनुष्याणाम् । अशाश्वतोन्मत्तित्वम् । जीवितस्थितिं जीवनस्थितिम् । पश्यत बीक्षणम् । दृष्टुं प्रेक्षणं लोट् । शरन्मेघेभ्योऽपि विद्युद्विलासेभ्योऽपि ( च ) भवस्थितिरत्यन्तमनित्या इति भावः ॥१०॥ गदेनेति । गदेन रोगेण । मुक्तः त्यक्तः । अशनिना अशनिपातेन । कट क्षयै बाध्यते कटाक्ष इति सुस्वातोः कर्मणि लट् । तदुज्जितः तस्यां रोगाशनिभ्यामुज्जितो रजितः । शस्त्रविषाग्निक्ण्टकैः शस्त्रेण आयुधेन विषेण गरलेन अग्निना बह्विना कण्टकैः इव ( कण्टकैः क्षुद्रशत्रुभिश्च ) । अनेकमृत्युद्भवसंकटे अनेकैर्बहुभिः मृत्युद्भवैः मरणोत्पत्तिभिः ( मरणोत्पत्तिहेतुभिः—इति यावत् ) संकटे विपत्तिमुच्यते ( शशाते वा ) । संसारे । वराकः ( दोनः ), 'वराको नामवर्जितः' इत्यभिधानात् । कः दोनः । एषः अयम् । नर मनुष्यः । कियत् कियत्यर्थम् । 'वर्तिवद किम्' इति घटुः । किमिदमः कीध्वं इति किः आदेशः । चिरं स्थिरम् । जीवतु प्राणान् धारयतु । चिरजीवनं नास्ति—इत्यभिप्रायः ॥११॥ वपुर्निति । शरीरिणा प्राणिनाम् । वपुः शरीरम् । धन इवम् । यौवनं तरुण्यम् । आयु आयुष्यम् । अन्यदपि धान्याद्यपि । इदम् एतत् । सर्वं सकलम् । अशाश्वतम् अन्तित्यर्कं भवति । तथापि अशाश्वतमपि । अयम् एषः जनः लोकः । शाश्वतमेव नित्यमिति । मन्यते व्रज्यते । 'मनि ज्ञाने लट् । अयम् एषः । कोऽपि कश्चित् । महान् बलवान् । मोहः खलु अज्ञानं खलु ॥१२॥ इदमेति । अद्य इदानीम् । इदम् एतत् । करोमि विद्यमि । दुकुञ् करणे लोट् । परहिने तु आगामिदिबसे । इदम् एतत् करोमि । परारि प्राणामिदिने ( परश्चः ) 'परस्परारि—' इति निपातनम् ( वस्तुतस्तु पूर्वस्मिन् सवत्सरे पश्य, पूर्वतरे सवत्सरे परारि—इति व्याख्या भवेत्, किन्तु ग्रन्थकृता स्वयं 'परहिने' इति लिखितम्, अतो व्याख्याकृतापि तदनुसारं व्याख्या कृता । अन्ये वीरनगिना लक्षणया 'परहिने' इति व्यलेखि । ) अदः इदम् । प्रविध्यं करणीयम् । इति ( इत्यम् ) । अनेककलव्यशताकुलः

रहकर भी शरत्कालके मेघोंको और उनके साथ चपलाके विलासको भी अपनी चपलतासे पराजितकर दिया है—मानवका जीवन, शरत्कालीन मेघों और बिजुलीके विलाससे भी कहीं अधिक अस्थिर है ॥१०॥ यह मनुष्य यदि रोगसे बच जाता है तो वज्र या बिजुलीका शिकार हो जाता है, और यदि किसी तरह रोग, वज्र या बिजुलीसे बच भी गया तो शस्त्र, विष, अग्नि और शुद्र शत्रुओंके रहते नाना तरहके मौतके कारणोंका संकट हर समय बना ही रहता है । ऐसी अवस्थामें वेचारा यह मनुष्य जी भी कितना सकता है ? ॥११॥ मनुष्योंका यह शरीर, धन, यौवन, आयु एव और भी संसारको सभी वस्तुएँ बिनश्वर हैं । तो भी यह मनुष्य इन सभी वस्तुओंको अनिश्वर ही मानता है । निश्चय ही यह एक बड़ा भारी अद्भुत अज्ञान है ॥१२॥ यह काम आज करता हूँ, यह कल कहूँगा और फिर यह परसों करने योग्य है, अतः परसों कहूँगा, इस तरह नाना प्रकारके सेकड़ों कार्योंमें व्यस्त होकर यह मनुष्य निकटमें आयी हुई

१. क ख ग घ म जोषति । २. आ इ 'पीक्षितं' । ३. आ दुश्चि । ४. बा लेट् । ५. आ 'तानित्या' ।

६. बा 'बाध्यते' इति नोपलभ्यते । ७. बा बुधि मनि । ८. आ 'दिने' । ९. बा प्राणादिदिने ।



बिभेति पापान् सतामसंमतान् न मन्यते दुर्गतिदुःखमुद्धतम् ।

विलोभ्यमानो विषयामिवाशया करोत्यकर्तव्यशतानि मानवः ॥१४॥

मदान्धकान्तानयनान्तचञ्चलाः सदा सहन्ते न सदासितुं श्रियः ।

ज्वलज्जरावज्जहविर्भुजो जये कियच्चिरं स्थास्यति यौवनं वनम् ॥१५॥

क्रियावसाने चिरसैर्मुक्ताप्रियैः स्वयं विहास्यैर्विषयैर्विनाशिमिः ।

विलेख्यते कालमरीचिमालिनः करैर्हतं हा हिमसंनिभं वपुः ॥१६॥

अनेकेषां कर्तव्याणां कार्याणां शतेन बहुना ( बाहुल्येन ) आकुलो व्याकुलः । अयम् एषः । पुमान् पुरुषः । आसन्नमपि समीपमागतमपि । मृत्युं मरणम् । ईक्षितुं वीक्षणाया । न क्षम न समर्थो भवति ॥१३॥ बिभे-  
तोति । विषयामिवाशया विषयाणां पञ्चेन्द्रियगोचरणामामिषस्य स्शोकारस्थाशया अमिलापेण । विलोभ्य-  
मानः विमुच्य ( ह्य ) मानः । मानवः मनुष्यः । सता सत्पुरुषाणाम् । असंमतात् अनभ्युपगमात् । पापात्  
दुरितात् । न बिभेति भयं न याति । जिमी भये लट् । उद्धतं प्रवृद्धम् । दुर्गतिदुःखं दुर्गतीनां नरकादिदुर्गतीनां  
दुःखं कष्टम् । न मन्यते न जानाति । बुधि मनि जावे लट् । अकर्तव्यशतानि अकर्तव्यानां शतानि अनेकानि  
( नाना अकर्तव्यानि-इत्यर्थः ) । करोति विदधाति । आक्षेपः (?) ॥१४॥ भवेति । मदान्धकान्तानयनान्त-  
चञ्चलाः भवेन अन्धः ( अन्धानां ) कान्तानां वनितानां नयनानां नेत्राणाम् अन्त इव अवसानम् ( कटाक्ष- )  
इव चञ्चला भृश चलनरूपाः । श्रियः सम्पदः । सदा सर्वदा । सह साकम् । आसितुं स्थातुम् । न सहन्ते  
समर्थो न भवन्ति । ज्वलज्जरावज्जहविर्भुजः ज्वलन् जरैव बाह्यैश्चरमेव वज्जहविर्भुजः ( वज्जहविर्भुक् वज्जभिः,  
तस्य ) । जये विजये सति ( जय विषये, जयाय-इत्यर्थः ) । यौवनं तारुण्यम् । वनं काननम् । कियच्चिरं  
कियत् चिरम् ( कियत् काल तावत् ) । स्थास्यति । उपमा ॥१५॥ क्रियेति । मुक्ताप्रियैः मुक्ते प्रथमे ( अनु-  
भवाद्वा ) प्रियैः प्रीतिरूपैः ( आरातमधुरैः ) । क्रियावसाने क्रियाया अनुभवस्यावसाने पर्यन्तम् । विरस्यैः  
( विरसै ) अप्रियैः । विनाशिमिः विनाशशोलैः । विषयैः पञ्चेन्द्रियविषयैः । स्वयम् अहम् ( स्वतः  
एव ) । विहास्यैः विरहियैः ( विहास्यैः त्याज्यैः ) । हिमसंनिभं हिमस्य सन्निभं समानम् । वपुः शरीरम् ।  
कालमरीचिमालिनः काल एव यम एव मरीचिमाली मूर्त्यरूपः तस्य । रूपकम् । करैः किरणैः । हत

भो मृत्युको देवनेके लिए असमर्थ रहा करता है—(किरण्यामि किरण्यामि किरण्यामोति  
चिन्तया । मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामोति विस्मृतम्) ॥१३॥ यह मनुष्य, सन्त पुरुषोके  
द्वारा निषिद्ध पापसे नहीं डरता और नरक आदि खोटी गतियोंके बड़े-बड़े असह्य दुःखोंको नहीं  
मानता, किन्तु पाँच इन्द्रियोंके विषयके लोभमे फँसकर सैकड़ों ऐसे-ऐसे काम करता रहता है,  
जो कभी नहीं करने चाहिएँ ॥१४॥ लक्ष्मी मतवाली नायिकाके कटाक्षोंकी भाँति चंचल है ।  
यह किसोके साथ सदा नहीं रह सकती । बुढ़ापा प्रज्वलित वज्जग्निके समान है । जब मनुष्य  
उसके चंगुलमे फँस जाता है, तब यौवन रूपी वन उसके सामने कितनी देर टिका रह सकता  
है ?—जिस प्रकार वज्जग्निके प्रज्वलित होते ही सारा जंगल भस्म हो जाता है, इसी प्रकार  
जराके आते ही यौवन नष्ट हो जाता है ॥१५॥ इन्द्रियोंके विषय प्रारम्भमे प्रिय, भोगनेके  
पश्चात् अप्रिय और विनश्वर हैं । ये स्वयं ही मुझे छोड़ देने । यह शरीर बर्फके समान है ।  
जिस प्रकार बर्फ सूर्यकी किरणोंसे पिघलकर नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार शरीर भी कालके

१. अ कारावसानेवरसैः । २. आ 'स्य बाह्यया अभि' । ३. श आत्विषुं । ४. आ मरीचि-  
मालिनः सूर्यस्य ।

शनैर्विहास्यन्ति गतश्चियं न मां न बान्धवा बन्धनमिदुदयः ।  
 फलप्रसूनप्रलये हि कोकिला भवन्ति चूतावनिजं जिहासवः ॥१७॥  
 प्रपित्सु संपक्वफलोपमान्वितं जगत्यहो जीवितमत्र जीविनाम् ।  
 विलीयमाना निचयाः क्षणक्षयाः शुभाशुभं नन्दुमनीश्वरं परम् ॥१८॥  
 कषायसारेन्धनबद्धपद्धतिर्भवाग्निरुत्तुङ्गतरः समुत्थितः ।  
 न शान्तिमायाति भृशं परिज्वलन् यद्ययं ज्ञानजलैर्निषिध्यते ॥१९॥  
 दुरात्मकादेव भवाद् भयंकराद् भवन्त्यनर्था वधबन्धनादयः ।  
 न ते स्युरुत्थाततलः स चेद् भवेदहेतुकाः क्वापि न कार्यसंपदः ॥२०॥

नष्ट सत् । विलेख्यते<sup>१</sup> जीर्ण<sup>२</sup> ( जीर्णत्वम् ) नेष्यते । [ हा हन्त ] । कीङ् बलेषणे ॥१६॥ शनैरिति ।  
 बद्धधनद्विबुद्धयः धनं द्वयं तच्च ऋद्धिरैवयं सा च बुद्धिषिषणा सा च तपोक्ताः, बद्धाः कृता  
 धनद्विबुद्धयो येषां ( यैः ) ते । बान्धवाः ज्ञातयः<sup>३</sup> । यतश्चियं गता रहिता ( नष्टा ) श्रौः सम्पद् यस्य तम्,  
 ऐश्वर्यरहितम् इत्यर्थः । मा मा । शनैः मन्दं मन्दम् । न विहास्यन्ति न त्यजन्ति ( इति ) न<sup>४</sup>, किन्तु  
 त्यजन्त्येव । द्वौ नवौ प्रकृतमयं द्योतयतः । फलप्रसूनप्रलये फलानां पक्वत्वात् प्रसूनानां कुसुमानां<sup>५</sup> प्रलये  
 रद्धिरे ( अवसाने ) सति । कोकिलाः पिकाः । चूतावनिजम् आश्रयस्थम् । जिहासवः त्यक्तुमिच्छवः । भवन्ति  
 हि । अर्थान्तरन्यासः ( प्रतिवस्तुपथा ) ॥१७॥ प्रपित्सवति । अत्र जगति लोके । जीवानां प्राणिनाम् ।  
 जीवितं जीवनम् । प्रपित्सुसंपक्वफलोपमान्वितं प्रपित्सूना पतनशीलानां संपक्वत्वात् संपूर्णपरिणतानां  
 फलानामुपमयान्वितं युक्तम् । स्यात् । विलीयमानाः आश्रय ( श्रि ) यमाणाः । निचयाः परिग्रहाः । क्षणक्षयाः  
 क्षणैरल्पकाले क्षयो नाशो येषां ते । स्युः । शुभाशुभं पुण्यपापकर्म । नन्दुं<sup>६</sup> नाशनाश । परं केवलम् ।  
 अनीश्वरं स्यात् असमर्थं स्यात् । जातिः ॥१८॥ कषायेति । कषायसारेन्धनबद्धपद्धतिः कषायाः क्रोधादयस्त  
 एव साराणि बलिष्ठानि इन्धनानि काष्ठानि तैर्बद्धा पद्धतिं यानां यस्य सः । उत्तुङ्गतरः उन्नततरः । समुत्थितः  
 उत्तानः । परिज्वलन् परितो ज्वलन् । अयम् एषः । भवाग्निः संसाराग्निः । ज्ञानजलैः ज्ञानाम्येव जलानि तैः ।  
 यदि न निषिध्यते सेवनं न करिष्यते ( नोदयते ) । भृशम् अत्यन्तम् । शान्तिं शमम् । न आयाति नागच्छति ।  
 या प्रापणे लट् । रूपकम् ॥१९॥ दुरात्मेति । दुरात्मकात् दुष्टस्वभावयुक्तात् । भयंकरात् भीतिकरात् ।

सम्पक्वंसे घुल-घुलकर नष्ट हो जाता है ॥१६॥ धन-सम्पत्तिके इच्छुक बन्धु लोग लक्ष्मीके चले  
 जानेपर धीरे-धीरे मुझे नहीं छोड़ देंगे, यह बात नहीं है—जब तक मेरे पास धन है तभी तक  
 बन्धु-बान्धव साथ देंगे, पर जब धन चला जायगा, मैं निर्धन हो जाऊँगा, तब धीरे-धीरे सभी  
 लोग किनाराकसी करने लगेंगे । जब फल-फूल विलीन हो जाते हैं, तब कोकिल आमके पेड़को  
 छोड़ देनेके लिए उत्सुक हो जाते हैं ॥१७॥ जगत्में जीवोंका जीवन गिरनेवाले पके फलके समान  
 है । ओह यह कितने खेदकी बात है ! संचित्त चेतन और अचेतन परिग्रह भी क्षणभंगुर है ।  
 केवल शुभ और अशुभ कर्म ही ऐसे हैं, जो बिना फल दिये नष्ट नहीं हो सकते ॥१८॥ क्रोध  
 आदि कषाय रूपी ठोस ईधनसे जिसका चारों ओरका मार्ग तैयार कर दिया गया है; जो ऊपर  
 उठकर बहुत ऊँचाई तक पहुँच गया है और जो खूब प्रज्वलित हो रहा है, इसके ऊपर यदि  
 ज्ञान जलका सिंचन न किया जाये तो वह संसार रूपी अग्नि कभी शान्त ही न हो  
 ॥१९॥ यह संसार दुष्ट स्वभाववाला है, और भयंकर है । इसीसे वध और बन्धन आदि  
 अनर्थ हुआ करते हैं । यदि संसारका मूल आधार ( राग ) उखाड़ दिया जाय तो वध बन्धन

१. क ल य ष च नष्टुं । २. क विलेख्यते । ३. आ मित्रं । ४. श वातवः । ५. श नेति न ।

६. क 'कुसुमानां' इति नास्ति । ७. क नष्टुं ।

नरो विषयचेत सरागतां गतो न कर्मभिस्तद्विपरीतभावनः ।  
 निरन्तरं मुञ्चति वारि वारिदे विगाहितुं धूलिरलं हि नाम्बरम् ॥२१॥  
 चराचरे नास्ति जगत्यभोजि यन्न जन्तुभिर्जन्मपयोधिमध्यगैः ।  
 किमेव लोको विषयान्धलोचनः पराङ्मुखो नश्यति मोक्षसाधनात् ॥२२॥  
 दुरन्तभोगाभिमुखां निवर्तयेन्न शेमुषी यः सुखलेशलोभितः ।  
 कथं करिष्यत्युपरुद्धिमागतामिमां स जन्मव्रतति विनाशिनीम् ॥२३॥

भवादेव संसारादेव । अनयाः अपायरूपाः । वषबन्धनादयः वधस्ताडनं बन्धो बन्धनं तौ आदौ ( आदौ )  
 येषां ते । सः संसारः । उत्खाततलः उत्खातं तलं यस्य सः भवेच्छेत् यदि स्यात् । भू सत्ताया लिङ् ।  
 ते वषबन्धनादयः । न स्युः न भवेयुः । क्वापि कुत्रापि । कार्यसंपदः कार्यसमुद्भयः ( कार्याणीत्यर्थः ) ।  
 अहेतुकाः कारणरहिताः । न स्युः । अस भुवि लिङ्<sup>३</sup> । अवन्तरन्यासः ॥२०॥ नर इति । सरागताम्  
 अभिलाषवत्त्वम् । गतः यातः । नरः मनुष्यः । कर्मभिः शुभाशुभभेदकर्मभिः । विषयचेत नह्येत । बधि बन्धने  
 कर्मणि लिङ् । तद्विपरीतभावनः तस्मात् सरागपरिणामाद् विपरीता विरागरूपा भावना यस्य सः । न<sup>४</sup>  
 कर्मभिः—(ज्ञानावरणादिकर्मभिः) न बध्येत । वारिषेः समुद्रस्य [वारिदे मेघे] वारि जले (जलम्) । निरन्तरं  
 निबिडम् । मुञ्चति सति त्यजति सति । धूलिः रजः । अम्बरम् आकाशम् । विगाहितुं लङ्घितुम् । नालं समर्थं  
 न भवति हि । अवन्तरन्यासः ॥२१॥ चरेति । चराचरे चरा जङ्गमा अचराः स्थावरा यस्मिन् तस्मिन् ।  
 जगति लोके । जन्मपयोधिमध्ये जन्मैव पयोधिः समुद्रः तस्य मध्यगैर्मध्यं गतं । जन्तुभिः प्राणिभिः ।  
 यत् वस्तु । न अभोजि नाभुज्यते<sup>५</sup> । भुज पालनाभ्यवहारयोः कर्मणि लुङ् । तद् वस्तु । नास्ति न विद्यते ।  
 विषयान्धलोचनः विषयैरन्ध्रे लोचने यस्य सः । एषः अयम् । लोकः जनः । मोक्षसाधनात् मोक्षस्य साधनाद्  
 रत्नत्रयात् । पराङ्मुखः सन् विमुखः सन् । किं किकारणम् । नश्यति । आक्षेपः ( ? ) ॥२२॥  
 दुरन्तेति । यः सुखलेशलोभितः ( सुखलेशो ) अल्पे-स्तोके सुखे लोभितः प्रीतः<sup>६</sup> ( मोहितः ) । 'पोटा-  
 युवतिः—' इत्यादिना समासः । दुरन्तभोगाभिमुखात्<sup>७</sup> दुरन्तेषु दुःखावसानेषु भोगेषु पञ्चेन्द्रियभोगेषु  
 अभिमुखाद् आसंजनात् ( दुरन्तभोगाभिमुखां दुरन्तेषु दुष्टपरिणामेषु भोगेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु अभिमुखा-  
 मासक्त्याम् ) । शेमुषी बुद्धिम् । न निवर्तयेत् न निराकुर्वत्<sup>८</sup> । सः जीवः । उपरुद्धि प्रवृद्धिम् । आगताम्  
 आयाताम् । इमाम् एताम् । जन्मव्रतति<sup>९</sup> जन्म संसारः तदेव व्रततिलसा<sup>१०</sup> ताम् । विनाशिनी विनाश-

आदि भी नहीं होंगे । बिना कारणके कार्य कही भी नहीं होता ॥२०॥ रागी मनुष्यको ही कर्म-  
 बन्धन हो सकता है, पर जिसकी भावना रागसे रहित-वीतराग है, उसे कर्म-बन्धन नहीं  
 हो सकता । यदि मेघ लगातार पानी बरसाता रहे, तो आकाशमे धूलि नहीं उड़ सकती ॥२१॥  
 इस जंगम और स्थावर जगत्में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे संसार समुद्रके बीचमे पड़े हुए  
 जौबोने न भोगा हो । जब भोगने योग्य वस्तु नहीं रही तो फिर क्या कारण है जो मनुष्य  
 विषयोंमें अन्धा हो रहा है और सम्यग्दर्शन आदि मुक्तिके साधनोंसे पराङ्मुख होकर दुःखी  
 हो रहा है ॥२२॥ जो जरासे विषयसुखके लोभमें फँसकर अन्तमें दुःख देनेवाले भोगोंकी ओर  
 जाती हुई अपनी बुद्धिको नहीं लौटाता, वह खूब बढनेवाली संसार रूपी लताको कैसे नष्ट कर

१. क ख ग म रूपयति । २. क्ष लेट् । ३. श लेट् । ४. आ स । ५. श न भुजते । ६. क्ष 'प्रीतः' इति  
 नास्ति । ७. एष टीकाकृत्वममतः पाठः, प्रतिषु तु 'दुरन्तभोगाभिमुखा' इत्येव पाठो दृश्यते । ८. = न  
 निवारयेत् । ९. आ प्रति । १०. आ प्रततिः ।

मनुष्यजन्मेदमवाप्य दुर्लभं तृयात्कथंविष्मलिनस्य कर्मणः ।  
 भवाम्बुराशौ पुनरापदां पदे पतन्ति ते ये न हिते विजाप्रति ॥२४॥  
 यदीदमागन्तुकुदुःखकारणं प्रशस्यते संसृतिस्तौद्यमलकैः ।  
 तदा प्रशंसापदमेतदप्यहो विषान्वितस्यास्तु गुडस्य भक्षणम् ॥२५॥  
 निहत्य नूनं शमखङ्गधारया निबन्धकानद्य कषायविद्विषः ।  
 वरीतुमिच्छोर्मम सिद्धिकामिनीं निबन्धुमीष्टे<sup>१</sup> जगतीह कः परः ॥२६॥  
 समुद्रतान्पापरिपून्हनिष्यतो वशं स्वकर्मप्रकृतीश्च नेष्यतः ।  
 तपोवनं प्राप्तवतोऽप्यखण्डितं तदेव राज्यं मम सिद्धिभागिनः ॥२७॥

युक्तम् । कथं केन प्रकारेण । करिष्यति विधास्यति । दुःखं करणे लृट् । रूपकम् ॥२३॥ मनुष्येति । कथं चित् केनचित् प्रकारेण । मलिनस्य मलमस्य कष्टरूपस्य<sup>२</sup> इत्यर्थः । कर्मणः शुभाशुभरूपस्य<sup>३</sup> । क्षयात् नाप्तात् । दुर्लभं दुष्प्रापम् । इदं मनुष्यजन्म मनुष्यभवम् । अवाप्य लब्ध्वा । ये पुरुषाः । हिते मोक्षकारणे । न विजाप्रति<sup>४</sup> न विजागरिणो भवन्ति । ते पुरुषाः । पुनः परचात् । आपदाम् आपत्तीनाम् । पदे स्थाने । भवाम्बुराशौ भव एव संसार एव अम्बुराशिः समुद्रः, तस्मिन् । पतन्ति मज्जन्ति । पतन् गतो लृट् । रूपकम् ॥२४॥ यदिति । आगन्तुकुदुःखकारणम् आगन्तुकस्य भविष्यतो दुःखस्य कारणं निमित्तम् । संसृतिस्तौक्ष्यं संसृतेः संसारस्य तौक्ष्यं सुखम् । अजैः अज्ञानजनेः । यदि प्रशस्यते प्रस्तुयते । तदा तर्हि । प्रशंसापदं प्रशंसायाः पदं स्थानम् । एतदपि इदम् ( अपि स्यात् ) — । विषान्वितस्य विषेण वरलेन अन्वितस्य युक्तस्य । गुडस्य शर्करायाः । भक्षणं सेवनम् । अहो । ( सविषस्य गुडस्य भक्षणमिव संसृतिमुखं न प्रशस्यते—इति भावः ) । आक्षेपः (?) ॥२५॥ निहत्येति । विबन्धकान् प्रतिबन्धकान् । कषायविद्विषः कषाया एव क्रोधमानादय एव विद्विषः शत्रवः, तान् । समखङ्गधारया शम एव रागद्वेषनिवृत्तिपरिणाम एव खङ्गधारा प्रहरणधारा तथा । नूनं निश्चयेन । निहत्य सभियं<sup>५</sup> । अद्य इदानीम् । सिद्धिकामिनीं सिद्धिरेव मोक्ष एव कामिनी वनिता ताम् । वरीतुं परिणेतुम् । इच्छोः<sup>६</sup> वाञ्छितस्य । मम मे । इह जगति अस्मिन् लोके । निबन्धुं निरोद्धुम् । परः अन्य । कः को वा । ईष्टे समर्थो भवति, न कोऽपि इत्यर्थः । रूपकम् ॥२६॥ समुद्रतानिति । समुद्रतान् गवितान् । पापरिपून् पापान्मेव रिपवः शत्रवः, तान् । हनिष्यतः<sup>७</sup> हिसिष्यतः । स्वकर्मप्रकृतीः स्वस्यात्मनः

सकेगा ? ॥२३॥ अशुभ कर्मके क्षयसे, बड़ी कठिनाईसे इस दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर जो लोग अपने हितकी ओर जागरूक नहीं रहते, वे आपत्तियोंके घर स्वरूप संसार सागरमें फिर जा गिरते हैं ॥२४॥ यह सांसारिक सुख भावी दुःखोंका कारण है, फिर भी मूर्ख लोग यदि इसकी प्रशंसा करें, तो विष मिले हुए गुडका भक्षण भी प्रशंसनीय होना चाहिए ॥२५॥ अब मैं क्रोधादि कषाय रूपी रोड़ा अटकानेवाले शत्रुओंको निश्चय ही समता रूपी खड्गकी धारासे नष्ट करके मुक्ति-कान्ताका वरण करना चाहता हूँ । इस संसारमें फिर अन्य कौन शत्रु है, जो मुझे रोक सके ? ॥२६॥ जिस प्रकार मैं यहाँ रहकर उद्वण्ड शत्रुओंको मारता रहा, अपने कर्म-चारियों और प्रजाजनोको अपने अधीन रखता रहा और मन, वचन और दैवी सिद्धिको प्राप्त करता रहा । इस तरह अखण्ड साम्राज्यका स्वामी रहा । इसी तरह तपोवनमें जाकर भी मैं अखण्ड साम्राज्यका स्वामी बना रहूँगा । वहाँ जाकर मैं उद्वत पाप रूपी शत्रुओंका हनन करूँगा— सभी पापोंका परित्याग कर दूँगा । चंचल मन वचन और कायकी प्रकृतिको अपने वशमें

१. आ इ विबन्धुं । २. = कष्टकरस्य । ३. = अष्टविधकर्मणः । ४. = दत्तावधाना न भवन्ति ।

५. = गुडति रसतीति गुडः—इक्षुरसस्वाद्यः, तस्य । 'गुड इक्षुरसस्वाद्य.' इति हैमः । ६. आ संक्षिप्त ।

७. = वाञ्छितकस्य । ८. = नाशयतो निवारयतो वा ।

त्वमेव भोगामिषलोभ्यलोकयः कर्द्धनीश्वित् चिरं चतुर्गतीः ।  
 प्रशान्तिमायाहि ममाधुनापि कं करिष्यसि क्लेशमतः परं परम् ॥२८॥  
 विवेकिनो जन्मविपत्तिभीरवो निरापदां संपदि बद्धचेतसः ।  
 मयीन्द्रियाणीकजये यदीशते न मद्भिष्ठाः सिद्धिधूरभर्तृकाः ॥२९॥  
 निवर्तितात्मा विषयेभ्य इत्यसौ पुनर्भविष्यद्भवभारभीलुकः ।  
 चकार चित्तं चतुरस्तपोवने हितात्त योऽपैति स एव पश्यदतः ॥३०॥

कर्मणा मनोवशकायव्यापाराणां प्रकृतौः स्वभावान्, पक्षे चतुरङ्गसेनामात्मादिप्रकृतौदव । वशम् अधीनम् ।  
 नेष्यतः यास्यतः । तपोवने प्राप्तवतो गतवतोऽपि । सिद्धिभागिनः सिद्धिमात्मीयलब्धि भागिनः आश्रयशीलस्य ।  
 मम मे । तदेव, अश्विहित<sup>१</sup> निष्कण्टकम् । राज्यम्<sup>२</sup> । रूपकम् ॥२७॥ त्वमिति<sup>३</sup> । वित्तं भो मानस । भोगा-  
 मिषलोभि भोगेषु पञ्चबेन्द्रियविषयेषु आमिषेण आसक्त्या लोभि वाञ्छासहितम् । कदचिनीः कद् कुतिसितोऽर्थः  
 प्रयोजनमस्वासातिमित तपोवताः । '.....'— इत्यादिना समासः । 'कोः कदचि' इति कुशब्दस्य कद्  
 आदेशः । चतुर्गतीः चतस्रश्च ता गतयश्च ताः । चिर बहुकाशपयन्तम् । [त्वम्] अवलोकयः अवदश्यः । अत  
 एव तस्मात् कारणात् । परं परम् उत्कृष्टम् । 'योप्तायाम्' इति<sup>४</sup> द्विः । कं क्लेशं<sup>५</sup> श्रमम् । करिष्यसि  
 निषास्यसि । अधुनापि इदानीमपि । प्रशान्तिम् उपशमम् । आयाहि आगच्छ । या प्रापणे लोड्<sup>६</sup> ॥२८॥  
 विवेकिन इति । जन्मविपत्तिभीरवः जन्म जननं विपत्तिमरणं ताम्बा भीरवः—विषयतात्प्रेवशोलाः  
 भयशोलाः—इत्यर्थः 'भ्यः कु—' इत्यादिना कु-प्रत्ययः । विवेकिनः हेयोपाधेयविवेकयुक्ताः । निरापदाम् ।  
 आपद्ग्रहितानां सिद्धानाम्—इत्यर्थः<sup>७</sup> । संपदि संपत्तौ । बद्धचेतसः बद्धं संबद्धं चेतश्चित्तं येषां ते ।  
 मद्भिष्ठाः मम सद्भाः । इन्द्रियाणीकजये इन्द्रियाणां पञ्चबेन्द्रियाणामनीकस्य जयेऽपि विजयेऽपि । नेशते समर्था  
 न भवन्ति । ( तत् ) सिद्धिबधूः । मोक्षवनिता । अनर्तुका पतिरहिता भवति । मम समान ( ना ) सत्पुरुषा  
 इन्द्रियजये कृतयत्ना न भवन्ति चेद् मोक्षस्य गन्तारो न सन्ति तस्मान्मोक्षवनितायाः पतिरहितत्वम्—  
 इत्यर्थः ॥२९॥ निवर्तितेति । विषयेभ्यः । पञ्चबेन्द्रियविषयेभ्यः । इति एषं प्रकारेण । निवर्तितात्मा निवर्तितो  
 निवारित आत्मा स्वरूपं यस्य सः । चतुरः प्रोढः । असी जीवः । पुनः पश्चात् । भविष्यद्भवभारभीलुकः  
 भविष्यत एष्यतो भवस्य संसारस्य भाराद् भीलुको जिमेतीत्येवंशीलः । 'भ्यः कु—' इत्यादिना क्लुक-प्रत्ययः ।  
 तपोवने तपोऽनुष्ठाने । चित्तं मानसम् । चकार करोति स्म । यः पुरुषः । हितात् सन्नापत् । नापैति

करुणा । ज्ञानावरणादि कर्मोकी प्रकृतियोंको अपने अधीन बनाऊँगा । आत्माके शुद्ध स्वरूपकी  
 सिद्धि प्राप्त करूँगा । इस प्रकार घरकी तरह तपोवन भी मुझे सुखदायी सिद्ध होगा ॥२७॥  
 रे मन ! भोगोंकी आसक्तिमें फँसकर तूने दुःख देनेवाली चारो गतियोंको चिरकाल तक देखा  
 है । तू अब भी शान्त हो जा । मेरे लिए इससे भी बढ़कर और कौन सा क्लेश उत्पन्न करेगा ?  
 ॥२८॥ हेय और उपादेयको जाननेवाले, जन्म और जरासे डरनेवाले और हृदयसे मुक्त जीवो-  
 की रत्नत्रय रूप सम्पत्तिको चाहनेवाले मुझ जैसे लोग भी यदि इन्द्रियोंकी सेनाको जीतनेमें  
 समर्थ नहीं होसकते तो कहना चाहिए कि भुक्ति कन्या कुंवारी हो रह जायगी ॥२९॥ इस  
 तरह अज्ञितसेनका मन विषयोंसे विमुख हो गया और उसे भावो जन्मपरम्परा बोझ मालूम पड़ने  
 लगी । फलतः वह उससे डरने लगा । फिर उस चतुर चक्रवर्तीने तपोवन जानेका विचार कर  
 लिया । यह उसने ठीक ही किया; क्योंकि जो हितके मार्गसे दूर नहीं भागता वही पण्डित

१. आ इ कि । २. = अधीनताम् । ३. = नयतः । ४. = सकलम् । ५. = संपत्स्यते, इतिशेषः ।  
 ६. वा तमिति । ७. वा 'कद्' इति नास्ति । ८. वा 'इति' इति नोपलभ्यते । ९. = पोडाम् । १०. वा क्लिद् ।  
 ११. वा 'सिद्धानाम्—इत्यर्थः' इति नास्ति ।

विहर्तुमत्रावसरे समागतं महीपतिभूरिगुणं गुणप्रभम् ।  
 सवृन्दमज्ञानतमस्तमोरिपुं मुनीन्द्रमुद्यानचरावबुद्ध सः ॥३१॥  
 निशम्य तस्यागमनं स पावनं शिवंकरोद्यानमुपेत्य तस्थुषः ।  
 मुद्याभ्युदस्थादचिरेण विष्टराकृती कृतार्थोऽहमिति मुपवन्धः ॥३२॥  
 जनेन पौरेण वृतः पुरावसौ निरित्य तद्धाम जगाम भूमतिः ।  
 प्रचालयन्धर्मकथां समं नृपैः समन्वितैः संसृतिदुःखभीरुभिः ॥३३॥  
 गतस्य तस्योपवने वनेचरो निवृत्तयामास समुत्कचेतसः ।  
 विविक्तमत्यन्तमजन्तुकं शुचिं महामुनेराश्रममाश्रितं श्रिया ॥३४॥

नापायति । स एव, पण्डितः विवेको । अर्थात्तरस्यासः ॥३०॥ विहर्तुमिति । अत्र अस्मिन् । समये वैराग्य-  
 भावनाप्रस्तावे । सः महीपतिः चक्रवर्ती । विहर्तुं विहारार्थम् । समागतं समायातम् । भूरिगुणं भूरयो बहुला  
 गुणा यस्य तम् । सवृन्दं वृन्देन मुनिसन्बोद्हेन सह वर्तते इति सवृन्दः, तम् । अज्ञानतमस्तमोरिपुम् अज्ञानमेव  
 तमस्तिमिरं तस्य तमोरिपुं सूर्यम् । गुणप्रभं गुणैः प्रभातीति गुणप्रभः, तं गुणप्रभनामधेयम् । मुनीन्द्रं मुनिपतिम् ।  
 उद्यानचरात् उद्याने चरतीत्युद्यानचरः, तस्मात्, वनपालकात्-इत्यर्थः । अबुद्धं अबुध्यत । बुद्धिं मतिं ज्ञाने  
 लुङ् । जातिः ॥३१॥ निशम्येति । शिवंकरोद्यानं शिवंकरम् इति ( नामकम् ) उद्यानम् । उपेत्य आगत्य ।  
 तस्थुषः अध्युषतः । तस्थो इति तस्थवान् तस्य तस्थुषः । 'लिटः क्वसुकानो' इति वचसुः । तस्य गुणप्रभस्य ।  
 महामुनेः महामुनीशस्य । आश्रमम् आश्रमम् । निशम्य श्रुत्वा । अहं कृतार्थः कृतः संपूर्णोऽर्थः प्रयोजनं  
 यस्य सः कृतकृत्य इत्यर्थः । इति एवम् । वचः वचनम् । बुद्धन् भावमाणः । मुदा संतोषेण । अचिरेण  
 शीघ्रम् । विष्टरात् विहासनात् । अभ्युदस्थात् अभ्युदतिष्ठत् । अथा गतिनिवृत्ती लुङ् ॥३२॥ जनेनेति । पौरेण  
 पुरे भवेन । जनेन लोकेन । वृतः परिवेष्टितः । असौ भूपतिः अजितसेनचक्रो । पुरात् नगरात् । निरित्य  
 निर्गत्य । धर्मकथा धर्मस्य रत्नत्रयात्मकधर्मस्य कथां प्रसङ्गम् । प्रचालयन् विस्तारयन् प्रवर्तयन् वा ।  
 शमन्वितैः शमेन मध्यस्थपरिणामेनान्वितैर्युक्तैः । संसृतिदुःखभीरुभिः संसृतेः संसाराज्जाताद् दुःखात् कष्टाद्  
 भोशमर्मयशोलेः । नृपैः भूपतिभिः । समं साकम् । तद्धाम तव मुनेर्धाम स्थानम् । जगाम गच्छतिस्म ।  
 गम्लु गतो लिट् ॥३३॥ गतस्थेति । उपवने आश्रमे । गतस्य यातस्य । समुत्कचेतसः समुत्कं समुत्सुकं  
 चेतवित्तं यस्य तस्य । तस्य चक्रिणः । वन (ने) चरः वनपालकः । विविक्तम् एकान्तम् । अजन्तुकं  
 निर्जन्तुकम् । शुचिं पवित्रम् । अत्यन्तं नितान्तम् । श्रिया शोभया । आश्रितं सेवितम् । महामुनेः गुणप्रभ-

कहलाता है ॥३०॥ इसी अवसरपर राजा अजितसेनको वनपालसे पता लगा कि विहार करनेके  
 लिए एक महा गुणी और अज्ञान अन्धकारको मिटानेके लिए सूर्यकी बराबरी करनेवाले आचार्य  
 गुणप्रभ अपने सचके साथ उद्यानमें पधारे हैं ॥३१॥ शिवंकर नामक उद्यानमें पधारकर वहाँ  
 ठहरेवाले मुनि राजगुणप्रभके पुनीत आगमनके श्रुम समाचार सुनकर बुद्धिमान राजा अजित-  
 सेन 'मैं कृतकृत्य हो गया' ये वचन बोलता हुआ बड़ी प्रसन्नतासे तुरन्त ही अपने आसनसे  
 उठकर खड़ा हो गया ॥३२॥ पुरवासिधौसे घिरा हुआ राजा अजितसेन अपने नगरसे निकल-  
 कर शान्त परिणामवाले और सासारिक दुःखोंसे डरनेवाले राजाओंके साथ धर्मचर्चा करता  
 हुआ शिवंकर नामक उद्यानमें पहुँचा, जहाँ मुनिराज पधारे हुए थे ॥३३॥ तपोवनमें पहुँच-  
 कर राजाका मन मुनिराजके दर्शनोंके लिए और भी अधिक उत्सुक हो उठा । तब मालीने  
 उसे मुनिराजके आश्रमके दर्शन कराये, जो एकान्त, जीव-जन्तुओंसे रहित, पवित्र और प्राकृ-

१. आ इ तस्यागमनं महामुनेः । २. आ इ निरित्य । ३. आ इ शमन्वितैः । ४. क ख ग घ म  
 'वने महीपतिः' । ५. आ 'पुरे भवेन' इति नास्ति । ६. क निरित्य ।

गृहीतयोगं तपसा कृशीकृतं ददर्श कंचिन्मुनिमातपस्थितम् ।  
 दिवाकरांशुप्रकरैकलक्ष्यतां प्रयातमुन्मूलितमोहविद्धिषम् ॥३५॥  
 प्रभावनायां जिनवर्त्मनो रतं विशुद्धसिद्धान्तपयोधिपारगम् ।  
 समुद्यतं धर्मकथाप्रवर्तने यतिं धरित्रीपतिरैक्षतापरम् ॥३६॥  
 नयप्रमाणांशुभिरुज्ज्वलात्मभिः प्रवादिष्यद्योतचयं परामयम् ।  
 नयन्तमुद्द्योतितलोकमैक्षत प्रजापतिः कंचन साधुभास्करम् ॥३७॥  
 त्रिकालमध्यस्थमनन्यगोचरं परोक्षवस्तूपदिशन्तमञ्जसा ।  
 स्वमार्गमाहात्म्यनिदर्शनोद्यतं व्यलोकितान्यं स नृपस्तपोधनम् ॥३८॥

मुनोन्मूल्यः । आश्रमं स्थानम् । निदर्शयामास दर्शयति स्म । दृष्टं प्रेक्षणे निजन्ताल्लिङ् ॥३४॥ गृहीतेति ।  
 [ गृहीतयोगं ] गृहीतः प्रशस्तो योगो ध्यानं यस्य ( येन ) तम् । तपसा बाह्याभ्यन्तररूपतपसा । कृशीकृतं  
 प्राणकृश इदानीं कृशः क्रियते स्म कृशीकृतः, तं सूक्ष्मीकृतम् । 'कर्मकर्तृभ्याम्—' इत्यादिना चिबः । 'स्वो  
 चानव्ययस्य—' इति ईकारः । आतपस्थितम् आतपे आतपयोगे स्थितम् । दिवाकरांशुप्रकरैकलक्ष्यतां ५ दिवा  
 दिवसं करोतीति दिवाकरः । 'दिवा [ -विभा- ] निशा—' इत्यादिना दिवा शब्दात् परात् करोते. ५—(३—)  
 प्रत्ययः, दिवाकरस्य सूर्यस्याशूनां किरणानां प्रकरस्य निबहस्य एका मुख्यरूपा लक्ष्यतां ५ लक्ष्यत्वम् । प्रयात  
 गतम् । उन्मूलितमोहविद्धिषम् उन्मूलितः समूहमुद्धूतो मोह एव विद्धि शत्रुर्येन तम् । कंचिन्मुनिम् एकं  
 मुनीशम् । ददर्श पश्यति स्म । दृष्टं प्रेक्षणे लिट् । जातिः ॥३५॥ प्रभावनायामिति । जिनवर्त्मनः जिनमार्गस्य ।  
 प्रभावनाया प्रवर्धने । रतं तत्परम् । विशुद्धसिद्धान्तपयोधिपारगं विशुद्धो निर्मलः सिद्धान्तः परमाश्रमः स एव  
 पयोधिः समुद्रः तस्य पारगं पारदृशवानम् । धर्मकथाप्रवर्तने धर्मस्य रत्नत्रयात्मकस्य कथायाः प्रसङ्गस्य प्रवर्तने  
 करणे । समुद्यतं सप्रयत्नम् । अपरम् अन्यम् । यतिं मुनिम् । धरित्रीपतिः भूमिपतिः । ऐक्षत ददर्श । ईक्ष  
 बर्त्तने लङ् । रूपकम् ॥३६॥ नयेति । उज्ज्वलात्मभिः निर्मलस्वरूपैः । नयप्रमाणांशुभिः नया नैगमादयः प्रमाणे  
 प्रत्यक्षपरोक्षे साम्येवांशवः किरणाः तैः । प्रवादिष्यद्योतचयं प्रवादिनो मिथ्यवादिनस्त एव ब्रह्मोता व्योतिरिङ्गणा-  
 स्तेषां चयं समूहम् । परामयं तिरस्कारम् । नयन्तं प्रापयन्तम् । उद्योतितलोकम् उद्योतितं प्रकाशितो लोको  
 येन तम् । कंचन एकम् । साधुभास्करं साधुर्मुनिः स एव भास्करः सूर्यः, तम् । प्रजापतिः जनपतिः । ऐक्षत  
 अवश्यत् । इलेयो रूपकञ्च ॥३७॥ त्रिकालेति । त्रिकालमध्यस्थं त्रयाणां भूतमविध्यद्वतमानरूपाणां कालानां  
 समयानां मध्यस्थं मध्ये वर्तमानम् । अनन्यगोचरम् अन्येषामज्ञानिनामगोचरमविषयम् । परोक्षवस्तु परोक्ष-  
 तिक शोभासे युक्तं था ॥३४॥ बहो अजितसेनने किसी मुनिको आतप योगमे स्थित देखा, जो  
 ध्यानमग्न थे; तपस्यासे कृशकाय थे; जिनके ऊपर सूर्यकी किरणें पड़ रही थीं—जो धूपमे  
 बैठे हुए थे और जिन्होंने मोह रूपी शत्रुको मूलसे नष्टकर दिया था—जो निर्मोह थे ॥३५॥  
 राजा अजितसेनने एक अन्य साधुको जिन मार्गकी प्रभावनामे तत्पर देखा, जो निर्मल आगम  
 रूपी समुद्रके पारगामी थे और धार्मिक चर्चा चलानेके लिए सदा तैयार रहा करते थे ॥३६॥  
 चक्रवर्ती अजितसेनने किसी साधुको सूर्यकी बराबरी करते देखा—जिस प्रकार सूर्य अपनी  
 उज्ज्वल किरणोंसे जुगुनुओंको हतप्रभ कर देता है और समस्त लोकको प्रकाशितकर देता है,  
 इसी प्रकार वे मुनिराज नैगम आदि नय और प्रत्यक्ष आदि प्रमाण रूपी उज्ज्वल किरणोंसे  
 अन्यवादी रूपी जुगुनुओंको परास्त करके सारे संसारको ज्ञानका प्रकाश देकर आलोकित  
 कर रहे थे ॥३७॥ अजितसेनने अन्य साधुको त्रिकालवर्ती, दूसरोके द्वारा अज्ञात तथा परोक्ष

१. अ क ख ग म प्रयान्त । २. आ दृशिर् । ३. अ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ४, धा  
 'प्रयातं गतम्' इति नास्ति । ५. आ दृशिर् । ६. धा द्रवर्धमावे ।

अनेकचेष्टैरिति पर्युपासितं तपस्विबुधैरर्चयित्वा वृत्तिभिः ।

नरेश्वरस्तं प्रणिपत्य योगिनामधीश्वरं स्तोतुमिति प्रवक्रमे ॥३९॥

मनस्विभिर्नाथ भवान्भवास्तद्विचित्रमयते यः क्षणमात्मचेष्टिभिः ।

व्रजन्ति तेऽप्याक्षुभाः कृतार्थतां कृतार्थं दृष्टे त्वयि का विचारणा ॥४०॥

जगन्महामोहतमः पटावृतं कुदृष्टिसेवापरिवृद्धविभ्रमम् ।

कथं विबुधयेत तवांशुमालिनो न संचरेयुर्वादि वाङ्मरीचयः ॥४१॥

मतीन्द्रियं वस्तु पदार्थम् । अञ्जना साकल्येन<sup>१</sup> यथास्वरूपेण ( यथास्वरूपं ) वा । उपदिशन्तं निरूपयन्तम् । स्वभावाभावाभ्यनिर्देशोद्यतं स्वस्य मार्गस्य वरमेनः<sup>२</sup> माहात्म्यस्य सामर्थ्यस्य<sup>३</sup> निदर्शनं प्रकाशने उद्यतमुद्युक्तम् । अन्यं पुनरेकम् । तपोधनं तप एव धनं यस्य तम् । सः नृपः चक्रवर्ती<sup>४</sup> ऐश्वर्यवान् । अनेकचेष्टैः<sup>५</sup> अनेकैः स्वाध्यायादिभिश्चेष्टैर्व्यापारैः । अनिन्द्यवृत्तिभिः अनिन्दा स्तुत्या वृत्तिवर्तनं येषां तैः । तपस्विबुधैः तपस्विनां मुनीनां बुधैः समूहैः । पर्युपासितं पूजितम् । योगिनां मुनीनाम् । अधीश्वरम् अविपत्तिम् । तं गुणप्रभमुनीश्वरम् । प्रणिपत्य प्रणम्य । नरेश्वरः नरनाथः । स्तोतुं स्तुतिं कर्तुम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । प्रवक्रमे प्रारभते स्म । क्रमं पादविशेषेण लिट् । 'प्रोपाभ्यां सप्तमीभ्याम्' इति तड् । अतिशयः<sup>६</sup> (?) ॥३९॥ मनस्वीति । कृतार्थं कृतो निष्पत्तोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत्संबोधनं ( तत्संबुद्धौ ) ओ निदाक्षप्रयोजन ( कृतकृत्य इति यावत् ) । नाथ स्वामिन् । भवान्तकृत् भवस्य संसारस्थान्तोऽश्नानां तं करोतीति तथोक्तः । भवान् पूज्यस्त्वयः । मनस्विभ्यः सम्प्रसादनिभिः । आत्मवेदिभिः स्वरूपज्ञैः । यैः पुरुषैः । क्षणं स्वल्पकालपर्यन्तम् । विचिन्त्यते ध्यायते<sup>७</sup> ( ध्यायते ) इत्यर्थः । अवच्छिन्नप्रयोगे प्रथमपुरुषः । तेषां पुरुषाः<sup>८</sup> । अपि शब्दोऽनिर्धारणार्थः । आत्माशुभाः आत्मसंस्कीकृतं शुभं पुण्यं यैस्ते स्वीकृतपुण्याः भूत्वा । कृतार्थता निष्पन्नप्रयोजनत्वम् । व्रजन्ति गच्छन्ति । व्रज गती लट् । त्वयि भवति । दृष्टे विलोकिते सति । का विचारणा को वा विचारोऽस्ति—इत्यर्थः<sup>९</sup> । तव स्मरणभावेण सर्वं कृतपुण्या भवन्ति, स्वदर्शनेन तु<sup>१०</sup> शुभा<sup>११</sup> भूरिपुण्या भवन्ति—इत्यभिप्रायः ॥४०॥ जगदिति । महामोहतमः पटावृतं महान् मोहोऽज्ञानं स एव तस्माँसि तेषां पटो निबध्ः तैनावृतमारुद्धम् । कुदृष्टिसेवापरिवृद्धविभ्रमं कुदृष्टौना मिथ्यादृष्टौना सेवया आश्रयेण परिवृद्धः प्रवृद्धो विभ्रमो भान्तियस्य तत् । जगत् लोकं ( कः ) । अंशुमालिनः सूर्यस्य । तव ते । वाङ्मरीचयः वाच एव

पदार्थोका वास्तविक उपदेश देते, एवं साधु मार्गिके महत्त्वको प्रकट करनेमें तत्पर रहते देखा ॥३८॥ इस प्रकारकी प्रशस्त चेष्टाओंसे युक्त और श्लाघ्य वृत्तिवाले मुनि सङ्घसे पूजित उन गुणप्रभ नामके योगिकाट्-आचार्यको प्रणाम करके राजा अजितसेनने उनकी स्तुति इस प्रकारसे शुरू की—॥३९॥ हे नाथ; जो आत्मज्ञानी मनस्वी भव परम्पराको नष्ट करनेवाले आपका क्षण-भर भी ध्यान कर लेते हैं, वे भी शुभ परिणामोंको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं, फिर हे कृतकृत्य ! आपके दर्शन कर लेने पर तो विचार ही क्या करना है ? क्षण-भर ध्यान करनेवाले भी जब कृतकृत्य हो जाते हैं, तो साक्षात् दर्शन करनेवालोंको कृतकृत्यताका होना तो सुतरां सिद्ध है । इसमें विचार करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥४०॥ जिसके ऊपर महामोहके अन्धकारका पर्दा पड़ा हुआ है और जिसे मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा करनेसे भ्रम बढ़ गया है, वह जगत्, बोधको कैसे प्राप्त करता, यदि आप सरीखे मुनि-सूर्यकी वाणी रूपी किरणोंका

१. सा सामर्थ्येन । २. सा वर्तनस्य । ३. आ 'सामर्थ्यस्य' इति नास्ति । ४. आ लोका । ५. = अनेका नाना चेष्टा व्यापारा येषां तैः । ६. आ 'अतिशयः' इति नास्ति । ७. आ ध्यायते । ८. सा पुरुषाः । ९. सा विचारः को वा, विचारणा नास्ति—इत्यर्थः । १०. स 'तु' इति नास्ति । ११. आ 'शुभा' इति नास्ति ।



निराश्रयाणां पततामघोगतावसि त्वमात्मन्मनीश देहिनाम् ।  
 त्वमेव सोपानपथः स्थिराश्रयो<sup>१</sup> विमुक्तिसौधाग्रभुवं यियासताम् ॥४१॥  
 स्वभावजैः क्षान्तिदयादमादिभिः परिफुटकुन्दसमानकान्तिभिः ।  
 प्रकाशितं विश्वममेयतां गतिस्त्वया गुणैश्चन्द्रमसा च रश्मिभिः ॥४३॥  
 जगत्यमुष्मिन्निवसाधिपोषम त्वदीयवाग्मासुररश्मिमासिते ।  
 न मार्गशुद्धिर्हृत्कैरलम्भि येन तेन चूकायितमत्र जन्तुभिः ॥४४॥  
 विभिन्दतो ह्यार्द्रमनेकजन्मजं तमस्तवाशेषजगद्गुरोर्नयैः ।  
 विलोकितं चक्रमपूर्वमास्वतो नृपैव तेषां कृत जन्म जग्मिनाम् ॥४५॥

वचनाभ्येव मरीचयः कान्तयः । यदि न संचरेयुः न भ्याप्नुयुः । चर गतिमक्षणयोर्लङ्<sup>२</sup> । कथं केन प्रकारेण । विबुधैश्च जानीयात् । बुधि मनि ज्ञाने लङ्<sup>३</sup> ॥४१॥ निराश्रयाणामिति । ईश भोः स्वामिन् । ऋषोमती नरकगतौ । पतता निमज्जताम् । निराश्रयाणां निराधाराणाम् । देहिना जीवानाम् । त्व प्रकम्बनम् [ त्वम् आलम्बनम् ] आधारः । अस्ति भवति । अस्त भुवि लट् । विमुक्तिसौधाग्रभुवं विमुक्तिमार्गः स एव सौधो मन्दिरं तस्याग्रभुवमग्रभूमिम् । यियासता यातुमिच्छताम् । स्थिराश्रयः स्थिराधारः । सोपानपथः सोपानस्त्यारोहणस्य पन्थाः मार्गः । 'नृक्षूः पन्थपोऽत्' इति अत्—प्रत्ययः । त्वमेव भवानेव । रूपकम् ॥४२॥ स्वभावेति । स्वभावजैः निसर्गजैः । परिफुटकुन्दसमानकान्तिभिः परिफुटतो विकसितः कुन्दस्य कुन्दपुष्पस्य समाना सदृशो कान्तिर्घुंतिर्वयां तैः । अमेयतां संस्वारहितत्वम् । गतैः यानैः । क्षान्तिदयादमादिभिः क्षान्तिदय दया च दमयश्च तपोवताः त एव आदयो ( आदौ ) वेपा तैः । गुणैः । त्वया भवता । रश्मिभिः किरणैः । चन्द्रमसा चन्द्रेण च । विश्वं सर्वम् । प्रकाशितं विभासितम् । तुल्ययोगिता ॥४३॥ जगतीति<sup>४</sup> । दिवसाधिपोषम दिवसाधिपस्य सूर्यस्योपम समान ( उपमा साम्यं यस्य तत्संबुद्धौ हे दिवसाधिपोषम हे सूर्यसमान ) । त्वदीयवाग्मासुररश्मिमासिते त्वदीयायाः तव संबन्धायाः वाचो वचनस्य आसुरेण प्रकाशन-शौलेन रश्मिना मासिते प्रकाशिते ( त्वदीयवाग्मिरेव आसुररश्मिभिर्मासिते ) । जगति लोके । हृत्कः निकटैः । यै, मार्गशुद्धिः मार्गस्य रत्नत्रयात्मकस्य शुद्धिर्नैर्मल्यम् । न अलम्भि न लभ ( लब्ध ) ते स्म<sup>५</sup> । हलन्तिप् प्राप्तो लङ् । तैः जन्तुभिः प्राणिभिः । अत्र अस्मिन् त्वयि । न चूकायितं, न चूकवदावरितम् ( इति ) न, किन्त्वावरितमेव । उपमा ॥४४॥ विभिन्दत् इति । अनेकजन्मजम् अनेकजन्मजातम् । ह्यार्द्रं हृदयसमम् । तमः तिमिरम् । विभिन्दतः छिन्दतः<sup>६</sup> । अशेषजगद्गुरोः अशेषस्य सकलस्य जगतो लोकस्य गुरोः श्रेष्ठस्य ।

सञ्चार न हुआ होता तो ॥४१॥ हे ईश ! किसोका आश्रय न मिलनेसे अधोगतिमें गिरनेवाले प्राणियोंको तुम ही आश्रय हो और मुक्ति महलके ऊपरि सिरे तक पहुँचनेकी अभिलाषा करने-वालोको तुम ही मजबूत सोपानमार्ग-सीढ़ी हो ॥४२॥ मुनिवर ! आपने अपने स्वाभाविक, विकसित होनेवाले कुन्दपुष्पके समान निर्मल, तथा अगणित क्षमा, दया और दम आदि गुणोंसे पूरे विश्वको प्रकाशित किया है और चन्द्रमाने अपनी स्वाभाविक, विकसित होनेवाले कुन्द पुष्पके समान शुभ्र एवं अगणित किरणोंसे समूचे विश्वको प्रकाशित किया है ॥४३॥ हे मुनीन्द्र ! आप सूर्यके समान हैं । आपने अपनी बाणी रूपी देदीप्यमान किरणोंसे इस जगत्को प्रकाशित कर दिया है, किन्तु फिर भी जिन अभागों प्राणियोंने रत्नत्रय रूप मार्गकी निर्मलता नहीं प्राप्तकी, उन्होंने उल्लूका-सा आचरण नहीं किया, यह बात नहीं है ॥४४॥ हे आचार्य-वर्य ! जोवोंके हृदयमें भरे हुए अनेक जन्मोंके पाप या अज्ञानके अन्धकारको नष्ट करनेवाले,

१. अ म स्थिराश्रयो<sup>१</sup>; क ल म स्थिरा श्रियो<sup>२</sup> । २. श लट् । ३. श लट् । ४. श अ-प्रत्ययः । ५. आ जगदिति । ६. = तव संबन्धिण्याः । ७. = नालम्भि । ८. आ भिन्दतः ।

अपायमुक्तां पदवीं परे न वां चिरादपि प्रापयितुं परिज्ञताः ।  
 त्वदाश्रयस्तामचिरेण लम्बयन्करोति नश्येत्तस्मिन् नाथ विस्मयम् ॥४६॥  
 कषायनाम्नां विजयेन वैरिणामनश्वरश्रीप्रतिबन्धकारिणाम् ।  
 तवेशयः प्रादुरभून्महोदयो भवादृशमेव गिरां स गोचरः ॥४७॥  
 स्तुतिं विधायेति मुनेर्मनोहरां पुरो निषण्णे विनयेन भूपतो ।  
 सविग्रहप्रश्रयपुञ्जशङ्किनां निपेतुरक्षीणि समं तपोभृताम् ॥४८॥  
 प्रवृत्तसंभाषणयोर्मिथस्तयोरुर्वंशुदन्तघृतिदीपिताशयोः ।  
 घृतैकचन्द्रद्युजिगीषया स्वयं मही तदा द्वीन्दुरिव व्यजायत ॥४९॥

अपूर्वभास्वतः अपूर्वस्य नूतनस्य भास्वतः सूर्यस्य । तव ते । वषट् मुखम् । येः न विलोकितं न निरीक्षितम् ।  
 तेषां जनितां श्रीवानाम् । जन्म जीवन्म् । वृषैव निष्फलमेव । बत हन्त । उपमा ( व्यतिरेकः ) ॥४५॥  
 अपायेति । अथ अनन्तरम् । परे अन्ये । अपायमुक्ताम् अपायेन बाधया मुक्ता रहिताम् । या पदवीं  
 स्थानम् । चिरादपि बहुकालादपि । प्रापयितुं<sup>१</sup> यापयितुम् । परिज्ञताः समर्थाः । नभः भवन्ति । त्वदाश्रयः<sup>२</sup>  
 त्वदाश्रययुक्तः । ता पदवीम् । अचिरेण शीघ्रम् । लम्बयन् प्राप्नुवन् । नः अस्माकम् । चेत्तस्मिन् चित्ते ।  
 विस्मयम् आश्चर्यम् । करोति विवधाति । दुक्कृज् करणे लट् ॥४६॥ कषायेति । ईश भो नाथ । कषायनाम्नां  
 कषाय इति नाम येषां तेषाम् । अनश्वरश्रीप्रतिबन्धकारिणाम् अनश्वरश्रियो मोक्षसम्पदः प्रतिबन्धं<sup>३</sup> प्रतिकूलं  
 कुर्वन्तीति प्रतिबन्धकारिणः, तेषाम् । वैरिणा शत्रूणाम् । विजयेन जयेन । तव ते । यः महोदयः अभ्युदयः ।  
 प्रादुरभूत् प्रकटोऽभवत् । भू सत्तामां लुङ् । सः, भवादृशमेव भवानिव प्रदृश्यन्ते तै भवादृशः, तेषामेव,  
 त्वदाश्रयमेव—इत्यर्थः । 'एयादिनि' इत्यादिना भवच्छब्दाद् दृशे, किं । 'आद्यद्—' इत्यादिना दीर्घः ।  
 गिरा बाधाम् । गोचरः विषयो भवति । अतिशयः ॥४७॥ स्तुतिमिति । इति उक्तप्रकारेण । मुनेः गुणप्रभ-  
 मुनेः । मनोहरा मनोहररूपाम् । स्तुतिं स्तोत्रम् । विधाव विरचय । विनयेन ज्ञानादिविनयेन । पुरः अग्रे ।  
 निषण्णे उपविष्टे । भूपतो क्षितिपते । सविग्रहप्रश्रयपुञ्जशङ्किना विग्रहेण देहेन सह विद्यमानानां प्रश्रयाणां<sup>४</sup>  
 विनयानां पुञ्ज इति राशिरिति शङ्किना शङ्कायुक्तानाम् । तपोभृता यतीनाम् । अक्षीणि नयने । समं  
 युगपत् । निपेतुं<sup>५</sup> बिक्षिपतु । पल्लु गती लिट् । सहोक्तिः ॥४८॥ प्रवृत्तेति । उदंशुदन्तघृतिदीपिताशयोः

सारे संसारको घर्मोपदेश देनेवाले और इसीलिए अपूर्व सूर्यके रूपमें प्रकट होनेवाले आपके मुखका  
 जिन्होंने दर्शन नहीं किया, उन जीवोंका जन्म व्यर्थ ही है । यह बड़े ही खेदकी बात है ! ॥४५॥  
 हे नाथ ! सारी बाधाओंसे रहित एवं नित्य जिस मुक्तिपदवीको अन्य लोग चिरकालमें भी  
 प्राप्त नहीं करा सकते, उसीको तुम्हारा आश्रय शोध ही प्राप्त करवाकर हमारे मनमें आश्चर्य  
 उत्पन्न कर रहा है ॥४६॥ मुक्ति लक्ष्मीको प्राप्तमें बाधा डालनेवाले क्रोध, मान, माया  
 और लोभ नामक शत्रुओंको जीत लेनेसे हे नाथ ! जो आपका महान् अभ्युदय प्रकट हुआ  
 है, वह आप सरीखे महामुनियोंको वाणीका विषय है—आप सरीखे विशिष्ट ज्ञानी मुनि ही  
 उसका वर्णन कर सकते हैं ॥४७॥ इस तरह गुणप्रभ मुनिको स्तुति—जो सबके मनको  
 हरनेवाली थी—करके राजा अजितसेन उनके आगे विनय पूर्वक बैठ गया । उसे मूर्तिमान्  
 विनय या विनयकी मूर्तिके रूपमें देखनेवाले मुनियोंकी दृष्टि एक ही साथ आकृष्ट हुई—  
 सभी मुनि उसे एक ही साथ देखने लगे ॥४८॥ मुनिराज गुणप्रभ और राजा अजितसेनका

१. = निरपाया, नित्यागति यावत् । २. = मुक्तिम् । ३. = लम्बयितुम् । ४. = तवालम्बनम् ।  
 ५. = प्रापयम् । ६. = प्रातिकूलम् । ७. आ क्षिप् । ८. क्ष योनाम् । ९. = पतिषाति ।

महोन्नतस्तस्य सतां प्रणायकः स धर्मवृद्धिं परिपुष्य पावनीम् ।  
 विलोकिताशेषमुल्लेखदुरस्पृहो गुणानुरागाद् गिरमित्युपादे ॥५०॥  
 निमित्तभावेन मदस्य भूयसो निसर्गतः पार्थिवता व्यवस्थिता ।  
 महानुभावे पुनरत्र साम्यथा प्रवर्तते पश्यत पश्यताद्भुतम् ॥५१॥  
 नयेन नृणां चिन्तयेन नाकिनां गतस्पृहाणां विनयेन योगिनाम् ।  
 महीभुजामेष निजेन तेजसा तनोति चित्ते सततं चमत्कृतिम् ॥५२॥

चदंशुनाम् उदगता बहिः ( ऊर्ध्वं ) गता अंशवः किरणा येषां तेषां दन्तानां रदनानां दृष्ट्या कान्त्या दीप्तिताः प्रकाशिता आशा दिशो ययोः तयोः । तयोः मुनिपतिभूतयोः । मिथः परस्परम् । प्रवृत्तसंभावणयोः प्रवृत्तं कृतं संभावणं ययोः तयोः सतोः । धूर्तकवचद्रुजिगीषया धृन् संभूत एकवचन्द्रो यस्या ( यया ) सा तयोक्ता, धूर्तकचन्द्रा आशो द्योवत् ता जिगीषया जेतुमिच्छया, एकवचन्द्रोक्ताकाशं जेतुमिच्छया—इत्यर्थः । जि<sup>५</sup> अग्निभवे तस्य सन्-प्रत्यये 'जे लिट् सनि' इति द्विर्भावे पूर्वत् परस्य क्तुः कवचदिशः । मही भूमिः । तवा तत्समये । द्वीनुरिव चन्द्रद्वयसहितेव । व्यजायत समभवत् । जनैश्च<sup>६</sup> प्रादुर्भावे लङ् । उत्प्रेक्षा ॥४९॥ अदीभृत इति । सता सत्पुरुषाणाम् । प्रणायकः प्रभुः । विलोकिताशेषमुल्लेखुः विलोकिता वीक्षिता अवेषाणां सर्वेषां मुक्तानि वचनान्येव चन्दा वेन सः । अस्पृहः बाञ्छारहितः । सः गुणप्रभमुनोक्तः । तस्य महोन्नतः अजितसेनचक्रिणः । पावनी पवित्रात् । धर्मवृद्धिं धर्मवृद्धिरस्तु—इत्याशिषम् । [ परिपुष्य ] संचुष्य निरूप्य । गुणानुरागात् गुणशिरसाः । इति कथ्यमाणप्रकारेण । गिरं वाचम् । उपादे उवाच । हुवाञ् दाने लिट् । रूपकम् ॥५०॥ निमित्तेति । निसर्गतः स्वभावात् । भूयसः बहुलस्य । मदस्य गर्वस्य । निमित्तभावेन कारणस्वरूपेण । पार्थिवता भूमिपतित्वम् । व्यवस्थिता विविष्टा । अत्र चक्रेश्वरे । महानुभावे महासामर्थ्येन युक्ते । त्वयि, पुनः पश्चात् । सा पार्थिवता । अन्यथा 'मदनिमित्ताभावेन । प्रवर्तते विद्यते । वृत्तुश्च प्रवर्तने लट्' । ( इति ) अदनुत्तम आश्चर्यम् । पश्यत पश्यत वीक्षणं वीक्षणम्<sup>७</sup> । 'वीक्षायाम्' इति<sup>८</sup> द्विः ॥५१॥ नयेति । एवः अजितसेनचक्री । नृणां मनुष्याणाम् । चित्ते मनसि । नयेन नयगुणेन । नाकिना देशानाम् । विनयेन ऐश्वर्येण । गतस्पृहाणा बाञ्छारहितानाम् । योगिनां मुनीनाम् । विनयेन विनयगुणेन । महीभुजा भूमिपतीनाम् ।

आपसमे वार्त्तालाप होने लगा । हम अवसरपर दोनोंके दाँतोंकी शुभ्र कान्तिसे सारी दिशाएँ प्रकाशित हो उठी, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो केवल एक ही चन्द्रमाको धारण करनेवाले आकाशकी जीतनेकी इच्छासे पृथ्वीने उस समय दो चन्द्रमा धारण कर लिये हों ॥४९॥ गुणप्रभ समस्त मुनियोंके नायक थे । वे निस्पृह थे । उन्होंने सभीके चेह्रोंकी ओर दृष्टिपात किया, और राजा अजितसेनको 'धर्मवृद्धिरस्तु'—'धर्मकी वृद्धि हो' कहकर आशीर्वाद दिया । फिर उसके गुणोंके प्रति अनुराग होनेसे उन्होंने ये वचन कहे—॥५०॥ राजा होना स्वभावसे ही बहुत भारी मदका कारण है, यह बात बहुत पहलेसे ही निश्चित है । फिर भी इस प्रभावशाली चक्रवर्तिमें यह मदवाली बात बिलकुल विपरीत है—चक्रवर्ती होनेपर भी इसे ( अजितसेनको ) तनिक भी अहङ्कार नहीं है । देखो, देखो, यह कितने आश्चर्यकी बात है ! ॥५१॥ यह अपनी नीतिसे मनुष्योंके, विभूतिसे देवोंके; विनयसे निस्पृह योगियोंके और प्रतापसे राजाओंके चित्तमें निरन्तर चमत्कार उत्पन्न कर रहा है—इसकी नीति, विभूति, विनय और प्रतापको देखकर क्या मनुष्य, क्या देव, क्या योगी और क्या राजे-महाराजे सभीको आश्चर्य

१. आ सुतिना कान्तिना ( ? ) । २. = याम्याम् । ३. = प्रारब्धम् । ४. श जि जि । ५. आ जनी । ६. श लिङ् । ७. = निश्चिता । ८. = महाप्रभावे । ९. श 'मद' इति नास्ति । १०. आ वृत्तु वर्तने लट् । ११. आ 'वीक्षणम्' इति नास्ति । १२. आ 'इति' नोपक्रम्यते ।

तुलाव्यतीतो' विनयः क चेदृशः क्व सार्वभौमी प्रभुतेयमीदृशी ।  
 निषेव्यते सर्वगुणो गुणैरयं परस्परमीतिमुपागतैरिव ॥५३॥  
 न तादृशी स्वे विभवे न बान्धवे न चापि संसारसुखे मनोहरे ।  
 यथास्थ चिन्ता परलोकसाधने हितानुबन्धाचरितं महात्मनाम् ॥५४॥  
 चवन्तमेवं तमुवाच भूपतिः समासतः प्रश्रयनम्रमस्तकः ।  
 यियासतस्तावकमेव धाम मे त्वदागमः पूर्वकृतैः कृतः शुभैः ॥५५॥  
 पदातिसार्था विभवाश्च बान्धवा भवन्ति पाते शरणं न दुर्गती ।  
 समाकलय्येति मम प्रवर्तते त्वदीयसेवासृष्टमेव मानसम् ॥५६॥

निजेन स्वकीयेन । तेजसा प्रभावेण । सततम् अनवरतम् । चमत्कृतम् आश्चर्यम् । तनोति करोति । तनूञ्  
 विस्तारे लट् । चित्ते—इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । दीपकः ( कम् ) ॥५२॥ तुलामिति । तुलाव्यतीतः तुलया  
 उपमया व्यतीतोऽतीतः । ईदृशः एतादृशः । 'इत्यादि—' इत्यादिना विव । विनयः विनयगुणः । क्व च कुत्र  
 च । सार्वभौमी सार्वभौमस्य चक्रिणः संबन्धिनी, तथोक्ता । 'पृथिवी सर्वभूमिभ्यामञ्ज' इति  
 अञ्-प्रत्ययः । इयम् एषा । ईदृशी एतादृशी । प्रभुता विभुत्वम् । क्व कुत्र । सर्वगुणः निखलगुणवान् ।  
 अयम् एष । गुणैः विनयादिगुणैः । परस्परप्राप्तिम् आगम्योन्मेषीतिम् । उपागतैरिव आयातैरिव । निषेव्यते  
 आराध्यते । षेवृञ् सेवने कर्मणि लट् । उत्प्रेक्षा ॥५३॥ नेति । अस्य चक्रिणः । परलोकसाधने परलोकस्य  
 उत्तमगतेः साधने । यथा चिन्ता बुद्धिः । तादृशी तादृश्या । स्वे स्वकीये । विभवे संपदि । न-न भवति ।  
 बान्धवे बन्धुजनेऽपि, न । मनोहरे मनोहररूपे । संसारसुखे सासारिकसुखेऽपि च, न । न—इति प्रत्येक-  
 मभिसंबध्यते । दीपकः ( कम् ) । महात्मना महापुरुषाणाम् । आचरितम् आचरणम् । हितानुबन्धि हिता-  
 नुसारि हि । अशान्तिरन्यासः ॥५४॥ चवन्तमिति । एषम् उक्तप्रकारेण । वदन्तं ब्रुवन्तम् । त मुनिपतिम् ।  
 प्रश्रयनम्रमस्तकः प्रश्रयेण विनयेन नम्रो नमनशीलो मस्तको यस्य सः । भूपतिः चक्रवर्ती । समासतः  
 संक्षेपात् । उवाच ब्रवीति स्म । ब्रूञ् व्यक्ताया वाचि लिट् । तावकं त्वदीयम् । 'युष्मदस्मदोऽञ्ज खञो—'  
 इत्यादिना अञ्, तद्योगे तवकादेशः । धामैव स्थानमेव । यियासतः गन्तुमिच्छोः । मे मम । त्वदागमः  
 तवागमनम् । पूर्वकृतैः प्रारम्भकृतैः । शुभैः पुण्यैः । कृतः । अनुमितिः ॥५५॥ पदातीति । दुर्गती नरका-  
 दिदुर्गती । पाते पतने । पदातिसार्थाः पदातीना भटाना सार्थाः समूहाः । विभवाश्च सम्पदश्च । बान्धवाश्च

हो रहा है ॥५२॥ कहाँ ऐसी अनुपम नम्रता और कहाँ सारे भूमण्डलकी ऐसी प्रभुता—ऐसी  
 नम्रता और ऐसी प्रभुता किसी एक व्यक्तित्वमें नहीं हो सकती, केवल यही एक ऐसा व्यक्ति है,  
 जिसमें परस्पर विरोधी ये दोनों गुण—नम्रता और प्रभुता दृष्टि-गोचर हो रहे हैं । इन गुणोंकी  
 तरह इसमें और भी सभी गुण हैं, जिनको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है मानो सभी गुणोंमें एक  
 दूसरेके प्रति प्रीति उत्पन्न हो जानेसे वे मिलकर इसकी सेवा करने लगे हों । ॥५३॥ अजित-  
 सेनको परलोक साधनेकी जैसी चिन्ता रहा करती थी, वैसी अपने वैभव, बन्धु-बान्धव और  
 मनोहर सांसारिक सुखकी नहीं रहती थी । ठीक है, महात्माओंका आचरण हितका अनुसरण  
 करनेवाला होता है ॥५४॥ इस प्रकार कहते हुए गुणप्रभसे राजा अजितसेन विनयसे सिर नवा  
 कर संक्षेपमें यों बोला—मे आपहीके स्थानमे—जहाँ इससे पहले आप थे—आना चाहता था,  
 किन्तु मेरे पूर्वजन्मके शुभकर्मके उदयसे आप स्वयं यहीपर पधार गये हैं ॥५५॥ नरक आदि खोटो  
 गतियोंमें गिरते समय सैनिक, वैभव और बन्धु-बान्धव रक्षा नहीं कर सकते, यह सोच करके

१. क ल ग च म तुलां व्यती° । २. अ क ल ग च म पदातिपूर्वा । ३. आ तनु । ४. आ ख  
 तुकेति । ५. आ वेव, वा कीदृश ।



दयापरः साधुरतः परब्रधिरतस्त्वमेतामनुशाधि मेदिनीम् ।

समुद्धरंल्लोकमनाथमायुगं किमस्ति दीनोद्धरणात्परं तपः ॥६१॥

उदीरितायामिति वाचि सूरिणा पतिः प्रजानामचलास्तराश्रयः ।

समाहितः श्रेयसि पक्षमात्मनः पुनर्हृदीकर्तुमुपोपचक्रमे ॥६२॥

शिरःसमभ्यर्च्यमपोश लङ्घयते मया यदेतद्भवतोऽनुशासनम् ।

विहाय जन्मव्यसनानि विद्यते मुनीन्द्र नैवापरमत्र कारणम् ॥६३॥

परार्थसंपदः परार्था परप्रयोजना संपदः यस्य तस्य । गृहमेचिनोऽपि गृहस्थस्यापि । ते तत्र । एतत् इदम् । चरित्रम् आचरणम् । तपोभूता मुनीनाम् । आचरणात् चरित्रात् न भिद्यते<sup>१</sup> भेदो न क्रियते भिद<sup>२</sup> विदारणे कर्मणि लट् ॥६०॥ दधेति । ततः तस्मात् । दयापरः<sup>३</sup> दयया काश्यपेन परः श्रेष्ठः । साधुरतः साधुषु मुनिषु रतः प्रीतः । परब्रध्नीः परब्रह्मरगतो धीबुद्धिं यस्य सः । अनाथं निराधारम् । लोकं जनम् । समुद्धरन् पालयन् एताम् इमाम् । मेदिनी भूमिम् । आयुगं युगपर्यन्तम् । अनुशाधि रक्ष । शासु अनुशिष्टो लोट्<sup>४</sup> । 'शास्त्रेधिजहि' इति साधुः । दीनोद्धरणात् अनाथोद्धरणात् । परम् उत्कृष्टम् । तपः तपश्चरणम् । किमस्ति किं वर्तते, न किमपि—इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥६१॥ उदीरितेति । सूरिणा मुनिना । इति उक्तप्रकारेण । वाचि वचने । उदीरिताया निरुपिताया सत्याम्<sup>५</sup> । अचलास्तराश्रयः अचलोऽन्तराश्रयो यस्य सः । श्रेयसि मोक्षे । समाहितः संनद्धः । प्रजानां लोकजनानाम् । पतिः प्रभुः । आत्मनः स्वस्य । पक्षम् अङ्गीकारम् । पुनः पश्चात् । दृढीकर्तुं स्थिरीकरणाय । उपोपचक्रमे<sup>६</sup> प्रारभते स्म । क्रमं पादविक्षेपे क्तिट् । 'प्रोपत्सं पादपूरणे' इति द्विः । 'प्रोपाभ्या समर्थाभ्याम्' इति तट् ॥६२॥ शिर इति । ईश प्रभो । मुनीन्द्र मुनिपते । शिरःसमभ्यर्च्यमपि शिरसा मस्तकेन समभ्यर्च्य पूजनीयमपि । भवतः तत्र । यत् कारणत् । एतत् इदम् । अनुशासनम् आज्ञा । मया, लङ्घयते अतिक्रम्यते । लघुङ् गतो कर्मणि लट् । अत्र<sup>७</sup> गृहस्थत्वे । जन्मव्यसनानि<sup>८</sup> जन्मतदुःखानि विहाय परित्यज्य । अपरम् अन्यत् । कारणं हेतुः । नैव विद्यते नैवास्ति । विदि<sup>९</sup> सत्ताया लट् ॥६३॥

धर्मको अपनी सम्पत्ति समझते हो; तुम्हारे चरित्रकी, विद्वज्जन भी प्रशंसा करते हैं और तुम अपनी सम्पत्तिको परोपकारमें लगाया करते हो । अतएव यह स्पष्ट है कि तुम गृहस्थ हो किन्तु तुम्हारा चरित्र साधुओंके चरित्रसे भिन्न नहीं है ॥६०॥ राजन् ! तुम सदा दया करनेमें तत्पर रहते हो; साधुओंके भक्त हो और तुम्हारी बुद्धि परलोककी ओर लगी रहती है । अतः तुम युगके अन्ततक अनाथ लोगोंका उद्धार करते हुए इस पृथ्वीपर शासन करो । दीनोंके उद्धारसे बढ़कर और तप कौन सा है ? ॥६१॥ आचार्य गुणप्रभके यों कहनेपर भी राजा अजितसेन अपने विचारोंसे विचलित नहीं हुआ । चूँकि वह मुक्ति पानेके लिए प्रतिज्ञा कर चुका था, अतः अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिए पुनः यों बोला— ॥६२॥ हे मुनीन्द्र ! आपकी यह आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य एवं पूजनीय है, किन्तु फिर भी मैं इसका जो उलङ्घन कर रहा हूँ, उसका कारण गृहस्थ अवस्थामें रहनेसे होनेवाले जन्म, जरा और

१. = भेद न भजते । २. आ भिद्वि । ३. वा 'दयापरः' इति नास्ति । ४. वा लोट् । ५. वा तस्याम् । ६. एष टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु 'अपोपचक्रमे' इत्येव पाठो वर्तते । ७. आ क्रमु । ८. = यस्यात् । ९. आ लधि । १०. = अनुशासनलङ्घने । ११. = जन्मनो जन्मवरणं-मरणानां दुःखानि । १२. आ विदि ।

बहुप्रकारा यदि न स्युरङ्गिनामनिष्ठयोगादिकृता दुराधयः ।  
 जिनेन्द्रचन्द्राचरितं सुदुःसहं सहेत कः सत्यमिदं महाव्रतम् ॥६४॥  
 विचित्रदुःखा भवमृत्युसंततिः प्रलीयते चेद् गृहमेधिनामपि ।  
 भवावशामेकविवेकचक्षुषां भवेद्दृष्टा तर्हि तपःपरिश्रमः ॥६५॥  
 इति ब्रुवन्तं तमुदारचेष्टितं जिनेन्द्रदीक्षानिहितैकमानसम् ।  
 विनिश्चितैकान्ततदीयनिश्चयो विशामधीशं मुनिरन्वमन्यत ॥६६॥  
 ततः स तेनानुमतो महोपतिर्वितीर्य राज्यं जितशत्रुसूनुवे ।  
 तपोऽप्रहीत्संयमभारभूषणं विमुक्तये मुक्तपरिग्रहग्रहः ॥६७॥

वृत्तिः । अङ्गिना जीवानाम् । अनिष्टयोगादिकृता अनिष्टस्याहितकष्टकादेर्योगादिना सङ्घादिना, आदिशब्देन वियोगादिगुह्यते, कृता विहिताः । बहुप्रकाराः नानाप्रकाराः । दुराधयः दुष्टपीडाः । यदि न स्युः न भवेयुः । जिनेन्द्रचन्द्राचरितं जिनेन्द्रचन्द्रेणाचरितं प्रवृत्तम् । सुदुःसहं सोढुमशक्यम् । सत्यं सत्यरूपम् । इयम् एतत् । महाव्रतं पञ्चमहाव्रतादिकम् । कः को वा । सहेत अमेत, न कोऽपि—इत्यर्थः । संसारे सुखं वर्तते चेत्, जिनेन्द्रपादाचरितं कृच्छ्रं तपश्चरणं मुनयः किमितिमाचरन्ति—इत्यर्थः । अनुमितिः । ६४॥ विचित्रेति । विचित्रदुःखा विचित्रं दुःखं यस्या सा । भवमृत्युसंततिः भवाना जननाना मृत्यूना मरणाना सन्ततिः समूहः । गृहमेधिनामपि गृहस्थानामपि । प्रलीयते चेत् विनश्यति चेत् । क्रीड् इलेषणं कर्त् । तर्हि, एकविवेकचक्षुषाम् एको मुखो विवेक एव चक्षु येषा तेषाम् । भवादृशा युष्मादृशाम् । तपःपरिश्रमः तपसः तपश्चर्यायाः परिश्रमः प्रयासः । दृषा निष्फलः । भवेत् स्यात् । भू सत्ताया लिङ् ॥६५॥ इतीति । विनिश्चितैकान्ततदीयनिश्चयः विनिश्चितो निर्णयः एकान्तो दृढस्तदीयस्तस्य सङ्घी निश्चयो निर्णयो येन सः । मुनिः यतिः । इति उक्तप्रकारेण । ब्रुवन्तं भाषमाणम् । उदारचेष्टितम् उदारं महत्चेष्टितं व्यापारो यस्य तम् । जिनेन्द्रदीक्षानिहितैकमानसं जिनेन्द्रस्य जिनेन्द्रस्य दीक्षायां तपःस्वीकारे निहितं स्थापितमेकं मुख्यं भागसं चित्तं यस्य तम् । विशा महाताम् । बधीष प्रभुम् । अन्वमन्यत अनुमन्यते स्म । मनिः जाने लङ् । अनुमितिः ॥६६॥ तत इति । ततः पश्चात् । तेन मुनोन्नेन । अनुमतः संमतः । सः महोपतिः भूमिपतिः । जितशत्रुसूनुवे जितशत्रुरिति सूनुवे पुत्राय । राज्यं भूपतित्वम् । वितीर्य दत्त्वा मुक्तपरिग्रहग्रहः मुक्तस्त्यक्तः परिग्रह एव ग्रहो येन सः । संयमभारभूषणं संयमस्येन्द्रियनिग्रहस्य भार एवातिशय एव भूषणमलंकारो यस्य

मरणके घोर दुःखोको छोड़कर और कुछ नहीं है ॥६३॥ यदि जीवोंको इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग आदिके निमित्तसे होनेवाली नाना प्रकारकी बुरी-बुरी मानसिक व्यथाएँ न होती तो जिनेन्द्र भगवान्ने जिसका स्वयं प्रयोग किया है, उस दुर्धर और सत्य महाव्रतको कौन पालता ? संसार सुखमय होता तो सचमुच ही कोई महाव्रत पालन करनेका कष्ट न उठाता ॥६४॥ विचित्र दुःख देनेवाली जन्म और मरणकी परम्परा यदि गृहस्थोंकी भी नष्ट हो जाय तो आप सरोखे परम विवेकियोंके तपश्चरणका परिश्रम व्यर्थ हो चला जाय ॥६५॥ अजित-सेनकी चेष्टाओंमें उदारताका पुट रहता था और उसका मन केवल जिनदीक्षाकी ओर ही लगा हुआ था । उसके मुँहसे उक्त बातें सुनकर मुनिराजने उसके दृढ़ निश्चयको निश्चित रूपमें जान लिया । इसके पश्चात् गुणप्रभने उसे जिनदीक्षाकी अनुमति दे दी ॥६६॥ इसके पश्चात् अजितसेनने मुनिराज गुणप्रभसे जिनदीक्षाको स्वीकृति पाते ही अपने जितशत्रु नामके

१. क ल म घ म 'दृशामेव विवे' । २. आ 'महाव्रतं' इति नास्ति । ३. वा 'वताधिकम्' । ४. = परम्परा । ५. आ वा लिङ् । ६. आ 'लट्' इति नास्ति । ७. वा लट् । ८. वा यतो । ९. = येन । १०. आ मनु । ११. = जितशत्रुसंज्ञकाय सुताय ।

तपश्चरन्धोरमधोरमानसः स्थिरैकपर्यङ्कृतस्थितिर्बहिः ।  
 निनाय निस्त्रिंशद्दिमानिलाहृतो निशा धृतिप्रावरणः स हैमनीः ॥६८॥  
 विभीषणोल्काशतपातदुःसहो घनागमे घोरघनान्धकारिणि ।  
 स बारिधारा मुसलाकृतीः कृती क्षपासु सेहे तरुमूलमास्थितः ॥६९॥  
 तपेऽभिमुख्यं प्रतिमावपस्थितः<sup>१</sup> स तप्तसूचीसदृशै रघेः करैः ।  
 न तुद्यमानोऽपि चञ्चल योगतः स्थिरा हि सन्तः करणीयवस्तुनि ॥७०॥  
 मनो वृक्षद्वन्द्वसु प्रतिक्षणं स भाषनासु भ्रुवमध्रुवादिसु ।  
 क्षुदादिभिः क्षुण्णमदो<sup>२</sup> न बाधितुं पराथ हैर्जानुचिदप्यशक्यत ॥७१॥

तत् । तप. तपश्चरणम् । विमुक्तये मोक्षाय । अग्रहीत् गृह्णाति स्म । ग्रही<sup>३</sup> उपादाने लुङ् । रूपकम् ॥६७॥  
 सप इति । चोरं भयंकरम् । तपः तपश्चरणम् । चरन् आचरन् । अचोरमानसः अचोरं सप्तभयरहितं मानसं  
 मनो यस्य सः । बहिः बाह्यप्रदेशे । स्थिरैकपर्यङ्कृतस्थितिः स्थिरेण दृढेन एकेन पर्यङ्केन पर्यङ्कासनेन कृता  
 विहिता स्थितिः<sup>४</sup> स्थानं यस्य<sup>५</sup> सः । निस्त्रिंशद्दिमानिलाहृतः निस्त्रिंशेन तीक्ष्णेन हिमेन क्षीतलैनानिलेन  
 वायुनाहतः पीडितः । धृतिप्रावरणः धृतिर्धैर्यं सैव प्रावरणं वस्त्रं यस्य सः । सः चक्री । हैमनीः हेमन्तर्तौः  
 संबन्धनीः । हेमन्तशब्दाद् अणि, 'लुक्तोऽणि' इति तलोपे सति हैमन इति भवति, तस्मात् 'टिण्—  
 इत्यादिना डो', हैमनी इति भवति । निशाः रात्रीः निनाय नयतिस्म । णीञ् प्रापणे लिट् ॥६८॥  
 विभीषणेति । विभीषणोल्काशतपातदुःसहो विभीषणानां<sup>६</sup> भयंकराणामुल्काणामावशनीनां शतस्यानेकस्य पातेन  
 पतनेन दुःसहो संदुमशय्ये । घोरघनान्धकारिणि घोरेण भयंकरेण घनेन निरन्तरेण अन्धकारेण युक्ते ।  
 घनागमे अर्धकाले । कृती पुण्यवान् । तरुमूलं वृक्षमूलं । आस्थितः<sup>७</sup> । 'शीङ् स्वासो'<sup>८</sup> इत्यादिना आचारे  
 द्वितीया । सः चक्री । क्षपासु निशासु । मुसलाकृतीः मुसलाकाराः । बारिधाराः जलधाराः । सेहे सहते स्म ।  
 पहि<sup>९</sup> भयंके लिट् । जातिः ॥६९॥ तप इति । तपे श्रोत्रमूले । अभिमुख्यं सूर्याभिमुखम् । प्रतिमावपस्थितः  
 प्रतिमया प्रतिमायोगेन व्यवस्थित आस्थितः<sup>१०</sup> । सः अजितसेनमुनि । तप्तसूचीसदृशः तप्तायाः संतप्तायाः  
 सूच्याः सदृशैः समानैः । करैः किरणैः । तुद्यमानोऽपि पीडयमानोऽपि । योगतः योगात् । न चञ्चल न  
 चलति स्म । चल कम्पने लिट् । सन्तः सत्पुरुषाः । करणीयवस्तुनि करणीये कर्तुं योग्ये वस्तुनि प्रयोगे ।  
 स्थिरा हि निश्चला हि । अर्धान्तरस्यासः ॥७०॥ मन इति । अध्रुवादिसु अनित्यादिसु । द्वादशसु द्वादशविधेषु

पुत्रको राज्य सौप दिया, समस्त परिग्रहका परित्याग कर दिया और फिर संयमके प्रकर्षसे  
 मुशोभित होनेवाले तपको ग्रहण किया ॥६७॥ चक्रवर्ती अजितसेनने जिनदीक्षा लेकर घोर  
 तप तपना शुरू कर दिया । उनके मनमें सात भयोंमें-से कोई एक भी नहीं था । वे नगरके  
 बाहर खुले मैदानमें स्थिरतासे पर्यङ्कासन लगाकर बैठे हुए थे । उन्होंने धैर्यका ओढ़ना ओढ़कर  
 तेज बर्फाली वायुके आघातको सहते हुए हेमन्तकी रातें बितायीं ॥६८॥ भयङ्कर सेकड़ों  
 उल्कापातोंसे असह्य और घोर अन्धकारसे घिरे हुए वर्षाकालमें वे पुण्यवान् चक्रवर्ती मुनि  
 वृक्षके नीचे बैठकर मूसलाधार वर्षा सहते थे ॥६९॥ वे अजितसेन मुनि श्रोत्रमूले सूर्यके  
 सामने प्रतिमायोग लगाकर खड़े हो जाया करते थे । गरमकी गई सुइयोंके समान प्रतीत होने-  
 वाली सूर्यकी किरणोंसे पीडित किये जानेपर भी वे योगसे विचलित नहीं होते थे । सन्त  
 पुरुष निश्चय ही अपने कर्तव्य-मार्गसे कभी डिगते नहीं ॥७०॥ मुनि अजितसेन अपने मनको

१. अ आ इ 'सूर्यं प्रतिमां, क ल ग घ ङ 'सूर्यं प्रतिमं च' । २. आ इ क्षुण्णमयो', क ल ग घ  
 क्षुण्णमना । ३. आ ग्रह । ४. = अवस्थानं । ५. = येन । ६. आ डीपि । ७. क्ष 'विभीषणानां' इति नास्ति ।  
 ८. आ आश्रितः । ९. आ 'अधिशीङ्स्वासां कर्म' अष्टाध्यायी १।४।४६ । १०. आ वह । ११. आ आसितः ।



इत्थं विधाय विविधं स तपस्तपश्चोव्यालिङ्गितः परिणतोऽब्जवत्तथमलेष्टयः ।  
 ध्यायन्गुरुगुणगुरुन् हृदयेन पञ्च प्राणान्समाधिमरणेन मुनिर्मुमोक्ष ॥७२॥  
 प्राप्याच्युतं सपदि कल्पमथाच्युतेन्द्रो भूत्वाप्सरोजनमनो नयनाभिरामः ।  
 सम्यक्परत्नरुचिरोऽनुभवन्स तस्यै दिव्यं सुखं द्वयधिकविशतिसागरायुः ॥७३॥  
 च्युत्वा ततो विगलितायुरसाविहाम्भूस्त्वं रत्नसंचयपुरे नृप पद्मानाभः ।  
 पुत्रो जगद्विजयिनः कनकप्रभस्य माता च ते जनमनोऽह सुवर्णमाला ॥७४॥

( बाधु ) । भावनासु अनुप्रेषासु । ध्रुवं निश्चयेन । प्रतिक्षणं<sup>२</sup> क्षणं प्रति । मनः मानसम् । दधत् धरन्<sup>३</sup> ।  
 क्षुण्णयदः क्षुण्णवर्णोऽङ्गितो मदी येन सः । सः मुनिः । क्षुधादिभिः क्षुत्प्रभृतिः । परोषहैः<sup>४</sup>, जातुचिदपि<sup>५</sup>  
 सङ्गर्षि । बाधितुं पीडितुम् । न अशक्यत न शक्योऽभूत् । शकलं शक्ती कर्मणि लङ् ॥७१॥ इत्थमिति ।  
 इत्थम् अनेन प्रकारेण । विविधं नानाप्रकारम् । तपः तपश्चरणम् । विधाय कृत्वा । तपःश्रोव्यालिङ्गितः  
 तपःश्रिया तपोलक्ष्म्या आलिङ्गितः संविलष्टः । परिणतोऽब्जवत्तथमलेष्टयः परिणताः परिणामं गता उज्ज्वलाः  
 प्र(श्रो)ज्ज्वला वर्णा उत्तमप्रमादयो लेष्टयाः पीतादयो<sup>६</sup> यस्य सः । गुणगुरुन्<sup>७</sup> गुणमंहृतः । पञ्च पञ्च-  
 संख्यान् गुरुन् परमेष्ठिनः । हृदये चित्ते । ध्यायन् चिन्तयन् । सः मुनिः अत्रितसेनमुनिः<sup>८</sup> । समाधिमरणेन  
 समाधिना प्रशस्तध्यानेन युक्तेन मरणेन निश्चयेन । प्राणान् असून् । सुमोक्ष तस्याज । मुचल्लू मोक्षणे लिट् ।  
 जगतिः ॥७२॥ प्राप्तेति । अथ मरणानन्तरम् । अच्युतनामधेयम् । कल्पं स्वर्गम् । सपदि क्षीघ्रम् । प्राप्य गत्वा ।  
 अच्युतेन्द्रः अच्युतामिष्येन्द्रः । भूत्वा जनित्वा । अप्सरोजनमनोनयनाभिरामः अप्सरस एव जना लोका  
 ( अप्सरसा जना वर्गाः ) तेषां मनसां मानसानां नयनाभिरामो ( प्रियो ) मासमानः । सम्यक्परत्नरुचिः  
 सम्यग्वत्त्वमेव श्रद्धानमेव रत्नं तेन रुचिरो मनोहरः । द्वयधिकविशतिसागरायुः द्वाभ्यामधिकविशत्या विशति-  
 प्रमाणैः सागरो सागरोपमैः प्रमितमायुष्यस्य सः । सः अच्युतेन्द्रः दिव्यं स्वर्गजम् । सुखं सौख्यम्<sup>९</sup> । अनुभवन्  
 निर्विशन् । तस्यै आशां वभूव । छा मतिनिवृत्तो छिद् ॥७३॥ च्युत्वेति । नृप भो भूपते । विगलितायुः  
 विगतायुः । असौ अच्युतेन्द्रः । ततः अच्युतकल्पात् । च्युत्वा आगत्य । इह अत्र । रत्नसञ्चयपुरे रत्नसञ्चय-

हर सपय निश्चय ही अनित्य आदि बारह भावनाओंमें लगाये रहते थे—उनके मनमें रह-रह-  
 कर जगत् अनित्य है, अशरण है—इत्यादि भाव उत्पन्न होते थे । गृहस्थ अवस्थामे जिस तरह  
 पूर्ण सफल रहे, उसी तरह वे साधु अवस्थामें भी पूर्ण सफल हुए, फिर भी उन्हें अहङ्कार  
 नहीं था—उन्हें अपने तपका मद नहीं था । भूख, प्यास आदिकी परोषहे उन्हें कभी तनिक  
 भी बाधा नहीं पहुँचा सकी ॥७१॥ इस प्रकार अत्रितसेन मुनिने अनेक प्रकारका तप  
 किया, जिससे उनके ऊपर तपोजनित शोभा दृष्टिगोचर होने लगी—और उनके क्षमा आदि  
 दस धर्मों और दृढ लेख्याओंमे निखार आ गया । गुणोंमें महान् पाँच परमेष्ठियोंका हृदयसे  
 ध्यान करते हुए उन्होंने समाधिमरण पूर्वक प्राणोंका त्याग किया ॥७२॥ इसके पश्चात् वे  
 शीघ्र ही अच्युत नामक सोलहवें स्वर्गमे जाकर अच्युतेन्द्र-अच्युत स्वर्गके इन्द्र हुए । वे वहाँ  
 अप्सराओंके वर्गको अत्यन्त प्रिय थे, इन्हें देखकर अप्सराओंका मन प्रसन्न हो जाता  
 था और उनके नेत्र भी उसीमें रम जाया करते थे । वे सम्यग्दर्शन रूपी रत्नसे सुन्दर  
 थे—सम्यग्दृष्टि थे । बार्हिस सागर तक उन्होंने वहाँका दिव्य सुख भोगा ॥७३॥ आयु  
 समाप्त होनेपर तुम अच्युत स्वर्गसे च्युत होकर रत्न सञ्चयपुरमे लोकविजेता राजा

१. स भूत्वा सरोजनयोः । २. = क्षणं क्षणं प्रति, सर्वदेव—इत्यर्थः । ३. स धरन् ।  
 ४. 'क्षुधाठारामिना पोडा' इति हैमः । ५. आ परिषहैः । ६. स 'अपि' नास्ति । ७. आ हितादयोः ।  
 ८. स 'गुणैः' इति पदं नास्ति । ९. स 'सेन' इति नास्ति । १०. स शासम् ।

जन्मावलीमिति यथावत्सौ निगद्य तूष्णीमभून्मुनिपतिर्मुनिवन्द्यावः ।

राजापि पूर्वभवकीर्तनदृष्टरोमा बद्धाञ्जलिर्यतिवृषं पुनरित्युवाच ॥७५॥

जन्मान्तराणि भगवन्भवतः प्रसादाज्जातानि संशयमुपैति तथापि चेतः ।

तत्प्रत्ययं कमपि नाथ कुठञ्च येन निःसंशया भवति धीर्मम संशयाना ॥७६॥

तद्भारतीमिति निशम्य जगाद् भूपं संदेहपङ्कमपहस्तयितुं मुनीन्द्रः ।

यूयं त्वदीयनगरे दशमेऽङ्गि हित्वा दन्ती मदान्धमतिरेष्यति कश्चिदेक ॥७७॥

नामनगरे । जगद्विजयिनः लोकविजयिनः । कनकप्रमस्य कनकप्रमभूपस्य । पद्मनाभः पद्मनाभ इति पुत्रः तनयः । अभूः अभवः । भू सत्ताया लुङ् । ते तब । जननोद्गसुवर्णमाला जनानां लोकानां मनोज्ञा मनोहर-रूपा सा वासी सुवर्णमाला च तथोक्ता ( जननोद्ग इति पद्मनाभस्य संबोधनमपि भवितुमर्हति ) । माता च जनन्यपि । वशब्दः समुच्चयार्थः, अभूत्—इत्यर्थः । ७४॥ जन्मावलीमिति । मुनिवन्द्यावः मुनिविवन्द्या पादौ चरणौ यस्य सः । असौ मुनिपतिः श्रीधरमुनीन्द्रः । इति उक्तप्रकारेण । जन्मावलि भवावलिम् । यथात्र सत्यरूपम् ( यथा स्यात्तथा ) । निगद्य निरूप्य । तूष्णीं जोषम् । अभूत् अभवत् । पूर्वभवकीर्तन-दृष्टरोमा पूर्वभवानां जन्मान्तराणां कीर्तनेन भाषणेन संतुष्टं रोम रोमाञ्चो यस्य सः । राजापि पद्मनाभोऽपि । बद्धाञ्जलिः सन् रचिताञ्जलिभूत्वा । यतिवृषं यतीनां मुनीनां वृषं श्रेष्ठम् । पुनः पश्चात् । उवाच ब्रवीति स्म । ब्रूयं व्यक्ताया वाचि लिट् ॥७५॥ जन्मेति । भगवन् भौ महारमन् । भवत पूजं स्य तब । प्रमादात् कृपायाः । जन्मान्तराणि भवान्तराणि । जातानि अवबुद्धानि । तथापि, चेतः मम चित्तम् । संशयं संदेहम् । उपैति प्राप्नोति । नाथ भो स्वामिन् । संशयानां संशयं कुर्वाणा । मम मे । वोः बुद्धिः । येन केन (?) प्रत्ययेन । निःसंशया संदेहरहिता । भवति जायते । कमपि, तत्प्रत्ययं स चासौ प्रत्ययश्च तत्प्रत्ययः, तं, विद्वामम्—इत्यर्थः । कुठञ्च विधेहि । दुकञ् करणे लोट् ॥७६॥ तदिति । मुनीन्द्रः मुनिपतिः । इति एवम् । तद्भारतीं तस्य भूपस्य भारतीं वाचम् । निशम्य श्रुत्वा । संदेहपङ्क<sup>३</sup> संशय एव मलम् । अपहस्तयितुं निवारयितुम् । भूयः पश्चात् । जगाद् उवाच । गद व्यक्ताया वाचि । मदान्धमतिरेष्यति मदेनान्धा मतिर्यस्य सः । कविबत् एकः । दन्ती भद्रगवः । यूयं गङ्गमूढम् । हित्वा त्यक्त्वा । दशमे अङ्गि दिवसे । त्वदीयनगरे त्वदीये<sup>१</sup> तब संबन्धे नगरे पुरे । एष्यति आगमिष्यति । इण् गतौ लट् । जातिः

कनकप्रभके यहाँ उनकी रानी सुवर्णमालाको कुक्षिसे पद्मनाभ नामक राजकुमार हुए हो । राजकुमार । तुम प्रजाजनको अत्यन्त प्रिय हो ॥७४॥ इस प्रकारसे पद्मनाभके पिछले भवोंकी परम्पराको ठीक-ठीक बतलाकर श्रीधर मुनिराज—जो समस्त मुनियोंके द्वारा बन्दनीय थे—मौन हो गये । पूर्व जन्मोंकी चर्चा सुनकर पद्मनाभको रोमाञ्च हो आया । उसने हाथ जोड़कर मुनिराजसे पुनः यों कहा—॥७५॥ भगवन् ! आपकी कृपासे मैंने अपने पिछले भवोंको जान लिया है, फिर भी मेरा मन संशयमें पड़ा हुआ है । अतः मुझे कोई विद्वान् जनक बात बतलाइये, जिससे मेरी संशय-बुद्धि, संशय रहित हो जाय ॥७६॥ पद्मनाभके ये वचन सुनकर श्रीधर मुनिने उसके संशयके मेलको दूर हटानेके लिये यों कहा— आजसे दसवें दिन एक मदी-

१. क ख ग घ म 'मुनिवृषं' । २. स लेट् । ३. संदेहः संशयः स एव पङ्को मलः, तम् ।

४. = भवदीये ।

तत्प्रत्ययात्स्वयमिदं नखिरेण राज्ञिदृष्टेयसि त्वमखिलं वचनं मनुकम् ।  
 प्रत्यक्षमन्यदधवा जगति प्रमाणं संवादकं मतिमतां सकलं प्रमाणम् ॥७८॥  
 प्रह्लादिनेति वचसा वदतां वरस्य निर्धूय संशयमलं विरतस्य साधोः ।  
 पादौ प्रणम्य शिरसा व्रतभूषिताङ्गः प्रत्याययौ निजपुरं प्रति पद्मनाभः ॥७९॥  
 आकस्मिकोद्गतबृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यजनोक्तकिमिदं ध्वनिपूर्वमाणः ।  
 तस्मिन्मुनीन्द्रकथितेऽथ दिने तुरंगानुत्कर्णयन्कलकलोऽतिमहान्बभूव ॥८०॥  
 किं किं किमेतदुपयाहि विलोकयेति संप्रष्टरि क्षितिभुजि त्वरितं प्रगत्य ।  
 कश्चिन्निवृत्त्य पुनरित्यवदद्वचस्वी निर्णीतलोकविषयाकुलतानिमित्तः ॥८१॥

॥७८॥ सति । राजन् भूप । तत्प्रत्ययात् तद्विषयात् । मनुकं मया उक्तं प्रोक्तम् । इदं तु एतत् तु [ इदम् एतत् ] । अखिलं सकलम् । वचनं वचः । त्वं स्वयमेव त्वमेव । अखिरेण शीघ्रम् । निश्चेयसि निर्णयं करिष्यसि । किन् वचने लूट् । अथ । जगति लोके । प्रत्यक्षं विशदरूपम् । अन्धता परोक्षरूपं वा । प्रमाणं ज्ञानम् । मतिमतां बुद्धिमताम् । संवादकं सत् विषयाम्यभिचारं सत् । सकलं सर्वम् । प्रमाणं सत्यवचनं स्यात् । जातिः । ७८॥ प्रह्लादिनेति । प्रह्लादिना संतोषकरणशौलेन । वचसा वचनेन । संशयमलं संदेहमलम् । निर्धूय निराकृत्य । विरतस्य महाव्रतयुक्तस्य । वदतां वरस्य वदता वामिना वरस्य श्रेष्ठस्य । साधोः मुनिपत्य । पादौ चरणौ । [ शिरसा प्रणम्य ] । व्रतभूषिताङ्गः अणुगुणादिव्रतेन भूषितमलकृत-मङ्गमवयवो यस्य सः । पद्मनाभः पद्मनाभभूषः । 'नाभेर्नाम्नि' इत्यदन्तः । शिरसा मस्तकेन । प्रणम्य नमस्कृत्य । निजपुरं स्वराजधानीम् । प्रति, प्रत्याययौ प्रत्याजगाम । या प्रापणे लिट् ॥७९॥ आकस्मिकेति । अथ आगमनानन्तरम् । मुनीन्द्रकथिते मुनीन्द्रेण श्रीधराचार्येण कथिते प्रोक्ते । तस्मिन् दशमे । दिने दिवसे । आकस्मिकोद्गतबृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यजनोक्तकिमिदं ध्वनिपूर्वमाणः आकस्मिकेन अकारणेन उद्गतस्तथोक्तः, परेषां शत्रूणां चक्रं सेना तदिति शङ्का संदेहस्तथा त्रसन्तो बिम्बन्तस्ते च ते जनाश्च, त्रस्यजनैश्चकस्तथोक्तः, किमिदम् इति ध्वनिस्तथोक्तः, आकस्मिकोद्गतेन बृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यजनोक्तकिमिदमिति ध्वनिना पूर्वमाणो व्याप्यमानस्तथोक्तः । तुरङ्गान् अश्वान् । उत्कर्णयन् उद्गतकर्णान् कुर्वन् । अतिमहान् अत्यन्तं महान् । कलकलः कलकल इति ध्वनिः । बभूव भवति स्म । जातिः ॥८०॥ किमिति । एतत् इदम् । किं किं किम् । 'संभ्रमेऽसकृत्' इति असकृत्प्रयोगः । उपयाहि गच्छ । विलोकय इति बोधस्त्व इति । क्षिति-

न्मत्त हाथी अपने झुण्डको छोड़कर तुम्हारे नगरकी ओर आयगा ॥७७॥ राजन् । उस हाथी-को देखकर तुम्हें विश्वास हो जायगा, फिर तुम स्वयं शीघ्र ही मेरी कही सारी बातोंकी सचाई-का निश्चय कर लोगे । क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सभी प्रमाणोंका प्रामाण्य (सचाई) तभी सिद्ध होता है, जब वे विद्वानोंको दोष रहित दृष्टिगोचर होते हैं ॥७८॥ श्रीधर मुनि, श्रेष्ठ वक्ता थे । उन्होंने उक्त आह्लादजनक बात कहकर राजा पद्मनाभका संशयका मेल दूर कर दिया । जब वे उत्तर दे चुके, तब व्रतोंसे विभूषित—व्रतौ पद्मनाभ उनके चरणोंमें प्रणाम करके अपने पुरकी ओर चला गया ॥७९॥ अपनी राजधानीमें पहुँचनेपर मुनिराजके कथनानुसार दसवें दिन बहुत भारी कोलाहल हुआ, जिससे घोड़े चौंक उठे, और उनके कान खड़े हो गये । कोलाहलमें, अचानक ही बहुत बड़े शत्रुओंके गिरोहके आक्रमणकी धंकासे डरे हुये लोगोंकी 'यह क्या है ? यह क्या है ?' यह ध्वनि मिली हुई थी—॥८०॥ 'क्या, क्या, क्या

१. आ वा मयोक्तं मया प्रोक्तम् । २. = त्वं स्वत एव । ३. = अथवा । ४. वा 'सकल' इति नास्ति । ५. श वडिम्भा । ६. वा आकस्मीति । ७. वा गमनानन्तरम् । ८. वा व्याप्तं । ९. = कोलाहल इति यावत् । 'कोलाहलः कलकलः' इति हैमः ।

कोऽपि क्षरत्करटमिति कथेत्येव दन्ती कुतोऽपि सुरदन्ति समानसत्त्वः ।  
 हन्युद्यतः सकलमेव पुराद्विद्विष्य लोकं त्वदीयभुजरक्षितमारुन्तम् ॥८२॥  
 निष्क्रामति प्रविशति प्रकटोऽथ वा यः सर्वः स तत्करपराहतिचूर्णिताङ्गः ।  
 दिग्भ्यो बलिर्भवति किं बहुना जनानां संहारकाल इव स द्विपक्षधारी ॥८३॥  
 इत्यागमं करटिनो मुनिस्त्वितस्य भूत्वा जहर्ष हृदयेऽधिपतिर्धरित्र्याः ।  
 भेजे विषादमपि किञ्चिदुदारबुद्धिर्दुःसाध्यतां चरिमुशन्नमनसा तदीयाम् ॥८४॥

भुजि राजि । स्वरितं शोघम् । संघट्टि<sup>१</sup> सति संभृण्वति सति । वचस्वी वचोहरः । कश्चित् एकः । प्रगत्य<sup>३</sup>  
 एत्य । निर्णीतलोकविषयाकुलतानिमित्तः लोको जनः स एव विषयो यस्याः सा तयोक्ता, सा वासावाकुलता  
 च तयोक्ता, तस्या निमित्तं तयोक्तं, निर्णीतं निश्चितं लोकविषयाकुलतानिमित्तं येन सः । पुनः पश्चात् ।  
 निवृत्य आगत्य । इति एवम् । अवदत् वदति स्म । वद व्यक्तितया वाचि लङ् । संशयः (?) ॥८१॥  
 क इति । देव भो. स्वामिन् । क्षरत्करटमितिभिः<sup>४</sup> ( त्तः ) द्रवत्कपोलप्रदेशे. ( सः ) । सुरदन्तिसमानसत्त्वः  
 सुरदन्तिन ऐरावतस्य समानं सदृशं सत्त्वं सामर्थ्यं यस्य सः । उद्धत. गवित । कोऽपि एकः । दन्ती गजः ।  
 कुतोऽपि<sup>५</sup> कस्मादपि । उपेत्य आगत्य । त्वदीयभुजरक्षितं त्वदीयेन<sup>६</sup> तव संवन्धेन । भुजेन बाहुना । रक्षितं  
 पालितम् । आरुन्तम् आक्रोशन्तम् । पुरात् नगरात् । बहिष्य बाह्यस्थितम् । सकलमेव सर्वमेव । लोकं  
 जनम् । हतिं हिनस्ति । हन् हिंसागत्योल्ङ् । जातिः ॥८२॥ निष्क्रामतीति । यः जनः । प्रकटः प्रकटो  
 भूत्वा । निष्क्रामति निर्गच्छति । अथवा प्रविशति<sup>७</sup> अन्तर्गच्छति । सः सर्वः जनः । तत्करपराहतिचूर्णिताङ्गः  
 तस्य गजस्य करस्य गुण्डायाः पराहत्या आहत्या चूर्णितं पेषितमङ्गं जग्य यस्य सः, सन् । दिग्भ्यः अष्ट-  
 दिशाभ्यः<sup>८</sup> । बलिः, भवति जायेत । जातिः । बहुना बहुनोक्तेन । किं प्रयोजनम् । जनानां लोकानाम् ।  
 सः गजः । द्विपक्षधारी द्विपक्ष गजस्य रूपधारी वेपथारी । संहारकाल इव प्रलयकाल इव भवति ।  
 उत्प्रेक्षा ॥८३॥ हतीति । उदारबुद्धिः उदारा बुद्धियस्य सः । चरित्र्याः भूमेः । अधिपतिः प्रभुः । मुनिस्त्वितस्य  
 मुनिनिरूपितस्य । करटिनः दन्तिनः । आगमम् आगमनम् । इति एवम् । भूत्वा आकर्ण्य । हृदये चित्ते ।  
 जहर्ष तुतोष । हृष्य<sup>९</sup> अलोकं<sup>१०</sup> लिट् । तदीयां गजसंबन्धिनीम् । दुःसाध्यतां साधयितुमशक्यताम् । मनसा

है यह, जाओ देखो' राजाके यह पूछने या कहने पर कोई दूत वहाँसे शोघ ही निकल करके  
 और लोगोंकी आकुलताके कारणको ठीक-ठीक जान करके वापस लौट आया और पक्षप्रभसे  
 यो कहने लगा—॥८१॥ राजन् ! कहींसे एक हाथी आ घमका है । उसके गण्डस्थलसे मद-  
 जल बह रहा है । वह ऐरावतके समान बलवान् है और है उद्धत । वह आपकी बाहुओंसे  
 सुरक्षित, नगरके बाहर स्थित सभी लोगोंको मारे डालता है, इसीलिए वे सब 'त्राहि-त्राहि'—  
 'बचाओ' 'बचाओ' की रट लगा रहे हैं—चिल्ला रहे हैं ॥८२॥ कोई निकल रहा  
 हो, कोई प्रवेश कर रहा हो या कोई और भी किसी रूपमें प्रकट होता देख पड़ रहा  
 हो तो वे सब-के-सब उसकी सूंडकी प्रहारसे चूर-चूर होकर दिशाओंकी बलि होते जा रहे  
 हैं । बहुत कहनेसे क्या लाभ ? संक्षेपमें इतना समझ लीजिये कि मनुष्योंके लिए वह  
 हाथीका रूप धारक करके आया हुआ प्रलयकाल ही जान पड़ता है ॥८३॥ उदार बुद्धि-  
 वाला राजा पक्षनाभ इस तरह हाथीके—जिसकी सूचना श्रीधर मुनि नौ दिन पहले ही दे

१. आ इ दु.साधनां । २. =पूछके । ३. = गत्या । ४. य 'कटमितिभिः । ५. = कश्चित् ।  
 ६. कुतश्चित्पि प्रदेशात् । ७. = अवधीयेन । ८. स अ.प्रविशति । ९. अ. योक्ति । १०. आ 'दिशात् ।  
 ११. आ हृष्य । १२. 'अलोकमानवः' इति काशकृत्स्नपातुपाठीयकम्पठकोका (पृ० ६१) ।

तस्माच्च दुष्टकरिणो यदि पौरलोकं रक्षामि तन्मम वृथा क्षितिपालशब्दः ।  
 संचिन्तयन्निति स बाहुबलाद्वितीयो<sup>१</sup> निर्गत्य तस्य बलिनोऽभिमुखीभवूव ॥८५॥  
 बद्ध्वा दृढं परिकरं<sup>२</sup> विनिवार्य दूरं सामन्तलोकमिममाजुहुवे तमेकः ।  
 सोऽभ्युन्नम्य करमुन्नतपूर्वकायस्तत्संमुखं प्रचुररोषवशाद्वाधात् ॥८६॥  
 तस्यायतः<sup>३</sup> करिवधूष्णितभूतसिक्तं चिक्षेप वस्त्रमभिवक्त्रमसौ करेणो ।  
 यावत्त शक्तिमुपगच्छति तत्र तावत्पार्श्वं निपत्य लघुटेन जवाजघान ॥८७॥  
 यावत्पुनः स बलतेऽभिमुखं जवेन तावद्भूव वसुधापतिरभ्यपार्श्वं ।  
 तत्रापि चाह्वयति यावत्सौ निवृत्त्य<sup>४</sup> हस्तं तलेन निरियाय स तावदीशः ॥८८॥

चिन्तेन । परिमृशन् विचारयन् । किञ्चित् ईदृशं । विषादमपि खेदमपि । भजे भजति स्म । भज सेवाया  
 लिट् । अनुमितिः (?) ॥८४॥ तस्मादिति । यदि तस्मात्<sup>५</sup> दुष्टकरिणः दुष्टज्जात् । तं पौरलोकं पौरजनम् ।  
 न रक्षामि न पालयामि चेत् । मम [ तद् मम ] मे । क्षितिपालशब्दः क्षितिपाल इति शब्दः । वृथा इति  
 निष्फलम् इति । संचिन्तयन् विचारयन् । बाहुबलाद्वितीयः बाहुबलेन भुजबलेन अद्वितीय उपमाराहितः । सः  
 पद्मनाभः । निर्गत्य निर्याय । बलिनः शक्तिमत्तः । तस्य दन्तिनः । अभिमुखोऽभूव प्रागनभिमुख इदानी-  
 नमभिमुखोऽभूव, इति ॥८५॥ बद्ध्वा इति । परिकरम्<sup>६</sup> अङ्कुशाद्युपकरणं परिवार वा । दृढं गाढम् । बद्ध्वा ।  
 दूरे विप्रकृष्टे । सामन्तलोकं राजलोकम् । विनिवार्य निरुध्य । एकः असहायो राजा । तमिमं तं गजम् ।  
 आजुहुवे आकारयति स्म । क्लेश् स्टाडिवा ( शब्दे च ) निट् । उन्नतपूर्वकाय उन्नतः पूर्वकाया यस्य सः  
 सोऽपि गतोऽपि । करं शुण्डादण्डम् । उन्नतय उद्धृत्य । प्रचुररोषवशात् प्रचुरस्य प्रकृष्टस्य रोषस्य कोपस्य  
 वशात् । तत्संमुखं तस्य भूतस्य ( संमुखम् ) अभिमुखम् । अधावत् धावतिस्म । सु गतो लङ् । 'संतर्षी वेगे'  
 इति धावादेशः । जातिः ॥८६॥ तस्थेति । असौ राजा । आयतः आगच्छतः । तस्य कारेणोः 'करेणुरिभ्यो'  
 स्त्री नेभे' इत्यमरः, गजस्य । करिवधूष्णितभूतसिक्तं करिणो गजस्य वक्षः वनिताया उज्जितेन मूत्रेण सिक्तं  
 सेवितम् । वस्त्रं चेलम् । अभिवक्त्रं वक्त्रस्थोपरि । 'लक्षणोनाभि—' इत्यादिना अव्ययीभावः । चिक्षेप  
 निक्षिप्तवान् । क्षिप प्रेरणे लिट् । स. गजः । तत्र वस्त्रे । सवितम् आसवितम् । यावत्, उपगच्छति उपयाति  
 तावत्, जवात् शीघ्रम् । पार्श्वं पार्श्वभागे । निपत्य आगत्य । लघुटेन दण्डेन । जघान ताडयतिस्म । हन  
 हिंसागम्योलिट् ॥८७॥ यावदिति । सः गजः । पुनः पश्चात्<sup>७</sup> । अभिमुखं स्वस्याभिमुखम् । बलते श्रावतेते ।  
 बलि बलि सवरणे लट् । अतावत् तावन्मात्रे । वसुधापिपः पद्मनाभः । जवेन शीघ्रम् । अभ्यपार्श्वं अभ्यस्मन्

चुके धे—आनेके समाचार सुनकर मन-हो-मन प्रसन्न हुआ, और अपने मनसे यह सोचकर  
 कि उसे बशमे करना कठिन है, कुछ खिन्न भी हुआ ॥८४॥ यदि मैं उस दुष्ट हाथीसे अपने  
 पुरवासी लोगोंको नहीं बचाता, तो मेरा 'क्षितिपाल' शब्द व्यर्थ है । इस तरह सोचता हुआ  
 वह राजा पद्मनाभ—जो बाहुबलमें बेजोड़ था—राजमहलसे निकलकर उस बलवान् हाथीके  
 सामने जा पहुँचा ॥८५॥ खूब मजबूतीसे कमर कसकर और सामन्त लोगोको दूर हटाकर  
 अकेले पद्मनाभने ही उस हाथीको ललकारा । वह भी अपनी सूँडकी ऊपर उठाकर तथा  
 अगले भागकी कुछ ऊपर उठाकर बड़े रोषसे उसके सामने दोड़ा ॥८६॥ दौड़कर सामने आते  
 हुए उस हाथीके मुखपर पद्मनाभने हथिनोकी पेशाबसे सिञ्चित कपड़ा फेंक दिया । उधर वह  
 उस कपड़ेमें आसक्त होता है इधर पद्मनाभ शीघ्र ही उसकी बगलमें जाकर डण्डेका प्रहार  
 कर देता है ॥८७॥ जब-तक पुनः वह सामने आनेको हुआ, तब-तक पद्मनाभ शीघ्र ही

१. अ क ख ग घ ङ 'बलद्वि' । २. अ 'प्रतः' । ३. आ ह क ख ग घ ङ विवृत्य । ४. य यस्मात् ।  
 ५. = कटि वा । ६. आ 'पुनः पश्चात्' इति नास्ति ।

पश्चात्पुरोऽप्युभयतश्च गजाधिपस्य बभ्राम तस्य स तथा निजलाघवेन ।  
 सर्वैर्यथा परिधिस्तौघतलाधिरुढैः सर्वासु दिक्षु युगपदह्ये जनौघैः ॥८६॥  
 निःस्पन्दं गजमिति संविधाय तस्य स्कन्धेऽसौ विधृतस्तृणिः समारोहः ।  
 तुष्टेनामरनिवहेन लोलभृङ्गः पुष्पौघैर्दिधि विविजैर्विधीर्यमाणः ॥८७॥  
 अनुपमबलवीर्यैः संमुखीभूय सर्वैः करिपतिरुधैर्यैः सुरैरप्यसाध्यः ।  
 तमकुलत स चक्ष्यं लीलया चारुलीलो नहि जगति नराणां पुण्यभाजामसाध्यम् ॥८८॥

पाद्वभागे । बभूव भवति स्म, अन्यथाश्वे स्थितवान्—इत्यर्थः । असौ गजः तत्रापि अन्यपाद्वेऽपि । निवृत्य  
 चलित्वा । हस्तं गुण्डादण्डम् । यावत्, बाह्वयति प्रापयति । बहिः प्रायणे लट् ॥ तावदेव, सः ईशः पद्मनाभः  
 तलेन जठरतलेन । निरिवाय निजंगाम । इण् मतो लिट् ॥८८॥ पश्चादिति । सः राजा । तस्य गजाधिपस्य  
 मद्रगजस्य । पश्चादपि पृष्ठभागे । पुरोऽपि अग्रभागेऽपि । उभयतश्च उभयभागयोरपि । परिधिसौघतलाधि-  
 रुढैः परिधेः प्राकारस्य सौधानां राजसदनानां तलानि प्रदेशान् अधिरुढैः आरुढैः । सर्वैः सकलैः । जनौघैः  
 जनसमूहैः । यथा येन प्रकारेण । सर्वासु सकलासु । दिक्षु दिशासु । युगपत्, दृष्टे दृश्यते स्म । दृष्टं प्रेक्षणं  
 कर्मणि<sup>१</sup> लिट् । तथा तेन प्रकारेण । निजलाघवेन स्वस्याभ्यासेन बभ्राम भ्रमति स्म । भ्रम् चलने लिट् ॥८९॥  
 निःस्पन्दमिति । विधृतस्तृणिः<sup>२</sup> भृताङ्कृशः । असौ पद्मनाभः गजं करिणम् । इति एषम् । निगन्दं चलनरहितं  
 यथा तथा । संविधाय कृत्वा । दिवि आकाशे । तुष्टेन संतुष्टेन । अमरनिवहेन अमराणां देवानां निवहेन  
 समूहेन । लोलभृङ्गं लोला<sup>३</sup> लालसा भृङ्गा येषु तैः । दिविजैः स्वर्गजैः । पुष्पौघैः कुसुमौघैः । विधीर्यमाणः  
 सन् । [ तस्य गजस्य । स्कन्धे स्कन्धप्रदेशे । समारोहं चटति स्म । ] ॥९०॥ अनुपमेति । यः<sup>४</sup> उरुधैर्यः  
 ( यैः ) महाधैर्ययुक्तः ( क्ते ) । अनुपमबलवीर्यैः<sup>५</sup> अनुपमरूपमालोत्तैर्बलैरौपाधिकशक्तिविधौघैः स्वाभा-  
 विकशक्तिमिश्रं ( अनुपमं बलं वीर्यञ्च येषां तैः ) । सर्वैः सकलैः । सुरैरपि देवैरपि । असाध्यः साध्यितु-  
 मशक्यः करिपति गजपतिः । तं गजम् । चारुलीलः मनोहरविलासः । सः पद्मनाभः संमुखीभूय अभिमुखं  
 गत्वा । लीलया विलासेन । वक्ष्यं वक्ष्यतम् । 'वक्ष्यपथ्य—' इत्यादिना साधुः । अकुलत अकृत । हुकुम् करणे  
 लङ् । जगति लोके । पुण्यभाजं पुण्ययुक्तानाम् । नराणां पुरुषाणाम् । असाध्यं साध्यरहितम् । कार्यं नहि

दूसरी बगलमे ( जिधरसे डण्डा मारा था, उधर नहीं ) पहुँच गया । उस ओर भी जबतक  
 वह मुड़कर सूँढ़ फटकारता है तबतक वह राजा उसके नीचेसे निकल गया ॥८८॥ राजा  
 पद्मनाभ उस गजराजके आगे, पीछे और दोनों बगलोंमें भी बढ़ी ही फुर्तीसे ऐसे ढंगसे घूम रहा  
 था, जिससे चहार-दीवारी और महलोकी छतोंपर चढ़कर देखनेवाले सभी मनुष्योंके द्वारा वह  
 सारा दिशाओंमें एक ही साथ देखा गया ॥८९॥ इस तरह हाथीको इतना पस्त कर दिया  
 कि उसे अपने अवयवोंका हिलाना-डुलाना भी कठिन हो गया ( निःस्पन्दम् )' फिर वह हाथ-  
 में अंकुश लेकर उसके कन्धेपर सवार हो गया । यह देखकर देववृन्दने सन्तुष्ट होकर उसके  
 ऊपर दिव्य पुष्पोंकी—जिनके ऊपर भौंरे महरा रहे थे—वर्षाकी ॥९०॥ अतुल बल और अनुपम  
 पराक्रमवाले, एवं अत्यधिक धैर्य धारण करनेवाले सभी देवलोग भी सामने जाकर जिस हाथी-  
 को अपने वशमें नहीं कर सकते थे, उसे सुन्दर विलास करनेवाले पद्मनाभने खेल-खेलमें अपने  
 अधीन कर लिया । सच तो यह है कि इस जगत्में पुण्यवान् मनुष्योंके लिए कोई भी काम कठिन

१. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । २. आ दुषिर् । ३. आ 'कर्मणि' इति नास्ति । ४. = धृता-  
 कृशः । ५. = चञ्चकाः सत्पुण्या वा । ६. = गजः । ७. वा 'वीर्यः' । ८. = दुर्घटं कठिनं दुःसाध्यं वा ।

यस्मात्केलिमसाधुवासं विदधत्तद्विदयः सद्गने  
तस्मात्तं वनकेलिरित्युचितं नाम्ना प्रघोष्यामुना ।  
प्राविशत्कितियो महेन महता चञ्चत्पताकं पुरं  
शृङ्खल्यौरजनेः प्रहृष्टदयैरुद्गीयमानं यशः ॥९२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुद्ध्याङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये एकादशः सर्गः ॥११॥

नास्ति हि । अर्धान्तराग्यासः ॥९१॥ यस्मादिति । लब्धोदयः प्राप्तनामर्थः । अक्षो पदानामः । यस्मात्  
कारणात् । सद्गने सधोचोनारण्ये । केलि क्रीडाम् । विदधत् कुर्वन् । उवास वसति स्म । वस निवासे लिट् ।  
तस्मात्, तं गजम् । वनकेलिः इति वनक्रीडा इति (?) । अवितथ सत्यं यथा तथा । अमुना एतेन । नाम्ना  
नामधेयेन । [ प्रघोष्य घोषयित्वा ] प्रहृष्टदयैः संतुष्टचित्तैः । वीरजनेः पुरजनेः । उद्गीयमानं प्रस्तूय-  
मानम् । यशः कीर्तिम् । शृङ्खल्य आकर्णयन् । कितिरः पदानामः । महता पटुना<sup>४</sup> । महेन उत्सवेन । चञ्च-  
त्पताकं चञ्चल्यो भासमानाः पताका वैजयन्त्यो यस्य<sup>५</sup> तत् । पुर रत्नसंलयपुरम् । प्राविशत् प्रविशति स्म ।  
विश प्रवेशने लुङ् ॥९२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुद्ध्याङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं<sup>६</sup> च  
विद्वन्मनोबल्लभाख्ये<sup>७</sup> एकादशः सर्गः ॥११॥

नही है ॥९१॥ हाथीको वशमें करके पदानाभ चूँकि सुन्दर वनमें क्रीडा करने लगा और फिर  
वहीं पर ठहर भी गया, इसलिए उसने हाथीका 'वनकेलि' यह सार्थक नाम घोषित कर  
दिया । इसके उपरान्त उसने राजधानीमें प्रवेश किया, जहाँ बड़ा भारी उत्सव मनाया जा  
रहा था, पताकाएँ फहरा रहीं थी और पुरबासी लोग प्रसन्न चित्त होकर पदानाभका यशो-  
गान कर रहे थे ॥९२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उद्वाङ्गे चन्द्रप्रम चरित महाकाव्यमें  
ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११॥

१. अ तस्मात् । २. अ 'विमसाधुना स' । ३. क ल ग घ म प्रघोष्या<sup>८</sup> । ४. आ पृथुना ।  
५. ± यस्मिन् । ६. का तद्व्याख्यायां । ७. का 'वल्लभाख्यायां' ।

## [ १२. द्वादशः सर्गः ]

अथ कश्चिदुपेत्य शासनाभिजमर्तुर्विदितः समागतम् ।  
 तमिलाधिपतिं कुशाग्रधीरिदमूचे वचनं वचोहरः ॥१॥  
 रविणेव निजेन तेजसा कठिनांस्तापयता महीभृतः ।  
 विहिताः सह मित्रबान्धवै रिपवो येन महापदाश्रिताः ॥२॥  
 परया प्रभुशक्तिसंपदा परिरक्षन्सकलां वसुंधराम् ।  
 नयति प्रथितं यथार्थतां पृथिवीपाल इति स्वनाम यः ॥३॥  
 नयविक्रमशक्तिशोभितो मतिमान्यो द्वितयेन मानदः ।  
 प्रणतेषु ददाति नाभवद्व्यतिना तद्विपरीतवृत्तिषु ॥४॥

अथेति । अथ गजवशीकरणानन्तरम् । कुशाग्रधीः कुशस्य धर्मस्याग्रमिव धीर्बुद्धिर्यस्य सः, तीक्ष्ण-  
 बुद्धिः—इत्यर्थः । विदितः प्रवीतः । कश्चित् एकः । वचोहरः वृत्तः । निग्रभतुः स्वस्य स्वामिनः । शासनात्  
 आज्ञायाः । समागतम् आस्थानगतम् । तम् इलाधिपतिं पद्मानभमहीपतिम् । उपेत्य गत्वा । इदम् एतत् ।  
 वचनं भाषणम् (वचः) । ऊचे जगद । ब्रू व्यक्तायां वाचि लिट् । बैताली (विशोगिनी) वृत्तम् ॥१॥  
 रविणेति । रविणेव सूर्येणैव । निजेन स्वकीयेन । तेजसा प्रतापेन । कठिनान् कर्कशान् । महीभृतः क्षिति-  
 पतीन्, (पक्षे) पर्यन्तान् । तापयता संतापयता, पीडयता—इत्यर्थः । येन राज्ञा । रिपवः शत्रवः । मित्र-  
 बान्धवै मित्रबन्धुभिः । सह साकम् । महापदं महास्थानम्, वैरिपक्षे महाविपदम् आश्रिताः ।  
 विहिताः कृताः । इलेवः ॥२॥ परयेति । परया प्रकृष्टया । प्रभुशक्तिसंपदा प्रभुशक्तेः संपदा समृद्धया<sup>१</sup> ।  
 सकलां समस्ताम् । वसुंधरां भूमिम् । परिरक्षन् पालयन् । यः राजा । प्रथितं प्रसिद्धम् । पृथिवीपालं<sup>२</sup>  
 इति स्वनाम स्वैव नामधेयम् । यथार्थतां सत्यार्थमुक्तस्त्वम् । नयति प्रापयति । जीञ् प्रापणे लट् ॥३॥  
 नयेति । नयविक्रमशक्तिशोभितः नयेन नोभया विक्रमेण पराक्रमेण शक्तिभिः त्रिशक्तिभिः शोभितो विराजितः ।  
 यः राजा । प्रणतेषु विनतेषु । ददातिना दानक्रियया । तद्विपरीतवृत्तिषु तस्य प्रणम्यस्य विपरीता प्रणमनर-

इसके पश्चात् एक दिनकी बात है राजा पद्मानभ अपनी सभामें बैठा हुआ था, इतने-  
 में प्रवेशकी स्वीकृति लेकर उसके पास एक कुशाग्रबुद्धि दूत आया, जो अपने स्वामी पृथिवी-  
 पालके आदेशके अनुसार यों कहने लगा—॥१॥ राजन् ! पृथिवीपाल राजा सूर्यके समान  
 है । जिस प्रकार सूर्य अपने तेजसे कठोर पहाड़ोंको तपाकर अपने स्नेही कमल-बन्धुओंको लक्ष्मी-  
 का स्थान बना देता है और कुमुद आदि शत्रुओंको विपत्तिमें डाल देता है—संकुचित कर देता  
 है । इसी प्रकार हमारा पृथिवीपाल राजा अपने प्रतापसे कठोर और घमण्डी राजाओंको सन्ताप  
 देता है, मित्रों और बन्धुओंको उन्नत पद प्रदान करता है और शत्रुओंको बड़े विपदाओंमें गिरा  
 देता है ॥२॥ राजन् ! उत्कृष्ट प्रभुशक्ति अर्थात् सेना और कोषकी समृद्धिसे सारी पृथिवीका  
 पालन करके हमारा राजा अपने पृथिवीपाल इस प्रसिद्ध नामको सार्थक कर रहा है । ( पृथिवी  
 पालयतीति पृथिवीपालः—जो पृथिवीका पालन करे, उसे पृथिवीपाल कहते हैं ) ॥३॥ राजा  
 पृथिवीपाल नीति, पराक्रम, प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साह शक्तिसे सुशोभित है, बुद्धिमान्



परिरभ्य दृढं स मत्प्रभुमयि संकामितवाक्यपद्धतिः ।  
 वदतीति भवन्तमक्षतप्रणयं दूतमुखा हि पार्थिवाः ॥५॥  
 महतामतिदूरवर्तिनोऽप्यनुरागं जनयन्ति ते गुणाः ।  
 शरदभ्रनिभा गमस्तयः कुमुदानामिव कौमुदीपतेः ॥६॥  
 तव कीर्तिमिरेव सर्वदिग्वितताभिर्विनयैकवृत्तिता ।  
 सुमनोमिरिवानुमीयते फलसंपन्नमहती महातरोः ॥७॥

हिता वृत्तिर्वर्तनं येषां तेषु । छतिना खण्डनक्रियया । दो अवलण्डने । तद्विदितये द्वयत्रयवे । प्रणते प्रणतजने ।  
 दितयेन द्वयत्रयवेन । मानदः मानं पूर्णां ददातीति मानदः पूजादायकः । मानमहंकारं दति खण्डयतीति  
 मानदो गर्वखण्डनः । प्रणतपक्षे पूजादायकः, तत्र दुःख, दाने, तद्विपरीतपक्षे गर्वखण्डनः, तत्र दो अवलण्डने ।  
 अमवत् अभूत् । भू सत्ताया लङ् । इत्येवः ॥४॥ परिरभ्येति । मयि, संकामितवाक्यपद्धतिः संक्रामिता स्थापिता  
 वाक्यस्य पदसमुदायस्य पद्धतिर्धोरणी येन सः । मत्प्रभुः मम मे प्रभुः स्वामी । अक्षतप्रणयम् अक्षतोऽखण्डितः  
 प्रणयः प्रीतिर्यस्मिन् कर्मणि तत् । भवन्तं पूज्यं स्वाम् । परिरभ्य आलिङ्ग्य । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण<sup>१</sup> ।  
 वदति व्रतीति । पार्थिवाः राजानः । दूतमुखाः हि दूता एव मुखं वदनं येषां ते तथोक्ताः । अर्धान्तरन्यासः ॥५॥  
 महतामिति । अतिदूरवर्तिनोऽपि अतिदूरं वर्तते इत्येवं शीलः ( अतिदूरवर्त्ता ) तस्य । [ ते तव ] । शरद-  
 भ्रनिभाः शरदः शरत्कालस्याभ्रस्य मेवस्य निभाः समाः । ते तव । गुणा, कौमुदीपतेः कौमुद्या ज्योत्स्नायाः  
 पतेः ( पत्युः ) चन्द्रस्य । गमस्तयः किरणाः । कुमुदानामिव कुवलयानामिव । महता सत्पुरुषाणाम् । अनु-  
 रागं प्रीतिम् । जनयन्ति उत्पादयन्ति । उत्प्रेक्षा ( उपमा ) ॥६॥ तत्रेति । सर्वदिग्वितताभिः सर्वा दिशः  
 ( सर्वाणि दिक्षु ) वितताभिर्व्याप्यताभिः । तव ते । कीर्तिमिरेव यशोमिरेव<sup>२</sup> । विनयेकवृत्तिता विनय एव एका-  
 वृत्तियस्याः तस्या भावो विनयमुख्यवृत्तित्वम् । महातरोः महानुषस्य । महती, फलसंपत् फलमंपतिः । सुमनो-

है और दो प्रकारसे मानद है—(१) नम्र व्यक्तियोंको मान देनेसे (२) और घमण्डियोंके मान-  
 का दलन करनेसे । (मानं ददातीति मानदः—जो विनम्र व्यक्तियोंको सम्मान प्रदान करे उसे  
 मानद कहते हैं और 'मानं दति खण्डयतीति मानदः—जो मानियोंके मानका भञ्जन करे,  
 उसे भी मानद कहते हैं ) ॥४॥ मेरा स्वामी पृथिवीपाल आपसे आलिङ्गन करके अत्यन्त स्नेह-  
 पूर्वक मेरे द्वारा यों कह रहा है । आपके पास भेजते समय उसने मुझसे वे बातें कही थीं,  
 जो मैं आपसे इस समय कह रहा हूँ : मैं उसका दूत जो ठहरा । और दूत ही तो राजाओंके  
 मुख होते हैं । ( बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गः घनसंवृतिकञ्चुकः । चारैक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि  
 पार्थिवः ॥ राजा अद्भुत पुरुष है, जिसका शस्त्र बुद्धि है; जिसका शरीर प्रजा है, जिसका  
 कवच मन्त्रगुप्ति है; जिसके नेत्र गुप्तचर हैं और जिसका मुख दूत है । ) ॥५॥ राजन् !  
 आपके गुण शरद् ऋतुके मेघोंके समान उज्ज्वल हैं, और वे स्वयं दूर रहकर भी महान् पुरुषों-  
 को अनुराग उत्पन्न कर रहे हैं । जैसे शरद् ऋतुके मेघोंकी भाँति शुभ्र, चन्द्रमाकी किरणें  
 कुमुदोंको अनुराग उत्पन्न कर देती हैं ॥६॥ जिस प्रकार फूलोंसे महान् वृक्षकी महती फल  
 सम्पत्तिका अनुमान लगा जाता है, इसी प्रकार सभी दिशाओंमें फैली हुई कीर्तिसे ही तुम्हारे

१. आ परिरभ्येति । २. य नः मत् । ३. य 'स्वरूपेण' । ४. य 'यशोमिरेव' इति नास्ति ।

विधिना द्रवरूपताम्बुधेर्विहिता मूलत एव शान्तये ।  
 तत्र धैर्यजितेन सज्जया द्रवता नाभिभवो बधीक्षितः ॥२॥  
 विवृणोति मनोगताम्रियं नयवृत्तिर्मयतः सुखीकृताम् ।  
 अनुकूलतया प्रकाश्यते निजनेतुः करिणो हि भद्रता ॥९॥  
 गुणवानपि स स्वमीदृशी मदनश्चेतनधीरिवक्ष्यसे ।  
 कियतापि पुरातनं क्रमं यदतिक्रम्य विवेष्टसेऽप्यथा ॥१०॥  
 प्रणमन्ति मदन्ययोद्भवं तत्र वंश्या इति पूर्वजस्थितिः ।  
 करिणेषु मदश्चुतागला<sup>१</sup> भवता सा सकलापि सङ्गता ॥११॥

मिथिब पुष्परिव । अनुमीयते अनुमानं क्रियते । माङ् माने कर्मणि लट् । अनुमितिः ॥७॥ विधिनेति ।  
 यदि । अम्बुधेः समुद्रस्य । विधिना ब्रह्मणा । मूलत एव सृष्टिकाले एव, प्रथमत एव वा । शान्तये तिर-  
 स्कारजनितशोकविच्छिन्नये । द्रवरूपता प्रत्यवरूपत्वम् । विहिता कृता । ( तत् तस्माद्धेतोः ) । तत्र ते ।  
 धैर्यजितेन धोरत्वेन विजितेन । तिरस्कारजनितस्वेदलक्षणहेतुकेन । लज्जया शोभया । द्रवता प्रत्यवता ।  
 समुद्रेण, अभिमवः तिरस्कारः । न ईक्षितः न लोकिताः । उपप्रेक्षा ॥८॥ विवृणोतीति । भवतः तत्र । इयम्  
 एषा । नयवृत्तिः नीतिसहितवर्तना । मनोगता ( तां ) चित्तगता ( ताम् ) । सुखीकृतां प्रकृतस्वभावयुक्त-  
 त्वम् । अनुकूलतया अनुकूलत्वेन । विवृणोति व्यक्तीकरोति । निजनेतुः स्वस्य प्रभोः । अनुकूलतया, करिणः  
 गजस्य । भद्रता भद्रजातित्वम् । प्रकाश्यते प्रकाश्यते । अनुमितिः ॥९॥ गुणवानिति । यत् यस्य तकारणात् ।  
 पुरातनं पूर्वकालमयम् । क्रमं परिपाटीम् । अतिक्रम्य अतिक्रमणं कृत्वा । कियतापि अल्पकार्येणापि । अप्यथा  
 अन्यप्रकारेण । विवेष्टसे वर्तसे । ( अत एव ) । ईदृशः एतादृशः । गुणवानपि गुणयुक्तोऽपि । सः त्वं  
 मवान् । मदनश्चेतनधीरिव मदेन ऐश्वर्यादिमदेन निश्चेतना मूढा बुद्धिर्यस्य स इव । ईदृश्यसे नृपयसे । ईसा  
 दशने कर्मणि लट् ॥ उपमा ॥१०॥ प्रणमन्तीति । तत्र ते । वंश्याः वंशे भवा वंश्या । मदन्ययोद्भवं मम  
 मे अन्वयः सन्ताने उद्भूतम् उत्पन्नम् । प्रणमन्ति नमस्कृवंति । मम प्रहृत्वे शब्दे लट् । इति एवम् ।  
 [ पूर्वजस्थितिः ] पूर्वजा प्राग्जाता स्थितिर्मर्यादा । मदश्चुता मयं द्योततीति क्षरतीति मदश्चुत् तेन । करिणा  
 गजेन । अगलेषु निगल ( ड ) इव । भवता त्वया । सकलापि सर्वापि । सा स्थितिः, सङ्गता उद्गता

विनय व्यवहारका अनुमान लग रहा है ॥७॥ समुद्रको शान्त रखनेके लिए ब्रह्माने सृष्टिके प्रारम्भसे ही उसे द्रव रूपमें रचा । मानो इसीलिए घोरतामें आपसे पराजित होनेपर भी वह पानी-पानी होकर रह गया, अपमानका खयाल करके आग-बबूला नहीं हुआ ॥८॥ आपका नैतिक व्यवहार आपके हृदयकी सुशीलताकी प्रकाशित करता है । जैसे अपने स्वामीके प्रति अनुकूल व्यवहार करनेसे निश्चय ही हाथीकी भद्रता-भद्रजाति प्रकाशित हो जाती है । हाथीके व्यवहारसे उसकी भद्रताका पता चल जाता है, इसी प्रकार आपके न्याय्य व्यवहारसे आपकी सुशीलताका स्पष्ट आभास हो जाता है ॥९॥ आप गुणी हैं, फिर भी कुछ दिनोंसे आप ऐसे मदान्ध-से देख पड़ते हैं कि अपनी पुरानी परिपाटीको ताकमे रखकर और अपने प्राचीन वंश-की मर्यादाका उल्लङ्घन करके विपरीत चेष्टा करने लगे हैं ॥१०॥ आपके वंशज हमारे वंशजों-को प्रणाम करते आ रहे हैं, यह पुरानी परिपाटी है, जिसे आपने बिल्कुल ही तोड़ दिया है ।

१. आ इ सुशीलताम् । २. क ल ग य म प्रकाशते । ३. आ इ ० रिवक्ष्यसे । ४. आ इ मदश्चुता-  
 गला, म मदश्चुतागला । ५. क माङ् । ६. क्ष पीडया । ७. = उल्लङ्घ्य । ८. = वंशे । ९. आ णम्  
 प्रहृत्वे शब्दे च । १०. = अतिक्रम्या ।

करिणो मदमूढचेतसः परिपश्यन्स्वयमेव बन्धनम् ।

भजते मदवृत्तिमात्मवान्क इवानात्महितप्रवर्तिनीम् ॥१२॥

मदमूढमतिर्हिताहितं न हि जात्यन्ध इवावलोकते ।

परिपश्यति सोऽथवा धिया न मदान्धस्तु धिया न चक्षुषा ॥१३॥

षडमी रिपवः शरीरजा नयचिद्भिर्भादिता मदादयः ।

निजचेतसि यः पुरैव तान्मृषतिः शास्ति स शास्ति मेदिनीम् ॥१४॥

क्षमते निजमेव रक्षितुं रिपुषड्वर्गहृतं मनो न यः ।

परिभूतिभयादिवात्मनस्तमपास्यापसरन्ति संपदः ॥१५॥

( अतिशङ्का ) । उपमा ॥११॥ करिण इति । मदमूढचेतसः मदेन मूढमज्ञानं चेतश्चित्त यस्य तस्य । करिणः गजस्य । बन्धनं स्वयमेव, परिपश्यन् विलोकमानः । अनात्महितप्रवर्तिनीम् अनात्महिता स्वयंहिता प्रवर्तिनीं प्रवर्तनाम् । मनवृत्ति मदेनाहंकारेण युक्तं वृत्तिं वर्तनाम् । आत्मवान् बुद्धिमान् । क इव को वा । इव शब्दो साम्यालङ्कारे । भजते आश्रयते । भज सेवायां लट् । आक्षेपः ॥१२॥ मदेति । मदमूढमतिः मदेन गर्वेण मूढा मुख्या मतिर्बुद्धिर्यस्य सः । जात्यन्ध<sup>१</sup> इव अनुपान्ध इव । हिताहितम् इष्टानिष्टम् । न हि अवलोकते न शोक्षते । लोहज्ज्वरं न लट् । अथवा जात्यन्ध, धिया बुद्ध्या । परिपश्यति पर्यालोकते । दृष्टुं प्रेक्षणं लट् । मदान्धस्तु मदेनान्धस्तु । धिया च न पश्यति, चक्षुषा च नयनेन च न पश्यति । उपमा । ध्यतिरेकः ॥१३॥ षडिति । नयचिद्भिः नयं नीतिशास्त्रं विदन्तीति नयचिद्भिः, तैः । शरीरजा, अन्तरङ्गभावाः । मदादयः मद-प्रभृतयः । 'कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः क्षीणशानामन्तरङ्गोपरिषड्वर्गः'—इति नीतिवाक्यमुते । अभीष्टमे । षड् रिपवः शत्रवः । गदिताः प्रोक्ताः । यः नृपतिः भूपतिः । पुरैव प्रागेव । निजचेतसि स्वस्य मानमे । तान् शरीरजरीपून् । शास्ति निगृह्णाति । सः भूतः । मेदिनी भूमिम् । शास्ति रक्षति । शान्तिं अनुशष्टी लट् ॥१४॥ क्षमन् इति । यः राजा रिपुषड्वर्गहृतं<sup>२</sup> रिपूणां शत्रूणां वर्णा वर्गं, समूहं, तेन हृतं<sup>३</sup> बाधितम् । निजमेव स्वकीयमेव । मनः चित्तम् । रक्षितुं रक्षणाय । न क्षमते समर्थो न भवति । क्षमोषि<sup>४</sup> सहने लट् । तं राजानम् । संपदः संपत्तयः । आत्मनः स्वस्य । परिभूतिभयादिव परिभूतेस्तिरस्कारस्य भयादिव भोतेरिव ।

जैसे मदमाता हाथी अर्गला ( आगर ) को तोड़ देता है ॥११॥ मदान्ध हाथीके बन्धनको स्वयं देखकर भी कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो अपने लिए अहित करनेवाली मदान्ध वृत्तिको अपनावे ॥१२॥ जिसकी बुद्धि मदेन विकृत हो जाती है, उसे जन्मान्ध पुरुषकी भाँति अपना हित और अहित नहीं सूझता । यों मदान्ध और जन्मान्ध बिल्कुल एक सरीखे हैं, किन्तु जन्मान्ध पुरुष अपनी बुद्धि ( ह्रियेकी आँख ) से सभी ओर देख लेता है—आगा-पीछा सोच लेता है, पर मदान्ध न ह्रियेकी आँखसे देख सकता है, और न ऊपरी आँखसे । अतः मदान्ध जन्मान्धसे भी गया-बीता है । १३॥ नीतिशास्त्रके जाननेवाले विद्वानोंने इन मद आदि छ — ( मद, मान, क्राम, क्रोध, लोभ और हर्ष ) को अन्तरंग शत्रु कहा है । जो राजा पहलेसे ही अपने मनमें इन छहों पर शासन कर लेता है, वही पृथिवीका शासन करता है ॥१४॥ जो राजा अपने ही मनको इन छह शत्रुओंके आक्रमणसे नहीं बचा सकता, उसको लक्ष्मी मानो अपने

१. अ. 'लोकति । २. आ 'भज सेवाया' इति नास्ति । ३. = जन्मान्ध इव । ४. आ दृष्टिर् । ५. आ शासु । ६. आ वा हृतं । ७. आ वा हृतं । ८. आ क्षमूष ।

शठता भवतोऽङ्कुशक्रिया द्विरदेनेष मयावचीरिता ।  
 चिरकालमियं<sup>१</sup> त्वयाधुना विहितो योऽपनयः स दुःसहः ॥१६॥  
 वनकेलिरिति द्विपाधिपः स्वयमागत्य तवाविशत्पुरम् ।  
 स धृतो भवतेति सत्वरैर्मम निश्चिस्थ खरैर्निवेदितम् ॥१७॥  
 स्वयमेव किल प्रहेष्यसि द्विरदं तं ननु नष्टवस्तु मे ।  
 स पुनर्भवतात्मसात्कृतो मदपेक्षारहितेन वारणः ॥१८॥  
 इति ते विनिवेदितं मया कुरु जानासि यदात्मशान्तये ।  
 हितमज्ञजानो हि शिष्यते न भवाचीतिसमुद्रपारगः ॥१९॥

अपास्य मुक्त्वा । अपसरन्ति निर्गच्छन्ति । सृ गतो लट् । आक्षेपः ( उत्प्रेषा ) ॥१५॥ शठतेति । भवतः तव । शठता दुर्जनता । द्विरदेन गजेन । अङ्कुशक्रिया इव सृणिव्यापार इव । मया, चिरकालं<sup>२</sup> अवचीरिता<sup>३</sup> क्षान्तिः कृता । यः अयम् । अपनयः दुर्नयः । अधुना इदानीम् । त्वया भवता । विहितः कृतः । सः अपनयः । दुःसहः सोढुमशक्यः । अभवत् ॥१६॥ वनेति । वनकेलिरिति वनकेलिनामधेयः । द्विपाधिपः गजपतिः । स्वयम् आगत्य एत्य । तव भवतः । पुरं नगरम् । अविशत् अगच्छत् । सः द्विपाधिपः । भवता त्वया । धृतः स्वीकृतः । इति एवम् । सत्वरैः शीघ्रगमनयुक्तैः । खरैः दूतैः । निश्चित्य निर्णयः । मम मे । निवेदितं<sup>४</sup> नियोजितम् ॥१७॥ स्वयमिति । तं द्विरदं तं गजपतिम् । स्वयमेव<sup>५</sup> त्वमेव । प्रहेष्यसि किल प्रहेषयन् भविष्यसि किल । नष्टवस्तु<sup>६</sup>, मे मम । ननु निश्चयः । पुनः परवात् । सः वारणः वनकेलिः इति गजपतिः । मदपेक्षारहितेन मम मे अपेक्षया बाधछया सहितेन । भवता त्वया । आत्मसात्कृतः स्वाधीनं ( नः ) कृतः । प्राग्गतात्माधीन इदानीमात्माधीनः क्रियते स्म आत्मसात्कृतः । 'व्याप्ती सात्' इति सात्-प्रत्ययः ॥१८॥ इतीति । मया, इति एवम् । ते भवतः । विनिवेदितं विज्ञापितम् । यद् आत्मशान्तये आत्मनः स्वस्य शान्तये हितनिमित्तम् । जानासि वृत्त्यर्थे<sup>७</sup> । आ अवबोधने लट् । तत्कार्यं कुरु विधेहि । ङुक्ञ् करणे लोट् । अज्ञजानो हि मूढलोकोको हि । हितं शिष्यते शिष्यते । शामू अनुशिष्टौ कर्मणि लट् । नीतिसमुद्रपारगः नीतिरेव

अपमानके भयसे उसे छोड़कर चली जाती है ॥१५॥ जैसे हाथी अंकुशकी चुभनको चिरकाल सहता है, वैसे मैंने तुम्हारी धूर्तता बहुत समय तक सहो, और उसकी ओर उपेक्षा की, किन्तु अबो-अभी तुमने जो अन्याय किया है, वह मेरे लिए असह्य है ॥१६॥ क्या अन्याय किया ? सुनिये, हमारा 'वनकेलि' नामका एक गजराज स्वयं वहाँ पहुँच कर तुम्हारे नगरमें घुस गया, उसे तुमने पकड़ लिया है । इस बातको निश्चित रूपसे जानकर हमारे गुप्तचरोंने शीघ्र ही हमें खबर दी है ॥१७॥ मैं सोचता था कि तुम मेरी कोई हुई चीजको अर्थात् उस हाथीको स्वयं मेरे पास भेज दोगे, किन्तु मेरी उपेक्षा करके तुमने उसे अपना बना लिया है ॥१८॥ बस, मैंने तुमसे इतना निवेदन कर दिया है, अब जो तुम्हारी शान्तिके लिए हो—जिससे तुम्हें शान्ति हो, सो करो । हितकी शिक्षा मूर्खको दी जाती है । आपको हितकी शिक्षा कैसे दी जा सकती है ? क्योंकि आप तो नीतिशास्त्रके—जो समुद्रकी भाँति अपार है—पारगामी

१. आ इ<sup>१</sup>मयं । २. = बहुकालपर्यन्तम् । ३. = उपेक्षिता । ४. = कथितम् । ५. = स्वत एव । ६. आ स नष्टेन वस्तु । ७. = निश्चयेन । ८. स वृत्त्यर्थे । ९. आ शामू ।

तद्वेत्य वचः प्रभोरिव भव नम्रोऽर्पय तं मतङ्गजम् ।

न भवन्ति हि जातुचिक्वा जलधौ तिष्ठति रत्नभाजनम् ॥२०॥

अपरानपि यच्छति द्विपानमुनैकेन विभुः प्रसादितः ।

परिकुप्यति चेत्स दारुणो न तद्यायं भविता न चापरे ॥२१॥

प्रविहाय जिगीषुतामिमां भव गत्वा प्रभुपादवत्सलः ।

अधिकं तव लाभमिच्छतो ननु तन्मूलमपि प्रणङ्क्षयति <sup>१</sup> ॥२२॥

समुद्रो जलधिः तस्य पारगः तीरं गतवान् । भवान्, न शिलयते ॥१९॥ तद्विति । तत् तस्मात्कारणात् । प्रभोः स्वामिनः । इदम् एतत् । वचः वचनम् । अवेत्य ज्ञात्वा । नम्रः विनयशीलः । 'नमस्कृत्य—' इत्यादिना शीलार्थे र-प्रत्ययः । भव स्वाः । भू सत्ताया लोट् । त मत्तङ्गजं वनकेलिनामधेयं गजम् । जर्पय वेहि । श्रु प्रापणे णिञ्गतात् लोट् । 'ह्रीश्चौ—' इत्यादिना षक्—आगमः । जलधौ समुद्रे । तिष्ठति सति विद्यमाने सति । जातुचिदपि एकवारमपि । नदा, नद्यः । रत्नभाजनं रत्नानां भाजनम् आधारः । न भवन्ति हि । अर्थात्तरमात्रः ॥२०॥ अपराश्रितिः । अमुना एतेन । एकेन गजेन । प्रसादितः सतोषितः । विभुः पृथिवीपालः । अपरान् ज्ञानान् । द्विपानपि गजानपि । यच्छति ददाति । दान् दाने लट् । 'पात्रा—' इत्यादिना दान् घातीभ्यश्च-आदेशः । सः विभुः । दारुणः सन् भयंकरः सन् । परिकुप्यति <sup>२</sup> चेत् क्रोधयति चेत् । क्रुप क्रोधे लट् । अयं गजः । तव ते । भविता भविष्यन् । न अपरे अन्ये । गजाश्च न न भवि-  
तारः—इत्यर्थः । आक्षेपः ( विद्यमालङ्कारः ) । २१॥ प्रविहायेति । इमाम् एताम् । जिगीषुता जेतुमिच्छ-  
त्वात् । प्रविहाय विमुच्य । गत्वा प्राप्य । प्रभुपादवत्सलः प्रभोः पादयोर्वचरणयोर्वत्सलो वात्सल्ययुक्तः । भव  
भवेः । भू सत्तायां लोट् । अधिकं बहुलम् । लाभमिच्छतः <sup>३</sup> बाञ्छत । तव ते । तन्मूलमपि तस्य लाभस्य  
मूलमपि, लाभाय दीप्तमानराजवादिरपि <sup>४</sup>—इत्यर्थः । प्रणङ्क्षयति <sup>५</sup> नाशमेव्यति । ननु निश्चयेन । नश्च <sup>६</sup>

है ॥१९॥ राजन् । यह मेरे स्वामी पृथिवीपाल राजाका सन्देश है । इसे समझकर जो उचित हो, कीजिये । यदि मेरी सलाह उचित हो तो आप नम्र हो जाइये और वह हाथी वापिस कर दीजिये । क्योंकि समुद्रके रहते हुए नद कभी रत्नोंका पात्र नहीं हो सकता । समुद्र ही तो रत्नाकर कहलाता है । इसी तरह उत्तम गजरत्नका पात्र केवल पृथिवीपाल हो सकता है । 'रत्नहारी हि पार्थिव' यह उक्ति पृथिवीपालके लिए है ॥२०॥ यदि इस एक अकेले वनकेलि हाथीको वापिस करके तुमने पृथिवीपालको प्रसन्न कर लिया, तो वह तुम्हें और भी हाथी प्रदान करेगा । यदि तुम हाथी वापिस नहीं करोगे, तो वह भोषण रूप धारण कर लेगा, फिर तुम्हारे पास न यह वनकेलि रहेगा, और न अन्य हाथी भी, जो इस समय तुम्हारे पास हैं ॥२१॥ जीतनेकी इस इच्छाको छोड़ो और पृथिवीपालके पास जाकर उसके चरणोंमें अपना वात्सल्य प्रकट करो । यदि तुम अधिक लाभके लोभमे पड़ोगे, तो निश्चय ही तुम्हारा मूल (राज्य) भी

१. अ. प्रणङ्क्षयति । २. बा लट् । ३. बा लिट् । ४. आ आधारभूतम् आविष्टकित्त्वम् । ५. आ वागो । ६. अ. कृष्यति चेत् । ७. = भविष्यति । ८. बा 'मिच्छत्यम्' । ९. बा लट् । १०. बा 'मिच्छोः' । ११. आ क्रोधया विद्या मानराज्यादित्यर्थः । १२. आ प्रणश्यति । १३. अ. नश्च ।

क्षमते विनयातिलङ्घनं स यथा ते गदित्वास्मि ते तथा ।  
 ननु<sup>१</sup> तत्र भवत्यसंशयं मम वाक्येन पयोऽपि गोरसः ॥२३॥  
 हितमिच्छसि चेदकैतवां कुरु मद्वाचमथ प्रियप्रिय<sup>२</sup> ।  
 रहसि व्रज तिष्ठ भाषयस्त्रय जीवेति गिरः स्वयोषितः ॥२४॥  
 इति भाषिण<sup>३</sup> एव भारती रिपुदूतस्य सगर्वमाक्षिपन् ।  
 नरनाथदृशा कटाक्षितो युवराजो गिरमित्युदाहरत् ॥२५॥  
 विनयप्रशमकभूषणं परमन्यायसमर्थनोद्यतम् ।  
 प्रविहाय भवन्तमीदृशं वचनं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥२६॥

अदर्शने लट् । 'नश्मत्—' इत्यादिना नम्-आगमः ॥२२॥ क्षमते इति । स. प्रभुः । ते तव । विनयाति-  
 लङ्घनं विनयातिक्रमम् । यथा येन प्रकारेण । क्षमते सहते । क्षमोषि सहने लट् । तथा तेन प्रकारेण ।  
 तं विभुम् । गदित्वास्मि भणिष्यामि । गद ध्यक्ताया वाचि लट्, उत्तमपुरुषैकवचनम् । विनयातिलङ्घनं न  
 क्षमते इत्यर्थः । तत्र पृथिवीपाले भूपे । मम मे । वाक्येन वचनेन । पयोऽपि जलमपि । गोरसः क्षीरम् ।  
 असंशयं निश्चयेन<sup>४</sup> । भवति जायते । अतिशयः ॥२३॥ हितमिति । प्रियप्रिय प्रियेषु प्रिय भो मित्र,  
 अत्यन्तं मित्रं—इत्यर्थः । हितं स्वस्य हितम् । इच्छसि चेत् वाञ्छसि चेत् । इमाम् एताम् । मद्वाचं मम  
 मे वाचं वचनम् । अकैतवा सत्यकृपां । कुरु विधेहि । जुहुक् करणे लोट्<sup>५</sup> । स्वयोषितः स्वस्य योषितो  
 वनिता । जय जीव इति, गिरः वचनाति । भाषयन् उच्चारयन् । रहसि निक्षायाम् ( एकांते ) । व्रज गच्छ ।  
 तिष्ठ ॥२४॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । भाषिणः एव भाषणशीलस्यैव । रिपुदूतस्य शत्रोदूतस्य वचो-  
 हृतस्य । सगर्वं गर्वयुक्तं । यथा तथा । भारती वचनम् । आक्षिपन् निवारयन् । नरनाथदृशा नरनाथस्य  
 पयनाभस्य । दृशा नयनेन । कटाक्षितः<sup>६</sup> कटाक्षेण दक्षितः । युवराजः सुवर्णनाभकुमारः । इति वक्ष्यमाण-  
 प्रकारेण । गिर भारतीम् । उदाहरत् अवधीत् । हृक् हरणे लङ् ॥२५॥ विनयेति । विनयप्रशमकभाषणं<sup>७</sup>  
 विनयप्रशमो एकभाषणं एकवचने यस्य तम्, अन्यत्र विगतनयप्रशमैकभाषणम् । परमन्यायसमर्थनोद्यतं परम-  
 दृष्टासौ न्यायश्च परमन्यायस्तस्य समर्थने साधने उद्यतमुद्युक्तम्, अन्यत्र परं केवलमन्यायसमर्थनोद्यतम् । भवन्तं

नष्ट हो जायेगा—'लाभमिच्छतो मूलच्छेदः' यह उक्ति चरितार्थ होगी ॥२२॥ मे पृथिवीपाल  
 भूपालसे तुम्हारे बारेमे ऐसे ढंगसे बात कर्हूंगा, जिससे वह तुम्हारे इस विनयके उल्लंघनको  
 क्षमा कर देगा । यह निश्चित है कि मेरे कहनेसे वह पानीको भी दूध मान लेगा ॥२३॥ हे  
 प्रियवर ! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो मेरे निश्छल वचनका पालन करो, और अपनी  
 स्त्रियोंसे 'जय हो महाराजकी, जियो महाराज' यह कहलवाते हुए जाओ और एकांतमें  
 पृथिवीपालसे मिलो ॥२४॥ इतना सुनकर पद्मनाभने युवराज सुवर्णनाभको ज्योंही आँखका  
 इशारा किया त्योंही उसने, उक्त प्रकारसे बड़े घमण्डसे बोलनेवाले पृथिवीपालके दूतको टोककर  
 यों उत्तर दिया—॥२५॥ हे दूत ! विनय और शान्तिपूर्वक बोलनेवाले और उल्कृष्ट न्यायका  
 समर्थन करनेके लिए तैयार रहनेवाले तुम्हे छोड़कर ऐसे वचन और कौन कह सकता है ?  
 ( यह प्रशंसा परक अर्थ हुआ ) हे दूत ! नीति और शान्ति रहित भाषण करनेवाले और  
 सरासर अन्यायका समर्थन करनेके लिए तैयार रहनेवाले तुम्हें छोड़कर ऐसे वचन कहनेके

१ आ इ ललु तत्र । २. अ मथाप्रियाप्रियः, आ इ म मिमां प्रियाप्रियः, क ल ग घ 'मथ प्रियं-  
 प्रियः । ३. इ भाषण एव । ४. आ इ पृथिवी । ५. आ 'नश्मत् भ्रश्म' इत्यादिना नुमायमः । ६. आ क्षमपू ।  
 ७. = लङ्घन क्षमेत । ८. आ निश्चयम् । ९. आ 'न्त प्रिय' । १०. क लट् । ११. = कुतसकैत इत्यर्थः ।  
 १२. एष टोका पाठः प्रतिषु तु 'भूषण' इत्येव पाठः समुपपद्यते ।

सच्चिच्चरुता भवद्विधैः परमेधोद्यमयोग्यतान्वितैः ।

सहितस्य कथं भवेत्प्रमोदनव भूतिः प्रचुरा न मन्दिरे ॥२७॥

विनयैकरतिर्महागुणः सकलेऽस्मिन्भुवने स गण्यते ।

नृपतिः प्रविनिन्दितं सतामुचितं तस्य विधातुमीदृशम् ॥२८॥

यदि भाग्यवशेन वारणो गृहमस्माकमयं व्यगाहत् ।

इयतैव किमक्षमा प्रभोः परवृद्धिं वसतां हि मत्सरः ॥२९॥

ताम् । प्रविहाय विमुच्य । ईदृशम् एतादृशम् । वचनं भाषणम् । वक्तुं निगदितुम् । कः को वा । उपक्रमेत् प्रारभेत । क्रमं पार्श्वक्षेपे लङ् । 'श्रोपाश्वा समर्थाभ्याम्' इति ढङ् । श्लेषः ॥२६॥ सच्चिच्चरित । परमेधो-  
द्यमयोग्यतान्वितैः परा उत्कृष्टा मेधा वारणावृद्धिः, परा चासौ मेधा च तस्या उद्यम उद्योगः तस्य योग्यतया योग्यत्वेनान्वितैर्युक्तैः, अन्यत्र परं केवलम् एषोद्यम इव नानामुद्यम उद्योगः तेन अन्वितः । भवद्विधै भवाद्भिः । सच्चिच्चैः दूतैः । अधुना इदानीम् । सहितस्य युक्तस्य । तव त । प्रभो. पृथिवीपालस्य । मन्दिर गृहे । भूतिः संपत्, अन्यत्र भस्म । प्रचुरा बहुला । कथं केन । न भवेत् न स्यात् । लिट् । श्लेषः ॥२७॥ विनयेति । अस्मिन् एतस्मिन् । सकले निखिले । भुवने लोके । विनयैकरतिं विनये एका मुख्या रतिः प्रीतियस्य सः, अन्यत्र विगतनयैकप्रीतिः । महागुणः महान्तो गुणा यस्य स, अन्यत्र महान्तो अगुणा दोषा यस्य सः । सः नृपतिः भूपतिः । गण्यते सख्याक्रियते । गण सख्याने कर्मणि लट् । सता सत्पुरुषं । प्रविनिन्दितं प्रकुलित-  
तम् । 'वा नाकस्य' इत्यादिना कर्मणि पर्यटी । ईदृशम् एतादृशं कार्यम् । विधातु कर्तुम् । उचितम् । श्लेषः ॥२८॥ यदादि । यदि भाग्यवशेन भाग्यस्य दैवस्य वशेन अधोनेन । अयम् एष । वारणः गजपतिः । अस्माकं गृहं मन्दिरम् । व्यगाहत् प्रविशति स्म । गाहोद् विलोडने लङ् । इयतैव एतावतैव । प्रभो. भवतः स्वामिनः । अक्षमा [किं] मासर्थं किम् । असता दुर्जनानाम् । परवृद्धिं परेपामन्द्येपां वृद्धिपुं संपत्तिपु ।

लिए और कोन उपक्रम ( प्रारम्भ ) कर सकता है ? ( यह निन्दापरक अर्थ हुआ ) ॥२६॥  
हे दूत ! दूसरोंकी बुद्धिको प्रेरणा देनेकी योग्यतावाले आप सरीखे सलाहकारोंसे युक्त पृथिवीपालके महलमें इस समय प्रचुर सम्पत्ति क्यों न हो ? ( यह स्तुतिपरक अर्थ है )  
हे दूत ! केवल ईश्वर ले आनेकी योग्यता रखनेवाले तुम्हारे सरीखे नीकरोंसे युक्त तुम्हारे स्वामी पृथिवीपालके घरमें इस समय भस्म क्यों न हो ? ( यह निन्दा परक अर्थ है ) ॥२७॥  
'वह राजा पृथिवीपाल विनयमे अत्यन्त आसक्त और महान् गुणो है', इस रूपमे उसकी इस संसारमे गणना की जाती है । सज्जनोंके द्वारा श्लाघ्य समझे जानेवाले, ऐसे काम करना उसके लिए उचित है । ( यह स्तुतिपरक अर्थ है ) इस संसारमें सभी जगह पृथिवीपालकी गणना अन्यायमे आसक्त और महान् दुर्गुणोंके रूपमें की जाती है । अतः सज्जनोके द्वारा निन्दनीय, ऐसे काम करना, उसके लिए उचित है । ( यह निन्दापरक अर्थ है ) ॥२८॥ यदि भाग्यवश यह हाथी हमारे घरमें घुस आया, तो इतने मात्रसे तुम्हारे प्रभुजी महाराज आपेसे बाहर क्यों हो रहे है ? सच तो यह है कि दूसरोंकी बुद्धि होनेपर दुर्जनोंको डाह हुआ करती

१. अ यस्य । २. कथं वा विवाहत । ३. = केन प्रकारेण । ४. स लेङ् । ५. = गणनाविषयीक्रियते ।  
६. वा 'प्र' नास्ति । ७. आ करणार्थे । ८. आ यदिति । ९. = दैवात् । १०. आ गाह् । ११. आ परमधिपु । १२. आ ऋद्धिपु ।

इह तावद्वस्तुमिच्छतां निजमस्माकमयं किलाक्रमः ।  
परवस्तु जिगीषतां पुनर्मवतामेव किमुच्यते क्रमः ॥३०॥

वचनं क खलूपयुज्यते प्रभुरस्मि क्रमतोऽहमित्यद् ।

ननु खल्वबलेन भुज्यते वस्तुधा न क्रमसंप्रकाशनैः ॥३१॥

करिणीपतिरन्यदेव वा कृतपुण्यं समुपैति वस्तु यत् ।

बलिना तदपास्यते बलात्तद् हि लोके कचिदोदृशः क्रमः ॥३२॥

अथ सप्रणयेन याचने करिणीनाथमनाथवत्सलः ।

इति ते विनिवेदितं मयेत्यभिप्रेत्य भयदंशि किं वचः ॥३३॥

मत्सरः मात्सर्यं हि । अर्थान्तरन्यासः ॥२९॥ इहेति । इह अस्मिन् जगति । तावत् प्रथमम् । निजं स्वकीयं वस्तु । अदातुम् अदानाय । इच्छता वाञ्छताम् । अस्माकम्, अयम् एव । क्रमः किल अन्यायः किल । पुनः पश्चात् । परवस्तु अन्यदोयं वस्तु । जिघृषता गृहीतुमिच्छताम् । भवतां युष्माकम् । एष अयम् । क्रमः 'न्याय' इति उच्यते निगद्यते किम् ॥३०॥ वचनमिति । अहं क्रमतः वशक्रमात् । प्रभुः राजाधिपतिः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । [ इति ] अदः एतत् । वचन भाषणम् । वक् कुत्र । खलु स्फुटम् । उप-युज्यते प्रयुज्यते । वस्तुधा भूमिः । खल्वबलेन शस्त्रबलेन । भुज्यते अनुभूयते । भुव पालनाभ्यवहारयोः कर्मणि लट् । क्रमसंप्रकाशनैः क्रमस्य परिपाटीयाः संप्रकाशनं प्रकटनैः । [ ननु निश्चयेन ] । न भुज्यते ननु निश्चयम् । अर्थान्तरन्यासः ॥३१॥ करिणीति । करिणीपतिः गजपतिः । अन्यदेव वा गजादभ्यत् अमृत्य-रन्नादि वः । यत् वस्तु । कृतपुण्यं कृतं पुण्यं सुकृतं येन तम् । पुरुषं समुपैति संप्राप्नोति । इण गतो लट् । तत् वस्तु । बलिना सामर्थ्यवता पुरुषेण । बलात्<sup>१</sup> सामर्थ्यात् । अपास्यते आकृष्यते गृह्यते वा । अमू<sup>२</sup> क्षाणे कर्मणि लट् । ईदृशः एतादृशः । क्रमः परिपाटी, मम गजो मदीयः इति क्रमः । लोके जगति । क्वचित् नहि नास्ति हि ॥३२॥ अयेति । अथ अथवा । अनाथवत्सलः अनाथेषु दीनजनेषु वत्सलः प्रेतिमान् । सः<sup>३</sup> पृथिवीपाल<sup>४</sup> । करिणीनाथं गजपतिम् । प्रणयेन विनयेन । याचते प्रार्थ्यते । याच<sup>५</sup> याचने लट् । इति एवम् । तं तव । मया विनिवेदितं जापितम्—इत्युक्ते ( इत्युक्तम् ) । भयदंशि भयप्रकाशः । वचः वचनम् ।

हे ॥२९॥ हम अपनी वस्तु आपको नहीं देना चाहते, इसे आप हमारा अन्याय कहते है, तो फिर पराई ( हमारी ) वस्तुको जो आप स्वयं हड़प लेना चाहते है, उसे क्या आपका न्याय कहा जायेगा ? ॥३०॥ 'मैं पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे साम्राज्यका स्वामी हूँ' यह कहना कहाँ उपयोगी है ? निश्चय ही तलवारके बलपर पृथिवीका भोग किया जाता है, न कि वंश परम्पराका राग अलापनेसे ॥३१॥ गजराज या और भी कोई वस्तु, जो पुण्यवान् पुरुषको प्राप्त हो, उसे कोई तीसमारखाँ बलात् छोन ले, ऐसा न्याय या ऐसी परिपाटी हम दुनियामे कहीं भी नहीं है ॥३२॥ और, यदि वह दोनानाथ ( दीन, अनाथ ) विनय पूर्वक हमसे हाथीकी याचना करना चाहता है, तो 'मिने तुमसे निवेदन कर दिया' ( ६ से १९वें श्लोक तक ) ये डर दिख-

१. इ<sup>१</sup>रन्यदेव । २. आ इ<sup>२</sup>वसे । ३. आ इ तं वचः । ४. वंशस्य । ५. आ प्रकटक्रियाभिः । ६. = नानुभूयते । ७. = इडात् । ८. आ दृश्यते । ९. आ त्रसु । १०. स 'सः' इति नास्ति । ११. आ पृथ्वीपाल<sup>४</sup> । १२. आ याच ।



किमु तस्य न सन्ति धारणा बहवोऽभ्ये परपक्षधारणाः ।  
 अमुना स पदेन मन्दघोर्ध्वमस्मानभियोक्तुमिच्छति ॥३४॥  
 बलवानहमित्यहंक्रिया नहि सर्वत्र भवेत्प्रशान्तये ।  
 अधिकक्रमतैव मृत्यवे ननु सिंहस्य घनं लिलङ्घिषोः ॥३५॥  
 बलगवितयेव निष्कलं प्रविष्टिस्तुर्महतामतिक्रमम् ।  
 स्वयमेव खलः स भोत्स्यते<sup>१</sup> कटुनो यम्भुपुरस्य खान्तरम् ॥३६॥  
 शयितस्य हरेः प्रबोधनामिति कुर्वन्तमुपेत्य मत्प्रभुः ।  
 सहसैव हिनस्ति किं न तं यदि न स्यात्तन्मया निवारितः ॥३७॥  
 अभियुज्य निहन्ति यो रिपून्भियुक्तः स पुनर्विशेषतः ।  
 ज्वलितु स्वयमुत्सुकः शिखी<sup>२</sup> सुतरां मारुतसंप्रभुक्षितः ॥३८॥

( किम् ) अभिघते ( किं ) वदति । दुष्वाङ् धारणे च लट् । किं किं निमित्तम् ॥३३॥ किञ्चित्<sup>३</sup> । तव भूपतेः । परपक्षधारणाः परेषा पक्षस्य सेनाया वारणाः तिरस्कर्तारः । 'कृतकामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । अन्ये केचित् । बहवः बहुलाः । धारणाः गङ्गाः । न सन्ति न विद्यन्ते । अस भुवि लट् । किम् किम् । मन्दघोः मन्दबुद्धिः । सः तव भूपः । अमुना एतेन । पदेन व्याजेन । अस्मान्, अभियोक्तुं योद्धुम् । इच्छति वाञ्छति । द्रुवं निश्चयेन ॥३४॥ बलवानिति । अहं बलवान् सामर्थ्यान् इति । अहंक्रिया अहंकारः । सर्वत्र सर्वप्रदेशेषु कार्येषु वा । प्रशान्तये सुखाय । न भवेदि न स्यादि [ नहि भवेत् नहि स्यात् ] । भू सत्ताया लिङ्<sup>४</sup> । घनं मेघम् । लिलङ्घिषोः लङ्घितुमिच्छोः । सिंहस्य कण्ठोरवस्य । अधिकक्रमता अधिकमर्यात्तं क्रमता पादविक्षेपतेव । मृत्यवे मरणाय<sup>५</sup> । ननु । अर्धान्तरग्यासः ॥ ३५ ॥ बलेति । बलगवितयेव बलेन सामर्थ्येन गवितयेव गव्यवृत्ततयेव । महता महापुरुषाणाम् । निष्कल प्रयोजन-रहितं यथा तथा । अतिक्रमं लङ्घनम् । प्रविष्टिस्तुः कर्तुमिच्छुः । सः खलः दुर्जनः । कटुन कटुवस्तुनः । मधुरस्य मधुरवस्तुनश्च । यत् अन्तर तारतम्यम्, अस्ति । ( तत् ) स्वयमेव भोत्स्यते<sup>६</sup> ज्ञास्यते । बुद्धि मनि ज्ञाने लट् । 'बधो भू—' इत्यादिना भयादेशः । आक्षेपः ॥३६॥ शयितस्येति । इति एवम् । शयितस्य सुप्तस्य । हरेः सिंहस्य । प्रबोधना<sup>७</sup> जागरणम् । कुर्वन्तं विदधतम् । तं पुरुषम् । समुपेत्य समोप गत्वा । मत्प्रभुः स्वामी क्षमया<sup>८</sup> क्षान्ध्या । निवारितः निरुद्धः । यदि न स्यात् न भवेत्, तर्हि । सहसैव शीघ्रमेव । न हिनस्ति किं न हन्ति किम्<sup>९</sup>, अपितु हन्त्येव ॥३७॥ अभियुज्येति । यः भूप । रिपून् शत्रून् । अभियुज्य अभिषेणयित्वा, शत्रून् प्रति सेनया सह अभिगम्य—इत्यर्थः । निहन्ति हिनस्ति । हन हिंसागत्योर्लट् । सः

लानेवाले घमकी भरे वचन कयो कहता है ? ॥३३॥ क्या उसके पास शत्रुओंकी सेनाका धारण करनेवाले ( परेषां शत्रूणां पक्षं धारयन्तीति परपक्षधारणाः ) और बहुतेरे हाथो नही है, जो वह नादान इस बहाने हमसे युद्ध करना चाहता है ॥३४॥ 'मैं बलवान् हूँ' यह अहंकार सभी जगह सुखदायी नहीं हो सकता । मेघको लाँघनेकी इच्छा करनेवाले सिंहकी ऊँची छलांग ही उसकी मृत्युके लिए हो जाती है ॥३५॥ केवल बलके घमण्डसे बड़ोंके ऊपर निष्प्रयोजन आक्रमण करनेका इरादा करनेवाला वह दुर्जन पृथिवीपाल अपने आप कटुए और मोठेका फर्क जान जायेगा ॥३६॥ यदि क्षमाने न रोक लिया होता तो इस तरह सोए हुए सिंहको जगानेवाले पृथिवीपाल को, मेरे प्रभु—पिता पचनाभ, सहसा चढ़ाई करके क्या मार न डालते ? ॥३७॥ जो झूठा अभियोग लगाकर अथवा आक्रमण करके शत्रुओंको मारनेको उद्यत होता है, वह

१. आ इ भोत्स्यते, भ भोत्स्यते । २. अ शखी । ३. आ किमिति । ४. षा लेट् । ५. = भवतीति शेषः । ६. आ भोत्स्यते । ७. आ प्रबोधनां । ८. = पृथिवीपालम् । ९. आ शील्या । १०. षा 'न हन्ति किम्' इति नोपलभ्यते ।

सयवाग्निजिगीष्यते परैर्व्यसनी दैवविजितोऽथवा ।

कलिता वद तत्र के वयं प्रसभं स्वप्नभुणा जिगीषता ॥३६॥

भवति प्रियमिष्टसाधकं महति क्षुद्रजने हठक्रिया ।

इति किं न स वेत्ति मूढधीरथवा को विभवैः सचेतनः<sup>१</sup> ॥४०॥

न भवान्किमवेति यद्बलान्कुरुते राज्यमसावकण्टकम् ।

प्रहरन्ति न सांख्यपुरुषं ननु तं मत्प्रभुशङ्क्यारयः ॥४१॥

राजा । पुनः पश्चात् । अत्रियुक्तः अन्येन गृहीतः । विशेषतः विशेषात्, निहन्ति । शिखी बह्निः । स्वयं ज्वलितुं दीपितुम् । उत्सुकः उत्सुकतः । मारुतसंप्रवृत्तः मारुतेन वायुना संप्रवृत्तः प्रवृद्धितः । सुतराम् अत्यन्तं ज्वलति — इत्यर्थः । अर्थात्तरन्यासः ॥३८॥ क्षयवानिति । क्षयवान् नाशवान् । अथवा, व्यसनी कामक्रोधादिवोषवान् । दैवविजितो रहितः । परः शत्रुः । जिगीषीष्यते जेतुमिष्यते । प्रसभं हठान् । जिगीषता जेतुमिच्छता । स्वप्नभुणा स्वाभिना । तत्र त्रये । वयं के कलिताः गणिता । निश्चितता वा । वद ब्रूहि । वद व्यक्तार्थां वाचि लोटे<sup>२</sup> । आक्षेपः ॥३९॥ भवतीति । महति स्वस्मादधिके । प्रियं प्रीतिः । इष्टसाधकम् इष्टस्य अभीष्टस्य साधकम् । भवति जायते । क्षुद्रजने स्वस्मादोने<sup>३</sup> । हठक्रिया बलात्कारः ( इष्टसाधिका ) भवति । मूढधीः मूढा मन्था धीर्मतियं स्व सः । सः राजा । इति किं न वेत्ति किं न जानाति । क्षयवा तथापि<sup>४</sup> विभवैः सद्भिः सचेतनः सैतन्ययुक्तः कः को वा वेत्ति । विद ज्ञाने लट् अर्थान्तरन्यासः<sup>५</sup> ॥४०॥ नेति । यद्बलान् यस्य पशुनामस्य बलात् सामर्थ्यात् असौ पृथ्वीपालः । राज्यं राजो भावः कृत्यं वा राज्यं, देशाधिपत्यम् । अकण्टकं न विद्यते कण्टको यस्मिन् कर्मणि तत् शत्रुरहितं यथा तथा — इत्यर्थः । भवान् त्वम् । नावेति न जानाति किम् । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः । सांख्यपुरुषः सांख्येन। ज्ञोः कृतः पुरुषः, जडान्मा — इत्यर्थः । अकिञ्चित्करं तं<sup>६</sup> पृथ्वीपालम् । मत्प्रभुशङ्क्या मम मे प्रभुः स्वामी तस्य शङ्का<sup>७</sup>

विशेष रूपसे अभियुक्त या आक्रान्त होकर स्वयं मारा जाता है—जो दूसरेको मारना चाहता है, वह स्वयं दूसरेके द्वारा मारा जाता है । अग्नि जलनेके लिए स्वयं उत्सुक रहता है, फिर वायुसे खूब प्रज्वलित होकर तो और भी अधिक जल उठता है । पद्मनाभ अग्निके समान हैं । पृथिवीपाल उन्हें छेड़ेगा तो स्वयं मारा जायेगा ॥३८॥ जो राजा क्षीण हो, दुर्व्यसनोंमें फँसा हुआ हो अथवा भाग्यहीन हो, उसे दूसरे जीत लेना चाहते हैं । तुम्हारा स्वामी पृथिवीपाल हमें जीतना चाहता है, तो तुम हमें यह तां बताओ कि उसने हमें उन तीनोंमें-से क्या समझ रखा है—क्षयवान्, दुर्व्यसनी या हतभाग्य ? ॥३९॥ 'महान् पुरुषके साथ किया गया प्रिय व्यवहार और क्षुद्र व्यक्तिके साथ किया गया बलात्कार इष्टको सिद्ध करनेवाला होता है' इस बातको क्या वह मूल्य पृथिवीपाल नहीं जानता ? अथवा वैभव होनेसे कौन चेतना ( बुद्धि ) युक्त रह पाता है ?—वैभवके मदसे चेतना ( बुद्धि ) विकृत हो जाती है, जिससे विवेक लुप्त हो जाया करता है ॥४०॥ जिनके बलके भरोसे पृथिवीपाल निष्कण्टक राज्य कर रहा है, उन्हें क्या आप नहीं जानते ? न जानते हो तो सुनो, निश्चय ही मेरे पिताजीके भयसे ही शत्रु लोग उस जड़ और अकिञ्चित्कर पृथ्वीपालके ऊपर प्रहार नहीं

१. अ कुचेतनः । २. वा लोटे । ३. वा स्वात्माधीने । ४. वा तथा हि । ५. वा पृथ्वी । ६. = भीतिः ।

इति तस्य निशम्य भारतां रिपुदूतः परिवृद्धमत्सरः ।  
 म्यगदीदृशुरुगवर्गदग्दामभिसर्पन्गिरमप्रतोऽप्रतः ॥४२॥  
 स्वहितं स्वधियैव बुध्यते पुरुषः सत्युद्ये सुकर्मणः ।  
 अविधेयविधिर्न बुध्यते स्वधिया नापि परेण बोधितः ॥४३॥  
 न निमित्तमिहोपदेशको न च शास्त्रं न च साधुसंगतिः ।  
 कुशलाकुशला च जायते धिषणा दैववशेन देहिनाम् ॥४४॥  
 अवभाति निजं स पौरुषं कथयन्निर्वहते तथैव यः ।  
 निजविक्रमगविणो रणे हसनीया बहवो मयेक्षिताः ॥४५॥

संशयः तथा । अरयः शत्रवः न प्रहरन्ति न धनन्ति । हृद् हरणे लट् । आक्षेपः ॥४१॥ इतीति । इति  
 उक्तप्रकारेण । तस्य सुवर्णनाभस्य । भारती वचनम् । निशम्य श्रुत्वा । परिवृद्धमत्सरः परिवृद्धः प्रवृद्धो  
 मत्सरो यस्य सः । रिपुदूतः शत्रुवचोहरः । अप्रतोऽप्रतः अये अये । बोधनाया द्विः । अभिसर्पन् गच्छन् ।  
 गुरुगवर्गदग्दां गुह्या महता गर्वेणाहंकारेण गद्गदा स्खलन्तीम् । गिरं वचनम् । म्यगदीत् अभावात् । गद्  
 व्यक्तायां वाचि लुङ् ॥४२॥ स्वहितमिति । पुरुष पुमान् । सुकर्मणः पुण्यस्य । उद्ये कलदानपरिणतो,  
 सति । स्वहितं स्वस्य हितम् । स्वधियेव स्वैव धियेव बुद्धयेव । बुध्यते जानाति । बुधि मति ज्ञाने लट् ।  
 अविधेयविधिः अविधेयः । प्रतिकूलो विधिः <sup>३</sup>कर्मणि यस्य सः, शुभकर्मरहितः—इत्यर्थः । स्वधिया स्वबुद्ध्या ।  
 न बुध्यते न जानाति । परेण अन्येन । बोधितोऽपि जायतोऽपि । न न बुध्यते । आक्षेपः ॥४३॥ नेति ।  
 बह्व् अविधेयबुद्ध्या (?) । उपदेशकः गुरुः । न [ निमित्तम् ] ( कारणम् ) नास्ति । शास्त्रं नीत्यादि-  
 शास्त्रम् । न च <sup>४</sup>निमित्तमिति ( निमित्तं नास्ति ) । साधुसंगतिः साधूना सज्जनानां संगतिः । संसर्गश्च । न नास्ति  
 देहिनां औषानाम् । कुशला [ अकुशला ] च प्रशस्ता ( अप्रशस्ता ) च । धिषणा बुद्धिः । दैववशेन पुण्या-  
 पुण्यवशेन । जायते उत्पद्यते । जनीद् प्रादुर्भावे लट् । अर्थात्परम्यासः ॥४४॥ अवभातीति । यः पुरुषः । निजं  
 स्वकीयम् । पौरुषं सामर्थ्यादिकम् । कथयन् ब्रुवन् । तथैव प्रोक्तप्रकारेणैव । निर्वहते संपूर्णयति । बह  
 प्रापणे लट् । सः पुरुषः । अवभाति अवभासते । भा दीप्ती लट् । निजविक्रमगविणः निजानां स्वेषां विक्रमेण  
 पराक्रमेण गविणोऽहंकारिणः । बहवः प्रचुराः । रणे सयामे हसनीयाः । हसितुं योग्याः । मया ईक्षिताः

करते—उसके निष्कण्टक राज्यका एकमात्र श्रेय पद्मानाभको है ॥४१॥ राजकुमार सुवर्णनाभके  
 इन वचनोंको (२६वे श्लोकसे ४१वें श्लोक तक) सुनकर शत्रु-पृथिवीपालके दूतका पारा चढ़  
 गया—वह क्रुद्ध हो उठा । फिर आगे-आगे बढ़कर अखर्व गर्व भरी बातें गद्गद होकर यो  
 सुनाने लगः—॥४२॥ शुभकर्मका उदय होनेपर पुरुष अपनी बुद्धिसे ही अपना हित जान लेता  
 है, किन्तु जिसका भाग्य प्रतिकूल हो, वह पुरुष न अपनी बुद्धिसे अपना हित जान पाता है,  
 और न दूसरेके समझाने पर । हे सुवर्णनाभ ! पृथिवीपालका भाग्य अनुकूल है, अतः वह अपने  
 आप अपना हित समझता है, पर तुम्हारा भाग्य प्रतिकूल है, अतः तुम अपने आप अपना हित  
 नहीं समझे और न मेरे समझाने पर भी ॥४३॥ शुभ कर्मोंके उदयसे प्राणियोंको अच्छो बुद्धि  
 और अशुभ कर्मोंके उदयसे बुरी बुद्धि होती है—बुद्धिकी कुशलता और अकुशलता देवके  
 अधीन है । बुद्धिकी कुशलता और अकुशलतामे उपदेशक निमित्त नहीं है; शास्त्र निमित्त नहीं  
 है; और सत्संगति भी निमित्त नहीं है ॥४४॥ वह मनुष्य शोभा पाता है, जो अपने पुरुषार्थके

१. अं ला प्रजायते । २. आ लङ् । ३. आ स्वस्तिकान्तगतः पाठो नोपलभ्यते । ४. = स्वहिताव-  
 बोधने । ५. = निमित्तं नास्तीत्यर्थः । ६. आ 'प्रोक्त' इति नास्ति । ७. = संपूरयति ।

प्रविचिन्त्यमुदेतुमिच्छता प्रथमं स्वस्य परस्य चान्तरम् ।  
 'अविमृश्य कृतो हि विक्रमः' शरभस्येव विपाकदाहणः ॥४६॥  
 अधमेन समेन बाधिकाभगिगच्छन्निजभाष्यसंपदम्<sup>१</sup> ।  
 मतिमान्विदधातु विग्रहं बलवद्भिः सह कोऽस्य विग्रहः ॥४७॥  
 बहुभिः परिवारितोऽखिलं हतबुद्धिजितमेव पश्यति ।  
 अवगच्छति नेदमुद्गते गुरुकार्ये मम नात्र कञ्चन ॥४८॥  
 स्वयमिति यतो नदारायात्पतनं स्तब्धवतस्तटीतरोः ।  
 अभवत्कालु तेन संमतः प्रणिपातो विदुषां बलाधिके ॥४९॥

विलोकिताः । आक्षेपः ॥४५॥ प्रविचिन्त्येति । उदेतुम् अभ्युदयं प्राप्तुम् । इच्छता वाञ्छता पुरुषेण । प्रथमं पूर्वम् । स्वस्य आत्मनः । परस्य अभ्यस्य च । अन्तरं तारतम्यम् । प्रविचिन्त्यम् आलोच्यम् । अविमृश्य अविचार्य । कृतः विहितः । विक्रमः पराक्रमः शरभस्येव सिंहादेरिव ( सिंहादेरिव<sup>२</sup> ) । विपाकदाहणः विपाकेऽवसाने दाहणो भयं करोति हि । उपमा ॥४६॥ अधमेनेति । अधिका प्रचुराम् । निजभाष्यसंपदं निजस्य स्वस्य भाष्यस्य संपदं संपत्तिम् । अधिगच्छन् जानन् । मतिमान्<sup>३</sup> बुद्धिमान् । अधमेन हीनेन । समेन समानेन वा पुरुषेण । विग्रहं कलहम्, संग्रामम् । विदधातु करोतु । बलवद्भिः सामर्थ्ययुक्तैः पुरुषैः । सह साकम् । अस्य पुरुषस्य । विग्रहः संग्रामः । कः को वा, न कोऽपि—इत्यर्थः ॥४७॥ बहुभिरिति । बहुभिः खनेकैः । परिवारितः वेष्टितः । हतबुद्धिः हता बुद्धि बुद्धिर्यस्य सः । अखिलं सकलम् । जितमेव विजितमेव । इति पश्यति वीक्षते । दृष्टं प्रेक्षणे लट् । गुरुकार्ये महति कार्ये । उद्गते सति । मम मे । अत्र बहुषु भूत्यादिषु । कञ्चन एकोऽपि वा । इदं 'कार्यम्' इति, नावगच्छति न जानाति<sup>४</sup> । गम्ल् गतौ लट् । आक्षेपः ॥४८॥ स्वयमिति<sup>५</sup> । यतः यस्मात् । नदारायात् नद्याः प्रवाहात् स्तब्धवतः गर्वयुक्तस्य । तटीतरो तटपा तीरे विद्यमानस्य तरोर्वृक्षस्य । पतनं भञ्जनम् । इव (?) [ स्वयम् ] । ऐक्षि<sup>६</sup> ऐक्षत । ईक्षि<sup>७</sup> वर्धने लुङ् । तेन कारणेन । बलाधिके सामर्थ्याधिके प्रणिपातः<sup>८</sup> नमस्कारः । विदुषा विद्वज्जनैः । 'वा नाकस्य' इत्यादिना

बारेमें जैसा कहता है वैसा ही निर्वाह करके दिखा भी देता है । अपने पराक्रम की डींग मारनेवाले बहुतसे पुरुषोंको मेने संग्राममें परिहास योग्य होते देखा है ॥४५॥ अभ्युदय पानेकी इच्छा रखनेवालेको आक्रमण करनेसे पहले अपना और अपने शत्रुका—जिसपर आक्रमण करना है—अन्तर सोच लेना चाहिए; क्योंकि बिना विचार किया गया पराक्रम अष्टापदेके पराक्रमकी भाँति अन्तमे भयानक होता है, यहाँ तक कि प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़ता है । ( इसका स्पष्टीकरण प्रथम सर्गके ५१वें श्लोककी हिन्दी टीकामें देखिये । ) ॥४६॥ अपने भाग्यकी सम्पत्तिको औरोंसे कही अधिक जानकर बुद्धिमान् पुरुष अपनेसे होन या बराबरीवालेके साथ युद्ध करे । बलवान्के साथ निर्बलका युद्ध कैसा ?—'मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः' ॥४७॥ बुद्धिहीन राजा बहुतसे ऐरों-गैरों नत्थूखैरोंसे चारों ओरसे घिरा रहकर सारे विश्वको अपनेसे जीता हुआ समझता है, किन्तु वह, यह नहीं समझता कि किसी बड़े कामके आ पड़नेपर इनमेंसे कोई एक भी पास नहीं फटकेगा ॥४८॥ चूँकि विद्वानोंने स्वयं, तटपर अकड़कर खड़े पेड़को नदीके वेगसे गिरते देखा है, इसलिए उन ( विद्वानों ) का

१. अ प्रविमृश्य, म परिमृश्य । २. म न हि क्रमः । ३. अ 'संपदाम्' । ४. = 'शरभः कुञ्जरातरातिस्त्रादकोऽष्टपादवि' इति हैमः । ५. वा 'मतिमान्' इति नास्ति । ६. आ दृष्टिर् । ७. वा 'न जानाति' इति नोपलभ्यते । ८. अ 'स्वयमिति' इति नास्ति । ९. = नदीवेगात् । १०. = दृष्टः । ११. आ ईक्ष, वा दृष्ट । १२. = नमनम् ।

बहुसत्त्वयुतो स्थिराशयावबिहङ्गयो यदि नाम तावुभौ ।  
 महदेव तथापि दूरतो नदभर्तुं न नदस्य चान्तरम् ॥५०॥  
 प्रियवाद्परेषु विश्वसोत्कुम्भेष्वेव कृथैव मा भवान् ।  
 परिवारितमप्यगैर्नगं क्षुभितः प्लावयितुं क्षमोऽम्बुधिः ॥५१॥  
 स्वयमेतदुदाहृतं मया प्रधने तत्प्रकटं भविष्यति ।  
 स्फुटतामुपयाति कस्यचिद्रसभेदो नहि जिह्वया विना ॥५२॥  
 अहितस्य हितोपदेशनैरथवा किं मम कुर्वमीप्सितम् ।  
 प्रतिकूलजने ह्यपेक्षणं हितशिखानुगतैकवृत्तिषु ॥५३॥

करणे षष्ठे । संमतः अङ्गोक्तः । नामवत् नामूत् [ अववत् अवूत् ] । भू सत्ताया लुट् ॥४९॥ बह्विति ।  
 बहुसत्त्वयुतो बहुना प्रचुरेण सत्त्वेन युतो युक्ती, अप्यत्र बहुप्राणियुतो । स्थिराशयो दृढवृद्धयुतो, पक्षे दृढहारी ।  
 अबिहङ्गो लङ्घयितुमशक्यो । तावुमी नाम नामानौ (?) । नाम समानार्थेऽप्ययम् । यदि । तथापि तहि ।  
 नदभर्तुश्च सागरस्य । नदस्य नद्याश्च । अन्तरं तारतम्यम् । दूरतः अत्यन्तम् । महदेव पृथुलमेव भवति  
 ॥५०॥ प्रियेति । प्रियवाद्परेषु<sup>१</sup> प्रियेषु इच्छानुकूलेषु वाक्पेक्षु वचनेषु परेषु तत्परेषु एषु एतेषु । कुम्भेषु  
 कुस्तिर्भूत्येषु । भगवान् त्वम् । कृथैव निष्फलमेव । मा विश्वसोत् विश्वास मा काथीः । अनवस प्राणने  
 लुङ् । अगैः वृक्षैः । परिवारितं परिवेष्टितम् । नग पर्वतमपि । क्षुभितः सञ्चलितः । अम्बुधि समुद्रः ।  
 प्लावयितुं मञ्जयितुम्<sup>२</sup> । क्षमः समर्थः, भवति । अर्थान्तरन्यासः ॥५१॥ स्वयमिति । मया, उदाहृतं प्रोक्तम् ।  
 ( यत् ) एतत् इदम्, वचनम् । प्रधने सग्रामे । स्वयमेव, तत् वचनम् । प्रकटं व्यक्तम्, भविष्यति । जिह्वया  
 रसनया । विना ऋते । रसभेदः रसाना पदरसाना भेदोऽन्तरम् । कस्यचित् पुरुषस्य । स्फुटता व्यक्तताम् ।  
 नोपयाति हि न प्राप्नोति हि ( नहि उपयाति न प्राप्नोति ) । जिह्वया रसभेदः प्रकृताभायाति तथा सग्रामे  
 मद्रचनं प्रकटं भविष्यति—इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥५२॥ अहितस्थेति । अहितस्य शत्रो—विपरीत-  
 वर्तनायुक्तपुरुषस्य-इत्यर्थः । हितोपदेशनैः हितस्य उपकारकस्य उपदेशनैर्वचनैः । मम मे । किं प्रयोजनम् ।  
 अभीप्सितम् अभीष्टम् । कुर्व विधेहि । हुक्लु करणे लोट् । अथवा तथा हि । प्रतिकूलजने अहितजने ।

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि बलवान्के आगे झुक जाना चाहिए ॥४९॥ यो बहुत जल-  
 जन्तुओंसे युक्त होनेके नाते, स्थिर आधार युक्त होनेके कारण और लाघने योग्य न होनेकी  
 वजहसे समुद्र और नद ये दोनों भले ही एक सरीखे हों, फिर भी दोनोंमें महान् भेद होता है ।  
 इसी तरह पृथिवीपाल और पद्मनाभ ये दोनों ही बहुत बली हैं, स्थिरचित्त है और है अनाक्रमणीय,  
 फिर भी दोनोंमें बहुत अधिक अन्तर है, जो मामूली नहीं कहा जा सकता—एक बड़ा है, दूसरा  
 छोटा; एक स्वामी है, दूसरा सेवक और एक शरण देनेवाला है तो दूसरा शरणार्थी ॥५०॥  
 सुवर्णनाभ ! इस प्रकारकी मोठी-मोठी बातें करनेवाले इन गेहेनर्दी सैनिकोंका व्यर्थ विश्वास न करो ।  
 सभी ओरसे वृक्षोंसे घिरे हुए भी पहाड़को, क्षुब्ध समुद्र आप्लावित कर सकता है—डुबो सकता  
 है ॥५१॥ मैंने जो यह कहा है, वह युद्धमें अपने-आप, आपको स्पष्ट हो जायेगा । जीभके बिना  
 किसीकी भी रसोंका अन्तर स्पष्टतया ज्ञात नहीं हो सकता ॥५२॥ अथवा जिसे अपने हितका  
 स्वयं खयाल नहीं, उसे हितका उपदेश देनेसे मुझे क्या लाभ ? तुम्हारी जो इच्छा हो, करो । जो  
 समझाया जाये उससे विपरीत काम करनेवालोंके प्रति उपेक्षा करना ही उचित है । हितकी

१. अ क ल ग घ त्वत्प्रकटं । २. क ल ग घ हितशिष्या । ३. = चाटुकारेषु । ४. वा 'मञ्ज-  
 यितुम्' इति नास्ति । ५. वा लोट् । ६. वा तथापि ।

समुत्तः समुपेत्य<sup>१</sup> तत्समाप्तिमभ्यर्चय मुक्तमत्सरः ।  
 प्रणतिं गमितैः शिरोऽम्बुजै रणभूमिमथवा गलच्छ्रुतैः ॥५४॥  
 क्षुमितामिति तस्य भाषितैर्युवराजप्रमुक्तामसौ सभाम् ।  
 परवागनुवादिनोऽस्य कः बलु दोषः प्रभुरित्यवारयत् ॥५५॥  
 ब्रज योग्यगृहासनादिकं<sup>२</sup> व्यवहारोचितमस्य कारय ।  
 अमिधाय नियुक्तमित्यसाधुदत्तिद्वत्प्रविसर्जिताखिलः ॥५६॥  
 अथ मन्त्रगृहे स मन्त्रवित्सममाहूय समस्तमन्त्रिणः ।  
 युवराजसमन्वितोऽभ्यधाविति वाचं वचने विचक्षणः ॥५७॥

वपेक्षणं हि ओदासीन्यं हि । अनुगतैकश्रुतिषु अनुगता अनुकूल ( तां ) गता एका मुख्या वृत्तिवर्तनं येषु तेषु अनुकूलगतजनैषु—इत्यर्थः । इतिशिक्षा इतिपदेक्षः, सफलः—इत्यर्थः ॥५३॥ समुत्त इति । मुक्तमत्सरः त्यक्तमत्सरः । समुत्तं सुतेन सहितः त्वम् । तत्समाप्तिं तां<sup>३</sup> सभाया आस्थानस्य क्षितिं भूमिम् । समुपेत्य प्राप्य । प्रणतिं प्रणमनम् । गमितैः प्रापितैः । शिरोऽम्बुजैः शिरास्येवाम्बुजानि तैः । अभ्यर्चय पूजय । अथवा गलच्छ्रुतैः गलेऽप्यश्रुतैः पतितैः शिरोऽम्बुजैः रणभूमि रणस्य संग्रामस्य भूमिम् । अभ्यर्चय पूजय । अथि पूजाया अप्यन्तात्लिट् । दोषकः ( कम् ) ॥५४॥ क्षुमितामिति । इति उक्तप्रकारेण । तस्य दूतस्य । भाषितैः वचनैः क्षुमिता<sup>४</sup> कोपिताम् । युवराजप्रमुखा युवराज एव प्रमुखा यस्यां ताम् । सभाम् आस्थानम् । असौ प्रभुः पद्मानाम् । परवागनुवादिनः परस्य शत्रोर्वाचं वचनमनुवादनशीलस्य ( अनुवादतोऽयेवशीलः, तस्य-परोक्षितमनुवादतः—इत्यर्थः ) अस्य दूतस्य । कः बलु स्फुटं, दोषः । इति एवम् । अवारयत् निवारयतिस्म । वृत् वरणे लङ् । रूपकम् ॥५५॥ ब्रजेति । ब्रज गच्छ । व्यवहारोचितं व्यवहारस्योचितं योग्यम् । योग्यगृहासनादिकं योग्ये गृहासने आदी<sup>५</sup> यस्य तत् । अस्य दूतस्य । कारय विधापय । इदृक् कारणे निजन्तत्कोद् । इति एवम् । नियुक्तं नियोगिगुरुषु<sup>६</sup> । अमिधाय निगद्य । प्रविसर्जिताखिलः प्रविसर्जिताः प्रहिता अखिला येन स । असौ पद्मानामः । उदतिष्ठत् उत्तिष्ठतिस्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लङ्<sup>७</sup> ॥५६॥ अथेति । अथ उद्यानानन्तरम् । मन्त्रवित् मन्त्रालोचनवेदी । युवराजसमन्वितः युवराजेन समन्वितो युक्तः । वचने भाषणे । विचक्षणः प्रौढः । सः पद्मानामः । समस्तमन्त्रिणः समस्तान् सर्वांन् मन्त्रिणः सचिवान् । समं युगपत् । मन्त्रगृहे मन्त्रशालायाम् । आहूय आह्वानं कृत्वा । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । वाचं वचनम् । अभ्यधात् अवबोत् ।

शिक्षा उन्हे दी जानी चाहिए, जो केवल अनुकूल व्यवहार कर सकते हैं—जो शिक्षा दी जाय, उसे मान सकते हैं ॥५३॥ अब डाह करना छोड़ो और अपने राजकुमारको साथ लिवाकर पृथिवीपालकी सभामें जाकर उस ( सभा ) की भूमिकी अपने बिनम्र मस्तकरूपी कमलोंसे पूजा करो, अथवा घड़से विलग हुए अपने मुण्डरूपी कमलोंसे संग्रामभूमिकी अर्चना करना ॥५४॥ दूतके इस कथनसे सारी सभा—जिसमें युवराज सुवर्णनाम प्रमुख था—क्षुब्ध हो उठी, किन्तु राजा पद्मानामने उसे यह समझा-बुझाकर प्रतीकार करनेसे रोक लिया कि, यह दूसरे की कही हुई बातको उसी रूपमें दूसरी बार कह रहा है, इसमें इसका क्या अपराध ? ॥५५॥ फिर एक अधिकारीको पासमें बुलाकर पद्मानामने कहा कि जाओ व्यवहारके अनुकूल इस दूतका ठहरने और भोजन आदिका योग्य प्रबन्ध करवा दो । इसके उपरान्त सभी सभासदोंकी बिदा करके वह अपने सिंहासनसे उठकर खड़ा हो गया ॥५६॥ इसके पश्चात् मन्त्रणाके मर्मको समझनेवाले राजा पद्मानामने मन्त्रशालामें सभी मन्त्रियोंको आमन्त्रित करके युवराजके साथ प्रवेश किया ।

१. अ क ख ग घ म तत्समा क्षितिः । २. अ गृहासना । ३. = तस्य । ४. = कुपिताम् । ५. = आदी । ६. वा नियोगहारिणम् । ७. आ लङ् । ८. = आकार्य ।

वयमप्यगमाम कौशलं नयमाग यद्वयं भवद्गुणः ।  
 अवभासयतेऽखिलं जगद्विषयो महिमा रवेरसौ ॥५८॥  
 परिवर्धयति स्वकौशलैः कुशलं शास्त्रयति प्रमादतः ।  
 जननी जनिकैव तत्फलं कुरुते नः सकलं भवन्मतिः ॥५९॥  
 अपि मेरुसमे समुद्रगते मम का व्याकुलता प्रयोजने ।  
 अभिजाप्रति यस्य सर्वतो गुरवः कार्यविधौ भवद्विधाः ॥६०॥  
 द्विरदानिव मद्रिधान्मत्वा मदमूढान्स्वलतः पदे पदे ।  
 अपथाद्विनियतयेत को गुरवश्चेन्न भवेयुरङ्कुशाः ॥६१॥

दुष्पाञ्छाणे च लुङ् ॥५७॥ वयमिति । वयमपि, नयमाणं नयस्य नीतेमार्गे शास्त्रे । कौशलं नैपुण्यम् ।  
 अगमाम अगच्छाम । गम्भीरगतौ लुङ् । यत् यस्मात् । अयम् एषः । भवद्गुणः भवद्गुणो युष्मत् ज्ञातो गुणः ।  
 दिवसः दिनम् । अखिलं निखिलम् । जगत् लोकम् । अवभासयते प्रकाशयते । अमूर्खं दीप्तौ लट् । अयम्  
 इति यत् । असौ सः । रवे सूर्यस्य । महिमा सामर्थ्यम् ॥५८॥ परिवर्धयतीति । जननी माता । स्वकौशलैः  
 स्वस्य नैपुण्यैः । परिवर्धयति पर्वयति । वृद्धं वृद्धौ लट् । कुशलं क्षेमम् । शास्ति शिक्षते । शास् अनु-  
 शिष्टौ लट् । प्रमादतः अपायतः । अवति रक्षति । अव रक्षणामिप् लट् । प्रमादं परिहृत्य रक्षति—इत्यर्थः ।  
 भवन्मति भवता युष्माकं मतिर्बुद्धिः । जनिकै(के)व मातेव । सकलं समस्तम् । तत्फलं तत्प्रयोजनम् । न कुरुते  
 न विदधाति । दुर्कृञ् करणे लट् ॥५९॥ अपीति । यस्य मम । कार्यविधौ कार्यस्य प्रयोजनस्य विधौ करणे ।  
 भवद्विधाः भवता युष्माकं विधाः सद्भाः । गुरवः गुणाद्विधाः । सर्वतः सर्वकार्ये । अभिजाप्रति जागरणं कुर्वन्ति ।  
 मम मे । मेरुसमे महामेरुसमे । प्रयोजने कार्ये । समुद्रगतेऽपि संभवेषुपि, आगतेऽपि वा । व्याकुलता आध्या-  
 नता । न कापि—इत्यर्थः ॥६०॥ द्विरदानिति । पदे पदे चरणविक्षेपण(स्य)स्थाने स्थाने । 'वापसायाम्' इति  
 द्विः । स्तलतः स्तलतः कुर्वतः । सदा सर्वदा । मदमूढान् मदेन मूढान्मथान् । द्विरदानिव गजानिव । मद्रिधान्  
 मम सदृशान् । गुरवः गुणाद्विधाः । अङ्कुशाः सुणयः, न भवेयुरचेत् । अपथात् दुर्मागति । क को वा । विनि-

राजा बोलनेमें बहुत चतुर था । उसने यों कहना शुरू किया—॥५७॥ हे मन्त्रिमण्डल ! हम  
 भी जो नीति-शास्त्रके दाव-पेंच जानने लगे हैं, यह आपका प्रसाद है । दिन, पूरे ससारको प्रका-  
 शित करता है, यह सूर्यकी ही तो महिमा है ॥५८॥ जिस तरह जन्म देनेवाला माँ अपने पुत्रको  
 पाल पोसकर बड़ा करती है, उसे होशियार बनानेके लिए होशियारोसे शिक्षा देती है और  
 असावधानीसे दूर रखती है । इसी तरह आपकी बुद्धि हमको आगे बढ़ाती है, कुशलता सिख-  
 लाती है और प्रमादसे बचाया करती है—इस तरह माँका पूरा काम करती है ॥५९॥ प्रत्येक  
 कार्यकी विधि बतलानेके लिए जिसके यहाँ हर काममें आप सरीखे नीतिज्ञ हमसा जागरूक  
 रहते हैं, उसे मेरु जैसे बड़ेसे-बड़े कामके आ पड़नेपर भी व्याकुलता कैसे हो सकती है ? ॥६०॥  
 मदान्ध हाथियोकी भाँति पग-पगपर हमेशा गिरनेवाले ( भूल करनेवाले ) हम लोगोको गुरुजन

१. आ इ यद् महिमा । २. अ ऽर्धयते । ३. अ आ इ जनिकैव । ४. आ गम । ५. आ युष्मभ्यम् ।  
 ६. अ भासुङ् । ७. आ वृधु । ८. = शिक्षयते । ९. = विहस्तता । 'विहस्तव्याकुलो व्यग्रः'  
 इति हैमः । १०. = प्रतिपश्य ।

क्रमतेऽरिषु मत्पराक्रमो भवतामेव धिया पुरस्कृतः ।  
 नहि धामधनोऽप्यसारथिर्नभसः पारमुपैति भास्करः ॥६२॥  
 स्वयमेव भवद्गिराहितश्रुतिभिः किं न समागतैः श्रुतम् ।  
 निजदूतमुखेन निष्ठुरं मयि यत्नेन शठेन भाषितम् ॥६३॥  
 पश्य भम शृण्वतस्तथा सहसा क्षोभमुपपन्नजन्मनः ।  
 किममन्त्रि गृहं तदीयमित्यपवादेन जनस्य धारितम् ॥६४॥  
 भजते गदवन्न विक्रियामुदयन्नेव रिपुश्चिकित्सितः ।  
 इति वक्रमतिः स कैतवाद्रुत'मस्मानभिहन्तुमीहते ॥६५॥  
 अत एव च दण्डवजितः सदुपायोस्ति न तस्य सिद्धये ।  
 वदतास्ति<sup>१</sup> स चेत्प्रकृष्यते मतिरासर्वविदो हि देहिनाम् ॥६६॥

वर्तयेत् निवारयेत् । उपमा ॥६१॥ क्रमते इति । भवतामेव युष्माकमेव । धिया बुद्ध्या । पुरस्कृतः अग्रे कृतः । मत्पराक्रमः मम मे पराक्रमः सामर्थ्यम् ( अरिषु ) शत्रुषु । क्रमते आक्रमते वर्तते वा । धामधनोऽपि धामैव किरण एव धनं यस्य सः अपि । अमारथिः सारथिरहितः । भास्करः सूर्यः । नभसः गगनस्य । पारं गगनम् । न हि उपैति नोयाति हि । अर्थान्तरन्यासः ॥६२॥ स्वयमिति । निजदूतमुखेन निजस्य स्वस्य दूतस्य वचोद्वारस्य मुखेन । शठेन धूर्तेन । तेन 'पृथिवीपालेन । मयि, यत् निष्ठुरं कर्कशम् । भाषितं प्रोक्तम् । आहितश्रुतिभिः आहिता संनद्धाः श्रुतयः कर्णा येषां तैः । समागतैः, भवद्गिराः युष्माभिः । स्वयमेव न श्रुतं न आकर्णितं किम् । ६३॥ पश्यमिति । पश्यं निष्ठुरं वचनम् । शृण्वतः आकर्णयतः । मम मे । तदा तत्समये । सहसा शीघ्रम् । क्षोभं संचलम् । उपपन्नजत् उपपन्नकृतः । मनः चित्तम् । तदीयं पद्मनाभसंबन्धि । गृहं मन्दिरम् । अमन्त्रि मन्त्रिरहितं किम् । इति जनस्य लोकस्य । अपवादेन निन्दया । धारितं निवारितम् । मनो धारितम्—इत्यभिप्रायः ॥६४॥ भजते इति । गदवत् व्याधिरिव । उदयस्ये[ने]व अयुदयं प्राप्तुवन् एव । चिकित्सितः प्रतिकारं श्रुतः । रिपुः शत्रुः । विक्रियां विपरीतक्रियाम् । न भजते नाश्रयते । इति एवम् । वक्रमति<sup>२</sup> शत्रु(ता)रहितबुद्धिः । स 'पृथिवीपालः । कैतवात् गजव्याजात् कपटाद्वा । दूतं शीघ्रम् । अस्मान्, अभिहन्तु मारयितुम् । ईहते प्रवर्तते । उपमा ॥६५॥ अत इति । अत एव एतस्मात्कारणादेव । तस्य 'पृथिवीपालस्य । सिद्धये जयाय । दण्डवजितः दण्डोपायेन वजितो रहितः । सदुपायः प्रशस्तोपायः ।

( आप लोग ) अंकुश न बने रहते, तो उन्मागंसे कौन बचाता ? ॥६१॥ आप ही सबकी बुद्धि-का सहयोग पाकर हमारा पराक्रम आगे बढ़कर शत्रुओंके छक्के छुड़ा देता है । सूर्य अत्यन्त तेजस्वी होकर भी सारथीके बिना आकाशका पार नहीं पाता ॥६२॥ उस धूर्त पृथिवीपालने दूतके मुखसे निष्ठुरता-भरी जो बातें मुझसे कहीं, उन्हें आप सबने—जो सभामें बैठे हुए थे—क्या स्वयं कान लगाकर नहीं सुना ? ॥६३॥ उसको निष्ठुरताभरी बातें सुनकर मेरा मन उसी समय सहसा क्षुब्ध हो उठा, पर मैंने अपने क्षुब्ध मनको यह सोचकर शान्त कर लिया, कि यदि दूतको मार डाला तो जगत्में यह अपवाद फैल जायेगा कि पद्मनाभके घरमें कोई समझदार सलाहकार नहीं रहा ॥६४॥ 'रोगकी तरह शत्रुका भी यदि प्रारम्भमे ही प्रतिकार कर दिया जाये तो वह शान्त हो जाता है' यह सोचकर पृथिवीपाल—जिसकी बुद्धिमे कूट-कूटकर कपट भरा हुआ है—हाथीका बहाना बनाकर हमें मारना चाहता है ॥६५॥ अतएव मेरे खयालसे उसे जीतनेके लिए दण्डके सिवा और कोई अच्छा उपाय नहीं है । यदि है तो आपलोग बत-

१. आ इ ध्रुवमस्मानभि । २. म 'पायोऽस्मि । ३. म 'तास्मि । ४. श पृथ्वी । ५. आ चञ्चलम् । ६. = कुटिल-बुद्धिः । ७. श पृथ्वी । ८. श पृथ्वी ।



अभिधाय गिरं ससौष्ठवामिति<sup>१</sup> तूष्णीं नृपताववस्थिते ।  
 न्यगदीदिति नीतिमद्वयः पुरुभूतिः पुरुभूतिकारणम्<sup>२</sup> ॥६७॥  
 अभवाम भवत्प्रसादतो वयमृद्धं मतेष्व भाजनम् ।  
 अतएव भुवि त्वमेव नो गुरुरीशः सुहृदेकबान्धवः ॥६८॥  
 तव कार्यविदोऽभिजलिपुं<sup>३</sup> पुरतो दृष्टपरम्परस्य च ।  
 नयशास्त्रलवैकलितधीः परिजिह्वेति कथं न मादृशः ॥६९॥  
 नहि कार्यविपश्चितः<sup>४</sup> पुरो निगदन्राजति शास्त्रपण्डितः ।  
 सकलं पुरुषस्य लक्षणं ननु संविन्धमलक्ष्यवेदिनः<sup>५</sup> ॥७०॥

नास्ति न विद्यते । दण्डसाध्यः—इत्यर्थः । सः दण्डोपायं विनाऽयोग्यः<sup>१</sup> । अस्ति चेत् वर्तते चेत् । वद ब्रूत । वद व्यक्ताया बाधि लोट् । आसर्वविदः सर्वज्ञपर्यन्तम् । वेदिनां जीवानाम् । मतिः बुद्धिः । प्रकृष्यते हि अतिशयते हि । कृप विलेखने कर्मणि लट् ॥६६॥ अभिधायेति । इति एवम् । ससौष्ठवा शोभायुक्ताम् । गिरं बाणीम् । अभिधाय निगद्य । नृपतो भूपतो । तूष्णीं ओषम् । अवस्थिते सति स्थिते सति<sup>२</sup> । पुरुभूतिः<sup>३</sup> 'पुरुभूतिनामधेयो मन्त्री । पुरुभूतिकारणं पुरोर्महत्याः भूतेः ऐश्वर्यस्य कारणं निमित्तम्'<sup>४</sup> । नीतिमद्वयः नीतिमद् नीतिपुस्तं वचो वचनम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । न्यगदीत् अवीवत् । गद व्यक्ताया बाधि लुङ्<sup>५</sup> ॥६७॥ अवधामेति । भवत्प्रसादतः भवता युष्माकं प्रसादतः कारुण्यात् । वयम्, ऋद्धेः च ऐश्वर्यस्य च । मतेः च बुद्धेश्च । भाजनं पात्रम् । अभवाम अभूम्<sup>६</sup> । भू सत्तायां लुङ् । अत एव एतस्मादेव । भुवि भूमी । त्वमेव भवानेष । नः अस्माकम् । 'पदादावयस्य' इत्यादिना अस्मदः पष्ठोबहुवचनस्य नसादेशः । गुरु उपाध्यायः । ईशः प्रभुः । सुहृत् मित्रम् । एकबान्धवः मुख्यबन्धुः । भवति—इत्याख्याहारः ॥६८॥ तवेति । कार्यविदः प्रयोजनवेदिनः । दृष्टपरम्परस्य दृष्टा परम्परा पूर्वक्रमो यस्य<sup>७</sup> तस्य । तव भवत । पुरतः पुरस्तात् । अभिजलिपुंम् अभिमुखं वक्नुम् । नयशास्त्रलवैकलितधीः नयस्य नीतेः शास्त्रस्य लवैकेन लेशमात्रेण लिप्ता गणिता धीर्बुद्धिर्यस्य सः । मादृशः मम समानः । कथं<sup>८</sup> केन । न परिजिह्वेति लज्जितो न भवति, किन्तु जिह्वेस्थेव ॥६९॥ नेति । कार्यविपश्चितः कार्यस्य<sup>९</sup> प्रयोजनस्य विपश्चितः वेदिनः । पुरः अग्रे । निगदन् ब्रुवन् । शास्त्रपण्डितः शास्त्रे नीत्यादिशास्त्रे पण्डितः निपुणः । [ नहि ] राजति [ न ]

छाह्ये; क्योंकि सबकी बुद्धि एक-सी नहीं होती, निगोदिया जीवसे लेकर सर्वज्ञ तक समस्त प्राणियोंकी बुद्धिमें तारतम्य देखा जाता है ॥६६॥ इस तरह (५८ वें श्लोकसे ६६ वें श्लोक तक ) सुन्दर शब्दोंमें अपना वक्तव्य देकर राजा पद्मनाभ चुप हो गया । फिर पुरुभूति नामके मन्त्रीने वैभवको उत्पन्न करनेवाले नीतिसे युक्त वचन कहे—॥६७॥ राजन् ! आपके प्रसादसे हम सब ऋद्धि और बुद्धिके पात्र बने हैं । अतएव इस भूतलपर आप हम सभीके गुरु, स्वामी, मित्र और एकमात्र वन्धु हैं ॥६८॥ राजन् ! आप समस्त कार्योंके जानकार हैं और सारी परम्पराओंको देख चुके हैं । अतएव नीतिशास्त्रके बहुत थोड़े ज्ञानका भी गवं करनेवाला मुझ सरीखा व्यक्ति आपके सामने लज्जित क्यों नहीं होगा ? ॥६९॥ कार्योंके अनुभवो विद्वान्के सामने बोलनेवाला कोरा शास्त्रका पण्डित, जिसे कार्यका अनुभव नहीं है, केवल शास्त्रकी पक्तियाँ आती है, शोभा नहीं पाता है । लक्ष्यको न जाननेवाले पुरुषका सारा शास्त्र निरद्वय हो

१. स स सौष्ठवा<sup>१</sup> । २. अ पुरुभूतिः, पुरभूतिकारणम् । ३. अ इ 'पि जलिपुं । ४. आ इ 'विपश्चितः । ५. अ 'लक्ष्यवेदिनः । ६. अ भिप्रोपायः । ७. अ लोट् । ८. अ 'स्थिते सति' इति नास्ति । ९. अ पुरुभूतिः । १०. अ पुरुभूतिः । ११. अ 'निमित्तम्' इति नास्ति । १२. आ लङ् । १३. आ 'अभूम्' इति नास्ति । १४. = येन । १५. = केन प्रकारेण । १६. = कर्तव्यस्य ।

अधिकारपदे 'स्थितैस्तथाप्यनुशिष्यः प्रभुरात्मशक्तिः ।  
 तुषराशिकणक्रमाद्भवेदपि बालाद्विरलं सुभाषितम् ॥७१॥  
 पुरुषेण जिगीषुणा सदाप्यबलम्यौ नयविक्रमद्वयो ।  
 नहि तावपहाय विद्यते फलसिद्धेरपरं निबन्धनम् ॥७२॥  
 नयविक्रमयोर्नयो बली नयहीनस्य वृथा पराक्रमः ।  
 प्रविदारितमत्तकुञ्जरः शबरेणापि निह्न्यते हरिः ॥७३॥  
 बलवानपि जायते रिपुः सुखसाध्यः खलु नीतिवर्तिनाम् ।  
 मदमन्थरमप्यापयतो ननु बध्नन्ति गजं वनेचराः ॥७४॥

विभाति । राज्ञ् दोषो लट् । अलक्ष्यं भवेति । अलक्ष्यं वेत्तीत्येवंशो लोऽलक्ष्यवेदो तस्य—लक्ष्यपरिज्ञानरहि-  
 यस्य । पुरुषस्य नरस्य । सकलं समस्तम् । संबिम्बं सन्देहयुक्तम्<sup>१</sup> । ननु<sup>२</sup> निश्चयम् । अर्थान्तरन्यासः ॥७०॥  
 अधिकारेति । तथापि, अधिकारपदस्थितैः अधिकारे श्रेष्ठे पदे स्थाने स्थितैर्नियोजितैः । आत्मशक्तितः आत्मना  
 स्वैवा शक्तितः सामर्थ्यात् । प्रभुः स्वामी । अनुशिष्यः<sup>३</sup> शिषितुं योग्यः । तुषराशिकणक्रमात् तुषाणा घाग्य-  
 त्वत्वा राक्षो पुञ्जे स्थिततण्डुलकणस्य क्रमात् न्यायात् । बालात् अज्ञानिनः सकाशादपि । सुभाषितं प्रशस्त-  
 वचनं महता पुर स्वल्प भवति—इत्यर्थः । भवेत् । लिङ् । अर्थान्तरन्यासः ॥७१॥ पुरुषेणेति । जिगीषुणा  
 जेतुमिच्छुना । पुरुषेण राजपुरुषेण<sup>४</sup> । नयविक्रमद्वयो नयो नीतिविक्रमः पराक्रमः, नमश्च विक्रमश्च तयोश्चो,  
 नयविक्रमावेव द्वयो वृक्षौ । रूपकम् । सदापि सर्वकालेऽपि । अबलम्यौ अबलम्वयितुं योग्यौ । तो नय-  
 विक्रमद्वयो । अपहाय विमुच्य । फलसिद्धेः कार्यसिद्धेः, पक्षसिद्धेः<sup>५</sup>—इति ध्वनिः । अपरम् अन्यत् । निबन्धनं  
 कारणम् । नहि नास्ति हि । वृक्षमपहाय फलसिद्धिर्नास्ति—इत्युक्तिलेशः । अर्थान्तरन्यासः ॥७२॥ नवेति ।  
 नयविक्रमयोः नीतिविक्रमयोर्मध्ये । नयः नीतिगुणः । बली बलवान् । नयहीनस्य नयगुणरहितस्य । पराक्रमः  
 विक्रमः । वृथा निष्फलं (लां) भवति । प्रविदारितमत्तकुञ्जरः प्रविदारिता विहलता मत्तकुञ्जरा मत्तमत्तङ्गजा  
 येन स । हरिः सिंहः । शबरेणापि व्याधेनापि । निह्न्यते निह्न्यते । हन हिंसागत्यो कर्मणि लट् । नयहीनस्य  
 वै बल—पराक्रमवत् । कार्यसिद्धिर्न भवति—इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥७३॥ बलवानिति । बलवानपि  
 पराक्रमवानपि । रिपुः शत्रुः । नीतिवर्तिना नीतो वर्तिना विद्यमानानाम् । सुखसाध्यः<sup>६</sup> सुखेन सुलभेन साध्यः  
 जायते उत्पद्यते । खलु स्फुटम् । मदमन्थरमपि मदेन मन्थरो मन्दगामो, तमपि । गजं करिणम् । वनेचराः

सन्देहसे भरा रहता है । लक्ष्यको जानने पर हीलक्षणका ज्ञान सन्देहमुक्त होता है ।  
 उदाहरण न जाननेवाले वैयाकरणका व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान भ्रमसे भरा हुआ रहता  
 है ॥७०॥ तो भी उच्च पदोंपर नियुक्त अधिकारियोंके द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार  
 राजाको शिक्षा दी ही जानी चाहिए । जिस प्रकार खोजनेपर भूसेकी ढेरीमे चावलके कुछ  
 कण मिल जाते हैं, इसी तरह बालक अथवा अल्पज्ञानीमे भी कभी-कभी थोड़ी-सी अच्छी  
 बात सुननेको मिल जाती है ॥७१॥ विजयके अभिलाषी पुरुषको हमेशा नय-नीति और  
 पराक्रमके वृक्षोंका आश्रय लेते रहना चाहिए; क्योंकि इन दोनोंको छोड़ देनेपर फल (कार्य) की  
 सिद्धिका और कोई साधन नहीं है ॥७२॥ नय और विक्रम इन दोनोंमे नय बलवान् है । नय-  
 हीनका पराक्रम निष्फल होता है । जो पराक्रमी (नीतिमान् नहीं) सिंह मदमाते हाथियोंको  
 चौर डालता है, वह एक गिकारीके द्वारा भी मारा जाता है ॥७३॥ बलवान्मे-बलवान् भी  
 पराक्रमी शत्रु नीति मार्गपर चलनेवालोंके लिए आसानीसे जीतने योग्य होता है । भील या

१. अ आ इ 'पदस्थि' । २. बा 'हप्राप्तम् । ३. = निश्चयेन । ४. आ 'शिष्यः । ५. आ  
 'राजपुरुषेण' इति नास्ति । ६. बा फलसिद्धिः कार्यसिद्धिः पक्षसिद्धिः । ७. = अनायाससाध्यः ।

नयमार्गममुच्चतः स्वयं विघटेतापि यदि प्रयोजनम् ।

पुरुषस्य न तत्र दूषणं स समस्तोऽपि विधेः परामर्शः ॥७४॥

नयशास्त्रनिर्देशितेन यः सततं संचरते न वर्त्मना ।

शिशुवत्स कुबुद्धिरुल्लुक् स्वयमाकर्षति कृच्छ्रमात्मनः ॥७५॥

त्वमतः प्रथमो विवेकिनां सहसा दण्डमरौ प्रयुङ्क्ष्व मा ।

स हि शाश्वति साममात्रतः पृथिवीपालनृपोऽभिमानवान् ॥७७॥

अभिमानधनो हि चिक्रियां व्रजति प्रत्युत दण्डदर्शनैः ।

प्रशमं न तु याति जातुचित्परिनिर्वीरि किमस्मिन्मना ॥७८॥

शब्दराः । उपायतः उपायात् । बध्नन्ति बन्धनं कुर्वन्ति । ननु निश्चयम् । अर्थान्तरन्यासः ॥७४॥ नयेति । नयमार्गं नीतिशास्त्रम् । अमुच्चतः अन्यजतः पुरुषस्य । यदि प्रयोजनं कार्यम् । स्वयं विघटेत<sup>१</sup> अपि वियोजयेत् । घटिष्<sup>२</sup> वेष्टाय<sup>३</sup> लिङ् । तत्र कार्याभावे । पुरुषस्य नःस्य । दूषण<sup>४</sup> निन्दा । न न भवति । सः समस्तोऽपि सकलोऽपि । विधेः पापकर्मणः । परामर्शः तिरस्कारः । नयशास्त्रमार्गेण विहितकार्यस्य विधेः कर्मणोऽपराधो न तु पुरुषस्य—इत्यभिप्रायः । 'स दैवस्यापराधो न मन्त्रिणा यस्मिन्घटितमपि कार्यं न घटते' इति नीतिवाक्यामृतं ॥७५॥ नयेति । यः पुरुषः । नयशास्त्रनिर्देशितेन नयशास्त्रेण नीतिशास्त्रेण दर्शितेन<sup>५</sup> दृष्टास्तविहितेन । वर्त्मना मार्गेण । सततम् अनवरतम् । न संचरते न प्रवर्तते । कुबुद्धिः कुस्मितबुद्धियुक्तः । सः पुरुषः । आत्मनः स्वस्य । कृच्छ्रं<sup>६</sup> वष्टम् । वस्तुवत् अलातम् । शिशुवत् बालकवत् । स्वयम्, आपर्षति आकर्षणं करोति । उपमा ( निर्दर्शनालङ्कारः ) ॥७६॥ त्वमिति । अतः कारणात् । विवेकिना सम्पद्भजिनाम् । प्रथमः मुख्यः । त्वं भवान् । सहसा क्षीघ्रम् । अरौ शत्रौ । दण्डं दण्डोपायम् । मा प्रयुक्ष्व मा प्रयोजस्व । मुञ्ज<sup>७</sup> योने । अभिमानवान्<sup>८</sup> अभिमानयुक्तः । स हि 'पृथिवीपालनृप' 'पृथिवीपालभूषति'<sup>९</sup> । प्रियपूर्वं वच<sup>१०</sup> ( ? ) । साममात्रतः सामोपायमात्रादेव । शाश्वति उपशमं प्राप्नोति । शमं दम् उपशमने ॥७७॥ अभिमानेति । प्रत्युत न चेत् —साधुवचो न प्रयुक्तं चेद्—इत्यर्थः । अभिमानधनः अभिमान एव धनं यस्य सः । दण्डदर्शनैः दण्डप्रयोगैः । चिक्रिया विकारम् । व्रजति गच्छति । व्रज गतो लट् । प्रशमं उपशमम् । न तु याति न गच्छति । जातुचित् सकृदपि । अगिः वह्निः । अग्निना वह्निना । परिनिर्वीरि किं नश्यति

शिकारी लोग अपने उपायसे मदमाते हाथीको भी बाँध लेते हैं ॥७४॥ नीति मार्गको न छोड़ने-वाले पुरुषका यदि कोई काम बिगड़ भी जाये तो उसमे उस पुरुषका कोई दोष नहीं । वह तो सारा-का-मार्ग विधिका विधान है, जो उस पुरुषका विनाश करनेवाला है । 'विधि-विधान कभी-टलता नहीं' ॥७५॥ जो पुरुष सदा नीतिशास्त्रके द्वारा दिखलाये गये मार्गमे नहीं चलता, वह बुद्धि छोटे बच्चेकी तरह स्वयं ही काष्ठकी जलती हुई लकड़ीको अपनी आँर खोचने लगता है । जिस प्रकार अबोध शिशु जलती लकड़ीका खोचकर दुःख उठाता है, उसी प्रकार नीतिसे न चलनेवाला पुरुष भी अपने-आप संकटमे डालनेवाले कामको हाथमे ले लेता है ॥७६॥ राजन् ! आप विवेकी पुरुषोंमें प्रमुख है, अतः शत्रुके ऊपर सहसा दण्डका प्रयोग नहीं कीजिये । राजा पृथिवीपाल बड़ा अभिमानी है । फलतः वह केवल प्रिय वचनोसे शान्त हो जायेगा । यदि गुड़ देनेसे काम बन जाये तो ईंट मारनेकी क्या आवश्यकता ॥७७॥ अभिमानो पुरुष दण्ड दिखलाने-से दण्डनीतिका प्रयोग करनेसे कभी शान्त नहीं हो सकता, उल्टा भड़क ही उठता है । क्या

१. क ख ग घ ननु मार्ग । २. = विनश्येत् । ३. आ घट । ४ = दोष । ५. = उपदिष्टेन । ६. आ युजिर् । ७. श 'अभिमानवान्' इति नास्ति । ८. श पृथ्वी । ९. श पृथ्वी । १०. आ नृपतिः ।

प्रथमं द्विषि साम बुद्धिमानय भेदादि युनक्ति सिद्धये ।

गुरुदण्डनिपीडना रिपोरियमस्या हि विवेकिनां क्रिया ॥७६॥

प्रभु दोषशतं प्रमाजितुं पुरुषस्यैकमपि प्रियं वचः ।

पयसैव जनस्य वल्लभा ननु वज्रादिमुखः पयोमुखः ॥८०॥

धनहानिरुपप्रदानतो बलहानिर्नियमेन दण्डतः ।

अयशः कपटीति भेदतो बहुमद्रं न हि सामतः परम् ॥८१॥

प्रणिगद्य नयान्वितं वचः पुरुभूताविति मौनमास्थिते ।

सुवराडय पौरुषाश्रयामिति सास्यमुदाहरदिगरम् ॥८२॥

किम् । वा गतिमन्वनयोलट् । अर्थात्तत्त्वासाः । ७८॥ प्रथममिति । बुद्धिमान् धोमान् । रिपो शत्रोः । सिद्धये<sup>१</sup> कार्यसिद्धये । प्रथमं पूर्वम् । द्विषि शत्रौ । साम सामोपायम् । युनक्ति प्रयोजयति । अथ पश्चात् । भेदादि अयमिति भेदाद्युपायः प्रयोक्तव्यः । इयम् एषा । गुरुदण्डपीडना गुरुणा महता दण्डेन पीडना बाधना । विवेकिना सम्यग्ज्ञानिनाम् । अस्या भवसानवतिनो । क्रिया<sup>२</sup> हि विधेया हि ॥७९॥ प्रश्निति । पुरुषस्य नरस्य । एकमपि, प्रिय प्रीतिभूतम् । वचः वचनम् । दोषशतं दोषाणामपराधानां शतमङ्कम् । प्रमाजितुं निवारयितुम् । प्रभु समर्थम् । <sup>३</sup> वज्रादिमुख वज्रादीन् मुञ्चन्तीति<sup>४</sup> प्रियोक्ता । पयोमुखः मेघा । पयःैव जलेनैव । जनस्य लोकस्य । वल्लभाः प्रीतिकरा ननु ॥८०॥ धनहानिरिति । उपप्रदानतः दानोपायान् धनहानिं द्रव्यनाश । दण्डतः दण्डोपायात् । नियमेन निश्चयेन । बलहानिः क्षतुरङ्गबलहानिः । भेदतः भेदोपायात् । कपटी—इति कपटयुक्त इति । अयशः अपकीर्तिः । सामतः सामोपायतः । परम् अन्यत् । बहुमद्रं प्रभुमङ्गलम् । न हि नास्ति हि ॥८१॥ प्रणिगद्येति । पुरुभूतौ पुरुभूतनामधेयमन्त्रिणि । इति उच्यते प्रकरणेन । नयान्वितं नीतियुक्तम् । वचः वचनम् । प्रणिगद्य उक्त्वा । मौनं तूष्णीम् । आस्थिते आसिते सति । अथ<sup>५</sup> पुरुभूतप्रोक्तानन्तरम् । सुवराट् सुवर्णनामकुमारः । पौरुषाश्रया पराक्रमयुक्ताम् । गिरं वःणीम् । नासूय<sup>६</sup> दोषरहित ( सासूयम् असूयासहितं ) यथा तथा । इति वक्ष्यमाणप्रकरणेन । उदाहरत् अवोचत् ।

अग्निं अग्निसे वृक्षं सकतो है ? । ७८॥ बुद्धिमान् राजा अपनी सिद्धिके लिए शत्रुके साथ पहले साम-मधुर वचनोका प्रयोग करता है, मुलह करता है । यदि सामसे सफलता न मिले तो भेदका प्रयोग करता है—शत्रुके पक्षके लोगोंमें फूट डालता है अथवा उसे दान देता है । साम, भेद और दान इन तीनों ही उपायोंसे जब सफलताकी आशा न हो, तब दण्ड नीतिका प्रयोग करता है । दण्डसे शत्रुको पीडा देना—उसपर चढ़ाई कर देना, यह विवेकियोका अन्तिम उपाय है ॥७९॥ मनुष्यका केवल एक ही प्रिय वचन सैकड़ों दांषांका निवारण करनेमें समर्थ होता है । केवल जल बरसानेके कारण ही मेघ—जो बज्र आदि भी गिरा देते हैं—लोगोंको प्यारे हाते है ॥८०॥ दानसे धनकी हानि हातो है, दण्डसे निश्चय ही सेनाका विनाश हाता है और भेदसे 'यह कपटी है' इस प्रकारका अपयश फैलता है । अतएव सामसे बढ़कर और कोई अत्यधिक मंगलकारी उपाय नहीं है—दान, दण्ड और भेद इन तीन उपायोंसे हानि ही होती है और सामसे लाभ ही होता है, अतः सामसे उत्कृष्ट मंगलकारी कोई उपाय नहीं है ॥८१॥ इस प्रकार नीतिमय वचन सुनाकर—वक्तव्य देकर पुरुभूति मन्त्री चुप हो गया । इसके उपरान्त सुवराज सुवर्णनाम पराक्रमकी भावनासे भरे हुए—जोशीले और असूयासे भरे हुए शब्दोंमें यों बोला—

१. = वशोकरणाय । २. = द्विषिः । ३. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । ४. = पुरुभूतिनिगद-  
मानन्तरम् । ५. एष टीकाश्रयः पाठो मूलप्रतिपुं तु सर्वासु 'सासूयं' इत्येव समुपलभ्यते ।

पठितव्यमिहाम्यथा स्थितं करणीयप्रतिपत्तिरन्यथा ।  
 नहि पृष्ठभरे नियुज्यते<sup>१</sup> हलसंभावितयोग्यतः पशुः ॥८३॥  
 अनिरूपितकृत्ययानया ह्रियते कः खलु कूर्चशोभया ।  
 ननु बीजपदे व्यवस्थितं फलमन्यः पद्माक्ष्यडम्बरः ॥८४॥  
 परवृद्धिनिबद्धमत्सरे विफलद्वेषिणि साम कीदृशम् ।  
 सुतरां स भवेत्स्वरः प्रियैरविभाव्यप्रकृतिर्हि दुर्जनः ॥८५॥

हृत् हरणे लङ् ॥८२॥ पठितव्यमिति । इह कार्ये । पठितव्यं वक्तव्यम् । अन्यथा अन्येन प्रकारेण स्थितम् ।  
 करणीयप्रतिपत्तिः करणीयस्य कार्यस्य प्रतिपत्तिः परिज्ञानम्<sup>२</sup> । अन्यथा अन्यप्रकारेण । हलसंभावितयोग्यतः  
 हले लाङ्गले संभावित्वा संस्कृता योग्यता यस्य सः । पशुः अनड्वान् । पृष्ठभरे पृष्ठभारे<sup>३</sup> । न नियुज्यते हि  
 न संबध्यते हि । युज्यते योगे कर्मणि लट् । अधग्निरन्यासः ॥८३॥ अनिरूपितेति । अनिरूपितकृत्यया  
 अनिरूपितमभावितं कृत्य कार्यं यथा तथा । कूर्चशोभया कूर्चं इव शीरविकार इव (?) शोभया मनोहर-  
 त्वयुक्तया-मुदुना च—इत्यर्थः । अनया एतया, वाचा । क को वा । खलु स्फुटम् । आह्रियते उदाह्रियते ।  
 हृत् हरणे कर्मणि लट् । फलं निष्पत्तिः । बीजपदे बीजस्य कारणस्य पदे<sup>४</sup> शब्दे । व्यवस्थितम् आश्रितम् ।  
 अन्यः कलाभावः पद्माक्ष्यडम्बरः, पदानां तिङन्तसुबन्तरूपाणां वाक्यानां पदसमुदागतानामाडम्बरः सञ्चमः ।  
 ननु निश्चयम् । अधग्निरन्यासः ॥८४॥ परवृद्धीति । परवृद्धिनिबद्धमत्सरे परेपामन्येया वृद्धौ सप्तौ निबद्धः ।  
 कृतो मत्सर ईर्ष्या येन तस्मिन् । विफलद्वेषिणि विफल वृथा<sup>५</sup> द्वेषिणि द्वेषयुक्ते । साम सामायाय । कीदृश  
 किमिव दृश्यत इति तथोक्तम् । स पृथिवीपालः<sup>६</sup> । प्रियैः<sup>७</sup> इष्टवर्त्तनैः । सुतरां भृशम् । स्वर क्रूरः । भवेन्  
 स्यात् । लिङ्<sup>८</sup> । दुर्जनः दुष्टजनः । [ अविभाव्यप्रकृतिः ] अविभाव्या विभावित्वयोग्या प्रकृति रस्य सः ।  
 तथा हि (?) विपरीतस्वरूपयुक्तः—इत्यर्थः । 'सता हि प्रहृता शान्त्यै खलानां दपकारणम् ।' इति यावत् ।

॥८२॥ प्रस्तुत विषयमे पढ़ लेना और बात है, तथा कर्तव्यका निश्चय करना कुछ और ।  
 राजनैतिक पोथा पढ़ लेने या पढ़कर सुना देनेमे कर्तव्यका निश्चय नहीं होता । इसके लिए  
 अनुभव चाहिए । हल खींचनेकी योग्यता रखनेवाला बेल लादने या मवारिके काममे नहीं लगाया  
 जा सकता ॥८३॥ कर्तव्यका निश्चय न करनेवाली कोरी दाढी और मूछको शोभामे कान  
 आकृष्ट हो सकता है ? कोई भी वक्ता—जिसकी दाढी खूब लम्बी है, व्यक्तित्व प्रभावक है और  
 जो खूब डींग मारता है—प्रस्तुत विषयपर प्रकाश डाले बिना श्रोताओपर प्रभाव नहीं डाल  
 सकता । फल निश्चय ही अपने बीजसे ही उत्पन्न होता है, फिर भी यदि बांजके बिना भी फल  
 उत्पन्न होनेको बात कही जाये तो वह कोरा वागाडम्बर है—बकवास है । कार्य अपने कारणसे  
 उत्पन्न होता है, बिना कारणके भी कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन करना, बकवास नहीं तो और  
 क्या है ? ॥८४॥ दूसरोंकी वृद्धि देखकर डाह करनेवाले और व्यर्थ ही द्वेष करनेवालेके साथ  
 साम कैसा ? प्रिय वचन कहनेसे—सामका प्रयोग करनेसे वह पृथिवीपाल और भी भड़क  
 उठेगा । दुर्जनकी प्रकृति अपरिवर्तनीय होनी है, वह नअ व्यवहारसे शान्त नहीं किया जा सकता—

१. 'भरेण युज्यते । २. भा परिज्ञा । ३. श 'पृष्ठभारे' इति नास्ति, आ पृष्ठभारे पृष्ठभरे ।  
 ४. = वाक्यव्यते । ५. = स्थाने । ६. श 'वृथा' इति नास्ति । ७. भा वृद्धिपालः, श पृथ्वीपालः ।  
 ८. = मिष्टवर्त्तनैः । ९. श लट् ।

विषये खलु संनियोजितः सद्वायः फलवाच्यं चाभ्यथा ।  
 नहि वज्रधरायुधोचिते क्रमते प्रावणि कौहमायुधम् ॥८६॥  
 मदमाजि परापमाननाप्रवणे दण्डमुशन्ति सूरयः ।  
 उपयाति सुखेन वक्ष्यतां किमनङ्गानपनाथनासिकः ॥८७॥  
 पुरुषस्तपनीयवद्गुरुर्न परैर्यावदसौ विगाह्यते<sup>१</sup> ।  
 तुलितस्तु स एव तत्क्षणात्पृणराशौ निपतत्यसंशयम् ॥८८॥  
 शिवहेतुरुदाहृता क्षमा व्रतिनामेव न मेदिनीभुजाम् ।  
 बहुना ननु विप्रकृष्यते पदवी संसृतिमुक्तिधमिणोः ॥८९॥

अर्धन्तरन्यासः ॥८५॥ विषये इति । विषये योग्ये । संनियोजितः प्रयोजितः । समुदायः सामोपायः<sup>१</sup> । फलवान् सफलः । खलु । अन्यथा अन्येन प्रकारेण, अविषये इत्यर्थः । न च—प्रयुक्तोपायः फलवान् न भवतीत्यर्थः । वज्रधरायुधोचिते वज्रधरस्य देवेन्द्रस्य आयुधस्य वज्रस्य उचिते योग्ये, वज्रेण भेत्तु योग्ये इत्यर्थः । प्रावणि पर्वते । 'प्रावणो शैलपाषाणो'<sup>२</sup> इत्यमरः । कौहं लोहनिमित्तम् । आयुधं प्रहरणम् । न क्रमते हि समयं न भवति हि । अर्धन्तरन्यासः ॥८६॥ मदमाजि यवयुक्ते । परापमाननाप्रवणे परेपामपमाननार्थमुदासीनकरणे प्रवणे समयं । सूरयः नीतिविदः । दण्डं दण्डोपायम् । उशन्ति वदन्ति । वश कान्ते लट् । अनायना<sup>३</sup>सकः अनाया अस्त्रिता नासिका घोषा यस्य सः । अनृवान् सौरभेयः । मुखेन अनायासेन<sup>४</sup> । वक्ष्यताम् वक्ष्यताम् । उपयाति प्राप्नोति किम् ? नोपयातीत्यर्थः । अर्धांतरन्यासः ॥८७॥ पुरुष इति । पुरुषः नरः । परे अन्यपुरुषं । यावत् यावत् पर्यन्तम् । न विगाह्यते<sup>५</sup> नापह्रियते<sup>६</sup> । ग्राहोऽ<sup>७</sup> विलोडने कर्मणि लट् । असौ पुरुषः । (तावत्) तपनीयवत् सुवर्णवत् । गुरुः<sup>८</sup> भारभूतो भवति । अन्यैः साकं यावत् पर्यन्तं नोपमितस्तावत्पर्यन्तं तुलारोपणरहितसुवर्णवत् गुरुगुणयुक्तो भवतीत्यर्थः । तुलितश्चेत् उप-मितश्चेत् । स एव पुरुषस्तु । तत्क्षणात् स्वल्पकालादेव । तृणराशौ तृणानां राशौ पुञ्जे । असंशयं निस्संदेहम् । निपतति लघुत्व प्राप्नोतीत्यर्थः । उपमा आक्षेपश्च ॥८८॥ शिवहेतुरिति । व्रतिनामेव तपस्विनामेव । क्षमा उत्तमक्षमा । शिवहेतुः शिवस्य मोक्षस्य हेतुः कारणमिति । उदाहृता निगदिता । मेदिनीभुजा भूषतो-नाम् । न नोदाहृता । समृतिमुक्तिधमिणोः समृते, समारस्य मुक्तेर्मोक्षस्य धमिणो, धर्मयुक्तायोः । पदवी 'सना हि प्रवृत्ता गान्त्ये खलानां दर्पकारणम्' ॥८५॥ साम उपाय तथी सफल होता है, जब उसका प्रयोग उमके योग्य पुरुषके साथ किया जाता है, अन्यथा नहीं—अयोग्य पुरुषके साथ सामका प्रयोग सफल नहीं होता । वज्रसे तोड़ने योग्य पहाड़पर लोहेका हथियार या ओजार काम नहीं दे सकता ॥८६॥ अहंकारी और दूसरोंको अपमानित करनेमें तत्पर रहनेवाले पुरुषके साथ दण्डका प्रयोग करना चाहिए, यह राजनीतिज्ञ विद्वान् कहते हैं । बिना नथा बेल क्या मुखसे वशमें किया जा सकता है ? बेलकी नाकमें रस्सी पिरो दी जाती है तभी वह वशमें आता है ॥८७॥ जबतक दूसरोंके द्वारा विरोधीकी तहका पता नहीं लगा लिया जाता—थाह नहीं ली जाती तब तक वह सोनेकी तरह भारो जान पड़ता है । किन्तु बादमें तौलनेपर वही विरोधी तत्काल निश्चय ही तृण पुजमें जा गिरता है—बिलकुल हलका हो जाता है ॥८८॥ क्षमा कल्याण या मुक्तिका कारण बतलाई गयी है, किन्तु किनकी क्षमा ? व्रतियों की, न कि राजाओंकी । संसार और मुक्तिके पथिकोंका मार्ग बिलकुल अलग-अलग है—एकके मार्गसे

१. स 'मानता' । २. अ मुखेन । ३. क ख ग घ स निगृह्यते । ४. श समोपायः । ५. आ प्राणि । ६. आ 'लपर्वतो' । ७. आ 'कौहं' इत्यस्य स्थाने पताहं इत्युपलभ्यते । ८. = तिरस्करणे । ९. आ निरायासेन । १०. = नाक्रम्यते । ११. आ नोपह्रियते । १२. आ ग्राह । १३. = गौरवात्पितुः ।

अभिषाञ्छति पादसङ्गमप्यञ्जितः कर्तुमतिगमदीक्षितैः ।  
 तपनं न दृशापि धीक्षितुं महिमा नम्यञ्जितः स तेजसः<sup>१</sup> ॥६०॥  
 कृपणस्य परानुवर्तनैः सततात्स्य धिगस्तु जीवितम् ।  
 अनुनीय परं निजोचितैर्ललनैर्जीवति<sup>२</sup> किं न मण्डलः ॥९१॥  
 अनुगच्छति<sup>३</sup> यः शठं प्रियं प्रविहायोचितमात्मसौष्ठवम् ।  
 स निजां विवृणोत्यसारतामपवृष्टिनिनदभिवाग्बुधः ॥९२॥  
 मृत एव विलीन एव वा वरमप्राप्तभवः पुरैव च ।  
 न पुमान्परिभूतिजीवितः सहते कः क्षलु मानखण्डनम्<sup>४</sup> ॥९३॥

मार्गः । [ बहुना ] विप्रकृष्यते दूरीकियते । कृषो<sup>५</sup> विच्छेद्यते कर्मणि लट् । ननु निश्चयम् ॥८९॥ अभिषाञ्छ-  
 तीति । अतिमदोषिते, चन्द्रस्य । पादसर्गं पादस्य किरणस्य पादेन गगम् इति दृश्यते<sup>६</sup> । अखिलोऽपि  
 सकलोऽपि । कर्तुं विधानुम् । वाञ्छति इच्छति । वाछ इच्छाया लट् । तपनं सूर्यम् । दृशापि नेत्रेणापि ।  
 वीक्षितुं द्रष्टुम् । न न वाञ्छति । स, अखिलः सकलः । तेजस प्रनाप्तव्यं । महिमा<sup>७</sup> सामर्थ्यम् । ननु निश्चयः<sup>८</sup>  
 ( निश्चयेन ) । अर्थात्तरन्यासः ॥९०॥ कृपणस्येति । परानुवर्तनैः परेषामप्येषामनुकूलवर्तनैरनुसारवृत्तिभिः ।  
 सततात्स्य सततमनवरतमात्स्य<sup>९</sup> पतितस्य कृपणस्य दीनस्य । जीवितं जीवनम् । धिगस्तु विनिन्दितमस्तु ।  
 मण्डलः सारमेयः । 'मण्डलो राज्ञाकार' इत्यभिधानात् । निजोचितैः निजस्य स्वस्योचितैर्धर्मैः ।  
 ललनैः लाङ्गूलचालनादिदेवैः । परम् अन्यम् । अनुनीय संतोषयित्वा । न जीवति किं प्राणधारणं न करोति  
 किम् ? किन्तु करोत्येव । अर्थात्तरन्यासः ॥९१॥ अनुगच्छतीति । य, पुरुष । उचितं योग्यम् । आत्म-  
 सौष्ठवम् आत्मनः स्वस्य सौष्ठवं महत्त्वम् । प्रविहाय विमुच्य । शठं दुर्जनम् । प्रिये, प्रियवचनादिभिः । अनु-  
 गच्छति<sup>३</sup> अनुकूलं याति । गम्न् गतौ लट् । सः पुरुषः । निनदन् ध्वनन् । अपवृष्टिः अपगता रहिता वृष्टि-  
 र्वर्ष यस्य सः । अम्बुद इव मेघ इव । निजा स्वकीयाम् । असारता निस्सारत्वम् । विवृणोति व्यक्तीकरोति ।  
 वृज् वरणे लट् । उपमा ॥९२॥ मृत इति । मृत एव त्यक्तप्राण एव । विलीन एव प्रच्छन्न एव । पुरैव च  
 प्रागेव च । अप्राप्तमवो वा अलम्बनपुण्यमवो वा । वरम् उत्कृष्टम् । परिभूतजीवित, परिभूतं पराभव गत  
 जीवित जीवनं येन<sup>१०</sup> सः । पुमान् पुरुषः । [ न ] वरं न भवति । मानखण्डना मानस्याभिमानस्य खण्डना

दूसरेका मार्ग दूर है । उत्तम क्षमा गृहस्थोंके लिए नहीं, साधुओंके लिए उपयोगी है ॥८९॥  
 सारा संसार चन्द्रमाकी किरणोका ( पेंकोका भी ) सम्पर्क चाहता है, पर सूर्यको वह आँख  
 उठाकर भी नहीं देखना चाहता । यह सब तेजकी महिमा है ॥९०॥ दूसरोंको खुशामद करने-  
 वाले और इसीलिए हमेशा परेजान रहनेवाले दीन-हीन पुरुषके जीवनको धिक्कार है । क्या एक  
 कुत्ता अपने योग्य व्यवहार—पूछ हिलाना, पीछे पीछे चलना और पेंगेमे गिगना आदि—स  
 दूसरेको खुश करके पेट नहीं भर लेता ? ॥९१॥ जो पुरुष अपने योग्य गौरवको खोकरके खुश-  
 मदसे किसी धूर्तको प्रसन्न करना चाहता है और उसके पीछे-पीछे लगा फिरता है, वह वृष्टि न  
 न करके गरजनेवाले मेघकी भाँति अपनी असारताको प्रकट करता है ॥९२॥ पुरुषको अपमानित  
 होकर जीवन बिताना उचित नहीं । अपमानित जीवनसे उसका मर जाना ही अच्छा है; मर्कि  
 पेटमें विलीन हो जाना—गर्भस्राव हो जाना अच्छा है अथवा गर्भमे न आना भी उत्तम है ।

१. आ इ<sup>१</sup> 'खिलस्य तेजसः' । २. स 'ललितै' । ३. अ ननु गच्छति । ४. अ 'दण्डनम्, आ इ  
 'खण्डनम्' । ५. आ कृप । ६. आ दृश्यते । ७. = महत्त्वम् । ८. आ 'ननु निश्चयः' इति नागलभ्यते ।  
 ९. = परेषामप्येषामनुवर्तनैर्ननुवृत्तिभिः । १०. = पोषितस्य । ११. = अनुसरति । १२. = यस्य ।

रहितः सहजेन तेजसा पशुवत्केन बलात् बाध्यते ।  
 महतामत एव यत्नमा ननु वृत्तिर्मुगराजसेविता ॥९४॥  
 अथवाच्युतनीति मा भवानिदमेकान्तत एव मद्भवः ।  
 अहमीश यतो ब्रवीन्मयः सकलं कालबलव्यपेक्षया ॥९५॥  
 स्वयमेव न वेत्ति किं प्रभुः स यथा क्षीणबलो बलाहवे ।  
 समुद्रव्यसनश्च वर्तते विग्रहीतं कुलजैर्महाबलैः ॥९६॥  
 अभियातुमतः प्रयुज्यते भवतो वृद्धमतः क्षये स्थितः ।  
 प्रभवत्स्त्रुलु भाग्यसंपदा सहितः स्थानगतोऽप्यरातिषु ॥९७॥

मञ्जनाम् । क. को वा । लुलु स्फुटम् । सहते क्षमते । पटि मर्पणे लट् । अर्थात्तरन्यासः ॥९३॥ रहित इति ।  
 सहजेन निसर्गजेन । तेजसा प्रतापेन । रहितः विरहितः । पशुवत् बलीवर्द इव । बलं पराक्रमः ( बलात्  
 हठात् ) । न बाध्यते न पीडयते । बाध्यते इति वा पाठः । अतएव एतस्मात् कारणादेशः । मुगराजसेविता  
 मुगराजेन सिंहेन सेविता आश्रिता । वृत्तिः वर्तनम् । महतां महापुरुषाणाम् । बलभा प्रिया । ननु निश्चयम् ।  
 प्रतापयुक्तप्रवृत्तिरेव न बाध्यते ( बाध्यते वा ) इत्यभिप्रायः । अर्थात्तरन्यासः ॥९४॥ अवेति । ईश भो  
 स्वामिन् । इदम् एतत् । मद्भवः मम मे वदो वचनम् । एकान्ततः सर्वथा । च्युतनीति च्युतानीतियेन  
 ( यस्य ) तत् । 'वना' इति क्युतशब्दस्य पूर्वनिपातः । भवान् त्वम् । मा अवगात् मा जानांश्च । इण्  
 गतो लुट् । 'गैर्योः' इति पाठेशः । अहं यतः यस्मात् । कालबलव्यपेक्षया कालबलव्यपेक्षया आश्रयेण ।  
 अदः एतत् । सकलं सर्वम् । अबोमि निगद्यामि । यूक् व्यक्ताया वाचि लट् ॥९५॥ स्वयमिति । यथा येन  
 प्रकारेण । स. पृथ्वीपालः । बलाहवे बलस्य बलराजस्या हवे संग्रामे । क्षीणबलः क्षीणं नष्टं बलं चतुरङ्गबलं  
 यस्य सः । [ महाबलैः प्रबलैः ] कुलजैः दायादैः सह । महाबलैः महाबलराजे (?) । विग्रहीते संग्रामे  
 बहिर्हिते सति [ विग्रहीतेः सन् ] । समुद्रव्यसनश्च समुद्रो मित्रस्य व्यसनं विद्वात् तेन सह वर्तते इति  
 तथोक्तः । वर्तते तिष्ठति । वृद्धं वर्तने लट् । इति प्रभुः पपनाभः । स्वयमेव न वेत्ति किं न जानाति  
 किम् ? ॥९६॥ अभियातुमिति । अतः एतत्कारणात् । वृद्धमतः कोशदण्डाधिक्यलक्षणवृद्धियुक्तस्य । भवतः  
 तव । क्षये क्षीणस्यावे । कोशदण्डादीना हीयमानत्वं क्षयः । स्थितः प्रवृत्तः पृथिवीशालः । अभियातुम्

अपमानको कौन सह सकता है ? ॥९३॥ जो पुरुष तेज रहित होता है, वह पशु सरीखा हो  
 जाता है । पशुकी तरह उसपर कौन जबरन सवार नहीं हो जाता ? पशुकी ही भाँति उसे  
 कौन नहीं बलात् जोत लेता है ? इसीलिए तो महान् पुरुषोंको सिंहवृत्ति प्यारी होती  
 है ॥९४॥ राजन् ! आप मेरे कथनको सर्वथा नीति रहित नहीं समझ लीजियेगा । क्योंकि  
 यह सब मैं समय और शक्तिको समझ कर कह रहा हूँ ॥९५॥ राजन् ! क्या आप  
 स्वयं यह नहीं जानते कि बल नामक राजाके साथ संग्राम छिड़ जानेसे पृथिवीपालका  
 सैन्यबल क्षीण हो गया है । यों पृथिवीपाल बड़ा बलवान् है, पर अपने कुलके लोगोंसे  
 भी उसका संघर्ष चल रहा है, अतः उसके ऊपर मित्र-संकट भी छाया हुआ है । इस  
 समय पृथिवीपालकी स्थिति क्या घर और क्या बाहर दोनों ही जगह गिरी हुई है ॥९६॥  
 राजन् ! इस समय आप कोष और सैन्यकी दृष्टिसे सम्पन्न हैं और पृथिवीपाल विपन्न ।  
 वह कोष और सैन्यकी दृष्टिसे बहुत ही गिरी हुई—क्षयकी अवस्थामें हैं, अतएव आपको

१. आ इ 'हीते कुलजे महाबले । २. = निश्चयेन । ३. आ मा जासिष्ट । ४. आ 'कालबलव्य-  
 पेक्षया' इति नास्ति । ५. = पृथिवीपालः । ६. आ 'बलराजस्य' इति नास्ति । ७. आ वृत् । ८. आ  
 'दण्डादिना । ९. अ स पृथ्वीपालः ।



अवधार्य सुवर्णनाभजामिति वार्णी करणीयपेशलात् ।  
 भवभूतिरुदाहरद्वयः प्रभुणा स्निग्धदृशावलोकितः ॥९८॥  
 निखिलं विधिचद्विवेचिते युवराजेन विधेयवस्तुनि ।  
 अपरोऽत्र यदाह सोऽखिलः प्रतिशब्दः शुक्रशारिकादिवत् ॥९९॥  
 विशदामसमुज्जितान्वयां नयसारामविहीनसौष्टवाम् ।  
 गिरमेष कदाचिदोदृशीमभिदध्यादथवा बृहस्पतिः ॥१००॥  
 न तथाप्यनुवर्तनामहं सहसास्य प्रविधानुसुरसहे ।  
 न विमुह्यतु मद्भिधः कथं गहने कृत्यविधौ विधेरपि ॥१०१॥

अभिगन्तुम् । युक्तते योग्यो भवति । भाग्यसंपदा भाग्येन संपदा च । सहितः युक्तः । स्थानगतोऽपि कोश-  
 वण्णादौना माम्यं स्थानं<sup>१</sup> एनोऽपि प्राप्नोऽपि । अरातिषु शत्रुषु । प्रसवेत् खलु समर्थो भवेत् खलु । लिङ्  
 ॥९७॥ अवधार्येति । सुवर्णनाभजा सुवर्णनाभेन जनिताम् । करणीयपेशला करणीये कार्ये पेशलां मनोहराम् ।  
 इति उक्तकृष्णम् । वाणीं वाचम् । अवधार्यं निर्णय । प्रभुणा पद्मनाभेन । स्निग्धदृशा स्निग्धया प्रीतियुक्तया  
 दृशा<sup>२</sup> नयनेन । अवलोकितः बोलितः । भवभूतिः भवभूतिनामा मन्त्रो । वच वचनम् । उदाहरतु अवोचतु ।  
 द्वयं हरणे लङ् ॥९८॥ निखिल इति । युवराजेन युवा चासौ राजा च युवराजस्तेन, सुवर्णनाभेन । निखिले  
 सकले । विधेयवस्तुनि विधातुं कर्तुं योग्यं विधेय तस्मिन् वस्तुनि । विधिबन्तु<sup>३</sup> नीतिशास्त्रोक्तविधिपरिव ।  
 विधोचिते विचारिते मति । अत्र अस्मिन् कार्ये । अपरः अन्यः । यत् वचनम् । आह ब्रवीति । प्रज्ञ व्यक्ताया  
 वाचि लट् । 'ब्रुवस्तिप्पञ्चतः—' इति तिपो णशादेशः<sup>४</sup> । ब्रुव आह इत्यादेशश्च<sup>५</sup> । स खिलः सकलः ।  
 शुक्रशारिकादिवत् शुक्रशारिकादिवर्णिज इव । प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिः । भवतोऽप्यध्याहारः ॥९९॥ विशदामिति ।  
 एषः अयं युवराजः । कदाचित् एकस्मिन् समये । विशदा व्यक्तकृष्णम् । असमुज्जितान्वया क्षमसुज्जिता-  
 ऽत्यक्तोऽन्वयः पूर्वक्रमो यस्याः<sup>६</sup> ताम् । नयसारा नवे नीतिशास्त्रे सारामुत्कृष्टाम् । अविहीनसौष्टवाम अविहीन-  
 मर्यक्तं वा सौष्टवं माधुर्यं यस्याः<sup>७</sup> ताम् । ईदृशीम् एतादृशीम् । गिरं वाणीम् । अभिदध्यान् व्रजान् ।  
 दुष्टाद् धारणे लिङ् । अथवा बृहस्पतिः सुरगुरुः । [ कदाचित् मन्वन् । ] अभिदध्यात् । युवराजो बृहस्पति-  
 समान इत्यर्थः । अतिशयः ॥१००॥ नेति । विधेः अवि ब्रह्मणोऽपि । गहने विषये<sup>८</sup> । कृत्यविधौ कृत्यमय  
 कार्यस्य विधौ करणे । मद्भिधः मम सद्गः । कथं केन प्रकारेण । न विमुह्यतु भ्रान्तो न भवतु । तथापि

चढ़ाई करनेके लिए प्रेरित किया जा रहा है । भाग्य सम्पत्तिसे युक्त राजा शत्रुओपर विजय पानेमें समर्थ होता है, भले ही वह कोष और सैन्यकी दृष्टिसे उनके समान हो । क्योंकि अदृष्ट जिसका साथ देता है, वही विजयी होता है ॥९७॥ इस तरहकी सुवर्णनाभकी प्रस्तुत कर्मव्यकी विचारधारासे मन हरनेवाली वाणी सुनकर पद्मनाभने प्रीतिसे सनी हुई दृष्टिसे भवभूति नामक अपने मन्त्रीको देखा । उसके अवलोकनसे बोलनेका संकेत पाकर वह (भवभूति मन्त्री) यों बोला—॥९८॥ युवराजके द्वारा सारे प्रस्तुत कार्यके बारेमें नीतिशास्त्रके अनुकूल जो विवेचन किया गया है, वह हृदय ग्राह्य है । अब इस विषयमें यदि और कोई बोलेंगा, तो निश्चय ही वह तोते-मैनेकी भाँति युवराजके वक्तव्यको केवल दुहरा भर देगा—प्रत्युच्चारण या प्रतिध्वनि मात्र कर देगा ॥९९॥ स्पष्ट, क्रमबद्ध, नीतियुक्त और मधुर, इस प्रस्तुत वक्तव्यको युवराज सुवर्णनाभ ही देख सकता था, अथवा अब ऐसे वक्तव्यको शायद बृहस्पति दे दे, और तो किसीमें ऐसी योग्यता नहीं देख पड़ती ॥१००॥ तो भी मैं इसे शोषण ही स्वीकार नहीं कर सकता;

१. आ साम्यलक्षणस्थानं । २. = दृष्टा । ३. = नीतिशास्त्रानुसारम् । ४. आ णादेशः ।  
 ५. अ 'ब्र' नोपलभ्यते । ६. = यया । ७. = यया । ८. आ विषये ।

सुविचार्य करोति बुद्धिमानथवा नारमते प्रयोजनम् ।  
 रभसात्करणं हि कर्मणां पशुधर्मः स कथं नु मानुषे ॥१०२॥  
 प्रविचेष्टितमेवमेव चेदुभयोरप्यविवेकपूर्वकम् ।  
 पशुमानुषयोस्तदा भवेत्किञ्चिन्मृते शृङ्गयुगाद्विभेदकम् ॥१०३॥  
 युधराणमतमस्तु किं तु नः प्रतिपाल्यः समयः कियानपि ।  
 विदितारिषला प्रयुञ्जते ननु पाङ्गुयमुदारबुद्धयः ॥१०४॥  
 सकलं प्रविगाह्य तं चरै र्पुसर्वस्वमुपेत्य सर्वतः ।  
 स्वपरप्रविभागवेदने स्थयमस्तूद्यतधीर्भवानपि ॥१०५॥

अहम् अस्य कार्यस्य । अनुवर्तनाम् अङ्गीकारम् । सहसा शीघ्रम् । प्रविधानुं कर्तुम् । न उरसहे उद्युक्तो न भवामि । वहि मर्षणे । अहंकारपरिहारः । १०१॥ सुविचार्येति । बुद्धिमान् सम्यग्ज्ञानो । प्रयोजनं कार्यम् । विचार्य परीक्ष्य । करोति विदधाति । अथवा तथा नो चेत् । न आरभते नोपक्रमते । रभि रामस्ये कट् । कर्मणा कार्याणाम् । रभसात् शीघ्रम् । करणं विधानम् । हि पशुधर्मः मूढधर्मः । स मानुषे मनुष्ये । कथं नु कथं भवेत् ? ॥१०२॥ प्रविचेष्टितमिति । अविवेकपूर्वकम् अविवेकपूर्वकमेव । विचेष्टितं व्यापृतम् । चेत्, तदा तहि । पशुमानुषयोः पशुमनुष्ययोः उभयोरपि । शृङ्गयुगात् शृङ्गयोर्विषाणयोर्युगाद् युगलात् । ऋते बिना । विभेदक<sup>३</sup> भेदः । [ किं भवेत् ( किं ) स्यात् ? ] लिङ् । आक्षेपः ॥१०३॥ युधराडिति । नः बस्माकम् । युधराड्मतं युधराजः सुवर्णनाभस्य मर्त<sup>४</sup> संमतम् । बस्तु भवतु । अस भुवि लोट् । किन्तु विशेषोऽस्ति । कियानपि स्वलोऽपि । पाल्यदं किमः<sup>५</sup> इति षतु-प्रत्ययः । 'किमिदमः कोऽ' इति किरादेशः । समयः कालः । प्रतिपाल्यः रक्षणोऽपि । विदितारिषला । विदितं ज्ञातमरीषा शत्रूणा बल<sup>६</sup> स्वरूपं येस्ते । उदारबुद्धयः उदारा महतो बुद्धिर्येषां ते । पाङ्गुण्यं सन्ध्यादिषाङ्गुण्यम् । प्रयुञ्जते प्रयोगं कुर्वन्ति । युज्ज् योगे कट्<sup>७</sup> । अर्षान्तरन्यामः ॥१०४॥ सकलमिति । सकलं निखिलम् । रिपुसर्वस्वं रिपूणां शत्रूणा सर्वस्वं सर्वस्वरूपम् । चरैर्मूढचरैः । सर्वतः<sup>८</sup> सर्वस्मात् । उपेत्य ज्ञात्वा ( गत्वा ) । प्रविगाह्यता ज्ञायताम् । गाहोड् विस्कोड्वे लोट्<sup>९</sup> । स्वपरप्रविभागवेदने स्वस्य परेषामन्येषां प्रविभागस्य वेदने । भवानपि त्वमपि । स्वयम् उद्यतधीः

क्योंकि जो काम विधाताके लिए भी कठिन है, उसमें मुझ सरोखेको भला भ्रम क्यों नहीं होगा ? ॥१०१॥ बुद्धिमान् मनुष्य खूब आगा-पीछा सोचकर कार्य प्रारम्भ करता है, या फिर प्रारम्भ ही नहीं करता; क्योंकि सहसा कार्य प्रारम्भ कर देना पशुओंका धर्म है, वह मनुष्यमें कैसे पाया जा सकता है ? ॥१०२॥ यदि पशु और मनुष्य दोनोंकी ही चेष्टाएँ अविवेक पूर्वक-बिना सोचे-समझे हों, तो दो सोंगोंके सिवा, दोनोंमें भेद बतानेवाला चिन्ह कौन-सा होगा ? ॥१०३॥ युवराजका मत हम सबको मान्य हो, किन्तु अभी कुछ समय प्रतीक्षा करनी चाहिए । शत्रुओंके बलका पता लगाकर, बुद्धिमान् पुरुष निश्चय ही छह गुणों—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सन्ध्रय और द्वेषीभाव—का प्रयोग करते हैं ॥१०४॥ पहले सभी ओरसे जासूसोंको भेजकर, पृथिवीपालके सर्वस्वका ठीक-ठीक पता लगा लेना चाहिए । आप भी अपनी और

१. = निश्चयेन । २. = धर्मः । ३. = भेदकारि । ४. आ<sup>५</sup> राण्यतं । ५. = अस्मिन्मतम् । ६. आ<sup>७</sup> स्वस्वमपि । ७. = सामर्थ्यम् । ८. आ लङ् । ९. = परितः । १०. आ लेट् ।

तरलोभयवेतनैर्वशीक्रियतां भृत्यगणो यथोचितम् ।

कृतकप्रयितैश्च शासनैः<sup>१</sup> परिदूष्या रिपुसामवायिकाः ॥१०६॥

विनिवेद्यमिव प्रयोजनं सकलं भीमरथस्य रंहसा ।

स न तिष्ठति लेखदर्शनासमदुःखोऽस्ति सुहृद् तादृशः ॥१०७॥

तनयः स तनोति यः कुलं स सुहृदो व्यसनेऽनुवर्तते ।

स नृपः परिपाति यः प्रजां स कविर्यस्य घ्नो न नीरसम् ॥१०८॥

तमन्यसमानतेजसं समनुप्राप्य सहायमूर्जितम् ।

सवित्तेव घनाल्पेय्ये भवान्भवित्वा भासुरधामदुःसहः ॥१०९॥

प्रयत्नद्विः । अस्तु भवतु । लोट् ॥१०५॥ तरमेति । कृत्यगणः कृत्यानां कार्याणां (भृत्यगणः भृत्यानां सनृकिचूराणां) गणः समूहः । तरसा शोधम् । उभयवेतनैः उभयेषां शत्रुप्रतिशत्रूणां वेतनैः<sup>२</sup> सेवकैः । यथोचितं यथायोग्यम् । वशीक्रियतां वशी विधीयताम् । वश विधेये<sup>३</sup> कर्मणि लोट् । कृतकप्रयितैः कृतकेन कपटेन प्रयितै रचितैः । शासनेश्च लेखनैश्च । रिपुसामवायिकाः रिपोः शत्रोः सामवायिकाः सामगतादयः । परिदूष्याः बाह्विभु<sup>४</sup> (?) योग्याः स्युः ॥१०६॥ विनिवेद्यमिति । इदम् पुनर्त् । सकलं निखिलम् । प्रयोजनं कार्यम् । रंहसा<sup>५</sup> शोधम् । भीमरथस्य भीमरथरात्रस्य । विनिवेद्यं निवेदितव्यम् । समदुःखं समं समानं दुःखं कष्टं वक्ष्ये सः । स. भीमरथः । लेखस्य लेखनपत्रस्य । दर्शनात् बालोक्तनात् । न तिष्ठति नास्ति । लट् । तादृशः भीमरथस्य समः । सुहृत् मित्रम् । नास्ति न विद्यते । लट् । उपमा (?) ॥१०७॥ तनय इति । यः पुन्यः । कुलं वंशम् । तनोति विस्तारयति । स. तनयः पुत्रः । यः व्यसने दुःखे । अनुवर्तते अनुतिष्ठति<sup>६</sup> । सः सुहृत् सखा । यः प्रजाः सर्वजानां । प्रतिपाति<sup>७</sup> प्रतिपालयति । स नृप. नरपति । यस्य पुरुषस्य । वच. वचनम् । नीरसं शृङ्गारविरहितम् । न-न भवति । सः कविः कवीश्वरः । भवतोत्पत्त्याहारः ॥१०८॥ नमिति । अनन्यसमानतेजसं न विद्यतेऽप्येषा समानं सद्गुणं तेजः प्रतापो यस्य तम् । ऊर्जिते<sup>८</sup> प्रसिद्धम् । न भीमरथम् । सहायं मित्रम् । समनुप्राप्य संग्राप्य<sup>९</sup> संलभ्य । घनाल्पेय्य शरत्कालम् । प्रप्य, सवित्तेव सूर्य इव । भवान् एवम् । आसुरधामदुःसहः भासुरेण<sup>१०</sup> मनोहरेण घाम्ना प्रतापेन, पक्षे किरणेन दुस्महः सोढमशक्य । भाविता

पृथिवीपालको स्थितिका अन्तर जाननेके लिए प्रयत्नशील रहिये ॥१०५॥ पृथिवीपालके यहाँसे जितना वेतन मिलता हो, उतना अपनी आरसे भी देकर, उसके समस्त कर्मचारियोंको योग्य रीतसे शोध ही अपने वशमें कर लीजिये, और जालो लेख या आज्ञापत्र भेजकर शत्रुकी पार्टीमें सम्मिलित माण्डलीक राजाओं एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियोंको अभियाग लगवा दीजिये, ताकि फूट पड़ जाये ॥१०६॥ भीमरथको शोध ही अपना सारा प्रयोजन पत्र-द्वारा सूचित कर दीजिये । आपका पत्र देखकर वह अपने घर बैठे नहीं रहेगा—यहाँ अवश्य ही आयेगा । आपके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख समझनेवाला, उस सरोखा आपका कोई मित्र नहीं है ॥१०७॥ तनय-पुत्र वही है, जो कुलका विस्तार करे; मित्र वही है, जो आपत्तिमें अनुगमन करे; राजा वही है, जो प्रजाकी रक्षा करे और कवि वही है, जिसके वचन नीरस न हों ॥१०८॥ अनुपम तेजको धारण करनेवाले और बलशाली उस भीमरथको अपना सहायक पाकर आप शरद ऋतुके सूर्यके समान इतने तेजस्वी हो जायेंगे कि आपका तेज शत्रुशका अमह्य हो

१. इ. शासनैः । २. = द्विगुणितवेतनवद्भिः । ३. श. 'वश विधेये' इति नास्ति । ४. आ. बाह्विभु । ५. श. लोक्तनात् । ६. = नास्ति । ७. आ. बावुकुलेनानुतिष्ठति । ८. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रविभु तु 'परिपाति' इत्येव दृश्यते । ९. = प्रबलम् । १०. आ. 'संग्राप्य' इति नास्ति । ११. = प्रदीप्येन ।

करिणं प्रदिशामि निश्चितं समरं बाह्वनि मासपूरणे ।

भवतेऽहमिति प्रहोयतां रिपुदूतो वचनैर्ह्यथाश्रयैः ॥११०॥

हितमिदं<sup>१</sup> वचनानि मन्त्रिमुख्यादिति सकलाभिमतान्यसौ निश्चयः ।

अनलसमतिरर्थतोऽनुतस्थौ गुरुवचनं<sup>२</sup> ह्युदयैषिणामलङ्घयम् ॥१११॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये द्वादशः सर्गः ॥१२॥

भविष्यति । भू सत्तायां लुट् । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः । उगमा ॥१०९॥ करिणमिति । अहं भवते तुभ्यम् । मासपूरणे मासस्य पूरणे संपूर्णकरणे । अहनि दिने । निश्चितं निर्णीतम् । करिणं गजपतिम् । प्रदिशामि प्रयच्छामि । दिश अतिसर्जने लट् । 'वत्स्यति फलकारणे' इति भविष्यदर्थे लट् । समरं वा संग्रामं वा । प्रदिशामि । इति एवम् । द्वयाश्रयैः द्वयमवलम्बनमाश्रयो येषां तैः । वचनैः वचोभिः । रिपुदूतः रिपोऽशत्रुदूतो वचोहरः । प्रहोयता प्रेष्यताम् । हि गतिवृद्धयोः कर्मणि लोट् ॥११०॥ हितेति । असौ पद्मानभः । मन्त्रिमुख्यात् मन्त्रिष्वेष्टमवभूतेः । सकलानि मतानि सकले । सर्वैरभिमतानि समतानि । हितमितवचनानि मतानि च तानि वचनानि च तपोक्तानि, हितानि च तानि मितवचनानि च तपोक्तानि । इति एवम् । निश्चयं श्रुत्वा । अनलसमतिः सन् अनलसा आलम्परहिना मतिबुद्धिर्यस्य सः । अर्थतः परमार्थतः । अनुतस्थौ अङ्गाकरोति स्म । ष्टा गति निवृत्तौ लिट् । उदयेषिणाम् ऐश्वर्यं बाञ्छन्निः । 'वा नाकस्य' इत्यादिना करणार्थे<sup>३</sup> षष्ठी । गुरुवचनं गुरोः प्रेष्यस्य । वचनं माधितम् । अलङ्घयं हि नोत्तरङ्गनीयं हि<sup>४</sup> । अर्थान्तरन्यासः ॥१११॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये द्वादशः सर्गः ॥१२॥

विद्वन्मनोबलमाख्ये द्वादशः सर्गः ॥१२॥

जायेगा ॥१०९॥ 'आजसे तीसवें दिन निश्चय ही मैं आपको हाथी दूंगा, या फिर युद्ध करूँगा', यह अनिश्चित उत्तर देकर पृथिवीपालके दूतको बिदा कर दीजिये ॥११०॥ इस प्रकार मुख्य-मन्त्री भवभूतिसे सर्वममत्त, हितकारी और परिमित इन वचनोको सुनकर पद्मानाभने—जिसे नाममात्रको भी आलस नहीं था—वास्तविक रूपमें स्वीकार कर लिया । ठीक है, ऐश्वर्य चाहनेवालोंको गुरुजनोंके वचन अनुलङ्घनीय होते हैं ॥१११॥

इस प्रकार महाकाव्ये वीरनन्दि चरित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें

बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२॥

■

१. अ द्वयाश्रयैः । २. अ हितमिति । ३. अ हृदयैषिणः । ४. अ लोट् । ५. अ 'संपत्तानि' इति नास्ति । ६. अ करणार्थे । ७. अ 'हि' नास्ति ।

## [ १३. त्रयोदशः सर्गः ]

अथ स विक्रमवान्नयभूषणो मिलितभीमरथप्रमुखः प्रभुः ।

निरगमत्प्रतिशत्रु जिगीषया प्रशमितप्रकृतिव्यसनो नृपः ॥१॥

सकललोकमनोरममुखस्तकुमुदपाण्डु विकसितदिङ्मुखम् ।

पथि रराज धृतं धरणीपतेः स्वयशसा सममातपवारणम् ॥२॥

जलदवीथिविशालमुरः प्रभोः पृथुलहारलतामणिभिर्बभौ ।

मुखसरोजमुपासितुमागतैरुडुगणैरिव जातशशिभ्रमः ॥३॥

अथेति । अथ मन्त्रालोचनान्तरम् । विक्रमवान् पराक्रमयुक्तः । नयभूषणः नय एव नीतिरेव भूषणं यस्य सः । मिलितभीमरथप्रमुखप्रभुः मिलिता युक्ता भीमरथप्रमुखाः प्रभवो राजानो यस्य सः । प्रशमित-प्रकृतिव्यसनः प्रशमितमुपशमितं प्रकृतोनाममात्राद्यानां व्यसनं दुःखं येन सः । 'अमात्याश्च स्वपौराश्च' सङ्घः प्रकृतयः स्मृताः । स नृपः पद्मनाभमुपतिः । जिगीषया जेतुमिच्छया । जिज्जाः अभिभवेति । 'जैलिट् सनि' इति कवगदेशः । प्रतिशत्रु शत्रोरभिमुख प्रतिशत्रुः । निरगमन् निर्गच्छति स्म । रूपकम् ॥१॥ सकलेति । सकललोकमनोरमं सकलानां सर्वेषां लोकानां जनानां मनोरमं मनोहरम् । उल्लसत्कुमुदपाण्डुः उल्लसद् विकसत् कुमुदमिव पाण्डु शुभ्रम् । उपमा । विकसितं दिङ्मुखं विकसितानि प्रकाशितानि दिशां ककुमा मुखानि वदनानि येन तत् । स्वयशसा स्वस्य आत्मनो यशसा कीर्त्या । समं समानम् । धरणीपतेः पद्मनाभस्य । धृतं भूतम् । जातपवारणम् जातपत्रम् । पथि मार्गे । रराज भाति स्म । गज्जूं शोभतेति । उपमा ॥२॥ जलदेति । प्रभोः पद्मनाभस्य । जलदवीथिविशालं जलदवीथिवद् गगनवद् विशालं विस्तीर्णम् । उरः वक्षः । जातशशिभ्रमे जात उत्पन्नः शशीति चन्द्र इति भ्रमो भ्रान्तिर्देया नै । भ्रान्तिमान् । मुख-सरोजं मुखमेव सरोजं कमलं तत् । रूपकम् । उपासितुम् आराधितुम् । आगतेः आयातेः । उडुगणैः उडूनां नक्षत्राणां गणैरिव समुद्दैरिव । पृथुलहारलतामणिभिः पृथुलहारलतायां हारयष्टमणिभिः । बभौ रराज ।

इसके पश्चात् पराक्रमो एवं नीतिनिपुण राजा पद्मनाभने पहले अपने मन्त्रियों और पुरवासियों के कष्टोंका निवारण किया, फिर भीमरथ आदि अनेक मित्र राजाओंको अपने साथ लिवाकर विजयकी अभिलाषासे पृथिवीपालके नगरकी ओर प्रयाण कर दिया ॥१॥ पद्मनाभके ऊपर छत्र लगा हुआ था । उसे उनके भृत्य पकड़े हुए थे । उसका सफेद रंग कुमुदसे मिलता-जुलता था । वह उसके यशकी भाँति शुभ्र था और सभी ओर दृष्टिगोचर हो रहा था । मार्गमें वह सभी लोगोंके मनको हर रहा था ॥२॥ पद्मनाभका वक्षस्थल आकाशकी भाँति विशाल था । वह हारके बड़े-बड़े मणियोंसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो पद्मनाभके मुखने चन्द्रमाका भ्रम हो जानेसे उसकी उपासना करनेके लिए आये हुए नक्षत्रगणसे व्याप्त हो गया हो ॥३॥

१. = येन । २. वा 'ममात्यानां । ३. वा पौराश्च । ४. आ जो । ५. वा 'शत्रोरभिमुखं प्रतिशत्रु' इति नास्ति । ६. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिपु तु "कुमुदपाण्डु" इत्येव दृश्यते । ७. अयमपि टीकाश्रयः पाठः प्रतिपु तु "विभासित" इति सम्पुलभ्यते । ८. = मुखं सरोजमिवेति मुखसरोजं, तत् । उपमा ।

प्रसूतया बभतुर्वरकुण्डलप्रथितवारिजरागमणिस्थिषा ।  
 सरसगैरिकपङ्कपरिष्कृतौ करिकराविध भूमिभुजो भुजौ ॥४॥  
 मुकुटरत्नचयेन परस्परव्यतिकरोल्लसितामलरोचिषा ।  
 जलदकाल इवेन्द्रधनुःश्रियं प्रथिततान महीपतिरम्बरे ॥५॥  
 परिभवत्यरिनिर्जयनिर्गतो निखिलमाण्डलिकाननतानयम् ॥  
 इति भयेन तदीयभुजद्वयं शशिरवी इव भेजतुरङ्गदे ॥६॥  
 शिखिगलाकृतिना रशनाश्मनो रुचिचयेन निरन्तरपूरितम् ।  
 क्षितिपतेरखिलां यमुनाहृद्भ्रियमलुम्पत नाभिसरोवरम् (रः) ॥७॥

भा दीप्तो लिट् । उपवा<sup>१</sup> । पद्मनाभस्यालंकरणम् ॥३॥ प्रसूतयेति । प्रसूतया विस्तृतया । वरकुण्डलप्रथित-  
 वारिजरागमणिस्थिषा वरयो<sup>२</sup>र्मन्तोः कुण्डलयोः कर्णवेष्टनयोः प्रथितानां कीलितानां वारिजरागमणीना पद्मराग-  
 मणीनां दिव्या कान्त्या । सरसगैरिकरागपरिष्कृतौ सरसस्पादतायुक्तस्य गैरिकस्य मनःशिलायाः पङ्कजं कर्दमेन  
 परिष्कृतावलङ्कृतौ । 'संययुवात्कुञ्ज'— इत्यादिना सङ्गागमः । करिकराविध यजशुण्डादण्डाविध । भूमि-  
 भुजः पद्मनाभस्य । भुजौ बाहू । बभतुः रेजतुः । भा दीप्तो लिट् । उपप्रेक्षा ॥४॥ मकुटेति । सः महीपतिः  
 पद्मनाभमूषः । परस्परव्यतिकरोल्लसितामलरोचिषा परस्परमन्योर्म्य व्यतिकरेण मिश्रणेनोल्लसितं विलसितम-  
 मलं रोचिः कान्तियंस्त्य तेन । मकुट<sup>५</sup>रत्नचयेन मकुटे<sup>४</sup>किरीटे विद्यमानानां रत्नानां चयेन समूहेन । जलद-  
 काल इव वर्षाकाल इव । अम्बरे गगने । इन्द्रधनुषः सुरक्षापस्य श्रियं शोभाम् । विततान विततोति स्म ।  
 तनु<sup>६</sup>विस्तारे लिट् । उपप्रेक्षा<sup>१</sup> ॥५॥ परिभवतीति । अरिनिर्जयनिर्गतः अरेः शत्रोर्निर्जयाय निर्गतो नियातः ।  
 अयं पद्मनाभः । अनतान् नमनविमुखान् । निखिलमाण्डलिकान् निखिलान् सकलान् माण्डलिकान्<sup>७</sup> देशाधि-  
 पतीन् । परिभवति तिरस्करोति । मू मत्ताया लट् । इति<sup>८</sup> भयेन भीत्या । शशिरवी इव सूर्याचन्द्रमसा-  
 विध । तदीयभुजद्वयं तदीयं तस्य संबन्ध<sup>९</sup> भुजयोर्द्वयम् । अङ्गदे केयूरे । भेजतुः भजतः स्म । भजि<sup>१०</sup> सेवाया  
 लिट् । चन्द्रसूर्ययोरपि मण्डलवत्त्वात् तावस्याश्रितावित्यर्थः । उपमा<sup>११</sup> ॥६॥ शिखीति । रशनाश्मनः<sup>१२</sup> रश-  
 नाया काञ्चया कीलितस्याश्मनो हुरिमणेः । शिखिगलाकृतिना शिखिनो मयूरस्य गल इव कण्ठ इवाकृति-

पद्मनाभके कानोंमें जो कुण्डल थे, उनमें पद्मराग मणियोंसे अपूर्व सुषमा उत्पन्न हो गयी थी ।  
 उनकी लाल प्रभाके पड़नेसे उसके दोनों भुज हाथीकी उन सूइके समान सुशोभित हो रहे थे,  
 जिनपर अभो-अभी गेरूका लेप किया गया हो ॥४॥ जिस तरह वर्षा ऋतुका समय आकाशमें  
 इन्द्रधनुषकी शोभा उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार पद्मनाभने अपने मुकुटमें जड़ी हुई रत्न-  
 राशिकी परस्परमें मिलकर फैलनेवाली किरणोंकी प्रभासे आकाशमें इन्द्रधनुष सरीखी शोभा  
 उत्पन्न कर दी थी ॥५॥ पद्मनाभ शत्रुओंपर विजय पानेके लिए निकला है । यह नमन न  
 करनेवाले सभी माण्डलीक राजाओंका तिरस्कार करेगा, इस भयके कारण मानो चन्द्र और  
 सूर्य अङ्गदके रूपमें उसके दोनों बाहुओंके आभूषण बनकर सेवा करने लगे । अपने-अपने  
 मण्डलों—देशोंकी रक्षा करनेवाले अविनोत राजा अपमानित होने लगेंगे, तो हम दोनों भी तो  
 मण्डल-वर्तुलाकार वाले हैं और राजाको नमन भी नहीं करते, अतः हम दोनोंका भी अपमान  
 होगा, मानो यही सोचकर सूर्य और चन्द्र केयूरका रूप लेकर उसके भुजाओंकी सेवामें उपस्थित  
 हो गये ॥६॥ पद्मनाभकी कमरमें करघनी शोभा बढ़ा रही थी । उसमें लगे हुए वैडूर्यमणियों-

१. = उपप्रेक्षा । २. = भेद्योः । ३. आ मकुट<sup>४</sup> । ४. आ मकुटे । ५. आ तनु । ६. उपमा  
 निदर्शना च । ७. सा विशाधि<sup>८</sup> । ८. सा इतीति । ९. संबन्धि । १०. आ भज । ११. = उपप्रेक्षा ।  
 १२. एष टोकाभयः पाठः प्रतिष्ठ तु 'श्मना' इत्येव समवसौक्यते ।

गुरुमताभिरतामलमानसं विहितदिव्यशरीरपरिग्रहम् ।  
 त्रिदिधनायमिव त्रिविधौकसस्तमवनीपतयो नृपमन्वयुः ॥८॥  
 तुरगधारकठोरकरद्वयीधृतकुशागुणपीडितकंधरैः ।  
 पथि भयापसरच्छिद्युसंकुले स्खलितवेगमगामि तुरंगमैः ॥९॥  
 तुरगियत्ननिरुद्धमहारायैर्हरिभिरुत्पतितैर्जलदोन्मुखम् ।  
 गगननीरनिधिर्निखिलस्तदा समजनीव तरङ्गितचिप्रदः ॥१०॥

राकारो यस्य तेन । रुचिचयेन रुचीनां कास्तीनां चयेन समूहेन । निम्नतरपूरित निरवकाशं पूरितं व्याप्तम् ।  
 खितपतेः पथनामस्य । नामिसरोवरं<sup>३</sup> नामिरं व सरोवरम् । रूपकम् । अमिला सकलाम् । यमुनाल्लक्ष्मिं  
 यमुनाया यमुनायथा ललदस्यानामलस्य<sup>४</sup> । अयं सोमाम् । अलङ्घ्यत निराकुलत । लुल्लुं छेदने लङ् ।  
 श्लेष्मा ॥७॥ गुरुमतेति । 'गुरुमताभिरतामलमानसं गुरुणा हितोपदेशेन बृहस्पतिना वा मतमभिमतमभिरत  
 मनोहरं निर्मल मानसं चित्तं यस्य तम् । विहितदिव्यशरीरपरिग्रहं विहितः कुतो दिव्यं शरीरं गात्रं  
 तदेव परिग्रहः परिकरो यस्य तम् । तं नृपं पथनामभूतिम् । दिवौकसः सुरा । विदिवनायमिव  
 स्वर्गनायमिव देवेन्द्रमिवेत्यर्थः । अवनीपतयः भूमिपतयः । अन्वयुः अनुजम् । या प्रापणे लङ् ।  
 उपमा ॥८॥ तुरगेति । तुरगधारकठोरकरद्वयीधृतकुशागुणपीडितकंधरैः तुरगधारणा मश्वारोहाणां<sup>५</sup>  
 कठोरयोः कर्कशयोः करयोर्हस्तयोर्द्वयं द्वयेन धृतेन भूतेन 'कुशागुणेन वनगारज्जुना (रज्ज्वा) पीडिता  
 बाधिताः कन्धरा येवा तैः । तुरङ्गमैः अश्वैः । भयापसरच्छिद्युसंकुले भयाद् भोतेरपमरद्भिरतस्ततो  
 गच्छद्भिः शिशुमर्षालकैः सकुले सकुलैः । पथि मार्गे । स्खलितवेगं स्खलितो रुद्धो वेगः दीर्घाय यस्मिन्  
 कर्मणि तत्० । अगामि अगम्यत् । गम्ल् गतो भावे' लुङ् ॥९॥ तुरंगमैः । तुरगियत्ननिरुद्धमहारायैः<sup>६</sup>  
 तुरगियात्मशरोहाणां यत्नेन प्रयत्नेन निवारितो रम्यो वेगः 'घोष [र्यो] वेवा तैः । जलदोन्मुखं जलदस्य मेघस्यो-  
 न्मुखमभिमुखम् । उत्पतितैः दुर्लङ्घितैः<sup>७</sup> ( उदगतैः ) उद्धोनेनै<sup>८</sup> । हरिभिः वाजिभिः । तदा गगनसमये ।

की किरणोसे—जिनका रंग मयूरके गलेके रंगसे बिलकुल मिलता-जुलता था—सभी ओरसे  
 व्याप्त होकर उसकी नाभि, यमुनाके कुण्डकी—जिसमें कालिय नाग रहा करता था—सारी  
 छविको छोन रही थी ॥७॥ जिस प्रकार बृहस्पतिके द्वाग दी गयी शिक्षामें निर्मल मनको  
 लगानेवाले और दिव्य शरीरको धारण करनेवाले इन्द्रके पीछे देव लोग चला करते हैं, उसी  
 प्रकार गुरुजनोंके अभिमत नीतिमार्गमें स्वच्छ हृदयको लगानेवाले—स्वच्छ हृदयसे गुरुजनोंकी  
 शिक्षा माननेवाले और अत्यन्त सुन्दर शरीरवाले राजा पथनाभके पीछे-पीछे अन्य राजे-महाराजे  
 चल रहे थे—अनुगमन कर रहे थे ॥८॥ भयसे इधर-उधर भागते हुए छोटे-छोटे बच्चोंसे घिरे हुए  
 मार्गमें घुड़सवारोंने अपने कठोर हाथोंसे घोड़ोंको रासोंकी रस्सियोंको खूब जोरसे खींच लिया,  
 जिससे वे अपनी गर्दन टेढ़ी किये हुए, और उसकी पोड़ाका अनुभव करते हुए धीरे-धीरे चलने  
 लगे ॥९॥ घुड़सवारोंने ज्योंही बड़े यत्नसे घोड़ोंको तीव्र गतिको रोका, त्यों ही वे मेघोंकी

१. म. 'मूले' । २. = वर्षा' । ३. निखिलानु प्रतिपु 'नाभिसरोरुहम्' इत्येव पाठो वर्तन । ४. =  
 द्रहस्पतेति यावत् । 'द्रहोऽगाधजलो ह्य' इति हैमः । ५. = गुरुमताभिरतामलमानसं गुरोर्मन्त्रिणः, पक्षे  
 बृहस्पतेर्मतेऽभिरतं निरतममल निर्मल मानसं हृदयं यस्य तम् । विहितदिव्यशरीरपरिग्रहं विहितः कुतो दिव्यस्य  
 सुन्दरस्य, पक्षे वैकृत्यिकस्य शरीरस्य परिग्रहः स्वीकारो येन तम्, अतिविरागशरीरधारणमिति यावत् ।  
 ६. आ 'रोहकाणा । ७. = 'कुशा वल्गा कुशं जले' अंकार्य० । ८. आ कर्मणि । ९. एष टीकाध्वयः  
 पाठो मूलप्रतिपु तु 'जबै' इत्येव दृश्यते । १०. = जवो' । ११. आ उल्लङ्घिते । १२. श  
 'उद्धोनेनै' इति नास्ति ।

चलितवद्भिरजोयत वाजिमिस्वरितमभ्यधिकेन निजोजसा ।

कृतपदैर्निखिलेऽपि महीतले यदनिलः किमिवात्र महाद्रुतम् ॥११॥

निरवधि प्रसृतैर्वसुधातले नृपबलैर्महिमा मम खण्डितः ।

इति नमस्त्रपयेव तिरोभवद्रजसि वाजिखुराहतिवृंहिते ॥१२॥

सतडिदाभरणाः प्रवितन्वते धृतजला जलदा दिवि यां श्रियम् ।

स्फुरितरत्नकुयैरलिकोमलैः प्रचलितैर्भुवि सा विदधे गजैः ॥१३॥

निखिलः सकलः । गगननोरनिधिः गगनमेवाकाशमेव नोरनिधिः समुद्रः । तरङ्गितविग्रहः तरङ्गितः संजात-  
तरङ्गयुक्तो (तरङ्गो) विग्रहो गात्रं यस्य सः, इव । समग्रनि जन्वते स्म । जनैर्द्राद्रुभावि लुङ् । उपेक्षा  
॥१०॥ चलितेति । निखिले सकले । महीतले भूतलेऽपि । कृतपदैः कृतं पदं चरणं येषां तैः, स्थानमिति ध्वनिः ।  
चलितवद्भिः चलनयुक्तैः । वाजिमिः अश्वैः । अभ्यधिकेन बहुलेन । निजोजसा निजस्यात्मन ओजसा साम-  
र्थ्येन । स्वरितं शोघम् । कृतम् (?) । अनिलः वायुः । न विद्यते इला भूमिर्यस्य ( सोऽ- ) अनिलः ।  
इलाराहित इति ध्वनिः । अजोयत जोयते स्म । जो ज्यो अभिभवे<sup>१</sup> कर्मणि लट् । यदत्र<sup>२</sup> निजस्य नो कृत-  
निखिलमहीतलैरिलाराहितस्य अये न किमप्याश्चर्यमिति छलार्थः<sup>३</sup> । महाद्रुतं महदाश्चर्यम् । किमिव किम् ?  
इवशाब्दो बाधयालङ्कारः ॥११॥ निरवधीति । वसुधातले वसुधाया भूमेस्तले प्रदेशे । निरवधि अपरि-  
मितम्<sup>४</sup> । प्रसृतैः विस्तृतैः । नृपबलैः नृपस्य पद्मानाभस्य बलैश्चतुरङ्गबलैः । मम मे । महिमा<sup>५</sup> साम-  
र्थ्यम् । खण्डितः निराकृतः । इति एवम् । त्रपयेव लउप्रयेव । नमः गगनम् । वाजिखुराहतिवृंहिते वाजिनां  
तुरगाणां खुराणामाहत्या<sup>६</sup> पीडया वृंहिते प्रवृद्धे । रजसि धूम्याम् । तिरोभवत् प्यदधात् । लङ् । उपेक्षा  
॥१२॥ सतडिदिति । सतडिदाभरणाः तडिदेव विद्युदेवाभरणं भूषणं तेन सहिताः । धृतजलाः धृतं जलं यस्ते  
धृतजलाः । जलदाः मेघाः । दिवि नभसि । या श्रियं यां शोभाम् । प्रवितन्वते विस्तारं कुर्वन्ति । स्फुरित-  
रत्नकुयैः स्फुरितैर्भासितै रत्नकुयै रत्नकम्बलैः । 'परिस्तोमः कुबो द्वयोः' इत्यमरः । 'कुषः स्यात्करिकम्बलः'  
इति वा । अलिकोमलैः अलिभिर्धमरै कोमलैः सद्गुणैः । प्रचलितैः निर्गतैः । यवैः करिमिः । भुवि भूमौ ।

ओर— ऊपर उछलने लगे, जिससे सारा आकाश-समुद्र तरंगोंसे युक्त-सा दृष्टिगोचर होने  
लगा ॥१०॥ वेगसे चलनेवाले घोड़ोंने सारे भूतलपर अपने पैर जमा लिये ( अधिकार कर  
लिया ) । ऐसी स्थितिमें उन्होंने अपने सर्वाधिक बलसे अनिल-वायु ( न विद्यते इला भूमिर्यस्य  
सोऽनिलः—जिसके पास भूमि न हो ) को जीत लिया, इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥११॥  
'भूतलपर जिधर-देखो-उधर पद्मानाभको चतुरगिणी सेना फैल गयी है । किसी भी ओर सेनाका  
ओर-छोर नहो देख पड़ता । इससे तो मेरी महिमा ही नष्ट हो गयी है— मेरा महत्त्व खण्डित हो  
गया है । असीमकत तो मैं अकेला ही ओर-छोर रहित ( अनन्त ) था, अब यह सेना भी मेरी  
बराबरी कर रही है । इससे तो मेरी नाक-सी कट गयी है' मानो यह सोचकर आकाश शमिन्दा  
होकर घोड़ोंकी टापोंके प्रहारसे ऊपर उड़कर सभी ओर बढ़नेवाली धूलमें छिप गया ॥१२॥  
बिजली रूपी आभूषणको धारण करनेवाले सजल बादल आकाशमें जो शोभा उत्पन्न करते हैं,  
उसी शोभाको चमचमाते रत्नोंसे जड़ो हुई झूलको धारण करनेवाले और भौंरोंके समान काले,

१. = यैः । २. आ जो जयैऽभिभवे च । ३. अ यस्वत् । ४. आ दलार्थः । ५. अ अग्रिमत् ।  
६. = महत्त्वम् । ७. = आवातेन ।



पथिषु हस्तिपकाहतडिण्डिमध्वनितनष्टजनेषु यदृच्छया ।  
 कुपितधीरे विवर्तितदृष्टिभिः पदमदीयत मत्तमतङ्गजैः ॥१४॥  
 नृपतिरेक एव कुलं द्विषां क्षपयितुं क्षम एष किमत्र वः ।  
 जगुरितीव रवैर्वैत<sup>१</sup> दन्तिनां श्रितमद्राक्षकटा मधुलिङ्गणाः ॥१५॥  
 यमवनीशगमावसरे मदं जगृहिरे करिणो जयशंसिनः ।  
 रजसि तेन तुरङ्गसुरोत्थिते प्रशमिते ददृशुः पदवीं जनाः ॥१६॥  
 खुरनिपातविदारितभूमिभिः प्रजविभिस्तुरगैर्विषमीकृते ।  
 पथि परिस्त्रलनेन समुच्छलच्चरणया चलितं रथकडयया ॥१७॥

सा शोभा । विदधे क्रियते स्म । हुषाञ् धारणे च कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षा परिवृत्तिर्वा ॥१३॥ पथिष्विति । हस्तिपकाहतडिण्डिमध्वनितनष्टजनेषु हस्तिपकैराधोरणैराहनस्य बाधितस्य डिण्डिमस्य डिण्डिमवाद्यस्य ध्वनितेन रवेण नष्टा निवारिता जना येषु तेषु । पथिषु मार्गेषु । कुपितधीरविवर्तितदृष्टिभिः कुपिते क्रुद्धे धीरं भयरहितं यथा तथा विवर्तिते दृष्टी नयने येषां तैः । मत्तमतङ्गजैः मत्तवारणैः । यदृच्छया स्वेच्छया । पद चरणन्यासः । अधीयत ग्रासिष्यत । कर्मणि लङ् ॥१४॥ नृपतिरिति । एषः अयम् । एक एव एककः । नृपतिः नरपतिः<sup>२</sup> । द्विषां क्षत्रूणाम् । कुलं वंशम् । क्षपयितुं नाशयितुम् । क्षमः समर्थः । व. युष्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य—' इत्यादिना युष्मच्छब्दबहुवचनस्य वसादेशः । क्षत्रकार्ये किमिति ? अतीव<sup>३</sup> अत्यन्तम् । इव शब्दो वाक्या-  
 कङ्कारे । बलदन्तिना बलयुक्तगजानां चतुरङ्गबलगजाना वा । श्रितमद्राक्षकटाः श्रित आश्रितो मदेन मद-  
 जलेनाद्रः कटो गजगण्डो येषां ( वीः ) ते । मधुलिङ्गणाः मधुलिङ्गां भ्रमराणां गणाः समूहाः । [रवैः] । जगुः  
 ऊचुः । यै शब्दे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१५॥ वमिति । जयशंसिनः जयसूचिनः । करिणः गजाः । अवनीशगमावसरे  
 अवनीशस्य भूमिपतेर्गमस्य गमनस्यावसरे प्रस्तावे । य मदं मदजलम् । जगृहिरे स्वार्थकुर्वन्ति स्म । ग्रही उप-  
 दाने लिट् । तुरङ्गसुरोत्थिते तुरङ्गाणामश्वानां खुरैः । खुरपुटेरुत्थिते समुत्पन्ने<sup>४</sup> । रजसि रेणो । तेन मद-  
 जलेन । प्रशमिते उपशमिते सति<sup>५</sup> । जनाः लोकाः । पदवी मार्गम् । ददृशुः पश्यन्ति स्म । दृशु प्रेक्षणे  
 लिट् । पर्यायोक्तिः ( ? ) ॥१६॥ खुरेति । खुरनिपातविदारितभूमिभिः खुराणां खुरपुटानां निपातेन पातेन  
 विदारिता विभेदिता भूमियेषां<sup>६</sup> तैः । प्रजविभिः धेगवद्भिः । तुरगै रश्वैः । विषमीकृते निम्नोन्नतोक्तैः ।  
 पथि मार्गे । परिस्त्रलनेन स्त्रलनक्रियया । समुच्छलच्चरणया समुच्चलत् प्रस्त्रलच्च<sup>७</sup> चरण<sup>८</sup> पादो यस्याः

चलते हुए हाथियोंने पृथिवीपर उत्पन्न कर दिया ॥१३॥ हाथियोंपर महाव्रत डिण्डिम बजा रहे थे, उनको आवाज सुनते ही लोग रास्तोसे अलग हट गये । फिर छाली रास्तोसे मदमाते हाथी अपनी क्रुद्ध एवं निर्भय दृष्टि इधर-उधर डालते हुए, स्वच्छन्दतापूर्वक चले जा रहे थे ॥१४॥ सेनामे जो हाथी चल रहे थे, उनके गण्डस्थलोंपर भौरोके झुण्ड बैठे हुए थे, उनके मुखसे 'गुन गुन' शब्द निकल रहा था, जिससे ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे उन ( हाथियों ) से यह कह रहे हों कि यह राजा पयनाभ अकेला ही शत्रुओंके वंशका ध्वंस करनेके लिए समर्थ है, फिर आपका यहाँ-सेनामे क्या काम ? ॥१५॥ पयनाभके जानेके अवसरपर विजयको सूचना देनेवाले हाथी जो मदजल बहा रहे थे, उससे घोड़ोंकी टापोंसे उड़ायी गयी धूल शान्त हो गयी । फिर लोगोंको रास्ता दोख पड़ने लगा । ॥१६॥ वेगसे चलनेवाले घोड़ोंने अपनी टापोंके प्रहारसे जमीनको खोदकर नीचा-ऊँचा कर दिया, जिससे रास्ता विषम हो गया । उसमें दबक लगनेसे रथोंका समूह उछलता हुआ जा

१. अ<sup>१</sup> 'धीर' । २. अ<sup>२</sup> आ इ रवैर्वैत<sup>२</sup> । ३. आ इ जगृहिरे । ४. श 'नरपतिः' पदं नोपलभ्यते । ५. एष टीकाभयः पाठः प्रतिषु तु 'इतीव' इत्येव दृश्यते । ६. = समुत्पितते । ७. अ<sup>७</sup> पथि । ८. = वीः । ९. = चक्रं ।

न सहते करपातमयं नृपो विजयवानपरस्य महीतले ।  
 रविरितीय रथध्वजबीधरैरविरत्नेर्विद्येऽन्तरितं वपुः ॥१८॥  
 नृपपराक्रमबीजविवस्त्रुमिरिव रथैर्वदृष्यत भूतलम् ।  
 मदपयोभिरपूर्यत तन्मधुमतकुलाकुलगण्डतदीर्गजैः ॥१९॥  
 खलितशैलचयेन गरीयसा बलमरेण निपीडितवेदया ।  
 बधिरिताखिलविषयमण्डलध्वनिपदैरिव निःस्वनितं भुवा ॥२०॥  
 कतिपयानि न यावद्वपुः पदान्यनुचरै रभसेन विनिर्गताः ।  
 कतिपयैः पथि तावदुपेत्य साम्भटगणा नृपतीन्परिवत्रिरे ॥२१॥

तथा । रथकवचया रथसमूहेन । 'योरववाताप् प्रकटयोलम्' इति समूहे कटध<sup>१</sup>-प्रत्ययः । चकितं प्रया-  
 तम् ॥१७॥ नेति । विजयवः नृ विजययुक्तः । अयं नृपतिः एष नरपतिः । महीतले भूतले । अपरस्य अन्यस्य ।  
 करपातं करस्य सिद्धास्य किरणस्य च पातं पतनम् । न सहते न जमते । वहि मयंते लट् । इति एवमिष  
 ( इतोव इति हेतोर्विच ) । रविः सूर्यः । बधिरजैः बहुलैः । रथध्वजबीधरैः रथानां स्पर्शमानां पठाकानां  
 बीधरैर्वस्त्रैः । वपुः अवयवम् । व्यवहितम् अन्तरितम् । विद्ये करोति स्म । वृषात् चारणे च लिट् ।  
 उत्प्रेक्षा ॥१८॥ नृपेति । नृपपराक्रमबीजविवस्त्रुमिः नृपस्य नरपतेः पराक्रम<sup>३</sup> एव प्रताप एव बीजस्य विष-  
 न्पुमिर्वपुमिच्छुमिः । बररजैः परमरजैः । यद् भूतलं भूमितलम् । अकृष्यत अलिक्यत<sup>४</sup> । कृष विलेखने  
 कर्मणि लट् । मधुमतकुलाकुलगण्डतलैः मधुमतानां भ्रमराणां कुशेन समूहेनाकुलं संकीर्णं गण्डतलं कपोल-  
 प्रदेशो येषां तैः । गजैः करिभिः । मदपयोभिः मदजलैः । अपूर्यत अजम्भ्यत<sup>५</sup> । पृ पालनप्रणयोः कर्मणि<sup>६</sup>  
 लङ् । पर्वयोक्तिः ( ? ) ॥१९॥ चकितेति । खलितशैलचयेन खलितः कम्पितः शैलानां पर्वतानां चयो  
 येन तेन । गरीयसा गृहचरेण । 'प्रियस्त्रिभू—' इत्यादिना गृहशब्दस्य ईदृशे परे गरादेशः । बलमरेण  
 बलस्य सेनाया भरेण भारेण । निपीडितवेदया निपीडितो बाधितो देहोऽवयवो यस्यास्तथा । भुवा भूम्या ।  
 बधिरिताखिलविषयमण्डलध्वनिपदैः बधिरिता खलिलविषयः समस्तककुभो दैस्ते तयोक्ताः, बधिरिताखिल-  
 विषयश्च ते रथावच तेषां मण्डलं समूहस्तस्य ध्वनिरिति पदैः<sup>७</sup> व्याजैः । स्वनितमिव ध्वनितमिव । छःप्रेक्षा ॥२०॥  
 कर्त्तव्येति । कतिपयैः कैदिवत् । अनुचरैः भटैः । यावत् यावत् पर्यन्तम् । कतिपयानि कियन्ति । पदानि  
 चरणनिक्षेपणानि । न जमुः न जग्मुः । या प्रापते लिट् । तावत् तावत्पर्यन्तम् । पथि मार्गे । रभसेन  
 शोभम् । विनिर्गताः निर्गताः । अटगणाः नृत्यसमूहाः । तान् नृपतीन् नृपतान् । उपेत्य प्राप्य । परिवत्रिरे

रहा था ॥१७॥ यह विजयी राजा इस भूतलपर किसी दूसरेके टैक्स ( हस्तक्षेप, किरणोंका पड़ना ) सहन नहीं कर सकता । मानो यही सोचकर सूर्यने रथोंके सघन ध्वजपटोमें अपनेको छिपा लिया ॥१८॥ मानो राजाके पराक्रमके बीज बोनेकी कामनासे रथोंने जिस भूतलको जोत डाला, उसे उन हाथियोंने अपने मदजलसे खूब सींचकर तर कर दिया, जिनके गण्डस्थलोंपर भीरोंके झुण्ड बैठे हुए थे ॥१९॥ समस्त पहाड़ोंको कम्पित करनेवाली बड़ा-भारी सेनाके बोझसे दबकर पृथिवीके शरीरमें पीड़ा उत्पन्न हो गयी, मानो इसीलिए वह समस्त दिशाओंको बहुरा कर देनेवाली रथसमुदायकी आवाजके बहानेसे चिल्ला रही थी ॥२०॥ राजा लोग अपने थोड़े-से नौकरोंके साथ निकलकर जबतक कुछ ही कदम आगे नहीं पहुँच पाये थे तबतक बड़े बेगसे और भी नौकरोंने पास पहुँच कर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया—बीचमें राजा चल रहे थे और

१. क ल ग च 'विषिस्तुमि' । २. क कटध' । ३. = पराक्रमः प्रतापस्तस्य बीजानि । ४. क विषिस्तुमि । ५. क 'अजम्भ्यत' इति नास्ति । ६. क 'कर्मणि' इति पदं नास्ति । ७. = ध्वनिः सम्भटस्तत्पदैः ।

परिहितायसकञ्चुकमेवकं पिहितभूमि पदातिकदम्बकम् ।  
 नरपतेरुचच्छुरणागतं तिमिरशशुभयादिव तामसम् ॥२२॥  
 कृतसमुन्नतवंशपरिग्रहा गुणविशेषविभूषितविग्रहा ।  
 कुलवधूरिव मुष्टिगता मुदं व्यधित योषजनस्य धनुर्लता ॥२३॥  
 घनघटासदृशीषु कृतासना गजवधूष्ववरोधपुरंध्रयः ।  
 विपुलकान्तिपरिप्लुतविग्रहा विदधिरं श्रियमार्चररोचिषीम् ॥२४॥  
 तदखिलं पुटभेदनमुद्धटैः स्फुटदिवाम्बदासकुतूहलैः ।  
 न निरतिर्यदवेक्षितुमीश्वरं दशतयोष्वपि दिक्षु जनैर्ममे ॥२५॥

आवृण्वन्ति स्म । वृज् वरणे लिट् । समाहितम् ॥२१॥ परिहितेति । परिहितायसकञ्चुकमेवकं परिहितेन परिभूतेन आयसेन व्यसा निमितेन कञ्चुकेन तनुत्राणेन संघकं नीलम् । पिहितभूमिः पिहिता आच्छादिता भूमि-  
 यैव तत् । नरपतेः पद्मनाभस्य । पदातिकदम्बकं पदातीना पदगामिना कदम्बकं निकुरम्बकम् । तिमिर-  
 शशुभयात् तिमिरशशोः सूर्यस्य भयाद् भोतेः । शरणागतं रक्षणार्थमागतम् । तामसं तिमिराणां समूह इव ।  
 वरवत् अभात् । कवि दीप्तो लङ् । 'युद्धपो लुङ्' इति तिप्<sup>१</sup> । उत्प्रेक्षा ॥२२॥ कृतेति । कृतसमुन्नत-  
 वंशपरिग्रहा कृतसमुन्नतस्य<sup>२</sup> विहित उच्छिन्नस्य वंशस्य वेणोः, पक्षे विंशष्टगोत्रस्य परिग्रहः स्वीकारो  
 मस्मा<sup>३</sup> सा । गुणविशेषविभूषितविग्रहा गुणेन मोक्षार्थं, पक्षे पातित्रत्यादिगुणेन विशेषं भूषितो विग्रहो यस्याः  
 सा । मुष्टिगता मुष्टि हस्तमुष्टि, पक्षे बधोन<sup>४</sup> गता । धनुर्लता<sup>५</sup> धनुषश्चापस्य लता यष्टिः । कुलवधूरिव कुल-  
 स्त्रीव । योषजनस्य योष एव भट एव जनस्तस्य । कपकम् ( ? ) । मुदं संतोषम् । व्यधित बद्धरोत् ।  
 दुष्पात्र धारणे च लङ् । दक्षेयोपमा ॥२३॥ घनेति । घनघटासदृशीषु घनानां मेधाना<sup>६</sup> घटायाः समूहस्य  
 सदृशीषु समानानु । गजवधूषु करेषुषु । कृतासनाः कृतं विहितमासनं यामिस्ता । विपुलकान्तिपरिप्लुत-  
 विग्रहाः विपुलया महत्या कान्त्या कारणेन परिप्लुत<sup>७</sup> उत्तीर्णो विग्रहो यासां ताः । अवरोधपुरंध्रयः अवरोध-  
 स्यान्तःपुरस्य पुरंध्रयः श्रियः । आचिररोचिषीम् आचिररोचिषो बिलुतः मन्विषीन्मीम् । श्रियं शोभां । विद-  
 धिरं धरन्ति स्म । दुष्पात्र धारणे च लिट् । सामान्यालङ्कारः ( निदर्शनालङ्कारः ) ॥२४॥ तदिनि । उद्धटैः  
 अक्षिकैः । भट भट परिभाषणे । आतकुतूहलैः आत स्वीकृत कुतूहलं यैस्ते । ईद्वरं प्रभुम् । अवेक्षितुं

उनके चारों ओर नौकर चाकर एवं अंगरक्षक गण ॥२१॥ पयादोंके समुदायने सारी पृथिवी घेर  
 ली थी, सभी पयादे लोहेका कवच पहने हुए थे और इसीलिए वे बिलकुल काले देख पड़ते  
 थे । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्यके भयसे साग्रा अन्धकार शरणागतके रूपमें  
 पद्मनाभके पास चला आया हो ॥२२॥ जिस प्रकार उन्नत वंशमे उत्पन्न होनेवाली, पातित्रत्य  
 आदि गुणोसे अपनेको भूषित करनेवाली और आज्ञाकारिणी कुलीन स्त्री अपने पतिको आनन्द  
 देती है, इसी प्रकार श्रेष्ठ बाँससे बनी हुई, चढी हुई प्रत्यंवा-डोरोसे सुशोभित और मृदुमें स्थित  
 धनुर्गष्ट सिपाहीबगंको सन्तोष दे रही थी ॥२३॥ मेघोंकी घटा सरीखी काली हृदिनियोंपर अत्य-  
 धिक कान्ति युक्त शरीर धारण करनेवाली रानियाँ बैठी हुई थी, जो बिजलीकी शोभाको  
 उत्पन्न कर रही थी । वर्षा कालीन काली घनघटा जिस तरह बिजुलोसे सुशोभित होती है,  
 उसी तरह हृदिनियोंकी पंक्ति रानियोंसे सुशोभित हो रही थी ॥२४॥ राजा पद्मनाभको  
 देखनेके लिए लोग—जिन्हें कुतूहल उत्पन्न हो रहा था—अपने-अपने घरोंसे निकल पड़े ।

१. आ तिप् । २. = कृतो विहितः समुन्नतस्य । ३. = यया । ४. = बधोनता । ५. = धनु-  
 र्वल्सरी । ६. सा 'मेधाना' पदं नोपलभ्यते । ७. = व्याप्यः ।

परिचिते बहुशोऽप्यवनीश्वरे कमलिनीकुसुमैरिव भास्करे ।  
 विचकसे नयनैः पुरयोषितां न रमणीयमपोहति कौतुकम् ॥२६॥  
 जनरवात्प्रसतो निपतन्त्यधस्तरलवेगसराइवरोधिका ।  
 युवजनं विद्धे गलदम्बरप्रकटितावयवा सकुतूहलम् ॥२७॥  
 कृतकटुस्वरमायतकंधरं सपदि भाण्डमपास्य पलायितः ।  
 करिमयात्कटके समपूपुष्यघट इवाधिकहास्यरसं मयः ॥२८॥  
 पथि वृषैः करिस्तृकृतिचित्रतैर्मृदितभूद्वितये शकटे सति ।  
 विपुलत्वाभकृते वणिजोऽटतो घृतघटेर्मनसा सह पुरस्कृते ॥२९॥

बोजितुम् । निरतैः<sup>१</sup> निगतेः । जनेः प्रजाभिः । दशतयोष्वपि दशावयवा यासां ता इति दशतय्यः तासु ।  
 'अवयवास्तयद्' इति तयद्-प्रत्ययः । विभु दिशाम् । न ममे न माति स्म । माङ् माने लिट् । तद् अलिलं  
 सकलम् । घटभेदनं पतनम् । \*कुटविष विभिन्नमिव । अभवत् अभूत् । लङ् । उपमा ( उपेक्षा ) ॥२५॥  
 परिचित इति । बहुशः बहुवारान् । परिचितोऽपि अयस्तेऽपि बोजितोऽपि वा । अवनीश्वरे भूमिपते । पुरयो-  
 पितां नगरस्त्रीणाम् । नयनैः नेत्रैः । विचकसे विकस्यते स्म । कस गतौ मावे लिट् । भास्करे सूर्ये । कम-  
 लिनीकुसुमैरिव कमलिन्याः पद्मिन्याः कुसुमैः पुष्पैरिव । रमणीयं मनोहरम् । कौतुकम् आश्चर्यम् । नापोहति  
 न त्यजति । ओह्<sup>२</sup> त्यागे लट् । अतिशयः ( उपमा, अयन्तिरम्यः सवच्च ) ॥२६॥ जनेति । जनरवात् जनानां  
 रवात् कोलाहलात् । प्रसतः बिभ्रतः । तरलवेगसरात् तरलान्वकम्पलात् । वेगसरात् क्षरभेदात् । अव-  
 भूमागे । निपतन्तो स्खलन्ती । अवरोधिका अन्तःपुरस्त्रीजनः । गलदम्बरप्रकटितावयवा गलता<sup>३</sup> शिथिलयता  
 अम्बरं वस्त्रेण प्रकटितोऽवयवः स्तनावयवो<sup>४</sup> यस्यां ता । युवजनं<sup>५</sup> यौवनजनम् । सकुतूहलं सोत्तुकम् ।  
 विद्धे चकार । लिट् । २७॥ कृतेति । कटके सेनायाम् । करिमयात् प्रजमयात् । कृतकटुस्वरं कृतो विहितः  
 कटुस्वरो यस्मिन् कर्मणि तत्<sup>६</sup> । आयतकंधरम् आयता कंधरा कण्ठो यस्मिन् कर्मणि तत्<sup>७</sup> । सपदि क्षीघ्रम् । भाण्डं  
 मारम् । अशस्य त्यक्त्वा । पलायित विदुतः । मयः लङ् । नट इव नर्तक इव । अधिकहास्यरसं बहुलहास्य-  
 रसम् । समपूपुष्यं अवधयत् । पुष्य पुष्टौ निबन्तालुङ् ॥२८॥ पथीति । पथि मार्गे । करिफूः कृतविदुतैः<sup>८</sup>  
 करिणो गजस्य फूकृतेन फूकारश्चनिना विदुतैः पलायितैः । वृषैः अनङ्गिः । शकटे, \*मथितभूद्वितये मथिताया

उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि वे दसों दिशाओंमें भी नहीं समा रहे थे । इतने दर्शनार्थी  
 कहाँसे आ गये, लगता था मानो नगर फट पड़ा हो ॥२५॥ यों राजा पचनाभ चिरपरिचित था,  
 उसे बहुत बार देखा भी था, पर विजयके लिए जाते समय उसे देखकर नगरकी स्त्रियोंके नेत्र  
 खिल उठे । जैसे चिरपरिचित सूर्यको देखते ही कमल खिल उठते हैं । सच तो यह है कि सुन्दर  
 वस्तु कभी आश्चर्य उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती ॥२६॥ लोगोंके शब्द-कोलाहलसे एक  
 चंचल खच्चर डर गया और उसके ऊपर बैठे हुई, अन्तःपुरमें काम करनेवाली एक युवती  
 गिरनेकी स्थितिमें पहुँच गयी, उसके वस्त्र इधर-उधर हो गये, स्तन आदि अवयव दृष्टिगोचर  
 होने लगे, तथा मनचले युवकोंके मनमें कौतुक उत्पन्न हो गया ॥२७॥ हाथीको देखते ही एक ऊँट  
 डर गया । फलतः कानोंको उद्देजना उत्पन्न करनेवाले स्वरमें चिल्लाता हुआ, अपनी गर्दनको  
 लम्बी करता हुआ बोल पटककर ऐसे ढंगसे भागा कि छावनीमें उसने एक नटकी भाँति हास्य  
 रसकी खूब ही पुष्टि की—उसे देखनेवाले लोग ठहाका मारकर हँसने लगे ॥२८॥ हाथीकी सूँड़से

१. एष टीकाध्ययः पाठः, प्रतिपु तु सर्वान् 'निरतैः' इत्येव समपलभ्यते । २. वा ऊहि तर्कः । ३. =  
 पतता । ४. वा 'स्तनावयवो' इति नास्ति । ५. = तदवयवम् । ६. 'फूकृड' इति टीकायामेव दृश्यते, प्रतिपु  
 तु सर्वत्रैव 'सूकृति' इति वर्तते । ७. 'मथित' इत्यपि पाठटीकाध्यय एव, प्रतिपु तु 'मृदित' इति दृश्यते ।

अविदितागमवारणभीभवत्पतनभम्नबृहदधिपात्रया ।

निववृत्ते क्षणशोचितनाशया नृपपथात्किल बल्लवयोषिता ॥३०॥

गुरुभरप्रहकुञ्जितधिरैश्वरतरारुचलितैरपि चक्रिरे ।

कटकिनः प्रथमं कृतनिर्गमाः सपदि वैधधिकैरनुयायिनः ॥३१॥

नृपवधूजनयानवितानकैरलघुभिः कटकं निश्चिदान्तरम् ।

तमवलोक्य जनैर्न न सस्मरे प्रचुरपोतजितः सरितां पतिः ॥३२॥

भगनाया धुरो यानमुखस्य द्वितये भागद्वये सति । विगुललामकृते विपुलाय महते लाभाय ( विपुललाभस्य ) कृते, लाभनिमित्तम् । कृते इत्यलपयम् । अटतः गच्छतः । वणिजः बाणिजस्य । मनसा सह मानसेन साकम् । घृतघटैः घृतस्य घटैः कलवीः । स्फुटैः स्फुटघटे स्म<sup>१</sup> । स्फुट विभेदने भावे लिट् । चित्तेन सह घृतघटैर्मिश्र-  
नितवधः । सहोचिज् ॥२९॥ अविदितेति । अविदितागमवारणभीभवत्पतनभम्नबृहदधिपात्रया अविदित<sup>४</sup>  
आगम<sup>५</sup> आगमनं यस्य तस्माद् वारणाज्जातेन भयेन ( जातया भिया ) भवना जायमानेन पतनेन भनं  
विमिश्रं बृहद् महद् दधिपात्रं यस्यास्तया । क्षणशोचितनाशया अणं स्वल्पकालं शोचितः<sup>६</sup> शोकितो नाशो  
यस्या<sup>७</sup> तथा । बल्लवयोषिता बल्लवया गोपालया<sup>८</sup> योषिता स्त्रिया, बल्लवस्य योषिता वा । नृपपथात्  
राजमार्गात् । निववृत्ते<sup>९</sup> किल आश्रितये स्म । वृज् वरणे कर्मणि लिट् ॥३०॥ गुरुमरेति । गुरुभरप्रहकुञ्जित-  
विग्रहैः गुरुर्महतो भारस्य ग्रहेण स्त्रीकारेण कुञ्जितो ह्रस्वीकृतो विग्रहः शरीरं येषां तैः । चितरतात् चिर-  
कालात्<sup>१०</sup> । चलितैः आगतैः । वैधधिकैः भारवाहैः, कावहिकैर्वा । अपि प्रथमं पूर्वम् ( अपि ) । कृतनिर्गमाः  
कृतो बहिर्गतो निर्गमो निर्याणं येषां<sup>११</sup> तैः । कटकिनः सेनानायकाः । सपदि शीघ्रम् । अनुयायिनः पश्चादागमिनः ।  
चक्रिरे चक्रुः । डुकृञ् करणे लिट् ॥३१॥ नृपति । अलघुभिः बहूभिः । नृपवधूजनयानवितानकैः नृपस्य राज्ञो  
वध्व एव स्त्रिय एव जनाः ( वधूना जनाः समूहाः ) तेषां यानानां शिविकानां वितानकैः समूहैः । निश्चिदान्तरं  
निश्चितं परिपूर्णमन्तरं मध्यं<sup>१२</sup> यस्य तम् । तं कटकं सेनाम् । अवलोक्य वाक्य । जनैर् लोकैः प्रचुरपोतजितः

निकले हुए 'फू' शब्दको सुनकर वेल घबराकर ऐसे ढंगसे भागे कि गाड़ीके धुरेके दोनों अगले भाग टूट गये, और गाड़ीमे रखे हुए घोके घड़े, खूब मुनाफेको इच्छासे सेनाके साथ गमन करने-  
वाले व्यापारीके हृदयके साथ फूट गये ॥२९॥ दहीसे भरे हुए बहुत बड़े घड़ेको अपने सिरपर रखकर एक ग्वालिन सड़कसे चली जा रही थी, इतनेमें अचानक एक हाथी सामनेसे आ गया, उसे देखकर वह घबरा उठी और उसका घड़ा नीचे गिरकर फूट गया । बेचारी थोड़ी देर तक वही खड़ी-खड़ी दहीके बिनाशके बारेमे शोक करती रही, फिर बहसि लौटकर अपने घर चली गयी ॥३०॥ कुछ भार ढोनेवाले पुरुष अपने कन्धोंपर अत्यधिक बोझिल बहंगो—काँवर रखकर चले जा रहे थे । भारी भारके कारण उसके शरीर कुबड़ेको भाँति आगेकी ओर झुके जा रहे थे, फिर भी उन्होंने उन सेनापतियोंको पीछे कर दिया, जो बहुत पहले ही प्रस्थान कर चुके थे । कुलो लोगोंने बहुत पीछे प्रस्थान किया था, पर तेज चलनेके कारण वे सेनापतियोंसे भी आगे निकल गये ॥३१॥ जिन शिविकाओंमें रानियाँ बैठी थी, वे बहुत बड़ी-बड़ी थीं, उनसे सेनाका मध्य भाग घिरा हुआ था । इस अवसरपर सेनाको देखकर लोगोंको प्रचुर जहाजोंसे घिरे हुए समुद्रका स्मरण नहीं हो आया, यह बात नहीं थी—अर्थात् अवश्य ही स्मरण हो आया ।

१. अ क ख ग घ म "गतवारण" । २. म न स सस्मरे । ३. ज "स्फुटघटे स्म" इति नास्ति ।

४. आ अविदितमज्ञातपागमं । ५. एष टंकाश्रयः पाठा, प्रतिबु "आगतम्" इति दृश्यते । ६. = चिन्तित ।

७. = यथा । ८. = गोपालिकया । ९. 'निववृत्ते' इति टीकाश्रयस्य पाठस्य स्थाने मूलप्रतिबु 'निववृत्ते' इति पाठः समुपलभ्यते । १०. = अतिबिलम्बत इति यावत् । ११. व. । १२. ज "मध्यं" इति नास्ति ।

सरमसैर्नरनाथविनिर्गमं<sup>१</sup> क्षितिभुजं<sup>२</sup> प्रतिपालयतां बलैः ।

रुचिरे निचिताः पुरवीथयो गुरुतरङ्गचयैरिव निम्नगाः ॥३३॥

तुरगरोहकराग्रसमुत्पतत्सरलतुङ्गतुरङ्गतुरङ्गया ।

बहुमुखैर्जलधेरिव वेलया क्षुभितया प्रसृतं नृपसेनया ॥३४॥

पटहजेन पटुध्वनिना मुहुर्मुहुरिवाक्यता प्रतिनिःस्वनैः ।

क्षितिपतीश्वरनिर्गमशंसिना सकलसैनिकसङ्घासु बभ्रमे ॥३५॥

अधिकमेधितया मुदितैर्जनः स हृतं दृष्टिमनाः पुरशोभया ।

क्षितिपतिः सहसैव सविस्मयो रथमलोकत शालतले निजम् ॥३६॥

प्रचुरैर्बहुलैः पोतैर्नौभिः चितो युतः । सरितां नदीनाम् । पतिः समुद्रः । न स्मरे न स्मर्यते स्मे ति न ।  
द्वी नगो प्रकृतमर्थं द्योतयतः । उपेक्षा ॥३२॥ सरेति<sup>१</sup> । नरनाथविनिर्गमं नरनाथस्य भूपते  
विनिर्गमं नियमिम् । प्रतिपालयतां<sup>२</sup> वाञ्छताम् । क्षितिभूतां भूपानाम् । सरमसैः संतोषयुतैः<sup>३</sup> । बलैः  
सेनाभिः । निचिताः<sup>४</sup> युक्ताः । पुरवीथयः पुरस्य नगरस्य बीथयो रथ्याः । गुरुतरङ्गचयैः<sup>५</sup> गुरुणा महतां  
तरङ्गाणां कलोलानां चयैः<sup>६</sup> समूहैः । निम्नगाः नद्य इव । रुचिरे भान्ति स्म । उपमा ॥३३॥ तुरगेति ।  
तुरगरोहकराग्रसमुत्पतत्सरलतुङ्गतुरङ्गतुरङ्गया तुरगरोहानामस्वारोहानां कराग्रस्य हस्ताग्रस्य संज्ञया  
समुत्पतन्तो नृत्यन्तस्तरलादञ्चलास्तुङ्गा उन्नतास्तुरङ्गा अश्वाः त एव तरङ्गा ऊर्मयो यस्यां तया । नृप-  
सेनया नृपस्य नरपतेः सेनया संगेन । क्षुभितया संचलितया । जलधेः समुद्रस्य । वेलया<sup>७</sup> तीरेण इव ।  
बहुमुखैः नानामूर्धिरित्यर्थः । प्रसृतं प्रयातम् । उपमा ॥३४॥ पटहति । मुहुर्मुहुः भूयोभूयः । आह्वयता आकारय-  
तेव । क्षितिपतीश्वरनिर्गमशंसिना क्षितिपतीना भूभूतामोषवरस्य पद्मनाभस्य निर्गमस्य निर्गमनस्य शंसिना<sup>८</sup>  
द्योतिना । पटहजेन भेरिजनिवेन । पटुध्वनिना पटुना व्यक्तेन ध्वनिना निस्वनेन । प्रतिस्वनैः प्रतिध्वनिभिः ।  
सकलसैनिकसङ्घसु सकलानां निखिलानां सैनिकानां<sup>९</sup> सेनानायकानां सङ्घसु सदनेषु । बभ्रमे व्याप्यते स्म ।  
बलमे कर्मणि लिट् ॥३५॥ अधिकमिति । मुदितैः संतुष्टैः । जनैः लोकैः । अधिकम् अत्यन्तम् । एषितया<sup>१०</sup>  
वक्षितया । पुरशोभया पुरस्य पत्तनस्य शोभया श्रिया । हृतं दृष्टिमनाः हृते आहृते दृष्टिमनसो नयनमानसे  
यस्याः सा ( यस्य स ) तथोक्तः । सविस्मयः आश्चर्ययुतः । सः क्षितिपतिः पद्मनाभः । शालतले शालस्य

शिबिकार्है जहाजो सरोखो थी और सेना समुद्र जैसी । अतः स्मरण होना स्वाभाविक था ॥३२॥  
राजा पद्मनाभके निकलनेकी प्रतीक्षा करनेवाले राजाओंकी प्रसन्न सेनाएँ जिन मार्गोंमें खड़ी हुई  
थी, वे मार्ग बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे युक्त नदियों सरीखे सुशोभित हो रहे थे । मार्ग नदियोंके  
समान थे और सेनाएँ तरंगोंके समान ॥३३॥ सवारोंके हाथके इशारेपर नाचनेवाले घोड़े  
पद्मनाभकी जिस सेनामें उत्ताल तरंगोंकी भाँति दृष्टिगोचर हो रहे थे वह समुद्रके ज्वार-भाटेकी  
तरह अनेक ओरसे आगेकी ओर बढ़ चली ॥३४॥ राजाके विजय-प्रस्थानकी सूचना देनेवाला  
मेरीका खूब जोरका शब्द सभी ओरसे प्रतिध्वनित हो रहा था । सभी सैनिकोंके घरोंमें भी  
उसकी प्रतिध्वनि बार-बार पहुँच रही थी, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह उन्हें  
(सैनिकोंको) राजाके साथ बाहर जानेका निमन्त्रण दे रही हो ॥३५॥ प्रस्थानके समय नाग-  
रिकोंने प्रसन्नतापूर्वक पुरकी खूब सजावट की थी । राजाका मन और नयन उस सजावटकी  
ओर इतने आकृष्ट हो गये थे कि उसे अपने गमनका बिलकुल ध्यान ही नहीं रहा । जब अपने

१. स विनिर्गमे । २. स सुहृत् । ३. = यानवाहः । ४. आ नरेति । ५. = प्रलीलताम् ।  
६. सा संतोषयुतैः । ७. = व्यापताः । ८. आश निचयैः । ९. आश निचयैः । १०. = अन्वेष्यद्विविकृतो  
वेला । इत्यमरकोषानुसारं चन्द्रोदयप्रवृद्धजलराशिरेव—इति स्यात् । ११. = सूचकेन । १२. = शोधयतां ।  
१३. सा वक्षितया ।

कृतपरस्परवाजिविघट्टना नमितवारणरोहशिरोधरा ।  
 व्यधित तिर्यगुपाहितकेतना निरयणं पुरगोपुरतश्चम् ॥३७॥  
 विधुतपङ्कहो मधुपायिनामिव स्वैर्विदधत्परिभाषणम् ।  
 वसुमतीदयितं परिरम्य तं सुहृद्विषासुखयत्परिखानिलः ॥३८॥  
 विकसिताम्बुरुहाणि सरोवराण्य कलुपाश्च पयोनिधियोषितः ।  
 पथि विलोकयतः स्पृहणीयया क्षितिभुजोऽजनि शारदयात्रया ॥३९॥  
 हृदयहृदयसो विमलाम्बराः पृथुसमुन्नतपाण्डुपयोधराः ।  
 नरवरेण पुनः पुनरादराहृदिरे दयितासदृशो दिशः ॥४०॥

प्राकारस्य तले मूले । निजं स्वकीयम् । रयं चक्रयानम् । सहस्रैव शोधयेत् । विलोकित पश्यति स्म । लोहवृ  
 दर्शनं लब्धः ॥३६॥ कृतेति । कृतपरस्परवाजिविघट्टना कृत विहितं परस्परं वाजिनामश्वानां विघट्टनं संमर्दनं  
 यस्यां सा । नमितवारणरोहशिरोधरा नमितः प्रणतो वारणरोहानां हस्तिपदानां शिरोधरः कन्धरो<sup>१</sup> यस्या  
 सा । तिर्यगुपाहितकेतना तिर्यक् तिर्यगुपेणोपाहितानि धृतानि केतनानि ध्वजा यस्या सा । चम्ः सेना । पुरगो-  
 पुरतः पुरस्य नगरस्य गोपुरतो गोपुरात्, पुरद्वारादित्यर्थः । निरयण निस्वरणम् । व्यधित करोति स्म ।  
 लुब्धः ॥३७॥ विधुतेति । विधुतपङ्कहः विधुतानि कम्पितानि पङ्क<sup>२</sup>रुहाणि कमलानि येन सः । मधुपायिना  
 भ्रमराणाम् । रवैः ध्वनिभिः । परिभाषणं संभाषणम् । विदधत् कुर्वन्नव । परिखानिलः परिखायाः खातिकाया  
 अनिलो वायुः । वसुमतीदयितं भूमिवत्कम्पम् । तं पश्यामम् । परिरम्य आलङ्कृत्य । सुहृदिष मित्रवत् ।  
 असुखयत्<sup>३</sup> सुखमकरोत् । 'सुषुब्धः खलत्क्रियाया लब्धः' । उत्प्रेसा ( उपमा ) ॥३८॥ विक्रमिरेति । विकसिताम्बु-  
 रुहाणि विकसितान्यम्बुरुहाणि येषु तानि । सरोवराणि<sup>४</sup> । अकलुपाः न विलते कलुष कल्मषो<sup>५</sup> यासा ताः ।  
 पयोनिधियोषितः पयोनिधेः समुद्रस्य योषितः स्निग्धश्च ( नदी ) । पथि मार्गे । विलोकयतः शोधयमाणस्य ।  
 क्षितिभुजः भूमिपतेः । शारदयात्रया शारदया शरदकालसंबन्धिन्या यात्रया प्रयागेन । स्पृहणीयया अभिलषितु  
 योग्यया । अजनि । जनैः प्रादुर्भावितं लुब्धः ॥३९॥ हृदयेति । हृदयहृदयस्य हृदयवृत्तौ मनोहरा वयसः<sup>६</sup> पतिषो  
 यासां ताः, पक्षे हृदयवृत्तौ मनोहराणि वयोसि योवनानि यासां ताः । विमलाम्बराः विमलं निर्मलम्बराकाशं  
 यासां ताः, पक्षे विमलान्यम्बराणि वस्त्राणि यासां ताः । पृथुसमुन्नतपाण्डुपयोधराः पृथक् पीना<sup>७</sup> समुन्नताः  
 प्राशवः पाण्डव शुभ्राः पयोधरा मेधा यासां ताः, पक्षे पृथु समुन्नतो पाण्डू धवलो पयोधरो स्तनो यासां ताः ।

रथको सहसा चहारादीवारीके बाहरकी ढाल जमीनमें जाते देखा तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ  
 ॥३६॥ नगरके फाटकसे सेना निकलनेका दृश्य दर्शनीय था । एक ही साथ अनेक घोड़ोंके  
 निकलनेसे, वे ( घोड़े ) आपसमें टकरा रहे थे; जो लोग हाथियोपर बैठे हुए थे, उन्हें अपनी  
 गर्दन नवानो पड़ी; और ध्वज कुछ तिरछे करने पड़े—इस तरहमें नगरके फाटकसे सेना बाहर  
 निकली ॥३७॥ कमलोंको हिलानेवाले ( सुगन्धित ) परिखाके वायुने पश्यामसे आलिंगन  
 करके, और भीरोंके शब्दोंमें उससे कुशल-क्षेमकी बाते करके उसे एक मित्रकी तरह सुखो  
 किया ॥३८॥ खिले हुए कमलोंसे अलंकृत तालाबों और निर्मल जलवाली नदियोंको देखकर  
 राजा पश्यामको शरदश्रुतीको यह यात्रा बड़ी सुहावनी प्रतीत हुई ॥३९॥ नायिकाओकी समा-  
 नता करनेवाली सभी दिशाओंको राजा पश्यामने बार-बार आदरसे देखा ! नायिकाएँ मन  
 हरनेवाले योवनसे युक्त हांती हैं; स्वच्छ वस्त्रोंको धारण करनेवाली हांती हैं; और बड़े-बड़े  
 उन्नत एवं गोरे पयोधरोंको सुषमाका आश्रय होती है । इसी तरह शरदश्रुतीकी दिशाएँ मनोहर

१. 'घट्टनानमित' । २. म सरोरुहाण्य' । ३. = शिरोधरा कन्धरा । ४. 'च पङ्के' । ५. = सुख-  
 यति स्म । ६. = सरोवरान् । ७. = कलुषं कल्मषं वायु । ८. = वय शब्दस्य पुंस्यं मयम् ।

रुचिररत्नकराजितविभ्रद्द्विहिंसितसंभ्रमगोष्ठमहत्तरैः ।

पथि पुरो दधिसर्पिरुपायनान्युपहितानि विलोक्य स पिप्रिये ॥४१॥

कुचमरादसहं शुकवारणे कलमगोपवधूमवलोकयन् ।

स्मितमुखः समचिन्तयदित्यसौ कचिदतीव गुणोऽप्यगुणायते ॥४२॥

बृहदलाबुकगौरववामनां वृत्तिमुपर्युपरि प्रसूतैः पपे ।

सत्पितैरिव गोकुलयोषितां विपुलकान्तिजलो नयनैर्दृपः ॥४३॥

दयितासदृशः दयितामिव्यतितामिः सदृशः समानाः । दिशः ककुभः । नरवरणे नृपतिना । पुनः पुनः भूयो भूयः । वदशिरै बोध्यन्ते स्म । कर्मणि लिट् । इलेधोपमा ( पूर्णोपमा वा ) ॥४०॥ रुचिरेति । रुचिररत्नकराजितविभ्रद्द्वैः रुचिरममोहरं रत्नकर्म कम्बलं राजितो विभासितो विभ्रद्द्वे देहो येषां तैः । विहितसंभ्रमगोष्ठमहत्तरैः विहितः कृतः संभ्रमो येषां ते तद्योक्ता, गोष्ठस्य गोस्थानस्य महत्तरा गोपालाः, विहितसंभ्रमावस्य ते गोष्ठमहत्तरावस्य ते । पथि मार्गे । पुरः अग्रे । उपहितानि आनीतानि । दधिसर्पिरुपायनानि दधिसर्पिषोरुपायनान्युपपन्नानि । ह्याणि सः राजा । विलोक्य बोध्य । पिप्रिये प्रीणाति स्म । प्रीञ् कान्तितर्पणयोः । लिट् ॥४१॥ कुचेति । कुचमरात् कुचयोर्मराद् मारात् । शुकवारणे शुकानां कीराणां वारणे निराकरणे । असहाम् असमर्थम् । कलम[गोप]वधू<sup>४</sup> कलमस्य शालिजेनस्य [गोप]वधू<sup>५</sup> स्त्रियम् । अवलोकयन् वीक्षमाणः । स्मितमुखं स्मितमीषदसितं मुखं यस्य सः । असौ राजा । इति एवम् । अचिन्तयत् चिन्तयति स्म । चित् संज्ञाने । लङ् । अतीव अत्यन्तम् । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । गुणोऽपि परमगुणोऽपि । क्वचित्<sup>६</sup> एकस्मिन् । अगुणायते अगुण इवाचरति, दोषायते इत्यर्थः । गुण इति आचारायै ण्ययङ्-प्रत्ययः । अचान्तिरन्यासः ॥४२॥ वृत्तिरिति । बृहदलाबुकगौरववामनां बृहत्तो महतोऽलाबुकस्य तुम्बीफलस्य गौरवेण गुल्मेन वामनां कुम्भाम् । वृत्तिम् आवरणम् । उपर्युपरि अग्रेऽग्रे । वीप्राया द्विः । प्रसूतैः विस्तृतैः । गोकुलयोषिता गोकुलानां गोपालानां योषिता स्त्रीणाम् । तृपितैरिव पिपासितैरिव । नयनैः नेत्रैः । विपुलकान्तिजलः विपुला रुद्रा कान्तिः शरीरकान्तिः सैव जल यस्य सः । सः नृपः पद्मनाभः । पपे पीयते स्म । पा वाने कर्मणि लिट् । उपमातिशयश्च

हंस आदि पक्षियोंसे युक्त होना हैं, निर्मल आकाशको धारण करनेवाली होती हैं एवं विस्तृत, उन्नत तथा शुभ्र मेघोंसे विभूषित होती हैं ॥४०॥ राजाके दर्शन करनेके लिए गोशालाओंके प्रमुख अहीर बड़े आदरसे पद्मनाभके सामने उपस्थित हुए । वे सभी कम्बल ओढ़े हुए थे । उन्होंने राजाको उपहारमें दही और घी समर्पित किया । मार्गमें सामने उपस्थित हुई इन उपहारकी वस्तुओंको देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ । यात्राके समय दही देखना शकुन जो समझा जाता है ॥४१॥ एक धानके खेतमें बार-बार तोते आ रहे थे, उन्हें उस खेतकी रखवाली भगाना चाहती थी, किन्तु स्तनोंके बोझसे वह विवश थी—दोड़-दोड़कर भगा नहीं पा रही थी । यह देखकर राजा मुमकराने लगा और मन-ही-मन यह सोचने लगा कि कहीं-कहीं-पर श्रेष्ठ गुण भी दोष बन जाता है ॥४२॥ बड़ी-बड़ी लौकियोंके बोझसे जो बाड़ी झुकती जा रही थी, उसीकी ओटमें खड़ी हुई खालियोंकी आँखें मानो प्यासी थीं, अतएव बाड़ीके ऊपरसे निकालकर उन्होंने ( आँखोंने ) अत्यधिक कान्तिजलसे सम्पन्न राजा पद्मनाभको पी लिया—

१. = 'रत्नकः कम्बले स्मृतः' अनेका ० ३।८५ । २. = यैः । ३. 'उपायनमुपपन्नान्युपपन्नारस्तयोपमा' । इत्यमरः । ४. आ कलमकावधू । ५. = कुचोबलशालामित्यर्थः । ६. = कुचचित् ।



समधिगम्य समस्तसमीहितामवनतैर्महतीं फलसंपदम् ।  
 क्षितिभृतः कलमैरधलोकितैः स्मृतिरजायत सज्जनगोचरा ॥४४॥  
 क्षणमुपास्य परां प्रियमागतं सरसि हंसवधूमवज्जानतीम् ।  
 समवलोक्य विवेद स भूपतिः सहजमेव पुरंघ्रिषु कैतवम् ॥४५॥  
 शशिकराङ्कुरनिर्मलगून्बहिःकृतलालान्नजसोमपरिष्कृतान् ।  
 बुधनिभाधिगमान्स विलोक्यन्नजनि हृष्टमना वसुधाधिपः ॥४६॥  
 अनुपदाय बिसं प्रणयार्पितं सरसि चञ्चुधृतं परिकोपिताम् ।  
 अनुनयन्तमथो हृदयेश्वरोमभिननन्द स कोकमिलाधिपः ॥४७॥

॥४३॥ समधीति । समस्तसमीहितां समस्ता सकला समोहितामपीष्टाम् । महतीं बृहतीम् । फलसम्पदं फलसमृद्धिम् । समधिगम्य संप्राप्य । अवनतैः विनतैः । वीक्षितैः । कलमैः शालिभिः । क्षितिभृतः भूपत्यः । सज्जनगोचरा सज्जनास्त्वपेक्षया एव गोचरो विषयो यस्याः सा । स्मृतिः स्मरणम् । अजायत अजनि । वनैर्द्रुमादुभवे लङ् ॥४४॥ क्षणमिति । क्षण स्वल्पकालपर्यन्तम् । पराम् अन्यहंसीम् । उपास्य अनुमूय । आगतम् आयातम् । प्रियं वत्सलम् । अवजानतीम् उदासीनं कुर्वन्तीम् । हंसवधूं मरालवनिताम् । सरसि सरोवरे । समवलोक्य समीक्ष्य । सः भूपतिः पद्मनाभक्षितिपतिः । पुरंघ्रिषु वनितासु । कैतवं मायास्वरूपम् । सहजं स्वाभाविकमेवेति । विवेद जानाति स्म । विद ज्ञाने लिट् । अर्थान्तरन्यासः ॥४५॥ शशीति । शशि-कराङ्कुरनिर्मलगून् शशिनश्चन्द्रस्य कराः [ कराङ्कुराः ] किरणास्त इव निर्मला विमला गावो घेवश्च, पक्षे गावो बाधो येषां तान् । बहुव्रीहिसमासत्वात् 'म्यगोष्यतोऽन्यो —' इति ह्रस्वः । बहिष्कृतखलान् बहिष्कृता हरीकृताः खला चाभ्यराशयः, पक्षे दुर्जना येऽस्तान् । निजसीमरिष्कृतान् निजे स्वकीये सोमनि परिष्कृतानलङ्कृतान्, पक्षे निजने सीम्ना मर्मादया विभूषितान् । बुधनिभान् बुधैर्विद्वद्भिर्निभान् समान् । निगमान् ग्रामान् । प्रविकोक्यन् वीक्षमाणः । वसुधाधिपः भूमीशः । हृष्टमनाः हृष्टं संतुष्ट मनश्चित्त यस्य सः । अजनि अभूत् । लङ् । विलोपना ( पूर्णोपमा वा ) ॥४६॥ अन्विति । सरसि सरोवरे । प्रणयार्पितं प्रणयेन स्नेहेनार्पित याचितम् । चञ्चुधृतं चञ्चुषा श्रोतया धृतं भूतम् । बिसं कमलनालम् । अनुपदाय अदत्त्वा । परिकोपिता

प्रेम पूर्वकं देखा ॥४३॥ समीके द्वारा अभिलषणीय महती फल सम्पत्तिको पाकर भी नम्रता धारण करनेवाली धानको देखकर राजाको सज्जनोका स्मरण हो आया, जो बड़ी-से-बड़ी विभूतिको पाकर भी नम्र रहा करते हैं ॥४४॥ क्षणभर दूसरी हंसीसे प्रणय करके आये हुए अपने पति ( हंस ) को देखकर विरुद्ध व्यवहार करनेवाली हंसीको सरोवरमे देखकर राजा यह समझ गया कि स्त्रियोमे माया व्यवहार उनके साथ ही उत्पन्न होता है ॥४५॥ कुछ और आगे जाकर राजा पद्मनाभ, पण्डितोंको बराबरी करनेवाले ग्रामोंको देखकर मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ । पण्डित लोग चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल वचनोंके धनी होते हैं; दुर्जनोंको अपने पास नहीं फटकने देते और अपने कुल और शास्त्रकी मर्यादासे सुशोभित होते हैं । इसी प्रकार वे ग्राम चन्द्रमाकी किरणोंके समान धोली गायोंसे युक्त थे; उनके बाहर खलिहान थे और वे अपनी सीमाके भीतर साफ-सुधरे थे ॥४६॥ एक सरोवरमे राजा पद्मनाभकी दृष्टि एक चकई-चकवेकी जोड़ीपर जा पड़ी । चकवीने चकवेकी चौचमे स्थित मृणालको पानेके लिए बड़े स्नेहसे याचना की, पर चकवेने उसकी पूति न करके उसे रुष्ट कर दिया । इसके पश्चात् उसे मन-ही-

१. — अलोकितैः । २. वा कुर्वन्तीम् । ३. आ वा °घोष । ४. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'प्रणयार्पितं' वतंते ।

जलदनादगभीरमधिष्वनिश्रवणजातसमुत्सुकमानसम् ।  
 नटदुदीप्य कुलं भुजगद्विषामभिग्रशंस स गोकुलवासिनाम् ॥४८॥  
 कलमगोपकबंधरवाहितधृति कुरङ्गकुलं पृथनाचरैः ।  
 हृतमुदीप्य जनैरिति सोऽध्यगाद्विषयिणो नियतं विपदां पदम् ॥४९॥  
 सुगतिगामिनि भावितमानसे विमलपक्षतया परिभूषिते ।  
 न स शशाक निवर्तयितुं दृशौ स्वसदृशे नृपहंसकुले नृपः ॥५०॥

क्रोधं कृतवतीम् । हृदयेश्वरी कोकवनिताम् । अथो पश्चात् । अनुनयन्तम् अनुसरन्तम् । कोकं चक्रवाकम् । सः इलाधिपः पद्मनाभभूपतिः । अभिनन्द<sup>१</sup> संतुतोष । दुःखं समुद्रो लुट् ॥४७॥ जलदेति । जलदनादगभीर-  
 मायैष्वनिश्रवणजातममुत्सुकमानसं जलदस्य मेघस्य नाद इव ध्वनिवद् गभीरस्य गम्भीरस्य मयिनोऽकारणस्य  
 ( मयिनो दधिमन्धनकारणस्य ) ध्वनेः शब्दस्य श्रवणेन जातं समुद्भूतं समुत्सुकं संप्रमयुक्तं मानसं चित्तं  
 यस्य तत् । नटत् नृत्यत् । गोकुलवासिनां गवां कुले समूहे वासिनां विद्यमानानाम् । भुजङ्गद्विषां भुजगानां  
 सर्पाणां द्विषां शत्रूणां मयूराणामित्यर्थः । कुलं यूथम् । उदीक्ष्य बिलोदय । सः राजा । अभिशशांश्च स्तीति स्म ।  
 शम्भू<sup>२</sup> स्तुती लुट् । जातिः ( भ्रातृभिर्मान् ) ॥४८॥ कलमेति । कलमगोपकबंधरवाहितधृति कलमानां  
 क्षालिकेनाणा गोपकानां रजता वंशस्य<sup>३</sup> कण्ठस्य रवे ध्वनौ आहिते आसक्ते ध्रुवी यस्य तत् । पृथनाचरैः  
 सेनावर्तिभिः । जनैः लोकिः । हृतं<sup>४</sup> बाधितम् । कुरङ्गकुलं कुरङ्गाणां मृगाणां कुलं यूथम् । उदीक्ष्य वीक्ष्य ।  
 विषयिणः<sup>५</sup> इन्द्रियविषययुक्ताः । नियतं<sup>६</sup> निश्चयम् । विपदा विपत्तीनाम् । पदं स्थानम् । इति एवम् । सः  
 राजा । अध्यगात् स्मरति स्म । इक् स्मरणे लृङ् । अर्चान्तरन्यासः ॥४९॥ सुगतीति । सुगतिगामिनि सुगत्या  
 प्रशस्तगमनेन गामिनि गमनशीले, पक्षे सुगति स्वर्गादिगति गच्छतोऽप्येवंशीले । भावितमानसे भावितं चिन्तितं  
 मानसं मानससरोवरं(रो) यस्य<sup>७</sup> तस्मिन्, पक्षे भावितं सम्यक्त्वादिनाः परिणतं मानसं यस्य तस्मिन् ।  
 विमलपक्षतया<sup>८</sup> विमलया शुभ्रया पक्षतया पतत्रतया, पक्षे विमलेन निर्दोषेण पक्षतया प्रतिज्ञायुक्ततया  
 निर्दुष्टमहायजनतया वा । परिभूषिते अलंकृते । स्वदृशौ स्वस्य समाने । नृपहंसकुले नृपहंसानां राजहंसानां<sup>९</sup>  
 कुले समूहे । दृशौ नयने । सः राजा निवर्तयितुं निवर्तनाय । न शशाक न शक्नोति स्म । बलेर्वापमा ॥५०॥

मन पश्चात्ताप होने लगा । फलतः वह अप्रसन्न की गयी अपनी उस हृदयकी स्वामिनी चक्रवीका  
 अनुनय करने लगा । यह सब देखकर पद्मनाभ बड़े प्रसन्न हुआ ॥४७॥ मेघोंके गर्जनके समान  
 गम्भीर दहीके मन्थनके शब्दको सुनकर मयूरोंके झुण्डका मन उत्कण्ठित हो उठा, और वह  
 नाचने लगा, उसे देखकर राजाने गायोंके झुण्ड ( गोकुल ) में निवास करनेकी बड़ी प्रशंसा की  
 ॥४८॥ धानके खेतोंकी रखवाली करनेवाले बांसुरी बजा रहे थे, उसके मधुर स्वरको मृगोंका  
 झुण्ड बड़े ध्यानसे सुन रहा था । उसे बांसुरीके स्वरमें बेसुध-सा देखकर सैनिकोंने आसानीसे  
 मार डाला । यह देखकर राजाको यह भान हो गया कि विषयी जीव निश्चय ही विपत्तियोंके  
 शिकार होते हैं ॥४९॥ अपने ही समान राजहंसोंका झुण्डको देखकर राजा पद्मनाभ अपने  
 नेत्रोंको उसकी ओरसे हटानेके लिए असमर्थ हो गया । पद्मनाभ स्वर्ग आदि अच्छी गतियोंमें  
 जाने योग्य था, उसका हृदय शुभ भावनाओंसे युक्त था और वह निर्मल -निर्दोष व्यक्तियोंके  
 पक्षसे विभूषित था । इसी तरह राजहंसोंका झुण्ड अच्छी चालसे युक्त था, उसका ध्यान  
 मानस सरोवर शीलकी ओर लगा हुआ था और वह शुभ पंखोंसे सुशोभित था ॥५०॥

१. क ल ग घ मं वासिताम् । २. = अभिशशांश्च । ३. आ 'मधिष्वनि', वा 'मधिष्वनि' । ४. आ  
 शम्भूम् । ५. वा 'मगोपक' । ६. वा 'रोप' । ७. = वेणुवाद्यस्य । ८. = मारितम् । ९. = इन्द्रियविषययाक्ताः ।  
 १०. = निषिद्धतम् । ११. वा लङ् । १२. = येन । १३. = विमली निर्मलः पक्षो विमलानां निर्मलः पक्षो वा पक्षो-  
 नुरागविषयस्तस्य भावस्तथा । १४. वा 'राजहंसानां' पदमिदं नोपलभ्यते ।

फलितसस्यसमूहनिरन्तरास्थतिमनोरमलाङ्गलराजिषु ।  
 क्षितिषु गौरिव गौर्जगतीभुजश्चिरतरं विचचार निरङ्कुशा ॥५१॥  
 जनमनःशयने शयितं मनोभवमिव प्रतिबोधयता कृतः ।  
 समदहंसकुलेन कलध्वनिर्नृपतिनावहितश्चरति शुभ्रवे ॥५२॥  
 परिमितैर्गमनैः कुषवाहिनीं पथि सुविश्रमयन्गजवाहिनीम् ।  
 जलधिधीरजलां जलवाहिनीं वसुमतीपतिराप स वाहिनीम् ॥५३॥  
 विविधमङ्गतरङ्गशिरःस्थितैस्तुहिननिर्मलफेनकदम्बकैः ।  
 वसुमतीव विराजति या शरद्वधनेघनाघनरुद्धमहोधरा ॥५४॥  
 समवगाढवतां वनदन्तिनां कटतटादुगलितस्य मदाम्भसः ।  
 उपरि संचरतामलिनां कुलैः सतिलकाभरणेषु विभाति या ॥५५॥

फलितेति । फलितसस्यसमूहनिरन्तरासु फलितानां फलभरितानां सस्यानां समूहेन निषयेन निरन्तरासु  
 संकीर्णानि । अतिमनोरमलाङ्गलराजिषु अतिमनोरमा इत्यन्तं मनोहरा लाङ्गलानां हलानां राजयो रेखा यासु  
 तासु । क्षितिषु क्षेत्रेषु । गौरिव धेनुरिव । जगतीभुजः भूभुजः । गो. दृष्टिः । निरङ्कुशा निर्बाधा । चिरम्  
 अनेकक्षणम् । विचचार<sup>१</sup> वर्तते स्म । उपमा ॥५१॥ जनेति । जनमनःशयने जनानां लोकानां मन एव  
 चित्तमेव शयनं पर्यङ्कः ( कुः ) तस्मिन् । शयितं सुप्तम् । मनोभवं मन्यवम् । प्रतिबोधयता इव जागरयता  
 इव । समदहंसकुलेन समदानां हर्षयुक्तानां हंसानां मरालानां कुलेन यूयेन । कृतः विरचितः । कलध्वनिः  
 मनोहरध्वनिः । नृपतिना पद्मनाभेन । अवहितश्चरति अवहिते सप्रद्वे श्रुती कर्णौ यस्मिन् कर्मणि तत् ।  
 शुभ्रवे श्रूयते स्म । श्रु श्रवणे कर्मणि लिट् । उन्मा ( उत्प्रेक्षा ) ॥५२॥ परिमितैरिति । पथिषु मार्गेषु ।  
 कुषवाहिनीं कुषं रत्नकम्बलं बहलीयेवंशीला कुषवाहिनीं ताम् । 'कुषः स्यात् करिकम्बलः' इत्यभिधानात् ।  
 गजवाहिनीं गजानां वाहिनीं सेनां ताम् । गजवाहिनीमित्युपलक्षणम् । सर्वाभिप सेनामित्यर्थः । विश्रमयन्  
 विश्राप्तिं नयन् । परिमितिः कतिपयेः । गमनैः प्रयाणैः । सः वसुमतीपतिः भूमिपतिः । जलधिधीरजलां  
 जलधिरिव समुद्रवद् घोरं प्रवृद्धं जलं यस्याः सा ताम् । जलवाहिनीं जलवाहिनीनामधेयाम् । वाहिनीं नदीम् ।  
 आप यथो । आप्लु व्याप्तो लिट् । जातिः ( यमकम् ) ॥५३॥ विविधेति । विविधमङ्गतरङ्गशिरःस्थितैः<sup>२</sup>  
 विविधैर्नामप्रकारैर्भृङ्गवक्रयुतैः ( विविधमङ्गानां नैकविधरचनानां ) तरङ्गाणां कल्लोलानां शिरस्यग्रे  
 स्थितैः । तुहिननिर्मलफेनकदम्बकैः तुहिनमिव निर्मलानां युष्माणां फेनानां बिम्बरागाणां कदम्बकैर्निकुरम्बकैः ।  
 या नदी । शरद्वधनेघनाघनरुद्धमहोधरा शरदः शरत्कालस्य धनेः माग्रेघनाघनेर्मदे रुद्धा आवृता महोधराः  
 पर्वता यस्या सा । वसुमतीव भूमिरिव । विराजति भाति । लिट् । उपमा ॥५४॥ ममेति । समवगाढवता  
 मवगाढताम् । वनदन्तिना वनगजानाम् । कटतटात् कपोलप्रदेशात् । गलितस्य प्रसृतस्य । मदाम्भसः मदजलस्य ।

चावल आदिके दानांसे भरे हुए धान आदि अनाज, जिन खेतोंमें लगातार लगे हुए थे, उनमें  
 राजाकी दृष्टि बहुत देर तक एक गायकी भाँति स्वच्छन्द-विचरण कर रही थी ॥५१॥  
 लोगोंकी चित्त-शय्यापर सोये हुए कामदेवको जगानेवालेके समान प्रतीत होनेवाले मतवाले हंसों-  
 के झुण्डने जो मधुर ध्वनि की, उसे राजाने कान लगाकर बड़े चावसे सुना ॥५२॥ मार्गमें बहुत  
 थोड़े पहाड़ डालकर झूलसे विभूषित हाथियोंकी सेनाको विश्राम कराता हुआ राजा पद्मनाभ  
 समुद्रके समान गम्भीर नोरसे भरी हुई जलवाहिनी नामकी नदीके पास जा पहुँचा ॥५३॥  
 उसकी छोटी-बड़ी अनेक प्रकारकी तरंगोंके ऊपर बर्फकी तरह शुभ्र फेन लहरा रहा था, अतः

१. क ख ग घ म सरिदधन् । २. = बहुभालं यावत् । ३. = संचरति स्म । ४. श जागरता  
 इव । ५. = गम्भीरं । ६. = विविधमङ्गानां नैकविधरचनानां तरङ्गाणां कल्लोलानां शिरस्यग्रभागे  
 स्थितैः । ७. आ द्विदिवाणां ।

कृतपरस्परकेलिभिरुच्छलन्मेधुरगीतरवानुगनिःस्वनैः ।  
 उभयकूलगतैः पततां कुलैर्निजविनोदकरैरिव भाति या ॥५६॥  
 तदगतामलनीलशिलातलोत्सितदीधितिरञ्जितनीरया ।  
 पतितया सततायनधर्मनः<sup>१</sup> प्रतिमयेव विभाति मही यथा ॥५७॥  
 मकरसूक्ततदूरसमुच्चलत्सलिलबिन्दुभिरिन्दुमणिप्रभैः ।  
 सततमम्बुधराध्वनि तारकाकुलकृता क्रियतेऽभिरुचिर्यया ॥५८॥

उपरि अग्रे । संचरतां भ्रमताम् । अलिना मधुराणाम् । कुलैः समूहैः । या जलवाहिनी नदी । सलिलका-  
 भरणेव तिलकमेवाभरणं भूषणं तेन युतेषु । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥५५॥ कृतेति ।  
 कृतपरस्परकेलिभिः कृता बिहिता परस्परकेलिरन्योन्यविलासो येषां<sup>२</sup> तैः । उच्चरन्मधुरगीतरवानुगनिःस्वनैः  
 उच्चरतः पठतो मधुरस्य मनोहरस्य गीतस्य गानस्य रवं ध्वनिमनुसोऽनुगतो निस्वनो रभो येषां तैः । उभय-  
 कूलगतैः उभयं कूलं तटं गतेयतिः । पतता पक्षिणाम् । कुलैः पूवैः । या नदी । निजविनोदकरैरिव<sup>३</sup> स्वस्य  
 परिहासैरिव । भाति विराजते<sup>४</sup> लट् । उत्प्रेक्षा ॥५६॥ तटेति । तदगतामलनीलशिलातलोत्सितदीधिति-  
 रञ्जितनीरया तटं तोरं गताया अमलाया निर्मलाया नीलशिलाया इन्द्रनीलशिलायास्तलस्य प्रदेससंस्थोल्ह-  
 सितया विराजितया दीधित्या कान्त्या रञ्जितं रागं गतं नीरं जलं यस्यां ( यस्याः ) तथा । यया जल-  
 वाहिनीनद्या । पतितया निगधारणं च्युतया । सततायनधर्मनः सततं सततमयनं गमनं यस्य स तथोक्तः,  
 वायुरित्यर्थः, तस्य धर्मनो मार्गस्याकाशस्येत्यर्थः । प्रतिमयेव प्रतिबिम्बेव । मही भूमिः । विभाति विराजते ।  
 लट् । उत्प्रेक्षा ॥५७॥ मकरेति । इन्दुमणिप्रभैः इन्दुमणेश्चन्द्रकांतस्य प्रभेव प्रभा येषां तैः । उपमा । मकर-  
 सूक्ततदूरसमुच्चलत्सलिलबिन्दुभिः मकराणां<sup>५</sup> जलचरविशेषाणां सूक्ततेन दूर समुच्चलद्भिरितस्तत्सलिलद्भिः<sup>६</sup>  
 सलिलस्य जलस्य बिन्दुभिः पूषद्भिः । सततम् अनवरतम् । अम्बुधराध्वनि आकाशे । तारकाकुलकृता  
 तारकाणां नक्षत्राणां कुलेन समूहेन कृता बिहिता । अभिरुचिः शोभा । यया नद्या । क्रियते विधीयते । कर्मणि  
 बह ( नदी ) उस पहाड़ी भूमिकी भाँति सुशोभित हो रही थी जहाँ छोटे-बड़े सभी पहाड़ोंके  
 शिखरोंपर शरदकालके मेघ छाये हुए हों ॥५४॥ उस नदीमें जहाँ जंगली हाथी डुबकी साध  
 रहे थे, वहाँ जलकी सतहपर उनके गण्डस्थलोंसे निकला हुआ मदजल बह रहा था, उसके  
 ऊपर भीरोंके झुण्ड मँडरा रहे थे, उनसे वह नदी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो तिलकका  
 शृंगार किये हुए हो ॥५५॥ उस जलवाहिनी नदीके दोनों तटोंपर पक्षियोंके झुण्ड बैठे हुए थे ।  
 वे । वे आपसमें क्रीड़ा कर रहे थे और मधुर गानकी भाँति शब्द कर रहे थे, अतः उनकी  
 परिस्थितिसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो मनोरंजन करनेवाले अभिनेताओं—नाटकके पात्रोंसे  
 युक्त हो ॥५६॥ उसके छाटोंपर निर्मल नीले रंगकी शिलाएँ जड़ो हुई थी—उनकी किरणोंसे  
 उसका जल रंगीन—सफेदसे नीला हो गया था, अतः उस नदीके कारण पृथ्वी ऐसी जान पड़ती  
 थी मानो आकाशकी छायासे युक्त हो । नील शिलाओंकी किरणोंके पड़नेसे पूरी नदी नीली होकर  
 आकाशकी छाया-सी जान पड़ती थी ॥५७॥ उस नदीमें मगर बहुत थे । उनके  
 मुखसे निकले हुए सूत्कारसे जलकी दौड़ें—जो चन्द्रकान्तमणिकी प्रभाकी भाँति शुभ्र  
 थीं—बहुत ऊँचाई तक उछलकर आकाशमें सदा ताराओंकी शोभा फैलाया करती थीं ।

१. आ इ "भिरुच्छलन्मे" । २. अ आ इ "यतवर्मनः" । ३. = येः । ४. = स्वमनोरञ्जनकारिभिरुच-  
 लजितेव । ५. स विराजति । ६. अस्य टीकाधयस्य पाठस्य स्थाने मूलप्रतिषु "सूक्तत" इति दृश्यते ।  
 ७. "समुच्चलत्" इति टीकायामेव वर्तते, मूलप्रतिषु "समुच्छलत्" इति सम्बन्धोक्त्यते । ८. = नकाणां ।  
 ९. स "इतस्तत्सलिलद्भिः" इति पाठो नोपलभ्यते ।

पुलिनभूमिषु यत्र तटद्रुमव्यवहितान्शुमदंशुषु मारुतः ।

सुरतजभ्रमवारिकणान्पिबन्नमयते मिथुनानि नमःसदाम् ॥५९॥

घनतरैरुपरञ्जितवारिभिः सुरमिताखिलदिग्विवराम्बरैः<sup>१</sup> ।

परिमलैरुपरिस्थितलेचरीसलिलकैलमधो विवृणोति या ॥६०॥

दानाम्भोभिर्भूरिभिर्वारणानां श्रान्त्युद्भूतैर्वाजिनां वक्त्रफेनैः ।

यके पुण्यस्त्रोतसं<sup>२</sup> तुल्यनामप्रोत्येवासौ<sup>३</sup> वाहिनी वाहिनीं ताम् ॥६१॥

छन्दः अतिशयः ॥५८॥ पुलिनेति । यत्र नद्याम् । तटद्रुमव्यवहितान्शुमदंशुषु तटस्य तोरस्य द्रुमैर्वृक्षैर्व्यवहिता  
अन्तरिता अंशुमतः सूर्यस्यांशवो मयूखा यामु तासु । पुलिनभूमिषु सिकतापुञ्जभूमिषु । मारुतः वायुः ।  
सुरतजभ्रमवारिकणान् सुरतजस्य निधुवनजनितस्य भ्रमवारिणस्स्वेदजलस्य कणान् लवणान् । पिबन् पानं  
कुर्वन् सन् । नमःसदाम् अमराणां विद्याधराणां वा । मिथुनानि युगलानि । रमयते संतोषयति स्म । रश्मि  
क्रीडायां गिजन्तास्लक्ष्म ॥५९॥ घनतरैरिति । घनतरैः बहुलैः । उपरञ्जितवारिभिः उपरञ्जितैः क्रीडानिमित्त-  
मायात[लेवर]स्त्रोजनस्तनगलितकुङ्कुमादिना रागं गतैः । वारिभिः सलिलैः । सुरमिताखिलदिग्विवराम्बरैः  
सुरमितानि परिगठितान्यखिलानि सकलानि दिशा विचाराण्यम्बरमाकाशं येषां तैः । परिमलैः सुरभिभिः ।  
या नदी । उपरि स्थितलेचरीसलिलकैलम् उपरिस्थितानामुपरिष्ठात् स्थितानां खेचगेणा देवीनां विद्याधराणां  
(वा) सलिलकैर्ल जलक्रीडायां । अधः अधोभागे । विवृणोति व्यवतीकरोति ॥६०॥ दामेति । वारणानां  
गजानाम् । भूरिभिः प्रवुरैः । दानाम्भोभिः मदजलैः । श्रान्त्युद्भूतैः श्रान्त्या धर्मणोद्भूतैः प्रवृद्धैः । वाजिनाम्  
वक्त्राणाम् । वक्त्रफेनैः वक्त्राणां मुखाणां फेनैः छिन्नैः<sup>४</sup> । असौ इयम् । वाहिनी सेना । ता वाहिनीं नदीम् ।  
तुल्यनामप्रोत्येव तुल्ये समाने नामनि प्रोत्येव स्नेहेनेव । पुण्यस्त्रोतसं पुण्यप्रवृद्धं स्त्रोतः प्रवाहो यस्यास्ताम् ।

इसका एक मात्र श्रेय उस नदीको था ॥५८॥ उस नदीके तटपर घनी वृक्षावली थी,  
उसके कारण सूर्यकी किरणें उसीमें उलझ जाया करती थी, नीचे नहीं पहुँच पाती थी ।  
उसी वृक्षावलीके नीचे जलसे निकले हुए शीतल प्रदेशोंमें देव-देवियोंके युगल सम्भोगका  
सुख भोगते थे । सुरतके परिश्रमसे निकली हुई पसीनेकी बिन्दुओंको पीकर वायु उन्हें आनन्द  
पहुँचाता था ॥५९॥ उस नदीमें विद्याधरोकी स्त्रियाँ जलक्रीडा करने आया करती थीं ।  
उनके फूलोंके आभूषणोंको परागसे नदीका जल गाढा हो जाता था, अंगरागके घुलनेसे रंगीन  
हो जाता था, तथा उनके मुख-कमलकी सुगन्धसे सभी दिशाओंका मध्यभाग या सारा-का-सारा  
वायुमण्डल सुवासित हो उठता था । उस नदीका बहाव जिस ओर था, उस ओर नहानेवाले  
जलकी घनता व बदले हुए रंगको देखकर तथा उस ओरसे आनेवाली सुगन्धको सूँघकर ऊपर-  
की ओर विद्याधारियोंकी जलक्रीडाका अनुमान कर लेते थे । जल और वायुमण्डलका परिवर्तन  
ही उन्हें ऊपरकी ओर विद्याधारियोंकी जलक्रीडाकी सूचना दे दिया करता था ॥६०॥ राजाकी  
वाहिनी-सेनाने मानो अपने नामकी समानतासे उत्पन्न हुई प्रीतिके कारण उस वाहिनी-नदीके  
प्रवाहको अपने हाथियोंके अत्यधिक मदजलसे एवं श्रमवश घोड़ोंके मुखसे उत्पन्न हुए फेनसे पुष्ट

१. क ल ग घ म दिग्बलयातरैः । २. आ इ पुण्यस्त्रोतसं । ३. क ल ग घ म तुल्यनाम-  
प्रोत्येवासौ । ४. = शोधयन् । ५. = यैः । ६. = संजातैः । ७. आ दिग्विः ।

संसर्पतटगतकर्कटां समीनानुन्मज्जमकरविराजमानमध्याम् ।  
तीर्त्वा तामुदयसमन्वितो जगाम क्षोणीभृत्सरितमिवाभ्युवाहवीथीम् ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्गे चन्द्रप्रमथरिते महाकाव्ये त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

चक्रे वकार । हुकुम् करणे लिट् । उपमा ॥६१॥ संसर्पदिति । संसर्पतटकर्कटां संसर्पतटगततास्तीरवताः कर्कटाः कुलीरा यस्यास्ताम्, पक्षे कर्कटैराशियुक्ताम् । समीनां मीनैर्मत्स्यैर्युक्ताम्, पक्षे मीनराशियुक्ताम् । उन्मज्जमकरविराजमानमध्याम् उन्मज्जजिह्वस्तरिद्रुमंकरैर्जलचरविशेषैः विराजमानं मध्यं यस्याः ताम्, पक्षे ( मकरराशिसंहिताम् ) । तस्य ( ? ) अभ्युवाहवीथीमिव गगनमिव । तां सरितं जलवाहिनीं नदीम् । उदय-समन्वितः उदयेन<sup>१</sup> संपदा समन्वितो युक्तः<sup>२</sup> । क्षोणीभृत्<sup>३</sup> पथनामः । तीर्त्वा उत्तीर्य । जगाम ययौ । गन्तु गती लिट् । श्लेषोपमा ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्गे चन्द्रप्रमथरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च  
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

कर दिया—बड़ा दिया ॥६१॥ वह नदी आकाश सरीखी थी । जिस तरह आकाशमें कर्कराशि, मीनराशि और मकरराशि होती है, उसी तरह उस नदीके तटपर कर्क—कंकड़े रेंग रहे थे, उसके जलमें मत्स्य—मछलियाँ थीं और उसके मध्यभागमें मकर-मगर निवास करते थे । अभ्युदयशाली राजा पथनाभ उसे पार करके आगे चला गया ॥६२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्ग चन्द्रप्रमथरित महाकाव्यमें तेरहवाँ  
सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

१. = कर्कराशियुक्ताम् । २. = तर्कः । ३. = अभ्युदयेन । ४. आ समन्वितः सहितः । ५. आ क्षमाभृत् ।

## [ १४. चतुर्दशः सर्गः ]

मणिप्रभाभिर्मणिकूटमग्निं सदीपेमुच्चैःपदं ददर्श ।

च्युतं विषोऽन्योन्यविघट्टनेन तडित्त्वतां वारिमुचामिवौघम् ॥१॥

विचित्ररत्नैः कटकैः स्वकीयैरिषाद्वितीयां बहती विभूषाम् ।

निशाकरो यस्य निशासु शोभां करोति चूडामणिमात्रजन्याम् ॥२॥

पर्यन्तचर्यः कनकोज्ज्वलासु यन्मेखलासुचतरासु ताराः ।

परिस्फुरद्दीधितिभासुराणां कुर्वन्ति कृत्यं मणिकिङ्किणीनाम् ॥३॥

मणीति । मणिप्रभाभिः मणीनां रत्नानां प्रभाभिः । दीपं देदीप्यमानम् । 'नमकम्यजस्क—' इत्यादिना शोले र-प्रत्ययः । उच्चैरुन्नतं दृषण्डं वृषकदम्बकं यस्य तम् । मणिकूटं मणिकूटनामधेयम् । अग्निं पर्वतम् । अन्योन्यविघट्टनेन अन्योन्यं परस्परं विघट्टनेन संमर्दनेन<sup>१</sup> । दिवः आकाशात् । च्युतं पतितम् । तडित्त्वतां विद्युत्त्वताम् । 'स्तं मत्वर्थं' इति पदस्वाभावात् जस्त्वम् । वारिमुचा मेधानाम् । ओघमिव समूह-मिव । सः राजा । ददर्श पश्यतिस्म । लिट् ॥१॥ विचित्रेति । स्वकीयैः स्वसंबन्धैः । विचित्ररत्नैः विचित्रै-र्नानाविधै रत्नैर्मणिमयैः । कटकैरिव अलङ्घ्यैरिव स्थितैः । कटकं नितम्बैरित्यर्थः । अद्वितीया सादृश्यरहि-ताम् । विभूषाम् अलङ्कारम् । बहती धरतिः । यस्य पर्वतस्य । निशासु रात्रिषु । निशाकरः चन्द्रः । चूडा-मणिमात्रजन्या चूडामणिमात्रेण शिरोरत्नमात्रेण जन्यामूतन्नाम् । शोभां करोति विदधाति । लट् । चन्द्र-श्चूडामणिरिवामाति, इत्यर्थः । उत्प्रेसा ॥२॥ पर्यन्तेति । कनकोज्ज्वलासु कनकेन सुवर्णधातुना<sup>२</sup> उज्ज्वलासु प्रकाशमानासु । उच्चतरासु<sup>३</sup> अत्युन्नतासु । यन्मेखलासु यन्म मेखलासु सानुषु काञ्चीधामसु<sup>४</sup> । पर्यन्तचर्यः पर्यन्तं समन्ततः ( चरन्तीति ) चर्यः संबन्धः<sup>५</sup> । तारा नक्षत्राणि । परिस्फुरद्दीधितिभासुराणां परिस्फुरन्त्या प्रज्वलन्त्या दीधित्या कास्या भासुराणां प्रकाशनशीलानाम् । 'भजभास—' इत्यादिना घुर—प्रत्ययः । मणि-

इसके पदवात् राजा पद्मानभने आगे बढ़ते ही मणिकूट नामक पर्वतको देखा । उसके ऊपर खूब ऊँचे-ऊँचे प्रस्तरखण्ड-चट्टानें थे, और वह मणियोंको प्रभासे देदीप्यमान हो रहा था । अतएव वह ऐसा जान पड़ता था मानो आपसमें टकराकर आकाशसे गिरा हुआ, बिजली सहित मेघोंका समूह हो ॥१॥ वह नाना प्रकारके रत्नोंसे जड़े हुए कड़ोंके समान शोभाको धारण करनेवाले अपने विचित्र रत्नमय मध्यभागके प्रदेशोंसे अद्वितीय मुषमाको प्राप्त कर रहा था । जिस प्रकार कड़े मनुष्यको मण्डित करते हैं उसी प्रकार मध्यभाग उसकी शोभाको बढ़ा रहे थे । मध्यभाग ( कटक ) ही उसके कड़े थे । अब केवल चूडामणिकी कमी रह गयी थी, जिसे रात्रि-के समय चन्द्रमाने पूरा कर दिया जो उसके सबसे उन्नत शिखरपर चूडामणि सरोखा जान पड़ता था ॥२॥ उस पर्वतकी, अत्यन्त उन्नत और स्वर्णमय होनेसे उज्ज्वल मेखलाओं-मध्यभाग-के प्रदेशों ( करघनी ) में चारों ओर घूमनेवाली ताराएँ चमाचमाती हुई किरणोंसे देदीप्यमान मणिजडित छोटी-छोटी घण्टियोंका काम कर रही थी । उसके मध्यभाग ( मेखला ) करघनी सरोखे थे और उन्हींके आस-पास घूमनेवाली ताराएँ छोटी घण्टियों सरोखी । उसके मध्यभाग

१. अ आ इ सदीप<sup>१</sup> । २. 'दृषण्डं' टीकायां 'दृषद' च मूलप्रतिपु बतिते । ३. श 'संमर्दनेन' इति नास्ति । ४. = स्वसंबन्धभिः, आत्मोयैः—इत्यर्थः । ५. = छविम् । ६. श 'कनकेन स्वर्णधातुना' इति नास्ति । ७. आ उच्चतरा, श उज्ज्वलतारासु । ८. श 'धामसु । ९. = संबन्धिरण्यः ।

धूमोद्गमैरागुरवैः सुरस्त्रीप्रवर्त्यमानैः पटवासहेतोः ।

सदाम्बरे यत्र तपान्तलक्ष्मीवितन्यते बद्धपयोदवृन्दैः ॥४॥

दत्तधृतिः किन्नरकामिनीनां गीतेषु मूर्च्छागतनिश्चलाङ्गः ।

मृगव्रजो यत्र सजीवशिल्पशङ्कां विधत्ते गगनेचराणाम् ॥५॥

निवारयन्तोऽपि दरीमुखस्थाः करप्रवेशं सवितुः पयोदाः ।

तडितप्रमादशितवज्रभास्या व्रजन्ति यत्र द्युसदां प्रियत्वम् ॥६॥

किङ्किणीनां मणिमौ रत्ननिमित्तानां किङ्किणीनां क्षुद्रघण्टिकानाम् । कृत्यं कार्यम् । कुर्वन्ति विदधति । उत्प्रेक्षा ॥३॥ धूमेति । यत्र गिरी । पटवासहेतोः पटवासस्य परिमलस्य पटवासचूर्णस्य हेतोर्निमित्तम् । सुरस्त्रीप्रवर्त्यमानैः सुरस्त्रीभिर्देववनिताभिः प्रवर्तमानैः प्रवर्तमानं क्रियमाणैः<sup>१</sup> । आगुरवैः कालागुरुसंयवैः । धूमोद्गमैः धूमस्योद्गमैरुदयैः । अम्बरे गगने । बद्धपयोदवृन्दैः बद्धैर्विरचितैः पयोदानां मेघानां वृन्दैः समूहैः । सदा सर्वकाले । तपान्तलक्ष्मीः तपान्तस्य वर्षाकालस्य लक्ष्मीः शोभा । वितन्यते<sup>२</sup> । उत्प्रेक्षा ॥४॥ दत्तेति । यत्र गिरी । किन्नरकामिनीनां किन्नरवनिताणाम् । गीतेषु गानेषु । दत्तधृतिः दत्ते न्यते धृती कर्णौ यस्य<sup>३</sup> । मूर्च्छागतनिश्चलाङ्गः मूर्च्छागतं परवशं<sup>४</sup> निश्चलं निष्कम्पमङ्गं शरीरं यस्य सः । मृगव्रजः मृगाणां कुरङ्गाणां व्रजः समूहः । गगनेचराणां विद्याचराणाम् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति छि-प्रत्ययस्य क्लृप्तभावः । सजीवशिल्पशङ्का सजीवं जीवयुक्तं शिल्पं चित्रमिति शङ्का संशयम् । विधत्ते करोति । उत्प्रेक्षा<sup>५</sup> ॥५॥ निवारयेति । यत्र गिरी । दरीमुखस्थाः दरीणां गुहानां मुखस्था द्वारेषु विद्यमानाः । पयोदाः मेघाः । सवितुः सूर्यस्य । करप्रवेशं करणां किरणानां प्रवेशं प्रवेशनम्<sup>६</sup> । निवारयन्तोऽपि रुन्धन्तोऽपि<sup>७</sup> । तडितप्रमादशितवल्गुभास्याः तडितो विद्युतः प्रभया प्रकाशेन दक्षितं<sup>८</sup> विलोकयितं वल्गुभानां वनितानामास्यं मुखं मेघा<sup>९</sup> ते, सन्तः । द्युसदां

ताराओंके पास तक पहुँचे हुए थे ॥३॥ उस पर्वतपर देवांगनाएँ अपने वस्त्रोंको सुवासित करनेके लिए अगुरु धूप जलाया करती थी । उसके धुएँसे आकाशमें मेघमण्डल तैयार हो जाते थे ( धूमज्योतिः सलिलमस्तानां सन्निपातः स मेघः—धूम, अग्नि, जल और वायुके सम्मिश्रणसे मेघ बनता है ) । फलतः वहाँ सदा बरसातकी शोभा उत्पन्न कर दी जाती थी ॥४॥ उस पर्वतपर किन्नरोंकी स्त्रियाँ गाना गाया करती थीं । उनके गानको हिरण अपने कान लगाकर बड़े चावसे सुनते थे । उस समय उन्हें इतना आनन्द आता था कि उन्हें मूर्च्छा-सी आ जाती थी, और उनके शरीर बिलकुल ही निश्चल हो जाते थे । उन्हें उस अवस्थामें देखकर विद्याधरोंको सजीव शिल्पकी शंका हो जाती थी ॥५॥ उस पर्वतकी गुफाओंमें देवलोग अपनी देवियोंके साथ क्रीड़ा करनेके लिए जाया करते थे । गुफाओंके दरवाजोंके आगे आकर स्थित हुए मेघ उन ( गुफाओं ) के अन्दर जानेवाली सूर्यकी किरणोंको रोक देते थे, और अन्धकार उत्पन्न कर देते थे फिर भी अपनी बिजुलीकी प्रभासे उन्हें प्रियाका मुख दिखला देते थे । इसलिए वे मेघ उन देवोंको बड़े

१. = समुत्पादितः । २. आ 'वितन्यते' इति नास्ति । ३. = येन । ४. आ परवशगतं ।

५. = भ्रान्तिमान् । ६. श प्रकरप्रदेशं प्रकराणां किरणानां प्रदेशं प्रवेशनम् । ७. श 'रुन्धन्तोऽपि' इति नास्ति । ८. = दृष्टिविषयतां नीतं । ९. = यैः ।



प्रभावतो लब्धमहर्षिकस्य प्रभावतो योगिजनस्य यस्मिन् ।  
 नरो गतो रम्यविशालशृङ्गे न रोगतो गच्छति कोऽपि पीडाम् ॥७॥  
 नितम्बवाप्यः खचराङ्गनानामधः प्रवर्षेष्वापि वारिदेषु ।  
 चिच्छिन्दते यत्र न तोयकैलि परिलवनिर्झरपूर्यमाणाः ॥८॥  
 परिलुतानीन्दुमणिप्रतानात्पयांसि पीयूषवदापिबन्तः ।  
 नित्यप्रसूतामिनवप्रवाला भजन्ति यत्राजरतां द्रुमौघाः ॥९॥  
 महौषधीगन्धगतप्रभावाश्चिर्वीर्यकृष्णाद्बिषु चन्दनानाम् ।  
 वनेष्वनाशङ्कितैरेमुषीकाः क्रीडन्ति कान्तैः सह यत्र कान्ताः ॥१०॥

देवानाम् । प्रियत्वं संतोषत्वम्<sup>१</sup> । व्रजन्ति गच्छन्ति । व्रज गतो लट्<sup>२</sup> ॥६॥ प्रमेति । प्रभावतः दीर्घ-  
 मतः कान्तियुक्तस्य । लब्धमहर्षिकस्य लब्धाः प्राप्ता महत्य ऋद्धयो महौषध्यादयो यस्य<sup>३</sup> तस्य । योगिजनस्य  
 मुनिजन्मस्य । प्रभावतः सामर्थ्यतः । यस्मिन् गिरी । रम्यविशालशृङ्गे रम्ये मनोहरं विशाले विस्तीर्णे शृङ्गे  
 शिखरे । गतः यातः । कोऽपि कश्चिदपि । नरः पुरुषः । रोगतः व्याधेः सकाशात् । पीडा बाधाम् । न  
 गच्छति न प्राप्नोति । गच्छ गतो लट् । यमकम् ॥७॥ नितम्बेति । यत्र गिरी । वारिदेषु मेघेषु । अधः-  
 प्रवर्षेषु [अपि] अधः अधोभागे प्रवर्षे<sup>४</sup> वृष्टिषां तेषु अपि । परिलवनिर्झरपूर्यमाणाः परिलवता परितो धावता  
 निर्झरेण प्रवाहेण पूर्यमाणाः<sup>५</sup> संपूर्णं गम्यमानाः । नितम्बवाप्यः नितम्बे<sup>६</sup> तटे विद्यमाना बाप्यो दीर्घिकाः ।  
 खचराङ्गनानां विद्याधरवनिनानाम् । तोयकैलि जलकैलिम् । न विच्छिन्दते अभावं न कुर्वते । छिद्म  
 द्वेषीकरणे लट् ॥८॥ परीति । यत्र गिरी । इन्दुमणिप्रतानात् इन्दुमणीना चन्द्रकान्ताना प्रतानान्  
 निकरात् । परिलुतानि परित्यज्यन्ति । पयांसि जलानि । पीयूषवत् सुधारसवत् । आपिबन्तः पानं  
 कुर्वन्तः । नित्यप्रसूतामिनवप्रवालाः नित्यमनवरतं प्रसूता<sup>७</sup> जिता<sup>८</sup> अभिनवाः प्रत्यग्रा प्रवालाः<sup>९</sup> येथा ते ।  
 द्रुमौघाः द्रुमाणां वृक्षाणामौघाः समूहाः । अजरता नवीनताम्<sup>१०</sup> । भजन्ति श्रयन्ते<sup>११</sup> । अतिशयः ॥९॥  
 महौषधीति । यत्र गिरी । महौषधीगन्धगतप्रभावात् महौषधीना महामूलिकौषधीनां गन्धगताद्वासगतात्  
 प्रभावात् सामर्थ्यात् । निर्वीर्यकृष्णाद्बिषु निर्वीर्या निर्गतविषसामर्थ्याः कृष्णादयः कालोरगा येपा<sup>१२</sup> तेषु ।  
 चन्दनानां श्लेषगन्धानाम् । वनेषु काननेषु । अनाशङ्कितैरेमुषीकाः अनाशङ्किताः संशयरहिता शेमुषी  
 यासां ताः । कान्ताः वनिताः । कान्तैः सह निजदयितैः सह । क्रीडन्ति खेलन्ति । क्रीड् विहारे लट् ।

प्यारे लगते थे ॥६॥ रमणीय विशाल शिखरींवाले उस पहाड़पर गया हुआ कोई भी मनुष्य,  
 बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक प्रभा सम्पन्न योगियोंके प्रभावसे रोगसे पीड़ित नहीं होता था—  
 स्वस्थ हो जाता था ॥७॥ वह पहाड़ बहुत ऊँचा था । जल बरसानेवाले मेघ उनके मध्यभाग  
 तक भी नहीं पहुँच पाते थे, मध्यभागकी नीचे ही वे जल बरसाया करते थे । उसके मध्यभागमें  
 अनेक बापिकाएँ थीं, जो सभी ओर बहनेवाले क्षरनोंसे भरी रहती थीं, ओर इसीलिए वे वहाँ  
 विचरनेवाली विद्याधरियोंकी जलक्रीड़ांमें कभी विच्छेद नहीं होने देती थीं—विद्याधरियाँ उनमें  
 नित्य जलक्रीड़ा किया करती थीं ॥८॥ उस पर्वतपर चन्द्रकान्त मणियोंके समूहसे अमृतके  
 समान जल बहता रहता था, उसे पीनेवाले वृक्षोंके समुदायोंमें सदा नयी-नयी पत्तियाँ उत्पन्न हुवा  
 करती थीं । फलतः वे वृक्ष हमेशा नवीन ही बने रहते थे, कभी पुराने नहीं होते थे ॥९॥ वहाँ  
 चन्दनके वनोंमें जहरीले काले नाग थे, पर वे सभी उत्कृष्ट जड़ो-वृट्टियोंके प्रभावसे निर्वीर्य-विष

१. अ क ल स घ म प्रवर्षित्वमपि । २. म यनेषु निःशङ्कितं । ३. सा संतोषम् । ४. आ लिट् । ५.  
 = येन । ६. सा प्रवर्षो । ७. = संपूर्णतां नीयमानाः । ८. मध्यभागे । ९. = जनिताः । १०. आ जीठाः ।  
 ११. = पल्लवाः । १२. आ नवीनताम् । १३. सा श्रयन्ति । १४. = येषु । १५. सा क्रीड ।

शिलातले यस्य घनायमाने घनायमाने कमनीयभावम् ।  
 विराजते देहविभासुराणां विभासुराणामचिरांशुदेश्या ॥११॥  
 गन्तुं पतङ्गोपलबल्लितसादपारयन्त्यः सहसा प्रवेशात् ।  
 द्विषन्ति यस्मिन्नजमेव तुङ्गं तुरङ्गवक्त्राः कुचकुम्भभारम् ॥१२॥  
 समुद्रगतैर्प्रावतले पतित्वा अङ्गीकृतो निर्झरवारिपूरैः ।  
 न तापितायोमयपिण्डतुल्यस्तपेऽपि यत्रोत्तपते पतङ्गः ॥१३॥  
 प्रमञ्जनः खेचरसुन्दरीणां रतिभ्रमापोहकृतोपकारः ।  
 यस्मिन्सुगन्धीक्रियते तदास्यश्वासैरिव प्रत्युपकर्तुकामैः ॥१४॥

महोपघिसामर्थ्येन सर्पाणां विपरहितत्वात्तत्र क्रीडतां स्त्रीपुलपाणां कालोरवदंशमयं नास्तीत्यर्थः ॥१०॥  
 शिलेति । कमनीयमार्वं कमनीयस्य मनोहरस्य भावं स्वरूपम् । अयमाने<sup>१</sup> गच्छति<sup>२</sup> । घनायमाने  
 मेघायमाने । यस्य पर्वतस्य<sup>३</sup> । शिलातले शिलाप्रदेशे । घना गुर्वी । अचिरांशुदेश्या अचिरांशोविद्युतो  
 देश्या समाना । विभासुराणां विशेषेण भासनशीलानाम् । सुराणाम्<sup>४</sup> । देहविभा देहस्य शरीरस्य विभा  
 कान्तिः । विराजते भाति । राज्ञं दीप्तो लट् । उपमा<sup>५</sup> ॥११॥ गन्तुमिति । यस्मिन् गिरो । पतङ्गो-  
 पलबल्लितपात् पतङ्गोपले सूर्यशान्तशिलायामुत्पन्नेन बल्लिनाग्निना तप्तात् संतप्तात् । प्रदेशात् स्थलात् ।  
 सहसा शीघ्रम् । गन्तुं यातुम् । अपारयन्त्यः असमर्थाः । तुरङ्गवक्त्राः किन्नरवनिताः । तुङ्गम् उन्नतम् ।  
 निजमेव स्वकीयमेव । कुचकुम्भभारं स्तनकुम्भानां कुचकलशानां भारम् । द्विषन्ति<sup>६</sup> कुप्यन्ति<sup>७</sup> । रूपकम्  
 ॥१२॥ समुद्रगतैरिति । यत्र गिरो । तापितायोमयपिण्डतुल्यः तापितेनायोमयेन लोहमयेन पिण्डेन गोलकेन  
 तुल्य समानः । पतङ्गः सूर्यः । प्रावतले शिलातले । पतित्वा निपत्य । समुद्रगतैः प्रसृतैः<sup>८</sup> । निर्झरवारि-  
 पूरैः निर्झरस्य प्रवाहस्य वारोणां पूरैः । अङ्गीकृतः शीघ्रीकृतः सन् । तपेऽपि ग्रीष्मकालेऽपि । नोत्तपते न  
 संतपते । तप सतापे ऋत् ॥१३॥ प्रमञ्जन इति । यस्मिन् गिरो । खेचरसुन्दरीणां विद्याधरस्त्रीणाम् ।  
 रतिभ्रमापोहकृतोपकारः रत्या कामवैत्या जातस्य भ्रमस्यापोहेन विनाशेन कृत उपकारो यस्य<sup>९</sup> सः । प्रमञ्जनः  
 वायुः । प्रत्युपकर्तुकामैः [इव] प्रत्युपकारं कर्तुकामैः कर्तुमिच्छन्निरिव । तदास्यश्वासैः तासां विद्याधरस्त्री-

रहित हो गये थे । इसलिए वहाँपर स्त्रियाँ निर्भय होकर अपने पतियोकै साथ क्रीडा किया  
 करतीं थी ॥१०॥ उस पर्वतको मेघ सरीखी सुन्दर शिलापर देदीप्यमान देवोंके शरीरको घनी-  
 प्रभा बिजुलीको भाँति सुशोभित होती थी ॥११॥ उस पर्वतपर गन्धर्वोंकी अंगनाएँ—जिनके मुख  
 अश्व सरीखे थे—सूर्यकान्त मणियोंकी अग्निसे सन्तप्त प्रदेशसे सहसा भाग जानेमें असमर्थ  
 होकर अपने ही अत्यधिक, स्तन-कलशोंके बोझसे द्वेष करने लगती थीं ॥१२॥ उस पर्वतपर  
 अनेक झरने बह रहे थे । उनके जलका पूर चट्टानोंके ऊपर गिरकर आकाशमें बहुत ऊँचाई तक  
 उछल जाता था, उससे, तप्त लोह पिण्ड सरीखा सूर्यमण्डल बिलकुल ठण्डा हो जाया करता  
 था, अतः ग्रीष्म ऋतुमें भी वह नहीं तपता था—उष्ण नहीं हो पाता था ॥१३॥ उस पर्वतपर  
 विद्याधरियोंकी रतिक्रियाकी थकानको मिटाकर वायुने उनका उपकार किया, तो उन्होंने भी  
 मानो प्रत्युपकारकी कामनासे उसे अपनी श्वासवायुसे सुवासित कर दिया ॥१४॥ वह पर्वत  
 बड़ी तेजीसे बढ़नेवाली और सभी ओर फैलनेवाली लताओंका अक्षय स्थान था । सघन वृक्षा-

१. म तपेऽपि । २. श आयमाने । ३. = नौयमाने । ४. = देवानाम् । ५. = यमकं च ।  
 ६. = निन्दन्ति । ७. आ कुप्यन्ति । ८. = ऊर्ध्वगैः । ९. श प्रस्तुतैः । १०. = येन ।

कान्तैर्विचित्रोऽज्जलचन्द्रकान्तै रुद्धैर्लतानां निवहैः प्रकटैः ।  
यस्य द्युतिः केकिमिरक्षयस्य तेने तटे शाखितिरहितेने<sup>१</sup> ॥१४॥  
मध्वासवापानमनोजगानाः<sup>२</sup> समुन्नयन्तो मनसो विकारम् ।  
सकोपकान्तानुनयेषु यूनां साहायकं यत्र भजन्ति भृङ्गाः ॥१५॥  
भ्रुत्वा घनध्वाननिभं नटन्तः शिखडिनो<sup>३</sup> निर्भरवारिनादम् ।  
कुर्वन्ति यत्सानुगतं सुरीधं दिव्याङ्गनानृत्यविधौ वितृणम् ॥१६॥  
गुहोदरे ध्येयहिमे हिमर्तुं निदाघमन्यन्निषु गह्वरेषु ।  
सानुध्वधोगामिघनेषु वर्षाः सुखेन यस्मिन्गमयन्ति सिद्धाः ॥१७॥

पामास्यानां स्वासैः । सुगन्धीक्रियते परिमलोक्रियते । अतिशयः<sup>४</sup> ॥१४॥ कान्तैरिति । कान्तैः कमनीयैः ।  
विचित्रोऽज्जलचन्द्रकान्तैः विचित्रं नानाविधमुज्ज्वलं (रूपं) येषां ते तथोक्ताः, विचित्रोऽज्जलचन्द्रका मेघकः  
अन्ते येषां तैः । केकिमिः मयूरैः । रुद्धैः आरुद्धैः प्रकटैः प्रवृद्धैः । लतानां बल्लरीणाम् । निवहैः समूहैः ।  
अक्षयस्य अविनाशस्य । यस्य गिरेः । द्युतिः कान्तिः । शाखितिरहितेने शाखिभिर्वर्लेस्तिरोहित आच्छादित  
इतः सूर्यो यस्मिन् तस्मिन् । तटे सानो । तेने वस्तीर्यतेस्म । तन्नु विस्तारे लट् । यमकम् ॥१५॥ मध्विति<sup>५</sup> ।  
यत्र गिरी । मध्वासवापानमनोजगानाः मधोर्गुणपुण्यवृक्षस्य गमयस्य पुष्परसस्य<sup>६</sup> आपानेन पानलोहिकया  
मनोजं मञ्जुलं गानं येषां तैः । मनसः चित्तस्य । विकारं<sup>७</sup> पलटम् । समुन्नयन्तः वर्धयन्तः । भृङ्गाः  
मधुकराः । यूनां तरुणानाम् । सकोपकान्तानुनयेषु सकोपानां कोपसहितानां कान्तानां स्त्रीणामनुनयेष्वभास्वास-  
नेषु । साहायकं<sup>८</sup> सहायत्वम् । यत्र गतिं गच्छन्ति । लट् । भृङ्गध्वनिश्रवणे स्त्रीणां योगकाशा जायते, इत्यर्थः ।  
समाहितः ॥१६॥ भ्रुत्वेति । घनध्वाननिभं घनस्य मेघस्य ध्वानस्य ध्वनेनिभं सदृशम् । निर्भरवारिनादं निर्भ-  
रस्य प्रवाहस्य वारिणो जलस्य नाद ध्वनिम् । भ्रुत्वा आकर्ष्ये । नटन्तः नृत्यन्तः । शिखण्डिनः मयूराः ।  
यत्सानुगतं यस्य गिरेः सानुगतं तटपातम् । सुरीषु सुराणां देवानामोषं समूहम् । दिव्याङ्गनानृत्यविधौ दिव्या-  
ङ्गनानां देवस्त्रीणां नृत्यविधौ नटनकरणे । वितृणं कासारहितम् । कुर्वन्ति विदधति । लट्<sup>९</sup> । अत्रैव  
नर्तनासक्तं कुर्वन्ति, इत्यर्थः । अतिशयः ॥१७॥ गुहोदर इति । यस्मिन् गिरी । सिद्धाः देवविधौ । ध्येयहिमे  
ध्यातुं योग्यं हिमं<sup>१०</sup> शीतल यस्मिन् तस्मिन् । प्रत्यक्षमर्थं हिमं नास्ति, इत्यर्थः । गुहोदरे गुहाया गह्वरस्थोदरे  
मध्ये । हिमर्तुं हेमन्तर्तुम् । सुखेन<sup>११</sup> निरायासेन । गमयन्ति यापयन्ति<sup>१२</sup> । गम्यन् गतो णिजन्तात्त्वत् । अव्यन्तिपु

बलीसे सूर्य तिरोहित हो जानेसे उसके तटोंपर अन्धकार छाया रहता था । पर उन अन्धकार-  
मय तटोंपर सुन्दर, वृक्षोंपर चढ़े हुए और अद्भुत स्वच्छ चन्द्राकृतियोंसे-जो पंखोंमें बनी हुई  
थीं—युक्त मयूरोंके द्वारा प्रकाश कर दिया जाता था ॥१४॥ उस पर्वतपर पुष्परस रूपो  
आसवका पान कर लेनेसे सुस्वर गान करनेवाले और मनके विकारको बढ़ानेवाले भोरे, रूठो  
हुई नायिकाओंको मनानेमें युवकोंको सहायता पहुँचा रहे थे ॥१५॥ उस पर्वतपर मेघध्वनिके  
समान जल-प्रपातके शब्दको सुनकर नाचनेवाले मयूर तटो या शिखरोपर बैठे हुए देववृन्दको  
देवियोंके नृत्य देखनेकी तृष्णासे मुक्त कर देते थे—मयूरोंका नृत्य देखकर उन्हें देवियोंका नृत्य  
देखनेकी उत्सुकता नहीं रहती थी ॥१६॥ उस पर्वतपर रहनेवाले देवलोग हिमके प्रभावसे  
सर्वथा मुक्त गुफाओंमें और फुहारेसे युक्त गुफाओंमें क्रमशः हेमन्त और ग्रीष्मऋतुको सुखसे

१. म<sup>१</sup> तिरोहितेन । २. आ इ<sup>२</sup> मनोजगानाः । ३. अ आ क ल ग घ म निर्भरं । ४. = उप्रेक्षा,  
अभ्योभ्यारुक्कारश्च । ५. आ मध्वेति । ६. = मधु पुष्परसः तद्रूपस्यावसस्य मद्यस्य । ७. = विकृतिम् ।  
८. सा सहायकं । ९. आ रुद्धः । १०. = क्षैत्यं । ११. = सुखपूर्वकम् । १२. सा 'यापयन्ति' इति नास्ति ।

अयम्ब्रवा निस्तमसौ समुत्कः शीतेतरांशु तमसौ समुत्कः ।

प्रष्टुं चमूच्या जगदेकपाली बलेन साक्षाज्जगदे कपाली ॥१९॥

निषेव्यविबरो वरोऽविबिचनिर्मलकृतः

सदन्ति चमरोऽमरोपहितमाघवीमण्डपः ।

विकासिकमलोऽमलोपलविचित्रमाभासुरो

न विस्मयमयं नगः प्रविद्धाति कस्येक्षितः ॥२०॥

अपां जलानां यन्निषु<sup>१</sup> यन्त्रयुक्तेषु । गङ्गरेषु गुहासु । निदधं ग्रीष्मम् । अधोवामिधनेषु अधो अधोमाने गामिनो गमनशोला घना मेधा येषु तेषु । सानुषु<sup>२</sup> तटेषु । वर्षाः प्रावृत्कालान् । गमयन्तीति प्रत्येकमभि-  
संबध्यते । दीपकम् ॥१८॥ जयजिति । निस्तमसौ निर्गतं तमो ययोस्तौ । शीतेतरांशु शीतः शीतल इतर  
उष्णः शीतेतरो अंशु किरणो ययोस्तौ—चन्द्रसूर्यौ । रुचा कान्त्या । जयन् निर्जयन् । तं रत्नकूटगिरिम् ।  
द्रष्टुं बोधनाय । समुत्कः<sup>३</sup> संतुष्टः । समुत्कः समुन्नतं क मस्तकं यस्य सः । बलेन सामर्थ्येन । साक्षात्  
प्रत्यक्षम् । कपाली रुद्रः । जगदेकपाली जगतो भुवनस्य एकपालो मुख्यपालकः । असौ राजा । चमूच्या  
सेनानायकेन । जगदे भाष्यते । यमकम् ॥१९॥ निषेव्येति । निषेव्यविबरः निषेव्यमाश्रयणीयं विबरं गङ्गारं  
यस्य सः । वरः प्रशस्तः । विविचनिर्झरालकृतः विविधैर्नानाप्रकारैः प्रवाहैरलङ्कृतो भूषितः । सदन्तिचमरः  
दन्तिभिर्गजैश्चमरैश्चमरमृगैश्च युक्तः । अमरोपहितमाघवीमण्डपः अमरैर्देवैरुपहित आश्रितो माघवीना<sup>४</sup> युषिका-  
लताना मण्डपो यस्य सः । विकासिकमलः विकासीनि विकसनशोलानि कमलान्यम्बुरुहाणि यस्मिन् सः ।  
अमलोपलविचित्रमाभासुरः अमलाना निर्मलानामुपलानां शिलातलाना विचित्रया बहुविधया भया कान्त्या  
भासुरो दोषः । ईक्षितः दृष्टः । अयं नगः मणिकूटगिरिः । कस्य पुरुषस्य । विस्मयम् आश्चर्यम् । न प्रविद-

विताया करते थे । तथा वर्षाश्रुतुको वे उन शिखरोंपर आरामसे बिताते थे, जहाँ मेघ पहुँच ही नहीं सकते थे, उनसे बहुत नीचे रह जाते थे । क्या सर्दी, क्या गर्मी और क्या बरसात तीनों ही मौसमोंमें देवलोग वहाँ सुख पूर्वक रहते थे । वहाँकी उष्ण गुफाओंमें हिमका कभी कोई असर नहीं पहुँच पाता था । हाँ, वहाँ रहनेवाले देव उसका स्मरण अवश्य कर लेते थे, कि प्रवासके अवसरपर अमुक स्थान देखा था, जहाँ अत्यधिक हिमपात हो रहा था । इसी तरह अन्य स्थानोंपर ग्रीष्म और वर्षामें वह सुख नहीं मिल सकता, जो मणिकूट पर्वतके निवासियोंको अनायास ही प्राप्त हो रहा था । वह पर्वत सभी श्रुतुओंमें सुखद था । इसीलिए वहाँ देवलोग भी निवास करते थे ॥१८॥ राजा पद्मनाभने अपने देहकी कान्तिसे चन्द्रमाको और दीप्तिसे सूर्यको मात कर दिया था, जो अन्धकारसे सर्वथा मुक्त थे । पद्मनाभ सारे जगत्का एक मात्र रक्षक था और बलमें तो साक्षात् शंकर । उसे पर्वतकी विशेषताओंके देखनेसे बड़ा हर्ष हुआ और उत्सुकता भी । पर्वत देखनेके लिए उसे उत्सुक जानकर सेनापतिने यों कहना प्रारम्भ किया—॥१९॥ इसकी गुफाएँ रहने योग्य है, यह अनेक प्रकारके झरनोंसे सुशोभित है; इसपर कहीं हाथी घूम रहे हैं तो कहीं चमरी मृग विचर रहे हैं; इसके माघवीलताके मण्डपोंमें देवलोग भी आकर ठहर जाते हैं; इसपर कमल खिले हुए हैं; निर्मल मणियो और शिलाओंको अनोखी प्रभासे यह सभी ओरसे प्रकाशित है; अतएव निश्चय हो यह सभी पर्वतोंसे श्रेष्ठ है । इसे देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा ? इसे देखकर तो ब्रह्मादेव ( कस्य-ब्रह्मादेवस्य ) को भी अचरज होगा

तुहिनपाण्डुरेतीरजसैकतां कमलजेन गतां रजसैकताम् ।  
 वहति सिन्धुमयं सरसामलंकृतदिशां च चयं सरसामलम् ॥२१॥  
 सुरयुवतिजनस्य सानुभाजो वदनसरोरुहमण्डनोद्यतस्य ।  
 विगलिततिमिरासु संप्रसर्पन्भवति निशास्विह दर्पणो मृगाङ्कः ॥२२॥  
 न महीरुहा परिहताः कुसुमैर्मणिदीपकैर्विरहिता न गुहाः ।  
 न नितम्बभूः सुरजनैर्विकला न सरः समुल्लिखितमिहाम्बुकटैः ॥२३॥  
 इह गगनचरैः कन्दरागोचरैः सुरभिश्चुचिपटैः कामिनीलम्पटैः ।  
 अवसितसुरतैः सानुसेवारतैः समधुकरकतः सेव्यते मारुतः ॥२४॥

धाति न करोति । लट् । यमकम् ॥२०॥ तुहिनेति । तुहिनपाण्डुरतीरजसैकतां तुहिनमिव पाण्डुरं शुभं तीरजं  
 कूलजनितं सैकतं सिकतामयं<sup>१</sup> यस्यास्ताम् । कमलजेन तामरसजेन । रजसा परामेण साकम् । एकताम्  
 अभेदरम् । गता यताम् । सरसां जलसहिता स्वादुरसवती वा । सिन्धुं नदीम् । 'वेशे नदविशेषेऽन्वो  
 सिन्धुर्न सरति' इत्यमरः । अलंकृतदिशाम् अलंकृता भूषिता दिशो येषां<sup>२</sup> तेषाम् । सरसा  
 सरोवराणाम् । च० च समूहं च । अलं भूषम् । वहति धरति । वहि प्रापणे लट् । दीपकम्<sup>३</sup> ॥२१॥  
 सुरेति । इह गिरो । सानुभाजः सानु<sup>४</sup> तटं भाजः ( सानु तटं भजते इति सानुभाक्, तस्य ) आश्रितस्य ।  
 वदनसरोरुहमण्डनोद्यतस्य वदनमेव मुखमेव सरोरुह कमल तस्य मण्डने भूषणे उद्यतस्योद्युक्तस्य । सुरयुवति-  
 जनस्य<sup>५</sup> सुरयुवतिरेव जनस्तस्य । विगलिततिमिरासु विगलितं तिमिरं यासा तामु । निशामु<sup>६</sup> रात्रिपु ।  
 संप्रसर्पन् गच्छन् । मृगाङ्कः चन्द्रः । दर्पणः मुकुरः । भवति<sup>७</sup> । लट् । रूपकम् ॥२२॥ नेति । इह गिरो ।  
 कुसुमैः पुष्पैः । परिहताः रहिताः । महीरुहा वृक्षाः । न न मणित । मणिदीपकै रत्नदीपकै । विरहिताः  
 शून्याः । गुहाः गह्वराणि । न न सति । सुरजनैः<sup>८</sup> सुरा एव जना लोकाः तैः । विकला होना । नितम्बभूः<sup>९</sup>  
 सानुप्रदेशः । [ न ] न भवति ( भवति ) । अम्बुकटैः सरोरुहैः । समुल्लिखतं त्यक्तम् । सरः सरोवरः<sup>१०</sup> ।  
 [ न ] न भवति ॥२३॥ इहेति । इह गिरो । कन्दरागोचरैः कन्दरस्य गह्वरस्यागोचरैर्गन्धिष्यैः, कृतमुरताः  
 सन्तः कन्दरान्निर्गताः<sup>११</sup> इत्यर्थः । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः । सुरभिश्चुचिपटैः सुरभिः पश्मिलः शुचि-  
 निर्मलः पटो येषां तैः । कामिनीलम्पटैः कामिनीषु वनितासु लम्पटैरुत्थासक्तैः । अवसितसुरतैः अवसितं  
 संपूर्णं सुरतं येषां तैः । सानुसेवारतैः सानोनितम्बस्य सेवायामाश्रयणे रतैः प्रीतैः । गगनचरैः विद्याधरैः ।  
 समधुकरकतः मधुकराणां भ्रमराणां रतेन ध्वनिना युतः । मारुतः वायुः । सेव्यते भूयते । पेषुड् सेवने

॥२०॥ जिनके किनारोको बालू बर्फको भाँति शुभ्र है और जिनका मधुर जल कमलोको पराग-  
 के साथ एक रूप हो चुका है, न केवल उन नदियोंको ही अपने जन्म दिया है, बल्कि सारी  
 दिशाओंको शोभा बढ़ानेवाले जलाशयोंको भी जन्म देकर यह उन्हें अपनी गोदमें लिए हुए है ।  
 ॥२१॥ शुक्लपक्षकी रातोमें इस पर्वतके शिखरोपर देवांगनाएँ ज्यों ही अपने मुखका शृंगार  
 करने बैठती थी, त्यों ही सामनेसे आया हुआ चन्द्रमा दर्पणको कमीको पूरा कर देता है  
 ॥२२॥ यहाँके वृक्ष पुष्प रहित, गुफाएँ मणिदीपोंसे रहित, मध्यभागको भूमि देवोंसे रहित और  
 सरोवर कमलोंसे रहित नहीं है—यहाँके वृक्ष सदा फूलोंसे अलंकृत रहते हैं, गुफाओंमें मणिदीप  
 जगमगाया करते हैं, मध्यभागके रम्य प्रदेशोंमें देवलोग विराजमान रहते हैं और सरोवरोंमें  
 कमल लहलहाते रहते हैं ॥२३॥ यहाँपर स्त्रीलम्पट विद्याधर लोग सम्भोगके उपरान्त मुग्धव्रत  
 और पवित्र वस्त्र पहनकर गुफाओंसे बाहर निकलते ही शिखरोपर टहलने लगते हैं, और फिर

१. मं नपाण्डरं । २. = सैकतं सिकतामयम् इत्यमरः । ३. = यैः । ४. = यमकम् । ५. श  
 सानु । ६. = सुर-युवतीनां जनो वर्गस्तस्य । ७. = वलक्षपक्षपासु । ८. = जायते । ९. = सुराणां  
 देवानां जना वर्गाः, तैः । १०. = मध्यभागः । ११. वा सरोवरं । १२. = कृतसुरतैः सज्जितः कन्दरान्निर्गतैः ।

अलिनीनिकुरुम्बचुम्बिताम्रैः शिखरेऽस्य स्थलपुण्डरीकवर्णैः ।  
 भवतीव विकासशालिभिर्द्यौर्दितानेकसलाञ्छनेन्दुबिम्बा ॥२४॥  
 विध्यातेऽप्यनिलवशेन मङ्गलार्थं दीपानामिह निकरे लतागृहेषु ।  
 वीक्षन्ते गगनचरा महौषधीनामुद्द्योतै रतिषु वधूमुखाभ्युजानि ॥२५॥  
 मत्वनुपप्लवशिखानिह रत्नदीपान्वात्यन्तरव्यपगमात्पिदधत्करणे ।  
 नेत्रे नितम्बगतवस्त्रहृतां प्रियाणां प्रीत्य भवत्यधिगृहं खचराङ्गनौघः ॥२७॥  
 बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितव्रततिषु निपतन्नस्य तडिल्लतानुकरणक्षमरुचिषु गिरेः ।  
 काञ्चनमेदिनीषु जनयति धिपणां नीलदलोपहारविषयां मधुकरनिकरः ॥२८॥

कर्मणि लट् । यमकम् ॥२४॥ अलिनीति । अस्य गिरेः । शिखरे मृङ्गे । अलिनीनिकुरुम्बचुम्बिताम्रैः अलिनीनां अमरवनितानां निकुरुम्बेण समूहेन चुम्बितमालिङ्गतमग्रं येषां तैः । विकासशालिभिः विकासेन विकसनेन शालिभिः शोभिभिः । स्थलपुण्डरीकवर्णैः स्थलपुण्डरीकाणां स्थलपद्मानां वर्णैः कदम्बकैः । वीः गगनम् । दितानेकसलाञ्छनेन्दुबिम्बा<sup>१</sup> दितं समुद्भूतमनेकेन बहुलेन लाञ्छनेन युक्तमिन्दुबिम्बं यस्याः सा इव । भवति । उत्प्रेक्षा ॥२५॥ विध्यात इति । इह गिरी । गगनचराः विद्याधराः । लतागृहेषु<sup>२</sup> लतासदनेषु । मङ्गलार्थं मङ्गलनिमित्तं मङ्गलमेवार्थः प्रयोजनं यस्य ( तस्मिन् ) । दीपानां प्रदीपानाम् । निकरे समूहे । अनिलवशेन अनिलस्य वायोवशेन । विध्यातेऽपि विनष्टेऽपि । रतिषु रतिक्रीडासु । वधूमुखाभ्युजानि वधूनां वनितानां मुखान्येवाम्बुजानि सरोजानि । महौषधीनां काष्ठज्योतिरादीनाम् । उद्योतैः प्रकाशैः । वीक्षन्ते विलोकयन्ते । ईक्षि दर्शनं लट् । सामान्यालङ्कारः ॥२६॥ मन्वेति । इह गिरी । रत्नदीपान् अनुपप्लवशिखान् अनुपप्लवा निर्वाधा शिखा उवाला येषां तान् । इति मत्वा बुध्वा । गत्यन्तराभावात् गत्यन्तरस्योपायान्तरस्य व्यपगमादभावात् । नितम्बगतवस्त्रहृतां नितम्बगतस्य कटिगतस्य वस्त्रस्य हुकुलम् हृतमपहराणाम् । प्रियाणां दयितानाम् । नेत्रे नयत्रे । करेण हस्तेन । पिदधन्<sup>३</sup> पिनहन् । खचराङ्गनौघः खचराङ्गनानामोघः समूहः । अधिगृहं गुहास्वर्वाधकृत्याधिगृहम्, गुहास्वर्वाधः । प्रीत्य प्रीति-निमित्तम् । भवति । लट् ॥२७॥ बिम्बितं<sup>४</sup> । अस्य गिरेः । बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितव्रततिषु बिम्बिताः पुष्पाणां गुच्छैर्मञ्जरीभिर्निचिता निःस्तरिता व्रतस्थो लता यासु<sup>५</sup> तासु । तडिल्लतानुकरणक्षमरुचिषु तडिल्ल-ताया विद्युल्लताया अनुकरणे क्षमा समर्था रुचिरासां तासु । काञ्चनमेदिनीषु सुवर्णमयभूमिषु । निपतन्

भौरोंका मधुर सगीत सुनते हुए वायु सेवन करते हैं ॥२४॥ इस पहाड़के शिखरोंपर सफेद स्थल कमल खिले हुए है और उनके ऊपर भौरियोंके झुण्ड बैठे हुए हैं । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश, लाञ्छन सहित अनेक ( पूर्णमासीके ) चन्द्रमण्डलों अलंकृत हो ॥२५॥ विद्याधर युवक विवाहके बाद यहाँ आया करते हैं । उनके प्रथम मिलनकी मंगलवेलामें यहाँके लतामण्डपोंमें मंगल दीप जलाये जाते हैं, हवाके झीकेसे वे कभी वृद्ध भी जायें तो भी रतिक्रीडा-के अवसरपर विद्याधर युवक अपनी नववधूका मुखकमल जड़ी-बूटियोंके प्रकाशसे देख लेते हैं । ॥२६॥ यहाँकी गुफाओंमें सम्भोगके अवसरपर विद्याधर लोग ज्यों ही अपनी प्रियाओंके नितम्ब-से वस्त्र हटाते हैं, त्यों ही वे शमिन्दा होकर रत्नद्वीपोंको बुझानेका प्रयत्न करती हैं । पर जब वे नहीं बुझते, तब वे और उपाय न रहनेसे अपने हाथसे पतिकांके नेत्रोंको मूढ़ लेती हैं । यह देखकर वे अपने मन-ही-मन बड़े प्रसन्न होते हैं ॥२७॥ इस पर्वतकी बिजुलीके समान चकाचौध उत्पन्न करनेवाली स्वर्णभूमिमें, जहाँ फूलोंके गुच्छोंसे लदी हुई लताएँ प्रतिबिम्बित हो रही हैं, वहाँ

१. = दितान्येकानि सलाञ्छनानिन्दुबिम्बाणि यस्यां सा । २. = निकुञ्जेषु । ३. = आच्छादयन् ।

४. आ भीतेति । ५. क्ष याषां ।

तटगतासितरत्नविनिश्चुतैरखिरलैः परितो निकरै रुचाम् ।

इह कदाचन मेवकितत्वियो निजर्वाचि न भजन्ति शरदधनाः ॥२९॥

मानोन्मादव्यपनयचतुराश्चैत्रारम्भे विदधति मधुराः ।

यूनामस्मिन्घटितयुवतयो दूतीकृत्यं परभूतरुतयः ॥३०॥

ध्वनञ्जितम्बावनि तारमन्ते गीत्वा प्रियाणां वनिता रमन्ते ।

इहादृतैर्हममहो नमोगैर्निषेव्यते काममहो नमोगैः ॥३१॥

विनमन् । मधुकरनिकरः मधुकराणां भ्रमराणां निकरः निबहः । नीलदलोपहारविषया नीलदलैरिन्द्र-  
नीलमणिभिः कृत उपहारो रङ्गबल्ली स एव विषयो मोक्षो यस्मास्ताम् । विषयां बुद्धिम् ।  
सततम् अनवरतम् । अनयति उत्पादयति । जनेद् प्रादुर्भावे लट् । भ्रान्तिमान् ॥२९॥ तटेति । इह  
गिरी । परितः समन्तात् । तटगतासितरत्नविनिःसृतेः तट सानुं गते<sup>१</sup> रसितैर्नीले रत्नमणिभिर्विनिः-  
सृतैर्निर्गतैः । रुचा कान्तीनाम् । निकरैः समूहैः । मेवकितत्वियः मेवकित<sup>२</sup> इयाम् स्विट् कान्तियेषां  
ते । शरदधनाः शरत्कालमेवाः । कदाचन कस्मिंश्चित् ( अपि ) समये । निजर्वाचि स्वकीयकान्तिम्, शुभ्र-  
कान्तिसित्यर्थः । न भजन्ति नाश्रयन्ति । भज सेवायाम् । लट् । सामान्यालङ्कारः<sup>३</sup> ॥२९॥ मानेति<sup>४</sup> ।  
अस्मिन् गिरी । चैत्रारम्भे चैत्रश्रावणारम्भे प्रारम्भे । मानोन्मादव्यपनयचतुराः मानेन गर्वेण जातोन्मादस्य वित-  
विकारस्य व्यपनये<sup>५</sup> चतुराः प्रोढाः । मधुराः श्रवणप्रियाः । घटितयुवतयः, घटिताः<sup>६</sup> प्रेरिताः युवतयो वनिता  
येषां<sup>७</sup> ते । परभूतरुतयः परभूतानां कीकिलानां रुतयो ध्वनयः । यूनां तरुणानाम् । दूतीकृत्यं दूतयाः कृत्यं  
कार्यम् । विदधति कुर्वन्ति । सन्प्रेसा (?) ॥३०॥ ध्वनञ्जलि । इह गिरी । वनिताः कामिन्यः । प्रियाणां  
व्यमितानाम् । अन्ते समीपे । ध्वनञ्जितम्बावनि ध्वनन्ती नितम्बस्य प्रस्रवस्यावनिभूमि र्यस्मिन् कर्मणि तत्<sup>८</sup> ।  
तारम् उच्चैस्वरम् । गीत्वा ध्वनित्वा । रमन्ते<sup>९</sup> क्रोडन्ते । रमि क्रोशया लट् । आदृतैः प्रीतियुक्तैः । अहो नमोगैः  
अहो नैः संपूर्णभोगिभोगव्यसहितैः । नमोगैः विद्याधरैः । हेममहो स्वर्णमयभूमिः । कामं यथेष्टम् । निषेव्यते

भोरे (साक्षात् फूलोंके गुच्छोंके खोलेमें आकर) आ-आकर मड़राने लगते हैं, और अपने मड़रानेके  
प्रदेशमें दर्शकोंको नीलमणियोंसे पूरे गये चौकका भ्रम उत्पन्न कर देते हैं ॥२८॥ इस पर्वतके  
तटोंपर यत्र-तत्र-सर्वत्र नील मणियोंकी अपूर्व सुषमा बनी रहती है । उन मणियोंकी सघन किरणें  
सभी ओर फैली रहती है । उनसे शरदऋतुके शुभ्र मेघ बिलकुल काले या नीले हो जाते हैं ।  
इस तरह वे यहाँ पर अपनी स्वाभाविक ( शुभ्र ) कान्तिको कभी भी नहीं प्राप्त कर पाते  
हैं ॥२९॥ इस पर्वतपर चैत्रमासमें मानवती युवतियोंके मान जन्य उन्मादको दूर करनेसे चतुर,  
मधुर और बिल्कुड़ी हुई तरुण नायिकाओंको उनके पतियोंसे मिला देनेवाली कीकिलकी बोली  
युवकोंके लिए दूतीका काम देती है ॥३०॥ यहाँपर संगीतज्ञ नायिकाएँ अपने-अपने पतियोंके  
निकट, इसकी पूरी मध्यभागकी भूमिमें गूँज उत्पन्न करनेवाले ढंगसे तारस्वरमें गाना गाकर  
मनोविनोद करती हैं, और समादृत विद्याधर लोग—जो उत्कृष्ट भोग गामभी साधमें लाये हैं—

१. 'सतत' मूलग्रन्थे नास्ति । २ स गतेराश्रितैः । ३. = इयामाकृत्या । ४. = तदपुणा-  
ककारः । ५. आ मन इति । ६. = दूरीकरणे । ७. = संयोजिताः । ८. = याभिस्ताः ।  
९. = क्रोडन्ति ।

व्योम्ना यातः पत्रिणोऽत्र प्रविष्टं रत्नलोण्यां वन्यमाज्जरिपोतः ।

बिम्बं लौह्येनानुबन्धनघत्ते<sup>१</sup> दिव्यस्त्रीणां गन्तुमन्यत्र दृष्टिम्<sup>२</sup> ॥३२॥

अयं मुनिघनोऽघनोदनसहः सहस्तिचमरोऽमरोचिततटः ।

सुराद्रिसदृशो दृशोऽम्बरसदां सदाञ्चितविभो विभो रमयते ॥३३॥

नीलोपलोलसितलोहमरीचिजालसाम्ब्रीकृतान्धतमसेष्विव गङ्गरेषु ।

क्रीडातिरोहिततनूर्युवतीः पतीनां तच्छ्वाससङ्गसुरभिर्विवृणोति वायुः ॥३४॥

आश्रियते<sup>३</sup> । लट् । यमकम् ॥३१॥ व्योम्नेति । अत्र गिरौ । रत्नलोण्यां रत्नमयभूम्याम् । व्योम्ना गगनेन । आयातः गच्छतः । पत्रिणः पक्षिणः । प्रविष्टं<sup>४</sup> प्रतीताम्बरम् । बिम्बं प्रतिबिम्बम् । लौह्येन लाम्पटघेन । अनुबन्धनं आकर्षणम् । वन्यमाज्जरिपोतः वन्यस्य वने जातस्य मार्जारस्य बिडालस्य पोतः शिशुः । दिव्यस्त्रीणां देवबनितानाम् । दृष्टिं नयनम् । अन्यत्र अन्यप्रदेशे । गन्तुं गमनाय । न घत्ते<sup>५</sup> न धरति ( न दत्ते न इदाति ) । दुष्पात्रं धारणे च लट् । भ्रांतिः ॥३२॥ अयमिति । विभो भौ पद्मनाभ । मुनिघनः मुनिभिर्व्यतिभिः घनः सान्द्रः । अघनोदनसहः अघस्य पातकस्य नोदने निराकरणे सहः समर्थः । सहस्तिचमरः हस्तिमिदन्तिमिव चमरैश्चमरमृगैश्च युक्तः । अमरोचिततटः अमराणां देवानामुचितं योग्यं तटं सानुर्यस्य सः । आरचितविभः आरचिता ( अञ्चितविभः अञ्चिता ) प्रशस्ता विभा काम्निः शोभा वा यस्य सः । सुराद्रिसदृशः सुराद्रिर्मरौः सदृशः समानः । अयं गिरिः । अम्बरसदां सुराणाम् । दृशः नयनानि । सदा अनवरतम् । रमयते क्रीडयति । रमि क्रीडायाम् । षिजस्ताल्लट् । यमकम् ॥३३॥ नीलेति । इह गिरौ । नीलोपलोलसितलोहमरीचिजालसाम्ब्रीकृतान्धतमसैषु नीलोपलस्येन्द्रनीलस्योल्लसितानां भासितानां लोलानां चञ्चलानां मरीचीनां काम्नीनां जालेन कदम्बेन साम्ब्रीकृतं निर्गन्तरीकृतमन्धतमसं येषां<sup>६</sup> तेषु । गङ्गरेषु दरीषु । क्रीडातिरोहिततनूः क्रीडया विलासेन तिरोहिता व्यवहिता तनूः गात्रं यासा ताः । युवतीः तरुणीः । तच्छ्वाससङ्गसुरभिः तासां युवतीनां श्वासस्योच्छ्वासस्य सङ्गेन संसर्गेण सुरभिः परिमलसहितः । वायुः मासुतः । पतीनां दमितानाम् । 'स्त्रियोऽत्र

यहाँकी स्वर्णमयी भूमिका भरपूर उपयोग करते हैं ॥३१॥ यहाँ पर रत्नजटित भूमिमें, आकाश-मार्गसे धीरे-धीरे जाते हुए ऐक पक्षीको परछाईं देखकर, जंगली बिलावका बच्चा बड़ी तृष्णासे उसे पकड़नेके लिए बार-बार प्रयत्न कर रहा है, और अपनी इस चेष्टासे आकृष्ट की गयी देवांग-नाओंकी दृष्टिको अन्यत्र नहीं जाने देता है—वे और कुछ न देखकर उसीकी ओर धूर-धूरकर देख रही हैं ॥३२॥ राजन् ! वीतराग मुनियोंसे व्याप्त होनेके कारण यह पर्वत भव्यजीवोंके पापोंको नष्ट करनेमें समर्थ है । यहाँ हाथी और चमरी मृगोंकी बहुलता है । इसके तट देवोंके बिहार करने योग्य हैं । यहाँ सदा प्रकाश रहता है । अतएव यह सुमेरु सरीखा है, और इसी-लिए यहाँ देवी-देवताओंकी दृष्टि रम जाती है ॥३३॥ नीलमणियोंसे निकली हुई चञ्चल किरणोंसे जब यहाँकी गुफाओंमें अन्धकार और भी अधिक गाढ़ हो जाता है, तब युवतियाँ अपने पतियोंसे आँख बचाकर उनके भीतर जा छिपती हैं । उनके पतियोंको जब खोजने पर भी उनके शरीर नहीं दिखाई देते, तब उनकी श्वास वायु ही उनके छिपनेकी सूचना देती है—

१. अ क ख ग घ चत्ते । २. क ख ग घ म दृष्टेः । ३. वा आश्रियते । ४. = पतितं प्रवेशं गतं वा ।

५. 'घत्ते' इति टीकाअवस्थ पाठस्य स्थाने प्रतिषु 'दत्ते' इत्येव दृश्यते । ६. = साधुभिः । ७. = येषु ।



तीरेष्वेताः कुसुमितधानीरालीरालीनलीरनिलरयोद्धृतान्ताः ।

तान्ता धर्मैरचिरतमूलापातीः पातीहायं प्रसृतनदीनोरौघः ॥३३॥

घातिनिर्मथनलब्धकेवला योगिनोऽत्र परिनिविवासवः ।

कुर्वते प्रतरपूरणादिभिः कर्मणां समबलत्वमायुषा ॥३६॥

शिखरमणिशिलानां शास्त्रिशास्त्रान्तरालैः प्रसृतरविकराणामुल्लसन्नरोचिरोघः ।

तडिदनुकृतिकारी शङ्किताम्भोदकालान्मदयितुमलमस्मिन्नोलकण्ठानकाले ॥३७॥

वर्तन्ते' इति विवृणोति विवरणं करोति । वृक्ष वरणे लट् । मित्रयोऽत्र वर्तन्ते इति अनुमितिः ॥३४॥ तीरेष्विति ।  
इह गिरी । आलीनलीः आलीनाः पतिता अल्यो भ्रमरा 'यासा' ता' । अनिलरयोद्धृतान्ताः अनिलस्य बाधो  
रयेण वेगेन उद्धृतः<sup>१</sup> अन्तो<sup>२</sup> मध्यप्रदेशो यासा ताः । तान्ता, म्लाना । तमू रलानी । एताः इमाः । अचिरत-  
मूलापातीः अचिरतं निरन्तरं मूलं बुध्नमापातीरागमनशोलाः । कुसुमितवानागलीः कुसुमिताः पुष्पिष्ठा  
धानीराणां वञ्जुलानामालीः संहतीः । अयम् एषः । प्रसृतनदीनोरौघः प्रसृताः प्रस्यन्दितो नदीनामापगता  
नोराणां जलानामौघः प्रवाहः । पाति रजति । पा रक्षणं लट् । यमकम् ॥३५॥ घातीति । अत्र गिरी ।  
घातिनिर्मथनलब्धकेवलाः घातीनां घातिकर्मणा निर्मथनेन विनाशेन लब्धाः प्राप्ताः । केवला नवकेवललब्धयो  
येषां<sup>३</sup> ते । योगिनः मुनयः । परिनिविवासवः सकलकर्मणि विनाशयितुमिच्छवः । प्रतरपूरणादिभिः प्रतरपूरणे  
वादी येषां तैः, प्रतरपूरणप्रमुखसमुद्घातैरित्यर्थः । आयुषा आयुःकर्मणा । कर्मणा नामाद्यघातिकर्मणाम् ।  
समबलत्वं समानशक्तिवत्म् । कुर्वते विदधति । लट् । स्वभावः ॥३६॥ शिखरंति । अस्मिन् गिरी । शास्त्रि-  
शास्त्रान्तरालैः शास्त्रिना तत्कर्णां शास्त्राणां शिवानामन्तरालैर्मध्ये । प्रसृतरविकराणां प्रसृतः<sup>४</sup> प्रस्यन्दितो रवः  
सूर्यस्य करः किरणो येषां तेषाम्<sup>५</sup> । शिखरमणिशिलानां शिखरे शृङ्गे विद्यमानानां मणिशिलानाम् । उल्लसन्  
भासमानः । रोचिरोघः रोचिषा किरणानामौघः समूहः । तडिदनुकृतिकारी तडिता विलुप्तानम् [ कृति ] कारो  
सन् अनुकरणकारी सन् । अकाले असमये । शङ्किताम्भोदकालान् शङ्कित्वा अशङ्कितोऽम्भोदस्य मेषस्य कालो

श्वासवायुसे वे उनके छिपनेका सङ्केत पाकर उन्हें खोज लेते हैं ॥३४॥ राजन् ! जरा इधर  
भी देखिये, तटों पर यहाँ विकसित वेतके पेड़ खड़े हुए हैं । इनमे भीरे छिपकर बैठे हुए है ।  
इन्हें हवा हिला रही है । ये तेज धूपसे मुग्धायें हुए है । ऐसी स्थितिमे ये जडसे उखड़ जाते,  
किन्तु फेला हुआ यह नदियोंका प्रवाह इन्हें बचाये रहता है—उनकी रक्षा किया करता है  
॥३५॥ राजन् ! यहाँ पर निर्वाणके अभिलाषो मुनियोने चार घातिया ( ज्ञानावरण, दर्शनावरण,  
मोहनीय और अन्तराय ) कर्मोंको नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है । अब ये प्रतर  
और पूरण आदि समुद्घातोंके द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातिया कर्मोंको आयु  
कर्मकी स्थितिके बराबर कर रहे हैं ॥३६॥ इन पर्वतके शिखरों पर मणिमय शिलाएँ पाई  
जाती है । वृक्ष-शाखाओंके बीचसे सूर्य-कर्मणोंके पड़नेपर उनसे बिजुलीकी भांति प्रतीत होनेवाली  
चमचमाती हुई ज्योति निकल पड़ती है, और वह असमयमे ही मयूरोंको वर्षाकालका घोखा  
उत्पन्न करके उन्हें उन्माद उत्पन्न करनेके लिए खूब अच्छी तरह समर्थ हो जाती है ॥३७॥

१. = यासु । २. = कम्पितः । ३. = ऊर्ध्वप्रदेशः । ४. = ये । ५. = प्रसारं गतः । ६. = यासु  
तासाम् ।

तटरुहकुटजावनीरुहाणामतिमहतीषु शिखासु सक्तबिम्बः ।  
 जनयति रजनीषु तारकाणामिह कुसुमस्तवकश्रियं समूहः ॥३८॥  
 निकरै रुचां तिमिरहानिकरैरमितै रवेवियदपारमितैः ।  
 विहृतैः स्फुरन्मणिरुचाविहृतै रजनोष्विव ग्रहपतेरजनि ॥३९॥  
 निष्कान्तैः शिखरचयाभिरन्तरालैरालीढाः सरसिजरागरश्मिजालैः ।  
 श्रीमत्तां दधति दिशो दशान्यमुष्मिन्नीरकैरिव<sup>१</sup> वसनैः परिष्कृताङ्गाः ॥४०॥  
 सेनापतेरिति वचो ललितैकवर्णमाकर्ण्य भूमिपतिरप्रतिवार्यवीर्यः ।  
 तस्मिन्नदीर्घमणिरोचिषि शैलराजे रन्तुं कियन्त्यपि दिनानि बबन्ध बुद्धिम् ॥४१॥

येस्तान् । नीलकण्ठान् मयूरान् । मदयितुं संतोषयितुम् । अल शक्तः ॥३७॥ तटेति । इह गिरी । रजनीषु रात्रिषु । तटरुहकुटजावनीरुहाणां तटरुहाणां सानुभवानां कुटजावनीरुहाणां कुटजभूटानाम् । अतिमहतीषु अश्वपुत्रतासु । शिखासु अग्रभागेषु । सक्तबिम्बः सक्तं संबद्धं बिम्बं मण्डल यस्य सः । तारकाणां नक्षत्राणाम् । समूहः निबहः । कुसुमस्तवकश्रियं कुसुमानां पुष्पाणां स्तवकस्य<sup>२</sup> मञ्जर्याः श्रियं शोभाम् । जनयति उत्पादयति । उत्प्रेक्षा<sup>३</sup> ॥३८॥ निकरैरिति । इह गिरी । तिमिरहानिकरैः तिमिरस्यान्धकारस्य हानिकरैर्नाशकारिभिः । अपारम् अनन्तम् । वियत् आकाशम् । इतैः गतैः । स्फुरन्मणिरुचौ स्फुरन्त्या प्रज्वलन्त्या मणीनां रत्नानं रुचौ कान्त्याम् । विहृतैः बाधितैः प्रतिहृतैर्वा । रवेः सूर्यस्य । रुचां किरणानाम् । निकरैः समूहैः । रजनीषु रात्रिषु । ग्रहपतेः चन्द्रस्य । तैः इव किरणैर्यथा तथा । अजनि अजायत । जन्तुः प्रादुर्भावो लुट् । उपमा ॥३९॥ निष्कान्तैरिति । अमुष्मिन् गिरी । शिखरचयात् शिखराणां कूटानां चयान् निबहत् । निष्कान्तैः निर्गतैः । निरन्तरालैः निरन्तरैः । सरसिजरागरश्मिजालैः सरसिजरागाणां पद्मरागमणीनां रश्मीनां किरणानां जालैर्निकरैः । आलीढा व्याप्ताः । दश अपि दशसंख्या अपि । दिशः कुक्षुभः । नीरवतैः नितरां रश्मिरक्षणवर्णैरित्यर्थः । वसनैः वस्त्रैः । परिष्कृताङ्गा इव परिष्कृतमलङ्कृतमङ्गं वात्रं यासां ता इव । श्रीमत्ता शोभावत्त्वम्<sup>४</sup> । दधति धरन्ति । हुधाजं धारणे च लट् । उत्प्रेक्षा ॥४०॥ सेनापतेरिति । अप्रतिवार्यवीर्यः अप्रतिवार्यं निवारयितुमशक्यं वीर्यं प्रतापो यस्य सः । भूमिपतिः पद्मनाभः । सेनापतेः सेनान्याः । ललितैकवर्णं ललितो मनोहर एको मुख्यो वर्णो वर्णनं यस्य ( ललिता मनोहरा एके मुख्या वर्णा अक्षराणि यस्मिन् ) तत् । वचः वचनम् । इति एवम् । आकर्ण्य श्रुत्वा । उदीर्यमणिर्विषि उदीर्यं व्याप्तं मणीनां रत्नानां रोचिः कान्तितर्यस्य<sup>५</sup> तस्मिन् । शैलराजे मणिकूटपर्वते । कियन्त्यपि वतिपश्याम्यपि । दिनानि दिनपर्यन्तम् । रन्तुं

इस पर्वनके तटवर्ती कुटजवृक्षोंको बहुत लम्बी-लम्बी ऊपरी शिखाओं-चोटियों पर रात्रिके समय लम्बा हुआ तारा-मण्डल, फूलोंके गुच्छोंकी शोभाको उत्पन्न कर देता है ॥३८॥ यहाँ दिनमें खूब चमकमानेवाले मणियोंका तीव्र प्रकाश रहता है । अतः असोम आकाशकी सीमाओं-में फैलकर सूर्यकी जो किरणें अन्धकारको मिटा देती हैं, वे यहाँ आकर हतप्रभ हो जाती हैं, फलतः रात्रिके समय चन्द्रकिरणोंकी जैसी शोभा होती है, वैसी शोभा फैलाने लगती हैं— दिनमें सूर्य चन्द्रसंगीवा हो जाता है, और उसकी किरणें चन्द्रमाकी किरणोंकी भाँति मन्दप्रकाश फैलाया करती है ॥३९॥ राजन् ! इधर भी दृष्टिपात कीजिए, यहाँ शिखरोंके समूहसे निकली हुई पद्मराग मणियोंकी किरणोंने सभी आर लगातार फैलकर दसों दिशाओंको रंग दिया है— लाल कर दिया है, अतः वे ऐसी सुशोभित हो रही हैं; मानो लाल रंगके वस्त्र पहने हों ॥४०॥ सेनापतिके इन सुन्दर वर्णवाले वचनोंकी सुनकर अप्रतिहत शक्तिवाले राजा पद्मनाभने मणियोंकी जगमगाती ज्योतिसे प्रकाशमान उस मणिकूट नामक पर्वतपर कुछ दिन ठहरकर क्रीडा

१. अ 'भारत्तरिव । २. = गुच्छकस्य । ३. = निदर्शना । ४. आ शोभित्वम् । ५. = यस्मिन् ।

संप्रसूता कुसुमवासितविन्विमाणा राजीगिरेरनुतटं विविधद्रुमाणाम् ।

मध्याह्नवर्तिनि रवाद्बुधितभ्रमेण प्रापे सृपेण पृतनाविनिवेशदेशः ॥४२॥

धर्मोद्विन्दुमिरुपाद्धिनभूरिशोभा गण्डस्थलीः पथि विलोकयतः प्रियाणाम् ।

बाधाकरोऽपि शिशिरतररश्मिरासीत्तस्यावनीतलभुजोऽभिमनस्तदानीम् ॥४३॥

द्राघोयसीरविरलं रचिता वणिग्निरग्रे गतैः पटमयापणराजितामताः ।

पश्यन्क्रयाकुलजनाः क्षितिपोऽट्टवीधीरुत्तुङ्गतोरणमियाय निजं निवासम् ॥४४॥

क्रोडितुम् । बुद्धि मतिम् । बन्ध बन्धने लिट् ॥४१॥ संप्रसूयतेति । गिरेः पर्वतस्य । अनुतटं तटस्य वप्रस्य समीपमनुतटम् । 'समीपे' इति समासः । विविधद्रुमाणा विविधाना नानाविधाना द्रुमाणां तरुणाम् । कुसुमवासितविन्विमाणाः कुसुमैः पुष्पैर्वामितः परिमलीकृतो दिशा वक्रुमा विभागो यासां<sup>२</sup> ताः । राभीः श्रेणीः । संप्रसूयता वीक्षमाणेन । रवौ सूर्ये । मध्याह्नवर्तिनि मध्याह्नि ( ह्ने ) मध्याह्नकाले वर्तिनि सति । उदितभ्रमेण उदित उत्पन्नः भ्रमः परिभ्रमो यस्य तेन । नृपेण पद्मनाभेन । पृतनानिवेशदेशः पृतनायाः सेनाया विनिवेशस्य निवसनस्य<sup>३</sup> देशः स्थानम् । प्रापे<sup>४</sup> प्राप्यतेस्म । बाणलु व्याप्तौ कर्मणि लिट्<sup>५</sup> ॥४२॥ धर्मोदिति । धर्मोद्विन्दुभिः धर्मोदस्य स्वेदोदस्य विन्दुभिः कर्णः । उपाहितभूरिशोभाः<sup>६</sup> उपाहिताः स्वीकृता भूरयो बहुलाः शोभाः यासां ताः । प्रियाणा स्त्रीणाम् । गण्डस्थलीः कपोलप्रदेशान् । पथि मार्गे । विलोकयतः पश्यतः । तस्य राजाः । शिशिरतररश्मिः सूर्यः । शिशिरस्थ<sup>७</sup> इतर उष्णो रश्मि किरणो यस्य सः । बाधाकरोऽपि पीडाकरोऽपि । अभिमत इष्ट<sup>८</sup> । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् । धर्मोद्विन्दुकलितनारीबदनदर्शनेन जातशीतस्यापहरणात् सूर्यस्येष्टत्वमिति भावः ॥४३॥ द्राघीति । अग्रे पुरः । गतैः यातैः । वणिग्भिः वाणिजैः । अविरलं निरन्तरं यथा तथा । रचिता विहिता । द्राघोयसी दीर्घतराः । 'प्रिय स्थिर—' इत्यादिना दीर्घशब्दस्य ईयसी-प्रत्यये द्राघो इत्यादेशः । पटमयापणराजितामताः पटमयैर्वस्त्रनिमित्ते-रापणैर्वणिग्भिः राजितो भासितो मध्यप्रदेशो यासा ताः । क्रयाकुलजनाः क्रये वस्तुग्रहणे आकुलाः संकीर्णा जना यापु ताः । अट्टवीधीः<sup>९</sup> पण्यवीधिकाः । पश्यन् वीक्षमाण । क्षितिपः राजा । उत्तुङ्गतोरणम् उत्तुङ्ग-मुन्नतं तीरणं बहिर्द्वारं यस्य तम् । निजं स्वकीयम् । निवासम् आलयम् । इयाय जगाम । इण् गतो लिट् ।

करनेका विचार किया ॥४१॥ फिर राजा पद्मनाभ पर्वतको मुष्मा देखनेके लिए चल पड़ा । उस पर्वतके सभी तटोंपर नाना प्रकारके वृक्षोंकी पंक्तियाँ लगी हुई थी, जिन्होंने अपने फूलोंकी खुशबूसे सारी दिशाओंके अन्तरालको मुगन्धित कर दिया था । उनकी छवि देखते-देखते मध्याह्न हो गया । सूर्य आकाशके ठीक मध्यमें पहुँच गया । राजाको यकानका भी अनुभव होने लगा । तब वह अपनी सेनाको ठहराने योग्य स्थानमे जा पहुँचा ॥४२॥ यों दोपहरका सूर्य सन्ताप देकर सबको पीडा देनेवाला होता है, किन्तु उनमे पसीनेकी वूदोसे गनियोंके कपोलोंको बहुत अधिक सुशोभित कर दिया था । उन्हे देखकर पद्मनाभका चित्त प्रसन्न हो रहा था, और इसीलिए उसे उस समय सबको बाधा देनेवाला भी सूर्य प्रिय लग रहा था ॥४३॥ व्यापारियोंने पहले पहुँचकर बड़े-बड़े बाजारोंकी रचना कर ली थी, जो पास-पासमे कपडे तानकर बनाई गई दूकानोंसे दर्शनीय थी । सभी बाजारोमे ग्राहकोंकी भीड़ लगी हुई भी । सभी बाजारोंको देखता हुआ राजा पद्मनाभ अपने निवासके लिए बनावे गये उस भवनमें जा पहुँचा, जिसके आगे बहुत

१. आ आ इ पश्यन् क्रिया । २. = याभिः । ३. आ 'निवसनस्य' इति नास्ति । ४. आ श प्रापि ।

५. आ लुङ् । ६. = उपाहिता विहिता भूरिशोभा यासां ता । ७. = शिशिराद् । ८. = हट्टवीधिकाः । 'अट्टो हट्टाट्टालकयोः' अनेका ० २।८१ ।

यान्तीमिरात्मनिलयाथ तुरङ्गिणीभिः सामन्तसंहतिमिरीश्विसर्जिताभिः ।

वेलाभिरुद्धतरङ्गविमङ्गुमिरलुभ्यद्रम्बुधिरिव ध्वजिनीनिवेशः ॥४५॥

राजाधिराजवसतेर्हयमन्दुरायाः पण्याङ्गनापरिषदो विपणिव्रजस्य ।

पर्याकलस्य परितो विनिवेशदेशं स्वावासमूमिरनुवासिजनेन जज्ञे ॥४६॥

वेश्यागणाः परिचितानुपचारहेतोरध्वश्रमातुरत्तननुपालयन्तः ।

द्वारस्थिताः पटमयस्वनिवासपङ्क्तेर्वास्तव्यवहृदशिरे पृतनाजनेन ॥४७॥

प्रासन्निरादुरपरिश्रमस्त्रिजङ्गः पर्युहितुं निजनिवासपदान्यशक्तः ।

बभ्राम मुग्धधिपणः परितः स्ववर्म्ययाहारनादनिहितश्रवणो जनौघ ॥४८॥

जातिः ॥४४॥ यान्तीमिरिति । ईशविस्मृताभिः ईशेन राजा विस्मृताभिः प्रहिताभिः । आत्मनिलयाय स्वगुहाय । यान्तीभिः गच्छन्तीभिः । तुरङ्गिणीभिः अश्वयुक्ताभिः । सामन्तसंहतिभिः सामन्तानां राज्ञां संहतिभिः समूहैः । ध्वजिनीनिवेशः ध्वजिण्याः सेनाया निवेशो निवासस्थानम् । उद्धतरङ्गविमङ्गुभिः उद्धतः प्रवृद्धेस्तरङ्गैः कल्मलेविषङ्गुराभिवर्कभिः । वेलाभिः<sup>२</sup> जलविकारैः । अम्बुधिरिव समुद्र इव । अनुभ्यत् क्षुभ्यतिस्म ॥४५॥ राजेति । राजाधिराजवसतेः राजाधिराजानां वा वसतेर्मन्दिरस्य । हयमन्दुराणां हयानां वाजिनां मन्दुराणां शालानाम् । पण्याङ्गनापरिषदः पण्याङ्गनानां गणिकानां परिषदः समूहस्य । विपणि-व्रजस्य<sup>३</sup> विपणीनां पण्यवीथीनां व्रजस्य समूहस्य । विनिवेशदेशं निवासप्रदेशम् । परितः समन्तात् । पर्याक-लस्य<sup>४</sup> । अनुयायिजनेन पश्चादागतेन जनेन प्रजया । स्वावासभूमिः स्वस्यात्मन आवासभूमिर्निवासभूः । जज्ञे जायते स्म । जा अवबोधने कर्मणि लिट् ॥४६॥ वेश्येति । अध्वश्रमातुरत्तनून् अध्वश्रमाः मार्गश्रमाद् आतुरा पीडिता तनूः शरीरं येषां तान् । परिचितान् परिचययुक्तान् । उपचारहेतोः उपचारस्य<sup>५</sup> विनयस्य हेतोर्निमित्तम् । अनुपालयन्तः वीक्षमाणाः । पटमयस्वनिवासपङ्क्तेः पटमयानां वस्त्रमयानां स्वनिवासानां निजनिलयाणां पङ्क्तेः श्रेण्याः । द्वारस्थिताः<sup>६</sup> द्वारेषु स्थिता आसिताः । वेश्यागणाः वेद्यानां गणिकानां गणाः समूहाः । पृतनाजनेन पृतनायाः सेनाया जनेन । वास्तव्यवत् प्राक् स्थिताः<sup>७</sup> इव । दृष्टिरे वीक्ष्यन्ते स्म । दृष्टुं वीक्षणे<sup>८</sup> कर्मणि लिट् । उपमा ॥४७॥ प्रास इति<sup>९</sup> । उरपरिश्रमस्त्रिजङ्गः उरणां महुता परिश्रमेणायासेन स्त्रिषु बाधिते जङ्घे यस्य सः । चिरात् कालविलम्बात् । प्राप्तः आयातः । निजनिवासपदानि निजस्य स्वस्य निवासस्था-

बड़ा दरवाजा-प्रवेश द्वार बनाया गया था ॥४४॥ राजा पद्मानाभको ठहराकर और फिर उनसे बिदा लेकर सभी सामन्त घोड़ोंपर सवार होकर अपने-अपने ठहरनेके स्थानमें चले गये । सामन्तों-के उछलते हुए घोड़ोंसे पड़ाव ऐसा सुशोभित हो रहा था, जैसे समुद्र, उत्ताल तरङ्गोंवाले ज्वार-भाटेसे सुशोभित होता है ॥४५॥ राजाधिराज पद्मानाभ एवं अन्य सामन्तोंके निवास भवनोंको, घुड़सालको, और गणिकाओंके गण तथा बाजारोंके स्थानोंको सभी ओरसे देखकर पीछे आने वाले प्रजाके लोगोंने यह जान लिया कि हम सभीके ठहरनेका यही स्थान है ॥४६॥ मार्गके परिश्रमसे थके-मादे पूर्व परिचित लोगोकी परिचर्या करनेके लिए उनकी प्रतीक्षा करनेवाला जो गणिकाओंका गण अपने-अपने तम्बुओंकी अगली पंक्तिमें खड़ा हुआ था, उसे सैनिकोंने वहीका निवासी समझा ॥४७॥ कुछ और लोग, जो सबसे पीछे आये थे, और अत्यधिक परिश्रमसे जिनकी जंघाएँ भर आई थीं—बहुत ही अधिक थक चुकी थीं, वे अपने डेरोंका स्थान खोजने-

१. अ आ इ पर्याहितुं । २. श 'वेलाभिः' इति नोपलभ्यते । ३. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'विपणिध्वजस्य' इत्येवावलोक्यते । ४. = समकलोक्य । ५. = परिचर्यायाः । ६. टीकाया 'द्वारस्थिताः' मूलप्रतिषु च 'द्वारि स्थिताः' इति वृक्ष्यते । ७. = तत्रत्याः । ८. आ दृष्टिर् प्रेक्षणे । ९. आ श प्राप्तेति ।

प्रत्यग्रपाकधितं सुरभीकृताशमाधाय चित्तहरमिद्वुरिकोदियन्धम् ।  
 पर्याकुलं कटकमिः समुपगजङ्गिः क्षुत्तामकुक्षिभिरजायत धाम कन्धाः ॥४६॥  
 शैलानिलः शिथिलकम्पितवेवदारुच्छाच्छुभिर्भरपयःकणसङ्गशीतः ।  
 मार्गश्रमठययपटुः पटमण्डपं स्थैर्मिद्रालसैर्वसुमतोपतिभिः सिपेवे ॥४७॥  
 प्रस्वेदफेनलवविच्छुरिताङ्गरेखैरुत्तीर्णपल्ययनभूरिभरैस्तुरङ्गैः ।  
 भूवेक्ष्णाय परितः परिवर्तमानैरावर्तमानिव बभौ शिविराम्बुराशिः ॥४९॥

वासस्य पवानि स्वानानि । पर्याहितुं<sup>१</sup> विचारयितुम् । अशक्तः असमर्थः । मुखविषणः मुग्धा मूढा विषणा बुद्धियस्य सः । स्ववर्ग्यव्याहारनादनिहितश्रवणः स्ववर्ग्याणां स्वसंबन्धजनना व्याहारस्य वचनस्य नादे ध्वनौ निहिते न्यस्ते श्रवणे येन सः । जनोषः जनानां लोकानामोषः समूहः । परितः समन्तात् । बभ्राम भ्रमति स्म । भ्रमू चलने लिट् । जाति ॥४८॥ प्रत्यग्रैति । प्रत्यग्रपाक<sup>२</sup>धितं प्रत्यग्रण नूतनेन पाकेन<sup>३</sup> धितं विस्तृतम् । सुरभीकृताश्च सुरभीकृताः परिमलकृता आशा दिशो येन तम् । चित्तहरं मनःप्रोतम् । इद्वुरिका<sup>४</sup>दियन्धम् इद्वुरिका<sup>५</sup>दीनां भद्राभेदानां गन्धं परिमलम् । आधाय उपादाय । पर्याकुलं व्याकुलम् । समुपगजङ्गिः समुपगच्छङ्गिः । क्षुत्तामकुक्षिभः क्षुत्ता क्षामः कुषाः कुक्षिद्वरं येषां तैः । कटकमिः यन्ताजनैः । कन्धाः<sup>६</sup> खण्डाः<sup>७</sup> । धाम स्थानम् । [ पर्याकुलम्<sup>८</sup> ] अजायत अभवत् । लङ् । जातिः ॥४९॥ शैलेति । शिथिलकम्पितवेवदारुः शिथिल मन्दं कम्पितं<sup>९</sup> इच्छालितो देवदारुदेवदारुवृक्षो यस्य<sup>१०</sup> सः । अच्छाच्छानिर्भरपयः-कणसङ्गशीतः अच्छाच्छस्यात्यन्तनिर्मलस्य निर्भरस्य प्रवाहस्य पयसो जलस्य कणानां लेहानां सङ्गेन संसर्गेण शीतः शीतलः । मार्गश्रमठययपटुः मार्गज्जातस्य श्रमस्वायासस्य व्यये विनाशे पटुः समर्थः । शैलानिलः शैलस्या-निलो वायुः । पटमण्डपं<sup>११</sup> स्थैः दृढस्थितिः । मिद्रालसैः<sup>१२</sup> मिद्रायामलसीरूपैः । वसुमतोपतिभिः भूमिपालैः । सिपेवे भज्यते स्म । पेज्जु सेवने कर्मणि लिट् । जातिः ॥५०॥ प्रस्वेदेति । प्रस्वेदफेनलवविच्छुरिताङ्गरेखैः प्रस्वेदस्य<sup>१३</sup> घर्मस्य फेनस्य विच्छुरितस्य लवैः कणविच्छुरिता अङ्गस्य<sup>१४</sup> अवयवस्य रेखा शोभा येषां तैः । उत्तीर्ण-पल्ययनभूरिभरैः उत्तीर्णोऽवरोहितः पल्ययनस्य पर्याणस्य भूरिवृद्धो भरौ<sup>१५</sup> येषां तैः । भूवेक्ष्णाय भुवि भूमौ वेक्ष्णाय विलोहनाय । परितः समन्तात् । परिवर्तमानैः परिभ्रमङ्गिः । तुरङ्गैः<sup>१६</sup> अश्वैः । शिविराम्बुराशिः

मैं असमर्थ थे । अतएव वे भोले-भाले लोग अपने वर्गके लोगोंकी पुकारकी आवाज सुननेकी प्रतीक्षामें इधर-उधर चक्कर काटने लगे ॥४८॥ भोजनालयमें ताजा पक्का भोजन बन रहा था । पूरियो एव और-और पकवानोंकी मनोहर खुशबूकी—जिसने सारी दिशाओंको सुगन्धित कर दिया था—सूँघकर अत्यन्त भूखे सैनिक बड़ी तेजीसे आगे बढ़े, और उनके पहुँचते ही हलवाईयोंका सारा-का-सारा स्थान घिर गया ॥४९॥ मिद्रासे अलसाये हुए राजाओंने अपने-अपने तन्त्रुओंमें मणिकूट पर्वतकी उस वायुका सेवन किया, जो धीरे-धीरे देवदार वृक्षोंकी हिला रहो थी अर्थात् उनके स्पर्शसे सुगन्धित थी, अत्यन्त स्वच्छ झरनोंकी जल बिन्दुओंसे ठण्डी थी और इसीलिए रास्तेकी घकानकी दूर करनेमें समर्थ भी ॥५०॥ धोड़ोंके शरीरमें पसीने पर लगी हुई फेनकी छोटी-छोटी बिन्दुओंसे अपूर्व शोभा उत्पन्न हो गई थी । उनके ऊपरसे जोन

१. अ. मिण्डरिका, आ. मिड्वरिका, इ. सिद्वरिका । २. म. रज्ञायत । ३. अ. आ इ क ख ग घ कण्वाः । ४. म. मण्डलस्य । ५. श. पर्याहितुं । ६. श. प्रत्यग्रवात । ७. श. वातेन । ८. म. मनोहरम् । ९. आ इन्दुरिका । १०. आ इन्दुरिका । ११. आ कुण्डा, श. कण्डवा । १२. आ भर्जाः । १३. = धुवधं व्याप्तं वा । १४. = विधुतः । १५. = येन । १६. आ मण्डल । १७. = मिद्रया अलसैः सालसैः । १८. = घर्मजलस्य । १९. = शरीरस्य रेखाः पङ्क्तयः । २०. = भारो ।

अन्योन्यदर्शनसमुच्चरितेन<sup>१</sup> भूयः संमूर्च्छताद्विचित्रे ह्यहेषितेन ।  
 सेनाचरैर्बधिरितश्रुतिभिर्मुहूर्तं मूर्कैरिव प्रकृतवस्तुकथासु तस्ये ॥५२॥  
 मध्येजलं प्रकटचञ्चलपृष्ठभागे पानाय सत्तिनिकरे परितोऽवतीर्णं ।  
 संचारिताद्रिसदृशैः शखिलाशयानां प्राचुर्यवद्भिरिव वीचिचयैर्बभूवे ॥५३॥  
 पीताम्भसः श्रमलवानिव वारिबिन्दुव्याजेन बाजिनिवहाः स्नपिताः स्नरन्तः ।  
 संयेमिरे युगपदेव समापतन्तः क्षितोलपास्वथ<sup>२</sup> कथंचन मन्दुरासु ॥५४॥

शिबिरमेवाम्बुराशिः समुद्रः । रूपकम् । आवर्तवानिव<sup>३</sup> रोमावर्तयुवत इव । बभौ भाति स्म । लिट् ।  
 उत्प्रेक्षा ॥५१॥ अन्योन्येति । भूयः भूयम्<sup>४</sup> । अन्योन्यदर्शनसमुच्चरितेन<sup>५</sup> अन्योन्यदर्शनेन परस्परदर्शनेन  
 समुच्चरितेन समुद्भूतेन । अद्विविचरे अद्वेः पर्वतस्य विचरे गुहायाम् । संमूर्च्छता प्रतिध्वनिं कुर्वता । ह्यहेषि-  
 तेन ह्ययानां तुरगाणां<sup>६</sup> हेषितेन रवेण । बधिरितश्रुतिभिः बधिरिते श्रुती कर्णौ येषां तैः । सेनाचरैः ध्वजि-  
 नीचरैः<sup>७</sup> । प्रकृतवस्तुकथासु प्रकृतस्य प्रस्तुतस्य वस्तुनः कार्यस्य कथासु कथनेषु । मुहूर्तं मुहूर्तपर्यन्तम्  
 मूर्कैरिव अभाषणैरिव । तस्ये आस्यते स्म । छा गतिनिवृत्तौ भावे लिट् । उपमा ( उत्प्रेक्षा ) ॥५२॥  
 मध्ये जलमिति । [मध्ये जलं] जलस्य मध्य मध्येजलं तस्मिन्, जलमध्ये, इत्यर्थः । 'पारे मध्येऽन्तश्चष्टया' इति  
 साधुः । प्रकटचञ्चलपृष्ठभागे प्रकटो ध्वजतः चञ्चलः पृष्ठभागे यस्य तस्मिन् । सत्तिनिकरे सप्ति ( पत्नी )  
 नामववानां निकरे निवहे । पानाय पाननिमित्तम् । परितः समन्तात् । अवतीर्णौ<sup>८</sup> सति याते<sup>९</sup> सति ।  
 संचारिताद्रिसदृशैः संचारिण्यां<sup>१०</sup> चलनयुक्तानाम् । अद्रोणा पर्वतानां सदृशैः समानैः प्राचुर्यवद्भिः बाहुल्यसहितैः ।  
 शखिलाशयानां जलाशयानाम् । वीचिचयैरिव वीचीना तरङ्गाणां चयैरिव निकरैरिव । बभूवे भूयते स्म । भावे  
 लिट् । उपमा<sup>११</sup> ॥५३॥ पीतेति । अथ बाजिनां जलपानगमनान्तरम्<sup>१२</sup> । पीताम्भसः पीतं सेवितम्भम्<sup>१३</sup> यैस्ते ।  
 स्नपिताः मज्जिताः<sup>१४</sup> । युगपदेव सकृदेव । समापतन्तः<sup>१५</sup> लङ्घयन्तः वारिबिन्दुव्याजेन<sup>१६</sup> वारिणो जलस्य बिन्दुरिति  
 कण इति व्याजेन । श्रमलवान् श्रमलेशान् शन्त इव बिभुञ्चन्त इव । बाजिनिवहा बाजिनामश्वानां निवहाः

तथा और जो भी बांस था, उतार लिया गया और पृथ्वी पर लोट लगवानेके लिए उन्हें गोल  
 दायरोमें घुमाया जा रहा था । उनसे पड़ाव रूपी समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो वह बड़ो-  
 बड़ो भँवरोंसे युक्त हो ॥५१॥ एक दूसरेको देखकर घोड़े हिनहिनाने लगे । पहाड़की गुफाओंमें  
 प्रतिध्वनित होनेसे उनकी हिनहिनाहटकी आवाज और भी अधिक बढ़ गई । फलतः सेनामें  
 सञ्चार करनेवाले लोगोंके कान बहरे हो गये, अतः वे अपनी प्रारम्भकी गई चर्चाओंमें कुछ  
 समय तक, मूक-से होकर चुप-चाप बैठकर रह गये—उन्होंने आपसकी चर्चा बन्द कर दी  
 ॥५२॥ पानी पीनेके लिए घोड़ोंका झुण्ड, जब चारों ओरसे जलाशयोंमें उतरकर उनके बीच  
 तक पहुँच गया, तब उनकी चञ्चल पीठ स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रही थी । उनकी पीठकी  
 चञ्चलताके कारण उन जलाशयोंमें बड़ो-बड़ो लहरें प्रचुर मात्रामे उत्पन्न हो गईं, जो  
 जङ्गम पहाड़ियों सरीखी प्रतीत हो रही थीं ॥५३॥ जल पीनेके बाद नहलाये गये घोड़े जब  
 जलाशयोंसे निकलकर बाहर आ गये, तब उनके शरीरसे जल-बिन्दु टपक रहे थे, जो  
 पसीनेके बिन्दुओं सरीखे जान पड़ते थे । फिर वे एक ही साथ घुड़सालोंमें घुसने लगे ।

१. क ख ग घ म<sup>१</sup> मूर्च्छलितेन । २. आ इ संचारिता<sup>२</sup> । ३. आ इ<sup>३</sup> लवास्वथ, क ख ग घ म<sup>४</sup> पला-  
 स्वथ । ४. = 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरवचनादत्राम्भसा भ्रम इव—इति स्यात् । ५. आ 'भूयः भूयम्'  
 इति नास्ति । ६. मूलप्रतिपु तु 'समुच्चलितेन' इत्येव वर्तते । ७. सा तुरङ्गाणां । ८. आ ध्वजनीभिः । ९. =  
 स्वल्पकालं यावत् । १०. = प्रविष्टे । ११. आ संयाते । १२. = अङ्गमानाम् । १३. = उत्प्रेक्षा च । १४. आ जल-  
 पानान्तरम् । १५. सा मज्जिताः । १६. = समुत्तरन्तः । १७. = वारिणोजलस्य बिन्दुना कणानां व्याजेन चलेन ।

तोयावगाहचलितैर<sup>१</sup>लिनीलदेहैरुत्सारितध्वजकुयाभरणास्त्रभारैः ।  
 कल्पान्तमारुतपरिक्षुभितैरिवाद्रिराजै<sup>२</sup> रराज वसुधा वरवारणेन्द्रैः ॥५४॥  
 यानि द्विपेन्द्रनिबहो निजपुष्कराणि संजाततुष्टिरुदमीमिलदम्बुमग्नः ।  
 तान्येष सैनिकविलुण्ठितधारिजेषु रक्ताम्बुजधियमधुः सलिलाशयेषु ॥५६॥  
 कुर्वन्ति यामनुकृताचलतुङ्गशृङ्गाः सन्ध्यारुणाभ्रनिबहा नभसस्तरेषु ।  
 सा श्रीहृदेषु सरितां विवधे विशद्भिः सिन्दूररागरुचिरावयवैर्गजेन्द्रैः ॥५७॥

समूहाः । क्षिप्तोलपामु<sup>३</sup> क्षिप्ताः स्थापिता उलपाः तृणादयो यासु तासु । मन्दुरासु वात्रिशालासु । कर्षवन्  
 कषमपि । संवेमिरे बध्यन्ते स्म । यम उपरमे कर्मणि लट् । उपमा<sup>४</sup> ॥५४॥ तोयेति । तोयावगाहचलितैः  
 तोयस्य जलस्वावगाहाय प्रवेशाय चलितैर्वर्तैः । अलिनीलदेहैः अलय इव नीलाः कृष्णा वेदाः शरीराणि येषा  
 तैः । उत्सारितध्वजकुयाभरणास्त्रभारैः उत्सारिता अवरोहिता<sup>५</sup> ध्वजाः पताकाः कुयाः करिकम्बलाः  
 आभरणाभ्यलङ्कारा अस्त्राणि दन्तलङ्कास्तेषा भारो येषा तैः । वरवारणेन्द्रैः वरैस्तमैर्वारणेन्द्रैर्गजेन्द्रैः ।  
 कल्पान्तमारुतपरिक्षुभितैः कल्पान्तस्य युगावसानस्य मारुतेन संवर्तकवायुना परिक्षुभितैश्चालितैः । अद्रिराजैरिव  
 अद्रोणां पर्वतानां राजभिरिव । वसुधा भूमिः । रराज बभौ । लिट् । उत्प्रेषा ॥५५॥ यानीति । अम्बुमग्नः  
 अम्बुनि जले मग्नो लोनः । संजाततुष्टिः संजाता संभूता तुष्टिर्यस्य<sup>६</sup> स । द्विपेन्द्रनिबहः द्विपेन्द्राणां निबहो  
 विकरः । यानि निजपुष्कराणि स्वहस्ताग्राणि । उदमीमिलत् उदधीचरत्<sup>७</sup> । मिल निमेषणे णिजन्ताल्लङ् ।  
 तान्येष निजपुष्कराभ्येव । सैनिकविलुण्ठितधारिजेषु सैनिकैः सेनाचरैर्विलुण्ठितानि लुञ्चितानि<sup>८</sup> वारिजानि  
 कमलानि येषु<sup>९</sup> तेषु । सलिलाशयेषु जलाचारेषु । रक्ताम्बुजधिय रक्तानामरुणानामम्बुजानां कमलानां ध्रियं  
 शोभाम् । अधुः धरन्ति स्म । दुष्पाञ् धारणे च<sup>१०</sup> लङ् ॥५६॥ कर्षन्तीति । अनुकृताचलतुङ्गशृङ्गाः अनुकृतानि  
 दृष्टान्तीकृतानि अचलानां पर्वतानाम् इव तुङ्गान्युन्नतानि शिखराणि येषा<sup>११</sup> तैः । सन्ध्यारुणाभ्रनभसः  
 सन्ध्यायां सन्ध्याकालेऽग्रे लोहितमभ्र मेघा यस्य तस्य ( सन्ध्यारुणाभ्रनिबहाः सन्ध्यायाः सन्ध्याकालस्यारुणां  
 ताम्रवर्णानामरुणवर्णानां वाआनां मेघानां निबहाः समूहाः ) । नभसः आकाशम्य । तटेषु प्रदेशेषु । या शोभाम् ।  
 कुर्वन्ति विदधति । लट् । सरिता नदानाम् । हरुषु अगाधजलेषु । विशद्भिः गच्छद्भिः । सिन्दूररागरुचिरावयवैः

वहाँ उनके बाँधनेके लिए पहलेसे ही बड़े-बड़े पत्थर डाल दिये गये थे, उनसे वे बड़ी  
 कठिनाईसे बाँध दिये गये ॥५४॥ ध्वजाएँ, झूल, आभूषण और अस्त्र—इन सबका बोझ  
 उतारकर जब भौरोके समान काले शरीरवाले श्रेष्ठ हाथी जलमें प्रवेश करनेके लिए चले तब  
 उनसे व्याप्त हुई पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानो वह प्रलयकालकी बापुकी प्रेरणासे लुढ़कने-  
 वाले पहाड़ोंसे घिर गई हो ॥५५॥ जलाशयोके जलमें प्रवेश करके हाथियोंके झुण्डने डुबकी  
 साध ली । इससे उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ । इस अवसरपर उन्होंने अपनी-अपनी सूड़के जिन  
 अगले भागोंको जलके ऊपर ( स्वास लेनेके लिए ) कर रखा था, उन्होंने सैनिकोंके द्वारा जला-  
 शयोके तोड़े गये कमलोंके स्थानमें नवीन लाल कमलोंकी शोभा उत्पन्न कर दी ॥५६॥ पहाड़ोंके  
 उन्नत शिखरोंका अनुकरण करनेवाले सन्ध्याकालीन लाल बादल आकाशके ओर-छोरके भागोंमें  
 जो शोभा फैलते हैं, उसी शोभाको सिदूरसे रंगे हुए सुन्दर अवयवोंको धारण करनेवाले गज-

१. क ख ग घ म<sup>१</sup> गाहर्चाकतैः । २. क ख ग घ म<sup>२</sup> द्रिकृटं । ३. आ क्षिप्तोलपामु । 'उलपस्तु  
 गुल्मिनीतृणभेदयोः' अनेका० ३।४६९ । ४. = कैतवापङ्गुतिवच । ५. आ 'उत्सारिता अवरोहिताः' इति  
 नास्ति । ६. वा तुष्टिः पुष्टिर्यस्य । ७. आ 'उदधीचरत' इति नास्ति । ८. = अपहृतानि । ९. = येषा ।  
 १०. आ धारणपोषणयोः । ११. = वैः ।

जज्ञे पयः प्रविशतः सुतरं यदेव भूभृत्सरित्सु पृतनाकरिणां कुलस्य ।

गण्डस्थलप्रविगलमन्दपूरपूर्णमासीसदेव सुदुरुत्तरमुत्तितीर्थोः ॥१८॥

कृत्वा क्षणं जनकतूहलकारि युद्धं दर्पोद्धरैर्जलगर्जैर्जितकाशिनस्ते ।

जम्बुः सलीलमदमन्दपदं करेणुपाश्चात्यभागनिहितात्मकराः करीन्द्राः ॥१९॥

वन्धेभगण्डकषणाहितदानगन्धे नीतस्तरी नियमनाय करी नियन्त्रा ।

रोषाद् वमञ्ज निजतापनुदोऽस्य शाखा न श्रेयसे क्षलु भवत्यपदेऽपि कोपः ॥२०॥

सिन्दूररागेण वर्णेन रुचिरो मनोहरोऽवयवो येषां तैः । गजेन्द्रैः द्विपेन्द्रैः । सा श्रीः सा शोभा । विदधे क्रियते स्म । कर्मणि लट् ॥१७॥ जज्ञे इति । यदेव । भूभृत्सरित्सु भूभृतो गिरैः सरित्सु नदीषु । पयः सलिलम् । प्रविशतः गच्छतः । पृतनाकरिणां पृतनायाः सेनायाः करिणां गजानाम् । कुलस्य निकरस्य । सुतरं सुखेन तरणयोग्यम् । जज्ञे जायते स्म । जनैश्च<sup>२</sup> प्रादुर्भवति लिट् । तदेव<sup>३</sup> । गण्डस्थलप्रविगलमन्दपूरपूर्णं गण्डस्थलात् कपोलप्रदेशात् प्रविगलतः प्रक्षलतो मदस्य मदजलस्य पूरेण प्रवाहेन पूर्णं परिपूर्णम् । उत्तितीर्थोः उत्तर्तुमिच्छोः । सुदुरुत्तरं कष्टेनोत्तरणयोग्यम् । आसीत् । असं भुवि लट् ॥१८॥ कृत्वेति । दर्पोद्धरैः दर्पेण गर्वेणोद्धरैः प्रवृद्धैः । जलगजैः जज्ञे समुद्भूत ( तैः ) गजैः । जनकतूहलकारि जनानां सेनाजनानां कुतूहलकारि आश्चर्यकारि । युद्धं योधनम् । क्षणं स्वल्पकालपर्यन्तम् । कृत्वा विधाय । जितकाशिनः जितमानिनो ब्रितसन्नामिणो वा । करेणु-पाश्चात्यभागनिहितात्मकराः करेणूनां करिणीनां पादचास्ये पदचाद्भवे माने निहिताः स्थापिता आत्मनां स्वेषां कराः येषां<sup>४</sup> तैः । करीन्द्राः गजेन्द्राः । सलीलमदमन्दपदं सलीलं विलासयुक्तं मदेन मदजलेन मन्दमलसं पदं यस्मिन् कर्मणि तत् ० । जम्बुः ययुः । लिट् । जातिः ॥१९॥ वन्धेभेति । वन्धेभगण्डकषणाहितदानगन्धे वन्ध्यानां वनेप्रधानामिधानां गजानां गण्डानां कपोलानां कषणेन कर्षणेनाहितः संबद्धो दानस्य मदजलस्य गन्धो यस्मिन् तस्मिन् । तरी वृक्षे । नियन्त्रा हस्तिपकेन । नियमनाय बन्धाय । नीतः प्रापितः । करी गजः । निजतापनुदः निजस्यात्मनस्तापस्य नुदो विनाशकस्य । अस्य तरौः शाखाः शिखाः<sup>५</sup> । रोषात् कोपात् । वमञ्ज मञ्जन् करोतिस्म । भञ्जो<sup>६</sup> अवमर्दने लिट् । अपदेऽपि अस्थानेऽपि । कोपः क्रोधः । श्रेयसे सुखाय ।

राजोंने उन सरोवरोंके किनारोंपर उत्पन्न कर दिया, जिनके अगाध जलमें वे प्रवेश कर रहे थे ॥१७॥ पहाड़ी नदियोंमें प्रवेश करनेवाले सेनाके हाथियोंके झुण्डको उन ( नदियों ) का जो जल आसानीसे तैरने योग्य था, वही उन ( हाथियों ) के गण्डस्थलोंसे बहे हुए मदजलके प्रवाहसे पूर्ण होकर ( बाढ़ जैसी अवस्थाको पाकर ), लौटनेकी इच्छा करनेवाले हाथियोंके उसी झुण्डको आसानीसे तैरने योग्य नहीं रहा ॥१८॥ दर्पमें चूर रहनेवाले उद्धत जलहस्ति-योंके साथ, थोड़ी देर, सैनिकोंको कौतूहलजनक युद्ध करके विजयका गर्व करनेवाले वे गजराज हाथिनियोंके पिछले भागोंपर अपनी-अपनी सूँढ़ रखकर विलासपूर्ण मन्दगतिसे अपने स्थानकी ओर चल पड़े ॥१९॥ जङ्गली हाथीने अपना गण्डस्थल जिस पेड़से घिसा था और अपने मद-जलकी गन्धसे सुगन्धित कर दिया था, उसीसे बाँधनेके लिए महावत एक हाथीको लिवाकर ज्योंही पहुँचा, त्योंही उसने क्रुद्ध होकर अपने सन्तापको मिटानेवाले उसी पेड़की सारी शाखाओं-को तोड़ डाला । बादमें उसे स्वयं गर्मी सहनी पड़ी । सच है अयोग्य स्थानमें भी किया गया

१. क ख ग घ म दर्पोद्धरैः । २. आ जनी । ३. = पयः । ४. = यैः । ५. शा शिखाः ।

६. आ भञ्ज ।



आनीलनीरदनिभैः प्रविश्या लवणैर्नगैः प्रवृत्तमदनिरवारिपूरैः ।

रेजे समुन्नतमहोरुहमूलबद्धैर्जङ्गमैरिव निजावयवैर्गिरिन्द्रः ॥६१॥

यत्सल्लकीकिसलयं रुचये रुचिञ्चा प्रासान्तरेषु ददिरं खलु हस्तिपालाः ।

तत्प्रत्युताहितवनस्मृति वारणेन्द्रं सावज्ञमेव कवलग्रहणे चकार ॥६२॥

उत्तीर्णमारलघवः परितो महोक्षाः पोताम्भसः भ्रमभिदां नगनिम्नगानाम् ।

कूलानि बभ्रमुदवारवाः खनन्तः शान्त्य भवत्युपकृतं क खलप्रियेषु ॥६३॥

न भवति खलु । अर्थान्तरन्यासः ॥६०॥ आनीलेति । आनीलनीरदनिभैः आनीलानामासमन्तानीलानां कृष्णना नीरवानां मेघानां निभैः समानैः । प्रविशालवर्षाः प्रविशाला विस्तीर्णा वर्षाः पृष्ठास्थितिः, ( पक्षे ) वेणवदच येषां तैः । प्रवृत्तमदनिरवारिपूरैः प्रवृत्तः स्थितो मदस्य ( मदजलस्य, पक्षे ) निरंतरस्य प्रवाहस्य वारिणो जलस्य पूरः प्रवाहो येषां तैः । समुन्नतमहोरुहमूलबद्धैः समुन्नतानामत्युन्नतस्थानां महोरुहाणां वृक्षाणां मूलेषु पक्षे वृक्षेषु बद्धैर्नियोजितैः । तैः नागैः गजैः । जङ्गमैः गमनयुक्तैः । निजावयवैः ( इव ) स्वशरीरैरिव । गिरिन्द्रः मणिकूटः । रेजे बभौ । राज्ञु दीप्तो लिट् । इत्येवोपमा ॥६१॥ यदिति । रुचिञ्चाः हस्तिपालाः गजरक्षकाः । यत् सल्लकीकिसलयं यत् सल्लक्या गजभक्षयायाः किसलयं पल्लवम् । रुचये स्वादुनिमित्तम् । प्रासान्तरेषु प्रासस्य कवलस्यान्तरेषु मध्येषु । ददिरं यच्छन्ति स्म । हुदाञ्च दाने लिट् । खलु । तत् प्रत्युपाहित-वनस्मृति प्रत्युपाहिता आनीता वनस्वरूपस्य स्मृतिर्यस्य तत्, सत् । वारणेन्द्रं गजेन्द्रम् । कवलग्रहणे कवलस्य प्रासस्य ग्रहणे स्वीकारे । सावज्ञमेव उदासीनमेव । चकार करोति स्म । लिट् ॥६२॥ उत्तीर्णैति । उत्तीर्णमारलघवः उत्तीर्णनावतीर्णनं मारेण लघवो लघु ( लाघव- ) युक्ताः । पोताम्भसः पोतमम्भो बलं येषां तैः । उदारवारवाः उदारो महान् रवो रवो येषां तैः । भ्रमभिदा भ्रमविनाशकाणिनानाम् । नगनिम्नगानां नगस्य निम्नगानामावगानाम् । कूलानि तीराणि । खनन्तः खननं कुर्वन्तः । महोक्षाः महावृषभाः । परितः समन्तात् । बभ्रमुः भ्रमन्ति स्म । लिट् । खलप्रियेषु तले पिण्यां पक्षे तुर्जनेषु प्रियेषु प्रीतेषु । उपकृतं

क्रोध कल्याणकारी नहीं होता ॥६०॥ धीरे-धीरे सभी हाथी पेड़ोंके स्कन्धोंसे बांध दिये गये । वे मणिकूट पर्वतके जङ्गम अङ्गोंको भाँति सुगोमित हो रहे थे । पर्वतके अङ्ग मेघोंके समान होते हैं, बड़े-बड़े बाँसोंसे युक्त होते हैं, बहते हुए झरनोंसे युक्त होते हैं और उन्नत वृक्षोंकी जड़ोंसे घिरे हुए होते हैं । इसी प्रकार वे सभी हाथी काले बादलोंकी भाँति काले रंगके थे, उनकी रोड़ उभरी हुई थी, उनके गण्डस्थलोसे मदजलके झरने बह रहे थे और उन्नत वृक्षोंके नीचे उनके स्कन्धोंसे बाँधे हुए थे ॥६१॥ हाथियोंकी रुचिको जाननेवाले महावृत्तोंने, उन ( हाथियों ) की रुचि बढ़ानेके लिए भोजनके प्रासोंके बीच-बीचमे जो सल्लकी वृक्षकी नई-नई कोंपलें दीं, उन्होंने हाथियोंको जङ्गलोंकी स्मृति दिला दी और रुचि बढ़ानेके स्थानमें उल्टी अरुचि बढ़ा दी तथा उन्हें कवल गृहण करनेमे उदासीन कर दिया ॥६२॥ सेनाका बहुत-सा सामान बड़े-बड़े बैलोंकी पीठपर लदा हुआ था । मणिकूटके पड़ावपर ज्योंही उनकी पीठसे बोझिल सामान उतारा गया त्योंही उन्हें हल्केपनका अनुभव होने लगा । वे बहुत थके हुए थे और थोड़े थोड़े देर बाद उन्होंने थकान मिटानेनाली पहाड़ी नदियोंका पानी पिया । फिर वे डकारते हुए और उन नदियोंके किनारोंको सीगों और अगले पैरोंसे खोदते हुए चारों

१. क ख ग घ म सुविशाल । २. आ इ दधिरे । ३. आ इ वारणेन्द्रः । ४. आ पृष्ठास्थिति । ५. = अघोमात्रेषु । ६. = रुचि गजरुचि जानन्तीति रुचिञ्चाः । ७. = रुचिवर्धनाय । ८. = निवधयेन । ९. = किसलयम् । १०. = वेन । ११. स 'गजेन्द्रम्' इति पदं नास्ति । १२. = यैः । १३. आ महाक्षाः । १४. = उपकारः ।

छायासु धत्तितिरुहां तृणतोयतृप्तै रौमन्धतत्परमुखैर्बुधैर्बभूवै ।  
 तन्नूनमध्वजपरिश्रम एव तेन व्याजेन तैरलसनेत्रयुगैश्चर्चवै ॥६३॥  
 विच्छिन्नकर्णसुखकुम्भजकाकलीकमध्वावि किन्नरगणैः कटु कन्दूरस्थैः ।  
 भारावतारसमये रसितं मयानां रम्यं कुतूहलकरं न यथा ह्यपूर्वम् ॥६४॥  
 क्षुध्रेतरत्तितिरुहां करमैः प्रवालजाले भृशायतशिरोधिभिर्गम्यमाने ।  
 क्षीरापक्षेशमगलैः प्रमदाश्रु नूनं युक्तः परार्थघटने महतां प्रमोदः ॥६५॥

कृतद्वितम् । शान्त्यै उपसमाय । क्व भवति कुत्र भवति ? अर्थान्तरन्यासः ॥६३॥ छायास्त्विति । क्षितिरुहां वृक्षाणाम् । छायासु अनासपेपु । तृणतोयतृप्तैः तृणतोयाम्या तृणोदकाम्या तृप्तैः<sup>१</sup> प्रीतैः । रौमन्धतत्परमुखैः रौमन्धै चर्वितचर्वणे तत्पर<sup>२</sup> प्रतं मुख येषां तैः । बुधमैः अनङ्गुलैः । बभूवै भूयते स्म । इति भावे लिट् । इति यत् तत् । अलसनेत्रयुगैः अलसमालस्ययुक्तं नेत्रयुगं येषां तैः । तैः बुधमैः । तेन रौमन्धेन । व्याजेन छायना । अक्षपरिश्रम इव मार्गश्रम इव । चर्चवै भक्षयते स्म । चर्वं अदने कर्मणि लिट् । नूनं<sup>३</sup> निश्चयम् । अपहनुषिः ॥६४॥ विच्छिन्नैः । भारावतारसमये भारस्यावतारस्यावरोहणस्य समये काले । मयानाम्<sup>४</sup> उष्ट्याणाम् । कटु निष्ठुरम् । रसितं रसितः । चन्दः स्वैः गह्वरस्थितैः । किन्नरगणैः किन्नराणां देवभेदानां गणनिकरैः । विच्छिन्नकर्णसुखकुम्भजकाकलीकं विच्छिन्नयोः स्थापितयोः । ( विच्छिन्ना अवशब्दा ) कर्णयोः श्रोत्रयोः सुखकृतानन्दकरो निजानां स्वेधा काकली यस्मिन् कर्मणि तत् । अध्वावि श्रूयते स्म । श्रु श्रवणे कर्मणि लुङ् । अपूर्वं नवीनम् । यथा हि कुतूहलकर्म आश्चर्यकर्म । तथा हि रम्य मनोहरं वस्तु न—कुतूहलकरं न भवति, अपूर्वं वस्तु यथा कुतूहलकरं तथा रम्य वस्तु कुतूहलकरं न भवतीत्यर्थः । अत्र तु यो ( कि— ) नराणां निजकाकलीकृतो रम्योऽपि अपूर्णं पूर्वस्मिन् मत्तत्वात् (?) ( सोऽपूर्वो न; पूर्वस्मिन्नपि समये ध्रुतत्वात् ) । मयानां च्वनिरपूर्वं प्रागभूतत्वात् । अत एव मधुरमणि स्वकीयं तं हित्वा स एव ध्रुत इत्यभिप्रायः । अर्थान्तरन्यासः ॥६५॥ क्षुध्रेति । क्षुध्रेतरत्तितिरुहा क्षुद्राणाम् ( क्षुध्रेभ्यः ) इतरे महान्दस्तेषां क्षितिरुहां वृक्षाणाम् । प्रवालजाले प्रवालानां गलजालां जाले समूहे । भृशायतां शिरोधामिः भृशमत्यन्तमायतः ( ता ) शिरोधि कम्बरो ( ग ) येषां तैः । करमै उरुद्वैः । अगम्यमाने भक्षयमाने सति । क्षीरापक्षैश्च<sup>५</sup> क्षीरमित्त्वपदेशं व्यपदेशयुक्तम् । प्रमदाश्रु आन्दबाण । अगलत् अगलत् । गल बिम्बोचने लङ् । नूनं महता महापुरुषाणाम् । परार्थघटने परेषामन्येषामर्थस्य प्रयोजनस्य घटने संपादने । प्रमोदः संतोषः । युक्तः योग्यः । अर्थान्तरन्यासः

और विचरने लगे । क्या खल ( खली ) जनोंसे प्रेम करनेवालोंके साथ किया गया उपकार कहीं उन्हें शान्त करनेवाला हो सकता है ? ॥६३॥ घास-पानीसे तृप्त होकर वे बैल वृक्षोंकी छायामें बैठकर एवं आलस भरे नेत्रोंको बन्द करके रौघ-पागुर करने लगे । यह देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे रौघके बहाने मार्गके परिश्रमका चर्वण कर रहे हो ॥६४॥ बोझ उतारते समय ऊँटोंने जो कर्ण कटु शब्द किया, उसे गुफाओंमें बैठे हुए गन्धर्वोंके गणने अपने सज्जीतकी, कानोंको सुख देनेवाली मधुर ध्वनिको बन्द करके सुना । सच तो यह है कि सुन्दर वस्तु वैसा कीतूहल उत्पन्न नहीं करती जैसा अपूर्वं वस्तु करती है । ऊँटोंका सज्जीत गन्धर्वोंको बिलकुल नया था, अतः उसे उन्होंने अपना सज्जीत बन्द करके सुना ॥६५॥ ऊँटोंने अपनी गर्दनको खूब लम्बा करके जब बड़े-बड़े पेड़ोंकी नई-नई पत्तियोंको खाना शुरू किया, तब उससे दूध झरने लगा, दूध क्या झरने लगा, उसके बहानेसे निश्चय ही उनके हर्षाश्रु बहने लगे । परो-

१. आ इ देशमगमत् । २. अ प्रमदाश्रमन्त्र । ३. = संतुष्टैः । ४. = संलग्नं । ५. आ 'इति' नास्ति । ६. = निश्चयेन । ७. श मयूनाम् । ८. श मधुरमधुर । ९. = क्षीरापक्षैश्च यथा स्यात्तथा ।

चन्द्राकारस्थलममलिनोत्तुङ्गडिण्डीरपिण्ड-

अचञ्चलजिह्वजमविरतोद्भ्रान्तकल्लोलमालः ।

सर्पन्मत्तद्विषममिसरन्नकचको जयेत्

स्कन्धावारं यदि कथमपि स्यादपारः पयोधिः ॥६५॥

इति तत्र गिरौ निविष्टसैन्यं चरवक्राद्वगम्य पद्मानाम् ।

स्वबलेन समं समेत्य कोपात्पृथिवीपालनृपोऽन्तिके बभूव ॥६६॥

तयोर्द्वयोरपि नृपयोः प्रतापिनोर्विलोकितुं बलमिव जातकौतुका ।

समाययौ सपदि शशाङ्कभूषणा विभावरी विकसिततारकेक्षणा ॥६६॥

॥६६॥ चन्द्रेति । अमलिनोत्तुङ्गडिण्डीरपिण्डः अमलिनं ( नः ) निर्मलम् ( ल ) उत्तुङ्गानामुन्नतानां  
दिण्डीराणां केनानां पिण्डं ( पङ्क्तः ) यस्य सः । अविरतोद्भ्रान्तकल्लोलमालः अविरतमनवरतमूद्भ्रान्ता  
ऊर्ध्वं गता कल्लोलानां तरङ्गाणां माला यस्य सः । अभिसरप्रक्रवक्रः अभिसरत् लुठत्<sup>१</sup> तक्राणां<sup>२</sup> जलचरवि-  
शेषाणां चक्रं यस्य सः । पयोधिः समुद्रः । चन्द्राकारस्थूलं चन्द्रवशाकारं<sup>३</sup> शुभ्राकारं स्थूलं पटमण्डपो यस्य तम् ।  
'दृष्यं स्थूलं पटकुटो' इति वैजयन्तो । अचञ्चलजिह्वजं चञ्चन् भ्राजमानो बाजिनामश्वानां द्रव्यः समूहो यस्य  
तम् । सर्पन्मत्तद्विषं सर्पन्तस्संचरन्तो मत्तद्विषा मदगदा<sup>४</sup> यस्मिन् तम् । त स्फन्धावारं<sup>५</sup> पट्टम् । यदि कथमपि<sup>६</sup>  
केन प्रकारेणापि । अयेत् विजयेत् । जि औ<sup>७</sup> अभिसरे । लिङ्<sup>८</sup> । तदि अपारं स्यात् । ययामं रूपम् ॥६७॥  
इतीति । इति एवम् । निविष्टसैन्यं निविष्टसेनम्<sup>९</sup> । पद्मानां पद्मानाभ्युपम् । चरवक्रात् चराणां भूतयानां  
वक्राद् मुखात् । अवगम्य ग्रात्वा । पृथिवीपालनृपः<sup>१०</sup> पृथिवीपालभूपः । स्वबलेन स्वमेनया । समं साकम् ।  
कोपात् क्रोधात् । समेत्य आगत्य । अन्तिके पद्मानाभस्य सेना<sup>११</sup> समीपे । बभूव भवति स्म ॥६८॥ तयोरिति ।  
प्रतापिनोः प्रतापयुक्तयोः । तयोः द्वयोः अपि पद्मानाभपृथिवीपालभूपयोः । बलं चतुरङ्गसैन्यम् । विलोकि-  
तुं विलोकयाम् इव । जातकौतुका जाताश्चर्या । शशाङ्कभूषणा शशाङ्कचन्द्र एव भूषणमाभरणं यस्याः सा ।  
विकसिततारकेक्षणा विकसिता उदिता तारका नक्षत्राणि ता एव ईक्षणं नयने यस्याः सा । विभावरी रात्रि ।

पकार करते समय बड़ोंको प्रमोद मनाना ही उचित है ॥६६॥ इस पड़ाव और समुद्रमें अद्भुत  
साम्य है । पड़ावमें चन्द्रमाके आकारके गोल और शुभ्र तम्बू तने हुए हैं; समुद्रमें निर्मल तथा  
उन्नत केनराशि होती है । पड़ावमें चञ्चल घोड़े हैं; समुद्रमें लगातार उठने और घूमनेवालो  
बड़ी-बड़ी लहरें होती है । पड़ावमें मदमाते हाथी हैं; समुद्रमें इधर-उधर घूमनेवाले बड़े-बड़े  
मगर-घड़ियालीकें झुण्ड होते हैं । इतनी समानता होनेपर भी यदि समुद्र किसी प्रकारसे पड़ाव-  
को जीत ले तो उसे अपार माना जा सकता है ॥६७॥ इस तरह उस मणिकूट पर्वतपर पद्म-  
नाभ अपनी चतुरङ्गिणी सेनाके साथ ठहरा हुआ है, यह समाचार अपने गुप्तचरसे जानकर  
राजा पृथिवीपाल बड़े क्रोधसे सेनाके साथ उसके निकट आ पहुँचा ॥६८॥ उन दोनों प्रतापी  
नरेशोंके बलको देखनेके लिए मानो कौतूहल वश रात्रि—जो चन्द्रमारूपी मण्डनसे मण्डित है  
और जिसके चमचमाते हुए तारारूपी नेत्र खुले हैं—आ गई, अर्थात् रात्रि हा गई ॥६९॥

१. = इनस्ततो गच्छत् । २. = मकराणां । ३. आ मत्तं गजाः । ४. = शिबिरम् । ५. = केनापि  
प्रकारेण । ६. आ 'ऊ' इति नास्ति । ७. श लेङ् । ८. आ प्रसृष्टसेनम् । ९. = गुप्तचराणाम् । १०. श  
'पृथिवीपालनृपः' इति नास्ति । ११. = सेनायाः ।

तस्यां रक्षां श्रुतपरबलः संविधाय स्वसैन्ये  
 किञ्चित्कृत्वा सह निजभटैर्भाविसङ्ग्रामचर्चाम् ।  
 श्रित्वा शय्यां शयनभवने भासुरां पद्मनाभ-  
 स्तस्यौ<sup>१</sup> धीरः समद्वनितालिङ्गनाद्यैर्विनोदैः ॥७०॥  
 भुवनभवनदीपीभूतबिम्बे नियत्या  
 गतिमुदयविकृष्टां नीयमाने मृगाङ्गे ।  
 मुकुलिततनुतारालोचना लोकयन्ती  
 विरहमिव तदीयं सा विलिल्ये त्रियामा ॥७१॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

सपदि शीघ्रम् । समाययी आजगाम । लिट् । रूपकम् ॥६९॥ तस्यामिति । धीरः वैरयुक्तः । पद्मनाभः  
 पद्मनाभनृपः । तस्यां रात्री । श्रुतमाकर्णितं परबलं शत्रुसैन्यं येन सः । स्वसैन्ये रक्षा रक्षणम् ।  
 संविधाय कृत्वा । भाविसङ्ग्रामचर्चां भविष्यतः सङ्ग्रामस्य चर्चां विचारम् । निजभटैः स्वयोधभिः । सह  
 साकम् । किञ्चित् अल्पकालपर्यन्तम् । कृत्वा विधाय । शयनभवने शयनस्य भवने गृहे । भासुरां भासनशीलाम् ।  
 शय्याम् आसिकाः<sup>२</sup> । श्रित्वा प्राप्य । समद्वनितालिङ्गनाद्यैः समदाना संतोष<sup>३</sup>सहिताना वनिष्ठानां  
 नारीणामालिङ्गनाद्यैः परिरम्भणाद्यैः । विनोदैः विलासैः । तस्यौ आसा चक्रे । लिट् ॥७०॥ भुवनेति ।  
 भुवनभवनदीपीभूतबिम्बे भुवनं जगत् तदेष भवनं गृहं तस्य दीपीभूतं बिम्बं मण्डलं यस्य तस्मिन् । मृगाङ्गे  
 चन्द्रे । उदयविकृष्टाम् उदयस्योत्पत्तेविकृष्टां प्रतिकूलाम् । गतिम् अस्तमयम् । नियत्या दैववशीन नीयमाने  
 गम्यमाने । मुकुलिततनुतारालोचना मुकुलिता पिहता तनुः स्वरूपं यासा ता मुकुलिततनवः तारास्तारकाः,  
 ता एव लोचने नयने यस्याः सा । सा त्रियमा निशाङ्गना । तदीयं चन्द्रसंबन्धिनम् । विरहं त्रियोयम् ।  
 लोकयन्ती<sup>४</sup> वीक्षमाणेव । विलिल्ये विलीना, विलयं गतेत्यर्थाः । लीड्<sup>५</sup> दलेवणे । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥७१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च  
 विद्वन्मनोवल्लभाख्ये चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

उसी रात्रिमें धीर-वीर राजा पद्मनाभने शत्रु-सेनाके आनेके समाचार सुनकर और उसकी शक्ति-  
 का पूरा पता लगाकर अपनी सेनामें रक्षाका प्रबन्ध किया, एवं कुछ समय तक अपने सेनिकोंके  
 साथ भावि युद्धके बारेमें विचार-विमर्श किया । इसके पश्चात् शयनागारमें रत्नोंसे जगमगाती  
 हुई सेजपर जाकर, अपनी सगर्व ( पद्मनाभकी वीरतापर गर्व करनेवाली ) रानियोंसे आलिङ्गन  
 आदि विनोद करके लेट गया ॥७०॥ संसार रूपी घरमें जिसका बिम्ब दीपक स्वरूप है उस  
 चन्द्रमाको निगमति ( अदृष्ट ) जब उदयसे विपरीत ( अस्त ) अवस्थामें ले जाने लगी, तब  
 रात्रिने अपनी कायाको समेट लिया और तारारूपी नेत्रोंको मूंद लिया, और फिर चन्द्रमा  
 ( पति ) के विरहको देखकर ही मानो वह विलीन हो गई ॥७१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्ग चन्द्रप्रम चरित महाकाव्यमें  
 चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

१. आ इ तस्ये । २. = पत्यङ्कम् । ३. आ 'आसिका.' इति नास्ति । ४. आ संताप । ५. एष  
 टीकाध्ययः पाठः, प्रतिषु तु 'लोकयन्ती' इत्येव समबलोक्यते । ६. श लिङ् । ७. आ सर्गः समाप्तः ।

## [ १५. पञ्चदशः सर्गः ]

द्वयेषामप्यथ प्रातः स्थावरैतरभूभूताम् ।  
 उदस्थात्कटकक्षोभी संनाहपटहध्वनिः ॥१॥  
 तस्मिन्नम्बुदुग्म्भीरे दिगन्तरविसर्पिणि ।  
 प्रकम्पं भूरपि प्रापदास्तां रिपुपताकिनी ॥२॥  
 मदो मदोद्धताकारैर्विककुञ्जरकुलैरपि ।  
 तस्यजे व्रस्तचेतोभिररिकीटेषु का कथा ॥३॥  
 भटानां भाविसग्रामभवदुत्साहशालिनाम् ।  
 मनांस्थानशिरे हर्षैर्वर्षिषु पुलकोद्गमैः ॥४॥

द्वयेति । अथ २रात्रिविगमानन्तरम् । प्रातः विभाते । टपयाम् [ आप ] द्वावयवो येषां तेषाम् । स्थावरैतरभूभूता स्थावराश्चेतरे च अङ्गमाश्च ते च ते भूभूतश्च स्थावरैतरभूभूतः तेषां स्थावरैतरभूभूताम्—पवतानामितरभूभूता राज्ञामपि । कटकक्षोभी कटकानि टटानि, पक्षे कटकं सेना<sup>१</sup> क्षोभी संवलनशील । संनाहपटहध्वनिः संनाहस्य सग्रामसूचकस्य पटहस्य भेर्या ध्वनि शब्दः । उदस्थात् व्याप्नाति स्म । लुङ् । श्लेषः<sup>५</sup> ॥१॥ तस्मिन्निति । अम्बुदुग्म्भीरे अम्बुदुग्द् गम्भीर<sup>६</sup> यस्य तस्मिन् । [ तस्मिन् ] पटहध्वनो<sup>७</sup> । दिगन्तरविसर्पिणि दिगन्तराणि दिग्भिराणि विमर्शिणि व्यापिनि सति । भूरपि भूमिरपि । प्रकम्पं चचलम् । प्रापत् प्राप्नोति स्म । आप्नु व्याप्नो लुङ् । 'सनि नास्ति—' इत्यादिना अङ्—प्रत्ययः । रिपुपताकिनी रिपूणां शत्रूणां पताकिनी सेना । आस्ता तिष्ठतु । अतिशयः<sup>८</sup> ॥२॥ मद इति । मदोद्धताकारैः मदोद्धत आकारो येषां तैः । व्रस्तचेतोमि व्रस्तं भोतं चेता मानसं येषां तैः । दिक्कुञ्जरकुलैरपि दिक्षु दिशाम् विद्यमाना कुञ्जराणां<sup>९</sup> कुलैरिवहरिषि । मद. गर्व । तस्यजे त्यज्यते स्म । त्यज हानो कर्मणि लिट् । रिपुकीटेषु रिपव एव<sup>१०</sup> कीटास्तेषु । का कथा का वार्ता ॥३॥ भटानामिति । भाविसग्रामभवदुत्साहशालिना भाविना भविष्यता सग्रामेण रणेन भवता जायमानेनोत्साहरसेन शालिना संपन्नानाम् । भटानां योद्धृणाम् । हर्षैः संतोषैः । मनांस्थानशिरे पुलकोद्गमैः पुलकानां रोमाञ्चानामुद्गमैश्चवादैः । वर्षिषु शरीराणि । आन-

इसके पश्चात् प्रभात होते ही युद्धको मेरी बज उठी । उसकी ध्वनिने स्थावर भूभूत—मणिकूट पर्वत और अङ्गम भूभूत—पक्षानाभ, इन दोनोंके कटक ( मध्यभाग और छावनी ) में क्षोभ उत्पन्न कर दिया ॥१॥ मेघगर्जनके समान गम्भीर उस ध्वनिके दिग्दगन्तव्यापी होनेपर पृथ्वी भी काप उठी फिर शत्रुसेनाके कम्पनके बारेमें तो कहना ही क्या है ? ॥२॥ मेरीकी आवाज सुनकर मदोद्धत दिग्गजोंके कुलका दिल दहल उठा और उसने मद छोड़ दिया—उसका मदजल सूख गया तथा घमण्ड चूर हो गया फिर क्षुद्र शत्रुकीटोंकी तो बात ही क्या है ? ॥३॥ होनेवाले युद्धके उत्साहसे युक्त सैनिकोंके मन हर्षसे और शरीर रोमाञ्चसे व्याप्त हो

१ 'अम्बुधिर्' । २ 'श वर्षरात्रि' । ३. = क्षोभयतीत्येवं शीलः । ४. श 'श्लेषः' इति नास्ति । ५. = गाम्भीर्यं । ६. श 'पटहध्वनो' इति नास्ति । ७. = विसर्पतीत्येव शीलस्तस्मिन् । ८. = चाञ्चल्यम् । ९. आ लङ् । १०. = अर्थापत्तिश्च ११. = दिग्गजानां । १२. आ 'कीटाः क्रमयः' इति समुपलभ्यते, परमि-तोऽग्रे 'तेषु' इति पद नोपलभ्यते ।

हृष्यदङ्गतया सद्यः स्फुटत्पूर्वरणव्रणैः ।  
 वीरैर्वीररसाविष्टैः संन्दधुमुपचक्रमे ॥५॥  
 कश्चित्सनुच्छ्रवं योग्यं समरे समरेखकम् ।  
 देहे हृष्यत्यपर्याप्तं नामुञ्चन्नामुच्यतुनः ॥६॥  
 तव संनहन् नाथ लघुभूतमिवाधुना ।  
 इत्युच्ये स्वकरस्पर्शात्पुष्टाङ्गः कोऽपि कान्तया ॥७॥  
 शृङ्गारद्विगुणीभूतैरमाति पुलकैस्तनौ ।  
 संनाहेऽन्यस्य चतुरा क्षणमन्तर्दधे प्रिया ॥८॥

शिरै<sup>१</sup> व्याप्तुर्वान्ति स्म । आप्लु व्याप्तौ लिट् । 'नक् च—' इत्यादिना नवागमः ॥४॥ हृष्यदङ्ग-  
 दङ्गतया हृष्यत् संतुष्यदङ्गं यस्य तस्य भावः तथा । सद्यः तत्क्षणम् । स्फुटत्पूर्वरणव्रणैः स्फुटद् भिन्नत् पूर्वेण  
 रणेन संजातं व्रणं येषां तैः । वीररसाविष्टैः वीररसेनाविष्टैः<sup>२</sup> प्राविष्टैः । वीरैः<sup>३</sup> वीरपुरुषैः । संन्दधु सनहनाय<sup>४</sup> ।  
 उपचक्रमे प्रारम्भ्यते स्म । क्रमु पादविशेषे कर्मणि लिट् ॥५॥ कश्चिदिति । कश्चित् एकः । ना पुरुषः ।  
 हृष्यति हर्षं गते । देहे शरीरे । अपमर्त्तम्<sup>५</sup> अगृहीतम् । समरेखकं समा समाना रेखा यस्य तत्, चतुरस्र-  
 मिति भावः । समरे सग्रामे । योग्यम् उचितम् इति । तनुच्छ्रवं कवचम् । अमुञ्चत् अत्यजत् । पुनः  
 पश्चात् । ना अन्यः पुरुषः । आमुचत् धरति स्म । मुच्यन्<sup>६</sup> मोक्षणे लुङ् । कश्चिद्वीरः कवचं त्यक्तवान्  
 कश्चिद् भोक्तृधरतिस्मेत्यर्थः । पर्यायोक्तिः ॥६॥ तवेति<sup>७</sup> । स्वकरस्पर्शात् स्वस्याः कान्तायाः करस्य हस्तस्य  
 स्पर्शात् । पुष्टाङ्गः<sup>८</sup> तुष्टाङ्गः । कोऽपि कश्चित् । कान्तया वनितया साकम् (?) । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ।  
 ऊचे नक्त्यते स्म । नृजं व्यक्ताया वाचि कर्मणि लिट् । 'अस्ति नृबो भुवचो' इति वचादेशः । नाथ भो नाथ ।  
 तव ते । मंहननं कवचम् । अधुना इदानीम् । लघुभूतमिव अल्पीभूतमिव<sup>९</sup> । राजतीति शेषः । उपमा<sup>१०</sup> ॥७॥  
 शृङ्गारंति । अन्यस्य परस्य । शृङ्गाराद्विगुणीभूतैः शृङ्गारं शृङ्गाररसेन द्विगुणीभूतैः<sup>११</sup> द्विगुणजातैः । पुलकैः  
 रोमाञ्चैः । तनौ शरीरे । संनाहे<sup>१२</sup> संनहने । अमाति अप्रमाणं ( ते ) सति । चतुरा प्रौढा । प्रिया कान्ता ।

गये ॥४॥ युद्धकी खुशीमें योद्धा अपने शरीरमें फूले नहीं समा रहे थे । उनके पिछले युद्धोंके  
 घाव फूट कर बह रहे थे, किन्तु वे वीर, वीररसके आवेशमें थे, अतएव युद्धकी तैयारी करनेमें  
 लग गये ॥५॥ एक पुरुषने सङ्ग्रामके हर्षसे शरीर फूल जानेपर छोटे पड़नेवाले कवचको—जो  
 उसीको रेखाओंके मापसे बनाया गया था, और युद्धमें जिसका पहनना उचित था—छोड़  
 दिया । फिर उसे दूसरे पुरुषने पहन लिया ॥६॥ 'नाथ ! आपका शरीर इस समय ( इस बड़े  
 कवचकी दृष्टिसे ) कुछ छोटा-सा प्रतीत हो रहा है, ' यह कहते-कहते प्रियाने ज्यों ही अपने  
 हाथसे उसके शरीरका स्पर्श किया त्यों ही वह ( नवयुवक-पति ) खूब हृष्ट-मुष्ट हो गया ॥७॥  
 अन्य नवयुवकके शरीरमें शृङ्गारसे रोमाञ्च दूने हो गये और कवच छोटा पड़ गया । यह  
 देखकर उसकी चतुर पत्नी कुछ क्षणोंको उसकी आँखोंसे ओझल हो गई—अन्यत्र जाकर छिप

१. आ इ नामुचन्ना । २. = व्याप्तानि । ३. आ वा तत्क्षणं । ४. = युक्तैः । ५. आ धीरैः ।  
 ६. श संनहनाय । ७. = लघुतां गतम् । ८. आ मुच्यन् । ९. आ वीरैः । १०. श तवेति । ११. = पीनाङ्गः ।  
 १२. आ लब्धीभूतं । १३. = अतिशयोक्तिः । १४. = द्विगुणतां गतैः । १५. = कवचेः ।

रिपुरोषाकणीभूतच्छविच्छुरितकण्टकैः ।  
 रजे संध्याघना कारैर्भाषितारिषट्भटैः ॥८॥  
 भूरिभैरवधीरायाः रुष्टैः प्रतिगजभृतेः ।  
 भूरिभैरवधीराया समदानैः स्वपाणिना ॥९०॥  
 पुण्यैः कवचितस्यास्य किं कृत्यमपरं भया ।  
 इतीष नृपतेरङ्गे संनाहोऽनिष्टयाचिरात् ॥९१॥  
 जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्याघ्रेण ममामुना ।  
 किमित्यासीद् युवेषस्य संनाहे नातिगौरवम् ॥९२॥

शत्रुम् अन्तरालपर्यन्तम् । अन्तर्दधे व्यवहिता । दुष्पात्रं धारणे च लिट् ॥८॥ रिण्विति । रिपुरोषाकणी-  
 भूतच्छविच्छुरितकण्टकैः । रिपुषु शत्रुषु जातेन रोषेण कोपेनाकणीभूतया लोहितया छव्या कान्त्या च्छुरित-  
 कण्टकैः कवचो येषां ते । संध्याघनाकारैः संध्यायाः संध्याकालस्य घनस्य मेघस्याकार इवाकारो येषां तैः ।  
 भोषितारिषटैः भोषिता विभोषिता अरोणा शत्रूणां षटः ( घटा ) समूहो यैस्तैः । भटैः योद्धृभिः । रजे ।  
 निट् । उपमा ॥९॥ भूरिति । भूरिभैरवधीरायाः भूर्या बहुलाया भैरव्या भयकराया धीरायाः<sup>१</sup> स्थिरायाः<sup>२</sup> ।  
 प्रतिगजभृतेः प्रतिगजानां प्रतिकूलकरिणा श्वेतैर्ध्वनेः सकाशात् । रुष्टैः कुपितैः । इरायाः<sup>३</sup> मुरायाः । समदानैः  
 समं समानं दानं मदजलं येषां तैः । इभैः करिभिः । [स्वपाणिना स्वकरणेन । भूः पृथिवी] । अवधिं तादृष्यते  
 स्म । हन हिंसागत्योः वर्मणि लङ् । यमकम्<sup>४</sup> ॥९०॥ पुण्यैरिति । पुण्यैः शुभैः कर्मभिः । कवचित्स्य  
 आच्छादितस्य । अस्य राज्ञः । भया । अपरम् अन्यत् । कृत्यं कार्यम् । किं वर्तते ? । इतीष<sup>५</sup> एवमिव ।  
 नृपतेः पद्मनाभस्य । अङ्गे दहे । संनाहः कवचाधिसंनाहः । अनिष्टया<sup>६</sup> अनिष्टावस्थया । अविशत् विशति  
 स्म । विश प्रवेशने लङ् ॥९१॥ जयति । जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्याघ्रेण<sup>७</sup> जयलक्ष्म्याः परिष्वङ्गनालङ्घनेन  
 व्याघ्रेण व्यवहितेन । अमुना<sup>८</sup> अनेन सह । मम मे । किं प्रयोजनम् ? इति । युवेषस्य सुवर्णनाभस्य ।  
 संनाहे<sup>९</sup> संनाहकरणे । अतिगौरवम् अतिमहत्त्वम् । नाभौत् नाभूत् । अस भुवि लङ्<sup>१०</sup> । आशेषः (?) ॥९२॥

गयी ॥८॥ शत्रुओंके प्रति रोष होनेसे सैनिकोंके नेत्र लाल हो गये और उनकी लाल कान्तिसे उनके कवच भी लाल हो गये । अतएव वे सन्ध्याकालीन मेघोंके समान हो गये । उन्हें देखकर शत्रुमण्डल भयभीत हो गया । उस समय उनकी शोभा देखते ही बनती थी ॥८॥ शत्रुओंके हाथियोंकी बहुत भयावती और गम्भीर चिंघाड़ सुनकर (गन्धकी दृष्टिसे) मछके समान मदजल बहानेवाले, पद्मनाभके हाथियोंने अपनी सूंडसे पृथिवीका ताड़न शुरू कर दिया ॥९०॥ 'रात्रा पद्मनाभ पहलेसे ही पुण्यका कवच पहने हुए है—मुझे जो काम करना चाहिए, उसे पुण्य पहलेसे ही कर रहा है, अब इससे अधिक इसका और क्या काम है, जो मुझे करना चाहिए', मानो यही सोचकर निष्ठा न रहनेपर भी कवचने पद्मनाभके शरीरमें प्रवेश किया—पद्मनाभने कवच पहना ॥९१॥ 'जयलक्ष्मीके आलिङ्गनमें व्यवधान डालनेवाले इस कवचसे मुझे क्या काम है', मानो यह सोचकर युवराज सुवर्णनाभको कवच पहननेके विषयमें विशेष महत्त्व प्रतीत नहीं हुआ

१. अ संध्यायानां । २. अ गजभृतेः । ३. आ इ ममाधुना । ४. अ 'गौरवः' । ५. आ 'च' नास्ति ।  
 ६. एष टोकाश्रयः पाठः, प्रतिपु च मूलानु 'कण्टकैः' इत्येव सन्तुलन्यते । ७. श च्छुरितं कण्टकं कवचं । ८. श भाषितो विभाषितो । ९. आ 'विभोषिता' इति नास्ति । १०. = गभोरायाः । ११. आ सुदायाः । १२. 'इरा भूवाक्मुरा प्सु स्यात्' इत्यमरः । १३. = ताडिता । १४. आ 'यमकम्' इति नास्ति ।  
 १५. आ सुबकं । १६. = संनाहेन । १७. = प्रस्माद्वेलादि । १८. = अनास्थया । १९. = जयलक्ष्म्याः परिष्वङ्ग आलिङ्गनेन व्याघ्रेण व्यवधानेन । 'व्याघ्रायस्तु मैथुनव्यवधानयोः' अनेका ० ३५३३ । २०. = संनाहेन । २१. = कवचे । २२. आ लङ् ।

तेजो मूर्तमिवात्मीयं सुदुर्भेदमरातिभिः ।

बभौ भीमरथो बिभ्रत्कवचं विकचाननः ॥१३॥

अभूद्भैरव्येरङ्गे समरोत्कर्षशालिनः ।

द्वितीय इव संनाहो घनकण्टकितच्छवी ॥१४॥

दीनानाथकृतोत्सर्गः स जयश्रीसमुत्सुकान् ।

प्रसादैः पूजयामास सामन्तान् रणदीक्षितान् ॥१५॥

भीमं भासुरवासोभिः सुभीमं मणिकङ्कणैः ।

मकुटेन महासेनं सेनं भौतिकमालया ॥१६॥

तेज इति । आत्मीयं स्वकीयम् । 'दोष्च्छः' इति छ-प्रत्ययः । मूर्तं साकारमिव । तेजः<sup>१</sup> प्रतापः<sup>२</sup> (पम्) । अरातिभिः शत्रुभिः । सुदुर्भेदं सुदुःखेन महता कष्टेन भेदं भेदम् । कवचं तनुम् । बिभ्रत् खरत् । विकचाननः विकचं विकसितमाननं मुखं यस्य सः । भीमरथः भीमरथभूपतिः । बभौ रराज । लिट् । उपमा<sup>३</sup> ॥१३॥ अभूदिति । समरोत्कर्षशालिनः समरस्य संग्रामस्योत्कर्षेण शालिनः<sup>४</sup> संपन्नस्य । भैरव्येः भीमरथस्यापत्यं भैमरथस्तस्य । 'अत इङ्' इति इङ्-प्रत्ययः । भीमरथपुत्रस्य<sup>५</sup> महीशराक्ष्यस्य । घनकण्टकितच्छवी घना सान्द्रा कण्टकिता<sup>६</sup> रोमाञ्चयुक्ता छविः कान्तिर्यस्य तस्मिन् । अङ्गे शरीरे । संनाहः संनहनम् । द्वितीय इव अपर इव । अभूत् । उपमा<sup>७</sup> ॥१४॥ दीनेति । दीनानाथकृतोत्सर्गः दीनेभ्यो दरिद्रेभ्योऽनाथेभ्यश्च<sup>८</sup> कृतो विहित उत्सर्गस्त्यागो येन सः । सः पद्यानामः । जयश्रीसमुत्सुकान् जयश्रियां जयलक्ष्म्यां समुत्सुकान् आसक्तान् । रणदीक्षितान् रणदीक्षायुक्तान् । सामन्तान् भूपतीन् । प्रसादैः वस्त्रादिसत्कारैः<sup>९</sup> । पूजयामास सत्करोति स्म ॥१५॥ भीममिति । भासुरवासोभिः भासुरैर्भासमानशीलैर्बासोभिर्वस्त्रैः । भीमं भीमराजम् । मणिकङ्कणैः मणिभिर्निर्मितैः कङ्कणैः करभूषणैः । सुभीमं सुभीमराजम् । मकुटेन<sup>१०</sup> किणोटेन । महासेनं महासेनराजम् । भौतिकमालया भौतिकैर्मुक्ताफलैर्निर्मिता मालया माल्येन ।

॥१२॥ अपने प्रतापकी मूर्ति सरीखे प्रतीत होनेवाले, शत्रुओंके द्वारा दुर्भेद्य कवचको धारण करके भीमरथका चेहरा खिल उठा और उस समय वह बड़ा सुन्दर मालूम पड़ रहा था ॥१३॥ युद्धकालके उत्कर्षसे विभूषित भैमरथी—(राजा भीमरथके पुत्र) के सघन रोमाञ्चसे युक्त शरीरमें कवच ऐसा जाना पड़ता था मानो दूसरा हो । रोमाञ्च पहले कवचकी भाँति सुशोभित हो रहे थे और लौह कवच उसके ऊपर पहने हुए दूसरे कवचकी भाँति प्रतीत हो रहा था ॥१४॥ पद्यानामने दीन और अनाथोंको दान दिया तथा विजयलक्ष्मीको पानेके लिए उत्सुक, सङ्ग्रामकी दीक्षा लेनेवाले सामन्तोंको उपहार देकर सम्मानित किया—॥१५॥ भीमको चमचमाते वस्त्र, सुभीमको मणिकङ्कण, महासेनको मुकुट, सेनको मोतियोंकी माला, चित्राङ्गको चूडामणि, परंतपको लम्बी माला, कण्ठको कण्ठी, मुकुण्डलको कुण्डल, भीमरथको अमूल्य मणि और महोरथको मनोहर हार—इस तरह अपने सुन्दर आभूषण उपहारमें देकर चतुर पद्यानामने

१. = आत्मीयं मूर्त तेज इव । २. आ श तेजः प्रतापः । मूर्तं साकारमिव । आत्मीयं स्वकीयम् । ३. उपप्रेक्षा । ४. = शोभितः । ५. आ भीमरथस्य पुत्रस्य । ६. श घना संग्रामकण्टकिता । ७. = उपप्रेक्षा । ८. आ 'च' नास्ति । ९. श दिप्रसादसत्कारैः । १०. 'मुकुटेन' इति पाठः सर्वानुप्रतिषृ ।



चूडारत्नेन चित्राङ्गं प्रालम्बेन परंतपम् ।  
 रत्नकण्ठिकया कण्ठं कुण्डलाम्यां सुकुण्डलम् ॥१७॥  
 अनर्घमणिना भीमरथं हारेण हारिणा ।  
 महीरथं स्वाभरणैश्चतुराः सञ्चकार सः ॥१८॥ (कुलधम् १)  
 अन्योऽपि यस्य यो योभ्यः सन्नाहस्तुरगो रथः ।  
 वारणो वा विशेषस्तत्सादकृतं तं नृपः ॥१९॥  
 सेना सेना यतो बद्धराजिराजिसमुत्सुका ।  
 चक्रे चक्रेषुखङ्गास्त्रसारा सारातिसाध्वसम् ॥२०॥  
 सज्जीकृतं महामार्गं रोपितास्त्रं पुरोधसा ।  
 वनकेलियारुह्य निरगादभिज्ञानं सः ॥२१॥  
 रथिना युवराजेन सोऽनुसन्ने नराधिपः ।  
 ऐरावतसमारूढो रविणेषु सुराधिपः ॥२२॥

सेनं सेनराजम्<sup>१</sup> ॥१६॥ चूडेति । चूडारत्नेन चूडामणिना । चित्राङ्गं चित्राङ्गराजम् । प्रालम्बेन मृवर्णमय-  
 यशोपवीतेन । परंतपं परतपराजम् । रत्नकण्ठिकया रत्नकण्ठाभरणेन । कण्ठं कण्ठाग्रम् । कुण्डलाम्या  
 कर्णवेष्टनाम्याम् । सुकुण्डलं सुकुण्डलराजम्<sup>२</sup> ॥१७॥ अनर्घेति । अनर्घमणिना अनर्घेणामृत्येन मणिना रत्नेन  
 युक्तेन । हारिणा मन प्रीतिकारिणा, हारेण । भीमरथं भीमरथराजम् । स्वाभरणं<sup>३</sup> अनर्घाभरणं । महीरथं  
 महीरथराजम् । चतुर प्रौढः । सः पद्मनाभः । सञ्चकार सत्करोति स्म । दीपकम् ॥१८॥ अन्य इति ।  
 अन्योऽपि परोऽपि । यः । सन्नाहं तनुवाचि । तुरगः अश्वः । रथः स्यन्दनः । वारणः गजः । यस्य राज्ञः ।  
 योभ्यः उचितः । तम् । विशेषज्ञः सकलज्ञः । नृपः पद्मनाभः । तस्मात् तेषामधीनम् । अकृत अविघातं<sup>४</sup>  
 (व्यघातं) । लुङ् ॥१९॥ सेनेति । सेना एनेन स्वाभिना सन्न वर्तते इति सेना । यतो गच्छतीं<sup>५</sup> । बद्ध-  
 राजिः बद्धा रचिता राजिः पङ्क्तिः<sup>६</sup> । आजिराजमुत्सुका आजौ संग्रामे समुत्सुका आसक्ता । चक्रेण खङ्गास्त्रसारा  
 चक्रेण चक्रायुधेन इषुणा बाणेन सज्जेन अस्त्रेण<sup>७</sup> मन्त्रायुधेन च सारा उत्कृष्टा । [ सा ] मना चम् । अगनि-  
 साध्वसम् अरातीना शत्रूणा साध्वसं भयम् । चक्रे चकार । लिट् । यमकम् ॥२०॥ सज्जीति<sup>८</sup> । अथ अनन्त-  
 रम् । सः पद्मनाभः । महामार्गं हस्तिशिखरैः । सज्जीकृतं मनदीकृतम् । पुरोधसा पुरोहितेन । रोपितं स्त्रं  
 रोपितं वृत्तिं ( रोपितानि पूरितानि अस्त्राणि यस्मिन् तम् ) । वनकेलि वनकेलिवामयजम् । आरुह्य । अभि-  
 ज्ञानं शत्रोरभिमुखम् । निरगात् निर्जगाम । हृण गतो लुङ् । जातिः ॥२१॥ रथिनेति । सः नराधिपः पद्म-  
 नाभः । ऐरावतसमारूढः ऐरावतं देवगजं समारूढः<sup>९</sup> । सुराधिपः सुराणां देवानामधिप इन्द्रः । रविणेषु सूर्येण च ।

सब राजाओका सत्कार किया ॥१६-१८॥ कवच, घोडा, हाथी तथा रथ आदि और  
 भी जो पदार्थ जिसके योग्य था, उसे विशेषताके पारखी राजा पद्मनाभने, उसीके अधीन कर  
 दिया ॥१९॥ चक्र, बाण, खङ्ग आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित, युद्धके लिए उत्सुक, स्वामी  
 सहित, और पक्तिबद्ध होकर आगेकी ओर जाती हुई, पद्मनाभकी उस सेनाने शत्रुओंको भय  
 उत्पन्न कर दिया ॥२०॥ इसके बाद जिसे महावतीने सजाया और जिसके ऊपर पुरोहितने  
 अस्त्र रख दिये, उस वनकेलि नामक हाथीपर सवार होकर राजा पद्मनाभ शत्रुकी ओर चल  
 दिया ॥२१॥ युवराज सुवर्णनाभने रथपर सवार होकर राजा पद्मनाभका अनुगमन किया—  
 आगे राजा चला जा रहा था और उसके पीछे युवराज । जैसे ऐरावतपर चढ़े हुए इन्द्रका

१. क ख ग घ 'कुलकम्' नोपलभ्यते । २. म स बाहस्तुरगौ । ३. = सञ्चकार । ४. = सञ्चकार ।  
 ५. = स्पर्कीयैराभरणैः । ६. आ अबीरात् । ७. = गच्छन्ती । ८. = यथा सा । ९. = अस्त्रायुधेन ।  
 १०. आ वा सज्जेति । ११. स आरूढः ।

नगोत्तुङ्गं समारुह्य नागेन्द्रं रणविग्रहम् ।  
 तमम्बगाङ्गीमरथः प्रताप इव पूषणम् ॥२३॥  
 परिज्वलन्महास्त्रीघं रथं सारथिसज्जितम् ।  
 मनोरथमिवास्थाय निर्जगाम महोरथः ॥२४॥  
 परितः परिव्रजस्तमन्त्रेऽप्येत्य नराधिपाः ।  
 चतुरङ्गबलोपेताश्चतुरम्बुधिबिभृताः ॥२५॥  
 प्रयाणतूर्यनिर्घोषसंमिलत्सर्वसैनिका<sup>१</sup> ।  
 सासीद्वह्नादिसंख्येव व्यक्तेयता न बाहिनी ॥२६॥  
 विसृज्य शिवा तस्य वामतः शिवशंसिनी ।  
 तामेव विशमाश्रित्य ररास मृदु रासमः ॥२७॥

रथिना रथारुहेन । युवराजेन सुवर्णनाभेन । अनुसले<sup>३</sup> अनुगम्यतेस्म । उपमा ॥२२॥ नगेति<sup>४</sup> । भीमरथः  
 भीमरथराजः । नगोत्तुङ्गं तग इव पर्वत इवोत्तुङ्गमुन्नतम् । रणविग्रहं रणविग्रहनामधेयम् । नागेन्द्र<sup>५</sup> गजेन्द्रम् ।  
 समारुह्य । पूषणं सूर्यम् । प्रताप इव तेज इव । तं युवराजम् । अम्बगात् अनुगच्छतिस्म । उपमा ॥२३॥  
 परीति । परिज्वलन्महास्त्रीघं परिज्वलन् प्रज्वलन् महास्त्राणां महामन्त्रायुधानामोषो यस्मिन् तम् । सारथि-  
 सज्जितं सारथिना सज्जितं संनद्धम् । मनोरथमिव<sup>६</sup> मनःसंतोषमिव । रथं स्यन्दनम् । आस्थाया आरुह्य ।  
 महोरथः महोरथराजः<sup>७</sup> । निर्जगाम निरगात् ॥२४॥ परित इति । चतुरम्बुधिबिभृताः चतुरम्बुधीन् चतु-  
 समुद्रपर्यन्तं विभृताः प्रसिद्धाः । चतुरङ्गबलोपेता चतुरङ्गेण चतुरवयवेन बलेन सेनया उपेता युक्ताः । अन्ये  
 [ अपि ] परेऽपि । नराधिपाः भूमिपाः । एत्य गत्वा । तं पश्यामम् । परितः समन्तात् । परिव्रजः परिव्रजति  
 स्म । वृक्षं वरणे लट् ॥२५॥ प्रयागेति । प्रयाणतूर्यनिर्घोषसंमिलत्सर्वसैनिका प्रयाणस्य निर्वाणस्य तूर्यस्य  
 बाधविशेषस्य निर्घोषेण रथेण संमिलन्तो राक्षोभवन्तः सर्वे निस्त्रिधाः सैनिका भटा यस्यां सा । सा बाहिनी  
 सेना । बह्नादिसंख्येव बह्नादिवरेव संख्या खेव । आदिशब्देन यूथगण इत्यादि । [ व्यक्तेयता ] व्यक्ता स्पष्टा  
 इयता एतत्प्रमाणता यस्याः सा । न भवति । उपमा ॥२६॥ विवस्वानेति<sup>८</sup> । तस्य पश्यामस्य । वामतः  
 वामभागतः । शिवशंसिनी शिवस्य शुभस्य शंसिनी सूचिनी<sup>९</sup> । शिवा शृगाली<sup>१०</sup> । विसृज्य<sup>११</sup> निनाव । स्व  
 शब्दे लिट् । तामेव वामरूपामेव । दिशं विशाम् । आश्रित्य आगत्य । रासमः स्नानः । मृदु मृदुलं यथा तथा ।

सूर्यं ( जो रथपर सवार रहता है ) अनुगमन करता है ॥२२॥ पहाड़के समान उन्नत रणविग्रह  
 नामक गजराजपर चढ़कर भीमरथने युवराजका अनुगमन किया । जैसे प्रताप सूर्यका अनुगमन  
 करता है ॥२३॥ चमचमाते हुए बड़े-बड़े अस्त्रोंके समूहसे युक्त, सारथीके द्वारा सजाये गये और  
 मनोरथके समान प्रतीत होनेवाले रथके ऊपर बैठकर राजा महोरथ, भीमरथके पीछे-पीछे चलने  
 लगा ॥२४॥ चारों समुद्रों तक प्रसिद्ध और भी राजे-महाराजे चतुरङ्गिणी सेनाओंको अपने  
 साथ लिवाकर आ गये और पश्यामके आगे-पीछे और दाएँ-बाएँ भागोंमें—इस तरह उसे  
 चारों ओरसे घेरकर चलने लगे ॥२५॥ प्रयाणके समय रणभेरीका शब्द सुनते ही सभी सैनिक  
 सेनामें आकर सम्मिलित हो गये । उस समय वह सेना बहु आदि संख्याके समान स्पष्ट प्रमाणसे  
 युक्त नहीं थी—अगणित थी ॥२६॥ जाते समय पश्यामकी बाईं ओर मङ्गलकी सूचना देने-  
 वाली शृगाली शब्द करने लगी और उसी दिशामें अर्थात् बाईं ओर ही एक गदहा कोमल

१ क ख ग घ प्रयाणे तूर्यं । २. स<sup>३</sup> सैनिकाः । ३. = अनुसृतः । ४. श नय इति । ५. श गजेन्द्रं ।  
 ६. = मनोऽभिलाषमिव । ७. श महोरथनामधेयः । ८. आ श विवस्वान इति । ९. आ सुचस्य । १०. श  
 सूचिनी । ११. आ श शृगालः । १२. श विसृज्यते ।

भारद्वाजः कुतोऽप्येत्य परीयाय प्रदक्षिणम् ।  
 क्षीरिणं वृक्षमारुह्य ववाशे वल्गु धायसः ॥२८॥  
 सहसैव समुद्भिद्य सुख्ये करिणां कटेः ।  
 भेजे कोऽपि महोत्साहो रोमाञ्चकवर्चभट्टैः ॥२९॥  
 हृष्टैरिष्टार्थपिशुनैः परितोषितसेनिकैः ।  
 शकुनैरेभिरन्यैश्च स व्यक्तविजयोऽभवत् ॥३०॥  
 इत्युत्थितं समाकर्ण्य पद्मनाभं सराजकः<sup>१</sup> ।  
 संनह्य पृथिवीपालोऽप्यमर्षादभिनिर्णयौ ॥३१॥  
 दक्षिणं गणयामास नाशिवं स शिवारवम्<sup>२</sup> ।  
 कुतं न पौनःपुनिकं न मार्गमहिखण्डितम् ३२॥

ररास बिनाद । रस दृष्ट शब्दे लिट् ॥२७॥ भारद्वाज इति । भारद्वाजः खञ्जरीटपक्षी । कुतोऽपि कस्मा-  
 दपि । एव्य आगत्य । प्रदक्षिणं प्रदक्षिणावर्तम्<sup>३</sup> । परीयाय<sup>४</sup> जगाम । इण गतो लिट् । क्षीरेण युषतम् ।  
 कूर्जं भूषहम् । आरुह्य आस्थाय । धायसः बलिभुक् । वल्गु मधुरम् । ववाशे दक्षान । वाशि शब्दे लिट् ॥२८॥  
 सहसेति । करिणा गजानाम् । कटेः कपोलप्रदेशे । महसैव वेगेनैव । समुद्भिद्य संविधाय<sup>५</sup> । सुख्ये दुहुवे ।  
 दुःखु गतो भावे लिट् । रोमाञ्चकवर्चः रोमाञ्चो रोमद्वर्पणं स एव कवचो येषां तैः । भट्टैः योद्धृभिः ।  
 कोऽपि<sup>६</sup> कश्चिदपि । महोत्साहः महासंभ्रमः । भेजे शिथ्ये । भिज् मेधाया कर्मणि लिट् ॥२९॥ हृष्टैरिति ।  
 हृष्टार्थपिशुनैः हृष्टस्याभीष्टस्यार्थस्य प्रयोजनस्य पिशुनैः सूचकैः । परितोषितसेनिकैः परितोषिताः सतोषिताः  
 सेनिका यैस्तैः<sup>७</sup> । हृष्टैः अभिप्रेतैः । एभिः एतैः । अन्यैश्च अपरैश्च । शकुनैः एष्यत्<sup>८</sup> चकनिमित्तैः । व्यक्त-  
 विजयः व्यक्तो व्यक्तीभूतो विजयो<sup>९</sup> यस्य सः । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लट् । अनुमितिः ॥३०॥  
 इतीति । इति एवम् । उत्थितं निर्गतम् । [ तं ] पद्मनाभं पद्मनाभभूपतिम् । आकर्ण्य<sup>१०</sup> श्रूत्वा । सराजकः  
 राजकेन राजा समूहेन सह वर्तत इति तथोक्तः-राजसमूहयुक्तः । पृथिवीपालोऽपि पृथिवीपालभूपोऽपि ।  
 संनह्य<sup>११</sup> सज्जोक्त्य । अमर्षात् कोपात् । अभिनिर्णयो<sup>१२</sup> अभिनिर्जगाम । ना पापणे णिट् । जातिः ॥३१॥  
 दक्षिणमिति । सः पृथिवीपालः<sup>१३</sup> । दक्षिणं दक्षिणभागं गतम् । अशिवम्<sup>१४</sup> अमङ्गलम् । शिवारवं शिवायाः  
 श्रृगालस्य ( श्रृगाल्याः ) रवं दधनिम् । न गणयामास न गणयति स्म । गण संख्याने लिट् । पौनःपुनिकं

शब्दोंमें बोलने लगा ॥२७॥ भारद्वाज-खञ्जरीट पक्षी कहींसे भी आकर पद्मनाभकी परिक्रमा  
 करके चला गया और कौआ दूध बहानेवाले किसी वट आदि वृक्षपर बैठकर मुन्दर ढंगसे बोलने  
 लगा ॥२८॥ हाथियोंके गण्डस्थल सहसा फूट पड़े और उनसे मदजल झरने लगा । सेनिकोंको  
 रोमाञ्च हो आया और उन्हें अद्भुत् महान् उत्साहका अनुभव होने लगा ॥२९॥ इष्ट अर्थकी  
 सूचना देनेवाले और इसीलिए सेनिकोंको सन्तुष्ट करनेवाले इन इष्ट शकुनोंमें तथा इन सरीखे  
 और-और भी शकुनैः पद्मनाभकी विजय स्पष्ट हो गई ॥३०॥ इस प्रकार राजा पद्मनाभको  
 बुझके लिए निकला हुआ सुनकर पृथिवीपाल भी अपने पक्षके राजवर्गके साथ युद्धकी तैयारी  
 करके बड़े क्रोधसे निकल पड़ा ॥३१॥ पृथिवीपालके प्रयाण करते समय दाईं ओर श्रृगालीका  
 अमङ्गलकारी शब्द होने लगा; बार-बार छीकें आने लगीं; साँप रास्ता काट गया; कैंटोले पेड़ों-

१. क ख ग घ व्यक्तव्यजयो<sup>१</sup>, म वक्तव्यजयो<sup>२</sup> । २. अ<sup>३</sup> जयोऽभवत् । ३. अ क ख ग घ म  
 तमाकर्ण्य । ४. आ इ सराजकम् । ५. क ख ग घ म शिवास्तम् । ६. = कुतश्चनपि । ७. श प्रदक्षिण-  
 प्रवेशेन । ८. = परिक्रम्य जगाम । ९. आ संविधाय १०. = अद्भुतोऽप्युवाच । ११. आ येषां तैः । १२.  
 आ एतत्सू । १३. = विशिष्टो जयः । १४. क समाकर्ण्य । १५. = मग्धो भूय । १६. आ 'अभि' नास्ति ।  
 १७. स पृथिवीपालः । १८. आ अशुभम् ।

न कण्टकद्रुमस्थस्य काकस्य पक्षं रवम्<sup>१</sup> ।  
 न वाजिपुच्छज्वलनं न चार्तद्वितस्वरम्<sup>२</sup> ॥३३॥  
 न प्रातिकूल्यमत्यन्तं मनःपवनगोचरम् ।  
 नासृक्प्रवर्षमाकाशे<sup>३</sup> क्रोधान्तरितचेतनः ॥३४॥  
 क्षयानिलचलत्पूर्वपश्चिमाणवतुल्ययोः ।  
 तयोर्बभूव संघट्टः सैन्ययोरुभयोरपि ॥३५॥  
 अन्योन्यालोकनोद्भूतत्वरान्तुरगसंभवः ।  
 पांसुनिवारयामास रूपयेव क्षणं भटान् ॥३६॥  
 माद्यद्गन्तिमदोत्सेकच्छन्नं पांसौ रणाजिरे ।  
 बलगत्यन्योन्यमुद्दिश्य रराज भटसंहतिः ॥३७॥

पुनः पुनः भूयो भूयः प्रवर्तमानम् । क्षुत्<sup>१</sup> न । अहिलिङ्गितम् अहिना सर्पेण खण्डितं निवारितम् । मार्गं पन्थानम् । न गणयामासेति प्रत्येकमभिसंबन्धः । दोषकम्<sup>२</sup> ॥३२॥ नेति । कण्टकद्रुमस्थस्य कण्टके कण्टक-  
 युक्ते द्रुमे वृक्षे स्थितस्य । काकस्य वायसस्य । पक्षं निष्ठुरम् । रवं ध्वनिम् । न गणयामास । वाजिपुच्छ-  
 ज्वलनं वाजिनामश्वानां पुच्छानां बालधोनां ज्वलनं संतापम् । न । आर्तद्वितस्वरम् आर्तं दुःखेन  
 द्वितस्य रोदनस्य स्वर ध्वनिम् । न च गणयामास । अयमपि दोषकः<sup>३</sup> ॥३३॥ नििति<sup>४</sup> । क्रोधान्तरि-  
 तचेतनः क्रोधेन कोपेनान्तरित व्यबहितं चेतनं ( अन्तरिता व्यबहिता चेतना ) बुद्धिरस्य सः ।  
 मनःपवनगोचरं मनोवाञ्छोविषयम् । अत्यन्तं भृशम् । प्रातिकूल्यं प्रतिकूलत्वम् । न गणयामास ।<sup>५</sup>  
 आकाशे गगने । असृक्प्रवर्षम् असृजो रक्तस्य प्रवर्षं वृष्टिम् । न गणयामास । त्रिभिः कुलकम्<sup>६</sup> ॥  
 ॥३४॥ अयेति । क्षयानिलचलत्पूर्वपश्चिमाणवतुल्ययोः । क्षयस्य प्रलयकालस्यानिलेन वायुना चलतोः<sup>७</sup>  
 संबलतोः पूर्वपश्चिमयोः पूर्वापरयोरणवयोः समुद्रयोस्तुल्ययोः समानयोः । तयोर्भयोरपि द्वयोरपि । सैन्ययोः  
 सेनयोः । संघट्टः<sup>८</sup> संबन्धः । बभूव प्रवर्तितम् । लिट् । अतिशयः<sup>९</sup> ॥३५॥ अन्योन्येति । अन्योन्यालोकनोद्भूत-  
 त्वरान् अन्योन्यस्य पस्परस्यालोकनेन दर्शनेन उद्भूत<sup>१०</sup> उत्पन्नः त्वरः क्षीघ्रं येषां तान् । भटान् योद्धन् ।  
 तुरगसंभव तुरगैः अश्वैः संभवः संजातः । पासुः रजः । रूपयेव काष्ठयेनेव । क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् ।  
 निवारयामास निवारयति स्म । वृक्षं वरणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३६॥ माद्यदिति । माद्यद्गन्तिमदोत्सेकच्छन्नं पांसौ  
 माद्यता मद्युक्तानां दन्तिनां गजानां मदस्य मदबलस्योत्सेकेन क्षन्नो लीमः पांसूरजो<sup>११</sup> यस्य तस्मिन् । रणाजिरे

पर कीर्त्तिका परुष स्वर सुनाई देने लगा; घोड़ोंकी पूंछोंमें आग लग गयी; दुःखियोंके रोनेका दुःखभरा स्वर होने लगा; मनमें प्रतिकूल विचार आने लगे; प्रतिकूल वायु बहने लगी और आकाशमें लहू बरसने लगा, पर चेतनापर क्रोधका असर आ जानेसे उसने अपशकुनोपर कोई ध्यान ही नहीं दिया ॥३२-३४॥ प्रलयकालीन वायुसे क्षुब्ध हुए पूर्व और पश्चिम समुद्रों सरीखे दोनों सेनाओंके दलोंका आपसमें खूब जोरका सघर्ष शुरू हो गया ॥३५॥ एक-दूसरेको देखकर सैनिक आपसमें प्रहार करनेके लिए उतावले हो उठे, किन्तु घोड़ोंकी टापोके प्रहारसे उत्पन्न हुई धूलिने मानो दयाके कारण उन्हें कुछ क्षणों तक रोक लिया ॥३६॥ मदमाते हाथियोंके मद-जलके छिड़कावसे धूलि शान्त हो जानेपर रणाङ्गणमें एक-दूसरेको लक्ष्य करके आगे बढ़नेवाला

१. अ स्वरम् । २. क ख ग घ म 'रवितं स्वरम् । ३. अ 'पमकरोत् । ४. अ आ इ 'कसत्' ।  
 ५. = क्षव । ६. = तुल्ययोगिता । ७. श 'काकस्य' इति पद नास्ति । ८. = दहनम् । ९. = दोषकम् ।  
 १०. आ स्वस्तिकाभ्यन्तः पाठो नास्ति । ११. मूलप्रतिष्ठ 'त्रिभिः कुलकम्' इति नास्ति । १२. = क्षुब्धयोः ।  
 १३. = संघर्षः । १४. = उपमा । १५. = उद्भूता समुत्पन्ना त्वरा शोघता । १६. श 'त्सेकसत्' ।  
 १७. श सन्नो लीमः पांसुर्धूलिः ।

हेषासक्तहये गर्जद्गजे प्रध्वनदानके ।  
 तस्मिन्बलद्वये शब्दमयमासोविषास्त्रम् ॥३८॥  
 रैरोरा रैररैरेयी रोरो रोरुरैरैरि- ।  
 रुकुरुकुरुकुरोरारारोरुरोरुरम् ॥३९॥  
 तुरङ्गिणां पदातीनां रथिनां गजरोहिणाम् ।  
 यस्य येन समा कक्षा स तमाह्लास्त वीतभीः ॥४०॥  
 युद्धमार्गविदो युद्धमारभन्त महाभटाः ।  
 प्राणैरस्थास्नुभिः स्थास्नुयशःक्रेतुंमभीप्सवः ॥४१॥

रणस्याजिरे<sup>१</sup> ऽङ्गणे । अग्न्योन्मं परस्परम् । उद्दिश्य उद्देव्यं कृत्वा । [ वल्यती गच्छन्ती ] मत्संहतिः भटानां  
 योद्धृणां संहतिः समूहः । रराज बभौ । लिट् ॥३७॥ हेषेति । हेषासक्तहये हेषायां तुरगध्वनौ भासयताः  
 प्रीता ह्यास्तुरङ्गमा यस्मिन् तस्मिन् । गर्जद्गजे गर्जन्तो ध्वनन्तो गजा यस्मिन् तस्मिन् । प्रध्वनदानके  
 प्रध्वनन्तो ध्वनन्त आनकाः पटहा यस्य<sup>२</sup> तस्मिन् । तस्मिन् बलद्वये बलयोः सेनयोर्व्ये सति । अखिलं सकलम् ।  
 शब्दमयमिव शब्दस्वरूपमिव । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् । उपमा (?) उपप्रेक्षा च<sup>३</sup> ॥३८॥ रैर इति ।  
 रैरोराः रै ( राः ) द्रव्यम्, रायं राति<sup>४</sup> ददातीति रैरम्, रैरम् उरो हृदयं यस्य स रैरोराः, द्रव्यदानहृदयः—  
 त्यागशील इत्यर्थः । रैररैरैरिः रायं द्रव्यं रातीति रैरो वनवाता, रैरो वनदः कुबेर इत्यभिप्रायः, रैरक्षवासी  
 रैरक्ष रैररैरो धनदधनद इत्यर्थः, तमोरयति क्षिपति परिभवतीति रैररैरैरि—धनदक्षिदित्यर्थः,  
 विलसायककुबेरतिस्करणशील इत्यर्थः । रोहः भूयं ध्वनन् । उरुरुह उरुदध उरुदध उरुरु स्थूलस्थूलो  
 उरुरु उरु यस्य स उरुरुहः, अत्यन्ततोवरोहतिरत्यर्थः । रोरो. रोरवती रोहः तस्य रोरोः, शब्दवतः  
 ( शब्दं कुर्वतः ) । रु गतावित्यस्य ओणादिक उपप्रेत्यः, भूयं ध्वनत इत्यर्थः । उरुरुहोः अतिमहदु-  
 र्युतस्य । उरोः महतः । अरेः शत्रोः । अरिः शत्रुः । अरीरैः अरा ( आरा ) वारा विद्यते एवामिन्द्रोणि,  
 चक्राणीत्यर्थः, अरीणामीराः क्षेपाः तैः, चक्रक्षेपैरित्यर्थः । अरम् अत्यन्तम् । आर ढोक्ते स्म । आ गतो<sup>५</sup>  
 लिट् । एकग्रञ्जनचित्रिमदम् ॥३९॥ तुरङ्गिणामिति । तुरङ्गिणाम् अश्वारोहिणाम् । पदातीनां  
 पादधारिणाम् । रथिनां रथारूढानाम् । गजारोहिणा गजारूढानाम् । यस्य पुरुषस्य । येन पुरुषेण । कक्षा  
 सामर्थ्यम् । समा<sup>६</sup> समानम् । वीतभीः वीता रहिता भीर्भीति यस्य सः । सः पुरुषः । तं पुरुषम् । आह्लास्त  
 आह्लासति स्म । ह्ला स्पर्द्धायाम् । लङ्<sup>७</sup> ॥४०॥ युद्धेति । युद्धमार्गविदः युद्धस्य संपाप्त्य मार्गं विदन्तीति  
 तयोवताः । अस्थास्नुभिः अस्थिरैः । 'स्थास्नुस्तु' इति स्तु-प्रत्ययः । प्राणैः अमृतिभिः । स्थास्नु स्थिररूपम् ।  
 यशः कीर्तिम् । क्रेतुं स्वीकाराय । अभीप्सवः<sup>८</sup> अभिलिप्सवः । महाभटाः महायोद्धाः । योद्धुं योधनाय ।

सैनिकोंका समूह सुशोभित हा रहा था ॥३७॥ दोनों सेनाओंमें घोड़े हिनहिना रहे थे, हाथो  
 चिंघाड़ रहे थे और रणभेरीयाँ बज रही थी । अतएव सारा विद्व केवल शब्दमय-सा प्रतीत होने  
 लगा ॥३८॥ हृदयसे धन प्रदान करनेवाले, धन देनेवाले कुबेरको भी मात करनेवाले, सिंहनाद  
 करनेवाले और स्थूल ऊरुओंवाले एक योद्धाने, सिंहनाद करनेवाले और मोटे ऊरुओंवाले एक  
 महायोद्धाके ऊपर चक्रका वार किया और वह उसके निकट जा पहुँचा ॥३९॥ कुछ योद्धा घोड़ों-  
 पर सवार थे, कुछ हाथियोंपर और कुछ रथोपर । इनके अतिरिक्त पयादे भी थे । किन्तु जो  
 जिसके जोड़का था, उसने उसे निर्भय होकर ललकारा ॥४०॥ अस्थिर प्राण देकर स्थिर यशोके  
 क्रय (खरीद) को चाहनेवाले युद्धकलामे कुशल महान् योद्धाओंने युद्ध प्रारम्भ कर दिया ॥४१॥

१. अ धीरधीः । २. क ख ग घ ङ यशस्वेतुं । ३. = रण एवाजिरं तस्मिन् । ४. = यस्मिन् ।  
 ५. आ उपमोपप्रेक्षा चेति नास्ति । ६. श रातीति । ७. आ रु गतो । ८. = तुल्या । ९. आ आह्लासते  
 स्म । ह्लोक् स्पर्द्धायां लुङ् । १०. आ अभीप्सवः ।

स्वामिप्रसादमासीद्यो मुखरागं प्रतीच्छताम् ।  
 तेषामासीत्स एवादिशरजालं प्रतीच्छताम् ॥४२॥  
 निजेषुरचितस्कारमण्डपोत्सारितातपाः ।  
 तत्र नाशसिधुर्योषाः प्रहरन्तः परिश्रमम् ॥४३॥  
 स्वामिसंमानयोग्यं यद्यत्स्वसंभावनोचितम् ।  
 यच्चाम्नायसमं तत्ते स्मारंस्मारं दुदौकिरे ॥४४॥  
 शस्त्रप्रहारैर्गुरुभिः समुदा येन यो जितः ।  
 तेनामर्षात्पुनः सोऽस्त्रसमुदायेन योजितः ॥४५॥  
 कस्याप्यश्वगतस्येभकुम्भं निर्भिन्दतोऽसिना ।  
 ततः पतन्त्यभा<sup>१</sup>स्पृष्वृष्टिचन्मौक्तिकावलिः ॥४६॥

आरभन्त उपक्रमते<sup>२</sup> स्म । रमि<sup>३</sup> राभस्ये ॥४१॥ स्वामीति । स्वामिप्रसादं स्वामिनः प्रभोः प्रसादमादरम् । प्रतीच्छतां वाञ्छताम् । यो मुखरागः मुखे वदने रागो हर्षः संतोषः, पक्षे मुखे रागो रुधिरपाणता । आसीत् अवसत् । लङ् । अरिसरजालम् अरेः शत्रोः शराणां बाणानां जालं समूहम् । प्रतीक्षताम् अङ्गीकुर्वताम् । तेषां भटानाम् । स एव मुखराग एव । अभूत् । लुङ् । यमकम् ॥४२॥ निजेष्विति । तत्र संघामे । निजेषुरचित-स्कारमण्डपोत्सारितातपाः निजानां स्वैरामिषुभिर्बाणै रचितेन निमितेन स्फारेण बहुता मण्डपेनोत्सारितो निवारित आतपो येषां ते । प्रहरन्तः युद्धं कुर्वाणाः । योषाः भटाः । परिश्रमम् आयासम् । न आशसिधुः न जानन्ति स्म । आ अवबोधने लुङ् ॥४३॥ स्वामीति । स्वामिसंमानयोग्यं स्वामिनः प्रभोः सम्मानस्य सत्कारस्य योग्यम् । स्वसंभावनोचितं स्वेषा संभावनस्य सामर्थ्यस्मोचितं योग्यम् । यद् यत् । ( तत् तत् ) सर्वम् । ते भटाः स्मारं स्मारं स्मृत्वा स्मृत्वा । 'भृशमोक्ष्ये लभुम्' इति लभुम्-प्रत्ययः दुदौकिरे ययुः । दौकृल गती लिट् ॥४४॥ शस्त्रेति । गुरुभिः सहजिह्वः । शस्त्रप्रहारैः शस्त्राणामायुधानां प्रहारैर्घातैः । समुदा संतोषयुक्तेन । येन भटेन । यः भटः । जितः पराजितः । तेन पराजितभटेन । अमर्षात् क्रोधात् । पुनः पश्चात् सः विजयी भटः । अस्त्रसमुदायेन अस्त्राणामायुधानां समुदायेन निकरेण । योजितः संवन्धितः ॥४५॥ कस्येति । असिना खड्गेन । इभकुम्भम् इभस्य गजस्य कुम्भं कुम्भस्थलम् । निर्भिन्दतः<sup>४</sup> विदलतः । अवधगतस्य<sup>५</sup> अवधं वाजिनं गतस्य यातस्य । कस्यापि कस्यचिद्गतस्य । ततः इभकुम्भात् । पतन्ती च्यवन्ती । मौक्तिकावलिः मौक्तिकानां मुक्ताफलानामावलिः संहतिः । स्पृष्वृष्टिवत् पुष्पाणां कृसुमानां वृष्टिवत् वर्षाविव ।

युद्ध क्षेत्रमें उतरनेसे पहले अपने स्वामीके प्रसादको ग्रहण करते समय योद्धाओंके चेहरोंपर जो लालिमा और अनुराग था, युद्धक्षेत्रमें उतरनेपर शत्रुओंके बाणोंको सहते समय भी उनके चेहरोंपर वही लालिमा और अनुराग छाया हुआ था ॥४२॥ योद्धाओंने अपने बाणोंसे (आकाशमें) बहुत बड़ा मण्डप बनाकर धूपको दूर कर दिया था, इसलिए उन्हें प्रहार करनेपर भी आयास नहीं जान पड़ता था ॥४३॥ जो अपने स्वामीके सम्मानके, अपनी शक्तिके और अपनी परम्पराके योग्य था, उसे बारम्बार स्मरण करते हुए सैनिक आगे चले जा रहे थे ॥४४॥ एक योद्धाने शस्त्रोंके असह्य प्रहारोंसे जिस विरोधीको जीत लिया था और खुशी मनाई थी, उसने पुनः क्रुद्ध होकर उसे (जिसने जीत लिया था) अस्त्रोंके समूहसे पूर दिया ॥४५॥ अपने खड्गसे हाथीके गण्डस्थल-का विदारण करनेवाले किसी अश्वारोहीके ऊपर उस विदीर्ण गण्डस्थलसे गिरनेवाली गजमुक्ताओं-

१. म 'मसूत् स' । २. क ख ग घ म सोऽस्रसम् । ३. आ इ परन्त्यभा । ४. = उपक्रमते ।

५. आ रम । ६. = प्रसन्नताम् । ७. श 'रक्तता । ८. = वेष्टितः । ९. आ संवाचितः । १०. = विदार-यतः । ११. = अवधारुढस्य ।

योधाः शस्त्रक्षताः पेतुर्भूरितापा रणाशयाः ।

भूतैर्बुभुक्षितैर्युद्धभूरिता पारणाशया ॥४७॥

भग्ने चापे गुणे छिन्ने रिक्तीभूते च बाणघौ ।

कस्याप्यासीद्विषा दीर्घे दण्डादण्डि कचाकचि ॥४८॥

घोरघोरारिरुधिरैरुद्धाराधरैररम् ।

धरा धराधराधारा रुधेऽधोऽधराधरा ॥४९॥

ये तत्र जङ्घिरेऽङ्घ्राणां प्रगुञ्जन्निनदा नदाः ।

तेष्वासम्भूलनिर्लूनाः करिणां मकराः कराः ॥५०॥

अभात् राजते स्म । लङ् । उपमा<sup>१</sup> ( उत्प्रेक्षा ) ॥४६॥ योधा इति । रणाशयाः रणे संग्रामे आशयो योद्धुमभिप्रायो येषां ते । शस्त्रक्षताः शस्त्रेण खड्गेन क्षता हताः । भूरितापाः भूरि<sup>३</sup> बहुलः तापो येषां ते । योधाः भटाः । पेतुः पतन्ति स्म । पतल गती लिट् । बुभुक्षितैः भोक्तुं बाञ्छन्ति<sup>४</sup> । भूतैः राक्षसैः । पारणाशया पारणाया भोजने आशया बाञ्छया । युद्धभूः युद्धस्य रणस्य भूमिः । इता प्राप्ता । यमकम् ॥४७॥ 'भग्ने' इति । चापे कोदण्डे । भग्ने बधिते । गुणे ज्यायाम् । छिन्ने नृटिते । बाणघौ इषुघौ । रिक्तीभूते शून्ये आते च । कस्यापि भटस्य । द्विषा शत्रुणा । दीर्घे चिरम् । दण्डादण्डि दण्डाश्च दण्डाश्च परस्परस्य प्रहरणं ( यस्मिन् ) युद्धे तद्दण्डादण्डि । 'मिमो ग्रहणे प्रहरणे च सकृप युद्धाद्यधीभावः' इति समासः । कचाकचि कचाश्च कचाश्च परस्परस्य ग्रहणं यस्मिन् युद्धे तत् कचाकचि । आसीत् अभवत् । लङ् ॥४८॥ धीरेति । उरुधाराधरैः उर्वीं महती धारा प्रवाहः धरन्तीत्युद्धाराधरास्तैः । घोरघोरारिरुधिरैः घोरानां घोरा घोरघोरा । ते च तैरयश्च घोरघोरायः तेषां रुधिरैः रक्तेः । धराधराधारा धराधराणां पर्वतानामाधाराऽधिकरणम्<sup>५</sup> । अधोऽधः [ अधः ] अधोभागे<sup>६</sup> । 'साधोप्ये—' इत्यादिना द्विः (?) । अधराधरा भूरा निम्नरूपा । धरा भूमिः । अरम् अत्यन्तम् । रुधे कथ्यते स्म । रुध्वा आवरणे कर्मणि लिट् । द्वचक्षरविचम् ॥४९॥ 'ये' इति । तत्र रणभूमौ । अङ्घ्राणां रक्तानाम् । प्रगुञ्जन्निनदाः प्रगुञ्जन्नव्यक्तो निनदो व्वनिर्येषां ते । ये कचिच् । नदाः नद्यः । जङ्घिरे जायन्ते स्म । जनैर् प्रादुर्भावे लिट् । तेषां नदानाम् ( तेषू नदेषु ) । मूलनिर्लूनाः मूलात्<sup>७</sup> प्रथमात् निर्लूनाः खण्डिताः । करिणां गजानाम् । कराः शुण्डादण्डाः । मकराः जलचरविशेषाः । आसन् अभूवन् । अस भुवि लङ् । यमकम्

की झड़ी पुष्पवृष्टि सरीखी प्रतीत हो रही थी ॥४६॥ रणकी इच्छासे कुछ योद्धा ज्योंही आगे बढ़े त्योंही वे शत्रुओंके शस्त्रोंसे घायल होकर अत्यधिक सन्तापका अनुभव करते हुए युद्ध भूमिमें गिर गये, और फिर पारणा करनेकी इच्छासे भूखे भूतोने उसे घेर लिया ॥४७॥ एक धनुर्धारी योद्धा दूसरे धनुर्धारी योद्धासे लड़ रहा था, किन्तु जब उसका धनुष टूट गया, प्रत्यङ्चा कट गयी और तर्कस (तूणीर, जिसमें बाण रखे जाते हैं) खाली हो गया, तब उसने लाठी लेकर प्रतिपक्षीसे युद्ध किया, और जब लाठी भी टूट गयी तब वह उसके वालोंको पकड़कर लड़ा ॥४८॥ पर्वतोंका आश्रय पाकर रहनेवाली पृथिवी, नीचेकी ओर जिधर खूब ढालू थी, अत्यन्त घोर योद्धाओंके बढ़े-बढ़े, रुधिरके मेघोंके द्वारा लबालब भर दी गयी ॥४९॥ उस युद्धभूमिमें अव्यक्त शब्द करनेवाली रुधिरकी बड़ी-बड़ी नदियाँ बहने लगी । उनमें जड़से कटकर गिरी हुई

१. सा आभात् राजति । २. आ 'उपमा' इति नास्ति । ३. श भूरिः । ४. आ बाञ्छितैः । ५. श भग्ने इति । ६. आ लुज् । ७. आ 'धारा' निलय । = धराधराः पर्वता एवाधाराऽवच्छिन्नो यस्याः सा । ८. आ अधोभागेऽधोभागे । ९. श ये । १०. = मूलभागतः ।

कश्चिदालोहनिर्मग्नैः प्रत्यङ्गं पुरितः शरैः ।  
 बभावभ्यरि निष्कम्पः सप्ररोह इव द्रुमः ॥५१॥  
 केन तत्र सुरालोकं गतेन प्रेतवतिना ।  
 के न तत्र सुरा लोकं त्यक्त्वा स्वं कौतुकागताः ॥५२॥  
 जज्ञे मां सोपदंशासृगासबोन्मत्तचेतसाम् ।  
 डाकिनीनां नटन्तीनां कबन्धैर्नाट्यसूरिभिः ॥५३॥  
 निरन्तरनिपातीषु जालप्रच्छन्नमूर्तिना ।  
 भयादिषु कुतोऽप्यासोऽङ्गानुनापि पलायितम् ॥५४॥  
 यो धानामायुषच्छिन्नैर्विरेजे रणरङ्गभूः ।  
 शिरोभिः शतपत्त्रैश्चिरिव व्योमसरश्च्युतैः ॥५५॥

॥५०॥ कश्चिदिति । प्रत्यङ्गम् अङ्गमङ्गं प्रति प्रत्यङ्गम्, प्रत्यवयवमिति यावत् । आलोहनिर्मग्नैः आलोहं लोहशलाकापर्यन्तं निर्मग्नं प्रविष्टैः । शरैः बाणैः । पुरितः व्याप्तः । कश्चित् एको भटः । सप्ररोहः प्ररोहैः सहितः । द्रुम इव वृक्ष इव । अभ्यरि अरेः शत्रोरभिमुखम्<sup>१</sup> । निष्कम्पः निश्चलः । बभौ भातिस्म । उत्प्रेसा ॥५१॥ केनेति । स्वं स्वकीयम् । लोकं जगत् । त्यक्त्वा विमुच्य । कौतुकागताः कौतुकेन कुतूहलेन आगता आयाताः । के सुराः के देवाः । तत्र रणे । आलोकं दर्शनपदम् । गतेन यातेन । प्रेतवतिना प्रेते प्रेतभूमौ वतिना वर्तनशीलेन । केन मस्तकेन । 'कं चारिणि च मूर्धनि च' । न तत्रसुः न बिभ्यति स्म ।<sup>२</sup> त्रसे उद्वेजने लिट् । यमकम् ॥५२॥ जज्ञे इति । मां सोपदंशासृगासबोन्मत्तचेतसा मासमबोपदंशो यस्य तन्मांसोपदंशं (तत्) च तत् असुगूरकं च ( तदेव ) आसवो मद्यं तेनोन्मत्तमुन्मादयुक्तं चेतो यासा तासाम् । नटन्तीनां नृत्यन्तीनाम् । डाकिनीनां पिशाचभेदानाम् । मध्यं । कबन्धैः शर्वैः । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपभूर्धकलेवरम्' इत्यमरः । नाट्यसूरिभिः नाट्यस्य नाटकस्य सूरिभिराचार्यैः । जज्ञे जायते स्म । जनैश्च प्रादुर्भावे लिट् । उत्प्रेसा (रूपकम्) ॥५३॥ निरन्तरेति । निरन्तरनिपातीषु जालप्रच्छन्नमूर्तिना निरन्तरं निरवकाशं निपातिना निपततामिषूणां बाणानां जालेन समूहेन प्रच्छन्ना व्यवहिता मूर्तयस्य तेन । भानुनापि सूर्येणापि । कुतोऽपि कस्मादपि । भयात् भीतेः । पलायितमिव विद्रुतमिव । उत्प्रेसा ॥५४॥ यो धानामिति । आयुषच्छिन्नैः आयुधैः शस्त्रैश्छिन्नैः छेदितैः । यो धाना भटानाम् । शिरोभिः मस्तकैः । रणरङ्गभूः रणस्य संग्रामस्य रङ्गस्य भूमिः । व्योमसरश्च्युतैः<sup>३</sup>

हाथियोंकी सूँडें मगर सरीखी प्रतीत हो रही थीं ॥५०॥ किसी वीर योद्धाके अङ्ग-अङ्गमें बाण प्रविष्ट हो गये थे—बाणोंके नुकीले अगले भाग-जो लोहेके थे—अन्दर घँसे हुए थे और शेष भाग बाहर निकले हुए थे, फिर भी वह शत्रुके सामने निष्कम्प होकर खड़ा हुआ था । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो अङ्कुरित वृक्ष खड़ा हो ॥५१॥ रण देखनेके कौतूहलसे अपना लोक छोड़कर वहाँ (रण भूमिमें) आये हुए वे कौनसे देव थे, जो घड़से अलग हुए, मृत योद्धाके सिरको देखकर न डर गये हैं ? ॥५२॥ मांसरूपी जायकेदार खाद्यवस्तु और रुधिर रूपी मद्यका सेवन करनेसे डाकिनियोंको उन्माद हो गया, उनके चित्त भ्रान्त हो गये और इसी-लिए वे नाचने लगी । उन्हींके साथ घड़ भी नाच रहे थे, जो उन्हें नृत्यकी शिक्षा देनेवाले नाट्याचार्य सरीखे जान पड़ते थे ॥५३॥ निरन्तर गिरनेवाले बाणोंके जालसे सूर्य तिरोहित हो गया—दृष्टिसे ओझल हो गया । अतएव ऐसा प्रतीत होता था मानो वह डरके कारण कहीं भाग गया हो ॥५४॥ आयुधोंसे कटकर गिरे हुए योद्धाओंके सिरोंसे रणभूमिरूपी रङ्गमञ्च

१. अ आ इ सप्रारोह<sup>१</sup> । २. आ 'अङ्गमङ्गं प्रति प्रत्यङ्गम्' इति नोपलभ्यते । ३. श<sup>३</sup> मूलः ।  
 ४. आ तस्ये । ५. श जज्ञे । ६. = नृत्यस्य ।



येनैकोऽपि जितः श्लाघ्यः स्वामिनामा न ना नृता ।

बभूव तस्य न कृता स्वामिना माननानृता ॥५६॥

न पपात रणे तावद्धीरश्चिच्छेऽपि मूर्धनि ।

तत्कालोद्गोर्णखङ्गेन रिपुर्व्यावन्न पातितः ॥५७॥

पाणिभिर्गलितास्त्रौघाश्चरणैश्छिन्नपाणयः ।

छिन्नाङ्घ्रयो दुर्वचनैः प्रजहः शौर्यशालिनः ॥५८॥

दन्तिनो दन्तिभिर्मिन्नाः पत्तयः पत्तिसादिताः ।

पेतू रथा रथिच्छिन्नास्तुरगास्तुरगिक्षताः ॥५९॥

व्योमेव गगनमेव सरः सरोवरं (रः) तस्मान्ज्युतैः पतितैः<sup>१</sup>। शतपत्रोपैरिव शतपत्राणां कमलानामोषैः समूह  
रिव । विरेजे रराज । राज्ञः<sup>२</sup> दोष्टो । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥५५॥ येनेति । येन भटेन । श्लाघ्यः संस्तुत्यः<sup>३</sup> ।  
स्वामिनामा स्वामीति नाम यस्य सः, महान्तित्यर्थः । कोऽपि (एकोऽपि) ना पुमान् । न जितः न पराजितः ।  
तस्य भटस्य नृता पुरुषत्वम् । न बभूव न भवति स्म । स्वामिना प्रभुणा [ तस्य ] मानना पूजना । अनृता  
असत्या । [न] कृता (न) विहिता । येन भटेन प्रतिभटो नजितस्तस्य पुरुषत्वं व्यर्थमेव, जितश्चेत्सार्थकं भवति,  
इत्यर्थः । यमकम् ॥५६॥ नेति । धीरः<sup>४</sup> धैर्यवान् । मूर्धनि मस्तके । छिन्नेऽपि । तत्कालोद्गोर्णखङ्गेन तत्काले  
शिरश्छेदनकाले उद्गोर्णेनोद्घुतेन खङ्गेनायुधेन । रिपुः शत्रुः । यावत् यावत्पर्यन्तम् । न पातितः न धातितः ।  
तावत् तावत् पर्यन्तम् । रणे संग्रामे । न पपात न च्यवति<sup>५</sup> स्म । पतलु गतो लिट् । वीरपुरुषः परभटाननिहत्य  
स्वयं न पततीत्यर्थः ॥५७॥ पाणिभिरिति । गलितास्त्रौघाः गलिता रिक्ता अस्त्राणामायुधानामोघाः समूहा येषां  
ते । शौर्यशालिनः शौर्येण शूरत्वेन शालिनः संपन्नाः । पाणिभिः हस्तैः । छिन्नपाणयः छिन्ना क्षण्डिताः पाणयो  
येषां ते । चरणैः पादैः । छिन्नाङ्घ्रयः छिन्ना भिन्ना अङ्घ्रयः पादा येषां ते । दुर्वचनैः दुष्टवचनैः । प्रजहः  
युयुधिरे । हृज्<sup>६</sup> हरणे लिट् ॥५८॥ दन्तिन इति । दन्तिभिः करिभिः । भिन्नाः छिन्नाः । दन्तिनः करिणः ।  
पत्तिसादिताः पत्तिभिः पदातिभिः सादिताः विदारिताः । पदातयः<sup>७</sup> प<sup>८</sup> ( पा ) दचारिभटाः रथिच्छिन्नाः  
रथिभी रथारोहैश्छिन्ना भिन्नाः । रथाः स्पन्दनाः तुरगिक्षताः तुरगिभिः अश्वारोहैः क्षता हताः । तुरगाः

ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसके ऊपर आकाशरूपी सरोवरसे टूटकर कमलोंकी राशि  
गिर पड़ी हो ॥५५॥ जिस योद्धाने युद्धभूमिमें किसी एक भी श्लाघ्य 'स्वामी' कहे जानेवाले  
महान् प्रतिपक्षीको नहीं जीता, उसकी मदानगी (पुंस्त्व) झूठी पड़ गयी । फलतः उसके स्वामीने  
भी उसका सम्मान नहीं किया ॥५६॥ रणमें सिर कट जानेपर भी एक वीर तब तक भूमिपर  
नहीं गिरा, जब तक कि उसने तत्काल ही म्यानसे निकाली हुई तलवारसे शत्रुको गिरा नहीं  
दिया ॥५७॥ शूरवीर लोग अस्त्रोंके समाप्त होनेपर हाथोंसे प्रहार करने लगे, हाथोंके कट  
जानेपर पैरोंसे प्रहार करने लगे और फिर पैरोंके भी कट जानेपर दुर्वचनों अर्थात् गालियोंका  
प्रहार करने लगे ॥५८॥ द्वन्द्व युद्धमें हाथियोंके द्वारा घायल किये गये हाथी, घुड़सवारोंके  
द्वारा घायल किये गये घोड़े, रथारोहियोंके द्वारा तोड़े गये रथ और पयादोंके द्वारा मारे गये

१. आ इ क ख ग घ म 'हीरच्छिन्ने' । २. आ स्वस्तिकान्तगतः पाठो नास्ति । ३. आ राज्ञ् ।  
४. आ स्तुत्यः । ५. 'कोऽपि' इति टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिपु तु सर्वास्वपि 'एकोऽपि'—'येनैकोऽपि'  
इति समुपलभ्यते । ६. 'भोरः' इति टीकायां मूलप्रतिपु तु 'वीरः' इत्येव पाठः समुपलब्धः । ७. = च्यवते ।  
८. आ भन्नाः । ९. क्ष प्रजगुहः । १०. आ हृ । ११. आ स्वस्तिकान्तगतः पाठो नोपलभ्यते ।

क्वचित्पतितपत्न्यश्च क्वचिद्भग्नमहाराथम् ।  
 क्वचिद्भिन्नेममासीत्तद् दुःसंचारं रणाजिरम् ॥६०॥  
 भक्तं शृङ्खलयात्मीये सैन्येऽरिशरजर्जरे ।  
 पृथिवीपालसेनानीरुत्तस्थौ चन्द्रशेखरः ॥६१॥  
 भद्रा<sup>१</sup> किं प्रपलायच्च मार्गोऽयमुचितो न वः ।  
 वैवातुपस्थिते कृच्छ्रे शूराणां विक्रमः क्रमः<sup>२</sup> ॥६२॥  
 संभ्रमं मा वृथा कृद्वं कृते रणधुरां<sup>३</sup> मयि ।  
 अदृष्टपूर्वं भवतां ननु पृष्ठं मरातिभिः ॥६३॥

अश्वाः । पेतुः पतन्ति स्म । पल्लु गतो लिट् । दीपकम् ५१ ॥५९॥ क्वचिदिति<sup>४</sup> । क्वचित् कस्मिंश्चित्प्रदेशे । पतितपत्न्यश्च पतिता निपतिता पत्नय पदातयः अश्वाः तुरगा यस्मिन् तत् । क्वचित् प्रदेशे । भिन्नेभं भिन्नाः खण्डिता इमा गजा यस्मिन् तत् । रणाजिरं रणस्य संप्रामस्याजिरमङ्गणम् । दुःसंचारं संचरितुमशक्यम् । आसीत् अभूत् । अतः भुवि लङ् ॥६०॥ भङ्गमिति । अथ वीरभटपुद्गानन्तरम् । अरिशरजर्जरे<sup>५</sup> अरीणां शत्रूणां शरीरैर्जर्जरे<sup>६</sup> ग्लाने । आत्मीये स्वकीये । सैन्ये सेनायाम् । भङ्गं पराजयम् । गृह्णति सति याते सति । पृथिवीपालसेनानीः पृथिवीपालस्य सेनानीः सेनापतिः । चन्द्रशेखरः चन्द्रशेखरनामधेयः । उत्तस्थौ आगतः ॥६१॥ भद्रा इति । भद्राः भो मङ्गलपुरुषाः ! [ किं ] किनिमित्तम् ? प्रपलायच्चं घावत । अयं गतो । लोट् । 'रो लोऽमी' इति प्ररे<sup>७</sup> शब्दस्य र लः । अयम् एषः । मार्गः । वः युष्माकम् । 'पदाङ्गाव्यस्य' इत्यादिना युष्मच्छब्दस्य पष्ठोबहुवचनस्य वसादेशः । उचितो न योग्यो न भवति । देवात् विधिबशात् । शूराणां वीरपुरुषाणाम् । कृच्छ्रे काटे । उपस्थिते<sup>८</sup> सति समीपं गते सति<sup>९</sup> । विक्रमः पराक्रमः । क्रमः परिपाटी । अर्थान्तरन्यासः ॥६२॥ संभ्रममिति । मयि । रणधुरां रणस्य संप्रामस्य धुरां भारम् । कृते बहति<sup>१०</sup> सति । वृथा मुषा । संभ्रमं<sup>११</sup> संचलनम् । मा कृद्वं मा कुरुध्वम् । हुकुक् कारणे लुट् । भवतां युष्माकम् । पृष्ठं पृष्ठभागः । मरातिभिः शत्रूभिः । अदृष्टपूर्वं ननु दृष्टपूर्वं न भवति खलु । प्राक् पलायिता न भवत इत्यर्थः ॥६३॥

पयादे रणक्षेत्रमे गिरने लगे ॥५९॥ रणाङ्गणमे कहीं पयादे पड़े हुए थे, कहीं घोड़े तड़प रहे थे, कहीं घायल हाथी छटपटा रहे थे और कहीं टूटे हुए बड़े-बड़े रथोंका अम्बार लगा हुआ था । अतएव वहाँ संचार करना कठिन हो गया ॥६०॥ शत्रुओंके बाणोंसे जर्जर होकर अपनी सेना ज्योंही हिम्मत हारकर पराजय मानने और भागनेके लिए तैयार हुई, त्योंही पृथिवीपालका सेनापति चन्द्रशेखर उठकर सामने आ गया ॥६१॥ और यों कहने लगा—'हे भद्र पुरुषों ! क्यों भाग रहे हो ? यह भागनेका मार्ग तुम्हारे लिए उचित नहीं है । माग्यवश सङ्कट उपस्थित हो जानेपर पराक्रम दिखलाना शूरवीरोंकी परिपाटी है ॥६२॥ सङ्ग्रामका भार मैं संभालता हूँ । आप लोग व्यर्थ हो मत घबराओ । निश्चय ही आप लोगोंकी पीठको शत्रुओंने आज तक नहीं देखा—आप लोग पहले कभी भी पीठ दिखलाकर सङ्ग्राम भूमिसे नहीं भागे ॥६३॥

१. अ क ख ग घ म मदा । २. क ख ग घ म विक्रमक्रमः । ३. आ इ रणधुरं । ४. अ दृष्टम् । ५. आ अस्य श्लोकस्य व्याख्यापूर्णां सम्यक्लोक्यते । ६. आ 'जर्जरे' । ७. आ 'जर्जरे' । ८. आ अय पय । ९. वा लोट् । १०. वा 'रो लोऽमी' इति नास्ति । ११. आ पर स' । १२. = समायाते । १३. आ 'समीपं गते सति' इति नास्ति । १४. आ 'बहति' इति नास्ति । १५. श संभ्रमः ।

प्राणैरस्थास्तुभिः स्थास्तु यशश्चेदधिगम्यते ।  
 क्रियते स्वामिकार्यं च ना पुण्येद् मरणं रणे ॥६४॥  
 इति संधीरयन्नात्मसैन्यं रणपराङ्मुखम् ।  
 हुडौके चण्डदोर्दण्डकुण्डकोदण्डदारुणः ॥६५॥  
 शरपञ्जरसंछन्नसमस्तगगनोदरः ।  
 चकार क्षणमात्रेण स शत्रुकुलमाकुलम् ॥६६॥  
 तं रथस्थं रथाकूढः स्वभानुरिव भास्करम् ।  
 भीमः कटाक्षयामास पक्ष्माभचमूपतिः ॥६७॥  
 तयोर्बभूव तुमुलं रणधूर्धरयो रणम्<sup>१</sup> ।  
 व्योमव्यापीषुसंपातैर्दूरमुत्सारितामरम् ॥६८॥

प्राणैरिति । चेत् यदि । अस्थास्तुभिः ( वि- ) शारात्मिः । प्राणैः अमुभिः । स्थास्तु स्थिररूपम् । यशः कीर्तिः ।  
 अधिगम्यते लभ्यते । गम्य गतो कर्मणि लट् । स्वामिकार्यं च स्वामिनः प्रभोः कार्यं सेवकं [ च ] क्रियते विधी-  
 यते । कर्मणि लट् । रणे संधामे । ना भटपुरुषः मरणं प्राणत्यागम् । पुण्येत् प्रवर्धयेत् । पुण्यं पुष्टौ कर्मणि लिङ् ।  
 भटो रणे मरणं शोभावहं मन्यत इत्यर्थः । अर्थात्तरन्यासः ॥६४॥ इतीति । रणपराङ्मुखं रणस्थं संग्रामस्थं<sup>२</sup>  
 पराङ्मुखं विमुखम् । आत्मसैन्यम् आत्मनो निजस्य सैन्यं सेनाम् । इति उक्तप्रकारेण । संधीरयन् धैर्ययुक्तं  
 कुर्वन् । चण्डदोर्दण्डकुण्डकोदण्डदारुणः चण्डेनोग्रेण दोर्दण्डेन भृजदण्डेन कुण्डेनाकुण्डेन कोदण्डेन चापेन दारुणो  
 भयंकरः । हुडौके रुरुषे । डौकुलं गतो लिट् । जातिः ॥६५॥ शरैति । शरपञ्जरसंछन्नसमस्तगगनोदरः  
 शाराणां बाणानां पञ्जररेण संछन्नं गगनस्याकाशस्योदरं मध्यप्रदेशो यस्य<sup>३</sup> सः । चन्द्रशेखरःक्षणमात्रेण अल्पकाल-  
 मात्रेण । शत्रुकुलं रिपुकुलम् । आकुलं चिन्ताक्रान्तम् । चकार विदधौ<sup>४</sup> । लिट् । जातिः ॥६६॥ तमिति ।  
 रथाकूढः रथं स्थन्दनमाकूढः । भीमः भीमनामधेयः । पक्ष्माभचमूपतिः पक्ष्माभस्य राज्ञः चमूपतिः सेनापतिः ।  
 रथस्थं रथे स्थितम् । तं चन्द्रशेखरम् । भास्करं सूर्यम् । स्वभानुरिव राहुग्रह इव । कटाक्षयामास अपाङ्गन  
 बौक्षां<sup>५</sup> चकार । उपमा ॥६७॥ तयोरिति । रणधूर्धरयोः रणस्थ संग्रामस्थ धुरं भारं धरयोर्धरतोः । तयोः  
 भीमचन्द्रशेखरयोः । व्योमव्यापीषुसंपातैः व्योम गगनं व्यापिना सकिरतामिषूणां बाणानां संपातैर्विभोचनैः ।  
 दूरं विप्रकृष्टम् । उत्सारितामरम् उत्सारिता निवारिता अमरा देवा यस्मिन् ( यस्मात् ) तत् । तुमुलं परस्पर-

याद अस्थिर प्राणोसे स्थिर यश मिल जाता है और साथमें अपने स्वामीका काम भी हो जाता है, तो सङ्ग्राममें मर जाना बुरा नहीं—कोई घाटेका सोदा नहीं है । एक योग्य सैनिक ऐसे मरणका अवश्य ही समर्थन करेगा ॥६४॥ अपनी, रण विमुख सेनाको इस तरह ढाढस बंधाता हुआ सेनापति चन्द्रशेखर आगे बढ़ा, और उसने अपने प्रचण्ड भुजोंसे धनुष खीचना शुरू कर दिया । इस समय वह बढ़ा ही भयङ्कर दिखलाई पड़ रहा था ॥६५॥ सेनापति चन्द्रशेखरने आकाशके मध्यभागको बाणोंके पञ्जरमें बन्द कर दिया—आकाशके मध्यमें चन्द्रशेखरके बाण-ही-बाण दृष्टिगोचर हो रहे थे । बाणोंसे खाली आकाश किसी ओर भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था । उसने क्षणभरमें शत्रुओंके समुदायको व्याकुल कर दिया ॥६६॥ रथपर बैठे हुए सेनापति चन्द्रशेखरको पक्ष्माभके सेनापति भीमने—जो रथके ऊपर आकूढ था—वक्रदृष्टिसे देखा । जैसे राहु सूर्यका देखता है ॥६७॥ युद्धकलामे कुशल भीम और चन्द्रशेखर सेनापतिमें घोर सङ्ग्राम

१. 'पुण्येत्' इति टोकानुसारेण पाठः, प्रतिषु तु 'नाकृत्यं मरणं रणे' इति दृश्यते । २. क ख ग 'संछिन्न' । ३. म 'त्रिभिः कुलकम्' । ४. अ 'दुर्धरयो रणम्' । ५. = रणात् संग्रामात् । ६. = येन । ७. = विदधे । ८. श ईसा ।

परस्परस्त्रसंधट्टप्रोच्छलद्गतभुक्षिष्ठसम् ।  
 तीक्ष्णरोपपरिक्षेपखण्डितान्योन्यकेतनम् ॥६९॥  
 प्रध्वनद्धनुरावावरोषितक्षीबकुञ्जरम् ।  
 प्रहारविगलद्रक्तधारारचितदुर्दिनम् ॥७०॥  
 रन्ध्रं प्राप्यार्धचन्द्रेण ततो भीमस्य भासुरम् ।  
 किरीटं पातयामास सचिह्नं शशिशेखरः ॥७१॥  
 भीमेनापि हतः शक्त्या क्रोधादरिहरः स्थले ।  
 निपपात वमन्नखं सह स्वामिजयाशया ॥७२॥  
 पुरः पतितमालोक्य तं प्रतापमिध प्रभोः ।  
 केतुः केतुरिवोत्तस्यौ त्रासयन्निखिलं जनम् ॥७३॥

संधट्टनकूपम् । रण ( रणः ) संग्रामः । बभूव भवति स्म । लिट् ॥६८॥ परस्परं इति । परस्परस्त्रसंधट्टप्रोच्छल-  
 द्धुतभुक्षिष्ठं परस्परस्यान्योन्यस्य अस्त्राणां संघट्टनेन<sup>१</sup> स्पष्टेन प्रोच्छलन्ती उद्गच्छन्ती हुतभुजो अग्नेः शिखा-  
 ज्वाला यस्मिन् तत् । तीक्ष्णरोपपरिक्षेपखण्डितान्योन्यकेतनं तीक्ष्णरोपाणां बाणानां परिक्षेपेण विकिरणेन  
 खण्डितानि छिन्नानि अन्योन्यस्य केतानि<sup>२</sup> ध्वजानि यस्मिन् ( तत् ) ॥६९॥ प्रध्वनदिति । प्रध्वनद्धनुरा-  
 वावरोषितक्षीबकुञ्जरं प्रध्वनतां ध्वनिं कुर्वतां धनुषा चापानामारावेण शब्देन रोषिता कोपिताः क्षीबा मत्ताः  
 कुञ्जरा गजा यस्मिन् तत् । प्रहारविगलद्रक्तधारान्तरितदुर्दिनं<sup>३</sup> प्रहारेण प्रहरणेन विगलन्त्या प्रखलन्त्या  
 रक्तध्यासुजो धारया प्रवाहेणान्तरितं व्यवहितं दुर्दिनं मेघच्छन्नदिनं यस्मिन्<sup>४</sup> तत् । त्रिभिः कुलकम् (विशेषकम्)  
 ॥७०॥ रन्ध्रमिति । ततः पश्चात् । शशिशेखरः चन्द्रशेखरः । रन्ध्रं समथम् । प्राप्य लब्ध्वा । अर्धचन्द्रेण<sup>५</sup>  
 अर्धचन्द्राकारेण बाणेन । भीमस्य पद्मानाम्नेनापतेः । भासुरं देदीप्यमानम् । किरीटं मकुटम् । सचिह्नं ध्वज-  
 सहितम्<sup>६</sup> । 'ध्वजः पताका केतुश्च चिह्नं यद्वैजयन्त्यपि' । पातयामास अपमिताय । पत्न्यं गतो जिजन्तास्लिट्  
 ॥७१॥ भीमेनेति । भीमेनापि पद्मानामस्य सेनापतिनापि । क्रोधात् कोपात् । उरःस्थले वक्षःस्थले । शक्त्या  
 शक्त्यायुधेन । हतः हिसितः । अरिः शत्रुः । स्वामिजयाशया स्वामिनोविभोर्जयस्य विजयस्याशया वाञ्छया ।  
 सह साकम् । अत्र रक्तम् । वमन् उद्गिरन् । निपपात पतति स्म । लिट् । सहोक्तिः<sup>७</sup> ॥७२॥ पुर इति ।  
 प्रभोः स्वामिनः । प्रतापमिध सामर्थ्यमिव । पुरः अग्रे । पतितं तं चन्द्रशेखरम् । आलोक्य बोध्य । केतुरिव  
 धूमकेतुवत् । केतुः केतुराजः । निखिलं सकलम् । जनं लोकम् । त्रासयन् तजयन् । उत्तस्थौ उत्तिष्ठति स्म ।

छिड़ गया । दोनोंके आकाशव्यापी बाणोंके गिरनेसे देव लोग बहसि बहुत दूर हट गये ॥६८॥  
 परस्परके अस्त्रोंके टकरानेसे अग्निकी ज्वाला निकल पड़ी । तीखे बाणोंके प्रहारसे दोनोंने  
 एक दूसरेके शण्डे काट डाले ॥६९॥ दोनोंके धनुषोंके शब्द सुनकर मरदोमत्त हाथी क्रुद्ध  
 हो उठे, और अस्त्रोंके प्रहारसे रथिरकी धारा बहने लगी, उसने वर्षाकालीन दिनकी—  
 जिसमे खूब मेघ घुमड रहे हों—मात कर दिया ॥७०॥ चन्द्रशेखरने अवसर पाकर अर्धचन्द्रा-  
 कार बाणसे भीमका चिह्न सहित देदीप्यमान मुकुट गिरा दिया ॥७१॥ भीमेने भी क्रुद्ध होकर  
 चन्द्रशेखरके सीनेपर शक्ति नामक आयुधका प्रहार किया, जिससे उसके मुखसे खून आने लगा,  
 और फिर वह अपने स्वामीकी विजयकी आशाके साथ नीचे गिर गया ॥७२॥ राजा  
 पृथिवीपालके प्रतापके समान प्रतीत होनेवाले चन्द्रशेखरको सामने गिरा हुआ देखकर केतु

१. म वमन्नखं । २. = संघर्षणेन । ३. = ध्वजाः । ४. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु 'रचित-  
 दुर्दिनम् इत्येव दृश्यते । ५. = येन । ६. क्ष 'चन्द्रिणा । ७ आ ध्वजसहितं यथा । ८. क्ष उपमा ।  
 ९. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिपु तु 'निखिलं' इति समुपलभ्यते ।

स क्रुद्धेन सुभीमेन स्फुरहर्षमहाविषः ।  
 तार्क्ष्येणाशीविष इव निर्विषीकृत्य तजितः ॥७४॥  
 रथस्थेन समुत्तस्थे भग्ने केतौ सुकेतुना ।  
 पुरः प्रदर्शितात्मीयमरुच्चलकेतुना ॥७५॥  
 तं महाशत्रैर्महासेनश्चकार शतशर्करम् ।  
 दुर्धरैः प्रलयाम्भोदो<sup>१</sup> वज्रैरिव महोघरम् ॥७६॥  
 वीक्ष्य तार्क्ष्यमिघ च्छिन्नपक्षं तं पतितं रणे ।  
 विरोचन इवासह्यधामाघावद्विरोचनः ॥७७॥  
 तं गजस्थं गजारूढः सेनः सेना<sup>२</sup> समन्वितः ।  
 संमुखैर्विमुखं<sup>३</sup> बाणैर्विदधे पुरुविक्रमः<sup>४</sup> ॥७८॥

निट् । उपमा ॥७३॥ स इति<sup>१</sup> । स्फुरहर्षमहाविषः स्फुरन् प्रज्वलन् दपं इव ( एव ) महत् पृथुलं विषं गरलं यस्य सः । सः केतुराजः । क्रुद्धेन कोपितेन । भीमेन पद्मनाभस्य मेनान्या । रूपकम् । तार्क्ष्येण गरुडेन । आशीविष इव सर्पवत् । निर्विषीकृत्य सामर्थ्यरहितं कृत्वा । वज्रितः त्यक्तः । उपमा ॥७४॥ रथेति । केतौ केतुराजे । भग्ने भङ्गं याते सति । पुरः अग्रे । प्रदर्शितात्मीयमरुच्चलकेतुना प्रदर्शिताः प्रकाशिता आत्मीयाः स्वकीया मरुता वायुना चञ्चलाः कम्पमानाः केतवः पताका यस्य तेन । रथस्थेन रथे आस्थितेन<sup>५</sup> । सुकेतुना मुकेतुराजेन । समुत्तस्थे समुत्थोयते स्म ॥७५॥ तमिति । प्रलयाम्भोदः प्रलयस्य प्रलयकालस्याम्भोदो मेघः । दुर्धरः दुर्वारं । वज्रैः अशनिभिः । महोघरमिव पर्वतमिव । महासेनः महासेनराजः । महाशत्रैः महाशत्रैः । तं सुकेतुम् । शतशर्करं शतखण्डं शतपूर्णं वा । चकार करोति स्म । उपमा ॥७६॥ वीक्ष्येति । छिन्नपक्षं छिन्नो भिन्नः पक्षः पतत्रं यस्य तम् । तार्क्ष्यमिव गरुडमिव । रणे संग्रामे । पतितं च्युतम् । तं सुकेतुम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । विरोचन इव सूर्य इव । असह्यधामा असह्यं सोढुमशक्य धाम तेजो यस्य स । विरोचनः विरोचनराजः । अघावत् वेगेनागच्छत् । सु गतो लङ् । उपमा ॥७७॥ तमिति । गजारूढः गजं करिणमारूढः । पुरुविक्रमः पुरुर्महान् विक्रमः पराक्रमो यस्य सः । सेनः पद्मनाभपक्षसेनराजः । सेनासमन्वितः सेनया समन्वितं सहितम् । गजस्थं गजारूढम् । त विरोचनराजम् । संमुखैः अभिमुखैः । बाणैः शरैः । विमुख

ग्रह सरोखा केतु नामक राजा सभी प्रतिपक्षी लोगोंको भयभीत करता हुआ लड़नेके लिए खड़ा हो गया ॥७३॥ जहरीले नागकी भाँति केतुका घमण्ड रूपी तीव्र विष बढ़ता जा रहा था, पर भीमने गरुडकी तरह क्रुद्ध होकर विष उतार दिया और उसे निर्जिव-सा कर दिया ॥७४॥ केतुके पराजित हो जानेपर सुकेतु सामने आया, वह रथपर सवार था और उसके द्वारा प्रदर्शित झण्डा हवासे लहरा रहा था ॥७५॥ उसे महासेनने अपने बड़े-बड़े अस्त्रोंसे सौ टुक कर डाला । जिस तरह प्रलयकालीन मेघ दुर्वार वज्रोंको बरसाकर पहाडको सौ टुक कर देता है—चूर-चूर कर देता है ॥७६॥ कटे पंखोंवाले गरुडकी भाँति उस सुकेतुको रणमें गिरा हुआ देखकर सूर्यकी तरह असह्य तेजको धारण करनेवाला विरोचन बड़े वेगसे सामने आया ॥७७॥ वह हाथीपर सवार था, अतः अत्यन्त पराक्रमी सेन राजाने भी—जिसके साथ सेना भी थी—हाथीपर चढ़कर उसे

१. म दुर्धरप्रलयाम्भोद<sup>१</sup> । २. इ सेनः सेना<sup>२</sup> । ३. अ गुरुविक्रमः । ४. अ 'सद्वृद्धेन' इत्यादि पक्षस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ५. = कुपितेन । ६. = पराजिते । ७. = रयाकडेन । ८. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु 'समन्वितः' इत्येव दृश्यते ।

धनुर्महारथेनाथ दुधुवे धैर्यशालिना ।  
 स्वपक्षव्यसनालोकसमुद्दीपितचेतसा ॥७६॥  
 नग्नश्रावितनामासौ बद्धभ्रुकुटिभीषणः ।  
 वर्षर्ष शरधाराभिरभि शत्रुपताकिनीम् ॥८०॥  
 कासौ भीमरथो यस्य बलेन किल जेष्यति ।  
 पद्मनाभो नटस्कूरकबन्धामरिवाहिनीम् ॥८१॥  
 गर्वगद्गदमित्युक्त्वा चिह्नोद्देशेन संमुखम् ।  
 धावन्प्रत्यवतस्थेऽरिः शरैर्भीमरथेन सः ॥८२॥  
 चिरमक्षतवेहौ तौ शरैरप्राप्तखण्डितैः ।  
 युयुधाते महावीरौ विस्मितामरवीक्षितौ ॥८३॥

पराङ्मुखम् । विदधे चक्रे । लिट् ॥७८॥ धनुरिति । अथ विरोचनवैमुख्यानन्तरम् । स्वपक्षव्यसनालोक-  
 समुद्दीपितचेतसा स्वस्य आत्मनः पक्षस्य व्यसनस्य आलोकेन<sup>१</sup> वीक्षणोद्दीपितं कोपितं चेतश्चित्तं यस्य तेन ।  
 धैर्यशालिना धैर्येण धीरत्वेन शालिना संपन्नेन । महारथेन महारथराजेन । धनुः चाप<sup>२</sup> । दुधुवे धूयते स्म<sup>३</sup> ।  
 ध्रुव<sup>४</sup> कम्पने कर्मणि लिट् ॥७९॥ नग्नेति । नग्नश्रावितनामा नग्नेः स्तुतिपाठकैः श्रावितमाकर्णितं ( श्रुति-  
 विषयता नीतं ) नाम यस्य सः । बद्धभ्रुकुटिभीषणः बद्धया रचितया भ्रुकुट्या भ्रूभङ्गेन भीषणो भयङ्करः ।  
 असौ महारथः । शत्रुपताकिनी रपिसेनाम् । अभि अभिमुखम् । शरधाराभिः शराणां बाणानां धाराभिः  
 प्रवाहे । वर्षर्ष वर्षति स्म । वृष ( पू ) सेचने लिट् ॥८०॥ क्वेति । यस्य राज्ञा । बलेन सहायेन । पद्म-  
 नाभभूषणः । नटस्कूरकबन्धा नटन् नृत्यन् क्रूरं निष्ठुरः कबन्धः शवो यस्यां ताम् । अरिवाहिनीम् अरिः  
 शत्रोर्वाहिनी सेनाम् । जेष्यति परिभविष्यति किल । असौ एवः । भीमरथः भीमरथनामा । क्व कुत्र वर्तते ?  
 ॥८१॥ गर्वेति । गर्वगद्गदं गर्वेणाहङ्कारेण गद्गदोऽव्यकवचनं यस्मिन्कर्मणि तत्<sup>५</sup> । इति एवम् । उक्त्वा  
 निगद्य । चिह्नोद्देशेन चिह्नेन लक्षणं उद्देशेन वचनेन । संमुखम् अभिमुखम् । धावन् वेगेनागच्छन् । सः ।  
 अरिः शत्रुः । भीमरथेन भीमरथराजेन । शरैः बाणैः । प्रत्यवतस्थे निरुध्यते स्म । प्ठा<sup>६</sup> गतिनिवृत्तौ कर्मणि

सम्मुख बाणोंसे विमुख कर दिया ॥७८॥ विरोचनके पराङ्मुख होते ही महारथने—जो धैर्यसे  
 विभूषित था और जिसे अपने पक्षपर आये हुए सङ्कटको देखकर क्रोध उत्पन्न हो गया था—  
 धनुष उठा लिया, और उसे हिलाना शुरू कर दिया ॥७९॥ लोगोने उसका नाम स्तुति पाठकों-  
 से सुना । भ्रुकुटि टेढ़ी कर लेनेसे वह बड़ा भयङ्कर दिख रहा था । उसने शत्रु सेनापर बाण  
 बरसाना प्रारम्भ किया ॥८०॥ 'पद्मनाभ, जिसके बलसे शत्रुओंकी सेनाको—जिसमे धड़ नाच  
 रहे हैं—जीतेगा वह भीमरथ कहाँ है ?' ॥८१॥ गर्वसे गद्गद होकर यों कहते ही महारथ  
 भीमरथके चिह्नको लक्ष्यकर उसकी ओर दौड़ा, पर भीमरथने अपने बाणोंसे उसे बीच ही  
 में रोक दिया ॥८२॥ वे दोनों ही बड़े वीर थे, और ये धनुर्विद्यामें प्रवीण । दोनों एक दूसरेके  
 ऊपर बाण बरसा रहे थे, किन्तु बीचमें ही काट दिये जानेसे, वे किसीको भी नहीं लग  
 पाते थे । अतः दोनों बहुत देर तक लड़ते रहे, पर घायल नहीं हुए । देव लोग भी उन्हें

१. आ 'विमुक्षान'<sup>१</sup> । २. श व्यसनस्यास्वर्धनपत्तेरालोकेन । ३. = चापः । ४. श दुधुवे धूयते स्म ।  
 ५. वृष । ६. श स्या ।

ककुप्यन्तविधान्ततद्वाणभयविह्वलम् ।  
 नूनं व्योम तदा ह्यासीन्मुक्तमूर्तिपरिग्रहम् ॥८४॥  
 वीराभिर्लाघात्सर्पन्ती समीपमुभयोर्मुहुः ।  
 गतागतपरिक्लेशं न जयधोरजीगणत् ॥८५॥  
 मन्त्रेणेव ततः शत्रोः शङ्कुना मूर्ध्नि ताडितः ।  
 मूच्छा भीमरथो भीमभुजंगम इवागमत् ॥८६॥  
 क्षणं प्रतीक्षते यावत्क्षेत्रधर्मं ध्यायदरिः ।  
 उत्तस्थौ दशनैस्तावत्स दशन्वशनच्छदम् ॥८७॥

लिट् ॥८२॥ चिरमिति । अप्राप्तखण्डिते अप्राप्तेरनालम्नं । खण्डितेदिच्छन्तः । शरैः बाणैः । चिरं बहुकाल-  
 पर्यन्तम् । अक्षतदेहो अक्षतो अबाधितो देहो ययोस्तो । महावीरो महाविक्रान्ती । विस्मितामरबीक्षितो  
 विस्मितराश्चर्ययुक्तेरमरैर्देवैर्वीक्षितो दृष्टो । तो महारथभीमरथो । युयुधाते युध्येते स्म । युधि संग्रहारे लिट्  
 ॥८३॥ ककुबिति । ककुप्यन्तविधान्ततद्वाणभयविह्वलं ककुभा दशदिशा पर्यन्तेऽवसाने विश्रान्तिः पतितैस्तयो-  
 मंहारथभीमरथयोर्बाणं शरीरजतेन भयेन विह्वलं मूच्छितम् । व्योम गगनम् । तदाद्या [ तदा हि ] ततः  
 प्रभृति । मुक्तदेहपरिग्रहं मुक्तस्त्वक्तो देहस्य शरीरस्य परिग्रहो यस्य तत् । आसीत् अभूत् । लङ् । नूनं  
 निश्चयोऽयम् । अनुमितिः ॥८४॥ वीरेति । वीराभिलाषात् वीरस्य शूरस्याभिलाषाद् बाष्पछायाः सकाशात् ।  
 उभयोः महारथभीमरथयोः । समीपम् अन्तिकम् । मुहुः पश्चात् । सर्पन्ती गच्छन्ती । जयधीः जयलक्ष्मीः ।  
 गतागतपरिक्लेशं गतागताभ्यां गमनागमनाभ्यां जातं परिक्लेशं ध्रमम् । नाजीगणत् संख्यां न करोति स्म ।  
 गण संख्याने लुङ् ॥८५॥ मन्त्रेणेति । ततः पश्चात् । मन्त्रेणैव मन्त्रप्रयोगेणैव । शत्रो रियो । शङ्कुना  
 शङ्कुनामायुधेन । मूर्ध्नि मस्तके । ताडितः प्रहारितः । भीमरथः भीमरथराजः । भीमभुजङ्गम इव भीमो  
 भयङ्करः स चासौ भुजङ्गमश्च सर्पश्च तथोक्तः स इव । मूच्छा विह्वलं । अगमत् अगच्छत् । लुङ् । उपमा  
 ॥८६॥ क्षणमिति । अरिः महारथः । क्षात्रधर्माश्रयात् क्षात्रस्य क्षत्रसंबन्धस्य धर्मस्य स्वभावस्याश्रयादाश्र-  
 यणात् । यावत् यावत्पर्यन्तम् । क्षणं स्वकल्पकालपर्यन्तम् । प्रतीक्षते विनोक्तते । [ तावत् ] तावदेव ।  
 दशनैः दन्तैः । दशनच्छदम् ओष्ठम् । दशनं पीडयन् । सः भीमरथः । उत्तस्थौ उत्तिष्ठति स्म । लिट् ।

आश्चर्यसे देख रहे थे ॥८३॥ इसके पश्चात् दोनोका युद्ध और भी उग्र हो गया । दोनोके  
 बाण दिशाओंके अन्त तक पहुँचने लगे, जिससे उस समय आकाश भी भयभीत हो गया ।  
 मानो इसीलिए उसने मूर्तिका परिग्रह छोड़ दिया—आमूर्तिक हो गया ॥८४॥ दोनोकी  
 बराबरीकी जोड़ी थी, अतः कभी एक की विजय होती थी तो कभी दूसरेकी । दोनोमें जो  
 भी वीर निकलेगा, उसे पानेकी अभिलाषासे विजयलक्ष्मी बार-बार दोनोके पास आ-जा  
 रही थी उसने जाने-आनेके बहुत भारी क्लेशकी कोई पर्वाह नहीं की । वीरवरके वरणकी  
 कामना जो थी ॥८५॥ जिस प्रकार मन्त्रसे कीलित सर्प, चाहे कितना ही भयङ्कर क्यों न हो,  
 मूच्छित हो जाता है । इसी प्रकार महारथके बाणकी नोक सिरमे धँस जानेसे भीमरथ—जो  
 जहरीले काले नागकी भाँति भयङ्कर था—मूर्छित हो गया ॥८६॥ भीमरथके बेहोश हो जाने-  
 पर महारथने क्षत्रिय धर्मका पालन करनेके लिए प्रहार बन्द कर दिया, और थोड़ी देर तक

१. अ वीरोऽभि २. आ इ सत्त्वधर्मा ३. आ भवानि परिग्रहो; स भवः परिग्रहो ४. = येन ।

५. = उत्प्रेक्षा । ६. = पुनः पुनः । ७. = न गणयामास । ८. = ताडनं प्रापितः । ९. = विह्वलताम् ।

१०. = क्षत्रसंबन्धिनः । ११. प्रतिपालयति ।

क्रोधस्तद्वज्रे यः पूर्वं मनाक्सुप्त इव स्थितः ।  
 गाढारातिप्रहारेण स प्रबुद्धः<sup>१</sup> क्षणावभूत् ॥८८॥  
 स रोषाद्विगुणोत्साहो दन्तिना प्रेर्य दन्तिनम् ।  
 प्रतीच्छन्सुरसूनीघं<sup>२</sup> जीवप्राहं तमग्रहीत् ॥८९॥  
 ततः पितुर्ग्रहामर्षा<sup>३</sup> त्समुत्तेजितसारथिः ।  
 रथी सूर्यरथोऽघावद्धीरध्वनि धुनन्धनुः<sup>४</sup> ॥९०॥  
 समापतन्तं<sup>५</sup> मालोक्ष्य पितुः श्रान्तस्य संमुखम् ।  
 महीरथस्तमाह्लास्त दत्त्वा स्वरथमन्तरा ॥९१॥  
 प्रहृत्य च चिरं चञ्चलाचामीकरच्छ्रवौ ।  
 निखञ्जान तदीयोरःस्थलस्थाले<sup>६</sup> शिलीमुखम् ॥९२॥

समाहितः ॥८७॥ ॥ क्रोध इति । तद्वज्रे तस्य भीमरथस्याङ्गं शरीरे । पूर्वं प्राक् । मनाक् ईषत् । सुप्त इव ।  
 स्थितः आसित । यः क्रोधः क्रोधः ॥ ॥ गाढारातिप्रहारेण गाढेन दृढेनारातेः शत्रोः प्रहारेण ताडनेन ।  
 सः क्रोधः । क्षणात् शोघ्रात् । प्रबुद्धः<sup>१</sup> जागरितः । अभूत् । लुङ् ॥८८॥ स इति । रोषाद्विगुणोत्साहः  
 रोषेण कोपेन द्विगुणो<sup>२</sup> द्विगुणयुक्त उत्साहो वीररसो यस्य सः । सः भीमरथः । दन्तिना गजेन । दन्तिनं  
 गजम् । प्रेर्य प्रेरयित्वा । सुरसूनीघं सुरदैवैः कृतं सूनीघं पुष्पवृष्टिम् । प्रवीक्षन् अङ्गीकुर्वन् । तं महारथम् ।  
 जीवप्राहं<sup>३</sup> गृहीतपुरुषम् । अपहीत्<sup>४</sup> । ग्रहं<sup>३</sup> उपादाने लुङ् । कञ् ग्रहोऽकृतजीवात् इति णम्-प्रत्ययः ॥८९॥  
 तत इति । ततः पश्चात् । पितुः जनकस्य । ग्रहामर्षात् ग्रहाद् ग्रहणाज्जाताद् अमर्षात् कोपात् । समुत्तेजित-  
 सारथिः<sup>५</sup> समुत्तेजितः प्रेरितः सारथिः सूतो येन स । रथो<sup>६</sup> रथयुक्तः । सूर्यरथः<sup>६</sup> सूर्यस्य रथनामा  
 महारथयुक् । धीरध्वनि धीरो गम्भीरो ध्वनिर्यथा तथा । धनुः चापम् । धुनन् कम्पयन् । अघावत्  
 शोघ्रमगच्छत् । जातिः ॥९०॥ समेतं<sup>५</sup> । श्रान्तस्य आयासं गतस्य । पितुः जनकस्य । संमुखम् अभि-  
 मुखम् । समापतन्तम् आगच्छन्तम् । तं सूर्यरथम् ॥ समालोक्ष्य [ आलोक्ष्ये<sup>६</sup> ] लोक्ष्य । महीरथः  
 महीरथराजः । स्वरथं निजस्यन्दनम् । अन्तरा भीमरथसूर्यरथयोर्मध्ये । दत्त्वा नीत्वा<sup>६</sup> ॥ आह्लास्त  
 आह्लासति स्म । ह्वेङ् ( क् ) स्पदांश्च लङ्<sup>६</sup> ॥९१॥ प्रहृत्येति चिरं बहुवेलापर्यन्तम् । प्रहृत्य युद्धं कृत्वा ।

उसकी प्रतीक्षा करता रहा । इतनेमें ही वह होठ चबाता हुआ उठ बैठा ॥८७॥ उसके शरीरमें  
 जो क्रोध पहले सोया हुआ-सा पड़ा था, वह शत्रुके तीव्र प्रहारसे शोघ्र ही जाग उठा ॥८८॥  
 क्रोधके कारण भीमरथका उत्साह दूना हो गया । फिर उसने अपने हाथोंसे महारथके हाथोंको  
 पोछे हटवा दिया । यह देखकर देवोंने पुष्पवृष्टि की । बस, फिर क्या था, उसने पुष्पवृष्टि स्वीकार  
 करते हुए महारथको जीतेजी ही पकड़ लिया ॥८९॥ इसके बाद पिताके पकड़े जानेपर सूर्य  
 रथने—जो रथपर सवार था—अपने सारथीको रथ हाँकनेकी आज्ञा दी, और धनुषकी ध्वनि  
 करता हुआ, बड़े वेगसे आगे बढ़ा ॥९०॥ अपने पिताको पस्त देखकर सूर्यरथ उसकी सहायता-  
 के लिए चला जा रहा था, पर उसके रास्तेमें रथ खड़ा करके महीरथने उसे अपने साथ युद्ध  
 करनेके लिए ललकारा ॥९१॥ बहुत देर तक प्रहार करके महीरथने सूर्यरथके चमचमाते हुए

१. इ संप्रबुद्धः । २. म सुरसेनीघं । ३. आ इ पितुर्ग्रहामर्षात् । ४. म ध्वनदनुः । ५. क ख ग घ म  
 समायातं समा । ६. अ स्थलस्थाने । ७. आ प्रती स्वस्तिकान्तर्गतं व्याख्या नास्ति । ८. = शोघ्रम् । ९. =  
 उद्बुद्धः । १०. = द्विगुणितः । ११. = जोयितमेव । १२. जप्राह । १३. श गृहि । १४. श 'समुत्तेजित-  
 सारथिः' इति नास्ति । १५. = रथाङ्ग इत्यर्थः । १६. = सूर्यरथनामा । १७. श समिति । १८. =  
 बिलोप्य । १९. आ स्वस्तिकान्तर्गतं व्याख्या नोपलभ्यते । २०. श 'ह्वेङ् स्पदांश्च' इति नास्ति केवलं  
 'लुङ्' इत्यस्ति ननु लङ् ।



सप्रहारं तमादाय सारथिर्वचले बले ।  
 सुरमुक्तानि<sup>१</sup> पुष्पाणि पेतुर्माहीरये रये ॥१३॥  
 ततः कलकलारावबधिरोकृतदिक्मुखम् ।  
 हुडौके धर्मपालेन पृथिवीपालस्तनुना ॥१४॥  
 वपुः कोपारुणं बिभ्रद्भूतदिव्यशरासनः ।  
 सवर्षश्शरधाराभिर्घनः सांध्य इवाबभौ ॥१५॥  
 संभूयामिमुखीभूतं बलिनस्तस्य राजकम् ।  
 शरवर्षैर्घनस्येव संक्षुकोच गवां कुलम् ॥१६॥

वञ्चञ्चामीकरच्छवी वञ्चतो देदीप्यमानस्य चारोर्मनोहरस्य चामीकरस्येव सुवर्णस्येव छविः कान्तियस्य तस्मिन् । तदीयोरःस्थलस्थाले तदीयस्य<sup>२</sup> सूर्यरथसंबन्धस्य उरसो वक्षसः स्थलमेव प्रदेश एव स्थालं भाजनं तस्मिन् । शिलीमुखं बाणम् । निचखान चिक्षेप । खन्ञ् अवधारणे<sup>३</sup> लिट् । रूपकम् ॥१२॥ सेति । सारथिः क्षत्ता । सप्रहारं क्षतेन युक्तम् । तं सूर्यरथम् । आदाय उद्धृत्य । बले सेनायाम् । वावले (ववले) पुनरागमम् । बलि संवरणे लिट् । सुरमुक्तानि मुरैर्देवैर्मुक्तानि वधितानि<sup>४</sup> पुष्पाणि कुमुदानि । माहीरये<sup>५</sup> महीरथसंबन्धे । रये स्यन्दने । पेतुः पतन्ति स्म । पन्तु गतौ लिट् ॥१३॥ तत इति । ततः पश्चात् । पृथिवीपालस्तनुना पृथिवीपालस्य स्तनुना कुमारेण । धर्मपालेन धर्मपालनामयुतेन । कलकलारावबधिरोकृतदिक्मुखं कलकलेन कलकलरूपेण आरावेण शब्देन बधिरोकृतमेडोक्तं दिशा मुखं यस्मिन् कर्मणि तत् । हुडौके रूप्ये । हुडौक् गतौ कर्मणि लिट् । जातिः ॥१४॥ वपुःरिति । कोपारुणं कोपेन रोपेणारुणं लोहितवर्णयुतम् । वपुः शरीरम् । बिभ्रत् धरन् । धृतदिव्यशरासनः धृतं दिव्यं दिव्यरूपं शरासनं धनुर्धनः । सः धर्मपालः । शरधाराभिः शराणां बाणानां धाराभिः पङ्क्तिभिः, जलधाराभिश्च । 'शरं वनं घनं तोयं नीरं जीवनमन्विषम्' इति वपन्<sup>६</sup> सेचयन् । सान्ध्यः सन्ध्याया भवः । घन इव मेघ इव । आबभौ भातिस्म । भा दीप्तौ लिट् । उपमा<sup>७</sup> ॥१५॥ संभूयेति । घनस्य मेघस्य । शराणां जलानाम् । वर्षैः । गवां घेनूनाम् । कुलं यूथमिव । बलिनः पराक्रम-युतस्य । तस्य धर्मपालस्य । शरवर्षैः शराणां बाणानां वर्षैः । संभूय मिलित्वा । अभिमुखीभूतं संमुखमायातम् ।

स्वर्णके समान कान्ति धारण करनेवाले वक्षस्थलरूपी थालमें एक बाण ठोक दिया ॥१२॥ धायल हुए सूर्यरथको लेकर सारथी उसकी सेनामें चला गया, और इधर महीरथके रथपर देवीने पुष्प वृष्टि की ॥१३॥ इसके उपरान्त 'कल-कल' शब्दसे सारी दिशाओंको बहुरा बनाता हुआ, पृथिवीपालका पुत्र धर्मपाल सामने आया ॥१४॥ जिस प्रकार इन्द्रधनुषको धारण करनेवाला संध्याकालीन लाल मेघ जल बरसाकर सुशोभित होता है । उसी प्रकार क्रोधके कारण लाल शरीर वाला, सुन्दर धनुषको धारण करनेवाला और बाणोंकी बरसा करने-वाला धर्मपाल सुशोभित हो रहा था ॥१५॥ राजाओंका सङ्घटित वर्ग बलवान् धर्मपालका मुकाबला करनेके लिए सामने आया, किन्तु उसकी बाण वर्षाके सामने टिक न सका, चुपकैसे भाग गया । जैसे मेघसे जल गिरनेपर गाओंका झुण्ड सिकुड़कर इधर-उधर भाग जाता

१. अ. भरमुक्तानि । २. = तत्संबन्धिनः । ३. आ अवधारणे । ४. = वृष्टानि । श 'वधितानि' इति पदं नास्ति । ५. = महीरथसंबन्धिनः । ६. 'शरं वनं कुणं नीरं तोयं जीवनमन्विषम्' इति घनञ्जयः । ७. = विकिरन्, पक्षे सिञ्चन् । ८. = उत्प्रेक्षा ।

कृत्स्नमायासितं दृष्ट्वा सामन्तकुलमाकुलम् ।  
 सुवर्णनाभोऽभिमुखो बभूव रिपुघस्मरः ॥९७॥  
 तं वाहितरथं वीक्ष्य धर्मपालो ज्वलन्क्रुधा ।  
 विव्याधेति वचोबाणरघिक्षेपविषोक्षितैः ॥९८॥  
 अपसर्प प्रयाहीतः किं पुरो घृष्ट तिष्ठसि ।  
 भवद्विधे न मद्बाहुः प्रहर्तुमयमिच्छति ॥९९॥  
 नूनमिच्छति नो जेतुं भवतैव भवतिपता ।  
 त्वन्मतेनान्यथा कस्मात्करोत्यसमविग्रहम् ॥१००॥  
 कस्त्वं भीमरथः को वा कियन्मात्रः स ते पिता ।  
 संभूय मेऽग्रतः सर्वे यदि शक्नुयुः तिष्ठथ ॥१०१॥

राजकं राजा समूहः । संवृकोच स्थगति स्म । कुच संकोचने लिट् । वलेषोपमा ॥९६॥ कृत्स्नमिति । आयासितं संघातप्रयासम् । 'सञ्जातं तारकादिभ्य इतः' इति इत्-प्रत्ययः । आकुलं व्याकुलत्वयुतम् । कृत्स्नं सकलम् । सामन्तकुलं सामन्तानां राजां कुलं निबहम् । दृष्ट्वा विलोक्य । रिपुघस्मरः रिपूणां सत्रूणां घस्मरो विनाशकः । 'मक्षको घस्मरोऽधरः' इति । तस्य । सुवर्णनाभो युवराजः । अभिमुखो बभूव संमुखो भवति स्म । प्रागनयिममुख इदानीमभिमुखो बभूवेति तथोक्तः ॥९७॥ तमिति । क्रुधा कोपेन । ज्वलन् प्रज्वलन् । धर्मपालः पृथिवीपाल-पुत्रः । वाहितरथं वाहितं आरुढो रथो येन तम् । सुवर्णनामम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । अधिक्षेपविषोक्षितैः अधिक्षेप एव तिरस्कार एव विषं तेन उक्षितैः संसिक्तैः । वचोबाणवैवांस्येव बाणास्तैः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । विव्याध विध्यते स्म । व्यधोच् मयवलनयोः ( व्यध ताडने ) लिट् ॥९८॥ अपेति । घृष्टं भो घृष्ट ! अपसर्प अपसर । इत एतस्मात्प्रवेशान् । प्रयाहि गच्छ । या प्रापणे लेट् । पुरः अग्रे । किं किं निमित्तम् । तिष्ठसि वर्तसे । अयम् एषः । मद्बाहुः मम बाहुर्भुजः । भवद्विधे भवतस्तव विधे सद्बोधे । प्रहर्तुं प्रहरणाय । नेच्छति न वाञ्छति । इयु इच्छाया लट् । 'यश्चमिषोस्सिच्छः' इति च्छादेशः ॥९९॥ नूनमिति । भवतैव त्वयैव । भवतिपता भवतस्तव पिता जनकः । नः अस्मान् । जेतुं जयनाय । इच्छति वाञ्छति । नूनं निश्चयम् । अन्यथा नो चेत् । अममविग्रहम् असमेन समान ( ता ) रहितेन, बलिनेत्यर्थः । विग्रहं संग्रामम् । त्वन्मतेन तवानुमतेन । कस्मात् कारणात् । करोति विदधाति । लट् । अनुमितिः ॥१००॥ क इति । त्वं भवान् । कः कियान् । भीमरथ को वा कियान् । सः । ते तव । पिता जनकः । कियन्मात्रः कियत्प्रमाणः । यवि शक्नुयुः समर्था भवन्ति चेत् । सर्वे यूयम् । संभूय मिलित्वा । मे मम । अग्रतः अग्रे । तिष्ठथ<sup>१</sup> आश्वम्<sup>२</sup> ।

है ॥९६॥। समस्त सामन्तोका समूह थक कर चूर हो गया और घबरा गया, यह देखकर शत्रुश्रोक संहार करनेवाला सुवर्णनाभ सामने आया ॥९७॥। अपने रथको आगे बढ़वाने-बाले सुवर्णनाभको देखकर धर्मपाल क्रोधसे जल उठा, और आक्षेपके विषसे सिञ्चित वचन-बाणोंसे उसे वीधनेको उद्यत हो गया—॥९८॥। अरे डोह ! जा, यहाँसे भाग, सामने क्यों खड़ा हुआ है ? मेरा बाहु तुझ सरीखे (क्षुद्र) व्यक्तिपर प्रहार नहीं करना चाहता ॥९९॥। जान पड़ता है तेरा बाप पद्मनाभ तेरे बूतेपर ही हमें जीतना चाहता है । अन्यथा वह तेरी सलाहसे अपनेसे बड़ोंके साथ युद्ध क्यों करता ? ॥१००॥। मेरे सामने तू कौन होता है ? भीमरथ कौन होता है ? और वह तेरा बाप भी मेरे आगे क्या है ? यदि तुम

१. = आन्तमित्यर्थः । २. आ इतच् । ३. = प्रापितः । ४. आ सिक्तः । ५. आ व्यविष् । ६. 'बृह-स्तु विद्यातो घृण्युष्णजौ' अभिधानः । ७. = लोट् । ८. = निश्चितम् । ९. वा अनुत्येनेत्यर्थः । १०. = तवानुमत्या । ११. आ भवतश्चेति । १२. आ श तिष्ठत । १३. वा 'आश्वम्' इति नास्ति ।

नीचोचितां समाकर्ण्य तदीयामिति भारतीम् ।  
 जगाद् युवराष्ट्रित्यं धनुष्यामासृष्टं शन्मुहुः ॥१०२॥  
 किमेभिरधमालापैर्मोतुश्चापलसूचनैः ।  
 अस्ति कोऽप्यभिमानश्चेद्दौकस्वालं विलम्बनैः ॥१०३॥  
 गदितुं युज्यतेऽस्माकं न भवद्भाषितं वचः ।  
 तुल्ययन्ति महान्तो हि नात्मानमधमैः समम् ॥१०४॥  
 स्वैरेव दुर्नयैः पापाः पच्यन्ते येन दुर्जनाः ।  
 विभाषमाणान्सुजनस्तेन तानवमन्यते ॥१०५॥  
 इत्यालापैर्युवेशस्य मानवानपमानितः ।  
 अलक्ष्यमोक्षसंधानान् स रोषादमुचच्छरात् ॥१०६॥

आक्षेपः ॥१०१॥ नीचेति । नीचोचिता नीचस्य निकृष्टोचिता विहिताम् । तदीयां धर्मपालसंबन्धाम् ।  
 इति एवम् । भारतीं वचनम् । समाकर्ण्य श्रुत्वा । धनुष्यां धनुषश्चापस्य ज्या मोर्वीम् । आसृष्टान् अक्षारं  
 कुर्वन् । युवराट् सुवर्णनाभः । मुहुः पक्ष्वात् । जगाद् अक्षवोत् । गद व्यक्ताया वाचि लिट् ॥१०२॥ किमिति ।  
 मातुः जनन्याः । चापलसूचनं चापलस्य बद्धचलस्य सूचनं दर्शयमानैः । एभिः एतैः । अधमाभापैः अधमै-  
 निकृष्टराकापैर्वचनैः । किं किं प्रयोजनम् । कोऽपि करिचदपि । अभिमानं गर्वः । अस्ति चेत् वतंते चेत् ।  
 दौकस्व आगच्छ । लोट् । विलम्बनैः कालक्षेपैः । अलं पर्याप्तम् ॥१०३॥ गदितुमिति । भवद्भाषितं  
 भवता स्वया भाषितमुक्तम् । वचः वचनम् । अस्माकम् । गदितुं वक्तुम् । न युज्यते न प्रयुज्यते । महान्तः  
 महापुरुषाः । अधमैः नीचैः । समं सद् । आत्मानं स्वम् । न तुल्यन्ति नोपमयन्ति । तुलाञ् इति सूच्यातुः ।  
 अथान्तरन्यासः ॥१०४॥ स्वैरिति । येन कारणेन । पापा धूर्ताः । दुर्जनाः खलाः । स्वैः स्वकीयैः । दुर्नयैः  
 दुर्नीतिमिरैव । पच्यन्ते दहन्ते । दुपचोष् पाके कर्मणि लट् । तेन कारणेन । विभाषमाणान् विरुद्धं जल्पतः ।  
 तान् दुर्जनान् । सुजनः सत्पुरुषः । अवमन्यते उदासीनं करोति । १०५॥ इतीति । युवेशस्य सुवर्णनाभस्य ।  
 इति एवं प्रकारैः । आलापे वचनैः । अपमानितः भङ्गितः । मानवान् अभिमानवान् । स धर्मपालः ।  
 अलक्ष्यमोक्षसंधानान् अलक्ष्ये लक्षयितुमयोग्यं मोक्षो मोक्षनं संधानं स्वीकरणं च येषां तान् । शरान् बाणान् ।

सब मिलकर के भी मेरे आगे टिक सकते हो तो ठहरो ( अभी मजा चखाते हैं ) ॥१०१॥ नीच  
 पुरुषके योग्य उसके इन वचनोंको सुनकर युवराज सुवर्णनाभ अपने धनुषकी डोरीका बार-बार  
 स्पर्श करता हुआ यों बोला—॥१०२॥ मा की चपलताको सूचित करनेवाले इन नीच मनुष्योंके  
 योग्य वचनोंसे क्या लाभ ? यदि शक्तिका अभिमान है तो आओ, अब विलम्ब न करो ॥१०३॥  
 आपने जो वचन कहे हैं, वे हमारे कहने योग्य नहीं हैं । क्योंकि महान् पुरुष अपनेको नीचों-  
 जैसा नहीं बनाना चाहते ॥१०४॥ चूँकि पापी दुर्जन लोग अपनी ही दुर्नीतिसे जला करते हैं,  
 इसलिए यद्वा तद्वा बोलनेवाले उन लोगोंकी सज्जन लोग उपेक्षा कर दिया करते हैं ॥१०५॥  
 युवराज सुवर्णनाभके इन वचनोंसे अपमानित होकर अहंकारी धर्मपालने रोषपूर्वक दनादन  
 बाण मारना शुरू कर दिया । वह इतनी शीघ्रतासे बाण बरसा रहा था, कि दर्शकोंको उनके

१ आहूक ख ग घ मं भामुशन् । २. अ सह । ३. इ वमन्यते । ४. = धर्मपालसंबन्धिनीम् ।  
 ५. आ भामुशन् । ६. = चपलतायाः । ७. वा दर्शमानैः । ८. स लेट् । ९. वा 'सह' इति नास्ति । १०. = न  
 समीकुर्वन्ति । ११. = पापिनः । १२. = अवजानाति समुपेक्षते वा । १३. = अवज्ञातः । १४. वा त एषां  
 शब्दः ।

अर्धमार्गगतामेव तदीयामिषुसंहतिम् ।  
 सोऽप्यच्छिन्नदक्षिच्छिन्ने रोपे रोपितकामुङ्कः ॥१०७॥  
 शिलीमुखक्षये प्रासैः कुन्तैः प्रासपरिक्षये ।  
 कुन्तक्षयेऽसिभिर्वीरो तावकम्पौ प्रजहृतः ॥१०८॥  
 द्वावप्यतुलसामर्थ्यौ द्वावप्यस्त्रकृतश्रमौ ।  
 न जानीमो जयः क्वेति समशेत बलद्वयम् ॥१०९॥  
 चिरयुद्धपरिश््रान्तः प्रहृत्य स ततोऽसिना ।  
 दध्रे सुवर्णनाभेन पृथिवीपालनन्दनः<sup>१</sup> ॥११०॥  
 बन्दिमिः स्तूयमानस्तं बन्दीकृत्य<sup>२</sup> सुदुर्जयम् ।  
 हर्षाश्लिषि<sup>३</sup>लनेत्रस्य निनाय पितुरन्तिकम् ॥१११॥

रोपात् कोपात् । अमुचत् अमुञ्चत् । मुञ्चुञ् मोक्षणे लङ् ॥१०६॥ अर्थेति । रोपितकामुङ्कः रोपितमारोपितं कामुङ्क<sup>१</sup> चापं येन सः । सोऽपि सुवर्णनाभोऽपि । अर्धमार्गगताम् अर्धमार्गमायातमेव । तदीया धर्मपालसंबन्धिनीम् । इषुसंहतिम् इषूणां बाणानां संहति सन्दोहम् । अविच्छिन्नैः निरन्तरैः । रोपैः बाणैः । अच्छिन्नात् अखण्डयत् । छिद्मं विदारणे लङ् ॥१०७॥ शिलीमुखेति । अकम्पौ चलनरहितौ । सो युवराजधर्मपालौ । वीरो वीरौ । शिलीमुखक्षये शिलीमुखानां बाणानां क्षये नाशे सति । प्रासैः पट्टपायुधैः । प्रासपरिक्षये सति प्राक्षानां परिक्षये सति । कुन्तैः कोणैः । कुन्तक्षये सति कुन्तानां क्षये नाशे सति । असिभिः खड्गैः । प्रजहृतुः युयुधाते । हृज् हरणे लिट् ॥१०८॥ द्वावपि युवराजधर्मपालश्चपि । अतुलसामर्थ्यौ अतुलमुपमारहितं सामर्थ्यं यद्योस्तौ । द्वावपि उभावपि । अस्त्रकृतश्रमौ अस्त्रेषु आयुधेषु कृतौ विहितः श्रमोऽप्यासौ ययोः<sup>४</sup> तौ । जय विजयः । क्वेति कस्मिन्निति । न जानीम न बुद्धयामहे । जा अबोधने लट् । बलद्वयं सैन्यद्वयम् । समशेत अशङ्कतं । शोङ् स्वप्ने लङ् । सशयः ॥१०९॥ चिरंति । ततः पश्चात् । चिरयुद्धपरिश््रान्तः चिरं बहुसमयपर्यन्तं युद्धे संग्रामे<sup>५</sup> परिश््रान्त आयस्तः । सः पृथिवीपालनन्दनः धर्मपालः । असिना खड्गेन । प्रहृत्य प्रहरणं कृत्वा । सुवर्णनाभेन<sup>६</sup> युवराजेन । दध्रे बिभ्रे<sup>७</sup> । धृज् धरणे कर्मणि लट् ॥११०॥ बन्दिमिरिति । बन्दिमिः स्तुतिपाठकैः । स्तूयमानः प्रशस्यमानः । सुदुर्जयं जेतुमशक्यम् । तं धर्मपालम् । बन्दीकृत्य<sup>८</sup> बन्धनं<sup>९</sup> विधाय । हर्षाश्लिषि<sup>१०</sup>लनेत्रस्य हर्षादानन्दाज्जातास्त्रेण बाणोदकेन<sup>११</sup> आश्लिषे<sup>१२</sup> आश्लिषे नेत्रे नयने यस्य तस्य । पितुः पश्चिनाग्रस्य । अन्तिकं समीपम् । निनाय नयति स्म । नोङ् ( नीज् ) प्रापणे लिट् । जातिः ॥१११॥

छोड़ने और रखनेका कुछ पता ही नहीं पड़ रहा था ॥१०६॥ सुवर्णनाभने भो धनुष चढ़ा लिया और लगातार बाणोंकी बरसा करके धर्मपालके बाणोंकी परम्पराको बीचमें ही काट डाला ॥१०७॥ बाणोंके समाप्त होनेपर प्रासोंसे, और प्रासोंके समाप्त होनेपर भालोंसे, और भालोंके भी समाप्त हो जानेपर तलबारोंसे, वे दोनों वीर निर्भय होकर एक दूसरेपर प्रहार करते रहे ॥१०८॥ 'दोनों' अनुपम सामर्थ्यों युक्त हैं, और दोनोंने ही अस्त्रविद्यामे परिश्रम किया है । अतः न जाने दोनोंमें कौन जीतेगा, ? इस प्रकार दोनों ही सेनाएँ सन्देहमें पड़ गयीं ॥१०९॥ बहुत देर तक युद्ध करनेसे पृथिवीपालका पुत्र धर्मपाल थक गया, तब उसने तलवारका वार किया, पर उससे बचकर सुवर्णनाभने धर्मपालको पकड़ लिया ॥११०॥ अजेय धर्मपालको बन्दी बनाकर सुवर्णनाभ, जिसको स्तुति स्तुति पाठककर रहे थे, अपने पिताके पास ले गये । पुत्रकी

१. म सावकम्पौ । २. अ<sup>१</sup>पालस्य नन्दनः । ३. आ इ बन्धीकृत्य । ४. आ हर्षाश्लिषि<sup>३</sup> । ५. = चापः । ६. = याम्यां । ७. आ आशकत, श अशङ्कतं । ८. = युद्धेन संग्रामेण । ९. श सुवर्णराजेन । १०. = बभ्रे । ११. श बन्धीकृत्य । १२. = बन्दिनं । १३. आ हर्षोदकेन । १४. श 'आश्लिषे' इति नास्ति ।

परंतपस्तडिद्वक्त्रं चित्राङ्गः सिंहविक्रमम् ।

विजिग्ये वरुणं कण्ठस्थं चन्द्रकीर्तिं सुकुण्डलः<sup>१</sup> ॥११२॥

अन्येऽपि रिपुपक्षस्था राजानो ये डुडौकिरे ।

ते पद्मनाभसामन्तैः कृता भग्नमनोरथाः ॥११३॥

अत्रान्तरे क्रुधाधावत्स्वयमेव महाबलः ।

पृथिवीपालभूपालः करालीकृतलोचनः ॥११४॥

तमसाधारणैश्चिह्नैः प्रत्यभिज्ञाय मन्त्रिणः ।

पद्मनाभमिति स्थित्वा कर्णमूले व्यजिज्ञपन् ॥११५॥

देव कोऽप्ययमत्यन्तममानुषबलः खलः ।

अयते<sup>३</sup> पृथिवीपालः समस्तकपटालयः ॥११६॥

परमिति । परतपः<sup>४</sup> राजा । तडिद्वक्त्रं<sup>५</sup> तडिद्वक्त्रराजम् । चित्राङ्गः चित्राङ्गनामा राजा । सिंहविक्रमनामानम् । कण्ठः कण्ठसंज्ञः । चन्द्रकीर्तिं चन्द्रकीर्तिनामानम् । सुकुण्डल सुकुण्डलाख्यः । विजिग्ये जयति स्म । वि षि अभिमवे लिट् । 'जे लिट् सनि' इति कवगादेशः । यथासंख्यालङ्कारः ॥११२॥ अन्य इति । रिपु-पक्षस्थाः रिपोः शत्रोः पक्षस्थाः सहाये तिष्ठन्तः । अन्येऽपि शेषा अपि ये कश्चित् । राजानः भूपाः । डुडौकिरे<sup>६</sup> युयुकिरे । लिट् । ते सर्वे । पद्मनाभसामन्तैः पद्मनाभपक्षस्थभूर्पैः । भग्नमनोरथा भग्नोऽवमदितो मनोरथो जयामिलाषो येषां ते । कृता, विहितः ॥११३॥ अत्रेति । अत्रान्तरे अत्रावसरे । महाबलः महद् बलं शौर्यं यस्य सः । करालीकृतलोचनः करालीकृते भयकर विहिते<sup>७</sup> लोचने नयने यस्य सः । पृथिवीपालभूपालः पृथिवीपालभूपः । स्वयमेव असहाय एव । क्रुधा कोपेन । अधावत्<sup>८</sup> शीघ्रमगच्छत् । आति ॥११४॥ तमिति । मन्त्रिणः सचिवाः । असाधारणैः असामान्यैः । चिह्नैः पताकादिचिह्नैः । तं पृथिवीपालम् । प्रत्यभिज्ञाय विज्ञाय<sup>९</sup> । कर्णमूले तस्य श्रोत्रसमीपे । स्थित्वा आसित्वा । पद्मनाभं<sup>१०</sup> पद्मनाभभूपतिम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । व्यजिज्ञपन् विज्ञापयन्ति स्म<sup>११</sup> ॥११५॥ देवेति । देव भो स्वामिन् । अन्यन्तम् अधिकम् । अमानुषबलः अमानुष<sup>१२</sup> देवसंभवं बलं सामर्थ्यं यस्य सः । खलः धूर्तः । कोपा कोपवान् । अयम् एवः । समस्तकपटालयः समस्तानां सर्वेषां कपटानां व्याजानामालयो निलय इति । पृथिवीपालः पृथिवीपालनृपः ।

विजयसे उस समय उसकी आँखोंसे हर्षाश्रु प्रवाहित हो रहे थे । ॥१११॥ परन्तपने तडिद्वक्त्रको, चित्राङ्गदने सिंहविक्रमको, कण्ठने वरुणको और सुकुण्डल राजाने राजा-चन्द्रकीर्तिको जोत लिया ॥११२॥ शत्रुपक्षके और भी जो राजे लड़नेके लिए सामने आये, पद्मनाभके सामन्तोंने उनकी आशाओपर पानी फेर दिया—उन्हे पराजित कर दिया और उनके मनोरथको भग्न कर दिया ॥११३॥ इस अवसरपर महाबली पृथिवीपाल स्वयं लड़नेके लिए दौड़ता हुआ आया । उसकी आँखें क्रोधके कारण बड़ी भयंकर दिख रही थी ॥११४॥ असाधारण चिह्नोंसे उसे पहचानकर—मन्त्रियोंने पद्मनाभके निकट जाकर उसके कानमें यों निवेदन किया—॥११५॥ हे राजन् ! यह पृथिवीपाल बड़ा क्रोधी है, अत्यधिक देवबलसे सम्पन्न है, धूर्त है और सभी प्रकारके

१. अ कस्तुष्व<sup>१</sup> । २. क ख ग घ सकुण्डलः । ३. क ख ग घ म स्तूपते । ४. = परंतपनामा ।

५. टीकाकृता पूर्वं 'तडिद्वक्त्रं' ततः 'परंतप' पदं व्याख्यातम् । ६. = संयुगे समयाया । ७. = भयंकरे विहिते । ८. = स्वरितमायातः । ९. आ विज्ञाय इति नास्ति । १०. आ 'पद्मनाभ' इति नास्ति । ११. वा तस्य व्यजिज्ञपत् विज्ञापयति स्म । १२. = दिव्यं ।

तदस्मिन्नप्रमत्तेन महर्तुं स्वयमुत्थिते ।  
 योद्धव्यं स्वामिना नायमवज्ञाविषयो रिपुः ॥११७॥  
 इति मन्त्रिगिरं कृत्वा हृदये दयितामिव ।  
 बभूव संमुखं शत्रोः सज्जीकृतशरासनं ॥११८॥  
 पादरक्षसमूहेन परिवारितकुञ्जरो ।  
 तावभीयतुरन्योन्यमनन्यसमविक्रमो ॥११९॥  
 उभावुभयमायोद्धुं निषिध्य बलमुद्यतम् ।  
 दपदिकाकिनावेव प्रारेभाते महाहवम् ॥१२०॥  
 शिलीमुखशतैश्चुम्भास्तयोस्तिर्यग्विषसपिभिः ।  
 अदृश्यन्त दिगाभोगाः पतदुल्कात्करा इव ॥१२१॥

भूयते आकण्ठ्यते । श्रु अवघेने कर्मणि लिट् । जातिः ॥११६॥ तदिति । तदस्मिन् तदेतस्मिन् पृषिवीपाले ।  
 प्रहर्तुं प्रहरणाय । स्वयं स्वस्मिन् । उपस्थिते आयाते सति । अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन । स्वामिना स्वया ।  
 योद्धव्यं युद्धं कर्तव्यम् । अयम् एवः । रिपुः शत्रुः । अवज्ञाविषयः अवज्ञायां उदासीनस्य विषयो गोचरः ।  
 न भवति ॥११७॥ इतीति । इति एवम् । मन्त्रिगिरं मन्त्रिणां सचिवानां गिरं वाणीम् । दयितामिव  
 वनितामिव । हृदये चित्ते । कृत्वा विधाय । सज्जीकृतशरासनः सज्जीकृतं सनद्धीकृतं शरासनं चापं येन सः ।  
 शत्रोः रिपोः । संमुखः अभिमुखः । बभूव भवति स्म । लिट् ॥११८॥ पादेति । पादरक्षसमूहेन पादानां  
 गजपादानां रक्षाणां रक्षकाणां भटानां समूहेन निकरेण । परिवारितकुञ्जरो परिवारितो परिवृतो गजो  
 ययोस्ती । अनन्यसमविक्रमः अनन्यसमः 'अन्यसमान रहितो असाधारणेति विक्रमः पराक्रमो' ययोस्ती । तो  
 पक्षनाभपृषिवीपालो । अन्योन्यं परस्परम् । अभीयतुः अभिजगमतुः ॥११९॥ उभाविति । उभौ द्वौ भूपालौ ।  
 आयोद्धुम् आसमन्ताद् योधनाय । उद्यतम् उद्युक्तम् । उभयं द्वयम् । बलं सेनाम् । निषिध्य निवार्य । दपत्  
 गवात् । एकाकिनावेव असाहायवेव । 'एकादाकिञ्चासहायं' इति आकिन्-प्रत्ययः । महाहवं महायुद्धम् ।  
 प्रारेभाते उपचक्रमाते । रभि रामस्ये लिट् । प्रथमपुरुषद्विवचनम् ॥१२०॥ शिलीमुखेति । त्रियन्विषसपिभिः  
 त्रियङ्गुरूपेण गच्छद्भिः । तयोः भूपयोः । शिलीमुखशतैः शिलीमुखानां बाणानां शतैरनेकैः । चुम्भाः व्याप्ताः ।  
 दिगाभोगाः दिशां ककुभाभोगाः समूहाः । पतदुल्कात्करा इव पतन् उल्कानामुत्कराः समूहो येषां त इव ।

कपटोंका घर है—पूरा चार सौ बीस है, ऐसा सुना जाता है—॥११६॥ यह स्वयं आपके  
 ऊपर प्रहार करनेके लिए—आपसे लड़नेके लिए उपस्थित हुआ है । अतः इसके साथ आपको  
 बड़ी सावधानीसे युद्ध करना चाहिए ? यह शत्रु उपेक्षा करने योग्य नहीं है ॥११७॥ इस  
 प्रकारकी मन्त्रियोंकी वाणीको, जो प्रियाके समान प्यारी थी, हृदयमे रखकर, एवं धनुषको  
 सजाकर पक्षनाभ शत्रुके सामने जा पहुँचा ॥११८॥ असाधारण पराक्रमको धारण करनेवाले वे  
 दोनों आमने-सामने आ गये । दोनों हाथियोंपर सवार थे, और दोनोंके हाथियोंके पैरोंके पास  
 बहुतसे रक्षक खड़े हुए थे ॥११९॥ यो दोनोंकी सेनाएं युद्ध करनेके लिए तैयार थीं, पर उन्हें  
 रोककर दोनों राजोंने—जिन्हें अपने पराक्रमपर गर्व था—अकेले ही घोर संग्राम शुरू कर दिया  
 ॥१२०॥ दोनोंके तिरछी गतिसे फैलनेवाले सैकड़ों बाणोंने सारी दिशाओंके मध्यभागको भर  
 दिया । उस समय वह ऐसा दृष्टिगोचर हो रहा था मानो गिरती हुई उल्काओंके समूहसे घिर

१. अ पादरक्षा । २. = औदासीन्यस्य । ३. टोकायां पक्षमिव पूर्व व्याख्यातं तदनन्तरं तदस्मि-  
 न्प्रत्यादि ( ११७ ) । ४. = अन्येन समोऽन्यसमो नायसमोऽन्यसमोऽसाधारण इत्यर्थः । ५. अ पराक्रमः  
 शक्तिः । ६. अ एकाकिनावेवासहायानामेव । ७. = येषु ।

तच्छस्त्रकौशलालोकविनिश्चलविलोचनम् ।  
 भुवि भूमिभुजां सैन्यं तस्यौ दिवि दिवौकसाम् ॥१२२॥  
 चलनैर्वलनैः स्थानैर्वलनैर्मर्मवञ्चनैः ।  
 तथोरभुवनुयुद्धं दृष्ट्वा दण्डवत्प्रणम्य ॥१२३॥  
 याम्यान्मुञ्चतारानि रनिष्ठितशरः शरान् ।  
 रोपैरर्धांगतानेव पद्मनाभो लुलाव तान् ॥१२४॥  
 शिलोमुखैरजस्योऽयं धनुर्वेदविशारदः ।  
 इति मत्वा क्षिपत्प्रासात्स प्रयासविवर्जितः ॥१२५॥  
 खण्डयामास तानध्वंश्चन्द्रैश्चन्द्रोज्ज्वलाननः ।  
 गुरुः सुवर्णनाभस्य सुवर्णाचलनिश्चलः ॥१२६॥

अदम्यन्त अवैश्यन्त<sup>१</sup> । दृष्टुं प्रेक्षणे कर्मणि लङ्<sup>२</sup> । उपमा<sup>३</sup> [उत्प्रेक्षा] ॥१२२॥ तदिति । तच्छस्त्रकौशलालोक-  
 विनिश्चलविलोचनं तयोः पद्मनाभपृथिवीपालयोः शास्त्राणां बाणानां कौशलस्य<sup>४</sup> प्रौढत्वस्य आलोकं बोधने  
 निश्चले निष्पन्दे विलोचने नयने यस्य तत् । भूमिभुजां भूपानाम् । सैन्यं सेना । भुवि भूमौ । तस्यौ विष्ठति  
 स्म । लिट् । दिवौकसा देवानाम् । सैन्यम् । दिवि नगने । तस्यौ । दोषकम् ॥१२२॥ चलनैरिति । दृष्टदो-  
 र्दण्डवत्प्रणम्योः दुःसायां गर्विताभ्यां दोर्दण्डाभ्यां भुजदण्डाभ्यां चण्डयोर्वलिष्ठयोः । तयो भूपयोः । चलनैः  
 स्थानान्तरंगमनैः । चलनैः पर्यटनैः । स्थानैः स्थितिक्रियाभिः । चलनैः [ चलनैः ] लङ्घनक्रियाभिः ।  
 मर्मवञ्चनैः मर्मणो मर्मस्थानस्य वञ्चनैः प्रतारणैः । धनुर्मुद्ध चापयुद्धम् । अभूत् अभवत् । लुङ् ।  
 जातिः ॥१२३॥ यानिति । अनिष्ठितशराः अनिष्ठिता अक्षया शरा बाणा यस्य सः । अराति. शत्रुः ।  
 यात् यान् कास्मान् । शरान् बाणान् । अमुञ्चत अमुञ्चन् । लङ् । अर्धंगतानेव<sup>५</sup> अर्धगतपर्यन्तम्  
 आगतानेव । तान् शरान् । पद्मनाभः पद्मनाभभूपतिः । रोपैः बाणैः । लुलाव छिनत्ति स्म ॥१२४॥  
 शिलोमुखैरिति । धनुर्वेदविशारदः धनुर्वेदे धनुर्विद्यायां विशारदो निपुणः । अयं पद्मनाभः । शिलोमुखैः शरैः ।  
 अजस्यः जेतुमशक्यः । 'क्षय्यजस्यौ शक्तौ' इति साधुः । इति एवं मत्वा प्रयासविवर्जितः प्रयासेन श्रमेण  
 विवर्जितो रहितः । स पृथिवीपालः । प्रासात् कुन्तान् । अक्षिपत् प्रेरितवान् । क्षिप प्रेरणे लङ् ॥१२५॥  
 खण्डयामासेति । चन्द्रोज्ज्वलाननः चन्द्रवदुज्ज्वलं भासमानमाननं मुखं यस्य सः । सुवर्णाचलनिश्चलः सुवर्णा-  
 चल इव महामेरुवद् निश्चलो निष्कम्पः । सुवर्णनाभस्य युवराजस्य । गुरुः पिता पद्मनाभः । तान् कुन्तान् ।  
 अध्वंश्चन्द्रैः अध्वंश्चन्द्राकारबाणैः । खण्डयामास खण्डयति स्म । खड्गं मन्थे णिजन्ताल्लिट् । उपमा ॥१२६॥

गया हो ॥१२१॥ उनके शस्त्रकौशलको देखकर पृथ्वीपर राजाओंका सैन्य और आकाशमें  
 देवोंका वृन्द अपलक दृष्टि होकर खड़ा था ॥१२२॥ सगर्वं भुजबलसे युक्त और क्रुद्ध दोनों  
 राजाओंका धनुर्मुद्ध हुआ, जो, स्थान बदलने, मुड़ने, एक स्थानपर खड़े रहने, लड़ने और  
 मर्म स्थल की सुरक्षाके लिए एक-दूसरेको छकानेकी दृष्टिसे दर्शनीय था ॥१२३॥ पृथिवीपालके  
 बाण जहाँ तक पहुँचना चाहिए वहाँ तक नहीं पहुँच रहे थे; क्योंकि वह जिन बाणोंको छोड़ता  
 था वे आधे मार्ग तक ज्यों ही पहुँचते थे त्यों ही पद्मनाभ उन्हें अपने बाणोंसे काट डालता था  
 ॥१२४॥ 'यह पद्मनाभ धनुर्विद्यामें प्रवीण है, अतः बाणोंसे जीतने योग्य नहीं है ।' यह सोचकर  
 पृथिवीपालने उसके ऊपर भाले फेंकना शुरू कर दिया । इसमें वह उस प्रयाससे मुक्त हो गया,  
 जो प्रत्यञ्चा लोभनेमें करना पड़ रहा था ॥१२५॥ सुवर्णनाभके पिता पद्मनाभने, जो सुमेरु

१. आ आवैश्यन्त । २. आ दृशि । ३. आ लिट् । ४. आ 'उपमा' इति नोपलभ्यते । ५. = निपु-  
 ण्यस्य । ६. स नामात्तरम् । ७. = अर्धमार्गपर्यन्तम् । ८. = चिक्षेप ।

स चक्राणि विचिक्षेप क्षेपेण रहितो हृषा ।  
 तानि सोवर्णमालश्च चूर्णयामास मुद्गरैः ॥१२७॥  
 शक्तिं शक्तित्रयाक्रान्तविष्टपो विससर्ज सः ।  
 गदाभिघातैस्तां वन्यां व्यघ्राग्रन्तपुराधिपः ॥१२८॥  
 परशुं वाहयामास कृत्यासन्नं स दन्तिनम् ।  
 वनकेलिवरेणासौ वज्रमुष्टया कणीकृतः ॥१२९॥  
 ततो मुमुक्षतः शङ्कुं तस्य सोमप्रभाप्रियः ।  
 चञ्चलचक्रेण चिच्छेद् कदलीकन्दवच्छिद्रः ॥१३०॥  
 विद्रुते विद्रिषां सैन्ये विलोक्य पतनं प्रभोः ।  
 रणं संशोचयामास वनकेलिशिरः स्पृशन् ॥१३१॥

स इति । क्षेपेण कालविलम्बेन । रहितः विरहितः<sup>३</sup> । स पृथिवीपालः । हृषा कोपेन । चक्राणि चक्रायुधानि । विचिक्षेप क्षिपति स्म । सोवर्णमाल सुवर्णमालाया अपत्यं पद्मनाभश्च । मुद्गरैः अयोदण्डैः । चूर्णयामास विषयामास (?) । लिट् ॥१२७॥ शक्तिमिति । शक्तित्रयाक्रान्तविष्टपः शक्तौनां प्रभुशक्त्यादीनां त्रयेणाक्रान्तं व्याप्तं विष्टपं जगद् यम्यं सः । सः पृथिवीपालः । शक्तिं शक्त्यायुधम् । विससर्ज विक्षेप । सुज विसर्गे लिट् । रत्नपुराधिपः रत्नपुरस्याधिपः । पद्मनाभः । गदाभिघातैः दण्डाघातैः । ता शक्तिम् । वन्या निष्फलम् । व्यघात् अकरोत् । वृषाद् धारणे च लुङ् ॥१२८॥ परशुमिति । सः पृथिवीपालः । दन्तिनं गजम् । आसन्नं समीपम् । कृत्वा विधाय । परशुं वाहयामास आनयामास<sup>४</sup> । बहि प्रापणे निजन्ताल्लिट् । असौ परशुः । वनकेलिवरेण वनकेलिगजस्य वरेण प्रभुणा पद्मनाभेन । वज्रमुष्ट्या वज्रमुष्टयायुधेन । कणीकृतः चूर्णीकृतः ॥१२९॥ तत इति । ततः पश्चात् । शङ्कुं शल्यायुधम् । मुमुक्षतः मोक्तुमिच्छोः । तस्य पृथिवीपालस्य । शिरः मस्तकम् । सोमप्रभाप्रियः सोमप्रभाया देव्याः प्रियो दयितः, पद्मनाभः । चञ्चलचक्रेण चञ्चलता प्रज्वलता चक्रेण चक्रायुधेन । कदलीकन्दवत् कदल्या रम्भायाः कन्दवद् मूलवत् । चिच्छेद छिनत्ति स्म । छिद्रुत्<sup>५</sup> विदारणे लिट् ॥१३०॥ विद्रुत इति । प्रभो स्वामिन । पतनं मरणम् । विलोक्य वीक्ष्य । विद्रिषां शत्रूणां । सैन्ये सेनाधाम् । विद्रुते पलायिते सति । वनकेलिशिरः वनकेलिगजस्य शिरोमस्तकम् । स्पृशन् आस्फालयन् ।

पर्वतके समान निष्कम्प था और जिसका चेहरा पूर्णचन्द्रके समान निर्मल था, अर्धचन्द्राकार बाणोंसे पृथिवीपालके भालोको काट डाला—॥१२६॥ फिर पृथिवीपालने क्रुद्ध होकर शीघ्र ही चक्र फेकना शुरू कर दिया, जिन्हें सुवर्णमालाके पुत्र पद्मनाभने मुद्गरोंसे चूर-चूर कर डाला ॥१२७॥ फिर पृथिवीपालने—जिसकी प्रभु, मन्त्र और उत्साह इन तीन शक्तियोंकी चर्चा सारे संसारमे होती थी—शक्ति नामक आयुध चलाना शुरू कर दिया, किन्तु उसे भी रत्नपुरके स्वामो पद्मनाभने गदाके प्रहारसे निष्फल कर दिया ॥१२८॥ पृथिवीपालने अपने हाथीको पासमें ले जा करके पद्मनाभके ऊपर परशुका प्रहार किया, जिसे वनकेलि नामक हाथीके स्वामी—पद्मनाभने वज्रमुष्टि नामक अस्त्रसे चूर-चूरकर डाला ॥१२९॥ इसके उपरान्त पृथिवीपाल शङ्कु नामक अस्त्र छोड़ना ही चाहता था, पर सोमप्रभाके पति पद्मनाभने सिरको अपने चमकदार चक्रसे केलेकी जड़की तरह काट डाला ॥१३०॥ अपने स्वामी पृथिवीपालका पतन देखकर शत्रुओंकी सेना भाग गयी । फिर पद्मनाभने वनकेलिका सिर थपथपाते हुए युद्धभूमिका संशोधन-निरीक्षण

१. क ख ग घ म तलसुराधिपः । २. अ क ख ग घ म केलिवरेणासौ, इ नवकेलिवरेणासौ ।

३. वा 'विरहितः' इति नापलभ्यते । ४. = पुमान् । ५. = घेन । ६. आ रत्नसुराधिपः रत्नसुरस्याधिपः ।

७. आ आनयति स्म । ८. आ 'वज्रमुष्ट्या' इति पदं नास्ति । ९. आ छिद्रि ।



युद्धमूर्ध्नि शवीभूतान्बन्धूनुद्धित्य बान्धवाः ।

संस्कारं प्रापयामासुरिन्धनीकृतसायकाः ॥१३२॥

अथ केनचिदानीय सेवकेन कृतं पुरः ।

पश्यन्निति शिरः शत्रोनिर्वेदमगमन्नुपः ॥१३३॥

धिक्छमोदशं कर्म करोति कथमीरितः ।

लक्ष्म्या कुलटया लोकः क्षणरक्तविरक्तया ॥१३४॥

विपत्संपदि जागर्ति जरा जागर्ति यौवने ।

मृत्युरायुषि जागर्ति वियोगः प्रियसंगमे ॥१३५॥

पचनामः । रणं संग्रामम् । [ सं ] शोधयामास शोधयति स्म<sup>१</sup> । शुधि शौचे लिट् ॥१३१॥ युद्धेति । युद्धमूर्ध्नि युद्धस्य मूर्ध्नि अग्रे । शवीभूतान् विगतप्राणान् । बन्धून् बान्धवान् । इन्धनीकृतसायकाः इन्धनीकृताः काष्ठीकृताः सायका येषां<sup>२</sup> ते । बान्धवाः । उच्छिन्न<sup>३</sup> राशोकृत्य<sup>४</sup> । संस्कारं दहनम् । प्रापयामासु यापयन्ति स्म । आप्त् व्याप्तौ लिट् ॥१३२॥ अथेति । अथ दहनानन्तरम् । केनचित् एकेन । सेवकेन भूत्येन । आनीय आदाय । पुर अग्रे । कृतं विहितम् । रिपोः पृथिवीपालस्य । शिर मस्तकम् । पश्यन् वीक्षमाणः । नृप. पचनामः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । अगमत् गच्छति । गम्लु गतौ लुङ् ॥१३३॥ धिगिति । क्षणरक्तविरक्तया क्षणमल्पकालं रक्त. प्रीतो विरक्तो विगतप्रीतिर्यस्या तथा । कुलटया पुंस्त्वल्पा । लक्ष्म्या संपदा । ईरितः प्रेरित । लोकः जनः । ईदृशम् एतादृशम् । कष्टं कृच्छ्रम् । कर्म व्यापारम् । कथं केन प्रकारेण । करोति विदधाति । लट् । धिक्<sup>५</sup> ॥१३४॥ विपदिति । संपदि संपत्तौ । विपत् विपत्ति । जागर्ति प्राप्नोति, सपद् विपदवसाना-इत्यर्थः । यौवने सति सारुण्ये सति । जरा वार्धक्यम् । जागर्ति प्राप्नोति । आयुषि सति । मृत्युः मरणम् । जागर्ति । प्रियमङ्गमे प्रियाणा मित्राणा मङ्गमे सति । विगमः

किया ॥१३१॥ युद्धभूमिके अगले भागमें मारे गये बन्धुघोको खोजकर उनके बन्धु-बान्धवोंने बाणोंकी चिता तैयार करके उनका अग्नि संस्कार किया ॥१३२॥ इसके बाद किसी सेवकने पृथिवीपालका कटा हुआ सिर लाकर राजा पचनामके आगे रख दिया, जिसे देखते-देखते उसे इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न हो गया-॥१३३॥ लक्ष्मी पूरी वेदया है जो क्षणभर ही राग दिखलाकर विरक्त हो जाती है । इसी लक्ष्मी रूपी कुलटासे प्रेरित होकर लोग कैसे ऐसे छोटे-छोटे कर्म कर डालते हैं ? ओह धिक्कार है ! ऐसी बातोंके बारेमें सोचने ही खेद होने लगता है ॥१३४॥ सम्पत्ति होनेपर विपत्ति उस ( सम्पत्ति ) का स्थान पानेके लिए जागरूक रहती है, यौवन आने-पर बुढ़ापा उसे नष्ट करनेकी ताकमे रहता है, आयु या जीवन प्राप्त होनेपर मृत्यु उसे घातनेके लिए सावधान रहती है और इष्ट समागम होनेपर उसका वियोग जागरण करता है । सम्पत्तिके बादमें विपत्ति, यौवनके बादमें बुढ़ापा, जीवनके बादमें मरण और प्रियके समागमके

१. आ बोधयामास बोधयति स्म । बुधि धानोलिट् । २. आ... यातान् । ३. = यैः । ४. श उच्छिन्नय ।  
= बन्धूननविष्य । ५. आ हूरोकृत्य । ६. = दाहसंस्कारम् । ७. = क्षणं म्वल्पकालं रक्ता पश्यद्विरक्ता तथा  
८. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'लक्ष्मीकुलटया' इति सम्पुल्लभ्यते । ९. आ श दिक् ।

नावियोगः सुहृत्सङ्गो न जन्मामृत्युदूषितम् ।  
 यौवनं नाजराग्रस्तं श्रीर्नापदकटाक्षिता ॥१३६॥  
 रक्षायै प्रजया दत्तं षण्ठांशं वेतनोपमम् ।  
 गृह्णन्भुतकवन्मूढो राजाहमिति मन्यते ॥१३७॥  
 क्रोधादिभिरयं जीवः कषायैः कलुषीकृतः ।  
 तत्किञ्चित्कुरुते कर्म यत्स्वस्यापि भयावहम् ॥१३८॥  
 भ्रातृन्हन्ति पितृन्हन्ति हन्ति बन्धून् निरागसः ।  
 हन्यात्मानमपि क्रोधाद्विक्रोधमविचारकम् ॥१३९॥  
 हन्ता यथाहमस्यात्र परत्रैव तथैव मे ।  
 संसारे हि विद्यते न बलवीर्यविभूतयः ॥१४०॥

वियोगः । जागति । यथासंख्यम् ॥१३५॥ नेति । अवियोगः वियोगरहितः । सुहृत्सङ्गः सुहृदां मित्राणां सङ्गः संयोगः । न नास्ति । अमृत्युदूषितं मृत्युना मरणेनादूषितं दूषणरहितम् । जन्म<sup>१</sup> जातिः । न नास्ति । अजराग्रस्तं जरया वार्धक्येनाग्रस्तं रहितम् । यौवनं तारुण्यम् । न नास्ति । आपदकटाक्षिता आपदा विपत्त्या अकटाक्षिता अविकलिता । श्रो गन्तु । न नास्ति ॥१३६॥ रक्षायै इति । रक्षायै पालनाय । प्रजया जनेन । दत्तम् अपितम् । वेतनोपमं भूतदेयवमम् । षण्ठांशं षष्ठम् अंशं भागम् । भूतकवत् कर्मकरवत् । गृह्णन् स्वीकुर्वन् । मूढः अजः । अहं राजा इति प्रभुः इति । मन्यते बुध्यते । बुधिं मनिं ज्ञाने लट् । आक्षेपः ( ? ) ॥१३७॥ क्रोधेति । क्रोधादिभिः क्रोधप्रमूढैः । कषायैः<sup>२</sup> चतुष्कषायैः । कलुषीकृतः कल्मषीकृतः<sup>३</sup> । अयम् एषः । जीवः प्राणी । यत् । किञ्चित् ईषत् । कर्म कार्यम् । स्वस्य [ अपि ] आत्मनोऽपि । भयावहं भयं कुर्वन् । तत् कार्यं । कुरुते विधत्ते । लट् ॥१३८॥ भ्रातृमिति । क्रोधात् कोपात् । निरागसः निरपराधान् । भ्रातृन् सहोदरान् । हन्ति हिनस्ति । हन् हिमागन्त्यालट् । पितृन् जनकान् । हन्ति हिनस्ति । बन्धून् बन्धुजनान् । हन्ति । आत्मानमपि स्वमपि<sup>४</sup> । हन्ति । अविचारकं विचारशून्यम् । क्रोधं क्रोधपरिणामम् । धिक् । 'हा धिक् समया—' इत्यादिना द्वितीया । आक्षेपः ( ? ) ॥१३९॥ हन्तेति । अत्र इह लोके । अहं यथा येन प्रकारेण । अन्य एतस्य । हन्ता हिसक । 'कृन्कामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । तथैव तेन प्रकारेणैव । परत्र परलोके । एषः अयम् । मे मम । हन्ता भविष्यति । संसारे<sup>५</sup> जन्मनि । बलवीर्यविभूतयः बलम् औपाधिकशक्तिः तत्त्व,

बादमें उमका वियोग निश्चित है ॥१३५॥ वियोग रहित इष्ट संयोग, मरण रहित जन्म, बुढ़ापा रहित यौवन और विपत्ति रहित सम्पत्ति नहीं हो सकती । संयोगके पीछे वियोग, जन्मके पीछे मृत्यु, यौवनके पीछे बुढ़ापा और सम्पत्तिके पीछे विपत्ति निश्चित है ॥१३६॥ रक्षणके लिए प्रजाके द्वारा वेतनके समान उपजका जो छठा भाग ( टैक्स ) दिया जाता है, उसे नौकर की भांति ग्रहण करनेवाला मूर्ख पुरुष अपनेको राजा मानता है ॥१३७॥ क्रोध आदि चार कषायोंसे कलुष किया गया यह जीव कुछ ऐसे कर्म कर डालता है, जो स्वयं उसे भी भयावह होते हैं ॥१३८॥ क्रोधके आवेशमें आकर यह पुरुष अपने निरपराध भाई, पिता और बन्धुओंको भी मार डालता है । और तो और स्वयं अपनेको भी मार डालता है—आत्मघात कर बैठता है । धिक्कार है ऐसे क्रोधको, जो विचारोंका दिवालिया होता है ॥१३९॥ जेमे यहाँ मैं इसका जीवन नष्ट कर रहा हूँ—इसे जानसे मार रहा हूँ, उसी प्रकारसे परलोकमें यह भी मेरे जीवनको नष्ट करेगा—जानसे मार डालेगा । इस जन्ममें मैं इसका हन्ता हूँ तो

१. आ जयावहम् । २. क ख ग घ म बन्धूनपि निरागसः । ३. क ख ग घ म 'मविचारकः । ४. = उत्पत्तिः । ५. = क्रोधमानमायालोभः । ६. हा 'कल्मषीकृतः' इति नास्ति । ७. = भयकारि । ८. = कर्म । ९. हा स्वयमपि । १०. = संसृती ।



आज्ञां सुवर्णनाभस्य कुर्वीस्तिष्ठ पितुः पदे ।  
 शान्तयित्वेति शोकार्ते पृथिवीपालनन्दनम् ॥१४६॥  
 'पादानतानवशाय सामन्तान्सह सुनुना ।  
 स श्रीधरमुनेरन्ते शिष्ये भ्रमणभ्रियम् ॥१४७॥  
 ज्ञानार्द्धपुपजातायां सहैव व्रतरोपणैः ।  
 दीक्षासमय एवास्य शिक्षासमयतां ययौ ॥१४८॥  
 द्वादशाङ्गभूताधारो द्वादशादित्यभासुरः ।  
 प्रत्यहं बृंहयामास स द्वादशविधं<sup>१</sup> तपः ॥१४९॥  
 विधिभिर्विधिचकारैः सिंहनिष्क्रीडितादिभिः ।  
 कर्मणा सह तस्यासीत्तनुस्तनुरतन्निद्रणः ॥१५०॥

वाहनेः सहितम् । राज्यं स्वामित्वम् । युवराजस्य सुवर्णनाभाय । वितीयं दत्त्वा ॥१४५॥ आज्ञामित ।  
 सुवर्णनाभस्य युवराजस्य । आज्ञाम् अनुज्ञाम् । कुर्वन् सन् । पितुः जनकस्य पृथिवीपालस्य । पदे स्थाने ।  
 तिष्ठ प्रवर्तस्व । इति एवम् । शोकार्ते शोकेन दुःखेनार्ते पीडितम् । पृथिवीपालनन्दनं पृथिवीपालस्य नन्दनं  
 तनयम् । शान्तयित्वा<sup>२</sup> सतर्पयित्वा ॥१४६॥ पादेति । सुनुना तनयेन सुवर्णनाभेन । सह साकम् । पादानताम्  
 पादयोश्चरणयोः पानतान् । सामन्तान् राज्ञः । अनुज्ञायै समन्तं कारयित्वा । सः पद्मनाभः । श्रीधरमुनेः श्रीधरा-  
 चार्यस्य । अन्ते समीपे । भ्रमणभ्रियं तपोलक्ष्यम् । शिष्ये शिष्येण । शिष्यं<sup>३</sup> । सेवायां लिट् । निर्भिविशेष-  
 क्यं ॥१४७॥ ज्ञानार्धविति<sup>४</sup> । व्रतरोपणैः व्रतानां पञ्चमहाव्रतानां रोपणैः स्वीकारैः । सहैव साकमेव ।  
 ज्ञानदौ बुद्धयदौ । उपजाताया सत्या संजाताया सत्याम् । अस्य पद्मनाभमुनेः । दीक्षासमय एव दीक्षाकार-  
 एव । शिक्षासमयतां शिक्षाकालत्वम् । ययौ जगाम । या प्रापणे । सहोषित ॥१४८॥ द्वादशेति । द्वादशाङ्ग-  
 भूताधारः द्वादशाङ्गस्य द्वादशावयवस्य श्रुतस्वाधार आश्रयभूतः । द्वादशादित्यभासुरः द्वादशादित्यवद् द्वादश-  
 सूर्यवद् भामुरो देदीप्यमानः । सद्वादशविधं<sup>५</sup> द्वादशविधैर्द्वादशभेदैः सहितम् । तपः । प्रत्यहं प्रतिदिनम् ।  
 बृंहयामास वर्धयामास<sup>६</sup> । बृह्<sup>७</sup> वृद्धौ लिट्<sup>८</sup> ॥१४९॥ विधिभिरिति । सिंहवि ( निष् ) क्रीडितादिभिः सिंहवि  
 ( निष् ) क्रीडितविधानमादियेषां तैः । विधिचकारैः विविधा अनेके आकारा भेदा येषां तैः । विधिभिः  
 तपोभिः । अतन्निद्रणः आलस्यवर्जितस्य । तस्य पद्मनाभमुनेः । तनुः शरीरम् । कर्मणा दुरितेन । सह साकम् ।

पद्मनाभने युवराज सुवर्णनाभको पुर और वाहन सहित राज्य देकर—। 'युवराज सुवर्णनाभकी  
 आज्ञाका पालन करते हुए तुम अपने पिताके पदपर बैठे रहो' इन शब्दोंमें पृथिवीपालके शोका-  
 कुल पुत्र धर्मपालको शान्त करके—। और सुवर्णनाभके साथ अपने चरणोंमें झुके हुए समस्त  
 सामन्तोंको घर जानेको अनुमति देकर श्रीधर मुनिके निकट जिनदीक्षा ले ली ॥१४५॥१४६॥-  
 १४७॥ पञ्च महाव्रत ग्रहण करनेके साथ ही ज्ञान ऋद्धि उत्पन्न हो जानेसे पद्मनाभको दीक्षाका  
 समय ही शिक्षाका समय हुआ ॥१४८॥ द्वादशाङ्ग श्रुतको जाननेवाले और बारह सूर्यों के समान  
 तेजकी धारण करनेवाले पद्मनाभने प्रतिदिन बारह प्रकारके तपको बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया  
 ॥१४९॥ सिंह निष्क्रीडित आदि व्रतोंको अनेक प्रकारकी विधियोंसे पद्मनाभका—जिसे प्रमाद

१. म सान्त्वयि<sup>१</sup> । २. क ख ग घ म पदान<sup>२</sup> । ३. अ<sup>३</sup> शमिदं । ४. = पालयन् सन् । ५. आ  
 सान्त्वयित्वा । ६. = आज्ञाय । ७. आ श श्रीङ् । ८. आ श कुलकम् । ९. श 'ज्ञानार्द्धपुप' इत्यादिपद्यस्य  
 व्याख्या नोपलभ्यते । १०. = सः पद्मनाभः । द्वादशविधं द्वादश विधाः प्रकारा यस्य तत्, द्वादशप्रकारक-  
 मित्यर्थः । ११. श 'वर्धयामास' इति नास्ति । १२. श बृह् । १३. आ 'लिट्' इति नास्ति ।

त्रयोदशविधं तस्य चारित्रं चरतश्चिरम् ।  
तीर्थहृत्कारणानीति समपद्यन्त षोडश ॥१५१॥  
सम्यग्दर्शनसंशुद्धिः शङ्कादिपरिवर्जिता ।  
सधर्मिणि गुरौ वृद्धे श्रुते च विनयोऽधिकः ॥१५२॥  
व्रतेष्वहिंसाप्रभृतिष्वतिचारविपर्ययः ।  
तदङ्गेषु च शीलेषु क्रोधसंत्यजनादिषु ॥१५३॥  
ज्ञानोपयोगः सततमुपधानादिपूर्वकः ।  
संबन्धो घोरसंसारदुःखभीरुत्वलक्षणः ॥१५४॥  
त्यागश्चाभयदानादिप्रविभेदसमन्वितः ।  
तपश्चानूदसामर्थ्यं शरीरकलेशलक्षणम् ॥१५५॥

तनुः कृशा । आसीन् अभवत् । लङ् । सङ्गतिः ॥१५०॥ त्रयोदशेति । त्रयोदशविध त्रिभिरधिका दश त्रयोदश, 'द्वादशत्रय' इति त्रय-आदेशः, त्रयोदश विधा भेदा यस्य तत् । चारित्र्यम् आचारम् । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । चरतः आचरत । तस्य पधनाभने । षोडश पद्भिर्भरिका दश षोडश । 'एकादश' इत्यादिना षोडश इति साधु । तीर्थकृत तीर्थकरनामकर्मणः । काराणि हेतवः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । समपद्यन्त समभवन् । पवि<sup>३</sup> गतो लङ् ॥१५१॥ सम्यगिति । शङ्कादिपरिवर्जिता शङ्कादिनि । शङ्कादिवर्जन-दोषैः परिवर्जिता रहिता । सम्यग्दर्शनसंशुद्धिः सम्यग्दर्शनस्य संशुद्धिः । दर्शनविशुद्धिरिति भावना । सधर्मिणि समानो धर्मो यस्य तस्मिन् । 'सः समानस्य धर्मादिषु च' इति समानस्य न-इत्यादेशः । 'धर्मादन् द्वि पदान्' इति अन्नन्त<sup>४</sup> । गुरो विद्यागुरो शिक्षागुरो च । वृद्धे ज्ञानादिगुणैः प्रवृद्धे<sup>५</sup> । श्रुते च परमागमे च । अधिक बहुलः । विनयः विनयगुणः । विनयसंपन्नतेति भावना । जातिः ॥१५२॥ व्रतेष्विति । अहिंसाप्रभृतिषु अहिंसा अशान्तिवधः प्रभृति मुख्यं येषां तेषु । व्रतेषु पञ्चमहाव्रतेषु । क्रोधसंत्यजनादिषु क्रोधस्य कोपस्य संत्यजनं विषर्जनं तदादि येषां ( तेषु ), उत्तमक्षमादिषु—इति भावः । तदङ्गेषु तेषां व्रतानामङ्गेषु कारणेषु च । शीलेषु शीलव्रतेषु । अतिचारविपर्ययः अतिचारस्य वधाद्यतिक्रमस्य विपर्ययोः भावः । शीलव्रतेष्वतिचारभावना ॥१५३॥ ज्ञानेति । सततम् अनवरतम् । उपदा ( धा ) नादिपूर्वकः, उपदा ( धा ) नादि-नियमपुरःसरं विद्यास्वी-कारादिः, स एव पूर्वो यस्य स । ज्ञानोपयोगः ज्ञानस्यागमज्ञानस्योपयोगोऽभ्यासः, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगभावना । घोरसंसारदुःखभीरुत्वलक्षणं घोरासंसारव्रजते दुःखे (जाताद् दुःखाद्) भीरुत्वं भयत्वं तदेव लक्षणं यस्य सः संबन्धः, संबन्धभावना ॥१५४॥ त्याग इति । अभयदानादिप्रविभेदसमन्वितः अभयस्य दानमादिपेया तेषां प्रविभे-

नहीं था—शरीर, कर्मके साथ-ही-साथ क्षीण होने लगा ॥१५०॥ चिरकाल तक तेरह प्रकारके चारित्रको पालन करनेवाले पधनाभने दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओको—जो तोषं कर पद दिला नेमे कारण है—माना शुरू कर दिया ॥१५१॥ ( १ ) शका आदि पञ्चीस दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शनको विशुद्धि, दर्शनविशुद्धि कहलाती है ( २ ) सधर्मा, गुरु, वृद्ध और परमा-गमके विषयमें अधिक विनय करना विनयसम्पन्नता कहलाती है ॥१५२॥ ( ३ ) अहिंसा आदि व्रतों और क्रोध आदिके परित्याग रूप शीलमें—जो व्रतोंके अंग है—अतिचार नहीं लगने देना शीलव्रतानतिचार है ॥१५३॥ ( ४ ) निरन्तर नियम पूर्वक ज्ञानाभ्यास करना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है । ( ५ ) संसारके घोर दुःखोंसे डरना संबन्ध है ॥१५४॥ ( ६ ) अभयदान आदि अनेक

१. क ख ग घ 'व्रजितः । २. आ हेतुः । ३. आ पद । ४. आ 'धर्मादिनिश्च केवलान्' इत्यन्नन्तः । ५. वा 'ज्ञानादिगुणैः प्रवृद्धे' इति नीपलभ्यते । ६. वा मुख्यो । ७. = शास्त्राभ्यासाद्योपवासादिको यो विधिः पूर्वमारभ्यते स 'उपधानम्'—इत्युच्यते ।

समाधिस्तपसो विघ्ने कुतश्चित्समुपस्थिते ।

गुणिनां दुःखसंपाते वैयावृत्यसमुद्यमः ॥१५६॥

भक्तियोगोऽर्हदाचार्येष्वनुरागैकलक्षणः ।

बहुश्रुतेषु चाशेषशास्त्रार्थग्रन्थभेदेषु ॥१५७॥

श्रुते च द्वादशाङ्गादिबहुभेदसमन्विते ।

वर्णनामवश्यकार्याणां क्रियाणामपरिच्युतिः ॥१५८॥

देन विशेषेण<sup>३</sup> समन्वितः । त्यागश्च, शक्तितत्प्रागभावना । अगूढसामर्थ्यम्<sup>४</sup> अगूढमव्यवहितं सामर्थ्यं यस्य<sup>५</sup> तत् । शरीरक्लेशलक्षणं शरीरस्य कायस्य क्लेशनिग्रह एव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् । तपश्च, शक्तितत्त्वपोभावना ॥१५५॥ समाधिरिति । तपसः बाह्याभ्यन्तरभेदस्य । कुतश्चित् । चारित्र ( ? ) विघ्ने<sup>६</sup> अन्तराये । समुपस्थिते सति संजाते सति । समाधिः<sup>७</sup>, साधुसमाधिभावना । गुणिना सद्गुणयुक्तसाधूनाम् । दुःखसंपाते दुःखस्य संपाते संबन्धे सति । वैयावृत्यसमुद्यमं वैयावृत्यस्य करचरणादिसंवाहनादेरुद्यम उद्योगः, वैयावृत्यकरणभावना ॥१५६॥ अर्हतीति । अर्हदाचार्येषु अर्हति अर्हन्परमेष्ठिन, आचार्येषु च आचार्यपरमेष्ठिषु च । अशेषशास्त्रार्थ-ग्रन्थभेदेषु<sup>८</sup> ( ग्रन्थभेदेषु ) अशेषस्य समस्तस्य शास्त्रस्य आगमस्य अर्थस्य ग्रन्थभेदेषु ग्रन्थभेदयुक्तेषु ( ग्रन्थ-भेदेषु मर्मस्थलोद्घाटकेषु ) । बहुश्रुतेषु<sup>९</sup> च उपाध्यायपरमेष्ठिषु च । आनुरागैकलक्षणः अनुराग एव प्रीतिरेव एकं मुख्यं लक्षणं स्वरूपं यस्य स<sup>१०</sup> । भक्तियोगः, अर्हदाचार्यबहुश्रुतभक्तिभावना ॥१५७॥ श्रुत इति । द्वादशाङ्गादिबहुभेदसमन्विते द्वादशाङ्गादिभिः<sup>११</sup> द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वादिभिर्बहुभेदैरनेकावकैः<sup>१२</sup> समन्विते संयुक्ते । श्रुते च परमागमे च ।<sup>१३</sup> भक्तियोगः, प्रवचनभक्तिभादना । अवश्यकार्याणाम् अवश्यं नियमेन कार्याणां<sup>१४</sup> करणीया-नाम् । वर्णना पटस्ख्यानाम् । क्रियाणां प्रतिक्रियादिक्रियाणाम् । अपरिच्युतिः अपरित्यागः । पडावश्यक-

प्रकारका विधिपूर्वकं यथा शक्ति दान करना शक्तितत्प्राग है । ( ७ ) सामर्थ्यका न छिपाकर—यथाशक्ति कायक्लेश सहना शक्तितत्प्राग है ॥१५५॥ ( ८ ) साधुके तपमें कहींसे विघ्न उपस्थित होनेपर उसे दूर करना साधुसमाधि है । ( ९ ) गुणी पुरुषोके ऊपर दुःख आ पड़नेपर उसे दूर करनेके लिए उनकी सेवा-शुश्रूषाका उद्यम करना—वैयावृत्य है ॥१५६॥ ( १०—१३ ) अर्हन्तों, आचार्यों, समस्त परमागमके अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी ग्रन्थोंकी ग्रन्थार्थां स्त्रोले-वाले बहुश्रुत विद्वानों अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठियों और बारह अंग आदि नाना भेदोंवाले श्रुत—प्रवचनके विषयमें अनुराग रखना अर्हन्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचन भक्ति है । ( १४ ) छह आवश्यक क्रियाओंका यथा समय करना, उनका परित्याग नहीं करना

१. क न्व ग च 'समुद्यतः । २. आ इ 'ग्रन्थभेदेषु, म ग्रन्थवेदेषु । ३. = प्रविभागेन । ४. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'अगूढसामर्थ्यशरीरक्लेशलक्षणम्' इति समस्तमेकवदमुपलभ्यते । ५. = यस्मिन् । ६. आ चारिष्ययोगेन । ७. = तत्प्रशमनम् । ८. सा करचरणयोः संवाहः । ९. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु क्वचिद् 'ग्रन्थभेदेषु' क्वचिद् 'ग्रन्थवेदेषु' क्वचिच्च 'ग्रन्थभेदेषु' पाठः समुपलभ्यते । १०. आ बहुश्रुतेषु । ११. सा तस्य द्वादः । १२. सा तस्य भक्तिः । १३. सा 'अवश्यं नियमेन कार्याणां' इति नोपलभ्यते ।

मार्गमावनाज्ञानतपःप्रभृतिकारणैः ।  
 तथा दर्शनवात्सल्यं सधर्मस्नेहलक्षणम् ॥१५९॥  
 इति शिवसुखसिद्धये भाष्यबोधरीता  
 रहितसकलसङ्गो भावना<sup>१</sup> शुद्धभावः ।  
 परहितकरचर्याबद्धबुद्धिर्वबन्ध  
 व्रतनियमसमृद्धस्तीर्थपूजामकर्म ॥१६०॥  
 संन्यस्य सङ्गमल्लिखं निरवघवृत्ति-  
 राराध्य दृक्चरणबोधतपांस्यपांसु ।  
 त्यक्त्वा तपोभरतनुं स्वतनुं स धीरो  
 भजे सुरालयमनुत्तरवैजयन्तम् ॥१६१॥

परिहाणिभावना ॥१५८॥ मार्गेति । ज्ञानतपःप्रभृतिकारणैः ज्ञानतपसो प्रभृती<sup>३</sup> मुख्ये येषां तैः । कारणैः हेतुभिः । मार्गमावना जिनधर्मप्राकट्यकरणं मार्गमावना । तथा तेन प्रकारेण । सद्ध(ध)र्मस्नेहलक्षणं सधर्मिणि चतुःसङ्गे स्नेह एव प्रीतिरेव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् । दर्शनवात्सल्यं दर्शने वात्सल्यम् । प्रवचन-वात्सल्यमावना ॥१५९॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । एताः द्वाः । षोडश षोडशसंख्याका<sup>४</sup> । भाषनाः । शिवसुखसिद्धये शिवसुखस्य मोक्षसुखस्य सिद्धये साधनाय । भावयन् ध्यायन् । रहितसकलसङ्गः रहितभयकः सकलो निःखिन्नः सङ्गः परिग्रहो येन सः । शुद्धभावः शुद्धो निर्मलो भावविषयं यस्य सः । परहितकरचर्या-बद्धबुद्धिः परेशामन्येषां हितकरे<sup>५</sup> मोक्षकरणे चर्ये प्रवर्तने आबद्धा विहिता बुद्धियस्य सः । बराकान्<sup>६</sup> इत्येवं भावनापर इत्यर्थः ( ? ) । व्रतनियमसमृद्धः व्रतैरहिंसादिव्रतनियमैरनक्षनादिव्रतैः समृद्धः संपूर्णः सन् । तीर्थ-कुन्नायकर्म तीर्थकर, वनायकर्म<sup>७</sup> । बन्ध बध्नाति स्म ॥१६०॥ संन्यस्येति । निरवघवृत्तिः निरवघा निर्दोषा वृत्तियस्य सः । अपासुः न विद्यते पासु, पापं यस्य सः । धीरः धैर्ययुक्तः । सः पद्मनाभमुनिः । अखिलं सकलम् । सङ्गं परिग्रहम् । संन्यस्य त्यक्त्वा । दृक्चरण<sup>८</sup> बोधतपामि दृग् दर्शनं सा च, चरणं चरित्रं तत्त्व, बोधो ज्ञानं स च, तपश्च तपोकाणि । आराध्य आराधना कृत्वा । तपोभरतनु तपोभरेणातिशयेन तनुं कृशाम् । स्वतनुं स्वस्य तनुं शरीरम् । त्यक्त्वा विमुच्य । अनुत्तरमनुत्तरनाभामं वैजयन्तं वैजयन्तविमानम् ।

आवश्यकपरिहाणि है ॥१५७॥१५८॥ ( १५ ) ज्ञान और तप आदि कारणोंसे सम्मार्गकी प्रभावना करना मार्गप्रभावना है । ( १५ ) तथा सधर्मसे स्नेह करना, उसे देखते ही निःस्वार्थ प्रेम—वात्सल्य प्रकट करना प्रवचन वात्सल्य है । ॥१५९॥ इन सोलह भावनाओंको मोक्षसुखकी सिद्धिके लिए भाते हुए समस्त परिग्रहके त्यागी, शुद्ध परिणामी, परोपकार करनेवाली चर्यामें बुद्धि लगानेवाले और व्रत तथा नियमोंसे समृद्ध पद्मनाभने तीर्थकर प्रकृतिका—जो नाम कर्मके भेदोंमें परिगणित है—बन्ध कर लिया ॥१६०॥ मुनि पद्मनाभकी वृत्ति निर्दोष थी । वे स्वयं निष्पाप थे और वे धीर । उन्होंने समस्त परिग्रहका परित्याग करके, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपकी आराधना की । फिर अन्तमे तपस्याके प्रकर्षसे कृश हुए अपने शरीरको छोड़कर वे अनुत्तर वैजयन्त नामक स्वर्गमें चले गये ।—सोलह स्वर्ग, नव ग्रहेयक और नव अनुदिशोंके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं; वैजयन्त उन्हीमेंसे एक है, जिसे पद्मनाभने प्राप्त

१. अ क ख ग घ ङ सधर्म<sup>१</sup> । २. इ भावना । ३. श प्रभृति । ४. श षोडशसंख्या । ५. श हित-करणे । ६. आ बद्धदेवबराकान् । ७. श 'तीर्थकरत्वनामकर्म' इति नास्ति । ८. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु 'दृक्चरण' इत्येव दुस्मते ।

कुल्लम्बलीकुसुमसदृशामोदमामोदितां  
रत्नज्योत्स्नारुचिरमचिराद्देहमासाद्य सद्यः ।  
दिव्यैः पुण्योदयपरिणतैस्तत्र भूत्वाहमिन्द्रो  
रेमे भोगैस्त्रयसमधिकत्रिशदब्धिप्रमायुः ॥१६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

सुरालयं स्वर्गम् । मेजे भजति स्म ॥१६१॥ कुल्लम्बिति । कुल्लम्बलीकुसुमसदृशामोदं फूलन्तीनां विकस-  
न्तीनां मल्लीनां मल्लिकानां कुसुमानां पुष्पाणां सदृशः समान आमोदः परिमलो यस्य तम् । आमोदिताशम्  
आमोदिताः परिमलिता आशा यस्य ( येन ) तम् । रत्नज्योत्स्नारुचिरं रत्नानां ज्योत्स्नया आह्लादनाकार-  
किरणेन रुचिरं मनोहरम् । देहं शरीरम् । अचिरं शीघ्रम् । आसाद्य मल्लवा । तत्र वैजयन्ते । त्रय-  
समधिकत्रिशदब्धिप्रमायु त्रयेण समधिकानां त्रिशतोऽब्धीनां सागराणां प्रमा प्रमाणमायुर्जिवितं यस्य सः ।  
अहमिन्द्रः अहमिन्द्राक्ष्यः । सद्यः तदैव । भूत्वा समुत्पद्य । पुण्योदयपरिणतैः पुण्यानां प्रघटकर्मणामुदयेन  
परिणतैर्जातैः । दिव्यैः विवि भवैः । भोगैः सुखैः । रेमे रमते स्म । रमि<sup>२</sup> क्रीडायां लिट् ॥१६२॥

इति श्री वीरनन्दिकृताबुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च  
विद्वन्मनोबल्लभाख्ये पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

किया ॥१६१॥ वहाँपर पद्मनाभने शीघ्र ही ( अन्तर्भूतमें ही ) दिव्य शरीर प्राप्त कर लिया,  
जो विकसित मल्लीलताके फूलके समान सुगन्धित था और इसीलिए सारी दिशाओंको सुगन्धित  
करनेवाला था, तथा रत्नोंकी प्रभासे अत्यन्त ही सुन्दर था । वहाँपर पद्मनाभ अहमिन्द्र हुआ;  
उसको आयु तेतीस सागर प्रमाण थी । वह पुण्य कर्मके ऊपरसे प्राप्त हुए दिव्य भोगोंको भोगकर  
आनन्द करने लगा ॥१६२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्ग चन्द्रप्रमचरित महाकाव्यमें  
पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५॥



## [ १६. षोडशः सर्गः ]

लक्ष्मीवानिह भरते सरोजखण्डरुद्धरेण विधुदीधितिप्रकाशैः ।  
 स्वैश्चिह्नैर्नैरिव परितो विराजमानो देशानामधिपतिरस्ति पूर्वदेशः ॥१॥  
 भारेण स्तनकलशद्वयस्य यस्मिन्नुत्थानं मुहुरसहा विदग्धगोप्य ।  
 गीतेन स्फुटकलमाग्रमञ्जरीणां लुण्ठाकं हरिणगणं विमोहयन्ति ॥२॥  
 चीत्कारारवधचिरीकुताखिलाशयेभ्राह्मणमिव विदग्धदिभिरिज्यन्त्रैः  
 व्याकृष्टाः सरसरसामृतं पिबन्तः पान्थौघा न पथि परिश्रमं विदन्ति ॥३॥

श्रीमत्समुद्रविजयक्षितिपानपुत्रं नानानिनादितमहोदधुरपाञ्चजन्यम् ।

शङ्खजं दशधनुःप्रतिमं(पमितं)जिनेशं नेमोदवरं प्रतिभवे(जे)हरिवंशजातम् ॥

लक्ष्मीवानिति । अथ अनुत्तरगमनान्तरम् । इह जम्बूद्वीपे । भरते भरतक्षेत्रे । विधुदीधितिप्रकाशैः विधोश्चन्द्रस्य दीधितिर्वि प्रकाशः कात्तिर्येषां तैः । उद्गृहैः उन्नतैः । सरोजखण्डे सरोजना कमलानां खण्डैः कदम्बैः । स्वैः स्वतंत्रबन्धिभिः । चिह्नैरिव छत्रादिभिरिव । परितः समन्तात् । विराजमानः भासमानः । लक्ष्मीवान् शोभावान् । देशानां जनपदानाम् । अधिपतिः प्रभुः । पूर्वदेशः पूर्व इति देशः अस्ति वतते । लट् । उत्प्रेक्षा ॥१॥ भारेणेति । यस्मिन् देशे । स्तनकलशद्वयस्य<sup>१</sup> स्तनावेव कलशौ तयोर्द्वयं तस्य । भारेण । मुहुः<sup>३</sup> पश्चात् । उत्थातुम् उत्थानाय । असहा असमर्थाः । विदग्धगोप्य विदग्धा, प्रोढाः गोप्यो गोपमित्रायः । स्फुटकलमाग्रमञ्जरीणां स्फुटकलमानां स्फुटानां परिणमानां शालि<sup>२</sup>संस्थानामये विद्यमानानां मञ्जरीणां स्तवकानाम् । लुण्ठाकम् अपहरन्तम् । हरिणगणं हरिणानां गणं समूहम्<sup>४</sup> । गीतेन गानेन । विमोहयन्ति परवशं कुर्वन्ति । मुह वैचित्र्यं लट् । अतिशयः ॥२॥ चीत्कारेति । यत्र<sup>५</sup> पूर्वदेशे । चीत्कारारवधचिरीकुताखिलाः चीत्कारेण चीत्काररूपेणारवेण बचिरीकुतां अखिला निखिला आशा दिशो येषां तैः । आह्वानम् आह्वानम् । विदग्धदिभिरिव कुर्वद्भिर्वि । इज्यन्त्रैः । व्याकृष्टा आकारिताः । सरसरसामृतं सरसो माधुर्ययुक्तो रस इक्षुरसः स एवामृतं तत् । पिबन्तः पानं कुर्वन्तः । पान्थौघाः पान्थानां पथिकानामोघाः समूहाः । 'निस्थं णः पन्थश्च' इति व-प्रत्ययः पन्थादेशश्च । पथि मार्गे । परिश्रमं श्रमम् । विदन्ति न जानन्ति<sup>६</sup> । विद जाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥३॥

इसके उपरान्त—इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमे एक पूर्वदेश है, जो शोभा और लक्ष्मीसे सम्पन्न है और सभी देशोंका राजा है । उन्नत मृणालवाले एवं चन्द्रमाकी किरणोंके समान सफ़ेद कमलोंसे वह ऐसा जान पड़ता है मानो सभी ओरसे अपने राजचिह्नों—छत्र आदिसे सुशोभित हो ॥१॥ जिस देशमें कृपोबलोंकी कुशल महिलाएँ स्तनकलशोंके भारके कारण बार-बार उठनेमें असमर्थ हैं । अतः वे अपने खेतोंमें विकसित धानकी बालियोंको उजाड़नेके लिए आनेवाले हरिणोंके झुण्डको गानमे मोह लेती हैं । फलतः वह मूछित-सा होकर खड़ा रह जाता है—उजाड़ नहीं करता ॥२॥ जिस देशमे 'ची...चो ...' शब्दसं भारी दिशाओंकी बधिर करने-वाले इक्षुयन्त्र—काल्हू अपने शब्दसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो रसपान करनेके लिए पथिकोंके समूहको बुला रहे हों । उनके शब्दसे आकृष्ट हुए राहगीर मधुर इक्षुरसरूपी अमृतका पान करके मार्गमें थकानका अनुभव नहीं करते—रस पीते ही उनकी थकान पच जाती है ॥३॥

१. श 'लट्' इति नास्ति । २. आ श 'द्वयेन' । ३. = पुनः पुनः । ४. आ शाखसम्या । ५. आ 'लुण्ठाकम्' इति नास्ति, श प्रती 'लुण्ठन्तम्' इत्यस्ति । ६. श 'समूह' इति नापेक्ष्यते । ७. आ 'यत्र' इति नास्ति । ८. = यैः । ९. श 'न जानन्ति' इति नास्ति ।

संतापप्रसरमुषः समाश्रितानां तुङ्गत्वे सति फलसंपदा नमस्तः ।  
 सच्छायाः सरसतया सदैव यत्र सादृश्यं दधति महीरहा महद्भिः ॥४॥  
 नीरन्ध्रैर्विपुलफलैरकृष्टपच्यैः संपन्नं सुरकुहवत्समस्तसस्यैः ।  
 न स्पृष्टं यमलमवग्रहा ग्रहोत्था निर्दोषं नरमिव दुर्जनापवादा ॥५॥  
 संगीतध्वनिमुखरैर्विराजमाना प्रासादैः शशधरबिम्बचुम्बनोत्कैः ।  
 तत्रास्ति त्रिदशपुरीष राजधानी विख्याता त्रिजगति चन्द्रपूर्यभिर्या ॥६॥  
 चिस्तीर्णोन्नतशिखरावलीकराग्रैरुष्माभिव विदधन्निराश्रयस्य ।  
 कारुण्यात्पवनपथस्य भाति यस्यां प्राकारो ध्वजरमणीयगोपुराग्रः ॥७॥

संतापेति । यत्र<sup>१</sup> देशे । समाश्रितानाम् आश्रितजनानाम् । संतापप्रसरमुषः संतापस्य प्रसरं प्रचारं<sup>२</sup> ।  
 मुष्णन्तीति तथोक्ताः । तुङ्गत्वे औन्नत्ये सति । फलसंपदा कथानां संपदा समृद्ध्या । नमस्तः विनता ।  
 सच्छायाः अनातपेन युक्ताः, ( पत्ते ) कात्या युक्ताः । 'छाया स्यादातपाभावे सत्कान्त्युत्कोचकान्तिषु ।  
 प्रतिबिम्बैर्ज्वालायां तथा पङ्क्तौ च पालने ॥' सरसतया जलयुक्तया, ( पत्ते ) पन्निराजयुक्तया । सदैव  
 सर्वदैव । महद्भिः मत्सुहृदैः । सादृश्यं समानत्वम् । दधति धरन्ति । लट् । श्लेषोपमा ॥४॥ मीरन्ध्रैरिति ।  
 नीरन्ध्रैः निरन्तरेः । विपुलफलैः विपुलानि सान्द्राणि फलानि येषां तैः । अकृष्टपच्यैः<sup>३</sup> अकृष्टं पच्यं येषां तैः ।  
 समस्तसस्यैः समस्तैः सर्वैः सस्यैः । सुरकुहवत् देवकुहनामोत्तमभोगभूमिवत् । संपन्नं समृद्धम् । यं पूर्वदेशम् ।  
 ग्रहोत्थाः ग्रहैरादित्यादिनवग्रहैरुत्था उत्पन्ना । अवग्रहाः दुर्मिशाणि । निर्दोषं पापरहितम् । जनं लोकम् ।  
 दुर्जनापवादाः दुर्जनैर्विहिता अपवादा निन्दाः । इव । स्पृष्टं स्पर्शनाय । नालं न समर्था भवन्ति । 'शक्तार्थ-  
 वषट्—' इत्यादिना अलं शब्दयोगे चतुर्थी । उपमा ॥५॥ संगीतेति । तत्र देशे । संगीतध्वनिमुखरैः संगीतस्य  
 ध्वनिना रवेण मुखरैर्वाचालैः । शशधरबिम्बचुम्बनोत्कैः शशधरस्य चन्द्रस्य बिम्बस्य मण्डलस्य चुम्बने स्पर्शने  
 उत्कैरुत्तमैः । प्रासादैः इर्म्यैः । विराजमाना भासमाना । त्रिदशपुरीष त्रिविशानां देवानां पुरीष पुरमिव ।  
 [ त्रि ] जगति लोके [ लोकत्रये ] । विख्याता प्रसिद्धा । चन्द्रपूर्यभिर्या चन्द्रपुरी इत्यभिर्या नामधेयं यस्याः  
 सा । राजधानी पुरी । अस्ति वर्तते । उपमा ॥६॥ चिस्तीर्णोति । यस्या चन्द्रपूर्यम् । ध्वजरमणीयगोपुराग्रः  
 ध्वजैः पताकाम्नी रमणीयं मनोहरं गोपुराणां ( पुर- ) द्वाराणामग्रमूर्ध्वभागा यस्य सः । प्राकारः सालः ।

जहाँपर वृक्ष महान् पुरुषोके समान दृष्टिगोचर होते हैं । महान् पुरुष अपने आश्रयमें आनेवालोंके मानसिक सन्तापके वेगको दूर कर देते हैं, धन-सम्पत्तिकी दृष्टिसे उन्नत होकर भी विनम्र होते हैं, सुन्दर कान्तिमें युक्त होते हैं और होते हैं सदा सरस । इसी प्रकार उस देशके वृक्ष अपने आश्रयमें आनेवालोंके सन्तापको शान्त कर देते हैं, खूब उन्नत होकर भी फलोंके लगनेपर झुक जाते हैं, घनी छायावाले हैं और हैं हमेशा हरे-भरे ॥४॥ वह देश सघन, अधिकसे अधिक फल देनेवाले और बिना जोते ही पैदा होनेवाले सभी प्रकारके अनाजोंसे देवकुह—उत्तम भोग-भूमिकी भाँति समृद्ध है । सूर्य आदि ग्रहोंके प्रकोपसे उत्पन्न होनेवाले अवग्रह—सूखा आदि उसे छू भी नहीं सकते, जैसे दुर्जनोके द्वारा लगाये गये अपवाद निर्दोष मनुष्यको नहीं छू सकते ॥५॥ उस देशकी राजधानीका नाम चन्द्रपुरी है । वह पुरी सुगुरीकी भाँति दोनों लोकोंमें विख्यात है । वह ऐसे महलोंसे मुशोभित है, जिनमें संगीतकी ध्वनि गूँजती रहती है, और जो अत्यधिक उन्नत होनेसे ऐसे प्रनीत होते हैं मानो चन्द्रबिम्बकी चूमनेके लिए उत्सुक हों ॥६॥ उस राजधानीके चारों ओर प्राकार-बहारदीवारी बना हुआ है । उसमें चारों

१. म गृहोत्था । २. आ तत्र । ३. न प्रचुरं । ४. = कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्यानि न कृष्टपच्यान्कृष्टपच्यानि ।

काचाद्रिप्रतिमबिलोलबोचिनाम्भःखातेनापरिमितकुक्षिणा निजेन ।

या शोभां वहति समन्वतः परीता तद्रज्जाम्यभिलषता पयोचिनेष ॥८॥

यत्रोर्ध्वरुहनिचयः परं वियोगी सर्पादिः समजनि केवलं विलापी ।

वैरस्यं परमतिपीडितेषुदण्डे संग्रामे परमभयद् गदाभिघातः ॥९॥

पातालोदरमिव सेधितं सहस्रैर्नागानां हृदयमिधोरु सज्जनानाम् ।

शाक्यानां मतमिव यत्र भूमिकाभिर्बद्धीभिः स्थितमवभाति राजवेष्टम् ॥१०॥

विस्तीर्णोन्नतशिखराबलीकरार्धः विस्तीर्णानां विशालानामुन्नतानां प्रायुनां शिखराणामावृत्य एव खेणय एव (कराप्रापि तै) कराग्रैर्हस्ताग्रैः । निराश्रयस्य निर्गताधारस्य । पवनपक्ष्य गगनरथः । कारुण्यात् दयायाः । वतम्भां हस्ताधारम् । विदधन्निव कुर्वन्निव । भाति विराजते । भा दीप्ती लट् । उत्प्रेक्षा ॥७॥ काचेति । काचाद्रिप्रतिमबिलोलबोचिना काचाद्रेरञ्जनपर्वतस्य प्रतिमाः समाना विलोलाश्चञ्चला बोचयस्तरङ्गा यस्मिन् तेन । अपरिमितकुक्षिणा अपरिमितोऽप्रमितः कुक्षिरुदर यस्य तेन । निजेन स्वकीयेन । अम्भःखातेन अम्भसो जलस्य खातेन खातिकया । तद्रत्नानि तस्य पुरस्य रत्नानि मणौ । अभिलषता वाञ्छता । पयोचिनेष समुद्रेणैव । समन्वतः परितः । परीता परिवृता । या पुरी । शोभा मनोहररश्मिः । वहति धरति । वहि<sup>१</sup> प्रापणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥८॥ सखेति । यत्र चन्द्रपुर्याम् । परं केवलम् । उर्वोरुहमिचयः उर्वोरुहाणां वृक्षाणां निचयः समूहः । वियोगी बोना पक्षिणां योगी संबन्धी । जनो<sup>३</sup> वियोगी न । केवलं परम् । सर्पादि भूजङ्गादिः । विलापी विलमानोतीति विलापी । विलापी<sup>४</sup> न विप्रलापकारी न । समजनि समजायत<sup>५</sup> । जनैर्दू<sup>६</sup> प्रादुर्भवे लुब्धः । वैरस्यं विरसत्वम् । परं केवलम् । अतिपीडितेषुदण्डे अतिपीडिते यन्त्रेणातिमदिते इक्षणां रसालानां दण्डे यष्टौ समजनि<sup>७</sup> । परं केवलम् । संग्रामे रणे । गदाभिघातः गदया दण्डेनाभिघातः । गदाभिघातः<sup>८</sup> गदैर्घातिभिर्भिघातो बाधा । न अभवत् । परिरक्ष्य ॥९॥ पातलेति । यत्र पुर्याम् । पातालोदरमिव पातालस्याधोभागस्थोदरमिव मध्यप्रदेश इव<sup>९</sup> । नागानां नागदेवतानाम्, (पक्षे) गजानाम् । सहस्रैः अनेकैः ।

दिशाओंमें चार बड़े-बड़े दरवाजे—फाटक बने हुए हैं, जिनके ऊपर लहंगते हुए झण्डोसे अपूर्व सुषमा छायी रहती है । वह प्राकार अपने विशाल और उन्नत-शिखररूपी हाथोंसे आकाशका स्पर्श करता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह करुणावश, निराश्रय आकाशको हस्ताव-लम्बन देकर थामे हुए हो ॥७॥ राजधानीके चारों ओर परिखा बनी हुई है । उसमें अगाध जल भरा हुआ है । उसमें जो चंचल लहरें उत्पन्न होती हैं वे अजनगरि सरोखी प्रतीत होती हैं । उस परिखासे वह राजधानी ऐसी जान पड़ती है मानो उसके रत्नोंको पानेकी अभिलाषासे समुद्रने उसे सभी ओरसे घेर लिया हो । परिखासे राजधानीको अपूर्व शोभा है ॥८॥ वहाँपर केवल वृक्षोंका समूह ही वियोगी अर्थात् पक्षियोंके सम्पर्कसे युक्त है, किन्तु और कोई भी वियोगी—विरही नहीं है । वहाँपर केवल सर्प आदि जन्तु हो विलापी हैं—विलोके निवासी हैं, और कोई भी विलापी—विलाप करनेवाले नहीं है । वहाँ विरसता या नीरसता केवल अच्छी तरह कोलूम पेरे गये गन्धों पायी जाती है, और किसी भी मनुष्यमें नीरसता नहीं पायी जाती । तथा वहाँपर केवल संग्राममें ही गदाका प्रहार होता है, और किसीके भी ऊपर रोगका आक्रमण नहीं होता ॥९॥ वहाँका राजमहल देखते ही बनता है । जिस प्रकार पातालका मध्यभाग हजारों नागकुमार जातिके देवोंसे युक्त है, उसी प्रकार वह (राजमहल) हजारों

१. आ हस्तधारम् । २. आ वह । ३. = तत्रत्य कवचन मानवः । ४. = नञ-यः कश्चिदपि ।

५. ज्ञ जायते स्म । ६. आ जनो । ७. = परं तत्रत्यं कस्मिन्चिदपि पुंनि वैरस्यं न समजनि । ८. = 'परं तत्र' इत्युपरिष्ठाद् योज्यम् । ९. न मध्यमिव ।

प्रचयातः प्रशमरतः प्रतापराशिस्तभास्वीद्वनिपतिर्महाविसेनः ।

यः क्रास्ताविलभुवनैर्गुणैरुदारैरिष्याको कुलममलैरलंकार ॥११॥

कुन्देन्दुद्युतिनिकरावदातयान्याम्यककुर्वजगति महीभूतः स्वकीर्त्या ।

कल्याणप्रकृतितया न कैवल्यं यः स्थैर्येणाप्यनुविद्ये सुराचलेन्द्रम् ॥१२॥

लावण्यं भृशमद्वावभूदगाधो रत्नानामपि परमालयो बहूनाम् ।

अन्वेतुं तदपि शशाक यं महच्छं नान्मोघिः प्रलयपराकृतव्यवस्थः ॥१३॥

सेवितम् आश्रितम् । सज्जनानां सत्पुरुषाणाम् । हृदयमिव चित्तमिव । उच महत् । शाक्याना बौद्धानाम् । मतमिव समय इव । बहूभिः बहुलाभिः । भूमिकाभि माध्यमिक—सौवान्तिक-बैभाषिक—योगाचारादिमत-भेदैः, ( पक्षे ) तलैः । स्थितम् । राजवेदम राजसदनम् । [ अव— ] भाति विराजते । लट् । उभाम् ॥१०॥ प्रख्यात इति । तत्र पुर्याम् । यः । क्रास्ताविलभुवनैः क्रातं व्याप्तमखिल सकलं भुवनं लोको यैस्ते । उदारैः महद्भिः । अमलैः निर्मलैः । गुणैः माधुर्यादिभिः । इक्ष्वाकोः इक्षुन् आकायत्<sup>१</sup> इति इक्ष्वाकुः, तस्य पुरुदेवस्य<sup>२</sup> । कुलं वंशम् । अलंकार भुभूषः । ( स. ) । प्रशमरतः प्रशमे नयगुणे रतः प्रीतः । प्रतापराशिः प्रतापना तेजसां राशिः पुञ्जः । महादिसेन । महासेन इति<sup>३</sup> । अवनिपतिः भूमिपतिः । आसीत् अभवत् । लट् । अतिशयः ॥११॥ कुन्देति । कुन्देन्दुद्युतिनिकरावदातया कुन्देन्दोर्माध्यचन्द्रयोर्द्युतीनां निकर इव निचय इवाच-दातया गुञ्जया । स्वकीर्त्या स्वाभ्यात्मनः कीर्त्या यशसा । अग्यान् शेषान् । महोभूतः भूपान्<sup>४</sup>, पक्षे पर्वताश्च । जगति लोके । यत्कुरुर्वन तिरस्कुर्वन् । य. भूप. । न केवलं न परम् । कल्याणप्रकृतितया कल्याणस्य भद्रस्य, पक्षे सुवर्णस्य प्रकृतितया<sup>५</sup> स्वभावतया । स्थैर्येणापि धैर्येणापि, पक्षे स्थिरत्वेनापि । सुराचलेन्द्रं महामैरम् । अनुविद्ये अनुकरोति स्म । दुषाञ् धारणे च लिट् । श्लेषोपमा ॥१२॥ लावण्यमिति । भृशम् अत्यन्तम् । लावण्यं शरीरकान्तिम्, लवणत्वमिति ध्वनिः । अदधात् धरति स्म । अगाधः अतलस्यार्शः । बहूनां बहुला-नाम् । रत्नानामपि मणीनामपि । परमालयः प्रकृष्टनिलयः । अभूत् अभवत् । तदपि तयापि । प्रलयपराकृत-व्यवस्थः प्रलयेन प्रलयकालेन पराकृता निराकृता व्यवस्था मर्यादा यस्य स. । अन्मोघिः समुद्रः । महच्छं महती पृथ्वी इच्छा चित्तं यस्य तम् । यं भूपम् । अन्वेतुं सदृशो भवितुम् । न शशाक समर्थो न बभूव ।

हाथियोसे युक्त है । जिस तरह सज्जनोका हृदय विशाल होता है, उसी प्रकार वह भी विशाल है । जैसे बौद्धोके मतमें अनेक भेद-प्रभेद है वैसे ही उसमें अनेक खण्ड हैं ॥१०॥ वहाँ महासेन नामक राजा राज्य करता था । वह शान्तिप्रेमी और प्रतापका पुंज था । वह सारे भूमण्डलमें विख्यात था । उसने समस्त संसारमें फैले हुए अपने महान् निर्मल गुणोंसे इक्ष्वाकु वंशको सुशोभित किया था ॥११॥ उसने कुन्दपुष्प और चन्द्रकिरणोंकी राशिके समान शुभ्र, अपनी कीर्तिसे इस भूतलपर अन्य सभी राजाओं ( पर्वतों ) को मात कर दिया था, तथा न केवल भद्र ( स्वर्ण ) प्रकृतिके कारण, वरन् स्थिरताके कारण भी सुमेरुपर्वतको अपने समान बना लिया था ॥१२॥ महासेनके शरीरपर मोती सरीखी आभा अत्यधिक मात्रामें थी । वह गम्भीर था, बहुतसे रत्नोंका आश्रय स्थान था और अत्यन्त उदारचेता था । यों समुद्र भी लावण्य—खारेपनसे युक्त होता है, खूब गहरा होता है और होता है अगणित रत्नोंका आकर, किन्तु फिर भी वह प्रलयकालमें अपनी मर्यादाको छोड़ देता है, जब कि महासेन बड़ेसे बड़े संकटके अवसरपर भी अपनी मर्यादाको नहीं बदलता रहा, अतः समुद्र उसकी बराबरी नहीं कर

१. अ. महोशं । २. आ अस्य नवमश्लोकस्य व्याख्यापूर्वव वतंते । ३. आ आनायत । ४. श मरुदेवस्य । ५. आ महाविसेनः महाविसेन इति । ६. आ भूपान् । ७. आ प्रकृतिकतया ।

शौर्यं नातिशयि समुज्जितं नयेन न क्षान्त्या रहितमुदारया प्रभुत्वम् ।  
 यस्यान्वीक्षितयचिनाकृता न विद्या चित्तं नानवरतदानभोगहीनम् ॥१४॥  
 तस्योर्वोवलयविशेषकस्य राज्ञः पर्याप्ताननुगुणवर्णनैत्यैव ।  
 संसारार्णवमथनस्य भव्यभानोर्यद् भजे सकलजगद्गुरोर्गुणत्वम् ॥१५॥  
 तस्य श्रौरिच कमलालयादुपेता पातालादिव परिनिर्गताहिकन्या ।  
 पुष्पेयो रतिरिव लक्ष्मणेति जाया सर्वान्तःपुरपरमेश्वरी बभूव ॥१६॥  
 सच्छाया विपुलतरोर्महा लैतेव मेघानामिव पदवी सतारतारा ।  
 चापश्रौरिच वरवंशलक्ष्यजन्मा या रेजे सुकविकथेय चारुवर्णा ॥१७॥

निषेधोपमा ॥१३॥ शौर्यमिति । यस्य भूपस्य । अतिशयि अतिशयोपेतम् । शौर्यं सामर्थ्यम् । नयेन नयगुणेन । न समुज्जितं विरहितं न भवति । तस्य प्रभुत्वं स्वामित्वम् । उदारया महत्या । क्षान्त्या क्षमया । रहित समुज्जित न । विद्या शास्त्रपरिज्ञानम् । विनयविनाकृता विनयेन विनयगुणेन विनाकृता अभावविहिता । नासीत् नाभवत् । चित्तं द्रव्यम् । अनवरतदानभोगहानम् अनवरत सततं दानभोगाभ्या त्यागानुभवाभ्या हीनं रहितम् । न स्यात्, सर्वं सार्थकमेव भवतीत्यर्थः ॥१४॥ तस्येति । यत् यस्मात् वारणात् । संसारार्णवस्य संसारसमुद्रस्य मथनस्य प्रमदनस्य । भव्यभानोः भव्याना विनयजनानां भानाः सूर्यस्य, सन्मार्गप्रकाशकस्येत्यर्थः । सकलजगद्गुरोः स्वामिनः । गुरुत्व पितृत्वम् । भजे भजतिस्म । लिट् । उर्ववलयविशेषकस्य उर्व्या भूमेर्वलयस्य मण्डलस्य विशेषकस्य तिलकस्य । तस्य महासेनस्य । राज्ञः भूतस्य । गुणवर्णना गुणानां वर्णना कीर्तना । इत्येत एतावत्प्रमाणेनैव । पर्याप्ता संपूर्णा । ननु निश्चयम् ॥१५॥ तस्येति । कमलालयात् कमलमेवालय तस्मात् । उपेता आगता । श्रौरिच लक्ष्मीरिव । पातालात् अधोभुवनात् । परिनिर्गता आगता । अहिकन्येव नागकन्येव । पुष्पेयोः कामस्य । रतिरिव रतिदेवीव । तस्य महासेनभूपस्य । सर्वान्तःपुरपरमेश्वरी सर्वस्याखिलस्यान्तःपुरस्य निशान्तस्य परमेश्वरी स्वामिनी । लक्ष्मणा इति लक्ष्मणादेवो इति । जाया प्राणवत्लभा । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् । उपमा ( उपमेधा ) ॥१६॥ सच्छायेति । विपुलतरोः विपुलस्य महतस्तरोर्वृक्षस्य । महालतेव<sup>१</sup> वल्लरीव<sup>२</sup> । सच्छाया कान्तिमुक्ता, ( पक्षे ) अनातपसहिता । मेघानां जलघराणाम् । पदवीव वीथीव, गगनमिवेत्यर्थः । सतारतारा मुनारा महत्पस्तारा मौक्तिकाः, पक्षे तारा नक्षत्राणि यस्या सा । चापश्रौरिच चापस्य धनुषः श्रौरिच शोभेव । वरवंशलक्ष्यजन्मा वरे श्रेष्ठे वसे, सका ॥१३॥ उसका सर्वोत्कृष्ट पराक्रम नीतिसे रहित नही था, प्रभुता उत्तम क्षमासे रहित नही थी, विद्या विनयसे रहित नही थी और धन कभी भी दान और भोगसे हीन नही था ॥१४॥ राजा महामेन सारे भूमण्डलका तिलक था । निश्चय ही उसका गुणोंका वर्णन इतना ही पर्याप्त है कि वह संसारसमुद्रके मथन करनेवाले, भव्यजीवीको सन्मार्ग प्रदर्शन करनेके लिए सूर्यकी समता करनेवाले और सार संसारके गुरु बननेवाले भगवान् चन्द्रप्रबन्धका गुरु-पिता था ॥१५॥ उसकी लक्ष्मणा नामकी पट्टरानी थी, जो सभी रानियोंमे प्रमुख थी, और जो ऐसी प्रतीत होती थी मानो कमलरूपी आलयको छोड़कर आयी हुई लक्ष्मी हो, पातालसे निकलकर आयी हुई नागकन्या हो या कामदेवके पाससे आयी हुई रति ( कामदेवकी पत्नी ) हो ॥१६॥ जिस प्रकार विशाल वृक्षकी बहुत बड़ी शाखा अच्छी छायासे युक्त होती है उसी प्रकार पट्टरानी लक्ष्मणा अच्छी छाया-कान्तिसे युक्त थी; जिस तरह आकाश चमकती हुई ताराओंसे युक्त होता है उसी तरह वह चमकमाते निर्मल मोतियोंमे भूषित थी; जैसे धनुषकी सुषमा श्रेष्ठ

१. अ क ख ग घ म महातरो लं । २. = पराक्रमः । ३. आ विनयजनानां, वा विनीयजनानां ।  
 ४. श वल्लरीव । ५. = निश्चयेन । ६. = महाशाखेव । ७. श 'वल्लरीव' इति नोपलभ्यते ।

लोलत्वं नयनयुगे न चित्तवृत्तौ मन्दत्वं गतिषु न सज्जनोपचारे<sup>१</sup> ।  
 कार्कश्यं कुचयुगले न वाचि यस्या भङ्गोऽभूदलकवये न चापि शीले<sup>२</sup> ॥१८॥  
 सौभाग्यं कचिवितरत्र रूपमात्रं क्वापि स्थाद्विनयगुणोऽपरत्र शीलम् ।  
 यस्यां तत्समुदितमेव सर्वमासीत्यायेण प्रमचति तादृशी न सृष्टिः<sup>३</sup> ॥१९॥  
 सर्वेषामपि तमसां छिदः<sup>४</sup> पुरस्तात् तीर्थस्य क्षतरजसोऽष्टमस्य कर्ता ।  
 यद्गर्भं गुणनिधिरात्मनाधिगच्छे कस्तस्या गुणगणनां विधातुमीशः ॥२०॥

गोत्रे, पक्षे वेणौ लब्धं प्राप्तं जन्म जननं यस्याः<sup>५</sup> सा । सुकविकथेव सुकवेः महाकवीश्वरस्य कथेव वाणीव ।  
 चाचवर्णा चास्मनोहरो वर्णः कान्तिः, पक्षे वर्णोऽक्षरं यस्याः सा । या देवी । रेजे भाति स्म । लिट् । श्लेषो-  
 पमा ॥१७॥ लोलत्वमिति । यस्याः लक्ष्मणायाः । नयनयुगे नयनयोर्नययोर्नयं युगले । लोलत्वं चञ्चलत्वम् ।  
 चित्तवृत्तौ चित्तस्य मनसो वृत्तौ वर्तने । न नाभूत् । मन्दत्वम् आलस्यम् । गतिषु गमनेषु । सज्जनोपकारे  
 सज्जनानां सत्पुरुषाणामुपचारे सत्कारे । न । कार्कश्यं कठिनत्वम् । कुचयुगले स्तनयुगले । वाचि वचने । न ।  
 भङ्गः कौटिल्यम् । अलकवये अलकानां चूर्णकुन्तलानां वये समूहे । शीले सदाचारः । न चाप्यभूत् नाभवत् ।  
 परिसंख्या ॥१८॥ सौभाग्यमिति । क्वचित् कस्यांश्चित् स्त्रियाम् । सौभाग्यम्<sup>६</sup> आदेयमूर्तित्वम् । इतरत्र  
 अन्यस्याम् । रूपमात्रं सौन्दर्यमात्रम् । क्वापि<sup>७</sup> कस्यामपि स्त्रियाम् । विनयगुणः विनयरूपो गुणः । अपरत्र  
 अपरस्या बनितायाम् । शीलं सदाचारः । स्यात् भवेत् । यस्यां लक्ष्मणायाम् । तत्सर्वं तत्सकलम् । समुदितमेव  
 युगपदेव । आसीत् अभवत् । तादृशी तद्रूपा । सृष्टिः स्त्रीसृष्टिः । प्रायेण बहुलेन<sup>८</sup> । न प्रभवति ॥१९॥  
 सर्वेषामिति । पुरस्तात् अग्रे । सर्वेषामपि सकलजनानामपि । तमसाम् अज्ञानानाम् । छिदः नाशयतः ।  
 क्षतरजसः क्षतं विनष्टं रजः पापं यस्य<sup>९</sup> तस्य । अष्टमस्य अष्टानां पूरणस्य । 'नो मद्' इति मद्—प्रत्ययः ।  
 तीर्थस्य परमागमस्य । कर्ता प्रभुः । गुणनिधिः गुणानामनन्तज्ञानादीनां निधिनिधानम् । यद्गर्भं यस्या  
 लक्ष्मणायाम् गर्भमुदरम् । आत्मना स्वयमेव । अधिगच्छे प्रेरितवान् । 'शीङ्स्थासोऽधेराधारः' इति आधारे  
 कर्म । तस्याः लक्ष्मणायाः । गुणगणानां गुणानां पातित्वत्यादीनां गुणानां गणनां संख्याम् । विधातुं कर्तुम् । कः

बांससे उत्पन्न होती है वैसे बहु श्रेष्ठ बंशमे उत्पन्न हुई थी और जिस प्रकारसे अच्छे कविकी  
 कथा सुन्दर वर्णोंसे युक्त होती है उसी प्रकारसे वह भी सुन्दर वर्ण-रंगसे युक्त थी । वह सभी  
 दृष्टिसे सुन्दर थी । उसकी निराली शोभा थी ॥१७॥ उसके नेत्र युगलमें चंचलता थी, न कि  
 मनोवृत्तिमें; उसकी चाल सालस-धीमी थी, किन्तु उसे सत्पुरुषोंके उपकार करनेमें आलस नहीं  
 था; उसके स्तनयुगलमें कठोरता थी न कि बचनोंमें और उसके केशपाशमें घुँघरालापन था  
 किन्तु उसका शील कभी स्वप्नमें भी भंग नहीं होता था ॥१८॥ किसी स्त्रीमें केवल सौभाग्य,  
 किसीमें केवल रूप, किसीमें केवल विनय गुण, तो किसीमें केवल शील ही पाया जाता है,  
 किन्तु पट्टरानी लक्ष्मणामें क्या सौभाग्य, क्या रूप, क्या विनय और क्या शील—ये सभी गुण  
 एक ही साथ प्रकट हो गये थे । ऐसी स्त्रियोंकी सृष्टि प्रायः नहीं होती, होती भी है तो बहुत  
 ही कम ॥१९॥ आगे जाकर सभी प्रकारके अज्ञानको मिटानेवाले, और पापोंको नष्ट करनेवाले  
 अष्टम तीर्थके प्रवर्तक अत्यधिक गुणवान् भगवान् चन्द्रप्रभ जिसके गर्भमें अवतरित होंगे उसके

१. आ इ क ख ग घ म 'पकारे । २. आ इ दृष्टिः । ३. म तमसां स्थितिः । ४. क ख  
 ग घ म परस्तासी<sup>१</sup> । ५. = यथा । ६. = सुभगता । ७. वा 'अपि' नास्ति । ८. = बहुलम् ।  
 ९. = येन ।

तां क्षोणीमिव चतुरर्णवावसानामायातां तनुमनुकृत्य मानवीधाम् ।  
 प्राप्योर्वीपतिरखिलेन्द्रियार्थसारात्मात्मानं स कलयति स्म सावर्भौमम् ॥२१॥  
 व्यासकस्तदधरपल्लवे स राज्यधीचिन्तामपि शिथिलीचकार भूपः ।  
 प्रायेण स्थिरमतयोऽपि विप्रमोहं नीयन्ते मदनफलैरिवेन्द्रियार्थैः ॥२२॥  
 निर्मग्नं विषयसुखाम्बुधावगाधे तं मन्दोद्यममवधार्य राजकार्ये ।  
 स्वातन्त्र्यं ययुरखिलानि मण्डलानि मन्त्र्यं भवति न कस्य वामिभूत्यै ॥२३॥  
 व्युत्थानं सचिवमुक्ताञ्जलिम् राज्ञां राजेन्द्रो निजमभिनिन्द्य च प्रमादम् ।  
 निर्जतुं स दश विरोऽन्यदा प्रतस्थे सामन्तैः परिकलितः<sup>१</sup> सहस्रसंख्यैः ॥२४॥

को वा । ईश. समर्थः । अतिशय ॥२०॥ तामिति । स. उर्वीपतिः महासेनभूपतिः । मानवीया मनुष्यसंबन्धि-  
 नीम् । तनुं शरीरम् । अनुकृत्य धृत्वेत्यर्थः । आयातां विशालाम् [ आयातां ] ( समागतम् ) । चतुरर्णवा-  
 वसानां चत्वारोऽर्णवाः समुद्राः चतुरर्णवास्त एवावसाना अवधयो यस्यां ताम् । क्षोणीमिव भूमिमिव<sup>३</sup> ।  
 अखिलेन्द्रियार्थसाराम् अखिलानां निखिलानामिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणामर्थानां विषयाणां सारा सारभूताम् ।  
 ता लक्ष्मणाम् । प्राप्य लब्ध्वा । आत्मानं स्वम् । सावर्भौमं चक्रवर्तिनम् । कलयतिस्म मन्यते स्म । कल  
 संख्याते लट् । उपेक्षा ॥२१॥ व्यासक इति । तदधरपल्लवे तस्या लक्ष्मणाया अवध एव ओष्ठ एव पल्लवः  
 किसलयं तस्मिन् । व्यासकः आसक । भूप महासेनभूतः । राज्यधीचिन्तामपि राज्यस्य श्रियः  
 संपदश्चिन्तामाध्यानमपि । शिथिलीचकार प्रागशिक्षिता इदानीं सिधिला ( शिक्षिता ता ) चकार ।  
 लिट् । तथा हि । स्थिरमतयोऽपि स्थिरया स्थिररूपया मत्या बुद्ध्या युक्ता अपि । मदनफलैरिव<sup>४</sup>  
 इन्द्रियार्थैरिव, पञ्चेन्द्रियविषयैः । प्रायेण तावत् बाहुल्येन । विप्रमोहं भ्रान्तिम् । नीयन्ते प्राप्नु-  
 वन्ति । गौळ प्रापणे लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२२॥ निर्मग्नमिति । अगाधे अतलस्थे<sup>५</sup> । विषयसुखाम्बुधौ  
 विषयाणां पञ्चेन्द्रियाणां<sup>६</sup> मुखमेवाम्बुभिः समुद्रः तस्मिन् । निर्मग्नं प्रविष्टम् । राजकार्यं राज्ञा भूपाना कार्यं दुष्ट-  
 निग्रहादिकार्यं कृत्ये । मन्दोद्यमम् अल्पोद्योगम् । तं महासेनम् । अवधार्य निश्चिन्तय । अखिलानि सर्वाणि ।  
 मण्डलानि<sup>७</sup> भूखलानि । स्वातन्त्र्यं स्वाधीनत्वम् । ययुः याति स्म । सकलदेशाधिपाः स्वाधीना बभूवुः इत्यर्थः ।  
 मन्त्रस्वम् अलसत्वम् । कस्य वा पुंस्यस्य । अमिभूत्यै तिरस्करणाय । न भवति किन्तु<sup>८</sup> भवत्येव । अर्थान्तरन्यासः  
 ॥२३॥ व्युत्थानमिति । राजेन्द्रः राजश्रेष्ठः । सः महासेनः । सचिवमुक्ताञ्जलिं मन्त्रिवदनात्<sup>९</sup> । राजा सामन्तभूषा-  
 नाम् । व्युत्थानं विरोधाचरणम्<sup>१०</sup> । निशम्य श्रुत्वा । निजं स्वकीयम् । प्रमादं<sup>११</sup> मतिविभ्रमम् । अभिनिन्द्य च

गुणोंकी गणना भला कौन कर सकता है ? ॥२०॥ पट्टरानी लक्ष्मणा ऐसी जान पड़ती थी  
 मानो वह मानव देह धारण करके उपस्थित हुई, चारों समुद्रोंसे वेष्टित विशाल भूमि हो । वह  
 सभी इन्द्रियोंके विषयोंका सार थी । उसे पाकर महासेनने अपनेको सावर्भौम-चक्रवर्ती माना  
 ॥२१॥ लक्ष्मणके अधरपल्लवमें आसक्त होकर राजा महासेनने राज्यलक्ष्मीको चिन्ताको भी  
 कम कर दिया । सच तो यह है कि जिनकी बुद्धि स्थिर है वे भी धनुरोंके फल सरोखे पञ्चेन्द्रियों-  
 के विषयोंसे मोहित कर दिये जाते हैं ॥२२॥ महासेन विषयसुखके अगाध समुद्रमें मग्न रहने  
 लगा और उसने राजकीय कार्योंमें झोल डाल दी । यह जानकर सारी छोटी-बड़ी रियासतें—  
 जो अधीन रही—स्वतन्त्र हो गयीं ! आलस किसके अपमानके लिए नहीं होता ? ॥२३॥  
 अपने मन्त्रियोंके मुखसे, अनेक अधीन राजाओंके सिर उठानेके समाचार सुनकर राजाधिराज

१. आ इ कलयते । २. क ल ग घ ञ परिकरितः । ३. अ 'भूमिमिव' इति नास्ति । ४. = धतूर-  
 फलैरिव । ५. = पञ्चेन्द्रियसंबन्धिनः । ६. = सामन्ताः राज्यभूमागाः । ७. = सर्वेषामपि । ८. अ  
 वचनात् । ९. आ 'विरोधाचरणम्' इति पदं नोपलभ्यते । १०. = अनवधानताम् ।

प्राक्प्राची<sup>१</sup> विशसुपत्स्य धृतचन्वा कृत्वाथ स्वशरशरज्यमङ्गराजम् ।

कारुण्यात्प्रणतिपरे रराज राज्यं तस्मै ली विदधदुपायनीकृतेमे ॥२४॥

प्रोहामद्विरदप्रभेदनिर्यद्योधासुक्प्लुतरथचक्रचक्रवाले ।

तेनाजौ प्रविद्धिरे कलिङ्गमर्तुः कामिन्यो वलयविहीयमानहस्ताः ॥२५॥

पादाब्जद्वितयशिलीमुखायमानं स्वप्रीधानिहितकुठारमेकवीरः<sup>२</sup> ।

पञ्चालाधिपतिमसौ व्ययुक्त रत्नैर्न प्राणैः प्रणतकृपालवो महान्तः ॥२७॥

निन्दयित्वा । सहस्रसंख्येः अनेकैः । सामन्तैः<sup>३</sup> राजभिः । परिकलितः युक्त सः । दशदिशः दशकक्षुभः । निर्जंतुं विजयनिमित्तम् । अन्यथा अन्यस्मिन् काले । प्रतस्थे निर्जगाम । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् ॥२४॥ प्राणिलि । धृतचन्वा धृतं कम्पितं चन्व<sup>४</sup> येन सः । सः महासेनः । प्राक् प्रथमम् । प्राची पूर्वम् । दिशं कक्षुभम् । उपसृत्य गत्वा । अङ्गराजम् अङ्गदेशराजम् । स्वशरशरक्यं स्वस्य शरस्य बाणस्य शरक्यं लक्षम् । कृत्वा विधाय । प्रणतिपरे प्रणतो प्रणमने परे तत्परे । उपायनीकृतेमे उपायनीकृता उपग्राह्य (ह्याः) विहिता गत्वा येन तस्मिन् । तस्मै तस्याङ्गराजस्य सूनौ पुत्रे । राज्यं प्रभुत्वम् । विदधत् कुर्वन् सन् । रराज भाति स्म । लिट् ॥२५॥ प्रोहामिति । तेन राजा । प्रोहामद्विरदप्रभेदनिर्यद्योधासुक्प्लुतरथचक्रचक्रवाले प्रोहाम्ना द्विरदाना गजानां रदाना दन्ताना प्रभेदेन विचारणेन निर्यथा निर्गच्छता योधाना भटानामसृजा रक्तेन प्लुतान्यादितानि रथाना स्यन्दनाना चक्राणि रथाङ्गानि<sup>५</sup> चक्रवाले<sup>६</sup> मण्डले यस्य तस्मिन् । आजौ संग्रामे । कलिङ्गमर्तुः कलिङ्गस्य कलिङ्गदेशस्य मर्तुः राजः । कामिन्यः बनिताः । वलयविहीयमानहस्ताः वलयैः कङ्कूर्गविहीयमाना विमुच्यमाना हस्ता पाणयो यासा ताः । प्रविद्धिरे प्रचक्रिरे । दुधाजं धारणे च कर्मणि लिट् ॥२६॥ पादाब्जेति । एकवीरः एकशूरः । असौ महासेनः । पादाब्जद्वितयशिलीमुखायमानं पादाब्जयोः पादारब्जद्वयोद्वये द्वये शिलीमुखायमानं<sup>७</sup> शिली-मुख इव भ्रमर इवाचर्यमाणम् । स्वप्रीधानिहितकुठारं स्वस्यात्मनो ग्रंथायां कण्ठे निहितः स्थापितः कुठारः परशु-येन तम् । पाञ्चालाधिपतिं पाञ्चालस्य पाञ्चालदेशस्याधिपतिं पतिम् । रत्नैः मणिभिः । व्ययुक्तं रहितम-करोत् । युज्मं धेगे लङ् । प्राणैः अशुभिः । न न व्ययुक्त । पादाब्जविनतत्वात् तेनोपायनीकृतं रत्नमेव गृहीतवान् प्राणापहारं न कृतवानित्यर्थः । तथा हि । महान्तः सत्पुरुषाः । प्रणतकृपालवः प्रणताना विनताना-

महासेनने अपने प्रमादकी निन्दा की, और फिर वह हजारों सामन्तोसे युक्त होकर दस दिशाओको जीतनेके लिए निकल पड़ा ॥२४॥ इसके पश्चात् वह सबसे पहले पूर्व दिशामे गया । उसके हाथमे धनुष था । उसने प्रथमतः अंगदेश ( जहाँ आज जिला हजारीबाग है ) के राजाको अपने बाणका लक्ष्य बनाया । यह देखकर उस ( अंगदेशके राजा ) का राजकुमार, महासेनके चरणोंमें झुक गया और उसे उसने उपहारमें हाथी प्रदान किये । महासेनको दया आ गयी । फलतः उसने अंगदेशका राज्य वहाँके राजकुमारको दे दिया । इसीमें उसकी शोभा थी ॥२५॥ मदमाते दुर्दम हाथियोंके दाँतोंके प्रहारसे घायल हुए सैनिकोंके रक्तसे संग्रामभूमि तर हो गयी और उसमें रथोंके पहिये सन गये । ऐसे घोर संग्राममें महामेनने कलिंग ( उड़ीसा ) नरेशकी रानियोंके हाथोंको बूझियोंसे मुक्त कर दिया—नरेशको मारकर उन्हें विषवा ब्रना दिया ॥२६॥ पांचाल देशका राजा अपने गलेमें कुठार लटकाकर—दीनतापूर्वक महासेनके निकट गया, और उसके चरणकमलोंमें भौरेको भाँति लीन हो गया—उसकी शरण ले ली । महासेनने उसे शरणागत मानकर जीवित छोड़ दिया, तथा उसके द्वारा उपहारमें दिये गये

१. अ क ख ग घ म प्राक्पूर्वा । २. आ इ<sup>१</sup>वीरः । ३. श 'सामन्तैः' इति नास्ति । ४. आ धनुः ।

५. = तेषां चक्रवाले मण्डलं यस्मिन् । ६. आ मध्ये । ७. = भ्रमरायमाणः ।



संछन्नाखिलककुभो घनानिवौद्धाजिर्धु<sup>१</sup> आयुषजनिताचिरांशुशोभान् ।  
 चेदीशं द्रुममिव निघ्नतः समूहं तस्यासीन्मरुदनुकारकारि वीर्यम् ॥२८॥  
 संप्राप्तस्तदभुवि पूर्ववारिराशेरुद्वेलः क्षितितलपालिनो बलौघः ।  
 प्रोत्खात<sup>२</sup> द्विषदवनीरुहप्रतानो जहोऽसावपरपयोधिसंगमाभः ॥२९॥  
 कल्लोलोच्चलितविदीर्णशुक्तिमुक्तां ते मुक्तावलिमनुवेलमिन्दुगौरीम् ।  
 गच्छन्तीमिव रिपुकीर्तिमब्धिपारं गृह्णन्तः क्षितिपतिसैनिका विरेजुः ॥३०॥

मुपरि कृपालवो दयायुक्ताः हि । 'कृपाहृदयादालुः' इति आलु-प्रत्ययः । अर्थान्तरस्यात् : ॥२७॥ संछन्नेति । घनानिव मेघानिव । संछन्नाखिलककुभः मंछन्ना आच्छादिता अखिलाः सकलाः ककुभो दिशो यस्तान् । आयुष-जनितांशुशोभान् आयुषेन खल्लेन जनितेन जातेन अंशुना किरणेन शोभा येया तान् । औद्धान् औदृवेशभूषान् । निर्धुय कम्पयित्वा । चेदीशं चेदिवेशाधिपतिम् । द्रुममिव वृक्षमिव । समूहं मूलसहितम् । निघ्नतः विनाशयतः । तस्य महासेनस्य । वीर्यं सामर्थ्यम् । मरुदनुकारकारि मरुतो वायोरनुकारं<sup>३</sup> समानं करोतीत्येवं शीलम् । आसीत् अभूत् । लङ् । उपमा ॥२८॥ संप्राप्त इति । पूर्ववारिराशिः (शेः) पूर्वसमुद्रः (पूर्वसमुद्रस्य) । तदभुवि तोरभूमौ । संप्राप्तः संगतः । उद्वेलः वेला मर्यादामुदगतः । प्रोत्खातद्विषदवनीरुहप्रतान प्रोत्खातं द्विषद एव अरातय एव अवनोरुहा वृक्षाः तेषां प्रतानं समूहो येन स । असौ अयम् । क्षितितलपालिनः क्षितितलं भूतलं पालिनो रक्षकस्य महासेनस्य । बलौघः बलानां सैन्यानामोघः समूहः । अपरपयोधिसङ्ग्रामाभः अपरस्य पश्चिमस्य पयोधेः समुद्रस्य सङ्ग्रामस्य संसर्गस्याभः<sup>४</sup> सद्गुणः । पश्चिमसमुद्रः पूर्वसमुद्रस्पृष्ट इव सेनानिवहो जात इत्यभिप्रायः । जहो जायते स्म । लिट् । उपमा ॥२९॥ कल्लोलेषु । अनुवेलं वेलायास्तदस्य समीपे । 'समीपे' इत्यभूना अव्ययीभावः । गच्छन्ती यास्तीम् । इन्दुगौरीम् इन्दुरिव चन्द्र इव गौरीं शुभ्राम् । कल्लोलोच्चलितः<sup>५</sup> विदीर्णशुक्तिमुक्तां कल्लोलानां महातरङ्गाणामुच्चलितेनोर्ध्वचलनेन विदीर्णाभिभिन्नाभिः शुक्तिमिमंक्तां पतिताम् । मुक्तावलि मुक्तानां मौक्तिकानामावलि पङ्क्तिम् । रिपुकीर्तिमिव रिपूणां शत्रूणां कीर्तिमिव । अब्धिपारं समुद्रतीरं<sup>६</sup> । गृह्णन्तः । क्षितिपतिसैनिकाः क्षितिपतेर्महासेनस्य सैनिकाः सेनाचराः । रेजुः शान्ति-

रत्नोंको स्वीकार कर लिया । मृद्धान् पुरुष, विनम्र व्यक्तियोंपर दया रखते हैं ॥२७॥ उद्देशके राजे मेघोंके समान थे । जिस प्रकार मेघ सभी दिशाओंको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार-से उद्देशके राजे सारी दिशाओंको आच्छादित कर रहे थे—सभी दिशाओंमें छाये हुए थे । मेघोंको बिजली सुशोभित करती है, तो उन राजोंको आयुषरूपा बिजली सुशोभित कर रही थी । उन सभीको कम्पित करके महासेनने—जिसका पराक्रम वायु सरोखा था—चेदिवेशके नरेशको वृक्षको तरह मूलसे उखाड़ दिया ॥२८॥ समस्त भूतलके पालन करनेवाले राजा महासेनकी चारों सेनाओंका समूह—जो सीमातीत था, तथा जिसने शत्रुरूपी वृक्षोंके मण्डलको उखाड़ डाला था—पूर्व समुद्रके तटपर पहुँच कर ऐसा जान पड़ा मानो दूसरा ( पश्चिम ) समुद्र पूर्व समुद्रसे जा मिला हो ॥२९॥ उत्ताल तरंगोंसे उछलकर फूटी हुई सीपोंसे जो मोती निकल पड़े थे, उनको पवित—जो चन्द्रमाके समान सफेद थी—पूर्व समुद्रके तटपर बिखरी पड़ी थी, उसे महासेनके जो सैनिक ग्रहण कर रहे थे, वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बहसि दूमरे

१. आ इ निवोद्धान्निर्धुया; म<sup>१</sup> निवोद्धान्निर्धूया । २. अ प्रावातः । ३. = अनुकरणं । ४. = आभेवाभा यस्य स, तत्सदृश इत्यर्थः । ५. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु निखिलास्वपि च्छलित इत्येव दृश्यते । ६. = समुद्रतीरं ।

ते पोत्वा प्रहरणधारिणामरीणामायुभिः सह शुचिनालिकैरमीरम् ।

वेलान्तर्वर्णविषयेषु तस्य योधाः कक्कोलानिलविहृतश्रमा बबलुः ॥३१॥

स स्तम्भं जयककुदं निपूदिताखिलेन्द्राः शिरसि निखानयांबभूव ।

आन्ताखिलककुभः स्वकीयकीर्तेर्विश्रान्त्यास्पदमिव नाकमाकल्लोः ॥३२॥

भूमर्तुर्विशममिदंक्षिणां यियासोः सैन्योत्थैरथ पथि सैकतै रजोभिः ।

कुर्वद्भिः सितमुड्वर्णम् तस्य काण्व्यं शत्रूणामिव समघार्यताननेषु ॥३३॥

तत्रासौ समुपगतः समुद्यतासिरान्धीणां<sup>१</sup> रणविनिपातितप्रियाणाम् ।

संपूर्णं तुलिनकलङ्कगण्डमिसि व्यालम्बालकमकृताननेन्दुबिम्बम् ॥३४॥

स्म । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३०॥ त इति । तस्य भूपत्यः । ते योधाः ते भटाः । प्रहरणधारिणां सङ्घधारिणाम् । अरीणां शत्रूणाम् । आयुभिः आयुष्यै । सह । शुचि निर्मलम् । नालिकैरनीरं नालिकैरस्य नीरमुदकम् । पोत्वा पानं कृत्वा । वेलान्तर्वर्णविषयेषु वेलायास्तटस्यान्तर्वर्णानां समीपवनानां विषयेषु मध्येषु । 'प्राग्नेऽन्तः—' इत्यादिना वनशब्दस्य णत्वम् । कक्कोलानिलविहृतश्रमाः कक्कोलात् कक्कोलं मामगन्धबुधवनाद्यागतेनानिकेन वायुना विहृतो निराकृत श्रम आयासो येया ते । भूत्वा । बबलुः (बबलुः) चलन्ति स्म । बल्लु चलने क्तिट् । सहांकि ॥३१॥ स इति । निपूदिताखिलेन्द्राः निपूदिता हिसिता अरयो रिपवो येन सः । सः बहासेन । प्रघाता-विलककुभः प्रघाताः प्रचलिता अखिला सकला ककुभो दिगो यया तस्याः । नाकं स्वर्गम् । आरुक्षोः आरौक्षिच्छो । स्वकीयकीर्तेः स्वसंबन्धिन्याः कीर्तयशसः । विश्रान्त्यास्पदमिव विश्रान्त्या विश्रमस्यास्पदमिव प्रदेयवत्<sup>२</sup> । जयककुदं जयस्य ककुदं चिह्नम् । 'प्राधान्ये राजलङ्के च वृक्षाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । स्तम्भ निश्चलस्तम्भम् । वेलाद्रेः वेलापर्वतस्य । शिरसि अग्रे । निखानया बभूव स्थापयति स्म । अनूज् अवधारणे<sup>३</sup> णिजन्तालिट् उत्प्रेक्षा ॥३२॥ भूमर्तुरिति । अथ जयस्तम्भस्थापनानन्तरम् । पथि मार्गे । दक्षिणाम् अवाचीम् । दिगम् अग्निं दिशं प्रति । 'वीप्स्य—' इत्यादिना अग्नि-भोगे द्वितीया । यियासोः यातुमिच्छोः । भूमर्तुं भूमिपतेः । सैन्योत्थैः सैन्येन सेनया उत्थैः समुद्भूतैः । उड्वर्णं गगनम् । सितं श्वबलम् । कुर्वद्भिः विदधद्भिः<sup>४</sup> । सैकतैः शुभ्रमिलितैः (शुभ्रसिकतायुतैः) । रजोभिः रेणुभिः । तस्य गगनस्य । काण्व्यं कृष्णस्वम् । यया तथा क्रियाविशेषणम् । शत्रूणां रिपूणाम् । आननेषु मुखेषु । समघार्यत इव समवलिप्यत इव । उत्प्रेक्षा ॥३३॥ तत्रेति । तत्र दिशि । समुपगतः आगतः । समुद्यतासिः समुद्यत उत्खलातोऽसिः सङ्गो येन सः । असौ

तटपर जानेवाली, शत्रुओंकी कीर्तिको पकड़ रहे हों ॥३०॥ महासेनके सैनिकोंने युद्धमें सशस्त्र शत्रुओंकी आयुको नरियलके गुद्द और शुभ्र जलके साथ पीकर पूर्व समुद्रतटके निकटवर्ती बनोके बीचमें सैर करना शुरू कर दिया । वहाँ ककोल वृक्षोंके स्पर्शसे सुख देनेवाली वायुका सेवन करनेसे उनकी थकान दूर हो गयी ॥३१॥ शत्रुओंपर विजय पानेवाले राजा महासेनने पूर्व समुद्र-तटके निकटवर्ती पर्वतके शिखरपर विजयका चिह्न स्वरूप एक स्तम्भ स्थापित कर दिया, जो ऐसा जान पड़ता था मानो सभी दिशाओंमें परिभ्रमण करके स्वर्ग जानेके लिए उत्सुक हुई, उसको कीर्तिका विश्राम करनेका स्थान हो ॥३२॥ इसके पश्चात् महासेनके मनमें दक्षिण दिशाकी ओर जानेकी इच्छा उत्पन्न हुई अतः ज्यों ही वह आगे बढ़ा त्यों ही मार्गमें धूलि उड़ने लगी, जिसमें बालूके सफेद कण मिले हुए थे । उसने आकाशकी सफेद कर दिया । इस अवसर-पर आकाशकी कालिमा विलकुल ही अदृश्य हो गयी, अतः ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसकी कालिमा महासेनके शत्रुओंके मुखपर पोत दी गयी है ॥३३॥ दक्षिणमें पहुँचते ही

१. म कक्कोलां । २. अ आ इ रन्ध्रीणा । ३. वा कक्कोलं । ४. = प्रवेष्टमिव । ५. आ वा अवधारणे । ६. वा 'विदधद्भिः' इति पदं नास्ति ।

यत्काश्चेद्विष भृशमन्यपार्थिवेषु न श्यक्ति व्यपगतधामसु प्रपेदे ।

कण्टिष्वजनि परिस्फुटं तद्योयं तद्भानोरिव तपनोपलेषु तेजः ॥३५॥

सामन्तोर्पचितचमूपयुक्ततोया रिक्तत्वं ययुरचिरेण याः सरस्यः ।

तास्तत्र द्रमिलवधूवियोगजाभ्रुक्षोतोभिः स पुनरपूरयत्प्रवृद्धः ॥३६॥

घर्षज्जिमल्यगिरौ महागजानां प्रवेयैरुपत चन्दनेषु येऽङ्गाः ।

तस्योर्वोतलतिकायमानकीर्तस्तेऽवाचोप्रविजयसाक्षिणो बभूवुः ॥३७॥

महासेनः । रणविनिपातितप्रियाणां रणे संधामे विनिपातितानि हिंसिताः प्रिया प्राणकान्ता यासां तासाम् ।  
जान्त्रोणां तेलुगु देशस्त्रीणाम् । सपूर्णं परिपूर्णम् । आननेन्दुबिम्बम् आननं मुक्त्वं तदेवेन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलम् ।  
तुलितकलङ्कगण्डभित्तव्यालम्बालकं तुलितः सद्योऽकुतः<sup>३</sup> कलङ्को यैस्ते तुलितकलङ्का गण्डभित्तो गण्डप्रदेशे  
व्यालम्बाः सम्बन्धाना अलकावर्णकुन्तला यस्य तत् । अकुत अकार्षात । इकृञ् करणे लुट् । तस्य दुःखेन  
मुक्तकेशं हृतवानित्यर्थः । रूपकम् ॥३४॥ यदिनि । यत् तेजः । काश्चेद्विष काचमणिष्विव । व्यपगतधामसु  
व्यपगतमपनीतं धाम कान्तिः प्रपापो येषां तेषु । अन्यपार्थिवेषु शत्रुभूषालेषु<sup>४</sup> । भृशम् अत्यन्तम् । श्यक्ति<sup>५</sup> ।  
प्रातुर्मूर्तिम् । न प्रपेदे न जयाम । पदि गतौ लिट् । तद्योयं तेषां संबन्धि । तत् तेजः कान्तिः प्रतापः । तपनोप-  
लेषु सूर्यकान्तविलासु । भानोरिव सूर्यस्य तेज इव । कण्टिषु कण्टिभूषेषु । परिस्फुटं व्यक्तम् । अजनि अभूत् ।  
लुट् । उपमा ॥३५॥ सामन्त इति । सामन्तोर्पचितचमूपयुक्ततोया सामन्तैः राजभिरुपचितया चम्पा सेनया  
उपमुक्तं तोयं जलं यासां ताः । या सरस्य सरोवराः । अचिरेण जीघ्रम् । रिक्तत्वं जलशून्यत्वम् । ययुः  
यान्ति स्म । तत्र देशे । प्रवृद्धं अधिकं । द्रविड<sup>६</sup> वधूवियोगजाभ्रुक्षोतोभिः द्रविडस्य<sup>७</sup> द्रविड देशस्य वधूना वनि-  
ताणां वियोगजानां दुःखनिपातनामधूना नयनोदकानां क्षोतोभिः प्रवाहैः । पुन पश्चात् । अपूरयत् पूरयति  
स्म<sup>८</sup> । पूर आप्यायने णिजन्तल्लङ् । परिवृत्तिः ॥३६॥ घर्षज्जरिति । मलयगिरौ मलयपर्वते । चन्दनेषु  
गन्धसारेषु । महागजानां महाकरिणाम् । घर्षज्जः मर्दयद्भिः । वेवेयै कण्टवध ( र ) त्रामि । ये अङ्गाः  
यानि चिह्नानि । अकुपत अकुत । लुट् । उर्वोतलतलिकायमानकीर्तं । उर्वोतलस्य भूतलस्य तिलकायमाना  
कीर्तियस्य तस्य । तस्य भूपत्यः । काः ( ते ) । अवाचोप्रविजयसाक्षिणः अवाच्या दक्षिणदिशः प्रविजयस्य

महासेनने लंगी तलवार लेकर संग्राममें आन्प्रदेशको स्त्रियोके—जिनके पति युद्धमें मार दिये  
गये थे—बिल्वे हुए केवोसि युक्त मुखको पूर्णमासीके सकलक चन्द्रमण्डलके समान बना दिया  
॥३४॥ काच सरोखे निस्तेज अन्य राजाओमे महासेनका जो तेज व्यक्त नहीं हुआ था, वह  
कण्टिक देशके तेजस्वी राजाओंमें खूब ही व्यक्त हुआ, जैसे सूर्यका तेज सूर्यकान्त मणियोंमें  
व्यक्त होता है ॥३५॥ इसके पश्चात् महासेन द्रविड देशमे पहुँचा । वहाँपर उसके सामन्तोंको  
भारी सेनाओंने जिन जलाशयोंके जलका उपयोग किया वे खाली हो गये, पर महासेनने युद्ध-  
भूमिमें मुकाबला करनेके लिए आये हुए वोगोंको अमरलोकका यात्री बनाकर उनकी स्त्रियोके  
नेत्रोंसे उमड़े हुए अशुप्रवाहको प्रवाहित करके उन ( रिक्त जलाशयों ) को फिरसे भर दिया ॥३६॥  
मलय पर्वतपर महासेनके बड़े-बड़े हाथियोंने अपनी घोवा रगड़कर उसमे वैवी हुई जजोरीके  
संघर्षणसे चन्दनके वृक्षोंमें जो चिह्न बना दिये थे वे उस ( महासेन ) के—जिसकी कीर्ति

१. अ मलयगिरिम् । २. आ कलिङ्गम् । ३. आ सद्योः । ४. अ 'शत्रुभूषालेषु' इति नास्ति ।  
५. = अशमयति । ६. अ द्रविडम् । ७. अ द्रविडस्य । ८. अ द्रविडम् । ९. अ अपूरयत् पूरयति स्म ।

पण्यस्त्रीमिव समुपात्तपत्रपूयैस्तेभुक्त्वा मलयजभूषितामपाचीम् ।  
 संसर्पत्परिमलकुङ्कुमाभिरामा तद्योधैर्मुक्तमकटाक्षि पश्चिमाशा ॥३८॥  
 भूपाले विजितसमस्तदक्षिणाशे यत्राभूत्प्रतिहतशक्तिरन्धकोऽपि ।  
 कस्तत्र त्वमिति मरुचलः प्रचक्रे तच्चिह्नैरिव वरुणापसारसंज्ञा ॥३९॥  
 लाटीनां कठिनबृहत्पयोधराग्रसंघट्टप्रतिहतिजर्जरे पुरैव ।  
 लाटीये हृदयतटे पतंस्तदीयः शस्त्रौघः परमजनिष्ट कीर्तिभागी ॥४०॥

जयस्य साणिजः साकोशयुताः ( ? ) । बभूवुः भवन्ति स्म लिट् ॥३७॥ पण्यस्त्रीमिति । समुपात्तपत्रपूयैः समुपात्तः स्वीकृतः पत्राणां बाहुनानां पूगो निबद्धो यैस्तेः, पक्षैः पत्रसंहतिपूतैः । 'पत्रं बाहुनवर्णयोः' इत्यमरः । 'पूगः क्रमुकहृदयोः' इत्यमरः । तद्योधैः तस्य महासेनस्य योधैर्मर्दः । पण्यस्त्रीमिव वेष्या ( वेश ) स्त्रीमिव । मलयजभूषितां मलयजेन श्रीगन्धेन भूषितामलंकृताम् । अपाची<sup>१</sup> दक्षिणाशाम् । भुक्त्वा भनूयुः । संसर्पत्परिमलकुङ्कुमाभिरामा संसर्पता विसर्पता परिमलेन मुरभिणा युक्तेन कुङ्कुमेन काश्मीरजेनाभिरामा मनोहरा । पश्चिमाशा प्रतीची । दूतं शीघ्रम् । अकटाक्षि कटाक्षमकार्षात् । कटाक्ष इत्यस्य सुव्यायो लुङ् । श्लेषोपमा<sup>२</sup> ॥३८॥ भूपाल इति । यत्र यस्मिन् । भूपाले महासेने । विजितसमस्तदक्षिणाशे विजिता जिता समस्ता दक्षिणा आशा येन तस्मिन् सति । अन्धकोऽपि यमोऽपि । प्रतिहतशक्तिः प्रतिहृता नष्टा शक्तिः सामर्थ्यं यस्य सः । अभूत् अभवत् । लुङ् । तत्र महासेनमहाराजे । त्वं भवान् । कः कियान् । इति एवम् । मरुचलः मरुता वायुना चलंचलनयुक्तः । तच्चिह्नैः तस्य राजचिह्नैः पताकाभिः<sup>३</sup> । वरुणापसारसंज्ञा वरुणस्य पवित्रमन्दिरागारस्यापसारस्यापसारणस्य संज्ञा सूचना । चक्रे क्रियते स्म । कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३९॥ लाटीनां-मिति । पुरैव प्रागेव । लाटीनां लाटदेशजनितानाम् । कठिनबृहत्पयोधराग्रसंघट्टप्रतिहति ( ति ) बज्रं कठिनस्य कर्कशस्य बृहद्वो महतः पयोधरस्याग्रस्याग्रमगम्य<sup>४</sup> संघट्टेन मर्दनेन प्रतिहृतेन जर्जरे क्षिप्ते । लाटीये<sup>५</sup> ल ( ला ) उद्देशराजानां संबन्धे<sup>६</sup> । हृदयतटे हृदयप्रदेशे । पतन् निपतन् । तदीयः तस्य राज्ञः सबन्धः<sup>७</sup> । शस्त्रौघः शस्त्राणामायुधानामौघः । कीर्तिभागी कीर्तिभाक् । परम् उत्कृष्टम् । अजनिष्ट जायते

पृथ्वीपर तिलककी भाँति सुशोभित है—दक्षिण दिशाकी विजयके साक्षी थे ॥३७॥ महासेनके सैनिक विलासियोंके समान थे । जिस प्रकार विलासी पुरुष चन्दन आदिसे भूषित एक वेष्याको भोगकर और आवभगतमें उससे ताम्बूल तथा सुपाड़ी स्वीकार करके सुगन्धित कुंकुम आदिसे सुन्दर प्रतीत होनेवाली अन्य वेष्याकी ओर कटाक्ष विक्षेप करते हैं, उसी प्रकार चन्दन-वृक्षाले विभूषित दक्षिण दिशाका निरीक्षण करके और वहाँके बाहुनोंके समुदाय या पान सुपाड़ीको स्वीकार करके महासेनके सैनिकोंने पश्चिम दिशाकी ओर दृष्टि डाली, जो सुगन्धित फेलानेवाली कुंकुमसे मनोज्ञ थी ॥३८॥ 'जिस राजा महासेनके द्वारा सारी दक्षिण दिशा जीत लेनेपर यमराजकी शक्ति भी शिथिल हो गयी, उसके सामने तुम्हारी क्या हस्ती है' मानो यह कहकर हवामे हिलते हुए महासेनके झण्डे, चमर और छत्र आदि राजचिह्नोंने वरुणको भाग जानेके लिए इशारा कर दिया ॥३९॥ लाट ( गुजरात ) नरेशका हृदय वहाँकी नायिकाओंके कठोर और बड़े-बड़े स्तनोंकी नौकके संवर्षणसे आहत होकर पहलेसे ही जर्जर था, अतः उस ( हृदय ) पर गिरकर महासेनके शस्त्रोंका समूह केवल यशका भागी हुआ, उसे परिश्रम तनिक-सा भी

१. अ भिरामां । २. अ वरुणापसारसंज्ञः । ३. = समुपात्तं पत्रं ताम्बूलं पूगः क्रमुकवच यैस्तेः । ४. आ अपाची । ५. = दृष्टा । ६. आ 'श्लेषोपमा' इति नास्ति । ७. अ पताकादिभिः । ८. आ लाजिनां । ९. आ लाजिनं । १०. = संघट्टस्य संवर्षणस्य प्रतिहतिः प्रतिपादः, तथा । ११. आ लाजीये । १२. = संवर्षणि । १३. = संबन्धी ।

तत्तेजो विहितविपक्षकसदाहं लेखेनाप्यजनि न वाडवाविहीनम् ।  
 गम्भीरे स्थितिमस्ति सत्त्वभाजि सिन्धुनाथेऽपि उज्जितुमलं यतो बभूव ॥४१॥  
 दर्पोन्म्यान्मदिति हठेन पारसोक्तान्मैतस्या विनतरिपुविनीय वृत्त्या ।  
 तैर्नृपां बहुविधरत्नगर्भदण्डव्याजेनादित गुरुदक्षिणामिवासी ॥४२॥  
 भूमर्तुः कुसुमशरणनुकारिकान्तेः संपर्कं समुपगता करेण सद्यः ।  
 सा बलगतुरगसुरोत्परेषुरूपानोमाञ्जानमुच्चदिवोच्चकैः प्रतीचो ॥४३॥  
 संश्रान्तैस्तदमपराधबुधैर्बलैर्मैः संश्रभादभिपततो निहत्य मुक्ताव ।  
 बेलाभ्योऽपि कृततरुणद्वलम्बयत्स स्वस्थातिस्मृतिरणक्षमाञ्जलेभान् ॥४४॥

स्म । लुङ्, ॥४०॥ तदिति । यतः यस्मात्कारणात् । गम्भीरे गम्भीरे । स्थितिमस्ति<sup>१</sup> मयादायति । सत्त्वभाजि  
 सात्वर्थाभिने, ( पक्षे ) प्राथ्याभिने । सिन्धुनाथेऽपि समुद्रे सिन्धुदेशराजेऽपि । उज्जितु प्रवर्जितुम् । अलं  
 बभूव समर्थं धवति स्म । विहितविपक्षकसदाहं विहितं इव विपक्ष एव<sup>२</sup> शत्रुपक्ष<sup>३</sup> एव ननं तस्य दाहो  
 जेत सत् । तत्तेजः तस्य राज्ञः तेजः प्रतापः । लेखेनापि अल्पेनापि । वाडवाविहीनं वाडवमा वाडवाननाद्  
 विहीनं रहितम् । नाजनि नाजायत । लुङ् । वाडवानलादधिकं भवति स्मेत्यर्थः ॥४१॥ द्रष्टेति । विनतरिपुः  
 विनता रिपवो वस्य सः । असौ महासेन । दर्पोन्म्यान् दर्पणं गर्वणान्थान् । पारसोक्तान् पारसोक्तदेशाधिपान् ।  
 बलमया बलैस्तैस्तेव बलैस्तौ तया, स्पष्टया (?) इत्यर्थः । वृन्त्या वृत्तेन । हठेन बलाकारेण । अटिति  
 शीघ्रम् । विनीय<sup>४</sup> शिवा कृत्वा । भूमरूपेण प्रवृत्तानेभिधान् वेत्तान् तृणविशेषान् गृहीत्वा प्रह्लोकरणादिव  
 विनान् चकारेति तात्पर्यम् । तैः पारसोक्तैः । दत्ता विनीयानि । तस्मान्न तस्य भूवा गुरुदक्षिणामिव देवविद्  
 एतस्य सत् स्त्रोचिव (?) बहुविधरत्नगर्भदण्डव्याजेन बहुविधानि नानाप्रकाराणि रत्नान्येव गर्भेऽन्तर्भागे यस्य  
 स बासी दण्डवत् प्रसभ इति व्याजेन । अदित अमृहीत् । हुदाह दाने लुङ् । उपमा ॥४२॥ भूमर्तुरिति ।  
 कुसुमशरणनुकारिकान्तेः कुसुमशरं मन्मथम् अनुकारिणो सदाकारिणो<sup>५</sup> कान्ति-लाभय यस्य तस्य । भूमर्तुः  
 महासेनस्य । करेण सिद्धायेन<sup>६</sup>, ( पक्षे ) हस्तेन । सद्य तदानोभवः । संपर्कं सङ्गम् । समुपगता समुपगता ।  
 सा प्रतीचो पश्चिमाशाङ्गना । उच्चकैः उच्चैः । बलगतुरगसुरोत्परेषुरूपान् बलगता चरता तुरगाणां वाजिना  
 लुरे शर्करस्या रेणवो धूल्य त एव रूपं स्वरूपं येया तान् । रोमाञ्चवान् रोमहर्षणानि । अमुच्चदिव अमोच्च-  
 दिव । मुक्ताव मोक्षणे लुङ् । उपेक्षा ॥४३॥ संश्रान्तैरिति । अपराधबुधं पश्चिमसमुद्रस्य । तट तीरम् ।

नहो करना पड़ा ॥४०॥ शत्रुरूपी जगलको जलानेवाला, महासेनका प्रताप वाडवाग्निसे तनिक  
 भो कम नहीं था; क्योंकि जिस तरह वाडवाग्नि गहरं, सोमाका पालन करनेवाले और जल-  
 जन्त्रोंसे व्याप्त समुद्रे जला करती है, उसी तरह महासेनका प्रताप गम्भीर, कुलकी मयादा  
 पालनेवाले और सामर्थ्यशाली, सिन्धुनरेश रूपी बहुत बड़े समुद्रे भो जलनेके लिए समर्थ सिद्ध  
 हुआ ॥४१॥ शत्रुओका सिर नीचा करनेवाले राजा महासेनने दर्पोन्म्या पारसोक्त नरेशोको बल-  
 पूर्वक वेतकी भाँति विनम्र रहनेको शिक्षा देकर उनके द्वारा अनेक प्रकारके रत्नोंके साथ समर्पित  
 सेनाके उपहारको लेनेके बहाने मानो गुरुदक्षिणा स्वीकार की ॥४२॥ कामदेव सरोखी कान्तिको  
 धारण करनेवाले राजा महासेनके हाथ ( टंक ) के सम्पर्कको पाकर पश्चिम दिशाने शीघ्र ही,  
 चलते हुए घोड़ोंको टापोंसे उड़ी हुई धूलिके रूपमें माना प्रचुर मात्रामे रोमांचोंको धारण  
 किया ॥४३॥ महासेनने पश्चिम समुद्रके तटपर पहुँचे हुए अपने हाथियोंके— जो सेनामे शामिल

१. सा वाडवाविहीनम् । २. आ स्वाक्यातिः । ३. आ स्थानवति । ४. सा 'विपक्ष एव' इति नास्ति ।

५. सा 'वक्ष' इति नास्ति । ६. = 'विदुलो वेतसः मोतो वानीरो वञ्जुलो रयः' इति हेनः । ७. = शिवाश्रित्या ।

८. सा लुङ् इति नास्ति । ९. = अनुकरोति । १०. = तत्सामर्थ्यकारिणो । ११. सा 'सिद्धायेन' इति नास्ति ।

तत्राशामभिचलिते कुबेरगुप्तां सध्वान्तं<sup>१</sup> तुरगखुरोत्थितैः पराजैः<sup>२</sup> ।

व्योमासीद्वलभरपीड्यमानमूर्ध्नामुच्छ्वासीरिव फणिनां रसातलोत्थैः ॥४५॥

प्रासस्थोत्तरदिशमेति तीव्रभाधं तिम्रांशोरपि न विना क्रमेण तेजः ।

व्याधोपक्षणमनपेक्ष्य सद्य एव स त्वासोर्द्वारिजनदुःसहप्रतापः ॥४६॥

तस्यधीवलयभुजः समस्तदिव्यैः सामन्तैः समुपगतैः प्रवृद्धितेभ्यः<sup>३</sup> ।

सैन्येभ्यः परिवदतावकाशदेशं स्वानन्त्यं प्रकटितमुत्तरापथेन ॥४७॥

संप्राप्तैः समागतैः । बलेभ्यैः सेनागजैः सह । संरम्भात् क्रोधात् । अभिपतत. गच्छतः । निहत्य हत्वा । मुक्तान् त्यक्तान्, पूर्वं हत्वा पदवाग्मुक्तान् इत्यर्थः । स्वस्थातिस्मृतिकरणक्षमान् स्वस्थात्मन. कृपातेः कीर्तैः स्मृतिकरणे स्मरणविधाने क्षमान् समर्थान् । जलेभ्यो नौरगजान् । स. राजा । बैलान्छोच्छिन्नतटरुपु बैलायास्तटस्थान्ते समीपे विद्यमानेषुच्छिन्नेषुननेषु वृक्षेषु । अलम्बयत् बन्धयति स्म । अनुब्रू अवलंसने गिजन्तालङ् ॥४४॥ तत्रैते । तत्र राज्ञि । कुबेरगुप्तां कुबेरैर्ण<sup>४</sup> राजराजेन गुप्ता रक्षिताम् । आशां दिशम् । उत्तरदिशमित्यर्थः । अभिचलिते प्रयाते । बलभरपीड्यमानमूर्ध्ना बलस्य सेनाया मरेण भारेण पीड्यमानो मूर्धा मस्तको<sup>५</sup> येषां तेषाम् । फणिनां नागानाम् । रसातलोत्थैः रसातले पातालै<sup>६</sup> उच्यैः संजातैः । उच्छ्वासीरिव ऊर्ध्वश्वासीरिव । तुरगखुरोत्थैः तुरागणां तुरङ्गानां खुरैः खुरपुटैरुत्थैरुत्थनैः । पराजैः राजभिः । व्योम गगनम् । सध्वान्तं तमोयुक्तम् । आसीत् अभूत् । अतिसयः ॥४५॥ प्रासस्थेति । उत्तरदिशम् उत्तराशाम् । प्रासस्थ गतस्य । तिम्रांशोरपि सूर्यस्यापि । तेजः प्रतापः । क्रमेण विना क्रमं विना । तीव्रभाधं तीक्ष्णत्वम् । न न भवति [ न एति ] ( न गच्छति ) । सः तु राजा । अरिजयनदुःसहप्रतापः अरिणां शत्रूणां जयनेन विजयेन दुःसहः सोढुमशक्यः प्रतापो यस्य सः ( अरिजनदुःसहप्रतापः अरिजनानां दुःसहः प्रतापो यस्य सः ) । व्याधोपणं तिरस्करणम् ( व्याधोपो विलम्बस्तस्य क्षणं स्वल्पमपि समयम् ) । अनपेक्ष्य ( अपेक्षां न विचार्य, तत्प्रतीक्षां न विचार्येत्यर्थः ) । सद्य एव तदानीमेव आसीत् । सङ् ॥४६॥ नस्येति । उर्ध्वविलयभुजः उर्ध्वा भुवो वलयं मण्डलं भुजो<sup>७</sup> भुजवतः । तस्य महासेनस्य । समस्तदिव्यैः समस्तासु दिशसु विद्यमानैः । समुपगतैः समायातैः । सामन्तैः राजभिः । प्रवृद्धितेभ्यः प्रवृद्धितेभ्यः । सैन्येभ्यः सैनिकेभ्यः । अवकाशदेशम् अवकाशेन अवगाहनेन युक्तं देशं प्रदेशम् । परिवदता परिवच्छता । उत्तरापथेन उत्तरदिशासौ पन्थाश्चोत्तरापथस्तेनोत्तर-

ये—ऊपर रोपसे झपटनेवाले समुद्री हाथियोंको मारकर छोड़ दिया, फिर समुद्रके तटवर्ती वृक्षों-के ऊपर उन्हें अपनी कीर्तिके स्मारकके रूपमें बैववा दिया ॥४४॥ इसके पदचात् महासेनने उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया । उस समय सारा आकाश, उसकी सेनाके घोड़ोंकी टापोसे उड़ी हुई धूलसे ढँक गया । अतः वह ऐसा जान पड़ता था मानो सेनाके बोझसे पातालके जिन नागोंके सिर अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे, उनकी श्वास बाधसे व्याप्त हो गया हो ॥४५॥ उत्तर दिशाको प्राप्त ( उत्तरायण ) हुए सूर्यका भी तेज क्रमके विना तीव्र नहीं होता, पर उत्तर दिशामें पहुँचते ही, महासेनका प्रताप अविलम्ब ही उसके शत्रुओंको असह्य हो उठा ॥४६॥ भूमण्डलका पालन करनेवाले राजा महासेनकी सेनाएँ सभी दिशाओंसे आये हुए सामन्तोंसे खूब ही बढ़ गयी थीं, उन्हें भरपूर अवकाश देकर उत्तरापथ ( उत्तर प्रदेश ) ने तो जैसे

१. क र ल ग घ म संछन्नं । २. क र ल ग घ म रजोभिः । ३. अ एव तस्यासीद<sup>४</sup> । ४. अ प्रवृद्धि-  
तेभ्यः । ५. आ श गुप्तां रक्षिताम्. उत्तरदिशमित्यर्थः । दिशम् आशाम् । ६. आ मस्तकं । ७. आ पाण्ड्या  
( ता ) कलौके । ८. = अरिजनदुःसहप्रताप आसीदित्यर्थः । ९. = भुजकीति भुज्, तस्य, पालयत इत्यर्थः ।

तथेन्द्रपलशकलोज्ज्वलैः समन्तात्सर्पङ्गिर्नभसि करेणुशीकरोधैः ।  
 कौबेर्या इव निजनायकामिभूति शङ्किन्याः प्रविगलद्भूमिश्चकाशे ॥४८॥  
 हृत्वापि द्रविणमसावभोगबुद्धं टकानां वधकरणोद्यतासिरासीत् ।  
 नाशोसो सवपहृतेर्विधानमात्रादेवामृत्स्वयमसुभिर्विमुक्तदेहान् ॥४९॥  
 काश्मीरप्रभविषु भूमिभृत्सु वज्रीभूयासो पृथुकटकान्वितेषु भूपः ।  
 कीरीणामभिनवयौवनोद्धतानां लावण्यधियमतनिर्घं शोचनीयाम् ॥५०॥  
 कापोताङ्गद्विविधसुरः समन्ताद्यः पांसुर्नभसि ससर्पं<sup>३</sup> तच्चमूष्यः ।  
 संत्रासोदयपरिकम्पमानपक्षे संजज्ञे स्वशमशके स एव धूमः ॥५१॥

वेधेन । स्वानम्यं निजनिरवधित्वम् । प्रकटितं प्रकटीकृतम् ॥४७॥ तत्रेति । तत्र नभसि गगने । समन्तात् परितः । सर्पङ्गिः निर्गच्छङ्गिः । इन्द्रपलशकलोज्ज्वलैः इन्द्रपलानां चन्द्रकान्तशिलानां शकलाः । खण्डानोव उज्ज्वलैः । करेणुशीकरोधैः करेणूनां करिणीनां शीकराणां जलकणानामोषैः समूहैः । निजनायकामिभूति-शङ्किन्याः निजनायकस्य स्वनायकस्य<sup>१</sup> कुबेरस्याभिभूतो तिरस्कारे शङ्किन्या सन्देशिन्याः । कौबेर्या कुबेरदिगङ्ग-नायाः । प्रविगलद्भूमिः [ इव ] प्रविगलद्भिः प्रलब्धिरभूमिर्नयनादकैरिव । चकारी वभामे । काशि दीप्तौ भावे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४८॥ हृत्वेति । असौ राजा । अभोगवृद्धम् अभोगेनाननुभवेन वृद्धं प्रबृद्धम् । टककानां टकदेशस्य ( टककानां टकदेशस्य ) राज्ञाम् । द्रविणं द्रव्यम् । हृत्वापि स्वीकृत्वापि । वधकरणाद्यतासिः वधस्य हिंसायाः करणे विधाने उद्यत उद्धृतोऽसिः खड्गो येन स । आसीत् अभूत् । लङ् । तदपहृतेः तस्य द्रव्यस्यापहृतेरपहरणस्य । विधानमात्रात् करणमात्रादेव । अमून टकान् ( टककान् ) अमुभिः प्राणैः । समं सह । [ स्वयं स्वतः ] विमुक्तदेहान्<sup>५</sup> विमुक्तो देहो यैस्तान् । नाशोसो न जानाति स्म ॥४९॥ काश्मीरेति । असौ भूपः महामेनः । काश्मीरप्रभविषु काश्मीरे काश्मीरदेशे प्रभविषु जातेषु । पृथुकटकान्वितेषु पृथुभिर्महद्भिः कटकैर्बलैः, ( पक्षे ) सामुभिः<sup>६</sup> अन्वितेषु युतेषु । भूमिभृत्सु राजसु, पवतस्थित ध्वन्यने । वज्रीभूय<sup>७</sup> वज्रा-सुधयुतो भूत्वा । अभिनवयौवनोद्धतानाम् अभिनवेन नूतनेन यौवनेनोद्धतानां गर्वितानाम् । कीरीणां कीरदेश-स्त्रीणाम् । लावण्यधियं लावण्यस्य देहकान्तं । अधियं गौभाम् । शोचनीया<sup>८</sup> दुःखितुं योग्याम् । अतनिष्ट करोति स्म । तनुर्<sup>९</sup> विस्तारे लुङ्<sup>१०</sup> । श्लेषः ॥५०॥ कापोनेति । कापोताङ्गद्विविधसुरः कापोनं<sup>११</sup> पारावतमवन्धम्

अपनी अनन्तता ही प्रकट कर दी ॥४७॥ हाथी और हथिनियोंकी मूँडमें निकले हुए, चन्द्र-कान्तमणिके टुकड़ों सरोखे शुभ्र जलकण सभी ओरसे आकाशमें उड़ रहे थे, जिन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो अपने स्वामी ( कुबेर ) के तिरस्कारको आशंका करनेवालो उस ( कुबेर ) की दिशा ( उत्तर दिशा ) रूपी नायिकाके आँसू टपक रहे हों ॥४८॥ टक नामसे विख्यात देशके निवासियोंके उपभोग न करनेसे बड़े हुए धनको छानकर भी महासेनने उन्हें मारनेके लिए तलवार उठा ली । उस समय उसे यह खयाल नहीं रहा कि उनका धन छीनने मात्रसे ही उनके प्राण निकल गये हैं ॥४९॥ काश्मीरी राजाओं ( पर्वतों ) पर—जो बड़ी-बड़ी छावनियों ( चोटियों ) से युक्त थे—वज्र बनकर राजा महामेनने नव यौवनसे उद्धत कीरदेशकी अंगनाओंके सौन्दर्यको ( उन्हें विधवा बनाकर ) शाकका विषय बना दिया ॥५०॥ महासेनकी सेनाकी कबूतरके रोमोंके समान मटमैली जो धूल सभी ओरसे उड़कर आकाशमें

१. अ. वृद्धटकानां वधरक्षणोद्यं । २. अ. क. स्व. घ. म. मज्जनित । ३. अ. समर्प । ४. = खण्डानि तद्वत् । ५. = कुबेरस्याभिभूति तिरस्कृत शङ्कत इति शङ्किनी, तस्याः । ६. श. विमुक्तदेहान् विमुक्तो विमुक्तो देहो यैस्तान् । ७. = मध्यमार्गः । ८. = वज्ररूपतामेत्य । ९. श. 'गर्वितानाम्' इति नास्ति । १०. = शोकाह् । ११. आ. तनु । १२. श. 'लुङ्' इति नास्ति । १३. = पारावतसंबन्धि ।

कस्तूरोमृगसुरभौ हिमाचलेन्द्रे प्रच्योतत्पयसि निवेशितात्मसैम्यः ।

स्वं धीणा<sup>१</sup> कलितकरैः स किनरोधैः<sup>२</sup> शुभावेन्दुरुचि यशः प्रणीयमानम् ॥५२॥

इत्याशाः समदधूरिब क्षितीशः संक्षेपात्करकलिताः<sup>३</sup> स संविधाय ।

सन्तुष्टाखिलजनवर्धितोत्सवायां प्रत्यागादतुलपराक्रमः स्वपुर्याम् ॥५३॥

भूपानां वसनयुगादिसत्कृतानां संधातं सपदि यथायथं विसर्ज्य<sup>४</sup> ।

संपश्यन्मुखकमलं स लक्ष्मणायाः साम्राज्यं समनुबभूव दीर्घकालम् ॥५४॥

अङ्गरुहमिव पक्ष इव विधूरर ईषच्छुभः । तच्चमूत्थं तस्य मूपस्य चम्बा सेनया उत्थ उद्गतः । यः पांसुः परागः । नभसि गगने । समन्तात् सर्वतः । ससर्पं व्याप्नोति स्म । सर्पं गतो लिट् । संज्ञासौदमपरिकम्पमानपक्षे संज्ञासेन भयेन परिकम्पमानो<sup>५</sup> धुनानः पक्षः सहायो गच्छा ( पक्षे, गच्छ ) यस्य<sup>६</sup> तस्मिन् । लशमशके लशराज एव यशको मक्षिका तस्मिन् । सः एव पांसुरेव । धूमः । संज्ञे जातः । लिट् ॥५१॥ कस्तूरीति । कस्तूरीमृगसुरभौ कस्तूरीमूकैः सुरभिः परिमलो यस्मिन् तस्मिन् । प्रच्योतत्पयसि प्रच्योतत् प्रखवत् पयो जलं यस्मिन्<sup>७</sup> तस्मिन् हिमाचलेन्द्रे हिमवत्पर्वते । निवेशितात्मसैम्यः निवेशितं निवासितमात्मनः स्वस्य सैम्यं सेना येन सः । सः राजा । धीणाकलितकरैः धीणया कलितो युक्तः करो हस्तो येषां तैः । किनरोधैः किनराणामोधैः समूहैः । प्रणीयमानं स्तूयमानम् । इन्दुरुचि इन्दोवचन्दस्य रुचिरिव रुचिः कान्तियंस्य तत् । स्वं स्वकीयम् । यशः कीर्तिम् । शुभाब शृणोति स्म । ध्रु श्रवणे लिट् । उपमा ॥५२॥ इतीति । इति एवम् । अतुलपराक्रमः अतुलः सादृश्यरहितः पराक्रमः शक्तियंस्य सः । सः महासेनः । क्षितीशः भूपतिः । समदधूरिब मदेन संतोषेण सहिता दधूरिब नारीरिब । आशाः दिग्गः । संक्षेपात्<sup>८</sup> संक्षेपेणात् करिकलिताः करेण सिद्धायेन कलिता गृहीताः । संविधाय कुत्वा । अखिलजनवर्धितोत्सवायाम् अखिलैः सकलैर्जनैर्वर्धितोऽभिनन्दित उत्सवो यस्यां तस्याम् । स्वपुर्यां स्वस्य पुर्यां नगर्याम् । सन्तुष्टा सन्तोषेण । प्रत्यागात् पुनरागमत् । इण् गतो लुट् । 'गैत्योः' इति गादेशः । श्लेषोपमा ॥५३॥ भूपानामिति । स महासेनः । सपदि शीघ्रम् । वसनयुगादिसत्कृतानां वसनस्य वस्त्रस्य युगादिभिर्द्विपदिकादिभिरित्यर्थः, सत्कृतानां ममानितानाम् । तस्य ( ? ) । भूपाना राजानाम् । संधातं समूहम् । यथायथं यथा भवति० । स्वदेशं विसर्ज्य<sup>९</sup> प्रेष्य । लक्ष्मणायाः लक्ष्मणादेव्याः । मुखकमलं मुखमेव नलिनम् । पश्यन् विलोकमानः । दीर्घकालं बहुकालपर्यन्तम् । साम्राज्यं राज्यम्<sup>१०</sup> । समनुबभूव अनुभवतिस्म । रूप-

जा रहो धी, वही 'लश' राजारूपी मच्छरोंकी—जिनके पक्ष ( पंख ) के लोम भयके कारण काँप रहे थे—भगदड़ मचानेके लिए धूम-धुआँ धी ॥५१॥ हिमालय पर्वतपर कस्तूरी मृगोंकी सुगन्धि फैल रही थी और झरनोंका जल बह रहा था । वहाँ अपनी सेनाको ठहराकर राजा महासेनने अपने शुभ्र यशका गान सुना, जो दिव्य धीणाको अपने हाथोंमें लेकर गन्धर्व आदि देवोंके द्वारा गाया जा रहा था ॥५२॥ इस प्रकार संक्षेपमें सभी दिशाओंकी, सन्तुष्ट पत्नीकी भाँति अपने अधीन करके अतुल पराक्रमी राजा महासेन अपनी राजधानीमें—जहाँ सभी नागरिक सन्तुष्ट होकर खूब उत्सव मना रहे थे—लौट आया ॥५३॥ इसके पश्चात् वस्त्रोंकी जोड़ी आदि उपहार देकर सभी सहयोगी राजाओंके बर्गका शीघ्र ही यथायोग्य सम्मान किया और फिर उन्हें बिदा करके महासेनने लक्ष्मणा (पट्टरानी) का मुख-कमल देखते (भोग भोगते)

१. क ल ग घ म स्वर्वाणां । २. क ल ग घ म किनराधैः । ३. अ करमलिताः, म करमलिता । ४. अ विसर्ज्यं । ५. = वेगमानः । ६. श यस्मिन् । ७. = यस्मात् । ८. = संक्षेपतः । ९. = यथायोग्यम् । १०. आ विसृज्य । ११. आ 'राज्यम्' इति नोपलभ्यते ।



प्रागेव प्रमुदितधीजिनावताराद्गत्स्नानाममुचद्विद्विषा प्रयुक्तः ।  
 कोटयर्धं प्रतिदिवसं त्रिकोटियुक्तं वण्मासानथ धनवस्तदीयगेहे ॥११॥  
 अष्टौ च त्रिदशपतेर्निदेशवाक्यात्तस्यान्तःपुरमुपगम्य दिक्, मार्गः ।  
 व्यानम्राः स्वमभिनिवेश लक्ष्मणायाः कर्तव्यं व्यधिषत् गर्भशोधनादि ॥१२॥  
 सौधोत्सङ्गे तुङ्गपत्यङ्कुमुसा कल्याणाङ्गी यामिनी पश्चिमार्धे ।  
 चिह्नोभूताजैनजम्मानुमाने स्वप्नानेतान्साध देवी दर्श ॥१३॥  
 शैलेन्द्राभं शुभ्रमैन्द्रं गजेन्द्रं दर्पोत्सकोद्रेकमाणं गवेन्द्रम् ।  
 नागेन्द्रौघं द्रावयन्तं मृगेन्द्रं लक्ष्मीं हस्तन्यस्तलीलारविन्दाम् ॥१४॥

कम् ॥५४॥ प्रागिति । अथ दिग्विजयानन्तरम् । प्रमुदितधीः प्रमुदिता संतुष्टा धीविषत् यस्य सः । अद्विद्विषा देवेन्द्रेण । प्रयुक्तः प्रेरितः । धनदः कुबेरः । जिनावतारात् जिनस्य चन्द्रनाथस्यावताराद् गर्भावतरणात् । प्रागेव पूर्वमेव । रत्नानां मणीनाम् । त्रिकोटियुक्तं त्रिसुभिः कोटिभिर्गुणैः युतम् । कोटयर्धं कोटया अर्धं दत्तम् । तदीयगेहे तदीये तत्संबन्धे गेहे सधने । वण्मासान् वण्मासपर्यन्तम् । प्रतिदिवसं दिनं प्रति । अमुचत् वचर्थः । लुङ् ॥५५॥ अष्टाविति । त्रिदशपतेः देवेन्द्रस्य । निदेशवाक्यात् निदेशस्याज्ञाया वाक्याद् वचनात् । अष्टौ च अष्टसंख्याप्रमिताः । दिक्कुमार्यः । तस्य राज्ञः । अन्तःपुरम् अवरोधम् । उपगम्य प्राप्य । लक्ष्मणायाः लक्ष्मणादेव्याः । व्यानम्राः विनमनशीलाः सत्यः । स्वम्<sup>१</sup> आत्मनः अभिनिवेश विज्ञाप्य । गर्भशोधनादि गर्भस्य शोधनादि । कर्तव्यं कार्यम् । व्यधिषत् कुर्वन्ति स्म । हुआङ् धारणे च ॥५६॥ सौधेति । अथ गर्भशोधनानन्तरम् । सौधोत्सङ्गे सौधस्य प्रासादस्योत्सङ्गे<sup>२</sup> ( मध्ये ) । तुङ्गपत्यङ्कुमुसा तुङ्गे उन्नते पत्यङ्के मरुचके मुसा शयिता । कल्याणाङ्गी कल्याणं मनोहरमङ्गं यस्याः सा । 'असहजन्धु' इत्यादिना दौ-प्रत्ययः । सा देवी लक्ष्मणा देवी । यामिनीपश्चिमार्धे यामिन्या रात्रेः पश्चिमार्धेऽवसाने । जैनजम्मानुमाने जैनस्य<sup>३</sup> जिनसंबन्धस्य जन्मनो जननस्यानुमानेऽनुमितौ । चिह्नोभूतान्<sup>४</sup> लक्ष्मीभूतान् । एतान् इमान् । स्वप्नान् । दर्पं बोधा चक्रे । दृष्टं<sup>५</sup> प्रेक्षणं लिट् ॥५७॥ शैलेन्द्राभं शैलेन्द्रस्य निरीन्द्रस्य आभं<sup>६</sup> सदृशम् । ऐन्द्रम्<sup>७</sup> इन्द्रसंबन्धम् । गजेन्द्रं हस्तीन्द्रम् । शैलेन्द्राभम्—इत्योन्नत्येन मेरुसदृशो न वर्णनं । शुभ्रमिति विशेषणस्य दत्तत्वात्, मेरोः (च) सुवर्णवर्णत्वात् । दर्पोद्रेकात् दर्पस्य गर्वस्योद्रेकादुत्कर्षात् । रेकमाणं ध्वनन्तम् । गवेन्द्रं वृषभम् । नागेन्द्रौघं नागेन्द्राणां गजेन्द्राणामौघं समूहम् । द्रावयन्तं धावयन्तम् । मृगेन्द्रं कण्ठीरवम् । हस्तन्यस्तलीलारविन्दा हस्तं पाणी न्यस्त लीलायै विलासायै मरविन्दं

हुए चिरकाल तक साम्राज्यके सुखका अनुभव किया ॥५४॥ दिग्विजयके बाद महासेनके घर चन्द्रप्रभके गर्भावतारके पहले लगातार छह मास तक (तीनों सन्ध्याओमें) प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वर्षा, कुबेरने, इन्द्रकी प्रेरणासे प्रसन्नतापूर्वक की ॥५५॥ इन्द्रकी आज्ञासे आठों दिक्कुमारियोने महासेनके अन्तःपुरमें जाकर एव नम्रतापूर्वक अपने आनेका अभिप्राय बतलाकर लक्ष्मणाके गर्भ-शोधन आदि कर्तव्यको पूर्ण किया ॥५६॥ इसके उपरान्त लक्ष्मणाने—जो राज-महलके मध्यमें ऊँची सेजपर सोयो हुई थी और जिसका शरीर समस्त लोकके लिए कल्याणकारी था (तीर्थंकरको जन्म देनेसे)—रात्रिके पिछले भागमें इन (सोलह) स्वप्नोंको देखा, जो जिन भगवान् (चन्द्रप्रभ) के जन्मका अनुमान लगानेमें सहायक थे ॥५७॥ सुमेरुके समान उन्नत, इन्द्रके शुभ्र गजराज—ऐरावतको; दर्पके प्रकर्षसे डकारते हुए श्रेष्ठ बेलको; गजराजोंके झुण्डको भगाते हुए सिंहको और उस लक्ष्मीको, जिसके हाथमें लीला कमल स्थित था, (देखा) ॥५८॥

१. = तत्संबन्धनि । २. = प्रतिदिनम् । ३. = आत्मानम् । ४. = मध्ये । ५. = जिनसंबन्धिनः । ६. = लक्ष्मभूतान् । ७. आ दृष्टिर् । ८. = आभेवाभा यस्य तं । ९. = इन्द्रसंबन्धिनम् ।

मातायुग्मं प्रान्तविभ्रान्तभुजं साम्प्रज्योत्सर्गं पार्ष्वं शीतमनुजम् ।  
 भानुं माता भासिताशान्तरालं मीनद्वन्द्वं क्रीडन्मोघरक्तम् ॥५८॥  
 कुम्भाबम्भोजावृतावभुपूर्वां शुभ्राम्भोजोद्भासितोर्व तटाकम् ।  
 बीबीचकौस्तुभिताकाशमण्डिं सिंहद्वन्द्वं विहरं रौलतुङ्गम् ॥६०॥  
 दिव्यं दिव्यैः सेव्यमानं विमानं नागावांसं नागकम्पानिरामम् ।  
 सपत्तेजोमण्डलं रत्नराशिं धूमत्यागातुण्डलं धूमकेतुं ॥६१॥ ( कुलकम् )  
 स्वप्नानेतान्भूरिकल्याणहेतुन्मात्सा प्रतः प्रीतिविस्तारिताक्षी ।  
 सा भूमतुः सूचयामास देवी चक्रे तेनापीति सा तत्पञ्चका ॥६२॥

कमलं यस्याः ताम् । लक्ष्मीं बीदेवीम् ॥५८॥ भाकेति । प्रान्तविभ्रान्तभुजं प्राप्ते समीपे विभ्रान्तावचलिता<sup>१</sup>  
 भुजा मनुकरा यस्य सत् । मातायुग्मं मालयोदन्तीयुग्मं युगलम् । साम्प्रज्योत्सर्गं साम्प्रदा घना ज्योत्स्ना  
 चन्द्रिका यस्य तम् । पार्ष्वं पीर्णमात्रां भवम्<sup>२</sup> । शीतमनुं चन्द्रम् । भासा कान्था । भासिताशान्तरालं  
 भासितं प्रकाशितमाशानां विशामन्तरालमन्यन्तरं यस्य<sup>३</sup> तम् । भानुं सूर्यम् । क्रीडत् विहरत् । अम्भोग्घरक्तम्  
 अम्भोजं परस्परं रक्तं प्रीतियुक्तम् । मीनद्वन्द्वं मीनयोर्मत्स्योद्वन्द्वं युगलम् ॥५९॥ कुम्भाविति । अम्भोजा-  
 वृत्तौ अम्भोजैः कमलैरावृत्तौ परिवृत्तौ । अम्भुपूर्वां अम्भुना सलिलेन पूर्णां उन्मिता<sup>४</sup> । कुम्भो मञ्जुकलशौ ।  
 शुभ्राम्भोजोद्भासितोर्व शुभ्रैः श्वेतैरम्भोजैः सरसिर्जलद्भासि विहसत् सौम्यं जलं यस्मिन् तम् । तटाकं सरो-  
 वरम् । बीबीचकैः बीबीनां तरङ्गाणां चक्रीः समूहैः । कुम्भिताकाशं कुम्भितं स्पृष्टमाकाशं गगनं यस्य<sup>५</sup> तम् ।  
 अम्भि समुद्रम् । सिंहद्वन्द्वं सिंहैः कष्टीरवैर्द्वन्द्वं भूतम्<sup>६</sup> । रौलतुङ्गं रौलवत् पर्वतवत् तुङ्गमुन्नतम् । विहरं  
 सिनासनम् ॥६०॥ दिव्यमिति । दिव्यं दिवि स्वर्गे भवम् । दिव्यैः देवैः । सेव्यमानं श्रवमाणम् । विमानं  
 व्योमगानम् । नागकम्पानिरामं नागकम्पानिगवनिगवितानिरामं मनोहरम् । नागावांसं नागानां नागकुमारा-  
 नामावांसं चवनम् । सपत्तेजोमण्डलं सपत्<sup>७</sup> सवनं तेजसां कान्तीनां मण्डलं यस्य तम् । रत्नराशिं रत्नानां  
 मणीनां राशिं निकरम् । धूमत्यागात् धूमस्य त्यागादभावात् । उज्ज्वलं प्रज्वलम् । धूमकेतुम् अग्निम् । ददर्श  
 इति प्रत्येकमयिसंभवः । पञ्चभिः कुलकम् । दीपकम् ॥६१॥ स्वप्नानिति । भूरिकल्याणहेतुन् भूरिणो बहुल-  
 स्य कल्याणस्य हेतुन् कारणाणि । एतान् इमान् । स्वप्नान् । प्रातः विभाते । यस्या प्राप्य । प्रीतिविस्फारि-  
 ताक्षी प्रीत्या संतोषेण विस्फारिते उच्चाटिते अक्षिणी नयने यस्याः सा । सा देवी लक्ष्मणा देवी । भूमतुः  
 महासेनराजस्य । सूचयामास विज्ञापयामास । सूच पैङ्ग्वे लिट् । तेनापि । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । सा

दो माताओंकी, जिनके आसपास और गुंजार कर रहे थे; सचन ज्योत्स्नासे युक्त पूर्णमासीके  
 चन्द्रमाको; अपने प्रकाशसे सारी दिशाओंको प्रकाशित करते हुए सूर्यको और एक दूसरेसे अनु-  
 राग करनेवाले किलोकर करते हुए मीन युगलको (देखा) ॥५९॥ कमलोंसे ढंके हुए और जलसे  
 भरे हुए दो मंगलकलाओंको, जलमें लहलहाते हुए सफेद कमलोंसे अलङ्कृत सरोवरको, आकाश-  
 को छूनेवाली उताल तरंगोंसे युक्त समुद्रको और सिंहोंपर आभित सिंहसनको, जो पहाड़के  
 समाव जगत था, (देखा) ॥६०॥ देवोंसे सेवित दिव्य विमानको, नागकम्पाओंसे सुन्दर नागमवन-  
 को, फेकाते हुए तेजोमण्डलसे युक्त रत्नराशिको और धूमरहित होनेसे उज्ज्वल अग्निको (देखा)  
 ॥६१॥ अत्यधिक कल्याणके कारण-स्वरूप इन स्वप्नोंके बारेमें लक्ष्मणाने—जिसके नेत्र प्रीतिसे  
 विकसित हो रहे थे—प्रभात होते ही अपने पति राजा महासेनको सूचना दी, और फिर महासेनने

१. अ क ल स च न तटाकम् । २. अ क ल स च न देवी । ३. अ प्रीता । ४. अ चन्द्रचलिता ।  
 ५. अ पार्ष्वं पीर्णवम् । ६. = वेन । ७. अ 'उन्मिता' इति नास्ति । ८. = येन । ९. अ 'भूतम्' इति  
 नास्ति । १०. = उज्ज्वलम् ।

ब्रूते नागस्ते चिकोर्कैरुमुष्यं कंठवाभास्ते खनुमुक्ता गम्भीरम् ।

सिंहः सिहोदारदुर्लङ्घ्यपीर्यं लक्ष्मीर्देवेन्द्रामिवेकयोग्यम् ॥६३॥

दामद्वन्द्वास्तुभु स्तोऽनन्तकीर्त्तिर्भवेत् बन्ध्यामतिहेतुः प्रथमनाम् ।

मोहप्लवात्तर्ध्वसक्तस्त्रिभुवासा पादोनाम्न्यां सर्वशोकैर्विमुक्तः ॥६४॥

कुम्भासोकाक्षकषीः पूर्णदेहस्तृष्णावह्निचिन्तसरोवीक्षणम् ।

पाथोनाभस्केवलज्ञावभागी लब्ध्वा सिद्धेर्षाम सिद्धासनम् ॥६५॥

स्वर्गादिता देवि देवालयेन मयावासायभंतीर्थस्य कर्ता ।

कीडाशीलो रत्नपुञ्जात्गुणानां चत्पत्युभं बह्विना कर्मकक्षम् ॥६६॥

देवी । तत्फलज्ञा तेषां स्वप्नानां फलज्ञाना । चक्रे क्षिपते स्म । कर्मणि लिट् ॥६२॥ ब्रूत इति । नागः गजः । तं तुभुं पुषम् । त्रिलोकैकमुष्यं त्रयाणां लोकानामेकमसहायं मुख्यं श्रेष्ठम् । कल्याणाङ्गं कल्याणं मनोहरमाङ्गं शरीरं यस्य तम् । ब्रूते वक्षति । उवाचः वृषभः । गम्भीरं गम्भीरम् । सिंहः कण्ठोरवः । सिहोदारदुर्लङ्घ्यपीर्यं सिंह इवोदारं<sup>१</sup> महितं दुर्लङ्घ्यं लङ्घितुमशक्यं पीर्यं पराक्रमो यस्य तम् । लक्ष्मीः श्रीदेवी । देवेन्द्रामिवेकयोग्यं देवेन्द्रं<sup>२</sup> रहितम्यामिवेकरीकं मुख्यं योग्यम् ॥६३॥ दामेति । तुभुः । मुशोमने भ्रूयो यस्यास्तस्याः संबोधनं भो मनोहरभ्रूमहिते । दामद्वन्द्वात् दाम्नोर्मालयोर्द्वन्द्वाद् युग्मात् । भावी भविष्यन् । सः पुत्रः । अनन्तकीर्तिः अनन्तवशाः । बन्ध्यात् सोमात् । प्रजानां जनानाम् । तृप्तिहेतुः । तिम्रभासा सूर्येण । मोहप्लवात्तर्ध्वसक्तः मोह एव प्लवत् तस्य च्चंसक्तः । पाठोनाम्न्यां मीनाभ्याम् । सर्वशोकैः सर्वदुःखैः । विमुक्तः रहितः ॥६४॥ कुम्भेति । कुम्भासोकात् कुम्भयोः कलगयोरोलोकाद् दर्शनात् । लक्षणैः हलकुलिशादिचिह्नैः । पूर्णदेहः संपूर्णशरीरः<sup>३</sup> । सरोवीक्षणम् सरसः सरोवरस्य वीक्षणम् दर्शनेन । तृष्णावह्निचिन्तं तृष्णं वाञ्छितं बल्लिरानिस्तं छिनत्तीति तपोक्तः । पाथोनाभात्<sup>४</sup> अलधिदर्शनात् । केवलज्ञानभागी पञ्चमज्ञानभाजनः ( नम् ) । सिद्धासनेन हरिपीठदर्शनेन । सिद्धेः भोक्तव्यम् । दाम दद्यानम् । लब्ध्वा लप्स्यते । दुर्लभिर<sup>५</sup> शरीरं लङ् ॥६५॥ स्वर्गादिति । देवि भो देवि ! देवालयेन देवविमानवर्णनेन । स्वर्गात् त्रिविधात् । एता एष्यति । नागावसात् नागमवनदर्शनात् । भमंतीर्थस्य परमागमस्य । कर्ता स्वामी । रत्नपुञ्जात् रत्नराशिदर्शनात् । गुणानां सम्पत्कवादिगुणानाम् । क्रोडाशीलः लीलापर्वतः । बह्विना भग्नदर्शनेन । उभं क्रूरम् । कर्मकक्षं कर्मकाननम् । चत्पति प्रसयिष्यति ।

भो लक्ष्मणाको उनके फलका ज्ञान कराया—॥६२॥ हे कल्याणमुखी ! ऐरावत हाथी तेरे पुत्रको तीनों लोकोंमें मुख्य बतला रहा है, बेल उसे गम्भीर, सिंह महान् और दुर्लङ्घ्य पराक्रमका धारी और लक्ष्मी इन्द्रोंके द्वारा अभिवेक करने योग्य सूचित कर रही है ॥६३॥ हे सुन्दर भ्रुकुटि वाली देवी ! दो मालाओंके देखनेसे वह अनन्तकीर्तिको धारण करनेवाला होगा, बन्ध्या देखनेसे प्रजाकी तृप्तिका हेतु, सूर्य देखनेसे मोहरूपी अन्धकारको मिटानेवाला और मछलियोंकी ओड़ीकी देखनेसे सभी प्रकारके शोकसे मुक्त होगा ॥६४॥ कलश देखनेसे उसके दिव्य देहमें शुभ लक्षण होंगे, सरोवर देखनेसे तृष्णारूपी अग्निको शान्त करनेवाला होगा, समुद्र देखनेसे केवलज्ञानी होगा और स्वर्ण-सिद्धासनके देखनेसे मुक्तको पानेवाला होगा ॥६५॥ देवि ! देवी-का विमान देखनेसे वह स्वर्गसे अवतरित होगा, नागमवन देखनेसे धर्मतीर्थका प्रवर्तक होगा, रत्नोंकी राशि देखनेसे समस्त गुणोंका क्रोडा-पर्वत होगा और अग्नि देखनेसे उग्र कर्मोंके

१. क ल ग व म तिम्रभासाः । २. क ल ग व म लक्ष्मणैः । ३. क ल ग व म सिद्धेर्हमसिंहः ।

४. 'कल्याणाङ्ग' इति टीकाशयः पाठः, प्रतिपु तु मिलित्वास्वपि 'कल्याणास्ये' इति समुपलभ्यते । कल्याणं मनोहरमात्रं पुनं यस्यास्तत्संयुद्धौ हे कल्याणास्ये शुभमवदने । ५. महत् । ६. आ 'गंदेहः । ७. एव टीकाशयः पाठः प्रतिपु तु 'पाथोनाभात्' इत्येव समुपलभ्यते । सानुप्रासः टीकापाठः साधीयानित्यत्र न काचं संबोधिः । ८. श दुर्लभम् ।

फलं स्वप्नोक्तत्वाः सकलमिति निश्चित्य दयिता-  
 दधाना रोमाञ्चं प्रकटमपरं कञ्चुकमिव ।  
 प्रमोदं सा भेजे कमपि स्वप्नोक्तमविषयं  
 मुदे केषां न स्वात्मलक्षितसंप्राप्तिरयथा ॥६७॥  
 अथाहमिन्द्रः स ततोऽवतीर्य स्वायुःक्षयेऽनुत्तरवैजयन्तात् ।  
 कुक्षौ प्रशस्तेऽहनि लक्ष्मणाया विवेश श्रुत्वापि वारिचिन्दुः ॥६८॥  
 तस्मिन्माग्वितारं कृतवति भुवनक्षोभसंपादिपुण्ये  
 सर्वाटोपेन गत्वा क्षितिपतिमवने सासुरेन्द्राः सुरेन्द्राः ।  
 कृत्वा कल्याणमुष्णैर्हतपटुपटहा वेणुबीणाभिरामं  
 नृत्यन्तः स्वं निवासं कृतजिनजननीपादपूजाः प्रजग्मुः ॥६९॥

लुट् ॥६६॥ फलमिति । स्वप्नावस्थाः स्वप्नाभावस्थाः समूहस्य । सकलं समस्तम् । फलम् । दयितात्  
 प्राणनायकात् । इति उक्तप्रकारेण । निश्चित्य निर्णयः । प्रकटं व्यक्तम् । अपरम् अन्यत् । कञ्चुकमिव  
 कूर्पासमिव । रोमाञ्चं लीमहर्षणम् । दधाना धरन्ती । सा लक्ष्मणा देवी वचनानां बाधाम् । अविषयम्  
 अगोचरम् । कमपि कंचित् । प्रमोदं संतोषम् । भेजे भजते स्म । भजे सेवार्थं लिट् । अथवा तथा हि ।  
 अभिलषितसंप्राप्तिः अभिलषितस्य समीहितस्य संप्राप्तिः<sup>१</sup> लब्धिः । केषां जनानाम् । मुदे संतोषाय । न स्यात्  
 न भवेत् । अस भुवि लिट् । अर्वात्तरन्यासः ॥६७॥ अयेति । अथ स्वप्नदर्शनान्तरम् । सः अहमिन्द्रः  
 पपनाभचराहमिन्द्रः । स्वायुःक्षये स्वस्यायुषः जीवितस्य क्षये<sup>२</sup> परिलोने सति । अनुत्तरवैजयन्तात् । अवतीर्य  
 आगत्य । प्रशस्ते शुभे । अहनि दिने । लक्ष्मणायाः लक्ष्मणादेव्याः । कुक्षौ गर्भे । शुकौ शुकपुटे<sup>३</sup> । वारिचिन्दुरिव  
 स्वातिजलबिन्दुवत् । विवेश प्रविष्टः । विष प्रवेशने लिट् । उपमा ॥६८॥ तस्मिन्निति । भुवनक्षोभसंपादिपुण्ये  
 भुवनेषु त्रिलोकेषु<sup>४</sup> क्षीमं संपन्नं संपादि समुद्रावि पुष्पं शुभकर्म यस्य तस्मिन् । तस्मिन् अहमिन्द्रे । गर्मावतारं  
 गर्मावतरणम् । कृतवति सति विहितवति सति<sup>५</sup> । सासुरेन्द्राः असुरेन्द्रैः सहिताः । सुरेन्द्राः देवेन्द्राः । सर्वाटोपेन  
 संप्रभेण । क्षितिपतिमवने क्षितिपतेर्महासेनस्य मवने सवने । गताः याताः । कल्याणं गर्मावतरणकल्याणम् । कृत्वा  
 विधाय । उष्णैः अधिकम् । हतपटुपटहाः हता ताडिताः पटवः स्पष्टाः पटहा वुन्दुभयो यैस्ते । वेणुबीणाभिरामं  
 वेणुबीणाभ्यामभिरामं मनोहरं यथा भवति तथा । नृत्यन्तः नटन्तः । कृतजिनजननीपादपूजाः कृता विहिता

जंगलको जलानेवाला होगा ॥६६॥ इस तरह अपने पतिसे सभी स्वप्नोंके फलको निश्चित करके  
 लक्ष्मणाके शरीरपर रोमांच प्रकट हो गये, जिन्हें देखनेसे ऐसा जान पड़ता था मानो उसने  
 दूसरा क्लृप्त पहन लिया हो । उस समय उसे अनिर्वचनीय आनन्द हुआ । इष्टकी प्राप्ति भला  
 किसके हर्षके लिए नहीं होती ? ॥६७॥ इसके पश्चात् आयुके समाप्त होते ही उस अहमिन्द्रने  
 वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानसे अवतरित होकर शून्य दिनमें लक्ष्मणाके गर्भमें प्रवेश किया,  
 जैसे जल-बिन्दु सीपमें प्रवेश करता है ॥६८॥ अहमिन्द्रका पुष्प सारे संसारमें प्रसन्नताकी  
 लहर उत्पन्न करनेवाला था । अतः उसने लक्ष्मणाके गर्भमें ज्यों ही अवतरण किया त्यों ही  
 देवेन्द्र—जिनके साथ असुरेन्द्र भी थे—बड़ी धूमधामके साथ राजा महासेनके घर पहुँचे, और  
 गाजे-बाजेके साथ उन्होंने गर्भ-कल्याणका उत्सव मनाया, एवं बाँसुरी और बीणाकी तानकी

१. आ मज । २. आ अलिलक्षितसंप्राप्तिः अलिलस्य क्षितस्य समीहितस्य संप्राप्तिः । ३. = परि-  
 क्षये । ४. आ शुकपु । ५. आ उपमानन्तरं 'तस्य तत् तस्मिन् तस्य' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते ।  
 ६. = त्रिषु लोकेषु । ७. = त्रिलोके लोकावये वा । ८. = संपादयति समुद्रावयोत्सवे<sup>६</sup> भूतम् । ९. वा  
 'विहितवति-सति' इति नोपलभ्यते ।

श्रीह्रीधृत्यादिभिः स्वस्वभूषणैः वरगुणान्कान्तिलज्जादिकृपा-  
श्वेद्योमिस्तम्बलीभिः सततमनुचमप्रीतिभिः सेव्यमाना ।  
पश्यन्ती रत्नवृष्टिं स्वयंमुख्यवतीं प्रत्यहं स्वर्गिमुक्तां  
मासाभ्यर्च्यप्रभावाद्यव नलिनमुखी सा सुखेनैव निम्बे ॥१७०॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतलघुदवाह्ने चन्द्रप्रमथरिते महाकाव्ये षोडशाः सर्गाः ॥१६॥

जिनस्य जिनेशस्य जनन्या मातुः परावोत्तरणयोः पूजा वैस्ते । एवं स्वकीयम् । निवासं स्वर्गावासम् । प्रजम्पुः प्रययुः ।  
गम्पु मत्तौ लिट् ॥६९॥ श्रीति । कान्तिलज्जादिकृपान् कान्तिलज्जे आदीं येषां तानि तथोक्तानि कान्तिलज्जा-  
दीन्येव रूपाणि स्वरूपाणि येषां ते<sup>२</sup> । स्वान् स्वकीयान् । वरगुणान् प्रकृष्टगुणान् । वपुषि शरीरे । तम्बटीभिः  
कुर्वतीभिः<sup>३</sup> । अनुपमप्रीतिभिः अनुपमा सादृश्यरहिता प्रीतिः प्रेम यासां ताभिः । श्रीह्रीधृत्यादिभिः  
श्रीह्रीधृतय आदयो<sup>४</sup> यासां ताभिः । देवीभिः देवस्त्रीभिः । सततम् अनवरतम् । सेव्यमाना आराध्यमाना ।  
उदयवती संपत्तिमुक्ताम् । प्रत्यहं प्रतिदिनम् । स्वर्गिमुक्ता स्वर्गनिर्देवमुक्तां वृष्टाम् । रत्नवृष्टि रत्नानां  
मणीनां वृष्टि वर्धनम् । स्वयं, पश्यन्ती वीक्षमाणा । नलिनमुखी नलिनमिव कमलमिव मुखं वदन् यस्याः  
सा । सा<sup>५</sup> लक्ष्मणा देवी । धर्मप्रभावात् धर्मस्य जिनबालकस्य प्रभावात् सामर्थ्यात् । 'कुशिलूनामंका गर्भा'  
इत्यमरः । नव नवसंख्याकान् । मासान् सुखेनैव । निम्बे<sup>६</sup> नयति स्म । णोच् प्रापणे लिट् ॥७०॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतलघुदवाह्ने चन्द्रप्रमथरिते महाकाव्ये त्रयोदशोऽध्याये च  
चिद्रमनोवह्नुमाक्ये षोडशाः सर्गाः ॥१६॥

सुन्दरताके साथ नृत्य किया, फिर लक्ष्मणाके वरणोंकी अर्चना करके वे अपने निवास-स्थानको  
चले गये ॥६९॥ कान्ति और लज्जा आदि श्रेष्ठ गुणोंको—जो उनकी प्रशस्त आकृतिपर छाये  
हुए थे—विकासित करनेवाली तथा अनुपम प्रीति करनेवाली श्री, ह्री और धृति आदि देवियां  
लक्ष्मणाकी निरन्तर सेवा करने लगीं । उस अष्टभुजशालिनी कमलमुखी लक्ष्मणाने देवोंके द्वारा  
प्रतिदिन की जानेवाली रत्न-वृष्टिको—जो गर्भके प्रभावके से नौ मास तक हुई थी—देखते हुए  
सुख-पूर्वक समय बिताया ॥७०॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उद्वाह्ने चन्द्रप्रमथरित महाकाव्यमें  
सोळहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

१. = आदी । २. = तान् । ३. 'कुर्वतीभिः' इति नास्ति । = कुर्वतं निः—कुर्वन्तीभिः ।  
४. = बाधौ । ५. 'सा' इति नास्ति । ६. 'निम्बे' इति नास्ति । ७. 'लिट्' इति नास्ति ।

## [ १७. सप्तदशः सर्गः ]

अथ सा प्रसूतिसमयेन जिनमिषं दिदृक्षुरिति ।  
 पौषमलिनदशमीक्षयजां तिथिमाप्य सुन्दरं भोजीजनस्तुलम् ॥१॥  
 ककुभः प्रसेदुरजनिष्ट निखिलममलं नमस्तुलम् ।  
 तस्य जननसमये पवनः सुरभिर्वहो सुरभयम्बिनङ्गनाः ॥२॥  
 वियतः पतद्भिरतिहृष्टहृदयसुरभ्युदवर्धितैः ।  
 दिव्यकुसुमनिकुरैरुच्यन्ति कतिमण्डलं भ्रमरबद्धमण्डलैः ॥३॥  
 मणिघण्टिकाः सदसि रेणुरकरहति कल्पवासिनाम् ।  
 ज्योतिरमरसदने सहसा प्रजगज्जुक्तिरथ गजारयः ॥४॥

काशीपुराधिपमहोपतिविश्वसेनप्रीतात्मजो मरकतघुतिभासुराङ्गः ।

ध्यानात् पुनर्न च पञ्चाल महोपसर्गं श्रीपावर्तनाथजिनयो जगदेकनाथः ॥१॥

अथेति । अथ गर्भावतारणान्तरम् । जिनं जिनेश्वरम् । दिदृक्षुणेव द्रष्टुमिच्छुनेव । प्रसूतिसमयेन प्रसूतेः प्रसवस्य समयेन कालेन । इरिता प्रेरिता । सा लक्ष्मणा देवी । पौषमलिनदशमीक्षयजां पौषस्य पौषमासस्य मलिनस्य कृष्णपक्षस्य दशम्या दशमीतिथेः क्षयजां क्षयेन जातामेकादशीमित्यर्थः । तिथिं दिनम् । आप्य सन्ध्या । सुन्दरं मनोहरम् । सुतं तनयम् । भोजीजनत् जनयति स्म । जनं प्रादुर्भावो लब्धः । दृग्गतावृत्तम् ॥१॥ ककुभ इति । तस्य जिनबालकस्य । जननसमये जन्मनः समये काले । ककुभः दिशः । प्रसेदुः निर्मला बभूवुः । निखिलं सकलम् । नमस्तुलं गगनतुलम् । अमलं विमलम् । अजनिष्ट जायते स्म । लुब्धः । दिगङ्गनाः दिश एव अङ्गना वनिताः । सुरभयन् परिमलयन् । सुरभिः परिमलयुतः । पवनः वायुः । बहो वाति स्म । वा गतिगन्धनयोः । लिट् । अतिशयः ॥२॥ विषय इति । अतिहृष्टहृदय-सुरवन्दवर्धितैः अतिहृष्टेनात्यन्तं संतुष्टेन हृदयेन चित्तेन युतेन सुराणां देवानां वन्देन समूहेन बधितैरेषैः । वियतः अकाशात् । पतद्भिः वर्षद्भिः । भ्रमरबद्धमण्डलैः भ्रमरैर्मधुकैरैवं रचितं मण्डलं बलयं येषां तैः । दिव्यकुसुमनिकुरैः दिव्यानां स्वर्गजातानां कुसुमानां निकरैर्वन्दैः । क्षितिमण्डलं भूमण्डलम् । बरुचत् माति स्म । रुचिं दीप्ती । 'दुद्भयो लुङः' इति लङ् । अतिशयः ॥३॥ मणीति । कल्पवासिनां कल्पवासिदेवानाम् । सदसि सभायाम् । मणिघण्टिकाः मणिभिर्निर्मिता घण्टिकाः । अकरहति कराहति बिना यथा तथा । रेणुः ध्वनन्ति स्म । रण शब्दे लिट् । ज्योतिरमरसदने ज्योतिष्कदेवानां सदने निवासे । गजारयः गजानां करिणामरयः राजवः, सिंह इत्यर्थः । ऊजितरम् उज्ज्वैःस्वरं यथा तथा । सहसा क्षीघ्रम् । प्रजगुः ध्वनन्ति स्म । गर्जं निर्जं शब्दे

गर्भावतारके पञ्चात् प्रसूतिका समय मानो अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रके दर्शान्तोके लिए लालायित था, अतः उस (प्रसूति समय) की प्रेरणासे महारानी लक्ष्मणाने पौषकृष्ण एकादशी-के दिन सुन्दर पुत्रको जन्म दिया ॥१॥ पुत्रके जन्मके शुभ अवसरपर सभी दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं, सारा नभस्तल निर्मल हो गया और दिशारूपी अङ्गनाओंको सुवासित करता हुआ सुगन्धित पवन बहने लगा ॥२॥ देवीका वृन्द हृदयसे प्रसन्न होकर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगा । वे पुष्प अत्यन्त सुगन्धित थे, अतः ज्यों ही वे आकाशसे गिरने लगे त्यों ही उनपर भीरोके झुण्ड मड़ाराने लगे, उनके संयोगसे भूमण्डलकी जो शोभा उत्पन्न हुई, वह देखते ही बनती थी ॥३॥ कल्पवासी देवीको सभामें मणिरचित घण्टियाँ बिना हाथ लगाये ही बजने लगीं और ज्योतिषी देवीके आवास स्थानोंमें एकाएक खूब जोर-जोरसे सिंह गर्जने

१. आ ६ कल्पसमये । २. अ गजितरवं । ३. अ 'सकलम्' इति मास्ति । ४. = वेधु । ५. आ तिप्, अ तिप् । ६. आ निर्जं ।

प्रणनाद भाधनगृहेषु जलवषट्पञ्चसंहतिः ।  
 व्यन्तरसुरभवनेष्वहताः पटहाः प्रतिध्वनिमुचः प्रवध्वतुः ॥१॥  
 इति हेतुभिः प्रचलितैश्च समसमयमात्मविष्टरैः ।  
 ज्ञातजिनपतिभवा परितो गगनं प्रपूर्य विबुधाः प्रतस्थिरैः ॥६॥  
 प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिरणनिकुरम्बरजिताः ।  
 मण्डनमिव जगद्भुः ककुभोऽप्यथवा न कस्य जिनजन्म वृद्धये ॥७॥  
 अधुना व्यनक्ति जिन एव भुवनमिदमत्र किं मया  
 कृत्यमिति सुरचिमानचयैस्त्रपयेव भानुरभवत्तिरोदितः ॥८॥

लिट् ॥४॥ प्रणनेति । भावनगृहेषु भवनामरसंनिधेषु गृहेषु भवनेषु । शङ्खसंहतिः शङ्खानां संहतिः समूहः ।  
 जलदपट्ट जलवषट् मेघवत् पट्ट व्यक्तं यथा तथा । प्रणनाद दध्वात् । णद शब्दे लिट् । व्यन्तरसुरभवनेषु  
 व्यन्तरसुराणां भवनेषु गृहेषु । अहताः अताडिताः । प्रतिध्वनिमुचः प्रतिध्वनिं मुञ्चन्तीति तथोक्ताः । पटहाः  
 दुन्दुभयः । प्रदध्वन्तुः दध्वन् । ध्वन शब्दे लिट् ॥५॥ इतीति । इति हेतुभिः इत्येवं हेतुभिः । समसमयं समः  
 समानः समयः कालो यस्मिन् कर्मणि तत् ० । प्रचलितैः कम्पितैः । आत्मविष्टरैः [ च ] आत्मनां स्वेष्टां विष्टरै-  
 रासनैश्च । ज्ञातजिनपतिभवाः ज्ञातो विदितो जिनपतेर्भवो जन्म यस्ते । विबुधाः देवाः । परितः सर्वतः ।  
 गगनम् आकाशम् । प्रपूर्य व्याप्य । प्रतस्थिरैः निजंगुः । छा गतिं निवृत्तौ । अनुमितिः ॥६॥ प्रचलदिति ।  
 प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिरणनिकुरम्बरजिताः प्रचलतां सुरासुराणां सुरासुरदेवानां किरीटानां निकुरम्बेण  
 निकरेण रञ्जिता उपरञ्जिताः । ककुभोऽपि दिशोऽपि । मण्डनम् अलंकरणम् । जगद्भुवि स्वीचक्रविभ ।  
 अथवा तथाहि । जिनजन्म जिनस्यार्हतो जन्म जननम् । कस्य पुरुषस्य । वृद्धये समृद्धये । [ न ] न भवति ।  
 अर्थान्तरन्यासः ॥७॥ अधुनेति । अधुना इदानीम् । अत्र जिनजन्मनि । इदम् एतत् । भुवनं जगत् । जिन एव  
 जिनेश्वर एव । व्यनक्ति व्यन्तीकरोति, प्रकाशयतीत्यर्थः । मया किं कृत्यं करणीयम् । इति, त्रपयेव लज्जयेव ।  
 सुरचिमानचयैः सुराणां देवानां विमानानां व्योमयानानां चयैः समूहैः । भानुः सूर्यः । तिरोहितः व्यवहितः ।

लगे—सिंहनाद होने लगा ॥४॥ भवनवासी देवोंके घरोंमें मेघोंकी भाँति गम्भीर शंख समूहकी ध्वनि सुनाई पड़ने लगी और व्यन्तर देवोंकी निवास भूमिमें बिना बजाये ही दुन्दुभि बाजे बजने लगे तथा सभी ओर उनको प्रतिध्वनि गूँजने लगी ॥५॥ इन कारणोंसे एवं एक ही साथ अपने-अपने आसनके कम्पित होनेसे सभी देवोंकी जिन भगवान्‌के जन्मका पता चल गया । फलतः उन्होंने अपने-अपने स्थानसे चन्द्रपुरीकी, जहाँ जिन भगवान्‌का जन्म हुआ था, प्रस्थान कर दिया । जाते समय उन्होंने आकाशकी सभी ओरसे व्याप्त कर दिया ॥६॥ क्या सुर और क्या असुर सभी बड़े वेगसे आगे बढ़ रहे थे । उनके मुकुटोंकी किरणोंके समूहसे सारी दिशाएँ रंग विरंगी हो गयीं, अतः ऐसा जान पड़ता था मानो उन्होंने आभूषण पहन लिये हों । भला जिन भगवान्‌का जन्म किसकी वृद्धिके लिए नहीं होगा ? ॥७॥ 'इस समय जिनभगवान्‌ ही सारे संसारको प्रकाशित कर रहे हैं, अब यहाँ मेरा क्या काम' ? यह सोचकर मानो लज्जाके कारण

१. आ इ भवनेषु पटहा । २. अ ध्वनिमुदः । ३. अ वृषाव । ४. आ इ भवनं ।  
 ५. आ प्रणतीति । ६. = ध्वनि चक्रः । ७. आ इराव । ८. = लिट् । ९. स 'समृद्धये' इति नोपलभ्यते ।  
 १०. = उत्प्रेक्षा ।

सुरपट्टिरानृपतिगेहमदधदमराजयासता ।

अन्तरमकलयता द्युमुषोरिव अन्तरज्जुवदन्ताग्नि-वेकसा ॥१८॥

स चतुर्विधोऽपि रूपसम्यग् विविधमजिरत्नमाधुरः ।

प्राप स्रुतसकलभूमितलो अलराशिस्तुरगणाः सखासखाः ॥१९॥

अथ मायया जनिताम्रतदनुकृतिकपमर्भकम् ।

मानुरुरसि विविधेश्च शची जिनमुज्जहार शुभमक्षितमाक्षिता ॥२०॥

तमुदीच्य भासुरमशीतरुचिमिव शचीसमाहृतम् ।

पद्मचनमिव विक्रासमगाद्युगपत्सहस्रमपि चक्षुषां हरेः ॥२१॥

अथवत् अभूत् । लङ् । उत्प्रेक्षा ॥८॥ सुरपट्टिरिति । अमराकयात् स्वर्गावासात् । आनृपतिगेहं महासेन-  
भूपतिगृहपर्यन्तम् । तता विस्तृता । सुरपट्टिः सुराणां देवानां पङ्क्तौ राज्ञिः । द्युमुषोः द्यावाभूम्योः । अन्तरं  
मध्यम् । अकलयता निश्चयमकुर्वता । वेकसा ब्रह्मणा । अन्तरज्जुः मानस्य प्रमाणस्य रज्जुः सूत्रम् । उदत्तारि  
इव विरचयामास इव । तृ प्लवनतरणयोर्लङ् । अदधत् । रुचि अग्निप्रोत्यां लुङ् । द्यु-ज्जयी लङ् । इति तङ् ।  
उत्प्रेक्षा ॥९॥ स इति । विविधमजिरत्नमाधुरः विविधविनाप्रकारैर्मणिमिश्रतमै रत्नैर्भासुरः प्रकाशमानः ।  
'अञ्जभास'—इत्यादिना वृत्तः । भूतसकलभूमितलः भूतं भूतं सकलं सर्वं भूमितलं येन सः । सखासखः वासवेन  
देवेन्द्रेण, पक्षे वासवेन विष्णुना सहितः । चतुर्विधोऽपि चतस्रो विधाः प्रकारो मस्य सः । सः सुरगणः सुराणां  
देवानां गणो निकरः । अलराशिस्तु समुद्र इव । नृपस्य नृपस्य राज्ञः सस्य सदनम् । प्राप ययौ । आप्ल व्याप्तौ  
लिट् । वलेवोपमा ॥१०॥ अथेति । अथ देवगमनानन्तरम् । शुभमक्षितमाक्षिता शुभ्या महत्या भवत्या गुणानु-  
रागेण भाक्षिता परिणता । शची इन्द्राणी । मायया । जनितां जातम् । आसतदनुकृतिकपम् आतं स्वीकृतं तस्य  
जिनबालकस्यानुकृतं [ रूपं ] समानं मस्य तम् । अर्भकं मायाशिशुम् । मानुः जिनाम्बिकायाः उरसि  
बलसि । विविधेश्च संस्थाप्य । जिनं जिनबालकम् । उज्जहार स्वीकरोति स्म । ह्य हरणे लिट् ॥११॥  
तमिति । शचीसमाहृतं सख्या शचीमहादेव्या समाहृतमानीतम् । अशीतरुचिमिव सुयमिव भासुरं देदीप्य-  
मानम् । तं जिनबालकम् । उदीच्य बिलोक्य हरिः देवैः ( हरेः देवेन्द्रस्य ) । चक्षुषां नयनानाम् । सहस्रमपि  
दशसप्तप्रमितमपि । पद्मचनमिव पद्मानां कमलानां वनमिव पण्डमिव । युगपत् सकृत् । विक्रासं विकसनम् ।

सूर्य, देवोंके विमान समूहकी ओटमें छिप गया ॥८॥ स्वर्गसे राजा महासेनके घर तक लगातार  
फैली हुई देवोंकी पंक्ति ऐसी मालूम पड़ रही थी मानो ब्रह्मादेवने—जिस स्वर्गसे पृथ्वी तकका  
फासला अज्ञात था—माप करनेके लिए रस्सी डाल दी हो ॥९॥ अनेक प्रकारके मणियों और  
रत्नोंसे देदीप्यमान चारों प्रकारके देवोंका वृन्द—जिसके साथ इन्द्र भी थे—राजमहलमें जा  
पहुँचा । उसने वहाँको सारी भूमिको व्याप्त कर दिया, अतः वह रत्नाकरकी जलराशिके  
समान दृष्टि गोचर हो रहा था ॥१०॥ इसके उपरान्त अत्यधिक भक्ति भावसे युक्त इन्द्राणीने  
प्रसूति गुहमें प्रवेश किया । वह वहाँपर मायासे उत्पन्न किये हुए एक बच्चेको—जो आकार  
प्रकारमें जिनभगवान्के समान था—माँ की गोदमें रखकर जिनभगवान्को उठा लाई ॥११॥  
इन्द्राणीके द्वारा लाये गये सूर्यके समान प्रतीत होनेवाले उस तेजस्वी बालकको देखकर इन्द्रके

१. क का न स्वरः । २. म 'सततान् वः कः' पङ्क्तिगेहं । ३. व्यास इति । ४. भूतं पुरितं व्याप्तं वा ।  
५. आ द्युर्जयान्ति, वा द्युर्जयन्ति ।



सुरद्वंद्विते जयजयेति भुवनमभिसर्पति ध्वनी ।

हस्तधृतवपुषमात्मगर्जं तमरोपबन्धमकल्पनायकः ॥१३॥

इतरे च तं परममकिमरनतकिरीटकोटयः ।

भेजुरमरपतयोऽस्तगता बिभृतातपन्नकलशाम्बामराः ॥१४॥

सुरयोषितो विविधधूपबलिकुसुमरुद्रपाणयः ।

मङ्गलमुक्तरमुक्ताम्बुदहाः करिणीगताः समुपतस्थिरेऽग्रतः ॥१५॥

चलितेऽभिमेह सुरनाथनिबहपरिवारिते जने ।

नेतुरथ विबुधहस्तहताः परितः प्रयाणपरिशंसिमेरिकाः ॥१६॥

अथात् जयात् । इम् गतो लुहः<sup>१</sup> उपमा ॥१२॥ सुरेति । सुरद्वंद्विते सुरदेवौ बंधिते प्रबधिते । जय जयेति ध्वनी शब्दे<sup>२</sup> । भुवनं जगत् । अभिसर्पति व्याप्नुवति । प्रथमकल्पनायकः प्रथमस्य कल्पस्य सौधमकल्पस्य । नायकः प्रभुः । हस्तधृतवपुषं<sup>३</sup> हस्तेन पाणिना धृतं धृतं वपुः शरीरं यस्य तम् । तं जिनसिशुम् । आत्मगर्जम् आत्मनः स्वस्य गजमैरावतम् । तमरोपयत् अबाहयत् । रहू बीजजन्मनि पिज्जतात्सलह 'रहू. पः' इति पकारादेशः ॥१३॥ इतरे इति । परममभिसरनतकिरीटकोटयः परमाया महत्या मकर्या शरेण शारेण नताः किरीटानां कोटयः समूहा येषां ते । अस्तगताः अस्तं समीपं गताः । इतरे च शोधारच । अमरपतयः अमराणां देवानां पतय इन्द्राः । विभृतातपन्नकलशाम्बामराः बिभृतानि भूतानि आतपचारमङ्गारदर्पणचामराणि दत्ते । तं जिनबालकम् । भेजुः शेषस्तेसम् । बजिं शैबायां किद् ॥१४॥ सुरेति । विविधधूपबलिकुसुमरुद्रपाणयः विविधैर्नामाप्रकारैर्बुधैर्नामकाणां कथुपेन बलिना पूजाज्येण कुसुमेन पुष्पेण च रुद्रा युक्ताः पाणयो हस्ता याता ताः । मङ्गलमुक्तरमुक्ताम्बुदहाः मङ्गलेन मङ्गलगतानेन मुखरं वाचालं मुखमेव बदनमेवाम्बुदहं कमल यातां ताः । करिणीगताः करिणीः करेणुः गता आकडाः । सुरयोषितः सुराणां योषितो वनिताः । अग्रतः पुरस्तात् । समुपतस्थिरे समुपययुः । छा गतिनिवृत्ती किद् । रूपकम् ॥१५॥ चलिते इति । सुरनाथनिबहपरिवारिते सुरनाथानां देवेन्द्राणां निबहनेन निकायेन परिवारिते परिवृते । जिने जिनेये । अभिमेह श्रेयोरभिमुखम् । 'लक्षणैर्नामिप्रत्याभिमुख्ये' इति अण्वयीभावः । चलिता याते सति । अथ अनन्तरम् । विबुधहस्तहताः विबुधानां देवानां हस्ते पणिभिः हताः ताडिताः । प्रयाणपरिशंसिमेरिकाः प्रयाणं यात्रां<sup>४</sup> परिशंसित्यः सूचिका मेरिका दुन्वुचमः । परितः

एक हजार नेत्र, कमलौके बनकी भाँति विकसित हूँ उठे ॥१२॥ जिन बालकको देखते ही सभी देवोंके मुखसे जय जयकारको ध्वनि निकालने लगी और वह खूब ही बढ़ी एवं सारे ससारमें फैलने लगी । इसी ध्वनिके बीचमें सौधम स्वर्गके इन्द्रने जिन-बालकको अपने हाथोंमें लेकर अपने हाथोपर चढ़ा लिया ॥१३॥ और अन्य इन्द्र भी जो समीपमें ही खड़े हुए थे, और प्रगाढ़ भक्तिके भारसे जिनके मुकुटोंके शिखर झुके हुए थे, तथा जिनके हाथोंमें छत्र, कलश, दर्पण और चामर थे, जिन बालकको सेवा कर रहे थे ॥१४॥ देवियाँ हथिनियोंपर सवार होकर और अपने-अपने हाथोंमें अनेक प्रकारकी धूप, पूजा सामग्री तथा फूल लेकर मंगलगान करती हुई आगे-आगे चल रही थीं ॥१५॥ भगवान् चन्द्रप्रभ—जो अभी शिशु अवस्थामें थे—सभी ओरसे देवेन्द्रोंसे घिरे हुए थे—उनके चारों ओर देवेन्द्र खड़े हुए थे । ज्योंही उन्होंने सुमेरुकी ओर प्रस्थान किया त्यों ही जिधर देखो उधर देशोंके हाथोंमें स्थित प्रस्थान सूचक मेरियाँ

१. अ 'तेरिकाः' । २. आ लङ् । ३. अ 'शब्दे' इति नास्ति । ४. अ 'हस्तधृत वपुषः' इति नोप-सम्पत्ते । ५. = विभृतानि भूतानि । ६. आ मङ् । ७. अ 'करेणुः' इति नास्ति । ८. = परिशंसित्येति ।

सुरपेटकैः पट्ट नटद्भिरतिललितगीतवादितैः ।

नृत्यमयमिव तदा सकलं सविगन्तरं सममङ्गलमस्तलम् ॥१७॥

भुवनातिशायिजिनरूपविनिहितविलोचनोत्पलैः ।

लङ्घितमपि बुबुधे विबुधैर्न सुराद्रिवत्सं तदुपात्तविस्मयैः ॥१८॥

अथ ते परीत्य सुरशैलमुदरचिरचैत्यमन्दिरम् ।

पाण्डुकदम्बादि सुरप्रमुखा हरिविष्टरे सुखमतिष्ठपञ्जिनम् ॥१९॥

सुरपङ्क्तिमाशु विरचय्य कृतविततिमापयोम्बुधैः ।

चक्रमलतरदुग्धघटैरभिषेचनं विदशलोकनाथकाः ॥२०॥

समन्तात् । नेतुं ध्वनति स्म । णद अव्यक्तं शब्दे लिट् ॥१९॥ सुरैः । अतिललितगीतवादिनः अतिललित-  
मतिमनोहरं गीतस्य ( गीतं गानं ) वादितं वादनं ( च ) येषां तैः । पट्ट नटद्भिः पट्ट स्फुटं नटद्भिर्नृत्याद्भिः ।  
सुरपेटकैः सुराणां पेटकैर्निकरैः । तदा गमनसमये । सविगन्तरं दिगन्तरेण दिग्विष्टरेण सहितम् । नभस्तलं  
आकाशप्रदेशम् ( अ ) । नृत्यमयमिव नृत्यस्वरूपमिव । सममङ्गलं समभूत् । लङ् । उपमा ॥१७॥ भुबुधैः ।  
भुवनातिशायिजिनरूपविनिहितविलोचनोत्पलैः भुवनस्यातिशायिनि उत्कृष्टे जिनस्य जिनैस्तस्य रूपे विनिहितानि  
निक्षिप्तानि लोचनानि नयनानि तान्येवोत्पलानि कुलयाणि येषां तैः । तदुपात्तविस्मयैः तस्मिन् जिने उपात्तः  
कृतो विस्मयोऽद्भुतं येषां तैः । सुराद्रिवत्सं महामरुमार्गः । लङ्घितमपि विलङ्घितमपि । विबुधैः सुरैः । न  
बुबुधे न जज्ञे । बुधिं मनिं ज्ञानं लिट् । रूपकम् ॥१८॥ अथेति । अथ महामरुमार्गमगमनानन्तरम् । उदरचिर-  
चैत्यमन्दिरम् उरुणि महान्ति हरिचाराणि मनोहराणि चैत्यमन्दिराणि चैत्याख्या यस्मिन् तम् । सुरशैलं मेरु-  
पर्वतम् । सुरप्रमुखाः सुरा कल्पवासिनः प्रमुखा आदयो येषां तैः । ते सुरपावयो देवाः । परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य ।  
पाण्डुकदम्बादि पाण्डुकाशिलायां । हरिविष्टरे सिंहासने । जिनं जिनेशम् । सुखं संतोषं यथा तथा । 'सुखमा'...  
इति वैजयन्ती । अतिष्ठपञ्च अयन्ति स्म लङ् ॥१९॥ सुरैः । विदशलोकनाथकाः विदशानां देवानां लोकस्य  
स्वर्गस्य नायका इन्द्राः । आ पयोम्बुधे क्षीरसमुद्रपर्यन्तम् । कृतविततिं कृता विहिता विततिर्विस्तृत्यया  
ताम् । मुरपङ्क्तिं सुराणां देवानां पङ्क्तिं श्रेणिम् । आशु क्षीघ्रम् । विरचय्य निर्माय । अमलतरदुग्धघटैः  
अथोन्नतोदरव्यामैरक्योजनमुखव्यासैः काञ्चनरजतगारुमतादिरत्नमिति निर्मलैर्दुग्धेन क्षीरेण पूर्णघटैः ।

बज्रने लगी ॥१६॥ ममो देव लोग अत्यन्त सुन्दर ढंगसे गाना गा रहे थे, बाजे बजा रहे थे  
और कलापूर्ण नृत्य कर रहे थे, जिसे सारी दिशाएँ और पूरा आकाश उस समय नृत्यमय  
दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥१७॥ जिनेन्द्र भगवान्का रूप लोकातिशायी था । सभी देवोंके नेत्र उसे  
देखनेमें लगे हुए थे और वे उसके बारेमें आश्चर्यका अनुभव कर रहे थे । फलतः सुमेरु पर्वतका  
मार्ग, जिसे वे लांघ चुके थे, उन्हें ज्ञात ही नहीं हुआ कि कब निकल गया ॥१८॥ इसके  
पश्चात् उन सभी देवोंने—जिनमें इन्द्र प्रमुख थे—बड़े-बड़े सुन्दर जिनमन्दिरोंसे विभूषित  
सुमेरु पर्वतको परिक्रमा की, फिर उन्होंने पाण्डुक शिलापर रखे गये सिंहासनपर जिनभगवान्को  
सुख पूर्वक बैठा दिया ॥१९॥ फिर इन्द्रोंने सुमेरु पर्वतसे लेकर क्षीरसागर तक देवोंकी खूब  
लम्बी पंक्ति खड़ी करके ( उनसे मगाये गये ) अत्यन्त निर्मल दूधसे भरे हुए कलशोंसे जिन-

१. अ सुरपेटकैः पट्टभिरतिगीतललितवादितैः । २. क ल ग च म अतिष्ठपञ्जिनम् । ३. = उत्प्रेक्षा ।

४. = आश्चर्यं यैः । ५. आ 'महा' इति नास्ति । ६. आ वैजयन्त्याम् । ७. = स्थापयामासुः ।

८. वा श्रेणीम् ।

अभिषिष्य तं कलितनृत्यमधुररवगीतवाहितैः ।

वज्रमयनिमित्तसूचिकया विविधयुग्मं भवणयोः सुरेश्वराः ॥२१॥

मणिकुण्डलाङ्गदकिरीटकटकरशनाविभूषणैः ।

दिव्यकुसुमवसनैश्च सुरास्तमभूषयन्निभुवनैकभूषणम् ॥२२॥

प्रविधाय ते समयमेकममरपतयः कृतोत्सवाः ।

चन्द्रसमरचिरयं भगवानिति चन्द्रपूर्वममुमाह्वयन्मधुम् ॥२३॥

अथ भक्तिः प्रथमकल्पपतिरितरवासवान्वितः ।

स्तोत्रमिति विरचिताञ्जलिं तं सहजजिबोषसहितं प्रचक्रमे ॥२४॥

अभिषेचनम् अभिषेचनम् । वज्रः विषयः । लिट् । जातिः ॥२०॥ अमीति । सुरेश्वराः देवेश्वाः । कलित-  
नृत्यमधुररवगीतवादिभिः कलितेन मनोहरेण नृत्येन मधुररवयुतेन मधुरध्वनियुक्तेन गीतेन वादितेनार्चितैः ।  
तं जिनम् । अभिषिष्य अभिषेचनं कृत्वा । वज्रमयनिमित्तसूचिकया वज्रमय्या निमित्तया क्रूराप्रया । सूचिकया  
सूच्या । भवणयोः कर्णयोः । युग्मं द्वन्द्वम् । विविधः छिद्रं वक्रः । विष विधाने लिट् ॥२१॥ मणीति । सुराः  
देवाः । मणिकुण्डलाङ्गदकिरीटकटकरशनाविभूषणैः कुण्डले कर्णवेष्टने च, अङ्गदे केयूरे च, किरीटं मकुटं च,  
कटके कङ्कणे च, रशना मेखला च तथोक्ताः, ता<sup>३</sup>वादिः येषां तानि तथोक्तानि, तानि च तानि भूषणानि  
च तथोक्तानि, मणिमी रत्नैर्मणितानि कुण्डलाङ्गदकिरीटरशनादिभूषणानि तैः । दिव्यकुसुमवसनैश्च दिव्यैः  
स्वर्गजैः कुसुममयैः पुष्पलिखितैर्वस्त्रैर्मुकुलवस्त्रैः । त्रिभुवनैकभूषणं त्रिभुवनस्य त्रिजगत एकं मुख्यं भूषण-  
मलंकारम् । तं जिवेसम् । अभूषयन् अलंकुरुष्विति स्म । भूष अलंकारे<sup>४</sup> लङ् ॥२२॥ प्रविधायेति । कृतोत्सवाः<sup>५</sup>  
विहितसंभ्रमयुक्ताः । ते अमरपतयः देवेश्वाः । भगवान् स्वामी । अयम् एषः । चन्द्रसमरचितः चन्द्रस्य सोमस्य  
समा समाना रचितः कान्तियस्य सः, विधुनिभद्युतियुत इत्यर्थः । इति उक्त्वा । एकं मुख्यम् । समयं संकेतं,  
संज्ञाम् इति भावः । प्रविधाय कृत्वा । अमुम् एनम् । प्रभुं जिनेशम् । चन्द्रपूर्वं चन्द्रपदपूर्वयुतम्<sup>६</sup> । प्रभुं  
चन्द्रप्रभम् इत्यर्थः । आह्वयन् आकारयन्ति स्म । ह्वेज् स्पर्शाय वाचि लङ् ॥२३॥ अथेति । अथ नाम-  
करणामन्तरम् । इतरवासवान्वितः इतरैः शेषैर्वासवैरिन्द्रैरन्वितः सहितः । प्रथमकल्पपतिः प्रथमकल्पस्य  
सौवर्मकल्पस्य पतिः प्रभुः, सौषमन्द्र इत्यर्थः । सहजजिबोषसहितं सहजैर्निसर्गजैः त्रिबोधैर्मन्त्रिभूतावविरूपैः  
बह्विः उम् । तं जिनम् । भक्तिः स्वसामर्थ्यात् । स्तोत्रं स्तवनाय । विरचिताञ्जलिं विरचितोञ्जलि-

भगवान्का अभिषेक किया ॥२०॥ सुन्दर नृत्य, मधुर गान और बाजोंकी आवाजके साथ उनका  
अभिषेक करके इन्द्रोंने वज्रकी पैनी सुईसे उनके दोनों कानोंका छेदन किया ॥२१॥ दोनों  
कोकोंके एकमात्र भूषण स्वरूप भगवान् चन्द्रप्रभकी देवीने मणिमय कुण्डल, बाजूबन्द, मुकुट,  
कढ़े, करघनी आदि आभूषणोंसे और दिव्य पुष्पों एवं वस्त्रोसे विभूषित किया ॥२२॥ इस  
प्रकार उत्सव करके इन्द्रोंने, ये भगवान् चन्द्रमाके समान कान्तिये युक्त हैं, इस आशयको प्रकट  
करनेवाला संकेत करके उन्हें 'चन्द्रप्रभ' नामसे पुकारा—उनका नाम 'चन्द्रप्रभ' रखा ॥२३॥  
इसके उपरान्त अन्य इन्द्रोंके साथ सौषमं स्वर्गके इन्द्रने हाथ जोड़कर अपनी सामर्थ्यके अनुसार,  
जन्मसे ही तीन जानोंके धारी भगवान् चन्द्रप्रभकी स्तुति इस प्रकारसे प्रारम्भ की—॥२४॥

१. आ इ<sup>१</sup>वादिनैः । २. अ क ल ग व<sup>२</sup>ताञ्जलिः । ३. = आदौ । ४. वा अलंकरणे । ५. अ  
कृतो विहित उत्सव उद्यानो यैस्ते । ६. आ<sup>३</sup>र्चयुक्तम् । ७. आ भक्तिः । = ( भक्तिः-गुणानुरागः ) ।

सकलावबोधमकलहमनुपममचिन्त्यवैभवम् ।  
 जन्मरहितमजरामरणं जितमत्सरं जिनमभिह्वयेऽहम् ॥२५॥  
 स्तुतिशक्तिरस्ति न प्रमेश तदपि हितकारुण्येन स्तुते ।  
 शक्यमिदमिदमशक्यमिति प्रविचारबाह्यमतयो हि कर्षयिणः ॥२६॥  
 हरिबिष्टरस्थितमशेषजननयनहारि ते ऋषु ।  
 कान्तिरुचिरमुदयाद्रिशिरोमतमिन्दुमण्डलमिवावभासते ॥२७॥  
 जिन यः समाश्रयति मार्गमखिलजनवत्सलस्य ते ।  
 तस्य न भवभयमस्ति पुनः किमु नौचित्यो<sup>१</sup> अलनिधौ निमज्जति ॥२८॥  
 तव नाथ यश्चरणयुग्ममधिबलितभक्तिं सेवते ।  
 तस्य किमु कलु करोति यमो नहि बाधते तुहिनमग्निसेचिनम् ॥२९॥

यस्मिन् कर्मणि तत्० । इति नव्यमाणप्रकारेण । प्रथमे प्रारम्भे<sup>१</sup> । कम् पादविशेषे लिट् ॥२४॥ सकलेषु । सकलावबोधं सकलेन सर्वेणावबोधेन युक्तम् । अकलङ्कं निर्मलम् ( कलङ्कुरहितम् ) । अनुपमम् उपमातीतम् । अचिन्त्यवैभवम् अचिन्त्यं ध्यातुमशक्यं वैभव<sup>२</sup> यस्य तम् । जन्मरहितं जननरहितम् । जरामरणरहितम् । जितमत्सरं जितमात्सर्यम् । जिनं जिनेशम् । अहम् चन्द्रप्रभम् । अमिष्ट्यु<sup>३</sup> अमिनीमि । जातिः ॥२५॥ स्तुतीति । ईश स्वामिन् । मम मे । स्तुतिशक्तिः स्तुतौ श्रोत्रकरणे शक्तिः सामर्थ्यम् । नास्ति । तदपि तथापि । हितकांक्षया हितस्यानन्तसुखस्य इच्छया [कांक्षया] बाष्क्या । स्तुते स्तोमि । ष्टुम् स्तुतौ लट् । कर्षयिणः कार्ययुताः । इदं कार्यं शक्यमिदं कार्यमशक्यम् । इति एवम् । प्रविचारबाह्यमतयो हि प्रविचारात् परीक्षणाद् बाह्या मतिर्येता ते । अर्षन्तिरन्यासः ॥२६॥ हतीति । हरिबिष्टरस्थितं हरिबिष्टर<sup>४</sup> सिंहासने स्थितम् । अशेषजननयनहारि अशेषाणां सकलानां जनानां नयनानां हारि मनोहरम् । कान्तिरुचिरं कान्त्या लावण्येन रुचिरं मुन्दरम् । ते भवतः । ऋषुः शरीरम् । उदयाद्रिशिरोमतम् उदयाद्रेस्त्वयपर्वतस्य शिरो अद्भ-भागं गतं यातम् । इन्दुमण्डलमिव इन्दोवचन्द्रस्य मण्डलमिव बिम्बमिव । अवभासते विभाति<sup>५</sup> । मासु<sup>६</sup> दीप्तौ लट् । उपमा ॥२७॥ जिनेति । जिनो जिनेश । अखिलजनवत्सलस्य अखिलानां जनानां वत्सलस्य प्रीतस्य । ते भवतः । मार्गं रत्नत्रयधर्मम् । यः पुरुषः । समाश्रयति<sup>७</sup> भजते<sup>८</sup> । भिम्<sup>९</sup> खेबाधां लट् । तस्य पुरुषस्य । भवभयं भवात् संसारज्जातं भयम् । नास्ति । नौ चितः नावं यानपार्श्वं चित आरूढः । पुनः पश्चात् । जलनिधौ समुद्रे । निमज्जति [ किम् ] ? । इमस्य<sup>१०</sup> बुद्धौ लट् । अर्षन्तिरन्यासः ॥२८॥ तवेति<sup>११</sup> ।

मैं समस्त ज्ञानोंसे युक्त, निष्कलंक, अनुपम, अचिन्त्य वैभवमय, जन्म, जरा और मरणसे रहित और मात्सर्यपर विजय पानेवाले अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रकी स्तुति करता हूँ ॥२५॥ हे भगवन् ! मुझमें आपकी स्तुति करनेकी शक्ति नहीं है, तो भी मैं अपने हितकी कामनासे आपकी स्तुति कर रहा हूँ । सब तो यह है कि अपने कामको सिद्ध करनेकी चाह रखनेवाले लोगोंकी बुद्धि 'यह शक्य है या अशक्य' इसविचारसे निश्चय हो दूर रहती है ॥२६॥ भगवन् ! सिंहासनपर विराजमान, सारे संसारके नेत्रोंकी धुरण करनेवाला, तुम्हारा कान्तिमय सुन्दर शरीर उदयाचलके शिखरपर स्थित चन्द्रमण्डलकी भाँति सुशोभित हो रहा है ॥२७॥ हे जिन ! सबके प्रति वात्सल्य भाव रखनेवाले आपके रत्नत्रय मार्गका जो कोई भी आश्रय लेता है, उसे पुनर्जन्मका भय नहीं रहता । क्या जहाजपर बैठनेवाला समुद्रमें डूबता है ? ॥२८॥ हे नाथ !

१. आ कांक्षिणः । २. आ इ समाश्रयते । ३. नौ नौचित्यो । ४. अ<sup>१</sup> लितातिभक्ति । ५. = प्रारम्भे । ६. आ 'महाक्यो वैभवो' । ७. = अमिष्ट्युमि । ८. वा 'हरिबिष्टरे' इति नास्ति । ९. वा विभाति । १०. आ मासुः, वा मासुः । ११. वा भजते । १२. आ भजति । १३. वा इमस्य । १४. वा अस्य वकीकस्य व्याख्या नास्ति ।

तथ दर्शनं जगदधीश विदधद्वज्ररामरं जगत् ।

कस्य न कथय रसायनचक्षिषुषामन्यमपहाय रोचते ॥३०॥

सुखमाभिताय जिननाथ वितरसि यद्विच्छया विना ।

शक्तिरियमनघ ते सहजा किमु विव्रता भ्रमहरं न चन्दनम् ॥३१॥

स कृती कृतार्थमपि तस्य जगति कलयामि ओवितम् ।

यस्य हृदयसरसि स्फुरति प्रतिवासरं जिन तवाकिंपङ्कजम् ॥३२॥

सुरपूज्य यः सततमेव वहति हृदयेन नाम ते ।

मन्त्रकुशलमिव शाकिनिका प्रमथन्ति न च्छलयितुं तमापदः ॥३३॥

भो नाथ हे स्वामिन् । तव ते । चरण-युग्मं चरणयोर्युग्मं तथोक्तम् । अविचलितभक्ति अविचलिता निश्चला भक्तिर्गुणानुरागो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा । सेवते । सेवञ् सेवने । तस्य पुरुषस्य । यमः कालः । खलु<sup>१</sup> निश्चयम् । किं करोति । हुङ्क् करणे । तुहिनं हिमम् । अग्निसेविनम् अनिल ( घनल- ) सेविनम् आश्रययुक्तं पुरुषम् । न बाधते<sup>२</sup> हि न बाध्यते हि ॥२९॥ तवेति । जगदधीश जगता लोकानामधीश स्वामिन् । जगत् लोकम् । अजरामरं जरामरणरहितम् । विदधत्<sup>३</sup> । तव भवतः । दर्शनं मतम् । विदुषा बुधानाम् । अभव्यम् अव्ययजीवम् । अपहाय विमुष्य । कस्य जीवस्य । रसायनवत्<sup>४</sup> अमृतवत् । न रोचते<sup>५</sup> न प्रीणयति । एषि अमिप्रोत्थाञ्च लट् । उपमा ॥३०॥ सुखमिति । जिननाथ भो जिनेश । अनघ पापरहित । ते भवत । आभिताय सेविताय । इच्छया विना अभिलाषेण विना । सुखम् आनन्दम् । वितरसि ददासि । तं<sup>६</sup> प्लवन-तरणयोरलट् । इति । यत् यस्मात् । इयम् एषा । सहजा स्वाभाविका । शक्तिः सामर्थ्यम् । चन्दनं श्रीगन्धः । विव्रता स्वभावेन । भ्रमहरं परिभ्रमवारणम् । न किमु न किम् ? किन्तु धमहरमेव । अत्यन्तरन्यास ॥३१॥ स इति । जिन भो जिनेश । हृदयसरसि हृदयमेव सरस्तस्मिन् । तव भवत । अस्मिन्पङ्कजम् अस्मिन्पत्रे पाद एव पङ्कजं कमलम् । प्रतिवासरं प्रतिदिनम् । स्फुरति शोभते । स्फुर स्फुरणे लट् । नः पुरुषः । जगति लोके । कृती पुण्यवान् । तस्य पुरुषस्य । जीवितमपि जीवनमपि । कृतार्थं संपूर्णप्रयोजनम् । कलयामि मम्ये । कल संख्याने लट् ॥३२॥ सुरेति । सुरपूज्य सुरदेवैः पूज्य वाराधनीय, भो देवाराधय । यः पुरुष । ते भवतः । नाम नामधेयम् । सततमेव अनवरतमेव । हृदयेन चित्तेन । वहति धरति । वहिं प्रापणे लट् । तं पुरुषम् । शाकिनिका । दुष्टप्रहाः । मन्त्रकुशलमिव मन्त्रेष्वाकर्षणादिमन्त्रेषु कुशलमिव निष्पृग्मिव । आपदः

जो भी स्थिर भक्तिये आपके चरणोंकी सेवा करता है, यमराज ( मृत्यु ) उसका क्या कर सकता है ? आग तापनेवालेको जाड़ा नहीं सता पाता ॥२९॥ हे जगन्नाथ ! सारे ससारको अजर और अमर कर देनेवाला आपका दर्शन रसायनके समान है । वह अभव्यको छोड़कर, वताइये और किस विद्वान्को नहीं रुचता ? ॥३०॥ भगवन् ! आप रागादि कषायोंके विजेता हैं, सबके स्वामी हैं और हैं निष्पाप । आपका जो कोई भी आश्रय लेता है, उसे आप सुख देते हैं, वह मले ही उसे ( सुखको ) पानेके लिए अपनी इच्छाको व्यक्त न करे । यह आपकी स्वाभाविक शक्ति है । क्या चन्दन स्वभावसे ही थकानको दूर करनेवाला नहीं होता ? ॥३१॥ हे जिन ! वह पुण्यात्मा है और मैं उसके जीवनको इस जगत्में कृतकृत्य समझता हूँ, जिसके हृदय रूपी सरोवरमें प्रतिदिन आपके चरण-कमल सुशोभित हुआ करते हैं ॥३२॥ भगवन् ! आपको देव लोग भी पूज्य मानते हैं । जो मनुष्य आपके नामका सदा हृदयसे स्मरण करता है, उसे आपदाएँ छल नहीं सकतीं—पीड़ा नहीं दे सकतीं । जैसे कुशल मान्त्रिकको शाकिनी-डाकिनी नहीं छल

१. = निश्चयेन । २. = न पीडयति । ३. = कुर्वत् । ४. = जराभ्याधिजिदीयमिव । ५. = न स्वयते । ६. = आश्रयं प्राप्ताय । ७. वा तु । ८. आ वह ।

मतिमातनोति हरतेऽघमुपनयति सर्वसंपदः ।

किं तदधिप विदधाति न यद्भवद्विध्वयहृदहसेवनं नृणाम् ॥३४॥

सकलोऽप्यपेक्ष्य किमपीश परहितरतः प्रजायते ।

न कश्चिद्विद्यमुपलब्धचरी तव निर्व्यपेक्षमुवनोपकारिता ॥३५॥

हरयोऽभिषेकमुपगम्य विधदति शची प्रसाधिका ।

वारि वहति निबद्धो घुसदामपरस्य कस्य महिमा जिनेदशः ॥३६॥

पशवोऽपि संनिधिमवाप्य तव जिन भवन्ति भाक्तिकाः ।

मानुषननुरपि यस्तु मति त्वयि नातनोति स पशुः पशोरपि ॥३७॥

मयरीगशोकमरणानि भयभवं विचित्रवेदनाः ।

तावदभव भजते भवभृत्त्वयि यावदस्य हृदयं न लीयते ॥३८॥

विपत्तयः । छलयितुं पीडितुम् । न प्रभवन्ति समर्था न भवन्ति । लट् । उपमा ॥३३॥ मतिमिति । अधिप भो स्वामिन् । भवद्विध्वयहृदहसेवनं भवतस्तवाद्ग्री पादावेव पङ्कजं कमलं तस्य सेवनम् । 'नृणां मनुष्याणाम् । मतिं बुद्धिम् । आतनोति करोति । अघं पापम् । हरते निराकरोति । सर्वसंपदः सर्वसंपत्तिः । उपनयति संपादयति । यत् कार्यम् । न विदधाति न करोति । तत् कार्यम् । किमस्ति ? नास्त्योत्थय ॥३४॥ सकल इति । ईश भो स्वामिन् । सकलोऽपि सर्वोऽपि जनः । किमपि । प्रयोजनम् । अपेक्ष्य उद्दिश्य । परहितरतः परंपाम्सेषा हिते उपकारे रतः प्रीतः । प्रजायते संभवति । लट् । तव भवतः । इयम् एषा । निर्व्यपेक्षमुवनोपकारिता निर्व्यपेक्षा अपेक्षारहिता भुवनस्य लोकस्योपकारिता उपकारित्वम् । कश्चित् कुत्रापि । नोपलब्धचरी प्रागुपलब्धा न भवति ॥३५॥ हरय इति । जिन भो जिनेश । हरय इन्द्रा । उपगम्य आगत्य । अभिषेकम् अभिषेकम् । विदधति कुर्वन्ति । शची शची देवी । प्रसाधिका अलंकारिता । घुसदा देवानाम् । निबद्धः समूहः । वारि क्षीरोदकम् । वहति धरति । अपरस्य अन्यस्य । कस्य । ईदृशः एतादृशः । महिमा अस्ति, किन्तु नास्त्योत्थय, अतिशयः ॥३६॥ पशव इति । जिन भो जिनेश । पशवोऽपि तिर्यञ्चोऽपि । तव भवतः । संनिधिं समीपम् । अवाप्य लब्ध्वा । भाक्तिकाः भक्तियुक्ता । भवन्ति । लट् । यस्तु पुरुषः । मानुष-तनुरपि मानुष्या मनुष्यसंबन्धिन्या तन्वा सरीरेण युतोऽपि । त्वयि भवति । मतिं भक्तिबुद्धिम् । नातनोति न करोति । लट् । स. पुरुषः । पशोरपि तिर्यचोऽपि । पशुः पशुजातिः । आक्षेपः ॥३७॥ भवेति । भव संसाररहितः । अस्य संसारिणः । हृदयं मानसम् । [ यावत् ] यावत् पर्यन्तम् । त्वयि भवति । न लीयते

सकती ॥३३॥ हे स्वामिन् ! आपके चरण-कमलोंकी सेवा-शुश्रूषा मानवोंकी बुद्धिको विकसित करती है, पापोंको दूर करती है, सारी सम्पदाओंको समीपमें ला देती है । फिर और क्या है जिसे वह नहीं करती ? ॥३४॥ हे ईश ! सभी लोग किसी-न-किसी स्वार्थसे दूसरोंके हितमें प्रवृत्त होते हैं, पर आपकी यह लोकोपकारकी प्रवृत्ति सर्वथा निःस्वार्थ है । वस्तुतः ऐसी प्रवृत्ति इस लोकमें अभी तक कहीं भी नहीं पाई गयी ॥३५॥ हे जिन ! आपके सिवा और किसको ऐसी महिमा है जिसका अभिषेक स्वयं इन्द्र ( स्वर्गसे ) आकर करें, इन्द्राणी शृंगार करे और देवोंका वृन्द जल भरकर लावे ? ॥३६॥ हे जिन ! समीपमें आकर पशु भी आपके भक्त हो जाते हैं । पर जो मानव-देहको पाकर भी अपनी बुद्धिको आपकी ओर नहीं लगाता—आपका भक्त नहीं बनता वह पशुसे भी बढ़कर पशु है—पशुसे भी गया बीता है ॥३७॥ हे भगवन् ! आप भव परम्परासे मुक्त हैं । जिस संसारी जीवका हृदय जब तक आपमें लीन नहीं रहता,

१. क. ल. ग. घ. म. मयभयम् । २. एष टीकाशयः पाठः, प्रतिष्ठु तु 'नृणाम्' इत्यस्ति । ३. श. आदिश्य । ४. = प्रसाधिका अलंकारिणी । ५. श. ईदृक् । ६. = सामीप्यम् । ७. = पशुतोऽपि निष्कृष्ट इत्यर्थः ।

नम इत्यपि त्वयि जिनेन्द्र विनिगदितमक्षरद्वयम् ।  
 पापमक्षिप्तमपहन्ति नृणामपरस्तु वाग्मिभव एव वाग्मिनाम् ॥३९॥  
 इति संप्रधार्य भुवनेश भवति विनुतिः प्रबन्धतः ।  
 सिद्धनुतिकृतफलेन मया न क्षितम्यते जिन ततो नमोऽस्तु ते ॥४०॥  
 तमिति प्रणृत्य गुरुभक्तिभरनततनुः पुरंदरः ।  
 सोत्सवमनयत चन्द्रपुरीं परिचारितः सुरगणेन नृत्यता ॥४१॥  
 प्रविधाय तत्र पुनरेव मुदितहृदया महोत्सवम् ।  
 भेजुरमरनिवहाः स्वभुवं विनिवेद्य तं जनकयोर्जिनार्भकम् ॥४२॥

न संबध्यते । लोड्<sup>३</sup> हलेवणे कर्मणि लट्<sup>४</sup> । [ तावत् ] तावत्पर्यन्तम् । भवभूत् संसारी । भयरोग-  
 शोकमरणानि भीतिरोगदुःखमरणानि । भवभवविचित्रवेदनाः भवे भवे जन्मजन्मान्तरे दुःखानि, भवे  
 संसारे भवा उत्पन्ना विचित्रा बहुविधा वेदनाः तीव्रपीडाः, इति च । भजते श्रयते । भजि<sup>५</sup> सेवायां लट् ॥३८॥  
 नम इति । जिनेन्द्र जिननाथ । त्वयि भवति । गदितं प्रोक्तम् । 'नमः' इति । अक्षरद्वयमपि  
 वर्णद्वयमपि । नृणां जनानाम् । अखिलं सकलम् । पापं दुरितम् । अपहन्ति हिनस्ति । हन हिंसागत्योः  
 लट् । अपरस्तु इतरस्तु । वाग्मिनां वाक्चतुराणाम् । वाग्मिभव एव वाचो वचनस्य विभव एव रचनेव  
 ॥३९॥ इतीति । भुवनेश लोकेश । इति 'नमः' इत्यक्षरद्वयमपि पापमपहरति, इति संप्रधार्य निश्चितम् ।  
 भवति त्वयि । विनुतिः स्तोत्रम् । सिद्धनुतिकृतफलेन सिद्धया निष्पन्नया नृत्या स्तुत्या कृतं विहितं फलं  
 प्रयोजनं यस्य तेन । मया । प्रबन्धतः विस्तरतः । न क्षितम्यते न क्षियते । कर्मणि लट् । जिन भो जिनेन्द्र  
 ततः तस्मात् । ते तुभ्यम् । नमः नमनम् । अस्तु भूयात् । लोड्<sup>३</sup> ॥४०॥ तमिति । गुरुभक्तिभरनततनुः  
 गुर्वी महत्या भक्त्या गुणानुरागस्य भरेण भारेण नता विनता तनुयस्य सः । पुरंदरः देवेन्द्रः । 'पुरंदरमणंदर'  
 इत्यादिना साधुः । तं चन्द्रप्रमथिनम् । इति एवम् । प्रणृत्य स्तुत्वा । नृत्यता<sup>६</sup> नर्तयता । सुरगणेन सुराणां  
 देवानां गणेन निकायेन । परिवारित परीतः । चन्द्रपुरीं चन्द्रपुरम् । सोत्सवं संप्रमसहितं यथा तथा । अनयत  
 प्रापयति स्म । जीञ् प्रापणे लट् ॥४१॥ प्रविधायेति । तत्र चन्द्रपुर्याम् । मुदितहृदया मुदितं संतुष्टं हृदयं  
 चित्तं येषां ते । अमरनिवहाः अमराणां निवहा निकायाः । पुनरेव पश्चाद् एव । महोत्सवं महासंप्रमम् ।  
 प्रविधाय कृत्वा । जनकयोः मातृपित्रः<sup>७</sup> तं जिनार्भकं जिनबालकम् । विनिवेद्य विश्राप्य । स्वभुवं स्वेषा

तभी तक वह भय, रोग, शोक, मरण और भवभवकी विविध वेदनाओंको प्राप्त करता है ॥३८॥  
 हे जिनेन्द्र ! आपके विषयमें श्रद्धासे कहे गये 'नमः' ये दो अक्षर भी, कहनेवाले—नमस्कार  
 करनेवाले मनुष्योंके सारे पापोंको नष्ट कर देते हैं । और तो वक्ताओंकी वाणीका केवल वैभव  
 ही है ॥३९॥ 'नमस्कार करने मात्रसे समस्त पाप विलीन हो जाते हैं', यह सोचकर मे पूर्ण-  
 स्तुतिकृत फलके निमित्तसे विस्तारपूर्वक आपकी स्तुति नही कर रहा हूँ । अतः हे जिन,  
 आपको मेरा नमस्कार हो ॥४०॥ इस प्रकार स्तुति करके इन्द्रने अत्यधिक भक्तिसे विभोर  
 होकर चन्द्रप्रभके सामने अपने शरीरको नवा दिया—साष्टांग नमस्कार किया और फिर वह  
 नृत्य करते हुए देववृन्दके साथ चन्द्रप्रभको उत्सवपूर्वक चन्द्रपुरी लवा ले गया । चन्द्रपुरी जाते  
 समय इन्द्र बीचमें था और सभी नृत्य करनेवाले देव उसके चारों ओर ॥४१॥ चन्द्रपुरीमें,  
 प्रसन्न मन वाले सभी देवोंने फिरसे उत्सव मनाया और फिर वे जिन बालकको उनके माता-

१. क. ख ग घ म प्रबन्धता । २. म जनकयोः । ३. आ लिट्, ख लोड् । ४. आ लिट् । ५. वा भज ।  
 ६. = वागाङ्मर एव । ७. ख लट् । ८. = नटता । ९. = अपि । १०. = जननीजनकयोः ।

‘स्वकराङ्गुलीर्निजमुलेन विबुधपतियोजितामृताः’ ।  
 प्रीतिविकसितमुखः स सिंहश्चकार मातृकुचयोरतिस्पृहाम् ॥४३॥  
 विबुधजितस्फटिककान्तिरखिलजनलोचनोत्सवम् ।  
 वृद्धिमभजत जिनाधिपतिः प्रतिपञ्चशाङ्क इव सोऽनुवासरम् ॥४४॥  
 तमरोरमस्तुरकुमारसमितिर्भगव्य सुव्वरम् ।  
 पौरजनहृदयहृष्टिकरैः करकन्दुकप्रभृतिभिर्बिन्दुभिः ॥४५॥  
 प्रकृतिस्फुटं ग्रहगणस्य गमनमिव चापलं शिशोः ।  
 क्रीडनमकृत पृथग्जनवत्प्रतिबुद्धं बुद्धिरपि यस्मिन्नेश्वरः ॥४६॥

स्वकीयानां भुवम् आवासम् । भोजः आश्रयणि स्म । लिट् ॥४२॥ स्वकरेति । विबुधपतयः<sup>१</sup> (?) विबुधानां देवानां पतय इन्द्राः । जितामृताः जितममृतं सुधा यासां ताः । स्वकराङ्गुलीः स्वस्यास्मनः करस्य हस्तस्याङ्गुलीः करशाखाः । निजमुलेन स्ववदेन । लिहन् आस्वादयन् । प्रीतिविकसितमुखः प्रीत्या संतोषेण विकसितं मुखं वदनं यस्य सः । मातृकुचयोः मातृजनन्याः कुचयोः स्तनयोः । अतिस्पृहाम् अधिकवाञ्छाम् । न चकार न करोति स्म । लिट् । समासोक्तिः (?) ॥४३॥ बिद्बदिति । जितस्फटिककान्तिः जिता विजिता स्फटिकस्य कान्तिः शोभा यस्य सः । अखिलजनलोचनोत्सवम् अखिलानां सकलानां जनानां लोकानां नयनानामुत्सवं संतोषम् । विदधत् कुर्वन् । सः जिनाधिपतिः जिनेश्वरः । अनुवासरम् अनुदिनम् । प्रतिपञ्चशाङ्क इव प्रतिपदिनस्य शशाङ्क इव चन्द्र इव । वृद्धि प्रवृद्धिम् । अभजत आश्रयति स्म । लङ् । उरमा ॥४४॥ उमिति । सुरकुमारसमितिः सुरकुमाराणां देवकुमाराणां समितिः समूहः । सुन्दरं मनोहरम् । तं त्रिनम् । अभिगम्य अस्पृषेत् । पौरजनहृदयहृष्टिकरैः पौराणां जनानां लोकानां हृदयस्य मानसस्य हृष्टिकरैः संतोषकरैः । करकन्दुकप्रभृतिभिः करकन्दुकाः<sup>२</sup> प्रभृतिर्वेषा तैः । विनोदः विलासः । अरीरमत् रमयति स्म । रमि क्रीडायां गिजन्तालङ् । जाति ॥४५॥ प्रकृतीति । शिशोः बालकस्य । चापलं चञ्चलत्वम् । ग्रहगणस्य ग्रहाणामष्टाशोतिग्रहाणां गणस्य निबृहस्य । गमनमिव गतिरिव । प्रकृतिस्फुटं प्रकृत्या स्फुटं<sup>३</sup> व्यक्तम् जिनेश्वरः जिननाथः । प्रतिबुद्धबुद्धिरपि प्रतिबुद्धा ज्ञाता बुद्धिः सम्यग्ज्ञानं<sup>४</sup> यस्य सः, विदित-सम्यग्ज्ञानयुक्तोऽपि । पृथग्जनवत् अज्ञानिजनवत् । यत् कारणात् । क्रीडनं विनोदम् । अकृत करोति स्म ।

पिताको सोपकर अपने-अपने निवास स्थानमें चले गये ॥४२॥ जिन-बालक चन्द्रप्रभ अपने हाथ-को अंगुलियोंको मुल्लसे चूसा करते थे, जिनमें इन्द्रोंने अमृतका लेप कर दिया था । अतएव उन्हें अपनी माँके दूधकी विशेष चाह नहीं रहती थी, और उनका मुख प्रीतिसे कमलकी भाँति विकसित रहता था ॥४३॥ चन्द्रप्रभको कान्ति स्फटिक मणिकी कान्तिकी मात करनेवाली थी । वे लोगोंके नेत्रोंको आनन्द प्रदान करते थे । वे प्रतिपत्के चन्द्रमाकी भाँति प्रतिदिन क्रमसे वृद्धिगत हो रहे थे । शुक्ल पक्षका चन्द्रमा जिस तरह प्रतिदिन वृद्धिगत होता है उसी तरह चन्द्रप्रभ भी वृद्धिगत हो रहे थे ॥४४॥ जिन-बालक अत्यन्त सुन्दर थे । देव कुमार उनके पास आकर उन्हें गेद आदिसे नाना प्रकारके मनोरञ्जक खेल खिलाते थे, जिन्हें देखकर पुरवासी लोग मन-ही-मन बड़े प्रसन्न होते थे ॥४५॥ ग्रहचक्रका गमन जिस प्रकार स्वभावतः स्पष्ट है इसी प्रकार जितबालक चन्द्रप्रभका चपल स्वभाव भी स्वभावतः स्पष्ट है; क्यों कि वे विशिष्ट बुद्धि-

१. अ. 'कराङ्गुली' । २. अ. 'पतयो जितामृताम्' । ३. 'रपि स्पृहाम्' । ४. अ. 'बदबु' । ५. अ. 'रपि तनुजिनेश्वरः' । ६. एष टीकाभयः पाठः, प्रतिबु तु सर्वास्वपि 'विबुधपतियोजितामृताः' इत्येव वर्तते । ७. = यासु । ८. = येन । ९. आ. 'कन्दुका' । १०. आ. 'अकृत्या स्फुटं' इति नास्ति । ११. श. ज्ञाता बुद्धियस्य ज्ञानं ।



विचरन्स कुट्टिममहीषु परिजनकराकुलिभितः ।  
 मन्दनिहितचरणो रुक्मे सरसीषु हंस इव भासुरद्युतिः ॥४७॥  
 शृष्ट्यमे करारकरतलानि सकलसुहृदां स संचरन् ।  
 दीधितिरुचिरवपुर्वणिजामविषुजमूल्य इव वारिधेर्मणिः ॥४८॥  
 मणिमुद्रिकाकटकहारवसनरसनादिभूषणम् ।  
 तस्य सुरपतिगिरा धनवः प्रजिघाय सर्वमपि शैशवोचितम् ॥४९॥  
 स कुमारयोग्यजलकेलिगजतुरगरोहणादिभिः ।  
 कर्मभिरतिशयितान्यजनैरत्यतिक्रियन्तमपि कालमूर्जितः ॥५०॥

कुट्ट । उपमा ॥४६॥ विचरन्ति । परिजनकराङ्गुलिभितः परिजनानां सेवकजनानां करणां हस्तानाम-  
 ङ्गुलिं श्रितोऽवलम्बितः । मन्दनिहितचरणः मन्द<sup>१</sup> मृदु निहितो निसिप्यो चरणो यस्य<sup>२</sup> सः । भासुरद्युतिः  
 भासुरा देदीप्यमाना द्युतिः कान्तिर्यस्य सः । कुट्टिममहीषु कुट्टिमे रत्नकुट्टिमनिष्पन्नासु महीषु भूमिषु । विचरन्  
 संचरन् । सः जिनबालः । सरसीषु सरोवरेषु । हंस इव नराल इव । रुक्मे भाति स्म । रुचि दीप्यो लिट् ।  
 उरमा ॥४७॥ शृष्ट्यमे इति । सकलसुहृदा सकलानां सर्वेषां सुहृदा मित्राणाम् । करात् हस्तात् । करतलानि  
 हस्ततलानि । संचरन् गच्छन् । दीधितिरुचिरवपुः दीधित्या काम्या रुचिर चातु वपुः शरीरं यस्य सः । सः  
 जिनबालकः । वणिजां विसाम् । अविबुद्धमूल्य अविबुद्धमज्ञातं मूल्यं<sup>३</sup> विक्रयं यस्य सः । वारिधेः समुद्रस्य ।  
 मणिरिव रत्नमिव । शुशुभे शोभते स्म । शुभि दीप्यो लिट् । उरमा ॥४८॥ मणीनि<sup>४</sup> । मणिमुद्रिकाकट-  
 कहारवसनरसनादिभूषण मणिमुद्रिका रत्नाङ्गुलीयकं कटकं हस्तभूषणं हारो मौक्तिकमाला वसनं क्षीमं  
 रसना कटिभूषणमेतानि<sup>५</sup> आदीनि प्रभूतीनि यस्य तद् भूषणमलंकरणम् । शैशवोचितं शैशवस्य वात्यस्योचितं  
 योग्यम् । सर्वमपि सकलमपि । तस्य जिनबालकस्य । धनदः कुबेरः सुरपतिगिरा सुराणां देवानां पतिरिन्द्रः  
 तस्य गिरा वचनेन । प्रजिघाय प्रेषयति स्म । लिट् ॥४९॥ स इति । ऊजितः<sup>६</sup> प्रमिदः<sup>७</sup> । सः जिनबालकः  
 अतिशयितान्यजनैः अतिशयिताः<sup>८</sup> अतिशयोक्ताः अन्ये इतरे जना लोका वैरनैः । कुमारयोग्यजलकेलिगज-  
 तुरगरोहणादिभिः कुमारस्य योग्याभ्युच्चितानि जलकेलिहर्जलक्रोडा च गजानां करिणां तुरगाणामश्वानामारो-  
 हणं [ रोहणम् आरोहणं ] च तयोक्तानि तान्यादीनि येषां नैः । कर्मभिः कृत्यैः । क्रियन्तमपि किं प्रमाणमस्य

से युक्त होकर भी जन-साधारणकी तरह क्रोड़ा किया करते थे ॥४६॥ जिनबालक चन्द्रप्रभके  
 चेहरेपर अपूर्व दीप्ति थी । जब वे अपने परिवार या सेवकके हाथको अंगुलीके सहारे फर्शपर  
 घीरे-घीरे पैर जमाकर घूमते थे तब सरोवरमे घीरे-घीरे तैरनेवाले हंसकी भांति सुशोभित होते  
 थे ॥४७॥ जिनबालकके शरीरपर कान्तिकी अपूर्व सुषमा थी । वे महासेनके मित्रोंके हाथोंमें  
 बारी-बारीसे संचार करते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे जगमगता हुआ समुद्रका रत्न—  
 जिसका मूल्य नहीं आँका गया हो—जोहरियोंके हाथोमे बारी-बारीसे पटुचकर शोभित होता  
 है ॥४८॥ इन्द्रकी आज्ञाके अनुसार कुबेर जिनबालकके लिए उनके वात्यकालमें पहनने योग्य  
 मणिजटित अँगुठियाँ, कड़े, हार, करधनी एवं वस्त्र आदि सभी आभूषण भेजा करता था  
 ॥४९॥ जिनबालक बहुत बलवान् थे । उन्होंने अपने बचपनके कुछ कालको जड़क्रोड़ा एवं  
 हाथी-घाड़ोंकी सवारी आदिमें बिताया । उनको जल-क्रोड़ा तथा हाथी-घोड़ोंकी सवारी आदि

१. अ आ इ<sup>१</sup> लोः श्रितः । २. म वासरद्युतिः । ३. इ 'मणि' इति नोपलभ्यते । ४. = शनैः शनैः ।  
 ५. = येन । ६. = अर्थः । ७. श एतच्छ्लोकटीका तु मूले नोपलभ्यते तथापि विरच्य लिख्यते ।  
 ८. = आदौ यस्मिन् । ९. श ऊजितः । १०. = 'बलवान्' इति स्यात् । ११. = अतिक्रान्ताः ।

हरिपीठमास्थितवतोऽथ निखिलमिजंपार्थिवान्वितः ।  
 तस्य विरचितविवाहविधेरकरोत्पिता नृपतिपटुबन्धनम् ॥५१॥  
 प्रशशास पूज्यवचनस्य स पितुरुपरोक्षतो महोम् ।  
 मुक्तिमुखाधिनहितैकमतेर्न हि तस्य कापि विषयामिलाषिता ॥५२॥  
 वसुधामघातयतुलधाम्नि चतुर्दधिवारिमेलकाम् ।  
 तत्र भृशमभिननन्द<sup>१</sup> जनो जनवृद्धिहेतुरुदयो हि तादृशाम् ॥५३॥  
 न बभूव कस्यचिदकालमरणमखिलेषु जन्तुषु ।  
 आतुचिदपि न जनाकुलतां व्यदधादवृष्टिरतिवृष्टिरेव वा ॥५४॥

कियान्, तम् । कालं समयम् । अन्यत् प्रापयत् णीञ् प्राप्णे लङ् । जातिः ॥५०॥ हरीति । अथ कुमार-  
 वस्थानन्तम् । निखिलपार्थिवान्वितः निखिलैः सकलैः पार्थिवै राजविरम्वितो युक्तः । पिता जनकः ।  
 हरिपीठे<sup>२</sup> सिंहासने आस्थितवतः आसितस्य । 'शोड्स्थासोऽधेरारः' इति आचारे द्वितीया । विरचित-  
 विवाहविधेः विरचितो विहितो विवाहस्य पाणिग्रहणस्य विधियस्य । तस्य जिनेशस्य । नृपतिपटुबन्धनं  
 नृपतीनां पटुबन्धनम् । अकरोत् करोति स्म । लङ् ॥५१॥ प्रशशासेति । पूज्यवचनस्य पूज्यमाराध्यं वचनं  
 यस्य तस्य । पितुः जनकस्य । उपरोक्षः प्रार्थनातः । सः चन्द्रनाथः । महो भूमिम् । प्रशशास पालयति स्म ।  
 णाम् अनुशिष्टी लट् । मुक्तिमुखविनिहितैकमतेर्मुक्तेर्मोक्षस्य सुखे विनिहिता स्थापिता एका मुख्या मतिबुद्धि-  
 यंस्य<sup>३</sup> तस्य । तस्य महामेतराजस्य । कापि कीदृशपि । विषयामिलाषिता विषयलोलुपत्वम् । नहि नास्त्येव<sup>४</sup>  
 ॥५२॥ वसुधेति । अतुलधाम्नि अतुलं निरुपमं धाम तेजो यस्य तस्मिन्<sup>५</sup> । तत्र चन्द्रप्रभे<sup>६</sup> । चतुर्दधिवारि-  
 मेलका चतुर्णामुदधीनां समुद्राणां वारि जलं मेलका कारुचोदाम यस्यास्ताम् । वसुधा भूमिम् । अवति रक्षति  
 सति । जनः प्रजा । भृशम् अत्यन्तम् । अभिननन्द तुल्योप । टुनदु समुदौ लिट् । तादृशाम्<sup>७</sup> एतादृशा जिना-  
 दोनाम् । उदयः अभ्युदय । जनवृद्धिहेतुः जनानां लोकानां वृद्धेरैश्वर्यस्य हेतुः कारणं हि । अर्थांतरन्यासः  
 ॥५३॥ त्रैति । अखिलेषु सकलेषु । जन्तुषु प्राणिषु । अकालमरणम् अपमृत्यु, कदलीघात इत्यर्थः । कस्यचि-  
 दपि कस्यापि प्राणिनः । न बभूव न भवति स्म । अवृष्टिः अवर्षणम् । अतिवृष्टिरेव वा अतिवर्षणमेव वा ।  
 आतुचिदपि सकृदपि । जनाकुलतां जनानां प्रजानामाकुलतां<sup>८</sup> पीडनत्वम् । न व्यदधात् नाकरोत् । लङ् । अति-  
 कार्भोमें जो विशेषता थी, वह अन्य लोगोंमें नहीं थी ॥५०॥ बाल्यकाल समाप्त होनेपर राजा  
 महासिनेन चन्द्रप्रभका विवाह-संस्कार किया, जिसमें उनके पक्षके सभी राजे सम्मिलित हुए थे ।  
 इसके पश्चात् उन्हें सिंहासनपर बैठाकर उनके पिताने उनका पटुबन्धन किया ॥५१॥ पिताके  
 वचनको वे ( आगमकी भाँति ) पूज्य समझते थे, अतः उनके अनुरोधसे उन्होंने ( चन्द्रप्रभने )  
 पृथिवीका शासन किया । किन्तु उनका मन मुक्ति सुखकी ओर लगा हुआ था । फलतः उन्हें  
 किसी भी इन्द्रिय-विषयके सुखकी अभिलाषा नहीं थी ॥५२॥ राजा चन्द्रप्रभका तेज अनुपम  
 था । चारों समुद्रोंकी सोमासे घिरी हुई पृथिवीका जब उन्होंने शासन किया, तब प्रजाके लोगों-  
 को बहुत ही अधिक आनन्द हुआ, और वे खूब ही समृद्ध हुए; क्योंकि सच तो यह है कि ऐसे  
 महान् पुरुषोंका उदय लोगोके अभ्युदयको बढ़ानेका कारण होता है ॥५३॥ चन्द्रप्रभके शासन-  
 कालमें किसी प्राणीका अकाल मरण नहीं हुआ और न अवृष्टि-सूखा या अतिवृष्टिने भी कभी

१. अ निखिलजनं । २. म "विवाहविधि" । ३. अ "मति ननन्द" । ४. = यापयामास । ५. =  
 हरिपीठं सिंहासनम् । ६. वा "तस्य" इति नास्ति । ७. = आग्रहतः । ८. = येन । ९. वा क्वापि कुत्रापि ।  
 विषयामिलाषिताविषयेषु पञ्चेन्द्रियगोचरेषु अभिलाषिता प्रीतिस्त्वं न भवति हि । समासोचितः ॥५२॥ १०. वा  
 अतितेजस्विचन्द्रप्रभनृपे । ११. वा "चन्द्रप्रभे" इति नास्ति । १२. = हि यतः । तादृशाम् । १३. = व्याकुलताम् ।

न समीरणः श्रवणभेदिपरवदाशुणो ववौ ।  
 नास्पदमलमत रोगगणः समपादि नातिहिमसृणमेव वा ॥५५॥  
 न विबाधनं जनपदस्य समजनि कदाचिद्दीप्तिभिः ।  
 क्रूरमृगसमुदयोऽप्यभवन्न पुरैव हिसनविषक्तमानसः ॥५६॥  
 समुपायनैः समुपगम्य सदसि परचक्रपायिवाः ।  
 द्वाःस्थकथितनिजनामकुलाः शिरसा प्रणेमुरवनीतलस्पृशा<sup>१</sup> ॥५७॥  
 रजनीमहश्च स विभज्य विबुधनुतवज्रिहृषा ।  
 कर्मभिरनयत सर्वजगन्नयमार्गदर्शनपरो यथोचितैः ॥५८॥  
 समुपेत्य शक्रवचनेन नरपतिसहस्रमध्यगम् ।  
 भेज्जुरमरवनिता विधिधैः प्रतिबासरं ललितगीतनर्तनैः ॥५९॥

अयः ॥५४॥ नेति । श्रवणभेदिपरवदाशुणः श्रवणो कर्णो भेदिना विदारिणा परस्परं कठिनेन रवेण ध्वनिना दारुणो भयंकरः । अमिलः वायुः । न ववौ न वाति स्म । रोगगणः रोगाणां व्याधीना गणः समूहः । आस्पदं स्थितिम् । नालमत न प्राप्नोति स्म । डुलमिप् प्राप्तौ लङ् । अतिहिमम् अतिशीतम् । उष्णमेव वा । न समपादि न समुपपाते स्म । पदि गतौ लुङ् ॥५५॥ नेति । जनपदस्य देशस्य । ईतिभिः । अतिवृष्टपायिभिः । कदाचित् एकदापि । विबाधनं पीडा । न समजनि न जन्यते स्म । कर्मणि लुट् । पुरैव प्रागेव । हिसनविषक्त-मानसः हिसने हिंसायां विषक्तं मानसं यस्य स<sup>२</sup> । क्रूरमृगसमुदयोऽपि क्रूराणां मृगाणां समुदयः समूहोऽपि । नामवत् नामूत् । लुट् । ॥५६॥ तमिति । परचक्रपायिवाः परचक्रस्य परराष्ट्रस्य पायिवा भूमिवाः । उपायनैः उपप्राप्तैः सह । समुपगम्य समागत्य । द्वाःस्थकथितनिजनामकुलाः द्वाःस्थद्वारपालकौ । कथितानि निजनामानि कुलानि येषां ते । तं चन्द्रप्रभम् । अवनीतलस्पृशा श्ववनीतलं भूतलं स्पृशतोऽश्ववनीतलस्पृक् तेन । शिरसा मस्तकेन । प्रणमुः नमन्ति स्म । नम प्रहृष्टे शब्दे लिट् ॥५७॥ रजनीमिति । विबुधनुतवृद्धिः विबुधैरमरैर्नुता स्तुता वृद्धित्वेन सः । नयमार्गदर्शनपरः नयस्य नीतेर्मार्गस्य शास्त्रस्य दर्शने प्रकाशने परा तत्परः । सः जिनेशः । रजनीं रात्रिम् । अहश्च दिनं च । अष्टधा अष्टभिः प्रकारैः । विभज्य भागं कृत्वा । सर्वजगत् सर्वलोकम् । यथोचितैः यथायोग्यैः । कर्मभिः कृत्यैः । अनयत् यापयति स्म । षीञ् प्रापणे लङ् ॥५८॥ तमिति । अमरवनिताः अमराणां मुराणां वनिता रमण्यः । शक्रवचनेन

प्रजाके किसी मनुष्यको बाकुलता उत्पन्न की ॥५४॥ कानोंको फोड़ देनेवाली कठोर आवाजसे दारुण प्रतीत होनेवाली आँधी नहीं चली, रोगोने स्थान नहीं पाया ( क्योंकि कोई रोगी ही नहीं था ) और न कभी अधिक सदी या गर्मी हो पड़ी ॥५५॥ छह ईतियोंसे जनपदको कभी कोई पीड़ा नहीं हुई तथा क्रूर पशुओंके झुण्डने भी अपने मनसे हिंसाको पुरातन आसक्ति दूर कर दो ॥५६॥ अन्य राष्ट्रीके राजे-महाराजे अनेक प्रकारके उपहार लेकर, चन्द्रप्रभको सभामें द्वारपालोंके द्वारा अपने नाम और कुलका परिचय भिजवाकर एवं प्रवेशको अनुमति लेकर पहुँचते रहे और भूतलपर सिर नवाकर उन्हें प्रणाम करते रहे ॥५७॥ क्या देव और क्या विद्वान् सभी चन्द्रप्रभकी बुद्धिको प्रशंसा करते थे । वे जगत्को नीति मार्ग दिखलानेमें तत्पर रहते थे । उन्होंने रात और दिनके समयको आठ भागोंमें विभक्त कर दिया था, तथा यथायोग्य कार्योंमें संलग्न रहकर वे उस (समय) का सदुपयोग किया करते थे ॥५८॥ इन्द्रकी आज्ञासे देवाङ्गनाएँ

१. म पुरे च । २. अ तलस्पृशाः । ३. = कठोरेण । ४. मूले 'समीरणः' पदं वर्तते न तु 'अमिलः' इति ।

कमलप्रभामभूतिविष्यनिजयुवतिवृन्दबेधितः ।

भोगसुखमिति यथामितं चिरमन्वभूत्स जयदेकनायकः ॥६०॥

अपरेद्युवतिवत्तुर्ध्वजकरया निपीडितः ।

तस्य सदसि समुपेत्य शनैः श्रितयष्टिरित्यकृत कोऽपि पूरकृतिम् ॥६१॥

सुरवृन्दबन्ध करुणार्द्र शरणगतलोकवत्सल ।

जातरजिलजगतां कृपणं भयभीतमस्तभय रक्ष रक्ष माम् ॥६२॥

कथितो निमित्तिपुरुषेण रजनिस्मये समेत्य माम् ।

मृत्युरविहृतगतप्रसरस्तव पश्यतोऽयं जगदोश नेष्यति ॥६३॥

शाक्यस्य वैशम्पत्यस्य वचनेन आज्ञया । "सुरपतिरसहस्रमध्यगं सुराणामिन्द्राणां सहस्रस्य मध्यगं मध्यं गतम् । तं चन्द्रप्रभम् । विविधैः नानाविधैः । ललितगीतनर्तनैः ललितैर्मनोहरैर्गीतनर्तनैर्नृत्यैश्च । प्रतिवासरं प्रतिदिनम् । भेजुः सिधेविरे । लिट् ॥५९॥ कमलेति । कमलप्रभामभूतिविष्यनिजयुवतिवृन्दबेधितः कमलप्रभाम् कमल [प्रभा] दिवी, सा प्रभुतिर्मुखा यासां तासां कमलप्रभामभूतीनां दिव्यानां मनोहराणां निजस्य स्वस्य युवतीनां वनितानां वृन्देन निबध्नेन वेधितः परिवृतः । जगदेकनायकः जगतां भुवनानामेको मुख्यो नायकः स्वामी । सः चन्द्रप्रभः ॥६०॥ यथामितम् अभिमतमनतिक्रम्य, बाञ्छामनतिक्रम्येत्यर्थः । भोगसुखं भोगानां विषयाणां सुखम् । इति एवम् । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । अन्वभूत् अन्वभवत् । लुट् । अतिशयः ॥६०॥ अपरेद्युरिति । अपरेद्युः<sup>१</sup> अन्यस्मिन् दिने । 'पूर्वापर—' इत्यादिना एद्युस—प्रत्ययः । उन्नमितबाहुः उन्नमितो उद्धृतो<sup>२</sup> बाहु भुजो यस्य सः । अधिकजरया अधिकया प्रबुद्धया जरया वार्धक्येन । निपीडितः बाधितः । श्रितयष्टिः आश्रिताधारयष्टिः । तस्य चन्द्रप्रभस्य । सदसि सभायाम् । शनैः मन्दम् । समुपेत्य आगत्य । कोऽपि पुरुषः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । फूकृतिं<sup>३</sup> फूत्कारम् । अकृत अकरोत् । लुट् । जातिः ॥६१॥ सुरेति । सुरवृन्दबन्ध सुराणाममराणां वृन्देन निकायेन बन्ध बन्धनीय, भो मुरनिकायपूज्य । करुणार्द्र करुणया कृपया आर्द्रं मृदुल । शरणगतलोकवत्सल शरणगतस्य शरणगतस्य लोकस्य जनस्य वत्सल पालक । अजिलजगतां निखिललोकानाम् । त्रातः रक्षक । अस्तभय अस्तं निरस्तं भयं यस्य<sup>४</sup> तस्य संबोधनम्<sup>५</sup> । कृपणं दीनम् । भयभीतं भयैः सप्तभयैर्भीतं विभीषितम्<sup>६</sup> । माम् । रक्ष रक्ष पालय पालय । रक्ष पालने लोट्<sup>७</sup> । बोधायां द्विः । जातिः ॥६२॥ कथित इति । जगदोश भो जगतां लोकानाम् ईश स्वामिन् । अविहृतगतिप्रसरः अविहृतो बाधारहितो गत्या ममनस्य

हजारों राजाँ-महाराजाओंके बीचमें बैठे हुए चन्द्रप्रभके पास आकर नाना प्रकारके सुन्दर गीतों और नृत्योंसे प्रतिदिन उनकी सेवा किया करती थीं ॥५९॥ चन्द्रप्रभ सारे जगत्के एकमात्र नायक थे । कमलप्रभा आदि अपनी सुन्दर यौवनवती नायिकाओंके वर्गके बीचमें रहकर उन्होंने इस प्रकार चिरकाल तक यथेच्छ भोग भोगे ॥६०॥ एक दिनकी बात है । एक पुरुष, जो अत्यधिक बूढ़ था, तथा वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त पीडित था, लाठी टेकता हुआ धीरे-धीरे चन्द्रप्रभकी समामें पहुँचा, और बहोपर वह अपने दोनों बाहुओंको ऊपर उठाकर दुःखभरे शब्दोंमें यों चिल्लाने लगा—॥६१॥ भगवन् ! आप देववृन्दके द्वारा बन्धनीय हैं, आपका हृदय दयासे आर्द्र है, आप शरणगतवत्सल हैं, आप जगत्के समस्त प्राणियोंके रक्षक हैं और हैं समस्त जगत्के मुक्त, और मैं दीन और भयभीत हूँ, अतः मेरी रक्षा कीजिए, मुझे बचाइए ॥६२॥ हे जगदीश एक निमित्त जानी पुरुषने समीपमें आकर मुझसे कहा है कि आज रात्रिके समय मृत्यु—

१. श आज्ञावचनेन । २. मूले नरपति" पदं वर्तते, अतो नरपतीनां नरेन्द्राणां सहस्रस्य मध्यं गच्छ-  
तीति मध्यगः, तम्—इति सहपात्य भवेत् । ३. श स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नीलपत्र्यते । ४. श 'अपरेद्युः' इति  
पाठि । ५. श अपरस्मिन् । ६. श उद्धृती । ७. = येन । ८. एष टोकाश्वः पाठः, प्रविषु तु 'पूकृतिम्'  
इति समबलोक्यते । ९. = येन । १०. = तत्संबुद्धौ हे अस्तभय । ११. श निभीषितम् । १२. क केट् ।

क्षमसे ततो यदि न पातुमसि जिन वृथास्तकास्तकः ।  
 वाचमिति सममिवाप पुरः सहसा तिरोहितवपुर्बभूव सः ॥६४॥  
 बद्ध देव कोऽयमिति सभ्यजनवचनमास्तेरितः ।  
 दृष्टनिखिलभुवबोऽवधिना भगवान्दृष्टजिति जगाद् कारणम् ॥६५॥  
 मम कर्तुमेष विषयेषु विरतिममराधिपाङ्गया ।  
 धर्मरुचिरिति सुरस्त्रिदिवात्समुपाययौ विकृतवृद्धविग्रहः ॥६६॥  
 विनिवेद्य सभ्यनिवहस्य कृतपरमविस्मयस्य तत् ।  
 भोगविरतहृदयः स भवस्थितिमित्यचिन्त्यदचिन्त्यचेष्टितः ॥६७॥

प्रचरो वितरो यस्य सः । मृत्युः यमः । अद्य दृढानोम् । रजनि<sup>१</sup>समये रात्रिकाले । समेत्य आगत्य । पश्यतः  
 बीक्षमाणस्य । तत्र भवतः । पश्यन्तं त्वामनादृत्येति यावत् । मा नेष्यति<sup>२</sup> प्रापयिष्यति<sup>३</sup> । जीञ् प्रापणे  
 लृट् । निमित्तपुरुषेण आदेशपुरुषेण । कथितः प्रोक्तोऽहम् । आक्षेपः (?) ॥६३॥ क्षमस इति । जिन भो  
 जिनेश । ततः तस्माद् यमात् । यदि पातुं मा रक्षितुम् । न क्षमसे न समर्थोऽसि । वृथा<sup>४</sup> मृषा । अन्तकान्तकः  
 अन्तकस्य यमस्यान्तको यमः । असि भवसि । अस भुवि लट् । सः सुरः देवः । इति एवम् । वाचं वचनम् ।  
 सममिवाप सम्यगुक्त्वा । सहसा स्त्रीघ्नम् । तिरोहितवपु तिरोहितं व्यवहितं वपुः शरीर यस्य सः । बभूव  
 भवति स्म । आक्षेपः (?) ॥६४॥ ववेति<sup>५</sup> । भो देव । अयं क किमभिधान । बद्ध बृद्धि । इति एवम् । सभ्य-  
 जनवचनमास्तेरितः सभ्यजनस्य सभ्यलोकस्य वचनमास्तेन भाषणवायुना ईरितः प्रेरितः । अवधिना अवधि-  
 ज्ञानेन । दृष्टनिखिलभुवनः दृष्टं ज्ञातं निखिलं सकलं भुवनं जगद् येन सः । भगवान् स्वामी चन्द्रप्रभः ।  
 हसन् प्रहसन् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । कारणं हेतुम् । जगाद् ऊचे । लिट् ॥६५॥ ममेति । विकृतवृद्ध-  
 विग्रहः विकृतो निमित्तो वृद्धस्य स्वविरस्य विग्रहो देहो यस्य सः । धर्मरुचिरिति धर्मरुचिनामधेयः । एषः  
 अयम् । मृतुः देवः । अमराधिपाङ्गया अमराधिपस्य देवेन्द्रस्याज्ञवानुज्ञया । मम मे । त्रिपयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु ।  
 विरति विरागम् । कर्तुं विधातुम् । त्रिदिवात् स्वर्गात् । समुपाययो समागच्छन् । या प्रापणे लिट् । ६६ ।  
 विनिवेद्येति । कृतपरमविस्मयस्य कृतो विहितः परम उत्कृष्टो विस्मयो यस्य तस्य । मभ्यनिवहस्य सभ्यानां<sup>६</sup>  
 सामाजिकानां निवहस्य निकरस्य । तत् तदागमनम् । विनिवेद्य आपयित्वा । भोगविरतहृदयः भोगेषु विषयेषु<sup>७</sup>  
 विरतं विरक्तं हृदयं चित्तं यस्य सः । अचिन्त्यचेष्टित अचिन्त्यं चेष्टितं व्यापृतं यस्य सः । सः चन्द्रप्रभः ।

जिसे कोई टाल नहीं सकता—आप (चन्द्रप्रभ) के देखते उठा लें जायगा ॥६३॥ हे जिन ! यदि  
 आप उससे मुझे नहीं बचा सकते तो आप व्यर्थ ही अन्तकके अन्तक अर्थात् अन्तकारि या  
 मृत्युञ्जय कहे जाते हैं । ये वचन कहकर वह देव शीघ्र ही अन्तर्धान हो गया—दृष्टिसे ओझल  
 हो गया ॥६४॥ जिनदेव ! यह कौन था ? बताइए, इस तरह सभासदोंके वचनका रुख देखकर  
 और उससे प्रेरणा पाकर भगवान् चन्द्रप्रभ—जो अवधिज्ञानसे सारे संसारको जानते थे—हँसते  
 हुए, उसके आनेके कारणका यों निरूपण करने लगे—॥६५॥ यह देव था । इसका नाम धर्म-  
 रुचि था । यह विक्रियाके बलसे बुद्धिका रूप धारण करके, इन्द्रकी आज्ञा पाकर मुझे पंचेन्द्रियों-  
 के विषयसे विरक्त करनेके लिए स्वर्गसे यहाँ आया था ॥६६॥ सभी सभासदोंसे भगवान्  
 चन्द्रप्रभने जब उसके बारेमें यों निवेदन किया, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । इसके पश्चात्  
 चन्द्रप्रभका—जिनकी चेष्टाएँ अचिन्त्य थीं—हृदय भोगोंसे विरक्त हो गया । फलतः वे जगत्-

१. आ इ सुरः । २. आ इ ताम्, स तम् । ३. इ रजनी° । ४. आ श नेष्यते । ५. = जन्मान्तर-  
 मिति शेषः । ६. = तद् वृषा । ७. आ अस्य श्लोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ८. = येन । ९. = येन ।  
 १०. आ सभानिवहस्य सभानां । ११. = भोगेभ्यो विषयेभ्यः ।

घनयौवनप्रभृति सर्वमनुगतमिव शरीरिण्याम् ।  
 न क्षणमपि भवति स्थितिमभिजपपूर्वजन्मकृतपुण्यसंज्ञये ॥६८॥  
 विषयेषु शत्रुसहरोषु विविधपरितापहेतुषु ।  
 सक्तिमचिरतमतिः कुरुते हतबुद्धिरिव न तु बोधभासुरः ॥६९॥  
 विविधास्तु योनिषु वपूषि विविधरचनानि धारयन् ।  
 इन्द्रियसुखलघुलब्धमतिर्नटवः प्रयाति तनुमान् विडम्बनाम् ॥७०॥  
 वपुर्नामधरप्रविजहच्च विविधमिह यैर्विडम्बितः ।  
 कर्मभिरहमधुना तपसा क्षपयामि तानि निखिलानि मूलतः ॥७१॥

भवस्थिति भवस्य संसारस्य स्थितिम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अचिन्तयत् चिन्तयति स्म ॥६७॥ धनेति । शरीरिणां संसारिण्याम् । अनुगतम् अनुयातम् । घनयौवनप्रभृति घनं द्रव्यं यौवनं प्रभृति मुख्यं यस्य तत् । इदम् एतत् । सर्वं समस्तम् । निजपूर्वजन्मकृतपुण्यसंज्ञये निजस्य स्वस्य पूर्वस्मिन् जन्मनि कृतस्य विहितस्य पुण्यस्य शुभकर्मणः संज्ञये नाशे । क्षणमपि अल्पकालपर्यन्तमपि । 'कालाध्वनोर्ध्वासौ' इति द्वितीया । स्थिति-  
 मत् स्थितियुक्तम् । न भवति । लट् ॥६८॥ विषयेष्विति । विविधपरितापहेतुषु विविधानां नानाप्रकाराणां परितापानां हेतुषु कारणेषु । शत्रुसदृशेषु शत्रूणां सदृशेषु समानेषु । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । अचिरतमतिः अचिरता वैराग्यरहिता मतिर्बुद्धिर्यस्य स । हतबुद्धिरि(रे)व सम्प्यज्ञानशून्य इ (ए) व । सक्तिम् आसक्तिम् । कुरुते करोति । लट् । ( न तु ) बोधभासुरः बोधेन ज्ञानेन भासुरो भासमानः । न तु भवति । उपमा ॥६९॥ विविधास्थिति । विविधास्तु नानाप्रकारास्तु । योनिषु जन्मसु । विविधरचनानि नानारचनानि संनिवेशसहि-  
 तानि । वपूषि शरीराणि । नटवत् नर्तकवत् । धारयन् । इन्द्रियसुखलघुलब्धमतिः इन्द्रियेभ्यः पञ्चेन्द्रियेभ्यो जातस्य सुखस्य लभे स्तोके लुब्धा सक्ता मतिर्बुद्धिर्यस्य सः । तनुमान् संसारिजीवः । विडम्बनां तिरस्कारं हास्यं वा प्रयाति । लट् ॥७०॥ वपुर्इति । इह संसारे । विविधं नानाविधम् । वपुः शरीरम् । आददत् स्वीकुरुन् । प्रतिजहत् च त्यजन् । अहम् । यैः कर्मभिः शुभाशुभरूपैः । विडम्बितः तिरस्कृतः । अधुना इदानीम् । निखिलानि सकलानि । तानि कर्माणि । मूलतः निःशेषतः । तपसा बाह्याभ्यन्तररूपेण । क्षपयामि

की स्थितिके बारेमे यों सोचने लगे—॥६७॥ संसारी जीवोंको जो ये घन और यौवन आदि सारी वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे उनके अपने पूर्वजन्मके पुण्यके नष्ट होते ही नष्ट हो जाती हैं, फिर वे एक क्षण भी नहीं रह सकतीं ॥६८॥ इन्द्रियोंके विषय शत्रु सरीखे हैं और वे शत्रुओंके समान नाना प्रकारके सन्तापके कारण हैं । इनमें बुद्धिहीन संसारी ही—जिसकी बुद्धिमें कभी विषयसे विरक्तिका विचार भी नहीं उत्पन्न होता—आसन्न होता है, न कि सम्प्यज्ञानी ॥६९॥ नाना योनियोंमें तरह-तरहके शरीर धारण करके और जरासे इन्द्रियसुखके लोभमें फँसकर यह संसारी जीव नटकी भाँति विडम्बनाको प्राप्त करता है । परिहास या तिरस्कारका पात्र बनता है ॥७०॥ नाना प्रकारके शरीरको धारण करते और छोड़ते हुए मुझे जिन शुभ और अशुभ कर्मोंने तिरस्कृत किया है, उन सबको मैं अब तपस्याके द्वारा मूलसे नष्ट कर डालूँगा ॥७१॥ भगवान्

१. अ विखण्डितः, म विवञ्चितः । २. म क्षपयामि । ३. = तावप्यम् । ४. = यस्मिन् । ५. = स्थिरमिच्छार्थः । ६. आ समानेषु सदृशेषु । ७. = न कुरुते । ८. = उत्पत्तिस्थानेन । ९. = कैशे । १०. एष टीकाधयः पाठः, प्रतिषु तु 'आददत्' वर्तते ।

इति चिन्तनाकुलमुपेत्य सर्वसि जगदन्तिकामराः ।  
 चिन्तितमखिलहितं भवता जिन साधु साध्विति तमभ्यनन्दयन् ॥७२॥  
 विमलामिधानशिबिकास्थममरपतिरेत्य सामरः ।  
 प्रापयदर्थे सकलतुंगं तमुक्तसर्वेन कृतदुन्दुभिध्वनिः ॥७३॥  
 प्रवित्तीयं राज्यमवदातचरितवरचन्द्रसूनवे ।  
 षष्ठयुगमिहितसिद्धनुतिः स तपोऽग्रहीद्दशशतैर्महीभुजाम् ॥७४॥  
 मणिभाजने समचिरोप्य विबुधपतिरात्मभक्तितः ।  
 क्षीरजलनिधिजले निदधे दृढपञ्चमुष्टिभिरपाकृतान्कचान् ॥७५॥

नाशयामि । क्षप हिंसाया लट् ॥७१॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । चिन्तनाकुलं चिन्तनया वैराग्ययुतचित्त-  
 व्यापारेणकुलं युक्तम् । जगदन्तिकामराः जगदन्तिका लौकान्तिका अमरा देवाः । सर्वसि सभायाम् । उपेत्य  
 आगत्य । भिन भो भिननाय । भवता त्वया । अखिलहितम् अखिलेभ्यो हितमुपकारम्<sup>१</sup> (२) । चिन्तितं  
 विचारितम् । साधु साधु सम्यक् सम्यक् । 'वीप्सायाम्' इति द्वि । इति एवम् । तं जिनेशम् । अभ्यनन्दन्  
 स्तुवन्ति स्म । दुन्दु सप्तद्वी लट् ॥७२॥ विमलेति । अय लौकान्तिकप्रतिबोधनान्तरम् । सामरः देवैः  
 सहितः । अमरपतिः देवेन्द्रः । एव आगत्य । विमलामिधानशिबिकास्थं 'विमला' इत्यमिधानं यस्यास्तस्यां  
 शिबिकायां तिष्ठतीति तथोक्तम् । तं चन्द्रप्रभम् । कृतदुन्दुभिध्वनि कृतो विहृतो दुन्दुमीना देवपट्टहानां ध्वनि-  
 र्यस्मिन् कर्मणि तत्० । उक्तसर्वेन महासंतोषेण । सकलतुंगं सकलतुङ्गाख्योद्यानम् । प्रापयत् नयति स्म ।  
 लट् ॥७३॥ प्रवित्तीयेति । अवदातचरितवरचन्द्रसूनवे अवदातेन निर्मलेन चरितेन चारित्र्येण युताय वरचन्द्र-  
 सूनवे वरचन्द्राख्यसूनवे पुत्राय । राज्यं प्रभुत्वम् । प्रवित्तीयं दत्त्वा । षष्ठयुक् पण्डेन उपवासऽयेन युक् युतः ।  
 अभिहितसिद्धनुतिः अभिहितोच्चरिता सिद्धस्य नुतिः स्तोत्रं यस्य<sup>२</sup> सः । चन्द्रप्रभः । महीभुजा भूपतीनां  
 दशशतैः सहस्रेण सह । तपः बाह्याभ्यन्तररूपम् । अग्रहीत् गृह्णाति स्म । यदि उपादाने लुट् ॥७४॥ मणीति ।  
 विबुधपतिः विबुधानां पतिरिन्द्रः । दृढपञ्चमुष्टिभिः दृढाभिः पञ्चभिर्मुष्टिभिः । अपाकृतान् उत्पाटितान्<sup>३</sup> ।  
 कचान् केशान् । आत्मभक्तितः आत्मनः स्वस्य भक्तितो गुणानुरागात्<sup>४</sup> । मणिभाजने रत्नमयपात्रे । समचि-  
 रोप्य निक्षिप्य । क्षीरजलनिधिजले क्षीरजलनिधे पञ्चमाव्येर्जले सलिले । निदधे स्थापयति स्म । लिट्

चन्द्रप्रभ इस प्रकारसे चिन्तन करनेमें व्यग्र थे, इतनेमें ही लौकान्तिक देवोंने सभामें उनके निकट  
 जाकर और यह कहकर कि 'हे जिन ! आपने सभोके हितके लिए जो विचार किया है वह सुन्दर  
 है, अति सुन्दर है ( साधु, साधु ), उनका अभिनन्दन किया ॥७२॥ इसके उपरान्त देवोंके साथ  
 इन्द्र आ पहुँचा । उसने चन्द्रप्रभ भगवान्को 'विमला' नामकी शिबिका (पालकी) में बिठाकर  
 दुन्दुभि बाजोंकी ध्वनिके साथ बड़े उत्सवसे 'सकलतुंग' नामक वनमें पहुँचा दिया ॥७३॥ वहाँपर  
 अपने निर्मलचरित वरचन्द्र नामक पुत्रको राज्य देकर, दो उपवासोंका नियम लेकर और सिद्ध-  
 परमेष्ठीको नमन करके उन्होंने एक हजार मुनियोंके साथ तप करना स्वीकार किया ॥७४॥  
 इस अवसरपर भगवान् चन्द्रप्रभने पाँच दृढ़ मुष्टियोंसे जिन केशोंका लुञ्चन किया, उन्हें  
 इन्द्रने अन्तरङ्गमवित्तसे मणिमय भाजनमें रखकर क्षीर समुद्रमें प्रवाहित कर दिया ॥७५॥  
 फिर इन्द्र आदि सभी देवोंने वहाँपर दीक्षा कल्याणकका महान् उत्सव मनाया, जिसकी सुन्दरता-

१. म प्रापयदर्थ । २. आ इ निधने । ३. = कस्याणम् । ४. = महोद्यायेन । उद्यायः उत्सवः ।  
 ५. आ लुट् । ६. = येन । ७. आ उत्पूजितान् । ८. सा गुणानुरागेण ।

प्रविधाय तत्र पटुबाधनिनदरमणीयमुत्सवम् ।

क्षोभितसकलमहोत्सवप्रययुः पुनः सुरगणा यथाययम् ॥६॥

अथ सोमदत्तनृवरस्य<sup>१</sup> नलिनपुरपालिनो गृहे ।

पञ्च वसुनिपतनप्रभृतीन्त्यकृताद्भुतानि स गृहीतपारणः ॥७॥

प्रशमादिभिः स चतुरोऽपि चतुरमतिकर्जितैर्गुणैः ।

नाशमनयत कषायरिपुम्बिह्वरस्तपस्विजनधोमधामसु ॥८॥

न परीषदास्तमसहन्त धृतिकवचिनं प्रबाधितुम् ।

क्षुत्तुडबनिशयनप्रमुखा युधि संवृताङ्गमिव शत्रुपत्रिणः ॥९॥

॥७॥ प्रविधात्रेति । तत्र परिनिष्क्रमणकल्याणे । पटुबाधनिनदरमणीयं पटुना गंभीराणां बाधानां निनदेन रवेण रमणीयं मनोहरम् । क्षोभितसकलमहोत्सवप्रययुः स कलं महोत्सवप्रययुः भूमण्डलं येन तम् । उत्सवं संप्रभम् । प्रविधाय कृत्वा । सुरगणाः सुराणां देवानां गणा निबन्धाः । यथा तथा [ यथाययम् ] । स्वर्गम् । प्रययुः प्रजम् । अतिशयः ॥७॥ अथेति । अथ देवमनानन्तरम् । नलिनपुरपालिनः नलिनारूप-पुररक्षकस्य । सोमदत्तनृवरस्य ( सोमदत्तनृवरस्य ) सोमदत्तस्य सोमदत्ताख्यस्य नृप ( नृ ) वरस्य नरपस्य । गृहे घटने । गृहीतपारणः<sup>२</sup> स्वीकृतपारणायुतः । सः चन्द्रप्रभमुनिः । वसुनिपतनप्रभृतीनि वसूनां रत्नानां निपतनं प्रभृतिगुणैः तानि । पञ्च पञ्चसंख्यानि । अद्भुतानि आश्चर्याणि । अकृत करोति स्म । लङ् ॥७॥ प्रशमादिभिरिति । चतुरमतिः मनःपर्ययज्ञानो । सः चन्द्रप्रभमुनिः । तपस्विजनयोग्यधामसु तपस्विजनानां मुनिजनानां योग्येषु उचितेषु धामसु स्थानेषु । बिह्वरन् संवरन् । ऊर्जितैः समर्थैः<sup>३</sup> । प्रशमादिभिः प्रशम उत्तमधामा<sup>४</sup> आदिष्वेता तैः । गुणैः । चतुरोऽपि श्रीकोऽपि । कषायरिपून् कषायघ्नान् । नाशं विनाशम् । अनयत प्रापयति स्म । णोञ् प्रापणे लङ् ॥८॥ नेति । क्षुत्तुडबनिशयनप्रमुखाः क्षुत् बुभुक्षा तुदृ पिपासा अविनिशयनं क्षुब्धं च अविनिशयनं च तानि प्रमुखानि मुखानि येषां ते । परीषदाः<sup>५</sup> । धृतिकवचिनं धृतिरेव वैयमेव<sup>६</sup> कवचिनं कवचमुत्तम् । तं चन्द्रप्रभम् । शत्रुपत्रिणः शत्रुणा प्रयोक्त्रिताः पत्रिणो बाणाः । 'पत्रिणौ शरपत्रिणौ' इत्यमरः । युधि संग्रामे । संवृताङ्गमिव संवृतं कवचितमङ्गं शरीरं यस्य तमिव । प्रबाधितुं

में सुन्दर बाजोंकी ध्वनिने चार चांद लगा दिये, और जिसने सारे भूमण्डलको प्रभावित कर दिया । इसके बाद वे देव लोग अपने-अपने स्थानमें चले गये ॥७॥ उपवास समाप्त होने-पर भगवान् ने नलिनपुरके पालन करनेवाले राजा सोमदत्तके घर पारणा की, जिससे उसके यहाँ रत्नवृष्टि आदि पाँच आश्चर्य प्रकट हुए ॥७॥ यों भगवान् चन्द्रप्रभ स्वभावतः चतुर थे फिर भी उन्हें चतुर्थ ज्ञान-मनःपर्यय और प्राप्त हो गया । उन्होंने क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच इन समृद्ध गुणोंसे क्रोध, मान, माया और लोभ इन अल्पन्तर शत्रुओंको नष्ट कर दिया । वे साधुओंके योग्य स्थानोंमें विहार किया करते थे ॥८॥ उन्होंने धैर्यरूपी कवच धारण कर लिया था, इसलिए भूख, व्यास और भूमिशयन आदि परीषदें उन्हें बाधा नहीं पहुँचा सकीं । जैसे युद्धमें जो कवच पहने रहता है, उसे शत्रुओंके बाण बाधा नहीं पहुँचा सकते ॥९॥ आगमोक्त

१. आ इ "निनद" । २. अ "नृवरस्य" । ३. = यथायोग्यम् । ४. = स्वीकृतपारण । ५. श लुङ् । ६. श 'समर्थः' इति नास्ति । ७. श 'क्षमा' इति नास्ति । ८. = वेदनाविधेयः । ९. = कवचं यस्य तम्, अतिधीरमिति यावत् ।



अपरापरैः स समुपेत्य समयगततत्त्वगोचरम् ।  
 संशयमलमपहस्तयितुं प्रतिवासरं मुनिजनैरसेष्यत ॥८०॥  
 प्रकृतीर्नर्थस्तनुतरत्वमतनुतपसा स कर्मणाम् ।  
 तत्र पुनरपि जगाम वने समपादि यत्र निजमेव वीक्षणम् ॥८१॥  
 मुनिभिः स्थितः सह समेत्य तलभुवि स नागशाखिनः ।  
 ध्यानमतुलमवलम्ब्य सितं हतपातिकर्मरिपुराप केवलम् ॥८२॥  
 तस्मिन्काले सह परिजनैश्चैवराजेन गत्वा शक्रादेशात्समवसरणं निर्ममे तस्य भर्तुः ।  
 जैनाद्यात्समवसरणाद्योजनार्थार्धहाम्ना सार्धान्वष्टौ यदनुगदितं योजनान्यागमनैः ॥८३॥

पीडितुम् । नासह्यत समर्था न भवन्ति स्म । उपमा ॥७९॥ अपरेति । स. मुनिः । समयगततत्त्वगोचरं समयं परमागमं गतानि तत्त्वानि औषादिद्रव्याणि तान्येव गोचरो यस्य तत् । संशयमलं संशयमेव मलम् । अपहस्तयितुं निराकर्तुम् । अपरापरैः अन्यैः । मुनिजनैः योगिजनैः । प्रतिवासरं प्रतिदिनम् । असेष्यत आराध्यते स्म । सेवृद्धं सेवने कर्मणि लङ् ॥८०॥ प्रकृतीरिति<sup>१</sup> । यत्र सकलत्वस्थि । वने उद्याने । निजमेव स्वकीयमेव । वीक्षणं<sup>२</sup> परिनिष्क्रमणम् । समपादि आयते स्म । यदि गतो लुङ् । कर्मणा<sup>३</sup> पापानाम् । प्रकृतौः स्वभावान् । अतनुतपसा अतनुना महता तपसा तपश्चरणेन । अतनुतरत्वम् अतिक्रान्त्वम् । नयन् प्रापयन् । सः चन्द्रप्रभ-मुनिः । पुनरपि पश्चादपि । तत्र वने<sup>४</sup> । जगाम ययौ । लिट् ॥८१॥ मुनिभिरिति । मुनिभिः यतिभिः । सह साकम् । समेत्य गत्वा । नागशाखिनः नागवृक्षस्य । तलभुवि तलक्षितौ । स्थितः आसितः । सः मुनिः । अनुलम् असदृशम्, सादृश्यरहितमिति भावः । सितं शुक्लाख्यम् । ध्यानम्<sup>५</sup> एकाग्रचित्तनम् । अवलम्ब्य आश्रित्य । हत-पातिकर्मरिपुं हनो औषाद् विरलेषितो घातिकर्मणिषेधरिपुर्वेन स । केवलं नवकेवललम्बिचम् । आप ययौ । आप्लुभ्याती लिट् । रूपकम् ॥८२॥ तस्मिन्निति । आद्यात् प्रथमात् । जैनात् जिनसंबन्धिनः । समवसरणात् समवसृतैः सकाशात् । योजनार्थाधहाम्ना योजनान्यायेनार्थेन हाम्ना ह्रीयमानक्रमेण । सार्धानि अर्धेन देहेन युतानि । षष्टौ अष्टसंख्यानि । योजनानीति । आगमनैः परमागमवैदिभिः । अनुगदितम् अनुकम् । यत् समवसरणं वृषभ-जिनैश्चरसमवसरणम् । द्वादशयोजनप्रमितम् । ततः परमजितादितोर्थकराणामर्थयोजनेन हीनमित्यर्थः । शक्रादेशात् देवेन्द्राज्या । तस्मिन् काले केवलज्ञानोत्पत्तिकाले । परिजनं सह परिवारदेवैः साकम् । यक्षराजेन

तत्त्वोंमें उत्पन्न हुए संशयको सर्वथा दूर करनेके लिए और-और मुनि लोग उनके पास प्रतिदिन आने लगे और उनकी आराधना करने लगे ॥८०॥ घोर तपश्चरणके द्वारा कर्मोंको प्रकृतियोंको क्षीण करते हुए वे पुनः उभी वनमें जा पहुँचे, जहाँ उन्होंने जिनदीक्षा ली थी ॥८१॥ उस 'सकलर्तु' नामक वनमें मुनियोंके साथ पहुँचकर वे नागवृक्षके नीचे आसन लगाकर बैठ गये, और फिर अनुपम शुक्ल ध्यानका अवलम्बन लेकर उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मोंको नष्ट करके केवल ज्ञान प्राप्त किया ॥८२॥ जिस समय केवलज्ञान हुआ, उसी समय इन्द्रके आदेशसे कुबेरने अपने परिजनके साथ भगवान् चन्द्रप्रभके पास जाकर उनके समवसरणकी रचना की । आगमके जाननेवाले विद्वानोंने भगवान् चन्द्रप्रभके समवसरणका प्रमाण साढ़े आठ योजन बतलाया है । प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ देवके समवसरणका प्रमाण बारह योजन था । उनके बाद अजित आदि तीर्थङ्करोंके समवसरणोंका प्रमाण आधा-आधा

१. = संशय एव मलो दीपस्थम् । २. त सेवृद्ध । ३. आ स प्रकृतिरिति । ४. = जिनदीक्षा । ५. = ज्ञानावरणादीनाम् । ६. स स्वचित्तकान्तर्गतः पादो पोषलभ्यते । ७. = साधुभिः । ८. = एकाग्र-चित्तानिरोधनम् ।

धूलीसालो बलयसदृशस्तस्य बभ्राम पाश्वे  
 मानस्तम्भाश्चतसृषु महाविष्णु तस्यान्तरस्थाः ।  
 चत्वार्यूर्ध्वं विकचकमलाम्भांसि तेभ्यः सरांसि  
 तेभ्यश्चोर्ध्वं विविधकुसुमा स्नातिका वारिपूर्णा<sup>१</sup> ॥८३॥  
 नानापुष्पा समनि ततः पुष्पवाटी विशाला  
 प्राकारोऽस्या विरचितचतुर्गोपुरोऽभ्यन्तराले ।  
 द्वाराद्द्वारात्परमुभयतो द्वे शुभे नाट्यशाले  
 चत्वार्यासन्नमरनिचितान्यूर्ध्वमाभ्यां वनानि ॥८४॥  
 चत्वारोऽर्चाश्चिरवपुषो यागवृक्षा वनेषु  
 तिष्ठन्तिद्यो मणिमय<sup>२</sup> तटैर्मण्डितास्तेषु वाप्यः ।  
 तत्रैवासम्बहुविधसभामण्डपाः क्रीडशैला  
 चारायश्चैरलिर्चतलतामण्डपैर्भ्रौजमानाः ॥८५॥

कुबेरेण । गत्वा प्राप्य । तस्य भर्तुः चन्द्रप्रभस्वामिनः । निर्ममे निर्मायते स्म । माहू माने कर्मणि लिट् ॥८३॥  
 धूलीति । तस्य समवसरणस्य । पाश्वे बाह्ये । बलयसदृशः बलयस्य कङ्कणस्य सदृशः समानः, परिधिरूप  
 इत्यर्थः । धूलीसालः धूलीमी रत्नमयरेणुभिर्हृत्पल्लितः सालः प्राकारः । बभ्राम परिवर्त्ते । भ्रम् चलने लिट् ।  
 तस्य धूलीसालस्य । अन्तरस्थाः अन्तर्भागे स्थिताः । चतसृषु चतुःसंख्याकासु । महावीर्येषु [महाविष्णु<sup>३</sup>]  
 महारथवासु । मानस्तम्भाः । विरेजः । तेभ्यः मानस्तम्भेभ्यः । ऊर्ध्वं परम् । विकचकमलाम्भांसि विकचै-  
 विकसितैः कमलैः सरसिजैर्युक्तमम्भो जलं येषां तानि । चत्वारि । सरांसि सरोवराः । मानस्तम्भस्य तस्य  
 चतुर्दिक्षु चत्वारि सरांसि । तेभ्यः सरोवरेभ्यः । ऊर्ध्वं पुरः । विविधकुसुमा विविधैर्नानाविधैः कुसुमैः पुष्पैः  
 सहिता । वारिपूर्णा वारिणा जलेन पूर्णा उम्भिता । स्नातिका परिष्ठा । समनि ॥८४॥ मानेति । ततः  
 उर्ध्वम् । विशाला विस्तीर्णा । नानापुष्पा नाना पुष्पाणि<sup>४</sup> विविधानि पुष्पाणि यस्यां सा । पुष्पवाटी पुष्पित-  
 वस्तीभूमिः । समवनि जायते स्म । अस्याः पुष्पवाटयाः । अभ्यन्तराले अन्तर्भागे । विरचितचतुर्गोपुरः  
 विरचितानि चत्वारि गोपुराणि द्वाराणि यस्य सः । प्राकारः प्रथमप्राकारः द्वाराद् द्वारात् परं तत् ऊर्ध्वम् ।  
 उभयतः उभयपाश्वे । शुभे शोभायुते । द्वे द्विसंख्ये । नाट्यशाले नर्तनशाले । आभ्यां नाट्यशालाभ्याम् ।  
 ऊर्ध्वं पुरः । अमरनिचितानि अमरैः सुरैर्निचितानि निमित्तानि । चत्वारि चतुःसंख्यानि । वनानि उपवनानि  
 वासन् अवचन् । असं भुवि लङ् ॥८५॥ चत्वार इति । वनेषु चतुर्वनेषु । अर्चाश्चिरवपुषः अर्चाभिः प्रतिविम्ब-

योजन कम था । इसीलिए आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभका समवसरण ऋषभदेवके समवसरणसे साढ़े  
 तीन योजन कम था ॥८३॥ समवसरणके चारों ओर बलययाकार—गोल, धूलीसाल—पाँच रंगके  
 रत्नोंकी धूलिसे बना हुआ प्राकार ( चहारदीवारी ) था, उसके अन्दर चारों दिशाओंमें चार  
 मानस्तम्भ थे, उनके आगे जलसे लबालब भरी हुई और नाना प्रकारके पुष्पोंसे विभूषित  
 परिष्ठा थी ॥८४॥ उसके आगे अनेक प्रकारके फूलोंसे अलंकृत विशाल फुलवाड़ी थी, उसका  
 चार दरवाजोंसे युक्त प्राकार था, उसके प्रत्येक दरवाजेके अन्दर दोनों भागोंमें दो-दो सुन्दर  
 नृत्यशालाएँ थीं, उनके आगे चार वन थे, जो देवोंसे व्याप्त थे ॥८५॥ उन वनोंमें जिनविम्बोंसे

१. क ख ग घ म वारिकर्णा । २. म 'मयतरे' । ३. क ख ग म 'रिभृवृत्तल' । ४. = चतुर्दिक्षु ।  
 ५. श नाना पुष्पाणि इति नास्ति । ६. = यस्मिन् । ७. श 'द्वारात्' इति नास्ति । ८. एष टोकाश्वयः  
 पाठः, प्रसिद्ध तु 'चत्वारोऽर्चा रचि' इत्येव समलोक्यते । अर्चाः प्रतिमाः ।

तेभ्योऽप्यूर्ध्वं मणिमयचतुस्तोरणा वेदिकाभू-  
 चस्या भागे<sup>१</sup> समजनि परे केतुपङ्क्तिर्विचित्रा ।  
 तस्याश्चोर्ध्वं मणिमयचतुर्गोपुरो हेमसालो  
 रभ्यं कल्पद्रुमवनमतोऽभूत्परस्मिन्विभागे ॥८७॥  
 तस्माज्जज्ञे पुनरपि चतुर्गोपुरा वज्रवेदी<sup>२</sup>  
 तस्या रेजुर्दश<sup>३</sup> दश पराण्युल्लसत्तोरणानि ।  
 तेषां स्तूपा नव नव बभूवमध्यदेशेषु सार्चाः<sup>४</sup>  
 तत्रैवास्तमुनिजनसभामण्डपास्तुङ्गशृङ्गाः ॥८८॥

स्तराणि मनोहराणि वपुष्यवयवा येषां ते । चत्वारः चतुःसंख्याः । यागवृक्षाः यागे<sup>१</sup> पूजाभिर्युक्ता वृक्षा, चैत्यवृक्षा इत्यर्थः । तेषु वनेषु । मणिमयतटं रत्ननिमित्ततटयुतैः । मण्डिताः भूषिताः । विस्. विस्म. त्रिशिसंख्या । वाप्यः सरासि । तत्रैव वनेष्वेव । धारायन्त्रेः जलप्रवाहयन्त्रेः । अलिवृतलतामण्डपं अलिभिर्भ्रमरैर्वृतव्यप्लि-  
 लतामण्डपैर्लतागृहैः । भ्राजमानाः विराजमानाः । जज्ञे [ विध ] तस्माज्जज्ञेः बहुविधास्थानमण्डपयता ।  
 क्रीडाशैलाः क्रीडापर्वताः । असन् अवभवन् । लङ् ॥८६॥ तेभ्य इति । तेभ्यः वनेभ्योऽपि । ऊर्ध्वं परः ।  
 मणिमयचतुस्तोरणा मणिमयानि रत्नमयानि चत्वारि तोरणानि बन्दनमाला यस्या सा । वेदिकाभू. वेदिका-  
 भूमिः । यस्याः वेदिकाभूमेः । अपरे अग्रे । भागे प्रदेशे । विचित्रा करिहरिवृषभादिचिह्नयुक्तवानानाविधा ।  
 केतुपङ्क्तिः केतूना ध्वजाना पङ्क्तिः राज्ञिः । समजनि समजायत । लङ् । तस्याः ध्वजपङ्क्तेश्च । ऊर्ध्वं पुर ।  
 मणिमयचतुर्गोपुरः मणिमयानि रत्ननिमित्तानि चत्वारि गोपुराणि द्वाराणि यस्य स । हेममालः हेम्ना कनकेन  
 निर्मितः सालः प्राकारः । अतः हेमसालान् । परस्मिन् उत्तस्मिन् । विभागे प्रदेशे । रभ्यं मनोहरम् ।  
 कल्पद्रुमवनं कल्पद्रुमाणा कल्पवृक्षाणां वनगृहानम् । अभूत् अवभवत् । लङ् ॥८७॥ तस्मादिति । तस्मात् कल्प-  
 द्रुमवनात् । पुनरपि पश्चादपि । चतुर्गोपुरा चतुर्भिर्गोपुरैः सहिता । वज्रवेदी वज्रमयवेदिका । जज्ञे जायते  
 स्म । जित् । तस्याः वज्रवेदिकायाः । पराणि पुरो<sup>२</sup> वर्तमानानि । दशदश दशदशप्रमितानि । उल्लसत्तोरणानि  
 उल्लसन्ति विराजमानानि तोरणानि बन्दनमालाः । रेजुः भान्ति स्म । राज्ञो दोषी लिट् । तेषां तोरणानाम् ।  
 मध्यदेशेषु अन्तरालदेशेषु । सार्चाः जिनविम्बसहिताः । नव नव स्तूपा । बभूवः भाति स्म । आ दोषी लिट् ।  
 तत्रैव संगीतभूम्याम् । तुङ्गशृङ्गाः तुङ्गान्युसतानि शृङ्गाणि शिखराणि येषां ते । मुनिजनसभामण्डपा

विराजित चार चैत्यवृक्ष थे, मणिनिर्मित तटोसे युक्त तीन-तीन वापिकाएँ थी, अनेक प्रकारके  
 सभामण्डप थे और ये क्रीडापर्वत, जो जलकी धारा बहानेवाले यन्त्रो तथा भीरोसे व्याप्त  
 लतामण्डपोसे विभूषित थे ॥८६॥ उन वनोंके आगे मणिरचित चार तोरणोंसे विभूषित वेदी  
 थी, उसके श्रेष्ठ मैदानमें विचित्र ध्वजाएँ एक पङ्क्तिमें लगी हुई थी, उस वेदीके आगे मणिमय  
 चार दरवाजोंसे मण्डित स्वर्ण-रचित प्राकार था, इससे आगे एक ओर कल्पवृक्षोका सुन्दर वन  
 था ॥८७॥ उस वनके आगे फिर एक चार गोपुरोंसे युक्त वज्रनिमित्त वेदी थी, उसके ऊपर  
 दश-दश जगमगाते हुए तोरण थे, उनके बीच-बीचमें नौ-नौ स्तूप थे, तथा बहोपर उन्नत

१. अ आ इ तस्या भा, म<sup>१</sup> यस्याभागे । २. क ख ग घ म हेमवेदी । ३. आ इ दशदिशि । ४. एष टाकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु 'सर्वे' इति दृश्यते । ५. श पूजादिभिः । ६. आ त्रिसंख्या । ७. = यस्मिन् ।  
 ८. आ पुरो ।

प्राकारोऽच्छस्फटिकघटितोऽभूत्पुरस्ताच्च तेभ्यः  
कोष्ठास्तस्य स्फुरितरुचयो द्वाद्धान्ते बभूवुः ।  
तेभ्यः स्थानं परमनुपमं गन्धकुटथाख्यमासी-  
ज्जज्ञे तत्र स्फुरदुदमणिभ्राजितं सिंहपीठम् ॥८६॥

तस्योपरि स्फुरितभासुररत्नरश्मेः  
स प्रातिहार्यपरिभूषितदिव्यमूर्तिः ।  
निर्बारवीर्यसुखबोधनिधिजिनेन्द्र-  
स्तत्त्वोपदेशकथनाभिमुखो बभूव ॥९०॥

तत्राद्या<sup>१</sup> मुनिभिः समं गणधराः कल्पस्त्रियः संयता<sup>२</sup>  
ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूस्त्रयास्ततो भावनाः ।

मुनिजनानां सभामण्डपा आस्थानमण्डपाः । आसन् अभवन् । लङ् ॥८८॥ प्राकार इति । तेभ्यः स्तूपेभ्यः । पुरस्तात् अग्रे । अच्छस्फटिकघटित अच्छेन निमलेन स्फटिकेन पटितः कुट । प्राकारः साल । अभूत् अभवत् । लृट् । तस्य स्फटिकप्राकारस्य । अन्ते । स्फुरितरुचयः स्फुरिता दीप्ता रुचिः कान्तियेषां ते । द्वाश्च द्वाभ्या-  
मधिका दश । 'द्वाष्टा—' इत्यादिना द्वा—आदेशः । कोष्ठाः बभूवुः कोष्ठा भवन्ति स्म । लिट् । तेभ्यः कोष्ठेभ्यः । परं परः<sup>३</sup> । तत् । अनुपमम् उपमातीतम् । गन्धकुटथाख्य गन्धकुटी आख्या अभिधानं यस्य तत्<sup>४</sup> । स्थानं प्रदेशः । आसीत् अभवत् । लङ् । तत्र गन्धकुटधाम् । स्फुरदुदमणिभ्राजितं स्फुरद्भिः प्रज्वलद्भिः रश्मि-  
मणिभ्राजितं विभासितम् । सिंहपीठं सिंहरूपलसितं<sup>५</sup> पीठं सिंहपीठम् । जज्ञे अजायत । लिट् । अतिशयः ॥८९॥ तस्येति । स्फुरितभासुररत्नरश्मेः स्फुरितः प्रज्ज्दो भामुराणां देदीप्यमानानां रत्नानां रश्मिः कान्ति-  
यस्य तस्य । तस्य सिंहपीठस्य । उपरि अग्रे । प्रातिहार्यपरिभूषितदिव्यमूर्तिः प्रातिहार्यरष्टमहाप्रातिहार्यैः  
परिभूषिता अलंकृता दिव्या परमोदारिकाख्या मूर्तिस्तनुयस्य सः । 'निर्बारवीर्यसुखबोधनिधिः निर्बाराणां  
निवारयितुमशक्यानां, वीर्यमनन्तवीर्यं तच्च, सुखमनन्तसुखं तच्च, [बोधः] बोधनं (अनन्तं) ज्ञानं तच्च, तथोक्ताः  
तेषां निधिः । स जिनेन्द्रः जिनेश्वरः । तत्त्वोपदेशकथनाभिमुखः तत्त्वानां जीवादितत्त्वानामुपदेशस्य प्रतिबोध-  
नस्य कथने निगदनेऽभिमुखः । बभूव<sup>६</sup> भवति स्म । लिट् । जातिः ॥९०॥ तत्रेति । तत्र कोष्ठेषु । मुनिभिः  
योगिभिः<sup>७</sup> । समं साकम् । गणधराः गणाधिपाः । आद्याः प्रथमाः । कल्पस्त्रियः<sup>८</sup> कल्पवनिताः । संयताः नरैः<sup>९</sup>

शिखरोसे युक्त मुनियोक्ते सभामण्डपे ॥८८॥ उन स्तूपोंके आगे स्वच्छ स्फटिक मणिनिर्मित प्राकार था, उसके अन्दर चमकती हुई कान्तिसे युक्त बारह कोठे थे, उनके आगे अनुपम गन्ध-  
कुटी नामका एक उत्कृष्ट स्थान था; उसमें जगमगाते हुए बड़े-बड़े मणियोंसे विभूषित सिंहासन था ॥८९॥ चारों ओर फैलेवाली, देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंसे विभूषित, उस सिंहासनके ऊपर वे जिनेन्द्र भगवान् चन्द्रप्रभ विराजमान हुए, जिनको दिव्य मूर्ति आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित थी, जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यकी निधि थे और तत्त्वोपदेश देनेके लिए सभीके लिए अभिमुख थे ॥९०॥ बारह कोठोंमें, क्रमशः मुनिराजोंके साथ गणधर, कल्पवासिनी देवियाँ, आधिकाएँ, ज्योतिष्क देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासिनी

१. क ख ग घ म दत्ताद्या । २. म सज्जिता । ३. = पुरः । ४. श 'गन्धकुटी आख्या अभिधानं यस्य तत्' इति नास्ति, 'गन्धकुटपभिधानम्' इत्यस्ति । ५. श 'लङ्' इति नास्ति । ६. श सिंहरूप-  
कल्पिदम् । ७. एष टीकाधयः पाठः, मूलप्रतिपुत्रु 'निर्बारवो' इत्यस्ति । ८. अयमपि टीकाधयः पाठः. मूलप्रतिपु-  
त्रु 'उन्नतस्त्रे' इति दृश्यते । ९. आ यतिभिः । १०. आ स्वर्गव । ११. श 'नरस्त्रियः' इति नास्ति ।

वन्ध्या ज्योतिषकल्पजाश्च विबुधाः स्वस्योदयाकाङ्क्षिण-  
स्तस्युर्द्धादशसु प्रदक्षिणममी कोष्ठेषु मर्त्या मृगाः ॥६१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

स्त्रियः आयिकाः । ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूसङ्घाः ज्योतिषा ज्योतिष्काणां व्यन्तराणां वन्ध्यानां भावना-  
नाममराणां देवानां वधूनां वनितानां सङ्घा समूहाः । ततः परम् । भावनाः भवनवासिकदेवाः । वन्ध्याः  
व्यन्तरदेवाः ज्योतिषकल्पजाः ज्योतिषा ज्योतिष्कदेवाः कल्पजाः कल्पवासिकाश्च । विबुधाः देवाः । मर्त्याः  
मनुष्याः । मृगाः सिंहादयो मृगाः । स्वस्य आत्मनः । उदय [या] काक्षिणः उदयमभ्युदयं [यमा] काक्षन्तीत्ये-  
वंशीलाः । अमी एते । द्वादशसु द्वादशप्रमितेषु । कोष्ठेषु । प्रदक्षिणं प्रदक्षिणं यथा तथा । तस्युः तिष्ठन्ति  
स्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । यवासंस्थालंकारः ॥११॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं  
च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु ये सभी  
अपने-अपने अभ्युदयकी कामना करनेवाले जीव, भगवान् चन्द्रप्रभके चारों ओर ऐसे ढंगसे बैठे  
हुए थे जैसे परिक्रमा देते हैं ॥११॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दिविरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रम चरित महाकाव्यमें  
सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७॥

## [ १८. अष्टादशः सर्गः ]

सर्वभाषास्वभावेन ध्वनिनाथ जगद्गुरुः ।  
जगाद् गणिनः प्रस्तादिति तत्त्वं जिनेश्वरः ॥१॥  
जीवाजीवास्त्रया बन्धसंहरावध निर्जरा ।  
मोक्षश्चेति जिनेन्द्राणां सप्त तत्त्वानि शासने ॥२॥  
बन्ध एव प्रविष्टत्वाद्गुक्तिः पुण्यपापयोः ।  
तयोः पृथक्त्वपक्षे च पदार्था नव कीर्तिताः ॥३॥  
चेतनालक्षणो जीवः कर्ता भोक्ता स्वकर्मणाम् ।  
स्थितः शरीरमानेन स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥४॥

विज्ञाय पीठचलनाज्जिनजन्म जिष्णुरागत्य मातृसदनं च शशोसमेतः ।

आरोपयन् जिनशिशुं करिमस्तकाग्रे मेघं निनाय सुरबर्त्मपया समोदः ॥

सर्वेति । अथ उपदेशमिमुक्षानन्तरम् । जगद्गुरुः जगता गुरुः । जिनेश्वरः जिनेश्वरः । गणिनः । प्रस्तात्<sup>१</sup> प्रार्थनायाः । सर्वभाषास्वभावेन सर्वाः समस्ता भाषा एव स्वभावो यस्य तेन । तदुक्तम्—‘गंभीरं मधुरं मनोहतरं दोषव्यपेतं हितं<sup>२</sup>, कण्ठोद्गादिबध्नीमित्ररहितं नो वातरोधोद्गातम् । स्पष्टं तत्तदभीष्ट-वस्तुकथनं निःशेषभाषात्मकं, दूरास्तक्षसमं समं निरूप्यं जैनं बन्धः पातु नः ॥’ इति । ध्वनिना दिव्य-ध्वनिना । दात् (?) । तत्त्वं जीवादितत्त्वम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । जगाद् इतीति स्म । लिट् । आतिः ॥ १ ॥ जीवेति । अथ अनन्तरम् । जिनेन्द्राणां जिनेश्वराणाम् । शासने स्याद्वादशासने । जीवाजीवास्त्रयाः जीवो जीवतत्त्वम्, अजीवतत्त्वम् आस्रवतत्त्वं च । बन्धसंहरा बन्धद्वय बन्धतत्त्वं च संवरद्वय संवरतत्त्वं च । निर्जरा निर्जरातत्त्वं च । मोक्षश्चेति मोक्षतत्त्वमिति । तत्त्वानि सप्तविधानि । भवन्ति ॥ २ ॥ बन्ध इति । पुण्यपापयोः पुण्यपदार्थपापपदार्थयोः । बन्ध एव बन्धतत्त्व एव । प्रविष्टत्वात् अन्तर्भूतत्वात् । अनुक्तिः पुण्य-ज्वारणं नास्त्येत्यर्थः । तयोः पुण्यपापद्वयोः । पृथक्त्वपक्षे च भिन्नत्वपक्षाज्जीकारे । नव नवसंख्याः । पदार्थाः नवपदार्था इति । कीर्तिताः प्रोक्ताः ॥ ३ ॥ चेतनेति । चेतनालक्षणः चेतयति ज्ञाने(न) जानाति दशबेध पश्यतीति चेतना, तैव लक्षणमसाधारणं स्वरूपं यस्य सः । स्वकर्मणा स्वस्य कर्मणां शुभाशुभकृष्णाम् । कर्ता विधाता । भोक्ता कर्मफलानां भोक्ता अनुभवता । शरीरमानेन स्वीकृतदेहप्रमाणेन । स्थितः आसितः । स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः स्थितिर्ब्रह्मं ( ध्रुव्यं ) सा च व्युत्पत्तिर्जननं सा च व्ययो विनाशः स च, तथोक्ताः,

इसके पश्चात् जगद्गुरु जिनेश्वर भगवान् बन्धप्रसक्तो स्वभावतः सभी भाषाओंमें परिणत होनेवाली दिव्यध्वनि, गणधरके प्रश्नके अनुसार खिरो, जिसमें जीवादि तत्त्वोंका इस प्रकार-से निरूपण किया गया था—॥१॥ जिन शासनमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व बतलाये गये हैं ॥२॥ बन्धमें गमित होनेके कारण पुण्य और पापकी अलगसे नहीं कहा गया है । यदि पुण्य और पापकी अलग कहा जाय तो नौ पदार्थ हो जाते हैं—जीवादि सात और पुण्य-पाप दो । आगममें नौ पदार्थोंकी भी चर्चा की गई है ॥३॥ जीवका लक्षण चेतना है । वह शुभ एवं अशुभ कर्मोंका कर्ता है, अपने किये हुए कर्मोंके फलका भोक्ता है, देह-परिणामो है—जिस देहको वह प्राप्त करता है, उसीके बराबर होकर उसमें

भव्यामव्यप्रभेदेन द्विप्रकारोऽप्यसौ पुनः ।  
 नरकादिगतेर्भेदाच्चतुर्धा भेदमश्नुते ॥५॥  
 सप्तधा पृथिवीभेदाभारकोऽपि प्रभिद्यते ।  
 अधोलोकस्थिताः सप्त पृथिव्यः परिकीर्तिताः ॥६॥  
 आद्या रत्नप्रभा नाम<sup>१</sup> द्वितीया शर्कराप्रभा ।  
 सिकतादिप्रभान्या च<sup>२</sup> परा पङ्कप्रभा मता ॥७॥  
 धूमप्रभा ततो ज्ञेया परा तस्यास्तमःप्रभा ।  
 महातमःप्रभा चेति तासां नामान्यनुक्रमान्<sup>३</sup> ॥८॥  
 प्रथमायां पृथिव्यां ये नारकास्तेषु कीर्तिताः ।  
 उत्सेधः सप्त चापानि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलाः ॥९॥  
 द्विगुणो द्विगुणोऽन्यासु पृथिवीषु यथाक्रमम् ।  
 द्वितीयादिषु विज्ञेयो यावत्पञ्चधनुःशतो<sup>४</sup> ॥१०॥

त एवाद्या स्ववर्णं यस्य स ॥ ४ ॥ भवेति । असौ अथम् । जीवः । पुन पञ्चात् । भव्यामव्यप्रभेदेन भव्यामव्ययो — रत्नप्रभाविभवन्योग्यो भव्यः, इतरोऽभव्यः तयोर्भेदेन । द्विप्रकारोऽपि द्वौ प्रकारौ यस्य सः । नरकादिगतेः नरकप्रभृतिगतेः । भेदात् भेदरूपात् । चतुर्धा । भेदं भेदरूपम् । अश्नुते व्याप्नोति । अक्षौड् व्याप्तौ लट् ॥ ५ ॥ सप्तधेति । नारकोऽपि नरकगतजीवोऽपि । पृथिवीभेदान् पृथिवीनां रत्नप्रभादिमप्यभूमीनां भेदात् । सप्तधा सप्तभिः प्रकारैः । प्रभिद्यते भदं कियते । अधोलोकस्थिताः अधोलोकेऽधोमुखे स्थिता आसिताः । पृथिव्य भूमयः । सप्तेति सप्तसंख्या इति । परिकीर्तिताः प्रोक्ताः ॥ ६ ॥ आद्येति । आद्या प्रथमा । रत्नप्रभा रत्नप्रभाख्या । नाम निश्चयेन । द्वितीया द्वयोः पूरणा । शर्कराप्रभा । अस्या परा तृतीया इत्यर्थः । सिकतादिप्रभा च सिकतादीनाम् । मा, मा चामो प्रभा च तयोनां बालुकाप्रभेयर्थः । परा चतुर्थी । पङ्कप्रभा पङ्कप्रभेति । मता अङ्गीकृता ॥ ७ ॥ धूमेति । ततः पञ्चात् । धूमप्रभा पञ्चमी धूमप्रभा । ज्ञेया ज्ञातव्या । तस्याः पञ्चम्याः सकाशात् । परा अन्या, षष्ठी इत्यर्थः । तमःप्रभा । महातमः— प्रभा चेति सप्तमी महातमःप्रभा इति । अनुक्रमान् परिपाट्याः । तासां सप्तमीनाम् (?) । नामानि नामधेयानि । भवन्ति ॥ ८ ॥ प्रथमेति । प्रथमायाम् आद्यायाम् । पृथिव्या भूम्याम् । ये नारकाः नरकगतिपर्याय-जीवाः । कीर्तिताः प्रोक्ताः । तेषु नारकजीवेषु । उत्सेधः वैहोन्नति । सप्त । चापानि धनुर्नृप । त्रयः । हस्ताः अरत्नयः । षडङ्गुलाः षट् च ता अङ्गुलयश्च । 'संख्याभ्ययाऽङ्गुलेः' इति उपसर्गः ॥ ९ ॥ द्विगुणेति । द्वितीयादिषु द्वितीया आदिपदांसां तामु । अन्यासु पृथिवीषु भूमिषु । यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य । तस्य द्विगुण-द्विगुणः द्वौ गुणौ यस्य सः । विज्ञेय वेदितव्यः । यावत् यावत्पर्यन्तम् । पञ्चधनुःशतो पञ्चानां धनुःशतानां

स्थित द्वौ जाता है और उत्पाद, व्यय, व ध्रौव्यात्मक है ॥४॥ यह भव्य और अभव्यके भेदसे दो प्रकारका है फिर भी नरक आदि चार गतियोंके भेदकी अपेक्षासे चार प्रकारका है ॥५॥ नरक गतिके जीव सात भूमियोंके भेदकी दृष्टिसे सात प्रकारके होते हैं । अधोलोकमें सात पृथिवियां बतलायी गयी हैं ॥६॥ (१) रत्नप्रभा, (२) शर्करा प्रभा, (३) बालुकाप्रभा, (४) पङ्क प्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा और (७) महातमःप्रभा—ये उन पृथिवियोंके क्रमशः सात नाम हैं ॥७-८॥ पहली पृथिवीमें जो नारकी बतलाये गये हैं, उनके शरीरकी ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है ॥९॥ द्वितीय आदि अन्य पृथिवियोंमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई क्रमशः दूनी-दूनी जाननी चाहिए । इसी हिसाबसे सातवी पृथिवीके नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई

१. अ नरकोऽपि । २. अ नाम्नी । ३. आ इ क ख ग घ ङदिप्रभा चान्या । ४. क ख ग घ म न्यनुक्रमम् । ५. क ख ग घ म षधनुःशतोम् । ६. श आशाब् । ७. श तस्य द्विगुणः-द्वौ गुणौ यस्य सः ।

एकत्रयस्ततः सप्त दश सप्तदश क्रमात् ।  
 द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशत्सासु स्युः सागरोपमाः ॥११॥  
 दशवर्षसहस्राणि जघन्यं प्रथमक्षितौ ।  
 द्वितीयाद्यौ जघन्यं तत्प्रथमादौ यदुत्तमम् ॥१२॥  
 त्रिंशत्परकलक्षाणि प्रथमायां ततः परम् ।  
 पञ्चविंशतिरुद्दिष्टास्ततः पञ्चदश क्रमात् ॥१३॥  
 दश त्रीणि ततो हीनं पञ्चमिलक्षमीरितम्<sup>१</sup> ।  
 ततः पञ्चैव नरकाश्चरमायां प्रकीर्तिताः ॥१४॥  
 बह्वारम्भादिर्संभूतैः पापैः परवशीकृताः ।  
 तत्र जीवाः प्रपद्यन्ते दुःख भूत्वोपपादिकाः ॥१५॥

समाहारः ॥१०॥ एक इति । तासु सप्तभूमिषु । आयुः आयुष्यम् । क्रमात् परिपाटयाः । एकः सागरोपमः ।  
 त्रयः त्रिसागरोपमाः । ततः पञ्चात् । सप्तसप्तसागरोपमः । दश दशसागरोपमाः । सप्तदश सप्तदश-  
 सागरोपमाः । द्वाविंशतिः द्वाविंशतिसागरोपमाः । त्रयस्त्रिंशत् त्रिभिरधिका त्रिंशत् सागरोपमाः । स्युः  
 ॥११॥ दशेति । प्रथमक्षितौ प्रथमायामाद्यायां क्षितौ भूमौ । जघन्यं जघन्यायुष्यम् । दश दशप्रमितानि ।  
 वर्षसहस्राणि वर्गणां सप्तसराणां सहस्राणि । भवेत् । प्रथमादौ रत्नप्रमादौ । यत् । उत्तमम् उत्कृष्टायुष्यम् ।  
 स्यात् । तत् । द्वितीयाद्यौ शर्कराप्रमादौ । जघन्यं हीनयुष्यम् । भवेत् । प्रथमक्षितौ उत्तमायुष्यमेकसागरः,  
 स एव द्वितीयक्षितौ जघन्यायुष्यम् । द्वितीयक्षितौ त्रिसागरोपमम्, तदेव तृतीयक्षितौ जघन्यायुष्यं भवेत्,  
 एवं सर्वत्र योज्यम् ॥१२॥ त्रिंशदिनि । प्रथमाया प्रथमभूमौ । नरकलक्षाणि नरकाणां लक्षाणि दश  
 (शत) सहस्राणि । त्रिंशत् । ततः तस्याः । परं पुरः । पञ्चविंशतिः पञ्चविंशतिनरकलक्षाणि । उद्दिष्टाः  
 प्रोक्ताः । [ ततः ] पञ्चदश पञ्चदशलक्षाणि । क्रमात् क्रमतः ॥१३॥ दशेति । ततः परम् । दश  
 दशलक्षाणि । ततः परम् । त्रीणि त्रिलक्षाणि । पञ्चभिः पञ्चविलैः रहितम् । लक्षम् एकलक्षम् । ईरितं  
 निगदितम् । ततः परम् । चरमायां सप्तम्यां क्षितौ । नरकाः नरकबिलानि । पञ्चैव । प्रकीर्तिताः निगदिताः  
 ॥१४॥ बह्विंशे<sup>२</sup> । तत्र नरकेषु । बह्वारम्भादिर्बहुवारम्भपरिग्रहहिंसादिभिः<sup>३</sup> संभूतैः  
 संजातैः । पापैः अनुभवमभिः । परवशीकृताः परवशं गताः । जीवाः प्राणिनः । उपपादिकाः उपपादैषु

पाँच सो धनुष है ॥१०॥ उन सातों पृथिवियोंमें नारकियोंकी आयु क्रमशः एक, तीन, सात,  
 दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागर प्रमाण है ॥११॥ प्रथम पृथिवीमें नारकियोंकी जघन्य  
 आयु दस हजार वर्ष है, दूसरी पृथिवीमें जघन्य आयु बड़ी है जो प्रथम पृथिवीमें उत्कृष्ट आयु  
 है । इसी क्रमसे सातवीं पृथिवी तकके नारकियोंकी जघन्य आयु समझ लेनी चाहिए—पूर्व  
 पृथिवीके नारकियोंको जो उत्कृष्ट आयु है वही उससे अगली पृथिवीके नारकियोंकी जघन्य आयु  
 जाननी चाहिए ॥१२॥ पहली पृथिवीमें तीस लाख नरक (नारकियोंके बिल), दूसरीमें पञ्चीस  
 लाख और तीसरीमें पन्द्रह लाख हैं ॥१३॥ चौथीमें दस लाख, पाँचवींमें तीन लाख, छठीमें  
 पाँच कम एक लाख और अन्तिम अर्थात् सातवींमें केवल पाँच ही हैं ॥१४॥ बहुत आरम्भ और  
 परिग्रह आदिके निमित्तसे किये गये पापोंसे विवश होकर जीव उपपाद जन्म धारण करके उन



इति नारकभेदेन कृता जीवस्य वर्णना ।  
 तिर्यग्गतिकृतो भेदः सांप्रतं वर्णयिष्यते ॥१६॥  
 त्रसस्थावरभेदेन तिर्यग्जीवो द्विधा स्मृतः ।  
 तत्र द्वीन्द्रियमारभ्य त्रसः पञ्चेन्द्रियावधि ॥१७॥  
 स्थावराः कायभेदेन पञ्चधा परिकीर्तिताः ।  
 पृथिवीकायिकाः केचित्केचिदुष्कायिकाः स्मृताः ॥१८॥  
 तेजःकायभृतः केचिदपरे वायुकायिकाः ।  
 स्युर्वनस्पतिकायाश्च सर्वेऽप्येकेन्द्रियाः स्मृताः ॥१९॥  
 सहस्रं मानमुत्कर्षाद्योजनानां प्रकीर्तितम् ।  
 पञ्चेन्द्रियशरीरस्य तदेवैकेन्द्रियेऽधिकम् ॥२०॥  
 द्वीन्द्रिये द्वादशैव स्युर्योजनानि यथागमम् ।  
 त्रिकोशं त्रीन्द्रिये प्रोक्तं योजनं चतुरिन्द्रिये ॥२१॥

जाताः<sup>१</sup> । भूत्वा जनित्वा । दुःखं क्षेत्रजनितानि<sup>२</sup> दुःखम् । प्रपद्यन्ते प्राप्नुवन्ति । लट् ॥१५॥ इतीति । इति  
 उक्तप्रकारेण । नारकभेदेन नारकाणां नरकजनितामां जीवानां प्रभेदेन प्रकारेण । जीवस्य जीवतत्त्वस्य ।  
 वर्णना कीर्तना । कृता विहिता । साम्प्रतम् इदानीम् । तिर्यग्गतिकृतः तिर्यग्गत्या कृतो विहितः । भेदः  
 प्रकारः । वर्णयिष्यते । वर्णं वर्णनक्रियायां<sup>३</sup> लट् ॥१६॥ त्रसैति<sup>४</sup> । तिर्यग्जीवः तिर्यग्गतितमजीव त्रसस्थावर-  
 भेदेन त्रसजीवस्थावरजीवयोर्भेदेन विकल्पेन । द्विधा । स्मृतः ज्ञातः । तत्र त्रसस्थावरयोर्मध्ये । द्वीन्द्रियं द्वीन्द्रिय-  
 जीवम् । आरभ्य प्रारभ्य । पञ्चेन्द्रियावधिः पञ्चेन्द्रिय एवावधिरवसानो यस्य स<sup>५</sup> । त्रसः त्रसजीव इति  
 ज्ञातव्यः ॥१७॥ स्थावरा इति । स्थावराः स्थावरजीवाः कायभेदेन कायानां देहानां भेदेन विकल्पेन । पञ्चधा  
 पञ्चप्रकारैः । परिकीर्तिताः परिभाषिताः । केचित् । पृथिवीकायिकाः पृथिवीकायिकजीवाः<sup>६</sup> । केचित् एके ।  
 अष्कायिकाः अष्कायिकजीवाः । स्मृताः ज्ञाताः ॥१८॥ तेज इति । केचित् एके । तेजस्कायभृतः तेजोऽग्निः स  
 एव कायः तं विभ्रतोति तेजस्कायिकजीवाः । अपरे केचित् । वायुकायिकाः वातकायिकजीवाः । केचित् ।  
 वनस्पतिकायिकाः वनस्पतिकायिकजीवाः । स्युः मध्येयुः । सर्वेऽपि एते सर्वेऽपि । एकेन्द्रिया इति एकमिन्द्रियं  
 येषां ते । स्मृताः ज्ञाताः ॥१९॥ सहस्रमिति । पञ्चेन्द्रियशरीरस्य पञ्चेन्द्रियस्य पञ्चेन्द्रियजीवस्य शरीरस्य-  
 देहस्य । उत्कर्षात् उत्कृष्टात् । योजनानाम् । सहस्रं दशशतम् । मानम् उत्सवप्रमाणम् । प्रकीर्तितं प्रोक्तम् ।  
 तदेव योजनानां सहस्रमेव । एकेन्द्रिये जीवे । अधिकम् उत्कृष्टमिति प्रकीर्तितम् ॥२०॥ द्वीन्द्रिय इति । द्वीन्द्रिये

नरकोंमें दुःख उठाते हैं ॥१५॥ इस प्रकार नारकियोंके भेदकी दृष्टिसे जीवोका वर्णन किया ।  
 अब तिर्यग्गतिकी अपेक्षासे जीवोंके भेदोंका वर्णन किया जायगा ॥१६॥ त्रस और स्थावरके  
 भेदसे तिर्यञ्च जीव दो प्रकारके होते हैं । उनमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय  
 जीव त्रस कहलाते हैं ॥१७॥ काय भेदकी दृष्टिसे स्थावर जीव पाँच प्रकारके कहे गये हैं—  
 कोई जीव पृथिवीकायिक होते हैं, कोई जलकायिक होते हैं ॥१८॥ कोई तेजस्कायिक होते हैं,  
 कोई वायुकायिक होते हैं और कोई वनस्पतिकायिक होते हैं । ये सभी जीव एकेन्द्रिय होते हैं ॥१९॥  
 पञ्चेन्द्रिय जीवके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण एक हजार योजन है और एकेन्द्रिय  
 जीवकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन है ॥२०॥ द्वीन्द्रिय जीवके

१. श 'जाता.' इति नास्ति । २. श क्षेत्रजनितानि । ३. आ वर्णक्रियायां । ४. श त्रसैति ।  
 ५. श जातः । ६. श 'कायिका जीवाः । ७. = योजनसहस्रतोऽपि किंचिदधिकम् ।

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमिन्द्रियम् ।  
 वर्धनीयं क्रमादेनेष्वेकैकं द्वीन्द्रियादिषु ॥२२॥  
 संवत्सरसहस्राणि द्वाविंशतिरुदाहृतम् ।  
 पृथिवीकायिकेष्वायुस्त्वर्क्येण जिनागमे ॥२३॥  
 ताम्यप्कायिषु सप्त स्युस्त्रीणि मारुतकायिषु ।  
 वनस्पतौ दशोक्तानि तेजःकायिष्वहस्त्रयम् ॥२४॥  
 वर्षाणि द्वादशैवायुर्द्वीन्द्रियाणां प्रकीर्तितम् ।  
 दिनान्येकोनपञ्चाशत्त्रोन्द्रियेषु शरीरिषु ॥२५॥  
 षण्मासप्रमितं प्रोक्तं चतुरिन्द्रियदेहिषु ।  
 पञ्चेन्द्रियेषु पृष्ठाणां कोट्येका परिकीर्तिता ॥२६॥

द्वीन्द्रियजीवे । यथागमम् आगममनतिक्रम्य । योजनानि । द्वादशैव द्वाभ्यामधिकानि दश द्वादश तान्येव । स्युः भवेयुः । असं भुवि लिङ् । श्रोत्रिये त्रीन्द्रियजीवे । त्रिकोशं त्रयाणां कोशानां समाहारः त्रिकोशम् । चतुरिन्द्रिये चतुरिन्द्रियजीवे । योजनम् एकयोजनम् । प्रोक्तं निर्गदितम् ॥२२॥ स्पर्शनमिति । स्पर्शनं स्पर्शनमिति । रसनं रसनमिति । घ्राणं घ्राणमिति । चक्षुः चक्षुरिति । श्रोत्रं श्रोत्रमिति । इन्द्रियं भवेत् । द्वीन्द्रियादिषु द्वीन्द्रियादिजीवेषु । एतेषु उत्सेधोक्तेषु । क्रमात् क्रमेण । एकैकम् । बोध्याया द्विः । वर्धनीयम्<sup>१</sup> ऐधित्यम् ॥२३॥ संवत्सरेति । जिनागमे जिनशासने । पृथिवीकायिकेषु पृथिवीकायिकजीवेषु । उत्कर्षेण<sup>२</sup> उ-कृष्टेन । आयुः आयुष्यम् । द्वाविंशतिः द्वाभ्यामधिका विंशतिस्तथोक्ता । संवत्सरसहस्राणि संवत्सराणां सहस्राणि दशगतानि । उदाहृतं निर्गदितम् ॥२३॥ तानीति<sup>३</sup> । अष्कायिषु अष्कायिकेषु । सप्त सप्तवर्षसहस्राणि । मारुतकायिषु वायुकायिकेषु । त्रीणि त्रीणि वर्षसहस्राणि । वनस्पतौ वनस्पतिकायिके । दश दशवर्षसहस्राणि । तेजःकायिषु तेजस्कायिकेषु । अहस्त्रयं त्रीणि रात्रिन्द्रियानि । उत्कृष्टा स्थितिरिति शेषः ॥२४॥ वर्षेति । द्वीन्द्रियाणां द्वीन्द्रियजीवानाम् । द्वादशैव । वर्षाणि संवत्सराः । आयुः आयुष्यम् । प्रकीर्तितं प्रभाषितम् । त्रीन्द्रियेषु त्रीन्द्रिययुक्तेषु । शरीरिषु प्राणिषु । एकोनपञ्चाशत् एकरहिता पञ्चाशत् । दिनानि दिवसाः । प्रोक्तानि ॥२५॥ षण्मासेति । चतुरिन्द्रियदेहिषु चतुरिन्द्रियेषु देहिषु जीवेषु । षण्मासप्रमितं षण्मासप्रमितम् । आयुः । प्रोक्तं निर्गदितम् ।

शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण बारह योजन है, इससे अधिक नहीं, जैसा कि आगममें प्रतिपादित है । त्रीन्द्रिय जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण तीन कोश है और चतुरिन्द्रिय जीवके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण एक योजन है ॥२२॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं, इनमें-से क्रमसे एक-एक इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवोंमें बढ़ानी चाहिए । एकैन्द्रिय जीवोंमें केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है, द्वीन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन और रसना, त्रीन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना और घ्राण, चतुरिन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु तथा पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ॥२३॥ पृथिवीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु जिनागममें बाईस हजार वर्षकी बतलायी गयी है ॥२३॥ जलकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्षकी; वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्षकी, वनस्पतिकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु दश हजार वर्षकी और तेजस्कायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु केवल तीन दिनकी है ॥२४॥ द्वीन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्षकी और त्रीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु एक कम पचास दिनकी है ॥२५॥ चतुरिन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु छह

१. स ताम्यप्कायिषु । २. आ लेङ् । ३. आ वर्धनीयम् । ४. = प्रकर्षेण । ५. आ स अस्य पक्षस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ६. स त्रीन्द्रियजीवेषु ।

तिर्यग्गतिप्रभेदस्य<sup>१</sup> क्रमोऽयं संप्रदर्शितः ।  
 कीर्त्यन्ते सांप्रतं केचिद्भेदा नरगतेरपि ॥२७॥  
 भोगकर्मभुवो भेदान्मानुषा द्विविधाः स्मृताः ।  
 देवकुर्वादिभेदेन स्युस्त्रिशङ्गोभूमयः ॥२८॥  
 मध्योत्तमजघन्येन ताश्च त्रेधा व्यवस्थिताः ।  
 षट्सहस्राणि चापानामुत्तमासु नृणां प्रमा ॥२९॥  
 मध्यमासु च चत्वारि द्वे जघन्यासु कीर्तिते<sup>२</sup> ।  
 त्रीणि पल्योपमान्यायुर्द्धं चैकं तास्तनुक्रमात् ॥३०॥  
 मद्याङ्गादिभिर्दामिन्नं दशकल्पद्रुमोद्भवम्<sup>३</sup> ।  
 पात्रदानप्रभावेण<sup>४</sup> भुञ्जते तत्र ते फलम् ॥३१॥

पञ्चेन्द्रियेषु पञ्चेन्द्रियजीवेषु । पूर्वाणां 'पूर्व'—प्रतीतानाम् । वर्षाणाम् । एका कोटिरिति<sup>१</sup> । परिकीर्तिता प्रमाषिता ॥२९॥ तिर्यग्गतीति । तिर्यग्गतिप्रभेदस्य तिरह्वां तिर्यग्जीवानां गतेः प्रभेदस्य विकल्पस्य । अयम् एषः । क्रमः परिपाटी । संप्रदर्शितः प्रकीर्तितः । सांप्रतम् इदानीम् । नरगतेरपि नराणां मनुष्याणां गतेरपि भवस्यापि । केचित्<sup>२</sup> कियन्तः । भावाः विकल्पाः । कीर्त्यन्ते प्रदृश्यन्ते । कु शब्दे कर्मणि लट् ॥२७॥ भोगेति । मानुषाः मनुष्याः । भोगकर्मभुवः भोगभूयश्च भोगभूमिश्च कर्मभूयश्च कर्मभूमिश्च तयोः । भेदात् विकल्पात् । द्विविधाः द्विप्रकारकाः । स्मृताः । देवकुर्वादिभेदेन देवकुरुप्रभृतिभेदेन । भोगभूमयः । त्रिशत् स्युः ॥२८॥ मध्येति । मध्योत्तमजघन्येन मध्येन मध्यमेनोत्तमेनोत्कृष्टेन जघन्येन चरमेण । भेदेन । ताश्च भोग-भूमयः । त्रेधा त्रिधा—त्रिभिः प्रकारैः । 'प्रकारे भा' (?) ['एधाच'] इति धा-प्रत्ययः । व्यवस्थिताः निश्चिताः । उत्तमासु उत्तमभोगभूमिषु । नृणां मनुष्याणाम् । प्रमा-प्रमाणम् । चापानां धनुषाम् । षट्सहस्राणि कीर्तितानि ॥२९॥ मध्येति । मध्यमासु च मध्यमभोगभूमिषु । चत्वारि चतुःसहस्राणि । जघन्यासु जघन्यभोगभूमिषु । द्वे द्विसहस्रे । कीर्तिते प्रकाशिते । तासु भोगभूमिषु । अनुक्रमात् आनुपूर्व्यात्<sup>३</sup> । आयुः आयुष्यम् । त्रीणि पल्योपमानि त्रिपल्योपमानि । द्वे द्वे द्विपल्योपमे च । एकम् एकपल्योपमम् । कीर्तितम् ॥३०॥ मध्येति । ते भोगभूमिमानवा । तत्र भोगभूमिषु । पात्रदानप्रभावेण पात्राणां दानानां प्रभावेण माहात्म्येन । मद्याङ्गादिभिर्दामद्याङ्गादीनां मिदा भेदेन । निम्नदशकल्पद्रुमोद्भवं भिन्नविकल्पितैर्दमभिः कल्पद्रुमैरुद्भूतमुत्पन्नम् । फलं

मासकी है और पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटी की ॥२६॥ यह तिर्यग्गतिके भेदोंका क्रम दिखलाया है, अब मनुष्य गतिके भी कुछ भेदोंकी खर्चा की जा रही है ॥२७॥ भोग-भूमि और कर्मभूमिके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके होते हैं । देवकुरु और उत्तरकुरु आदि भेदोंकी दृष्टिसे भोगभूमियां तीन हैं ॥२८॥ उत्तम, मध्यम और जघन्य इन भेदोंकी दृष्टिसे भोगभूमियां तीन प्रकारकी हैं । उत्तम भोगभूमिमें मनुष्योंकी ऊँचाई छह हजार धनुष है ॥२९॥ मध्यम भोगभूमिमें मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई चार हजार धनुष है और जघन्य भोगभूमियोंमें मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष है ॥३०॥ पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमियोंमें उत्पन्न हुए जीव

१. स तिर्यगादिप्र<sup>१</sup> ॥२. स क्रमात् त्रेधा । ३. अ आ इ कीर्त्यते । ४. क ल ग घ 'कल्प-तत्कुरुवम् । ५. अ आ इ प्रभावेन । ६. आ कोटीति । ७. वा 'केचित्' इति नास्ति । ८. आ स अस्य श्लोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ९. वा उत्तमभोग<sup>१</sup> । १०. वा आनुपूर्व्याः ।

आर्यम्लेच्छप्रभेदेन द्विविधाः कर्मभूमिजाः ।  
 भरतादिभिदा पञ्चदश स्युः कर्मभूमयः ॥३२॥  
 शतानि पञ्च चापानां कर्मभूमिनिवासिनम् ।  
 पञ्चविंशतियुक्तानि मानमुत्कृष्टवृत्तितः ॥३३॥  
 पूर्वकोटिप्रमाणं च तेषामायुः प्रकीर्तितम् ।  
 वृद्धिहासौ विदेहे न भरतैरावतेष्विव ॥३४॥  
 भरतैरावते वृद्धिहासिनी कालभेदतः  
 उत्सर्पिष्ववसर्पिण्यौ कालभेदावुदाहृतौ ॥३५॥  
 सागरोपमकोटीनां दश कोटयोऽवसर्पिणी ।  
 प्रमाणं तावदेवाहुस्तर्पिण्याश्च तद्विदः ॥३६॥  
 सुषमोपपदा प्रोक्ता सुषमा सुषमा ततः ।  
 दुःषमा सुषमाद्यान्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥३७॥

निष्पन्नम् । भुञ्जते अनुभवन्ति । भुज पालनाभ्यवहारयोः सद् ॥३१॥ आर्येति । आर्यम्लेच्छप्रभेदेन आर्याणां म्लेच्छानां प्रभेदेन विकल्पेन । कर्मभूमिजाः कर्मभूमिजनिताः । मनुष्याः । द्विविधाः द्वे विधे प्रकारौ येषां ते । भरतादिभिदा भरतादीनां भिदा भेदेन । आदिशब्देनैरावतविदेहयोर्ग्रहणम् । कर्मभूमयः कर्मभूवः । पञ्चदश पञ्चभिरधिकं दश । स्युः भवेयुः । लिङ् ॥३२॥ शतानीति । कर्मभूमिनिवासिना कर्मभूमिपु निवासिना निवसताम् । उत्कृष्टवृत्तितः<sup>३</sup> उत्कृष्टवर्तनात् । मानं प्रमाणम् । पञ्चविंशतियुक्तानि पञ्चभिरधिकं विंशत्या युक्तानि सहितानि । चापानां धनुषाम् । पञ्चशतानि श्रेष्ठानि ॥३३॥ पूर्वति । तेषां कर्मभूमिजमनुष्याणाम् । आयु जीवनम् । पूर्वकोटिप्रमाणं पूर्वकोटिरेव प्रमाणं प्रमितयस्य तत् । प्रकीर्तितं निगदितम् । भरतैरावतेष्विव भरतेषु ऐरावतेषु क्षेत्रेषु इव । विदेहे विदेहक्षेत्रे । वृद्धिहासौ वृद्धिहासौ । न न भवतः ॥३४॥ भरतेति । कालभेदतः कालस्य भेदतो विभागतः<sup>४</sup> । भरतैरावते भरतैरावतक्षेत्रे । वृद्धिहासिनी वृद्धिहासिनी । उत्सर्पिष्ववसर्पिण्यौ उत्सर्पिणी चावसर्पिणी च तथोक्ते । कालभेदो कालविभागो । उदाहृतौ प्रकीर्तितौ<sup>५</sup> ॥३५॥ सागरेति । सागरोपमकोटीनां सागरोपमाना कोटीनाम् । दशकोटयः दशकोटिकोटय इत्यभिप्रायः । अवसर्पिणी भवतीति । तद्विदः कालभेदज्ञाः । उत्सर्पिण्याश्च । तावदेव दशकोटिकोटय एव । प्रमाणम् । आहुः ब्रुवन्ति । 'ब्रुवन्तिप्यञ्जतः—' इति शेषसादेशः तद्योगे ब्रुव आह—इत्यादेशः ॥३६॥ सुषमेति । सुषमोपपदा सुषमोपपदं यस्याः सा सुषमा इति । प्रोक्ता निगदिता । सुषमासुषमा—इत्यर्थः । ततः पुनः । अन्या इतरा । सुषमा

वहाँपर मझांग आदि दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए भोगोंको भोगते हैं ॥३१॥ आर्य और म्लेच्छके भेदसे, कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य दो-दो प्रकारके होते हैं । भरत आदिके भेदसे कर्मभूमियाँ पन्द्रह होती हैं ॥३२॥ कर्मभूमियोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाईका उत्कृष्ट प्रमाण पाँच सौ पञ्चोस धनुष है ॥३३॥ कर्मभूमिके मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण एक पूर्व कोटि कहा गया है । भरत और ऐरावत क्षेत्रोंकी तरह विदेह क्षेत्रमें वृद्धि और हास नहीं होते ॥३४॥ कालभेदके कारण भरत और ऐरावतमें वृद्धि और हास होते हैं । उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो कालके भेद कहे गये हैं ॥३५॥ अवसर्पिणी दस कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, और उत्सर्पिणीका प्रमाण भी उतना ही है, जितना अवसर्पिणीका है—दस कोड़ाकोड़ी सागर ॥३६॥ सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, दुःषमा और दुःषमा-दुःषमा—ये छह भेद अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनोंके कहे गये हैं । हाँ, इनके क्रममें अन्तर पड़

पञ्चमी दुःषमा श्रेया षष्ठी चात्यन्तदुःषमा ।  
 प्रत्येकमिति षड्भेदास्तयोरुक्ता द्वयोरपि ॥३८॥  
 सागरोपमकोटोनां चतस्रः कोटयः स्मृताः ।  
 पूर्वा तिस्रो द्वितीया च द्वे तृतीया प्रकीर्तिता ॥३९॥  
 द्वाचत्वारिंशता वर्षसहस्रैः परिवर्जिता ।  
 एका कोटी च कोटीनां चतुर्थी परिकीर्तिता ॥४०॥  
 पञ्चमी च सहस्राणि वर्षाणामेकविंशतिः ।  
 षष्ठी तावत्प्रमाणैव जिनैः कालकलाः स्मृताः ॥४१॥  
 म्लेच्छाः खण्डप्रभेदेन पञ्चधा परिकीर्तिताः ।  
 म्लेच्छखण्डा यतः पञ्च कथ्यन्ते कर्मभूमिषु ॥४२॥

सुपमेत्यर्थः । सुपमाद्या सुपमैवाद्ये प्रथमे यस्या सा दुःषमा सुपमादुःपमेत्यर्थः । सुपमान्ता च सुपमैवास्तेष्व-  
 साने यस्याः सा दुःषमासुपमेत्यर्थः ॥३७॥ पञ्चमीति । पञ्चमी पञ्चमाना पूरणा । दुःषमा दुःपमेति । जेया  
 ज्ञातव्या । षष्ठी षण्णा पूरणा षष्ठी । 'षट् कति कतिपथात् षट्' इति षट्—प्रत्ययः । अत्यन्तदुःषमा अति-  
 दुःपमेत्यर्थः । द्वयोः द्विसंख्ययोः । तयोः उत्सपिण्यवसपिण्योः । प्रत्येकमपि पृथगपि । षड्भेदाः पडिवकलाः ।  
 उक्ताः उदाहृताः ॥३८॥ सागरेति । पूर्वा सुपमसुपमा । सागरोपमकोटीनां चतस्रः कोटयः—चतस्रः सागरो-  
 पमकोटीकोटयः—इत्यर्थः । स्मृता । आगमनैरिति शेषः । द्वितीया सुपमा । तिस्र तिस्र सागरोपमकोटी-  
 कोटयः । तृतीया च सुपमदुःषमा च । द्वे द्वे सागरोपमकोटीकोटयोः । प्रकीर्तिता प्रतिपादिता ॥३९॥ द्वेति ।  
 चतुर्थी चतुर्णां पूरणा चतुर्थी तु षमासुपमा । द्वाचत्वारिंशता द्वाभ्यामधिकया चत्वारिंशता । वर्षसहस्रैः वर्षाणां  
 सहस्राणि तैः । परिवर्जिता रहिता । कोटीनां सागरोपमाना कोटीनां कोटिसंख्यानाम् । एका कोटी एक-  
 सागरोपमकोटिकोटिरित्यर्थः । परिकीर्तिता प्रोक्ता ॥४०॥ पञ्चमीति । पञ्चमी पञ्चमी च दुःषमा । वर्षाणां  
 संवत्सराणाम् । एकविंशतिः एकाधिका विंशतिः । सहस्राणि दशशतानि । षष्ठी अतिदुःषमा । तावत्प्रमाणैव  
 तावन्मात्रं प्रमाणं यस्याः सा, एकविंशतिसहस्रवर्षाणोरित्यर्थः । जिनैः जिनैस्वरैः । कालकलाः कालभेदाः ।  
 स्मृता ज्ञाताः ॥४१॥ म्लेच्छा इति । कर्मभूमिषु कर्मयुक्तभूमिषु । यतः यस्मात् । म्लेच्छखण्डाः । पञ्च  
 पञ्चसंख्याः । कथ्यन्ते प्रोच्यन्ते । कथं बोधप्रबन्धे लट् । खण्डप्रभेदेन खण्डानां विभागानां प्रभेदेन विकल्पेन

जाता है । ऊपर जो क्रम दिया गया है, वह अवसर्पिणीका है, उत्सर्पिणीका इससे विपरीत है—  
 दुःषमा-दुःषमा, दुःषमा, दुःषमा-सुपमा, सुपमा-दुःषमा, सुपमा और सुपमा-सुपमा ॥३७-३८॥  
 सुपमा-सुपमा, जो सबसे पहली है, चार कोड़ाकोड़ी सागरकी है, दूसरी सुपमा तीन कोड़ा-  
 कोड़ी सागरकी है, तीसरी सुपमा-दुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागरकी है, चौथी दुःषमा-सुपमा  
 बयालीस हजार वर्ष कम कोड़ाकोड़ी है, पाँचवीं दुःषमा इक्कीस हजार वर्षकी है और छठी  
 दुःषमा-दुःषमा भी इक्कीस हजार वर्षकी है । इस तरह जिन भगवान् ने कालकी कलाओंका  
 वर्णन किया है ॥३९-४१॥ चूँकि भरत आदि कर्मभूमिशोमे पाँच म्लेच्छ खण्ड होते हैं,

१ म परिकीर्तिता । २. म म्लेच्छखण्ड । ३. कथं य च म्लेच्छाः खण्डा । ४. सा दुःषमा दुःपमेति ।  
 ५. सा 'दुःषमा अतिदुःषमा' । = दुःषमादुःषमा—इति यावत् । ६. सा 'द्वयोः' इति नोपलभ्यते ।  
 ७. आ सा अस्य दलोक्त्य व्याख्या नास्ति । ८. सा 'कोटीत्यर्थः' । ९. सा 'दुःषमा । १०. = कालकलाः  
 कालभेदाः । ११. = स्मृताः ज्ञाताः ।

आर्याः षट्कर्मभेदेन षोढा भेदमुपागताः ।  
 ते गुणस्थानभेदेन स्युश्चतुर्दशधा पुनः ॥४३॥  
 मिथ्यासासादनदृष्टौ<sup>१</sup> मिथ्याविरतिदर्शनौ ।  
 प्रदेशविरतस्तस्मात्प्रमत्तविरतस्ततः ॥४४॥  
 स्यात्प्रमत्तविरतस्ततोऽपूर्वक्रियः स्मृतः ।  
 अनिवृत्तिक्रियस्तस्मात्ततः<sup>२</sup> सूक्ष्मः प्रकीर्तितः ॥४५॥  
 शान्तक्षीणकषायौ<sup>३</sup> च सयोगः केवली स्मृतः ।  
 अयोगकेवली चेति गुणस्थानान्यनुक्रमम्<sup>४</sup> ॥४६॥  
 इति मानुषभेदेन कृता जीवनिरूपणा ।  
 सांप्रतं देवभेदेन कुर्वे क्वचित्प्रपञ्चनम् ॥४७॥  
 चतुर्णिकायभेदेन स्मृता देवाश्चतुर्विधाः ।  
 असुराहिकुमाराद्या दशधा तेषु भावनाः ॥४८॥

श्लेच्छाः श्लेच्छमात्राः । पञ्चधा पञ्चप्रकारैः । परिकीर्तिताः परिभाषिताः ॥४२॥ आर्या इति । षट्कर्म-  
 भेदेन षण्णा कर्मणां कृत्यानां भेदेन विकल्पेन । आर्याः आर्यस्त्वष्टजातमनुष्याः । षोढा षडभिः प्रकारैः । भेदं  
 विकल्पम् । उपागताः । पुनः पञ्चात् । गुणस्थानप्रभेदेन गुणस्थानप्रभेदेन गुणस्थानानां प्रभेदेन विभागेन ।  
 चतुर्दशधा चतुर्दशप्रकारैः । स्युः भवेयुः । लिट् ॥४३॥ मिथ्येति । मिथ्यासासादनदृष्टौ मिथ्यादृष्टिः सासादन-  
 सम्यग्दृष्टौ । मिथ्याविरतदर्शनौ मिथ्यापरिणाम्यसंयतसम्यग्दृष्टौ । तस्मात् । प्रदेशविरतः देशसंयतः । ततः  
 तस्मात् । प्रमत्तविरतः प्रमत्तसंयतः ॥४४॥ स्यादिति । ततः परम् । अप्रमत्तविरतः अप्रमत्तसंयतः ।  
 स्यान् भवेत् । अपूर्वक्रियः अपूर्वगुणस्यापकः । स्मृतः ज्ञातः । ततः तस्मात् परम् । अनिवृत्तिक्रिय-  
 अनिवृत्तिकरणः । ततः परम् । सूक्ष्मः सूक्ष्मसाम्परायः । प्रकीर्तितः प्रोक्तः ॥४५॥ शान्तेति । शान्त-  
 क्षीणकषायौ च उपशान्तकषायक्षीणकषायौ च । सयोगः योगसहितः । केवली सयोगकेवली भगवान्<sup>५</sup> ।  
 अयोगकेवली चेति अयोगिभगवान् चेति । अनुक्रमम् अनुक्रमेण । गुणस्थानानि चतुर्दशगुणस्थानभेदाः ।  
 स्युः ॥४६॥ इतीति । इति एवम् । मानुषभेदेन मानुषाणां भेदेन विकल्पेन । जीवनिरूपणा जीवस्य जीव-  
 तत्त्वस्य निरूपणा । कृता विहिता । सांप्रतम् इदानीम् । देवभेदेन देवानां भेदेन विकल्पेन । क्वचित्  
 ईषत् । प्रपञ्चनं विवरणम्<sup>६</sup> । कुर्वे करोमि । लट् ॥४७॥ चतुर्णिकायेति । चतुर्णिकायभेदेन चतुर्णां निकायानां  
 समूहानां भेदेन विकल्पेन । देवाः मुराः । चतुर्विधाः चतुःप्रकाराः । स्मृता ज्ञाताः । तेषु देवेषु । असुरा-  
 हिकुमाराद्याः असुरकुमारनागकुमारमुक्याः । भावनाः भवनजाताः । दशधा दशभिः प्रकारैः । प्रोक्ताः ॥४८॥

अतः उनके खण्डोंकी दृष्टिसे श्लेच्छ मनुष्य भी पाँच प्रकारके कहे गये हैं ॥४२॥ अस्मि  
 आदि छह कर्मोंकी दृष्टिसे आर्य मनुष्य छह प्रकारके होते हैं, और मिथ्यात्व आदि चौदह गुण-  
 स्थानोंके भेदकी दृष्टिसे चौदह प्रकारके ॥४३॥ मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, मिथ्य, अविरत  
 सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय,  
 उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली—ये क्रमसे चौदह गुणस्थान  
 होते हैं ॥४४-४६॥ इस प्रकार मनुष्योंके भेदकी दृष्टिसे जीवोंका निरूपण किया, अब  
 देवोंके भेदकी दृष्टिसे कुछ विस्तार पूर्वक जीवोंका निरूपण करते हैं ॥४७॥ निकायोंके भेदकी  
 दृष्टिसे देव चार प्रकारके होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक । इनमेंसे

१. म "विषी मिथ्या" । २. म "क्रियास्तम्भात्" । ३. म "शान्तक्षीण" । ४. आ इ "नुक्रममात्" । ५. आ  
 "केवलभगवान्" । ६. आ विवरणम् । ७. = कथिताः ।

किन्नरादिप्रभेदेन व्यन्तराश्चाष्टधा स्मृताः ।  
 सूर्यचन्द्रादिभेदेन<sup>१</sup> ज्योतिष्काः पञ्चधा स्मृताः ॥४९॥  
 वैमानिका द्विधा प्रोक्ताः कल्पातीताश्च कल्पजाः ।  
 सौधर्मादिषु कल्पेषु कल्पजाः परिकीर्तिताः<sup>२</sup> ॥५०॥  
 नवग्रहेयकादिस्थाः कल्पातीताः प्रवर्णिताः ।  
 सर्वाथसिद्धिपर्यन्ताः समृद्धापचिचक्षुषः ॥५१॥  
 तत्रासुरकुमाराणां प्रमाणं पञ्चविंशतिः ।  
 धनृषि दश चापानि शेषाणां भवनक्षिताम् ॥५२॥  
 दशसप्तधनुर्माना व्यन्तरा<sup>३</sup> ज्योतिषामराः ।  
 सौधर्मशानयोर्मानं सप्त हस्ता विबौकसाम् ॥५३॥  
 सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः षट् प्रकीर्तिताः ।  
 ब्रह्मकापिण्डयोः पञ्च तन्मभ्यगतयोरपि ॥५४॥

किन्नरेति । व्यन्तराश्च व्यन्तरामराश्च । किन्नरादिप्रभेदेन किन्नरादीनां प्रभेदेन विभागेन । अष्टधा अष्टभिः प्रकारैः । स्मृताः ज्ञाताः । ज्योतिष्काः ज्योतिष्कदेवाः । सूर्यचन्द्रादिभेदेन सूर्यचन्द्रमःप्रमुखानां भेदेन विकल्पेन । पञ्चधा पञ्चभिः प्रकारैः । स्मृताः ज्ञाताः ॥४९॥ वैमानिका इति । वैमानिकाः कल्पाभाराः । कल्पातीताश्च कल्पातीतदेवाश्च । कल्पजाः सौधर्मादिकल्पजनिताः । द्विधा द्वौभ्यां प्रकाराभ्याम् । प्रोक्ताः निगदिताः । सौधर्मादिषु सौधर्मप्रभृतिषु । कल्पेषु स्वर्गेषु । कल्पजा इति । परिकीर्तिताः प्रोक्ताः ॥५०॥ नवेति । नवग्रहेयकादिस्थाः नवग्रहेयकादिषु विमानेषु<sup>४</sup> स्थाः स्थिताः । सर्वाथसिद्धिपर्यन्ताः सर्वाथसिद्धिरेव पर्यन्तोऽवसानं येषां ते । समृद्धापचिचक्षुषः समृद्धं संपूर्णमवधिरेवावधिज्ञानमेव चक्षुर्गेषां ते<sup>५</sup> । कल्पातीताः कल्पातीतामराः । प्रकीर्तिताः प्रोक्ताः ॥५१॥ तत्रेति । तत्र चतुर्णिकाये । भवनक्षिता भवनवासिनाम् । असुरकुमाराणाम् । पञ्चविंशतिः पञ्चविंशदिका विंशतिः पञ्चविंशतिः । धनृषि चापानि । प्रमाणं प्रमितिः । शेषाणाम् अवशिष्टानाम् । दश कामुकाणि परिकीर्तितानि ॥५२॥ दशेति । व्यन्तराः व्यन्तरदेवाः । ज्योतिषामराः ज्योतिष्कदेवाः । दशसप्तधनुर्मानाः दश च सप्त च तयोक्तानि दशसप्तधनृष्येव मानं प्रमाणं येषां ते स्मृते । सौधर्मशानयोः प्रथमद्वितीयकल्पयोः । विबौकसा देवानाम् । मानं प्रमाणम् । सप्त हस्ताः स्मृते ॥५३॥ सनत्कुमारेति । सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः सनत्कुमारकल्पमाहेन्द्रकल्पयोः । षट् षट् हस्ताः । प्रकीर्तिताः भाषिताः । ब्रह्मकापि-

भवनवासी देव दस प्रकारके होते हैं—असुरकुमार, नागकुमार आदि ॥४८॥ किन्नर आदिके भेदसे व्यन्तर आठ प्रकारके होते हैं, तथा ज्योतिष्क देव सूर्य और चन्द्र आदिके भेदसे पञ्च प्रकारके ॥४९॥ वैमानिक देव दो प्रकारके कहे गये हैं—कल्पवासी और कल्पातीत । सौधर्म आदि कल्पोंमें रहनेवाले देव कल्पवासी कहे जाते हैं ॥५०॥ नवग्रहेयक आदिमें स्थित देव कल्पातीत कहलाते हैं, जिनमें प्रथम ग्रहेयकसे सर्वाथसिद्धि तकके देव गिने जाते हैं । इन सबका अवधिज्ञान उत्तरोत्तर प्रबल होता है । यही ज्ञान उनका नेत्र है ॥५१॥ भवनवासी देव दस प्रकारके होते हैं । उनमें असुर कुमारोंके शरीरकी ऊँचाई पञ्चोस धनुष है और शेष नौके शरीरकी ऊँचाई दस धनुष ॥५२॥ व्यन्तरों और ज्योतिष्क देवोंके शरीरकी ऊँचाई सत्रह धनुष है । सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई सात हाथ ( अरति ) है ॥५३॥ सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई छह हाथ ( अरति ) है । ब्रह्म,

१. अ आ इ क ख ग घ सूर्यचन्द्रा<sup>१</sup> । २. अ क ख ग घ परिवर्णिताः । ३. अ आ इ<sup>२</sup> व्यन्तराज्योति<sup>३</sup> ।  
 ४. = तिष्ठन्तीति नवग्रहेयकादिस्थाः । ५. वा<sup>४</sup> येषां तेषाम् ।

चत्वारः शुक्रमारभ्य हस्ताः प्रागानतात् स्मृताः ।  
 आनते प्राणते चापि त्रयः सार्धाः प्रवर्णिताः ॥१५॥  
 आरणाच्युतयोर्हस्ताभ्याः समनुवर्णिताः ।  
 अधोऽग्रैवेयकेषूक्तौ त्रिषु द्वावर्धसंयुतौ ॥१६॥  
 द्वावरत्नी<sup>३</sup> समाभ्नातौ मध्यग्रं वेयकत्रये ।  
 अधेन सहितौ रत्निरुध्वग्रं वेयकत्रये ॥१७॥  
 ग्रं वेयकविमानेभ्यः परे हस्तप्रमाः सुराः ।  
 सागरोपममुत्कर्षादायुर्भवनवासिनाम् ॥१८॥  
 अधिकं व्यन्तराणां तु पल्योपममुदाहृतम् ।  
 दशवर्षसहस्राणि जघन्यमुभयेष्वपि ॥१९॥

छयोः ब्रह्माकापिष्ठकल्पयोः । तन्मध्यगतयोरपि तयोर्ब्रह्माकापिष्ठकल्पयोर्मध्यगतौ ब्रह्मोत्तरलान्तवकल्पी तयोरपि ।  
 पञ्च हस्ता इत्यर्थः ॥१५॥ चत्वारः इति । शुक्रं शुक्रकल्पम् । आरम्य उपक्रम्य । आनतात् आनतकल्पात् ।  
 प्राक् पूर्वम् । चतुःकल्पेण । चत्वारः । हस्ताः अरन्तयः । स्मृताः ज्ञाताः । आनते आनतकल्पे । प्राणते  
 प्राणतकल्पे चापि । सार्धाः अधेन सहिताः । त्रयः<sup>४</sup> त्रिहस्ताः । प्रवर्णिताः प्रकीर्तिताः ॥१५॥ आरणेति<sup>५</sup> ।  
 आरणाच्युतयोः आरणाच्युतकल्पयोः । त्रयो हस्ताः । समनुवर्णिताः परिकीर्तिताः । त्रिषु त्रिसंख्येषु । अधोऽग्र-  
 वेयकेषु हेष्टमादि-( ? ) ग्रंवेयकेषु । अधसहितौ दलेन सहितौ । द्वौ हस्तौ । उक्तौ प्रोक्तौ ॥१६॥ द्वाविति ।  
 मध्यग्रंवेयकत्रये मध्यग्रंवेयकत्रये मध्यग्रंवेयकाणां त्रये त्रितये । द्वौ च ( अ- ) रत्नौ हस्तौ । समाभ्नातौ कथितौ ।  
 ऊर्ध्वग्रंवेयकत्रये ऊर्ध्वग्रंवेयकाणामुपरिग्रंवेयकाणां त्रये । अधेन दलेन । सहितः युतः । रत्निरु<sup>६</sup> हस्तः ।  
 प्रोक्तः ॥१७॥ ग्रंवेयकेति । ग्रंवेयकविमानेभ्यः ग्रंवेयकेभ्यो विमानेभ्यः । परे अग्रे । प्रवर्तमानाः । सुराः देवाः ।  
 हस्तप्रमाः हस्त एव प्रमा प्रमाणं येषां ते । भवनवासिनां भवनवासिदेवानाम् । आयुः आयुष्यम् । उत्कर्षात्<sup>७</sup>  
 उत्कृष्टात् । सागरोपमं सागरोपमप्रमाणम् ॥१८॥ अधिकमिति<sup>८</sup> । व्यन्तराणां तु व्यन्तरदेवानां तु । अधिकम्<sup>९</sup>  
 उत्कृष्टमायुः । पल्योपमं पल्योपमप्रमाणम्<sup>१०</sup> । ( उत्कृष्टमायुः ) । उदाहृतं प्रोक्तम् । उभयेष्वपि व्यन्तरभवन-

ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोंके देवोंके शरीरकी ऊँचाई पाँच हाथ (अरतिन) है ॥१५॥  
 शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार इन आनतसे पहलेके चार स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई  
 चार हाथ है । आनत और प्राणत स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई साढ़े तीन हाथ (अरतिन) है  
 ॥१५॥ आरण और अच्युत स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई तीन हाथ है । तीनों अधो-  
 ग्रंवेयकोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई ढाई अरतिन कही गई है ॥१६॥ तीनों मध्यम  
 ग्रंवेयकोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई दो अरतिन मानी गई हैं और तीनों ऊर्ध्व ग्रंवेयकोंमें देवोंके  
 शरीरकी ऊँचाई डेढ़ अरतिन कही गई है ॥१७॥ ग्रंवेयकोसे ऊपरके सभी देवोंके शरीरकी  
 ऊँचाई एक अरतिन है । भवनवासियोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम है ॥१८॥ व्यन्तर  
 देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्योपम कही गयी है । भवनवासी और व्यन्तर इन

१. स प्रागानताः । २. अ आ इ<sup>१</sup> नुबर्तिताः । ३. स द्वारवक्त्रौ । ४. = त्रयो हस्ताः । ५. आ  
 सार्धाः अधेन सहितौ द्वौ हस्तौ । उक्तौ प्रोक्तौ । ६. आ आरणेत्यादि । ७. आ अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति ।  
 ८. आ रत्निरु<sup>२</sup> इति नास्ति । ९. प्रकर्षतः । १०. आ वा 'अधिकमिति' इति नास्ति । ११. = साधिकम् ।  
 १२. सा कलोपमं कल्पप्रमाणम् ।



ज्योतिष्काणां<sup>१</sup> तु देवानामधिकं पल्यमोरितम् ।  
 पल्यस्यैवाष्टमो भागो जघन्येन प्रकीर्तितः ॥६०॥  
 जिनैः साक्षात्कृताशेषत्रिजगद्वस्तुभिः स्मृतम् ।  
 द्वौ सागरोपमावायुः सौधमैशानकल्पयोः ॥६१॥  
 सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः सप्त कीर्तिताः ।  
 ब्रह्मब्रह्मोत्तरे कल्पे दशैव परिवर्णिताः ॥६२॥  
 स्मृता लान्तवकापिष्ठकल्पयोश्च चतुर्दश ।  
 ततः शुक्रमहाशुक्रकल्पयोः षोडशोदिताः ॥६३॥  
 अष्टादश शतारे च सहस्रारे च संमताः ।  
 आनते प्राणते चापि विशतिः समुदीरिताः ॥६४॥  
 आरणाच्युतकल्पे च द्वाविंशतिरनुस्मृताः ।  
 एकैकेन ततो वृद्धिर्यावन्विंशत्त्रयाधिकाः ॥६५॥

वासिष् । जघन्यं जघन्यायुष्यम् । दशवर्षसहस्राणि दशाना वर्षाणां सहस्राणि । अनुवर्णिताणि ॥६१॥ ज्योति-  
 ष्काणामिति । ज्योतिष्काणां च देवानां ज्योतिष्कदेवानाम् । अधिकम्<sup>२</sup> उत्कृष्टायुष्यम् । पल्यं पल्यप्रमाणमिति ।  
 ईरितं प्रोक्तम् । जघन्येन जघन्यरूपेण । पल्यस्यैव पल्यप्रमाणस्य । अष्टमः अष्टानां पूरणः । भागः अंशः । प्रकीर्तितः  
 प्रोक्त ॥६०॥ जिनैरिति । साक्षात्कृताशेषत्रिजगद्वस्तुभिः साक्षात्कृतानि प्रथमोक्तान्यजेषाणि समस्तानि  
 त्रिजगत्सु भुवनेषु विद्यमानानि वस्तूनि यैस्तैः । जिनैस्वरैः । सौधमैशानकल्पयोः प्रथमद्वितीयकल्पयोः । आयुः  
 आयुष्यम् । द्वौ सागरोपमौ सागरोपमप्रमाणविति । स्मृतं ज्ञातम् ॥६१॥ सनत्कुमारेति । सनत्कुमारमाहेन्द्र-  
 कल्पयोः तृतीयकल्पचतुर्थकल्पयोः । सप्त सप्तसागरोपमाः । कीर्तिता निरूपिता । ब्रह्मब्रह्मोत्तरे पञ्चम (मे)  
 षष्ठे च । कल्पे स्वर्गे । दशैव दशसागरोपमा एव । परिवर्णिता ॥६२॥ स्मृता इति । लान्तवकापिष्ठकल्पयोश्च  
 सप्तमकल्पाष्टमकल्पयोश्च । चतुर्दश चतुर्दशसागरोपमा इति । स्मृता ज्ञाता । ततः पश्चात् । शुक्रमहाशुक्र-  
 कल्पयोः नवमदशमकल्पयोः । षोडश षोडशसागरोपमा इति । उदीरिता<sup>३</sup> [उदिताः] निगदिता ॥६३॥ अष्टेति ।  
 शतारे च एकादशे कल्पे च । सहस्रारे च द्वादशकल्पे च अष्टादश अष्टत्रिंशदिका दश तथोक्ताः—अष्टादश  
 सागरोपमाः । ‘द्वाष्टात्रयोऽनर्थातौ—’ इति द्वा-(अष्टा-) आदेश । समताः अमृतागताः । आनते आनतकल्पे ।  
 प्राणते चापि प्राणतकल्पे चापि । विशतिः विशतिसागरोपमा इति । समुदीरिता निरूपिताः ॥६४॥ आरणेति ।  
 आरणाच्युतकल्पे च आरणे आरणकल्पे अच्युतकल्पे च । अन्यकल्पे च । द्वाविंशति द्वाविंशतिसागरोपमा इति ।  
 अनुस्मृता । मुनिरूपिताः । ततः परम् । यावत् यावत् पर्यन्तम् । त्रयाधिकाः त्रयेणाधिकाः, त्रिभिरधिका इत्यर्थः ।

दोनौकी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है ॥६१॥ ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे  
 कुछ अधिक कहो गयी है और उनकी जघन्य आयु पल्यका आठवां भाग कहा गया है ॥६०॥  
 तीन लोकोंकी सारा वस्तुओका साक्षात्कार करनेवाले भगवान् जिनन्दने सौधर्म और ऐशान  
 स्वर्गमें देवोंकी आयु दो सागरोपम बतलाई है ॥६१॥ सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें देवोंकी  
 आयु सात सागरोपम कहो गयी है तथा ब्रह्म और ब्रह्मान्तर स्वर्गमें केवल दस सागरोपम  
 ॥६२॥ लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गमें चौदह सागरोपम तथा शुक्र और महाशुक्र स्वर्गमें सोलह  
 सागरोपम आयु कहो गई है ॥६३॥ शतार और सहस्रारमें अष्टादश सागरोपम तथा आनत और  
 प्राणतमें बीस सागरोपम आयु है ॥६४॥ आरण और अच्युतमें बाईस सागरोपम आयु है । इस  
 तरह सोलह स्वर्गोंके देवोंकी आयुका प्रमाण बतलाया गया है । इन स्वर्गोंके ऊपर नी श्रेयिकों,

१. अ ज्योतिषाणा । २. अधिकम् । ३. आ समुदीरिताः ।

इति गत्यादिभेदेन कृता जीवनिरूपणा ।

कुर्वे संप्रत्यजीवस्य किञ्चिद् अनिरूपणम् ॥६६॥

धर्माधर्माव्याकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ।

अजीवः पञ्चधा ज्ञेयो जिनागमविशारदैः ॥६७॥

एताभ्येव सजीवानि षड् द्रव्याणि प्रचक्षते ।

कालहीनानि पञ्चास्तिकायान्ताभ्येव कीर्तिताः ॥६८॥

अलवन्मस्ययानस्य तत्र यो गतिकारणम् ।

जीवादीनां पदार्थानां स धर्मः परिवर्णितः ॥६९॥

लोकाकाशमभिव्याप्ये संस्थितो मूर्तिवर्जितः ।

नित्यावस्थितिसंयुक्तः सर्वज्ञानगोचरः ॥७०॥

त्रिशत् त्रिशत्सागरोपमा इति । एकैकेन एकैकसागरोपमेण । वृद्धिः प्रवृद्धिः । कीर्तिता ॥६५॥ इतीति । इति एवम् । गत्यादिभेदेन गत्यादीनां भेदेन विकल्पेन जीवनिरूपणा जीवतत्त्वप्ररूपणा<sup>१</sup> । कृता विहिता । संप्रति इदानीम् । अजीवस्य अजीवतत्त्वस्य । रूपनिरूपणं रूपस्य स्वरूपस्य निरूपणमनुवर्णनम् । किञ्चित् स्तोकम् । कुर्वे कुर्वे विदधामीति वा ॥६६॥ धर्मेति । अथ अनन्तरम् । अजीवः अजीवतत्त्वमिति । धर्माधर्मौ धर्मद्रव्याधर्म-द्रव्ये । आकाशम् आकाशद्रव्यम् । कालः कालद्रव्यम् । पुद्गल इति पुद्गलद्रव्यमिति ।<sup>२</sup> जिनागमविशारदैः जिना-गमे<sup>३</sup> विशारदैः प्रौढैः । पञ्चधा पञ्चप्रकारैः । ज्ञेयः वेदितव्यः ॥६७॥ एतानीति । सजीवानि जीवतत्त्वसहि-तानि । एताभ्येव धर्माधर्मादीभ्येव । षड् द्रव्याणीति । प्रचक्षते ब्रुवते । चक्षि व्यक्त्यां वाचि । कालहीनानि कालेन कालद्रव्येण हीनानि रहितान्येव । षड् द्रव्याभ्येव । पञ्चास्तिकायाः पञ्चास्तिकाया इति । कीर्तिताः निरूपिताः ॥६८॥ जलधिति । तत्र षड्द्रव्येषु । मत्स्ययानस्य मत्स्यस्य मोनस्य यानस्य गमनस्य । अलवत् सलवत् । यः । जीवादीनां जीवादिप्रभूतीनाम् । द्रव्याणाम् । स धर्मः धर्मपदार्थ इति । परिवर्णितः निरू-पितः ॥६९॥ लोकेति । लोकाकाशं लोके वर्तमानमाकाशं तथोक्तम् । अभिव्याप्य व्यापयित्वा । संस्थितः आस्थितः<sup>४</sup> । मूर्तिवर्जितः मूर्त्या<sup>५</sup> वर्जितो रहितः । नित्यावस्थितिसंयुक्तः नित्यया अवस्थित्या संयुक्तः सहितः ।

नौ अनुदिशौ और पाँच पञ्चोत्तरोमें क्रमशः एक-एक सागरकी आयु बढ़ती जाती है, जो सर्वार्थसिद्धिमें तेतीस सागरोपम तक होती (—पहले प्रवेयकमें तेईस सागरकी आयु है, इससे ऊपरके प्रवेयकोंमें एक-एक सागरकी आयु बढ़नी जाती है । फलतः अन्तिम प्रवेयकमें इकतीस सागरकी आयु है । नौ अनुदिशोंमें बत्तीस सागरकी आयु है और पाँच पञ्चोत्तरोमें तेतीस सागरकी ॥६५॥ इस प्रकार गति आदिके भेदकी दृष्टिसे जीवका निरूपण किया । अब कुछ अजीवके स्वरूपका निरूपण करता हूँ ॥६६॥ जैन आगमके विशारदोंके द्वारा जानने योग्य अजीव द्रव्य पाँच प्रकारके हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल भी ॥६७॥ इन पाँच द्रव्योंमें जीव द्रव्यको मिला दिया जाय तो छह द्रव्य हो जाते हैं, और इनमेंसे काल द्रव्य निकाल दिया जाय तो पाँच अस्तिकाय हो जाते हैं ॥६८॥ त्रिस प्रकार मछलियोंके चलनेमें जल सहायक होता है, उसी प्रकार जो जीवों और पुद्गलोंको चलनेमें सहायक हो—उनके गमनमें कारण हो, उभे धर्म द्रव्य कहते हैं ( इसीको आधुनिक विज्ञान ईथर कहता है ) ॥६९॥ धर्म द्रव्य सारे लोकाकाशमें व्याप्त है, अमूर्तिक है और है नित्य । अमूर्तिक होनेसे यह इन्द्रिय गोचर नहीं

१. अ. 'मभिव्याप्य' । २. वा 'तत्त्वरूपणा' । ३. वा जीवागमे । ४. वा जीवागमे । ५. वा आस्थितः ।

द्रव्याणां पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम् ।  
 लोकाभिर्व्यापकत्वादिधर्मोऽधर्मोऽपि धर्मवत् ॥७१॥  
 नित्यं व्यापकमाकाशमवगाहैकलक्षणम् ।  
 चराचराणि भूतानि यत्रासंवाधमासते ॥७२॥  
 धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयाः प्रकीर्तिताः ।  
 प्रदेशाः सकलज्ञानैर्व्योमानस्तप्रदेशकम् ॥७३॥  
 वर्तनालक्षणः कालः स स्वयं परिणामिनाम् ।  
 परिणामोपकारेण पदार्थानां प्रवर्तते ॥७४॥  
 क्रियां दिनकरादीनामुदयास्तमयात्मिकाम् ।  
 प्रविष्टायापरः कालो नास्तीत्येकं प्रवक्षते ॥७५॥

सर्वज्ञानगोचरः सर्वज्ञस्य सर्ववेदिनो ज्ञानस्य केवलज्ञानस्य गोचरो विषय इति प्रोक्तः ॥७०॥ द्रव्याणामिति ।  
 अधर्मः अधर्मद्रव्यम् । पुद्गलादीनां पुद्गलप्रभृतीनाम् । द्रव्याणां द्रव्यरूपानाम् । स्थितिकारणं स्थितेः कारणम् ।  
 धर्मवत् धर्मद्रव्यवत् । अधर्मोऽपि अधर्मद्रव्यमपि । लोकाभिर्व्यापकत्वादिधर्मं लोकाभिर्व्यापकत्वादिधर्मो यस्य स  
 इति । निगदितः ॥७१॥ नित्यमिति । यत्र चराचराणि स्थावरजङ्गमानि । भूतानि भूतद्रव्याणि । असंवाधम् ।  
 आसते तिष्ठन्ति । नित्यं स्थावरूपम् । व्यापकं व्यापकरूपम् । अवगाहैकलक्षणम् अवगाह एव एकं मुख्यं लक्षणं  
 यस्य तत् । आकाशम् आकाशद्रव्यमिति । प्रकीर्तितम् ॥७२॥ धर्मेति । सकलज्ञानं केवलज्ञानयुतं<sup>१</sup> । धर्माधर्मैक-  
 जीवानां धर्मद्रव्यस्याधर्मद्रव्यस्यैकजीवस्य च । असंख्येया संख्यातुमयोग्याः<sup>२</sup> । प्रदेशाः । प्रकीर्तिताः निरूपिताः ।  
 व्योम आकाशम् । अनन्तप्रदेशकम् अनन्ता निरवसानाः प्रदेशा यस्य तत् । प्रोक्तम् ॥७३॥ वर्तनेति  
 वर्तनालक्षणः वर्तनेव परिणाम एव लक्षणमसाधारणस्वरूपं<sup>३</sup> यस्य सः । कालः कालद्रव्यम् । स्वयं परिणामिनां  
 स्वयमेव परिणामिना परिणामसंहितानाम् । पदार्थानां द्रव्याणाम् । परिणामोपकारेण परिणामस्य परिणमनस्यो-  
 पकारोपप्राप्त्यर्थे<sup>४</sup> । प्रवर्तते तिष्ठति । वृत्तु<sup>५</sup> वर्तने लट् ॥७४॥ क्रियामिति । दिनकरादीनां सूर्यप्रभृतीनाम् ।  
 उदयास्तमयात्मिकाम् । उदयास्तमयावेवात्मा स्वरूपं यस्याः ताम् । क्रियां कृत्याम् (?) । प्रविष्टाय परित्यज्य ।  
 अपरः अन्यः । कालः कालद्रव्यम् । नास्तीति न विद्यत इति । केचित् । प्रवक्षते ब्रुवन्ति । अस्ति व्यक्तायां

है, सर्वज्ञके ज्ञानका गोचर (विषय) है ॥७०॥ पुद्गल आदि द्रव्योकी स्थितिमें जो द्रव्य कारण  
 है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं । यह अधर्म द्रव्य भी धर्म द्रव्यको तरह सारे लोकाकाशमें व्याप्त  
 है, अमूर्तिक है और है नित्य ॥७१॥ आकाश नित्य और व्यापक है । जीव आदि समस्त द्रव्योंके  
 अवगाहन देना, उसका लक्षण है । उसमें जङ्गम-व्रत और स्थावर सभी जीव बिना किसी  
 बाधाके रहा करते हैं ॥७२॥ सर्वज्ञ भगवानने धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्येय प्रदेश  
 बतलाये हैं । आकाशके अनन्त प्रदेश होते हैं ॥७३॥ वर्तना जिसका लक्षण है वह निश्चय  
 काल है । वह स्वयं परिणमनशील पदार्थोंके परिणमनमें कारण है । परिणमन कराना उसका  
 उपकार है, जिसके निमित्तसे दूसरोंके परिणमन करानेमें प्रवृत्त होता है ॥७४॥ सूर्य आदिकी  
 उदय एवं अस्त आदि क्रियाओंको छोड़कर और कोई काल द्रव्य नहीं है, यह कुछ लोग कहते

१. क ख ग घ म लोकेऽभि । २. म प्रदत्तकम् । ३. = संख्यातुमयोग्याः । ४. ल 'रण'स्य ।  
 ५. = उपग्रहेण । ६. आ वृत्तुम् । ७. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु सर्वास्वपि 'मयायिकाय' इत्येव  
 समुपलभ्यते ।

तत्र युक्तं क्रियायां हि लोके काल इति ध्वनिः ।  
 प्रवृत्तो गौणवृत्त्यैव बाहोर्क इव गोध्वनिः ॥७६॥  
 न च मुख्याद्वृत्ते गौणकल्पना नरसिंहवत् ।  
 तस्माद् द्रव्यस्वभावोऽप्यो मुख्यः कालोऽस्ति कश्चन ॥७७॥  
 रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवान् पुद्गलः स्मृतः ।  
 अणुस्कन्धप्रभेदेन द्विस्वभावतया स्थितः ॥७८॥  
 पृथिव्यादिवस्वरूपेण स्थूलसूक्ष्मादिभेदतः ।  
 छायातपादिरूपेण बहुधा स विविच्यते ॥७९॥

बाचि लट् ॥७५॥ तदिति । तत् उदयादि<sup>१</sup> । युक्तं युक्तियुक्तम् । न न भवति । लोके भुवने । क्रियायां कृत्यायाम् (?) । काल इति कालद्रव्यमिति । ध्वनिः शब्दः । बाह्ये मारबाह्ये । गोध्वनिः गौः इति शब्द इव । गौणवृत्त्यैव गौणवर्तनेनैव<sup>२</sup> । प्रवृत्तः स्थितः ॥७६॥ नेति<sup>३</sup> । न च मुख्याद् कृते मुख्यं पदार्थं विना । नरसिंहवत् नरसिंह इव । गौणकल्पना गौणस्य कल्पना अचित्तुमर्हति । यथा असाधारणं पराक्रमगुणं दृष्ट्वा नरः सिंहत्वेनोपचर्यते—नरो नरसिंहत्वेन व्यवह्रियते । परं पराक्रमवन्तं वास्तविकं सिंहं विना नरसिंह इति गौण-प्रयोगोऽसंभव एव । तस्मात् तस्मात् कारणात् । द्रव्यस्वभावः द्रव्यस्वभावोपेतः । कश्चन कश्चित् । अन्धः क्रियामानत्रत्वेन स्वीकृतव्यवहारकालाद् भिन्नः । मुख्यः कालः निश्चयकालः । अस्ति वर्तते । 'कल्पते ज्ञायते निश्चययते सङ्ख्यायते समयादिभिः पर्यादिभिरुच्यते । कालो निर्णयते यः स कालः ।' ॥७७॥ रूपेति । रूपगन्धरस-स्पर्शशब्दवान् रूपेण गन्धेन रसेन स्पर्शेन शब्देन च युक्तः । पुद्गलः पुद्गलद्रव्यमिति । स्मृतं ज्ञातं । अणु-स्कन्धप्रभेदेन अणूनां सूक्ष्माणां स्कन्धानां स्थूलानां प्रभेदेन विकल्पेन । द्विस्वभावतया द्विरूपतया । स्थितः प्रवृत्तः ॥७८॥ पृथिव्यादीति । स पुद्गलः । स्थूलसूक्ष्मादिभेदतः स्थूलादीनां बादरादीनां दृष्टमादीनां भेदतो विकल्पात् । पृथिव्यादिवस्वरूपेण पृथिव्यादीनाम्, आदिशब्देन अप्तोऽप्यस्यादीनां स्वरूपेण स्वभावेन । छायातपादि-  
 हे ॥७५॥ जनका यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि उदय आदि क्रियाओंके होनेपर लोकमें जो 'काल' व्यवहार होता है, वह गौण रूपसे ही ( लक्षणासे ही ) प्रवृत्त हुआ है । जैसे बाहीकमें लक्षणासे 'बैल' का व्यवहार होता है । बाहीक—हल चलानेवाला मनुष्य, मनुष्य है और बैल, बैल है, दोनोंमें अत्यन्त भेद है, पर बैलमें जो जड़ता और मन्दता होती है, वही हल चलाने-वालेमें भी यदि हो तो उसे भी लोग गौण रूप ( लक्षणा या उपचार ) से बैल कह दिया करते हैं । इसी तरह निश्चयकाल एक पृथक् पदार्थ है और सूर्यके उदय आदिकी क्रियाएँ पृथक्, फिर भी इन क्रियाओंमें जो 'काल' व्यवहार होता है वह गौण है ॥७६॥ और मुख्यके बिना गौण व्यवहारकी कल्पना ही नहीं हो सकती । सिंहके बिना मनुष्यमें नरसिंहका व्यवहार नहीं हो सकता । सिंह पराक्रमी होता है । यदि कोई मनुष्य भी पराक्रमी हो तो उसमें भी 'सिंह' का व्यवहार होने लगता है । अतएव काल नामक कोई मुख्य पदार्थ अवश्य है, जो उदय आदिमें होनेवाले व्यवहार कालसे भिन्न है; क्योंकि उसमें द्रव्यका लक्षण घटित होता है ॥७७॥ जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो, उसे पुद्गल कहते हैं, और वह अणु एवं स्कन्धके भेदसे दो प्रकारका है । उसमें पूरण और गलनका स्वभाव पाया जाता है, इसीलिए तो वह पुद्गल कह-लाता है, और इसीलिए उसमें अणु और स्कन्ध भेद घटित हो जाते हैं ॥७८॥ स्थूल और सूक्ष्म आदि भेदोंकी दृष्टिसे वह पुद्गल पृथिवी आदिके रूपमें या छाया एवं आतप आदिके रूप-

१. य कस्य न । २. अ<sup>३</sup> शब्दवाः । ३. = कथनम् । ४. = लक्षणयैव । ५. आ वा अन्त्य एलोकस्य व्याख्या गोपलभ्यते ।

शरीरेन्द्रियरूपेण प्राणापानाद्विपर्ययैः ।  
 प्राणिनामुपकाराय स सर्वेषां प्रवर्तते ॥८०॥  
 विभक्तमित्यजीवस्य रूपमागमवर्णितम् ।  
 संप्रत्यासन्नतत्त्वस्य किञ्चिद्द्रष्टुं निरूप्यते ॥८१॥  
 कर्मणामागमद्वारमाश्रयं संप्रचक्षते ।  
 स कायवाङ्मनःकर्मयोगत्वेन व्यवस्थितः ॥८२॥  
 शुभः पुण्यस्य पापस्य विपरीतः प्रकीर्तितः ।  
 सकषायोऽकषायश्च तस्य द्वौ स्वामिनौ स्मृतौ ॥८३॥  
 तत्रासादनमात्सर्यगुरुनिह्वयनादयः ।  
 ज्ञानावृत्तिदृगावृत्त्योराश्रयत्वेन वर्णिताः ॥८४॥

रूपेण ज्ञायातपादीनाम्, आदिकण्ठेन उलोतादीनां रूपेण स्वभावेन । बहुधा बहुभिः प्रकारैः । विभिद्यते विकल्प्यते । मिदं विदारणे कर्मणि लट् ॥७९॥ शरीरेति । सः पुद्गलः । शरीरेन्द्रियरूपेण शरीराणां देहानामिन्द्रियाणां च रूपेण स्वरूपेण । प्राणापानाद्विपर्ययै प्राणापानादिभिरुच्छ्वासनिश्वासादिभिः पर्ययैः परिणामैः । सर्वेषां समत्तानाम् । प्राणिना जीवानाम् । उपकाराय उपकृतये । प्रवर्तते आस्ते । घृतं वर्तते लट् ॥८०॥ विभक्तमिति । आगमवर्णितम् आगमेन जिज्ञागमेन वर्णितं प्रोक्तम् । अजीवस्य अजीवद्रव्यस्य । रूपं स्वरूपम् । इति उक्तप्रकारेण । विभक्तं विभागं प्रणीतम् । संप्रति इदानीम् । आसूतत्त्वस्य आसूतवपदार्थस्य । रूपं स्वरूपम् । किञ्चित् ईदृशं । निरूप्यते प्रकीर्तयते । रूपं रूपाक्रियाया कर्मणि लट् ॥८१॥ कर्मणि । कर्मणा ज्ञानावस्थादीनाम् । आगमनद्वारम् आगमनस्य द्वारम् । आश्रयम् । संप्रचक्षते प्रतिपादयन्ति । सः आसूतः । कायवाङ्मनःकर्मयोगत्वेन कायश्च वाक् च मनश्च कायवाङ्मनासि तेषां कर्म कायवाङ्मनस्कर्म, कायवाङ्मनस्कर्मयोगः, तस्य भावः तेन । व्यवस्थितः । 'कायवाङ्मनस्कर्म योगः' इति वचनात् ॥८२॥ शुभ इति । शुभः प्रशस्ताश्रयः । पुण्यस्य शुभकर्मसम्बन्धस्य । विपरीतः अनुभासवः । पापस्य अशुभकर्मसम्बन्धस्य । इति प्रकीर्तितः प्रकृतितः । सः साम्प्रदाय (यि) क जीवः । तस्य आसूतस्य । कषायः क्रोधादि सहितः [ सकषायः<sup>१</sup> ] । अकषायः क्रोधादिरहितः इति । [ तस्य<sup>२</sup> ] । द्वौ द्विसंख्यौ । स्वामिनौ कर्तारौ । स्मृतौ ज्ञातौ ॥८३॥ तत्रेति । तत्र आसूते । आसादनमात्सर्यगुरुनिह्वयनादयः आसादनं ज्ञानवस्तु विनयाभावः तच्च, मात्सर्यं तेषु मत्सरत्वं तच्छ, गुरुनिह्वयो गुरुषु नष्टावृत्तेषु निह्वयोऽपलापः । स च तथोक्ता आसादनमात्सर्यगुरुनिह्वयनादयो<sup>३</sup> येषां ते । ज्ञानावृत्तिदृगावृत्त्योः ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः । आसूतत्वेन आगमत्वेन । वर्णितः निरूपितः ॥८४॥

में नाना प्रकारसे विभक्त हो जाता है ॥७९॥ शरीर, इन्द्रिय और द्वासोच्छ्वास आदिके रूपमें वह पुद्गल सभी प्राणियोंके उपकारमें लगा हुआ है ॥८०॥ इस प्रकारसे अजीव तत्त्वके भेदों और उनके स्वरूपका आगमानुसार वर्णन किया, अब थोड़ा-सा आसूत तत्त्वका निरूपण किया जा रहा है ॥८१॥ कर्मोंके आनेके द्वारको आसूत कहते हैं, वह मन, वचन और कायकी चंचलता (योग) से होता है ॥८२॥ शुभ यो । पुण्यासूतका और अशुभ योग पापासूतका कारण है । उस आसूतके स्वामी दो हैं—(१) सकषाय जीव और (२) अकषाय जीव । सकषाय जीवोंके साम्प्रदायिक आसूत होता है और अकषाय जीवोंके ईर्यापथ आसूत होता है ॥८३॥ आसादन, मात्सर्य और गुरुका नाम छिपाना आदि, ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आसूतके कारण

१. स विरक्तः । २. आश अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति । ३. = क्रोधादिकषायसहितः ।  
 ४. = आसूतस्य । ५. = आदौ ।

परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दवधादयः ।  
 असातवेदनीयस्य कर्मणः समनुस्मृताः ॥८५॥  
 सरागसंयमो दानं शौचं क्षान्त्यनुकम्पने ।  
 इत्येवमादयो ज्ञेयाः सातवेदस्य कर्मणः ॥८६॥  
 केवलिभृतघर्माणां देवस्य च गणस्य च ।  
 अवर्णवदनं दृष्टिमोहनीयस्य कीर्तितम् ॥८७॥  
 यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः प्रजायते ।  
 चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः सोऽनुवर्णितः ॥८८॥  
 नारकस्यायुषो ज्ञेयो बह्वारम्भपरिग्रहः  
 माया बहुविधाकारा तैर्यग्योनस्य कीर्तिताः ॥८९॥  
 मानुषस्यावगन्तव्यः स्वल्पारम्भपरिग्रहः ।  
 सरागसंयमत्वादि दैवस्य परिवर्णितम् ॥९०॥

परिदेवनेति । परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दवधादयः परिदेवन विप्रलापः तच्छब्दः, संतापः पश्चात्तापः स च, शोको दुःखं स च, आक्रन्द आक्रोशः स च, वध प्राण्यपरोपणं स च, तथोक्ताः परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दवधाः ते आदयो येषां ते । असातवेदनीयस्य असातवेदनीयाख्यस्य कर्मणः । आसूत्रा इति । समनुस्मृताः सम्यग्ज्ञाताः ॥८५॥ सारागेति । सरागसंयमः सगमो रागसहितः संयमश्चारित्र्यम् । दानं लोभाभावाः । शौचं क्रोधाद्यभावाः । क्षान्त्यनुकम्पने क्षान्तिः क्षमा सा च अनुकम्पनं प्राणिदया तत्तत्तथोक्ते । इत्येवमादयः एवं प्रभृतयः । सातवेदस्य सातवेदनीयाख्यस्य कर्मणः । आसूत्रा । ज्ञेयाः ॥८६॥ केवलीति । केवलिभृतघर्माणां केवली अहंत्वरमेष्टी श्रुतं त-प्रणीतागमो धर्मो रत्नत्रयस्वरूपः तेषाम् । देवस्य श्रुतिक्रियायामरसमूहस्य । गणस्य शत्रुः सङ्घस्य । अवर्णवाद-नम् अवर्णस्य निन्दाया वादनं वचनम् । केवलिनः कबलाहारत्वम् । श्रुतस्य हिंसाप्रतिपादनम् । धर्मस्य दयावि-लोपनम् । देवस्य ॥८७॥ च इति । कषायोदयात् कषायस्य क्रोधादिस्वभावस्योदयाद् विपाकात् । यः । तीव्रः क्रूरः । परिणामः परिणतिः । प्रजायते समुत्पद्यते । जनैर्द्रादुर्भावे । सः परिणामः । चारित्रमोहनीयस्य चारित्र-मोहस्य । कर्मणः कर्मपरोतं पुद्गलस्य । अनुवर्णितः आसूत्रत्वेन वर्णितः ॥८८॥ नारकस्येति । बह्वारम्भपरिग्रहः बहुना बहुत्वेनारम्भेण पापव्यापारेण युक्तः परिग्रहः । नारकस्य नरकसंघस्य । आयुषः आयुष्यस्य । ज्ञेयः आसूत्र इति ज्ञातव्यः । बहुविधाकारा बहुविधेनाकारेण युक्ताः । मायाः मायाकषायाः । तैर्यग्योनस्य तैर्यग्य-न्मनः । कीर्तिताः आसूत्रत्वेन निरूपिताः ॥८९॥ मानुषस्येति । अ[स्व]ल्पारम्भपरिग्रहः अ[स्व]ल्पेन मृतोके-नारम्भेण युक्तः परिग्रहः क्षेत्रादिपरिग्रहः । मानुषस्य मनुष्यायुष्यस्य । अवगन्तव्यः आसूत्र इत्यवगन्तव्यो ज्ञातव्यः । सरागसंयमत्वादि सरागसंयमत्वादि चारित्र्यत्वादि । देवस्य देवायुष्यस्य । परिवर्णितं प्रवृत्तम्

है ॥८४॥ परिदेवन, सन्ताप, शोक, आक्रन्दन और वध आदि असातावेदनीय कर्मके आसूत्रके कारण है ॥८५॥ सराग संयम, दान, शौच-लोभका परित्याग, क्षान्ति-क्षमा और अनुकम्पा आदि सातावेदनीय कर्मके आसूत्रके कारण है ॥८६॥ केवली, श्रुत, धर्म, देव और सङ्घका अवर्णवाद करना ( झूठे दोष लगाना ) दर्शन मोहनीय कर्मके आसूत्रके कारण है ॥८७॥ कषाय-के उदयसे ओ तीव्र परिणाम होता है, वह चारित्रमोहनीय कर्मके आसूत्रका कारण है ॥८८॥ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायुके आसूत्रके कारण हैं । नाना प्रकारकी माया तैर्यग्योनिके आसूत्रका कारण है ॥८९॥ थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्यायुके आसूत्रका

१. एष टीकाध्वः पाठः, प्रतिपु तु 'अवर्णवदनं' इत्येव दृश्यते । २. = यद्यमांशोऽप्येवमाद्याभोषणम् । गणस्य च शत्रुत्वसङ्घस्य च शत्रुत्वान्मूलपरिग्रहाद्विभक्तिर्भवति । दृष्टिमोहनीयस्य दर्शनमोहनीयस्य । कीर्तितं प्रति-पादितम् । आसूत्रवहेतुत्वेन—इति शेषः । ३. = कर्मपरिणतम् । ४. = नरकसंघनिधनः ।

विसंवादनमप्यन्तयोगवक्रत्वमित्यपि ।  
 नास्नोऽशुभस्य विज्ञेयं विपरीतं शुभस्य च ॥६१॥  
 विज्ञेयास्तीर्थकुशास्नो हृक्शुद्धपाद्याश्च षोडश ।  
 स्वप्रशंसाभ्यनिन्वादि नीचैर्गोत्रस्य वर्णितम् ॥६२॥  
 स्वनिन्दान्यप्रशंसादिरुच्चैर्गोत्रस्य गम्यताम् ।  
 दानादिविघ्नकरणमन्तरायस्य कीर्तितम् ॥६३॥  
 इत्यास्त्रपदार्थस्य तत्त्वं समुपवर्णितम् ।  
 अधुना बन्धतत्त्वस्य स्वरूपं व्याकरिष्यते ॥६४॥  
 असम्बद्दर्शनं योगा विरतेश्च<sup>३</sup> विपर्ययः ।  
 प्रमादाश्च कषायाश्च पञ्च बन्धस्य हेतवः ॥६५॥

॥६०॥ विसंवादनमिति । विसंवादनम् अभ्यवाप्रवर्तनम् । अत्यन्तयोगवक्रत्वम् अत्यन्तं योगानां मनोवाक्काय-  
 व्यापाराणां वक्रत्वं कीटिरुच्यम् । इत्यपि एवमपि । अशुभस्य अप्रशस्तस्य । नाम्नः नामवर्णनः । विज्ञेयम् आस-  
 वणमिति विज्ञेयम् । विपरीतम् । अविसंवादनं योगसरलत्वं च । शुभस्य प्रशस्तनामकर्मणः । आम्बु इति ज्ञेयः  
 ॥६१॥ विज्ञेया इति । दुक्शुद्धपाद्याश्च दर्शनशुद्धपादयः । षोडश षोडशभाजनाः । तीर्थकुशास्नः तीर्थकुशानाम-  
 कर्मणः । विज्ञेयाः आसूत्रा इति विज्ञेया आतव्याः । स्वप्रशंसाभ्यनिन्वादि स्वस्य आत्मनः ॥६२॥ (स्वनिन्देति ।  
 स्वनिन्द्यान्वप्रसादादिः स्वस्यात्मनो निन्दा दोषकीर्तनमायस्य प्रशंसा गुणकीर्तनं च तत्प्रभृति । उच्चैर्गोत्रस्य  
 उच्चगोत्राभिष्य कर्मणः । गम्यताम् आलवहेतुत्वेन ज्ञायताम् । ) दानादिविघ्नकरणं दानादीनाम् आविपदेन  
 लाभयोगादिग्रहणं विघ्नकरणं विघ्नस्य प्रत्युहस्य कारणं विधानम् । अन्तरायस्य अन्तरायकर्मणः । कीर्तितं प्ररूपितम्  
 ॥६३॥ इतीति । इति एवम् । आसूत्रपदार्थस्य आसूत्रस्य पदार्थस्य । तत्त्वं स्वरूपम् । समुपवर्णितं कीर्तितम् । अधुना  
 इदानीम् । बन्धतत्त्वस्य बन्धपदार्थस्य । स्वरूपं लक्षणम् । व्याकरिष्यते व्याख्यास्यते । हुक्ञ्कारेण लृट् ॥६४॥  
 असम्बद्गति । असम्बद्दर्शनं पञ्चविधमिष्यात्वम् । योगा कायवाङ्मनोयोगाः । विरतेश्च चारित्र्यस्य । विप-  
 र्ययः नाश । प्रमादाश्च राजकयादिपञ्चदशप्रमादाः । कषायाश्च क्रोधादिविषयकषायाश्च । पञ्च पञ्चविधाः ।

कारण है । सारागसंयम आदि देवायुके आसूत्रके कारण है ॥६०॥ विसंवाद और योगोंकी  
 अत्यधिक वक्रता अशुभनाम कर्मके आसूत्रके कारण है तथा अविसंवाद एवं योगोंकी अत्यधिक  
 सरलता शुभनाम कर्मके आसूत्रके कारण है ॥६१॥ दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ तीर्थ-  
 स्नान नाम कर्मके आसूत्रमें कारण हैं । अपनी प्रशंसा, और, औरोकी निन्दा आदि नीचगोत्रके  
 आसूत्रके कारण हैं ॥६२॥ अपनी निन्दा और दूसरोंकी प्रशंसा करना उच्चगोत्रके आसूत्रके  
 कारण हैं । दान आदिमें विघ्न करना अन्तराय कर्मके आसूत्रमें कारण है ॥६३॥ इस प्रकारसे  
 आसूत्रके स्वरूपका निरूपण किया, अब बन्धनामक तत्त्वके स्वरूपका निरूपण किया जा रहा  
 है—॥६४॥ मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाया और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं ॥६५॥

१. अ वा इ क ख ग घ ङीतिताः । २. म<sup>४</sup> वर्णितम् । ३. अ योगो विरतेश्च, म योगाविरतेश्च ।  
 ४. = प्रशंसा दलाया, अयस्य परस्य निन्दादि दोषकषणादिकम् । नीचैर्गोत्रस्य नीचगोत्रस्य । वर्णितम्  
 आसूत्रहेतुत्वेन कीर्तितम् ।

सकषायतया जन्तोः कर्मयोग्यैर्निरन्तरम् ।  
 पुद्गलैः सह संबन्धो बन्ध इत्यभिधीयते ॥६६॥  
 विभेदात्प्रकृतिस्थित्योरनुभागप्रदेशयोः ।  
 जिनागमनदी स्नातैर्विज्ञेयः स चतुर्विधः ॥६७॥  
 ज्ञानदृष्ट्यावृत्ती वेद्यं मोहनीयायुषी तथा ।  
 नामगोत्रान्तरायाश्चेत्यष्टौ प्रकृतयः स्मृताः ॥६८॥  
 भेदाः पञ्च नव द्वौ च विशतिश्चाष्टसंयुताः ।  
 चतुर्विधत्वारिंशद् द्वौ पञ्च तासामनुक्रमम् ॥६९॥  
 ज्ञानावृत्तिद्वगावृत्योर्वेदनीयान्तराययोः ।  
 सागरोपमकोटीनां कोटयस्त्रिंशत्परा स्थितिः ॥१००॥

बन्धस्य । हेतवः कारणानि । स्युः भवेयुः ॥१५॥ सकषायेति । जीवस्य संसारिजीवस्य । सकषायतया क्रोधादि-  
 कषाययुक्ततया । कर्मयोग्यैः कर्मणां योग्यैश्चितैः । पुद्गलैः पुद्गलपरमाणुभिः । सह साकम् । निरन्तरं सततम् ।  
 संबन्धः संयोगः । बन्ध इति बन्धपदार्थ इति । अभिधीयते निगद्यते । बुधाब्धौ धारणे च कर्मणि लट् ॥६६॥  
 विभेदादिति । जिनागमनदीस्नातैः जिनागम एव विनशासनमेव नदी तरङ्गिणो तस्यां स्नातैः स्नानं कृतैः  
 ( निष्णातैः ) मुनीश्वरैः । प्रकृतिस्थित्योः प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धयोः । अनुभागप्रदेशयोः अनुभागबन्धप्रदेश  
 (बन्ध) योश्च । विभेदात् विकल्पात् । सः बन्धः । चतुर्विधः चत्वारो विधाः प्रकारा यस्य सः । इति विज्ञेयः  
 वेदितव्यः ॥६७॥ ज्ञानेति । ज्ञानदृष्ट्यावृत्ती ज्ञानदृष्ट्योजनदर्शनयोरावृत्ती आवरणे । वेद्यं वेदनीयम् । मोहनी-  
 यायुषी मोहनीयायुष्यकर्मणी । तथा तेन प्रकारेण । नामगोत्रान्तरायाश्च नामकर्म-गोत्रकर्म-अन्तरायकर्मणि च ।  
 इति एवम् । अष्टौ अष्टसंस्थाः । प्रकृतयः प्रकृतय इति । स्मृताः जाताः ॥६८॥ भेदा इति । पञ्च, नव, द्वौ  
 च, अष्टसंयुता अष्टभिः संयुता सहिता विशतिश्च, चतुर्विधत्वारिंशद्वा (?) चत्वारश्च (द्वि) चत्वारिंशच्च द्वौ  
 च चतुर्विधत्वारिंशद्वा (?) पञ्च । तासां प्रकृतीनाम् । अनुक्रमम् । भेदाः विकल्पाः । स्युः । ज्ञानावरणी-  
 यस्य पञ्च भेदाः । दर्शनावरणीयस्य नव भेदाः । वेदनीयस्य द्वौ भेदौ । मोहनीयस्य अष्टाविंशतिर्भेदाः । आयु-  
 ष्यस्य चतुर्भेदाः । नामकर्मणः द्वाचत्वारिंशद्भेदाः । गोत्रस्य द्वौ भेदौ । अन्तरायस्य पञ्च भेदा इत्यर्थः ॥६९॥  
 ज्ञानेति । ज्ञानावृत्तिद्वगावृत्योः ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीययोः । वेदनीयान्तराययोः वेदनीयकर्मन्तरायकर्मणोः ।  
 परा प्रकृष्टा । स्थितिः स्थितिबन्धः । सागरोपमकोटीनां सागरोपमाणां कोटयः तासाम् । त्रिंशत् त्रिंशत्संस्थाः

सकषाय होनेके कारण जीवका कर्मयोग्य पुद्गलोंसे जो सम्बन्ध होता है, उसे बन्ध कहते हैं  
 ॥२६॥ प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धके भेदसे जैन आगमके निष्णात  
 विद्वानोंने बन्ध चार प्रकारका बतलाया है, जो सभीके लिए जानने योग्य है ॥६७॥ ज्ञानावरण,  
 दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ प्रकृतिबन्धके भेद  
 हैं ॥६८॥ इन ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंके क्रमसे (१) पाँच, (२) नौ, (३) दो, (४) अष्टा-  
 ईस, (५) चार, (६) बयालीस, (७) दो और (८) पाँच भेद हैं—ज्ञानावरणके पाँच, दर्शना-  
 वरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अष्टाईस, आयुके चार, नामके बयालीस, गोत्रके दो और  
 अन्तरायके पाँच ॥६९॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंकी

१. अ नदीस्नातैः । २. वा 'भवेयुः' इति नास्ति । ३. वा बुधाब्धौ । ४. वा 'प्रकृतयः' इति नास्ति ।  
 ५. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'चत्वारिंशद् द्वौ' इत्येवावलोक्यते ।



सप्ततिमोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयोः ।

आयुषश्च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमसंमिताः ॥१०१॥

मुहूर्ता वेदनीयस्य द्वादशैवापरा स्थितिः ।

स्यान्नामगोत्रयोरष्टौ शेवाश्चान्तर्मुहूर्तकाः ॥१०२॥

कर्मणां यो विपाकस्तु भवक्षेत्राद्यपेक्षया ।

सोऽनुभागः सामान्नातो जिनैः केवललोचनैः ॥१०३॥

योगभेदाद्वन्ता ये प्रदेशाः कर्मणः स्थिताः ।

सर्वेष्व्वात्मप्रदेशेषु स प्रदेश इति स्मृतः ॥१०४॥

एवमेव चतुर्भेदमिषो बन्धो निरूपितः ।

संवरस्याधुना रूपं किंचिदुच्यतेयिष्यते ॥ १०५ ॥

कोटयः प्रयुतप्रमाः<sup>१</sup> । स्युः ॥१००॥ सप्ततिरिति । मोहनीयस्य मोहनीयकर्मणः । सप्ततिः सप्ततिकोटि-कोटि-सागरोपमाः । नामगोत्रयो नामगोत्रकर्मणोः । विंशतिः विंशतिकोटि-कोटिमागरोपमाः । आयुषस्तु<sup>२</sup> आयुष्य-कर्मणः । सागरोपमप्रमिता<sup>३</sup> सागरोपमं । प्रमिता संमिता । त्रयस्त्रिंशत् त्रिभिरधिका त्रिंशत् । 'द्वाष्टात्रय-' इत्यादिना त्रयस्-आदेशः ॥१०१॥ मुहूर्ता इति । वेदनीयस्य वेदनीयकर्मणः । द्वादशैव द्वाष्ट्यामधिका दश द्वादशैव । मुहूर्ता मुहूर्तप्रमाणा । अपरा जघन्या । स्थितिः स्थितिवन्धः । नामगोत्रयो नामगोत्रकर्मणोः । अष्टौ मुहूर्ताः । शेवाः प्रकृतयस्तु । अन्तर्मुहूर्तकाः<sup>४</sup> अन्तर्मुहूर्तसहिताः ॥१०२॥ कर्मणामिति । भवक्षेत्राद्यपेक्षया भवस्य नरकादीनां भवस्य क्षेत्रादीनां नरकादिक्षेत्रादीनामपेक्षया विवक्षया, आदिशब्देन कालभावद्वयानि ग्राह्याणि । यः । कर्मणा ज्ञानावरणादीनाम् । विपाकः परिणतिः । सः फलादानपरिणामः । केवललोचनैः केवलमेव केवलज्ञानमेव लोचनं येषां तैः । जिनैः जिनैस्वरैरहंन्द्रिः । अनुभागः<sup>५</sup> अनुभागबन्धः । सामान्नातः निरूपितः ॥१०३॥ योगेति । योगभेदात् कायवाङ्मनोयोगना भेदाद् विकल्पात् । कर्मणः ज्ञानावरणादेः । सर्वेषु सकलेषु । आत्मप्रदेशे आत्मनो जीवस्य प्रदेशेषु । ये । अनन्ताः अनन्तपरिमाणः । प्रदेशाः स्थिताः आसिताः<sup>६</sup> । सः प्रदेश इति प्रदेशबन्ध इति । स्मृतः ज्ञातः ॥१०४॥ एवमिति । एवं प्रकारेण । चतुर्भेदमिष चतुर्भिर्भेदभिन्नो युक्तः । एषः अयम् । बन्धः बन्धपदार्थः । निरूपितः प्रकीर्तितः । अधुना इदानीम् । संवरस्य संवरपदार्थस्य । रूपं

उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है ॥१००॥ मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है, नाम और गोत्र इन दो कर्मोंकी बीस-बीस कोडा-कोडी सागर प्रमाण है और आयुर्कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तैत्तीस सागर प्रमाण है ॥१०१॥ वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है; नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है और शेष कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥१०२॥ भव और क्षेत्र आदि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव) की अपेक्षासे कर्मों के विपाकको अनुभाव बन्ध जानना चाहिए । केवलज्ञानी भगवान् जितेन्द्रदेवने ऐसा निरूपण किया है ॥१०३॥ योगोंकी विशेषताके अनुसार आत्माके सभी प्रदेशोमें प्रति समय जो कर्मोंके अनन्तप्रदेश आकर स्थित होते हैं, इसीको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥१०४॥ इस प्रकार चार भेदोंमें विभक्त बन्धका

१. श 'कोटयः' इति नास्ति । २. श युतप्रमाः । ३. आ आयुषस्य, मूलप्रतिषु च आयुषश्च । ४. मूलप्रतिषु तु संमिता । ५. श मुहूर्ता, मुद्रितप्रती तु मुहूर्तकम् । ६. एष टीकास्थ पाठः, प्रतिषु तु 'अनुभावः' सम्पलभ्यते । ७. श 'आसिताः' इति नोपलभ्यते ।

आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।  
 कर्म संक्रियते येनेत्येवं व्युत्पत्तिसंश्रयात् ॥१०६॥  
 चारित्रगुण्यनुप्रेक्षापरीषहजयादसौ ।  
 दशलक्षणधर्माश्च समितिभ्यश्च जायते ॥१०७॥  
 इति संवरतत्त्वस्य रूपं संक्षिप्य कीर्तितम् ।  
 इदानीं क्रियते किञ्चिन्निराया निरूपणम् ॥१०८॥  
 यथाकालकृता काचिदुपक्रमकृतापरा ।  
 निर्जरा द्विविधा ज्ञेया कर्मक्षपणलक्षणा ॥१०९॥  
 या कर्मभुक्तिः श्वभ्रादौ सा यथाकालजा स्मृता ।  
 तपसा निर्जरा या तु सा चोपक्रमनिर्जरा ॥११०॥

स्वरूपम् । किञ्चित् स्त्रोक्तम् । उद्यतयिष्यते प्रकाशयिष्यते । यत् दीप्तौ गिज्ज्तास्तद् ॥१०५॥ आस्रवस्येति । आस्रवस्य कर्मणामास्रवस्य । यः । निरोधः निवारणम् । संवर इति संवरपदार्थ इति । निगद्यते । गद्य व्यक्त्यां वाचि कर्मणि लट् । अनेन एतेन । कर्म ज्ञानावरणादि । संक्रियते निरुध्यते । इति एवं प्रकारेण । व्युत्पत्तिसंश्रयात् व्युत्पत्तेनिरुक्तेः संश्रयात् आश्रयात् ॥१०६॥ चारित्रेति । अमो संवरः । चारित्रगुण्यनुप्रेक्षापरीषहजयात् चारित्रं त्रयोदशविधं तच्च, गुप्तिर्वत्तः संसारकारणादात्मनो घोषनं गुप्तिः सा च, अनुप्रेक्षा शरीरादीनां स्वभावानुचितान्-मनुप्रेक्षा सा च, परीषहजयात् परीषहाणां क्षुत्पिपासादीनां जयो विजयः स च, तथोक्ताः, तेषां समाहारः चारित्रगुण्यनुप्रेक्षापरीषहजयं तस्मात् । दशलक्षणधर्माश्च दशलक्षणान्वयाधारणस्वरूपाणि यस्य तस्मात् धर्मात् इष्टस्थाने धरणरूपात् । समितिभ्यश्च प्राणिपीडापरिहारपरिणतिः समितिः, पञ्च समितयः ताम्यश्च । जायते समुत्पद्यते । लट् ॥१०७॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । संवरतत्त्वस्य संवरपदार्थस्य । रूपं स्वरूपम् । संक्षिप्य समस्य । कीर्तितं प्रोक्तम् । इदानीम् अधुना । निर्जरायाः निर्जरापदार्थस्य । निरूपणम् अनुवर्णनम् । किञ्चित् ईषत् । क्रियते विधीयते । कर्मणि लट् ॥१०८॥ यथेति । तावत् । यथाकालकृता यथाकालं काल-मनतिक्रम्य कृता विहिता । अपरा भव्या । उपक्रमकृता उपक्रमेण कृता विहिता । कर्मक्षपणलक्षणा कर्मणां ज्ञानावरणादीनां क्षपणं विनाशः तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा । निर्जरा निर्जरापदार्थः । द्विविधा द्विप्रकारा-दौ विधौ प्रकारौ यस्याः सा । ज्ञेया वेदितव्या ॥१०९॥ येति । श्वभ्रादौ नरकादिगत्याम् । कर्मभुक्तिः कर्मणां भुक्तिरनुभवना जायते । या निर्जरा । सा यथाकालजा कालमनतिक्रम्य जनिता इति । स्मृता ज्ञाता । या तु ।

निरूपण किया, अब थोड़ा संवरके स्वरूपपर प्रकाश डाला जा रहा है ॥१०५॥ आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं । आनेवाले कर्मोंका जिसके द्वारा संवरण हो—निरोध हो, उसे संवर कहते हैं—‘कर्म संक्रियते येन स संवरः’ यह संवरकी व्युत्पत्ति है । इसी व्युत्पत्तिके आधारपर उक्त अर्थ किया गया है ॥१०६॥ यह संवर, चारित्र, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, दशलक्षण-धर्म और समितिमेंसे होता है ॥१०७॥ इस प्रकार संक्षेपमें संवरतत्त्वका स्वरूप कहा, अब थोड़ा निर्जराका निरूपण किया जा रहा है ॥१०८॥ पहले बंधे हुए कर्मोंका अंशतः क्षपण होना—झड़ना निर्जराका लक्षण है, और वह निर्जरा दो प्रकारकी होती है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । स्वाभाविक क्रमसे प्रति समय कर्मोंका, फल देकर झड़ना सविपाक निर्जरा है । इसीका दूसरा नाम अनुपक्रम निर्जरा या यथाकाल निर्जरा है । तपके द्वारा कर्मों-का उनके उदयके समयके पहले ही झड़ना देना अविपाक निर्जरा है । इसीका दूसरा नाम उपक्रम निर्जरा है ॥१०९॥ नरक आदि गतियोंमें कर्मोंका फल भोगना—अपने समयके अनुसार फल

स्थितं द्वादशभिर्भेदैर्निर्जराकरणं तपः ।  
 बाह्यमाभ्यन्तरं चेति मूलभेदद्वयान्वितम् ॥१११॥  
 उपवासावमोदयं वृत्तिसंख्या रसोऽन्नम् ।  
 विविक्तवासता<sup>१</sup> कायक्लेशश्चेति बहिर्भवम् ॥११२॥  
 स्वाध्यायो व्यावृत्तिर्ध्यानं व्युत्सर्गो विनयस्तथा ।  
 प्रायश्चित्तमिति ज्ञेयमान्तरं षड्विधं तपः ॥११३॥  
 स्वाध्यायानशानादीनां व्यक्तत्वादप्रपञ्चनम् ।  
 क्रियते दुर्विबोधत्वाद्ध्यानस्यैव प्रपञ्चनम् ॥११४॥  
 आर्तं रौद्रं च धर्मं च शुक्लं चापि चतुर्विधम् ।  
 ध्यानमाख्यातमर्हद्भिः शुभाशुभगतिप्रदम् ॥११५॥

उपक्रमनिर्जरा उपक्रमेण जाता निर्जरा<sup>३</sup> । स्मृता ॥११०॥ स्थितमिति । निर्जराकारणं निर्जरायाः कर्मविनाशस्य कारणं हेतुः । तपः<sup>४</sup> तपस्वरणम् । द्वादशभिः । भेदैः विकल्पैः । स्थितम् आसितम् । बाह्यं बहिर्जातम् । आभ्यन्तरं चेति अन्तरङ्गजनितं चेति । मूलभेदद्वयान्वितं मूलभेदयोर्द्वयेनाविवृतं सहितम् ॥१११॥ उपवासेति । उपवासावमोदयं उपवासोऽन्नशनं स च, अवमोदयम् अवमं रिक्तमुदरं जठरं यस्य सोऽवमोदरः तस्य भावोऽवमोदयं तच्च तपोक्ते । वृत्तिसंख्या । रसोऽन्नं रसानां शीरघृतादीनामुत्पन्नं त्यजनम् । विविक्तवासता विविक्ते एकान्ते वासता स्थितित्वम् । कायक्लेशश्चेति कायक्लेश इति । बहिर्भवं बा<sup>५</sup> । तप इति स्मृतम् ॥११२॥ स्वाध्याय इति । स्वाध्यायः श्रुताध्ययनम् । व्यावृत्तिः<sup>६</sup> वैयावृत्यम् । ध्यानम् एकाग्रचित्तानिरोधक्षणम् । व्युत्सर्गः कायोत्सर्गः । विनयः ज्ञानादिविनयः । तथा तेन प्रकारेण । प्रायश्चित्तमिति । आन्तरम् अन्तरङ्गभवम् तपः तपस्वरणम् । षड्विधं षट्प्रकारम् । ज्ञेयं वेदितव्यम् ॥११३॥ स्वाध्याय इति । स्वाध्यायानशानादीनां स्वाध्यायानशने आदौ येषां तेषाम् । व्यक्तत्वात् विशदत्वात् । अप्रपञ्चनम् अविवेचनम् । ध्यानस्यैव दुर्विबोधत्वात् शानुमशक्यत्वात् । प्रपञ्चनं विवरणम् । क्रियते विधीयते । कर्मणि लट् ॥११४॥ आर्तमिति । शुभाशुभगतिः प्रदं शुभगत्यशुभगती प्रददातीति शुभाशुभगतिप्रदम् । ध्यानम् । आर्तम् ऋते भवमार्तम् । रौद्रं रोदयतीति रुद्रः तस्य भावो रौद्रम् । धर्मं<sup>७</sup> च धर्मादिनपेतम् । शुक्लं चेति शुक्लमिति । चतुर्विधं चत्वारो<sup>८</sup> विधा विकल्पा

देकर बद्ध कर्मों का अंशतः सङ्ग जाना यथाकालजा—सविपाक निर्जरा है, और जो तपस्वरणसे कर्मों की निर्जरा होती है वह उपक्रम निर्जरा या अविपाक निर्जरा कहलाती है ॥११०॥ निर्जराका कारण तप है, जो बारह प्रकारका है । तपके मूल भेद दो हैं, बाह्य और आभ्यन्तर ॥१११॥ बाह्य तप छह प्रकारका है—अनशन, अवमोदय, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शयनासन और कायक्लेश ॥११२॥ स्वाध्याय, वैयावृत्ति, ध्यान, व्युत्सर्ग, विनय और प्रायश्चित्त ये छह आभ्यन्तर तप जानने चाहिए ॥११३॥ स्वाध्याय और अनशन आदि किसे कहते हैं; यह स्पष्ट है, अतः इनका विस्तार छोड़ते हैं । दुर्बोध होनेके कारण केवल ध्यानका ही विस्तार किया जा रहा है ॥११४॥ भगवाद् अरिहंतने उस ध्यानके चार भेद बतलाये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म, और शुक्ल । इनमें आर्त और रौद्र

१. म रसोऽन्नम् । २. अ विविक्ता वासता, आ इ विविक्तावासता, म विविक्तवासता । ३. = तपसा तपस्वरणेन । निर्जरा जायते । सा च । ४. सा 'तपः' इति नोपलभ्यते । ५. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'व्यावृत्तिः' वर्तते । ६. स रोदयतीति । ७. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'धर्मं च' इति सम्पुल्लभ्यते । ८. = चत्वारो ।

अनिष्टसंगमे तस्य वियोगपरिचिन्तनम् ।  
 विप्रयोगे मनोज्ञस्य समागमविचिन्तनम् ॥११६॥  
 रोगादिजनितायाश्च वेदनाया मुहुः स्मृतिः ।  
 निदानं चेति चत्वारो भेदाः पूर्वस्य कीर्तिताः ॥११७॥  
 रौद्रं हिंसानृतस्तेयविषयप्रतिपालनैः  
 चतुर्मिर्जायमानत्वात्कारणैः स्याच्चतुर्विधम् ॥११८॥  
 आज्ञा विपाकविचयावपायविचयस्तथा ।  
 संस्थानविचयश्चेति धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥११९॥  
 पृथक्त्वादिवितर्कान्तं शुक्लमाद्यमुदीरितम् ।  
 एकत्वादिवितर्कान्तं द्वितीयमनुगद्यते ॥१२०॥

यस्य तत् । अर्हद्भिः सर्वज्ञैः । आख्यातं प्रोक्तम् ॥११५॥ अनिष्टेति । अनिष्टसङ्गमे अनिष्टस्य सङ्गमे संयोगे सति । तस्य अनिष्टवस्तुनः । वियोगपरिचिन्तनं वियोगे विगमे परिचिन्तनं स्मरणम् । ॐ मनोज्ञस्य इष्टवस्तुनः । विप्रयोगे विरहे सति । समागमनचिन्तनं समागमने संप्रापणे चिन्तनं स्मरणम् ॥११६॥ रागेति । रागादिजनितायाश्च रागादिभ्यो रागद्वेषादिभिर्जनितायाश्च । वेदनायाः पीडायाः । मुहुः स्मृतिः विगमचिन्तनम् । निदानं चेति संपदाद्यपेक्षणं चेति । पूर्वस्य आर्तध्यानस्य । चत्वारः । भेदाः विकल्पाः । कीर्तिताः निरूपिताः ॥११७॥ रौद्रमिति । रौद्रं रौद्रध्यानम् । हिंसानृतस्तेयविषयप्रतिपालनैः हिंसा प्रमत्तयोगात् प्राण्यपरोपणं सा च, अनृतम् असदभिधानं तच्च, स्तेयम् अदत्तादानं तच्च, विषयाः पञ्चैन्द्रियगोचराः, तेषां प्रतिपालनं तच्च, तथोक्तानि तैः । चतुभिः चतुःसंख्यैः । कारणैः हेतुभिः । जायमानत्वात् उत्पद्यमानत्वात् । चतुर्विधं चतुर्विकल्पम् । स्यात् । लिङ् ॥११८॥ आज्ञेति । आज्ञाविपाकविचयी आज्ञाविचयश्च विपाकविचयश्च तथोक्तौ । अपायविचयः । तथा तेन प्रकारेण । संस्थानविचयश्चेति । धर्म्यं ध्यानं धर्म्यं च तदुध्यानं च तथोक्तम् । चतुर्विधं चत्वारो विधाः प्रकारा यस्य तत् ॥११९॥ पृथक्त्वेति । आद्यं प्रथमम् । शुक्लं शुक्लध्यानम् । पृथक्त्वादिवितर्कान्तं पृथक्त्वम् आद्यो यस्य तत् पृथक्त्वादि, वितर्कोऽन्ते यस्य तद् वितर्कान्तं, पृथक्त्वादि च तद् वितर्कान्तं च तथोक्तम् । पृथक्त्ववितर्कसंज्ञमित्यर्थः । यद्यपि पृथक्त्ववितर्कं विचार इति नाम शुक्लध्यानस्य तथापि पृथक्त्ववितर्कमित्युच्ये, 'नामैकदेशो नाम्नि प्रवर्तते' इति वचनात् । इत्युदीरितं प्रोक्तम् । एकत्वादिवितर्कान्तम् एकत्वमादौ यस्य तत्, वितर्कोऽन्ते यस्य तत्, एकत्वादिवितर्कान्तं च तथोक्तम् । एकत्ववितर्कविचार-अशुभगतिके कारण है और धर्म और शुक्ल शुभ गति के ॥११५॥ अनिष्ट समागम होनेपर बार-बार यह सोचना कि यह कैसे दूर हो अनिष्ट संयोग नामक आर्तध्यान है । इष्ट वियोग होनेपर बार-बार यह सोचना कि उसका समागम कैसे हो इष्ट वियोग नामक आर्तध्यान है ॥११६॥ रोगादिजनित वेदनाके होनेपर बार-बार उसीका स्मरण करना वेदना नामक आर्तध्यान है । आगामी भोगोंकी बार-बार चिन्ता करना निदान नामक आर्तध्यान है । इस तरह ये चार पहले आर्तध्यान के भेद हैं ॥११७॥ हिंसा, झूठ, चोरी और विषयोंके संरक्षणकी चिन्ता करना रौद्रध्यान है । हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौरानन्दी और विषयानन्दी ये चार रौद्रध्यानके भेद हैं । चार कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण यह चार प्रकारका होता है ॥११८॥ धर्मध्यान चार प्रकारका है—आज्ञाविचय, विपाकविचय, अपायविचय और संस्थान विचय ॥११९॥ शुक्लध्यान भी चार प्रकारका है—पहला पृथक्त्ववितर्क, दूसरा

१. एष टीकाग्र्य पाठः प्रतिपु तु निखिलास्वपि 'समागमविचिन्तनम्' इति समुलभ्यते । २. अ स्वस्तिकात्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ३. अयमपि टीकाग्र्यः पाठः, प्रतिपु तु 'रोगादि' दूष्यते । ४. आ लेङ् । ५. एष टीकाग्र्यः पाठः, प्रतिपु तु 'धर्म' इत्यस्ति । ६. = चतस्रो । ७. आ विकल्पाः । ८. अ इत्युच्यते ।

अन्यत् सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रतिपात्यन्तमुच्यते ।  
 चतुर्थं प्रतिपात्यन्तं समुच्छिन्नक्रियादिकम् ॥१२१॥  
 कथितेति समासेन निर्जरा सनिबन्धना ।  
 सांप्रतं मोक्षतत्त्वस्य रूपं व्यावर्णयिष्यते ॥१२२॥  
 कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो भव्यस्य परिणामिनः ।  
 ज्ञानदर्शनचारित्र्ययोपायः प्रकीर्तितः ॥१२३॥  
 तत्त्वप्रकाशकं ज्ञानं दर्शनं तत्त्वरोचकम् ।  
 पापारम्भपरित्यागश्चारित्र्यमिति कथ्यते ॥१२४॥  
 संसारव्याधिबिम्बत्वे<sup>१</sup> भाव्यमानमिदं ध्यम् ।  
 हेतुरेकाङ्गविकलो<sup>२</sup> न हेतुरिव भेषजम् ॥१२५॥

नित्यर्थः । द्वितीयं द्वितीयशुक्लध्यानमिति । निगद्यते<sup>३</sup> प्रकीर्त्यते । कर्मणि लट् ॥१२०॥ अन्यदिति । अन्यत्  
 तृतीयम् । सूक्ष्मक्रियापूर्वप्रतिपात्यन्तं<sup>४</sup> सूक्ष्मक्रिया पूर्वा प्रथमा यस्य तत् प्रतिपातिशब्दोऽन्ते यस्य तत् तद्योक्तं  
 सूक्ष्मक्रियापूर्वं च तत् प्रतिपात्यन्तं च तद्योक्तं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातीत्यर्थः । उच्यते निगद्यते । ज्ञञ् व्यक्तायां वाचि  
 कर्मणि लट् । चतुर्थं तुरीयम् । समुच्छिन्नक्रियादिकं समुच्छिन्नक्रिया आदौ यस्य तत् तद्योक्तम् । प्रतिपात्यन्तं  
 प्रतिपातिशब्दोऽन्ते यस्य तत् तद्योक्तम् । निरूपितम् ॥१२१॥ कथितेति । सनिबन्धना<sup>५</sup> संकारणा । निर्जरा<sup>६</sup>  
 निर्जरापदार्थः । समासेन संक्षेपेण । इति एवम् । कथिता प्रोक्ता । सांप्रतम् इदानीम् । मोक्षतत्त्वस्य मोक्षपदार्थ-  
 स्य । रूपं स्वरूपम् । व्यावर्णयिष्यते परिकीर्त्यते । वर्ण वर्णक्रियायां लुट् ॥१२२॥ कृत्स्नेति । परिणामिनः  
 परिणामयुक्तस्य । भव्यस्य आसन्नभव्यस्य । कृत्स्नकर्मक्षयः कृत्स्नानां सकलानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां क्षयो  
 विनाशः । ज्ञानदर्शनचारित्र्ययोपायः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणां त्रयमेवोपायो यस्य सः । मोक्ष इति । प्रकीर्तितः  
 निरूपितः ॥१२३॥ तत्त्ववेति । तत्त्वप्रकाशकं तत्त्वानां जीवादिपदार्थानां प्रकाशकं प्रतिभासकम् । ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् ।  
 तत्त्वरोचकं तत्त्वेषु रोचकं रुचिकरम् । दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । पापारम्भपरित्यागः पापस्य पापकृपस्यारम्भस्य  
 व्यापारस्य परित्यागः त्यजनम् । चारित्र्यमिति सम्यक्चारित्र्यमिति । कथ्यते निगद्यते । कथं वाक्यप्रबन्धे<sup>७</sup>  
 कर्मणि लट् ॥१२४॥ संसारेति । भाव्यमानं निश्चयमानम् । इदम् एतत् । त्रयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यत्रयम् ।  
 संसारव्याधिबिम्बत्वे<sup>१</sup> संसार एव व्याधिस्तस्य बिम्बत्वे विनाशकरणे । हेतुः कारणम् । एकाङ्गविकलम् ( लः )

एकत्ववितर्कं, तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और चौथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ( व्युपरत  
 क्रियानिर्वर्ति ) ॥१२०॥॥१२१॥ इस प्रकार संक्षेपमें निर्जराका और उसके कारणोंका भी  
 निरूपण किया, अब मोक्षतत्त्वके स्वरूपका निरूपण किया जायगा ॥१२२॥ समस्त कर्मोंका  
 क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है, जो परिणामी नित्य ( न सांख्यीकी तरह सर्वथा नित्य और  
 न बौद्धीकी तरह सर्वथा क्षणिक ) भव्य जीवके ही सम्भव है । मोक्षका उपाय रत्नत्रय—  
 सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य है ॥१२३॥ जीवादि सात तत्त्वोंको प्रकाशित करने-  
 वाला सम्यग्ज्ञान होता है, जीव आदि तत्त्वोंमें अभिरुचि उत्पन्न करनेवाला सम्यग्दर्शन होता है  
 और पापमय आरम्भका परित्याग करना सम्यक्चारित्र्य कहलाता है ॥१२४॥ सम्यग्दर्शन,  
 सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनोंकी भावना की जाय तो ये संसाररूपी व्याधिके बिम्बत्वे

१. क ख ग घ संवर्णयिष्यते । २. अ इ क ख ग घ 'व्याधिबिम्बत्वे' । ३. अ आ इ हेतुरेकान्तं  
 क ख ग घ हेतुरेकाङ्गविकलं । ४. मूले 'अनुगद्यते' इत्यस्ति न तु 'निगद्यते' इति । ५. एष टीकाश्रयः पाठः,  
 मूले तु 'सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रतिपात्यन्तं' इति वर्तते । ६. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'सनिबन्धना' इति  
 सम्पुल्लभ्यते । ७. आ 'निर्जरा' इति पदं नास्ति । ८. अ व्यक्तप्रबन्धे । ९. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु  
 'विम्बत्वे' इत्येवास्ति ।

केवलं न यथा ज्ञातं<sup>१</sup> रचितं समनुष्ठितम् ।  
 औषधं ध्वंसयेद् व्याधिं तथा तत्त्वं च संसृतिम् ॥१२६॥  
 यथा सम्यक्परिज्ञातं<sup>२</sup> रचितं समनुष्ठितम् ।  
 औषधं ध्वंसयेद् व्याधिं तथा तत्त्वं च संसृतिम् ॥१२७॥  
 कर्मणां प्रतिपक्षस्थान्मुक्तज्ञानादि कारणम् ।  
 ज्ञानादीनां विबुद्ध्या हि रागादिसयदर्शनात्<sup>३</sup> ॥१२८॥  
 रागादेश्च क्षयात्कर्मप्रक्षयो हेत्वभावतः ।  
 तस्माद्रत्नत्रयं हेतुर्विरोधात्कर्मणां क्षये ॥१२९॥

एकेन त्रयाणां मध्ये एकेनाङ्गेनावयवेन विकलं ( लो ) विरहितम् ( तः ) । हेतुः संसारविध्वंसहेतुः । न स्यात् । भेषजमिव औषधमिव । एकमूलकाद्यवयवहीनं भेषजं व्याधिविध्वंसे हेतुर्यथा न स्यात् तथेत्यर्थः ॥१२५॥ केवलमिति । केवलं रचितम् ; केवलं ज्ञातम् ; केवलं समनुष्ठितमित्यर्थः । औषधं भेषजम् । व्याधिं रोगम् । यथा । न विध्वंसयेत् न विनाशयेत् । तथा । तत्त्वं च दर्शनादित्रयाणां मध्ये एकैकविकलम् । संसृतिं संसारम् । न ध्वंसयेदिति शेषः ॥१२६॥ अथेति । सम्यक्परिज्ञातं सम्यग्बुद्धितम् । रचितं विशस्तम् । समनुष्ठितं सम्यक्सेवितम् । औषधं भेषजम् । यथा । व्याधिं रोगम् । ध्वंसयेत् विनाशयेत् । तथा । तत्त्वं च । रत्नत्रयमिलितं<sup>४</sup> चेत् । संसृतिं संसारम् । ध्वंसयेत् । ध्वंसू अवसंसने ॥१२७॥ कर्मणामिति । ज्ञानादि सम्यग्ज्ञानादित्रयम् । कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् । प्रतिपक्षत्वात् प्रतिकूलत्वात् । मुक्तैः मोक्षस्य । कारणं हेतुः । भवेत् । कथम् इति चेत् । ज्ञानादीनां सम्यग्ज्ञानादीनाम् । विबुद्ध्या आधिक्येन हि । रागादिसयदर्शनात् रागादीनां रागद्वेषादीनां क्षयस्य नाशस्य बोधनात् ॥१२८॥ रागादेश्चेति । रागादेः रागद्वेषादेश्च । क्षयात् नाशात् । कर्म [ प्र ] क्षयः कर्मणां [ प्र ] क्षयो नाशः । कथमिति चेत् । हेत्वभावतः हेतोः रागादेः कारणस्याभावतोऽसङ्गत्वात् । तस्मात् कारणात् । रत्नत्रयम् । विरोधात् प्रतिपक्षात् । कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् । क्षये विनाशे । हेतुः

हो जाते हैं । यदि इन तीनोंमें-से किसी एककी भी कमी रह जाय तो ये संसार रूपी व्याधिके विध्वंसमें कारण नहीं हो सकते । जैसे एक दवासे रहित नुस्खा बीमारीको नष्ट करनेमें कारण नहीं हो सकता ॥१२५॥ जिस प्रकार औषधिकी केवल जानकारी, केवल श्रद्धा या केवल उसके अनुकूल आचरण करना व्याधिको दूर नहीं कर सकती, उसी प्रकार जीवादि सात तत्त्वोंका केवल ज्ञान, केवल श्रद्धा या केवल अनुष्ठान—चारित्र संसाररूपी व्याधिको नष्ट नहीं कर सकता ॥१२६॥ जैसे दवाका ठीक ज्ञान हो, उसके प्रति विश्वास हो और उसके अनुकूल आचरण ( परहेज आदि ) हो तो वह व्याधिको नष्ट कर देती है, वैसे ही जीव आदि सात तत्त्वोंका ठीक ज्ञान हो, उनके प्रति श्रद्धा हो और हो उनके अनुकूल आचरण तो वे संसाररूपी व्याधिको नष्ट कर देते हैं ॥१२७॥ सम्यग्ज्ञान आदि, ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके प्रतिकूल होनेसे मुक्तिके कारण हैं; क्योंकि सम्यग्ज्ञान आदिके बढ़नेसे राग आदि कषायोंका क्षय देखा जाता है ॥१२८॥ और राग-द्वेष आदि कषायोंके क्षय हो जानेसे समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है; क्योंकि कारणके अभावमें कार्यका अभाव हो जाता है । कर्मोंके बन्धके कारण राग आदि हैं, इसलिए राग आदिके दूर होनेपर कर्मोंका क्षय हो जाना स्वाभाविक है । अतः रत्नत्रय ( सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ) कर्मोंके प्रतिकूल होनेसे उन ( कर्मों ) के क्षयमें

१. म यथाज्ञानं । २. म परिज्ञानं । ३. म क्षयदर्शनम् । ४. आ दर्शनादित्रयाणां मध्ये एकैकविकलम् ।

क्षीणकर्मा ततो जीवः स्वदेहाकृतिमुद्रहन् ।  
 ऊर्ध्वं स्वभावतो याति बह्विज्वालाकलापवत् ॥१३०॥  
 लोकाग्रं प्राप्य तत्रासौ स्थिरतामवलम्बते ।  
 गतिहेतोरभावे न धर्मस्य परतो गतिः ॥१३१॥  
 इति तत्त्वोपदेशेन प्रह्लाद्य सकलां सभाम् ।  
 भव्यपुण्यसमाकुष्टो व्यहरद्भगवान्भुवि ॥१३२॥  
 निस्वेदत्वादिभिस्तस्य सहजैर्विशिर्गुणैः ।  
 बभासे भुवनोद्भासि सपुर्भास्करभासुरम् ॥१३३॥  
 व्यहरद्यत्र यत्रासौ तत्र तत्र सुमिश्रता ।  
 अजायत जनप्रीत्य योजनानां शतद्वये ॥१३४॥

कारणम् । भवेत् ॥१२९॥ क्षीणेति । ततः रत्नवयात् । क्षीणकर्मा क्षीणानि कर्माणि यस्य सः । जीवः आत्मा । स्वदेहाकृतिं स्वस्यात्मनो देहस्य शरीरस्याकृतिमाकारम् । उद्रहन् धरन् । स्वभावतः स्वरूपतः । बह्विज्वाला-कलापवत् बह्वैरग्नेर्ज्वालानामभिषां कलापवत् समूहवत् । ऊर्ध्वम् अग्रम् । याति । लट् ॥१३०॥ लोकंति । असौ जीवः । लोकाग्रं जगदग्रम् । प्राप्य गत्वा । तत्र लोकाग्रे । स्थिरता स्थिरत्वम् । अवलम्बते प्रवर्तते । गतिहेतोः गतिर्गमनस्य हेतोः कारणस्य । धर्मस्य धर्मास्ति कायस्य । अभावे विरहे सति । परः [ परतः ] लोकाग्रात् परतः । गतिः गमनं नास्ति ॥१३१॥ ह्यतीति । इति उक्तप्रकरणे । तत्त्वोपदेशेन तत्त्वानां सुपदेशेन निरूपणेन । सकला मिश्रलाम् । सर्वा समवसरणास्थानम् । प्रह्लाद्य संतोष्य । भव्यपुण्यसमा-कुष्टः भव्यानां रत्नवयाविर्भनयोयानां पुण्यैः शुभकर्मभिराकुष्ट आहूतः । भगवान् स्वामी । भुवि भूमौ । व्यहरत् विहरति स्म ॥१३२॥ निस्वेदेति । तस्य चन्द्रप्रभजिनेशस्य । भास्करभासुरं भास्कर इव सूर्य इव भासुरं देदीप्यमानम् । भुवनोद्भासि भुवने लाके उद्भासि प्रकाशमानम् । सपुः शरीरम् । निस्वेदत्वमादिभिः निस्वेदत्वमादि येषां तैः । सहजैः सहजातैः । दशभिः दशसंख्यैः । गुणैः । बभासे बभौ । भा दीप्यो लिट् ॥१३३॥ व्यहरदिति । असौ चन्द्रप्रभः । यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् देशे । व्यहरत् विहरति स्म । तत्र तत्र तस्मिन् तस्मिन् देशे । योजनानाम् । शतद्वये शतयोर्द्वयं तस्मिन् । सुमिश्रता सुमिश्रत्वम् । जनप्रीत्य जनानां

कारण है ॥१२९॥ कर्मोंका क्षय करनेवाला जीव अपने शरीरकी आकृतिको धारण करता हुआ, उस स्थानसे, जहाँ कर्मोंका क्षय किया है, अग्नि की ज्वालाकी भाँति स्वभावसे ही ऊपर ( लोकके अग्रभागमें ) चला जाता है ॥१३०॥ लोकके अग्रभागमें जाकर वह मुक्त जीव वहीं पर स्थिर हो जाता है । धर्मद्रव्यके, जो गतिमें कारण हैं, अभाव होनेसे मुक्तजीव लोकाग्रसे ऊपर नहीं जा सकता ॥१३१॥ इस प्रकार जीव आदि सात तत्त्वोंके उपदेशसे सारी सभाको प्रसन्न करके भगवान् चन्द्रप्रभने भव्य जीवोंके पुण्यसे आकुष्ट होकर भूमण्डलमें बिहार किया ॥१३२॥ उनका सूर्य सरोखा देदीप्यमान शरीर—परमोदारिक दिव्य देह सारे संसारको प्रकाशित कर रहा था, तथा पसीना न आना आदि जन्मसे उत्पन्न हुए दस अतिशयोक्ति सुशोभित था ॥१३३॥ भगवान् चन्द्रप्रभने जहाँ-जहाँ बिहार किया वहाँ-वहाँ लोगोंकी प्रीतिके

गगने गमनं तस्य सर्वेषामपि दृष्टये ।  
 बभूव प्राणिनां प्राणिविरोधेन विवर्जितम् ॥१३५॥  
 तस्य भुक्त्वा पसर्गाभ्यां मनागपि न पस्पृशे ।  
 शीतेतरकरस्येव छायाविरहितं वपुः ॥१३६॥  
 चतुराननतारूपमहातिशयशालिनः ।  
 चतुरा न नता तस्य काभ्युत्थाय स्वयं प्रजा ॥१३७॥  
 पद्मरूपम्विनिर्मुक्ते बभूवस्तस्य लोचने ।  
 नीलोत्पले इवात्यन्तनिर्वातस्थानसंस्थिते ॥१३८॥  
 सर्वविशेषिणः स्तस्य यथास्थानलमूर्धजम् ।  
 असाधारणतां तस्य वपुर्वक्तुमिषामवत् ॥१३९॥

श्रीतुल्यं श्रीतिनिमित्तम् । अजायत जायते स्म । लङ् ॥१३४॥ गगन इति । तस्य चन्द्रप्रभस्य । प्राणिविरोधन-  
 विवर्जितं प्राणिनां विरोधनेन वधेन विवर्जितं रहितम् । गगने आकाशे । गमनं यानम् । सर्वेषामपि निखि-  
 लानामपि । प्राणिनां जीवानाम् । संतोषाय । बभूव भवति स्म । लिट् ॥१३५॥ तस्येति । शीतेतरकरस्येव  
 सूर्यस्येव । छायाविरहितं छायाया प्रतिबिम्बेन विरहितं बिहीनम् । तस्य चन्द्रप्रभस्य । वपुः शरीरम् । भुक्त्वा प-  
 सर्गाभ्यां भुक्तेरुपसर्गाच्च । मनागपि श्लोकमपि । न पस्पृशे न स्पृश्यते स्म । स्पृश स्पृशने कर्मणि लिट् ॥१३६॥  
 चतुरेति । चतुराननतारूपमहातिशयशालिनः चत्वारि आनानि यस्य तस्य भावश्चतुराननता चतुर्मुखता सा च  
 रूपं यस्य सः चतुराननतारूपः स चासौ महातिशयश्च चतुराननतारूपमहातिशयः तेन शालते घोभते इति  
 तयोक्तः, तस्य । तस्य भगवतः । चतुरा प्रोढा । [ का ] प्रजा जनः । स्वयम् । अभ्युत्थाय गौरवं कृत्वा । नता  
 विनता । न भवति । अपि तु सर्वा प्रजा विनतैव । ॥१३७॥ पद्मेति । पद्मरूपम्विनिर्मुक्ते पद्मगोर्नयनच्छदयोः  
 स्पन्देन निमीलनादिना विनिर्मुक्ते विरहिते । तस्य जिनेशिनः । लोचने नयने । अत्यन्तनिर्वातस्थानसंस्थिते ।  
 अत्यन्तं निवाते वातरहिते स्थाने सरोवरप्रदेशे संस्थिते स्थिते । नीलोत्पले इव नीले च ते उपले च ते इव । बभूव  
 भातः स्म । भा दीप्ती लिट् ॥१३८॥ सर्वेति । सर्वविशेषिणः सर्वासां विद्यानामोशिनः स्वामिनः । तस्य भगवतः ।  
 असाधारणतां साधारण (ता) रहितत्वम् । स्वस्य आत्मनः । वपुः शरीरम् वक्तुमिव निगदितुमिव । यथास्थानलमूर्धजं  
 यथा तिष्ठन्तीति यथास्था नलाः करकहा मूर्धजाः शिरोरहा यस्य तत् । भवत् अभूत् । लङ् ॥१३९॥ स इति ।

लिए दो सौ योजन तक सुमिश्र हो जाता था ॥१३४॥ सभी प्राणियोंकी प्रसन्नताके निमित्तसे  
 उनका गमन आकाशमें होता था, तथा उनके गमनसे किसी भी प्राणीकी विराधना नहीं होती  
 थी ॥१३५॥ उनका शरीर सूर्यमण्डलकी भाँति परछाईसे रहित था, तथा कवलाह्वार और  
 उपसर्गसे अछूता था ॥१३६॥ उनमें एक ऐसा अतिशय था, जिससे उनका मुख चारों ओर  
 हिललाई पड़ता था—उनमें चतुर्मुख होनेकी अतिशय था, उससे उनका रूप देखते ही बनता  
 था । प्रजामें ऐसा कौन सा मनुष्य था जो उन्हें स्वयं उठकर नमन नहीं करता था ? ॥१३७॥  
 उनके नेत्रोंके पलक झपटे नहीं थे—सदा निनिमेष रहते थे, अतः वे ( नेत्र ) जहाँ वायुका  
 संचार बिलकुल भी नहीं है, उस स्थानमें स्थित सरोवरके नीलकमलोंकी भाँति सुशोभित होते  
 थे ॥१३८॥ वे समस्त विद्याओंके स्वामी थे । मानो उनकी असाधारणताको बतलानेके लिए

१. अ प्राणिविरो । २. अ जा इ 'भक्त्यु' । ३. म 'विशेषितु' । ४. एष टीकापाठः प्रतिपु तु  
 'प्राणिविरोधेन विवर्जितम्' इति दृश्यते । ५. स 'लिट्' इति नास्ति ।



स घातिक्षयजैरेभिरपरैर्दशभिर्गुणैः ।  
 रराज रजसा मुको मुक्तिसंगमनोत्सुकः ॥१४०॥  
 सर्वभाषात्मिका तस्य सर्वस्त्वावबोधिनी ।  
 मागधी या बभौ भाषा मैत्री चाखिलगोचरा ॥१४१॥  
 जज्ञे विहारतस्तस्य सर्वतुल्यफलशालिनी ।  
 कृतरत्नविनिर्माणा भूदपणतलोपमा ॥१४२॥  
 पादौ विरेजतस्तस्य हेमाब्जरुचिपिञ्जरी ।  
 जितेन रागमत्नेन भयादिव समाश्रितौ ॥१४३॥  
 इत्येवमादिभिश्चान्यैः स चतुर्दशभिर्जिनः ।  
 विद्युतेऽतिशयैर्देवनिकायपरिकल्पितैः ॥१४४॥

रजसा कर्मणा । मुक्तः त्वष्टः । मुक्तिसंगमनोत्सुकः मुक्तेर्मोक्षस्य संगमने संयोजने उत्सुकः तत्परः । सः भगवान् ।  
 [ अ ] परैः उत्कृष्टैः । घातिक्षयजैः घातिनां<sup>३</sup> घातिकर्मणां क्षयजैः क्षयेण<sup>४</sup> नाशेन जनितैः । एभिः एतैः ।  
 दशभिः दशसंख्यैः । गुणैः । रराज बभौ । राज्ञ् दीप्तो लिट् ॥१४०॥ सर्वेति । सर्वभाषात्मिका सर्वा सकला  
 भाषा एव स्वरूपं यस्याः सा । सर्वस्त्वावबोधिनी सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनामवबोधिनी उपदेशिनी । मागधीया  
 मगधदेशसंबन्धा । तस्य भगवतः । भाषा दिव्यध्वनिः । अखिलगोचरा अखिला<sup>५</sup> एव गोचरो विषयो  
 यस्याः सा । मैत्री च मित्रता च ॥१४१॥ जज्ञे इति । तस्य भगवतः । विहारतः श्रीविहारात् ।  
 सर्वतुल्यफलशालिनी सर्वेषाम् श्रुतानां फलैः शालिनी संपूर्णा । कृतरत्नविनिर्माणा कृतं विहितं रत्नैर्विनिर्माणं  
 यस्याः सा । दपणतलोपमा दपणस्य बादसस्य तलस्य प्रदेशस्योपमा<sup>६</sup> समाना । भूः भूमिः । जज्ञे जायते स्म ।  
 जनैर्द्रादुर्गमैर्लिट् ॥१४२॥ पादाविति । हेमाब्जरुचिपिञ्जरी हेमाब्जानां हेमारविन्दानां रुच्या कान्त्या  
 पिञ्जरी उपरञ्जितौ । तस्य भगवतः । पादौ चरणौ । जितेन निराकृतेन । रागमत्नेन राग एव मत्तः तेन ।  
 भयात् भीतेः । समाश्रिताविव सेविताविव । रेजुतुः बभूवुः । लिट् ॥१४३॥ इतीति । इत्येवमादिभिः इत्येवं  
 प्रमुलैः । देवनिकायपरिकल्पितैः देवानामपराणां निकायेन समूहेन परिकल्पितैर्निर्मितैः । चतुर्दशभिः चतुर्निरधि-  
 कैर्दशभिः अतिशयैः । अन्यैश्च शेषैश्च । सः जिनः चन्द्रप्रमजिनेशः<sup>७</sup> । विद्युते बभासे । ध्रुति दीप्तौ लिट्

उनका शरीर नखों और केजोंकी वृद्धिसे रहित था ॥१३९॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय  
 और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जाने से—केवलज्ञान उत्पन्न हो जानेसे प्रकट  
 हुए उक्त दस गुणोंसे सुशोभित थे, और वे कर्मरजसे मुक्त होकर मुक्तिके समागमके लिए  
 उत्सुक थे ॥१४०॥ उनकी भाषा अर्धमागधी थी । उसमें यह विशेषता थी कि वह समस्त  
 भाषाओंमें परिणत हो जाती थी और इसीलिए वह समस्त प्राणियोंकी समझमें आ जाती थी ।  
 समस्त प्राणियोंमें परस्पर मित्रता हो गई थी ॥१४१॥ उनके विहार करते समय सभी श्रुतुजों-  
 के फल-फूल एक ही साथ उत्पन्न हो गये, तथा रत्नजड़ित पृथिवी, दपणतलकी भाँति दृष्टिगोचर  
 होने लगी ॥१४२॥ स्वर्णकमलोंकी कान्तिसे प्रभावित होकर उनके दोनों चरण ऐसे सुशोभित  
 हो रहे थे मानो उन (चन्द्रप्रभ) के द्वारा पराजित किया गया राग रूपी मल्ल भयके मारे  
 उनके चरणोंकी धारणमें आगया हो । (विहारके समय देव लोग उनके चरणोंके नीचे  
 कमल रख देते थे) ॥१४३॥ देव वर्गके द्वारा किये गये इन (श्लोकोंमें वर्णित) तथा

१. स कृतरत्न । २. = सहघातिक्षयभिन्नीः । ३. सा घातिनां । ४. सा क्षयेन । ५. सा मागध ।

६. सा अखिलानि । ७. = यस्याः सा, तस्यमाना-इत्यर्थः । ८. सा जिनेश्वरः ।

प्रातिहार्यैश्च सोऽष्टाभिः शुशुभे शुभचेष्टितः ।  
 छत्रत्रयादिभिः सर्वजगदैश्वर्यशंसिभिः ॥१४५॥  
 नवतिरुच्यधिका तस्य सभायां गणिनोऽभवन् ।  
 द्वे तीक्ष्णतरबुद्धीनां सहस्रे पूर्वधारिणाम् ॥१४६॥  
 शिक्षकाणामुभे लक्षे चतुर्भिरधिकैः शतैः ।  
 अवधिज्ञानिनामष्टौ सहस्राणि महाधियाम् ॥१४७॥  
 दश केवलनेत्राणां सहस्राण्यमल्लात्मनाम् ।  
 चतुर्विंश सहस्राणि विक्रियद्विमुपेयुषाम् ॥१४८॥  
 मनः पर्ययिणामष्टसहस्राणि सतेजसाम् ।  
 सह षड्भिः शतैः सप्त सहस्राणि च वादिनाम् ॥१४९॥  
 वरुणाद्यायिकाणां च विशुद्धतरचेतसाम् ।  
 अशीतिश्च सहस्राणि लक्षमेकं शतैनसाम् ॥१५०॥

॥१४४॥ प्रातिहार्यैरिति । सर्वजगदैश्वर्यशंसिभिः सर्वेषां जगतां भुवनानामैश्वर्यं शंसिभिः सूचकैः<sup>१</sup> । सुरचेष्टितैः सुरैरमरैश्चेष्टितैः निमित्तैः । छत्रत्रयादिभिः छत्राणामातपवारणानां त्रयं तदेवादियेषां तैः । अष्टाभिः अष्टसंख्यैः । प्रातिहार्यैश्च प्रातिहार्याख्यातिशयैश्च । सः भगवान् । शुशुभे भाति स्म । शुभि दीप्तौ लिट् ॥१४५॥ नवतिरिति । तस्य चन्द्रप्रभजितेन्द्रस्य । सभायां समवसरणे । अधिका त्रिभिरधिका । नवतिः नव वारान् दश । गणिनः गणधराः । अभवता [ अभवन् ] अभूवन् । लङ् । तीक्ष्णतरबुद्धीनां तीक्ष्णतरा पटुतरा बुद्धिधीयेषां तेषाम् । पूर्वधारिणा पूर्वधराणाम् । द्वे सहस्रे । अभवताम् ॥१४६॥ शिक्षकाणामिति । शिक्षकाणां शिक्षाचार्य-मुनीनाम् । चतुर्भिः । अधिकैः । युते शते [ शतयुते ] उभे लक्षे नियुते । अभवन् । महाधिया महती धीयेषां तेषाम् । अवधिज्ञानिनां तृतीयज्ञानयुक्तानाम् । अष्टसहस्राणि अष्ट च तानि सहस्राणि च । अभवन् ॥१४७॥ दशेति । अमल्लात्मनाम् अमलो निर्मल आत्मा येषां तेषाम् केवलनेत्राणां केवलं पञ्चमज्ञानं तदेव नेत्रं येषां तेषाम् । दश दशप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् । विक्रियद्वि विक्रियाम् ऋद्धिम् । उपेयुषां प्राप्तानाम् । चतुर्दश चतुर्भिरधिका दश, चतुर्दशप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् ॥१४८॥ मन इति । सतेजसा प्रभावस-हितानाम् । मनःपर्ययिणां चतुर्विंशतिनाम् । अष्टौ अष्टप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् । वादिना महावादि-नाम् । षड्भिः षट्प्रमितैः । शतैः । सह साकम् । सप्तसहस्राणि । अभूवन् ॥१४९॥ वरुणेति । शतैनसा शतं षष्टमेनः पापं यासां तासाम् । विशुद्धतरचेतसां विशुद्धतरं प्रकृष्टनिर्मलं चेतो यासां तासाम् । वरुणाद्यायिकाणां वरुणादिका आद्या मुख्या यासां तासामायिकाणां च । एकं लक्षम्, अशीतिः सहस्राणि च । अभूवन् ॥१५०॥

इन्हीं सरोखे और भी, जिनकी कुल संख्या चौदह है, अतिशयोक्ति से वे सुशोभित हो रहे थे ॥१४४॥ उनकी चेष्टाएँ शुभ थीं । वे सारे जगतके ऐश्वर्यको सूचित करनेवाले छत्रत्रय—तीन छत्र आदि आठ प्रतिहार्योंसे सुशोभित थे ॥१४५॥ उनकी सभा ( समवसरण ) में तेरानवे गणधर थे और दो हजार तीक्ष्ण बुद्धिवाले पूर्वधारी ॥१४६॥ दो लाख चारसी उपाध्याय तथा आठ हजार तीव्रबुद्धिवाले अवधिज्ञानी थे ॥१४७॥ दस हजार निर्मल आत्मावाले केवली और चौदह हजार विक्रिया-ऋद्धि-धारी साधु थे ॥१४८॥ आठ हजार तेजस्वी मनःपर्ययज्ञानी थे और सात हजार छह सौ वादी ( शास्त्रार्थी ) मुनि थे ॥१४९॥ एक लाख असी हजार वरुणा आदि आयिकाएँ थीं, जिनके समस्त पाप विलीन हो चुके थे, और जिनके हृदय अत्यन्त विशुद्ध हो

१. आ सूचयद्भिः । २. एष टीकाधयः पाठः, प्रतिषु तु 'अष्टौ सहस्राणि' इति सम्पुलक्यते ।

श्रावकाणां च लक्षाणि त्रीणि सम्मत्त्वशालिनाम् ।

लक्षाणि पञ्च पूतानां श्राविकाणां<sup>१</sup> व्रतादिभिः ॥१५१॥

इत्थं विद्वत् भगवान्सकलां धरित्री-

मध्यास्तितो गणधरैर्मुनिवृन्दबन्धैः ।

धर्मोपदेशजलवर्धितभव्यसस्यः<sup>२</sup>

संमेदशैलशिखरं स समाससाद ॥१५२॥

तत्रासौ परिमुक्तमासविहृतिः पक्षे सिते सप्तमी-

तिथ्यां भाद्रपदे स्थितः प्रतिमया सार्धं मुनीनां गणैः ।

निर्बाधं दशपूर्वलक्षपरिमायुक्तायुषः<sup>३</sup> प्रक्षये<sup>४</sup>

शुक्लध्याननिरस्तकृत्स्नकलुषः सिद्धेः पदं शिष्ये ॥१५३॥

श्रावकाणामिति । सम्मत्त्वशालिनां सम्मत्त्वसंपन्नानाम् । श्रावकाणाम् उपासकानाम् । त्रीणि त्रिप्रमितानि । लक्षाणि । अभवन् । व्रतादिभिः व्रताद्यैः । पूतानां पवित्राणाम् । श्राविकाणाम् उपासकवनितानाम् । पञ्चलक्षाणि । अभवन् ॥१५१॥ इत्थमिति । मुनिवृन्दबन्धैः । मुनीनां वृन्देन निकायेन वन्द्यैराराधनीयैः । गणधरैः गणनायकैः । अध्यासितः प्राथितः (?) । धर्मोपदेशजलवर्धितभव्यसस्यः धर्मस्योपदेश एव जलं तेन वर्धितानि प्रतिपालितानि भव्य एव विनयेजन एव सस्यानि यस्य सः । सः चन्द्रप्रभञ्जितेन्द्रः । भगवान् स्वामी । सकलां समस्ताम् । धरित्रीं भूमिम् । इत्थम् अनेन प्रकारेण । विद्वत् श्रीविहार विधाय । संमेदशैलशिखरं संमेदशैलस्य संमेदपर्वतस्य । शिखरम् अग्रम् । समाससाद समाप । षट् विवरणगत्वबनादनेषु लिट् ॥१५२॥ तत्रेति । तत्र संमेदशिखरे । परिमुक्तमासविहृतिः मासं मासपर्यन्तं विहृतिमसिविहृतिः । 'कालाध्वनोर्वाप्ति' इति द्वितीया, परिमुक्ता मासविहृतिर्मे स । भाद्रपदे भाद्रपदमसे । सिने शुक्ले । पक्षे । सप्तमोतिथ्या सप्तम्यां तिथौ । मुनिना यतोनाम् । गणैः समूहैः । सार्धं साधम् । निर्बाधं परबाधाहरितं यथा तथा । प्रतिमया प्रतिमायोगेन । स्थितः आसितः । दशपूर्वलक्षपरिमायुक्तायुषः दशानां पूर्वाणां लक्षाणां परिमया प्रमाणेन युक्तस्यायुषः । प्रक्षये परिक्षये सति । शुक्लध्याननिरस्तविश्वकलुषः शुक्लध्यानेन निरस्तानि निराकृतानि विश्वानि अखिलानि कलुषाणि पापानि यस्य सः । असौ । भगवान् । सिद्धेः मोक्षस्य । पदं स्थानम् ।

गये थे ॥१५०॥ तीन लाख सम्मदृष्टि श्रावक और पांच लाख व्रत आदिसे पवित्र श्राविकाएँ थीं ॥१५१॥ इस प्रकार भगवान् चन्द्रप्रभ ने—जिनके साथ समस्त मुनियोंके द्वारा बन्धनीय गणधर थे—सारी पृथिवीमें विहार किया और धर्मोपदेश रूपी जलसे भव्य जीव रूपी अनाजको विकसित किया । इसके पश्चात् वे सम्मेदाचल ( शिखर जी ) के शिखरपर जाकर बिराजमान हुए ॥१५२॥ वहाँ उन्होंने एक मास पर्यन्त विहारका परित्याग करके मुनि-सङ्घके साथ प्रतिमा-योग धारण किया । फिर भाद्रपद शुक्ला सप्तमी ( भादों सुदी सातें ) को शुक्लध्यानके द्वारा समस्त पापोंको नष्टकर सारी बाधाओंसे रहित, दस लाख पूर्व प्रमाण आयुके समाप्त होते ही

१. म श्रावकाणा । २. म 'सस्यसंमेद' । ३. म 'परिमाणस्यायुषः । ४. आ इ 'युषः सप्तम' । ५. = येन । ६. क्ष यस्य । ७. क्ष परिबाधा' । ८. क्ष 'परिमाणयुक्ता' । ९. क्ष परक्षये । १०. = येन ।

संश्लिष्टामथ तस्य भूधरपतेश्चैत्याल्लयोद्भासिनः  
पूते मूर्धनि सार्धकामुकशतोत्सेषां तदीयां तनुम् ।  
संस्कृत्यागुरुचन्दनप्रभृतिभिः प्राप्तोरुपुण्योदयः  
कल्याणं प्रविधाय पञ्चममगुः स्वं स्वं पदं स्वर्गिणः ॥१५४॥

इति श्रीवीरनन्दिकुताबुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्येऽष्ट दशः सर्गः ॥१८॥

शिखिरे आश्रयते स्म ॥१५३॥ संश्लिष्टामिति । अब निर्वाणगमनानन्तरम् । चैत्याल्लयोद्भासिनः चैत्याल्लयै-  
रुद्भासिनो देदीप्यमानस्य । तस्य भूधरपतेः तस्य प्रोक्तस्य भूधराणां पर्वतानां पतेः ( पत्युः ) प्रभोः संमेदपर्व-  
तस्य पूते पवित्रे । मूर्धनि शिखरे । संश्लिष्टा संश्रिताम् । सार्धकामुकशतोत्सेषां सार्धम् अर्धसहितं—पञ्चाशत्-  
सहितं कामुकाणां शतमुखेषो यस्याः ताम् । तदीयां तस्य संबन्धिनीम् । तनुं शरीरम् । अगुरुचन्दनप्रभृतिभिः  
अगुरु, कालागुरु, स च चन्दनं च ते प्रभृती येषां तैः । संस्कृत्य दहनं विधाय प्राप्तोरुपुण्योदयः प्राप्नो लब्ध  
उदयः महतां पुण्यानां शुभकर्मणामुदयो वेत्ते । स्वर्गिणः देवाः । पञ्चमं परिनिर्वाणायम् । कल्याणं मङ्गल-  
कार्यम् । प्रविधाय । स्वं स्वं स्वकीय स्वकीयम् । पदं स्थानम् । अगुः ययुः । लुङ् ॥१५४॥

इति श्रीवीरनन्दिकुताबुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोबल्लभाख्ये  
अष्टादशः सर्गः ॥१८॥

समाप्तव्यायं ग्रन्थः ॥

मुक्ति प्राप्त की ॥१५३॥ इसके पश्चात् चैत्याल्लयोसे विभूषित उस सम्मेदाचलके पवित्र शिखर  
पर स्थित भगवान् चन्द्रप्रभके डेढ़ सौ धनुष ऊँचे शरीरका पुण्यात्मा देवोंने अगुरुचन्दन आदिसे  
अन्तिम संस्कार किया, फिर वे उनके मोक्षकल्याणके उत्सवको मनाकर अपने-अपने स्थानको  
चले गये ॥१५४॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दिकुत उदयाङ्क चन्द्रप्रम चरित  
महाकाव्यमें अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

॥ समाप्त ॥

## ग्रन्थकतुः प्रशस्तिः ।

बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः पतिर्मुनीनां गणभृत्समानः ।  
 सद्गुणार्णोदशिगणाग्रगण्यो गुणाकरः श्रीगुणनन्दिनामा ॥१॥  
 गुणग्रामाम्भोधेः सुकृतवसते<sup>३</sup> मित्रमहसा-  
 मसाध्यं यस्यासीन्न किमपि महीशासितुरिव ।  
 स तच्छिष्यो ज्येष्ठः<sup>४</sup> शिशिरकरसौम्यः समभव-  
 त्प्रविख्यातो नाम्ना विबुध<sup>५</sup> गुणनन्दीति भुवने ॥२॥  
 मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्याप्रवादः<sup>६</sup>  
 सकलगुणसमुद्भूतस्य शिष्यः प्रसिद्धः ।  
 अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी  
 स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धुः ॥३॥  
 भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमतेर्भास्वत्समानत्विषः  
 शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्रीवीरनन्दीत्यभूत् ।  
 स्वाधीनाखिलवाङ्मयस्य भुवनप्रख्यातकीर्तेः<sup>७</sup> सतां  
 संसत्सु व्यजयन्त यस्य जयिनो वाचः कुतर्काङ्कुशाः ॥४॥  
 शब्दार्थसुन्दरं तेन रचितं चारुचेतसा ।  
 श्रीजिनन्दुप्रमथेदं चरितं रचनोज्ज्वलम्<sup>८</sup> ॥५॥

श्री गुणनन्दी नामके आचार्यं थे । वे भव्यजीव रूपो कमलोको विकसित करनेके लिए सूर्य थे; समस्त मुनियोंके नायक थे गणघरके समान सम्मानित थे; सज्जनोके अग्रसर थे; देशगण-के मुनियोंमें प्रमुख थे और थे गुणोंकी खान ॥१॥ एक राजाकी भाँति उनके लिए कोई भी काम कठिन नहीं था । उनके प्रथम शिष्य विबुध गुणनन्दी थे, जो समस्त गुणोंके समुद्र थे; पुण्यके निवास स्थान थे; सूर्य सरोखे तेजस्वी थे; प्रकृत्या चन्द्रमाकी भाँति सौम्य थे और अपने नामसे सारे ससारमें प्रसिद्ध थे ॥२॥ उन ( विबुध गुणनन्दी ) के शिष्य अभयनन्दी थे, जो समस्त मुनियोंके द्वारा पूज्य थे; जिन्होंने समस्त मिथ्यावादोका निगसन किया था; जो समस्त गुणोंमें समृद्ध थे; जिन्होंने जैन धर्मकी वृद्धिकी थी; जिन्होंने अपनी गम्भीरताकी महिमासे समुद्रको मातकर दिया था और जो भव्य जीवोंके एक मात्र बन्धु थे ॥३॥ उनको बुद्धि भव्य-जीव रूपो कमलोके विकासके लिए सदा तत्पर रहा करती थी; वे सूर्यके समान तेजस्वी थे; बड़े गुणी थे और थे अत्यन्त बुद्धिमान् । उनके शिष्य श्री वीरनन्दी थे; जिन्होंने समस्त वाङ्मय को अपने अधीनकर लिया था; जिनकी कीर्ति सारे संसारमें फैली हुई थी; जिनके वचन कुतर्कोका निवारण करनेवाले थे और इमोलिए जो सत्पुरुषोंकी सभामें विजयी होते थे ॥४॥ उन्होंने सहृदय वीरनन्दोने यह चन्द्रप्रमथरित लिखा है । यह क्या शब्द और क्या अर्थ दोनों ही दृष्टियोंसे सुन्दर, और रचनामें मोतियों जैसा उज्ज्वल है ॥५॥

१. अ देशगणी हि गण्यो । २. अ ग्रामाम्भोधिः । ३. अ सुकृतवसतिः । ४. क ख ग घ मन्महसा  
 ५. अ क ख ग घ स तस्याद्यः शिष्यः शिशिर । ६. क ख ग घ विविधगुण । ७. क ख ग घ मिथ्याप्रवादः  
 ८. अ नोद्यतमते । ९. अ वाचातकीर्तिः । १०. अ क ख ग घ मौक्तिकोज्ज्वलम् ।

यः श्रीधर्मनृपो बभूव बिबुधः सौधर्मकल्पे तत-  
 स्तस्माद्याजितसेनचक्रभृद्भूद्यश्चाच्युतेन्द्रस्ततः ।  
 यश्चाजायत पद्मनाभनृपतिर्यो वैजयन्तेश्वरो  
 यः स्यात्सीर्थकरः स सत्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः ॥६॥

इति ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ।

---

जो क्रमशः ( १ ) राजा श्री वर्मा, ( २ ) प्रथम स्वर्गमें देव, ( ३ ) अजितसेन  
 चक्रवर्ती, ( ४ ) अच्युतेन्द्र, ( ५ ) राजा पद्मनाभ, ( ६ ) वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र और  
 फिर ( ७ ) चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर हुए, वे भगवान्, चन्द्रप्रभ हम सबको रक्षा करें ॥६॥

इति ॥



# परिशिष्ट

## १. पञ्जिका

स्वस्ति श्री सरस्वत्यै श्री ध्रुवमुनिमुनये नमः ।

प्रणम्य वीरं नृसुतासुरस्तुतं प्रकृष्टबोधं विबुधेष्टसंमतम् ।

करिष्यते संशयभामञ्जिका मयापचन्द्रमहाव्यपञ्जिका ॥१॥

अथ श्री वीरनन्द्याचार्याः शिष्याणां हितानुचिन्तनप्रवणपनसः श्रीचन्द्रप्रभस्वामिचरितं महाकाव्यं प्रारब्धुकामास्तदादौ विशिष्टेष्टदेवताभिरांसनार्थमाद्याविदममिदमवते—श्रियं क्रियादिस्थादि । अवयवार्थप्रतिपत्तिपूर्विका समुदायार्थप्रतिवर्तिरिति व्याख्यापद्धतिरतोऽवयवार्थो निरूप्यते । तत्र, अवयवाः—स सचराचरे जगति प्रसिद्धो जिनः । श्रियम् आस्त्यन्तिको लक्ष्मोम् । क्रियात् विधेयात् । जयति कर्मातीति निति जिनः । उपलक्षणत्वात् सर्वज्ञः । कर्मातीति जये हि सकलजत्वं सुगसिद्धमेव । किमभिधानोऽसावग्रजः । अग्रे प्रथमं सकलजिनानां जातोऽग्रजः । कान्तापेक्षया बाग्रजः । अग्रग्रहणादनादिपुरुषस्य ब्रह्मणः प्रौढिरित्येके, तन्निरासार्थं जिन इति विशेष्यपदम् । अस्य च विशेषणत्वम्; यस्तत्स्य ब्रह्मणोऽनाविशिष्टत्वात् सुविशुद्धत्व-प्ररूपणमेव; पुनरवतीर्थं कर्मजयाभावात् । यद्यवतीर्थं कर्माणि जयति तदा सुविशुद्धपरमात्मत्वाभावः इत्यलमतिप्रसङ्गेन । यत्तदोन्मत्त्यसंबन्धाद् यस्य भगवतः श्रीमदादिजिनस्य । सभा समवसृतिः । बभौ शुशुभे । बभ, सुरागमे देवागमने । यदा ज्ञानमुत्पन्नं तदैव देवा बायाता इति भावः । किलक्षणा, नटस्तु० नटस्तश्च ते सुरेन्द्राश्च नटस्तुरेन्द्राः तेषां नेत्राणि नटस्तुरेन्द्रनेत्राणि तेषां प्रतिबिम्बानि नटस्तुरेन्द्रनेत्र-प्रतिबिम्बानि तैर्लक्ष्मिच्छा नटस्तुरेन्द्र० नृत्यहेवेन्द्रनयनप्र (ति) कृतिचिह्निता । पुनः किं लक्षणा, रत्नमयी रत्ननिर्वृता । प्राचुर्यविकारभाषान्यादिषु मयट् । किलक्षणेव कृतोपहारेव कृत उपहारः । पूत्राविशेषो यस्यां सा । विद्वित्तरचना । कैर्महोःपलैः अरविन्दैरिवेति । अथवा महाकाव्यानां सकलसभासु विद्वद्भिरादरणीय-त्वात् ॥ तदभिमतव्याख्यानेऽग्रजो रामचन्द्रस्तथापि भ्रातृचतुष्टयापेक्षयाग्रजत्वात् । जिनः समस्तान् शत्रून् जयतीति जिनः । तस्यापि प्राणितवरप्रदातृत्वाद् ॥ इन्द्रादिभिः सभायां पूज्यत्वम् । यो यच्छत्रून् निहन्ति स तैः पूज्यो भवतीति । अथवा बौद्धमतापेक्षया जिनो बुद्धः शेषं तथैव । ननु वाचायैरभिमतदेवतानमस्कारः प्रथमं कथं न विहितः, इत्यत्रोच्यते । 'आशोर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इति वचनादाशोर्वचनेऽ-पोष्टाभिर्गणेशेनमेव, तत्र भगवतो गुणातिशयस्य वर्णनात्, तस्य च मङ्गलहेतुत्वात् । किं तन्मङ्गलम्, 'मं मल-मित्युक्तमुपचारसमाधयात् । तद्विहालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥१॥' अथवा 'मङ्गलशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः । तत्कालीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥२॥' तन्मङ्गलं द्विविधं मुख्यमोपचारिकं चेति । 'यथार्हद्वयुणस्तोत्रं तन्मुख्यं मङ्गलं मतम् । अमुख्यं तद्गुणौषम्यात्पुण्यकुम्भादि लोकिकम् ॥' इति । सभाख्यानजिनत्वाद्विगुणप्रकाशनत्वमेव मङ्गलमिदम् । आशीश्च विनेयविबोध्यशिष्याणां निविज्जतः काव्यादिभ्यस्तत्तिजननाय स्वस्य च तथैव परिसमाप्त्यादिकलप्रकाशनायेति । तदुक्तम्—'विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न क्षुद्रदेवाः परिलङ्घयन्ति । अर्धान् यथैष्टांश्च सत्वा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥' ॥१॥ अथाष्टमजिनानुस्मरणयाह—स पातु इत्यादि । स जिनः । पातु रक्षतु । कान्, वः युष्मान् । स कः, शशिलाञ्छनः शशी चन्द्रो लाञ्छनं यस्य सः । यत्तदोन्मत्त्यसंबन्धात् । विद्विद्युते चकासे । कैः, अमरैः न त्रियन्त इत्यमरा देवास्तेः । किं लक्षणं, विनिमग्नमूर्तिभिः निमिमग्नानां मञ्जन्तो मूर्तिर्येषां ते विनिमग्नमूर्त-

१. 'विरचि' । २. 'प्रतीति' । ३. 'व्यादिमयट्' । ४. 'व' 'सु' नोपलभ्यते । ५. 'व' स्वस्तिकान्त-  
शब्दः पाठो नास्ति । ६. 'व' वाचा' । ७. 'व' 'हंस' ।

यस्मिन्प्रज्ञाकार्यैः । न, प्रमाविताने प्रमाया वितानं प्रमावितानं तस्मिन् प्रमामेव लक्षणे । किं लक्षणं, स्फटिकोऽस्फटिकोपलस्य प्रमेव प्रमा यस्य तत् तस्मिन् स्फटिकपाषाणसदृशकान्तो । पुनः कथं भूतैरिव, दुग्धं दुग्धपयोः क्षीरसमुद्रस्य मध्यं गच्छन्तीति दुग्धपयोविमलरूपस्तैः क्षीरसमुद्रमध्यस्थितैरिव । प्रमामण्डलक्षीरसमुद्रमोक्षपमानोपमेयभावः ॥२॥ अथ शान्तिजिनमभिष्टोति । अनन्तविज्ञानमित्यादि । य. विभुः । अनन्तवृत्तुष्टयं चत्वारोऽवयवा यस्य तच्चतुष्टयम् अनन्तं च तच्चतुष्टयं च तत् । 'अवयवे तयत् ।' विभक्तिं दधाति । केऽतेऽवयवाः अनन्तं च तद्विज्ञानं चानन्तविज्ञानं तत् । तथा अनन्तं च तद्वीर्यं चानन्तवीर्यं तस्य भावोऽनन्तवीर्यता ताम् । तथा अनन्तं च तत् सौख्यत्वं चानन्तसौख्यत्वं तत् । तथा अनन्तं च तददर्शनं चानन्तदर्शनं तत् इति । अथवानन्तं विज्ञानं यत्र तदनन्तविज्ञानं, तदनन्तचतुष्टयस्य विशेषणत्वाद् बहुव्रीहिरपि सर्वत्र । विज्ञानं केवलज्ञानम् । वीर्यं बलम् । सौख्यं सम्यक्त्वम् । दर्शनं दृष्टिरिति । स प्रसिद्धः । शान्तिः भगवान् बोद्धव्यतीर्थकरः । न अस्माकम् । भवस्य दुःखानां शान्तिरुपशमस्तस्यै संसारदुःखोपशमाय । अस्तु भवदुः । समुच्चयोऽयम् ॥ ३ ॥ अद्यात्यतीर्थकरं नमस्करोति । अहं श्रोवीरनन्दो । वीरं नमामि नमस्करोमि । किलक्षणं स्मरणीयं परोक्षोभूतम् । कस्याः जराजरत्याः । अथवा जरैव जरती वृद्धस्त्री तया स्मरणीयं न स्मरणाहोऽस्मरणीयस्तम् । जरा कथयति मन्वेनमोक्षं न स्मरामि मोक्षलक्ष्म्याः स्वयंवरीभूतोऽयं यत इति । अस्वयंवराः स्वयंवरा क्रियतेऽनयेति स्वयंवरीभूतस्तम् । कस्या अनन्तवर्धः । अनन्तवरा चाक्षी श्रीचानन्दवरश्रीतस्या मोक्षलक्ष्म्या । पुनः किलक्षणं, निरामयं निर्गतं आमयाभ्रामयां निर्व्याधिस्तम् । वीरं विशेषेण इत गतं भयं यस्मात् स तं वीरमयम् । भव छिनत्तीति भवच्छिन्नं तं संसारच्छेदकम् । नमुराधुरस्तुतं नयश्च सुराश्चाधुराश्च नमुराधुरास्तं स्तुतस्तं मनुजदेवदेवस्तुतमिति । ननु च चत्वार एव तीर्थकरा । कथमभिष्टुता, न सर्वेऽपीति चेद् उच्यतेऽनकबैरभिप्रायः—बृहत्कथाप्रवरस्यास्य काव्यस्य विस्मरभयात् । अथवा उत्सर्पिणीसमयादितोर्थप्रवर्तनाद् आदिजिनस्याभिष्टव्यं, प्रारब्धकाव्यकथानायत्नाद् अष्टमस्य, निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्तेः कारणत्वात् शान्तेः, वर्तमानतीर्थस्वाभित्वाद् अन्यस्मैति । तद्विधिः ( तथापि ) शेषाणां नमनाकरणेऽपरोक्षकत्वमिति चेत्, इत्यत्रोच्यते सर्वेऽपि नृणां भगवताचार्येण—वीरं विशिष्टम् ईं समक्षरणादिलक्षणां लक्ष्मीम् ईरते इति वीरस्तीर्थकरसमुदायस्तं नमामि । यतः सर्वेषामपि श्री पञ्चकल्याणाभिधा प्रातिहायादिलक्षणां समानैव श्रूयते श्रूयते, इति । शेष व्याख्यातं तथैव । तथा परममयाभिप्रायेण व्याख्यानकरणे ईश्वरं महादेवं नमामि तस्यापि जराजरत्या अस्मरणीयत्वात्, अनन्तवर्धश्च स्वयंवरात्वात्, निरामयत्वात्, वीरमयत्वात्, भवच्छिन्नत्वात्, वीरत्वात् महाभटत्वात्, नमुराधुरस्तुतत्वाच्च । तथानन्तवर्धः अनन्तवरा निवचला या श्रीलक्ष्मी पाणिगृहीती तस्या स्वयमात्मना वरीभूतं वरमेव लक्ष्मोपगतम्; शेषं तथैव । तथा भवच्छिन्नं भवं छिनत्तीति संसारतिकांतं ब्रह्माणम् । शेषविशेषाणि पूर्ववेदिति ॥ ४ ॥ अथ जिनामभिष्टुय जिनागममुत्तरति—हितमित्यादि । अहं जिनागमं जिनप्रवचनम् । शरणं त्राणम् । गतोस्मि प्राप्तो भवामि । कस्मात् ? शरण्यभूतत्वात् । कुतः शराणाहम्, प्रवितीर्णा दत्ता मुक्तिर्येन स तम्; दत्तमुक्तित्वात् । अतएव भव्यजनामेकबान्धवत्वं तस्य । न चेदमसिद्धं भव्यप्राणिबान्धवत्वम्, परमागमस्य दत्तत्वात् । कुतश्च हितम्, विसंवादविजितस्थितिं त्वात् । विसंवादोऽप्रतिपत्तिस्तेन विजिता स्थितिर्त्यस्य स तम् । अतएवावरैरकान्तवादिभिरन्धमजयेयमिति हेतुमद्रथारुणानमिदम् । हेतुरयं जातिर्वा ॥ ५ ॥ अथ परगुणा प्रतिपादितमागममनुस्मृत्यापरगुमारतीमनुस्मरति—गुणान्वितत्वादि । परं केवलम् । हारयष्टिर्हारलतैव दुर्लभा दुःप्रापा न, किन्तु समन्तभद्रादिमवा भाःती च । समन्तभद्रादिग्यो जाता समन्तः । किलक्षणा हारलता भारती चेति तुल्यत्वमुच्यते । गुणैस्तनुभिर्द्वन्द्वैरन्विता, पक्षे गुणैरौदार्यादिभिः । तदुक्तम्—'औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिप्रसन्नता । समाधिः दलेष ओजोऽयं माधुर्यं सुकुमारता ॥' इति भारतीगुणाः । पुनः किलक्षणा, निमं वृक्षानि वर्तुलानि च तानि भौतिकानि मुक्ताफलानि च नृत्तमौक्तिकानि, निमलानि मलरहितानि वृत्तमौक्तिकानि

१. व 'प्रमा' इति नास्ति । २. व 'स्तोति' । ३. व 'ते' नास्ति । ४. व 'लक्ष्म्या' । ५. व तथैव व्याख्यातम् । ६. व 'स्थित' ।



यस्यां सा निर्मलवृत्तमीशिका, पक्षे निर्मलानि निरवधानि च तानि वृत्तानि पधानि च निर्मलवृत्तानि तानि  
 शैथिल्यमयी यस्यां सा तत्त्वा । विद्यामस्यापि यथा—‘अनर्थकं व्युत्पत्तिं व्याहृतार्थमलक्षणम् । स्वसंकेतप्रवृत्त्या-  
 र्थसमसिद्धमसंमतम् ॥’ इति । पुनः किलजगता । नरोत्तमैः पुरुषप्रधानैर्विद्वद्भिश्च । कण्ठविमूषणीकृता अकण्ठ-  
 विमूषणं कण्ठविमूषणं क्रियते स्म या सा कण्ठविमूषणीकृता । उभयव्यापि साम्यम् । तुल्ययोग्य ( गि ) तैयव-  
 ल्लङ्घितः । अथवेत्येव व्याख्यानकरणे व्यतिरेकश्च । उभयत्र गुणसाम्येऽपि समन्तमद्रव्यमिन्द्रियमक्षयम् भारती  
 दुर्लभैव अन्वय न प्राप्यते च, पुनः ह्यारलता दुर्लभा न; सर्वत्रापि दृश्यमानत्वात् । भारतीदुर्लभत्वं च समन्त-  
 मद्रादिदुर्लभत्वात् । तदुक्तम्—‘विद्वन्मन्यतया सदस्मत्तिष्ठतामुद्गृह्णन्मन्त्राः शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं  
 व्याख्यानमात्मनः । ये ते च प्रति सद्यः सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते  
 दुर्लभाः ॥’ अन्यत्र च ‘सुप्रापाः स्तनयित्वाः शरदि ते साटोपमुत्थाय ये प्रयाशं प्रसूताश्चलद्भक्तयो गर्जन्यमन्दं  
 मुखा । ये प्रागभ्यसितान् फलद्विमुदकैर्ग्रीहीभ्रयन्तो नवान् सस्त्रेणापि पुण्यलं जनयितुं ते सद्यः दुर्लभाः ॥’  
 ॥ ६ ॥ अथो प्रागभ्यस्तगुणदोषयोः सुजनदुर्जनयोरलक्षणमाह—‘गुणानगृह्णन्तित्यादि । सुजनः शिष्टः । गुणान्  
 सौजन्योदायस्त्वैयंदाक्षिण्यमियहितपूर्वकप्रथमानभिभाषणादीन् । अगृह्णन् अस्वीकुर्वन् । निर्वृतिं सौख्यम् । न  
 प्रयाति न गच्छति । दुर्जनः दुष्टः । दोषान् तद्विपरीतान् । अवदन् अकथयन् । निर्वृतिं न प्रयाति । च—अव्यया-  
 नामनैकार्थत्वाद् यस्मात् । चिरंतनाभ्यां चिरंतनः पुरातनश्चासावभ्यासो भूयप्रवृत्तिश्च चिरंतं स एव  
 निरन्तरं चिरंतनाभ्यासनि ॥ तेन ईरिता प्रेरिता मतिर्बुद्धिः । गुणेषु यथाः प्रकाशनेषु । दोषेषु अयथाः सूत्रकेषु ।  
 चायते उदाहृते । हेतुरयमलंकारः ॥ ७ ॥ अथ तयोरेपि सत्कारमाह—‘गुणानित्यादि । यथैव प्रवृत्तया  
 दत्ताधवा । गुणान् सौजन्यादिकान् । उपदिशन् प्रकथयन् । सुजनः शिष्टः । गुरुत्वबुद्ध्या गुरुत्वमत्या । काव्येषु  
 सदर्थप्रस्तुतत्वात् सुजनं गुरुत्वं वर्तते इति गुरुत्वबुद्धिः । नमस्ते नमस्कृत्यते । तथैव तेनैव प्रकारेण ।  
 प्रणिन्दया प्रगृह्णया । दोषान् दिशतः प्रतिपादयतः । सलस्यापि दुर्जनस्यापि । गुरुत्वबुद्ध्या मया अयमञ्जलिः  
 कृतो विहितः । ‘तौ युतावञ्जलिः पुमान्’ । यतो हि दुर्जनः काव्येषु दोषान् गृहीत्वा प्रकाशयति तेन कवि-  
 निर्दोषमेव काव्यं बध्नातीति दुर्जनोंऽपि सम्मतिजनकत्वाद् गुरुत्वेति भावः । तदुक्तम्—‘दोषान् कांदश्च नः  
 प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्यर्थं साहं तैः सहसा मूषे ( त्रिवे ) यदि गुरुः पश्चात् करोत्येव किम् । तस्मान् मे  
 न गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघुश्च स्फुटं ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं शलः सद्गुरुः । तुल्ययोगितेय-  
 मुपमा वा ॥ ८ ॥ अथात्मनो गर्वपरिहारमाह—‘सुदुष्करमित्यादि । गणस्याधिपः—‘श्रेष्ठजिजायावकभाविका  
 इति मणः; अथवा श्रेष्ठ्यति-अनयार-मुनयस्तेषां बाधिपः, गणधरोऽपि । अपि विशेषे । किं पुनरन्यः । यद्  
 अर्हचरितम् । सुदुष्करं दुःश्लेन कर्तुं शक्यं दुष्करं, सु अतिशयेन दुष्करं सुदुष्करम् । मनुते जानोते । वाग्येवी  
 सरस्वती अपि । आत्मनः स्वस्य यद् भारं मनुते । अत्यधीः अत्या बोरस्येत्यल्पोर्मन्दमतिः । अहं तद्विचित्रः,  
 विधातुमिच्छुः । सतां महद्बुद्धीनाम् । हास्यतां हास्यत्वम् । न यास्यामि ( इति ) न, अपि तु यास्यामि ।  
 ज्ञमौ नकारो प्रकृतं गमयतः । यथा प्रकृतोऽर्थः । ‘मन्त्रः कथितः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्’ इति ।  
 अथवा नु अहो ध्रुवं हास्यतां न यास्यामीति काहुः, पाठान्तरम् । भाषेनः ॥ ९ ॥ अशेषानुष्ठानेऽपि भक्त्या  
 करणीयत्वमाह—‘सत्तापीत्यादि । सत्तापि सत्करणे हास्यतासाधपि । सुदुःप्रवेष्टेऽपि सुदुःश्लेन प्रवेष्टो यत्र स  
 सुदुःप्रवेष्टः सत्सिन्धुः । गुरुसेतुं गुरुश्च एव सेतवस्तेषां हितस्तस्मिन् आचार्यपरम्परातिप्रापिते । तस्मिन्  
 प्रसिद्धे । पुराणं पुराणमेव सागरस्तस्मिन् पुराणसमुद्रे । यथात्मं आत्मनः शक्तिमनसिक्रम्य यथात्मशक्तिः ।  
 प्रवतोऽस्मि यत्नवान् भवामि । यथाधिं यत्नस्य सत्तापीयकुलस्याधिपतिः स्वामी यथाधिपतिः तेन प्रवर्तितो  
 वाहितस्तस्मिन् । पथि मार्गे । पोटकः कलमः । ‘पोतः पाकोऽर्मको डिम्बः’ इति । इव यथा, उपमेये । यथा  
 सुदुःप्रवेष्टेऽपि पुरातनसमुद्रे महासमुद्रे गुरुसेतुं गुरुश्च गुरुसेतुस्तेन बाहिते प्रचालिते पथि मार्गे  
 यथाधिपतिना प्रवर्तिते सति पोटकोऽपि यथात्मशक्तिः प्रवतो भवति तथा श्रीकौरवाद्यप्रकृतिष्वेऽपि पुराणसमुद्रे  
 श्रीजिनसेनादिषुना प्रयतोऽस्मीति भावः ॥ १० ॥ अथ कथावतारः—अथास्तीत्यादि । अथ अनन्तरम् ।

१. व 'चिता' । २. व दुर्लभाः सद्यः । ३. व 'हुः' । ४. व यस्मात् । ५. अ 'रयः' ।

शृङ्गेन ( ण ) शिलरेशोल्लि [ लि ] न उद्धृष्टः अमराणा देवानामालयो येन सः, शिलरोद्धृष्टाकः । द्विपू०  
 द्वयोः पूरणो द्विपूरणः सबाधो द्वीपव च द्विपूरणद्वीपस्तत्र गतो द्वितीयद्वीपस्थितः । द्वयोर्मि आकाशो । कलमाद्य०  
 कलमानां कलमशालीनामग्राणि कल० तानीव पीताः पिङ्गलाः । ( पिङ्गला पीताः ) तैः कलमशालिकटारैः ।  
 गभस्तिभिः घृणिभिः । अमेवा मेघरहिताम् । तद्विच्छिन्नं तद्विच्छिन्नं श्रोतस्त्रिच्छिन्नास्ता विद्युच्छोभाम् । सुजन्  
 स्तत्सादनम् । पूर्वमन्दरः पूर्वस्या मन्दर — पूर्वमेरु । अस्ति विद्यते । आत्यलंकारः ॥ ११ ॥ अब नभसिः  
 पक्षैर्वंशमुपवर्णयति — विभृष्येत्यादि । देशः विषय । समस्ति विद्यते । कथंभूतो देशः ? प्रथितः प्रतीतः । कया  
 मङ्गला० मङ्गलावतीति संज्ञा । कथंभूतया अर्थयुक्तया अर्थनाभिधेयेन युक्ता अर्थसहिता तथा । पुनः कथं-  
 भूतः नाकि० नाकिना देशाना निवासः स्वर्गस्तेन सन्निभः सद्गुणः । कया, श्रिया लक्ष्म्या । कस्य आत्मनः स्वस्य ।  
 पुनरपि कथंभूतः । स्थितः वर्तमान । क्व, भुवि । किंकृत्वा विमृष्यालंकृत्य । कं तत्पू० तस्य पूर्वविदेहस्तत्पूर्व-  
 विदेहस्तम् । जाति ॥ १२ ॥ भूमयः धरिभ्यः । हरन्ति मृणन्ति । कानि, चेतांसि मनासि । कस्य जनस्य  
 लोकस्य । कथंभूता, चिताः संभूताः । कैः समानसंस्थाङ्कुरसवयैः संस्थाना घान्थानामङ्कुराः अमिनवप्ररोहाः  
 समानाश्च ते संस्थाङ्कुराश्च० समान० तेषा संवया संघानास्तैः । कथंभूतैर्निरन्तरैः सान्द्रैः । पुनः कथंभूतैः  
 शुकाङ्ग० शुकानामङ्गानि शुकाङ्गानि तानीव कोमलानि मृद्वि तैः । पुनः कथंभूता इव हरिश्मणिना०  
 हरिश्मणीनामधमगर्जना व्रातो निवहस्तेन विनिर्मिताः रचिता इव । उपमेयम् ॥ १३ ॥ निशाकरांशु इत्यादि ।  
 य. देशः । विभाति शोभते । कैः सरोवरैः तटाकैः । किलक्षणैः निशा० निशाकरस्याशब्दो निशाकराशब्दोवा  
 प्रकरो निशाकराशुप्रकरः स इवाच्छ वारि येयु ते, तै चन्द्रकरनिकरनिर्मलजलैः । पुनः किलक्षणैः विनिर्द०  
 विनिर्द्वानि च तानि नोलोत्पलानि च विनिर्द० तेषा रश्मयस्ते रञ्जितास्तैः । कैरिव खण्डैरिव प्रदेशैरिव ।  
 कथंभूतैः च्युतैः षटितैः । कस्य, विहायसः आकाशस्य, कया, निरालम्बतया निर्गत आलम्बो यस्य स  
 निरालम्बस्तस्य भावो निरालम्बता तथा आलम्बरहिततया । उपप्रेक्षा ॥ १४ ॥ निशामु इत्यादि । जलराशोः  
 समुद्रस्य योषितो नद्यो जलराशियोषितः । बहन्ति यान्ति । कथंभूताः, कूल० कूलं रोधम् ( उ ) द्रुजन्ति  
 उदर्यन्तीति कूलमुद्रजाः । अलु ( क् ) क्वचित् । पुनः किलक्षणा परिपूरितमन्दरं यासा ताः परिपूरितामराः  
 संभूतमध्या । कैः पयःप्रवाहैः पयसा प्रवाहाः पयःप्रवाहास्त जलपूरैः । कथंभूतैः शीताशु० शीताशुमणोना  
 चन्द्रकान्ताना स्थलानि तैर्मयचूतैः सृतैः । कामु निशामु रानिपु । केऽपि निदाघकालेऽपि उत्पोगपमेऽपि ।  
 क्व, यस्मिन् देशे । अतिशयः ॥ १५ ॥ सदायमित्यादि । विरदा आपदा । जानु कदाचिन् । न बिलोक्यते न  
 निरीक्ष्यते । कोऽसौ, लोकः जनः । कथं विहिता० विहिता कृता अम्यमूया गणेष्वपि दोषारोपो यसा सा  
 तथा । कथमिति । इतीति किम् । अयं जनः सदा सर्वदा । कृताधिवामः कुनोऽधिवामो येन स । कया, धन०  
 धनानि च धान्यानि च धन० तेषा संपत् तथा । किलक्षणया, अस्म० मम प्रतिपक्षभूता अस्मत्प्रतिपक्षभूता तथा  
 मत्सपत्न्या । क्व, यस्मिन् देशे । उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥ विकासवज्जिह्वादि । यो व्यनक्ति प्रकटयति । किं तत्  
 समस्त० समस्तवशावो देशश्च समस्तदेशस्तस्याधिपतिस्तस्य भावस्तन् । कस्य, आत्मन स्वस्य । कैः स्थल-  
 नीरजाकरैः नीरजानामाकरा नीरजाकराः स्थलनीर०, तैः । किलक्षणैः, शिवाशो  
 विद्यते येषु तेषु ते विकासवन्तस्तैः । पुनर० शरदभ्रणीव पाण्डुराः शरदभ्रपाण्डुरास्तैः । कैरिव, सितानि च  
 श्याम्यापत्राणि च सितानि० तैः [ इव ] । किलक्षणैः प्रसारितैः विस्तारितैः । क्व, लोके । उपमा ॥ १७ ॥  
 समुज्ज्वलामिरित्यादि । वसुमतो वसुधरा । यथार्थनामा यथार्थं नाम यस्याः सा । अत्रायत संजाता ।  
 कथंभूता कुनास्पदा कृत आस्पदो यया ( कृतं विहितमासादमाधयो यस्याः ) सा विहितावकाशा । कामिः  
 क्षमिभिः आकरैः । किलक्षणानि, जनविहेतुभिः जननामुद्भवैः संपत्स्यस्ताहा हेतवो यास्तामिः । पुनः  
 कथंभूताभिः समुज्ज्वलाभिः विषादाभिः । पुनरपि क० कनकं सुवर्णमादिवेषा घातुना ते कनकादयस्तेषां  
 योनय उत्पत्तिस्थानानि यास्तामिः । पुनरपि क० विकासनीभिः विकाशो विद्यते यामु सा विकासिग्यस्तामिः ।  
 कथं समन्ततः सामस्येन ॥ १८ ॥ शिखावलीत्यादि । यस्मिन् निगमाः श्रामाः । विभान्ति । कैः नूतन०

नूतनाणि नवीनानि च तानि धान्यानि च तेषां राशयस्तैः नवीनधान्यपुञ्जैः । कथंभूतैः बहिःस्थितैः बाह्ये पुञ्जितैः । पुनरपि कथंभूतैः शिखाबलिं शिखानामावृत्यः पङ्क्तयः शिखां तानिः लोढो घनाधनानां मेघानामध्वा यैस्तैः तैः शिखरपङ्क्तिस्पावकासैः । कैरिव कुलमेदिनीधरैः कुलपर्वतैरिव । किंविशिष्टैस्तैः उपयातैः समागतैः । कस्मात् कुतूहलात् कौतुकात् । उपमा ॥ १९ ॥ गतैरित्यादि । यः मङ्गला-  
वतीविषयः । भाति चकास्ति । कैः ग्रामपुरैः ग्रामाश्च पुराणि च ग्रामपुराणि तैः । किलक्षणं, निरन्तरोद्याः  
निरन्तराणि सान्द्राणि च तानि उद्यानानि च निरन्तरोद्यानानि तेषां वितानं मण्डनं ( ल ) तेन राजितानि शोभितानि तैः, अथवा उद्यानानां वितानमुद्यानवितानं तस्य राजिः उद्यानवितानरात्रिः, निरान्तरा  
वासो उद्यानराजिश्च निरन्तरोद्यानं । सा संज्ञाता येपु तानि तैः । उत्प्रेक्ष्यते कैरिव गतैरिव । वा  
समाससि निकटत्वम् । कया दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया । कासाम् इतरेतरभियाम् इतरेतरेषां श्रिय  
इतरेतरश्रियस्तासां परस्परलक्ष्मणाम् । कथंभूतानाम्, अनन्धश्चभुवां न अन्यत्र भवन्तीत्यनन्धभुवस्ता-  
साम् । एताः श्रियोऽस्मात्स्वैव नान्यात्रेति परस्परदिदृक्षाभिप्रायः ॥ २० ॥ देशमुपवर्ण्यदानीं नगरमु-  
पर्णयति—वर्णनपद्येत्यादि । अथ आनन्त्यै । तस्मिन् देशे । पुरं नगरम् । समस्ति विद्यते ।  
किमभिधं रत्नसंचयं नाम । किलक्षणं वर्णनपद्यं रत्नानां संचयः संवातो रत्नसंचयः वर्णनपद्येषु  
विपणिपद्येषु स्तूपितं पुञ्जितो रत्नसंचयो यत्र तत् । तथा यत्पुरं विभाति । कैः आलानितमत्तवारणैः मत्ताश्च ते  
वारणाश्च मत्तवारणाः शोभगजा, आलानिता उत्तमिताश्च ते मत्तवारणाश्च आलानि० तैः । च पुनः ।  
हर्ष्यैः धनिनिवासैः । किलक्षणं ममत्तवा० सहमत्तवारणैर्वर्तन्ते इति समत्तवारणानि तैः प्रवीयसहितैः ।  
यमकम् ॥ २१ ॥ गभीरमादेरित्यादि । यत्परिखा यस्य क्षांतिका । विराजते विभासते । किलक्षणा, प्रवीयसो  
पुष्पलतरा । पुनः किलक्षणा, संकुलान्तरा संभूतमध्वा । कैः पयोधरैः जलदैः । किलक्षणैः, गम्भीरशब्दैः । पुनः  
किलक्षणैः, प्रतिमानिपातिभिः प्रतिच्छायावतरितैः । पुनः किं मन्दसमीरं मन्दश्चासौ समीरणश्च तेन  
ईरितास्तैः अल्पवायुप्रेरितैः । कैरिव जलेभ्यूर्ध्वैरिव वारिवारणसंज्ञातैर्यथा । उपमा ॥ २२ ॥ परीतशृङ्ग-  
रित्यादि । परिधिः प्राकारः । विभाति । कैः नक्षत्रगणैः तारकानिकरैः । किलक्षणैः, परीतशृङ्गैः परीतानि  
वेष्टितानि शृङ्गाणि यैस्तैः परी०, तैः । पुनः किलक्षणैः, स्फुरन्ति अंगूनां जालकानि येषां तैः, तैः, स्फुरदं-  
गुजालकैः भास्वत्करनिबहैः । कैरिव, प्रदोषप्रकरैरिव प्रदोषानां प्रकरं समूहैः प्रबोधितैः प्रकाशितैरिव । किं  
लक्षणैः, स्थिरप्रभैः निःकप्रदोषितमिर्मण्द्यादिजैर्वा । कथं, समस्ततः इतस्ततः । च, यस्मिन् पुरे । उपमा  
॥ २३ ॥ मलीमसमित्यादि । यत्र जनैश्चन्द्रमण्डलं विलोक्यते । किलक्षणं, घनाध्वमध्यगं घनानामध्वा  
घनाध्वा तस्य मध्यं गच्छतीति घनाध्वमध्यगंस्तम् ( तत् ) । पुनः किलक्षणं मलीमसं मलिनम् । केन, भृङ्ग-  
निभेन भ्रमरसदृशेन । लक्ष्मणा चिल्लेन । उत्प्रेक्ष्यते किमिव अन्नं लिहन्तीत्यन्नलिहः शृङ्गाणां कोटयो येषां  
तानि, तैः । गृहैः सदनैः निघृष्टदेहच्छवीच निघृष्टा उद्धृष्टा देहस्यच्छविर्धस्य तत् ॥ २४ ॥ भदाभमित्यादि ।  
यत्र घनैः मेघैः । गजभ्रमः हस्तिभ्रान्तिः । विरुध्यते क्रियते । वेषा शरीरिणा प्राणिनाम् । कथंभूतानां गोपुरस्य  
शृङ्गैः वर्तन्ते इति गोपुरशृङ्गवर्तिनस्तेषाम् । कथंभूतैर्घनैः, मदाभं मदसदृशम् । अम्भः जलम् । विसृजद्भिः  
भ ( ल ) द्भिः । उत्तलसन्तो वासो तद्विल्लता च उत्तलसत्तल्लता सा अलकरणं येषां तैः, तैः विकसत्क्षण-  
प्रभाभरणैः । पुनः किं, अधोगतैः अधःस्थितैः ॥ २५ ॥ सुगन्धिनिश्वासेत्यादि । यत्र पुरे । मधुव्रतत्रयः  
मधुकरसमूहः । जर्तविलोक्यते, क इव, राहुः संहिकेय इव । किं लक्षणो राहुः, समापतन् समागच्छन् । कया  
इन्धुशङ्कया चन्द्रारक्या । क्व, कामिनीमुखे नारीवदने । किलक्षणं, आपाण्डुनि आ ईषत् पाण्डुरे । केन, मनो-  
भुषा कामेन । पुनः कथंभूते सुगं० शोभनो गन्धो यत्र स सुगन्धिः, निःश्वासस्य मरुत् निःश्वासमरुत्, सुगन्धि-  
श्वासो निःश्वासमरुत् सुगं० तेन मनोहरं तस्मिन् सुगन्धोष्णवासायामुन्दरो ( रे ) अत्र मुखचन्द्रयोः  
कान्तिमत्तया समानत्वेऽपि सुगन्धित्वेन कामिनीमुखे विशेष इति भावः ॥ २६ ॥ निपातयन्तीत्यादि । यत्र  
नवा नवोडा । वधूः कामिनी । जीवितेश्वरं प्राणनाथम् । गाढं यथा भवति तथा नालिङ्गति नाहिल्य ( प्य )

ति । कया जनाभिशाङ्कया जनेभ्योऽभिशाङ्का तया—किमेते जनाः सन्तोष्यारेकया । कथंभूता नवा वधूः, तरले चञ्चले, विलोचने विशिष्टनयने । निपातयन्ती इतस्ततः प्रक्षिपन्ती । कामु निवासमित्युपु निवासस्य भित्तयो निवासभित्तयस्तासु गृहकुड्येषु । किलक्षणामु सजीव० सह जीवचित्रैवर्तन्त इति सजीवचित्रास्तासु । जीव-चित्राणि पुस्तिकाविशेषाः । भ्रान्तिमान् ॥ २७ ॥ शशाङ्कान्तेत्यादि । तथा यत्र पयस्ताण्डवं तनोति । कि लक्षणं, विकासि प्रोक्तुलवहम् । क्व, अकाण्डे अनवसरे । केषां, शिक्षण्डना मयूराणाम् । किलक्षणम् पयोदशङ्किनां पयोदानां शङ्का विद्यते येषां ते पयोदशङ्किनस्तेषां जलधरारैकनाम् । किलक्षणं तत्पयः । पतत् शरत् । कस्मात् सोधचयात् । सोधानां चयस्तस्मात् राजसदननिकरात् । किलक्षणम् शशाङ्ककान्ता० शशाङ्ककान्ताश्च तेऽजमानश्च शशाङ्क० तैर्मया ( ? ) निवृत्ता ऊर्ध्वभूमिका वेदिका यस्य स तस्मात् । वष, विधूदगमे चन्द्रोदये । अयमपि भ्रान्तिमान् ॥ २८ ॥ निशागमेत्यादि । तथा यत्र, विधु चन्द्रः । कलङ्कुलेखया लाञ्छनरेखया । विभज्यते विभज्यते । किलक्षणो विधुः, अभिन्नदेशः न भिन्नो देशो यस्य सोऽन्त्यदेशः । कस्मात्, आननाम्बुजात् आननमेवाम्बुजं तस्मात् मुखकमलात् । किलक्षणात्, अमलगण्डमण्डलात् अमलं गण्डयोर्मण्डलं यत्र तत्तस्मात् निमलकपोलविम्बात् । कस्य, वधूजनस्य । किलक्षणस्य, सोधशि० सोधानां राजसदनानां शिरांसि शिखराण्यधिरौहतीति० स तस्या । वष, निशागने रात्रिप्रारम्भे ॥ २९ ॥ समुल्लसद्भिः रित्यादि । तथा यत्पुनरि विभाति । कैः, ध्वजाशुकेः । ध्वजानामंशुकानि ध्वजाशु० तं केतनवसनं । किलक्षणैः, समुल्लसद्भिः समुल्लासमुर्ध्वपरि-स्पन्दं कुर्वद्भिः । पुनः किलक्षणैः, शरद० शरदोऽभ्राणि शरभ्राणि तानोव पाण्डुराः शरद० तैः । निरालम्ब-विशेषणत्वात् पुल्लङ्गः । पुनरपि किलक्षणम्, निविचारि० विशेषण निवारित आतप औष्ण्यं यैस्तानि तैः । बहुब्रीह्यालम्बनत्वान् नपुंसके । कैरिव, निर्मोकलैरिव निर्मोकस्य लवा निर्मोकलवास्तैः । कञ्चुकलेशैः ( इव ) । कि लक्षणैर्निर्मोकलैः, निर्मलैः मलरहितैः । कस्य उष्णगोः—उष्णा गावो यस्य स तस्य आदित्यस्य । कि लक्षणस्य सतः । गृहाद्य० गृहाद्यर्थं पुरुषेणोपाजितमिति गृहम्, तस्य तेषां वा अग्रभागास्तैकलित्विनस्व सोधो-परिप्रदेशे घृष्टस्य इति ॥ ३० ॥ विशालशालोपवनेत्यादि । यस्मिन् जिनालयाः चैत्यगृहाणि विभ्रान्ति । कि लक्षणाः, विशाल० शालद्वय उपवनं च शालोपवने विशाले च ते शालोपवने च विशा० ताम्बामुपशोभिनः ॥ विस्तीर्णशकारवाटिकाराजमाना । पुनः कि०, शिरः० शिरोभिः समुत्तमिता मेघानां पटिकयैस्ते शिखर-स्वगति जलधरघटाः । पुनरपि कि० ॥ सिहं सनाथा मूर्तिर्येषां ते लेप्यमृगैश्चाधिष्ठितनव । के इव, धरणीधरा इव पर्वता यथा । कि लक्षणाः पर्वता, विशाला विस्तीर्णश्च ते शाला वृक्षविशेषाश्च विशा० तेषामुपवनं तेनोपशोभिन । शेषं स्याष्टम् । श्लेषोपमा ॥ ३१ ॥ मदेनेत्यादि । यस्मिन् मदेन मद्येन योगः केवलं परं द्विरपेण गजेषु विलोभ्यते, अन्यत्र अवलेपेन योगो न । सोपसर्गता उपसर्गसहितत्वम् केवलं धातुपु-म्भाविषु । निपातनक्रिया साधुत्वं, पक्षे मारणक्रिया । शब्देषु शब्दादिषु । करयोः पीडनानि करपीडनानि, पक्षे भागधेयस्य दुःखानि । कुक्षेपु स्तनेषु । भवन्ति, न जनेषु—इति सर्वत्र संबध्यते । परिसंख्यालंकारः ॥ ३२ ॥ द्विजिह्वितेत्यादि । यत्र द्विजिह्वता द्विरसना, पक्षे पिशुनता । परं केवलम् । कणाभूता कणिनाम् । कुलेषु यूयेषु, न जनेष्विति सर्वत्र संबन्धः । चिन्तापरता चिन्तकाप्रता ( चिन्तकाप्रता ), पक्षे सचिन्तता । योगिषु ध्यानिषु दरिद्रता क्षोणत्वं, पक्षे निर्धनत्वम् । नितम्बिनीनां कामिनोनाम् । उदरेषु कटीषु । अघरत्नसंभवः अघरत्नशब्दाच्छत्वं, पक्षे होनजातित्वम् । ओष्ठेषु रदनच्छदेषु । वृत्तद्वयेऽपि परिसंख्या ॥ ३३ ॥ विभान्ती-र्यादि । यस्मिन् गृहाणि सदनानि विभ्रान्ति । किलक्षणानि, सर्वतः सामस्येन । विविधोऽ उज्ज्वलाश्च ते उपलाश्च उज्ज्व० विविधाश्च ते उज्ज्वलोऽ विविधोऽज्ज्व० तैः प्रणद्धाः खविता भित्तयो येषां तानि । किलक्षणानोव, लीनानोव तिरौभूतानोव । केपु, दोमता कान्तिमत्तां दधत्सु निजेषु स्वेषु धामसु महःसु । कया, पतङ्गसंतापमिया पतङ्गस्य भानोः संतापः परितापस्तस्माद् भीः तथा । उत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥ स न प्रदेष्टोऽस्तीत्यादि । यत्र स प्रदेष्टः प्रकृष्टो देशो न, यो जनाकुलः जनसंभूतो न । असौ जनोऽपि न, यो

१. ज पयोश्च । २. = निशागम इत्यादि । ३. ज 'लक्षण' इति नास्ति । ४. च स्वतिकात्तर्गतः पाठो नास्ति । ५. = 'स्थापित' । ६. ज सद्य आदिषु । ७. ज निवम्बि इति नोपलभ्यते ।

धनेश्वर इम्यो न । तद् धनं द्रव्यं न, यद् भोगसमन्वितं भोगसहितं न । स भोगोऽपि न, यः संतोऽनवरतो न । एकावलीयमलंकृतः ॥ ३५ ॥ विलुतेत्यादि । यत्र सितेतराणि सितानि चैतराणि च यद्वा सितेभ्य इतराणि नीलानि । अम्बुच्छाणि कंजानि । लुठसि प्रकम्पन्ते । कुतः, तापात् अन्तःस्फेधादिव । किं-लक्षणानि योषितां कामिनीनाम्, विलोचनोत्पलं विशिष्टनयनकुलोद्ययैः, विलसशोभानि जितकान्तीनि । क्व, दोषिकाजले वासीतोये । किलक्षणं, मरुचलं मरुता वायुना चलन्त्यो बीचयः बल्लोला यत्र तत् तस्मिन् । पुनः किं लक्षणं, शीतले । अन्योऽपि यः कश्चित् केनापि जितो भवति सोऽपि वायुना शीतले जले लुठति । उपमेयमलंकृतः ( हेतुत्वेना ) ॥ ३६ ॥ महागुणैरित्यादि । यत् पुरम् । महाजनैः गरिष्ठलोकैः । अधिष्ठितम् आश्रितम् । प्रतिभाति चकास्ति । किलक्षणैरतैः, महागुणैः महान्तो गुणाः शौजग्योदायैर्यथैवप्रभृतयो येषु ते महागुणास्तेरपि । अगुणैः गुणरहितैः, पक्षे यतो महागुणैरतएवामुणैः, 'सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः ।' तेभ्यः, तमोगुणरहितैः, अथवा अस्य कृष्णस्य गुणा इव गुणा येषां तेऽगुणाः तैः । मदोज्ज्वलैः त्यक्तमदैः अपि प्रबुधं परिणतप्रकृष्टमदैः, पक्षे यतो मदोज्ज्वलैरत एव परिणतहर्षैः, मानिनां सदा संततत्वा-द्वर्षाभाव एव । प्रकामम् अतिशयेन । निम्नयैः भयरहितैरपि । परे सत्रवश्च ते लोकाश्च परलोकस्तेभ्यो भीरुभिर्भूलोकैः, पक्षे परलोकः प्रेत्यभावः । विरोधालंकारः ॥ ३७ ॥ स यत्रेत्यादि । यत्र स एव परं दोषो यत्कामिनः कामुकाः, स्वकामानुनयस्य स्वकामिनीचाटुकारस्य, रसं रहस्यं न जानते नावबुध्यन्ति । क्व सति कूजति कूजति सति । कस्मिन्, पतङ्गकुले पक्षिमूषे । किलक्षणं, वेदिकानां सोषोपरिमृशिकानां शिरः-शिखासु रोते इति वेदिकाशिरःशिखासायि तस्मिन् । पुनः किलक्षणं मानभञ्जने मानं भनक्त्रेति मानभञ्जनं तस्मिन् । कामिभ्यः खलु सुरतावसरे कूजन्ति स्वचातुर्यात् । तत्र पतत्रिणा कूजनश्रवणात् तासां मानभङ्गः, मानभङ्गे च नोरस्तवमिति भावः ॥ ३८ ॥ अथ पञ्चदशभिः पक्षै राजोपवर्धयते । अथाभवदित्यादि । अथ नरेश्वर भूपतिः । अभवत् । किलक्षणं, भूरिगुणैः प्रचुरगुणैः । अलंकृतः भूषितः । पुनः किं, तस्य पुरस्य रत्नसंचयस्य । शाशिता रक्षकः । तथा यः, उवाह दधौ । का, कनकप्रभाभिषा कनकप्रभ इत्यादिषा कनकप्रभाभिवा ताम् । कया, वृद्ध्या लोकप्रसिद्ध्या । कथं तथापि, तथापीति किं, यः, वेनचिदुपमानेन तुलितद्युतिर्न तुलिता समीकृता द्युतियस्य स तुलितः ॥ ३९ ॥ यशोनिरित्यादि । महोजसः महदोषो बलं यस्य तस्य । यस्य राज्ञः । विधूषितं सतापितमरातोना कुलं यस्तानि । तेजसि महासि । न ममूः न संमानि स्म । वव, भूतले पृथिव्याम् । किलक्षणं, पूरितमन्तरं मध्यं यस्य सत् तस्मिन् । कैः, यशोभिः, किलक्षणं, एणाङ्ककलां एणाङ्कस्य चन्द्रस्य कला एणाङ्ककला । ताभिरेव समुज्ज्वलानि एणाङ्ककलां तरेणाङ्ककलासमुज्ज्वलैः । किं लक्षणै-रिव, पुरः प्रयाते पुरोगैरिव ॥ ४० ॥ प्रयासमुच्चैरित्यादि । ततो जयसी । पुनरिचरं स्थिरा बभूव । किं कृत्वा, उच्चैः कटकं यद्भुजं यस्य बाहुम् । अविगम्य सप्राप्य । किलक्षणा, भीतेव त्रस्तेव । कुतो भीता यतो जययोः प्रयासमवाप गतवती । कुत संचारवशात् संचारस्य पर्वतनस्य वजस्तस्मात् । वेधु, भूभृता राजा पर्वतानां च । गणेषु समुहेषु । किं लक्षणेपु, उच्चैः कटवेषु उच्चैः कटकाः शिबिरा ( शिबिराणि ) येषां ते तेषु, अथवा उच्चैर्बलयेषु उच्चैर्चित्तमेषु च । अन्यस्यापि उच्चैः कटवेषु उच्चैर्चित्तमेषु भूभृता पर्वतानां गणेषु भ्रमतः प्रयासो भवति ततः कुत्रचिदवस्था-नमिति लेवेः (?) ॥ ४१ ॥ यः पुरुषोत्तमोऽपि कृष्णोऽपि, पक्षे पुरुषप्रधानः । वृषोच्छेदं वृषोच्छेदविषयायि चेष्टितं यस्य स वृषोच्छेदविषयायिचेष्टितः—दैत्यध्वंसकारिवृत्तिः, पक्षे पुण्यघातिचेष्टितः, नाभूत् ; अथवा वृषोच्छेदविषयायिनो वासो चेष्टा च वृषोः सा संजाता यस्य स तथाविधः, नाभूत् नाजनिष्ट । किलक्षणाः, अचिन्त्यं महात्मनो भावो माहात्म्यमचिन्त्योऽनवधार्यो माहात्म्यस्य प्रभुत्वस्य गुणो यस्य सः । जनानामाश्रयो जनाश्रयः । स्वयं विक्रमोऽतिशक्तिता स्वविक्रमरतेनाक्रान्तं ध्यातं समस्तं विष्टपं येन स स्वविक्रमः । श्रिया सनाथः लक्ष्म्या सहितः ॥ ४२ ॥ कल्पवृक्षेभ्योऽप्यादिष्वयं यस्य सूच्यते । कल्पोपपदेर्महोरहः कल्पवृक्षैः । निठान्त्सम् अतिशयेन । विमनस्कवृत्तिता विमनस्का वासी वृत्तिश्च विमं तस्या भावो विमनस्कवृत्तिता । रधे

दधे । कथा, शुचैव शोकेनेव । कि लक्षणैः सद्भिः, निजितैः पराभूतैः । केन, निसर्गब्रह्मासीत्यागगुणश्च निसर्गं तेन निसर्गप्रत्यागगुणेन । कि लक्षणैः, गरीयसा गरिष्ठेन । कस्य, यस्य । किल०, परार्थासंयदस्य स तस्य अर्थानिमित्तसंपत्तेः ॥ ४३ ॥ कुरङ्गलाञ्छनः चन्द्रः । य जेतुं न शक्नोति शक्नोति । किल०, उज्ज्वलं निर्मलम् । कथा, प्रदीपः० प्रदीपो रजनीमुखं, पक्षे प्रकृष्टदोषाः ( प ) तस्य तेषां वा संसृतिता तया । उभयत्र साम्येऽपि चन्द्रस्य प्रदीपसंसृतिवत्त्वस्य चोज्ज्वलत्वं ॥ चन्द्रस्य कुरङ्गलाञ्छनत्वस्य च सद्रङ्गनिलिञ्छनत्वमिति भावः ॥ इति व्यतिरेकालंकारः । कि लक्षणोऽपि सः, कलाभिः समग्रोऽपि संपूर्णोऽपि । पुनः किं जनाभिनन्दतीति जनाभिनन्दयि । पुनरपि किं अभिभूतं विष्टं यथा सा तां तिरस्कृतलोकाम् । श्रियं दधानोऽपि विभ्राणोऽपि ॥ ४४ ॥ अथ समुच्चयः । यः जगद्विशेषकः चित्रकः । विशेषयामास अलंकारः । कि तत्, कुलम् । केन, विशुद्धवृत्तिना चरित्रेण अनुष्ठानविशेषेण । तथा शरदध्राणीव विभ्रमो येषां तानि, तैः । यतोमि. आशाः । गुणैः वपुः । अचरणेन शास्त्राकर्णनेन । जेषुर्षी बुद्धिम् ॥ ४५ ॥ विरोधो यथा, तत्परिहारश्च । वष्णां गज पङ्कजः, साधितो वंशं नीतः शत्रूणा पङ्कजो येन स । तदुक्तम्—‘काम’ क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा सङ्गः । अन्तरङ्गोऽरिषद्वयं श्रितोऽज्ञाना भवत्ययम् ॥ यः भूविद्यानीति कटोद्भेदः, पक्षे ब्रितरणं भूरिदानं यस्य स भूरिदान । मदेन मद्येनावलेपेन च । च पुनः । अहोना सर्पाणामिनस्तस्य संसर्गेण समन्वि-  
तोऽपि अचरसंसर्गसहितोऽपि, पक्षे उन्मृष्टमयोगसहितोऽपि । द्विजिह्वः० द्विजिह्वाना सर्पाणा दुर्जाना च संसृतिता संबन्धिता । दूषितः कलुषित । न बभूवेति ॥ ४६ ॥ सर्वं च तद् विष्टं च सर्वं० तत्र प्रतीता प्रथिता कीर्तयस्य स राजा कनकप्रभः । वसुधरा वसुधारीम् । गामपि धेनुमपि । करिणो हस्तिनी चकार । विरोधोऽयं, तत्परिहारश्च—गा गोशब्दाव्याप्या पृथ्वी वसुधारी वसु दधानामपि पृथ्वी, तेजोमिदानीं यती चकारेति भावः, करिणो मागधेयवती चकारेति । कि कृत्वा, अभिभूय तिरस्कृत्य । कान्, समस्तान् सकलान् । मण्डलिनः मण्डलेशान् । किलक्षणान्, समुद्रतान् उल्लटान् । कैः, धामिभिः तेजोभिः । किलक्षणैः, अतिदुःसहैः अतिशयेन दुःखेन सोढुं शक्यैः । पुनः किं निजैः स्वकीयैः । विरोधालंकारः ॥ ४७ ॥ यस्य विभो स्वामिनः । तेजसा महता । श्रीः लक्ष्मीः । वधूरिव । व्यतिरेको वा । चपला चञ्चलापि निन्दला । व्यधीयत अक्रियत । अतिशयोक्तम् । केनेव, कञ्चुकिना सौविदस्तेनेव । उपमेयम् । किलक्षणैः, नितान्तम् अतिशयेन वृद्धेन लोकान्तमासेन, पक्षे परिणतवयसा । कठोरा कर्कशा परोपधातिनी वृत्तिर्यतनं यस्य तत्, तेन, पक्षे दाक्षिण्य-  
वर्जितेन । सनीतिना सह नीतिमिवर्तत इति सनीतिः, तेन, उभयवर्ति, श्लेषोऽयम् । मंक्रोऽयमलंकारः ॥ ४८ ॥ सः राजा । ईश्वरः हृद, ऐश्वर्ययुक्तश्च । सन् अपि भवन् अपि । अवमदृष्टिदूषितो न बभूव । शम्भोः किल विषमदृष्ट्या दूषणं वर्ततेऽस्य वासमा देवतामा सानुगामिनो दृष्टि श्रद्धानं तथा किल महदह्वणम् (?) । ‘दृष्टि ज्ञानेऽणिग दशनै’ इत्यमरः । व्यतिरेकोऽयम् । किलक्षणं, धराश्रय धरायाः पृथिव्या आश्रयोऽ-  
वष्टम्भः । मंततम् अनवरतम् । भूते. सपदो भस्मनश्च संगमो यस्य सः । शवाङ्कुरत कान्तो मनोरमः, शवाङ्कुरे कान्तश्च; शवाङ्कुरस्य शिरसोऽन्ते ललाटे ऽस्थेति वा । धृत उद्गो नागनायकेन गजेन यः सः, धृतो धारितो नागनायकः सर्पराजो येन स च । अधो भवस्तो न्यग्रभवन्तो गोपतयः पृथ्वीनाया यस्य सः, पक्षे अधोभवन् वाहनीभूतो गोपतिर्यस्य सः । अत्र श्लेषोऽपि तेन सकारश्च स्यात् ॥ ४९ ॥ यदीयेत्यादि । अधुनाऽपि साप्रतमपि । पयोनिधिः समुद्रः । पुरकारमिव दोनाक्रन्दनमिव । करोति विदधाति । किलक्षणः, उदस्तकलोलभुजः सन् उदस्ता ऊर्ध्वरूपाः कललोला वीचय एव भुजा बाह्वो येन सः । पुनः कर्णभूतः, लुनयशोमहाघनः । लुप्तं पराभूतं यथा एव महाघनं यस्य स । केन, यदीय० गाम्भीर्यमेव गुणो गाम्भीर्यगुणः, यदीयद्वारा गाम्भीर्यगुणश्च यदीय० तेन यद्गम्भीरत्वगुणेन । किलक्षणैः, निर्मलप्रसिद्धिना निर्मला उज्ज्वला प्रसिद्धिः श्रुतिर्यस्य स तेन । उपश्लेषम् ॥ ५० ॥ नरेन्द्रेत्यादि । यस्य राज्ञः । पौरवं बलम् । अष्टापदवृत्ति अष्टापदस्य वृत्तिरिव वृत्तिर्यस्य तत् । न अजायत ताभूत् । किलक्षणस्य यस्य, निशेषितशत्रुसंततो निःशेषिता निर्मूलिता शत्रूणां रिपूणा संगतिर्वैन सः, तस्यापि । कि लक्षणस्य सतः, विविक्ततः विकीर्यतः । कानि,

१. च स्वस्तिकात्पुनः पाठो नोपलभ्यते । २. ज ‘रेको’ । ३. च ‘भूवि’ ।

कार्याणि विधेयानि । किं कृत्वा, विमृश्य विचार्य । कथा, धिया बुद्ध्या । किलक्षणया, विशुद्धया निर्मलया । कस्मात्, नरेन्द्र० नरेन्द्राणां विद्याः आन्वीजिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः तासामधिगमः परिज्ञानं तस्मात् । पौलवेण अष्टापदतुल्यास्वेऽपि धिया विमृश्यकारित्वाद् व्यतिरेकोऽयम् ॥ ५१ ॥ रतिप्रदाने-  
नेत्यादि । येन राज्ञा । प्रज्ञा प्रसाधिता अलंकृता । किलक्षणा, कृतायतिः कृता विहिता आयतिश्चिस्तारो यया सा कृता० । पुनः किं०, गुणानुरा० गुणानामोदायादीनामनुरागः प्रीतिः तेनोपमता प्रणता । किलक्षणेन च येन, रति० रतिरनुरागस्तस्याः प्रदानं तत्र प्रवीणेन । पुनरपि किलक्षणेन, कुर्वता । काम् उज्ज्वलां, बिचित्र० बिचित्रा नानाविधाश्च ते वणश्च द्विजादयस्तेषां क्रमवृत्तिः संकीर्णताभावस्ताम्, उज्ज्वलां निरतिचारां कुर्वता विदधता । केव बभूव अञ्जनेव । यया भर्तृगुणानुरागप्रवणा कृतोत्तरकालफला बधूः रतिप्रदानचतुरेण बिचित्रकान्तिप्रकृतिवर्तनमुज्ज्वलं विदधता रमणेन प्रसाध्यते । इत्युपमा ॥ ५२ ॥ अतीतसंख्यैरित्यादि । यस्मिन् राजनि । गुणैः समुदायिता चयत्वम् । अकारि विदधे । किलक्षणैः, अखिलैः । पुनरपि किलक्षणैः, अतीतसंख्यैः अतीता अतिक्रान्ता सख्या यैस्ते, तैः । पु०, परिलब्धा कीर्तयैस्ते, तैः । पु०, शब्दो निशाना-  
पश्चन्द्रस्तस्य मरोचय इव निर्मलास्तेः । किलक्षणैरिव, दीपवम् दीपवेना, रुक्मिणिः रोदधुमिच्छद्भिरिव । सेना सखु समुदायाभावे जेतुं न शक्यते । सकललोकवर्तिनो ये गुणास्तेऽस्मिन् समुदिता इति भावः ॥ ५३ ॥ अथ चतुर्भिर्वृत्तं कान्तोपवर्ण्यते पराक्रमेण्यादि । 'अथ' इत्यानन्तर्यायं । 'सुवर्णमाला' इति नाम्नी । भामिनी भामिनी । बभूव अञ्जनि । किलक्षणा, निशा० निशान्तस्य सकलान्तःपुरस्य । नायिका पट्टमहिषी । वस्य नृपस्य । किलक्षणस्य, पराक्रमेण पराक्रमेण दास्या आक्रान्ता व्याप्ता महीभुजो राजानो येन स तस्य । पुनः किलक्षणस्य, जगत्ल० जगतो ललामा तिलका चासौ लक्ष्मीश्च जग० तया निलयोऽकृतमास्पदोऽकृतमुरो वक्षो यस्य स तस्य ॥ ५४ ॥ यरीयेत्यादि । यरीयं यस्संस्थि । शीलं सद्बुत्तम् । बाहुचित् कदाचित् । मलीमसं मलिनम् । नाभूत् । किलक्षणम्, अविनिन्दितं निन्दारहितम् । कथंभूतमिव, नितान्तिनिर्घोतमिव नितान्तमे-  
कान्तेन निर्घोतं प्रखालितं नितान्तम् । 'तोषकान्तनितान्तानि' इत्यमरः । केन, कान्तिमयेन कान्त्या निर्वृत्तेन । वारिणा जलेन । किलक्षणेन, विसारिणा विस्तीर्णेन । पुनरपि०, एणाङ्गस्य चन्द्रस्य मरोचयः त्विष इव हारि मनोहरं तेन । उपमा । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषाः ।' इति सूचितम् ॥ ५५ ॥ बह्वित्यादि । यत्तनो यच्छरीरे । न ऊनमनूनं, 'हीनम्यूनावूनगह्वी' इत्यमरः, अनूनं च तल्लावप्यं च कान्तिमयस्त्वं तेन मयः । पयोनिधिः समुद्रः । विवकास उल्लसास । किलक्षणः, सहासफेनः हास एव फेनो विण्ढोरः, सह हासफेनेन वर्तनं इति सहासफेनः । किं कुर्वन्, शशाङ्कस्य चन्द्रस्य । शङ्काम् आरेकाम् । बहन् धारयन् । क्व, वक्त्रपद्मे वक्त्रमेव पद्मजं कुवलयं तत्र । किलक्षणे, स्मरापाण्डुकपो० स्मरेण कामेन आपाण्डु ईक्षत्पाण्डु कपोलयोर्गल्लयोर्मण्डलं यत्र तत् तस्मिन् । भ्रान्तिमान् । लावण्यपयोनिधयोर्मुखचन्द्रयोश्चोपमानोपमेय-  
भावो वा । योवने हि सुष्ठु परिणते मुखं चन्द्रवदाभाति ततश्च तनुरतीव कान्तिं दधातीति भावः ॥ ५६ ॥ भुव इत्यादि । सा मृगक्षणा हरिणलोचना । तस्य नृपस्य । मन्दिरे गृहे । लक्ष्मीः श्रीः । बभूव । किलक्षणस्य नृपस्य, पुष्योत्तमस्य पुष्यप्रधानस्य, कुण्डस्य च । किलक्षणस्य तस्य, भुवः पुष्य्याः समुद्धृतः उद्धरणशीलस्य जगद्धारकस्य च । पु०, बलेन पराक्रमेण बलमद्रेण च । अधिष्ठितात्मनः समाश्रितस्य । पुन०, सत्यानु० सत्ये सत्येऽनुरतमेकमद्वितीयं चेतो यस्य, सत्यायां सत्यमामायां च । हलेवः ॥ ५७ ॥ अथ पुत्रोत्पत्तिमाह परस्परै-  
रित्यादि । सः प्रसिद्धः । स्तनवधस्य पुत्रः । किलक्षणः, घाम्नां निधिः तेषोनिधानम् । कयोः तयोः । किलक्षणयोः, पर० परस्परम् अन्योन्यं स्नेहेन प्रणयेन निबद्धं नियन्त्रितं चेतो मनो याम्यां ती पर० तयोः । येन पद्मानभता संज्ञया अभिधया न दधे नरकद्रिया अर्थेन च । पद्मानाभः किल नरकस्य दैत्यविशेषस्य द्रिट्, अवमपि नरकस्य दुर्मतेरित्यन्वर्थता । तुल्ययोगितेयम् ॥ ५८ ॥ अथ चतुर्भिः पद्वीः पद्मानाभकुमार उपवर्ण्यते—कलासनाशये-  
रित्यादि । यस्य पद्मानाभस्य । बात्येऽपि शेषावेऽपि । विवेकरिकता सप्तसद्विवेचनशून्यत्वम् । न बभूव । किलक्षण-  
स्य, निःशेषावच ते जनाश्च तेनानुक्रमशायुकस्य । 'कृपा दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । किलक्षणस्य, हिमद्युतेः चन्द्रस्येव, कला० कलाभिः सनाथस्य सहितस्य । कला, शस्त्रधारणाद्याः योद्धा भागश्च । हिमेतरा उष्णा

अंशयो यस्य स तस्यैव तोत्रं तेजो यस्य स तस्य असाध्यमहः । चन्द्रमूर्ययोरिव शान्ततीव्रस्यापि आशुकार्यकरणे  
 सविबेकिवमिति भावः । प्रतिवस्तूपमा । अथवा चन्द्रः सूर्यान्वितां क्लेशकारी सूर्यश्च चन्द्रवंशिनाम्, अस्य  
 कोमलधाम्नेऽपि स्वचिदनुयायिनि विवेकरिकताभावाद् व्यतिरेकश्च ॥ ५९ ॥ समाचरन्नित्यादि । यः कृतज्ञः  
 कृतं जानातोति । पलितान्दुरैः शुक्लकेशीविना । वृद्धः स्वविरः । बभूव । किलक्षणः, सम० समस्ताश्च ता  
 विधापचान्कोक्षिक्यादयस्तासामधिगम परिज्ञानम्. 'आन्कोक्षिक्यामात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयोस्थितौ । अयनिर्धौ  
 तु. मातायां दण्डनीत्या नयानयो ॥' इति, तेन प्रवृद्धा धीर्यस्य स' । पुनः किलक्षणः, समाचरन् अनुभवन् । काः,  
 क्रियाः । किलक्षणाः, शिशुमावः शशबं तत्र दुरुपायाः । ता' पुन. कथंभूता, नयमार्गेण नीतिपथेन शालिनीः  
 शोभमानाः । विभावेनयमलकुतिः ॥ ६० ॥ गलेदि ( नि ) त्यादि । यस्य अङ्कुशः सुणिः, गुहः जनकादिः,  
 अजवत् । किलक्षणस्य, गरीयसा गरिष्ठेन, ओजसा बलेन, युतस्य सहितस्य । पुनः किलक्षणस्य, गलम्बदस्य  
 गलम्बदो यस्य स तस्य—स्रवन्मदस्य, मदः स्मृत्वा गत इत्यर्थः । अन् एवोन्नतवंशोच्चवंशेन शाली शोभमानः  
 तस्य । पुनरपि० गृहीतः सम्पत्तिनयो येन स तस्य आदृतप्रश्रयस्य । पुनर०, सोप्राप्ते सह उन्नत्या ओद्धत्येन  
 ( उच्छ्रित्या ) वर्तत इति सोप्रातिस्तस्य । कस्येव, गजाधिपस्येव । यया स्रवन्मदस्य, उन्नतपृष्ठशोभिन्, सुशि-  
 क्षितविनयस्य, उच्चैस्तरस्य च गजेन्द्रस्याङ्कुशो गरिष्ठ स्वादिति । उपमा ॥ ६१ ॥ विभूषितमित्यादि ।  
 व्यसनैः व्यस्यन्ति परेह्लोकांमति श्वसनानि घृतादीनि, तैः । किलक्षणे, प्रमाधिभिः प्रवातिभिः । यस्य मनो  
 न जह्ने न मुष्टम् । किलक्षणस्य, मरुत्विनः पण्डितस्य । पुनरपि०, जिता पूराभूता आन्तरा अन्तराश्रिता  
 द्विभो येन सः, तस्य । पुनरपि०, विग्रहं शरीरम् दधतः । धारयतोऽपि । किलक्षणं विग्रहं, विभूषितं परिष्कृतम् ।  
 कमा, योवनस्य रूपसंपत्तं तथा । किलक्षणया, विकारवत्या विकारमहितया ॥ ६२ ॥ स बह्वेत्यादि । स  
 विशामधीश्वरः पृथ्वीपतिः । बहूनि अपत्यानि यस्य सोऽपि । जिष्णूना जयशिलेन । तेनैव मुतेन पुत्रेण ।  
 रराज बभ्रासे । अत्रार्थान्तिरमुपन्यस्यते—अनेकाश्च ( अनेके च ) तं शकुन्ताः पक्षिणश्च तं संकीर्णः । जला-  
 धारो राजहंसेन विना न विराजते । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणलोहितैः सिताः ।' ॥ ६३ ॥ अबेत्यादि ।  
 अथ अनन्तरम् । जानु कदाचित् । सः । मेदिन्याः पृथ्व्याः पतिः स्वामी । परिहृष्टा हर्षं प्राप्ता मतिर्यस्य स  
 परिहृष्टमतिः सन् । निजा चानो लक्ष्मीश्च तथा परिभूषितं परिष्कृतम् । पूर् नगरम् । विलोकयन् अवलोकयन् ।  
 गुरुश्चासौ सौधो राजसदनं च, तस्य मस्तके । अवतस्थे स्थितः । जातिः ॥ ६४ ॥ तदा तस्मिन्नवसरे । तेन  
 कनकप्रभेण । गवा गणः गोयूथः । दक्षे ललोके । कथंभूतः, समुन्नरन् विनिःसरन् । कि कृत्वा, पयः पानीयं  
 परिपाय पोत्वा । किलक्षणेन तेन, यद्धया स्वच्छया, दूर्गं दृष्टि, विनिपातयता इतस्ततः प्रसारयता । बव,  
 आस० अतिशयेनासन्नमासन्नतमं तच्च तदेकपस्वलमलसरश्च, तस्मिन् । जातिः ॥ ६५ ॥ किल इति  
 पुराणोक्तौ । असौ विचक्षणः विदग्धः । तत्र पल्लवे । एकं जरद्गवं जरद्वामी गोद्वं जरद्गोः, तं त्रियमाणं  
 प्राणास्त्यजन्तम् । अवक्ष्य अवलोकय । तक्षणात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । जगाम । कथं-  
 भूतं जरद्गवं, घनदङ्कुः । घनश्चासौ पङ्कजं तत्र निमग्नो बुद्धितः, तम् । पुन०, अक्षम क्षाणमात्रम् ॥ ६६ ॥  
 क्षणभङ्गुरेत्यादि । भवं भजन्तीति भवभाजस्तेषां भवभाजा प्राणिनाम् । जीवित प्राणाः । क्षणभं० क्षणेन  
 तत्कालं भङ्गुरा त्रिनद्वरा वृत्तिर्वर्तनं यस्य तत् क्षणभङ्गुरवृत्तिः । इत्यत्र विस्मयः अद्भुतं न । इह जीविते ।  
 अवस्मद्भिः पण्डितैरपि प्रमुञ्चते । तदेतदोद्दामाद्भुतं विस्मयः ॥ ६७ ॥ क्षणदृष्टेत्यादि । जनः लोकः ।  
 क्षण० दृष्टाश्च त्तिरोहिताश्च दृष्टतिरोहिताः, क्षणे । दृष्टतिरोहिताः क्षणदृष्टतिरोहिताः, तैः—क्षणदृष्टनष्टैः ।  
 विषयैः भोग्यैः । स्वप्ने एव प्रतीयते वञ्च्यते । तथापि अयं अद्भुद्धिर्निन्दमतिः । तेषु रति रागम्, एति ।  
 अनन्तमवेदितां जडत्वम् । धिक् ॥ ६८ ॥ प्रहृतमित्यादि । एषः जनः । जन्तु जन्तुं प्रतिजीवितं मरणेन प्रहृतं  
 बाधितं पश्यति । योवन ताह्वयम् । जरसा वार्धक्येन, प्रहृतं पश्यति । तदपि मन्दमतिरसो स्वहिते न पश्यति  
 जागति । अहो आश्चर्यम् ॥ ६९ ॥ यदतीतेत्यादि । यत् सुखम् । अतीतम् अतिक्रान्तम् । तत् अतीतमेव ।



आगामिनि सुखे विनिश्चयः कः । तत्क्षणसीक्यमोहितः तत्कालसुखेन वञ्चितः पुरुषः । वत इति खेदे । वृषा  
अयं समुपैति । अन्तर्दृष्टिं परित्यज्य भूतमविध्यस्सुखस्यास्थिरत्वं पञ्चलोभयापि वर्तमानसुखस्य स्थिरत्वमव-  
बुद्धयतीति खेदः ॥ ७० ॥ परिणामेत्यादि । यः पुमान् । सद्यः सुखस्य लिप्तया लालसत्वेन । परिणामहिते  
आगामिसुखकारिणि । पथि मार्गे । न समीहते प्रयतते । स शिवात् कल्याणात् । अतिविप्रकृष्यते दूरीक्रियते ।  
बिरुद्धतेनया अवध्यमन्त्रेन उच्चरोगी यथा ॥ ७१ ॥ दहन इत्यादि । त्रयाणां समवस्थत्वेऽपि कामस्याधिक्यम् ॥  
दहनः अग्निः । तृणकाष्ठसंघैरपि तप्येत् । उदधिः नदीशतैरपि तप्येत् । काममुखैः पुमान् न तप्येत् खलु ।  
अहो कापीयं कर्मणो बलवत्ता बलिष्ठत्वम् ॥ ७२ ॥ वपुरित्यादि । वपुरिपि शरीरमपि । आयुषः सत्ये । आन्तरम्  
अन्तःस्थितं प्राणिनम् । अतिमात्रम् अतितराम् । त्यजति खलु । अहो । बहिरङ्गैः बाह्यस्थितं चैनमित्यन्वय-  
विरहे वियोगेऽपि विस्मयः कः, न कोऽपि ॥ ७३ ॥ सुखेत्यादि । इष्टसमागमे इष्टसंयोगे । यथा येन प्रकारेण ।  
मुखम् । तथैव तस्य इष्टस्य विरहे वियोगे च । अमुखं दुःखम् । अतएव सुधियः पण्डिताः । सङ्गसु० सङ्गस्य  
मुखं सङ्गसुखं तत्र एकस्मिन्पृष्टाः अद्वितीयेद्वारहितः सन्तः । निर्वृत्तौ मुक्तौ । सज्जति साधनानां भवन्ति  
॥ ७४ ॥ हितमित्यादि । कश्चन हितमेव मोक्षस्तत्कारणतत्त्वं च हितं तदेव । न वेति । अन्यः पुमान् । खलु  
शास्त्रोक्ती । तत्र हिते । संशयं सन्देहम् । भजते । परः अन्यः । विपरीतरुचिः विररीता अतद्गुणे तद्गुणाभा-  
वचि श्रद्धा यस्य सः । एवंविधैस्त्रिभिरजानतमोभिः अजानान्धकारैः । जगत् भुवनम् । आहृतं वाञ्छितम् ।  
तदन्यत्रद्विरुद्धतद्भावेषु न प्रवर्तत इति ॥ ७५ ॥ परिणामेत्यादि । जिनवाक्यम् अर्हद्वचः । विज्ञाय त्यक्त्वा ।  
शरीरिणा प्राणिनाम् । परि० परिणामस्योदककालस्य सुखम् । न विद्यते । ससृजा हितकार्योपधं पश्यमिव ।  
यथा पथ्यं विज्ञायोपधं परिणामहितं न । अनात्मजतया जडतया । तत् जिनवाक्यम् । न रोचते ॥ ७६ ॥  
यथाविधि विधिमननिकस्य । श्रुतं शास्त्रम् । अधिगम्य परिज्ञाय । उत्तमाश्च ते साधवश्च तेषां सगमं संपर्कम् ।  
प्रतिपक्ष आश्रित्य । इमां प्रतिज्ञाम् । भवकलुषा संसारस्यासारत्वम् । अवश्यं जानन् । अहमिव अहं यथा ।  
अपरः अन्यः । कः पुमान् प्रमाद्यति, न कोऽपि ॥ ७७ ॥ सुखमित्यादि । मन्दमतिः जडः । आयतितु, सुखम्  
उदकमित्युक्तम् । अक्षत्रम् ऐन्द्रियकम् । मुखं भजते बुद्धिमान् न । अवशान्तरमुपन्यस्यते— खलु अहो । कः  
अमन्दधीः । मधुना दिग्धं प्रलिप्तं मुखं यस्या सा ताम् । अतिशयं खङ्गधाराम् । लिलिषति लेटुमिच्छति,  
न कोऽपि ॥ ७८ ॥ असुखैकेत्यादि । यः प्रविरक्ता निविण्णा मतिर्यस्य सः । असुखमेवैकं फलं यस्य स तम् ।  
पल्लवं किमलयम् । टसि वि शटिति । प्रभज्य आमर्शः । न प्रवर्तते । स पुरुषः । श्रेयसि मुख्यधर्मः । वञ्चितः  
विप्रलब्धः । हो विस्मये । निर्विण्णेन शटिति उद्यमो विधेय इति । भावः ॥ ७९ ॥ इतीत्यादि ।  
स चाम्बेताः चारुमताः । इति उक्तप्रकारेण । विषयेभ्यो विरक्तः सन् । छत्रया गृहया । मुक्तिद्वया निर्वृति-  
मन्वारिकया । स्वयमात्मना । कर्णजाह्ं श्रवणसमीपम् । एव्य आगत्य । व्याहृत इव आहृत इव । मृनिमार्गे  
रत्नत्रये । जेतसा मनसा । ग्यविशत तस्यो । उचितमेतत् । हि यस्मात् । मनिभाजा मनिमताम् । काल-  
लम्बिः । वन्द्या निरर्थिका । न भवति ॥ ८० ॥ प्रपृच्छयेत्यादि । म राजा कनकप्रभः । अपरेषुः अन्येषुः ।  
आत्मनः स्वस्य । उद्यम्यो अतिवर्धमाना श्रौर्यस्य स तम्— उद्यमिच्छयम् । तं प्रसिद्धम् । तुतं पुत्रम् । प्रपृच्छथ  
आपृच्छथ । च पुनः । विगलन्ति पत्रम्वधूणि रोदनविन्दवो याम्ना ते तदल्लिगो तस्य नेत्रे । प्रमुज्य संविशुद्धे  
विज्ञाय । अविनिन्दितं निन्दारहितम् । श्रोधरं श्रोधराभिधानम् । मुनीन्द्रं यतीशम् । समभिवन्द्य प्रणम्य ।  
भूरिभिः प्रचुरैः । नृपतिभिः समम् । तपः तपस्वरणम् । समविशिष्टिभ्ये आश्रितः ॥ ८१ ॥ गुरुविरहेत्यादि ।  
तदा तस्मिन्प्रवसरे । पचनाभः सूमीशः नररतिपदं राज्यम् । आस्थितोऽपि समाश्रितोऽपि । गुरुविरहभवेन  
पितृवियोगजनितेन । असुखेन दुःखेन । भूशम् अत्यर्थम् । तताम चकलाम् । हि यस्मात् । बाधवैविमुक्ता  
वियोगिनी । लक्ष्मीः । मुदे हृषयि । नहि भवति ॥ ८२ ॥ विपुलेत्यादि । अवी सुधीः । विपुलं विशाल-  
प्रतिभाभिः । बुद्ध्यात्म्यैः प्रौढसम्बैः । कुनप्रतिबोधनः कृतं प्रतिबोधनं यस्य सः, सन् । कियद्भिः परिमैत ।  
दिनैः दिवसैः । पितृविरहज्जं जनकवियोगजनितम् । शोकं, हित्वा । नयनविपलद्वाष्वापूराः नयनाभ्यां विगलन्तो

शाष्पापूरा यस्याः सा ताम् । स्वामिन्ने० स्वामिनः कनकप्रमथ्य स्नेहस्तेनाकुलीकृतं चेतो यस्या सा ताम् । उभयीम् उभयप्रकाराम् । प्रकृति प्रजाम् । समभाव [ य ] त् संस्कृतशान् ॥ ८३ ॥ एतस्येत्यादि । अनुजः ब्रह्मः । अयमष्टमीमुगाङ्कः अष्टमीचन्द्रः । एतस्य महोपेतः । षिकटं च तल्ललाटपट्टकं च तेन । ध्यासितः जितः । इतीव संग्रहानतिभिः संजाता आनतिषेणु ते तैः । भूपालं, राजभिः । नृपासनस्ये सिंहासनस्थिते । तत्र राजनि । कुटिलता वक्रत्वम् । न भेजे । यत्रायमष्टमीमुगाङ्कोऽनेन वक्रतरोऽपि जितस्तत्र के बयमिति वक्रत्वं विहाय पदयोः पतिता इति भावः ॥ ८४ ॥ तेजोनिष्ठावित्यादि । स पद्यनाम । भूमिपतिः । तेजोनिष्ठी महोषामनि । उदयधामनि उदयस्त्रदे । सुवर्णनाम० सुवर्णनामाभिधाने । तनये पुत्रे । युवराजशब्दं युवा चासौ राजा च युव० तेन शब्दयते आहूयते युवराजशब्दः, तम्—युवराजाभिधानम् । प्रवर्त्य । सोमप्रभा० सोम-प्रभाया दक्षनाः सोम० तैजसं च तत् किं च तेनाङ्कितदिचिह्नित ओष्ठो यस्य सः, सन् । भोगान् विषयान् । सदा अनुभवन् निविशन् । अवास्थित तस्यौ ॥ ८५ ॥

इति चन्द्रप्रमथरितमहाकाव्यपञ्जिकायां प्रथम सर्ग ३ ॥ १ ॥

## द्वितीयः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽक्रोमुनिः ।

श्रुतादिः स मुनिर्जायाच्छ्रद्धादिगुणमान्निवाक् ॥ १ ॥

आस्थानं सदः । प्रतोहारः द्वारपालः । वनपालः मालाकार । उपजिज्ञातु विज्ञापयामास ॥ १ ॥ मनोहरे शब्देन मनोहरनामनि, अर्पेन हृदयहारिणि ॥ २ ॥ पुण्डरीकं सिताम्भोजम् ॥ ३ ॥ दारुणं भीषणम् । समाहारेण संकरेण ॥४॥ मोक्षस्य मुक्तिः । संवानवेकाग्रता तत्र चित्तं यस्य स, पक्षे मोक्षो वेद्यम् । गुणस्थानानि मागणाः गत्यादयस्ताभ्या योभयानेन, पक्षे गुणो मोक्षो मार्गः शरः ॥ ५ ॥ पर्निष्ठिनं परिकल्पितम् ॥ ६ ॥ सुवर्णं, शोभनाक्षरैः कनकैश्च । मुक्ताः सिद्धाः मुक्ताफलानि च । कर्णपूरायन्ते कर्णयोः श्रोत्रयोः पूरायन्ते कुण्डलायन्ते च ॥ ७ ॥ गणनीयतां गणनाविषयता गणेन जनवृन्देन नीयता प्राप्यता च ॥ ८ ॥ पांसुसंपर्कात् रजःसंस्पर्गात् । वासचूर्णेषु सुमृगिद्रव्येषु ॥ ९ ॥ भास्वान् सूर्यं, पक्षे दीप्तिमान् । सेव्यपादः सेव्यरश्मिः, पक्षे सेव्यचरणः । कुमुदं कुवलयं, पक्षे भूमिदम् ॥ १० ॥ विषयानि वस्तुमिच्छामि ॥ ११ ॥ अनपेक्ष्य अनादृत्य । कोरकान् उद्भेदान् ॥ १२ ॥ विसोढं सहितम् ॥ १३ ॥ मधुगण्डूपान् मधुकुरलकान् । अनादृत्य अनपेक्ष्य ॥ १४ ॥ तिलकं तिलकवृक्षः । व्यक्तसत् विकारमगमत् ॥ १५ ॥ जातविबोधाः समुत्पन्नपरिज्ञानाः । अलयः भ्रमराः ॥ १६ ॥ शुक्लं, कोरैः ॥ १७ ॥ कुड्मलः कलिका ॥ १८ ॥ शिखण्डिना मयूराणां ताण्डवस्य नृत्यस्य [ आटोपं ] ताण्डवाटोपं नृत्यविस्तारम् ॥ १९ ॥ पलायमानस्य देशत्यागं विदधतः । बाणावलिः शरपङ्क्तिः ॥ २० ॥ शुचिसंघातु ज्येष्ठमंश्वान्, शुचिः निर्मलो वा ज्येष्ठः, सकलजगत्पूज्यत्वात् ॥ २१ ॥ रोमाञ्चक-ञ्चक्राधानात् रोमःपंवारबाणधारणात् ॥ २२ ॥ सहजं जात्युत्पन्नम् ॥ २३ ॥ मृगवृत्तान्तशसिनौ यतिवार्ता-कचयित्रीम् । उद्वल उत्कललीलः ॥ २४ ॥ पारितोषिकैः संतोषजनितैः । कृतार्थं कृतद्वयम् ॥ २५ ॥ घोषध्वन् उच्चध्वन् । उदस्थात् उत्तिष्ठति स्म ॥ २६ ॥ लक्ष्यम् अभिगम्य ॥ २७ ॥ व्यानशे व्याप्नोति स्म । संकेतिनीः संकेतयुक्ताः ॥ २८ ॥ पञ्च च पदं च ( पञ्च वा पदवा ) पञ्चपा तान् । पत्नीन् पदातीन् । अक्षुम्भत बुधोम ॥ २९ ॥ चवाल जगाम ॥ ३० ॥ लावण्येन लवणत्वेन संक्रान्तानि प्रतिस्मिन्वितानि दिदृक्षूणां द्रष्टुमिच्छूनां नयनानि यत्र सः ॥ ३१ ॥ पिप्रिये तुष्टः ॥ ३२ ॥ विपरिश्रमः विगतखेदः ॥ ३३ ॥ समादिश्य उपदिश्य आवासय संरक्षयः ॥ ३४ ॥ चामरादिपरिच्छेदां चामरादिपरिकरोपेतान् ॥ ३५ ॥

१. ज शब्दते । २. च 'चरित' इति नास्ति ज 'चरित्र' इत्यस्ति । ३. च प्रथमसर्गः । ४. ज 'क्षय' ।

शरत्प्रसन्ने वर्षान्तिर्मले ॥ ३६ ॥ त्रिः परीत्य त्रिः प्रदक्षिणीकुर्यात् । न्यविशत उपविष्टवान् ॥ ३७ ॥ मुकुली-  
कुर्वन् कोशीविदधत् । शीतगुर्वं बभ्रत्सम् ॥ ३८ ॥ शोभा कान्तिः ॥ ३९ ॥ शान्ते उररते । जगद् बभान्  
॥ ४० ॥ निरालोके निःप्रकाशे । आलोक इव उद्योत इव ॥ ४१ ॥ स्फुरितं प्रतिभासितम् ॥ ४२ ॥ गुह-  
प्रत्ययवर्जितं गुहविशवासिरक्तम् ॥ ४३ ॥ प्राहुः बभ्रन्ति । नास्ति कागमं चार्वाकसिद्धान्त्सम् । मानगोचरः  
प्रमाणविषयः ॥ ४४ ॥ तस्यात्यये जीवामावे, अजीवः कथं वक्तुं युज्यते; जीवाजीवयोः सापेक्षत्वात् ॥ ४५ ॥  
च पुनः तदत्यये बन्धमोक्षप्रभृतयो जीवधर्माः कथं स्युः ॥ ४६ ॥ उपप्लुतं बाधितम् । सवृतम् अप्रसारितं  
वा कल्पितम् ( कल्पितं वा ) । जीवो नास्ति, अजीवोऽपि नास्ति ततस्तत्त्वमुपप्लुतमेवेति तत्त्वोपप्लवबाधिनः  
॥ ४७ ॥ विसंबदग्ने मिथ्या जल्पन्ति ॥ ४८ ॥ केचित् सांख्याः । केचित् मीमांसका एव । अन्ये नैयायिकाः ।  
अन्ये बौद्धाः ॥ ४९ ॥ गहने दुःप्रवेशे, गहने बने ॥ ५० ॥ उच्छावां महद्भिप्रायाम् । विरराम तूष्णीं चकार  
॥ ५१ ॥ ईश्वरबुद्धयः प्रत्यक्षप्रतिभाः ॥ ५२ ॥ अस्पृष्टपरद्रव्यं परोपकल्पितद्रव्यसंपर्करहितं यथा स्यात्  
॥ ५३ ॥ 'जीवो नास्ति' इति चार्वाकैरुपन्यस्यस्ते । प्रसिद्धो धर्मी पक्षः । तत्र चार्वाकाप्रसिद्धस्य जोषस्य  
पञ्चलकरणे स्वविद्वन्ना कः कुयात् ? प्रसिद्धपक्षस्य हेतुविषयत्वं क्रियते । अथवा जीवो नास्ति अनुपपन्नेः—  
इति भवतानुपपन्नभविषयोक्रियमाणो जीवः पक्षः प्रत्यक्षेणोपलम्भेन स्वसंवेदनसंज्ञेनैव निराकृत इति  
॥ ५४ ॥ कथमुपलम्भविषयो जीवः, इति चेत्, उच्यते—प्रतिजन्तु इत्यादि । प्रतिजन्तु पक्षः, जीवः प्रतिभा-  
सते इति साध्यो धर्मः, स्वसंवेदनगोचरत्वात् ( इति हेतुः ) । न चेदं स्वसंवेदनगोचरत्वम् असिद्धं, सुखदुःखादि-  
पर्यायैराक्रान्तत्वात् ॥ ५५ ॥ प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयस्य, अतः प्रमाणमेव मोमास्यते । ननु चेदं स्वसंवेदन-  
लक्षण प्रमाणम् असिद्धम्, इति चेत्, उच्यते—न चास्वेत्यादि । ज्ञानं—स्वसंवेदनम्, अस्वविदितं भवति  
वेद्यत्वात् । यदेवं तदस्वविदितं यथा कलशादिः । न च—न वाच्यम् । यथा प्रदोषः स्व प्रकाशयनेनैवार्थ  
प्रकाशयति तथा ज्ञानं स्वं विदनेनैवार्थं वेत्तीति ॥ ५६ ॥ यदि ज्ञानं स्वं वेत्ति तदा ज्ञेयमेव, न ज्ञानम्, इति  
चेत्, न, अस्ववेदिनो विषयान्तरसंनाराभावात् । अथवाः—ज्ञानमर्थव्यवसायात्मकं स्वव्यवसायात्मकत्वात् । यत्र  
स्वव्यवसायात्मकं न तदर्थं व्यवस्यति । यथा घटः । न चेदमसिद्धमर्थव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानस्य सकलजनानाम-  
न्योन्यज्ञानानां परस्परपरिज्ञानापेक्षया ज्ञेयत्वात् । अथवा सामान्यमेव व्याख्यायाम् । अस्ववेदिनः स्वपरिज्ञान-  
रहितस्य विषयान्तरे चेतनाचेतनान्तरे संबारो न स्यात् । अपरापरबोधस्य अन्योन्यपरिज्ञानस्य वेदनीयस्य  
ज्ञानजन्यस्य घटनात् ॥ ५७ ॥ तर्हि अनवस्था स्यात्, इति चेत्, अनवस्थाप्यत्रेष्टा । नभस्यलविसिपिणो अन-  
वस्थातता च स्यात् भवेत् । तेषु अपरापरबोधेषु यदेवाविदितं तदेव पूर्वस्य स्वस्य वेदकं न स्यात् ॥ ५८ ॥  
ततश्चार्वाकः प्राहुः—विषयविज्ञानं परोक्षमेव, तत्परोक्षत्वे विषयस्यापि परोक्षत्वमेव ॥ ५९ ॥ इति चेत्,  
परोक्षमपीष्टमेव । परोक्षादपि ज्ञानादवधिगतित्थं परिज्ञानमिष्यते । यथा अर्थः परेण विदितस्तथा स्वविदितोऽ-  
पि भवेत् । अतः स्याद्द्वेदमतापेक्षया जीवः स्वकीये काये स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् सिद्धः, परकीये चानुमाना-  
दिलक्षणात् परोक्षादिति भावः । तदुक्तम्—'स्वसंवेदनतः सिद्धे निजे वपुषि चेतने । शरीरे परकीयेऽपि स  
सिद्धघट्यनुमानतः ॥ ६० ॥' तस्मात् कारणाद् युक्तितः प्रमाणीपत्त्या स्ववेदने स्वयं वेदने नाम्नि प्रत्यक्षे  
प्रमाणे सिद्धे व्यवस्थापिते सति । नास्तित्वादिना चार्वाकितत्त्वोपप्लवना प्रत्यक्षेण बाधा प्रत्यक्षबाधा कथं न  
भवेत् । अध्यक्षेण जीवमपह्नुवानानां तेषां प्रत्यक्षमेव जीवव्यवस्थापकं भवेदिति भावः ॥ ६१ ॥ पुनः स्याद्वादी  
चार्वाकमनुसंधत्ते । गर्भादिमरणान्ते प्रकृतपर्यायापेक्षे जीवे सिद्धेऽपि तस्य जीवस्य प्रागुर्ध्वं—जन्मतः प्राहुः  
मरणाच्चोर्ध्वं कथं सिद्धिर्यदिति मन्यसे ॥ ६२ ॥ तदेवमुत्तरमाहुः—तत्रापि जीवे सदकारणवत्त्वेनानादिता,  
अनन्तता च सिद्धा । वाय्वग्निपृथिवीपयसा यथा । वादिप्रतिबाद्यपेक्षया । व्यवस्थाप्यमानो जीवः पक्षः ।  
अनाद्यनन्तो भवति, सदकारणवत्त्वात्, येषां सदकारणवत्त्वं तेषामनाद्यनन्तत्वं यथा वाय्वग्निपृथिवीपयसा ।  
सदकारणवादासी, तस्मादनाद्यनन्त इति ॥ ६३ ॥ ननु चाकारणवत्त्वमसिद्धं तस्य, इति न वाच्यम् । अहेतुत्वम्  
आकारणवत्त्वम् । तस्यासिद्धं न । कस्यापि हेतोः कारणस्य । अयोगतः अवघटात् । ननु च भूताणि हेतवः इति

चेत्, न सहप्रत्येकपक्षयोः क्रमेण युगपदा भूतानां हेतुत्वं च ॥६४॥ एतदेव विग्रहितम्—प्रत्येकपक्षे एककाद्भूता-  
ज्जीवोत्पत्तौ जीवानां भूतसंख्या प्रसज्यते । सहपक्षे युगपदेतेभ्यो जीवोत्पत्तौ तेभ्योऽसंविद्भूतोऽचेतनैर्मध्यचेतन-  
कथं स्यात् ॥६५॥ कुतः, हि यस्मात् घटपटादियुं कार्येषु सजातीयमुपादानं दृष्टम्; कस्मात्, मृदादीनां हेतूनां  
कारणानां घटाद्यनुगमेक्षणत्वात् घटादिकार्यानुवर्तनात् ॥६६॥ स्यान्मतं विजातीयवादपि कारणाद्विजातीयकार्यो-  
त्पत्तिदर्शनाच्छङ्कादेः शरादिवत् इति । तत्रापि शृङ्गादेः शरादिना व्यभिचारोऽपि न युज्यते । कस्मात्, पुद्ग-  
लत्वेन पुद्गलत्वजात्या सजातीयत्वसंभवात् ॥६७॥ अथवा यदि विजातिभ्योऽपि भूतैर्मध्यचेतनो जायत एव तदा  
प्रयसोऽपि पृथ्वी भवेत् । एवं च तत्त्वचतुष्टयं न—तत्त्वसंकरः स्यात् ॥६८॥ ननु भूतानां चैतन्योत्पत्तौ सहका-  
रित्वमेव, इति चेत्, न, उपादानाभावात् भूमादिश्रयतिरेकतः भूमादि विना अन्यदुपादानं च भव्यमते नास्ति  
येनोपादानेन सता भूतानां सहतिः समुदायः सहकारिणी कल्प्येन ॥६९॥ कार्ये कोऽप्युपादानधर्मो नावलोक्यते,  
भिन्नलक्षणत्वात् । शरीरे तदवस्थेऽपि जीवे विकृतिदर्शनात् विविधाकृत्यबलोकमात् ॥७०॥ घटादिकारणेषु  
मृदादिषु । एतत् भिन्नलक्षणत्वम् । नेक्ष्यते च । ततः तस्मात् । अनुमानबाधायि पक्षं वीजते । यथा प्रत्यक्षेण  
पक्षबाधा तथानुमानेनापीति रहस्यम् ॥७१॥ तस्य जीवस्य । अभावसाधनेऽनुपलम्भादिहेतुरसिद्धः स्वसंबन्ध-  
स्य तद्भावात्सङ्गत्वात् ॥७२॥ विभिन्नप्रतिभासित्वात् विदचितोः प्रतिभासभेदात् ॥७३॥ अत्राहापरः—  
भवतु नामैवमात्मा प्रत्यक्षादसिद्धः, स च सर्वथा नित्य एव, इत्येवं श्रुत्वा प्रत्यक्षेण बाधित एव ॥७४॥  
कथं प्रत्यक्षबाधिता, ते, यत आत्मा प्रतिप्राणि सततं सुखदुःखादिपर्ययैविवर्तमानः स्वबेदनात् प्रकाशते ॥७५॥  
ते च सुख-दुःखादिपर्याया जीवात् संबंधा विभेदिनः, इति चेत्, न भेदे सति 'तस्यामो' इति संबन्धानु-  
पपत्तेः ॥७६॥ अस्ति समवायलक्षणः संबन्धः इति न वाच्यम्, नित्यस्य समवायो न युज्यतेऽनुपकारित्वात् ।  
यतः सर्वापि संबन्धसमवस्थितरूपकाराश्रयैव स्यात् ॥७७॥ अस्ति नित्यस्योपकारित्वम्, इति चेत्,  
तस्मादुपकारोऽभिन्नो भिन्नो वा । अभिन्नश्चेत् समो भिन्नश्चेत् संबन्धासिद्धिः । उपकारान्तरमपेक्ष्य संबन्ध-  
करणेऽनवस्थितिः स्यात् ॥७८॥ ततो जीवः सुखदुःखादिपर्ययैः स्यात् कथाविदभिन्नः परिणामिभवात् । तथा  
च कथं कूटस्थानित्यता ॥७९॥ एतेन कूटस्थतानिर्करणेन । तस्य आत्मनः । जडताम् अज्ञत्वम् । बुवाणाः  
वैधायिकविशेषाः । विनिवारिताः प्रतिशिक्षाः । चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैः विवर्तते । ऐक्यसंभवात् परिणा-  
मिस्त्वेनैक्यघटनात् ॥८०॥ तर्हि आत्मा अकर्ता, इति चेत्, तस्य आत्मनोऽकर्तृतापि न च, बन्धाभावादि-  
दोषात् । हि—यस्मात्, कुशलाकुशलक्रिया-मनोनामनोऽज्ञकार्याणि अकुर्वन् आत्मा कथं बध्यते, न कथमपि  
॥८१॥ एतदेवोच्यते—कापिलः 'आत्मा भोक्ता' इति भुक्तिव्याया स्वयं कर्तृत्वं वदन् तदेवापहनुवानः  
किं न जिह्सेति ॥८२॥ ननु आत्मा न बध्यते, इति चेत्, न, अचेतनस्य प्रधानस्य बन्धादिरप्ययुक्तिकः ।  
चेतनमे ( ० ) च बध्यत इत्यर्थः । तस्माद् आत्मनोऽकर्तृता वापादपि पापीयसो मता ॥८३॥ चित्तसतति-  
मात्रम् आत्मा, इत्येकः । तत्र चित्तसंततिमात्रत्वमपि [ अ ] युक्तं प्रकल्पितं—स्थापितम् । यतः संतानिव्यतिरेकेण  
काचित् संततिर्न । पूर्वं सतानि चेत् ततः संततिर्वक्तुं युज्यते ॥८४॥ सतानिनः सकाशात् संततिभिन्ना  
अभिन्ना वा । यदाभिन्ना तर्हि तत्समा । भिन्ना चेत्, संतानिनो भिन्ना संततिनित्यान्तित्या वा । अत्रोच्यते  
व्यतिरेकेऽपि सतानिनः सकाशात् सतानिव्यतिरेकेऽपि यदि तस्य नित्यत्वमिष्यते तदा अणिकैकान्तवादिना  
प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात् । 'सर्वं अणिकं सत्त्वात्' इति तेषां प्रतिज्ञा ॥८५॥ संतानस्य अणिकत्वेऽपि यद्  
द्रुपण सतानिपक्षे निक्षिप्यते तत् सतानेऽपि । ततः संतानस्यापि अणिकत्वे तस्य अणिकत्ववादि ( नः )  
संबन्धे कृतनाशादिकं प्रसज्यते ॥८६॥ तस्य व्यापकत्वेन कृतनाशादेरभावः, इति चेत्, न, तस्य व्यापकता  
घटना नोपदोक्तं, स्वसंविदिरूपस्य तस्य देहाद् बहिरबेदनात् ॥८७॥ तस्माज्जीवः प्रमाणतोऽनादिनिधनो  
वेहप्रमाणकः स्थितः, कर्ता भोक्ता चिदाकारः सिद्धः ॥८८॥ येऽप्यजीवादयो भावाः तेऽपि सिद्धाः, तदपेक्ष-  
त्वात् । तत् तत्त्वम् उपप्लुतं न ॥८९॥ अपरे मीमासापक्षपातिनो मीमांसका जीवाजीवा [ दि ] षड्वर्ग-  
प्रतिपक्ष अङ्गीकृत्य मोक्षं विप्रतिपद्यन्ते विवदन्ति ( न्ते ) ॥९०॥ तेषामपि मीमांसकानामनुमानबाधा

पुष्टतः परिधावति; । यतो मोलः कर्मक्षयो निगद्यते, सत्त्वानुमानतः सिद्धः ॥ ९१ ॥ तथा हि<sup>१</sup> क्वचिदपि पुंषि पक्षः । कृत्स्नावृत्तिक्षयोऽस्तीति ताव्यो धर्मः । तत्कार्यसकलजन्तवस्याप्याधानुपपत्तेः । आनुतिक्षयः कारणं सर्वजन्तव च कार्यम् ॥ ९२ ॥ ननु च सर्वज्ञः कश्चित् नास्ति, साधकभावात्, इति चेत्, कस्यचित् सर्वज्ञत्वमसिद्धं न, बाधकार्यत्वात्—बाधकभावात् । सर्वत्र वस्तुष्ववस्थितिविचिकारभावादेव ॥ ९३ ॥ तथाहि—तस्य बाधकं तावत् प्रत्यक्षं नोपपद्यते, अशजत्वात् । तस्यात्ययेऽतीन्द्रिये विधिर्न निषेधनं न ॥ ९४ ॥ अनुमानमपि तद्वाधा विधातुं क्षमं न; यतोऽसिद्धं पुरुषत्वादि तत्सिद्धं व्यभिचारि दृश्यते ॥ ९५ ॥ कथं तत्सिद्धं व्यभिचारि, इति चेत्, यथा हि पुरुषत्वेऽपि कस्यापि वेदार्थज्ञानगीचरोऽतिशयस्तद्वत् कस्यापि सर्वार्थज्ञानगीचरोऽपि ॥ ९६ ॥ यथा देशान्तरे कालान्तरे चाखिलो रासभः शृङ्गो न तथा देशान्तरे कालान्तरे कश्चित् पुमान् सर्वज्ञोऽपि नास्ति [ ॥ ९७ ॥ ] इत्याद्युपमानं हि युक्तं न, इष्टविधातात् । कथमिष्टविधातः, इति चेत्, तथाहि—खचरादीनां खगमनादिकं न स्यात् । यथात्रत्येदानोन्तनपुरुषाः खगामिनो न, तथा देशान्तरे कालान्तरे च नैवेतोष्टविधातः ॥ ९८ ॥ तस्माद् यस्य सा सकलजन्ता असौ नरविशेषः । तथैव खरविशेषश्चेत् त्रिषाणिता च स्यात् ॥ ९९ ॥ तद्धि अर्थापत्तिः सर्वज्ञाभाषसाधिका, इति चेत्, न, अर्थापत्तिरपि सर्वज्ञाभावसाधिनी नास्ति, तेन विना सर्वज्ञाभावप्रतिबद्धः कोऽर्थः सम्भवो यस्तं सर्वज्ञाभावं प्रकल्पयेत् ॥ १०० ॥ आगमेनापि कर्तृकेनाकर्तृकेन वा सर्वज्ञो न बाध्यते, वत्तुहीनस्य तस्याप्याग [ म ] स्यादवन्तमसंभवात् ॥ १०१ ॥ अकर्तृक एवागमः, कर्तुस्मरणत्वात्, इति चेत्, कर्तुर्मात्रः कर्तुस्मरणदिम्बो न मिद्वधति, अज्ञातकर्तृकेर्वावैव्यभिचारस्य संभवात्—घटनात् ॥ १०२ ॥ पौरुषेयेष्वसंभवी कश्चिद्विशेषो पौरुषेये नास्ति । यथा अतोन्द्रियार्थसंवादोऽपौरुषेये तथा पौरुषेयेऽपि दृश्यते ॥ १०३ ॥ ततो विवादापन्नं शास्त्रं सकर्तृकं दृष्टं, दृष्टकर्तृकतुल्यत्वात् । यद् दृष्टकर्तृकतुल्यं तत् सकर्तृकं, यथा अकलङ्कादिशास्त्रम् [ ॥ १०४ ॥ ] तस्मादकर्तृकं शास्त्रं सर्वज्ञबाधकं नास्ति, कृतकं च । तत् कृतकं द्विधा भिन्नं सर्वज्ञकर्तृकमसर्वज्ञकर्तृकं चेति [ ॥ १०५ ॥ ] तावद् असर्वज्ञप्रणोतमतोन्द्रिये प्रमाणं न । तु—पुनः । सर्वज्ञप्रणोतं तस्य प्रत्युत साधकमेव ॥ १०६ ॥ प्रस्तुतस्य प्रमाणपञ्चकभावात् तस्यसादिनिराकृतिः ॥ १०७ ॥ अज्ञादिवृद्धिबत्—इन्द्रियज्ञानं यथा ॥ १०८ ॥ रत्नत्रयनिबन्धनः—रत्नत्रयं निबन्धनं कारणं यस्य सः ॥ १०९ ॥ चूम्बकैः—चूम्बकपाषाणैरिव । आचकषं निष्काषयति स्म ॥ ११० ॥ प्रपद्य अङ्गोक्त्य निश्चित्येत्यर्थः ॥ १११ ॥ आरेमे प्रारब्धा । परा उत्कृष्टा ॥ ११२ ॥ नृतीये पुरुषार्थनामनि । लताभवनः वल्लीमण्डपः ॥ ११३ ॥ सोतोदा नाम नदी तस्या उत्तरदिक्कटम् ॥ ११४ ॥ बृहद्गुं दीर्घोर्ध्वदण्डपश्चात्पवारणशोभाम् ॥ ११५ ॥ अर्थवतीम् अर्थयुक्ताम् ॥ ११६ ॥ अकुष्टपक्ष्मैः लाङ्गलाद्यप्रयासपक्ष्मैर्गन्धैः पूर्णं । निरोतो ईतिरहिते । 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्भूषकाः घालभा. घृकाः । स्वचक्रं परचक्रं च सत्तेरा इत्यतः स्मृताः ।' निरवग्रहे अवृष्टिरहिते ॥ ११७ ॥ कुक्कुटसंपात्यैः कुक्कुटसंपाते वसन्तीति कुक्कुटसंपात्यास्तैः ॥ ११८ ॥ परलोकक्रियोद्यताः प्रेत्यभावक्रियोद्यमिनः ॥ ११९ ॥ अश्वग्न्याः पथिकाः ॥ १२० ॥ जिगोपतीव [ जेतुमिच्छतीव ] ॥ १२१ ॥ कृष्णानि मलिनानि । चरितानि आचरणानि ॥ १२२ ॥ निगमाः ग्रामाः ॥ १२३ ॥ मञ्जस्वीं बृहद्विलासिनीसमूहस्तनविगलत्काशमोरीः । जलधिद्योयितः नद्यः ॥ १२४ ॥ त्रिविष्टपं त्रिदशालय इव ॥ १२५ ॥ रत्नोपलमरीचिभिः रत्नवाषाणकरैः । ज्योतिर्गणविभा नक्षत्रनिकरदोसिः ॥ १२६ ॥ मिमीते जानीते । शालसं प्राकारान्तरिसस्यमृगाङ्गोदयम् ॥ १२७ ॥ अकाण्डेऽपि अकालेऽपि ॥ १२८ ॥ वासराधिपतिः सूर्यः । सुज्जगत्शोकोशिलरम् उच्चपूरद्वारेश्वरः ॥ १२९ ॥ तारतारां मनोहरोद्गुप्तमूर्तेः ॥ १३० ॥ उत्तस्मिन्तोडुभिः स्थगिततारकैः ॥ १३१ ॥ मानेन प्रमाणेनावलेपेन वा । महाभोगाः परिपूर्णतासहिताः, गरिष्ठभोगाश्च । मतवां प्रवीराजमानाः प्रमिन्नगजोभिनश्च । बहुमृमियुताः बहुलणसहिताः प्रचुरमृमि [ —भाज ] वच ॥ १३२ ॥ घनकिञ्जल्कः प्रचुरकेसरः । हिरण्यखचिता सुवर्णनिमिता ॥ १३३ ॥ पातालोपवनारका पातालवनप्रान्तिम् ॥ १३४ ॥ काशसंकाया काशो नाम तृणजातिः ॥ १३५ ॥ मुखस्त्रीणां बालाङ्गमानाम् [ ॥ १३६ ॥ ] मञ्जल्युं बृहत्पुत्रात्रि-

संयतकचपतदुज्ज्वलमल्लिका । पञ्चभिः कुलकम् ॥ १३७ ॥ लोभणत्वं कर्कशात्त्वम् । मानसे चेतसि ॥ १३८ ॥  
कचेषु केवेषु । विरसत्वं रसाभावः ॥ १३९ ॥ विरोधः वरं, पक्षिरोधश्च ॥ १४० ॥ [ प्राकार० ] प्राकार-  
खातिकापुलिखालैः ॥ १४१ ॥ मानेन प्रस्थादिना, प्रमाणेन वा । प्रमिष्यते प्रमाणविषयो कुर्वते ॥ १४२ ॥  
वापी दीपिका । वनम् उद्यानम् । आयतनं चैत्यम् । लोभः राजसदनम् । तद्वागः कासारः । गुरुणा बृहस्पतिना  
॥ १४३ ॥

इति चन्द्रप्रमचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

### तृतीयः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।

धृतादि स मुनिर्जोषाच्छ्रद्धादिगुणभासिकाक् ॥

तत्र श्रीपुरे । आनन्दविषयोऽकृतस्वकीयसमस्तवन्मुपश्रुजः । न्यायगमस्तिष्ठसमुद्भिराकृतसमुन्नीतितमिरः ।  
मुकुलीकृतशत्रुवृक्षमूलवन्द्योः । भानुनिभः सूर्योऽयम् ॥ १ ॥ विलङ्घ्यमानमूर्तिः । अतिक्रम्यमाणतनुः । प्रभूणुः  
समर्थः ॥ २ ॥ अनुरागकरं । आनन्दविषयकं । तन्मात्रं प्रकाशमात्रकार्यकरणसमर्थम् ॥ ३ ॥ संपूर्णः समग्रश्चासी  
शारदनिशाकरश्च तेनेव कांतं मनोहरं च तत् कोटिवल्लोवितानं च मण्डलं च संपूर्णं तेन परिवेष्टितं  
विष्टुपान्तं येन सः । व्यसनापनोदात् आपवपसारणात् ॥ ४ ॥ व्यस्यति पातयन्तीति व्यसनानि, प्रशान्तानि  
सकलव्यसनानि यस्मात् स तस्मिन् । बुद्धिमाहात्म्यम् ॥ ५ ॥ अद्रिपतिना मेरुणा । हरिणा इन्द्रेण । वशिष्ठा  
जितेन्द्रियता । तुलितं प्रमितम् ॥ ६ ॥ पदातिवृषभाः भृत्यप्रधानाः, पदातयश्च वृषभा बलीबदाश्चेति वा ।  
आक्रम्य तिरस्कृत्य ॥ ७ ॥ यत्र कुचित् यस्मिन्कुस्मिन्चित्प्लुके । जातनिर्भररुषा उत्पन्नाः कोपेन ॥ ८ ॥  
बरबोरलक्ष्म्याः प्रधानशूरश्रियः ॥ ९ ॥ अजलोऽपि नदीनभावं समुद्रत्वम् । वसुमत्या तिलको वृक्षविशेषोऽपि,  
अशोको वृक्षजातिः । कलाधरोऽपि चन्द्रोऽपि दोषाकरो न बभूव । विराधोऽयं, तत्परिहारः—अपि निश्चयेन  
यतोऽत्रादः पण्डितोऽतएव दीनभावं न भजे । यतश्च वसुमत्याः वसुधायास्तिलको लक्षामभूतोऽत एवाशोकः  
शोकरहितः । यतश्च कलाधरोऽतएव दोषाणामसौजन्यादीनामाकरो न बभूव ॥ १० ॥ अयसचयनिमित्तं  
द्रव्यसंचयकारणम् । इतरः कामः । अपेक्षा परस्परार्थम् । विजहुः तत्त्वजुः ॥ ११ ॥ अभ्यर्षितः प्रायितः ।  
आलयभूतम् आस्पदम् ॥ १२ ॥ मनाक् ईषत् धामाधिकः तेजोऽधिकः । तेन सूर्येण चन्द्रेण च ॥ १३ ॥  
सरसिजाकरसंनिवासिनी कमलवनवासिनी चासौ श्रीश्च तद्वत् कान्तया मनोरमया । अव्यतिरिक्तया अभिभवा  
॥ १४ ॥ लावण्यं सौन्दर्यसंपदमलोदके । शरद्विशं शरन्निर्मलचन्द्रकरसितः । समुदितः चयं गतः ॥ १५ ॥  
उत्थित्य परिजाय । वज्रे वृत्तवती ॥ १६ ॥ परीतवता वैष्टितवता ॥ १७ ॥ दोषायाः रात्रेः, दोषाणा  
दीर्घायादीनां च । तमसा अन्धकारेण पापेन च प्राभातिको प्रभातसमयोद्भवा । अम्बुजबान्धवस्य सूर्यस्य ।  
ओषधिपते चन्द्रस्व । परिप्लव्य तिरस्कृत्य ॥ १८ ॥ प्रणयकोपं स्नेहकषायविहितावकाशानि ॥ १९ ॥  
अखिलावसरं निखिलकृत्यम् । उदयधनुं नयने यस्याः सा ज्वबद्रोदकनेत्रा ॥ २० ॥ विभक्तुः विभागेनोभयत्र  
विधातुम् । त्वरमाणवृत्तिः ‘कथय कथय’ इति शीघ्रवर्तनः । शोकसमुद्भवस्य शोकात्पत्तेः ॥ २१ ॥  
दुर्बारकीर्त्याः दुर्निवारपराक्रमाः । प्रसृतः विस्तृतः । सीढुमशक्यतेजसि ॥ २२ ॥ अप्रभूणोः असमर्थात् । प्रणयस्य  
स्नेहस्य ॥ २३ ॥ त्वदधीनवृत्ती त्वदायत्तजीवने । त्वत्प्रेमनिधनमनसि तव स्नेहपरचेतसि । शाठ्यं शाठ्यम्  
॥ २४ ॥ छन्दो ( न्दा ) नुदतिषु छन्दःकारिणु (?) । निशां अन्धः पुरस्त्रीलोकेषु । अशक्नुवन्तु असमर्थेषु  
॥ २५ ॥ आपरि० असंतोषकारणेषु ॥ २६ ॥ ह्योवशान् लज्जावशात् । परेक्षितज्ञा परवेष्टामवबुद्धयन्ती

॥ २७ ॥ निमतिः विधिः ॥ २८ ॥ अनुवाचः प्रभावः । अन्धवत् आबरोह । आङ्गणं धनिकुमारान्  
 विमान् ॥ २९ ॥ विषण्णः ॥ म्लानमुलकमला । कुक्षिः जन्म वा ॥ ३० ॥ मङ्गिवाः मया सदृशः । पुण्यम्  
 आर्तव्यं पुण्यम् ॥ ३१ ॥ स्थानधर्मिणि गर्भानवति । कार० निष्कारणम् । व्यप० संज्ञामिलायी ॥ ३२ ॥  
 चन्द्रोपसृता मृगाङ्कुरहिताम् ॥ ३३ ॥ उज्जिता रहिताम् ॥ ३४ ॥ व्यपत्त पतिपत्ती ॥ ३५ ॥ निशम्य  
 आकर्ण्य ॥ ३६ ॥ शुचः शोकस्य ॥ ३७ ॥ कर्म वित्तं कर्तव्यं वैभित्यर्थः ॥ ३८ ॥ अलसः मन्दगामिनि ।  
 एकान्ततः सर्वथा इति भावमस्थाः न जानीहि ॥ ३९ ॥ नामाबुद्ध्यादिलिखितहिताः ॥ ४० ॥ प्रतिविधानुं  
 प्रतिकर्तुम् । कर्मैः मनोहरैः । करवीकृता अकरदाः करवीकृता भाषा येन सः ॥ ४१ ॥ अम्ययां सोत्  
 निर्जगाम ॥ ४२ ॥ नटनमयूरे । कोमलकूजकोकिले ॥ ४३ ॥ तारापथात् अम्बरात् ॥ ४४ ॥ रोमहर्ष-  
 चरितशरीरः । नमाम अमंसीत् ॥ ४५ ॥ निजस्मितेन ईषद्वात्येन ॥ ४६ ॥ संकुचकमलप्रतिमो । रश्मिवि०  
 दीप्तिमण्डलेन ॥ ४७ ॥ रजसः पापस्व ॥ ४८ ॥ उन्मूलयति मूलत उत्खनति । उद्यौरयते उत्पादयति ।  
 अतिशयेनात्यमत्पीयः [ तस्य ] ॥ ४९ ॥ प्रसोद प्रसारं कुद । परिजानतः अवबुध्यतः । विरिति वैराग्यम्  
 ॥ ५० ॥ चेतोऽगतां चेतसि स्थिताम् । अवबुद्धमानः परिजानन् । सूनवाञ्छा पुत्रामिलाषः ॥ ५१ ॥ सा  
 सूनवाञ्छा । अरिकु-ओमयनावेकोऽसहायो वीरः । विबं० अन्तरायकारणम् ॥ ५२ ॥ अग्रमहिषी पट्टदेवी ।  
 पुटभेदने पत्तने । अभिनन्दिताः समन्ताद्भृद्धि नीताः सर्वबन्धवो येन सः ॥ ५३ ॥ भ्रष्टकायकान्तिम् ।  
 ईदृग् गर्भपीडिततनुः ॥ ५४ ॥ प्रतिपद्य प्रतीक्ष्य । उद्धृतपुष्पान् ॥ ५५ ॥ अनपत्यम् अपुत्रम् । तस्य  
 निदानस्य ॥ ५६ ॥ पृथ्वाम्नि विपुलमहसि । अशेषितो निरस्तः कर्मबन्धो येन सः ॥ ५७ ॥ आनन्द्य  
 आह्लाद्य । हृष्ट० अभिलषितप्ररूपणेन । धाम स्थानम् ॥ ५८ ॥ पुरा पूर्वमुपचितैः पुष्टिं नीतैः पुण्यैर्निबद्धं  
 नियन्त्रितम् । आकलय्य विचार्य । निवबन्ध चकार । नियतं निश्चितम् । अङ्गं प्रधानं कारणम् ॥ ५९ ॥  
 प्रक्षोभिता संभ्रमिता अखिला समस्ता । सुरासुरनागलोका येन तत् । समाससाद आजगाम ॥ ६० ॥  
 समोहितनितित्त पुत्रोत्पत्तिमिलाषकारणम् । जिनविम्बस्नानस्थाध । स्नानं चक्रे ॥ ६१ ॥ प्रह्लादनम् आनन्दम्  
 ॥ ६२ ॥ आपण्डुम् ईषच्छुभ्रम् ॥ ६३ ॥ प्रमृगशण्डिम प्रमृता ( त ) पाण्डिना यत्र । पट्चरयः अमर ।  
 अनुचकार अनुसरतिस्म ॥ ६४ ॥ सर्प० कुचद्वययोः ( स्य ) या विषाङ्कुरता शुभ्रत्वं तस्य गुणः, सर्पन्  
 प्रसरंश्चामी विषा० गुणश्च तेन ॥ ६५ ॥ अन्तः समीपम् ॥ ६६ ॥ नीलोत्पलानि कुवलयानि । प्रथमं  
 विजितानि, इरानो पुण्डरीकैः वितामनोत्रैः, स्रद्धं अम्यपूये ॥ ६७ ॥ शिरोध० शिरोधपुत्रकोमलगात्रायाः  
 ॥ ६८ ॥ भावितोर्थकरम् आगामितोर्थनाथम् ॥ ६९ ॥ अमीपुनति सूर्ये ॥ ७० ॥ मुखरं वाचालम् ।  
 नरनाथगृहम् ॥ ७१ ॥ निरित्य निर्गत्य । जन्मवतां प्राणिनाम् । प्रघोषः प्रणादः ॥ ७२ ॥ निवेदयद्भुधः  
 सूचकैः । अमीपणत् गणयामास ॥ ७३ ॥ रश्मिने वेगेन । अन्तः मध्यम् । हृदयं मनः ॥ ७४ ॥ शुभे  
 दिवसे सुवर्णनिर्वृतेः पुण्यैः सर्वजं पूजयित्वा वंशवृद्धैः यह मङ्गलनिमित्तं 'श्रीवर्म' इति नाम चक्रे ॥ ७५ ॥  
 परान् शत्रून् । अमिताम् अययोदाम् । जनन्द अवर्द्ध ॥ ७६ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

### चतुर्थः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोमुमुनिः ।

स श्रुतादिमुनिर्जीवाश्चन्द्रादिगुणमासिवाक् ॥

पद्याकरवत् कमलवनवत् । दशेयोपमा ॥ १ ॥ कलाभिः चतुर्वृष्टिभिः, दोषा [ भाग ] दश ॥ २ ॥ उपास्य  
 संसेव्य । विद्याः चतुर्दश, उपविद्याः तद्व्याः । प्रचण्ड इन्दुमि ( रि ) ति पाठान्तरम् ॥ ३ ॥ वयसा वेवेण । आक-

१. ब विविध ज विविध० । २. ब अमुमी ज असुमा ।

रोषः कनिजः ॥४॥ अवाप्तुं प्राप्तुम् । सदाभियुक्तः अभियुज्यन्ते इत्यभियुक्ताः तैः सेवापरैः । उप- उप-  
 जीवमधिपयोक्तुः ॥५॥ इषेष्ट इच्छति स्म ॥६॥ वदान्यता दानशोण्डताम् । तद्विद्विः वदान्यतायुक्तः । परतः  
 अन्त्यतः ॥७॥ धूरतरः अतिशयेन धूरः । महीयः गरीयः । द्विपारेः सिंहस्य ॥८॥ स्वपङ्क्तिं ईर्ष्याविशेषात् ॥९॥  
 प्रपूरयन् पोषयन् ॥१०॥ खलस्वभावाः दुर्जनाः ॥११॥ अभिभव० तिरःकरणचतुरम् ॥१२॥ आयतनम्  
 आप्यदम् । उत्तरेकं गर्वम् ॥१३॥ वण्णा वर्गः पङ्कवर्गः स चासौ रिपुवध पङ्क० निरस्तः पङ्कवर्गपरिपुष्येन सः ।  
 'कामः क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मयः । अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः सितोद्यानां भवत्ययम्' ॥१४॥ निवेशात्  
 अनुग्रहात् ( आशातः ) । उपयेमे परिणोतवान् ॥१५॥ नियोज्य निवेश्य । धुर्यं धीरेयम् ॥१६॥ बाण्ड्यैव  
 कृतं संनिधानं यैः ॥१७॥ अम्बरतः आकाशात् । विषयेषु भोग्येषु । १८॥ अशास्वतं विमश्वरम् । पुत्र-  
 कलत्रैर्मोहितः ॥१९॥ मगापगा. प्रसिद्धा ॥२०॥ क्षणक्षयिणि क्षणिके । स्थिराभिमान निश्चलमतम् ॥२१॥  
 समागमाः संयोगाः पुनर्मिश्रकलादयः । ऋच्छति गच्छति ॥२२॥ कृते निमित्तम् ॥२३॥ अव्यपायाम् अवि-  
 नश्वराम् । वृणते स्वीकुर्वन्ति । अवः पानीयानि ॥२४॥ अनुग्रमाणस्य परमाणमित्यस्य । गिरोऽप्यपमं मेद-  
 प्रमितम् ॥२५॥ तालया कृतं तालीय, काकस्य तालीयं का० ( काकागमनमिव तालपननमिव काकतालं, काक-  
 तालमिव काकताललीयम्—काकतालसमागमसन्निभमिति यावत् ) । क्लेश० कर्मणा विनाशात् ॥२६॥ फल्गु-  
 भावम् असारताम् । अपगतरागः ॥२७॥ मन्दोभ्रंश्चकासौ प्रेम्ण स्नेहस्य रसश्च । युवराजानम् ( युवराजम् )  
 ॥२८॥ बात्या वातमण्डली । उपेत्य आगत्य । विहन्तुं त्यक्तुम् ॥२९॥ निजय० स्वस्य उद्यमताम् । अव-  
 सानं प्राप्तम् ॥३०॥ ययोऽनु० वयसा सह । प्रस्त० गद्गदा भवितुम् ॥३१॥ दुःखदावपीडितम् । परिपन्थिना  
 प्रतिकुलेन ॥३२॥ पुरैव पूर्वमेव । अपेतम् उज्जितम् । अवतिष्ठे स्थितोऽहम् ॥३३॥ अपास्तव्यसन परि-  
 त्यक्तशुभाविः । अपहृष्टितः क्षितो निराकृतोऽरिर्वाणामुदयो येन सः ॥३४॥ अमृषिते उदय प्राप्ते । चारा  
 गृह्युक्ताः बहुवर्त्यस्य सः । 'गणधेन गावः पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदक्षणा । चारं पश्यन्ति राजानदक्षश्चर्ममितरे  
 जनाः' ॥३५॥ मोट्टीविजः उद्वेगविषयं मा कृषाः । आत्मनोमन आत्महितम् । निबन्धनं कारणम् ॥३६॥  
 निबन्धनस्य अनुद्भूतस्य । गरीय. गरिष्ठम् । ध्यनम् उपद्रवः—आपत् ॥३७॥ विधित्सु. कर्तुमिच्छुः ।  
 एनं परिवारम् । कृत्तताया कृत्तकृत्यतायाः ( ? ) । उद्वेजयते उद्वेगविषयं कुरुते ॥३८॥ दोषा दीर्घादयः ।  
 लोकद्वयम् इहवरलोकम् ॥३९॥ वृद्धानुमत्या मन्त्रिवचनेन । वि० निरालम्ब्य । विनोयसान. अनुनोयमान ।  
 गुह्या वृद्धेन ॥४०॥ निगूळत. बाधयत । वन्दिनः स्तुतिपाठका ॥४१॥ गन्तमना. फला० निष्पत्ति-  
 निश्चेयानि । निरन्ध्रेहितानि वाञ्छितकार्याणि ॥४२॥ आशा. वाञ्छितानि दिशश्च । भूभूत राजान. पर्व-  
 ताश्च । करणा भागधेयाना, किरणाना च । निर्विषय. प्रतिकूलतारहित ॥४३॥ विश्राणयामास ददौ ।  
 प्रतीयेष्ट अशाह ॥४४॥ श्रीरभो नाम मुनिस्तस्य पादभूले । समापदन् प्राप ॥४५॥ विनियोगी निर्जगाम  
 ॥४६॥ मौलम् अङ्गरक्षकृतम् आटविकं भिन्नशबरदिज्ञितम् । सामन्त्र्यल क्षत्रियसन्ध्यम् ॥४७॥  
 खरकेषावसूयम् । परं केवलम् । दिशाम् आशानाम् ॥४८॥ अग्निकूट. अनुकूल । वशाधूननं प्रकम्पनम् ।  
 अन्तर्दधे तिरोहितः ॥४९॥ प्रयाण० विषयमयम् । मातङ्ग ( ज्ञाः ) हस्तिनः । प्रतान धूलिप्रसरः  
 ॥५०॥ मूर्च्छन् व्याप्नुवन् । विषयेषु रन्ध्रेषु ॥५१॥ प्रत्युद्यये प्रसिद्धीना ॥५२॥ निगम्य धृतत्वा ।  
 प्रस्थानं विजयप्रयाणम् । महाव्याकुल० व्यथितानाम् । इति वदमाणप्रकारेण ॥५३॥ अनपेक्ष्य  
 अवगणय ॥५४॥ भयदिह्म० साध्वसवित्त्वलाङ्गाः । शरण्यं शरणार्थम् । अपोह्य परित्यज्य ॥५५॥  
 शीर्षेण शूरत्वेन शीर्षेणैव । अन्त्येय आगत्य । पतङ्गाना पक्षिणा वृत्तिम् ॥५६॥ पत्रं वाहनम् । अक्षेपाणि  
 समस्तानि रत्नानि । उपायनोक्त्य प्राभूतीकृत्य । हिमर्तुवृत्ताः यया प्राप्तेयोपद्रवः शासिताङ्गाः पञ्चादिरहिता  
 भवन्ति ॥५७॥ गृहीत० स्वीकृतद्रव्यविशेषान् कृत्वा । स्ययुद्धस्त अस्यापयत् ॥५८॥ उपेयुषः समागतान् ।  
 अन्धप्रह्वीत् पितृपदेपे अनुजगाह । तनुजान् पुत्रान् ॥५९॥ गता० क्रोध ( गर्व ) रहितैः । दत्तममयं येभ्यस्ते  
 दत्ताभयास्तैः । कटकं सैन्ध्वम् । यया समुद्रं जेतुमिच्छया ॥६०॥ गण्डस्थलामोद. कटोद्ग्रेहपरिमहः ।



विक्लेबिलम् आद्रितम् । उपायनेभैः प्राभृतगजैः ॥ ६१ ॥ शर्वैः बालैः । पार्वतोयाः पर्वतवासिनः ॥ ६२ ॥ उपदीकृत्य उपायनीकृत्य ॥ ६३ ॥ अङ्गारिणीः अङ्गारयुक्ताः शत्रूणां चिताभिः चितिभिः । प्रभूमिता धूसरा । सां च चकांश्च अभिलाषमकरोत् । 'यस्यां दिशि सूर्यं सा चान्ता, अन्ये ज्वलितप्रभूमिले' इति ॥ ६४ ॥ विकिरन् प्रसारयन् । करं भागधेयम् ॥ ६५ ॥ प्रतिकूलिता द्विष्टा आज्ञा येन सः ॥ ६६ ॥ समानां मानस-  
हिताम् । अन्धोनि० समुद्रजलपरिधाना ॥ ६७ ॥ भूतघाती वसुन्धराम् । धार्मी दधानाम् । आससाव प्राच ॥ ६८ ॥ प्रत्यागतं समर्थम् । श्लेषः ॥ ६९ ॥ गोपुरस्य पुरद्वारस्य ॥ ७० ॥ हमाहृहाः विटपिनः । विरोधीम् कन्धरविशेषान् ॥ ७१ ॥ कलं मनोहरम् । निषेदुषी निवसन्ती । हंसावलिः हंसपङ्क्तिः ॥ ७२ ॥ विनिर्यत् निःसरत् । पाठोत्कुल मत्स्ययूयम् ॥ ७३ ॥ गवाक्षः वातायनम् । संभूय एकीभूय । श्लघ० अघोषस्त्रबन्धन-  
दवरकम् ॥ ७४ ॥ पञ्चबाणः कामः ॥ ७५ ॥ शशिसमं चन्द्रसमदीप्त्या । विलासीः शृङ्गारभेदैः । निरुतशत्रुः खण्डितारिः ॥ ७६ ॥ निर्वेदं वैराग्यम् ॥ ७७ ॥ प्रवज्य दीक्षित्वा । परमोदयः महद्विकः ॥ ७८ ॥

इति चन्द्रप्रमचरितमहाकाव्यपञ्चिकायां चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

### पञ्चमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।

स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छ्रुत्वादिगुणभास्विवाक् ॥

घातकीलण्डभूम् ॥ १ ॥ भरतप्रमुखमितीश्वरा । भरतेश्वरादयः । कविबेषसां कविचक्रिणाम् ॥ २ ॥ तरुणी कमनीयकामिना । स्थल० स्थलकमलिनीः । हृदयंगमा रुच्याः ॥ ३ ॥ यदीयनिगमान्तगताः यद्ग्रामप्राप्तस्थिताः ॥ ४ ॥ अस्पृश्यमध्वाः ॥ ५ ॥ शकुन्ताः पक्षिणः ॥ ६ ॥ समयोचितं (सं) यथाभिलिखितं (भिलपितम्) । सकलसुपु पङ्क्तुसु ॥ ७ ॥ सुपयोधराः स्वच्छजलधराः, पक्षे घोभनस्तनधारिण्यः ॥ ८ ॥ नवं वयं तापणत्वम् । अपमृत्युतः दुमृत्युवाधितः ॥ ९ ॥ निरवषष्टैः निस्पद्रवैः, अवृष्टिरहितैरित्यर्थः । मुरकुरुः भोगभूमिः ॥ १० ॥ तरुजायः वृक्षपङ्क्तयः ॥ ११ ॥ तत्र विषये तस्मिन् देशे । प्रचुर० पुण्यैरुपलभिता जनाः पुण्यजना, प्रचुराश्च ते पुण्यजनाश्च प्रचुरपुण्यजनाः तैः—बहुलपुण्यम् (ब) द्विः, पक्षे प्रचुरश्रीदैः ॥ १२ ॥ अतनुधारं मुसलप्रपातम् ॥ १३ ॥ निर्वृतये विध्यापनाय ॥ १४ ॥ विविधासु तानाप्रकारासु ॥ १५ ॥ जिगमिषु गन्तुमिच्छम् ॥ १६ ॥ विच्छुरितः कर्बुरितः ॥ १७ ॥ परिधेः प्राकारस्य ॥ १८ ॥ मानसे सरोभेदे । शिशिप्रियया शिशितुमिच्छया ॥ १९ ॥ प्रतीर्लाशिलरं पुरद्वारशृङ्गम् । संवलिता कर्बुरितः ॥ २० ॥ भिदा भेदः ॥ २१ ॥ त्रिदशा० स्वर्गतिरस्कारिणि ॥ २२ ॥ शक्तीनां प्रभावादीनामुपचयेन सम्प्रेक्षनानुगत संहितः । जगति जयो जगज्जयो नयविक्रमाभ्यामर्जितो जगज्जयो येन सः ॥ २३ ॥ विसतन्तुः मृगालसूत्रम् । लघुपतिना चन्द्रेण ॥ २४ ॥ अवजेतुम् अवगणयितुम् । पृथु प्रचुरम् ॥ २५ ॥ गुहतां महत्त्वम् ॥ २६ ॥ भूव० जगदतिक्वाप्तेन ॥ २७ ॥ येन राज्ञा । दहनेन भस्मीकरणेन । कमनीयतया मनोहरतया ॥ २८ ॥ गुणातीति गुरुः । ईष्टे इतीश्वरः । नरकं दुर्गतिं, दैत्यभेदं च । घनं ददातीति घनदः, कुबेरश्च । कमलाया आलम्बः, श्रद्धा च । शिशिराः शीतला गावो वाण्यो यस्य सः, चन्द्रश्च । बुध्यते इति बुधो धोमान्, रोहिणेयश्च । सुष्ठु गतं ज्ञानं यस्य सः, बुद्धश्च । सकलदैवैर्मयो निर्वृतः सकलदेवमयः ॥ २९ ॥ विषवृधे वृद्धि गता ॥ ३० ॥ बाष्पजलं । अश्वतोषैः ॥ ३१ ॥ निजविक्रमेणाहितः स्वीकृतो रणकरसो येन सः । प्रघने संप्राप्ते ॥ ३२ ॥ तिरस्कृतसूयतेजसि ॥ ३३ ॥ सह० स्वाभाविकसरलतया, पक्षे भद्रजातितया । वंश अभव्यः पुष्टं च । दिक्षु करो यस्य स दिक्करो तस्य, विष्कुञ्जरस्य च । मदः अवलेपः ॥ ३४ ॥ परिवा० अर्गलाकारे । मुनं निम्नं दोषशिरःसमूहम् [ ॥ ३५ ॥ ] योगं सहायम् ॥ ३६ ॥ समितेः समूहस्य । अत्रन्यत्

१. व गतां ज गता । २. व ज यातां । ३. व तादिः ।

सत्पाविता ॥ ३७ ॥ अवयवैः करवरणादिन्यासैः । अमारि अघारि ॥ ३८ ॥ इतवति गतवति । सचन्द्रत्वम् ॥ ३९ ॥ तनुम् पुत्रः ॥ ४० ॥ उपचिकाय उपचयं नीतवान् ॥ ४१ ॥ अवयवे बुबुधे । विफलः निःप्रयोजनम् ॥ ४२ ॥ वार्तं फल्गु ॥ ४३ ॥ अलं भूषयावकार ॥ ४४ ॥ लघयन्तं लघुकुर्वन्तम् ॥ ४५ ॥ पिदधाति क्षिरोवधाति—आच्छादयति । गवादेरलोप<sup>१</sup> । 'अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च' । इत्यमरः ॥ ४६ ॥ हतं गतम् । सकलतेजस्विनाम् ॥ ४७ ॥ परम् अन्यत् । अलकरणं भूपगम् ॥ ४८ ॥ न्यबोविशत् स्थापयामास ॥ ४९ ॥ अघरि० न्यबहुतदेवताधीनस्थानम् ॥ ५० ॥ नयनाभिरामं नेत्रयोः सुन्दरम् । दूषोविषयं दृष्टिगोचरम् ॥ ५१ ॥ उपायनेनोपशान्तेना (णा) नुगता अन्वायाता ये मण्डलिनस्तेषाम् । आस्त तत्सौ ॥ ५२ ॥ परिमोह्य विमोहं प्राप्य । जहार हृतवान् ॥ ५३ ॥ सुतनूयं पुत्ररहितम् ॥ ५४ ॥ इन्द्रजालं हरिचन्द्रपुरम् (मायाम्) ॥ ५५ ॥ असुसदृशः प्राणसमान ॥ ५६ ॥ मुक्तः करुणया आर्तरवो यत्र कर्मणि तद् यथा भवति ॥ ५७ ॥ अनलम् असमर्थं ॥ ५८ ॥ अभिहितम् उक्तम् ॥ ५९ ॥ अनिबन्धनं निष्कारणम् । अकुसलम् अकल्याणम् । उपेक्षते अवगणयति ॥ ६० ॥ सहजविनयता ॥ ६१ ॥ क्षत बाधितम् ॥ ६२ ॥ तिमिरावृत्ताः अन्धकारवैष्टिता ॥ ६३ ॥ अनुम्वताम् अकल्याणताम् ॥ ६४ ॥ व्यपहृस्ति त मुष्टम् ॥ ६५ ॥ तुहित० चन्द्रसुभगम् ॥ ६६ ॥ विपयार्थं गोत्रवृद्धम् ॥ ६७ ॥ दधित त्रिययुष ॥ ६८ ॥ दुर्व्यसनम् आपत् ॥ ६९ ॥ धुनीपयसः नदीजलस्य ॥ ७० ॥ आधि मानसव्ययाम् । अन्तरयितुं प्रच्छादितुम् ॥ ७१ ॥ व्यलोकयत् लुलोके ॥ ७२ ॥ उद्गोत्रम् ऊर्ध्वमुखम् ॥ ७३ ॥ जनेद वेगेन । जने अजनिष्ट ॥ ७४ ॥ कृशत्वं क्षीणताम् ॥ ७५ ॥ उत्तरीयम् ऊर्ध्ववस्त्रम् ॥ ७६ ॥ उपहिताम् अग्रतः समानोताम् । स मुनि ॥ ७७ ॥ अनू० पूर्वं कदाचिदपि न भूतो नः ॥ ७८ ॥ लैचररथात् गणनगामित्वान् ॥ ७९ ॥ सप्रभया सविनयाम्<sup>२</sup> ॥ ८० ॥ अभ्युपेतः समागतः । मदनुग्रहाद्यो ममोपकाराभिलाषकः । अभूमि अगोचर ॥ ८१ ॥ कत्या० श्रेयस्करी ॥ ८२ ॥ समुच्छवांसि उद्गतम् ॥ ८३ ॥ श्रुति० श्रोत्रमुखजनकम् ॥ ८४ ॥ त्रियविप्रयुक्तम् दृष्टवियोगिनम् ॥ ८५ ॥ शतक्रतो इन्द्रस्य ॥ ८६ ॥ साधारणो समवृत्त्या वर्तमानो । विगणय्य विचार्य ॥ ८७ ॥ अर्हति न मोक्षो भवति, अदृष्टोपजनितासु ॥ ८८ ॥ अहुशालम् अकल्याणम् । संयोग्यसे संयोगं गमिष्यसि ॥ ८९ ॥ निश्चितार्था नि सिद्धिषाम् ॥ ९० ॥ उपतेजसः । विद्वत्तमना (नसा) निश्चित-चेतसा ॥ ९१ ॥

इति चन्द्रप्रमथरितमहाकाव्यपञ्जिकायां पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

### पष्ठः सर्गः

आप्तमोर्मासादिशास्त्रप्रकाशं योऽक्रगेन्मुनिः ।

स श्रुतादिमुनिर्जायाच्छ्रद्धादिगुणभासिवाक् ॥

निपपात पतति स्म । उच्छलद्ग्राहसम्हे ॥ १ ॥ अपविद्धेषु अपध्वस्तेषु ॥ २ ॥ पाणिं गुल्फयोर-  
धोवर्तमानः ॥ ३ ॥ कर्बुर्यन् चित्रयन् ॥ ४ ॥ पादा रक्षयश्चण्डा वा ॥ ५ ॥ मृतराज सिंह ॥ ६ ॥  
प्रियकाः चमूयवः ॥ ७ ॥ दासरा. भिल्ला । पृष्टरोकः व्याघ्रः । हिंसिताः मारिताः । सामजा हृस्तिनः ॥ ८ ॥  
प्रचुरप्रान्त० अमर्यादावसानवल्ली, अथवा प्रचुराणि प्रान्तानि पुष्टराणि यामु साश्च ता लताश्च । क्रमं पदम् ॥ ९ ॥ अयोद्ध० निवारितशीता । शयुः अजगरः । प्लवगाः वानरा ॥ १० ॥ विनिवाद्य निरीक्ष्य ।  
प्रतस्थे प्रचलितः ॥ ११ ॥ वंशः श्ववधाय पृष्ठं च<sup>३</sup> । सत्त्वं पराक्रमः । सत्त्वाश्च प्राणिनः ॥ १२ ॥ सहिदयः  
अनुचराः पादधारिणः । गण्डकाश्च । वनपर्यन्तस्य बुभुक्षा जातुमिच्छा तया ॥ १३ ॥ वर्षाकालोद्भवजल-  
वध्यामः ॥ १४ ॥ प्रतिशब्दितसकलभूधरविवरः । त्वरया वेगेन । विविहृष्टः सौकुमशक्यैः ॥ १५ ॥

१. च 'देली' । २. अं 'नयम्' । ३. ज 'पृष्ठम्' ।

आक्रान्तुं व्याप्तुम् । अनन्यसेव्याम् ॥ १६ ॥ अनवाप्य प्राप्य (?) । शक्तः समर्थः ॥ १७ ॥ धरणीध्रे मूषरे ॥ १८ ॥ विप्रलब्धः बन्धितः । असं विचारितम् ॥ १९ ॥ निशम्य आकर्ण्य । मर्मच्छेदिनीम् ॥ २० ॥ भवद्विषे त्वत्सदृशे ॥ २१ ॥ अलं पूर्वताम् । संमितं स्तोकम् ॥ २२ ॥ तरसा बेगेन ॥ २३ ॥ निभृताभिः मिलिताभिः । तदं वृक्षसमूहमध्यमेन, वा वृक्षजालान्तरेण ( वृक्षजालान्तरेण वा ) । बनदेवताभिः अरण्यदेवताभिः वा जलदेवताभिः ॥ २४ ॥ करणैः गात्रविशेषैः । क्रमेण जातो जयो यत्र तत् ॥ २५ ॥ समु० आम्बोत्प ॥ २६ ॥ अभिदधे जगौ ॥ २७ ॥ कृतं कपटसंग्रामेण ॥ २८ ॥ कृतिनः पुण्यम् ( व ) तः ॥ २९ ॥ परनिष्ठं पराधीनम् ॥ ३० ॥ उद्यमेन शोभमानस्य ॥ ३१ ॥ निवेदयामि निरूपयामि । वृत्तं चरित्रम् ॥ ३२ ॥ उपेत्य आगत्य ॥ ३३ ॥ निपातितः मारितः । प्रचुर्योनौ ॥ ३४ ॥ केसात् लवात् ॥ ३५ ॥ मिष्टाक्षरमनोहराम् ॥ ३६ ॥ उत्तीर्णम् उल्लङ्घितम् ॥ ३७ ॥ पला० नवयन्तम् ॥ ३८ ॥ उपसृत्य उपगम्य ॥ ३९ ॥ निर्वि० विरक्तचेता । उदन्तं वृत्तान्तम् ॥ ४० ॥ धनधाग्याम्यामादृषा धनिनद्वेते जनाश्च । साहचर्याः ( साहचर्याः ) हरिता ॥ ४१ ॥ उच्चराजगृहशिखरं ॥ ४२ ॥ यस्यातीवो विषह्यश्चासौ करो भागधेयवच ॥ ४३ ॥ पूरितेच्छा । यथा दिननाथविभा पूरितदिना । वितीर्णं कामस्य सुखं यथा सा । यथा रतिः कामस्य सुखं वितरति ॥ ४४ ॥ ललाम ( मं ) तिलकम् ॥ ४५ ॥ अचिरादप्ये आसन्नमृत्यवे ॥ ४६ ॥ निहत्य विजित्य ॥ ४७ ॥ प्रतप्त्वे प्रयथो ॥ ४८ ॥ परीतं वेष्टितम् ॥ ४९ ॥ असंस्तुतत्वात् अनिवेदितत्वात् । हस्तिसंकीर्णमार्गम् ॥ ५० ॥ नृपाजाम् । अति० उल्लङ्घय । परिगच्छसि ॥ ५१ ॥ प्रवृद्धमत्सरः ॥ ५२ ॥ मतङ्गजाः हस्तिनः ॥ ५३ ॥ गरुत्मा गरुडः । मणिष् प्रत्ययः ॥ ५४ ॥ अहि० सूर्यात् ॥ ५५ ॥ शत्रुबन्धवाग्निम् । विहितक्षीमश्रीकम् ॥ ५६ ॥ राजगृहम् । भावान् विकारान् ॥ ५७ ॥ बुबुधे जाता ॥ ५८ ॥ विहितसत्कार ॥ ५९ ॥ निजगाढ बभाण । परेङ्गि० अन्यचेष्टिता ॥ ६० ॥ अनास्था निर्ममत्वम् ॥ ६१ ॥ क्षीणकपोला समाहूते समानोते ॥ ६२ ॥ आन्तरङ्गः मध्यस्थित ॥ ६३ ॥ उदस्यते उद्धस्यते ॥ ६४ ॥ विषम् अमृतपयणिण कालकूटम् ॥ ६५ ॥ तस्या शरीरम् ॥ ६६ ॥ प्लुप्यति<sup>१</sup> मर्दयति ॥ ६७ ॥ असा० अनन्यरूपम् । अन्यथा तदभावे ॥ ६८ ॥ प्रवि० कर्तव्यम् । हरिणस्यायते चक्षुषी ह्व चक्षुषी यस्याः सा । कामस्य ॥ ६९ ॥ उद्यत्पुलक उद्यद्गोमात्र ॥ ७० ॥ आदरपरस्वरूपः ॥ ७१ ॥ रूपातमहाः । अवतस्ये स्थितः ॥ ७२ ॥ उत्तमिभत स्थगितः ॥ ७३ ॥ निर्मलकञ्चुकः । आकाशसर्पस्य ॥ ७४ ॥ रजत० रीप्य-निर्मलतया । निर्मले किल प्रतिबिम्बं भवति ॥ ७५ ॥ खेचरराज्ञः ( खेचरराज्ञा ), पक्षे पर्वतान् । विष० विगतसहायान्, पक्षे पक्षरहितान् ॥ ७६ ॥ क्षुल्लक वर्णिनम् ॥ ७७ ॥ प्रति० सपर्याभिः । अग्र० प्रतिअग्रह ॥ ७८ ॥ तेन क्षुल्लकेन ॥ ७९ ॥ कामम् अतिशयेन ॥ ८० ॥ प्रियम् इष्टं कर्तुम् । सुधर्मचार्यात् ॥ ८१ ॥ जनान्ते देशे ॥ ८२ ॥ अविभ्रमसहिता ॥ ८३ ॥ धन्यः श्रेष्ठः ॥ ८४ ॥ विषसाद विषादं कृतवान् । साध्यसंभयम् ॥ ८५ ॥ मदीयचिन्तया । निःप्रमादमना ॥ ८६ ॥ देश० क्षुल्लकम् । कृत्यं करणीयम् । प्रच्छन्नमन्त्रः ॥ ८७ ॥ हरोष ह्यष्टिस्व ॥ ८८ ॥ प्रजिघास प्राहिणोत् । अभि० अभिप्रायम् ॥ ८९ ॥ सार्धसंज्ञ ॥ ९० ॥ प्रवितीर्णा दत्ता ॥ ९१ ॥ गुर्वी गरिष्ठा ॥ ९२ ॥ अभिजातिः निदिचतजातिः ( कुलम् ) ॥ ९३ ॥ मोढा न परिणीता ॥ ९४ ॥ अम्यघात् अवबत् । कोविदः पण्डितः ॥ ९५ ॥ अम्येतु अभिगच्छतु ॥ ९६ ॥ अजित-सेनाय वराय कुमाराय ॥ ९७ ॥ दुष्टविद्याधरम् ॥ ९८ ॥ रोपितं स्थापितं दिव्याना देवोपनीताना शस्त्राणां जालं समूहो यत्र ॥ ९९ ॥ सुरो हिरण्यः सारथिर्यस्य । सेनासम्मुखम् ॥ १०० ॥ खराशुवत् सूर्यवत् । विकलीकृताः । संभूय एकीभूय ॥ १०१ ॥ अतात् ज्ञातीति अत्रं, न सत्रमेतेष्वस्तोति बुद्ध्या । एकस्योपरि बहुनामागमने क्षात्रवृत्तिर्नास्तोति । पुषर्कः बाणैः ॥ १०२ ॥ असाध्यम् अवश्यम् । तमोबाणम् ॥ १०३ ॥ सुरेण दत्तं सुर० सुरवत् च तद्विश्रितं च ॥ १०४ ॥ विघ्नविना० बाणविशेषेण ॥ १०५ ॥ हृतहेतिः<sup>२</sup> क्षतपुणः । उद्यम्य उद्गम्य ॥ १०६ ॥ न हतोद्धते । उद्धोय नगं विजयादौ गते ॥ १०७ ॥ सहास्यः ।

१. ज वा कान्तरेण जलं । २. ज मणि णू स्यः । ३. व पुण्यं । ४. व 'हवहेति' इति नास्ति । ५. व कृतं ।

गुह्या पुरोषसा, वा गरिष्ठेन ( गरिष्ठेन वा ) ॥ १०८ ॥ उषित्वा वसित्वा । एवमुरानुजा गृहीत्वा ॥ १०९ ॥  
अथवा मार्गः । अति० स्तोकेः ॥ ११० ॥ उद्धृतरिपुं संहृतशत्रुम् । विक्रमत्कदम्बाकारम् ॥ १११ ॥

इति चन्द्रप्रमचरितमहाकाव्यपत्रिकायां षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

## सप्तमः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽक्रान्मुनिः ।

स श्रुतादिमुनिर्जायाच्छूद्रादिगुणमासिवाक् ॥

पाकशासनः इन्द्रः । उदवादि उत्पन्नम् ॥ १ ॥ जटिलीकृतं कर्बुरीकृतम् । व्यभाव्यत परिज्ञातम्  
॥ २ ॥ प्रकाशिताकाशरन्ध्रः । दृश्या जिह्वा यस्य ॥ ३ ॥ घर्मधारण छत्रम् ॥ ४ ॥ उपयो० साधनाङ्गेन ।  
विधेयता नियोज्यताम् ॥ ५ ॥ अनल्प० प्रचुराभोगम् ॥ ६ ॥ अद्रिकुलिशादीना भेदिन विघटनम् । बज्रकापाटा-  
दीनां भेदः खलु दण्डादेवेति श्रुतिः । प्रायकर्मसु बाहुल्यकार्येषु । ऊर्जितं गरिष्ठम् । शुभं सन्कर्ष ॥ ७ ॥ चक्रिमय-  
प्राप्तकम्पस्य । यस्य वासवेन्द्रस्य ॥ ८ ॥ भास्करादीनां रुचामविषयो भवदन्धकारनिरसनकरणे । पटौघसो  
पटिष्ठा ॥ ९ ॥ प्राबृज्जलघरश्यामलनिकटस्थान्धकारविनाशकरणसमर्थः ॥ १० ॥ छलात् व्याजात् ।  
गोलराट् मेघः ॥ ११ ॥ अप्रतिहतगमनम् । प्रचुरबलयुक्तम् । सिसध ( ) । मनोवेगम् । पर्य० मेघाम्  
॥ १२ ॥ अरिभिः सोढुमशक्यपराक्रमभयार्णं ( न ) क । शूरत्वभूमिः ॥ १३ ॥ दर्वं मुरैर्मानवं ठकादि-  
विद्यायुक्तमनुष्यैः शुभेतरयद्गुह्येष्टहैः प्रापिता या आपत् तस्या अपहस्तन रोधकरणे समर्थः । दह्वान् पुण्यपुञ्ज  
इव ॥ १४ ॥ कल्पः सदृशः । चण प्रवीणः ॥ १५ ॥ गृहकार्यचतुरः । समुद्ययो अजायत ॥ १६ ॥ प्राभिषन्  
सिद्धयन्ति स्म । सत्कर्ममन्दिरस्य ॥ १७ ॥ उपतस्थिरे उदवादिपत ॥ १८ ॥ व्यसिध्रणत् अदात् ॥ १९ ॥  
पिङ्गलो नाम निधिः ॥ २० ॥ ईप्सितं मनोऽभिलषितम् ॥ २१ ॥ रन्ध्रभेदता भेद्योदय । नद्धभेदतः मुरजादयः,  
निबिडभेदतः तन्म्यादयः । व्यस्तोदत सकलं वाद्यजातं दत्तम् ॥ २२ ॥ वस्त्रजात वसनजातिम् ॥ २३ ॥  
तप्तीय कनकम् ॥ २४ ॥ शात्रवध्नं शत्रुमघातनाशकम् ॥ २५ ॥ सोपधानं सोपवर्धम् । नैत० नैसर्गनिधि-  
दत्तम् ॥ २६ ॥ चित्ररत्न० किमोररत्नज्योतिभिः ॥ २७ ॥ [ न ] उदमित्क न जगर्व । तादृशी नवनिधि-  
वतुर्दशरत्नलक्षणम् ॥ २८ ॥ व्यधत् अकरोत् ॥ २९ ॥ निरवर्तयत् निवर्तयामास ॥ ३० ॥ उच्छमत्  
उद्युतम् ॥ ३१ ॥ केवलं परम्, पुरजनस्वीणा मण्डल प्रमप्रतासहितप्रस्फुरत्कनौनिकं विशदवत्तया सुन्दर  
नाभश्च किन्तु ककुभामपि चक्रबालं सप्रमादसविकासोडुक सिर्मलाकाशतया चैत्रोहर<sup>१</sup> समभवत् ॥ ३२ ॥  
भूमिर्वैः मध्यलोकोद्भवैः । दिविर्जैः ऊर्ध्वलोकोद्भवैश्च ॥ ३३ ॥ उदितकेतु उद्युतचक्रम्, उ अहो खण्डित-  
ध्वजं च ॥ ३४ ॥ द्योः सुरलोकः ॥ ३५ ॥ कोकिलध्वनिमञ्जुनादा ॥ ३७ ॥ वारिणि नियुक्तैर्वारिकैः ।  
वारिदैः मेघकुमारैः ॥ ३७ ॥ तेषां बन्धूनां मनोरथवधं सामिप्रायमार्गमतिगच्छन्तीति तन्मनोरथपथाशिगा  
सा बासो श्रीश्च तथा ॥ ३८ ॥ सहजदीधिति स्वभावकान्ति<sup>३</sup> ॥ ३९ ॥ चन्द्रिका कौमुदीम्पृष्ठ० ॥ ४० ॥  
सिंहासनस्थितम् । रभसेन वेगेन ॥ ४१ ॥ तत्त्वविषयम् ॥ ४२ ॥ त्वयि सति जगत् संशयविषययाकुलं  
यतस्तिष्ठते ( ति ) ॥ ४३ ॥ निशम्य आकर्ण्य । अघरस्वरहितं यथा भवति तथा ॥ ४४ ॥ सम्यगोक्षण-  
विषययो मिथ्यादर्शनं तत्र स्थितः । 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इति वचनात् ॥ ४५ ॥  
लोहकान्तमणिः पुम्बकविशेषः ॥ ४६ ॥ खल्व्वाटश्रीकलवत् ॥ ४७ ॥ संविनोति आदत्ते ॥ ४८ ॥ कर्म-  
बन्धनप्रतिकूलभूतया ॥ ४९ ॥ पापकार्यविरमणलक्षणम् ॥ ५० ॥ संगतं मिलितं, परस्परसापेक्षमित्यर्थः  
॥ ५१ ॥ उपाजितलक्षकम् ॥ ५२ ॥ अबुधैः अज्ञानिभिः सांख्यादिभिः । अनुष्ठितैः उपयुक्तैः ॥ ५३ ॥ त्वरयते

उत्तालयति ॥ ५४ ॥ ग्रहाय त्यक्त्वा ॥ ५५ ॥ उत्कटपुरद्वारम् ॥ ५६ ॥ पुरः प्र० अग्नेसरगमने ॥ ५७ ॥  
छप्रव्याजेन ॥ ५८ ॥ विकृत्य निर्वृत्य ॥ ५९ ॥ पुरःसरम् अग्नेसरम् ॥ ६० ॥ करभयात् भागधेयभीतेः  
॥ ६१ ॥ पतवध्रुनयनाः ॥ ६२ ॥ उपतस्थिरे प्रतिजगृहुः ॥ ६३ ॥ उपचितान् पुष्टान् ॥ ६४ ॥ संनिकुष्टं  
निकटस्थम् ॥ ६५ ॥ एतय समागत्य ॥ मागधः साध्यां बन्धो ॥ ६६ ॥ पर्युपास्त सेषयामास ॥ ६७ ॥  
पूर्वदक्षिणपश्चिमस्थितान् ॥ ६८ ॥ प्रभावोत्साहमन्त्रलक्षणाभिः ॥ पराभूतसूर्यभीतेः ॥ ६९ ॥ मयकृतशत्रु-  
पराक्रमः ॥ ७० ॥ द्वाविंशत्सहस्रमुनिमस्तकेषु ॥ ७१ ॥ विद्युच्चमत्कुतिपणवतिसहस्रमहिलामुलभ्रमरः  
॥ ७२ ॥ 'मन्दगामी तु मन्थरः', चतुष्टयेनाधिकान्यशीतिलक्षणि मानं येषां ते चतुष्ट०, ते च ते करिणश्च  
चतुष्टया०, मन्थराश्च ते चतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिणश्च मन्थर०, तेषां दानं तस्य कर्ममास्तेः ॥ ७३ ॥  
अष्टादशकोटिजात्यह्वैः ॥ ७४ ॥ आचिताः सम्भृताः ॥ ७५ ॥ सस्यसम्पदं धान्यद्विम् ॥ ७६ ॥ ईप्सितम् अभि-  
लषितम् ॥ ७७ ॥ अधिगम्य प्राप्य ॥ द्यावाम्भूमी तु रोदसी ॥ ७८ ॥ बहुरत्नसन्निभिः ॥ ७९ ॥ अक्षण्डम्  
अनूनम् ॥ कोदण्डं कार्मुकम् ॥ साभिलाप्यवकीयबन्धुलोकाम् ॥ ८० ॥ बिपणिबिहिताधिकशोभायाम् ॥ ८१ ॥  
गुणवान् तन्तुमान्, गुणयुक्तश्च ॥ अनिष्टः ॥ ८२ ॥ उदग्र० शिथिलितबन्धनम् ॥ अन्तरीयं परिधानम् ॥ ८३ ॥  
बिभ्रं मण्डनम् ॥ चित्रं चमत्कुतिम् ॥ ८४ ॥ परभागं शोभाम् ॥ अनधुनाना अप्राप्नुवती ॥ ८५ ॥ 'यावोऽ-  
लको द्रुमामयः' ॥ 'अतिरिक्तः समधिके' ॥ ८६ ॥ संहतः मिलितः ॥ उत्थि० ऊर्ध्वं कुर्वती ॥ ८७ ॥ अञ्जित-  
नयना ॥ सहास्यावलोकितः ॥ ईश्वरस्मरणहेतुताम् ॥ ८८ ॥ बन्धनरहिततया ॥ रसना कटिमेखला ॥ ८९ ॥  
चित्तभ्रंशम् ॥ संस्का० चित्तभ्रमः ॥ ९० ॥ विद्युत्कान्ताः ॥ विनि० स्थापित० ॥ ९१ ॥ क्षणचतुष्कं चतुर्थ-  
भूमिः वा क्षणेन चतुष्कं मङ्गलस्त्रीमिविरचितं स्वस्तिकम् ॥ ९२ ॥ चक्रिणा विसृजिताः ॥ ९३ ॥ निर्विशत्  
अनुभवन् ॥ ९४ ॥

इति चन्द्रग्रमचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

## अष्टमः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽक्रोन्मुनिः ।

म ध्रुवादिमुनिर्जायाच्छ्रद्धादिगुणभासिवाक् ॥

पदकमलनम्रस्य । लोकसमूहस्य । रक्षके चक्रिणि । पृथ्वी रक्षति सति । भ्रमराणाम् । विहिततन्म-  
करन्दास्वादानाम् । पट्किम् । हर्षयन् । वसन्तोऽजनिः ॥ १ ॥ अथुसहितैः । मनोहरैः । यैः नेत्रैः । कान्ता-  
स्थकास्तेः । वियोगिनः । वृक्षेषु । भ्रमराणाम् । नूतननूतमोद्भिदलीनम् । संहति वृन्दम् । अवलोकितुम् ।  
न समर्था बभूवुः ॥ २ ॥ अणी सूक्ष्मे । हे कामनिष्पादिनि । चम्पककरन्दे । पतति सति । प्रविदिलष्ट-  
मतिः । पथिकः । देवानाम् । नितम्बिनीमिव । मनोहरश्चरिणिम् । कामिनीम् । सस्मार । विधुरं तु प्रवि-  
श्लेषे ॥ ३ ॥ अलम् अतिशयेन । पापस्यामलं मधुञ्जतं दधती । नागकेसरवृक्षस्य कलिका कोरकः । भर्तु-  
शयनीयम् अप्राप्तानां कामिनीनां कामपीडां चकार ॥ ४ ॥ नाना मधुपुष्परसं भ्रजयन्ती कमलसंज्ञकं पुष्पं  
भक्षयन्ती भ्रमरावलितः । स्त्रीजनचित्तं मध्ये बिभेद । च पुनः । इतस्ततः कूजन्तः पिकाः । कामिनीजन-  
चित्तमभिनन्तु । अर्धवशाद्विभक्तिपरिणाम इति ॥ ५ ॥ आश्रयन्तं आदिकोशमवलोक्य पञ्चबाणबाणैरत्यर्थं  
विद्धा का नितम्बिनी भर्त्रा सह प्रेमकरं मेघुनं न चकार, अपि तु सर्वपि ॥ ६ ॥ वनभूमीनां शीतलो वायुः ।  
चलं स्त्रीजनं भर्तुस्थाननिमित्तमलमुत्कण्ठयन् । प्रविकसन्ती कमला आरये यस्य तत् प्रतिकसत्कमलवदनं कं  
किशलयं नृत्यरहितं चक्रे, न कमपि ॥ ७ ॥ अये पथिक, स्तब्धकेन गुच्छेन भ्रमः सैरेयकस्तव भवतः केन  
कारणेन तापकारी न । अतस्त्वं नो प्रावशः प्रीयितो भव । कोकिलध्वनिः पान्थं प्रति, इत्येदः, वचनं नाम्बधित

१. च प्रतिषेधे । २. च कि ।

न जगद्, अपि तु जगद् ॥ ८ ॥ भर्तुमिः सह यो मानोऽभवत् तमशक्तुवन् स्त्रीसमूहः कामसहायेन सहकार-  
मकरन्दकर्मुरेण वायुना प्रत्यबाध्यतापीडितः ॥ ९ ॥ पुष्पाङ्गलत्पुष्परसानुरागिणो मधुव्रता मिष्टा या बाणो-  
विस्तारयामासुः, विसदृशाभिराभिमोभिः प्रवासिनः संपूर्ण हृदयस्थं वस्तु प्रयोजनं हालाहलं संबभूव ॥ १० ॥  
तामि दिनानि समाश्रित्यानवरततपोनिष्ठानामपि यतीना वसन्तस्य पुष्पेष्बलोकि तेषु मानसं मनः प्रस्फुरत्कामम-  
जायत ॥ ११ ॥ मन्दकम्पितबकुलवनेन वायुना स्पृष्टशरीराणा कामिनीना मर्मादारहितं मनोहरं पञ्च-  
मनादेनोदपादि ॥ १२ ॥ अथ पञ्चभिः कुलकम् । भर्त्रा सह काचित् कामिनी खण्डा । तस्मानापसारणार्थं  
भर्त्रा काचिद् दूती प्रेषिता वदति हे वयस्ये त्वं समागच्छ । तदा सा प्राह—हे सखि, अहं, नागमिष्यामि ।  
त्वमाग्रहं मा भजस्व । यद् यस्मात् स दयितो मायाः कपटान् करोति<sup>१</sup> । तस्य वस्तुमनुचितत्वेऽपि प्राणसदु-  
द्यायास्तव भवत्याः पुरतः कथं गोप्यते अन्तर्द्धीयते । तेन तनु कृशमिदमङ्गकं शरीरम् । पुष्टि स्पूलत्व न  
तनुते ॥ १३ ॥ यत् तस्य मयि ममतापि नास्ति तेन ममेदं मानसं सतापि तापयुक्तम् । हे सखि, तत् तस्मात् ।  
अनेन तत्पमनेन मम दुःखप्रतीकारो मास्तु ॥ १४ ॥ मानकारणमाह—य. प्रियोऽराराकारेण दुर्जनैः तेन  
प्रणयिना साद्रे मुखलेशः कणोऽपि कः । तद् वय वरं श्रेष्ठं महिमानं कुर्वन्त, युक्तमेव मानं विदधोमहि ॥ १५ ॥  
हे सखि, अहं दुःखितापि प्रियं दयितं गन्तुं प्राप्तुं न यते न प्रयत्नवती भवामि । किमर्थं, धाम्नि गृह्णवासार्यम् ।  
किलक्षणं प्रिय, नियमं नियतं निश्चितम् इहाभिलाषो यस्य सः । ख, अप्रि० अनिष्टकरणे । किलक्षणाप-  
हम्, इत्याह अस्य मम वपुः शरीरस्य, किलक्षणस्य विधुरस्य विद्युक्तस्य तापहारि संतापनाशकं चन्दनजलं  
न, वा विधुश्चन्द्रोऽपि नास्तीति ॥ १६ ॥ इति या अन्यथा वसन्तं विहाय आस्त तस्यो । किलक्षणा, वचनानि  
वदन्ती वाक्यानि भाषमाणा । का, दूतिका प्रति । क इव महान् दन्ती इव । पुल्लिङ्गोदाहरणं मानिन्या  
मदनिरूपणार्थम्, दन्तिन्या मदाभावात् । मासवो वसन्तस्ता वसोऽकृतं ध्यधत्त । कस्य प्रियस्य । किलक्षणस्य,  
मधुरस्य मधु मिष्टं रीतीति मधुरस्तस्य मिष्टभाषिणः । पुन. किलक्षणस्य, धृता अवलम्बिता कामस्य धुरा  
येन स तस्य । अथवा महान् दन्ती इव वसन्तः शनैः समागत्य प्रियस्य वदो तामकृन्त ॥ १७ ॥ अथ काचित्  
मानिनी वसन्तोऽपि मानं विहाय प्रियं गन्तुमुद्यतमना दूती गत्वा प्राह—गच्छभैरमं तृण्यस्तादृशीकं (?)  
तथाविध. पटुः कार्यकरणचणा वयस्या सखी अकारि । यस्या मूर्तिर्मुखम् । ग्रहणतेरवगम्य मूर्तिरिषोत्सव-  
करी । कस्य, सज्जनस्य प्रियस्य । त्वा वृष्ट्वैव सज्जनः साद्रे भविष्यतीति भावः । किलक्षणस्य, सविका-  
सिनी प्रसरमाणा कला चातुर्थ्यं यस्य तस्य । पुन. किलक्षणस्य, सकलस्य समग्रस्य अद्य यावन् मा प्रति न  
द्रुष्टि इत्यर्थः । वा त्वं सकलस्य सविकासिकलस्य सज्जनस्य स्वसवन्धिन ॥ १८ ॥ हे आलि सखि, तत्  
तस्माद्, दयितं बल्लभं, प्रणय गत्वा, त्वम् उक्ताभिरभिलषिताभिवर्गिभिर्नगदः वदे । अत्रार्थान्तर-  
मुपपद्यते—यत् कार्यं, प्रियमनुकूलमेकवचो<sup>२</sup> येषां ते प्रियेकवचसस्तेषामिष्टभाषिणा, जायते उदरघते, तद्  
अपरस्याप्रियेकवचसः, किलक्षणस्य, असाम अत्रेभपरं वाक्यं तेन परस्य [अ] मिष्टस्य<sup>३</sup> न जायते । अतस्त्वया  
मिष्टमेव वाच्यमिति ॥ १९ ॥ हे सखि, अनेन कार्येण विधीयमानं, अहं तव सदा किकरी दासी भवामि ।  
त्वं मन्मनो मम चित्तं, प्रियतमस्य बल्लभस्यानयनेन, ह्लादय मोदय । किलक्षणं मन्मनः, सुरतं कामं व्यवायं  
कामयते इति सुरतकामि । पुनः किलक्षणं, सह दाहेन वतंते इति सदाहं दाहयुक्तम् । हे मृगोनयने, अत्र त्वं न  
समा, (इति) न, अपितु क्षमेव । वा मन्मनः प्रियतमानयनेन ह्लादय । अहं तव सदा किकरी न भवामि,  
अपि तु भवामि । अत्र त्वं क्षमा न, अपितु क्षमा असि ॥ २० ॥ हे मानिनि, मधुदिनानि मम मानसं तापयन्ति ।  
किलक्षणं, तान्तं किलष्टम् । कथं, नितान्तम् अतिशयेन । तत् त्वं दयितं मम दयमानं दया कुर्वाणं विधेहि ।  
किलक्षणं दयितं महोदयो मानो यस्य स तं गरिष्ठ उ (छो) दयमानयुक्तम् । कै साममिः । 'साम प्रेवपरं  
वाक्यं नैदानं वैतस्य बाणणम्' इति वचनात् ॥ २१ ॥ इति काचिद् दूतिका विनयेन जयो । किलक्षणा,  
उत्पलयोस्तुला [ सहे ] सादृश्यासहे नेत्रे यस्याः सा । पुनः किलक्षणा, रन्तुं श्रीडितुमुस्तुकमनाः उत्कण्ठ-  
हृदया । केन, नेत्रा भर्त्रा सह । किलक्षणेन विनयेन, येन भावि भविष्यत्काले, दुःखं क्लेशो न उद्भवति

१. व पटानुक्रोतु । २. व वचनो । ३. अ मिष्टस्य ।

संजायते ॥ २२ ॥ कुलकम् ॥ विरहिणीसंतापको वसन्तः पुनरुपबध्यते । अत्र वसन्ते का कामिनी न विन-  
नाश, अपितु सर्वापि । किलक्षणा, अता विद्या । कैः सायकैः बाणैः । कस्य, हृदं हृदयम् : काम एव शबरो  
मार्गलुष्टाकस्तस्य । पुनः किलक्षणा, संस्मरन्तो स्मरणं कुर्वन्ती । कस्य, वरस्य मर्तुः । किलक्षणस्य, प्रोवि-  
तस्य प्रवासिनः पुनः किलक्षणस्य, उपमारहितस्य । पुनः किलक्षणं, मधुमासस्यैवो हितो यस्यै—अहं मधु-  
मासे आगमिष्यामीति प्रतिज्ञावतः ॥ २३ ॥ पुनः किलक्षणाप्रं वसन्तः । यत्र बकुलानि, अबलाहसितानां  
कामिनीह्रास्यानां साम्यं सादृश्यं प्रापुः । कामिनीर्वसन्ते दुःखवतीर्दृष्ट्वा हसन्तोवेत्यर्थः ॥ किलक्षणानां,  
नोरिकजलवाहाः शरदधनास्तेरिव सितानां श्वेतानाम् । किलक्षणानि बकुलानि, प्रीणितानि तोषितानि  
सर्पनरसुराणां कुलानि यैस्तानि । पुनः किल० निठारमतिशयेन प्रोलसन्ति विकासयन्ति ॥ २४ ॥ कालिनी  
भ्रमरिणी, अरं नारमत, अपि तु अरमत । बव, काञ्चनारपुष्पे । किलक्षणे, द्युतिमतो भावो द्युतिमत्ता तया  
हेषिता लज्जाविषयोक्ता अमला विद्युद् येन तस्मिन् । पुनः किलक्षणा, मत्ता धूमं ( णं ) यन्ती । पुनः कि-  
लक्षणा, ध्वनि नादं कुर्वन्ती । कथम्, अतारम् अशरमन्दं मन्दम् । पुनः किलक्षणा, सरसा रसवती ॥ २५ ॥  
अथ पञ्चभिः कुलकम् । काचिद् दूतो दयितया प्रेषिता रुष्टमपि प्राणनाथं प्रति प्राह । हे नयकोविद, शशा-  
ङ्कस्य चन्द्रस्य कराः 'ता' भवत्प्राणयिनी विदहन्ति तापयन्ति । च पुनः । मन्मथश्च तां हन्ति । किलक्षणा ता,  
पीडितां बाधिताम् । केन, निजं च तन्मन्दच निजमनः तच्च तत् कमलं च निजमन. कमलं तेन । किलक्षणेन,  
त्वष्ट्रियोगाद्भूतं शोककमलं यत्र तत् तेन । शशाङ्कस्तु कमलं दहति । मन्मथोऽपि विद्योगयुक्तं मन इति कोविदेन  
भवता विचार्यमिति भावः ॥ २६ ॥ पुनर्दूतो प्राह । त्वं यदि तां बल्लभां पाप्मि त्रासि । अयं भवतो गुणः ।  
कथंभूता ताम् । शीतेन दम्बा चासी नलिनो च शीत० तया समो देहो यस्याः सा ताम् । पुनः किलक्षणा,  
च्युता गता विलासमय्योरीहा अभिलाषो यस्याः सा ताम् । वा अथवा । हे जितमनोभव, एवंविधमपि तां  
जितकामस्त्वं यदि न एसि तदा तोयं जलं देहि । मृताप किल असाञ्जलिर्दयितो इति भावः ॥ २७ ॥ पुनर्दूतो  
प्राह । हे सखे यो रतिपतेः कामस्य ह्युर्वर्षाणः । रजनीपु रात्रिपु सुभ्रवो वामलोचनाया हृदये प्रविश्य स्थैर्य-  
वान् स्थिरतरोऽग्रज । यद्येकवार भवान् मानयिष्यति तदा पुनर्नपराधिनी भविष्यतीत्यह । अनन प्रसिद्धेन  
तव संगमनेन संपर्कोऽप्युत्तो निष्कापितः स इपु सङ्गं पुन संभोगं न व्रजति । अथवा अनेन हृदयेन सङ्गं न  
व्रजति ॥ २८ ॥ तत् तस्मात् कारणात् हे मुभग सारमयस्य लोहमयत्वं संप्रदाय त्यक्त्वा गच्छ त्वं दयितं  
रमय । हे मन्मथ० मन्मथस्य कामस्य व्यसनं लुनातीति मन्मथव्यसनलावि तद् रहस्यं यस्य स तस्य संबोधने  
कामव्यसनानभिभूतहृदयं, हृत्पुवदना विरहस्य विद्योगस्य क्षमा समर्था न ॥ २९ ॥ इति दूतिकोक्तं विकामम्  
अतिशयेन सुधुवान् कोऽपि कामुकः । कोपयुक्ते मनसि तत्क्षणात् तत्कालं कामम् अभिलाषम् उपययो । केन  
परमेण दीर्घमानकलुषोपरमेण, मानमेव ( एव ) कलुषं पापं तस्योपशमेन ॥ ३० ॥ कुलकम् ॥ अथ वसन्तवै-  
भवमुच्यते । कणिकारं काञ्चनारकुमुमं तातं रिक्तमजनि । किलक्षणम्, अथवा प्रीतिभक्तं का तस्या जनिव-  
मन्तं ( अनितोऽन्तो— ) येन तत् । कस्मात्, चास्यन्वगुणतः मनोजपरिमलगुणात् । अत्र कारणमाह । सर्जने  
उत्पादने । अप्रतिमोद्वा ( हो ) असदृशविचारोऽपि विधिस्तस्य कणिकास्य युक्तघटना प्रति मोहो मूढोऽग्रजि ।  
रूपं दत्तं परिमलं ( लो ) न दत्तमिति ( दत्त इति ) विधाता विस्मृतः ॥ ३१ ॥ वृक्षपङ्क्तिरकामिन्या  
ओष्ठेन । मनोहरतोत्कृष्टपारधार्थकेन ( ण ) किशुकेन पलाशपुष्पेण । असौ समयो मधुः । शुशुभे चकासे ।  
असौ सङ्गे सखिासं मनोहरम् अयो लोह बिन्दुना जलेन इव ॥ ३२ ॥ शम० । संयमनाशकरेण भ्रमरिणी-  
समूहेषु गायनेषु जातवत्सु मरुत् शोभनलताना नर्तकोऽभूत् । कथंभूताना, पातुलस्य भावः पातुलता पुष्परेणु-  
भिः कृता पातुलता स्थूलता याता ताः तासाम् ॥ ३३ ॥ भवत् संज्ञातम् अशोकेशो बलं यस्य स तेन  
कन्तुना कामेन सकलो विरहो मृत्युना यमेन कञ्चलेन शालेन, अथवा अकञ्चलेन युगपद् एकवारमित्यर्थः, ग्रस्यते  
स्म । किलक्षणा विरहो, प्रमदायाः संस्मरन् । किलक्षणायाः, अकम्पो निवृत्तलो मदो यस्याः सा तस्याः  
॥ ३४ ॥ यो विरहिणोसमुद्ययः प्राग् वसन्तात् पूर्वमतीव समुदा हर्षेण मनसा तद्विषयान् स माधवेऽतिदुःख-

१. च ध्वनिनादम् । २. च ' ' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ३. जं दयः ।

श्वासी मनोभयवच तेन हूनः कदचितः सुखितया सुखित्वेन ऊनो रिक्तोऽभवत् ॥ ३५ ॥ अथ काचिद् दूतिका  
 रुदन्ती गतमर्तुका प्रति प्राह । हे आलि कामशोक० कामाज्जातो यः शोकः स एव जलविस्तस्माद्वि-  
 तान्मुत्पन्नानि सततं रुदितानि संहर । यतोऽमुकम् अत्यक्तं धैर्यं धीरत्वमापदामसनक्षमं निराकरणसमर्थमुक्तं  
 भाषितम् । कथंभूतं धैर्यम्, आपदामसनं क्षेपणं तत्र क्षमं समर्थम् ॥ ३६ ॥ तत्र प्रेयसा यो वसन्तोऽवधिरकारि  
 स भर्ता तमतिवर्तितुमलं नेत्यर्थः । किलक्षणो वसन्तः, यत्र निजगुणं स्वगुणं सन्त इव शाखिनो वृक्षा अप-  
 कामैर्मिलद्विष्टभिर्जनानां लोकानां मनोरमस्य लाभो येऽवस्तानिति । कुमुदैर्भान्ति ॥ ३७ ॥ तं समयं मधु-  
 मतिवर्तितुमतिक्रम्युक्तम् उत्सुकः । स तत्र भर्ता अलं समर्थो न । केन चेतसा । किलक्षणेन विप्रयोगेन कृशा  
 चासौ दाराश्च तदर्थं हितेन । पुनः किलक्षणेन, कठिनता स्तब्धता ( तथा ) रहितेन । किलक्षणं समयं विकासं  
 प्रकाशमयन्तं गच्छन्तम् ॥ ३८ ॥ युग्मम् ॥ हे आलि तदिदं वपुर्नियमेन रक्ष । यमेनातद्धूतं लघ्वी हानि-  
 'यस्य तल्लघुहानि' शीघ्रनक्षत्रं मा विधेहि । त्वं तेन सहात्पदिवसे रस्यसे । यत् स भर्ता त्वद्व्यविरहं न  
 सहते ॥ ३९ ॥ आल्या काचनेति हितं यथा भवति तथा अगदे । किलक्षणा काचन, मन्दा दीर्घसंस्था सा  
 मन्ददीर्घाः । अनुवावहं ( हो ) मानं ( नो ) यस्याः सा अनुवावहमाना । पुनः किलक्षणा, जोषिते शिष्य-  
 लतां बहमाना । पुनरपि किलक्षणा, दूरदिशि पतियस्याः सा । अपोहितं त्यक्तं माल्यं यया सा अपोहितमाल्या  
 ॥ कुलकम् ॥ ४० ॥ कश्चित् कामी कामानलभिततो मानिनी चाटुमिर्मानयन्प्राह । हे मुञ्च त्वं 'भ्रुकुटीना  
 दाक्षणा कर्कशा विरचना कुटीना साम्यमावहति, पक्षे दाक्षणा काष्ठेन । प्रियमे मे यदि दास्यं धारयति सति  
 तवास्थं कोपनं कोपयुक्तं किमिति' जातवत् ॥ ४१ ॥ तथा हे सुभ्रु तव रतेन व्यवसायेन विना मे का धृति-  
 स्तोषः । अहं तव विनामे प्रह्वीभावे मोक्षताञ्जलिं । भवतो अमाने मयि नममानं वृष्य मानं किं तनोति  
 ॥ ४२ ॥ तथा हे सुभ्रु नभोवशाकाशवदनन्ते कान्तिजले मग्नं कमलसदृशम् । जाय० उत्पद्यमानानेकविभ्रम-  
 रोहं ते वदनं पातुं लेहं सादरमवलोकितुमित्यर्थः । अहं भ्रमर इवोत्सुकोऽस्मि ॥ ४३ ॥ हे सुतनु अनेन मद-  
 नेनानिर्वाह्यमानं ममनो भीमद्वर्तते । हे गोचरतरस्तति स्थूलपयोधरे । यः क्रोडस्य ततोर्भावस्तन्मा  
 तं कृशत्वम् । त्यज मानं मुञ्च ॥ ४४ ॥ इत्थं दयितेन भर्ता उदिता भाषिता काचिग तेन साट्टम् उदयि  
 उदयोपेतं प्रेम स्नेहमकृतम् । अत्राश्रितरमुपयस्यते । बुधेः पण्डिते रचितानि रसभारेण चित्तानि संभूतानि  
 वचांसि कं न प्रीणयन्ति, अपि तु सर्वमपि ॥ ४५ ॥ कुलकम् ॥ इत्थं विलसति वसन्ते । भानुहिमवन्तमवल-  
 माप । कथंभूतं, कन्दरामु दरोप अनुकृताहि मर्पमदृशं ध्वान्तं तमोनिर्वायमगतं रक्षन्तम् । यो हिमवान् शशीत्र  
 शुद्धा नदा यस्यां ता तस्यां वसन् धनदो यस्यां ता तस्यां दिशि भाति राजते । ४६ ॥ तत्र वसन्ते लीनं पट्टपद्माना  
 कुलं यस्यां सा लीनः । तिलैरिष काली श्यामला तिलकालो तिलपर्णान्तरिक्षासमगमत् तेन गतहृषेण मनसा  
 मानिनी उदारं कामतापमगमत् गतवती ॥ ४७ ॥ तत्र वसन्तेऽल्यो भ्रमरा अलस्या साकं सततं रागकारि  
 कमलिन्या मधु पुष्परसं निषेधयानि ध्वनितानि चक्रुः तानि सति ( निरास्य ) अध्वनि के यदन्तं केऽपीत्यर्थः  
 ॥ ४८ ॥ तत्र जनेन परिवारेण शीतला इति जात्वा सजलतालवन्नेन पातित्वा आनो जलानि जातविरहो  
 निष्पन्नविद्योगोऽतनुतापो बहुलक्लेशयुक्तः कं पुमान् क्वाधिताम्बु० उत्पवालिजलसमानानि नातनुत, अपि  
 तु उत्पन्नतापो विद्योगो तापस्फोटनार्थं परिवारेण व्यजनेन क्षिप्ता आप उत्पन्नजलसदृशं अकरोदित्यर्थः  
 ॥ ४९ ॥ असमन्तानि असदृशानि युक्तं पञ्चलण्डं कमलवनम् अविकामं विकासरहितं वीक्ष्य अवलोकेष्व जात-  
 रूढिष उत्पन्नरोष इव तिग्मगुः सूर्यः । अहानि दिनानि अहिमानि उष्णानि विहितवान् अकरोत् । उचितमेतत् ।  
 भास्वतं हृदयं मानि नहि, ( इति ) न, मान्येव ॥ ५० ॥ अल्यो भ्रमरा भ्रमरिण्या साट्टं रागोत्सादकं कम-  
 लिन्याः पुष्परसं सततं निषेधयानि शब्दितानि चक्रुस्तानि श्रद्धा के पक्षिका अध्वनि पथि ययुः, अपि तु  
 न केऽपि । मधुकरी० अलिनीवाचालितदिशि । व्याजृम्भिते विस्फूर्जते । कामसहजवन्वी । विश्रब्धं सहसा  
 ॥ ५१ ॥ परभूतं कांकिलशब्दितव्याजेन । प्रादुर्भवन्ती तिलकपत्रविशेषसोभा यत्र सा ताम् । सीमन्ति०

१. अ ' ' इति चित्वात्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । २. अ ' ' इति चित्वात्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते ।



कामिनीव । कर्बुमा सीमन्तिनी, प्रादुर्भवन्ती तिलकपत्रैर्विषेधोभा यस्यां वा ॥ ५२ ॥ संक्षय-  
यामि मानयामि ॥ ५३ ॥ ह्रीतो लज्जितः । व्यवस्येत् उद्यमेत । स्मरनिवासवन्तौ नितम्बवच तं वृश्चति  
स्पृशतोति ॥ ५४ ॥ आनतमात्रि ( आनतमात्रि ) अवनताङ्गे ॥ ५५ ॥ मुकुलमालं कोश ( व ) कवचम्  
॥ ५६ ॥ त्वच्छिष्यभावेन गमनस्पृहालु न जनिष्यते ॥ ५७ ॥ नवप्रवालसंनिभे । स्मेरम् ईषदास्वोपेतम्  
॥ ५८ ॥ प्रतिवृत्त्यमानः अमिभूयमान । नः अस्मान् न तिरस्करिष्यति ॥ ५९ ॥ सज्जीकृतपदयुगा ॥ ६० ॥  
रद्वेसि एकान्ते । 'वनक्रीडागमनडिण्डिमम् । आदिष्टवान् ॥ ६१ ॥ सजलजलधरशङ्खमनसः ।' श्लोम  
आकाशम् । व्याप्नोति स्म ॥ ६२ ॥

इति चन्द्रप्रमकाव्यपञ्चिकायामष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

## नवमः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।

स श्रुतादिमुनिर्जीयान् प्रवादिगुणभासिवाक् ॥

मयना वसन्तेन मयेन च । विभ्रमः पक्षिभ्रमणं भ्रूविधेयश्च ॥ १ ॥ ललितं निबिडतमक ( चू )  
पङ्कतलाः, पक्षे साण्डतमालोपेताः । द्विजाः दन्ताः पक्षिणश्च । तिलकं पुण्ड्रौ ( ण्ड ) कं वृक्षभेदश्च ॥ २ ॥  
काञ्चो कटिमेखला ॥ ३ ॥ अलसगतिप आलस्यगमनेषु । गुरुः गरिष्ठः, उपाध्यायश्च ॥ ४ ॥ उभयतः ।  
इतस्ततः । व्यतिकर्णिणः मिश्रितस्य ॥ ५ ॥ मृगे मानिनि ॥ ६ ॥ पयोधरास्तारले स्तनमध्ये ॥ ७ ॥ बिफला  
कृया ( क्रिया ) यस्य तद् विफलक्रियम् ॥ ८ ॥ किसलयभासि पल्लवप्रभम् ॥ ९ ॥ क्षीघ्रं गन्तुमिच्छन्तां ।  
जघनयोर्महामरेण विघ्नो जातो यत्र तज्जघनः ॥ १० ॥ अथ पञ्चभिः संबन्धः । सकृत् एकवारम् । अबुं  
अशान्तिर्वेन । ततो निवर्तनम् ॥ ११ ॥ विरमति निवर्तते । नेतुमिच्छन्ता निनीषणा ॥ १२ ॥ शरीरलतायाः ।  
सयकारणम् । आधि मानस ( सी ) व्यवहाम् ॥ १३ ॥ क्रियादौ कार्यारम्भे चेतः स्थिरं यथा तथाङ्गीकृत-  
निर्वहणे स्थिरं न भवति ॥ १४ ॥ निराकृतमानकूटा ॥ १५ ॥ अंसयोः पृष्ठं तेन प्रगमिषी च पाणे च ताभ्यां  
वृत्तं त्रियाकुचाग्रं येन सः ॥ १६ ॥ कुतः कृतकामस्वरम् । अपदेशान् व्याजात् ॥ १७ ॥ मनसि शयः  
कामः । पुरः प्रयाताश्च ते क्षितिपतयश्च पुरः ० तैः सेवितः कृत्रिमाद्रियेन ( यंत्र ) सत् ॥ १८ ॥ अनङ्गी-  
कृतनयनद्वयसंपदाः ॥ १९ ॥ जरठं पुराणपत्रसमूहे ॥ २० ॥ प्रतीपपत्न्याः सपत्न्याः ॥ २१ ॥ बिटपिनि  
वृक्षे । तुङ्गम् उर्व्वस्वरम् । भुज्युगमूलं कक्षां । द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा ॥ २२ ॥ उत्तमाङ्गे शिरसि ॥ २३ ॥  
सुदति शोभनदन्ते । परभागं वर्णम् ॥ २४ ॥ कमनीयं सुन्दरम् । भावकृतः परिणामजनितः । विभागः  
सदसद्विभजनम् ॥ २५ ॥ अवचितं चुपितम् ॥ २६ ॥ ममज्ज ततार । सज्जीकृतः विद्यमानकृतः ॥ २७ ॥  
आहिता आरोपिताः आस्वापिताः ॥ २८ ॥ नृपतोयाः अपसारितजलाः ॥ २९ ॥ अकलुषं स्वच्छम् । अन्तरा  
मध्ये । अनुबधन्न् अनुपतन् ॥ ३० ॥ शिलीमुखः भ्रमराः ॥ ३१ ॥ अपहृतवसनाः अपसारितान्तरिभाः  
॥ ३२ ॥ नाभिदधन् नाभिप्रमाणे । तरण्डकं प्लवः ॥ ३३ ॥ विमुग्धा अनभिज्ञा । संबभूवे संजनितम्  
॥ ३४ ॥ अनवन्तुवाना अशान्त्वतो ॥ ३५ ॥ अति ( नि ) संपत् संमुखमभिपतन् । मधु पुष्परसम् ॥ ३६ ॥  
अनभिमुखी पराम् ( इ मु ) क्षाम् । समनुनयन् प्रसादयन् । चाटुकारान् त्रियवचनानि ॥ ३७ ॥ शकरी  
यस्ती ॥ ३८ ॥ अंसविलम्बि ( म्बी ) स्कन्धाधारीकृतः ॥ ३९ ॥ शाठ्यात् जाड्यात् । अविदिततत्त्वः  
अपरिज्ञातरहस्यः ॥ ४० ॥ सपत्न्याः प्रतिपत्न्याः । अवबोत् तर्जयति स्म । परिमङ्गुरैः सभ्रुकुटिबर्कैः ॥ ४१ ॥

१. 'च' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । २. च पुण्डरी । ३. च. °च्छता । ४. च ऋचः ।

५. च 'प्रतिपत्न्या' इति नोपलभ्यते ।

अनुमन्तो म्लानि यता । दरम् ईषत् ॥ ४२ ॥ विदधति धारयन्ति । विविधवृत्ति क्रयविक्रयशेषं गृहीत्वा  
वितरणमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ जलात्मकानां द्रव्यरूपाणां, पक्षे जडतायुक्तानाम् ॥ ४४ ॥ शिलीमुखेन अमरेण-  
मुकुर्वती अनुविदधती ॥ ४५ ॥ विगाढैः विलोडितैः ॥ ४६ ॥ चिरं नि० चिरं स्थित्वा ॥ ४७ ॥ बिचक्रुः  
आकर्षन्ति स्म । भुजङ्गवृत्ति विटत्वम् ॥ ४८ ॥ अतिरिच्यमानं समधिकम् ॥ ४९ ॥ प्रतियुक्ते सप्तत्याः ।  
॥ ५० ॥ कवर्याः केशबन्धनतः ॥ ५१ ॥ कृष्णपद्मं । नीलोत्पलैः ॥ ५२ ॥ ममूः समान्तिस्म ॥ ५३ ॥  
कुतकुतकः जनितकपटः ॥ ५४ ॥ चलशकरीतरला मत्सी (?) ॥ ५५ ॥ वनजवनं कमलवनम् ॥ ५६ ॥  
स्तनपरि० स्तनस्पर्शनसामिलाया ॥ ५७ ॥ अनुपुलिनम् अनुवटम् । खवणपदेन निश्च्योतनव्याजेन ॥ ५८ ॥  
प्रस्यं सानुम् । अम्भोधराच्चा गगनमार्गः । त्यक्तजलक्रीडाविशेषः ॥ ५९ ॥

इति चन्द्रप्रमकाव्यपञ्जिकायां नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

### दशमः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।

स ध्रुवादिमुनिर्जीवाच्छ्रद्धा'दिगुणमासिवाक् ॥

उदयाः तेजोऽभिवृद्धयः । निरत्ययाः निरपाया । अविशिन्धिये अधिजग्मे ॥ १ ॥ नयनप्रास्ताः  
कटाक्षाः ॥ २ ॥ वल्लभ भर्ता ॥ ३ ॥ कुच्छ्रगत कष्टगतः, आपद्गतश्च ॥ ४ ॥ अन्तरधोयत अतिरो-  
धीयत ॥ ५ ॥ विधिरेव दैवमेव ननु सहायादि । अम्यभूयत तिरस्कृतः ॥ ६ ॥ मलिनैः इयामलैः सपापैश्च  
॥ ७ ॥ दीप्तरेव अवदातशब्दे । मोडं कुलाय । प्रविलापं परिदेवनञ्चरिम् ॥ ८ ॥ विध्वंसभायात् विप्ल-  
वत्रासात् ॥ ९ ॥ अम्बरे गगने ॥ १० ॥ सदसत्प्रसंगजाः शुभाशुभसंसर्गजनिता ॥ ११ ॥ परिवृत्तिम्  
आल्लिकक्रियाः । सकाशादन्यथावृत्ति वेष्टनोद्घेष्टनवत् ॥ १२ ॥ कुतजज्ञां कुतोपकाराविस्मरणत्वम् । इमाय  
गतः ॥ १३ ॥ अपरज्यते विरक्तो भवति ॥ १४ ॥ विवरेषु मध्येषु । शान्तलवा । अन्धकारलेशा ॥ १५ ॥  
आर्तनिःस्वनैः सकृद्विनिमिः । बहलं प्रचुरम् । मयो कञ्जलम् ॥ १६ ॥ विसतन्तुः मृग(पाल) सूत्रम्  
॥ १७ ॥ अलकाः चूणकुन्तला । बलिम'दृश पूर्वस्याः ॥ १८ ॥ तिरोहितं प्रच्छादितम् ॥ १९ ॥  
आजिघांसुना हन्तुमिच्छुना ॥ २० ॥ घनवीधिरथम् आकाशबाहनम् । परदारग्रहणोत्पन्नात् ॥ २१ ॥ अद्वय-  
दन्वकारप्रावरणम् । सुरतस्थां ग्राम्यधर्मवतीम् ॥ २२ ॥ घटना निगति । स्फुटीकृतं व्यक्तोक्तम् । चन्द्रस्य  
किल कुबलयैः प्रयोजनाभावाद् नि कारणबन्धत्वम् ॥ २३ ॥ न्यलोपत उपविष्टम् ॥ २४ ॥ अपनीतम्  
अपाकृतम् ॥ २५ ॥ कौटिलिखलम् । अद्यतनो ॥ २६ ॥ प्रसर्पति विस्तृते ॥ २७ ॥ अन्वजातिना  
बाणहलेन । परिमृष्टा स्पृष्टा । घनव० आकाशमार्गे ॥ २८ ॥ नगा पर्वता । चन्द्रस्यात्रात्पकालोदयत्वं  
शान्तप्रतापत्वं च ॥ २९ ॥ उदयमारुणं कुम्भतरक्तम् । आपीड शैलम् ॥ ३० ॥ सुलि मुखयुक्तम् ।  
मिथुनं युगलम् ॥ ३१ ॥ उद्धरतिस्म निष्काशयामास ॥ ३२ ॥ काण्डपटं यवनिका-प्रच्छादनवस्त्रम् । 'कुट्टि-  
मोऽस्त्री निबद्धा भू' ॥ ३३ ॥ मृच्छाकपटेन 'मृच्छां पिततमः प्रायः' इति वचनात् ॥ ३४ ॥ मामुरीमवत्  
देदीप्यमानम् । अनन्यायः (?) । 'बाल्मना क्वालिते तैले धूते वा कुत्रचिद् यथा । शीततोयच्छटापातः प्रति-  
प्रक्षालनं भवेत् ॥ ३५ ॥ रजसा परागैर्न-कुसुमरेणुना । निर्यत्पुलका रोमाञ्चवती ॥ ३६ ॥ त्वरमाणचेतसाम्  
उत्तालहृदयानाम् ॥ ३७ ॥ स्मरस्य सामर्थ्यसंपत्तेः । 'बन्धासबाभ्यां रमणोजनेभ्यः' इति आधितात् ॥ ३८ ॥  
अतः शक्तिः सामर्थ्यम् । हरिणाङ्गाभिगमे चन्द्रायमने ॥ ३९ ॥ विमावर्षाः रात्रेः प्रकाशने सद्योपयोगः कुम्-

विन्मां निरपेक्षोपकारः ॥४०॥ परिणामिनि <sup>१</sup>कालवृद्धिगते । विविक्तं विजयम् ॥४१॥ पुलकैः रोमाञ्चैः ।  
पोमतां स्फुल्लम् ॥४२॥ प्रतिकूलं क्षणं प्रतीकं ( वं ) कालविदम्बनम् । शासनम् आज्ञा ॥४३॥ अरविन्दामुज्ज-  
लितनेत्राणाम् । नया राज्ञी किल कमलं च मुकुलितम् । छन्नमिथाननैः ऊर्ध्वार्कितमुलैः ॥४४॥ विपरीततया  
कामस्य प्रतिकूलाचरणेन ॥४५॥ अमिमोत अनुमानेन अबुधत् ॥४६॥ बुधने बध्नसंयोगकरणे । सहसा  
षोभन् । आसंजयति स्म व्यापारयति स्म परिरम्भमकरोदित्यर्थः ॥४७॥ करताडनं करशब्देन करजातस्ताडनं  
प्रहतिः । परिरम्भः कराभ्यामालिङ्गनम् । दक्षच्छब्दः अक्षरः ॥४८॥ जनवकाशोः अवकाशं मध्यवसतिम-  
प्राप्नुवद्भिः ॥४९॥ परिरम्भेण गाढालिङ्गनेन । अजीगमत् विलम्बयति स्म ॥५०॥ समीयुषे दीर्घकालगताय  
॥५१॥ परिरेभे आलिलिङ्ग ॥५२॥ सचिवत्वं सहायत्वम् ॥५३॥ असंभवन् अवकाशमलभमानः ॥५४॥  
परिरम्भुम् आश्लिष्टु दृढबन्धहस्ताभ्यां संपुटीकरणं यथा भवति ॥५५॥ परिहान्त्य कषायरहितां प्रियवास्यै-  
विधाय । व्यविध्यपत् विध्यापयतिस्म ॥५६॥ परितस्थे <sup>३</sup> उपरिस्थितम् ॥५७॥ वामं प्रतिकूलम् ॥५८॥  
अतिमानसंस्तवात् <sup>४</sup> गाढालिङ्गनात् पुनः पुनः परित्यागात् । अणितैः रतिकूजितैः ॥५९॥ घुरतेषु मैयुनेषु  
॥६०॥ रतीसवे मैयुनामन्दे ॥६१॥ प्रलुभ्य एकहेलया शब्दयित्वा । अणं कवित्कालम् । विभ्रान्तिं  
विरामम् । सूताः बन्दिनः ॥६२॥ विकीर्णं विस्तृतम् ॥६३॥ केशकलापमध्ये <sup>५</sup> रेखा सीमन्तः ॥६४॥  
ब्रह्माण्डप्रसृतं सकलजगद्व्याप्तम् ॥६५॥ रथाङ्गयुग्मं शक्रवाकयुगलम् । वक्षोजद्वयं स्तनयुग्मम् ॥६६॥  
धर्माशोः सूर्यस्य । प्रणुन्नम् अपसारितम् । वृत्तिं पुनरागमनाय वर्तनम् । अनुशीलता <sup>६</sup> भवच्छत्रुभिः सादृश्यम्  
॥६७॥ प्रत्यूषः बहुमुखम् । परिष्कृताङ्गाः भूषितशरीराः ॥६८॥ पाथेयं शम्बलम् । गरिष्ठवियोगमार्गम-  
नाय ॥६९॥ अनपायिना अनश्वरेण ॥७०॥ नियतं निश्चितम् । अमङ्गलं मरणम् ॥७१॥ निजविस्तेः  
स्वसन्धैः । निशांतं प्रातः । ताम्रचूटः समरः कुक्कुटः ॥७२॥ कल्पयामि सहजं न विभावयामि ॥७३॥  
विवृत्य पराङ्मुखोभूय । अनुनयविषयां विधाय ॥७४॥ सतीनां हयानाम् । रुचिरं सुन्दरम् । प्रतीक्षां  
'कालविलम्बम् ॥७५॥ रोचिष्मन् सूर्यः ॥७६॥ प्रबोधं निद्राशयम् ॥७७॥ तपने सूर्ये ॥७८॥  
अभ्युज्जिह्रासोः शिखरं त्यक्त्वानन्तरं <sup>७</sup> गन्तुमिच्छोः ॥७९॥

इति चन्द्रप्रभकाम्यपञ्जिकायां दशमः सर्गः ॥ १० ॥

## एकादशः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।  
स ध्रुवादिसुनिर्जोयाच्छ्रुत्वादिगुणमासिवाक् ॥  
सच्छ्रुत्वादिगुणैर्युक्तस्तपसां निधिस्तु मे ।  
प्रकाशयामास मुनिः सर्वशास्त्राणि स श्रिये ॥

विशां प्रजानाम् । अविश्रिये अघितस्थौ । कलि ( त्वि ) त० आरोपितविहासनम् ॥ १ ॥ सर्वे  
च तेऽवसादाश्च कार्यविशेषास्तत्साधनार्थं व्यवस्थितं विहासमाकृतं वा स्नानविलेपनाद्यनन्तरं तत्रोपविष्टं वा ।  
प्रधानदोषारिक० प्रधाना <sup>१</sup> विशिष्टाश्च ते द्वारिनिमुक्ताश्च तैः सूचितो निवेदित आगम आगमनं येषां ते तथा ।  
आश्लिष्टचुम्बितशिखरेण मौलिना किरीटेन ॥ २ ॥ प्रतीहारः द्वारपालः । यथायथं स्वोचितस्थाने । समाजिरे  
प्राङ्गणे ॥ ३ ॥ अनल्पसर्वं प्रचुरोत्साहबलम् । गुरुवंश० गरिष्ठान्वयशोभमानं, पक्षे पृष्ठास्थि० । प्रलम्बहस्तम्  
आजानुकरं, ( पक्षे ) लम्बशुष्पवण्डम् । कुतूहलात् कौतुकात् । अचूचदत् प्रेरयामास । धीरनरान् सुबट-

१. च 'काल' इति नास्ति । २. च 'वत' । ३. च 'परितस्थे' इति नास्ति । ४. च 'संसृपात्' । ५. अ  
मध्यं । ६. च 'शीलिता' । ७. च इति बिल्लान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ८. च श्रिये । ९. च प्रधान ।

पुष्पात् ॥ ४ ॥ समुपेत्यै प्राप्य । घोरधीः निष्कम्पमानाः । जघान ताडयामास । घनपीबरे विलहसूके ।  
जवेन वेगेन । आरया लोहसूक्ष्मविशेषेण ॥ ५ ॥ निवृत्य परिवृत्य । प्रधावति ढोकेते । निपत्य प्राप्य ।  
स्फूलकोष्ठेन घातम् ॥ ६ ॥ विभीषमानः स्वेदं प्राप्यमाणः । शासनदो जातः ( शासनाद् अजातः ) । कुव-  
क्रियैः विहितसमयचितप्रधानैः । प्रधावितुं प्रकलपितुम् । उद्यतः सोद्यमः ॥ ७ ॥ गृहागतं करान्तःपतितम् ।  
समस्तकालयतिस्म उच्छात्य पातयामास । व्यमुद्यत विमुक्तसर्वावयवोऽभूत् ॥ ८ ॥ बिलोन्तं विलयं प्राप्तम् ।  
निर्वेदं वैराग्यम् ॥ ९ ॥ 'भगवतः संसाररन्ध्रस्थितानाम् । अशास्वती विनश्वरोम् ॥ १० ॥ गदेन व्याधिता ।  
अशानिना मेघोत्पातेन । कटाक्ष्यते वक्रं निरोक्ष्यते ॥ ११ ॥ जालवतं ध्रुवम् । प्रमोहः मोहनीयोदयाद्भ्रान्तिः' ३  
॥ १२ ॥ परहिते । 'पहस्पारयंपमोऽब्दे पूर्वं पूर्वतरे यति' ४ । कर्तव्यं करणोयम् । आसन्नं निकटम् ॥ १३ ॥  
असंभृतात् अनिष्टात् । बिलोन्मयमान वञ्च्यमानः । आमिषं भोज्यविशेषः । अकर्तव्यं मद्भिर्निषिद्धम् ॥ १४ ॥  
नयनाम्नं ( न्तः ) कटाक्षः । सहसितुं युगपत्स्थातुम् । वज्रहविर्भुजं वज्राग्नेः । जये विजृम्भणे ५ ॥ १५ ॥  
विलेख्यते विन्धोयते । कालमरीचिमालिनः यमसूयस्य ॥ १६ ॥ विहास्यन्ति त्यजन्ति । बद्धा गाढोक्ता  
धर्मद्विषु द्वयसंपत्तिषु वृद्धिर्येते । चूतावनिजम् आसवृतम् । जिहास्य त्यक्तुमिच्छव ॥ १७ ॥ प्रपित्सु  
पतनाकाशि । निषयाः पुत्रादयः । नष्ट [ नष्ट ] गन्तुम् । असमर्थम् ॥ १८ ॥ कथायाः क्रोधादयः सारान्वयमा-  
वि दृढकाष्ठानि तैर्बद्धा रचिता पट्टितश्चतुर्गतिपङ्क्तिर्न सः । उत्तुङ्गतर उच्चैःशिखः ॥ १९ ॥ दुरात्मकात्  
बुद्धस्वभावात् । भवात् संसारात् । अनर्थाः निष्प्रयोजनाः । उत्थातमूल । सः भव । अहेतुकाः कारणरहिताः  
॥ २० ॥ सरागतां विषयैकतानत्वम् । तद्विपरीतेषु वैराग्येषु भावना निरन्तरं चिन्तनं यस्य सः । वारिदे मेघे ।  
अलं समर्थः । अम्बरं गगनम् ॥ २१ ॥ चराचरे जङ्गमस्वाचरे । अमोर्जि भुक्तम् । पराङ्मुखः पराधीनः ।  
मोक्षसाधनात् रत्नत्रयात् ॥ २२ ॥ दुरन्ताः दुरवसानाः । योगीषु वृद्धिम् । लेश कण । उपरुद्धि प्ररोहम् ।  
संसारबल्लीम् ॥ २३ ॥ मलिनस्य मलीमसस्य । हिते रत्नत्रये । विज्ञाप्रति मावधाना भवन्ति ॥ २४ ॥  
आगन्तुकदुःखं नारकादि पर्यायाः । ससारसूक्ष्मम् । यत् यदा । 'विषयुक्तस्य मिश्रितस्य ॥ २५ ॥ विबन्धकान्  
प्रतिरोधकान्' ६ । वरीतुमिच्छो विधातुमनसः । विबन्धुं प्रतिरोधुं ( 'ड' ) । परः प्रतिकूल ॥ २६ ॥ वणं  
नाशम् । स्वकर्मणां ज्ञानावरणादीना प्रकृतो. स्वभावात् । सिद्धिभागिनः मुक्तिसाधनोद्यतस्य ॥ २७ ॥  
कदाचिन् पीडाविधायिनीः । प्रशान्ति भोगोपरतिम् । क्लेशं दुःखम् । परम् अन्यत् ॥ २८ ॥ विवेकिन  
चिदचिद्विभागं कृत्वा आत्मध्यायिनः । जन्मनः ससाराद् [ वि- ] पत्तयो नारकादियप्यात्मोपयो भोलुका ।  
निरापदा सिद्धानाम् । अनोक्तं चक्रम् । ईशते प्रोत्सहन्ते ॥ २९ ॥ निवृत्तितात्वा व्यावृत्तचेता । चतुर विवेकी ।  
हितं मुक्तिस्तत्कारणं च ॥ ३० ॥ गुणप्रभसक्तम् । सवृन्दं ससङ्गम् । मिथ्याज्ञानान्धकारभानुम् । उद्यान-  
चरात् वनपालात् ॥ ३१ ॥ निशम्य आकर्ण्य । तस्थुपः समासीनस्य । अन्युदस्थात् उत्तस्थो । कृतो पुण्य-  
वान् । कृतकृत्य ॥ ३२ ॥ निरित्य निर्गत्य । तद्वाम मुनिस्थानम् । समं सार्द्धम् । समन्वितं. तन्मयभावं  
गतं ॥ ३३ ॥ गतस्य प्राप्तस्य । तस्य मुने । अवलोकयामास । कः परमात्मा समुत् परमानन्दैकस्वभाव-  
स्तत्र चेतो यस्य स तस्य । विविकं विजनम् । अव्यन्तम् अतिशयेन । स्त्रीपणूक्लोवादिभिरित्यर्थः । अजन्तुकं  
जन्तुमि ध्रुद्रजोवै रहितम् । आश्रमं स्थानम् । प्रिया तपोजनितयोगया ॥ ३४ ॥ गृहीतयोग स्वीकृतध्यानम् ।  
आतपे सूर्यप्रतापप्रकाशे स्थितम् उद्भूतम् । दिवाकरस्य सूर्यस्याशबो मयूखास्तेषा प्रकारः समूहस्तेनैकलक्ष्यताम-  
तिशयवन्मयताम् । उन्मूलितः समुत्पाटितो मोहविद्धि येन स तम् ॥ ३५ ॥ प्रभावनाया जिनमार्गप्रकाशने ।  
समुद्यतम् उद्यमयुक्तम् । ऐतत् व्यलोकित ॥ ३६ ॥ उज्ज्वलात्मभिः निर्मलस्वभावाः । प्रवादिन एव  
अद्योता ज्योतिरिङ्गणास्तेषां चयं समूहम् । पराभवं पराजयम् । उद्योतितलोक प्रकाशितभुवनम् । लोक्यन्ते  
जोबाद्योऽर्था यस्मिन् स लोकस्तं—जोबादिपदार्थान् प्रकाशयन्तमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ अतीतमागतवर्तमानानां  
विकलात्मा भण्यस्थितम् । अनन्यगोचरं प्रत्यक्षविषयम् । परोक्षवस्तु सूक्ष्मातरितद्वार्यान् सर्वज्ञज्ञानविषयान्

१. व °पत्य । २. व शाशवो । ३. व ' ' इति चित्ज्ञान्तगतः पाठो नोपलभ्यते । ४. व यदि ।

५. व °णेषु । ६. व विप्र । ७. व इदं पर्यायपदं शोपलभ्यते । ८. व इयमपि पर्यायपदं नास्ति ।

परोक्षेण यतिश्रुतद्वयेनोपदिशन्तं प्रकाशयन्तम् । स्वस्य परमात्मनो मार्गो रत्नत्रयं तस्य माहुरात्म्यमतिशयस्तस्य-  
निवेदने कथ्ये सत्यतुष्टयपरम् । व्यनोक्त बिलोकमानाश्च । ज्ञप्यम् अपरम् । तपोधनं तपस्विनम् ॥ ३८ ॥  
अनेका बहुप्रकाराश्चेष्टास्तपस्वरणक्रिया येषु ते तैः । पर्युपासितं सेवितम् । तपस्विनां तपोधनानां बृन्दैः संहस्त्रिभिः ।  
अविनिष्कृतिभिः निरबद्यानुष्ठानैः । प्रणिपत्य नमस्कृत्य । इति कथ्यमाण प्रकारेण । प्रब्रज्ये प्रारंभे ॥ ३९ ॥  
मनस्त्रिभिः विद्यैः । भवान्स्कृत्य संसारनाशकारी । आत्मवेदिभिः अध्यात्मनिरतैः । आत्मशुभाः  
प्राप्तव्याप्तिशयाः । कृतार्थता कृतकृत्यत्वम् । कृता० विहितजीवादिबिलोकेन भवति । विचारणा चर्चा ॥ ४० ॥  
महामोहो ग्राहमिथ्यात्वं स एव तमःपटोऽन्वकारप्रावरणं तेनावृतं वेष्टितम् । कुदृष्ट्य पटनायतनानि तेषां  
सेवयोपासने विकसद्ग्राहभ्रातिम् । बाहुमरीचयः वचनकिरणाः ॥ ४१ ॥ निराश्रयानाम् आश्रयरहितानाम् ।  
आलम्बनम् अवष्टम्भः । स्थिराश्रयः दृढतरः । यियासतां गन्तुमिच्छताम् ॥ ४२ ॥ स्वभावजैः सहजोत्पन्नैः ।  
विकसत् । कुन्दपुष्पवच्छुभ्रैः । अमेयता प्रमाणरहितताम् ॥ ४३ ॥ दिवसा० सूर्यवत्प्रकाशमान । मार्गस्य  
सम्यग्दर्शनादेः शुद्धिनिर्मलत्वं, पक्षे मार्गस्य पथः शुद्धिः । इष्टस्थानहेतुरहितम् (?) अलम्भि प्राप्ता । घूकायितं  
घूकमिवाचरिम् ॥ ४४ ॥ विभिन्दतः अपाकुर्वतः । हार्दं हृदिमभवम् । तमः पापाण्यकारम् । भास्वतः सूर्यस्य ।  
वक्त्रं मुखं किल पूर्वं बहुभिर्दृष्टमघादिना सत्कृतं च । यतोऽयं भगवान् पूर्वं कैरपि न दृष्टस्ततोऽपूर्वभास्वान्  
॥ ४५ ॥ अपायमुक्ताम् अविनश्वराम् । पदवी मुक्तिमार्गं रत्नत्रयम् । परे मिथ्यादृष्टः । प्रापयितुं लम्बयितुम् ।  
त्वदाश्रय भवदाश्रयणम् ॥ ४६ ॥ मोक्षलभ्योप्रतिरोधविषयिणाम् ॥ ४७ ॥ सशरीरविनयराशिसमारकिणाम् ।  
अक्षोणि नेत्राणि ॥ ४८ ॥ मिथ परस्परम् । उदंशुः प्रस्फुरत्किरणाः । द्यौः किल धारितकचन्द्रा, अहं  
त्रिचन्द्रा । आह्लादकरत्वाच्चन्द्रोपमानम् ॥ ४९ ॥ विलोकितोऽसौपाणा सम्माना मुखेनुयं सः । उपादे  
उद्गिरति स्म ॥ ५० ॥ पाथिवता नृपता । कादम्बर्योर्दिवी (?) यथा मद्यकारणमित्युक्तिः । सा  
पाथिवता । अन्यथा मार्गवानुरुक्ता ॥ ५१ ॥ गतस्पृहाणा त्यक्ताकांक्षाणाम् ॥ ५२ ॥ तुलाव्यतीतः असमानः ।  
सार्वभौमो सर्वस्या भूमेराधिपत्य यस्यां ईषा ॥ ५३ ॥ परलोकसाधने प्रेत्यभावसंस्करणं ॥ ५४ ॥ प्रथमं  
विनयनतमूर्द्धा । यियासतः गन्तुमिच्छतः ॥ ५५ ॥ इति समाकलय्य विचार्य ॥ ५६ ॥ वरं वाञ्छितं ददातीति  
वरः । आत्मना स्वीकृता या दोषा तया अस्मान् संस्कुह । अनुग्रहः अनुभावः ॥ ५७ ॥ निवेदिता० प्ररूपित-  
चित्तस्थवस्तुनः ॥ ५८ ॥ सुदुष्करं कर्तुमशक्यम् ॥ ५९ ॥ धर्माय धनं यस्य स तस्य, पक्षे धर्मो दशधा धनं  
यस्य । अनित्यं निन्दारहितं वृत्तं वर्तनं यस्य, पक्षे वृत्तं चारित्र्यम् । परार्थं परनिमित्तं संपदं यस्य, पक्षे पर  
उत्कृष्टोऽर्थः प्रयोजनं मोक्षोद्यमो यस्य ॥ ६० ॥ साधुषु यतिषु रतो विनीतः । अतः कारणात् । अनुशाधि  
प्रतिपालय ॥ ६१ ॥ उदीरिताया जल्पितायाम् । अचलान्तराशयः निश्चलान्तःकरणः, पक्षे अङ्गीकृतम्  
॥ ६२ ॥ शिरःसमम्बन्धं शिरसाधार्यम् । अनुशासनं शिक्षाविशेषः । जन्मव्यसनानि संसारदुःखानि ॥ ६३ ॥  
दुराधयः दुष्टा मानसव्यथा । श्रौजिनचन्द्रप्रतिपालितम् ॥ ६४ ॥ भवमृत्युसंततिः । उत्पादमरणसंतानम् ( नः )  
॥ ६५ ॥ विनिश्चितः परिज्ञातः एकाग्रतेन सर्वथा तदीयस्तस्य राज्ञो निश्चयो हठप्रतिज्ञा येन सः ॥ ६६ ॥  
अग्रहीतुं जगद् ॥ ६७ ॥ अधोरमानसः शान्तमनाः । स्थिरा निश्चला एकैनाद्वितीयेन पर्यङ्केनासनविशेषेण  
कृता विहिता स्थितिरवस्थानं येन सः । निश्चयोः प्राणहरैः ॥ ६८ ॥ विभीषणं भयानकम् ॥ ६९ ॥ तपे  
ऊर्ध्वागमे । अभिसूर्यप्रतिभं सूर्यबिम्बसम्मुखम् ॥ ७० ॥ भावनासु अनुप्रेक्षासु । ध्रुवं निश्चलम् । क्षुण्णमदः  
निरहंकारः ॥ ७१ ॥ विविधं बहुप्रकारम् । परिणता एकीभावेन जाता उज्ज्वला निर्मला निरतिचारा धर्म  
( मी ) सत्समादौ लेश्या यस्य सः ॥ ७२ ॥ द्वाविंशतिसागरप्रमाणायुः ॥ ७३ ॥ विगलितायुः सम्यगनुभूत-  
बद्धायुः । जनमोज्ञ सर्वजनतामुन्दर । बोध्यम् (?) ॥ ७४ ॥ तूष्णीमभूत् मौनवान् जातः । बद्धा ( द्वा )  
अञ्जलियेन सः । यतिवृषं मुनिप्रधानम् ॥ ७५ ॥ तत्प्रत्ययं तेषां जन्मान्तराणां प्रत्ययं विद्वांसजनक ज्ञानम् ।  
संशयानां संशयं प्राप्तवती ॥ ७६ ॥ निशम्य आकर्णयित्वा । संदेहपङ्क्तं संशयकदम्बम् । अपहृष्टितुं निराकर्तुम् ।  
मद्यान्धमतिः मदप्रच्छादितविवेकः ॥ ७७ ॥ तत्प्रत्ययात् स चासी प्रत्ययश्च तस्मात् । अन्यत् परोक्षम् ।

यन्मतिमतां संवादकं प्रतीतिजनकं तत्प्रमाणम् ॥ ७८ ॥ प्रह्लादिना आनन्दजनकेन ॥ ७९ ॥ आकस्मिकोद्गता  
अकारणोत्पन्ना चासौ बृहती गरिष्ठा परवक्रशङ्का च तस्यास्थस्यस्तश्च ते जनाश्च तैश्चकः किमिदमिति ध्वनिस्तेन  
पूर्यमाणो वर्द्धमानः ॥ ८० ॥ बबन्धो बाग्मो ॥ ८१ ॥ शरत्करटमितिः उद्भिन्नकपोलः । ऐरावतपराक्रमः ।  
भारटन्तम् आक्रमन्तम् ॥ ८२ ॥ प्रकटः तदृष्टिपथप्रातः । संहारकालः प्रलयः ॥ ८३ ॥ करटिनः मजस्य  
॥ ८४ ॥ बाहुबलद्वितीयः भुजबलेन दृढः, अथवा मूलबलम् ॥ ८५ ॥ परिकरं तनुवाणमितम्भपरिधौना-  
दिकम् । आजुहुवे आह्वानयति स्म हुडोके वा ॥ ८६ ॥ आवतः अभिगच्छतः । हस्तिनीमूत्रवासितम् ॥ ८७ ॥  
तलेन चदराचोभागेन । निर्गतवान् ॥ ८८ ॥ परिधिः प्राकारः । सौधतलं राजसदनवेदिका ॥ ८९ ॥ निः-  
स्पन्दं निश्चलम् । विधूतसृणिः गृहीताङ्कुशः ॥ ९० ॥ अनुपमबलवीर्यं असदृशपराक्रमप्रभावः । लीलया  
हेलया ॥ ९१ ॥ केलि क्रीडाम् । निवासं चक्रे । अवितथं सत्यम् । महेन उत्सवेन । उद्गीर्यमानं ( णं )  
प्रचुष्यमाणम् ॥ ९२ ॥

इति चन्द्रप्रभञ्जितपञ्चिकायामेकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

## द्वादशः सर्गः

जीयाच्छ्रुतमुनिनामा मुनिपः सच्छास्त्ररत्ननिकरस्य ।  
शिष्यापुरोधेषुदया प्रकाशको योऽत्र सन्दृष्टिः ॥

शासनात् अनुरोधात् । निजमर्तुः पृथ्वीपालराज ( जस्य ) । इलाधिपतिं तं पञ्चनाभम् । कुशाग्रधीः  
जाग्रत्प्रतिभः । बबोहरः संदेशघोरो दूतः ॥ १ ॥ कठिनान् कठोरान्, पक्षे स्तब्धान् । महीभूतः पर्वतान्  
राजद्वयः । मित्रबान्धवैः बन्धूकपुण्यविशेषः । सार्द्धम् । रिपवः शत्रून् । महापदाश्रिताः पर्वतादिगुहास्थिताः  
कुताः, पक्षे रिपवः शत्रवो मित्रबान्धवैः सार्द्धं महती गरिष्ठापापदमाश्रिताः कुताः ॥ २ ॥ प्रभुशक्तिः इन्द्रस्यैव  
माहात्म्यसंपत् । शक्त्यवस्तिपुः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः ॥ ३ ॥ द्वितयेन द्विधावृत्त्या । मानदः म ( मा ) नं  
पूज्यत्वं ददाति यच्छति दति खण्डयतीति वा मानदः । तद्विपरीतवृत्तिषु अप्रणतेषु ॥ ४ ॥ संक्रामितं  
नियोजितवचनावलः । इति वक्ष्यमाणम् । अद्यतस्नेहम् । दूता बबोहरा मुखं येषां ते दूतमुखाः । 'गन्धेन गावः  
पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदबधुया । चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ इति वचनात् ॥ ५ ॥' ते  
सौजन्यादयो गुणाः । 'क्व सरसि वनखण्डे पङ्कजानां क्व सूर्यः क्वच कुमुदवनानां कोमुदीबन्धुरिन्दुः । अति-  
परिचयबद्धा प्रायशः सज्जनानां नहि विचलति मैत्री दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥' इति न्यायः ॥ ६ ॥ विनयैक-  
वृत्तिता विशिष्टो नयो विनयः प्रश्रयविशेषः, तत्र एकवृत्तिता एकज्ञानत्वम् । सुमनोभिः प्रसूनैरिव ॥ ७ ॥  
लज्जया द्रवता द्रव्यरूपां गच्छता ॥ ८ ॥ निजनेषु स्वहस्तिपकस्य ॥ ९ ॥ पुरातनं पूर्वजैरनुष्ठितम् । क्रमं  
परिपाटीम् ॥ १० ॥ करिणा हस्तिना ॥ ११ ॥ स्वयमेव । भवानेव । आत्मवान् वशीकृतेन्द्रियः ॥ १२ ॥  
जात्यन्धः स्वभावान्धः । विषा अन्तःकरणेन ॥ १३ ॥ मदादयः—'कामः क्रोधश्च हर्षश्च लोभो मानस्तथा  
मदः । षडहो रिपवः प्रोक्ताः शरीरस्था हि देहिनाम् ॥' । शास्ति अनुकूलतया विदधाति ॥ १४ ॥  
परिभूतिभयात् परामवसाध्वसात् । अपात्य परित्वण्य । अपसरन्ति अपगच्छन्ति ॥ १५ ॥ शठता  
मदान्धता । अवधोरिता अवगणिता । दुःसहः अवधोरयितुमशक्यः ॥ १६ ॥ दूतः अवरुद्धः । सत्वरैः  
सवेगैः । चरैः गूढपुरुषैः ॥ १७ ॥ आत्मसात्कृतः स्वीकृतः । मत्तं सकाशात् । अपेक्षारहितेन निर्भयेन  
॥ १८ ॥ अज्ञजनः नीतेतरतमिजः ॥ १९ ॥ अपर्यय प्रयच्छ । मतङ्गजं सामञ्जम् ॥ २० ॥ प्रसादितः प्रसन्नतां  
नीतः ॥ २१ ॥ जिगीषुतां जेतुमिच्छताम् । प्रणश्यति विनश्यति ॥ २२ ॥ अतिलङ्घनम् अतिक्रमः ।

बाधयेन वचनमतीत्या । पयोऽपि जलमपि । गोरसः क्षीरम् ॥ २३ ॥ अकैतवताम् [ अकैतवाम् ] अविशताम् ।  
 प्रिया इष्टा प्रिया भार्या यस्य सः ॥ २४ ॥ आशितम् आशेषविषयां कुर्वन् । कटाक्षितः अक्षया भाषितः ।  
 उदाहरत् वभाषे ॥ २५ ॥ विनयप्रशमौ एकं भूषणं यस्य—वचसः तत्, पक्षे विगतं नयप्रशमैरभूषणं यस्य  
 तत् । परमवचासौ न्यायश्च तस्य समर्थने पृष्टिदाने उद्यतमुत्कटं, पक्षे परं केवलमन्यायस्य अनौतेः समर्थनोद्य-  
 तम् । उपक्रमेत प्रारभेत ॥ २६ ॥ परा उत्कटा चासौ मेधा च उद्यमश्च योग्यता च तथा सहितैः, पक्षे परं  
 केवलम् एषांसि काष्ठानि तेषां निक्षेपणे उद्यमयोग्यता ( तथा ) सहितैः । स्तवभूतिः स्तुतिसंपत्, पक्षे तव  
 भवतः प्रभोर्मन्दिरं भूतिर्मस्य ॥ २७ ॥ विशिष्टनयेषु एका रतियस्य सः, पक्षे विनष्टा नयैकरतियस्य ( सः ) ।  
 महान् गुणो यस्य, पक्षे महान्गुणो यस्य सः । उचितम् इति काकुवचनं, पक्षे योग्यमेव ॥ २८ ॥ अवसा  
 तितिक्षा ॥ २९ ॥ निजं स्वभूजपराक्रमसाधितमात्रमोयम् । अक्रमः अयोग्यता ॥ ३० ॥ क्रमसंप्रकाशानैः अनु-  
 क्रमोद्योतनैः ॥ ३१ ॥ कृतपुण्यं प्राक्पुण्यगुष्टम् । अपास्यते हठाद् गुह्यते ॥ ३२ ॥ 'अथवा' श्लोक्तिप्राधान्यात्  
 इति चेत् भयदशिवचः किमभिघटते वदसि अभिघटते भवानिति वा पाठः ॥ ३३ ॥ अभियोक्तुं योद्धुं सन्मुखी-  
 कर्तुम् ॥ ३४ ॥ अधिकक्रमता अत्युल्लङ्घनता । लिलङ्घ्योः लङ्घ्युतिमिच्छोः ॥ ३५ ॥ प्रविधित्सुः कर्तु-  
 मिच्छुः । अतिक्रमम् उल्लङ्घनम् ॥ ३६ ॥ विबोधनां विविद्रताम् ॥ ३७ ॥ अभियुज्य अभिकण्डूय । अभि-  
 युक्तः कटाक्षितः । संप्रभुषितः प्रेरितः ॥ ३८ ॥ क्षयवान् प्रक्षीणबलः । व्यसनी विरोधापदगतः । दैववि-  
 बजितः शत्रुजये भाग्यरहितः ॥ ३९ ॥ क्षुद्रजने स्वभाषती दुर्जने ॥ ४० ॥ सांख्याः संख्या गृहीतुं शक्याः  
 पु [ पू ] रूपाः सामन्ता नरा यस्य स तम् ॥ ४१ ॥ न्यगदीत् जगाद ॥ ४२ ॥ अविधेयविधि अप्राञ्जल-  
 दैवः ॥ ४३ ॥ निमित्तं शकुनादि ॥ ४४ ॥ निजविक्रमः स्वगृहमान्यपराक्रमः ॥ ४५ ॥ उदेतुं सन्मुखं  
 गन्तुम् । शरभस्य अष्टापदस्य ॥ ४६ ॥ अधमेन स्वतो न्युनेन ॥ ४७ ॥ परिवारितः वेष्टितः ।  
 हतबुद्धिः मतिभ्रष्टः ॥ ४८ ॥ स्तब्धवतः कठिनस्य । यथा—'स्तब्धमुत्सन्नति किं न दूरतः पादपं तटस्थं  
 नदीरयः । वेनसं प्रणमनाद् विवर्तते चाटुरेव कुरुते हि जीवितम् ॥' ॥ ४९ ॥ बहुस्तत्त्वयुतौ प्रचुर-  
 प्राणियुक्तौ । स्थिराशयो स्थिरस्य तोयस्य भाजनभूतौ ॥ ५० ॥ प्रियवादेपरेषु दृष्टवाक्यवादिषु । कुभटेषु  
 अपट्टरणेषु (?) ॥ ५१ ॥ प्रवने संग्रामे ॥ ५२ ॥ अभोप्सितं हृद्यम् ॥ ५३ ॥ मुक्तमस्तरः त्यक्ताभिमानः  
 ॥ ५४ ॥ असौ पचनामः । अनुवादिनः जतिपतजत्पिनः ॥ ५५ ॥ उदतिष्ठत् उत्तस्थौ । प्रविशजिता अखिल-  
 सम्या येन सः ॥ ५६ ॥ समं युगपत् ॥ ५७ ॥ अवभासयते प्रकाशयते ॥ ५८ ॥ कौशलैः चातुर्यप्रयोगैः  
 ॥ ५९ ॥ अभिजापति सावधाना भवन्ति ॥ ६० ॥ मदमुडान् मदेन हिताहितापरिजानिनः ॥ ६१ ॥ पुरस्कृतः  
 संस्कृतः ॥ ६२ ॥ आहितश्रुतिभिः दत्तश्रवणैः । शठेन पिशुनेन ॥ ६३ ॥ पश्यं कठोरम् । उपपन्नजत् अनुगच्छत्  
 ॥ ६४ ॥ उदयन् उदगच्छन्, उत्पद्यमान एवेत्यर्थः ॥ ६५ ॥ प्रकृष्यते परिवर्द्धते । आसर्वविदः सर्वज्ञपर्यन्तम्  
 ॥ ६६ ॥ पुरुभूतिर्नाम मन्त्रो । पुरुभूतिः गरिष्ठसंपत् ॥ ६७ ॥ ऋद्धेः संपत्तेः ॥ ६८ ॥ लिप्तधोः शक्तिमतिः ।  
 परिजिह्वेति लज्जति ( ते ) ॥ ६९ ॥ अलक्षवेदिनः अमर्मज्ञस्य ॥ ७० ॥ अनुशिष्यः अनुजल्प्यः ॥ ७१ ॥  
 जिगीषुणा जेतुमिच्छुना ॥ ७२ ॥ शबरेण भिल्लेन । हरिः सिंहः ॥ ७३ ॥ नीतिवर्तिना नयमार्गस्थितानाम्  
 ॥ ७४ ॥ विघटेते विनश्यते ॥ ७५ ॥ उत्सृक्षं प्रज्वलितमङ्गारम् । कृच्छ्रं कष्टम् ॥ ७६ ॥ प्रथमः मुख्यः  
 ॥ ७७ ॥ प्रत्युत विपरोतम् ॥ ७८ ॥ साम शान्तिनामा नयः । 'सामशाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम् ।'  
 ॥ ७९ ॥ प्रभूदोषशतं गरिष्ठदोषगणम् । पयोमुखः मेधाः ॥ ८० ॥ उपप्रधानतः संप्रधानात् । भेदतः भेदमयात्  
 ॥ ८१ ॥ सामुर्थ्यं सेव्यम् ॥ ८२ ॥ पशुः जनद्वान् ॥ ८३ ॥ अनिरूपितकृत्यया असंदिशितकार्यया ॥ ८४ ॥  
 क्षरः कठोरः । अविभाध्या असंभावनीया प्रकृतिः स्वभावो यस्य ॥ ८५ ॥ क्रमते संवरते । श्रावणि शैले ॥ ८६ ॥  
 उद्यन्ति जल्पन्ति । नासादवरकरहितः ॥ ८७ ॥ सपत्नीयवत् स्वर्णवत् ॥ ८८ ॥ विप्रकृष्यते दूरतपीरयते (?)  
 ॥ ८९ ॥ पादसंगमं, गमस्तिंसंगम् । अतिम्म० चन्द्रस्य ॥ ९० ॥ कृपणस्य कदर्यस्य—परमुखावलोकितः  
 ॥ ९१ ॥ असारता रिक्तताम् । निवदन् संग्रगर्जन् ॥ ९२ ॥ परिभूतिजीवितः अपमानप्राणहारकः ॥ ९३ ॥

मृगराजवैविता अमिमानकपिणी ॥ ९४ ॥ अथगात् अवजानातिस्म । अ्युतोति नीतिरहितम् ॥ ९५ ॥ क्षीणबलः क्षयगतकटकः, इति बलव्यपेक्षा । सुहृद्व्यसनं विरुद्धं प्रत्येति कालव्यपेक्षा ॥ ९६ ॥ अमिमानुम् अमियोद्धुम् । प्रभवेत् अववान् स्यात् ॥ ९७ ॥ अवभूतिनाम् मन्त्री ॥ ९८ ॥ प्रतिशब्दः भाषितभाषि (क) णम् ॥ ९९ ॥ असमृज्जितान्वायां वंशानुकृपात् । बृहस्पतिः सुरगुरुः ॥ १०० ॥ गहने दुष्प्रवेश्ये ॥ १०१ ॥ रभसा करणं वेगेन विधानम् । कर्मणां कार्यव्यापारणाम् ॥ १०२ ॥ विभेदकं भेदजनकम् ॥ १०३ ॥ युवराणमतं दण्डोऽस्तु । समयः शास्त्रवाक्यम् । वण्णा गुणानां भावः वाङ्मन्यम् । 'सन्धिबिग्रहप्रधानासनद्वैधाश्रयाः पञ्जुणाः ।' ॥ १०४ ॥ रिपोः सन्तोः सर्वस्व रहस्यम् ॥ १०५ ॥ कृतकप्रयितैः कपटरचितैः । समवाये भवाः सामवायिका-सम्या ॥ १०६ ॥ भोमरयस्व नाम्नी मित्रस्य । रंहसा वेगेन ॥ १०७ ॥ व्यसने द्वन्द्वे ॥ १०८ ॥ घनात्स्ये शरदि ॥ १०९ ॥ समरं सन्नामम् । प्रहोयता प्रेष्यताम् । द्वयाश्रितैः उभयनयाश्रितैः ॥ ११० ॥ अनलसमितिः सोद्यमबुद्धिः ॥ १११ ॥

इति चन्द्रप्रमकाव्यपञ्जिकायां द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

### त्रयोदशः सर्गः

श्रुतादिमुनिपान् के के न ययुः शास्त्रवारिधेः ।

यतः पारं स वः पायाद् विपश्चिन्मज्जनादथः ॥

निरयमत् निर्जयाम् । जिगीषया जेतुमिच्छया । प्रशमितमपसारितं प्रकृतौनामष्टादशप्रजानां व्यसनं परेषोपप्रवजननं येन । जिम् (गो) पुणा किल स्वदेव्य त्यक्त्वा परदेशे तत्सन्धौ वा योद्धु गन्तव्यमिति ॥ १ ॥ आतपवारणं छत्रम् ॥ २ ॥ जलदवीधि० नभो विनालं विपुलम् । उत्पन्नचन्द्रारैः ॥ ३ ॥ प्रमुत्तया विस्तृतया । वारिजरागमणिः पथरागमणि ॥ ४ ॥ परस्परमन्योन्म्यं व्यतिकरेणानुप्रवेशेनोल्लसितोद्गतामलरोचिषो निर्मल-दीप्तयो यस्य सः ॥ ५ ॥ परिमन्वति तिरस्कुक्ते । माण्डलिकान् राज्ञो मण्डलाकारोपेताश्च । अङ्गदे बल्ये ॥ ६ ॥ शिखिगलाकुतिना मयूरकण्ठनीलाकारेण । रणनाशमना कटिमेललानोल्लरत्नानाम् ॥ ७ ॥ गुरुणा मन्त्रिणा मते पर्वालोचनेऽभिरतममलं निर्व्यसन मानसं स्वातं यस्य० गुरुर्बृहस्पतिः (ति) इव ॥ ८ ॥ गुरङ्गमै शीघ्रगामिघोटकैः ॥ ९ ॥ सरगिमिरस्ववारैर्यत्नेन प्रयासेन निरुद्धो महावेगो येषां ते तैः । हरिभिः घोटकैः ॥ १० ॥ निजोजसा स्वरंहसा । अनिलः वायुः ॥ ११ ॥ निरवधिप्रमृते. अमर्यादं विस्तृतं । बलैः कटकैः । बृंहिते वृद्धि गते ॥ १२ ॥ प्रवितन्वते विस्तारयन्ति । विकसद्गलकम्बलैः ॥ १३ ॥ डिण्डिमः जयघ्वनिवादित्रम् । घ्वनितं स्वनितम् । विवर्तिता व्यापारिता ॥ १४ ॥ हे गजाः ! वः मुत्तान् (कं) बलदन्तिना शिबिर-गजानाम् । मधुलिङ्गणा. भ्रमरकुलानि ॥ १५ ॥ जगृहिरे परिमुञ्चरे । घातानामनेकार्थः ॥ १६ ॥ प्रज्वलिभिः वेगिभिः । विषमोक्ते स्वपटौकुते । रथकडयया रथवजेन ॥ १७ ॥ अपरस्य मण्डलिनः । शीवरैः वस्त्रखण्डैः । अन्तरितं गूढम् ॥ १८ ॥ विवस्मृभिर्वातुम् (वतुम्) इच्छुभिः । मधुव्रतानां कुलं भ्रमरसमूह-स्तेनाकुलं (ल.) व्यथं (घः) कपोलं (लः) येषां ते, तैः ॥ १९ ॥ बलमरेण शिबिरप्रभारेण । मण्ड-लानि चक्राणि ॥ २० ॥ भटगणाः सामन्तनिकरा ॥ २१ ॥ परिहितं परिघातौकुतमायसकज्ज्वकं लोहसन्ना-हस्तेन मेचकं ध्यामलम् । पदातिकदम्बकं पत्तिसमूहः । तिमिरशानु सूर्यः । तामसं घ्वांसम् ॥ २२ ॥ संशो वेणुः, अन्यथश्च । मुष्टिगता हस्ततलस्थिता, मोनस्थिता च । गुण. मोर्वी, कुलबधूगुणाः—'अमृत्पान-मुपागते गृहपतो संभाषणे नम्रता, तस्यावाहितवृष्टिरासनविधौ स्मेरा सपत्नीष्वपि । [सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति प्राच्यै. पुत्रि निवेदितः कुलबधूषिद्धान्तधर्मागमः ॥]' ॥ २३ ॥ अवरोधपुरप्रयः अन्तःपुरसुचरिषाः । अ (आ) विररोचिषो विद्युल्लसोद्भवा ॥ २४ ॥ पटुभेदनं पतनम् । निरतैः निविचतं सावधानैः ॥ २५ ॥ परिवर्तिते अवलोकिते । रमणीयं सुन्दरम् । अपोहीत उज्ज्वलित ॥ २६ ॥ अवरोचिका



विलासिनी । गलदम्बरं प्रस्त्रालद्वयम् ॥ २७ ॥ मयः करभः ॥ २८ ॥ वृषैः बलीवर्दैः ॥ २९ ॥ बल्लव०  
गोपालकामिन्या ॥ ३० ॥ वैवर्षिकीः भारवाहिभिः ॥ ३१ ॥ पोतः प्रवहणम् ॥ ३२ ॥ सरभसैः सवेगैः ।  
प्रतिपालयताम् अन्वेषयताम् ॥ ३३ ॥ जुहुततरङ्गाः, उच्चैरखाः । आह्वयना आकारयि (य)ता । प्रतिनिःस्वनेः  
प्रतिशब्दैः ॥ ३४ ॥ एषितया समुद्रया ॥ ३५ ॥ शिरोधरा कन्धरा । व्यधित अकृतं (त) ॥ ३७ ॥ मधु-  
पायिनां भ्रमराणाम् । बसुमतीदयितं राजानम् ॥ ३८ ॥ शारदयाश्रया शरत्कालगमनेन ॥ ३९ ॥ हृदयहृतो (?)  
वयांसि पञ्जिणो यासु ताः, पक्षे वयः प्रथमयोगनम् । अम्बरं गगनं, वस्त्रं च । पयोधराः मेघाः स्तनाश्च ॥ ४० ॥  
गोष्ठमहत्तरैः गोपालप्रभुभिः उपहितानि आनीतानि ॥ ४१ ॥ असह्याम् असमर्थान् । शुकानां कीराणाम्  
॥ ४२ ॥ बृहन्तः (त्यः) स्थूलाश्च ते (ताः) अलाबुकास्तुम्बकाश्च बृहदलाबुकास्तेषां (तासां)  
गौरवेण भारेण बामना मनिम्नान् (निम्नान्) । वर्ति बाहिम् ॥ ४३ ॥ समीहितान् अभिलषिताम् ।  
सज्जनगोचरा । सज्जनाः किल फलसंपदं प्राप्य नम्रा भवन्ति ॥ ४४ ॥ अवजानतीम् आचरमकुर्वाणाम् ।  
कैतवं छप ॥ ४५ ॥ शशिकराङ्कुरवत् निर्गमवत् (?) निर्मला गानो भूमयो गोमण्डलानि वा येषु  
ते तान्, पक्षे गानो बावो मेघा वृषानां ते । सीमा बहिर्भूमिविशेषः, मर्यादा गाम्भीर्यं च ॥ ४६ ॥  
कोकं चक्रवाकम् ॥ ४७ ॥ मषिज्वनि मन्था (न्य) न शब्दः । भुजङ्गद्विषा मयूराणाम् ॥ ४८ ॥  
कुरङ्गकुलं मृगयूषम् ॥ ४९ ॥ 'रात्रहंशस्तु ते चञ्चुवरणीर्लोहितैः सिताः ।' ॥ ५० ॥ गौः दुष्टिः  
॥ ५१ ॥ अवहितभुक्ति सावधानं यथा भवति तथा ॥ ५२ ॥ कृषवाहिनीं 'कुषः स्यात्करिकम्बलः' बाहिनीं  
नदीम् ॥ ५३ ॥ घनाघनाः मेघाः ॥ ५४ ॥ समवगाढवता मज्जताम् । कटतटात् कपोलमूलात् ॥ ५५ ॥  
पतता पञ्जिणाम् ॥ ५६ ॥ सततायनो वायुस्तस्य वर्त्म गगनम् । प्रतिमया प्रतिच्छायया ॥ ५७ ॥ अम्बुचराणां  
मेघानामध्वनि भागं विहायसि ॥ ५८ ॥ अंशुमदंशुषु प्रच्छादितसूर्यंकरासु । नभःसदा खेचराणाम् ॥ ५९ ॥  
उपरञ्जितवारिभिः संस्कृतजलैः ॥ ६० ॥ बारणानां गजानाम् ॥ ६१ ॥ अम्बुवाहवीथीम् अन्तरिक्षम् ॥ ६२ ॥

इति चन्द्रग्रमकाव्यपञ्जिकायां त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

## चतुर्दशः सर्गः

श्रुतादिमुनिपस्यास्य किं वर्ण्यन्ते वचोऽश्वतः ।

बहुशोऽस्तानि भव्यानामज्ञानतिमिराणि यैः ॥

मणिकूटं नाम पर्वतम् । उच्चैर्दृष्यं स्थूलोपलम् । तद्वित्त्वतां विद्युस्तहितानाम् ॥ १ ॥ कटैः [कटकैः]  
नितम्बैः । अद्वितीयाम् अनन्यसंभावितोम् । चूडामणि शिरोरत्नम् ॥ २ ॥ किङ्किणीनां सुदृढगण्डिकानाम् ॥ ३ ॥  
तपान्तः मेघकालः तस्य लम्बोः शोभा ॥ ४ ॥ गगनेचराणां नभःसदा ॥ ५ ॥ सवितुः सूर्यस्य ॥ ६ ॥  
प्रभावत तपसा दीप्यमानस्य । प्रभावतः माहात्म्यात् । नरः पुमान् । गतः प्राप्तः । रोगतः व्याधेः ॥ ७ ॥  
नितम्बः कटकः । खचराः विद्याधराः ॥ ८ ॥ इन्दुमणि० चन्द्रकान्तमणिप्रणालात् । ख [ नि ] नवोद्भिदाः  
॥ ९ ॥ अनाशं० निःशङ्कमतयः । कान्तैः भर्तुभिः । कान्ताः कामिन्यः ॥ १० ॥ घना निबिडा अयमाने  
नीयमाने । घनायमाने मेघकल्पे । कमनीयभावं सुन्दरत्वम् । देहविधा कायकान्तिः । सुराणां देवानाम् ।  
विभासुराणां देदीप्यमानात्मा । अचिरादुद्देश्या विद्युस्तुत्या ॥ ११ ॥ पतङ्गोपल सूर्यकान्तपायाणः । अपार-  
यन्धः अशक्नुवन्धः । द्विषन्ति निदन्ति । तुरङ्गवक्त्राः किन्नर्यः ॥ १२ ॥ प्रावतले पापाणोपरि । जडोक्तः  
शीतो विहृतः । तपेऽपि शीष्मेऽपि । पतङ्गः सूर्यः ॥ १३ ॥ श्रमापौडः श्रमापनयनम् । प्रत्युपकर्तुं कामैः प्रत्युप-  
करणाभिलाषिभिः ॥ १४ ॥ कान्तैः मनोहरैः । विचित्राः बहुविधाः । प्रकूटैः प्ररोहतां गर्तैः । शास्त्रिभिः वृधैः ।  
तिरोहितैः प्रच्छादित इतो रवि येन सः ॥ १५ ॥ मधु पुष्परसः । समुन्नयन्तः उत्पदायन्तः । भृङ्गाः भ्रमराः  
॥ १६ ॥ धनज्वाण० मेघननादसदृशम् । यत्सानुगतं यच्छिखरस्थितम् । वितृष्णं विमनस्कम् ॥ १७ ॥ व्येयहिमे

चिन्तयतीति । अल्पनिष्ठं जलवन्तयुक्तेषु । सिद्धाः देवविशेषाः ॥ १८ ॥ निस्तमसो निरस्तान्धकारी । समुत्कः सहर्षः । समुत्कः उत्कण्ठः ( सुतरामुत्कण्ठितः ) । चमून्मा सेनापतिना । अगतो लोकस्य एकोऽद्वितीयः पाली रत्नाकः । जगदे बभावे । कपालो ईश्वरः ॥ १९ ॥ निवेद्यविबरः संवेद्यकन्दरः । वरः श्रेष्ठः । निर्धरः अल-  
प्रबाहः । सहस्रान्तिभिर्गजैश्चमरैः सुरभिभिश्च यः । अमरैः देवैश्च हित उपरुद्धो माधवीनां लतानां मण्डपो यत्र सः । विकासोनि विकस्वराणि कमलानि पङ्कजानि यत्र । अमलोपलानां निर्मलपाषाणानां बिचित्राभिर्मभि-  
र्भसुरैः । नयः पर्वतः । ईक्षितः अवलोकितः ॥ २० ॥ पाण्डुरः विशदः । सैकतां सिकतामयीं । रजसा परागेण । एकतां मिश्रताम् । सरसां सजलाम् । अलङ्कृतदिशां विभूषितककुभाम् । सरसां सरोवरणाम् ॥ २१ ॥ सानु-  
भाजः प्रस्थस्थितस्य । संप्रसर्पन् अभिगच्छन् ॥ २२ ॥ महोरुहाः वृक्षाः । विरहिताः उज्जिताः । सुरजनैः देवलोकैः । विकलाः रहिताः । अम्बुहहैः कमलैः ॥ २३ ॥ कन्दरागोचरैः दरोषु स्थितैः । सुगन्ध- ( निव- )  
निर्मलवस्त्रैः । अवसितसुरतैः सेवितकामैः । मारुतः वायुः ॥ २४ ॥ निकरम्बं कदम्बकम् । स्थलपुण्डरीकखण्डैः स्थलकमलवनैः । विकाशशालिभिः प्रकाशशोभमानैः । द्यौ गगनम् । उचितानि योग्यानि हचितानि वा कान्तिमन्तोनि अनेकानि प्रचुराणि सलाञ्छनेन्दुविम्बानि यस्याम् ॥ २५ ॥ रतिषु मैथुनेषु ॥ २६ ॥ गत्यन्तरव्यपगमात् उपायान्तरमाभावात् । पिदधत् आच्छादयत् । अघोवस्त्रापहारिणाम् । अधिगृहं गृहासु मध्ये ॥ २७ ॥ विम्बिताः पुष्पगुच्छैः पुष्पस्तम्बकैर्निचिताः संभूता व्रततयो बल्लर्यो यामु, विद्युल्लतानुसरणसमर्थ-  
कान्तिषु । काञ्चनम् सुवर्णतटेषु । धिषणा भ्रान्तिमतिम् । नीलदलोपहारविषयां नीलोत्पलविस्तारगोचराम् ॥ २८ ॥ मेघक [ असित ] रत्नानि श्यामरत्नानि । परितः इतस्ततः । मेघकितविषयः श्यामलितकान्तयः । शरद्वनाः शरन्मेषा ॥ २९ ॥ मानोन्मादस्य व्यपनयेऽपसारणे चतुरा प्रोढाः । घटितमुवतय योजिताङ्गनाः ॥ ३० ॥ गजितनितम्बभूतलम् । तारम् उज्ज्वै । अन्ते समीपे । प्रियाणा भर्तृणाम् । आदृतैः आदरयुक्तैः । हेममही सुवर्णभूमिः । नभोगैः गगनचारिभिः । अहीनभोगैः अधिकसुखिभिः ॥ ३१ ॥ यातुः [ यातः ] गच्छमानस्य । अविष्टं बिम्बितम् । रत्नभूमौ । वन्यः वने भवो वन्यः । पोतः अभ्रकः । लोत्येन अतिगूढया ॥ ३२ ॥ मुनिघनः मुनिभिर्मित्तिभिर्मनो निबिडः । अघाना पापाना मोदने स्फोटने सहः समर्थः । हस्तिचमरैः सहितः । अमरोचिततट देवयोग्यनितम्बः-मेरुसंनिभः । अम्बरसदा घुसदाम् । अञ्जिता पुष्टिं गता विभा दीप्तियस्य ॥ ३३ ॥ नीलोपलाः श्यामदण्डः । सान्द्रोक्तं घनीकृतम् । क्रोडां रमणप्रच्छादितपात्राः । तासां युवतीनां श्वासो मुखवायुः तस्य संमेन सुरभिः सुगन्ध ( निव ) । विवृणोति विस्फटयति ॥ ३४ ॥ कुसुमितबानीरालीः पुष्पितबानीराणां वेतसांविशेषाणामालीस्तलीः । 'शोतबानीरवञ्जुला' इत्यमरः । आलीनालीः उपविष्टभ्रमराः । वायुवेगचलितप्रान्ताः । तान्ताः दूताः । घर्मैः आतपैः । अविरतमूल-  
पातीः अनवरततटोद्धर्षकः । प्रसृतः विस्तृतः । नद्या नीरोधो जलसमूहः ॥ ३५ ॥ घातो ( ति ) नां चतुर्णां कर्मणां निर्मयनेन नाशकरणेन लब्धं प्राप्तं केवलं ज्ञानातिशयो यैस्ते । परिनिविद्यासव मोक्तुमिच्छवः । समबलत्वं समानत्वम् ॥ ३६ ॥ शिखरे स्थितानां मणिशिलानाम् । शालिना वृक्षाणां शाखानामन्तरालं मध्ये । प्रसृताः व्यापृता रविकरा येषु । उल्लसन् प्रकाशमानो यो रोचिषा दीप्तोनामोषः समूहः । तडितः विद्युतः । अनुकृतिम् अनुकरणं करोति तडि० । शङ्कित आरेकितोऽभोदकालो जलदसमयो यैस्ते । मदयितुम् उन्नोदयितुम् ( ? ) । अलं समर्थः । नीलकण्ठान् मयूरान् ॥ ३७ ॥ तटरुहा तटस्थाः । अतिमहतीषु प्रोच्छासु । कुसुमस्तम्बकः पुष्प-  
गुच्छः ॥ ३८ ॥ निकरैः समूहैः । रुपां वीष्णोनाम् । तिमिरसंधातस्य नाशकरैः । अमितिः प्रचुरैः । जियत् गगनम् । अपारम् अमर्यादम् । इतैः प्राप्तैः । विजितैः मूच्छितैः । स्फुरन्मणिरुचौ स्फुरतां [ मणीनां ] रुचयो दीप्तयो यत्र । इह पर्वतः । रजनिषु रात्रिषु । ग्रहपतेः चन्द्रस्य यथा ॥ ३९ ॥ निष्क्रान्तैः निःसृतैः । शिखर-  
चयात् कूटसमूहात् । निरन्तरालैः सान्द्रैः । आलीढा आलिङ्गिताः । सरसिजरागाः पचरागमणयस्तेषां किरणसमूहैः । श्रोमतां दीप्यमानत्वं लक्ष्मीमत्त्वं वा । इधति धारयन्ति । नीरक्तैः निदिबतमहर्णैः । वसनेः वस्त्रैः । परिष्कृताङ्गाः भूषितावयवाः ॥ ४० ॥ एकवर्णम् एकादृशम् ( ? ) । अप्रतिवार्यवीर्यः अनिवार्य-  
पराक्रमः । उदीर्णं उद्गमनमणिदीप्तौ ॥ ४१ ॥ राज्ञीः वीर्योः । उचितअभेग उत्पन्नलोभेन । पुतनायाः सेनायाः विनिवेशस्य अवस्थितेः स्थानम् ॥ ४२ ॥ उपाहितभूतिशोभाः स्वीकृतप्रचुरकाव्योः । प्रियाणां कमनीय-

कामिनीनाम् । शिबिरेतररश्मिः सूर्यः ॥ ४३ ॥ श्रीश्रीयसोः दीर्घतराः । अविरलं सान्द्रम् । पटमयापणानां  
हृद्गानां राज्ञिभिः श्रेणिभिस्ताताः ( श्रेणिभिः शोभितान्ताः ) । परस्परव्यतिकरोपेताः । शोयोः आपणपङ्क्तिः  
॥ ४४ ॥ अशुभ्यत् कुलोभ ॥ ४५ ॥ राजाधिराजवसतेः पणनाभमहोद्यनिवासस्य । मन्दुरायाः वाजिशालायाः ।  
पण्याङ्गनापरिवदः वेदयासभायाः । विपणिः पण्यबोधिका । पर्याकलम्य विचार्य ॥ ४६ ॥ परिचितान्  
पूर्वमनुभूतान् । अनुपालमन्तः उपासमन्तः । वास्तव्यवत् स्वनिवासे यथा ॥ ४७ ॥ उरुपरिश्रमेण छिन्ने श्वेदं  
प्राप्ते जङ्घे यस्य । पर्युहितुं वितकिनुम् । स्ववर्गे भवः स्ववर्ग्यः तस्य व्याहारे<sup>१</sup> उक्ते नादे शब्दे दत्तकर्णः  
॥ ४८ ॥ तत्कालीनपाकेन विस्तृतम् । इट्टुरिकादिपरिमलम् । अजायत ज्ञानम् ॥ ४९ ॥ शिथिलं मन्दं मन्दं  
यथा भवति । अच्छाच्छम् अत्यन्तनिर्मलम् । श्रमवशे अपनोदे चतुरः ॥ ५० ॥ उत्तयोः अपसारितः पत्त्यय-  
नस्य भूरिभारो येषां ते । भुवि वेल्लनाय लोठ ( लुण्ठ ) नाय । 'आवर्तस्त्वभ्रसां भ्रमः' शिबिराम्बु-  
राशिः कटकजलबिः ॥ ५१ ॥ संपूर्च्छता प्रतिनादमुत्पादयता ॥ ५२ ॥ सतिनिकरे पोटकसमूहे ।  
सलिलाशयानाम् अगाधजलानां हृदानाम् । कलोलनिकरैः ॥ ५३ ॥ सवेमिरे संविज्ञाः परिवद्धाः । क्षिप्तो-  
लपासु प्रसारितद्रुवसु । वाजिशालासु । कर्तव्येन महता कष्टेन ॥ ५४ ॥ तोमावगाहकलितः प्रस्फुरितः ।  
नीलदेहेः श्यामतनुभिः । उत्सारितः दूरीकृतः । अत्रिकूटैः पर्वतशिखरैः ॥ ५५ ॥ पुष्कराणि करिहस्ताप्राणि ।  
उदमीमिलत् प्रकाशयत् ॥ ५६ ॥ अनुकृताव्याचलानां तुङ्गशृङ्गाणि यैः । रुचिरावयवैः मनोहरगानैः ॥ ५७ ॥  
भूभूत्सरिसु पर्वतनदीषु । गण्डस्थलेभ्यः कपोलमूलेभ्यः प्रविगलन् प्रच्योतमानश्चासौ मदपूरश्च तेन  
पूर्णम् । उत्तितीर्षोः उत्तीर्तुं ( उत्तर्तुं ) मिच्छोः ॥ ५८ ॥ जितकाशिना शुभ्रा गजाः । सलीलं लोलायुक्तम् ।  
मदेन मन्दं मन्दं यथा भवति । करेणुपाश्चात्यभागः हस्तिनीपृष्ठतलम्<sup>२</sup> ॥ ५९ ॥ बन्धेभानां वनगजानां गण-  
कषणं कपोलोद्धरणं तस्मात् स्वीकृतदानपरिमले । नियमनाय नियन्त्रणाय । नियन्त्रा हस्तिपकेन । अपदेऽपि  
अस्थानेऽपि ॥ ६० ॥ श्यामलमेघसदृशैः । प्रविशालवंशैः विस्तीर्णपृष्ठभागैः । मार्गैः गजैः ॥ ६१ ॥  
वचये ग्रासप्रोत्यै । प्रत्युत पुनरेवाहिता उत्पादिता वनस्मृतिः स्मरणं येन तत् । सावज्ञम् अनावरसहितम्  
॥ ६२ ॥ महोक्षाः अनङ्गाहः । अमच्छेदकानाम् । कूलानि रोधासि । खलः पिण्याको दुर्जनश्च ॥ ६३ ॥  
क्षितिरुहां वृक्षाणाम् । बभूवे तस्ये । अलसमोलितनेत्रयुगलैः ॥ ६४ ॥ विच्छिन्नं प्रच्छादितकर्णसुखकारि-  
स्वका [ क ] लोके । 'काकलो तु कले सूक्ष्म' इत्ययः । मयानाम् उष्ट्राणाम् ॥ ६५ ॥ क्षुत्रेतरक्षितिरुहां  
महद्वृक्षाणाम् । करभै उष्ट्रैः । प्रवालजाले विदुमसमूहे । भृशायतशिरोधिभिः उद्धतकन्धरैः । अस्यमाने  
प्रस्थमाने । क्षीरापदेशः क्षीरव्याजेन प्रमदाधुजलम् । महता किल स्वसंपदि परार्थायां प्रमोदः स्यात्  
॥ ६६ ॥ वग्नाकारं स्कन्धावारं सैन्यम् । अमलानि मलरहितानि डिण्डीराणांमविकफानां पिण्डानि यत्र  
सः । पयोधिः । वञ्चन्तो घावमाना वाजिजवाः समूहा यत्र तज्जयी । अविरतमनवरतमुद्भ्रान्ता कलोलमाळा  
यत्र । सर्पन्तश्चङ्कममाणाम् मत्तद्विषा यत्र तत् तज्जयी । अभिसरन्नक्रवकः अभिगच्छद्ग्राहसमूहः । अपारः  
पारवर्जितः ॥ ६७ ॥ निविष्टसैन्यम् आस्थापितशिबिरम् । अन्तिके निकटे ॥ ६८ ॥ बलं सैन्यम् । विभावरी  
रात्रिः । प्रफूलनं ( न ) क्षणक्षणा । तारकाक्षः कनोनिगा इत्युक्तिलेखः ॥ ६९ ॥ तस्या विभावर्याम् ।  
श्रुतपरबलं ( लः ) आकण्ठितायातशत्रुसैन्यः । भाविसंग्रामचर्चाम् आगामिसमरगोष्ठौ<sup>३</sup> । विशिष्टम् ई श्रौ<sup>३</sup>  
( प्रियम् ) ईरते इति शीरः ॥ ७० ॥ भुवनमवनं जगद्गृहं तत्र प्रदीपोभूतं प्रकाशकरं बिम्बं यस्य सः ।  
नियत्या घात्रा उदयविह्वलमस्तामिषाम् । मुकुलितं मीलितकृशतारानयना । आलोचन्ती विरहमिव  
शोचयन्ती ॥ ७१ ॥

इति चन्द्रप्रकाशपञ्जिकायां चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

## पञ्चदशः सर्गः

श्रीमत्तार्किकचक्रवर्धितपदं सिद्धान्तसत्त्वोचये-  
मध्योन्मज्जनलब्धदृष्टिपिपणासद्बुत्तरत्नत्रयम् ।  
स्थाद्वादास्तसमस्तशिष्यहृदयध्वान्तं स्वसंवेदन-  
ज्ञानज्ञाननिजं श्रुतादिकमुनिं वन्दे जनोद्बोधकम् ॥

अथ आनन्तर्ये भूभूता पर्वतानां राज्ञा च । कटका. नितम्बाः सेन्यानि च । संनाहार्थं पटहाना इवनि. ॥ १ ॥  
तस्मिन् ध्वनौ पताकिनो सेना ॥ २ ॥ मदोद्धताकारैः प्रोम्मत्तावयवैः । 'चक्षुषो द्वे कपोलौ च पाणिपात्राभि-  
मेहनाः । अष्टौ स्थानानि नागाना मदस्य स्मृतिहेतवः ॥ ३ ॥' आनशिरे पूरितानि । पुलकोद्गमैः रोमाञ्चैः  
॥ ४ ॥ उपचक्रमे प्रारब्धम् । समरे संग्रामे । समरेखकं चतुरस्रम् । हृष्यति पुलकिते । तनुच्छदं कङ्कटकम् ।  
अपयसिम् अनोप्यस्तम् । ना पुमान् कश्चित् । नामुञ्चत् शरीरे न त्यक्तवान् । पुनरमुञ्चत् त्यक्तवान् । पुनः  
वारं वारम् ॥ ६ ॥ लघुभूतं स्तोकोभूतम् । स्वकरस्पर्शात् स्वन्दस्तस्येति ॥ ७ ॥ वीररसे विद्यमानेऽपि  
कान्तां दृष्ट्वा शृङ्गाररसेन द्विगुणोभूतं । अन्तर्दधे अन्तर्हिता ॥ ८ ॥ रिपुरोषेणास्फुरोभूता या छविः तया  
छुरितं कर्तुरितकवचैः ॥ ९ ॥ बहुभयानकयभोरायाः । भूः भूमि । इमे. गजैः । अवशि ताडिता । इरायाः  
सुरायाः । 'इरा भूवाक्सुराण्यु स्यात्' इत्यमरः । सद्ममदैः । अत्र मद्यसद्वृत्ते दाने भूमौ पतिते स्वमेव प्रतिबिम्बं  
दृष्ट्वा पूर्वदृष्टस्य प्रतिबिम्बस्य श्रुतेरवधारणाद् भूरेवादि ॥ १० ॥ अनिष्टया चलतया ॥ ११ ॥ व्यव्यायेन  
व्यवधानभूतेन । जयलक्ष्म्याः परिवर्ज्यमहं विदधे । व्यव्यायैमयं करोतीति वा हेतोः ॥ १२ ॥ भोमरथो नाम  
नृपतिः ॥ १३ ॥ भोमरथस्यापत्यं भोमरथि. ॥ १४ ॥ कुतोत्सर्गं विहितसंप्रदानः ॥ १५ ॥ स. चतुर ।  
सच्चकार संमानयामास । कुलकम् ॥ १८ ॥ विशेषज्ञः. कार्यविपश्चित् । तस्मात् तदोयमेव ॥ १९ ॥ सेना  
वाहिनी । सह इनेन प्रभुणा वर्तते इति सेना । यतो प्रयत्ने गच्छमाना । बद्धराजिः कृतमेणिः । आजिसमुत्सुका  
संग्रामोत्कण्ठा । चक्राणि च ह्यवदश्च खड्गाश्च अस्त्राणि च तं सागं स्थिरा । सा सेना अरातिषाध्वम म्रियं  
चक्रे विदधे ॥ २० ॥ महामार्गैः प्रधानैः । सज्जोक्तं सावधानीकृतम् । पुरोधसा रोपितास्त्रं मन्त्रपूततया  
घृतास्त्रम् । अभिशत्रु शत्रुसन्मुखम् ॥ २१ ॥ रथिना रथारूढेन । अनुसन्ने अनुजग्मे ॥ २२ ॥ रणविग्रहं  
( रणविग्रह- ) नामानम् । पूर्णं सूर्यम् ॥ २३ ॥ दीप्यमानार्धयशस्त्रमूलम् ॥ २४ ॥ हृस्वस्वरश्वादातिलक्षण-  
बलसहिताः ॥ २५ ॥ व्यक्तेयस्त्रमाणा ॥ २६ ॥ स्वनं कृतवती ॥ २७ ॥ परीयाय प्रदक्षिणं कृतवान् ।  
'लोमा कास भरंजनकुल. सज्जोक्त' । एतेषा दर्शनं ग्राह्यं दुर्लभा च प्रदक्षिणा ॥' प्रदक्षिणं दक्षिणा  
विद्यमासु ( श्रि ) त्य काको मुहु वावमे [ ववाक्षे ] शब्दितवान् ॥ २८ ॥ सुध्रुवे श्रुतम् [ सुस्रुवे श्रुतम् ]  
॥ २९ ॥ इष्टैः मनोऽभिलषितैः । इष्टार्थो जयस्तस्य सूचकैः ॥ ३० ॥ सराजकनृपतिः [ सराजक ] क्षत्रिय-  
गणसहितः । अमपति रोषात् ॥ ३१ ॥ अशिवम् अकल्याणकरम् ॥ ३२ ॥ आर्तं रुदितस्य स्वरं शब्दम्  
॥ ३३ ॥ समुखवाराम् । रुधिरवर्णम् ॥ ३४ ॥ संघट्ट. तुमुलम् ॥ ३५ ॥ त्वरान् शोघ्रवेगान् ॥ ३६ ॥  
मदोत्सेकेन मद्यसिञ्चनेन । क्लान्ती गन्त्रधमं कुर्वती ॥ ३७ ॥ 'हेपा ह्येषा च निस्वनः' इत्यमरः । कूज-  
स्वदहे ॥ ३८ ॥ अरिः कश्चिच्छत्रुः । किंविशिष्टः । रैरोराः रायं ब्रूयं राति ददातीति रैरो घनदस्त्वद्बुरो  
हृदयं यस्यासौ रैरोराः—घनदवत् त्यागकरणे विपुलमनाः । रैरैरैरो रायं रातीति रैरो घनदाता स चासौ  
रैरव च घनदश्च रैरैरै. घनदव्यक्ततां घनदः तमोरयति परिभवतीति रैरैरैरी । स्वदातृत्वेन घनदातृर्घनद-  
स्यापि जेता, परिभवकर्तृत्वार्थः । पुनरपि किंविशिष्टोऽरिः । रोहः शब्दयन् स्वमाहात्म्यं ( तस्य- ) सूचक  
हृत्पर्यः । पुनरपि किंविशिष्टः । उरुः उरु च उरु च स्थूलस्थूलौ उरु जड्ये यस्य स उरुः दृढजान्-  
रित्यर्थः । स च ( चा ) रैः शत्रोः सन्मुखम् । अरीरैः अराश्चक्राङ्गानि विद्यन्ते येषां तान्मरीणि चक्राणि  
तेषामीरैः क्षेपैः चक्रक्षेपैरित्यर्थः । कथम् । अरम् अतिशयेन । आर डुडोके । किंविशिष्टस्यारेः । रीरोः

स्वमाहात्म्यं शब्दयतः । 'ह शब्दे' धातो रु—प्रत्ययः । उणादिकः । पुनः किंविशिष्टस्यारः ।  
उरुः सूर्यलसूर्यलोरोः स्वसदृशजङ्घस्य । पुनरपि किंविशिष्टस्य । उरोः गरिष्ठस्य जनप्रसिद्धस्येत्यर्थः ।  
एकाक्षरः ॥ ३९ ॥ कथा स्पष्टा । आह्वास्त आकारयति स्म ॥ ४० ॥ अस्वास्तुभिः अक्षरैः । क्रैतुं मौल्येना-  
दातुम् ॥ ४१ ॥ अरिशरजालं शत्रुबाणसमूहम् ॥ ४२ ॥ निजाश्च ते ह्यघो बाणाश्च ० । नास्मासिधुः न  
ज्ञातवन्तः ॥ ४३ ॥ स्मारं स्मारं स्मृत्वा स्मृत्वा ॥ ४४ ॥ समुद्रा सहर्षेण । येन शत्रुणा । यः शत्रुजितः । तेन  
जितेनापि । सः शत्रुः । अस्त्रसमुदायेन शस्त्रसमूहेन योजितः ॥ ४५ ॥ ततः इमकुम्भकुम्भात् ॥ ४६ ॥ भूरि-  
तापाः प्रचुरसंतापकराः । रणाशयाः समराभिप्रायाः । भूतैः देवभेदैः । युद्धभूः संग्रामभूमिः । इता प्राप्ता ।  
पारणाशया भोजनाभिप्रायेण ॥ ४७ ॥ बाणघो मस्त्रे ॥ ४८ ॥ धीरधीरारिश्चरैः धीराश्च धीराश्च धीर-  
धीराः निष्कम्पाः ते च तेऽर्यश्च अन्योन्यशत्रवस्तेषां श्विराणि तैः । उरुधाराधरैः उरुवश्च ते धाराधरा  
मेधाश्च, अथवा गरिष्ठधारया पतमाने । अरम् अतिशयेन । धाराधरा पर्वतास्ते आधारीऽअष्टमो यस्याः सा ।  
अथ प्रदेवेऽधरा धरा निम्ना निम्ना धरा भूमिस्तै ररुधे पूरिता आधृता इत्यर्थः । द्रव्यअरचित्रम् ॥ ४९ ॥  
अजिरे जाताः । प्रगुञ्जनिनदा प्रगुञ्जच्छब्दाः । नदाः द्रवाः । आसन् जाताः । मूलं मूलतावच्छिन्नाः । मकराः  
जलजीवाः । कराः शृण्डादण्डानि (—शृङ्गा ) ॥ ५० ॥ अङ्गमङ्गं प्रति प्रत्यङ्गम् ॥ ५१ ॥ केन पतता मस्तकेन ।  
तत्रयुः वस्ताः । आलोकं दृष्टिगोचरताम् । गतेन प्राप्तेन । मृतकसंबन्धिना । के प्रसिद्धाः । तत्र आजौ ।  
सुरा देवाः । स्वम् आत्मीयम् । लोक देवलाकम् । त्यक्त्वा । कोनुकं द्रष्टुमागताः ॥ ५२ ॥ कबन्धेः अम-  
मुदकलेवरै ॥ ५३ ॥ निरन्तरनिपातिना साग्नवर्षिणामिपूर्णां बाणानां जालैः समूहैः ॥ ५४ ॥ रणरङ्गभू-  
समरोत्साहभूमिः ॥ ५५ ॥ स्वामिनामा प्रभुशब्दवाच्यः । ना पुमान् । येनैकोऽपि न जितः । तस्य नृता पुरुषत्वं  
न बभूव । स्वामिना प्रभुणा च । अनुता असत्या । मानना मान्यत्वम् । न कृता ॥ ५६ ॥ धोरः निष्कम्पः  
॥ ५७ ॥ प्रजङ्घुः युयुधुः ॥ ५८ ॥ प्रति- पति- सादितः पदातिभिर्मरिताः ॥ ५९ ॥ रणाङ्गणम् ॥ ६० ॥  
भङ्गं पलायनम् । उत्तस्थौ दुर्गौके ॥ ६१ ॥ कृच्छ्रे कृ [ क ] ष्टे ॥ ६२ ॥ संग्रमं भङ्गम् । न पूर्वं दृष्टं  
कैश्चिदित्यदृष्टपूर्वम् ॥ ६३ ॥ रणे युद्धे ॥ ६४ ॥ कोदण्डेन शत्रुणा दारुणो भीष्मः ॥ ६५ ॥ शत्रुकुलं युधम्  
॥ ६६ ॥ कटाक्षयामास अभिमते ( जे ) ॥ ६७ ॥ 'तुमुलं रणसंकुले' । इत्यमरः ॥ ६८ ॥ द्रुतमुक्षिप्तम्  
अग्निज्वालम् । रोषा इषबः ॥ ६९ ॥ आरात्र शब्दविशेषः । 'मते शोण्डोऽकटदीपाः' । इत्यमरः । मेघच्छ-  
प्राहः ॥ ७० ॥ रन्ध्रम् अवतरम् । शशिशेखरः पृथ्वीपालसेनानीः ॥ ७१ ॥ शक्त्या आयुधविशेषेण ॥ ७२ ॥  
प्रभो पृथ्वीपालस्य । पुर अग्रे । केतुनामाः केतुग्रहविशेषः ॥ ७३ ॥ स्फुरदहंकारबृहद्विषः ॥ ७४ ॥ केतो  
भगने पलायिते । सुतेतुनाम्न ( म्ना ) ॥ ७५ ॥ शतशः । बहुलण्डम् ॥ ७६ ॥ छिन्नपत्रं भग्नबाहुम् ।  
विरोचन इव सूर्यो यथा ॥ ७७ ॥ विमुखं वृत्तपृष्ठम् ॥ ७८ ॥ दुधुवे प्रकम्पितम् । समूहो दपितमनसा ॥ ७९ ॥  
अभिषन्नुपताकिनीं शत्रुसैन्यसन्मुखम् ॥ ८० ॥ अरिबाहिनीं शत्रुसेनाम् ॥ ८१ ॥ प्रत्यवतस्थे स्थगितः ॥ ८२ ॥  
विस्मितामराः आश्चर्यं गतदेवाः (?) ॥ ८३ ॥ नूनं निश्चितम् । अमूर्तमेव ॥ ८४ ॥ नाजीगणत् न ज्ञातवन्तो  
॥ ८५ ॥ शङ्कुजा [ ना ] आयुधविशेषः ( विशेषेण ) ॥ ८६ ॥ प्रतीक्षते अवलम्बते । दशनच्छदम् उष्टम्  
( ओष्ठम् ) ॥ ८७ ॥ गाढः दृढः ॥ ८८ ॥ प्रतीच्छन् लभमानः ॥ ८९ ॥ समुत्तेजितं त्वरितं ॥ ९० ॥  
समापतन्तं समागच्छन्तम् ॥ ९१ ॥ प्रहृत्य चिरकालं युद्धम् ॥ ९२ ॥ बबले व्यापुटितः । माहोरथे महीरथ-  
संबन्धिनि ॥ ९३ ॥ कोलाहलः कलकलः ॥ ९४ ॥ धृतं गृहीतं दिव्यं मन्वात्मकं धरासनं धनुर्धनं ॥ ९५ ॥  
संभूय एकीभूय । राजकं क्षत्रियगणः ॥ ९६ ॥ भक्षकां वस्मरोऽधरः । इत्यभिधानात् ॥ ९७ ॥ बाहिरथं  
व्यापारितस्थन्दनम् ॥ ९८ ॥ प्रहर्तुं धातं कर्तुम् ॥ ९९ ॥ नः अस्मान् । असदृशसंग्रामम् ॥ १०० ॥ शत्रुव-  
शक्ता नवध ॥ १०१ ॥ धनुर्ध्या मोर्धाम् । आस्पृशन् टङ्कारयन् ॥ १०२ ॥ आपलसूचनैः दुषचित्रप्रकाशनैः

१. व 'निम्ना' इति नोपलभ्यते । २. व 'वृता' । ३. व द्रवाः । ४. ज 'न्धिनाः' । ५. व 'देव-  
लोकम्' इति नास्ति । ६. व दृष्टमागता । ७. ज 'तस्थे' । ८. व 'युधम्' इति नास्ति । ९. व 'तुर्नामा' ।  
१०. ज सुतेतुना नाम्ना । ११. व शतत् ।

॥ १०३ ॥ अधर्मः ग्यग्निः ॥ १०४ ॥ दुर्नयः दुरभिप्रायः ॥ १०५ ॥ न लक्ष्यो मोक्षो मुञ्चनं संधानं च येषां ते, तान् ॥ १०६ ॥ अविच्छिन्नैः निरन्तरैः ॥ १०७ ॥ प्रजह्नुः प्रहारं चक्रतुः ॥ १०८ ॥ समशेत संदिवेह ॥ १०९ ॥ दष्ट्रे जीवन् गृहीतः ॥ ११० ॥ अन्तिकम् उपकण्ठम् ॥ १११ ॥ विजिग्ये जितवान् ॥ ११२ ॥ भग्नमनोरथाः गतमनोऽभिप्रायाः ॥ ११३ ॥ करालीकृते विषमोक्तते लोचने येन सः ॥ ११४ ॥ असाधारणैः लोकोत्तरैः ॥ ११५ ॥ न मनुष्यस्यैव बलं यस्य सः—असमसामर्थ्यः ॥ ११६ ॥ अवज्ञा शिथिलत्वम् ॥ ११७ ॥ दयितां बल्लभाम् ॥ ११८ ॥ असाधारणपराक्रमौ ॥ ११९ ॥ महाहबम् अधिकसंग्रामम् ॥ १२० ॥ दिगा-भोषाः दिग्मण्डलानि ॥ १२१ ॥ निष्कम्पनयनम् ॥ १२२ ॥ दृप्तं दर्पोद्धतयोर्दोहं (-दोर्वर्प-) प्रगल्भयोश्च ॥ १२३ ॥ लुलाव चिच्छेद ॥ १२४ ॥ प्रयासेन खेदेन विवर्जितो रहितः ॥ १२५ ॥ गुरुः जनकः ॥ १२६ ॥ सुवर्णमालाया अपत्यम् ॥ १२७ ॥ बन्ध्या निरर्थ (-यि-) काम् ॥ १२८ ॥ कर्णोक्त. चूर्णी विहितः ॥ २२९ ॥ चिच्छेद द्विधा व्यधात् ॥ १३० ॥ स्पृशन् आस्फालयन् ॥ १३१ ॥ शि (श-) बोभूतान् प्रेत्यमावं गतान् ॥ १३२ ॥ निर्वदं वैराग्यम् ॥ १३३ ॥ कुलटया दुष्टचरित्रया ॥ १३४ ॥ जागति कटाक्षते ॥ १३५ ॥ अवज्ञाय अनादरीकृत्य ॥ शिथिये आश्रितः ॥ श्रमणश्रियं मुनिभावम् ॥ १४७ ॥ एकादश श्लोकाः सुगमाः ॥ शिक्षासमयतां ज्ञानग्रहणयोग्यताम् ॥ १४८ ॥ बृंह्यामास प्रवृद्धं चकार ॥ १४९ ॥ तनुः कुशः ॥ अतन्द्रिणा आलस्योपश्रितस्य ॥ १५० ॥ इति वक्ष्यमाणानि ॥ १५१ ॥ शङ्कादिरहिता ॥ अधिकः संपन्नता ॥ १५२ ॥ अतिचारविपर्ययः शीलवृत्तेष्वतिचारः ॥ १५३ ॥ उपचानादिपूर्वकः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः ॥ १५४ ॥ अगूढ-सामर्थ्यं वीर्यमनतिक्रम्य ॥ १५५ ॥ समुद्यमः करणम् ॥ १५६ ॥ भेदिषु रहस्यज्ञेषु ॥ १५७ ॥ अवश्य-कार्याणाम् आवश्यकक्रियणाम् ॥ १५८ ॥ दर्शनवात्सल्यं प्रबन्धनवत्सलत्वम् ॥ १५९ ॥ व्रतनियमैः पूर्णः ॥ १६० ॥ दुष्करणबोधतपासि आराधनाचतुष्टयम् ॥ अपावुः विरजः ( जाः ) ॥ १६१ ॥ त्रयस्त्रिंशत्ता-गरायुः ॥ १६२ ॥

इति चन्द्रप्रमथारित्यपञ्जिकायां पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

## पोडशः सर्गः

यो बुध्वा सर्वशास्त्राभ्युधिमनुगतरस्वान्तसंशीतिगाढ-

ध्वान्तध्वंसं विधाय प्रसिन्नयसुधापूरपुतः स्ववाक्यैः ।

चक्रेऽत्यन्तं प्रबुद्धान् सुरजनसहितान् शिष्यवर्गान् श्रुतादि-

भूयात् सोऽयं मुनिर्नो दगवगमचरित्रादिहेतुर्धर्षीशः ॥ १ ॥

सरोजलण्डैः कमलवनेः । परितः इतस्ततः ॥ १ ॥ असहा असमर्थाः । विदग्धाः चतुरा गोप्यः क्षेत्र-

रक्षिकाः ॥ २ ॥ आरवः शब्दविशेषः । सरसरसामूर्तं स्वादुरसपोयूषम् ॥ ३ ॥ सच्छायाः सतो प्रशस्ता छाया

येषां ते, पक्षे सत्सु छाया कान्तियेष्वस्ते ॥ ४ ॥ नीरग्ध्रैः निरन्तरैः । सुरकुशः उत्कृष्टभोगभूमिः । अवग्रहः

अन्तरायाः ॥ ५ ॥ मुखरैः वाचालैः । त्रिदशपुरी अमरावती ॥ ६ ॥ करार्यैः हस्ताग्रैः । पवनपथस्य गगनस्य ।

गोपुरं पुरद्वारम् ॥ ७ ॥ काबाद्रि० नीलपर्वतसदृशः ॥ ८ ॥ वियोगी वीराना पक्षिणा योगः संगतिर्यस्य, नाभ्यः

कश्चिद् वियोगवान् । विलमाप्नोतीति, विशालपरिदेवनशब्दयुक्तो न । विगतो रसो विरसस्तस्य भावो वीरस्यम् ।

कलियुक्तता न च । गदया शस्त्रभेदेनाभिधातः, गदेन व्याधिना न ॥ ९ ॥ नागानां गजानां सर्पाणां च । उरु

गरिष्ठं विपुलं च । शाक्ययानां सीगतानाम् ॥ १० ॥ महादिसेनः महासेनः ॥ ११ ॥ कल्याणं शुभं तत्स्वभावेन

स्वर्णं च । मेरुम् ॥ १२ ॥ प्रलयपराकुलं (त) व्यबस्थः । अम्भोधिर्ब्यवस्था स्थितिः प्रलयेन पराकुता, अस्थ न

॥ १३ ॥ राजविद्या आन्वोसिक्खादिः ॥ १४ ॥ विशेषकस्य तिलकस्य । इत्या [तैत्ति] अनेनेव प्रकारेणैव ।

गुरुत्वं पितृत्वम् ॥ १५ ॥ पुण्येयोः<sup>३</sup> कामस्य । परमेस्वरौ मान्या ॥ १६ ॥ वंशोऽन्वयः, वेणुव ॥ १७ ॥

१. अ<sup>३</sup>रर्थकम् । २. व<sup>३</sup>जति । ३. च पुण्येयोः ।

बर्षोऽक्षरादिः, स्तुतिश्च ॥ १८ ॥ मन्दत्वं गमने मन्दता, मूर्खत्वं च ॥ १९ ॥ पारे । आत्मना स्वयम् ॥ २० ॥  
 सार्वभौमं चक्रिणम् ॥ २१ ॥ मदनफलैः घत्तूरबीजैः ॥ २२ ॥ मन्दोद्यमं शिथिलताह्वयम् । स्वातन्त्र्यं स्वाधी-  
 नत्वम् । अभिमूर्त्यै तिरस्काराय ॥ २३ ॥ व्युत्थानं प्रतिरोधवृत्तिम् । निशम्य आकर्ण्य । प्रतस्थे प्रस्थानं वक्तुं  
 ॥ २४ ॥ धृतं निजितघन्वा । स्वधारव्यं स्वेन वेध्यम् । विदधत् ददत् । उपायं प्राभूतोक्तगजे ॥ २५ ॥  
 प्रोद्गमं प्रोक्तदाश्च ते द्विरदा दन्तिनश्च तेषां रदानां दन्तान् (-नां) प्रमेदात् प्रहाराद् निर्याता, भग्नाश्च ते  
 योगाश्च तेषामसृताम्लुतं रथचक्रस्य चक्रबालं मण्डलं यत् । बलयम् अङ्गदादि ॥ २६ ॥ शिलोमु० भ्रमराय-  
 मानम् ( णम् ) । व्ययुहक व्ययविषयमकृत ॥ २७ ॥ उद्धान् उद्भटान् । अचिराशुभान् विद्युत्सदृशान् ।  
 मयदमुकारकारि पवनप्रचण्डम् ॥ २८ ॥ जितितलपालिनः भूमिपतेः । बलोपः सेनाप्रवाहः । प्रोत्सात० समूल-  
 मुत्पाटितं द्विवदनोरुहाणा शत्रुराजां (-राजानां) प्रतिरोधिवृक्षाणां<sup>१</sup> च प्रतानं संततिर्येन सः । अजे  
 जातः । संगमामः संगमसदृश ॥ २९ ॥ विदोर्णां प्रस्फुटिता । ते प्रसिद्धाः । अनुवेलं बेलं कल्लोलम् अनु  
 ॥ ३० ॥ प्रहरणम् आयुधम् । शुचि निर्मलम् । अन्तर्वर्णं वनमध्ये । कक्कोलं<sup>२</sup> चन्दनफलम् । वल्गुः  
 जगज्जुः ॥ ३१ ॥ अयककुदं अयचिह्नम् । 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्के ककुदोऽस्तिन्याम् ।'  
 इत्यभिधानात् । निखानयांभूय निखानान् । नाकं स्वर्गम् । आरुक्कोः षट्पुमिच्छोः ॥ ३२ ॥  
 विद्यासोः गन्तुमिच्छोः । सैकते । सिक्तमयैः । उडुवर्त्म गगनम् ॥ ३३ ॥ अन्ध्रीणाम् अन्ध्रप्रदेश-  
 स्त्रोणाम् । गण्डर्भानिः कपोलसलम् ॥ ३४ ॥ व्यपगतधामसु प्रतापप्रकाशरहितेषु । नयनोपलेषु  
 सूर्यकान्तेषु ॥ ३५ ॥ उपयुक्ततोयाः पीतपोयूषाः । स्रोतोभिः प्रवाहैः । प्रवृद्धैः प्रवृरैः ॥ ३६ ॥ सेवेयैः कण्ठ-  
 भूषाभिः । अकृतप आकृष्टाः ॥ ३७ ॥ पण्यस्त्रीमिव गणिकां यथा । अवाचीं दक्षिणा दिशम् । संसर्पता प्रसर-  
 ता । अकटाक्षि भोक्तृमप्रेक्षिता ॥ ३८ ॥ प्रतिहतशक्तिः निःशामर्थ्यः । अपसारसंज्ञा साररहितनामा ॥ ३९ ॥  
 पयोधराग्रं स्तनाग्रम् । लाटीये लाटदेशोद्भवसंभन्धिनि ॥ ४० ॥ विपक्षाणां कर्षं पञ्च, वनं च । ज्वलितुं  
 संतपितुम् ॥ ४१ ॥ पारसीकान् पारसीकदेशोद्भवान् । वैतस्या वैतसवन्नप्रया । वृत्त्या वर्तनेन । त्रितीय  
 विनदान विधाय । आवित गृहीतवान् ॥ ४२ ॥ अनुकारि ( णी ) सदृशा । करेण भागधेयेन हस्तेन च  
 ॥ ४३ ॥ संरम्भात् क्रोधोद्रेकात् । अभिपततः संमुखमागच्छमानान् । जलगजान् । निहत्य । मुक्तान् मुक्ता-  
 फलानि ( ? ) । उदलम्बयत् प्रलम्बयामास ॥ ४४ ॥ कुबेरगुप्तम् उदीचीम् ॥ ४५ ॥ तिग्माशोः सूर्यस्यापि ।  
 व्याखेपलणं कलहकालम् ॥ ४६ ॥ अनन्तस्य भाव आनन्दस्य । स्वस्थानन्दस्य । 'अनन्त उत्तरापधः' इति  
 लोकोक्तिः ॥ ४७ ॥ शीकरोवे<sup>३</sup> हस्तिनोज्ज्वलणसमूहैः ॥ ४८ ॥ हृत्वापि गृहीत्वापि । अयोगवृद्धं भोगं  
 विना चिरतरमंचितम् । टक्कानाम् उत्तरदेशोद्भवानां भिल्लानाम् ॥ ४९ ॥ भूमिभूतसु राजसु भूधरेषु च ।  
 वज्रोभूय निनशिको भूत्वा, वज्रं पविश्व अजनिष्ट चकोरेत्पथः ॥ ५० ॥ लक्षाः लक्षदेशोद्भवा एव । मयकाः  
 देशभेदाः । मगवेषु किल धूमो ध्वंसकः ॥ ५१ ॥ गुग्ग्राव शृणोति स्म ॥ ५२ ॥ हस्तमर्दिताः बलिमर्दिताश्च  
 ॥ ५३ ॥ वसनं वस्त्रं [ तद- ] युगादि<sup>३</sup> । यथावथ यथायोज्यम् ॥ ५४ ॥ प्रागेव वण्मासानिति संबन्धः ।  
 अहिद्रिषा हन्त्रेण ॥ ५५ ॥ कर्तव्यं कार्यविशेषम् । व्यधिषत बहूः ॥ ५६ ॥ कल्याणाङ्गी भद्राङ्गी ॥ ५७ ॥  
 शैलेन्द्राभं विजयाद्धनुष्यम् । रेकमाणं शबदवन्तम् ( नन्दन्तम् ) ॥ ५८ ॥ शीतमान् बन्धम् ॥ ५९ ॥ सिंहव्यूढं  
 सिंहोद्भूतम् ॥ ६० ॥ धूमकेतुं बह्निम् ॥ ६१ ॥ कल्याणं मङ्गलम् । उत्पलजा स्वप्नकलावगमनशीला  
 ॥ ६२ ॥ उदार उत्कट ( टो ) दुर्लङ्घ्यो लङ्घ्युमश्वयः ॥ ६३ ॥ हे पुत्र सुलोचने ॥ ६४ ॥ पाथोनाथात्  
 समुद्रात् ॥ ६५ ॥ वक्ष्यति अस्मोकिरिष्यति ॥ ६६ ॥ दयितात् वल्लभात् ॥ ६७ ॥ अनुत्तरविजयन्तनाम-  
 बिमानात् ॥ ६८ ॥ शोभः श्लाकुलत्वम् । आटोपेन संभ्रमेण ॥ ६९ ॥ तन्वतोभिः विस्तारयन्तोभिः ॥ ७० ॥

इति चन्द्रप्रमकाव्यपञ्चिकायां षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

## सप्तदशः सर्गः

सदादिनयभासुरैरघहैरशेषप्रियैचोमिरिह सप्तमङ्गविषर्विनेयाधनाम् ।

प्रगाथायति ह्रस्वः कर्णया रविर्वा परं श्रुतादिमुनिरन्वहं मुनिवरः स नः स्ताम्भुरे ॥

द्वन्द्वमिच्छुना दिदृक्षुणा । प्रसूतिसमयेन पीये मासे कृष्णदशम्या अपगमे एकादशी तिथिमाप्य ।  
अबोजनत् जनयाचकार ॥ १ ॥ प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः । सुरभयन् सुगन्धोकुर्वन् ॥ २ ॥ वृन् सन्महः ।  
दिविभरैदिव्यैः । बद्धमण्डलैः कृतबेष्टनैः ॥ ३ ॥ रेयुः शब्दं चक्रुः । अकरहति कराताडिता यथा भवन्ति ।  
गजारयः सिंहाः ॥ ४ ॥ जलदवत् मेघवत् पटु सुन्दरं यथा भवति तथा । प्रतिध्वनि कुर्वाणाः ॥ ५ ॥  
समसमयम् एकवारं युगपत् । प्रतस्थिरे प्रस्थानं विदधिरै ॥ ६ ॥ किरणाना निकुरम्बं कदम्बकं तेन रञ्जिता  
रागवत्यः ॥ ७ ॥ व्यनक्ति प्रकाशयति । तिरोहितः व्यबहितः ॥ ८ ॥ अमराज्यात् स्वर्गात् । नृपगृहं यावत्  
॥ ९ ॥ सवासवः इन्द्रसहितः ॥ १० ॥ जितम् यथाजातरूपसदृशम् । अर्भकं बालम् । उज्जहार उद्धृतवती  
॥ ११ ॥ मासुरं दीप्यमानम् । अशीतरुचि सूर्यम् ॥ १२ ॥ सुरैश्चतुर्निकायैर्देवैर्वृत्ति वृद्धि नीते । तं बालम्  
॥ १३ ॥ अन्तगतः समीपस्थाः । अब्दः दण्डः ॥ १४ ॥ मुखरं वाचालम् । समुपतस्थिरे जमिरे ॥ १५ ॥  
नेदुः शम्भिताः । मेरिकाः पटहाः ॥ १६ ॥ पेटकैः वृन्दैः । दिगन्तरसहितम् ॥ १७ ॥ विनिहितानि आरोगि-  
तानि । सुराद्रिवत्सं मेरुमार्गं ॥ १८ ॥ लक्षणि गरिष्ठानि । रुचिराणि मनोहराणि चैत्यमन्दिराणि यत्र सः  
॥ १९ ॥ कृतविततं ( ति ) विहितमालाम् । अमलनरम् अतिनिर्मलं दुग्धं क्षीरार्णवः तस्य जलकुटीः ॥ २० ॥  
ललितानि सुखव्याप्यानि वृत्तानि । निशिता तीक्ष्णा ॥ २१ ॥ शैलोक्षालकारम् ॥ २२ ॥ आह्वयन् आह्वाननं नाम  
चक्रुः ॥ २३ ॥ प्रथमकल्पपतिः सौधमन्दः । इतरैः ईशानादिभिर्बानवैरन्वितः सहितः ॥ २४ ॥ अकलङ्कं  
कलङ्करहितम् ॥ २५ ॥ कार्पिणः कार्याकाशिणः ॥ २६ ॥ हरिविष्टरस्थितः सिंहासनस्यम् ॥ २७ ॥ नौस्थितं  
( तः ) प्रबहणमाश्रितः ॥ २८ ॥ अविचलितमक्षि स्थिरमनस्कतया दृढमक्षि ॥ २९ ॥ अभव्यम् । अपहाय  
त्यक्त्वा ॥ ३० ॥ विससा स्वभावेन ॥ ३१ ॥ कुतो गुणवान् ॥ ३२ ॥ आपदः ऐहिका आमुत्रिकादव  
॥ ३३ ॥ भवदङ्घ्रिपङ्क्तुहतेष्वनं पदरुमलोपासनम् ॥ ३४ ॥ उपलब्धचरी पूर्वं नोपलब्धा । निश्च्येष्टा  
निःकारणा ॥ ३५ ॥ अभिगम्य प्राप्य । प्रसाधिका अलंकरणम् ॥ ३६ ॥ भाक्तिकाः भक्तिकरणशोला  
॥ ३७ ॥ अस्य असुभूतः । हृदयं मनः । न लोयते न लीनं स्यात् ॥ ३८ ॥ वाग्मिना वचनवाटवयुक्तानाम्  
॥ ३९ ॥ सिद्धं नृत्तिकृतं फलं यस्य स तेन ॥ ४० ॥ प्रणृत्य ( स ) स्तुत्यम् ॥ ४१ ॥ विनिवेद्य पुनरुत्सवादि-  
ना निगद्य ॥ ४२ ॥ योजितामूनं ( ता ) न्यस्तपीयूष ( पाम् ) ॥ ४३ ॥ अनुवासरम् अनुदिनम् ॥ ४४ ॥  
अरीरमत् रमयाचकार ॥ ४५ ॥ प्रतिबुद्धबुद्धि विचारचतुरमति ॥ ४६ ॥ मन्दनिहितचरण मन्दारोपितपद-  
॥ ४७ ॥ अविबुद्धमूल्यः अज्ञातमूल्यः स्वभावः ॥ ४८ ॥ प्रजिषाय आददौ ( ददौ ) ॥ ४९ ॥ अनयत्  
अप्रापयत् ॥ ५० ॥ नृपतिपट्टबन्धनं राज्याभिषेकम् ॥ ५१ ॥ अनुरोधतः अनुग्रहात् ॥ ५२ ॥ अभिननन्द  
अहर्षं वषुषे वा ॥ ५३ ॥ जनाकुलता व्यप्रताम् ॥ ५४ ॥ समोरणः वायुः । कर्णकटुककठोरशब्दभोग्यः  
॥ ५५ ॥ इतिभि समभिः । अतिवृष्टिरनावृष्टिमूषकाः शलभा शुका । स्त्रवक्रं परवक्रं च ससेता ईतयः  
स्मृताः । ॥ ५६ ॥ उपायनैः प्राप्तवैः ॥ ५७ ॥ विमज्ज विभागं कृत्वा ॥ ५८ ॥ प्रतिवासरम् अनुदिनम्  
॥ ५९ ॥ यथाभिमतं यथेष्टम् ॥ ६० ॥ कोऽपि बुद्धः ॥ ६१ ॥ कुपणं कदर्यम् ॥ ६२ ॥ जगदीश त्रिलोकोपते  
॥ ६३ ॥ तिरोहितवपुः विलीनकायः ॥ ६४ ॥ सम्पन्नमोहात्ता वचनेन ॥ ६५ ॥ विकारेण कृतो बुद्धविग्रहः  
शरीरं येन ॥ ६६ ॥ इति वक्ष्यमाणम् ॥ ६७ ॥ अनुगतं विनश्वरम् ॥ ६८ ॥ अविग्तमतिः संतप्तमतिः  
॥ ६९ ॥ विविधरचनानि विविधाकाराणि ॥ ७० ॥ तानि कर्मणि ॥ ७१ ॥ जगदन्तिकामराः लो ( ली )  
कान्तिका दवाः ॥ ७२ ॥ अमरपतिः इन्द्रः ॥ ७३ ॥ प्रवितीर्य दत्त्वा । अवदातचरितः निर्मलाचरणः  
अभिहितसिद्धनुतिः 'नमः सिद्धेभ्यः' इत्युच्चरितसिद्धस्तवः ॥ ७४ ॥ अपाकृतान् उत्पाटितान् ॥ ७५ ॥ उत्सवं



महविशेषातिशयम् । क्षोभितं पुण्यातिशयेन प्रचालितम् ॥ ७६ ॥ पञ्चबाह्वर्ष्यप्रभृतौनि । रत्नगुणगन्धोदक-  
वृष्टयः सुरभिमुदुपवनी देबदुन्दुभिर्वहेति ॥ ७७ ॥ चतुरा ईर्यासमित्यादिभिः सहिता गतिर्यस्य ॥ ७८ ॥  
असहन्त अशक्नुत । घृत्या संतोषेण वसितम् । पत्रिणः रोपाः ॥ ७९ ॥ अपहस्तमितुं निराकर्तुम् ॥ ८० ॥  
तनुतरत्वं स्वफलदानासमर्थत्वम् । अतनु प्रचुरम् ॥ ८१ ॥ नागवृक्षतले । अनुलम् असदृशम् ॥ ८२ ॥ तस्मिन्  
केवलोत्पत्तिरमये । समवसरणं सभाविशेषः ॥ ८३ ॥ घूलोशालः पञ्चवर्णमणिचूर्णप्राकारः । बलयः अङ्गदः ।  
अन्तरस्थाः मध्यस्थाः । विकचकमलानि व्याकोशाम्बुजानि ॥ ८४ ॥ विशाला विस्तोर्णा । विरचितान्या-  
गमोक्तशोभयालंकृतानि चतुर्गोपुराणि यस्य । उभयतः इतस्तत उभयपार्श्वे ॥ ८५ ॥ अर्चाः प्रतिमाः ।  
यागवृक्षाः चैत्यवृक्षाः । मणिमयतटैः मणिनिमित्तभित्तिभिः । लतामण्डपैः बल्लोगृहैः भ्राजमानाः शोभमानाः  
॥ ८६ ॥ केतुपङ्क्तिः ध्वजमाला । विभिन्ना मालामृगेन्द्रादिमानाविधा । हेमशालः स्वर्णप्राकारः ॥ ८७ ॥  
पराणि पराध्वानि ( णि ) । सभामण्डपाः सभागृहाणि ॥ ८८ ॥ अच्छस्फटिकः शुद्धस्फटिकः । अन्ते मध्ये ।  
अनुपमम् अनन्यसदृशम् ॥ ८९ ॥ स्फुरिता दीप्यमानाः । भासुररत्नाना रश्मयः किरणा यत्र । बोधः  
अनन्तज्ञानमनन्तदर्शनं च सहचरितत्वात् ॥ ९० ॥ उदयं पुण्यप्रादुर्भावमाकाशन्ते इति उदयाकाशिण ॥ ९१ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

## अष्टादशः सर्गः

सम्यग्ज्ञानमुधाप्रवाहनिचयैर्येनेह सिष्यव्रजो-  
धौताजानरजश्चय शुभमतिर्वाग्मी कृतः सद्गुणैः ।  
स्यान्नित्यादिनयप्ररूपणपरैः स श्रीश्रुतादिर्मुनिः  
संभूयान् प्रसमाय सयतपतिर्बोधप्रकर्षाय नः ॥

सर्वभाषास्वभावेन बोध्यश्रीवानुभाषानुकारिलक्षणं ध्वनिना अनभरात्मकभाषातिशयेन ॥ १ ॥ शासने  
मते ॥ २ ॥ पृथक्त्वपक्षे भिन्नोच्चारणे ॥ ३ ॥ अवस्थानजनननाशलक्षणलक्षणः ॥ ४ ॥ भवितुं योग्यो  
मध्यमद्विलक्षणोऽभ्यः, शुद्धपशुद्विभेदात् । यथा—‘शुद्धपशुद्वी पुनः शक्ते ते पाषापाक्यशक्तिवत् । साद्य-  
नादी तयोर्व्यक्तौ स्वभावोऽङ्गकोचरः ॥’ ॥ ५ ॥ प्रथमाया भूमौ उत्सेधः ७ धनु० ३ ह० ६ अं० । अन्ये  
द्वन्द्वके तत्तश्च द्वितीयाया अन्ये द्विगुणः—१५ धनु० २ ह० १२ अं० । तृतीयेऽन्ये ३१ धनु० १ ह० । चतुर्थेऽ  
न्ये ६२ धनु० २ ह० । पञ्चमेऽन्ये १२५ धनु० । षष्ठेऽन्ये २५० धनु० । सप्तमे ५०० धनु० ॥ ९, १० ॥  
प्रथमेऽन्ये सागरेकमायुः ( एक सागरोपममायुः ) । सा० १, सा० ३, सा० ७, सा० १०, सा० १७, सा०  
२२, सा० ३३ । प्रथमे पटले १०००० जघन्यमायुः । प्रथमे पटले १०००० जघन्यमायुः । प्रथमे नरके  
यदुत्कृष्टं सागरेकम् ( एक सागरोपमम् ) आयुः, तद्वितीये जघन्यम् । शेषं सुगमम् ॥ ११, १२ ॥ २२ ( ? )  
प्रथमाया बिलानि ३०००००० द्वितीयाया २५००००० तृतीयाया १५००००० । ( अवशिष्टासु क्रमशः )  
१०००००० । ३०००००० । ९९९९५ । ५ ॥ १३, १४ ॥ देवकुरुः उत्तमभोगभूमिः ॥ २९ ॥ शेषं सुगमम् ।  
कर्मभूम्युद्भूतानामुत्सेधः—धनु० ५२५ । इति उक्तप्रकारेण । गत्यादिभेदेन यथा—‘गह इदिये य काये जोए  
वेए कसाय नाणे य । संजमदंछणलेस्सा भविया संमत्त सण्णि आहारे’ ॥ इति परमाणवे विस्तारः ॥ ६८ (?) ॥  
शेष स्पष्टम् । पञ्चबाह्वर्ष्यजोषभेदाः । एकीकृता जीवेन सह षड् द्रव्याणि । कालरहितानि द्रव्याणि पञ्चाति-  
कायाः ॥ ७० (?) ॥ वर्तना ॥ इति द्रव्याणां नवजीर्णतालक्षणम् । परमार्थकालः । समयावयव-दिव्यवहारा-  
कालः ॥ ७७ ॥ सकषायः । दशमगुणस्थानं यावत् ॥ उपशान्ताद्ययोगगुणस्थानं यावन्निःकषायः ॥ ८५ ॥

जासावनं विराधनम् । मात्सर्यम् । अहंकृतिः । निह्वयनम् । गुरुणां प्रच्छादनम् ॥ ८६ ॥ परिदेवनम् ।  
 व्यथाजननम् ॥ ८७ ॥ सरागसंयमोऽणुवतलक्षणो देशसंयमः ॥ ८८ ॥ (?) । अवर्णवादः । यदुच्छया कथनम्  
 ॥ ९ (?) ॥ विसंवादनं स्वैच्छया जल्पनम् । जिनेन स्वामिना प्रणीते संशयः ॥ ९३ (?) ॥ मिथ्यादर्शनम् ।  
 आह व स्वामी—‘मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद ( कषाय ) योगा बन्धहेतवः ।’ इति । स च बन्धः प्रकृतिस्थि-  
 तयनुभागप्रवेशलक्षणः ॥ ९८ ॥ (?) असौ संवरः ॥ ‘स गुप्तिसमितिषमन्नुप्रेता १२ परीषह २२ जय  
 चारित्रैः’ । १३ इलो० ९ (?) पूर्वस्य आर्तस्य । १९ (?) सन्निबन्धना कारणसहिता । २४ अपरतः । अलोकेऽ  
 गमनं गतिहेतोर्धर्मस्याभावात् ॥ ३२ (?) ॥ प्रह्लाद्य सानन्दा विषाय ॥ ३३ ॥ (?) इत्थम् उक्तप्रकारेण ।  
 धर्मवेक्षणा कुर्वन् । विद्वत्य । समाससाद प्राप्तवान् ॥ ४३ (?) ॥ माद्रपदे मासे सिते पक्षे सप्तम्या तिथौ  
 शुक्लव्यानेन निजितानि सकलानि अघानि कर्माणि येन । सिद्धेः पद मुक्तिस्त्वानम् । सविलष्टा विलीनाम् ।  
 पुनर्मायया । उत्पाद्य परममक्तया अगुरुचन्दनादिभिः सङ्कृतेत्यर्थः ।

इति चन्द्रप्रमकाव्यपञ्जिकायामष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

देशीयगणेऽमराण्यः प्रधानः । गुणनन्दीत्यर्थः ॥ ३ ॥

॥ छ ॥ श्रीः ॥ छ ॥ श्रीः ॥ छ ॥

## २. श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
अ				अथ स विक्रमवाश्रयभूषणो—	१३	१	३०८
अकृष्टपच्यसस्याढ्ये	२	११७	६२	अथ सा प्रभूतिसमयेन जि—	१७	१	४०५
अचिन्त्यमाहात्म्यगुणो ज—	१	४२	१५	अथ सोमवत्तनृवरस्य नलि—	१७	७७	४२३
अचेतनस्य बन्धादिः	२	८३	५३	अथाभवद्भूरिगुणैरलंकृतो—	१	३९	१४
अजीवश्च कथं जीवापेक्ष—	२	४५	४१	अथास्ति शृङ्गोलिसितामरा—	१	११	५
अत एव च दण्डवजितः	१२	६६	२९५	अषाहमिन्द्रः स ततोऽवतो—	१६	६८	४०३
अतिदूरतरोऽपि तेन सो—	६	११०	१६८	अथेववरश्चन्दनसेचनाद्यैः	५	७२	१३४
अतिरोद्गकिरातमल्लमिश्र—	६	७	१४१	अर्थकदास्थानगतं प्रतीहार—	२	१	३०
अतोतसंकथं परिरेष्यको—	१	५३	१९	अद्यं दयितेन पातितं—	१०	५७	२४४
अतुलप्रतापपरिभूततमो	५	३३	१२४	अद्यमेन समेन वाचिकाम—	१२	४७	२९१
अतुलप्रतोलिशिखराग्रगत—	५	२०	१२१	अधरवलगतं निधाय रागं	९	४३	२२५
अत्यन्तदुर्घटमिदं नहि	३	३९	८२	अधिकं व्यन्तराणां तु प—	१८	५९	४३९
अत्रान्तरे कृधाधावत्स्व—	१५	११४	३७२	अधिकमेषितया मुदितैर्जनेः	१३	३६	३१७
अत्रान्तरे पृथुनप श्रिय—	३	४४	८३	अधिकारपदे स्थितस्तथा	१२	७१	२९५
अथ कथमप्यपास्य दयिता—	१०	७८	२५०	अधिगम्य निपातित—	६	३४	१४९
अथ कश्चिदुपेत्य शासनाभि—	१२	१	२७९	अधिगम्य यथाविधि श्रुतं	१	७७	२६
अथ केनचिदानीय सेवकेन	१५	१३३	३७६	अधिरुह्य स तत्र विस्मिता—	६	१००	१६६
अथ कोशलेति भुवनत्रित—	५	१२	११९	अधिसूनु लालनविभावहि—	५	५९	१३१
अथ जातु स मेदिनोपतिनि—	१	६४	२३	अधुना ध्वनक्ति जिन एव	१७	८	४०६
अथ तत्र शक्त्युपचयानुग—	५	२३	१२२	अनन्तविज्ञानमनन्तबोध्यता—	१	३	२
अथ तामपरो महेन्द्रनामा	६	४६	१५२	अनर्घमणिना भीमरघं	१५	१८	३५२
अथ तेन परिभ्रमय्य मुक्त.	६	१	१४०	अनल्पसत्त्वं गुह्यंशालिनं	११	४	२५३
अथ ते परीत्य सुरशीलमु—	१७	१९	४०९	अनवस्थाता यः स्यान्नभ—	२	५८	४५
अथ घातकीत्युपदेन युता—	५	१	११६	अनिमित्तकुलसंकुले विश—	९	५५	२२८
अथ पुण्यदिने मूर्हतमात्रा—	६	१०८	१६८	अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगी	५	८७	१३८
अथ प्रजानां नयनाभिरामा—	४	१	९५	अनिकषितकृत्यानया	१२	८४	३००
अथ प्रवृद्धे दिवसे विशाप—	११	१	२५२	अनिष्टसंगमे तस्य वियोग—	१८	११६	४५१
अथ भक्तिः प्रथमकल्पप—	१७	२४	४१०	अनुगच्छति यः शठं प्रियैः	१२	९२	३०२
अथ भूपतिस्तनुना कराभ्या	६	२६	१४७	अनुपदाय विसं प्रणयापितं	१३	४७	३२०
अथ मन्त्रगृहे स मन्त्रवित्	१२	५७	२९३	अनुपमबलवीर्यैः संमुखीभू—	११	९१	२७७
अथ मायया जनितामात्रत—	१७	११	४०७	अनुरागपरापि विभ्रतो	१०	५०	२४२
अथ मायिनाम्यभयैरवशसा—	५	५६	१३०	अनेकचेष्टैरिति पयुपासितं	११	३९	२६३
अथ स प्रणयेन याजते	१२	३३	२८७	अन्तरेऽत्र नखचन्द्रचन्द्रिका—	७	४०	१८०
अथ स प्रियधर्मनामधेयं	६	७७	१६०	अम्यत्सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रति—	१८	१२१	४५२
				अम्यथा नृपतिवृन्दबेष्टः	७	५७	१८५

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक पृष्ठ
अन्येऽस्य ह्यय युवेदाभीशः	४	२८ १०१	अलिनीनिकुसुम्बधुम्बितामैः	१४	२५ ३३३
अन्येऽपि रिपुपक्षस्था रा-	१५	११३ ३७२	अवगम्य निपातितस्त्वया	६	३४ ५१
अन्योन्यदर्शनसमुच्चरि-	१४	५२ ३४१	अवगाच्युतनीति माम्भा-	१२	९५ ३०३
अन्योन्यसंहृष्टकराङ्गुलि-	७	८७ १९३	अवधार्य सुवर्णनाभजा-	१२	९८ ३०४
अन्योग्यालोकनोद्भूतत्व-	१५	३६ ३५५	अवभाति निजं स पौरुषं	१२	४५ २९०
अन्योऽपि यस्य यो योय्यः	१५	१९ ३५२	अवभास्य जगद्गुहं करे-	१०	१० २३३
अपरं च निवेदयाम्यहं ते	६	३२ १४८	अविकम्पितधीरसस्तुतत्वात्	६	५० १५३
अपरानपि यच्छति द्विपा-	१२	२१ २८४	अविदितागतवारणमीभवे-	१३	३० ३१६
अपरापरैः स समुपेत्य	१७	८० ४२४	अद्याद्या गतारे च सह-	१८	६४ ४४०
अपरेष्टुरपृच्छदादृतात्मा	६	७१ १५८	अष्टौ च त्रिदशपतेर्निदेशवा-	१६	५६ ४००
अपरेष्टुरक्षोपसैन्ययुक्तः	६	८८ १६३	असतीजनं जिगमिषु बहल-	५	१६ १२०
अपरेष्टुरक्षमितबाहुरक्षिक-	१७	६१ ४१९	असम्पददर्शनं योग विरते-	१८	९५ ४४६
अपरेष्टुरेनमवनीतिलकं	५	४९ १२८	असर्वशक्तं तावन्न	२	१०६ ५९
अपसर्प प्रयाहोतः किं	१५	९९ ३६९	असुखं कफलं प्रमज्ज्य यो-	१	७९ २७
अपहन्ति नरो निसर्गजा-	१०	२५ २३७	अस्वलद्गतिं बृहद्रथान्वित	७	१२ १७३
अपहृतवसना बधूस्तरङ्गैः	९	३२ २२३	अस्पृष्टपाम् अपि खेवर-	५	७९ १३६
अपायमुक्ता पदयो परे न	११	४६ २६५	अस्मरन्त्वतति चम्पकरेणो	८	३ १९६
अपि च सुवदने नरो न	९	१२ २१७	अहितस्य हितोपदेशै-	१२	५३ २९२
अपि तद्भवेद्विमतपुण्यवतः	५	६७ १३३	अहो नराणां भवगर्तवर्ति-	११	१० २५४
अपि तस्य पूर्वभरते भरत-	५	२ ११६	आ		
अपि मेरुसमे समुद्रगते	१२	६० २९४	आकस्मिकोद्गतबृहत्तरच-	११	८० २७४
अप्यनारततपोनियतीना	८	११ १९८	आज्ञां सुवर्णनाभस्य	१५	१४६ ३७९
अभबाम भवत्प्रसादतो-	१२	६८ २९६	आज्ञां विपाकविचयावपाय-	१८	११९ ४५१
अभिषाय गिः ससोष्ठ्यामि-	१२	६७ २९६	आद्या रत्नप्रभा नाम द्वि-	१८	७ ४३०
अभिमानधनो हि विक्रियां	१२	७८ २९८	आनीलनीरदनिभैः प्रवि-	१४	६१ ३४४
अभियातुमतः प्रयुज्यते	१२	९७ ३०३	आरणाच्युतकल्पे च द्रा-	१८	६५ ४४०
अभियुज्य निहन्ति यो रि-	१२	३८ २८८	आरणाच्युतयोर्हस्तास्त्रयः	१८	५६ ४३९
अभिवाञ्छति पादसङ्गम-	१२	९० ३०२	आर्तं रोद च धर्मं च शुक्लं	१८	११५ ४५०
अभिषिच्य त ललितदृश्य-	१७	२१ ४१०	आर्द्रदत्तनवयावकमण्डनं	७	८६ १९२
अभूद्भैरवैरङ्गैः रामरो-	१५	१४ ३५१	आर्यम्लेच्छप्रभेदेन द्विषिष्य-	१८	३२ ४३५
अम्बुना घनकिजल-	२	१३३ ६६	आर्याः घट्टकमभेदेन पोडा	१८	४३ ४३७
अयमनभिमुली सुकेशि	९	३७ २२४	आलवस्य निरोधो यः	१८	१०६ ४४९
अयमपि मधुरस्वरोऽभिभू-	९	३६ २२४	इ		
अयमुदकहृतो व्यथिष्यते	९	५४ २२८	इतरे च तं परममक्तिभर-	१७	१४ ४०८
अयं मुनिधनोऽधनोऽधनसहः	१४	३३ ३३५	इतरेतराद्गुपीडिताङ्गो	६	२४ १४६
अध्यादिकां सम्पदवाप्य पू-	५	७७ १३५	इतरेषु जनेषु का कथा न	१०	१ २३१
अथै धर्माय सेवन्ते	२	११९ ६२	इति कृतविधिप्रकारचेष्टा-	९	१८ २१९
अधर्मागंगतामेव तदी-	१५	१०७ ३७१	इति मितोषः सह शिक्षया	४	४४ १०५
अहंस्त्यस्तत्त्वं प्रविधातुमेनं	५	८८ १३८	इति गत्यापिभेदेन कृता	१८	६६ ४४१

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
इति गिरमभिधाय निश्चि-	५	९०	१३८	इत्यवेत्य भवदुःखभोरवः	७	४९	१८३
इति च व्यञ्जितयदलाभि	५	४६	१२८	इत्यागमं करटिनो मुनि-	११	८४	२७५
इति चाभिदधे हिरण्यना-	६	२७	१४७	इत्यादि नोपमानं च	२	९८	५७
इति चित्तममुष्य धीरयि-	६	९९	१६६	इत्याद्यनेकसिद्धान्तगहने	२	५०	४२
इति चिन्तनाकुलमुपेत्य	१७	७२	४२२	इत्यालापर्युवेष्टस्य मान-	१५	१०६	३७०
इति तत्त्वोपदेशेन प्रह्लाद्य	१८	१३२	४५४	इत्याशाः समदवधूरिव क्षि-	१६	५३	३९९
इति तत्र गिरी निविष्टसैन्यं	१४	६८	३४६	इत्यास्रवपदायस्य तत्त्वं	१८	९४	४४६
इति तद्वचनैर्विद्वच्चित्तो-	६	९५	१६५	इत्युक्त्वा वाचमुच्चार्या	२	५१	४३
इति तर्कयन्त्रिकलमङ्गभुवा	५	५७	१३०	इत्युत्थितं समाकर्ण्य	१५	३१	३५४
इति तस्य निशम्य गर्वग-	६	२०	१४५	इत्येषमादिभिदधान्यैः स-	१८	१४४	४५६
इति तस्य निशम्य भारती	१२	४२	२९०	इदं करोम्यद्य परद्विनेष्विदं	११	१३	२५५
इति ते विनिवेदितं मया	१२	१९	२८३	इदमात्मवधाय मद्विद्वदं	६	१९	१४५
इति दूतमसौ विसृज्य रा-	६	९७	१६५	इदमिदमिति दर्शयन्नरोषं	९	३९	२२४
इति देशयति नभश्चराणा-	६	८७	१६२	इदमिन्द्रजालमुत बातुग-	५	५५	१३०
इति नारकभेदेन कृता	१८	१६	४३२	इयमपि शफरी समुत्पत्तन्तो	९	३८	२२४
इति प्रजानामधिपः स्वचि-	४	२७	१००	इयमिह पुलिने निसर्गरम्ये	९	३५	२२३
इति प्रसाध्याखिलभूतधा-	४	६८	११२	इष्टैरिष्टार्थपिण्डैः परि-	१५	३०	३५४
इति ब्रूयन्त तमुदारचेष्टितं	११	६६	२७०	इह गगनचरैः कंदरागोचरैः	१४	२४	३३२
इति भाषिण एव भारती	१२	२५	२८५	इह तावददातुमिच्छता	१२	३०	२८७
इति मन्त्रिगिरं कृत्वा	१५	११८	३७३	उ			
इति मानुषभेदेन कृता	१८	४७	४३७	उत्तीर्णभारलषवः परितो-	१४	६३	३४४
इति वनविहृतिप्रसङ्गखिलं	९	२७	२२१	उदककणचित्तेनितम्बिनीनां	९	५२	२२८
इति वाचमदृष्टमुदगराभा स-	६	८५	१६२	उत्पादि तयो शशिप्रभा-	६	४५	१५१
इति वादिनि तत्र राजपु-	६	२३	१४६	उदयाद्रिशिरःश्रितः शशी	१०	२०	२३५
इति विषयविरक्तदृष्टप्रया	१	८०	२७	उदितेन पयोधिरिन्दुना	१०	२६	२३७
इति बुद्धिमिते रतोत्सवे	१०	६१	२४५	उदीरितायामिति वाचि सू-	११	६२	२६९
इति शिवसुखसिद्धयै भावय-	१५	१६०	३८२	उपकारोऽपि भिन्नत्वात्-	२	७८	५१
इति श्रुतिह्लादि वचो ब्रुवाण	५	८४	१३७	उपवासावमोदयं वृत्तिसंख्या	१८	११२	४५०
इति श्रुत्वा स तद्वाणी	२	२४	३६	उपसृत्य पुमांसमेकमा राज्ञ-	६	३९	१५०
इति हितमधुरैरिवाहिमन्त्रै-	९	१५	२१८	उभाबुभयमायोऽङ्गं नि-	१५	१२०	३७३
इति हेतुभिः प्रचलितैश्च	१७	६	४०६	ऋ			
इति संवरतत्त्वस्य रूपं	१८	१०८	४४९	ऋतुजनितश्चिबधूसमूहैर-	९	२६	२२१
इति संघोरयन्नामसैन्यं	१५	६५	३६२	ए			
इति संप्रधार्य भुवनेश भव-	१७	४०	४१४	एकस्त्रयस्ततः सप्त दश स-	१८	११	४३१
इत्थं विधाय विविधं स-	११	७२	२७२	एतच्च प्रचिकसदम्बुजाभि-	१०	६५	२४६
इत्थं विहृत्य भगवान्सकला	१८	१५२	४५८	एतस्यानृजुः प्रमदमीमृगा-	१	८४	२९
इत्थं नारीः क्षणश्चिह्नवः	७	९१	१९४	एताम्येव सजीवानि यद्-	१८	६८	४४१
इत्थमात्मनि संसिद्धे	२	७४	५०	एतेन जडतां तस्य	२	८०	५२
इत्थं मधौ मधुकरोमुखरी-	८	५१	२०९	एतेष्वसत्त्वपरितोषनिब-	३	२६	७८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
एत्य लौकितविचित्रभूषणो-				कलोलोच्चलितविदोर्गधु-	१६	३०	३९२
एवमेव चतुर्भेदभिन्नो ब-	१८	१०५	४४८	कश्चित्तनुच्छेदं योग्यं	१५	६	३४९
एषा तवाग्रमहिषो पृष्ठभेद-	३	५३	८६	कश्चिदालोहनिर्मलं. प्रत्यङ्गं	१५	५१	३५९
एषा पुरं त्वदनुभावविबुध-	३	२९	७९	कषायनाम्ना विजयेन वै-	११	४७	२६५
क				कषायसारेण्यनबद्धपदति-	११	१९	२५७
ककुप्यन्तविश्रान्तत-	१५	८४	३६६	कस्तुरीमृगसुरभी हिमाच-	१६	५२	३९९
ककुभः प्रसेदुरजनिष्ट नि-	१७	२	४०५	कस्त्वं भीमरथः को वा	१५	१०१	३६९
ककुभा विवरेषु तारका-	१०	१५	२३४	कस्याचिदन्यजतसंकुल-	७	८५	१९२
ककुभो मलिनात्मनाखिलं	१०	९	२३३	कस्याप्यवगतस्यैमकुम्भं	१५	४६	३५७
कठिनकुचविचूणितोऽप्यप-	९	४४	२२६	का क्षता हृदयभूषणरस्य	८	१३	२०२
कठोरधारं विनिवेश्य कण्ठे	४	५५	१०८	काचाद्रिप्रतिमिलिलवो	१६	८	३८६
कतिपयानि न यावदप्यु प-	१३	२१	३१३	काचिद्विष्यमुदिता दयितेन	८	४५	२०८
कथं च जीवधर्मा. स्यु-	२	४६	४१	काचिदुत्पलतुलासहनेत्रा	८	२२	२०१
कथितोत्त समासेन निर्जरा	१८	१२२	४१२	काचिद्विज्ञाय गृहभित्तिगतं	७	८४	१९२
कथितो निमित्तपुरुषेण	१७	६३	४१९	काञ्चनारकुसुमे द्युतिमत्ता-	८	२५	२०२
कदम्बैः सहसा नाथ	२	२२	३५	काठिन्यं तन हृदयं स्मन-	१०	७३	२४८
कन्तुना भवदशोकबलेन	८	३४	२०५	कादम्बरौमद इवाशय-	७	९०	१९४
कंदरास्वनुक्रुताहिमवर्तं	८	४६	२०८	का घृतिस्तव रतेन विना मे	८	४२	२०७
कमलप्रभाप्रभृतिदिव्यनि-	१७	६०	४१९	कान्तकुण्डलमनोज्ञमुद्रिका-	७	२०	१७५
कमलानना मधुकरीनयना	५	३	११६	कान्तिवारिणि नभोवदनन्ते	८	४३	२०७
कम्रताव्रतपनीयनिर्मितं	७	२४	१७६	कार्त्तिकविशोऽञ्जलचन्द्र-	१४	१५	३३०
कर्णेर्विधरशेषबन्धश्च-	६	२५	१४६	कापोताङ्गकृष्टविधुनरः सम-	१६	५१	३९८
करताडनमास्यसुम्भनं	१०	४८	२४२	कामशोकजलधेरुदितानि	८	३६	२०५
करताडनमोष्ठलण्डनं	१०	५८	२४४	कालुष्यं त्यज भज तुङ्गमा-	१०	७२	२४८
करिणं प्रदिशामि निश्चितं	१२	११०	३०७	कादमीरप्रभविषु भूमिभू-	१६	५०	३९८
करिणोपतिरन्यदेव वा	१२	३२	२८७	किं करो तव भवामि सदा-	८	२०	२०१
करिणो मदमूढचेतसः	१२	१२	२८२	किं किं किमेतदुपयाहि	११	८१	२७४
कर्णकारमधवाजनितातं	८	३१	२०४	किंचिद्वपुः शिथिलताम-	३	६३	८९
कर्तुरस्मरणादिभ्यः	२	१०२	५८	किञ्चन कारणमभूदपरं	३	२८	७८
कर्मणा यो विपाकस्तु	१८	१०३	४४८	किनरादिप्रभेदेन व्यन्तरा-	१८	४९	४३८
कर्मणामागमप्राप्तमायूवं सं-	१८	८२	४४४	किमभूदमोष्यपि न वत्सल-	५	६८	१३३
कर्मणा प्रतिपक्षत्वान्मुक्ते-	१८	१२८	४५३	किमिदं परमाद्यूतं मया य-	६	३७	१४९
कर्मणि. परवशीकृतात्मनो-	७	४७	१८२	किमु कोऽपि बलोद्धतस्त्व-	६	१६	१४४
कलघोतमयोऽलिलामु	६	७४	१५९	किमु तस्य न सान्ति वार-	१२	३४	२८८
कलं नदन्ती पारिजातटेपु	४	७२	११३	किमेभिरथमालापिमति-	१५	१०३	३७०
कलमगोपकवशरवाहितभू-	१३	४९	३२१	कुचभरादसह्य शुक्रवारणे	१३	४२	३१९
कलासनायस्य हिमवृत्तेरि-	१	५९	२१	कुन्देन्दुद्युतिविकारावदात-	१६	१२	३८७
कलासमग्रोपि जनाभिन-	१	४४	१६	कुम्भालोकालक्षणं. पूर्णदे-	१६	६५	४०२
कलोलहस्तैः स्फुरदंशुजा-	४	६५	१११	कुम्भावम्भोजावृताम्बुपू-	१६	६०	४०१

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
कुर्याः सदा संवृतचित्रवृ-	४	४२	१०४	कवासौ भीमरथो यस्य	१५	८१	३६५
कुर्वन्ति यामनुकृताचलतु-	१४	५७	३४२	क्ष			
कुलं चरित्रेण विशुद्धवृत्ति-	१	४५	१६	क्षणक्षयिण्यायुषि मूढबुद्धिः	४	२१	९९
कुलजोऽकुलजोऽथवास्तु	६	९६	१६५	क्षणदानिलभासुरीभव-	१०	३५	२३९
कुबलयनयनाभिरस्यमाता-	९	५८	२२९	क्षणदृष्टतिरोहितैर्जनो-	१	६८	२४
कुसुमकिसलयं विचेतुकामा	९	२२	२२०	क्षणमङ्गुरवृत्ति जीवितं	१	६७	२३
कुसुमासया चिटपिनो व-	५	४८	१२८	क्षणमहणितलोचना रमण्यः	९	५३	२२८
कूटस्थप्रित्यता हेचित्	२	४९	४२	क्षणमुपास्य परां प्रियमगतं	१३	४५	३२०
कृतकटुस्वरमायतकंधरं	१३	२८	३१५	क्षणं प्रतीक्षते यावत्क्षान्न-	१५	८७	३६६
कृतकप्रथनेन रूपमन्यत्	६	२८	१४७	क्षणादशोकसंयुक्तं पुंनाग-	२	३२	३७
कृतचरणममस्क्रियास्तदा-	७	९३	१९५	क्षणिकत्वेऽपि संतानि-	२	८६	५४
कृतदयितविवञ्चना मूर्त्तं	९	४५	२२६	क्षणमिति मधुराभिभूयति-	८	६१	२१३
कृतदोसरवेविहंगमैर्निज-	१०	८	२३२	क्षमते निजमेव रक्षितुं	१२	१५	२८२
कृतपरस्परकेलिभिरुच्छल-	१३	५६	३२३	क्षमते विनयातिलङ्घनं	१२	२३	२८५
कृतपरस्परवाजिविघट्टना	१३	३७	३१८	क्षमसे ततो यदि न पातुम-	१७	६४	४२०
कृतमनमिजवेगमृदुयुग्मं	९	१७	२१९	क्षयवान्विजिगीष्यते परं-	१२	३९	२८९
कृतसमुद्रतवंशपरिघटा	१३	२३	३१४	क्षयः निलचलत्वपूर्वपदिचमा-	१५	३५	३५५
कृत्वा करावय स संकुचद-	३	४७	८४	क्षीणकर्मा ततो जीवः	१८	१३०	४५४
कृत्वा क्षण जनकुतूहल-	१४	५९	३४३	क्षुभेतरक्षितिरुहा करभे-	१४	६६	३४५
कृत्वापरमुरखिलावसरं	३	२०	७६	क्षुभितामिति तस्य भाषि-	१२	५५	२९३
कृत्वा विषादमिति दुःस्थि-	३	३५	८१	ख			
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो भ-	१८	१२३	४५२	खचराधिप योगिनोऽपि	६	८०	१६०
कृत्स्नमायासितं दृष्ट्वा साम-	१५	९७	३६९	खण्डयामास तानर्थचन्द्र-	१५	१२६	३७४
कृपणस्य परानुवर्तनः	१२	९१	३०२	खपुष्पं तदहं मन्ये भुवने	२	४२	३९
केचिदित्थं यतः प्राहूः	२	४४	४०	खरयोतमास्तरजोरहिते	५	७	११७
केन तत्रमुरालोक गतेन	१५	५२	३५९	खित्रं ते वपुर्नपायिना-	१०	७०	२४८
केवलं तदभिषेकवारिभि-	७	३१	१७८	खुरनिपातविदारितभूमिभिः	१३	१७	३१२
केवल न मणिबन्धभासुरं	७	३८	१७९	ग			
केवलं न यथा ज्ञातं रुचितं	१८	१२६	४५३	गगनमुभयतः प्रपूर्यमाणं	९	५	२१५
केवालभूतचर्मणा देवस्य	१८	८७	४४५	गगनात्पतितस्य तस्य धा-	६	२	१४०
कोऽपि क्षरत्करटभित्त-	११	८२	२७५	गगने गगनं तस्य सर्वेषां	१८	१३५	४५५
कोऽपीत्थं प्रणयरुषा विवृत्य	१०	७४	२४९	गच्छन्त्यावण्यसंक्रान्तदिदृक्षु-	२	३१	३७
क्रमतेऽरिषु मत्पराक्रमो-	१२	६२	२९५	गच्छ तत्सुभग सारमयत्वं	८	६९	२०३
क्रिया दिनकरादीनामुद-	१८	७५	४४२	गच्छती क्षितितलरोपित-	१०	६९	२४७
क्रियावसाने विरसेर्मुखि-	११	१६	२५६	गजेन्द्रदन्तैश्चमरीकचोर्ध्व-	४	६२	११०
क्रोधस्तदङ्गे यः पूर्वं मना-	१५	८८	३६७	गण्डस्थलामोदहृतद्विरेर्ध्व-	४	६१	११०
क्रोधाबभिरयं जीवः	१५	१३८	३७७	गतस्य तस्योपबने बनेचरो-	११	३४	२६१
क्वचित्पतितपस्यस्वं क्वचि-	१५	६०	३६१	गतावलेपिः प्रविष्टाङ्गुरेत्य	४	६०	११०
क्वचिद्दुर्गोशनङ्गकारैरिधु-	२	१२३	६३	गतैः समासतिसिन्धैरेतर-	१	२०	८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
गत्या निसर्गपरिमन्धराया	८	५७	२११	घ			
गत्या सुदूरमपि यस्य	३	४८	८४	घटादिकारणेष्वेतन्मृदा-	२	७१	४९
गदितुं युज्यतेऽस्माकं न	१५	१०४	३७०	घनघटासदृशो घृतासना	१३	२४	३१४
गवेन मुक्तोऽशनिना कटा-	११	११	२५५	घनसरैरुपरञ्जितवारभिः	१३	६०	३२४
गन्तुं पतङ्गोपबल्लितसा-	१४	१२	३२९	घनपङ्कनिमग्नमसमं किल	१	६६	२३
गम्भीरनादैः प्रतिमानिपाति-	१	२२	३	घनपादपसंकटान्तराले	६	११	१४३
गरीयसा यस्य परार्थसंपदो-	१	४३	१५	घनबीथिरथं क्षपापतावधि-	१०	२१	२३६
गर्भस्थितस्य जननान्तर-	३	६८	९०	घर्माशोरुदयमहोद्गमद्वयै	१०	६७	२४७
गर्वगद्गदमित्युक्त्वा	१५	८२	३६५	घर्मोदबिन्दुमिकाहित-	१४	४३	३३८
गलिताधुमिरातंनिःस्वनै	१०	१६	२३४	घर्षद्भिर्मलयगिरी महागजा-	१६	३७	३९४
गवाक्षनिक्षिप्तमुत्तारविन्दाः	४	७४	११४	घातिनिर्मघनलक्ष्यकेवला-	१४	३६	३३६
गल्मदस्वोन्नतवशाशालि-	१	६१	२२	च			
गहनान्तमद्यापहाय राष्ट्रं	६	३८	१५०	चक्रवर्तिविभवोचितोत्सवं	७	३०	१७७
गायत्र्यन्त्ययमितो रभ-	३	७४	९२	चक्रवर्त्यपि गृहीतदर्शनः	७	५६	१८४
गायनेष्वलिवधूनिकरेषु	८	३३	२०४	चतुराननतारूपमहातिशय-	१८	१३७	४५५
गिरिःस्थय खेचराधिवासः	६	७३	१५९	चतुर्णिकायभेदेन स्मृता-	१८	४८	४३७
गुणप्रामाण्यमोघेः सुकृतवस-	प्र. प्र.	२	४६०	चत्वारः शृङ्गमारभ्य हस्ताः	१८	५५	४३९
गुणनिमित्तैः सुरभिः भः कु-	५	४२	१२७	चत्वारोऽर्षा रजिचरवपुषो-	१७	८६	४२५
गुणवत्सल मा गमस्त्वम-	६	८६	१६२	चन्द्रकान्तस्सुतेर्यत्र	२	१२७	६४
गुणवानपि स त्वमोदुषो-	१२	१०	२८१	चन्द्रकारस्थलममलिनो-	१४	६७	३४६
गुणवान्समुपैति सेव्यता	१०	१४	२३४	चन्द्रोज्ज्वलेन यशसा	३	१७	७५
गुणसंपदा सकलमेव जग-	५	४५	१२७	चन्द्रोज्जिता रविर्लङ्कृते	३	३३	८०
गुणान्गुल्लम्बुजानो न निर्वृति	१	७	४	चराचरे नास्ति जगन्मो-	११	२२	२५८
गुणान्यथैवोपदिशन्प्रशंसया	१	८	४	चलनैर्वलनैः स्थानैर्वलनै-	१५	१२३	३७४
गुणान्विता निर्मलवृत्तमौ-	१	६	३	चलितबिद्भुर्जीयत बाजि-	१३	११	३११
गुणिनं मनोरथशताधिगतं	५	६२	१३२	चलितगैलचयेन गरीयसा	१३	२०	३१३
गुरुभरप्रहकुञ्जितविग्रहे-	१३	३१	३१६	चलितेऽभिमेह सुरनाथनि-	१७	१६	४०८
गुरुमताभिरतामलमानसं	१३	८	३१०	चारित्र्यगुण्यनुपेक्षापरोपह-	१८	१०७	४४९
गुरुरीढवरो नरकविद्वानदः	५	२९	१२३	चित्तमनतिमात्रत्वम-	२	८४	५३
गुरुवंशमद्याप्रमाणसत्त्वं	६	१२	१४३	चित्तपटुलिखितव्ययामो-	७	१६	१७४
गुरुविरहभवेन पथनाभो-	१	८२	२८	चित्तननपटुचो नपट्टिका-	७	२३	१७६
गुरुगुल्मस्यगुणास्य	४	३	९४	चित्तमेतदतिदूरवर्तिना	७	६२	१८६
गुहोदरे ध्वेयहिमे द्विमतुं	१४	१८	३३०	चित्ररत्नकिरणं प्रवर्तयन्	७	२७	१७७
गुहिणी क्षणिसूर्यनामधेया-	६	३३	१४८	चित्ररत्नपरिपूर्णकुक्षयो-	७	५९	१८५
गृहीतयोगं तपसा कृषीक-	११	३५	२६२	चिरमभ्रतदेही तो शर-	१५	८३	३६५
ग्रहागतं तं मदमृदमानसो-	११	८	२५४	चिरयसि परमेव निशिपन्वी	९	९	२१६
ग्रामैः कुक्कुटसंपार्यैः घ-	२	११८	६२	चिरमुद्यपरिध्यातः प्र-	१५	११०	३७१
ग्रैवेयकविमानेभ्यः परे	१८	५८	४३९	चीत्कारारवबधिरोकृतालि-	१६	३	३८४
				चूडारत्नेन चित्राङ्गं प्रा-	१५	१७	३५२



श्लोकांश	सर्ग	श्लो०	पृ०	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
चेतनालक्षणो जीवः कर्ता	१८	४	४२९	जीवाजीवासूवा बन्धसंब-	१८	२	४२९
प्युत्वा ततो विगलितायु-	११	७४	२७२	जीवे सिद्धेऽपि गर्भादि-	२	६२	४६
छ				जीवो नास्तीति पक्षोऽयं	२	५४	४३
छत्रमुत्सितफेनपाण्डुरं	७	५८	१८५	जन्मानवत्सततसंमिहिता	३	६६	९०
छन्दानुवतिषु पदातिषु	३	२५	७७	ज्ञ			
छायासु यत्किञ्चित्कहां तृण-	१४	६४	३४५	ज्ञानवृष्ट्यावृत्तो वेद्यं	१८	९८	४४७
ज				ज्ञानमर्थपरिवोधलक्षणं	७	५०	१८३
जगत्यमुष्मिन्दिवसाधिपो-	११	४४	२६४	ज्ञानमार्गमनिरोधि कर्मणो-	७	५२	१८३
जगन्महामोहतमःपटावृतं	११	४१	२६३	ज्ञानमात्रमिह संसृतिक्षये	७	५३	१८४
जज्ञे पयः प्रविशतः सुतरं	१४	५८	३४३	ज्ञानद्विवृषजाताया सहैव	१५	१४८	३७९
जज्ञे मासीपदंशासुगास-	१५	५३	३५९	ज्ञानावृतिदृगावृत्योर्वेद-	१८	१००	४४७
जज्ञे विहारतस्तस्य सर्वतु-	१८	१४२	४५६	ज्ञानोपयोगः सततमुप-	१५	१५४	३८०
जनतानुरागपरिवृद्धिकरः	५	४१	१२६	ज्योतिरुज्ज्वलमनन्तमण्डल	७	६	१७१
जनभयपरिविद्रुतेऽपि पत्नी	९	३४	२२३	ज्योतिःकाणा तु देवाना-	१८	६०	४४०
जनमनःशयने शयितं मनो-	१३	५२	३२२	त			
जनरवात्प्रसृतो निपतन्त्यथ-	१३	२७	३१५	तं योवराज्ये परिणीतमार्गं	४	१६	९८
जनादशेषाद्वयसा लघोया-	४	४	९५	तं रथस्थं रथाकृष्टः स्वर्ग-	१५	६७	३६२
जनेन पोरिण वृतः पुराद-	११	३३	२६१	तं बाह्यतरणं बोध्य धर्म-	१५	९८	३६९
जन्मान्तराणि भगवन्म-	११	७६	२७३	तं गजस्थं गजाकृष्टः	१५	७८	३६४
जन्मान्तरे शुभमथाप्यशुभं	३	३८	८१	तच्छस्त्रकौशलालोकवि-	१५	१२२	३७४
जन्मावलोमिति यथावदशौ	११	७५	२७३	तटगतामलनीलधिगतातलो-	१३	५७	३२३
जयन्तुवा निस्तमसो समु-	१४	१९	३३१	तटगतासितरत्नविनि सुत-	१४	२९	३३४
जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्यवा-	१५	१२	३५०	तटपादपसरुद्धैर्निर्गम्य-	२	१३६	६७
जयवारुजयवर्मनामधेयो-	६	४३	१५१	तटरुक्नुटजावनीरुहाणा-	१४	३८	३३७
जयशब्दं वयःशब्दः	२	१८	३४	ततः कलकलारावबधिरौ-	१५	९४	३६८
जयशालिनः सहजभद्रतया	५	३४	१२५	ततः पितृग्रहामर्षासमु-	१५	९०	३६७
जराजर्त्या स्मरणीयमोक्षवरं	१	४	२	ततः प्रतीहारकृतप्रवेशने	११	३	२५२
जलदनादगभोरमधिष्मिन्-	१३	४८	३२१	ततः स तेनानुमतो महोप-	११	६७	२७०
जलदबीबिबिशालमुरः प्रभोः	१३	३	३०८	ततः स पुत्रापितराज्यभा-	४	४५	१०५
जलयोषिका जनविगाहज-	५	६	११७	ततो मुमुक्षतः शङ्कु तम्य	१५	१३०	३७५
जलनिर्झरसङ्गशीतवाते	६	१८	१४५	ततो मोक्षोऽपि संसिद्धो-	२	१०९	६०
जलमकलुषमन्तरानुबध्नन्	९	३०	२२२	ततोऽवगन्तुमिच्छामि	२	४३	४०
जलवन्मस्त्ययानस्य तत्र	१८	६९	४४१	तत्क्षणात्सुमितसिंहविहरः	७	६५	१८७
जातोऽहमद्येन्दुसमागन्की-	५	८१	१३६	तत्क्षणाभिलषितामराशि स-	७	१५	१७४
जिन यः समाधयति मार्ग-	१७	२८	४११	तत्तेजो विहितविपलकक्ष-	१६	४१	३९६
जिनैः साक्षात्कृताशेषवि-	१८	६१	४४०	तत्स्वप्रकाशकं ज्ञानं दर्शनं	१८	१२४	४४२
जीवमन्ये प्रपद्यापि	२	४८	४२	तत्प्रगम्य धयितं क्विताभि-	८	१९	२००
जीवाजीवादि यस्पृष्टम्	२	५३	४३	तत्प्रत्ययास्त्वयमिदं न वि-	११	७८	२७४
जीवाजीवादिवद्वर्गं	२	९०	५५	तत्र त्वदीयवर्णाम्बुजता-	८	५६	२११

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
तत्र शासति महौ जनताया-	८	१	१९६	तमुदीक्ष्य भामुरमशितरुचि-	१७	१२	४०७
तत्राद्या मुनिभिः समं गण-	१७	९१	४२७	तमुपायनैः समुपगम्य सद-	१७	५७	४१८
तत्राभिनन्दितनिजाखिल-	३	१	७०	तमुपेत्य शक्रवचनेन नरप-	१७	५९	४१८
तत्राशामभिचलिते कुबेरगु-	१६	४५	३९७	तमेत्य सर्वावसरव्यवस्थित	११	२	२५२
तत्रासादनमात्सर्यगुहनिह्न-	१८	८४	४४४	तं महास्त्रैर्महासेनैवकार	१५	७६	३६४
तत्रासुरकुमाराणां प्रमाणं	१८	५२	४३८	तमोर्हयोरपि नृपयो प्रता-	१४	६९	३४६
तत्रासौ पारमुक्तमासविहृति.	१८	१५३	४५८	तयोर्वभूव नृमूलं रणधु-	१५	६८	३६२
तत्रासौ समुपगत समुद्य-	१६	३४	३९३	तरसोभयवेतनैर्वशीक्रि-	१२	१०६	३०६
तत्रेन्द्रपलशकलोऽज्ज्वलं	१६	४८	३९८	तरुराजयः सकुमुमाः कुमु-	५	११	११९
तत्सङ्गादिव संजात-	२	१३	३३	तरुवटपशिवावसकहस्ता	९	१९	२१९
तथापि तस्मिन्गुरुसेनुवाहिते	१	१०	५	तत्र कापि शशिप्रभाभिधा-	६	९१	१६४
तथाहि क्वचिदप्यस्ति	२	९२	५५	तत्र कार्यविदोऽभिजल्पितुं	१२	६९	२९६
तदखिलमपि वारि निक्षिप-	६	२९	२२२	तत्र कीर्तिभिरेव सर्वदिग्वि-	१२	७	२८०
तदाखिलं पुटभेदनमुद्रुतैः	१३	२५	३१४	तत्र तात न युक्तमाकुलत्वं	६	९८	१६५
तदपि क्वचन प्रयत्नसाध्ये	६	३१	१४८	तत्र दर्दनं जगदधीश विद-	१७	३०	४१२
तदयं स्वविनाशमोक्षमाणः	६	४८	१५२	तत्र नाथ यस्वरणयुग्ममवि-	१७	२९	४११
तदलं परिभाषितैरमोभि-	६	२२	१४६	तत्र मानधनाखिलरकारं	६	८१	१६१
तदवेत्य बचः प्रभोरिदं	१२	२०	२८४	तत्र गंहन नाथ लघु-	१५	७	३४९
तदस्मिन्नप्रमतेन प्रहृतुं	१५	११७	३७३	तस्माज्जज्ञे पुनरपि चतुर्गो-	१७	८८	४२६
तदाजयैक समुपेत्य धोर-	११	५	२०३	तस्मात्करामि तर्कविप्रूत्र-	१५	१०४	३७८
तदिदं शरदभ्रगुह्रकोते-	६	९२	१६४	तस्मात्स्ववेदने मिद्रे	२	६१	४५
तदीयसङ्गादखिलोऽपि भो-	४	८	९६	तस्मादक्कूक शास्त्र	२	१०५	५९
तद्धर्मध्वणाज्जातविबोधा-	२	१६	३४	तस्मादनादिनिघनं स्थितो-	२	८८	५४
तद्भारतीमिति निशम्य	११	७७	२७३	तस्मादशेषवित्कश्चिद-	२	१०८	६०
तद्रूपनोक्तखिलोभितलोच-	७	८३	१९१	तस्मादुपप्लुत मर्त्रं तत्त्वं	२	४७	४१
तस्य स तनाति यः कुलं	१२	१०८	३०६	तस्माद्भुवान्तरभवादनुभा-	३	५६	८७
तनुकुक्षयोऽप्यतनुधारमपो-	५	१३	११९	तस्माद्विषयविज्ञानमप्रपक्ष-	२	५९	४५
तत्र युक्तं क्रियाया हि	१८	७६	४४३	तस्मात्प्र दुष्टकरणो यदि	११	८५	२७६
तपस्वरन्धोरमधोरमानस	११	६८	२७१	तस्मात्प्रविशेपोऽमौ	२	९९	५७
तपेऽभिमुखं प्रतिमाव्यवस्थि-	११	७०	२७१	तस्मिन्काले सह परिजनैर्य-	१७	८३	४२४
तपो वपुर्मि. कठिनं. मुहु-	११	५९	२६८	तस्मिन्गर्भावनार कृतवति	१६	६९	४०३
तमकारणबान्धव ततोऽमौ	६	५६	१५४	तस्मिन्नधीताशिपि साधु-	५	८०	१३६
तमन्यसमानतेजस	१२	१०९	३०६	तस्मिन्नम्बुदगम्भीरे दिग-	१५	२	३४८
तमरोरमसुरकुमारममिति-	१७	४५	८१५	तस्मिन्मृगाङ्कः इव सर्वमनो-	३	५७	८७
तमसात्विश्वमेव कुर्वता नि-	१०	११	२३३	तस्मिन्विषयाय महतीम्	३	६१	८८
तमसाधारणैश्चिह्नैः प्रव-	१५	११५	३७२	तस्य भुक्त्युपसर्गाभ्या	१८	१३६	४५५
तमसःध्यमवेत्य मानुषास्त्रै-	६	१०३	१६७	तस्य मन्थरचतुष्टयाधिक्रा-	७	७३	१८९
तमिति प्रणव्य मुहभक्तिभ-	१७	४१	४१४	तस्य मासुतविलोमूर्तमि-	७	७४	१८९
तमुदीक्ष्य क्षरागुब्दुरीक्ष्यं	६	१०१	१६६	तस्य बाजिल्वरुजरादचयै-	७	६१	१८६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
तस्य बारिनिधिबारिमेखला	७	७६	१८९	तेजोनिषाबुदयधाम्नि सुव-	१	८५	२९
तस्य श्रीरिष कमलालयादु-	१६	१६	३८८	तेजो मूर्तिमिवारम्यं सु-	१४	१३	३५१
तस्यां रक्षां श्रुतपरबलः	१४	७०	३४७	तेन स स्ववशभावमाहृत-	७	४६	१८२
तस्यां त्रिणिषयकृताधिक-	७	८१	१९१	तेनोऽजितां निजकुलकवि-	३	३४	८०
तस्यापरविदेहेऽस्ति	२	११४	६१	ते पीत्वा प्रहरणधारिणाम्-	१६	३१	३९३
तस्यायतः करिवधूजित-	११	८७	२७६	तेभ्योऽधिगम्य तव सतति-	३	४१	८२
तस्योपरि स्फुरितभासुर-	१७	९०	४२७	तेभ्योऽप्यूर्ध्वं मणिमयवतु-	१७	८७	४२६
तस्योर्ध्वेऽवलम्ब्य ममस्त-	१६	४७	३९७	तेषामप्यनुमावाधा परि-	२	९१	५५
तस्योर्ध्वेऽयमविशेषकस्य	१६	१५	३८८	तेषु मापवणकानसौतिल-	७	१९	१७५
तां शशाङ्ककिरणा विदहन्ति	८	२६	२०२	तोयावगाहचलितैरलिनी-	१४	५५	३४२
तां क्षोणोमिव चतुरण्णव-	१६	२१	३९०	त्यज मम विरहोऽबुनेव प-	९	१४	२१८
तानिन्दुमुदरमुज्ज्वल-	३	३०	७९	त्यावदव शौर्यं च तथैव सत्यं	४	९	९६
तां तादृशीं ममवलोक्य	३	२१	७६	त्यावदवाभयदानादि प्रविभे-	१५	१५५	३८०
ताम्यपकायिषु मम स्युस्त्री-	१८	२४	४३३	त्र			
तापकुङ्कुरवक स्तवकन	८	८	१९८	त्रयोदशत्रिभु तस्य चारित्रं	१५	१५१	३८०
तापयन्ति मम मानिनि ता-	८	२१	२०१	त्रस्यैवावरेदेन तिर्यग्जी-	१८	१७	४३२
तापहारि वपुषो विधुरस्य	८	१६	२००	त्रासितारिदुभ्राजत्रुति-	७	३	१७०
तावद्भुजान्मां चयितु प्रयत्ना-	४	३२	१०२	त्रिगन्नरकलसाणि प्रथमा-	१८	१३	४३१
तामिरप्रविर्भाय धावमानं	६	१०४	१६७	त्रिःपरीत्य प्रणम्य त्रि-	२	३७	३८
तामिरभमदुर्गं द्रिसितु श-	१०	२९	२३८	त्रिकालगोचरानन्तपर्या-	२	६	३१
तावद्या संहतिस्तत्र पर-	२	२३	३५	त्रिकालमध्यस्थभननयो-	११	३८	२६२
तियंगतप्रमेदस्य क्रमो-	१८	२७	४३४	त्रिदशाधिवासजिति यत्र स-	५	२२	१२१
तिलकमिति यदत्र पूर्वमा-	९	२३	२२०	त्रिदशो यदि वा दितेस्तनू-	६	१७	१४४
तिलकस्तिलकं पृथग्यास्त	२	१५	३३	त्रुटिताप्यतिमात्रसंस्तत्रा-	१०	५९	२४५
तीक्ष्णयं केवल यत्र	२	१३८	६७	त्रैलोक्यशोभाभिभवप्रबोधं	४	१२	९७
तीरजैस्तत्सन्तानैः पयसि-	२	१३४	६६	त्वत्पादपद्मधारणे त्वद-	३	२४	७७
तीरेष्वेताः कृमुमितवासी-	१४	३५	३३६	त्वमतः प्रथमो विवेकिना	१२	७७	२९८
तीर्थभूतमृकभक्तिभावित-	७	४२	१८१	त्वमेव भागाविषलोभ्यलो-	११	२८	२६०
तुङ्गत्वमद्विपतिना हरिणे-	३	६	७१	त्वयैवं ब्रुवता सूक्तं नृप	२	५२	४३
तुरगरोहकायसमुत्पत-	१३	३४	३१७	त्वादृशो पट्टकारि वयस्या	८	१८	२००
तुरगवारकठोरकरद्वयो-	१३	९	३१०	द्व			
तुरगियत्तनिरुद्धमहारवे-	१३	१०	३१०	दक्षिण गणयामास ना-	१५	३२	३५४
तुरङ्गिणा पदातीना रथिना	१५	४०	३५६	दत्तश्रुति किन्नरकामिनोना	१४	५	३२७
तुलाप्यतीतो विनयः कथ	११	५३	२६७	ददृशे च गतेन तेन तस्मि-	६	४९	१५२
तुषाररश्मि भजते निशाया	४	६	९५	ददृशे च मुनिस्तेन स्थितो-	२	३६	३८
तुष्टया दधत्स्वसुतजम्भ	३	७३	९२	दधामिन्दोः परिवेषमात्र-	५	७३	१३४
तुहिनपाधुरतीरजसकता	१४	२१	३३२	दन्तिनो दन्तिमिमित्राः	१५	५९	३६०
तेजःकायभूतः केचिदपरे	१८	१९	४३२	दयापरः साधुरतः परत्रयो-	११	६१	२६९
तेजस्विनः पूरयद्योऽस्त्रिला-	४	४३	१०५	दयावतो धर्मधनस्य धीम-	११	६०	२६८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
वसितामतिषीवरस्तनीं	१०	५५	२४४	द्वादशाङ्गश्रुताधारो द्वाद-	१५	१४९	३७९
वपनिषाज्जटिति हृटेन पा-	१६	४२	३९६	द्वाराध्वपवितामलारुणमणि-	१०	७९	२५१
वश केवलनेत्राणां सहस्रा-	१८	१४८	४५७	द्वावप्यतुलसामर्थ्यो द्वाव-	१५	१०९	३७१
वश त्रीणि ततो हीनं प-	१८	१४	४३१	द्वावरत्नी समाम्नातो मध्य-	१८	५७	४३९
दशवर्षसहस्राणि जघन्त्यं प्र-	१८	१२	४३१	द्विगुणो द्विगुणोऽन्यासु	१८	१०	४३०
दशसप्तधनुर्भाना व्यन्तरा-	१८	५३	४३८	द्विजिह्वता यत्र परं कणा-	१	३३	१२
दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि	१	७२	२५	द्विरदानिव मद्विधान्मदा	१२	६१	२९४
दहनेन येन रिपुबंधततैः	५	२८	१२३	द्वीन्द्रिये द्वावशौव स्युर्यो-	१८	२१	४३२
दानाम्भोभिर्भूरिभिवारणाना	१३	६१	३२४	द्वीपसिन्धुबिबिषाकरोद्भवै-	७	६७	१८७
दानेन संयमिजनस्य जि-	३	६०	८८	द्वीपे नृप तृतीये यो विद्यते	२	११३	६१
दामद्वन्दात्सुभु सोऽन्त-	१६	६४	४०२	द्वीपेषु दुर्गेष्वथ मण्डलेषु	४	६६	१११
दारारुस्तानप्यनपेक्ष्य केचि-	४	५४	१०८	ध			
दारुणं यस्तपस्ते ब्र-	२	४	३१	धनवीवनप्रभृति सर्वमनु-	१७	६८	४२१
दाहणा विरचना भुकुटीना	८	४१	२०७	धनहानिरुपप्रदानतो-	१२	८१	२९९
दिङ्नागाग्रप्रतिदन्तिषाङ्कमनसः	८	६२	२१३	धनुर्धरं खाङ्गिभिरश्ववारैर्ग-	४	५	९५
दिननाथविभेवं पूरिताशा	६	४४	१५१	धनुर्महाराजेनाथ दुधुवे	१५	७९	३६५
दिनमथ मे गतमनुत्सवता	५	६४	१३२	धरणीध्वज इत्यभूत्प्रशास्ता	६	७६	१५९
दिनैरूपैरेव प्रथितगुणरायो-	५	९१	१३९	धरणीध्वज इत्यभौघनामा	६	९०	१६३
दिवसाधिपबलभागमे	१०	३	२३१	धराश्रयः संततभूतिसंगमः	१	४९	१८
दिन्यं दिव्यैः सेव्यमानं वि-	१६	६१	४०१	धर्माधर्मविषयाकाशं कालः	१८	६७	४४१
दिव्यान्दिव्याकारकान्तास-	७	९४	१९५	धर्माधर्मकजीवानामसंख्ये-	१८	७३	४४२
दिशि तस्यामवस्थाप्य	२	२७	३६	धर्माधर्मयोरविदधत्स-	३	१९	७५
दीनानाथकृतोत्सर्गः स-	१५	१५	३५१	धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धि	४	३९	१०४
दुःखेन ते प्रथममस्म्यहमेव	३	३७	८१	धर्मोऽर्थसंचयनिमित्त-	३	११	७३
दुरन्तभोगामिमुखा निवर्त-	११	२३	२५८	धवलारुणकृष्णदृष्टिपातैः	६	४	१४१
दुरात्मकादेव भवाद्भयकरा-	११	२०	२५७	धिवक्कमोदृष्टं कर्म करोति	१५	१३४	३७६
दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलनप्रबो-	३	२२	७६	धीरधीरारिरुधिरैरुक्षारा-	१५	४९	३५८
द्वृतिकोक्तमिति कोऽपि नि-	८	३०	२०४	धूमप्रभा ततो ज्ञेया परा	१८	८	४३०
दृष्टधोर्मदालिपु लतासु शरीर-	८	६०	२१२	धूमोद्गमेरागुरवैः सुरस्त्रो-	१४	४	३२७
दृष्ट्वा कदाचिदथ शारदमञ्ज-	४	७७	११५	धूलौसालो वलयसदृश-	१७	८४	४२५
देव कोऽप्ययमत्यन्तममा-	१५	११६	३७२	ध्रुवमस्य रूपविभवेन जित-	५	४३	१२७
देव देवोचितस्थाने सुगन्ध-	२	२	३०	ध्वनन्निताम्बावनि तारमन्ते	१४	३१	३३४
देवमानवशुभेतरग्रहप्रापि-	७	१४	१७३	न			
दोषानुबन्धरहिता तमसा	३	१८	७५	न कण्टकद्रुमस्थस्य काक-	१५	३३	३५५
दोःस्वित्त्वमिति मंचिन्त्य	१५	१४५	३७८	न काकतालीयमिदं कथं	४	२६	१००
द्व्यगणा पुद्गलादीनामधर्मः	१८	७१	४४२	न काचिवीहा कृतकृत्यभा-	५	८२	१३६
द्राघोयसीरविरलं रचिता	१४	४४	३३८	न केवलं सर्वगुणाश्रयेण	४	११	९६
द्रवेषामप्यथ प्रातः स्वावरे	१५	१	३४८	नगवुक्लमतङ्गजोघ्ननक्रे	३	५३	१५३
द्राक्षत्वारिषता वर्षसहस्रैः	१८	४०	४३६	नगापगातोयतरङ्गलोहै-	४	२०	९८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
नगोत्तुङ्गं समाह्वय नागेन्द्रं	१५	२३	३५३	नयेन नृणा विभवेन नाकि-	११	५२	२६६
नगमश्रावितनामासी बद्ध-	१५	८०	३६५	नरनाथ युष्मा यदा स दृष्टो	१	६१	१५६
न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति	२	१०३	५८	नराधिप त्वां प्रियविप्रयुक्तं	५	८५	१३७
न च मुखादुते गोकर्क-	१८	७७	४४३	नरेन्द्रविद्याधिगमादिशुद्धया	१	५१	१८
न च व्यापकता तस्य	२	८७	५४	नरो विवक्ष्येत सरागतां ग-	११	२१	२५८
न च सज्जि सुसहस्त्वयापि	९	१३	२१७	नवद्वैवेयकादिस्थाः कल्पा-	१८	५१	४३८
न चात्मभूतयोर्द्वयं	२	७३	५०	नवतिस्थयिका तस्य सभा	१८	१४६	४५७
न चानुमानं तद्वाचा	२	९५	५६	नवसंगमजन्मना ह्लिया	१०	४४	२४१
न चान्यदस्त्युपादानं	२	६९	४८	न विबाधनं जनपदस्य सम-	१७	५६	४१८
न चाप्यकर्तृता तस्य	२	८१	५२	नबोदयं प्रस्फुरितप्रतापं प्र-	४	६९	११२
न चाशपित्तरप्यस्ति	२	१००	५८	न समोरणः श्रवणभेषिपह-	१७	५५	४१८
न चासिद्धमहेतुत्वं हेतोः	२	६४	४६	न सहते करपातमयं नृपो-	१३	१८	१३३
न चास्वविदितं ज्ञानं ये-	२	५६	४४	नहि कार्यविपश्चितः पुरो-	१२	७०	२९६
न चोपादानधर्मोऽपि	२	७०	४९	नागाः पदातिवृषभा-	३	७	७१
न जहाति पुमान्कृतजज्ञता-	१०	१३	२३४	नानापुष्पा समजमि ततः	१७	८५	४२५
न तथाप्यनुवर्तनामहं	१२	१०१	३०४	नाप्यागमेन सवजः	२	१०१	५८
न तस्य तावानमुसनिभस्य	५	७८	१३५	नामयश्नतुल्यदेवपोषाः	७	६४	१८६
न तस्य बाधकं तावत्प्र-	२	९४	५६	नारकस्यायुषो जैवो बह्ना-	१८	८९	४५५
न तादृशो स्वं विभवे न	११	५४	२६७	नाविधोगः सुहृत्सङ्गो न	१५	१३६	३७७
न त्वाहं विरहमयाद्रूपाणि	१०	७१	२४८	नास्ति तस्य मयि यन्मम-	८	१४	१९९
न नवं ययो व्यसनवर्गहतं	५	९	११८	निःशेषमम्बुधरधोरगभीर-	३	७१	९१
न निमित्तमिहोपदेशको-	१२	४४	२९०	निःस्पन्दं गजमिति संवि-	११	९०	२७७
न पपात रणे तावद्धीर-	१५	५७	३६०	निकरं द्वां तिमिरहानि-	१४	३९	३३७
न परं बन्धनं प्रेम्णो न	१५	१४३	३७८	निखिलान्मितानलक्षयो-	६	१०२	१६६
न परोषहास्तमसद्वन्त धृति-	१७	७९	४२३	निखिले त्रिषिवद्विवेचिते	१२	९९	३०४
न प्रातिक्लृप्तमत्यन्तं मनः-	१५	३४	३५५	निगुह्यतो बाधकराग्रजाना	४	४१	१०४
न बभूव कस्यचिदकालमरण-	१७	५४	४१७	निजधामविबुद्धिकारिणी	१०	४०	२४०
न भवात्किमवैति यद्बलात्	१२	४१	२८९	निजभर्तुवृत्त्यसन्नदुःखचितं	५	६९	१३३
न भूरिदानोऽपि मदेन सं-	१	४६	१७	निजभुजयुगलेरुदस्य जाया-	९	५७	२२९
नम इत्यपि त्वयि जिनेन्द्र	१७	३९	४१४	निजमधुरबिलासशोभितानां	९	४२	२२५
न महीरहाः परिहृताः कुसु-	१४	२३	३३२	निजरूपविभ्रममनोरमया-	५	३६	१२५
नयनाभिराममकलङ्कितं	५	५१	१२९	निजविक्रमाहितरणैरकरो-	५	३२	१२४
नयप्रमाणांशुमिच्छज्जला-	११	३७	२६२	निजशौर्यवर्द्धितशत्रुगणे	५	३०	१२४
नयमार्गममुञ्चतः स्वयं	१२	७५	२९८	निजेपुरचितस्फारमण्डयो-	१५	४३	३५७
नयमिन्द्रलाघवकरो विभक्तो-	५	४४	१२७	निजैः समस्तानिभूय धा-	१	४७	१७
नयविक्रमयोनयो बली	१२	७३	२९७	नितम्बबाप्यः खवराङ्गना-	१४	८	३२८
नयविक्रमशक्तिशोभितो	१२	४	२७९	नितरां परिकीपितो मनो-	६	६८	१५७
नयशास्त्रनिर्दिशितेन यः	१२	७६	२९८	नितान्तद्वेष्टेन कठोरवृत्ति-	१	४८	१७
न यावदद्यापि पवित्रपापू	५	७६	१३५	नित्यं व्यापकमाकाशमव-	१८	७२	४४२

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
मित्यसनिहितदेहदेवतादत्त-	७	१८	१७४	नृपतेमुकुलीकुर्वन्स करा-	२	३८	३९
मित्यस्यानुपकारित्वात्सम-	२	७७	५१	नृपपराक्रमधीज्विक्वसुभि-	१३	१९	३१२
निपतति कुषमण्डले रमण्याः	९	५०	२२७	नृपवधूजनयानविज्ञानक-	१३	३२	३१६
निपातयन्ती तरले बिलो-	१	२७	१०	नोदसिक्त स मदप्रवर्तिनी	७	२८	१७७
निपातितानां रणमूर्ध्वरोणा-	४	५९	१०९	प			
निमज्जती मे परिमूढबुद्धेरे-	५	८३	१३७	पञ्चस्पन्दविनिर्मुक्तो बभ-	१८	१३८	४५५
निमित्तभावेन मदस्य भूय-	११	५१	२६६	पञ्चमो च सहस्राणि वर्षा-	१८	४१	४३६
निरन्तरनिपातीपुजालप-	१५	५४	३५९	पञ्चमो दुष्मा ज्ञेया पष्ठो	१८	३८	४३६
निरन्तर्यत्र शूकाङ्गकोमल-	१	१३	६	पञ्चपानपि कृत्वाप्रे पत्तो-	२	२९	३७
निरवग्रहैनन्वतवै परित	५	१०	११८	पटहजेन पटुज्वनिमा मुद्-	१३	३५	३१७
निरवधि प्रसूतवर्षुधातले	१३	१२	३११	पठितव्यमिहान्वया स्थितं	१२	८३	३००
निरस्तपद्मवर्गिणः कुतसो-	४	१४	९७	पण्यस्त्रीमिव समुपातवन्नृप-	१६	३८	३९५
निरालोके जगत्समिन्न-	२	४१	३९	पतिरङ्गनया न्येषधि मत्प-	१०	४४	२४१
निराश्रयाणां पततामधोग-	११	४२	२६४	पत्रं घनं धान्यमक्षेपरत्नान्यु-	४	५७	१०९
निर्मनं विषतसुखाम्बुधाव-	१६	२३	३९०	पथि वृषं करिभूकृतिवि-	१३	२९	३१५
निर्वतितात्मा विषयेभ्य इत्य-	११	३०	२६०	पथिषु हस्तिपकाहस्तडिण्डि-	१३	१४	३१२
निवस्यकृतसत्कृति स त-	६	५९	१५५	पदवीमतीत्य तमसां तपता	५	६३	१३२
निवारयन्तोऽपि दरीमुख-	१४	६	३२७	पदानिसायां विमवाश्च बान्ध-	११	५६	२६७
निवृत्य यावत्किञ्च पृष्ठवति-	११	६	२५३	पयसि समवतीर्य नाभिदधन	९	३३	२२३
निवेदितान्तःकरणस्य भूभु-	११	५८	२६८	परकृत्यविषो समुद्यत-	१०	४	२३१
निशम्य तस्यागमन स पा-	११	३२	२६१	परंतपस्तडिडवर्गं चित्राङ्ग-	१५	११२	३७२
निशम्य तस्यातुलपुण्यश-	४	५३	१०८	परया प्रभुशक्तिसंपदा	१२	३	२७९
निशाकराशुप्रकरालच्छवारि-	१	१४	६	परवृद्धिनिबद्धमत्सरे विफ-	१२	८५	३००
निशगमे सौषगिरोधिराहि-	१	२९	११	परशुं बाह्यमास कृत्वा स-	१५	१२९	३७५
निशामु शोताशुमणिस्थल-	१	१५	६	परस्परस्नेहनिबद्धचेतसो-	१	५८	२१
निषेव्य विवरो वरो विविध-	१४	२०	३३१	परस्परान्तरसंघट्टप्रोच्छल-	१५	६९	३६३
निष्कान्ते शिखरचयादि-	१४	४०	३३७	पराक्रमाक्रान्तमहोभुजो-	१	५४	२०
निष्कामति प्रविशति प्रक-	१	८३	२७५	परिचिते बहुशोऽप्यबनोद्वरे	१३	२६	३१५
निःस्वेदत्वाभिहितस्तस्य सह-	१८	१३३	४५४	परिज्वलन्महास्त्रोर्धं रथं	१५	२४	३५३
निहतप्रमुखे ततोऽरिसंन्ये	६	१०७	१६८	परिणामसुखं शरीरिणा	१	७६	२६
निहत्य नूनं शमखङ्गधारया	११	२६	२५९	परिणामहिते समीहते पथि	१	७१	२४
निजोचिता समाकर्ण्य	१५	१०२	३७०	परिणामिनि यामिनोमुखे	१०	४१	२४०
नोरन्ध्रविपुलफलैरकृष्टपक्ष्यैः	१६	५	३८५	परिणेष्यति ता य एव ध-	६	८४	१६२
नीलाननं प्रसूतपाण्डिम-	३	६४	८९	परितः परिचूर्णयन्पुता-	६	३	१४०
नीलोत्पलानि निजया	३	६७	९०	परितः परिव्रजस्तमन्येऽप्ये-	१५	२५	३५३
नीलोत्पलोल्लसितलोलमरो-	१४	३४	३३५	परितापविनाशनाय शय्या	६	६६	१५७
नूनमिच्छति नो जेतुं	१५	१००	३६९	परिदेवनसतापशोकाक्रन्द-	१८	८५	४४५
नृत्यच्छिन्नखण्डिनि मुद्-	३	४३	८३	परिभ्रमत्यरिभिर्जयनिर्गन्तो-	१३	६	३०९
नृपतिरेक एव कुलं	१३	१५	३१२	परिमितैर्गमनैः कुषवाहिनी	१३	५३	३२२

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
परिरम्भ दृढं स मत्प्रभुर्म-	१२	५	२८०	पुष्टुत्तुङ्गनिरन्तरैस्तरुणां	६	५	१४१
परिरम्भमयो वधूवपुःपरि-	१०	५३	२४३	पुष्टु दक्षिणतोऽस्ति तत्र	६	७५	१५९
परिरभिणि जीवितेश्वरे	१०	५४	२४३	पेदुरेत्य मृतायकादयो-	७	३६	१७९
परिवर्धयति स्वकौशलै	१२	५९	२९४	पौरैः समागत्य गृहीतरत्न-	४	५२	१०७
परिशूयमना विविन्तय-	६	६२	१५६	प्रकृतिस्फुटं ग्रहणस्य	१७	४६	४५५
परिश्रुतानोन्दुमणिप्रतानात्	१४	९	३२८	प्रकृतीर्नयस्तनुतरत्वमनु-	१७	८१	४२४
परिहितायसकञ्चुकमेवकं	१३	३२	३१४	प्रभुम्य क्षणमथ मङ्गलैकहे-	१०	६२	२४५
परीतशृङ्ग स्फुरदंशुजालकै-	१	२३	९	प्रख्यातः प्रशमरतः प्रताप-	१६	११	३८७
पर्य मम शृण्वतस्तथा	१२	६४	२९५	प्रमितमरविन्दलोचनायाः	९	२१	२२०
परोक्षादपि चेज्जाना-	२	६०	४५	प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिर-	१७	७	४०६
पर्यन्तचर्य कनकोज्ज्वलासु	१४	३	३२६	प्रजिघाय च द्रुतमृदुतास्यं	६	८९	१६३
पर्यन्तजाततृजालनिरुध्य-	८	५९	२१२	प्रणदितकलकाञ्चिचनूत्परोत्थं	९	३	२१५
पशवोऽपि संनिधिमवाप्य	१७	३७	४१३	प्रणनाद भावनगृहेषु जल-	१७	५	४०६
पश्चात्पुरोऽप्युभयतश्च गजा-	११	८९	२७७	प्रणमन्ति मदन्वयोऽद्वयं	१२	११	२८१
पश्य प्रिये परमृतध्वनित-	८	५२	२१०	प्रणिगृह्य नयान्वितं वच-	१२	८२	२९९
पाणिभिर्मण्डितास्त्रौघाश्चरण-	१५	५८	३६०	प्रतिजन्तु यतो जीवः	२	५५	४४
पातालोदरमिव सेवितं सह-	१६	१०	३८६	प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः	६	१५	१४४
पादरक्षसमूहेन परिवारित-	१५	११९	३७३	प्रतिपत्तिभिरर्घपूविकाभिः	६	७८	१६०
पादानाननुज्ञाय सामन्तान्	१५	१४७	३७९	प्रतिबुद्धवानसुरमोहनजं	५	५४	१३०
पादाब्जद्वितयशिलीमुखाय-	१६	२७	३९१	प्रत्ययपाकविततं मुरभी-	१४	४९	३४०
पादो विरेजतुस्तस्य हेमा-	१८	१४३	४५६	प्रत्यहं द्विगुणपोष्टयावती-	७	७१	१८८
पिङ्गवादिब विरहानलप्र-	१०	६६	२४६	प्रत्युषोऽद्वयहिमविन्दुभिः	१०	६८	२४७
पितृनिदेशादथ सुन्दराङ्गो	४	१५	९७	प्रत्येकपक्षे जीवाना भूत-	२	६५	४७
पीताम्भस श्रमलवानिष-	१४	५४	३४१	प्रथमं द्विपि साम बुद्धिमान-	१२	७९	२९९
पुंसा पुरोवक्षितपुण्यनिबद्ध-	३	५९	८८	प्रथमाया पृथिव्यां ये ना-	१८	९	४३०
पुण्य कश्चित्स्यास्य	१५	११	३५०	प्रायतोऽथ चण्डरुचिरित्य-	५	५३	१२९
पुरपतितमालोक्य तं	१५	७३	३६३	प्रथितोऽयमरिजयाभिषा-	६	४१	१५०
पुरनाथपुरःसरः कुमारः	६	५७	१५५	प्रध्वनद्गुरारात्रोपित-	१५	७०	११९
पुरुषस्तपनीयवदगुरुं परै-	१२	८८	३०१	प्रविस्तु संपक्वफलोपमान्वि-	११	१८	२५७
पुरुषेण जिगीषुणा सदा	१२	७२	२९७	प्रपूरयन्वाय्यधनैरक्षयं	४	१०	९६
पुरैव संसारपरम्पराया-	४	३३	१०२	प्रपृच्छ च सुतमात्मनस्तमप-	१	८१	२७
पुलिनभूमिषु यत्र तटदुम-	१३	५९	३२४	प्रमञ्जनः श्लेचरमुदगीर्णा	१४	१४	३२९
पुष्पमन्त्रुहनाम धुनाना	८	५	१९७	प्रभावतो लब्धमहर्द्धकस्य	१४	७	३२८
पूर्वकोटिप्रमाणं च तेषा-	१८	३४	४३५	प्रभावनाया जिनवत्सर्गो-	११	३६	२६२
पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणः	७	१	१७०	प्रमृशेयजतं प्रमाजितुं	१२	८०	२९९
पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा	७	७२	१८८	प्रवाणकालप्रभवैरुदारैस्त-	४	५०	१०७
पुष्कधाधिवितकर्तितं शुक्ल-	१८	१२०	४५१	प्रवाणतूर्यनिधोषसंमिल-	१५	२६	३५३
पुष्कविपतिपुनपृच्छयासा-	६	४०	१५०	प्रशसमुच्चैःकटवैषु भूभु-	१	४१	१५
पुष्पिण्यादिस्वरूपेण स्थूल-	१८	७९	४४३	प्रलयाहिमदीधितैरिवोर्का	६	५५	१५४

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
प्रलापिनीषु करुणाद्भावं	५	७४	१३५	प्राप्ते प्रसूतिसमयेऽथ तिथौ	३	६९	९१
प्रविकासिनि यन्मयीयस	१०	२४	२३६	प्राप्य चक्रचरराज्यसंपदा-	७	३९	१८०
प्रविचिन्त्यमुदेतुमिच्छता	१२	४६	२९१	प्राप्याभ्युतं सपदि कल्प-	११	७३	२७२
प्रविचेष्टितमेवमेव चेदु-	१२	१०३	३०५	प्रावेशिकानकनिनादविषो-	७	८२	१९१
प्रवितीर्य राज्यमवदात-	१७	७४	४२२	प्राससायकरथाङ्गमुद्गरं	७	२५	१७६
प्रविधाय तत्र पटुबाधनि-	१७	७६	४२३	प्रासादशृङ्गसंलग्नरत्नोपल-	२	१२६	६४
प्रविधाय तत्र पुनरेव मुदि-	१७	४२	४१४	प्रासिदधिति शशिप्रभान्वि-	७	१७	१७४
प्रविधाय ते समयमेकम्-	१७	२३	४१०	प्रियचाटुषु कोविदोऽपरो-	१०	५६	२४४
प्रविश्य भवनान्तरं क्षणच-	७	९२	१९४	प्रियवाद्यपरेषु विद्वत्सीत्कु-	१२	५१	२९२
प्रविशितसर्वपादसेवागत-	६	७९	१६०	प्रियसाङ्गसमुत्सुकाङ्गनानय-	१०	२	२३१
प्रविहाय जिगीवुषामिमां	१२	२२	२८४	प्रणिताहिनरदेवकुलानि	८	२४	२०२
प्रविधाय मामशरणं सहसा	५	५८	१३१	प्रोहामद्विरदरप्रभेदनिर्य-	१६	२६	३९१
प्रवृत्तसंभावणयोर्मिषस्तयो-	११	४९	२६५	प्रोद्भूय नवमेधमेधकप्रा-	७	१०	१७२
प्रशमादिभिः स चतुरोऽपि	१७	७८	४२३	फ			
प्रशशास पूज्यवचनस्य स	१७	५२	४१७	कलं स्वप्नावस्था सकलमि-	१६	६७	४०३
प्रसिद्धेनाविरुद्धेन मानेना-	२	१४२	६८	कलितसस्यसमूहानिरन्तरा-	१३	५१	३२२
प्रसीद नस्तद्वरदात्मदोक्षया	११	५७	२६८	कुलनमस्त्रीकुसुमसदृशमोद-	१५	१६२	३८३
प्रसूतया बभतुर्वरकुण्डलप्र-	१३	४	३०९	ब			
प्रसूतालकतुल्याञ्जलधु-	१०	१८	२३५	बकुला अपि दृष्ट्वा तमणु-	२	१४	३३
प्रस्तुतस्यानुमानस्य	२	१०७	५९	बद्धाञ्जलीन्स्निहितमानशृ-	४	५८	१०९
प्रस्वेदफेनलवजिष्कुरिताङ्ग-	१४	५१	३४०	बद्ध्वा दृढं परिकर विनिवा-	११	८६	२७६
प्रहतं मरणेन जीवितं जर-	१५	६९	२४	बध्नेते कथय कर्मभिः कथं	७	४३	१८१
प्रहृत्य च चिरं चञ्चलचाट-	१५	९२	३६७	बन्दिभिः स्तूयमानरतं ब-	१५	१११	३७१
प्रह्लादं विदधती शशिनः	३	६२	८९	बन्दिभ्यो ललितपदक्रमा-	१०	७७	२५०
प्रह्लादिनेति वचसा वदता	११	७९	२७४	बन्ध एव प्रविष्ट्वादनृक्तिः	१८	३	४२९
प्राकारः परितो यत्र	२	१३१	६५	बभूरोवधयः समन्ततः शि-	१०	३९	२४०
प्राकारपरिखावर्गः परितः	२	१४१	६८	बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः	ग्र० प्र०	१	४६०
प्राकारशिखरासन्निस्तार-	२	१३०	६५	बलगवितयेव निष्फल	१२	३६	२८८
प्राकारोऽञ्छस्फटिकधृति-	१७	८९	४२७	बलवानपि जायते रिपुः	१२	७४	२९७
प्राक्प्राचीं दिशमुपसृत्य धृत-	१६	२५	३९१	बलवानहमित्यहंक्रिया	१२	३५	२८८
प्रागतीव मनसा समुदा य-	८	३५	२०५	बलवान्विधरेव देहिना	१०	६	२३२
प्रागपाव्वरुणदिग्ध्यवस्थित-	७	६८	१८७	बहुनागमनेककर्त्ताङ्गसेव्यं	६	१३	१४३
प्रागेव प्रमुदितबीजोनावत-	१६	५५	४००	बहुप्रकारा यदि न स्युरङ्गि-	११	६४	२७०
प्राणैरस्थान्मुनिः स्थान्मु	१५	६४	३६२	बहुभिः परिवारितोऽल्लि-	१२	४८	२९१
प्रातिहार्यैश्च सोऽष्टाभिः	१८	१४५	४५७	बहुधाः प्रणिपत्य बोधिता	१०	५२	२४३
प्राप वारवनिताप्रवर्तितैः	७	३५	१७९	बहुसत्त्वयुतो स्थिराशया	१२	५०	२९२
प्रासविचारादुपरिश्रमक्षिप्त-	१४	४८	३३९	बह्वास्मादिसंभूतैः पापैः	१८	१५	४३१
प्रासमानवप्रवोऽपि कुञ्जतः	७	४८	१८२	बिभेति पापाश्च सतामसंय-	११	१४	२५६
प्रासस्योत्तरदिशमेति तीव्र-	१६	४६	३९७	बिभ्रती काशसंकाशपक्ष-	२	१३५	६६



श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
बिभ्रती मधुकरं कलिकालं	८	४	१९७	भुवनातिशायिजिनरूपवि-	१७	१८	४०९
बिभ्राणं बृंहदृष्टपिच्छ-	२	११५	६१	भूषणा वसनयुगादिसत्कु-	१६	५४	३९९
बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितत्र-	१४	२८	३३३	भूषाले बिजितसमस्तदक्षि-	१६	३९	३९५
बिसतन्तुनिर्मलतमैर्जतता-	५	२४	१२२	भूभयुः कुसुमशरानुकारि	१६	४३	३९६
बृहदलाबुकगौरववामनां	१३	४३	३१९	भूभयुर्दिशमभिदक्षिणा यि-	१६	३३	३९३
धृते नागस्ते त्रिलोकेकमु-	१६	६३	४०२	भूरिभैरवधीराया रुष्टः	१५	१०	३५०
भ				भेजे नितान्तमजलोऽपि-	३	१०	७२
भक्तियोगोऽहंदाचार्येष्व-	१५	१५७	३८१	भेदाः पञ्च नव द्वौ च	१८	९९	४४७
भन्ने चापे गुणे छिन्ने रि-	१५	४८	३५८	भोगकर्मभुको भेदान्मानुषा-	१८	२८	४३४
भङ्गः कचेषु मारोणा	२	१३९	६७	भोगान्धिषिघ्रघ्नं धिषिघ्रं	१५	१४१	३७८
भङ्गं गुह्यतयात्मोये सैन्ये	१५	६१	३६१	भागः स बाञ्छाकृतमर्ति-	४	१७	९८
भजते गदवन्न विक्रियामु-	१२	६५	२९५	भ्रमन्ति भुवनाभोगे	२	८	३२
भजते भयमेभिरर्थशून्यैर्व-	६	२१	१४५	भ्रातृहन्ति पितृहन्ति	१५	१३९	३७७
भटाना भाविसंशामभव-	१५	४	३४८	म			
भद्राः किं प्रपलायध्वं मा-	१५	६२	३६१	मकरसत्कृतदूरसमुच्चल-	१३	५८	३२३
भयरोगशोकमरणानि भव-	१७	३८	४१३	मज्जत्पुंरिप्रधम्मिल्लगल-	२	१३७	६७
भयात्पलायमानस्य कामस्य	२	२०	३५	मज्जत्सोमन्तिनो सार्थकुच-	२	१२४	६४
भरक्षमदमा रुहमूलवद्ध-	४	७१	११३	मणिकुण्डलाङ्गदकिरीटक-	१७	२२	४१०
भरतैरावते वृद्धिप्राप्तिनो	१८	३५	४३५	मणिवष्टिकाः सदसि रेणु-	१७	४	४०५
भवति प्रियमिष्टसाधक	१२	४०	२८९	मणिदीपकप्रकटमिवुनये	५	१४	११९
भवतोह विनापि हेतुना	१०	२३	२३६	मणिप्रभाभिमणिकूटमद्रि	१४	१	३२६
भवती ननु पुण्यमत्र हेतु-	६	९४	१६४	मणिभाजने समधिरोप्य	१७	७५	४२२
भवानपास्तव्यसतो निजेन	४	३४	१०२	मणिमुद्रिकाकटकहारवस-	१७	४९	४१६
भव्याभयप्रभेदेन द्विप्रका-	१८	५	४३०	मतिमातनोति हरतेऽधमुप-	१७	३४	४१३
भव्याभोजविबोधनोद्यत-	म. प्र.	४	४६०	मन्वानुपल्लवशिलानिह	१४	२७	३३३
भानुर्भवेद्यदि मनागिह	३	१३	७३	मदगन्धिषु ससर्पणकेषु	६	९	१४२
भारद्वाजः कुतोऽप्येत्य	१५	२८	३५४	मदनरसमिवातिरिच्यमानं	९	४९	२२७
भारेण स्वनकलशद्वयस्य	१६	२	३८४	मदभाजि परापमानदा	१२	८७	३०१
भास्करादिसगोचरोभव-	७	९	१७२	मदमूढमतिहिताहितं	१२	१३	२८२
भास्थानपि च यः सव्य-	२	१०	३२	मदान्यकान्तायनान्त-	११	१५	२५६
भोमं भासुरवासोभिः सु-	१५	१६	३५१	मदाभमम्भो विसृजद्भ्रूल-	१	२५	९
भोमेनापि हृतः शक्त्या	१५	७२	३६३	मदेन योगो द्विरदेषु केवलं	१	३२	१२
भुक्तिक्रियायाः कर्तृत्वं	२	८२	५३	मदो मयोद्धताकार्दिवकु-	१५	३	३४८
भुवगाग्रावहेन बह्निमग्नेः	६	१०५	१६७	मद्याङ्गादिभिदा भिन्नदश-	१८	३१	४३४
भुवः शोभा भवद्योगाद्या-	२	३९	३९	मधुराभरत्तारिणो स वाणो	६	३६	१४९
भुवः समुद्रतुंरधिष्ठितात्म-	१	५७	२०	मधुविमिहितविभ्रमाभिरामां	९	१	२१४
भुवनभवनदीपोभूतविम्बे	१४	७१	३४७	मध्यमासु च चत्वारि द्वे	१८	३०	४३४
भुवनव्यापिर्भो भव्यपुण्ड-	२	३	३०	मध्ये जलं प्रकटचञ्चलमृष-	१४	५३	३४१
भुवनातिगैव यथासा कथितं	५	२७	१२३	मध्योत्तमजघन्येन ताश्च त्रे-	१८	२९	४३४

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
भम्बासवापानमनोज्ञगानाः	१४	१६	३३०	मृदुः प्रणष्टा मृदुरेव दृष्टाः	४	२२	९९
मनःपर्ययिणामष्टसह—	१८	१४९	४५७	मृहूर्ता वेवनीयस्य द्वावसौवा—	१८	१०२	४४८
मनस्विमिर्माष भवान्मवा—	११	४०	२६३	मूर्च्छन्दरीणां विवरेषु तस्य	४	५१	१०७
मनुष्यजन्मैदमवाप्य दुर्लभं	११	२४	२५९	मृगदृष्टिरविभ्रमप्रहीणा	६	८३	१९१
मनो वषट् द्वादशसु प्रतिक्षणं	११	७१	२७१	मृगराजविदारितेमकुम्भ—	६	९	१४१
मनोहरैः संहृतकण्ठवाटैः	४	७०	११३	मृत एव विलीन एव वा	१२	९३	३०२
मन्त्रेणैव ततः शत्रोः श—	१५	८६	३६६	मोक्षसंघानचित्तेन गुण—	२	५	३१
मन्ददोमिरसुखावहमामा	८	४०	२०६	म्लेच्छाः खण्डप्रभेदेन पञ्चषष्ठा	१८	४२	४३६
मन्दधूतबकुलोपवनेन	८	१२	१९९	य			
मम्मनः सुतनु भीमदनेन	८	४४	२०७	यः श्रौषमन्पुो बभूव विदुः—	प्र.प्र.	४	४६१
मम कः प्रतापमवजेतुमलं	५	२५	१२२	यः कषायोदयातोषः परि—	१८	८८	४४५
मम कर्तुमेव विषयेषु विर—	१७	६६	४२०	यः प्रविश्य हृदये रजनीषु	८	२८	२०३
मयेदमस्याहमिति ग्रहेण	४	२५	१००	यतः स्ववेदनादात्मा	२	७५	५०
मयि पथयति मामिभूयता	१०	५	२३२	यत्काचेष्विष भूषामन्यपा—	१६	३५	३९४
मलसङ्गर्जितमितं पृथुतायु—	५	४७	१२८	यत्पादपामुसंपर्कावलकृत—	२	९	३२
मलीमसं भुङ्क्तेनेन लडम—	१	२४	९	यत्प्रासादशिरोलम्पवध—	२	१२८	६५
महतामतिदूरवर्तिनोऽप्य—	१२	६	२८०	यत्र बवचिदगुणगणो गतवा—	३	८	७२
महागुणैरप्यगुणैर्मदोक्तातैः	१	३७	१३	यत्र प्रशान्तसकलव्यसने	३	५	७१
महाविभसंपर्षं तत्रास्ति	२	१२५	६४	यत्र भान्ति कुसुमैरम—	८	३७	२०५
महिमा निसर्गविनयेन यथा	५	२६	१२२	यत्रोर्बोहृदिचयः परं	१६	९	३८६
महोभूतस्तस्य सतां प्रणाय—	११	५०	२६६	यत्सल्लकीकसिलयं रुचये	१४	६२	३४४
महोपशौगन्धगतप्रभावाग्नि—	१४	१०	३२८	यथाकालकृता काचिदुप—	१८	१०९	४४९
माग्रहं सखि भजस्व स मा—	८	१३	१९९	यथा पलाशास्तनैव शोभ—	२	१७	३४
माद्यन्तिमदीरसेकच्छन्न—	१५	३७	३५५	यथा भवत्यस्मृदिते जनोऽ—	४	३५	१०२
माधुर्यमिच्छुरतिशायि परि—	८	५५	२११	यथाभिलषितं वस्तु	२	१२१	६३
मानुषस्यावगन्तव्यः स्व—	१८	९०	४४५	यथा सम्मेषपरिज्ञातं रुचि—	१८	१२७	४५३
मानोन्नता महाभोगा—	२	१३२	६६	यथा हि पुरुषः खेऽपि	२	९६	५६
मानोन्मादव्यपनयचतुरा—	१४	३०	३३४	यदतीतमतीतमेव तत्सुख—	१	७०	२४
मार्गप्रभाषनाज्ञानतप.प्रभु—	१५	१५९	३८२	यदधु प्रियकोपधूपिते	१०	३२	२३८
मालायुग्मं प्राग्विभ्रान्त—	१६	५९	४०१	यदभूत्सुगामुरवधूसमितेरु—	५	३७	१२५
मिथ्यासासादनदूषो मिथ्या—	१८	४४	४३७	यदसह्यशोकघनकालबल—	५	७०	१३४
मुकुटरत्नचयेन परस्पर—	१३	५	३०९	यदि मास्यवधेन वारणो—	१२	२९	२८६
मुखमसदुषाविभ्रमेबिदित्वा	९	४०	२२५	यदि वा कुतश्चिदपि कार—	५	६१	१३१
मुखमिदमरविन्दसुन्दरं न.	९	४०	२२६	यदीदमागन्तुकुःखकारणं	११	२५	२५९
मुनिजननुत्वादः प्रास्त—	प्र.प्र.	३	४६०	यदीयगाभ्योयगुणेन निर्म—	१	५०	१८
मुनिना वक्तुमारभे तस्मै	२	११२	६१	यदीयमेणाङ्कमरीविहारिणा	१	५५	२०
मुनिभिः स्थितः सह समेत्य	१७	८२	४२४	यदुक्तं सूरिणा तेन	२	१११	६०
मुनेस्तस्य प्रभाषेण या	२	११	३३	यद्भावि भूतमथवा मुनिना—	३	५०	८५
मुषिता वदनश्रिया मम	६	६५	१५७	यद्वराज निजमासुरप्रभा—	७	८	१७२

श्लोकावली	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकावली	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
यमवनीशयमावसरे मयं	१३	१६	३१२	रजनोपतिना प्रतर्जितं कर-	१०	३४	२३९
यशसः सुखस्य विभवस्य	५	६५	१३२	रजनोपतिविम्बदर्शनातिप्रय-	१०	३७	२४०
यथोन्निरेणाक्कुल्लासमुज्ज्व-	१	४०	१४	रजनोमहद्वयं स विभज्य वि-	१७	५८	४१८
यस्तवावधिरकारि वसन्तः	८	३७	६९	रजनोपु यन् गुह्यहर्म्यं शि-	५	१७	१२०
यस्मात्कैलमसानुवास विद-	११	९२	२७८	रतिप्रदानप्रवर्गेण कुर्वता	१	५२	१९
यस्मिन्निरन्तरारामविश्राम-	२	१२०	६३	रतिरूपसंपदभिभूतिकर-	५	३८	१२६
यस्य देवस्य गन्तव्यं स-	२	२६	३६	रत्नस्यैव समुत्तम्ये भग्नै	१५	७५	३६४
यस्य प्रतापदहनेन विल-	३	२	७०	रथिना युवराजेन सोऽनु-	१५	२२	३३२
यस्य स्फुरद्भिरनुरागक-	३	३	७०	रघ्ननद्विनिविद्यादिभेदतो-	७	२२	१७५
याः प्रसूतविगलन्मधुरागा-	८	१०	१९८	रघ्नं प्राप्यार्धचन्द्रेण ततो-	१५	७१	३६३
या कर्मभुक्तिः स्वभादी सा	१८	११०	४४९	रविणेव निजेन तेजसा	१२	२	२७९
या तेन मुक्ता रविणेव साभू-	४	६४	१११	रस्मिजालजटिलीकुताशि-	७	२	१७०
यास्त्येषा नृवर बिभावरी बि-	१०	६३	२४६	रहितः सहजेन तेषा	१२	९४	३०३
या दुःखसाध्या चपला दु-	४	२३	९९	रागादेश्च क्षयात्कर्मप्रदयो-	१८	१२९	४५३
यानि द्विपेन्द्रनिबहो निज-	१४	५६	३४२	राजलीलां परित्यज्य	२	३५	३८
यान्तीभिरात्मनिलयाद्य	१४	४५	३३९	राजाधिराजवसतेहंय-	१४	४६	३३९
यान्यादास्त वचनानि वदन्ती	८	१७	२००	रासभो न यथा शृङ्गरी	२	९७	५७
यान्वानमुञ्चतारातिरनि-	१५	१२४	३७४	रिपुगोषावृणीभूतच्छवि-	१५	९	३५०
या मद्रिषाः पुनरसंचित-	३	३१	७९	रिपुमुन्दरीविततबाणजलैः	५	३१	१२४
यावत्पुनः स वलतैऽभिमु-	११	८८	२७६	रश्मिरश्मलकराजितविग्रहैः	१३	४१	३१९
यावन्न तोषोपगमप्रवीणो	४	३०	१०१	रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवान्	१८	७८	४४३
या स्थापयन्निधिं पुरंदर-	३	३२	८०	रैरोरा रैरैरैरो रोरो रोह-	१५	३९	३५६
युक्तोऽप्यदा सितिपतिः	३	४२	८३	रोगाविजनितायाश्च वेदना-	१८	११७	४५१
युज्यते व्यभिचारोऽपि	२	६७	४८	रोमाञ्चचचित्ततनू रमसेन	३	४५	८३
युद्धमार्गविदो योद्धमार-	१५	४१	३५६	रोद्रं हिंसानृतस्तेयविषय-	१८	११८	४५१
युद्धमूर्च्छि शवीभूताम्बन्धू-	१५	१३२	३७६				
युवराज्यमतस्तु किं तु नः	१२	१०४	३०५	लक्ष्मोबानिह भरते सरोज-	१६	१	३८४
ये तत्र जज्ञिरेऽस्त्राणां	१५	४०	३५८	लघु जिगमिषुणेति काचि-	९	१०	२१७
येनैकोऽपि जितः दलाध्यः	१५	५६	३६०	लब्धसौरभगुणैर्मधुजत-	७	३३	१७८
येऽप्यजीवाद्यो भावा-	२	८९	५५	ललितघनतमालका मनोज्ञ-	९	२	२१४
योगभेदादनमृता ये प्रदेशाः	१८	१०४	४४८	ललिततिलकमण्डनानि मुग्धे	९	६	२१६
योषाः शस्त्रशताः पेतु-	१५	४७	३५८	ललितभ्रू लोचनयुगं वव-	५	६६	१३३
योषातमायुषच्छिन्नैर्विरेजे	१५	५५	३५९	लाटीनां कटिनवृहत्पयोध-	१६	४०	३९५
योऽपराधरचनानु ल्लेश-	८	१५	१९९	लावण्यं भूशमदघादभूदगा-	१६	१३	३८७
योऽभ्रवतिप्रयतमैः सह मानः	८	९	१९८	लावण्यसंपदमलाम्भसि	३	१५	७४
र				लीनवट्पदकुला तिलकाली	८	४७	२०८
रक्ष तदपुष्टिदं नियमेन	८	३९	२०६	लोकाकाशमभिष्यव्य सं-	१८	७०	४४१
रक्षायै प्रजया दत्तं वष्ट्यां	१५	१३७	३७७	लोकाग्रं प्राप्य तत्रासी	१८	१३१	४५४
रजनी तमसान्ध्याशठिना	१०	२८	२३७	लोकात्वं नवनयुगे न चित्त-	१६	१८	३८९

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक पृष्ठ
व			विकसिताम्बुजह्राणि सरोव-	३३	३९ ३१८
वक्षःप्रियो भुजयुगं वर-	३	९ ७२	विकासवद्भिः धरदन्नपाण्डु-	१	१७ ७
वचनं वक्षः खलूपयुज्यते	१२	३१ २८७	विगलतिविषावगुण्डनामुडु-	१०	२२ २३६
वचनमूर्तः सुखरसजिह्वं	५	६० १३१	विचकृष्टुरलकान्विलासिनी-	९	४८ २२७
वचोभिरिति तत्त्वार्थ-	२	११० ६०	विचरन्तः कुट्टिममहोप परि-	१७	४७ ४१६
वज्रपांमुजलधर्मवारण	७	४ १७१	विचित्रदुःखा भवमृत्पुस्तं-	११	६५ २७०
वणिक्पथस्तृपितरत्नसंचयं	१	२१ ८	विचित्ररत्नैः कटकैः स्वकी-	१४	२ ३२६
वव देव कोऽयमिति सम्प-	१७	६५ ४२०	विच्छिन्नकर्णसुखकृतिज-	१४	६५ ३४५
वदन्तमेवं तमुवाच भूपतिः	११	५५ २६७	विजातिभ्योऽपि भूतैर्म्यो-	२	६८ ४८
वदान्यातं तस्य विलोक्य	४	७ ९५	विजोयास्तोषं कृन्नाम्नो-	१८	९२ ४४६
वनकेलिरिति द्विपाधिपः	१२	१७ २८३	वितताखिलविततिलाः पु-	५	४ ११७
वनजवनयताः करेण ली-	९	५६ २२९	विदधजिततस्फटिककान्ति-	१७	४४ ४१५
वन्द्येभगण्डकषणाहितदान-	१४	६० ३४३	विदधतिमिरं तितोहितं क-	१०	१९ २३५
वपु कोपारुणं बिभद् घृत-	१५	९५ ३६८	विदधाति मतिं सुनाविमो-	६	९३ १६४
वपुर्प्यतिमात्रमान्तरं	१	७३ २५	विदधातु भुजगसङ्गमाजो-	६	६७ १५७
वपुगादधरप्रविजहृच्च विवि-	१७	७१ ४२१	विद्युतदधश्चल्ला यत्र स्वभा-	२	१२२ ६३
वपुर्धनं यौवनमायुरन्यद-	११	१२ २५५	विदूने विद्विषा सैव्ये वि-	१५	१३१ ३७५
वपुषा जयतामरेन्दलवमी-	६	५८ १५५	विधाय मोलं बलमात्ममुले	४	४७ १०६
वपुषि कनकमासि चम्प-	९	२४ २२०	विधिमुरेन तदिहात्मवदयं	४	३८ १०३
वयमप्यगमाम कोशलं नयमार्गे	१२	५८ २९४	विधिना द्रव्यत्पताम्बुधे-	१२	८ २८१
वयोभुरूपेण विवर्धमानो-	४	३१ १०१	विधिना परिणय राजपुत्रो	६	१०९ १६८
वरुणाद्यायिकाणा च	१८	१५० ४५७	विधिभिविविधकारैः सिंह-	१५	१५० ३७९
वर्तमालक्षणः कालः स स्व-	१८	७४ ४४२	विधुतवक्त्रहो मधुसयिना-	१३	३८ ३१८
वर्षाणि द्वाः शीवायुर्वर्तिन्द्रि-	१८	२५ ४३३	विध्यातेऽप्यनिलवशेन	१४	२६ ३३३
वसन्तमनपेक्षयैव तस्या-	२	१२ ३३	विनयः शममेकभूषणं परम-	१२	२६ २८५
वसुधामवत्यतुलघाम्नि चतु-	१७	५३ ४१७	विनयैकरतिमहागुणः	१२	२८ २८६
वसुधा पयोनिषपयोवसना	५	३५ १२५	विनिपातयता यदृच्छया	१	६५ २३
वस्तुतत्त्वमधिमन्तुमिच्छतो-	७	४४ १८१	विनिवृत्तनिजाह्निकक्रियं	१०	१२ २३३
वस्तुपदोक्त्य विचित्ररूपं	४	६३ ११०	विनिवेद्यमिदं प्रयोजनं	१२	१०७ ३०६
वस्त्रं गलद्विगतनोत्रितया	७	८९ १९३	विनिवेद्य सम्पन्नित्वहस्य कु-	१७	६७ ४२०
वह्नस्मराराण्डुकपोलमण्ड-	१	५६ २०	विनीयमानो नृपयासनेन	११	७ २५४
वाञ्छाद्भूगश्रयविशेषमि-	३	१२ ७३	विपरसंपदि जार्गात जरा	१५	१३५ ३७६
वाञ्छन्विभूतीः परमप्रभा-	४	३६ १०३	विपुलं विपुलाभिधा दधानं	६	४२ १५१
वाय्वेव यावन्न वपुः कुटीर-	४	२९ १०१	विपुलमतिभिवृद्धामात्यैः कु-	१	८३ २८
वापीवनायसनतोथतडाग-	२	१४३ ६९	विपुलाख्यमरिज्याभिधाने	६	८२ १६१
वायुना विदधे किचित्	२	३३ ३८	विप्रयोगकृशदारहितेन	८	३८ २०६
वारिकैर्मृदुजलच्छटोद्यतेः	७	३७ १७९	विप्रभावधिरौहदम्बरे विधु-	१०	३० २३८
वासराधिपतिस्तुङ्गप्रतोलो-	२	१२९ ६५	विप्रमत्तमित्यजीवस्य रूप-	१८	८१ ४४४
विकसत्कुमुदाकरं सरः	१०	२७ २३७	विप्रमत्त यस्मिन्बहुवो-	१	३४ १३

श्लोकोक्त	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकोक्त	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
विमिन्दतो ह्यर्धमनेकजन्म-	११	४५	२६४	वीतरागचरणी समर्थ्य स-	७	२९	१७७
विमोषयोष्काशतपात-	११	६९	२७१	वीरामिलापात्सपन्ती	१५	८५	३६६
विमूर्धितं यौवनरूपसंपदा	१	६२	२२	वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भवं	७	२१	१७५
विमूष्य तत्पूर्वविदेहमात्मनः	१	१२	५	वृक्षपङ्क्तिवृक्षेतरचरण	८	३२	२०४
विभूतोऽसि ययाम्बुजाक्ष-	६	२९	१४७	वृत्तिमत्रिकुलिसादिभेदन-	७	७	१७१
विभेदात्प्रकृतिस्थित्योरनु-	१८	९७	४४७	वृद्धानुमत्या सकलं स्वका-	४	४०	१०४
विमलाकृतीरपरिदृष्टलाः	५	५	११७	वेद्यागणाः परिचिदानुप-	१४	४७	३३९
विमलामिधानशिबिका-	१७	७३	१३८	वैमानिका द्विधा प्रोक्ताः	१८	५०	४३८
विमलः पतङ्गिरतिहृष्टहृदय-	१७	३	४०५	व्यतिरेकेऽपि नित्यत्वं	२	८५	५३
विरचयसि समादरेण हारं	९	७	२१६	व्यहरद्यत्र यत्रासौ तत्र	१८	१३४	४५४
विरहवसितोष्णनीरसाधर-	१०	५१	२४३	व्यानशोऽत्र तदादेशात्पु-	२	२८	३६
विरहे तनुतामतीव ये	१०	४२	२४१	व्यासक्तस्तदधरपल्लवे स रा-	१६	२२	३९०
विरोधः पञ्चरेष्वेव न	२	१४०	६८	व्युत्थानं सचिवमुखाभिध-	१६	२४	३९०
विलोमशोभानि विलोचनो-	१	३६	१३	व्योम्ना यातः पत्रिणोऽत्र	१४	३२	३३५
विलोम्य तं शारदमेघ-	११	९	२५४	व्रजति मम जलक्रिया स-	९	४६	२२६
विवादविषयापन्नं ततः	२	१०४	५९	व्रजन्सहैवोन्नतिमुज्ज्वला-	४	२	९४
विविधमङ्गतरङ्गशिरःस्थित-	१३	५४	३२२	व्रज योम्यगृहासनादिकं	१२	५६	२९३
विविधासु धन्यजनहर्म्य-	५	१५	१२०	व्रतेश्वरिहासप्रगृतिष्वाति-	१५	१५३	३८०
विविधासु योनिषु वपुषि	१७	७०	४२१				श
विवृणोति मनोगतामियं	१२	९	२८१	शक्तिं शक्तित्रयाक्रान्त-	१५	१२८	३७५
विवेकिनी जन्मविवर्तिनी-	११	२९	२६०	शक्तिमिस्तिमुभिरम्बितो-	७	६९	१८८
विशङ्कमानोऽकुचलं तनूजं	५	८९	१३८	शक्नोतीतिनुमथरीकृतप्रता-	१०	७६	२४९
विशदामसमुज्जितान्वया	१२	१००	३०४	शठता भवतोऽङ्कुशक्रिया	१२	१६	२८३
विशालशालोपवनोपशोभि-	१	३१	११	शतानि पञ्च चापानां कर्म-	१८	३३	४३५
विश्रान्त्यर्थं समनुसरति प्र-	९	५९	२३०	शक्रदुर्विग्रहशक्तिमीषण-	७	१३	१७३
विषयान्तरसंचारी न च	२	५७	४४	शनैर्विहास्यन्ति गतधियं	११	१७	२५७
विषये स्मृतं संनियोजितः	१२	८६	३०१	शबराहतपुण्डरीकयूथं-	६	८	१४२
विषये गुणवद्विर्जिते	१०	७	२३२	शब्दार्थसुन्दरं तेन रचितं	प्र.प्र.	५	४६०
विषयेषु शत्रुसदृशेषु	१७	६९	४२१	शयितस्व हरेः प्रबोचनामि-	१२	३७	२२८
विषयवह्निशिखामिवेषुमालां	६	५४	१५४	शरपञ्जरसंछन्नसमस्तगग-	१५	६६	३६२
विसंबादमस्यन्त्ययोग-	१८	९१	४४६	शरीरेन्द्रियरूपेण प्राणापाना-	१८	८०	४४४
विसरन्विसतन्तुनिर्मलो-	१०	१७	२३५	शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभू-	१	२८	१०
विस्वान शिवा तस्य वा-	१५	२७	३५३	शशिकराङ्कुरनिर्मलगुम्बहिः	१३	४६	३२०
विस्तोर्णोन्नतशिखरावली-	१६	७	३८५	शशलाञ्छनेऽस्तमित-	५	३९	१२६
विहर्तुमभावशरे समागतं	११	३१	२६१	शस्त्रप्रहारैर्गुंभिः समुदा	१५	४५	३५७
विहाय ये निर्वृतिमन्ययायां	४	२४	१००	शान्तक्षोणकषायो व स-	१८	४६	४३७
वीक्ष्य आनमुकुलं सहकारं	८	६	१९७	शान्ते जयजयेत्युच्चैर्भय-	२	४०	३९
वीक्ष्य जातघडिबासमहानि	८	५०	२०९	शिक्षकाणामुभे रुक्ते चतु-	१८	१४७	४५७
वीक्ष्य तार्क्ष्यमिह चिच्छन्न-	१५	७७	३६४	शिलरमणिशिलानां शा-	१४	३७	३३६

श्लोकोऽर्थः	सर्गः	श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकोऽर्थः	सर्गः	श्लोकः	पृष्ठः
शिक्षराणि यत्र परिचेः प-	५	१८	१२०	श्रेयस्तनोति परिवर्षयते	३	४९	८५
शिक्षावलीलोढघनाघनाम्ब-	१	१९	७	वसितैरहिर्मनितान्तदीर्घः	६	६४	१५६
शिखिगलाकृतिना रशना-	१३	७	३०९	ष			
शिरःसम्यक्मयमयोश ल-	११	६३	२६९	षट्क्षण्डमण्डितमलण्डमिति	७	८०	१९०
शिरसा न निजेन तेऽस्ति	६	५१	१५३	षडमी रिपवः शरीरजा-	१२	१४	२८२
शिलातले यस्य घनायमाने	१४	११	३२९	षण्मासप्रमितं प्रोक्तं चतु-	१८	२६	४३३
शिलीमुखस्ये प्रासैः कुतः	१५	१०८	३७१	स			
शिलीमुखशतैरलक्षस्तयो-	१५	१२१	३७३	संवत्सरसहस्राणि द्वावि-	१८	२३	४३३
शिलीमुखैरज्योऽयं धनु-	१५	१२५	३७४	सखिलष्टामथ तस्य भूधरपते-	१८	१४४	४४९
शिवहेतुषदाहृता क्षमा	१२	८९	३०१	संसर्पतटगतकटा समी-	१३	६२	३२५
शिशिरांशुकराभिमर्शना-	१०	३६	२३९	संसारव्याधिविध्वंसे भाग्य-	१८	१२५	४४२
शोतदग्धनलिनीसमदेहां	८	२७	२०३	संस्पृश्य पूर्वं परितः करेण	४	६७	११२
शोतला इति विभाव्य जनेन	८	४९	२०९	संहतिं नवनवाङ्कुरलोना	८	२	१९६
शोतलो यनभुवामनिलोऽलं	८	७	१९७	स कदाचनाप युवराजयुत	५	५२	१२९
शोक्षमाभिनयरूपगुणी-	३	१६	७४	सकलं प्रविगाह्यता चरैः	१२	१०५	३०५
शुचिसङ्गादिकासो मे	२	२१	३५	सकललोकमनोरममुल्लसत्	१३	२	३०८
शुद्धकुन्ददलरोचिषा गवा-	७	७५	१८९	सकलावबोधमकलङ्कमनु-	१७	२५	४११
शुभः पुण्यस्य पापस्य	१८	८३	४४४	सकलोऽप्यपेक्ष्य किमयोश	१७	३५	४१३
शुभं नभोऽभवदभीषुम-	३	७०	९१	सकृपायतया जन्तोः कर्म-	१८	९६	४४७
शुभुमे करात्करतलानि स-	१७	४८	४१६	स कुमारयोग्यजलकैलग-	१७	५०	४१६
शुभुवानिति स बन्धमोल-	७	५४	१८४	स कृतो कृतार्थमपि तस्य	१७	३२	४१२
शृङ्गारद्विगुणीभूतैरमाति	१५	८	३४९	सक्रुद्धबुधतया कृतेऽपराधे	९	११	२१७
शैलानिलः शिषिलकम्भि-	१४	५०	३४०	स क्रुद्धेन सुभीमेन स्फुर-	१५	७४	३६४
शैलेन्द्राभं शुभ्रमेन्द्रं गजेन्द्रं	१६	५८	४००	स खातिकायाः पयसो वि-	४	७३	११३
शौर्यं नातिशयि समुज्जितं	१६	१४	३८८	सख्या मुखादिति निशम्य	३	३६	८१
श्रवणतटविलम्बि संविधत्ते	९	८	२१६	स घातिस्रयजरेभिरपरै-	१८	१४०	४५६
श्रावकाणां च लक्षाणि श्रीणि	१८	१५१	४५८	संकुलं नरनभस्करामरै-	७	७९	१९०
श्रियं क्रियाद्यस्य सुरागमे	१	१	१	संक्षेपतो गिरिमामाभि-	३	५८	८७
श्रीकान्तया सरसिजाकर-	३	१४	७४	संगतं त्रयमिदं प्रजायते	७	५१	१८३
श्रीकान्ताय समर्प्य राज्य-	४	७८	११५	संगीतध्वनिमुखैरविराजमाना	१६	६	३८५
श्रीवर्मराजोऽपि पितृवियो-	४	४६	१०६	स चक्राणि विचिक्षेप क्षे-	१५	१२७	३७५
श्रीह्रीधृत्पादिभिः स्वान्वपुषि	१६	७०	४०४	स चतुर्विधोऽपि नृपसद्य	१७	१०	४०७
श्रुतवानिति तद्दिगं गरीयः-	६	७०	१५८	सचिवैरधुना भवद्विधैः	१२	२७	२८६
श्रुतशुद्धधीरधरितेन्द्रपदं	५	५०	१२९	सच्छाया विपुलतरोर्महाल-	१६	१७	३८८
श्रुतान्वितस्यान्यशरीरभा-	५	८६	१३७	सजातीयं ह्युपादानं दृष्टं	२	६६	४७
श्रुते च द्वादशाङ्गादिवहूमे-	१५	१५८	३८१	सज्जीकृतं महामात्रै रोपि-	१५	२१	३५२
श्रुत्वा धनध्वाननिर्गन्त-	१४	१७	३३०	संछन्नालिलककुभो घना-	१६	२८	३९२
श्रुत्वा सं सकलत्रमुद्गतुरि-	६	१११	१६९	सतडिदाभरणाः प्रवितन्वते	१३	१३	३११
श्रुत्वेति तद्वचनमेवमुदाह-	३	५१	८५	स ततः प्रभृति प्रवीततेजा-	६	७२	१५८

इकोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	इकोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
सततप्रसूतैरपोडधीताः	६	१०	१४२	समाधिस्तपसो विध्वे कुत-	१५	१५६	३८१
स तवो हृतहेतिस्फकोपाद-	६	१०६	१६७	समापतन्ममालोक्य पितुः	१५	९१	३६७
स तवीयवचःप्रबुद्धमन्यु-	६	५२	१५३	समुच्चलतस्य तुरंगमोर्ध्वं	४	४८	१०६
स तयोर्गुणभरणभूवितयो	५	४०	१२६	समुज्ज्वलानिः कनकादि-	१	१८	७
सति निजकरजारुणांशुभिन्ने	९	२०	२१९	समुद्गतैर्ग्रावतले पतित्वा	१४	१३	३२९
सति मानसेऽप्यकलुषाम्भ-	५	१९	१२१	समुद्धतान्वापरिपूहनिष्य-	११	२७	२५९
सत्कृत्य स स्वकीयैस्तं	२	२५	३६	समुपाजितपूर्वपुण्यलेसाद-	६	३५	१४९
सदकारणवस्त्वेन सिद्धा	२	६३	४६	समुल्लसद्भिः शरदभ्रपाण्डु-	१	३०	११
सदायमस्मत्प्रतिपक्षभूतया	१	१६	७	संपश्यता कुसुमवासितदि-	१४	४२	३३८
सन्तकुमारमाहेन्द्रकल्पयोः	१८	५४	४३८	संपूर्णशारदनिशाकरान्त-	३	४	७१
सन्तकुमारमाहेन्द्रकल्पयोः	१८	६२	४४०	संप्राप्तस्तदभूवि पूर्ववारिरा-	१६	२९	३९२
स न प्रवेशोऽस्ति न यो-	१	३५	१३	संप्राप्तैस्तदमपराम्भुचेबले-	१६	४४	३९६
स निरस्तमनोरथस्त्विदानीं	६	४७	१५२	संभावयामि तदहं तमनङ्ग-	८	५३	२१०
संततोत्सवनिविष्टचेतसा	७	३४	१७८	संभावितं कनयना रुचिरा-	७	८८	१९३
संतापप्रवरमुषः समाश्रिता-	१६	४	३८५	संभूयामि मूलीभूतं बलिन-	१५	९६	३६८
संतापमूलमुद्दं विरहं	३	२३	७७	संभ्रम मा वृथा हृद्वं	१५	६३	३६१
सन्त्येव केवलदुशोऽवधि-	३	४०	८२	सम्यग्दर्शनसंशुद्धिः शाङ्का-	१५	१५२	३८०
संदर्शनादेव तदा महर्षेस्त-	५	७५	१३५	स यत्र दोषः परमेव वेदि-	१	३८	१४
संनह्य सैव्यैः सह शीघ्रं शौ-	४	५६	१०८	सरभसैर्नराधविनिर्गमं	१३	३३	३१७
सोनिषेव्य सततं कमलि-	८	४८	२०८	सरलनबमृणालनालबाहुष्व	९	३१	२२२
संन्यस्य संगमसिलं नि-	१५	१६१	३८२	सरसिजरजसारुणे सपत्न्याः	९	४१	२२५
सपदि प्रविधोमता तदत्र	६	६९	१५८	सरामस्यमो दानं शीघ्रं	१८	८६	४४५
स पातु यस्य स्फटिकोप-	१	२	१	स रोषादिद्विगुणोत्साहो-	१५	८९	३६७
सपीरः समुद्दुर्गः सकल-	२	३०	३७	सपेक्षुचद्वयविषाण्डुरता-	३	६५	८९
सप्ततिमोहनीयस्य विंशति-	१८	१०१	४४८	सर्वज्ञं कनकमयैः समर्च्य	३	७५	९३
सप्तधा पृथिवीभेदाग्रा-	१८	६	४३०	सर्वज्ञत्वं न चासिद्धं कस्य-	२	९३	५६
सप्तोना रुचिरनवातपङ्कता-	१९	७५	२४९	सर्वभाषात्मिका तस्य सर्व-	१८	१४१	४५६
सप्रमादहृदयः कषाययुगो-	७	४५	१८१	सर्वभाषास्वभावेन ध्वनि-	१८	१	४२९
सप्रसादसविकासतारकं	७	३२	१७८	सर्वविद्येशिमस्तस्य यथा-	१८	१३९	४५५
स प्रहाय शमसकमानसः	७	६५	१८४	सर्वेषामपि तमसा छिदः	१६	२०	३८९
सप्रहारं तमादाय सारथि-	१५	९३	३६८	स संपदामायतनं जयश्री-	४	१३	९७
स बहूपत्योऽपि विशाम-	१	६३	२२	समुत् समुपेत्य तत्सभा-	१२	५४	२९३
समधिकनवयौवनोदयश्री-	४	७५	११४	स स्तम्भं जयककुदं नियू-	१६	३२	३९३
समधिगम्य समस्तसमीहि-	१३	४४	३२०	सह वल्लभया पतिं प्रजा-	६	६०	१५५
समभूत्सुखिचक्रबाकयो-	१०	३१	२३८	सह शशिमकान्त्या शील-	४	७६	११४
समवगाढवतां वनदन्तिनां	१३	५५	३२२	सहसापहृताधराशुकः	१०	४७	२४२
समस्तमेवंविधमेष पुंसाम-	४	१९	९८	सहसैव समुद्भिद्य सुसुप्ते	१५	२९	३५४
समागमो निर्व्यसमस्य रा-	४	३७	१०३	सहस्रं मानमुत्कर्षाद्योज-	१८	२०	४३२
समाचरन्त्यः शिशुभाक्दुर्ल-	१	६०	२१	सागरोपमकोटीनां चतलः	१८	३९	४३६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
सागरोपमकोटीनां दश—	१८	३६	४३५	सेना सेना यती बद्धराजि—	१५	२०	३५२
सागरधर्मनिरता प्रतिपद्य	३	५५	८७	सैन्यचञ्जैरप्रतिकूलवात—	४	४९	१०७
सा च प्रणश्यति न तावद—	३	५२	८६	सैन्यनाटपनिधिरत्नभोजना—	७	७७	१९०
साधयन्निविधरत्नमण्डितां	७	७०	१८८	सोऽविगम्य वसुधाविशेष—	७	७८	१९०
सान्ध्या बिलोक्य नवयौवन—	३	५४	८६	सोपधानशयनासनादि	७	२६	१७६
सामन्तोपचितचमूपयुक्त—	१६	३६	३९४	सोऽप्यात्मनः परिसमाप्य	३	४६	८४
सा ह्रीवशादश गिरा किम—	३	२७	७८	सौधोत्सङ्गे तुङ्गपत्यङ्कुमुता	१६	५७	४००
सिंहविष्टरनिविष्टमच्युतं	७	४१	१८०	सौभाग्यं क्वचिदितरत्र क—	१६	१९	३८९
सिकतास्थलोऽज्ज्वलद्दहज्ज—	५	८	११८	स्तुतिं विधायेति मुनेर्मनो—	११	४८	२६५
सितकुसुमचयैश्च्युतैः कदर्याः	९	५१	२२७	स्तुतिशक्तिरस्ति न ममेश	१७	२६	४११
सिद्धरत्नमवगम्य संमुखी—	७	६३	१८६	स्थावराः कायभेदेन पञ्च—	१८	१८	४३२
सिन्दुरद्युतिरिव पूर्वदिक्पु—	१०	६४	२४६	स्थितं द्वादशभिर्भेदैर्निर्जरा—	१८	१११	४५०
सिन्धुतोयतरणादिषु क्रिया—	७	५	१७१	स्थितोऽथ हर्म्यं स नृपः क—	४	१८	९८
सुखदुःखादिपर्याया जीवा—	२	७६	५१	स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः	१८	२२	४३३
सुखमायतिदुःखमक्षयं	१	७८	२६	स्फुटमिह कमनोयमन्यथा	९	२५	२२१
सुखमाधिताय जिननाथ	१७	३१	४१२	स्फुरदोद्यतः कराखवक्रो—	६	१४	१४४
सुखमिष्टसमागमे यथा	१	७४	२५	स्मरपरवशबुद्धिरसंपृष्टप्रग—	९	१६	२१८
सुखतिगामिनि भाषितमान—	१३	५०	३२१	स्मृता लान्तवकापिष्ठक—	१८	६३	४४०
सुगन्धि कुसुमाभिरैः	२	११६	६२	स्यन्दमानमनदिनार्दणलचच—	७	११	१७२
सुगन्धिनि.श्वासमरुमनोह—	१	२६	१०	स्वादप्रमत्तविरतस्ततोऽपु—	१८	४५	४३७
सुतशोकशङ्कुपरिविद्धमनाः	५	७१	१३४	स्यादभिन्नस्ततो जीव.	२	७९	५२
सुदुष्करं यन्मनुते गणाधि—	१	९	४	स्वकराङ्गुलीनिजमुखेन वि—	१७	४३	४१५
सुभगाकृतिस्तीकृतं कल—	१०	६०	२४५	स्वनिन्दान्यप्रशंसादिरुच्यै—	१८	९३	४४६
सुरपङ्क्तिमाशु विरच्य कृ	१७	२०	४०९	स्वप्नानेताम्भुरिकल्याणहेतून्	१६	६२	४०१
सुरपङ्क्तिरानुपातगेहमरु—	१७	९	४०७	स्वभावजैः क्षान्तिदयाद—	११	४३	२६४
सुरपूज्य यः सततमेव बह—	१७	३३	४१२	स्वयमेतदुदाहृतं मया	१२	५२	२९२
सुरपेठकै. पटु नटद्विरति	१७	१७	४०९	स्वयमेव किल प्रहेष्यसि	१२	१८	२८३
सुरवृंहिते जयजयेति भुव—	१७	१३	४०८	स्वयमेव न वेति किं प्रभुः	१२	९६	३०३
सुरयुवतिजनस्य सानुभाजो—	१४	२२	३३२	स्वयमेव भवद्विराहित—	१२	६३	२९५
सुरयोषितो विविधघूप—	१७	१५	४०८	स्वयमेक्षि यतो नदीरया—	१२	४१	२९१
सुरवन्दवन्ध कश्चाद्रं श—	१७	६२	४१९	स्वगदिता देवि देवालयेन	१६	६६	४०२
सुरमुन्दरीसमशरीरलताः	५	२१	१२१	स्वस्माद्दहिर्भवनतः प्रकटं	३	७२	९२
सुललितगमनो न राजहंसः	९	४	२१५	स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशयं	७	६०	१८५
सुवर्णरभिनिर्वृत्ता दत्त—	२	७	३१	स्वहितं स्वधियैव बुध्यते	१२	४३	२९०
सुविचार्य करोति बुद्धिमान्	१२	१०२	३०५	स्वाध्यायानशान्दीनां	१८	११४	४५०
सुषमोपपदा प्रोक्ता सुषमा	१८	३७	४३५	स्वाध्यायो व्यावृत्तिध्यानं	१८	११३	४५०
सुहृद्वर्धं ररिमहात्मनिर्न	१०	३८	२४०	स्वामिप्रसादमासौद्यो मुख—	१५	४२	३५७
सेनापति समादिश्य सेना—	२	३४	३८	स्वामिसंमानयोर्म्यं यद्य—	१५	४४	३५७
सेनापतेरिति वचो ललितं—	१४	४१	३३७	स्वैरेव दुर्नयः पापाः पच्य—	१५	१०५	३७०



श्लोकोक्त	सर्ग	श्लोक	शृङ्ख	श्लोकोक्त	सर्ग	श्लोक	शृङ्ख
ह							
हठकारिणि यावदङ्गनाः	१०	४३	२४१	हितमेव न वेति कश्चन	१	७५	२५
हृत्तद्विषयसरा निरन्तरस्त-	१०	४६	२४१	हिमवन्धरोरुहोपमाङ्गना	६	६३	१५६
हन्ता यथाहमस्यात्र पर-	१५	१४०	३७७	हिमरश्मिकरापसारिते ति-	१०	३३	२३९
हरयोऽभिषेकमुपवन्म वि-	१७	३६	४१३	हृत्वापि द्रविणमसावभोग-	१६	४९	३९८
हरिषीठमा' स्थितवतोऽथ	१७	५१	४१७	हृदयहृदयसो विमलाम्बराः	१३	४०	३१८
हरिषिष्ठरस्थितमलोयजन-	१७	२७	४११	हृदयाभिमतं वरं वृणोऽत्रे-	६	३०	१४८
हस्तेन सुन्दरि मुहुविनि-	८	५८	२१२	हृदये हरिणीदृशा प्रिय-	१०	४९	२४२
हा कथं वञ्चितः पापः पा-	१५	१४२	३७८	हृषिततनुर्हृदिचरेण भीरु-	६	२८	२२२
हासानिव विमुञ्चन्तः	२	१९	३४	हृष्यवद्गतया सद्यः स्फुट-	१५	५	३४९
हितं विसंवादविवाजितस्थ-	१	५	३	हेतुश्चानुपलम्भादिरसिद्धो-	२	७२	५०
हितमितवचनानि मन्त्रि-	१२	१११	३०७	हेषासकहमे गर्जद्गजे प्रध्व-	१५	३८	३५६
हितमिच्छसि चेदकैतवां	१२	२४	२८५	होतो बिहाय मम कोचन-	८	५४	२१०



### ३. टीकान्तर्गत ग्रन्थान्तरों के अवतरण

अ

अवतरण

पृष्ठ

१. अङ्गुलं चत्वरजिरे [ अमर० २।२।१३ ] २५३
२. अङ्गारिणी हसन्त्यां च<sup>१</sup> भास्करत्यक्तदिक्ष्यपि । [ अनेकार्थसं० ४।७६ ] १११
३. अत इज् [ शाकटा० २।४।२१ ] ३५१
४. अषरो दन्तवसनेऽनुध्वं हीनेऽपरोऽन्यवत् । [ विश्व० २त्रिकम् ९६ ] १२
५. अष्ठानं यत्नौ [ शाकटा० ३।३।५७ ] ६३
६. अनुपसर्गे जः<sup>२</sup> [ शाकटा० १।४।६६ ] ७२
७. अपत्यगोत्रसमूहसुरकुणेषु सन्तानः । [ नानार्थको० ] ६६
८. अमाभ्याश्च पौराश्च सद्भिः प्रकृतयः स्मृताः । [ कात्याः ] ३०८
९. अयुक्तिः प्रणोतः कामक्रोषलोभमदमानहर्षाः क्षितिशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गं [ नीतिवा० ४।१ ] ९७
१०. अलिबाणौ शिलीमुखौ [ अमर० ३।३।१८ ] २२९
११. अवयवात्तयट् [ शाकटा० ३।३।७२ ] ४८, १८३, ३१५
१२. असहनम्—[ शाकटा० १।३।२७ ] ७७, ९८, १६२, १९२, २१४, २४८, ४००
१३. अस्तिब्रुवोर्भुवचो [ शाकटा० ४।२।९१ ] ५१, ७८, १३६, १६५, १८१, २६८, ३४९
१४. अस्त्यस्मिन्वेति मनुः [ शाकटा० ३।३।११६ ] ७, ८१, ९२

आ

१५. आ घत्—[ शाकटा० २।२।१०७ ] २६५
१६. आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च । [ अमर० ३।३।१०९ ] २०
१७. आभोगः परिपूर्णता [ अमर० २।६।१३७ ] ३२
१८. आमोदः सोऽतिनिहारी [ अमर० १।५।१० ] ६२
१९. आयतिर्दीर्घताया स्वात्प्रमुतामामिकालयाः [ वैजयन्ती स्त्री० ३ ] १९
२०. आराद् दूरसमीपयो [ अमर० ३।३।२४३ ] १५०
२१. आलोकौ दर्शनोद्योतो [ अमर० ३।३।३ ] ३९

इ

२२. इन्द्रासोमाविषु देवतानाम् [ शाकटा० २।२।३३ ] ३१

ई

२३. ईशे [ शाकटा० ३।२।१५३ ] १७७

उ

२४. उत्तरः काल आयतिः [ अमर० २।८।२९ ] २६
२५. उपसर्गः स्मृतो रोगे<sup>३</sup> विघ्नोपप्लवधोरपि । [ विश्व० गचतु० ५४ ] १२

१. मुद्रितेऽनेकार्थग्रहे तु 'च'—स्थाने 'स्यात्' इति वर्तते । २. 'ओदिदपवदानुपसर्गः' इति शाकटा० १।४।६६ । ३. 'रोगभेदोप' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे समुपलभ्यते ।

श्रु

२६. ऋक् पूः पथ्यपोऽत् [ शाकटा० २।१।१३९ ]

८, २६४

ए

२७. एकयोक्त्या छावाभूमी रोदस्थी रोदसी तथा ।

१९०

२८. एकादश—[ शाकटा० २।२।१०१ ]

३८०

२९. एकादाकिंवासहाये [ शाकटा० ३।४।१२१ ]

३७३

३०. एचोऽय्याः [ शाकटा० ४।१।१८० ]

२०१

क

३१. कश्चिद्—[ शाकटा० ४।३।७ ]

१०३, २४३

३२. कं वारिणि च मूर्धनि [ अमर० ३।३।२५० ]

३५९

३३. कटकं वलये सानौ राजधानीनितम्बयोः [ विश्व० कश्चिकम् ६३ ]

१५

३४. कथमित्थमुः [ शाकटा० ३।४।२६ ]

४०

३५. कव्योऽस्त्रो क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम् । [ अमर० २।८।११८ ]

३५९

३६. कम्पेककर्तृकात्—[ शाकटा० ४।१।१६ ]

३३, ६३, १०३, १६०, १८५

३७. करेणुरिम्बा स्त्रो नेभे [ अमर० ३।३।५२ ]

२७६

३८. कर्मकर्तृभ्याम्—[ शाकटा० ३।४।५५ ]

२, १२२, १२९, १४०, २६२

३९. कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके । षोडशाशे च चन्द्रस्य कलनाकालयोः कलाः ॥

[ विश्व० लट्टिकम् ४३ ]

१६

४०. कषायो रसभेदे स्याद्गन्धरागे विलेपने ।

नियसि च कषायोऽथ सुरभो लोहितेऽन्यवत् ॥

कट्टिकषायाम्बु सुगन्धस्याभिधायकाः ।

२११

४१. काण्डोऽस्त्रो दण्डबाणवर्गवर्गविसरवारिणु । [ अमर० ३।३।४३ ]

१०, ६५

४२. कामक्रोधलोभमदमानहर्षाः क्षितोक्षानामन्तरङ्गोऽरिपद्मर्गः । [ नीतिवा० ४।१ ]

२८२

४३. कारिका—[ शाकटा० १।१।२७ ]

३६

४४. कालविशेषोत्सवयोः क्षणः [ अमर० ३।३।४७ ]

३४

४५. कालशबल—[ शाकटा० १।३।६४ ]

२०८

४६. कालाध्वनोर्व्याप्ती [ शाकटा० १।३।१२६ ]

१०६, १३४, १४०, १९९, २२८, ४२१, ४५८

४७. किमिदमः कोऽश् [ शाकटा० २।२।१०८ ]

२५५, २६८, ३०५

४८. कुक्षिभ्रूणार्भका गर्भाः [ अमर० ३।३।१३५ ]

४०४

४९. कुपः स्यात्कारिकम्बलः [ अनेकार्थध्वनि० १४ ]

३११, ३२२

५०. कूलादुवि ख्यबहः [ शाकटा० ४।३।१५१ ]

६

५१. कुब् ग्रहोऽङ्कतजोवात् [ शाकटा० ४।४।१७२ ]

३६७

५२. कुतकामुकस्य—[ शाकटा० १।३।१६६ ]

२०, ४५, १४९, १६२, १९६, २८८, ३७७

५३. कृपाहृदयावालुः [ शाकटा० ३।३।१३८ ]

३९२

५४. कोः कदचि [ शाकटा० २।२।११८ ]

२६०

५५. फाः [ शाकटा० २।१।१११ ]

३०३

५६. वसत ङस् [ शाकटा० १।३।१४५ ]

८७

क्ष

५७. क्षत्रियाद् ब्राह्मणोऽपि सूतः पारदबन्दिनोः । [ विद्व० तद्वि० ११ ]

२४५

५८. क्षय्यजयौ शक्तौ [ शाकटा० ४।२।१०७ ]

३७४

ख

५९. खगवाल्पादिनोर्वयः [ अमर० ३।३।२३१ ]

३४

६०. खित्यरु [ शाकटा० २।२।७८ ]

६, ९

ग

६१. गङ्वादिभ्यः [ शाकटा० २।१।११४ ]

१४५

६२. गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषभ्यपेतं हितं<sup>१</sup>

४२९

कष्टोष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोषोद्गतम् ।

स्वष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं नि शेषभाषात्मकं

दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः ॥ [ समवसरणस्तो० २९ ]

६३. गमः खलङ्काः [ शाकटा० ४।३।१५९ ]

९

६४. गह्वरदुःखविपिनकलिलेषु गहनम् । [ नानार्थको० ]

४२

६५. गुणः

३१९

६६. गुणाङ्गाद्विष्टेयसु [ शाकटा० ३।४।७५ ]

८, १५, ९५, १५६

६७. गृहदेहत्विटप्रभावा घामानि [ अमर० ३।३।१२४ ]

१३, १७

६८. गैतयोः [ शाकटा० ४।३।१२४ ]

२३, ३५, ७९, ८१, ८७, २३४, ३०३, ३९९

६९. गोरधवातात् प्रकटधोलम् [ शाकटा० २।४।१४१ ]

३१३

७०. गोस्तम्बपुरात् [ शाकटा० २।१।३६६ ]

२३

७१. ग्रहे ग्राहो वशः [ अमर० ३।२।८ ]

२५४

७२. ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्लं [ शाकटा० २।४।१४३ ]

८१, ११२, १२२, १२९, १९६

७३. ग्रावाणो शैलपापाणो [ अमर० ३।३।१०६ ]

३०१

७४. ग्लास्थस्स्तुः [ शाकटा० ४।३।२२५ ]

३५६

घ

७५. घत्विदं किमः [ शाकटा० ३।३।६८ ]

२५५, २६८, ३०५

७६. घनाघनो घनो मेघः [ घ० नाम० १८ ]

७

७७. घुमास्थानापाहावसः [ शाकटा० ४।२।८६ ]

७९

७८. घुमोमा— [ शाकटा० ४।१।६० ]

१०३

च

७९. चमूरप्रियकावपि [ अमर० २।५।९ ]

१४२

८०. चम्पकस्वर्णसुगन्धवसन्तपशुमनोशेषु सुरभिः । [ नानार्थको० ]

१९८

८१. चुम्बको बहुगुरुधूर्तायस्कान्तकामुके ।

६०

८२. चूर्वा [ शाकटा० ४।१।७३ ]

१२७

८३. चौ चास्थानव्ययस्येः [ शाकटा० २।३।४८ ]

२, १२२, १२९, १४०, २६२

१. 'दोषरपेतं हितं' इति मुद्रिते स्तोत्रे वर्तते । २. आचारखारेऽपि ( ४।९५ ) वचमिदं समुपक्रम्यते ।

छ

८४. छन्दो बधोऽप्यभिप्राये हार्दिकाचित्तवृत्तयोः<sup>१</sup> । [ विश्व० दद्रि० ११ ] ७७  
 ८५. छाया स्यादासपामावे सत्काम्युत्कोषकान्तिषु ।  
 प्रतिबिम्बेऽर्ककान्तायां तथा पङ्क्तौ च पालने ॥ [ विश्वलो० यान्त २१-२२ ] ३८५

ज

८६. जडोऽज्ञः [ अमर० ३।१।३८ ] ४२  
 ८७. जराया ऊसिन्द्वयस्यावि [ शाकटा० १।२।३७ ] २४  
 ८८. जलजबलन्याय्यस्थिरांशवरधनेषु सारः [ नानार्थको० ] २०३  
 ८९. जैलिट् सनि [ शाकटा० ४।१।७२ ] ६३, १८५, १८८, २६६, ३०८, ३७२  
 ९०. जातेऽच्छस्सामान्यवति [ शाकटा० २।१।२०२ ] ४७

झ

९१. ज्ञेः [ शाकटा० ४।२।३९ ] १९९, २२०, २२३

ट

९२. टिष्ठन्नेज्जगोरादिभ्यः [ शाकटा० १।३।१४ ] २३७, २७१

ण

९३. णिज्बहुलं कृत्वादिषु [ शाकटा० ४।१।२८ ] ६२, १२०  
 ९४. णेरिक्त—[ शाकटा० ४।२।१०१ ] १०३, २४३

त

९५. तत्पुष्टे कृति बहुलम् [ शाकटा० २।२।१४ ] १४३, ३२७  
 ९६. तदस्य प्रमाणमात्रद् [ शाकटा० ३।३।६० ] २२२  
 ९७. तपस्त्रय्यायामेधासो विन् [ शाकटा० ३।३।१५० ] ६७  
 ९८. तमालपत्रतिलकञ्चित्रकाणि विशेषकम् [ अमर० २।६।१२३ ] १६  
 ९९. तातोऽनुकम्प्ये जनके [ विश्वलो० १९।१२२ ] १६५  
 १००. तुमो मनस्कामे [ शाकटा० २।२।६९ ] ७५, २२०  
 १०१. तेमयावेकत्वे [ शाकटा० १।२।१९३ ] ३३  
 १०२. तेन वित्ते खुञ्चुषणी [ शाकटा० ३।३।९३ ] १७४  
 १०३. तौ युतावञ्जलिः पुमान् [ अमर० २।६।८५ ] ४  
 १०४. त्वदाथ—[ शाकटा० ४।३।१०८ ] २३, ९९, २६५, २६७, २६८  
 १०५. त्यागजमदशुद्धिपालनच्छेदनेषु दानम् । [ नानार्थको० ] १७  
 १०६. त्वामौ द्वितीयायाः [ शाकटा० १।२।१९४ ] २४८

द

१०७. दशसञ्जवशपि [ शाकटा० ४।१।२२४ ] २५  
 १०८. दन्तविप्राण्डजा द्विजाः [ अमर० ३।३।३० ] २१४  
 १०९. दयायास्क—[ शाकटा० १।४।८३ ] १६

१. 'हृदाक्षयाचित्तवृत्तयोः' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे दृश्यते ।

११०. दरी तु कन्दरो वा स्त्री [ अमर० २।३।६ ]	३३२
१११. दिवाविभानिशा—[ शाकटा० ४।३।१३२ ]	२६२
११२. दीप्पूरजन—[ शाकटा० ४।३।१५ ]	२१९, २२३
११३. दुद्रुधो लुङ् : [ शाकटा० १।४।१९ ]	३१४, ४०५, ४०७
११४. दुहि याचि हवि प्रच्छि (?) [ शाकटा० १।३।१६९ ]	२३७
११५. देवो नदविशेषेऽथो सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम् । [ अमर० ३।३।१०१ ]	३३२
११६. दोषच्छः [ शाकटा० ३।१।२६ ]	२०, ७१, ७७, ३५१
११७. द्वाष्टाययोनशीतो—[ शाकटा० २।२।१०२ ]	३८०, ४२७, ४४०, ४४८
११८. द्विगो [ शाकटा० १।३।३६ ]	७२
११९. द्विजिह्वी सर्पसूतकौ [ अमर० ३।३।१३३ ]	१२
१२०. द्विनिम्मा लुग्रा [ शाकटा० ३।३।७३ ]	१८३
१२१. द्वित्रेस्तोयद्वेष्ट चृष्ट् [ शाकटा० ३।३।८६ ]	६१, २११
१२२. द्विर्धातुः—[ शाकटा० ४।१।४३ ]	१०३, २४३
१२३. द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत. [ न्याय स० पृ० ६० ]	४
१२४. द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ [ अमर० ३।३।२१४ ]	२२

## ध

१२५. धर्मादिन् द्विपदात् [ शाकटा० २।१।१९९ ]	३८०
१२६. ध्वज पताका केतुश्च बिल्लं तद्विजयन्त्यपि [ धन० नाममा० ८४ ]	३६३

## न

१२७. नवचान्द्वुदाद्यनेकहल. [ शाकटा० ४।१।१०६ ]	३७, १३७, ३४९
१२८. न नञः [ शाकटा० २।१।१२५ ]	७२
१२९. न नम् [ शाकटा० १।२।१५ ]	७४
१३०. न पर्याङ्चे रमः [ शाकटा० १।४।६८ ]	४३, २१७
१३१. नमो वरिवस्तासः क्यच् [ शाकटा० ४।१।४० ]	४
१३२. नम्कम्यजस्कम्पस्मिहिसदीपो र. [ शाकटा० ४।३।२६३ ]	१३, १८७, २८४, ३२६
१३३. नदमस्जसोर्नम् [ शाकटा० २।४।१९६ ]	२८५
१३४. नानानेकोभयार्थयोः [ अमर० ३।३।२४८ ]	१९७
१३५. नाभेर्नाम्नि [ शाकटा० २।१।१९५ ]	२१, २७४
१३६. नामैकदेशो नाम्नि प्रवर्तते	४५१
१३७. नित्यं णः पञ्चश्च [ शाकटा० ३।२।८८ ]	१९८, ३८४
१३८. [ निद्रातन्द्रा— ] अद्वा—[ शाकटा० ४।३।२३० ]	२४४
१३९. निर्वृत्तिस्तु मनस्तोपे मोक्षे सम्येवाद्योः । [ वैजयन्ती स्त्रोल्लिङ्गा ० ११ ]	४
१४०. नृदुमि—[ शाकटा० १।३।७ ]	८१, २२०
१४१. 'नेत्रं मृदुगुणे वस्त्रे तमूले विलोचने । नेत्रं रथे च नद्या च नेत्रो नेतरि भेद्यवत् ॥	

[ विश्वप्र० रहि० ४३ ] १७६

१४२. नो मट् [ शाकटा० ३।३।८५ ]	३८९
१४३. न्यगोध्यतोऽनशी—[ शाकटा० २।१।१२३ ]	३२०

१. 'क्षे'ऽस्तम' इति तु वैजयन्त्याम् । २. 'नेत्र मन्थिगुणे वस्त्रे तमूले विलोचने । नेत्रं रथे च नाद्या च नेत्रो नेतरि वाच्यवत् ॥' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे ।

प

१४४. पञ्चमी भयादिभिः [ शाकटा० २।१।४१ ]	१३
१४५. पतङ्गो पतिसूयो व [ अमर० ३।३।२० ]	१३
१४६. पत्तनं पुटभेदनम् [ अमर० २।२।१ ]	८६
१४७. पत्रं बाहनपत्रयोः [ अमर० ३।३।१७९ ]	१०९, ३९५
१४८. पत्रिणी शरपत्रिणी [ अमर० ३।३।१०६ ]	४२३
१४९. पदः [ शाकटा० ४।३।१६ ]	१२४
१५०. पदाद्राक्यस्य—[ शाकटा० १।२।१९१ ]	१, २, २९६, ३१२, ३६१
१५१. पद्म्—[ शाकटा० १।२।१४३ ]	१२०
१५२. परभागो गुणोत्कर्षः [ अमिषा० ६।११ ]	२२०
१५३. परः स्यादुत्तमानात्मवैरिदूरेषु केवलः । [ विष्व० रद्वि० ६ ]	१९२
१५४. परिस्तोमः कुषो द्वयोः [ अमर० २।८।४२ ]	३११
१५५. पल्लपरारि—[ शाकटा० ३।४।२३ ]	२५५
१५६. पल्लवः किसलये पिङ्गे विटपे विस्तरे जवे ।	
शृङ्गारेऽलकरागोऽपि [ विष्वः ]	१९७
१५७ [ पाद्याष्मा—] घेद दूषः श. [ शाकटा० ४।३।९६ ]	२४, १००, २३४
१५८. पाद्याष्मास्था—[ शाकटा० ४।२।५८ ]	८५, २८४
१५९. पादा रस्यद्घ्नितुर्माशा—[ अमर० ३।३।८९ ]	३२
१६०. पारे मध्येऽन्तस्थछद्या—[ शाकटा० २।१।९ ]	३४१
१६१. पाशादेश्व यः [ शाकटा० २।४।१४२ ]	१०१
१६२. पुरंदरमगंदर—[ शाकटा० ४।३।१५५ ]	४१४
१६३. पुरुषे का वा [ शाकटा० २।२।१२१ ]	१४५
१६४. पुगः क्रमकवन्दयोः [ अमर० ३।३।२० ]	३९५
१६५. पूर्वापर—[ शाकटा० ३।४।२१ ]	२७, ७६, १०१, १४८, ४१९
१६६. पूर्वापराशरो—[ शाकटा० २।१।२५ ]	१०७
१६७. पृथिवीसर्वभूमिम्यामज् [ शाकटा० ३।२।१५२ ]	२६७
१६८. पृथुकः शावकः क्षिणुः [ समर० २।५।३८ ]	७९
१६९. पृथ्वादेर्वेमन् [ शाकटा० ३।३।८ ]	१२३
१७०. पृथक्बाणविशिखाः [ अमर० २।८।८६ ]	१६७
१७१. पोटायुवतिः [ शाकटा० २।१।७३ ]	२५८
१७२. प्रकारे <sup>१</sup> वा ( ? ) [ शाकटा० ३।४।२५ ]	४३४
१७३. प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । छन्दःकारणगुह्येषु जन्वमात्वादिमातृषु ॥ [ वैजय० स्त्रीलिङ्गा० १२ ]	२८
१७४. प्रणयः प्रेम्णि विलम्बे याच्छाप्रसरयोरपि । [ विष्वः ]	२५०
१७५. प्रतिबन्धगजालीकवृष्टिबन्धेऽवबधहः ।	६२
१७६. प्रधूमिता श्लेशितायां सूर्यगन्तव्यदिशपि । [ अनेकार्थसं० ४।१।१९ ]	१११
१७७. प्रमाणीसंख्याद्भः [ शाकटा० २।१।१८९ ]	३७
१७८. प्रसवणप्रवासनिवासवारिकान्तारेषु वनम् । [ नानार्थको० ]	२२९

१७९. प्रहरणात् सप्तमी च [ शाकटा० २।१।११३ ]	१६६
१८०. प्राप्तेऽन्तः—[ शाकटा० २।२।१६१ ]	३९३
१८१. प्राधान्ये राजलिङ्गे च व्याङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम् । [ अमर० ३।३।९२ ]	३९३
१८२. प्रायो मूयन्त्यन्तगमने [ अमर० ३।३।१५४ ]	१७१
१८३. प्रियस्त्रिभर—[ शाकटा० २।३।५२ ]	१५, १५६, ३१३, ३३८
१८४. प्रोपास्यां समर्थाभ्याम् [ शाकटा० १।४।२५ ]	२६३, २६९, २८६
१८५. प्रोपोत्सं पादपूरणे [ शाकटा० २।३।६ ]	२६९
१८६. प्वयङ् [ शाकटा० ४-१।२२ ]	६५

## फ

१८७. फलं जातिः [ शाकटा० २।१।९९ ]	१७५
----------------------------------	-----

## ब

१८८. बन्वहेत्वभावनिर्जराभ्या कुत्स्नकर्मविप्रमोदो मोक्षः । [ त० सू० १०।२ ]	५५
१८९. बलिहस्ताशव. कराः [ अमर० ३।३।१३३ ]	१२
१९०. बशो भष्—[ शाकटा० १।२।७६ ]	२८८
१९१. बहुलं श्लक् पृष्पमुले [ शाकटा० २।४।१६९ ]	३४
१९२. बह्वल्पर्य—[ शाकटा० २।२।४६ ]	३७
१९३. बाहुलेयस्तारकजित् [ अमर० १।१।४० ]	१७३
१९४. ब्रुवस्तिष्पञ्जरी—[ शाकटा० १।४।१०४ ]	४१, ३०४, ४३५

## भ

१९५. भंजभास—[ शाकटा० ४।३।२५९ ]	३२६, ४०७
१९६. भयको घस्मरोऽक्षरः [ अमर० ३।१।२० ]	३६९
१९७. भागो रूपाधके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोः । [ विश्व० गट्टि० ६ ]	१९२
१९८. भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः [ शाकटा० १।३।१०२ ]	४२, २२७
१९९. भूजेस्नुक् [ शाकटा० ४।३।२२४ ]	२२, ७०, १६१
२००. भूतपूर्वं प्वरट् [ शाकटा० ३।४।१ ]	१४९
२०१. भूतिर्भस्मनि संपदि [ अमर० ३।३।६९ ]	१८
२०२. भूमृद्भूमिघरे नृपे [ अमर० ३।६।६१ ]	१५
२०३. भृशामीश्व्याविच्छेदे प्राग् द्विः [ शाकटा० २।३।२ ]	३५७
२०४. भेषजादि—[ शाकटा० ३।४।१२७ ]	२
२०५. भोगः सुखे घने बाहेः शरीरफणयोरपि । पालने व्यवहारे च निर्वेशे पण्ययोषिताम् ॥ [ विश्व० गट्टि० १० ]	६६
२०६. भोगोत्तरपदात्मन्या ख. [ शाकटा० ३।२।२१७ ]	१०३
२०७. म्भः क्रुकुकनुकाः [ शाकटा० ४।३।२६५ ]	२६०

## म

२०८. मणितं रतिकूजितम् <sup>१</sup> [ अभिधानवि० ६।४४ ]	२४५
२०९. मण्डलो रात्रिजागरः	३०२

१. 'भाग' इति तु मुद्रिते विद्वद्व्यक्राशे वर्तते । २. 'योर्मतः' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ३. मुद्रितेऽभिधानचिन्तामणौ तु 'रतिकूजितम्' इति वर्तते । अमरकोषे तु 'मणितं रतिकूजितम्' इति न विलोच्यते ।



२१०. भक्तवारणमिच्छन्ति दानविलम्बकटद्विपे । महाप्रासादयोधोना वरुण्डे चाप्युपाश्रये ॥	
[ विश्व० णवञ्ज० १०७ ]	८, ६६
२११. यत्सरोऽन्यशुभद्वेषे तद्वत्कृपणयोस्त्रिषु । [ अमर० ३।३।१७३ ]	९७
२१२. मदकलः स्यान्मत्तमे मदेनाश्वक्त्वानि च । [ विश्वलो० लान्त० १६६ ]	२१४
२१३. मदी रेतसि कस्तूर्या गवै हर्षेभदानयोः ।	१२
मधोऽपि मव आख्यातो मुदि <sup>१</sup> कृतकवस्तुनि ॥ [ विश्व० दद्वि० २ ]	
२१४. मधु मधे पुष्परसे क्षौद्रेऽपि [ अमर० ३।३।१०३ ]	१९७
२१५. मर्यादा धारणा स्थितिः [ अमर० २।८।२६ ]	३
२१६. मलादिमसद्व [ शाकटा० ३।३।१४५ ]	९, १०६, १२६, २३२, २३३
२१७. मलीमसं तु मलिनम् [ अमर० ३।१।५५ ]	९
२१८. मानं प्रमाणे प्रस्थादौ मानशितोत्पन्नो ग्रहे । [ विश्वलो० नान्त० १७ ]	६६
२१९. मान्तोपान्त— [ शाकटा० १।२।९६ ]	७, ८१, ९२
२२०. मिथो ग्रहणे ग्रहरणे च सूर्यं गृह्ण्ययोभावः [ शाकटा० २।१.६ ]	३५८
२२१. मोक्षपाठो न एव च	११३
२२२. मुग्ध सुन्दरमूढयोः [ विश्व प्र० दद्वि० १० ]	२१६
२२३. मूर्तिः काठिन्यकाययोः [ अमर० ३।३।६६ ]	१२
२२४. मोर्ध्यावदा ( धा ) न पारदेन्द्रियमूत्रवत्त्वादिसन्ध्यादिविद्यादिहरितायिषु गुणः <sup>२</sup> [ नानार्थको० ]	३

य

२२५. यत्तवः [ शाकटा० ३।३।७० ]	८६, १३५
२२६. यथावा. [ शाकटा० २।१।१९ ]	६३
२२७. यदभावो भावलक्षणम् [ शाकटा० १।३।१८० ]	४५
२२८. यमकश्चेतिचिपे वययोर्द्वयोर्न भित् । [ यामभटा० १।२० ]	१९८
२२९. यम्भमिपोविशःछः [ शाकटा० ४।२।५७ ]	४०, २०३, ३६६
२३०. युष्मदस्मदोऽज्यजो— [ शाकटा० ३।१।५७ ]	७७, १६२, २२६, २६७

र

२३१. राजन् सखेः [ शाकटा० २।१।१६९ ]	२४०
२३२. राष्ट्र जनपदो निर्गो जनान्तो विपदः स्मृतः । [ घ० नाममा० ४।८।९७ ]	१५१
२३३. रट्कृषौ स्थियो [ अमर० १।७।२६ ]	२०९
२३४. रहः पः [ शाकटा० ४।१।१९६ ]	४०८
२३५. रूपादौ तन्तुप ज्यायामग्रयाने नये गुणः । [ घ० अनेकार्था० ३७ ]	१३
२३६. रो लोऽयो [ शाकटा० ४।२।२५३ ]	३६१

ल

२३७. लक्षणेनाभि— [ शाकटा० २।१।१० ]	२७६, ४०८
२३८. लिटः ववसुकातो [ शाकटा० १।४।८० ]	८७, १०९, २६१
२३९. लुक्लोऽर्ण [ शाकटा० ३।१।७० ]	२७१
२४०. लोकप्रसिद्धशब्दस्वरूपोच्चारणं पालनम् ।	१२
२४१. लोलदन्तसत्तृणयोः [ अमर० ३।३।२०६ ]	१९७

१. 'मदी' इति तु मुद्रिते विशदप्रकाशे । २. 'मोर्ध्यावदानपारदेन्द्रियमूत्रवत्त्वादिसन्ध्यादिविद्यादिहरितायिषु' इति नानार्थरत्नकोषे—इति मुनिमुद्रतका० टी० पृ० १८१ ।

## व

२४२. वंशो वेणौ कुले वगे पृष्ठस्यावयवेऽपि च । [ विश्व० शङ्खि० १० ]	२२
२४३. वयसि दन्तस्य दत् [ शाकटा० २।१।२०८ ]	२२०
२४४. वरिवस्या तु शुभ्रया सेवा भक्तिरुपाधना । [ अमर० २।७।३५ ]	१७०
२४५. वर्णद्वयादिभ्यः— [ शाकटा० ३।६।९ ]	१२३
२४६. वत्स्यति फलकारणे [ शाकटा० ४।४।१२३ ]	३०७
२४७. वक्ष्यपथ्य— [ शाकटा० ३।२।१९५ ]	१०३, ११२, १५५, २७७
२४८. वसती रात्रिवेश्मनोः [ अमर० ३।३।६७ ]	१९७
२४९. वहाध्नाल्लिहः [ शाकटा० ४।३।१५२ ]	९
२५०. वात्या वातस्तु मुञ्चति <sup>१</sup>	१०१
२५१. वा नाकस्य— [ शाकटा० १।३।१६८ ]	४, १८४, २८६, २९१, ३०७
२५२. वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना सर्वला तोमरोऽस्तित्रयाम् । [ अमर० २.८।९३ ]	१७६
२५३. वामे ( मो ) वक्रं मनोहरे [ घ० अनेकार्थना० ६ ]	२४५
२५४. विकलवो विह्वलः स्यात्तु विवशोऽरिष्टदुष्टयोः । [ अमर० ३।१।४४ ]	९२
२५५. विटपः पल्लवे पिङ्गे <sup>३</sup> विस्तारे स्तम्बशाखयोः । [ विश्वः पत्रि १३ ]	१४२
२५६. विप्रलापे वा [ शाकटा० १।४।५३ ]	४२
२५७. विस्तारावसरक्रतुवृत्तमेवतुच्छमन्दसमाजेषु वितानम् । [ नानार्थको० ]	८
२५८. वीप्सलक्षणैः भवनेष्वभिना [ शाकटा० १३।१०१ ]	३९३
२५९. वीप्सायाम् [ शाकटा० २।३।८ ]	९१, ९५, १९६, २०२, २१८, २२४, २२९, २६०, २६६, २९४, ४२२
२६०. वेणौ वगे कुले वंशः पृष्ठस्यावयवेऽपि च	२५३
२६१. वोर्ध्वं दध्नद्वयसत् [ शाकटा० ३।३।६२ ]	२२३
२६२. व्यतिकरः स्याद् व्यसनव्यतिपङ्क्तयो [ विश्व रच० २२६ ]	२१५
२६३. व्याघ्रादिभिर्गोणैस्तदनुक्तो [ शाकटा० २।१।६४ ]	७२
२६४. व्याप्तौ स्यात् [ शाकटा० ४।४।१२३ ]	२८३

## श

२६५. शकार्यवधङ्गम.स्वस्ति— [ शाकटा० १।३।१८२ ]	२०२, ३८१
२६६. शपनाथशिख— [ शाकटा० १।४।४२ ]	७२
२६७. शरणं गृहरक्षितो [ अमर० ३।३।५३ ]	३
२६८. शरं वनं कुशं नीरं तोयं जीवनमविवधम् । [ घ० नाममा० १५ ]	३६८
२६९. शशिवृशोत्पलकपिकृपणदिग्गजेषु कुमुदः । [ नानार्थको० ]	३२
२७०. शालो <sup>१</sup> हाके नृपे मत्स्यप्रभेदे सर्जपादपे । विश्व० लङ्घि० १४ ]	११
शालः <sup>२</sup> पादममाने स्यात् प्राकारे शिशुकटुमे ॥ [ विश्व० लङ्घि० १५ ]	
२७१. शार्ध्वेधिजहि [ शाकटा० ४।२।३३ ]	२६९
२७२. शिरोधिः कन्धरेत्यपि [ अमर० २।६।८८ ]	११३

१. मुद्रितेऽमरकोषे तु 'परिचर्याप्युपासना' इति पाठो दृश्यते ॥ २. वात्यावातस्तु मण्डली' इति वैजयन्त्याम् । ३. 'शृङ्गे' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ४. व्यतिकरः समाख्यातः' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ५. 'शालो हालनृपे' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ६. शालः पादवमात्रं स्यात्' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे ।

२७३. श्रीहस्तासोऽवराधारः [ शाकटा० १।३।१२२ ]	२८, १२९, २७१, ३८९, ४१७
२७४. शीलं स्वभावे सद्बुते [ अमर० ३।३।०१ ]	२०
२७५. शेषोऽप्राणो [ शाकटा० २।१।१०० ]	२२०
२७६. श्ववर्णं श्रुतिकर्णयोः [ विश्वः णविकम् ५० ]	१६
२७७. श्रितादिभिः [ शाकटा० २।१।३३ ]	३३
२७८. श्रेष्ठवासकसौरभेयधर्मराशिभेदयुक्त्यै वृषः । [ नानार्थको० ]	१५
२७९. श्लुम्वा [ शाकटा० २-२।१३७ ]	२१
२८०. श्वयत्यश्वचयतोऽङ्गयथगुणम् [ शाकटा० ४।३।७ ]	८१, २२६
२८१. श्वया—[ शाकटा० ४।१।११५ ]	५१, १६५

ष

२८२. षट् कति कतिपयात् षट् [ शाकटा० ३।२।७९ ]	४३६
२८३. षष्ठो चानादरे [ शाकटा० १।३।६८३ ]	२५४

स

२८४. संख्याडतेश्चाशतिष्टेः कः [ शाकटा० ३।२।१२६ ]	५९
२८५. संख्याव्ययादङ्गुलिः [ शाकटा० २।१।१८५ ]	४३०
२८६. सङ्घे समाया समिति [ अमर० ३।३।७० ]	१२५
२८७. संजात तारकादिभ्य इव. [ शाकटा० ३।३।११४ ]	२२७, २६९
२८८. संपर्युपात्कुञ्जः—[ शाकटा० ४।२।२११ ]	३०९
२८९. संप्रभेऽसकृत् [ शाकटा० २।३।१ ]	२७४
२९०. संविप्रावात् [ शाकटा० १।४।३६ ]	२९, १५२, १५८
२९१. सवेगमयादरेषु सभ्रमः [ नानार्थको० ]	२३३
२९२. संस्तवः स्यात्परिचयः [ अमर० ३।२।२३ ]	२४५
२९३. सता हि प्रहृता शान्त्यै खलानां दर्पकारणम् [ अत्रचू० ५।६२ ]	३००
२९४. सदकारणवन्नित्यम् [ वैशेषिकसू० ४।१।१ ]	४६
२९५. स ईवस्यापराधो न मन्त्रिणा यत्मुपाटितमपि कार्यं न घटते । [ नीतिवा० १०।५७ ]	२९
२९६. सदैतस्त्रिभुनेदानो तवानो सद्यः [ शाकटा० ३।४।१९ ]	६४, २१८
२९७. सन्निर्वा विग्रहो यानमासन द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः [ अमर० २।८।१८ ]	१७
२९८. सन्निजा—[ शाकटा० ४।३।२२७ ]	४, ८, १०३
२९९. सप्तम्याः [ शाकटा० १।२।१५९ ]	२२९
३००. समीपे [ शाकटा० २।१।१४ ]	३३८, ३९२
३०१. सतिशास्तिस्वदद्युपुष्यादेः [ शाकटा० ४।३।११ ]	८१, ८९, १६२, १७१, १७३, १९४, २०८, २२६, २५०, ३४८
३०२. सतर्षो वेगे [ शाकटा० ४।२।५९ ]	५५, २१२, २५३, २७६
३०३. सलङ्—[ शाकटा० १।४।७९ ]	४, १६, ६१, ६७
३०४. सः समानस्य धर्मादिषु च [ शाकटा० २।२।१०९ ]	३८०
३०५. सहसा क्षटिति द्रुतम् [ ष० नाममा० १७२ ]	२४२
३०६. सामीप्येऽथोऽप्यपरि [ शाकटा० २।३।७ ]	३५८
३०७. सायं चिरं प्राह्मे प्रगेऽव्ययात् [ शाकटा० ३।१।७४ ]	४, २३७

३०८. सार्धो वनिकवमूहः स्यादपि संघातमात्रके [ विश्व० षट्ठि० ९ ]	६४
३०९. सीमसीमे स्त्रियामुभे [ अमर० २।२।२० ]	६२
३१०. सुखसलिलमोमज्जलकोलकवालुकाभयापठक्यद्विजाक्रोष्टाशङ्करेषु शिवम् [ नानार्थको० ]	२४
३११. सुखदुःखतत्क्रियायां लङ्	३१८
३१२. सुखमा	४०९
३१३. सुखा—[ शाकटा० २।१।२ ]	३७
३१४. सुन्दरविद्याऽविकरालेषु विकटः । [ नानार्थको० ]	२९
३१५. सूप्वसिमुऽभेगन्वादिद् गुणे [ शाकटा० २।१।२०४ ]	१०, ६२
३१६. स्तं मत्वर्थे [ शाकटा० १।१।६६ ]	३२६
३१७. स्तुतिरूपयसोऽभारविलेपनाद्वजातिमुक्त्वादिषु वर्ण । [ नानार्थको० ]	१९
३१८. स्थंयप्रकाशने [ शाकटा० १।४।३७ ]	१८१
३१९. स्पृहंवा [ शाकटा० १।३।१३९ ]	७५, ७१, २४४
३२०. स्मृत्यर्थ—[ शाकटा० १।३।१११ ]	२०२ २०५
३२१. स्म च लट् [ शाकटा० ४।३।२१५ ]	९५
३२२. स्वहृत्तरवदे व्याघ्रपुङ्गवपंभकुञ्जराः ।	३७
सिंहशार्ङ्गलनागाद्याः पुंसि धेष्टार्थगोचराः ॥ [ अमर० ३।१।५९ ]	
३२३. स्यान्मण्डलं द्वावधरात्रके न देशे च बिम्बे च कदम्बके च ।	१७
कुष्ठप्रभेदेऽप्यपसूर्यकेऽपि भुजङ्गभेदे श्वनि मण्डल. स्यात् ॥ [ विश्व. लजि० ८१ ]	
३२४. स्वर्गेषु तन्माग्नवज्रदिद्वेष्टेषु निभूजले ।	११, १९८
लघादुष्ट्या स्त्रिया पुंस्ति गोः ॥ [ अमर० ३।३।२५ ]	

## ह

३२५. हन्द्वा—[ शाकटा० ४।३।१८ ]	१९९
३२६. हा दुःखहेता उ ( वु ) द्विष्टो हा ( हो ) विस्मयविषादयोः । [ विश्व० हा० ७१ ]	२७
३२७. हा चिक् समय—[ शाकटा० १।३।१०० ]	२४, २३८, ३७७
३२८. द्विष्टोऽङ्गे कु पूर्वात् [ शाकटा० ४।१।७१ ]	१६३
३२९. ह्यौक्लोरोक्—[ शाकटा० ४।१।२०१ ]	२८४

## ४. पञ्चिकान्तर्गत ग्रन्थान्तर्गते के अवतरण

अ

अवतरण	पृष्ठ
१. अतिरिक्तः समाधिके [ अमर० २।१।७५ ]	४८५
२. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः । स्वचक्रं परचक्रं च ससैता इतयः स्मृताः ॥ [ उ० द्विसं० टी० पृ० ३४ ]	४७७, ५०४
३. अनर्थकं व्युत्तिकटु व्याहृतार्थमलक्षणम् । स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमसंमतम् ॥ [ वाग्भटा० २।६ ]	४६५
४. अनन्त उत्तरापथः	५०३
५. अपिषानतिरोषानपिषःनाच्छादनानि च । [ अमर० १।३।१३ ]	४८२
६. अन्मुत्पानमुपागते गृहपतौ संमापणे <sup>१</sup> नम्रता तत्पादापितद्वृष्टिरासनविधौ स्मेरा सपत्नीष्वपि <sup>२</sup> । [ सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रयमतो जह्याच्च शय्यामिति ] प्राच्यैः पुत्रि निवेदितः कुलवधूसिद्धान्तधर्मागमः <sup>४</sup> ॥ [ उ० सामर० टी० १।१२ ]	४९६
७. अवयवात्तयद् [ शाकटा० ३।३।७२ ]	४६४

आ

८. आन्धीलिखयामात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ । अर्थाधीनौ तु वातायिा बण्डनीत्यां नयानयो ॥ [ काम० नी० १।७ ]	४७२
९. 'आवर्तस्त्वस्मसा भ्रमः [ अमर० १।१०।६ ]	४९९
१०. आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् । [ काव्याद० १।१४ ]	४६३

इ

११. इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात् [ अमर० ३।३।१७६ ]	५००
--	-----

औ

१२. औदार्यं समता कारितरयं व्यक्तिः प्रसन्नता । समाधिः श्लेषः ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ॥ [ वाग्भटा० ३।२ ]	४६४
---	-----

क

१३. काकली तु कले सूक्ष्मे [ अमर० १।७।२ ]	४९९
१४. कामः क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोमस्तथा मदः <sup>५</sup> । अन्तरङ्गोऽरिषद्बर्गः शितीशाना भवत्ययम् [ का० नी० १।५७ ]	४८०

१. 'समाधिके' इति तु मुद्रितेऽमरकोषे । २. तद्भाषणे । ३. तस्योपचर्या स्वयम् । ४. 'सिद्धान्तधर्मा इमे । वस्तुतस्त्वेव इलोकी राजकोशरस्येति सूक्तिमुक्तावली ( पृ० ४२४ ) तो ज्ञायते । ( २, ३, ४ पाठान्तराणि मुद्रितायां सागारधर्माभूतटिप्पण्याम् ) । ५. 'आवर्तोऽस्मसा' इति तु मुद्रितेऽमरकोषे पाठभेदो दृश्यते । ६. कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मदः । इति तु मुद्रिते कामध्वकनीतिशारे ।

१५. कामः क्रोधश्च हर्षश्च लोभो मानस्तथा मदः ।  
 यद्वहो रिपवः प्रोक्ताः शरीरस्था हि रेहिताम् ॥ ४९४
१६. कुट्टिमोऽस्त्रो निबद्धा भूः ॥ ४९०
१७. कुपः स्यात्करिकम्बलः [ अनेकार्यञ्जनि० १४ ] ४९७
१८. कृपा दयानुकम्पा स्यात् [ अमर० १।७।१८ ] ४७१
१९. क्व सरसि वनखण्डं पङ्कजानां क्व सूर्यः  
 क्व च कुगुदवनानां कोमुदीबन्धुरिन्दुः ।  
 अतिपरिचयबद्धा प्रायशः सज्जनानां  
 न विचलति हि मैत्रो दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥ ४९४

ग

२०. गद ईदिएसु काये जोगे वेदे कसाय नाणे य ।  
 संजम दंसण लेस्ता मयिया संमत सण्णि आहारे ॥ ५०५
- [ पंचसंग० गा० ४६ पृ० ५७५ ]

२१. गन्धेन<sup>३</sup> गावः पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदबलुषा ।  
 चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्म्यामितरे जनाः ॥ ४८०, ४९४

च

२२. चक्षुषो द्वे कपोलो च पाणिपान्नाभिमेहनाः।  
 अष्टौ स्थानानि नागानां मदस्य लुतिहेतवः ॥ ५००
२३. चन्द्रासवाम्या<sup>३</sup> रमणोजनेभ्यः [ उ० द्वि० सं० टी० पृ० १८ ] ४९०

त

२४. तुमुलं रणसंकुले [ अमर० २।८।१०६ ] ५०१
२५. शीघ्रैकान्तनितान्तानि [ अमर० १।१।६७ ] ४७१
२६. शी युतावञ्चलि. पुमान् [ अमर० २।६।८५ ] ४६५

द

२७. दृष्टिः ज्ञानेऽपि दर्शने [ अमर० ३।३।३८ ] ४७०
२८. दोषान् काश्चन न.<sup>५</sup> प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्यर्थं  
 सार्धं तैः सहसा भूये (अप्येद्) यदि गुरु पश्चात्करोत्येव किम् ।  
 तस्मान्मे न गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूश्च स्फुटं  
 ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः [ आत्मानु० १४१ ] ४६५
२९. धावाभूमौ<sup>५</sup> तु रोदसी ४८५

प

३०. परस्परार्थेयमोऽब्दे पूर्वे पूर्वतरे यति । [ अमर० ३।४।२० ] ४९२

१. कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मदः । इति मु मुद्रिने कामन्दकनोतिसारे ॥ २. गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः । चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्म्यामितरे जनाः ॥ उ० पंचतन्त्र० ३।६५ पृ० २१५ । ३. आस्ता परेषा नरकोटिकामां तसः स्थितानामपि ही मृनोनाम् । चन्द्रासवाम्यां रमणीजनेभ्यः श्रोत्रोपनं केशाननन्दनस्य ॥ इति सम्पूर्णः इलाक । ४. 'नः' इत्यस्य स्थाने 'तान्' इति तु पाठो मुद्रिते, आत्मनुशासने दृश्यते । ५. 'धावाभूमौस्तु रोदसी' इत्यभिधानविशेषमपी । ६।१६२ ।

३१. पोतः पाकोऽर्भको हिमः [ अमर० २।५।३८ ] ४६५  
 ३२. प्राचुर्यविकारप्राधान्यादिषु मयट् ४६३  
 ३३. प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्के ककुदोऽस्त्रियाम् । [ अमर० ३।३।९२ ] ५०३

भ

३४. भक्तको घस्मरोऽधरः [ अमर० ३।१।२० ] ५०१

म

३५. म<sup>१</sup>मलमित्युक्तमुपचारसमाश्रयात् ।  
 तद्विगालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः [ सत्प्रक० पृ० ३४ ] ४६३  
 ३६. मङ्गलशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यायस्याभिधायकः ।  
 तल्लासीत्युच्यते सङ्ग्रामलं पण्डितैर्जनैः<sup>३</sup> ॥ [ सत्प्रक० पृ० ३३ ] ४६३  
 ३७. मत्ते शीणहोत्कटक्षोबा । [ अमर० ३।१।२३ ] ५०१  
 ३८. मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्पुपहास्यताम् । [ रघु० १।३ ] ४६५  
 ३९. मन्दगामी तु मन्धरः [ अमर० २।८।७२ ] ४८५  
 ४०. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः । [ त० सू० ८।१ ] ४८४, ५०६  
 ४१. मूच्छा पित्ततमः प्राया [ माघव० मूच्छाभि० १९ ] ४९०

य

४२. यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति प्रायो विरूपायु भवन्ति दोषाः । ४७१  
 ४३. यथाहृद्गुणस्तोत्रं तन्मुख्य मङ्गलं मतम् ।  
 अमूर्खं तद्गुणोपभ्यात्पूर्णकुम्भादि लौकिकम् । ४६३  
 ४४. यस्या दिशि सूर्यः सा शान्त्ये उग्रह्निनप्रधूमिते । ४८१  
 ४५. यावोऽलोको द्रुमामयः [ अमर० २।६।१२५ ] ४८५

र

४६. राजहंमास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः । [ अमर० २।५।२४ ] ४७२, ४९७

ल

४७. लोमा कांसभरजवकुलः खञ्जरोटकः ।  
 एतेषां दर्शनं ग्राह्यं दुर्लभा च प्रदक्षिणा ॥ ५००

व

४८. वह्निना वशालिते तैले घृते वा कुत्रविद्यथा ।  
 शीततीयच्छटापावः प्रतिप्रक्षालनं भवेत् ॥ ४९०  
 ४९. विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डबाण्डम्बरा,  
 मृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमाश्रन्ते ।  
 ये ते च प्रतिसृष्टा सन्ति बह्वी व्यामोहविस्तारिणो  
 येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभः ॥ [ १।१११ ] ४६५

१. 'पापं मलमिति प्रोक्तम्' इति सत्प्रक० पृ० ३४ । २. 'तद्वि गालयतीत्युक्तं' इति सत्प्रक० ३४ ।  
 ३. 'मङ्गलं मङ्गलाभिभिः' इति सत्प्रक० पृ० ३३ ।

५०. विष्णाः प्रणवयन्ति भयं न जातु न क्षुद्रदेवाः<sup>१</sup> परिलङ्घयन्ति ।  
अचरन् मयेष्टांश्च सदा लभन्ते त्रिनीसमानां परिकीर्तनेन ॥ [ उ० सत्प्र० पृ० ४१ ] ४६३

श

५१. क्षीतबानीरवञ्जुलाः [ अमर० २।४।३० ] ४९८  
५२. सुप्रपद्युद्धी पुनः सक्ती ते पाक्वापाक्वशक्तिवत् ।  
साधनायो तयोर्व्यक्तो स्वभावोऽतर्कमोचरः ॥ [ आसमी० का० १०० ] ५०५

स

५३. स गुप्तिसमितिषमनिप्रेक्षापरीषहजयचारित्र्यैः । [ त० सू० १।२ ] ५०६  
५४. सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः । ४६९  
५५. सन्धिविग्रहयानासनद्वैचाश्रयाः षड्गुणाः । ५९६  
५६. सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । ४७६  
५७. सुप्रपाः स्तनविलसः शरदि ते साटोपमृत्वाय ये  
प्रत्याशां प्रसूनादवलप्रकृतयो गर्जन्यमन्दं मुषा ।  
ये प्रागब्दचितान् फलद्विमुदकैर्ब्रह्मीन् नयन्तो नवान्  
सत्क्षेत्राणि<sup>२</sup>पुण्यलं जनयितुं ते सद्धना दुर्लभाः<sup>३</sup> ॥ [ अमर० १।८ ] ४६५  
५८. सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम् । ४९५  
५९. साम प्रेमपरं वाश्यं दानं वित्तस्य चार्पणम् । [ उ० द्वि० सं० टो० पृ० ५८ ] ४८६  
[ भेदो रिपुजनाकृष्टिर्दण्डः श्रीप्राणसंहतिः ॥ ]  
६०. स्तब्धमुखस्तनति किं न दूरतः पादपं तटगहं नदीरयः ।  
वेतसः प्रणमनाद् विवर्तते चाटरेव कुरुते हि जावितम् ॥ ४९५  
६१. स्वसंवेदनतः सिद्धे निजे वपुषि चेतने ।  
शरीरे परकीयेऽपि स सिद्धघट्यनुमानतः ॥ ४७५

ह

६२. होमस्यूनावृण्णस्यौ [ अमर० ३।३।१२८ ] ४७१  
६३. ह्येषा ह्येषा च निम्बन [ अमर० २।८।४७ ] ५००

१. 'क्षुद्रदेवाः' इति तु सत्प्रख्याणायाम् । २. 'पुण्यलं' इति तु मुद्रितेऽनगारधर्माभूते । ३. 'दुर्लभा-  
स्तद्धनाः' इत्यपि पाठोऽनगारधर्माभूते दृश्यते ।



## ५. मूल ग्रन्थकी शक्तियाँ

चिरंतनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः	१।७
विराजतेऽनेकशकुन्तसंकुलो न राजहंसेन विना जलाशयः	१।६३
स्वहितं मन्दमतिर्न पश्यति	१।६९
बलवत्ता खलु कापि कर्मणः	१।७२
सुखियः सङ्गसुलैकनिःस्पृहाः	१।७४
मधुद्विग्वमुखाममन्वधीरसिधारां खलु को ललितकति	१।७८
भवति हि मतिभाजां काललब्धिनं वन्ध्या	१।८०
***लक्ष्मीर्भवति मुदे नहि बान्धवैर्वियुक्ता	१।८२
स्वपक्षदर्शनात् कस्य न प्रीतिरुपजायते	२।१५
यस्य देवस्य गन्तव्यं स देवो गृहमागतः	२।२६
संविग्धं हि परिज्ञानं गुरुप्रत्ययवर्जितम्	२।४३
सति धर्मिणि धर्मा हि भवन्ति न तदत्यये	२।४६
यातु दिग्भ्रमसंभ्रान्तः पुरुषः केन वर्त्मना	२।५०
उपर्युपरि बुद्धीना चरन्तोश्चरबुद्धयः	२।५२
उपकाराश्रया सर्वा संबन्धसमवस्थितिः	२।७७
नन्वाश्रयाय सकलस्य सतां प्रयासः	३।९
सर्वं हि विस्मयकरं महतां स्वरूपम्	३।१०
कर्तव्यवस्तुनि पुननियतिः प्रमाणम्	३।२८
अन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकामः	३।३२
पुत्रं विहाय निव्रसंततिबीजमन्यो न त्वस्ति मण्डनविधिः कुलपुत्रिकाणाम्	३।३३
तत्रौत्सुकं भवति भाग्यवतां हि चेत्तो यत्संपदां नियतमङ्गमनागतानाम्	३।५९
विशिसवृत्ति हि मनो न विचारदलम्	३।७३
मयं भजन्ते न महानुभावाः	४।१३
प्रज्ञां हि मोहः शिथिलीकरोति	४।१७
नारम्भदोषान्गणयत्यनन्तदुःखप्रदानमोहवशेन जीवः	४।२०
बुद्धेः कलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः	४।२७
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम्	४।३८
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति शितीशः	४।३९
विनोयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः	४।४०
गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रमेवो भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम्	४।४२
पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः	४।४४
सतां हि कोपो नमनावसानः	४।५८
युक्तैव धीनेषु कृपोन्नतानाम्	४।५९

चेतः प्रभूणां नहि मोक्षितज्ञम्	४१६३
दैवेऽनुकूले किम् नानुकूलम्	४१६६
सन्तः प्रयान्ति विषयेषु हि नातिसक्तिम्	४१७७
गुणसंपदेव गुस्तां नयते	४१२६
न सुपुत्रतः परमलंकरणम्	४१४८
गुणेषु केषां न मनोऽनुरक्तम्	४१८५
अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ साधारणौ सर्वशरीरभाजाम् ।	
इत्यात्मबुद्ध्या विषयस्य विद्वान् श्लेद्यत्यात्ममनो विषादैः	४१८५
विपत्सु दैवोपनिबन्धनासु प्रसिद्धते कातरधीर्न धीरः	४१८८
नहि विद्वानसमीक्षितं विषत्ते	६११९
संमितभाषिणो हि सन्तः	६१२२
न सहायविनाकृता कदाचित्पुरुषस्योद्यमशालिनोऽपि सिद्धिः	६१२१
मतयो न खलुचितज्ञतायां मृगयन्ते महता परोपदेशम्	६१७८
जनयत्युत्सुकता न कस्य बन्धुः	६१११०
दुर्लभं किमथवा शुभोदये	७११७
धर्म एष हि सता क्रमागतो यत्र यान्ति विभवेन विक्रियाम्	७१२८
श्रेयसि त्वरयते हि भव्यता	७१५४
मूर्तिरुत्सवकरी सकलस्य सज्जनस्य सविकासकलस्य	८११८
यतिप्रवैकवचसामपरस्य जायते तदसामपरस्य	८११९
सज्जने हि विधिरप्रतिमोहस्तस्य युक्तघटना प्रति मोहः	८१३१
मेरुभूधरसदृशममुक्तं धर्ममापदसनक्षममुक्तम्	८१३६
कं वच्चांसि रसभा रचितानि प्रीणयन्ति न बुधै रचितानि	८१४५
भास्वतां न हृदयं नहि मानि	८१५०
सकृदबुधतया कृतोऽपराधो भवति सतो विनिवृत्तिरेव दण्डः	९१११
नहि भवति यथा स्थिरं क्रियादावधिकृतनिर्वहणे तथैव चेतः	९११४
न खलु हितं मदमूढधीरवैति	९१३०
नवति खलु बुधोऽपि विप्रमोहं युवतिषु कैव कथा जलात्मकानाम्	९१४४
परकृत्यविधौ समुद्यतः पुरुषः कृच्छ्रगतोऽपि पूज्यते	१०१४
बलवान् विधिरेव देहिना न सहाया न मतिर्न पौरुषम्	१०१६
विषये गुणबुद्धिर्वर्जिते गुणहीनाः प्रभवन्ति का गतिः	१०१७
गुणदोषाः सदसत्प्रसङ्गजाः	१०१११
न जहाति पुमान् कृतज्ञताममुभङ्गेऽपि निसर्गनिर्मलः	१०११३
गुणवान् समुपैति सेव्यतां गुणहीनादपरज्यते जनः	१०११४
भवतीह विनापि हेतुना घटना कस्यचिदेव केनचित्	१०१२३
अपहन्ति नरो निसर्गजानपि दोषान् गुणवन्तमाश्रितः	१०१२५
महतां हि परोपकारिता सहजा नाद्यतनी मनागपि	१०१२६
शरणागतलक्षणं सतां नहि जातु व्यभिचारमेष्यति	१०१२९
त्रिषिमा दग्धविधेर्विदम्बनाम्	१०१३१

सुहृदर्थपरैर्महात्मनिर्न पुनः स्वार्थपरैश्चरीयते	१०१३८
निरपेक्षा हि परोपकारिता	१०१४०
नो किञ्चित्फलमतिमग्नपीडनेन	१०१७०
कोपोऽयं नियतममङ्गलावसानः	१०१७१
किं जातु त्यजति महामृतस्य वृको माधुर्यं विषवनमध्यसंप्रसृतः	१०१७३
अहो नराणां भवगर्तवतिमामशावतीं पश्यत जीवितस्थितिम्	११११०
विमेति पापान्न सतामसंमताम् मन्यते दुर्गतिदुःखमुद्धतम् ।	
विलोम्यमानो विषयामिषाशया करोत्यर्कतव्यशतानि मानवः	११११४
अहेतुकाः यथापि न कार्यसंपदः	१११२०
निरन्तरं मूञ्चति वारि वारिदे विगाहितुं धूलिरलं हि नाम्बरम् ।	१११२१
भवाम्बुराशौ पुनरापदां पदे पतन्ति ते ये न हिते विजाग्रति	१११२४
यदीदमागन्तुकदुःखकारणं प्रशस्यते संसृतिः सोऽस्य मज्जकैः ।	
तदा प्रशंसास्पदमेतदप्यहो विषान्वितस्यास्तु गुह्यस्य भक्षणम्	१११२५
हितान्न योऽपैति स एव पण्डितः	१११३०
हितानुबन्ध्याचरितं महात्मनाम्	१११५४
शुभं ततोऽप्याशु निहन्ति चाशुभं करोति किं वा न सतामनुग्रहः	१११५७
किमस्ति दीनोद्धरणत्परं तपः	१११६१
स्मिरा हि सन्तः करणीयवस्तुनि	१११७०
प्रत्यक्षमन्यदयवा जगति प्रमाणं संवादकं मतिमत्तं सकलं प्रमाणम्	१११७८
नहि जगति नराणां पुण्यभाजामसाध्यम्	१११९१
महतामतिदूरवतिनोऽप्यनुरागं जनयन्ति ते गुणाः	१२१६
भजते मदवृत्तिमात्मवान् क इवानात्महितप्रवर्तिनीम्	१२११२
मदमूढमतिहिताहितं न हि जात्यन्ध इवावलोकते	
परिपश्यति सोऽथवा धिया न मदान्धस्तु धिया न चक्षुषा	१२११३
ननु खङ्गबलेन भुज्यते वसुधा न क्रमसंप्रकाशनेः	१२१३१
बलवानहमित्यहंक्रिया नहि सर्वत्र भवेत्प्रशान्तये	१२१३५
भवति प्रियमिष्टसाधकं महति क्षुद्रजने हठक्रिया	१२१४०
स्वहितं स्वधियैव बुध्यते पुरुषः सत्पुण्ये सुकर्मणः ।	
अविधेयविधिर्न बुध्यते स्वधिया नापि परेण बोधितः	१२१४३
न निमित्तमिहोपदेशको न च शास्त्रं न च साधुसंगतिः ।	
कुशलाकुशला च जायते विषणा दैववशेन देहिनाम्	१२१४४
प्रविचिन्त्यमुदेतुमिच्छता प्रथमं स्वस्य परस्य चान्तरम् ।	
परिमूढ्य कृतो न हि क्रमः शरभस्येव विपाकदारुणः	१२१४६
अथमेव समेन बाधिकामविगच्छन्निजभाग्यसंपदम् ।	
मतिमान् विदधानु विग्रहं बलबद्धिः सह कोऽस्य विग्रहः	१२१४७
परिवारितमप्यपैर्नगं क्षुभितः प्लावयितुं क्षमोऽम्बुधिः	१२१५१
स्फुटतामुपयाति कस्यचिदसभेदो नहि जिह्मया विना	१२१५२
प्रतिकूलजने ह्यपेक्षार्ण हितशिक्षानुगतैकवृत्तिषु	१२१५३

अथमासयतेऽखिलं जगद्बिबोऽयं महिमा रवेरसौ	१२१५८
अथधाह्निनिवर्तयेत् को गुरवश्चेन्न भवेयुरक्लृप्ताः	१२१६१
नहि क्षामघनोऽप्यक्षारयिनंभसः पारमुपैति भास्करः	१२१६२
नहि कार्यविपश्चितः पुरो निगदन्राजति शास्त्रपण्डितः	१२१७०
अथविक्रमयोर्नयो बली नयहोनस्य वृषा पराक्रमः	१२१७३
बलवानपि जायते रिपुः सुखसाध्यः खलु नीतिवर्तिनाम्	१२१७४
परिनिर्वीति किमग्निरग्निना	१२१७८
प्रभु दोषघातं प्रमाजितुं पुरुषस्यैकमपि प्रियं बवः	१२१८०
घनहानिरुपप्रदानतो बलहानि नियमेन दण्डतः ।	
अथशः कपटीति भेदतो बहुभद्रं नहि सामतः परम्	१२१८१
पठितव्यमिहान्यथा स्थितं करणायप्रतिपत्तिरन्यथा ।	
नहि पुष्टवरे नियुज्यते हलसंभावितयोग्यतः पशुः	१२१८३
अविभाव्यप्रकृतिर्हि दुर्जनः	१२१८५
विषये खलु संनियोजितः सदुपायः फलवान्न चान्यथा ।	
नहि वज्रधरायुषाञ्चिते क्रमते ग्रावणि लौहमायुधम्	१२१८६
उपयाति सुखेन वक्ष्यतां किमनङ्गवानपनाथनासिकः	१२१८७
पुरुषस्तपनीयबद्गुरुर्न परैर्यावदसौ निगृह्यते ।	
तुलितस्तु स एव तत्क्षणोत्पन्नासौ निपत्यसंक्षयम्	१२१८८
शिखहेतुस्वाहृता क्षमा व्रतिनामेव न मेघिनीभुजाम्	१२१८९
कृपणस्य परानुवर्तनैः सततार्तस्य धिगस्तु जीवितम् ।	
अनुनीय परं निजोचितैर्ललितैर्जीवति किं न मण्डलः	१२१९१
सहते कः खलु मानखण्डनम्	१२१९३
रहितः सहजेन तेजसा पशुवत्केन बलात्न वासते ।	
महतामत्त एव बल्लभा ननु वृत्तिर्मुग्धराजसेविता	१२१९४
सुविचार्य करोति बुद्धिमानथवा नारभते प्रयोजनम् ।	
रभसात्करणं हि कर्मणा पशुधर्मः स कथं नु मानुषे	१२१९०२
तनयः स तनोति यः कुलं स सुहृद् यो व्यसनेऽनुवर्तते ।	
स नृपः परिपाति यः प्रजां स कविर्यस्य वचो न नीरसम्	१२१९०८
गुरुवचनं ह्युदयैषिणामलङ्घ्यधम्	१२१९११
अवचिदतीव गुणोऽप्यगुणायते	१३१४२
सहजमेव पुरंघियु कैतवम्	१३१४५
विषयिणी नियतं विषदां परम्	१३१४९
न श्रेयसे खलु भवत्यपदेऽपि कोपः	१३१६०
शान्त्यै भवत्युपकृतं क्व खलप्रियेषु	१३१६३
रम्यं कुतूहलकरं न यथा ह्यपूर्वम्	१३१६५
युक्तः परार्थघटने महतां प्रमोदः	१५१६६
देवादुपस्थिते कृच्छ्रे शूराणां विक्रमः क्रमः	१५१६२
लुक्यन्ति महान्तो हि नात्मानमथमैः समम्	१५१८०४

धिक् कष्टयोर्दृशं कर्म करोति कथमोरितः ।	
कश्चमीकुलटया लोकः क्षणरक्तविरक्तया	१५।१३४
विपत् संपधि जागति जरा जागित यौवने ।	
मृत्युरामुधि जागति वियोग प्रियसंपने	१५।१३५
सावियोगः सुहृत्सङ्गो न जन्मामृत्युद्वितम् ।	
यौवनं न जरायस्तं श्रीर्नापदकटाक्षिता	१५।१३६
रक्षायै प्रजया दत्तं षष्ठांशं वेतनोपमम् ।	
गृह्णन् भूतकवन्मूढो राजाहमिति मन्यते	१५।१३७
क्रोधादिभिरयं जीव कषायै कलुषीकृतः ।	
तत् किञ्चित् कुरुते कर्म यत् स्वस्थापि भयावहम्	१५।१३८
भ्रातृन् हन्ति पितृन् हन्ति बन्धूनपि निराशसः ।	
हन्त्यात्मानपि क्रोधाद्विक् क्रोधमविचारकम्	१५।१३९
हन्ता यथाहमस्यात्र परमेष तथैव मे ।	
ससारे हि विवर्तन्ते बलवीर्यविभूतयः	१५।१४०
भोगान् धिग् विग् धनं धिग् विग् धिग् विनिन्दितजं सुखम् ।	
धिग् धिक् परोपघातेन यदन्यदपि जायते	१५।१४१
न परं बन्धनं प्रेम्णो न विषं विषयात् परम् ।	
न कोपादपरं शत्रुर्न दुःखं जन्मनः परम्	१५।१४३
प्रायेण स्थिरमतयोऽपि विप्रमोहं नीयन्ते मदनफलैरिवेन्द्रियार्थैः	१६।२२
मन्दत्वं भवति न कस्य बाभिभूत्यै	१६।२३
प्रणतकृपालवो महान्तः	१६।२७
मृदे केषा न स्यादमिलवितसंप्राप्तिरथवा	१६।६७
अथवा न कस्य जिनजन्म वृद्धये	१७।७
शक्यमिदमशक्यमिति प्रविचारबाह्यमतयो हि कायिण	१७।२६
किम् नोश्रितो जलनिधौ निमज्जति	१७।२८
नहि बाधते तुहिनमग्निसेविनम्	१७।२९
किम् विलसा श्रमहरं न चन्दनम्	१७।३१
जनवृद्धिहेतुद्वयो हि तादृशम्	१७।४३
सक्तिमभिरतमतिः कुरुते हतबुद्धिरेव न तु बोधभासुरः	१७।६९

## ६. मूलग्रन्थगत विशिष्ट-शब्द-सूची

### व्यक्तिगत-नाम

अकलङ्क (२ १०४) तत्त्वार्थ-  
वातिक आदि ग्रन्थोंके  
प्रणेता  
अग्रज (१.१) प्रथम तीर्थङ्कर  
ऋषभदेव  
अजितजय (५ २३) कोशला  
नगरीका राजा  
अजितसेना (५ ३६) रा०  
अजितजयकी पत्नी  
अजितसेन (५ ४०) रा० अजि-  
तजयका पुत्र  
अनन्त (३ ४४) इस नामके  
एक चारणमुनि  
कण्ठ (१५ १७) रा० पद्मनाभ  
का सामन्त  
कनकप्रभ (१ ३९) शलसचय-  
पुरका राजा  
केतु (१५ ७३) रा० पृथिवी-  
पालका सामन्त  
गुणप्रभ (११.३१) इस नामके  
एक मुनि  
चण्डरुचि (५ ५३) इस नाम-  
का एक असुर  
चन्द्रकीर्ति (१५ ११२) रा०  
पृथिवीपालका सामन्त  
चन्द्रशेखर (१५ ६१) रा०  
पृथिवीपालका सेनापति  
चित्राङ्ग (१५.१७) रा० पद्म  
नाभ का सामन्त  
जयवर्मा (६ ४३) विपुलपुरका  
राजा

जयश्री (६ ४४) रा० जयवर्मा-  
की पत्नी  
जितशत्रु (११. ६७) सम्राट्  
अजितसेनका पुत्र  
तपोभूषण (५ ७२) इस नाम-  
के एक मुनि  
देवाङ्गद (३ ५३) इस नामका  
एक वणिक्  
धरणीध्वज (६ ७६) आदित्य-  
पुरका राजा  
धर्मपाल (१५ ९४) रा०  
पृथिवीपालका पुत्र  
धमरुचि (१७ ६६) इस नाम-  
का एक देव  
घृति (१६ ७०) इस नामकी  
एक देवी  
पद्मनाभ (१ ५८) रा० कनक-  
प्रभका पुत्र  
परतप (१५ १७) रा० पद्म-  
नाभका सामन्त  
पुरुभूति (१२ ६७) रा० पद्म  
नाभका प्रधान मन्त्री  
पृथिवीपाल (१२ ३) रा०  
पद्मनाभ विरोधी राजा  
प्रभावती (४ १५) श्रीवर्माकी  
पत्नी  
प्रभास (७ ६५) इस नामका  
एक देव  
प्रियधर्म (६ ७७) इस नामके  
एक कुल्लक

भीम (१५ १६) रा० पद्मनाभ-  
का सामन्त  
भीम (१५ ६७) रा० पद्मनाभ-  
का सेनापति  
भीमरथ (१५ १८) रा० पद्म-  
नाभका सामन्त  
महासेन (१५ १६) रा० पद्म-  
नाभका सामन्त  
महासेन (१६ ११) भ० चन्द्र-  
प्रभके पिता  
महोरथ (१५ १८) रा० पद्म-  
नाभका सामन्त  
मागध (७ ६६) इस नामका  
एक देव  
लक्ष्मणा (१६ १६) भ० चन्द्र-  
प्रभकी माना  
वहणा (१८ १५०) इस नामकी  
एक आर्यिका  
विरोचन (११ ७७) रा०  
पृथिवीपालका सामन्त  
वीर (१ ४) चौबीसवें तीर्थङ्कर  
महावीर  
शशिप्रभा (६ ४५) रा० जय-  
वर्माकी पुत्री  
शशिलाञ्जन (१ २) अष्टम-  
तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ  
शशिसेखर (१५ ७१) रा०  
पृथिवीपालका सेनापति  
(चन्द्रशेखर इसीका अपर  
नाम है)

शायी (६.३३). इस नामका एक किसान  
शान्ति (१.३) : सीलह्वे सीर्य-  
झुर शान्तिनाथ  
श्री (१६.७०) : इस नामकी एक देवी  
श्री (३.५३) : देवाङ्गद वणिक्-  
की पत्नी  
श्रीकान्ता (३.१४) . रा० श्री-  
पेणकी पत्नी  
श्रीधर (१.८१) : इस नामके एक मुनि  
श्रीप्रभ (४.४५) : इस नामके एक आचार्य

श्रीवर्मा (३.७५) रा० श्रीवेणका पुत्र  
श्रीवेण (३.१) : श्रीपुरका राजा  
समन्तमन्न (१.६) : देवागम  
आदि ग्रन्थोंके प्रणेता  
सुकुण्डल (१५.१७) : रा० पद्म-  
नाभका सामन्त  
सुधर्म (६.८१) : इस नामके एक मुनि  
सुनन्दा (३.५३) : देवाङ्गद वणिक्की पुत्री  
सुमीम (१५.१६) : रा० पद्म-  
नाभका सामन्त  
सुवर्णनाम (१.८५) : रा० कनक-  
प्रभका पुत्र  
सुवर्णमाला (१.५४) : रा०  
कनकप्रभकी पत्नी

सुकेतु (१५.७५) : रा० पृथिवी-  
पालका सामन्त  
सूर्य (६.३३) : इस नामका एक किसान  
सूर्यरथ (१५.९०) : रा०  
पृथिवीपालका सामन्त  
तेन (१५.१६) : रा० पद्मनाभ-  
का सामन्त  
सोमप्रभा (१.८५) : रा० पद्म-  
नाभकी पत्नी  
सौवर्णमाल (१५.१२७) : सुवर्ण-  
नामका अपर नाम  
हिरण्य (६.३५) : इस नामका एक देव  
ह्री (१६.७०) : इस नामकी एक देवी

#### पशु-नाम

अश्व (१५. ६०) : घोड़ा  
अष्टापद (१.५१) आठ पैरों-  
का हिसक पशु  
करेणु (१४.५९) : हथिनी  
कुरङ्ग (१.४४) : मृग  
केसरिन् (५.३२) : सिंह  
खर ( २.९९) : गधहा  
खड्गिन् (६. १३) : गेंडा  
गज (१.२५) . हाथी  
गजेन्द्र (६.१२) : गजराज  
गो (१.४७) : गाय तथा पृथिवी  
गो (१.६५) : बैल  
चमर (१४.२०) : विशेष प्रकार-  
का मृग

चमरी (४.६२) : विशेष प्रकार-  
की मृगी  
जरदग्ध (१.६६) : बूढ़ा बैल  
जकेम (१.२२) : जलगज  
दुरग (३.७) : बोड़ा  
दिक्करिन् (५.३४) : दिग्गज  
नाग (३.७) : हाथी  
पुण्डरीक (६.८) : बाघ  
पीतक (१.१०) : दस वर्षका  
हाथीका बच्चा  
प्लवग (६.१०) : बन्दर  
मतवारण (२.१३२) : उन्मत्त  
हाथी तथा छज्जा

मय (१३.२८) : ऊँट  
मार्जारपीत (१४.३२) : बिलाव-  
का बच्चा  
मृगेन्द्र (४.६२) : सिंह  
रासभ (२.९७) : गधहा  
वेगसर (१३.२७) : खच्चर  
वृषभ (१४.६४) : बैल  
व्याघ्रो (२.७१) : बाघिन  
शिवा (१५.२७) : शृगाली  
सति (१०.७५) : घोड़ा  
सिंह (३.३१)  
हरिण (१६.२)

#### पक्षि-नाम

अन्यपुष्ट (३.४३) : कोकिल  
कपीत (१६.५१) : कजूतर  
कुक्कुट (२.११८) : मुर्गा  
कीक (९.३७) : चक्रवाक  
कोकिल (८.८)  
गरुडमन् (६.५४) : गरुड़  
घृक (३.२) उल्लू

चकोर (३.६४)  
चक्रवाक (४.३५)  
ताक्ष्यं (१५.७४) . गरुड़  
नीलकण्ठ (१४.३७) : मयूर  
भारद्वाज (१५.२८)  
रयाङ्ग (१०.६६) : चक्रवाक  
राजहंस (१.६३)

वायस (१५.२८) : कौवा  
शिलण्डिन् (१.२८) : मयूर  
शिखिन् (८.५४) . ,,  
शुक (१.१३) : तोता  
सारिका (१२.९९) : मैना  
हंस (२.१३५)  
हंसी (८.५७)

## वृक्ष-नाम

अशोक (२.१३) : इसी नामसे  
प्रख्यात वृक्ष  
कदम्ब (२.२२) : इसी नामसे  
प्रख्यात वृक्ष  
कर्णिकार (८.३१) : कनेर  
क्रमुक (२.११५) : सुपाक्षीका वृक्ष  
काञ्चनार (८.२५) : कचनार  
कुटज (२.१९) : कौरिया  
कुन्द (२.१८) : इसी नामसे  
प्रसिद्ध वृक्ष

कुरबक (८.८) लाल कटसरैया  
चम्पक (२.१६) : चम्पा  
चूत (२.१२) : आमका वृक्ष  
तमाल (९.२) : इसी नामसे  
विख्यात काले रंगका वृक्ष  
तिलक (२.१५) : तालमल्लाना  
नवमल्लिका (२.२१) : बसन्ती  
नेवारी वृक्ष  
नागद्यास्त्रिन् (१७.८२) : नाग-  
वृक्ष

पलाश (२.१७) : डाक  
पुन्नाग (२.३२) : नागकेशर  
बकुल (२.१४) : मौलसिरी  
बाण (२.१०) : इसी नामसे  
प्रसिद्ध वृक्ष  
मल्लिका (२.१३७) : छोटी  
बेला  
सप्तपर्ण (६.९) : सप्तच्छद  
सल्लकी (१४.६२) : सलई

## आभूषण-नाम

अङ्गद (१३.६) बाजूबन्द  
कटक (१७.४९) : कडे  
कर्णपूर (२.७)  
कुण्डल (१३.४)  
चूहारत्न (१५.१७) : चूडामणि  
नूपुर (९.३) : पायल

प्रालम्ब (१५.१७) : लम्बा हार  
मणिकङ्कण (१५.१६)  
मणिमाला (१०.५९)  
मणिमुद्रिका (१७.४९)  
मुकुट (७.९३)  
मौक्तिकमाला (१५.१६)

रत्नकण्ठिका (१५.१७)  
रशना (७.८९) : करघनी  
हार (९.७)  
हारयष्टि (१.६)  
हारलता (१३.३)  
हारलतिका (७.८५)

## शस्त्रास्त्र-नाम

अचलास्त्र (६.१०५)  
अब्दास्त्र (६.१०५)  
अर्धचन्द्र (१५.७१)  
असि (६.१०६)  
आग्नेयास्त्र (६.१०५)  
इषु (६.५४)  
उद्यमास्त्र (६.१०५)  
कुन्त (१५.१०८)  
कुलिश (६.१०५)

गदा (१५.१२८)  
गदडास्त्र (६.१०५)  
चक्र (१५.१२७)  
चाप (२.५)  
तन्द्रास्त्र (६.१०५)  
तपनास्त्र (६.१०४)  
तामसास्त्र (६.१०३)  
दण्ड (१५.४८)  
पवनास्त्र (६.१०५)

प्रास (१५.१०८)  
भुजगास्त्र (६.१०५)  
मुद्गर (१५.१२७)  
वज्रमुष्टि (१५.१२९)  
विघ्नविनायकास्त्र (६.१०५)  
शक्ति (१५.१२८)  
शंकु (१५.८६)  
सिद्धधास्त्र (६.१०५)  
हेति (६.१०६)



### भौगोलिक नाम

- अङ्ग (१६.२५) : भागलपुरसे मुँगेर तक फैले हुए प्रदेश में 'अङ्ग' नामक देश था ।  
 अनुत्तर बैजयन्त (१५.१६१) : यह विमान पाँच अनुत्तर विमानोंमें दूसरा है ।  
 अपर विदेह (२.११४) पुष्करद्वीपवर्ती पूर्वमन्दरगिरिकी पश्चिम दिशाका एक क्षेत्र ।  
 अयोध्या (७.८०) : घातकीखण्ड द्वीपके पूर्व भरतकी एक नगरी ।  
 अरिऊजय (६.४१) : " " का " देश ।  
 अलका (५.२) : " " " " " ।  
 आबिल्यपुर (६.७५) : " " के विजयार्ध पर्वतक दक्षिणका एक नगर ।  
 आन्ध्र (१६.३४) : सम्प्रति इसका यही नाम है ।  
 इषुकार गिरि (५.१) : घातकीखण्ड द्वीपके दक्षिणका एक पर्वत, जिसका आकार बाण सरीखा है ।  
 उत्तरापथ (१६.४७) : भारतवर्षका उत्तरी भाग पहले उत्तरापथ कहलाता था ।  
 उदयानि (१०.१९) : घातकीखण्ड द्वीपका एक पर्वत ।  
 उद्ग (१६.२८) : यह देश किसी समय उड़ीसाके भूभागमे विद्यमान था ।  
 कण्टि (१६.३५) : वर्तमान कण्टिक, जिसमें मैसूर तथा कुर्ग आदि जिले सम्मिलित हैं ।  
 कलिङ्ग (१६.२६) : यह देश कभी उड़ीसासे आन्ध्र तक फैला हुआ था ।  
 काश्मीर (१६.५०) : इस समय भी इसका यही नाम प्रसिद्ध है ।  
 कीर (१६.५०) : पंजाबका कीर ग्राम या बैजनाथ ।  
 कोशला (५.१२) : घातकीखण्ड द्वीपके अलका नामक देशकी एक नगरी ।  
 खश (१६.५१) : इस देशकी स्थिति काश्मीरके दक्षिणमें थी ।  
 चन्द्रपुरी (१६.६) : वाराणसीके निकट गंगातटपर स्थित यह पुरी अभी भी जैनोंमें इसी नामसे प्रसिद्ध है ।  
 चेदी (१६.२८) : मध्यप्रदेशकी चंदेरीके आस-पासका प्रदेश पहले 'चेदी' देशके नामसे प्रख्यात रहा ।  
 जलवाहिनी (१३.५३) : घातकीखण्ड द्वीपकी एक नदी ।  
 टक्क (१६.४९) : झेलम और सिन्धु नदियोंके बीचका प्रदेश 'टक्क' या 'वाहीक' देश कहलाता था ।  
 द्विपूरणद्वीप (१.११) : दूसरा द्वीप-घातकीखण्ड ।  
 द्रमिल (१६.३६) : यह द्रविड देशका ही अपर नाम है, जो कृष्णा और पोलार नदियोंके बीचमे था ।  
 परुषा (६.४) : घातकीखण्ड द्वीपकी एक अटवी ।  
 पाञ्चाल (१६.२७) : उत्तरप्रदेशका रहलखण्ड 'पाञ्चाल' देशके नामसे प्रख्यात रहा ।  
 पारस (१६.४२) : फर्सिया या फारस 'पारस' देशके नामसे प्रसिद्ध था ।  
 पूर्वदेश (१६.१) : वाराणसीसे आसाम और बर्मा तकका पूर्वीय भारत 'पूर्व देश' कहा जाता था ।  
 पूर्वमन्दर (१.११) : घातकीखण्ड द्वीपके पूर्वभागका पर्वत, जो पाँच मेरुपर्वतोंमें गिना जाता है ।  
 पूर्व विदेह (१.१२) : " " पूर्व मन्दरके पूर्व भागका एक क्षेत्र ।  
 मङ्गलावती (१.१२) : " " " " विदेह का " देश ।  
 मनोहर (२.२) : रत्नसंघयपुरका एक उद्यान ।  
 मणिकूट (१४.१) : घातकीखण्ड द्वीपका एक पर्वत ।  
 मलयगिरि (१६.३७) : दक्षिण भारतके द्रावणकीरकी पर्वत श्रेणियाँ ।  
 रत्नसंघयपुर (१.२१) : घातकीखण्डद्वीपके मङ्गलावती देशका एक पुर ।  
 लाट (१६.४०) : दक्षिणी गुजरात और खानदेशका सम्मिलित प्रदेश 'लाट' कहलाता था ।

विजयार्ध (६.७३) : हिमवान् और दक्षिण समुद्रके मध्यमें स्थित, घातकीलण्डके भरतक्षेत्रका एक पर्वत ।  
 विपुलपुर (६.४२) : घातकीलण्ड द्वीपके भरतक्षेत्रका एक पुर ।  
 बेलद्रि (१६.३२) : वीरनन्दीके निर्देशानुसार यह भारतके पूर्व समुद्रके निकटका एक पर्वत है ।  
 शिवंकर (११.३२) : घातकीलण्ड द्वीपके भरतक्षेत्रका एक उद्यान ।  
 शीतोदा (२.११४) . पुष्करार्धद्वीपके अपर विदेह क्षेत्रकी एक नदी ।  
 श्रीपुर (२.१२५) . सुगन्धि देशका एक समृद्ध नगर ।  
 सम्मदशैल (१८.१५२) : 'शिक्षरजी' नामसे प्रख्यात पुनीत तीर्थ पर्वत, जो हजारीबाग जिले में है ।  
 सुगन्धि (२.११४) : पुष्करार्धद्वीपस्य पूर्वमन्दरके अपर विदेहका एक देश ।  
 सिन्धु (१६.४१) : यह देश सम्प्रति भारतके उत्तरी भागमें 'सिन्ध' नामसे प्रसिद्ध है ।  
 हिमाचल (१६.५२) . यह पर्वत भारतके उत्तरमें है, जो हिमाचल या हिमालय नामसे प्रख्यात है ।

### पारिभाषिक शब्द

अधर्म (१८.६७) . जीवों और पुद्गलके ठहरनेमें सहायक एक अचेतन द्रव्य, जो व्यापक है ।  
 अनन्तचतुष्टय (१.३) : अनन्त—अन्त रहित, चतुष्टय—चार ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ।  
 अनवस्था (२.५८) : वह दोष, जिसमें अनन्त अप्रामाणिक कल्पनाओंका विराम न हो ।  
 अर्हत (१.९) . चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके पूर्ण ज्ञान आदि गुणोंको प्राप्त करनेवाले अरिहन्त ।  
 अवसरिणी (१८.३५) : वह काल, जिसमें बौद्धिक और शारीरिक आदि सभी प्रकारके ह्रास होते चले जायें ।  
 आर्त (१८.११५) : इष्टविषय आदि कारणोंसे जन्य दुःखनि—अशुभ ध्यान ।  
 उत्सरिणी (१८.३५) . वह काल, जिसमें बौद्धिक एवं शारीरिक आदि सभी प्रकारकी वृद्धि होती चली जाये ।  
 उपादान (२.६९) वह कारण, जो स्वयं कार्यरूपमें परिणत हो जाये ।  
 कषाय (११.४७) . कर्मरजको आत्माके साथ संश्लेष करानेमें जो गीद जैसा कार्य करे ।  
 गणधर (१८.१५२) . तीर्थङ्करोंके शिष्य, जो चार ज्ञानोंसे विभूषित विशिष्ट मुनि होते हैं ।  
 गणाधिप (१.९) : समवसरणस्य बाह्य गणोंके स्वामी—प्रधान गणधर या गणधर ।  
 घाति (१४.३६) : आत्माके अनुजीवी ज्ञान आदि गुणोंके घातक ज्ञानावरण आदि चार कर्म ।  
 धर्म (१८.६७) : जीवों और पुद्गलों में सहायक अचेतन द्रव्य, जो सर्वत्र व्याप्त है ।  
 धर्म्य (१८.११५) . आज्ञाविचय आदि चार भेदोंमें विभक्त एक क्षुभ ध्यान ।  
 नय (३.११) . वस्तुके एक अंशको जाननेवाला ज्ञान ।  
 नास्तिक (२.४४) . वह व्यक्ति या दर्शन, जो आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक और मोक्षको न माने ।  
 निदान (३.५४) : भविष्यकालीन मोगोंकी लालसा ।  
 परिदेवन (१८.८५) . ऐसा रोना, जिसे सुनकर दूसरोंको भी रोना आ जाये ।  
 पुद्गल (१८.७८) : वह अचेतन द्रव्य, जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण हों ।  
 प्रमाण (११.३७) : सच्चा ज्ञान ।  
 रौद्र (१८.११५) : एक अशुभ ध्यान, जो हिंसानन्दी आदि भेदोंसे चार प्रकारका है ।  
 शुक्ल (१८.११५) : सर्वोत्कृष्ट क्षुभ ध्यान । अन्य ध्यानोंकी भाँति यह भी चार प्रकारका है ।  
 समवसरण (१७.८३) : तीर्थङ्करोंकी दिव्य देशनाकी एक विशिष्ट सभा ।

विशिष्ट शब्द

अ  
अक्षुण्णोल्लसित (५.५८) : गोव-  
का खिलीना  
अङ्गारिणी (४.६४) : अङ्गार-  
युक्त  
अकण्टक (१२.४१) : क्षुद्र शत्रु-  
असि रहित  
अकण्टपच्य (१२.११७) : बिना  
हल जोते ही उत्पन्न होने-  
वाला अनाज  
अखिलावसर (३.२०) : आम  
सभा  
अगम्य (४.४२) : अजेय या  
अभेद्य  
अनलम् (५.५८) : असमर्थ  
अन्तरीय (७.८३) : अघोवस्त्र  
अन्त्यशरीरभाक् (५.८६) :  
तद्भवमोअगामी  
अभिजाति (६.९३) : कुल  
अभिशात्र (१५.२१) : शत्रुके  
अभिमुख  
अर्वा (१७.८८) : जिनप्रतिमा  
अवर्धण (१६.५) : वृष्टि न  
होना—सूखा  
अष्टशोभा (६.५६) : मार्जन आदि  
अष्टापदवृत्ति (१.५१) : अष्टापद-  
की भाँति स्वयंको हानि-  
कर अविचारित व्यापार  
आ  
आजिकण्डु (६.२४) : युद्धकी  
खुजलाहट

आधि (९.१३) : मानसिक व्यथा  
आयसकञ्चुक (१३.२२) : लौह  
कवच  
आशीविष (१५.७४) : जहरीला  
नाग  
इ  
इहहुरिका (१३.४९) : पूरी-  
पकवान  
उ  
उपप्लुत (२.४७) : बाधित  
क  
कच्छवाट (४.७०) : कछवाड़ा  
कञ्चुकिन् (१.४८) : अन्तःपुर-  
का अधिकारी  
कन्दर (१४.६५) : गुफा  
कन्दु (१४.४९) : मिठाई  
कपाली (१४.१९) : महादेव  
कन्न (३.४१) : मनोहर  
कलम (१३.४२) : धाम  
काकली (१४.६५) : सघुर छवि  
काकतालीय (४.२६) : 'अक-  
स्मात्' अर्थमें प्रयुक्त काक-  
तालीय न्याय  
कापिल (२.८२) : सास्य  
कायिन् (१७.२६) : कार्याभि-  
लाषी  
कुघ (१३.१३) : झूल  
कुलपुत्रिका (३.३३) : कुलीन  
स्त्री  
कुलमेदिनीधर (१.१९) : कुला-  
चल

कूटस्थनित्य<sup>२</sup> (२.४९) : सर्वथा-  
नित्य  
कूर्च (१२.८४) : दाढ़ी-मूँछ  
कुत्सन् (२.९२) : समस्त  
क्ष  
क्षुत् (१५.३२) : छीक  
ख  
खपुष्प (२.४२) : आकाशका  
फूल—अवस्तु  
खत्त्ववित्त्वविधि (७.४७) : 'अक-  
स्मात्' अर्थमें प्रयुक्त खत्त्व-  
वित्त्वन्याय  
खेचर (६.७३) : विषाघर  
ग  
गृहमेविन् (११.६०) : गृहस्थ  
घ  
घनवर्त्म (५.४७) : आकाश  
च  
चक्ररत्न (७.१) : सम्राट्के चौदह  
रत्नोंमें पहला  
चर (१२.१७) : गुप्तचर  
चारणमुनि (३.४४) : चारण  
ऋद्धिके चारक आकाश-  
चारी मुनि  
ज  
जलविमोषित् (२.१२४) : नदी  
जलगविमोषित् (१.१५) : नदी  
जात्यन्ध (१२.१३) : जन्मान्ध  
त  
तनुचण्ड (१५.६) : कवच  
तरसा (१२.१०६) : शीघ्र

१. अष्टापद आठ पैरोंका कुत्तेके आकारका एक हिंसक पशु होता है। वह जिस जानवरका शिकार करता है, उसीके ऊपर बैठा रहता है। फलतः उसमें उत्पन्न हुए कांशसे वह स्वयं मारा जाता है। विशेषके लिए द्विसन्धानके 'न विक्रमः शरभनिपातसन्निभः.....' इत्यादि श्लोक (२.२०) की संस्कृत टीका द्रष्टव्य है।  
२. बेदान्ती ( ३० सू० शाङ्करभाष्य पृ० २० ) आत्माको कूटस्थनित्य मानते हैं। यद्यपि शांस्त्र्योंकी ओ यही मान्यता है, पर वह यहाँ विवक्षित नहीं है। विशेषके लिए 'तत्त्वसंविद्धिः' (रात्र विद्या-मन्दिर, बी० २५।१०९, कश्मीरीगंज, वाराणसी-१) अवलोकनीय है।

द  
दिक्करी (५.३४) : दिग्गज  
दीपोत्सव (२.१३०) : दीपावली  
दून (८.३५) : सन्तस

ध  
धरणीध्र (६.१८) : पर्वत  
धर्मी (२.४६) : पदार्थ

न  
नाथ (१२.८७) : बैलकी नाकमें  
पिरोयी गयी रस्सी  
मान्दीधरपर्व (३.६०) : आष्टा-  
ल्लिक पर्व  
निकुरम्ब (५.३५) : समूह  
निधि (७.४८) : पाण्डुक आदि  
नो

निबन्धन (१.७) : निमित्त  
नियति (३.२८) : भाग्य  
निर्वेद (४.७७) : वैराग्य  
नृकीट (६.२१) : तुच्छ मनुष्य

प  
पञ्चम कल्याण (१८.१५४) :  
मोक्ष

पटवास (१४.४) : कपड़ोको  
सुवासित करनेवाला चूर्ण  
पयोविकार (४.५२) : दही आदि  
परभाग (७.८०) : शोभा  
परिच्छद (९.२७) : सामग्री  
परारि (११.१३) : परसो  
परत् (११.१३) : कल-अगला  
दिन

पत्ययन (१४.५१) : घोड़ोको  
जोन  
पाण्डुकद्वयत् (१७.१९) :  
पाण्डुकशिला

पुटभेदन (३.५३) : नगर  
पूतकार (१.५०) : दु.खभरा  
शब्द—चीत्कार

प्रणायक (११.५०) : उत्कृष्ट  
नायक  
प्रधूमिता (४.६४) : मलिन  
प्रधान (२.८३) : सांख्यभिमत  
अद्वैतत्व-प्रकृति

व  
बन्दिन् (४.६८) : स्तुतिपाठक  
बल्लव (१३.३०) : अहीर  
बिस (१०.१७) : कमलदण्ड  
बुभुत्सा (६.१३) : जिज्ञासा

भ  
भोलुक (११.३०) : भीरु  
भोग (७.१७) : भोग्य पदार्थ

म  
मण्डलिन् (१.४७) : सामन्त  
मन्दुरा (१४.४६) : घुड़माल  
मय (१३.२८) : ऊँट  
महेच्छ (६.१०८) : महाशय  
मोमासापसपातिन् (२.९०) :  
मोमांसक

मोल (४.४७) : वंशपरम्परागत  
मोल (११.२) : मुकुट

य  
यतिवृष (११.७५) : श्रेष्ठमुनि  
योजन (१७.८३) : चार कोस

र  
रथकड्या (१३.७) : रथसमूह  
रंहसा (१२.१०७) : शीघ्र  
रत्नक (१३.४१) : कम्बल

ल  
ललन (१२.९१) : पृष्ठ हिलाना  
लाघव (११.८९) : स्फूर्ति-फुर्ती  
लाङ्गल (१३.५१) : हल  
लिङ्ग (२.९५) : हेतु  
लिङ्गिपु (१२.३५) : लाघने-  
का अभिलाषी

लोहकान्तमणि (४.४६) : चुम्बक

व  
वचोहर (१२.१) : दूत  
वणिक्पथ (७.८१) : बाजार  
वनेचर (११.३४) : मालो  
वन्य (१७.९१) : व्यन्तर देव  
वश (१३.४९) : वांसुरी  
वारिक (७.३७) : जल भरनेवाले  
बहार  
बिप्लवि (५.५५) : भ्रमयुक्त

विवस्नु (१३.१९) : बोनेके  
लिए इच्छुक  
विलसा (१७.३१) : स्वभावतः  
वैधधिक (१३.३१) : काँवरसे  
बोस डोनेवाले  
व्यपहस्तिता (५.६५) : अपहृत

श  
शक्ति (७.६९) : प्रभुशक्ति,  
मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति  
शतक्रतु (५.८६) : इन्द्र  
शयु (६.१०) : अजगर  
शाकनिक (१७.३३) : दुष्टग्रह  
शाक्य (१६.१०) : बौद्ध  
शिल्पिन् (१२.३८) : अग्नि  
शिक्षिष्या (५.१९) : सीखने-  
को इच्छा

ष  
पहवर्ग (४.१४) : काम, क्रोध,  
हर्ष, लोभ, मान, मद  
षाङ्गुष्य (१२.१०४) : सन्धि,  
विग्रह, यान, आसन, संश्रय,  
द्वैधीभाव

स  
संवट्ट (१५.३५) : संवर्ष या  
टक्कर  
सदम् (५.५७) : सभा  
सन्दंशक (१०.३२) : संसो-संड़सो  
संभ्रम (५.७७) : शीघ्रता  
समृत्क (१४.१९) : उत्कृष्टित  
सर्वावसर (११.२) : आम सभा  
साख्यपुरुष (१२.४१) : अकि-  
चित्कार  
सिद्धालय (३.५७) : मोक्ष  
सिद्धि (४.४५) : मुक्ति  
सिंहनिष्कीर्षित (१५.१५०) :  
एकव्रत

सुगत (५.२९) : बुद्ध  
सुहृत् (३.२३) : कारण  
सुणि (११.९०) : अक्कुश  
स्मृतिविप्रमोष (७.९०) : स्मृतिभ्रंश

ह  
हठक्रिया (१२.४०) : बलात्कार  
हस्तिपाल (१४.६२) : महावत

१. मन्त्र-सुरोहित-सेनापति-दुर्गाधिकारि-कर्माधिकारि - कोषागारिक-ईशज्ञा इति सप्तविधं मौलं  
बलम् । — व्याख्या ४.४७, पृ० १०६

### ७. व्याख्यानन्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची

शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति	शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति	शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति
अ		ज		व	
अधिकबन्धु	१३७ १३	जुति	१५६ १५	वाचना	२९९ ११
अनन्तजिनप	१७० ८	त		भ	
अन्याय	१०४ ९	तुम्बिगण्डिका	२२३ १६	भक्तग्राम	८ ८
अमर	११ १६	तुणगृह	१०१ १५	य	
अर्हदोष	१ ७	व		यौवनजन	३१५ १८
आ		दोहल	९१ ८	र	
आध्यात्मता	२९४ १८	घ		राजेन	१४१ १८
आरादण्ड	२५३ १६	घर्मनाथ	१९६ ७	व	
उ		धूर्तपाप	२३८ १९	वाणिज	६८ १४
उत्कलिका	६५ २१	न		विश्व	११ २१
क		नानार्थकोय	१५ १८	श	
कदलीघात	११८ १७	नियम	७८ २२	शीतल	७० ८
कर्पूरकदली	१४२ १६	नीतिवाक्यामृत	९७ १९	शीघ्रात्	३८ ११
काष्ठज्योति	२४० १९	नेमोद्वर	३८४ ८	शीघ्रेण	११५ १३
कुन्धुनाय	२५२ ८	प		श्रीगन्ध	८४ १८
कुरण्टक	३५ १२	पार्श्वनाथ	४०५ १०	श्रीबिहार	४५८ १६
क्षीरविकार	३०० ११	पीडा	४६ ७	स	
		पुष्पदन्त	३० ७	सूत्रकार	५५ १९
		प्रार्थनात्	१०५ १६	स्मरार्हं	१ ६

### ८. पञ्जिकान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची

शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति	शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति	शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति
अतिशक्तिता	४६९ ३५	कुरलक	४७४ २३	भृशप्रवृत्ति	४६५ १४
अपरगृह	४६४ ३३	घुणि	४६४ ४	महादेव	४६४ २४
आतमीमांसा	४७४ १३	जिनसेन	४६५ ३८	रामचन्द्र	४६३ १८
कटोद्भेद	४७० १२	द्वारक	४६४ ३५	विद्यामल	४६५ २
कठार	४६६ ५	परगृह	४६४ ३२	श्रुतमुनि	४६३ १
				सप्त ईति	४७७ २७

## ९. चं० प्र० में प्रयुक्त छन्दोंका विवरण

छन्दोंके अनुसार श्लोक संख्या

१. अतिरिचिरा—	१४.६९	१
२. अनुष्टुप्—	२.१-१४२, १५. १-१५९, १८.१-१५१, प्र० ५	४५३
३. इन्द्रवज्रा—	१४ १५	१
४. उद्गता—	१७.१-८२	८२
५. उपजाति—	४.१-७४, ५ ३३-७५, ७३-८१, ८३, ८६-८९, १४.३-५, ८-१०, १२-१४, १६-१९, ३१, १६.६८, प्र० १	१०३
६. उपेन्द्रवज्रा—	५.७२, ७६, ८२, ८४-८५, १४.१-२, ६-७, ११	१०
७. औपच्छन्दसिक—	१४.२५, ६८	२
८. क्षमा—	१४.२४	१
९. जलधरमात्रा—	१४ ३५	१
१०. जलोद्धतगति—	१४.३३	१
११. द्रुतविलम्बित—	१३.१-६०, १४.२१, २९	६२
१२. नकुटक—	१०.७८	१
१३. पुष्पिताग्रा—	१.८२, ४.७५, ५ ९०, ७.९३, ९ १-५८, १२. १११, १४.२२, ३८	६५
१४. पृथ्वी—	१ ८१, ७.९२, १४.२०	३
१५. प्रमिताक्षरा—	५.१-७१, १४.२३, ३९	७३
१६. प्रहर्षिणी—	१.८८, ३.७५, १० ६२-७७, ११.१०, १३.६२, १४.२६, ४०, १६.१-५६	७८
१७. भ्रमरविलसित—	१४ ३०	१
१८. मन्दाक्रान्ता—	७.९१, ९.५९, १४.६७, १०, १५ १६२, १७.८३-८९	१२
१९. मालिनी—	१.८०, ४.७६, ८ ६१, ११.९१, १४.३७, ७१, १५.१६०, प्र० ३	८
२०. रघोद्धता—	७ १-७९, १४.३६	८०
२१. वंशस्थ—	१.१-६३, ११ १-७१	१३४
२२. वशापत्रपतित—	१४.२८	१
२३. वसन्ततिलका—	१ ८५, २.१४३, ३ १-७४, ४.७७, ७.८०-९०, ८.५१-६०, ११ ७२-८९, १४ २७, ३४, ४१-६६, १५ १६१, १७ ९०, १८.१५२	१८७
२४. वसन्तमालिका—	६ १-११०	११०
२५. चार्दूलविक्रीडित—	४.७८, ६ १११, ८.६२, १०.७९, ११.९२, १७.९१, १८. १५३-१५४, प्र० ४, ६	१०
२६. चालिनी—	७ ९४, १३.६१, १४.३२, १६.५७-६६	१३
२७. चिक्करिणी—	५.९१, १६.६७, प्र० २	३
२८. सुन्दरी—	१.६४-७९, १०.१-६१, १२.१-११०	१८७
२९. स्रग्धरा—	१६.६९-७०	२
३०. स्वागता—	८ १-५०	५०
३१. हरिणी—	१.८३, ३.७६	२

## १०. संकेत-विवरण

ग्रन्थ-संकेत	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थ-प्रकाशन
अनगार०	अनगारधर्माभूतम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
अनेकार्थध्वनि०	अनेकार्थध्वनिमञ्जरी	चौखम्बा, वाराणसी
अनेकार्थसं०	अनेकार्थसंग्रहः	" "
अभिधा०	अभिधानचिन्तामणिः	" "
अलङ्कारधि०	अलङ्कारचिन्तामणिः	जैनेन्द्र प्रेस, कोल्हापुर
आत्मानु०	आत्मानुशासनम्	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
आत्ममी०	आत्ममीमांसा	जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
उ० पु०	उत्तरपुराणम्	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
का० लो०	कामन्दकीय नीतिसारः	आनन्दश्रम, पूना
काव्यप्र०	काव्यप्रकाशः	ज्ञानमण्डल, वाराणसी
काव्याद०	काव्यादर्शः	चौखम्बा, वाराणसी
काव्यानु०	काव्यानुशासनम्	निर्णयसागर, बम्बई
किरात०	किरातार्जुनीयम्	" "
क्षत्रवृ०	क्षत्रवृद्धामणिः	कृष्णविलास प्रेस, तंजौर
चं० च०	चन्द्रप्रथमचरितम्	प्रस्तुत ग्रन्थ
जिनदत्तच०	जिनदत्तचरितम्	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
त० सू०	तत्त्वार्थसूत्रम्	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
तत्त्वार्थवा०	तत्त्वार्थवार्तिकम्	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तिलोय०	तिलोयपण्णत्ती	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
त्रिषष्टिस्मृति०	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रम्	माणिकचन्द्रदिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
त्रिषष्टिशलाकापु०	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्	श्री जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर
द्वि० सं०	द्विसन्धानमहाकाव्यम्	निर्णयसागर, बम्बई
घ० नाम०	घनञ्जयनाममाला	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
घर्मश०	घर्मशर्माभ्युदयम्	निर्णयसागर, बम्बई
नीतिवा०	नीतिवाक्याभूतम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
नैषध०	नैषधोपचरितम्	निर्णयसागर, बम्बई

न्याससं०	न्याससंग्रहः	निजधर्मस्मिदय यन्त्रालय, वाराणसी ( प्रकाशन वर्ष वीरनि० सं २४३७ )
पञ्चसं०	पञ्चसंग्रहः	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
पद्यनन्दि०	पद्यनन्दपञ्चविंशतिका	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
पार्व्वनाथच०	पार्व्वनाथचरितम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
पुराणसा०	पुराणसारसंग्रहः	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
प्रमेयरत्नमा०	प्रमेयरत्नमाला	चौखम्बा, वाराणसी
सु० च०	सुद्धचरितम्	" "
माघ०	माघ-शिशुपालवधमहाकाव्यम्	" "
माघवनि०	माघवनिदानम्	पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर
मुनिसुव्रतका०	मुनिसुव्रतकाव्यम्	जैनसिद्धान्तभवन, आरा
रघु०	रघुवंशमहाकाव्यम्	चौखम्बा, वाराणसी
वाग्भटा०	वाग्भटालङ्कारः	निर्णयसागर, बम्बई
विश्व०	विश्वप्रकाशः	चौखम्बा, वाराणसी ( प्रकाशन वर्ष सन् १९०४ )
विश्वलो०	विश्वलोचनम्	निर्णयसागर, बम्बई
वैजयन्ती०	वैजयन्तीकोषः	मद्रास ( प्रकाशन वर्ष ई० १८९३ )
वैशेषिकसू०	वैशेषिकसूत्रम्	ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, बडौदा
शाकटा०	शाकटायनव्याकरणम्	जैनेन्द्रमुद्रणालय, कोल्हापुर
सत्प्ररू०	सत्प्ररूपणा (षट्स्रण्डागमः)	जैनसाहित्योद्धारक फण्ड, बमरावती
सागार०	सागारधर्ममृतम्	माणिकचन्द्रदि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
सा० द०	साहित्यदर्पणः	निर्णयसागर, बम्बई



व्यासः सर्वत्र भूमी दशधरधवलः शम्भुहासापहासी  
 कौतिस्तोमो यदीयो जनयति नितरां क्षीरपाथोधिस्तुम् ।  
 यस्मिन् सम्मग्नकाया जमरपशिगजो दिग्गजाश्चन्द्रतारा-  
 जाताः सर्वाङ्गशुभाः स जयति सततं वीरवन्द्यो कवीन्द्रः ॥



जैन संस्कृति संरक्षक संघ  
जीवराज जैन ग्रन्थमाला  
फलटण गल्ली, शोलापुर-२.

## महत्त्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थ

कार्यालय:-सन्तोषभवन,  
फलटण गल्ली, शोलापुर-२.

- १ तिलोयपण्णत्ति भाग १ : मूल्य रु. १६-००  
आचार्य यतिवृषभकृत, जैन भूगोल आदि विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ; सं० डॉ० आ० ने०  
उपाध्ये तथा डॉ० हीरालाल जैन; पृष्ठ ५३२, संस्करण १९४३, द्वितीय संस्करण १९५६।
- १ तिलोयपण्णत्ति भाग २ : मूल्य रु. १६-००  
उपर्युक्त ग्रन्थका उत्तरार्ध; विस्तृत अँगरेजी और हिन्दी प्रस्तावना; पृष्ठ ५२९ से १०३२ प्रथम  
संस्करण १९५१। १ अ० तिलोयपण्णत्तीका गणित ले० प्रा० लक्ष्मीचन्द्र जैन; यह स्वतन्त्र  
पुस्तिका मिलती है। मूल्य रु० ३।
- २ यशस्तिलक अँड इण्डियन कल्चर : मूल्य रु. १६-००  
ले० प्रो० कृष्णकान्त हन्विकी; गोहाटी विश्वविद्यालयके उपकुलपति; इस अँग्रेजी ग्रन्थमें आचार्य  
सोमदेवके महान् ग्रन्थ यशस्तिलकका (दसवीं सदी) का भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे गहन अध्ययन  
प्रस्तुत किया गया है। पृष्ठ ५४०; प्रथम संस्करण १९४९।
- ३ पाण्डवपुराण : मूल्य रु. १२-००  
भट्टाक गुप्तचन्द्र विरचित संस्कृत कथाग्रन्थ; प्रस्तावना तथा हिन्दी अनुवाद सहित; सं० पं० जिन-  
दास शास्त्री फडकुले; पृष्ठ ५२०; प्रथम संस्करण १९५८।
- ४ प्राकृतशब्दानुशासन : मूल्य रु. १०-००  
त्रिविक्रमविरचित प्राकृत व्याकरण, सं० डॉ० परशुराम लक्ष्मण वैद्य; पृष्ठ ४७८; प्रथम संस्करण  
१९५७।
- ५ सिद्धान्तसार संग्रह : मूल्य रु. १०-००  
शरेन्द्रसेनाचार्यकृत, प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ, पाठान्तर और हिन्दी अनुवाद सहित; ले० सं० पं० जिन-  
दासशास्त्री फडकुले; पृष्ठ ३००, प्रथम संस्करण १९५७।
- ६ जैनिश्वम इन् साउथ इण्डिया अँड सम जैन एपिप्राप्स : मूल्य रु. १६-००  
ले० डॉ० पी० बी० देसाई; इस अँगरेजी ग्रन्थमें आन्ध्र, कर्नाटक और तमिलनाडुमें जैनधर्मके  
कार्यका विवाद और प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। पृष्ठ ४४६, प्रथम संस्करण १९५७।
- ७ जम्बूद्वीपपण्णत्ति संग्रह : मूल्य रु. १६-००  
आचार्य पद्मनन्दीकृत जैन भूगोल विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ, ( दसवीं शताब्दी ) सं० डॉ०  
आ० ने० उपाध्ये व डॉ० हीरालाल जैन, हिन्दी अनुवादक पं० बालचन्द्र शास्त्री; तिलोयपण्णत्ती-  
का यन्त्रित छीर्षक विस्तृत हिन्दी निबन्ध ( ले० प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन ) भी इसमें है। पृष्ठ ५००,  
प्रथम संस्करण १९५८।
- ८ कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह : मूल्य रु. ६-००  
सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; आचार्य कुन्दकुन्दके समय ग्रन्थोंका विषयानुसारो वर्षीकरण, अध्ययन  
समयसारके सम्पूर्ण अनुवादके साथ, विस्तृत प्रस्तावना सहित; पृष्ठ ८, प्रथम संस्करण १९६०।
- ९ भट्टारकसंप्रदाय : मूल्य रु. ८-००  
सं० प्रो० विद्याधर जोहुरापुरकर; बलात्कारमण तथा काष्ठसंघके भट्टारकोंका इतिहास तथा उसके  
साहित्यिक-शिकालेसीय और परम्परागत साधनोंके विस्तृत उद्धारण, पृष्ठ ३२६, प्रथम संस्करण  
१९५८।

- १० पञ्चविंशति : मूल्य र. १०-००  
पद्मनन्दी आचार्यकृत संस्कृतके २४ और प्राकृतके दो प्रकरणोंका संग्रह ( १२ वीं सदी ) सं० डा०  
आ० ने० उपाध्ये व डा० हीरालाल जैन, हिन्दी अनुवादक पं० बालचन्द्र शास्त्री, विस्तृत  
प्रस्तावना ( अंगरेजी और हिन्दी ) पृष्ठ २८४, प्रथम संस्करण १९६२ ।
- ११ आत्मानुशासन : मूल्य र. ५-००  
आचार्य गुणभद्रकृत प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ ( नौवीं सदी ); इसमें विविध धार्मिक उपदेशपर  
सुभाषित है । सं० डा० आ० ने० उपाध्ये, डा० हीरालाल जैन व पं० बालचन्द्र शास्त्री; हिन्दी  
अनुवाद पृष्ठ २६०, प्रथम संस्करण १९६१ ।
- १२ गणितसारसंग्रह : मूल्य र. १२-००  
महामीराचार्यकृत प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ ( नौवीं शताब्दी ); सं० प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम०  
एस्-सी; पृष्ठ ८९, प्रथम संस्करण १९६२ ।
- १३ लोकविभाग : मूल्य र. १०-००  
सर्वनन्दी आचार्यकृत जैन भूगोल विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ, हिन्दी अनुवाद, सं० पं० बालचन्द्र  
शास्त्री; पृष्ठ २५६, प्रथम संस्करण १९६२ ।
- १४ पुष्पात्मकभाषाकोष : मूल्य र. १०-००  
रामचन्द्रकृत संस्कृत ग्रन्थ । इसमें सरल धार्मिक कथाओंका संग्रह है । सं० डा० आ० ने० उपाध्ये  
व डा० हीरालाल जैन, हिन्दी अनुवादक पं० बालचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ ३६८, प्रथम संस्करण १९६४ ।
- १५ जैनज्ञानम् इन् राजस्थान : मूल्य र. ११-००  
ले० प्रो० कैलाशचन्द्र जैन, अजमेर; इस अंगरेजी ग्रन्थमें राजस्थानमें प्राचीन समयसे श्वेतक जैन  
समाजके इतिहासका वर्णन और विवेचन किया गया । पृष्ठ २८४, प्रथम संस्करण १९६३ ।
- १६ विद्वत्तत्त्वप्रकाश : मूल्य र. १२-००  
आचार्य भास्करकृत पुरातन संस्कृत ग्रन्थ । ( तेरहवीं शताब्दी ), इसमें विभिन्न दर्शनोके विचारोक्त  
जैन दार्शनिक दृष्टिसे परीक्षण किया गया है । सं० डा० विद्याधर जोहरापुरकर, पृष्ठ ३९२,  
प्रथम संस्करण १९६४ ।
- १७ तीर्थवन्दनसंग्रह : मूल्य र. ५-००  
जैन तीर्थक्षेत्रोंके विषयमें ४० दिगम्बर जैन लेखकोंकी कृतिओंका संकलन और अध्ययन, सं० डा०  
विद्याधर जोहरापुरकर, पृष्ठ २००, प्रथम संस्करण १९६५ ।
- १८ प्रसा-प्रमेय : मूल्य र. ५-००  
भास्कर वैविध लिखित प्रमाणग्रन्थ ले० डा० ह्री० पी० जोहरापुरकर द्वारा हिन्दीमें अनुवादित  
पृष्ठ १५८, प्रथम संस्करण १९६६ ।
- १९ एथिकल इन्विजिन्स इन् जैनज्ञान : मूल्य र. १२-००  
जैन आचारका विचार रूपसे प्रतिपादन करनेवाला महत्त्वपूर्ण अंगरेजी ग्रन्थ; ले० डा० के० सी०  
सोगानी पृष्ठ ३०२, प्र० सं० १९६७ ।
- २० जैन कृष्ण ऑफ लाइफ : मूल्य र. ६-००  
जैन आचारोंका तुलनात्मक अभ्यास  
पादार्थम्बुदय मूल्य र. २०-००  
अगले प्रकाशन  
सुभाषितसंश्लेष, धर्मपरीक्षा, ज्ञानार्णव, धर्मरत्नाकर आदि ।



# वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल न०

~~२२३३३३~~ २२३३३३

लेखक

श्री वीर ज्ञान

शीर्षक

चन्द्रप्रभाकर

खण्ड

क्रम सख्या

२२३३३३